अखिल भारतीय विक्रम-परिषद्, काशी

आजसे दो सहस्र वर्ष पूर्व सम्राट् विक्रमादित्यने अपने तेज और पराक्रमसे विदेशी शकोंको खदेड़कर उस महाविजयके उपलक्षमें विक्रम सम्वत्की स्थापना की थी। महाराजने अपना पराक्रम तो दिखाया ही साथ ही उन्होंने भारतीय साहित्य तथा संस्कृतिको भी प्रश्रय दिया। उनके नवरत्नोंमें सभी अद्वितीय विद्वान् थे। हिन्दू-संस्कृति, कला तथा साहित्यके ऐसे प्रतापी सम्राट्की द्विसहस्राब्दीको स्मरणीय बनानेके लिये परिषद्ने निम्नलिखित योजनाएँ बनाई हैं।

(१) ग्रन्थोंका प्रकाशन-ऐसे शास्त्रीय ग्रन्थोंका प्रकाशन किया जायगा जिनसे हिन्दू-संस्कृति, कला और साहित्यका अध्ययन करनेवालोंको भारतीय आदर्शों तथा शैलियोंका पूर्ण ज्ञान हो सके, परिषद्ने पहले निम्नलिखित पाँच ग्रन्थोंका प्रकाशन करनेका निश्चय किया है—

(१) कालिदास-ग्रन्थावली, (२) अभिनव नाट्यशास्त्र,
(३) भारतका सांस्कृतिक इतिहास, (४) समीक्षा-शास्त्र,
(५) भारतीय काव्य-शास्त्र।

प्रत्येक ग्रन्थका मूल्य २०) होगा। पर प्रचारार्थ निर्दिष्ट समयके भीतर ग्राहक बन जानेवालोंको ५) में ही वितरित किया जायगा।

(२) ललितकला महाविद्यालयकी स्थापना—

काशीमें ऐसे महाविद्यालयकी स्थापना करना जिसमें उत्कृष्ट प्रतिभाशील छात्रों तथा छात्राओंको भारतीय नाट्यशास्त्र संगीतशास्त्र आलेख्य कर्म (चित्रकला) तथा मूर्त्तिकलाकी शिक्षा दी जाय।

यद्यपि यह योजना महाराज विक्रमादित्यकी तुलनामें पत्रपुष्प ही है, किन्तु भारतमें ऐसे हिन्दू संस्कृति प्रेमी, उदार धनकुबेरोंका अभाव नहीं है जो उदारता पूर्वक इसमें सहयोग न दें। इस योजनामें लगभग बीस लाख रुपयोंका व्यय आँका गया है। हमें विश्वास है कि सभी दानशील सज्जन यथाशक्ति इस योजनामें दान देकर इसकी आर्थिक सहायता करेंगे।

सीताराम चतुर्वेदी
प्रधान मन्त्री,

मदनमोहन मालवीय
अध्यक्ष

अखिल भारतीय विक्रम-परिषद् काशी

[पदाधिकारी]

अध्यक्ष—महामना पंडित मदनमोहन मालवीयजी

उपाध्यक्ष—पंडित बदरीनारायण उपाध्याय, एम० ए०, एल एल्० बी०,
एल्० टी०, शास्त्री।

,, श्री ज्योतिभूषण गुप्त, व्यवस्था-संचालक बनारस कौटन मिल्स

प्रधान मंत्री—साहित्याचार्य पंडित सीताराम चतुर्वेदी, एम्० ए०,
(संस्कृत, पाली, हिन्दी, प्राचीन, भारतीय इतिहास तथा संस्कृति),
बी० टी०, एल् एल्० बी०

व्यवस्थापक—पंडित गयाप्रसाद ज्योतिषी, एम्० ए०

प्रकाशन-मन्त्री—पंडित नागेश उपाध्याय एम्० ए०, (संस्कृत और प्राचीन
भारतीय इतिहास तथा संस्कृति)

कार्यालय-मन्त्री—पंडित वाचस्पति उपाध्याय, एम्० ए०, बी० टी०

प्रचार-मंत्री—साहित्यरत्न पं० काशीनाथ उपाध्याय, एम्०ए०, बी०टी०

कार्यालय-संचालक—पंडित अवधनारायण धर द्विवेदी, साहित्यरत्न

,, श्री शिवशङ्करलाल श्रीवास्तव, विशारद।

[संपादक-मंडल]

प्रधान-सम्पादक—पंडित सीताराम चतुर्वेदी

पंडित महादेव शास्त्री, कवि-तार्किक-चक्रवर्ती

पंडित रामकुमार चौबे, एम०ए०, (तेरह विषयों में) एल्-एल्० बी०,
एल्० टी० इत्यादि

साहित्यरत्न पंडित विश्वनाथप्रसाद मिश्र, एम्०ए० (हिन्दी-संस्कृत)

व्याकरणाचार्य, साहित्यशास्त्री पंडित करुणापति त्रिपाठी,
एम्० ए० (हिन्दी तथा संस्कृत), बी० टी०

पंडित राधाविनोद गोस्वामी, एम्० ए०

साहित्यदर्शनाचार्य पंडित ईशदत्त पाण्डेय 'श्रीश'

पंडित नागेश उपाध्याय एम्० ए०, (संस्कृत और प्राचीन भारतीय
इतिहास तथा संस्कृति)

पंडित शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र', एम्० ए०, बी० टी०

१४—सेठ हरीदासजी मूँधड़ा,
ठिकाना श्री भगवतीप्रसाद राय,
१३, वड़ा बाजार स्ट्रीट, कलकत्ता १०१)

१५—पं० गांगेय नरोत्तम शास्त्री जी,
विनायक भवन, काशी १०१)

१६—सेठ केशरीमलजी श्रीमाल,
गोकुल-भवन, बड़ी पियरी, काशी १०१)

१७—श्री दीवान रामेश्वर प्रसादजी, अमरगढ़ १०१)

१८—श्री पंडित नागेश उपाध्याय, भदैनी, काशी १०१)

१९—श्री चन्द्रशेखरप्रसाद जी,
कोठी बदलराम लक्ष्मीनारायण, काशी १०१)

२०—श्री शान्तिप्रसाद जैन,
डालमियाँनगर, देहरी ऑन सोन १०१)

२१—श्री पंडित भागवत मिश्रजी,
गवर्नमेण्ट प्लीडर, ग़ाज़ीपुर १०१)

२२—डा० हरिप्रसादजी तिवारी, ग़ाज़ीपुर १००)

२३—सेठ लादूरामजी, ग़ाज़ीपुर १००)

२४—सेठ बद्रीप्रसाद चौरसिया, मालिक कोठी
सोमारूराम बदलदेवराम, ग़ाज़ीपुर १००)

२५—बाबू सुन्दरीप्रसाद, जी रईस तथा
ऑनरेरी मजिस्ट्रेट, जौनपुर १००)

२६—सेठ गोविन्ददासजी मूँधड़ा,
२६७, स्ट्रैण्ड रोड, कलकत्ता ५१)

२७—पंडित यदुनाथ तिवारी, ५०, हजरा स्ट्रीट, कलकत्ता ५१)

ग्रन्थावलीके अनुवादोंके पुन प्रकाशनका पूर्ण अधिकार पंडित सीताराम चतुर्वेदीको है।

मुद्रण

यह ग्रन्थ पाँच यन्त्रालयोंके सहयोगसे छपा है—

१—ज्ञानमण्डल यन्त्रालय, काशीमें—मूल संस्कृत रघुवंश, कुमारसंभव, मेघदूत, ऋतुसंहार, अभिज्ञानशाकुन्तल, विक्रमोर्वशीय और मालविकाग्निमित्र तथा रघुवंश और कुमारसंभवका अनुवाद और तृतीय खंड सम्पूर्ण।

२—श्री सीताराम प्रेस, काशीमें—अभिज्ञानशाकुन्तलका अनुवाद।

३—सुलेमानी प्रेस, काशीमें—विक्रमोर्वशीयके चार अंकोंका तथा मालविकाग्निमित्रके साढ़े चार अंकोंका अनुवाद।

४—आर्यभूषण प्रेस, काशीमें—मेघदूत तथा ऋतुसंहारका अनुवाद और विक्रमोर्वशीयके अन्तिम अंक और मालविकाग्निमित्रके प्रथम अंकके आधे भागका अनुवाद।

५—अमरभारती यन्त्रालय, काशीमें—ग्रन्थावलीका वेष्टनपत्र।

कृतज्ञता-प्रदर्शन

पं० मोहनवल्लभ पन्त (आगरा), पं० गणेशदत्त पन्त (मथुरा), पं० सत्यनारायण द्विवेदी (बीकानेर), पं० कपिलदेव शर्मा (छपरा), ठाकुर इन्द्रदेव सिंह (युक्तप्रान्तीय महावीरदल), पं० मदनमोहन शर्मा तथा पं० हीरावल्लभ शास्त्री (हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी), पं० हरदेव मिश्र (गोरखपुर), पं० चन्द्रशेखर पांडेय (कानपुर), श्री शंकरदेव विद्यालंकार (गुरुकुल काँगड़ी) तथा पं० मनोहरलाल (ऋषिकुल हरिद्वार) ने इस ग्रन्थावलीके लिये ग्राहक बनानेमें बड़ा परिश्रम किया है। परिषद् उनकी आभारी है।

सम्पादकीय

गत वर्ष विक्रम द्विसहस्राब्दीके पुण्यपर्वपर परमपूज्य गुरुवर महामना पंडित मदनमोहन मालवीयजीकी आज्ञासे मैंने कालिदास ग्रन्थावलीके सम्पादनका भार ले लिया था। उस समय मैं यह नहीं समझता था कि कार्य इतना कठिन होगा, किन्तु भगवान् विश्वनाथजीकी कृपासे, पूज्य मालवीयजी महाराजके आशीर्वाद और प्रोत्साहनसे तथा विद्वानों के सहयोगसे यह विशाल ग्रन्थ पूरा हो गया।

पाठके सम्बन्धमें

महाकवि कालिदासके ग्रन्थों के प्रामाणिक संस्करणोंके अभावके कारण हमें विद्वान् संपादकों के सहयोगसे पाठका एक रूप स्थिर करना पड़ा है। बहुत सोच-विचारकर मनोविज्ञान तथा भारतीय काव्य-परंपराका ध्यान करके इसके पाठ स्थिर किए गए हैं फिर भी यह कहना अहम्मन्यता होगी कि हमारा पाठ ही सबसे अधिक प्रामाणिक है। छपने पर भी विद्वानों ने जो पाठ सुझाए वे हमने अन्तमें शुद्धिपत्रमें दे दिए हैं। बहुत सावधानी करनेपर भी कुछ संशोधनकी और कुछ छपाईकी भूलें रह गई हैं उन्हें कृपया शुद्धिपत्रसे मिलाकर ठीक कर लें। इसके अतिरिक्त यदि और भी कोई भूलें रह गई हों तो हमारे पाठक हमें सूचित करनेकी कृपा करें।

अनुवाद

अनुवाद कई सज्जनों ने किया था किन्तु उनमेंसे कुछको तो प्रारंभमें ही अस्वीकार कर देना पड़ा, कुछ ऐसे थे जिनका थोड़ा थोड़ा संशोधन करना पड़ा और कुछ ग्रन्थोंका अनुवाद स्वयं मुझे करना पड़ा किन्तु सब ग्रन्थों के अनुवादोंकी भाषा भरसक ऐसी सरल और सुबोध कर दी गई है कि साधारण नागरी जाननेवाला भी कालिदासके काव्योंका पूरा रस ले सके। मुझे यह पूर्ण विश्वास है कि अनुवादसे हमारे पाठक पूर्णतः संतुष्ट होंगे। जहाँ कहीं विद्वानोंको अनुवादमें कुछ कठिनता, असंगति या दोष दिखाई पड़े, कृपाकर हमें सूचित कर दें। अनुवादमें जो छपाईकी भूलें हों उन्हें भी सुधार लें क्यों कि उस अंशका शुद्धिपत्र नहीं दिया जा रहा है।

हमारी इस निवेदन मानके अनेक विद्वानोंने लेख भेजे किन्तु ग्रन्थ-का आकार बढ़ जानेसे और महँगा कागज समाप्त हो जानेसे हमें डा० देवराजजीके लेखके पश्चात् तृतीय खंड रोक देना पड़ा और इस ग्रन्थावलीकी भूमिकाके रूपमें कालिदासका अध्ययन नामका जो निबन्ध सम्पादक-मण्डलकी ओरसे दिया जानेवाला था वह भी नहीं दिया जा सका। हमें आशा है कि कागज प्राप्त होते ही हम अत्यल्प समयमें वह शेषांश भी दे सकेंगे। बचे हुए लेखोंका ब्यौरा यह है—

१, योगवासिष्ठ और मेघदूत —डा० भी० ला० आत्रेय
२, मेघदूत—एक अध्ययन —डा० वासुदेवशरण अग्रवाल
३, कालिदास और गोसेवा —पंडित यज्ञनारायण उपाध्याय
४, कालिदास और नारी —श्रीमती यमुनादेवी पाठक
५, कालिदासकी उपमाओंका मनोवैज्ञानिक अध्ययन —श्री पी० के० गोदे
६, विक्रमके नवरत्न —श्री ईशदत्त पांडेय श्रीश
७, कालिदास और हिन्दू संस्कार —पं० गयाप्रसाद ज्योतिषी
८, विक्रमादित्य —पं० केशवचन्द्र मिश्र
९, कालिदास-संबंधी ग्रन्थों, लेखों तथा पत्रोंकी सरणि —पं० रामकुमार चौबे

सम्पादन-कार्यमें, अनुवाद-कार्यमें पंडित करुणापति त्रिपाठी, कुमारी सुमति सरसुकद्दम, श्री ईशदत्त शास्त्री, पंडित शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' तथा पं० अवधनारायण धर द्विवेदीने और समय समय-पर अपनी सम्मति देकर श्री अशोकजीने जो असूल्य सहायता दी है उसके लिये मैं उनका आभारी हूँ।

अक्षय नवमी सं० २००१ }
काशी। }

—सीताराम चतुर्वेदी

कालिदास-ग्रन्थावलीके संपादक

अध्यक्ष तथा निर्देशक

महामना पंडित मदनमोहन मालवीयजी।

प्रधान संपादक

साहित्याचार्य पंडित सीताराम चतुर्वेदी, एम्० ए० (संस्कृत, हिन्दी, पाली, प्राचीन भारतीय इतिहास तथा संस्कृति), बी० टी०, एल-एल्० बी० ।

संपादक-मंडल

व्याकरणाचार्य, साहित्यशास्त्री पंडित करुणापति त्रिपाठी, एम्० ए० (संस्कृत तथा हिन्दी), बी० टी० ।

साहित्यदर्शनाचार्य पंडित ईशदत्त पांडेय 'श्रीश' ।

पंडिता सुश्री सुमति सरमुकद्दम, एम्० ए० (संस्कृत), बी० टी० ।

पंडित शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र', एम्० ए०, बी० टी० ।

साहित्यरत्न पंडित राजाराम तिवारी ।

साहित्यरत्न पंडित अवधनारायण धर द्विवेदी ।

सहायक-मंडल

पंडित वंशदेव मिश्र, एम्० ए० (संस्कृत) ।

पंडित मोतीलाल उपाध्याय एम्० ए०, बी० टी० ।

व्याकरणाचार्य पंडित नृसिंह मिश्र ।

साहित्यशास्त्री पंडित भुवनेश्वरप्रसाद मिश्र ।

श्री जयशील चतुर्वेदी ।

श्री शिवशंकरलाल श्रीवास्तव विशारद ।

——

विषय-सूची

प्रथमं खण्डम्

महाकविकालिदासस्य

काव्यानि

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

रघुवंशम्

प्रथमः सर्गः

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥ १ ॥

क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः ।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥ २ ॥

मन्दः कवियशः प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम् ।
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः ॥ ३ ॥

अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन्पूर्वसूरिभिः ।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः ॥ ४ ॥

सोऽहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम् ।
आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनाम् ॥ ५ ॥

यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनाम् ।
यथापराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम् ॥ ६ ॥

त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम् ।
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम् ॥ ७ ॥

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् ।
वार्द्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥ ८ ॥

रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन् ।
तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः ॥ ९ ॥

तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः ।
हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा ॥ १० ॥

वैवस्वतो मनुर्नाम माननीयो मनीषिणाम् ।
आसीन्महीक्षितामाद्यः प्रणवश्छन्दसामिव ॥ ११ ॥

तदन्वये शुद्धिमति प्रसूतः शुद्धिमत्तरः ।
दिलीप इति राजेन्दुरिन्दुः क्षीरनिधाविव ॥ १२ ॥

व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः ।
आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्रो धर्म इवाश्रितः ॥ १३ ॥

सर्वातिरिक्तसारेण सर्वतेजोभिभाविना ।
स्थितः सर्वोन्नतेनोर्वीं क्रान्त्वा मेरुरिवात्मना ॥ १४ ॥

आकारसदृशप्रज्ञः प्रज्ञया सदृशागमः ।
आगमैः सदृशारम्भ आरम्भसदृशोदयः ॥ १५ ॥

भीमकान्तैर्नृपगुणैः स बभूवोपजीविनाम् ।
अधृष्यश्चाभिगम्यश्च यादोरत्नैरिवार्णवः ॥ १६ ॥

रेखामात्रमपि क्षुण्णादा मनोर्वर्त्मनः परम् ।
न व्यतीयुः प्रजास्तस्य नियन्तुर्नेमिवृत्तयः ॥ १७ ॥

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत् ।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः ॥ १८ ॥

सेना परिच्छदस्तस्य द्वयमेवार्थसाधनम् ।
शास्त्रेष्वकुण्ठिता बुद्धिर्मौर्वी धनुषि चातता ॥ १९ ॥

तस्य संवृतमन्त्रस्य गूढाकारेङ्गितस्य च ।
फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्काराः प्राक्तना इव ॥ २० ॥

जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे धर्ममनातुरः ।
अगृध्नुराददे सोऽर्थमसक्तः सुखमन्वभूत् ॥ २१ ॥

ज्ञाने मौनं क्षमा शक्तौ त्यागे श्लाघाविपर्ययः ।
गुणा गुणानुबन्धित्वात्तस्य सप्रसवा इव ॥ २२ ॥

अनाकृष्टस्य विषयैर्विद्यानां पारदृश्वनः ।
तस्य धर्मरतेरासीद्वृद्धत्वं जरसा विना ॥ २३ ॥

प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि ।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः ॥ २४ ॥

स्थित्यै दण्डयतो दण्ड्यान्परिणेतुः प्रसूतये ।
अप्यर्थकामौ तस्यास्तां धर्म एव मनीषिणः ॥ २५ ॥

दुदोह गां स यज्ञाय सस्याय मघवा दिवम् ।
संपद्विनिमयेनोभौ दधतुर्भुवनद्वयम् ॥ २६ ॥

न किलानुययुस्तस्य राजानो रक्षितुर्यशः ।
व्यावृत्ता यत्परस्वेभ्यः श्रुतौ तस्करता स्थिता ॥ २७ ॥

द्वेष्योऽपि संमतः शिष्टस्तस्यार्तस्य यथौषधम् ।
त्याज्यो दुष्टः प्रियोऽप्यासीदङ्गुलीवोरगक्षता ॥ २८ ॥

तं वेधा विदधे नूनं महाभूतसमाधिना ।
तथाहि सर्वे तस्यासन्परार्थैकफला गुणाः ॥ २९ ॥

स वेलावप्रवलयां परिखीकृतसागराम् ।
अनन्यशासनामुर्वीं शशासैकपुरीमिव ॥ ३० ॥

तस्य दाक्षिण्यरूढेन नाम्ना मगधवंशजा ।
पत्नी सुदक्षिणेत्यासीदध्वरस्येव दक्षिणा ॥ ३१ ॥

कलत्रवन्तमात्मानमवरोधे महत्यपि ।
तया मेने मनस्विन्या लक्ष्म्या च वसुधाधिपः ॥ ३२ ॥

तस्यामात्मानुरूपायामात्मजन्मसमुत्सुकः ।
विलम्बितफलैः कालं स निनाय मनोरथैः ॥ ३३ ॥

संतानार्थाय विधये स्वभुजादवतारिता ।
तेन धूर्जगतो गुर्वी सचिवेषु निचिक्षिपे ॥ ३४ ॥

अथाभ्यर्च्य विधातारं प्रयतौ पुत्रकाम्यया ।
तौ दम्पती वशिष्ठस्य गुरोर्जग्मतुराश्रमम् ॥ ३५ ॥

स्निग्धगम्भीरनिर्घोषमेकं स्यन्दनमास्थितौ ।
प्रावृषेण्यं पयोवाहं विद्युदैरावताविव ॥ ३६ ॥

मा भूदाश्रमपीडेति परिमेयपुरःसरौ ।
अनुभावविशेषात्तु सेनापरिवृताविव ॥ ३७ ॥

सेव्यमानौ सुखस्पर्शैः शालनिर्यासगन्धिभिः ।
पुष्परेणूत्किरैर्वातैराधूतवनराजिभिः ॥ ३८ ॥

मनोभिरामाः शृण्वन्तौ रथनेमिस्वनोन्मुखैः ।
षड्जसंवादिनीः केका द्विधा भिन्नाः शिखण्डिभिः ॥३९॥

परस्पराक्षिसादृश्यमदूरोज्झितवर्त्मसु ।
मृगद्वन्द्वेषु पश्यन्तौ स्यन्दनाबद्धदृष्टिषु ॥ ४० ॥

श्रेणीबन्धाद्वितन्वद्भिरस्तम्भां तोरणस्रजम् ।
सारसैः कलनिर्ह्रादैः क्वचिदुन्नमिताननौ ॥ ४१ ॥

पवनस्यानुकूलत्वात्प्रार्थनासिद्धिशंसिनः ।
रजोभिस्तुरगोत्कीर्णैरस्पृष्टालकवेष्टनौ ॥ ४२ ॥

सरसीष्वरविन्दानां वीचिविक्षोभशीतलम् ।
आमोदमुपजिघ्रन्तौ स्वनिःश्वासानुकारिणम् ॥ ४३ ॥

ग्रामेष्वात्मविसृष्टेषु यूपचिह्नेषु यज्वनाम् ।
अमोघाः प्रतिगृह्णन्तावर्घ्यानुपदमाशिषः ॥ ४४ ॥

हैयंगवीनमादाय घोषवृद्धानुपस्थितान् ।
नामधेयानि पृच्छन्तौ वन्यानां मार्गशाखिनाम् ॥ ४५ ॥

काप्यभिख्या तयोरासीद्व्रजतोः शुद्धवेषयोः ।
हिमनिर्मुक्तयोर्योगे चित्राचन्द्रमसोरिव ॥ ४६ ॥

तत्तद्भूमिपतिः पत्न्यै दर्शयन्प्रियदर्शनः ।
अपि लङ्घितमध्वानं बुबुधे न बुधोपमः ॥ ४७ ॥

स दुष्प्रापयशाः प्रापदाश्रमं श्रान्तवाहनः ।
सायं संयमिनस्तस्य महर्षेर्महिषीसखः ॥ ४८ ॥

वनान्तरादुपावृत्तैः समित्कुशफलाहरैः ।
पूर्यमाणमदृश्याग्निप्रत्युद्यातैस्तपस्विभिः ॥ ४९ ॥

आकीर्णमृषिपत्नीनामुटजद्वाररोधिभिः ।
अपत्यैरिव नीवारभागधेयोचितैर्मृगैः ॥ ५० ॥

सेकान्ते मुनिकन्याभिस्तत्क्षणोज्झितवृक्षकम् ।
विश्वासाय विहंगानामालवालाम्बुपायिनाम् ॥ ५१ ॥

आतपात्ययसंक्षिप्तनीवारासु निषादिभिः ।
मृगैर्वर्तितरोमन्थमुटजाङ्गनभूमिषु ॥ ५२ ॥

अभ्युत्थिताग्निपिशुनैरतिथीनाश्रमोन्मुखान् ।
पुनानं पवनोद्धूतैर्धूमैराहुतिगन्धिभिः ॥ ५३ ॥

अथ यन्तारमादिश्य धुर्यान्विश्रामयेति सः ।
तामवारोहयत्पत्नीं रथादवततार च ॥ ५४ ॥

तस्मै सभ्याः सभार्याय गोप्त्रे गुप्ततमेन्द्रियाः ।
अर्हणामर्हते चक्रुर्मुनयो नयचक्षुषे ॥ ५५ ॥

विधेः सायंतनस्यान्ते स ददर्श तपोनिधिम् ।
अन्वासितमरुन्धत्या स्वाहयेव हविर्भुजम् ॥ ५६ ॥

तयोर्जगृहतुः पादान्राजा राज्ञी च मागधी ।
तौ गुरुर्गुरुपत्नी च प्रीत्या प्रतिननन्दतुः ॥ ५७ ॥

तमातिथ्यक्रियाशान्तरथक्षोभपरिश्रमम् ।
पप्रच्छ कुशलं राज्ये राज्याश्रममुनिं मुनिः ॥ ५८ ॥

अथाथर्वनिधेस्तस्य विजितारिपुरः पुरः ।
अर्थ्यामर्थपतिर्वाचमाददे वदतां वरः ॥ ५९ ॥

उपपन्नं ननु शिवं सप्तस्वङ्गेषु यस्य मे ।
दैवीनां मानुषीणां च प्रतिहर्ता त्वमापदाम् ॥ ६० ॥

तव मन्त्रकृतो मन्त्रैर्दूरात्प्रशमितारिभिः ।
प्रत्यादिश्यन्त इव मे दृष्टलक्ष्यभिदः शराः ॥ ६१ ॥

हविरावर्जितं होतस्त्वया विधिवदग्निषु ।
वृष्टिर्भवति सस्यानामवग्रहविशोषिणाम् ॥ ६२ ॥

पुरुषायुषजीविन्यो निरातङ्का निरीतयः ।
यन्मदीयाः प्रजास्तस्य हेतुस्त्वद्ब्रह्मवर्चसम् ॥ ६३ ॥

त्वयैवं चिन्त्यमानस्य गुरुणा ब्रह्मयोनिना ।
सानुबन्धाः कथं न स्युः संपदो मे निरापदः ॥ ६४ ॥

किंतु वध्वां तवैतस्यामदृष्टसदृशप्रजम् ।
न मामवति सद्वीपा रत्नसूरपि मेदिनी ॥ ६५ ॥

नूनं मत्तः परं वश्याः पिण्डविच्छेददर्शिनः ।
न प्रकामभुजः श्राद्धे स्वधासंग्रहतत्पराः ॥ ६६ ॥

मत्परं दुर्लभं मत्वा नूनमावर्जितं मया ।
पयः पूर्वैः स्वनिःश्वासैः कवोष्णमुपभुज्यते ॥ ६७ ॥

सोऽहमिज्याविशुद्धात्मा प्रजालोपनिमीलितः ।
प्रकाशश्चाप्रकाशश्च लोकालोक इवाचलः ॥ ६८ ॥

लोकान्तरसुखं पुण्यं तपोदानसमुद्भवम् ।
संततिः शुद्धवंश्या हि परत्रेह च शर्मणे ॥ ६९ ॥

तया हीनं विधातर्मां कथं पश्यन्न दूयसे ।
सिक्तं स्वयमिव स्नेहाद्वन्ध्यमाश्रमवृक्षकम् ॥ ७० ॥

असह्यपीडं भगवन्नृणमन्त्यमवेहि मे ।
अरुंतुदमिवालानमनिर्वाणस्य दन्तिनः ॥ ७१ ॥

तस्मान्मुच्ये यथा तात संविधातुं तथार्हसि ।
इच्वाकूणां दुरापेऽर्थे त्वदधीना हि सिद्धयः ॥ ७२ ॥

इति विज्ञापितो राज्ञा ध्यानस्तिमितलोचनः ।
क्षणमात्रमृषिस्तस्थौ सुप्तमीन इव ह्रदः ॥ ७३ ॥

सोऽपश्यत्प्रणिधानेन संततेः स्तम्भकारणम् ।
भावितात्मा भुवो भर्तुरथैनं प्रत्यबोधयत् ॥ ७४ ॥

पुरा शक्रमुपस्थाय तवोर्वीं प्रति यास्यतः ।
आसीत्कल्पतरुच्छायामाश्रिता सुरभिः पथि ॥ ७५ ॥

धर्मलोपभयाद्राज्ञीमृतुस्नातामिमां स्मरन् ।
प्रदक्षिणक्रियार्हायां तस्यां त्वं साधु नाचरः ॥ ७६ ॥

अवजानासि मां यस्मादतस्ते न भविष्यति ।
मत्प्रसूतिमनाराध्य प्रजेति त्वां शशाप सा ॥ ७७ ॥

स शापो न त्वया राजन्न.च सारथिना श्रुतः ।
नदत्याकाशगङ्गायाः स्रोतस्युद्दामदिग्गजे ॥ ७८ ॥

ईप्सितं तदवज्ञानाद्विद्धि सार्गलमात्मनः ।
प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः ॥ ७९ ॥

हविषे दीर्घसत्रस्य सा चेदानीं प्रचेतसः ।
भुजंगपिहितद्वारं पातालमधितिष्ठति ॥ ८० ॥

सुतां तदीयां सुरभेः कृत्वा प्रतिनिधिं शुचिः ।
आराधय सपत्नीकः प्रीता कामदुघा हि सा ॥ ८१ ॥

इति वादिन एवास्य होतुराहुतिसाधनम् ।
अनिन्द्या नन्दिनी नाम धेनुराववृते वनात् ॥ ८२ ॥

ललाटोदयमाभुग्नं पल्लवस्निग्धपाटला ।
बिभ्रती श्वेतरोमाङ्कं सन्ध्येव शशिनं नवम् ॥ ८३ ॥

भुवं कोष्णेन कुण्डोध्नी मेध्येनावभृथादपि ।
प्रस्रवेणाभिवर्षन्ती वत्सालोकप्रवर्तिना ॥ ८४ ॥

रजःकणैः खुरोद्धूतैः स्पृशद्भिर्गात्रमन्तिकात् ।
तीर्थाभिषेकजां शुद्धिमादधाना महीक्षितः ॥ ८५ ॥

तां पुण्यदर्शनां दृष्ट्वा निमित्तज्ञस्तपोनिधिः ।
याज्यमाशंसितावन्ध्यप्रार्थनं पुनरब्रवीत् ॥ ८६ ॥

अदूरवर्तिनीं सिद्धिं राजन्विगणयात्मनः ।
उपस्थितेयं कल्याणी नाम्नि कीर्तित एव यत् ॥ ८७ ॥

वन्यवृत्तिरिमां शश्वदात्मानुगमनेन गाम् ।
विद्यामभ्यसनेनेव प्रसादयितुमर्हसि ॥ ८८ ॥

प्रस्थितायां प्रतिष्ठेथाः स्थितायां स्थितिमाचरेः ।
निषण्णायां निषीदास्यां पीताम्भसि पिबेरपः ॥ ८९ ॥

वधूर्भक्तिमती चैनामर्चितामातपोवनात् ।
प्रयता प्रातरन्वेतु सायं प्रत्युद्व्रजेदपि ॥ ९० ॥

इत्याप्रसादादस्यास्त्वं परिचर्यापरो भव ।
अविघ्नमस्तु ते स्थेयाः पितेव धुरि पुत्रिणाम् ॥ ९१ ॥

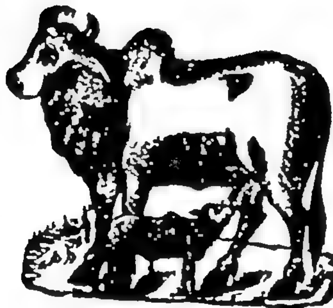
तथेति प्रतिजग्राह प्रीतिमान्सपरिग्रहः ।
आदेशं देशकालज्ञः शिष्यः शासितुरानतः ॥ ९२ ॥

अथ प्रदोषे दोषज्ञः संवेशाय विशांपतिम् ।
सूनुः सूनृतवाक्स्रष्टुर्विससर्जोर्जितश्रियम् ॥ ९३ ॥

सत्यामपि तपःसिद्धौ नियमापेक्षया मुनिः ।
कल्पवित्कल्पयामास वन्यामेवास्य संविधाम् ॥ ९४ ॥

निर्दिष्टां कुलपतिना स पर्णशालामध्यास्य प्रयतपरिग्रहद्वितीयः ।
तच्छिष्याध्ययननिवेदितावसानां संविष्टः कुशशयने निशां निनाय॥

इति महाकवि श्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
वशिष्ठाश्रमाभिगमनो नाम प्रथम सर्गः



द्वितीयः सर्गः

अथ प्रजानामधिपः प्रभाते जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम् ।
वनाय पीतप्रतिबद्धवत्सां यशोधनो धेनुमृषेर्मुमोच ॥ १ ॥

तस्याः खुरन्यासपवित्रपांसुमपांसुलानां धुरि कीर्तनीया ।
मार्गं मनुष्येश्वरधर्मपत्नी श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत् ॥ २ ॥

निवर्त्य राजा दयितां दयालुस्तां सौरभेयीं सुरभिर्यशोभिः ।
पयोधरीभूतचतुःसमुद्रां जुगोप गोरूपधरामिवोर्वीम् ॥ ३ ॥

व्रताय तेनानुचरेण धेनोर्न्यषेधि शेषोऽप्यनुयायिवर्गः ।
न चान्यतस्तस्य शरीररक्षा स्ववीर्यगुप्ता हि मनोः प्रसूतिः ॥ ४ ॥

आस्वादवद्भिः कवलैस्तृणानां कण्डूयनैर्दंशनिवारणैश्च ।
अव्याहतैः स्वैरगतैः स तस्याः सम्राट् समाराधनतत्परोऽभूत् ॥ ५ ॥

स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां निषेदुषीमासनबन्धधीरः ।
जलाभिलाषी जलमाददानां छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत् ॥ ६ ॥

स न्यस्तचिह्नामपि राजलक्ष्मीं तेजोविशेषानुमितां दधानः ।
आसीदनाविष्कृतदानराजिरन्तर्मदावस्थ इव द्विपेन्द्रः ॥ ७ ॥

लताप्रतानोद्ग्रथितैः स केशैरधिज्यधन्वा विचचार दावम् ।
रक्षापदेशान्मुनिहोमधेनोर्वन्यान्विनेष्यन्निव दुष्टसत्त्वान् ॥ ८ ॥

विसृष्टपार्श्वानुचरस्य तस्य पार्श्वद्रुमाः पाशभृता समस्य ।
उदीरयामासुरिवोन्मदानामालोकशब्दं वयसां विरावैः ॥ ९ ॥

मरुत्प्रयुक्ताश्च मरुत्सखाभं तमर्च्यमारादभिवर्तमानम् ।
अवाकिरन्बाललताः प्रसूनैराचारलाजैरिव पौरकन्याः ॥१०॥

धनुर्भृतोऽप्यस्य दयार्द्रभावमाख्यातमन्तःकरणैर्विशङ्कैः ।
विलोकयन्त्यो वपुरापुरक्ष्णां प्रकामविस्तारफलं हरिण्यः ॥११॥

स कीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैः कूजद्भिरापादितवंशकृत्यम् ।
शुश्राव कुञ्जेषु यशः स्वमुच्चैरुद्गीयमानं वनदेवताभिः ॥१२॥

पृक्तस्तुषारैर्गिरिनिर्झराणामनोकहाकम्पितपुष्पगन्धी ।
तमातपक्लान्तमनातपत्रमाचारपूतं पवनः सिषेवे ॥१३॥

शशाम वृष्ट्यापि विना दवाग्निरासीद्विशेषा फलपुष्पवृद्धिः ।
ऊनं न सत्त्वेष्वधिको बबाधे तस्मिन्वनं गोप्तरि गाहमाने ॥१४॥

संचारपूतानि दिगन्तराणि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुम् ।
प्रचक्रमे पल्लवरागताम्रा प्रभा पतङ्गस्य मुनेश्च धेनुः ॥१५॥

तां देवतापित्रतिथिक्रियार्थामन्वग्ययौ मध्यमलोकपालः ।
बभौ च सा तेन सतां मतेन श्रद्धेव साक्षाद्विधिनोपपन्ना ॥१६॥

स पल्वलोत्तीर्णवराहयूथान्यावासवृक्षोन्मुखबर्हिणानि ।
ययौ मृगाध्यासितशाद्वलानि श्यामायमानानि वनानि पश्यन् ॥१७॥

आपीनभारोद्वहनप्रयत्नाद्गृष्टिर्गुरुत्वाद्वपुषो नरेन्द्रः ।
उभावलंचक्रतुरञ्चिताभ्यां तपोवनावृत्तिपथं गताभ्याम् ॥१८॥

वशिष्ठधेनोरनुयायिनं तमावर्तमानं वनिता वनान्तात् ।
पपौ निमेषालसपक्ष्मपङ्क्तिरुपोषिताभ्यामिव लोचनाभ्याम् ॥१९॥

पुरस्कृता वर्त्मनि पार्थिवेन प्रत्युद्गता पार्थिवधर्मपत्न्या ।
तदन्तरे सा विरराज धेनुर्दिनक्षपामध्यगतेव संध्या ॥२०॥

प्रदक्षिणीकृत्य पयस्विनीं तां सुदक्षिणा साक्षतपात्रहस्ता ।
प्रणम्य चानर्च विशालमस्याः शृङ्गान्तरं द्वारमिवार्थसिद्धेः ॥२१॥

वत्सोत्सुकापि स्तिमिता सपर्यां प्रत्यग्रहीत्सेति ननन्दतुस्तौ ।
भक्त्योपपन्नेषु हि तद्विधानां प्रसादचिह्नानि पुरःफलानि ॥२२॥

गुरोः सदारस्य निपीड्य पादौ समाप्य सांध्यं च विधिं दिलीपः ।
दोहावसाने पुनरेव दोग्ध्रीं भेजे भुजोच्छिन्नरिपुर्निषण्णाम् ॥२३॥

तामन्तिकन्यस्तबलिप्रदीपामन्वास्य गोप्ता गृहिणीसहायः ।
क्रमेण सुप्तामनु संविवेश सुप्तोत्थितां प्रातरनूदतिष्ठत् ॥२४॥

इत्थं व्रतं धारयतः प्रजार्थं समं महिष्या महनीयकीर्तेः ।
सप्त व्यतीयुस्त्रिगुणानि तस्य दिनानि दीनोद्धरणोचितस्य ॥२५॥

अन्येद्युरात्मानुचरस्य भावं जिज्ञासमाना मुनिहोमधेनुः ।
गङ्गाप्रपातान्तविरूढशष्पं गौरीगुरोर्गह्वरमाविवेश ॥२६॥

सा दुष्प्रधर्षा मनसापि हिंस्रैरित्यद्रिशोभाप्रहितेक्षणेन ।
अलक्षिताभ्युत्पतनो नृपेण प्रसह्य सिंहः किल तां चकर्ष ॥२७॥

तदीयमाक्रन्दितमार्तसाधोर्गुहानिबद्धप्रतिशब्ददीर्घम् ।
रश्मिष्विवादाय नगेन्द्रसक्तां निवर्तयामास नृपस्य दृष्टिम् ॥२८॥

स पाटलायां गवि तस्थिवांसं धनुर्धरः केसरिणं ददर्श ।
अधित्यकायामिव धातुमय्यां लोध्रद्रुमं सानुमतः प्रफुल्लम् ॥२९॥

तता मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रगामी वधाय वध्यस्य शरं शरण्यः ।
जाताभिषङ्गो नृपतिर्निषङ्गादुद्धर्तुमैच्छत्प्रसभोद्धृतारिः ॥३०॥

वामेतरस्तस्य करः प्रहर्तुर्नखप्रभाभूषितकङ्कपत्रे ।
सक्ताङ्गुलिः सायकपुङ्ख एव चित्रार्पितारम्भ इवावतस्थे ॥३१॥

बाहुप्रतिष्टम्भविवृद्धमन्युरभ्यर्णमागस्कृतमस्पृशद्भिः ।
राजा स्वतेजोभिरदह्यतान्तर्भोगीव मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यः ॥३२॥

तमार्यगृह्यं निगृहीतधेनुर्मनुष्यवाचा मनुवंशकेतुम् ।
विस्माययन्विस्मितमात्मवृत्तौ सिंहोरुसत्त्वं निजगाद सिंहः ॥३३॥

अलं महीपाल तव श्रमेण प्रयुक्तमप्यस्त्रमितो वृथा स्यात् ।
न पादपोन्मूलनशक्तिरंहः शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य ॥३४॥

कैलासगौरं वृषमारुरुक्षोः पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठम् ।
अवेहि मां किंकरमष्टमूर्तेः कुम्भोदरं नाम निकुम्भमित्रम् ॥३५॥

अमुं पुरः पश्यसि देवदारुं पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन ।
यो हेमकुम्भस्तननिःसृतानां स्कन्दस्य मातुः पयसां रसज्ञः ॥३६॥

कण्डूयमानेन कटं कदाचिद्वन्यद्विपेनोन्मथिता त्वगस्य ।
अथैनमद्रेस्तनया शुशोच सेनान्यमालीढमिवासुरास्त्रैः ॥३७॥

तदाप्रभृत्येव वनद्विपानां त्रासार्थमस्मिन्नहमद्रिकुक्षौ ।
व्यापारितः शूलभृता विधाय सिंहत्वमङ्कागतसत्त्ववृत्ति ॥३८॥

तस्यालमेषा क्षुधितस्य तृप्त्यै प्रदिष्टकाला परमेश्वरेण ।
उपस्थिता शोणितपारणा मे सुरद्विषश्चान्द्रमसी सुधेव ॥३९॥

स त्वं निवर्तस्व विहाय लज्जां गुरोर्भवान्दर्शितशिष्यभक्तिः ।
शस्त्रेण रक्ष्यं यदशक्यरक्षं न तद्यशः शस्त्रभृतां क्षिणोति ॥४०॥

इति प्रगल्भं पुरुषाधिराजो मृगाधिराजस्य वचो निशम्य ।
प्रत्याहतास्त्रो गिरिशप्रभावादात्मन्यवज्ञां शिथिलीचकार ॥४१॥

प्रत्यब्रवीच्चैनमिषुप्रयोगे तत्पूर्वभङ्गे वितथप्रयत्नः ।
जडीकृतस्त्र्यम्बकवीक्षणेन वज्रं मुमुक्षन्निव वज्रपाणिः ॥४२॥

संरुद्धचेष्टस्य मृगेन्द्र कामं हास्यं वचस्तद्यदहं विवक्षुः ।
अन्तर्गतं प्राणभृतां हि वेद सर्वं भवान्भावमतोऽभिधास्ये ॥४३॥

मान्यः स मे स्थावरजंगमानां सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुः ।
गुरोरपीदं धनमाहिताग्नेर्नश्यत्पुरस्तादनुपेक्षणीयम् ॥४४॥

स त्वं मदीयेन शरीरवृत्तिं देहेन निर्वर्तयितुं प्रसीद ।
दिनावसानोत्सुकबालवत्सा विसृज्यतां धेनुरियं महर्षेः ॥४५॥

अथान्धकारं गिरिगह्वराणां दंष्ट्रामयूखैः शकलानि कुर्वन् ।
भूयः स भूतेश्वर पार्श्ववर्ती किंचिद्विहस्यार्थपतिं बभाषे ॥४६॥

एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च ।
अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम् ॥४७॥

भूतानुकम्पा तव चेदियं गौरेका भवेत्स्वस्तिमति त्वदन्ते ।
जीवन्पुनः शश्वदुपप्लवेभ्यः प्रजाः प्रजानाथ पितेव पासि ॥४८॥

अथैकधेनोरपराधचण्डाद्गुरोः कृशानुप्रतिमाद्बिभेषि ।
शक्योऽस्य मन्युर्भवता विनेतुं गाः कोटिशः स्पर्शयता घटोध्नीः ॥४९॥

तद्रक्ष कल्याणपरम्पराणां भोक्तारमूर्जस्वलमात्मदेहम् ।
महीतलस्पर्शनमात्रभिन्नमृद्धं हि राज्यं पदमैन्द्रमाहुः ॥५०॥

एतावदुक्त्वा विरते मृगेन्द्रे प्रतिस्वनेनास्य गुहागतेन ।
शिलोच्चयोऽपि क्षितिपालमुच्चैः प्रीत्या तमेवार्थमभाषतेव ॥५१॥

निशम्य देवानुचरस्य वाचं मनुष्यदेवः पुनरप्युवाच ।
धेन्वा तदध्यासितकातराक्ष्या निरीक्ष्यमाणः सुतरां दयालुः ॥५२॥

क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः ।
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा ॥५३॥

कथं न शक्योऽनुनयो महर्षेर्विश्राणनाच्चान्यपयस्विनीनाम् ।
इमामनूनां सुरभेरवेहि रुद्रौजसा तु प्रहृतं त्वयास्याम् ॥५४॥

सेयं स्वदेहार्पणनिष्क्रयेण न्याय्या मया मोचयितुं भवत्तः ।
न पारणा स्याद्विहता तवैवं भवेदलुप्तश्च मुनेः क्रियार्थः ॥५५॥

भवानपीदं परवानवैति महान्हि यत्नस्तव देवदारौ ।
स्थातुं नियोक्तुर्नहि शक्यमग्रे विनाश्य रक्ष्यं स्वयमक्षतेन ॥५६॥

किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं यशःशरीरे भव मे दयालुः ।
एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु ॥५७॥

संबन्धमाभाषणपूर्वमाहुर्वृत्तः स नौ संगतयोर्वनान्ते ।
तद्भूतनाथानुग नार्हसि त्वं सम्बन्धिनो मे प्रणयं विहन्तुम् ॥५८॥

तथेति गामुक्तवते दिलीपः सद्यः प्रतिष्टम्भविमुक्तबाहुः ।
स न्यस्तशस्त्रो हरये स्वदेहमुपानयत्पिण्डमिवामिषस्य ॥५९॥

तस्मिन्क्षणे पालयितुः प्रजानामुत्पश्यतः सिंहनिपातमुग्रम् ।
अवाङ्मुखस्योपरि पुष्पवृष्टिः पपात विद्याधरहस्तमुक्ता ॥६०॥

उत्तिष्ठ वत्सेत्यमृतायमानं वचो निशम्योत्थितमुत्थितः सन् ।
ददर्श राजा जननीमिव स्वां गामग्रतः प्रस्रविणीं न सिंहम् ॥६१॥

तं विस्मितं धेनुरुवाच साधो मायां मयोद्भाव्य परीक्षितोऽसि ।
ऋषिप्रभावान्मयि नान्तकोऽपि प्रभुः प्रहर्तुं किमुतान्यहिंस्राः ॥६२॥

भक्त्या गुरौ मय्यनुकम्पया च प्रीतास्मि ते पुत्र वरं वृणीष्व ।
न केवलानां पयसां प्रसूतिमवेहि मां कामदुघां प्रसन्नाम् ॥६३॥

ततः समानीय स मानितार्थी हस्तौ स्वहस्तार्जितवीरशब्दः ।
वंशस्य कर्तारमनन्तकीर्तिं सुदक्षिणायां तनयं ययाचे ॥६४॥

संतानकामाय तथेति कामं राज्ञे प्रतिश्रुत्य पयस्विनी सा ।
दुग्ध्वा पयः पत्रपुटे मदीयं पुत्रोपभुङ्क्ष्वेति तमादिदेश ॥६५॥

वत्सस्य होमार्थविधेश्च शेषमृषेरनुज्ञामधिगम्य मातः ।
औधस्यमिच्छामि तवोपभोक्तुं षष्ठांशमुर्व्या इव रक्षितायाः ॥६६॥

इत्थं क्षितीशेन वशिष्ठधेनुर्विज्ञापिता प्रीततरा बभूव ।
तदन्विता हैमवताच्च कुक्षेः प्रत्याययावाश्रममश्रमेण ॥६७॥

तस्याः प्रसन्नेन्दुमुखः प्रसादं गुरुर्नृपाणां गुरवे निवेद्य ।
प्रहर्षचिह्नानुमितं प्रियायै शशंस वाचा पुनरुक्तयेव ॥६८॥

स नन्दिनीस्तन्यमनिन्दितात्मा सद्वत्सलो वत्सहुतावशेषम् ।
पपौ वशिष्ठेन कृताभ्यनुज्ञः शुभ्रं यशो मूर्तमिवातितृष्णः ॥६९॥

प्रातर्यथोक्तव्रतपारणान्ते प्रास्थानिकं स्वस्त्ययनं प्रयुज्य ।
तौ दंपती स्वां प्रति राजधानी प्रस्थापयामास वशी वशिष्ठः ॥७०॥

प्रदक्षिणीकृत्य हुतं हुताशमनन्तरं भर्तुररुन्धतीं च ।
धेनुं सवत्सां च नृपः प्रतस्थे सन्मङ्गलोदग्रतरप्रभावः ॥७१॥

श्रोत्राभिरामध्वनिना रथेन स धर्मपत्नीसहितः सहिष्णुः ।
ययावनुद्घातसुखेन मार्गं स्वेनेव पूर्णेन मनोरथेन ॥७२॥

तमाहितौत्सुक्यमदर्शनेन प्रजाः प्रजार्थव्रतकर्शिताङ्गम् ।
नेत्रैः पपुस्तृप्तिमनाप्नुवद्भिर्नवोदयं नाथमिवौषधीनाम् ॥७३॥

पुरंदरश्रीः पुरमुत्पताकं प्रविश्य पौरैरभिनन्द्यमानः ।
भुजे भुजंगेन्द्रसमानसारे भूयः स भूमेर्धुरमाससञ्ज ॥७४॥

अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः
सुरसरिदिव तेजो वह्निनिष्ठ्यूतमैशम् ।
नरपतिकुलभूत्यै गर्भमाधत्त राज्ञी
गुरुभिरभिनिविष्टं लोकपालानुभावैः ॥७५॥

इति महाकवि श्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
नन्दिनीवरप्रदानो नाम द्वितीयः सर्गः ॥



तृतीयः सर्गः

अथेप्सितं भर्तुरुपस्थितोदयं सखीजनोद्वीक्षणकौमुदीमुखम् ।
निदानमिक्ष्वाकुकुलस्य संततेः सुदक्षिणा दौर्हृदलक्षणं दधौ ॥ १ ॥

शरीरसादादसमग्रभूषणा मुखेन सालक्ष्यत लोध्रपाण्डुना ।
तनुप्रकाशेन विचेयतारका प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी ॥ २ ॥

तदाननं मृत्सुरभि क्षितीश्वरो रहस्युपाघ्राय न तृप्तिमाययौ ।
करीव सिक्तं पृषतैः पयोमुचां शुचिव्यपाये वनराजिपल्वलम् ॥३॥

दिवं मरुत्वानिव भोक्ष्यते भुवं दिगन्तविश्रान्तरथो हि तत्सुतः ।
अतोऽभिलाषे प्रथमं तथाविधे मनो बबन्धान्यरसान्विलङ्घ्य सा॥४॥

न मे ह्रिया शंसति किंचिदीप्सितं स्पृहावती वस्तुषु केषु मागधी ।
इति स्म पृच्छत्यनुवेलमादृतः प्रियासखीरुत्तरकोशलेश्वरः॥ ५ ॥

उपेत्य सा दोहददुःखशीलतां यदेव वव्रे तदपश्यदाहृतम् ।
न हीष्टमस्य त्रिदिवेऽपि भूपतेरभूदनासाद्यमधिज्यधन्वनः ॥ ६ ॥

क्रमेण निस्तीर्य च दोहदव्यथां प्रचीयमानावयवा रराज सा ।
पुराणपत्रापगमादनन्तरं लतेव संनद्धमनोज्ञपल्लवा ॥ ७ ॥

दिनेषु गच्छत्सु नितान्तपीवरं तदीयमानीलमुखं स्तनद्वयम् ।
तिरश्चकार भ्रमराभिलीनयोः सुजातयोः पङ्कजकोशयोः श्रियम् ॥८॥

निधानगर्भामिव सागराम्बरां शमीमिवाभ्यन्तरलीनपावकाम् ।
नदीमिवान्तःसलिलां सरस्वतीं नृपः ससत्त्वां महिषीममन्यत ॥९॥

प्रियानुरागस्य मनः समुन्नतेर्भुजार्जितानां च दिगन्तसंपदाम् ।
यथाक्रमं पुंसवनादिकाः क्रिया धृतेश्च धीरः सदृशीर्व्यधत्त सः ॥१०॥

सुरेन्द्रमात्राश्रितगर्भगौरवात्प्रयत्नमुक्तासनया गृहागतः ।
तयोपचाराञ्जलिखिन्नहस्तया ननन्द पारिप्लवनेत्रया नृपः ॥११॥

कुमारभृत्याकुशलैरनुष्ठिते भिषग्भिराप्तैरथ गर्भभर्मणि ।
पतिः प्रतीतः प्रसवोन्मुखीं प्रियां ददर्श काले दिवमभ्रितामिव ॥१२॥

ग्रहैस्ततः पञ्चभिरुच्चसंश्रयैरसूर्यगैः सूचितभाग्यसंपदम् ।
असूत पुत्रं समये शचीसमा त्रिसाधना शक्तिरिवार्थमक्षयम् ॥१३॥

दिशः प्रसेदुर्मरुतो ववुः सुखाः प्रदक्षिणार्चिर्हविरग्निराददे ।
बभूव सर्वं शुभशंसि तत्क्षणं भवो हि लोकाभ्युदयाय तादृशाम् ॥१४॥

अरिष्टशय्यां परितो विसारिणा सुजन्मनस्तस्य निजेन तेजसा ।
निशीथदीपाः सहसा हतत्विषो बभूवुरालेख्यसमर्पिता इव ॥१५॥

जनाय शुद्धान्तचराय शंसते कुमारजन्मामृतसंमिताक्षरम् ।
अदेयमासीत्त्रयमेव भूपतेः शशिप्रभं छत्रमुभे च चामरे ॥ १६ ॥

निवातपद्मस्तिमितेन चक्षुषा नृपस्य कान्तं पिबतः सुताननम् ।
महोदधेः पूर इवेन्दुदर्शनाद्गुरुः प्रहर्षः प्रबभूव नात्मनि ॥ १७ ॥

स जातकर्मण्यखिले तपस्विना तपोवनादेत्य पुरोधसा कृते ।
दिलीपसूनुर्मणिराकरोद्भवः प्रयुक्तसंस्कार इवाधिकं बभौ ॥ १८ ॥

सुखश्रवा मङ्गलतूर्यनिस्वनाः प्रमोदनृत्यैः सह वारयोषिताम् ।
न केवलं सद्मनि मागधीपतेः पथि व्यजृम्भन्त दिवौकसामपि ॥१९॥

न संयतस्तस्य बभूव रक्षितुर्विसर्जयेद्यं सुतजन्महर्षितः ।
ऋणाभिधानात्स्वयमेव केवलं तदा पितॄणां मुमुचे स बन्धनात् ॥२०॥

श्रुतस्य यायादयमन्तमर्भकस्तथा परेषां युधि चेति पार्थिवः ।
अवेक्ष्य धातोर्गमनार्थमर्थविच्चकार नाम्ना रघुमात्मसंभवम् ॥२१॥

पितुः प्रयत्नात्स समग्रसंपदः शुभैः शरीरावयवैर्दिनेदिने ।
पुपोष वृद्धिं हरिदश्वदीधितेरनुप्रवेशादिव बालचन्द्रमाः ॥ २२ ॥

उमावृषाङ्कौ शरजन्मना यथा यथा जयन्तेन शचीपुरंदरौ ।
तथा नृपः सा च सुतेन मागधी ननन्दतुस्तत्सदृशेन तत्समौ ॥२३॥

रथाङ्गनाम्नोरिव भावबन्धनं बभूव यत्प्रेम परस्पराश्रयम् ।
विभक्तमप्येकसुतेन तत्तयोः परस्परस्योपरि पर्यचीयत ॥ २४ ॥

उवाच धात्र्या प्रथमोदितं वचो ययौ तदीयामवलम्ब्य चाङ्गुलिम् ।
अभूच्च नम्रः प्रणिपातशिक्षया पितुर्मुदं तेन ततान सोऽर्भकः ॥२५॥

तमङ्कमारोप्य शरीरयोगजैः सुखैर्निषिञ्चन्तमिवामृतं त्वचि ।
उपान्तसंमीलितलोचनो नृपश्चिरात्सुतस्पर्शरसज्ञतां ययौ ॥ २६ ॥

अमंस्त चानेन परार्ध्यजन्मना स्थितेरभेत्ता स्थितिमन्तमन्वयम् ।
स्वमूर्तिभेदेन गुणाग्र्यवर्तिना पतिः प्रजानामिव सर्गमात्मनः ॥२७॥

स वृत्तचूलश्चलकाकपक्षकैरमात्यपुत्रैः सवयोभिरन्वितः ।
लिपेर्यथावद्ग्रहणेन वाङ्मयं नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत् ॥ २८ ॥

अथोपनीतं विधिवद्विपश्चितो विनिन्युरेनं गुरवो गुरुप्रियम् ।
अवन्ध्ययत्नाश्च बभूवुरत्र ते क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति ॥२९॥

धियः समग्रैः स गुणैरुदारधीः क्रमाच्चतस्रश्चतुरर्णवोपमाः ।
ततार विद्याः पवनातिपातिभिर्दिशो हरिद्भिर्हरितामिवेश्वरः ॥३०॥

त्वचं स मेध्यां परिधाय रौरवीमशिक्षतास्त्रं पितुरेव मन्त्रवत् ।
न केवलं तद्गुरुरेकपार्थिवः क्षितावभूदेकधनुर्धरोऽपि सः ॥३१॥

महोक्षतां वत्सतरः स्पृशन्निव द्विपेन्द्रभावं कलभः श्रयन्निव ।
रघुः क्रमाद्यौवनभिन्नशैशवः पुपोष गाम्भीर्यमनोहरं वपुः ॥३२॥

अथास्य गोदानविधेरनन्तरं विवाहदीक्षां निरवर्तयद्गुरुः ।
नरेन्द्रकन्यास्तमवाप्य सत्पतिं तमोनुदं दक्षसुता इवाबभुः ॥३३॥

युवा युगव्यायतबाहुरंसलः कपाटवक्षाः परिणद्धकंधरः ।
वपुः प्रकर्षादजयद्गुरुं रघुस्तथापि नीचैर्विनयाददृश्यत ॥ ३४ ॥

ततः प्रजानां चिरमात्मना धृतां नितान्तगुर्वी लघयिष्यता धुरम् ।
निसर्गसंस्कारविनीत इत्यसौ नृपेण चक्रे युवराजशब्दभाक् ॥३५॥

नरेन्द्रमूलायतनादनन्तरं तदास्पदं श्रीर्युवराजसंज्ञितम् ।
अगच्छदंशेन गुणाभिलाषिणी नवावतारं कमलादिवोत्पलम्॥३६॥

विभावसुः सारथिनेव वायुना घनव्यपायेन गभस्तिमानिव ।
बभूव तेनातितरां सुदुःसहः कटप्रभेदेन करीव पार्थिवः ॥ ३७ ॥

नियुज्य तं होमतुरंगरक्षणे धनुर्धरं राजसुतैरनुद्रुतम् ।
अपूर्णमेकेन शतक्रतूपमः शतं क्रतूनामपविघ्नमाप सः ॥ ३८ ॥

ततः परं तेन मखाय यज्वना तुरंगमुत्सृष्टमनर्गलं पुनः ।
धनुर्भृतामग्रत एव रक्षिणां जहार शक्रः किल गूढविग्रहः ॥ ३९ ॥

विषादलुप्तप्रतिपत्ति विस्मितं कुमारसैन्यं सपदि स्थितं च तत् ।
वशिष्ठधेनुश्च यदृच्छयागता श्रुतप्रभावा ददृशेऽथ नन्दिनी ॥ ४० ॥

तदङ्गनिस्यन्दजलेन लोचने प्रमृज्य पुण्येन पुरस्कृतः सताम् ।
अतीन्द्रियेष्वप्युपपन्नदर्शनो बभूव भावेषु दिलीपनन्दनः ॥ ४१ ॥

स पूर्वतः पर्वतपक्षशातनं ददर्श देवं नरदेवसंभवः ।
पुनः पुनः सूतनिषिद्धचापलं हरन्तमश्वं रथरश्मिसंयतम् ॥ ४२ ॥

शतैस्तमक्ष्णामनिमेषवृत्तिभिर्हरिं विदित्वा हरिभिश्च वाजिभिः ।
अवोचदेनं गगनस्पृशा रघुः स्वरेण धीरेण निवर्तयन्निव ॥ ४३ ॥

मखांशभाजां प्रथमो मनीषिभिस्त्वमेव देवेन्द्र सदा निगद्यसे ।
अजस्रदीक्षाप्रयतस्य मद्गुरोः क्रियाविघाताय कथं प्रवर्तसे ॥ ४४ ॥

त्रिलोकनाथेन सदा मखद्विषस्त्वया नियम्या ननु दिव्यचक्षुषा ।
स चेत्स्वयं कर्मसु धर्मचारिणां त्वमन्तरायो भवसि च्युतो विधिः॥४५॥

तदङ्गमग्र्यं मघवन्महाक्रतोरमुं तुरंगं प्रतिमोक्तुमर्हसि ।
पथः श्रुतेर्दर्शयितार ईश्वरा मलीमसामाददते न पद्धतिम् ॥ ४६ ॥

इति प्रगल्भं रघुणा समीरितं वचो निशम्याधिपतिर्दिवौकसाम् ।
निवर्तयामास रथं सविस्मयः प्रचक्रमे च प्रतिवक्तुमुत्तरम् ॥ ४७ ॥

यदात्थ राजन्यकुमार तत्तथा यशस्तु रक्ष्यं परतो यशोधनैः ।
जगत्प्रकाशं तदशेषमिज्यया भवद्गुरुर्लङ्घयितुं ममोद्यतः ॥ ४८ ॥

हरिर्यथैकः पुरुषोत्तमः स्मृतो महेश्वरस्त्र्यम्बक एव नापरः ।
तथा विदुर्मां मुनयः शतक्रतुं द्वितीयगामी न हि शब्द एष नः ॥४९॥

अतोऽयमश्वः कपिलानुकारिणा पितुस्त्वदीयस्य मयापहारितः ।
अलं प्रयत्नेन तवात्र मा निधाः पदं पदव्यां सगरस्य संततेः ॥५०॥

ततः प्रहस्यापभयः पुरंदरं पुनर्बभाषे तुरगस्य रक्षिता ।
गृहाण शस्त्रं यदि सर्ग एष ते न खल्वनिर्जित्य रघुं कृती भवान्॥५१॥

स एवमुक्त्वा मघवन्तमुन्मुखः करिष्यमाणः सशरं शरासनम् ।
अतिष्ठदालीढविशेषशोभिना वपुःप्रकर्षेण विडम्बितेश्वरः ॥ ५२ ॥

रघोरवष्टम्भमयेन पत्त्रिणा हृदि क्षतो गोत्रभिदप्यमर्षणः ।
नवाम्बुदानीकमुहूर्तलाञ्छने धनुष्यमोघं समधत्त सायकम् ॥५३॥

दिलीपसूनोः स बृहद्भुजान्तरं प्रविश्य भीमासुरशोणितोचितः ।
पपावनास्वादितपूर्वमाशुगः कुतूहलेनेव मनुष्यशोणितम् ॥ ५४ ॥

हरेः कुमारोऽपि कुमारविक्रमः सुरद्विपास्फालनकर्कशाङ्गुलौ ।
भुजे शचीपत्रविशेषकाङ्किते स्वनामचिह्नं निचखान सायकम् ॥५५॥

जहार चान्येन मयूरपत्त्रिणा शरेण शक्रस्य महाशनिध्वजम् ।
चुकोप तस्मै स भृशं सुरश्रियः प्रसह्य केशव्यपरोपणादिव ॥५६॥

तयोरुपान्तस्थितसिद्धसैनिकं गरुत्मदाशीविषभीमदर्शनैः ।
बभूव युद्धं तुमुलं जयैषिणोरधोमुखैरूर्ध्वमुखैश्च पत्त्रिभिः ॥ ५७ ॥

अतिप्रबन्धप्रहितास्त्रवृष्टिभिस्तमाश्रयं दुष्प्रसहस्य तेजसः ।
शशाक निर्वापयितुं न वासवः स्वतश्च्युतं वह्निमिवाद्भिरम्बुदः॥५८॥

ततः प्रकोष्ठे हरिचन्दनाङ्किते प्रमथ्यमानार्णवधीरनादिनीम् ।
रघुः शशांकार्धमुखेन पत्त्रिणाशरासनज्यामलुनाद्बिडौजसः॥५९॥

स चापमुत्सृज्य विवृद्धमत्सरः प्रणाशनाय प्रबलस्य विद्विषः ।
महीध्रपक्षव्यपरोपणोचितं स्फुरत्प्रभामण्डलमस्त्रमाददे ॥ ६० ॥

रघुर्भृशं वक्षसि तेन ताडितः पपात भूमौ सह सैनिकाश्रुभिः ।
निमेषमात्रादवधूय तद्व्यथां सहोत्थितः सैनिकहर्षनिःस्वनैः॥६१॥

तथापि शस्त्रव्यवहारनिष्ठुरे विपक्षभावे चिरमस्य तस्थुषः ।
तुतोष वीर्यातिशयेन वृत्रहा पदं हि सर्वत्रगुणैर्निधीयते ॥ ६२ ॥

असङ्गमद्रिष्वपि सारवत्तया न मे त्वदन्येन विसोढमायुधम् ।
अवेहि मां प्रीतमृते तुरंगमात्किमिच्छसीति स्फुटमाह वासवः ॥६३॥

ततो निषङ्गादसमग्रमुद्धृतं सुवर्णपुङ्खद्युतिरञ्जिताङ्गुलिम् ।
नरेन्द्रसूनुः प्रतिसंहरन्निषुं प्रियंवदः प्रत्यवदत्सुरेश्वरम् ॥ ६४ ॥

अमोच्यमश्वं यदि मन्यसे प्रभो ततः समाप्ते विधिनैव कर्मणि ।
अजस्रदीक्षाप्रयतः स मद्गुरुः क्रतोरशेषेण फलेन युज्यताम् ॥६५॥

यथा च वृत्तान्तमिमं सदोगतस्त्रिलोचनैकांशतया दुरासदः ।
तवैव संदेशहराद्विशांपतिः शृणोति लोकेश तथा विधीयताम्॥६६॥

तथेति कामं प्रतिशुश्रुवान्रघोर्यथागतं मातलिसारथिर्ययौ ।
नृपस्य नातिप्रमनाः सदोगृहं सुदक्षिणासूनुरपि न्यवर्तत ॥ ६७ ॥

तमभ्यनन्दत्प्रथमं प्रबोधितः प्रजेश्वरः शासनहारिणा हरेः ।
परामृशन्हर्षजडेन पाणिना तदीयमङ्गं कुलिशव्रणाङ्कितम् ॥ ६८ ॥

इति क्षितीशो नवतिं नवाधिकां महाक्रतूनां महनीयशासनः ।
समारुरुक्षुर्दिवमायुषः क्षये ततान सोपानपरम्परामिव ॥ ६९ ॥

अथ स विषयव्यावृत्तात्मा यथाविधि सूनवे
नृपतिककुदं दत्त्वा यूने सितातपवारणम् ।
मुनिवनतरुच्छायां देव्या तया सह शिश्रिये
गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम् ॥ ७० ॥

इति महाकवि श्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
रघुराज्याभिषेको नाम तृतीयः सर्गः ॥



चतुर्थः सर्गः

स राज्यं गुरुणा दत्तं प्रतिपद्याधिकं बभौ ।
दिनान्ते निहितं तेजः सवित्रेव हुताशनः ॥ १ ॥

दिलीपानन्तरं राज्ये तं निशम्य प्रतिष्ठितम् ।
पूर्वं प्रधूमितो राज्ञां हृदयेऽग्निरिवोत्थितः ॥ २ ॥

पुरुहूतध्वजस्येव तस्योन्नयनपङ्क्तयः ।
नवाभ्युत्थानदर्शिन्यो ननन्दुः सप्रजाः प्रजाः ॥ ३ ॥

सममेव समाक्रान्तं द्वयं द्विरदगामिना ।
तेन सिंहासनं पित्र्यमखिलं चारिमण्डलम् ॥ ४ ॥

छायामण्डललक्ष्येण तमदृश्या किल स्वयम् ।
पद्मा पद्मातपत्रेण भेजे साम्राज्यदीक्षितम् ॥ ५ ॥

परिकल्पितसांनिध्या काले काले च वन्दिषु ।
स्तुत्यं स्तुतिभिरर्थ्याभिरुपतस्थे सरस्वती ॥ ६ ॥

मनुप्रभृतिभिर्मान्यैर्भुक्ता यद्यपि राजभिः ।
तथाप्यनन्यपूर्वेव तस्मिन्नासीद्वसुंधरा ॥ ७ ॥

स हि सर्वस्य लोकस्य युक्तदण्डतया मनः ।
आददे नातिशीतोष्णो नभस्यानिव दक्षिणः ॥ ८ ॥

मन्दोत्कण्ठाः कृतास्तेन गुणाधिकतया गुरौ ।
फलेन सहकारस्य पुष्पोद्गम इव प्रजाः ॥ ९ ॥

नयविद्भिर्नवे राज्ञि सदसच्चोपदर्शितम् ।
पूर्व एवाभवत्पक्षस्तस्मिन्नाभवदुत्तरः ॥ १० ॥

पञ्चानामपि भूतानामुत्कर्षं पुपुषुर्गुणाः ।
नवे तस्मिन्महीपाले सर्वं नवमिवाभवत् ॥ ११ ॥

यथा प्रह्लादनाच्चन्द्रः प्रतापात्तपनो यथा ।
तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृतिरञ्जनात् ॥ १२ ॥

कामं कर्णान्तविश्रान्ते विशाले तस्य लोचने ।
चक्षुष्मत्ता तु शास्त्रेण सूक्ष्मकार्यार्थदर्शिना ॥ १३ ॥

लब्धप्रशमनस्वस्थमथैनं समुपस्थिता ।
पार्थिवश्रीर्द्वितीयेव शरत्पङ्कजलक्षणा ॥ १४ ॥

निर्वृष्टलघुभिर्मेघैर्मुक्तवर्त्मा सुदुःसहः ।
प्रतापस्तस्य भानोश्च युगपद्व्यानशे दिशः ॥ १५ ॥

वार्षिकं संजहारेन्द्रो धनुर्जैत्रं रघुर्दधौ ।
प्रजार्थसाधने तौ हि पर्यायोद्यतकार्मुकौ ॥ १६ ॥

पुण्डरीकातपत्रस्तं विकसत्काशचामरः ।
ऋतुर्विडम्बयामास न पुनः प्राप तच्छ्रियम् ॥ १७ ॥

प्रसादसुमुखे तस्मिंश्चन्द्रे च विशदप्रभे ।
तदा चक्षुष्मतां प्रीतिरासीत्समरसा द्वयोः ॥ १८ ॥

हंसश्रेणीषु तारासु कुमुद्वत्सु च वारिषु ।
विभूतयस्तदीयानां पर्यस्ता यशसामिव ॥ १९ ॥

इक्षुच्छायनिषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम् ।
आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः ॥ २० ॥

प्रससादोदयादम्भः कुम्भयोनेर्महौजसः ।
रघोरभिभवाशङ्कि चुक्षुभे द्विषतां मनः ॥ २१ ॥

मदोदग्राः ककुद्मन्तः सरितां कूलमुद्रुजाः ।
लीलाखेलमनुप्रापुर्महोक्षास्तस्य विक्रमम् ॥ २२ ॥

प्रसवैः सप्तपर्णानां मदगन्धिभिराहताः ।
असूययेव तन्नागाः सप्तधैव प्रसुस्रुवुः ॥ २३ ॥

सरितः कुर्वती गाधाः पथश्चाश्यानकर्दमान् ।
यात्रायै चोदयामास तं शक्तेः प्रथमं शरत् ॥ २४ ॥

तस्मै सम्यग्घुतो वह्निर्वाजिनीराजनाविधौ ।
प्रदक्षिणार्चिर्व्याजेन हस्तेनेव जयं ददौ ॥ २५ ॥

स गुप्तमूलप्रत्यन्तः शुद्धपार्ष्णिरयान्वितः ।
षड्विधं बलमादाय प्रतस्थे दिग्जिगीषया ॥ २६ ॥

अवाकिरन्वयोवृद्धास्तं लाजैः पौरयोषितः ।
पृषतैर्मन्दरोद्धूतैः क्षीरोर्मय इवाच्युतम् ॥ २७ ॥

स ययौ प्रथमं प्राचीं तुल्यः प्राचीनबर्हिषा ।
अहिताननिलोद्धूतैस्तर्जयन्निव केतुभिः ॥ २८ ॥

रजोभिः स्यन्दनोद्धूतैर्गजैश्च घनसंनिभैः ।
भुवस्तलमिव व्योम कुर्वन्व्योमेव भूतलम् ॥ २९ ॥

प्रतापोऽग्रे ततः शब्दः परागस्तदनन्तरम् ।
ययौ पश्चाद्रथादीति चतुःस्कन्धेव सा चमूः ॥ ३० ॥

मरुपृष्ठान्युदम्भांसि नाव्याः सुप्रतरा नदीः ।
विपिनानि प्रकाशानि शक्तिमत्त्वाच्चकार सः ॥ ३१ ॥

स सेनां महतीं कर्षन्पूर्वसागरगामिनीम् ।
बभौ हरजटाभ्रष्टां गङ्गामिव भगीरथः ॥ ३२ ॥

त्याजितैः फलमुत्खातैर्भग्नैश्च बहुधा नृपैः ।
तस्यासीदुल्बणो मार्गः पादपैरिव दन्तिनः ॥ ३३ ॥

पौरस्त्यानेवमाक्रामंस्तांस्ताञ्जनपदाञ्जयी ।
प्राप तालीवनश्याममुपकण्ठं महोदधेः ॥ ३४ ॥

अनम्राणां समुद्धर्तुस्तस्मात्सिन्धुरयादिव ।
आत्मा संरक्षितः सुह्मैर्वृत्तिमाश्रित्य वैतसीम् ॥ ३५ ॥

वङ्गानुत्खाय तरसा नेता नौसाधनोद्यतान् ।
निचखान जयस्तम्भान्गङ्गास्रोतोन्तरेषु सः ॥ ३६ ॥

आपादपद्मप्रणताः कलमा इव ते रघुम् ।
फलैः संवर्धयामासुरुत्खातप्रतिरोपिताः ॥ ३७ ॥

स तीर्त्वा कपिशां सैन्यैर्बद्धद्विरदसेतुभिः ।
उत्कलादर्शितपथः कलिङ्गाभिमुखो ययौ ॥ ३८ ॥

स प्रतापं महेन्द्रस्य मूर्ध्नि तीक्ष्णं न्यवेशयत् ।
अङ्कुशं द्विरदस्येव यन्ता गम्भीरवेदिनः ॥ ३९ ॥

प्रतिजग्राह कालिङ्गस्तमस्त्रैर्गजसाधनः ।
पक्षच्छेदोद्यतं शक्रं शिलावर्षीव पर्वतः ॥ ४० ॥

हंसश्रेणीषु तारासु कुमुद्वत्सु च वारिषु ।
विभूतयस्तदीयानां पर्यस्ता यशसामिव ॥ १९ ॥

इक्षुच्छायनिषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम् ।
आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः ॥ २० ॥

प्रससादोदयादम्भः कुम्भयोनेर्महौजसः ।
रघोरभिभवाशङ्कि चुक्षुभे द्विषतां मनः ॥ २१ ॥

मदोदग्राः ककुद्मन्तः सरितां कूलमुद्रुजाः ।
लीलाखेलमनुप्रापुर्महोक्षास्तस्य विक्रमम् ॥ २२ ॥

प्रसवैः सप्तपर्णानां मदगन्धिभिराहताः ।
असूययेव तन्नागाः सप्तधैव प्रसुस्रुवुः ॥ २३ ॥

सरितः कुर्वती गाधाः पथश्चाश्यानकर्दमान् ।
यात्रायै चोदयामास तं शक्तेः प्रथमं शरत् ॥ २४ ॥

तस्मै सम्यग्घुतो वह्निर्वाजिनीराजनाविधौ ।
प्रदक्षिणार्चिर्व्याजेन हस्तेनेव जयं ददौ ॥ २५ ॥

स गुप्तमूलप्रत्यन्तः शुद्धपार्ष्णिरयान्वितः ।
षड्विधं बलमादाय प्रतस्थे दिग्जिगीषया ॥ २६ ॥

अवाकिरन्वयोवृद्धास्तं लाजैः पौरयोषितः ।
पृषतैर्मन्दरोद्धूतैः क्षीरोर्मय इवाच्युतम् ॥ २७ ॥

स ययौ प्रथमं प्राचीं तुल्यः प्राचीनबर्हिषा ।
अहिताननिलोद्धूतैस्तर्जयन्निव केतुभिः ॥ २८ ॥

रजोभिः स्यन्दनोद्धूतैर्गजैश्च घनसंनिभैः ।
भुवस्तलमिव व्योम कुर्वन्व्योमेव भूतलम् ॥ २९ ॥

प्रतापोऽग्रे ततः शब्दः परागस्तदनन्तरम् ।
ययौ पश्चाद्रथादीति चतुःस्कन्धेव सा चमूः ॥ ३० ॥

मरुपृष्ठान्युदम्भांसि नाव्याः सुप्रतरा नदीः ।
विपिनानि प्रकाशानि शक्तिमत्त्वाच्चकार सः ॥ ३१ ॥

स सेनां महतीं कर्षन्पूर्वसागरगामिनीम् ।
बभौ हरजटाभ्रष्टां गङ्गामिव भगीरथः ॥ ३२ ॥

त्याजितैः फलमुत्खातैर्भग्नैश्च बहुधा नृपैः ।
तस्यासीदुल्बणो मार्गः पादपैरिव दन्तिनः ॥ ३३ ॥

पौरस्त्यानेवमाक्रामंस्तांस्ताञ्जनपदाञ्जयी ।
प्राप तालीवनश्याममुपकण्ठं महोदधेः ॥ ३४ ॥

अनम्राणां समुद्धर्तुस्तस्मात्सिन्धुरयादिव ।
आत्मा संरक्षितः सुह्मैर्वृत्तिमाश्रित्य वैतसीम् ॥ ३५ ॥

वङ्गानुत्खाय तरसा नेता नौसाधनोद्यतान् ।
निचखान जयस्तम्भान्गङ्गास्रोतोन्तरेषु सः ॥ ३६ ॥

आपादपद्मप्रणताः कलमा इव ते रघुम् ।
फलैः संवर्धयामासुरुत्खातप्रतिरोपिताः ॥ ३७ ॥

स तीर्त्वा कपिशां सैन्यैर्बद्धद्विरदसेतुभिः ।
उत्कलादर्शितपथः कलिङ्गाभिमुखो ययौ ॥ ३८ ॥

स प्रतापं महेन्द्रस्य मूर्ध्नि तीक्ष्णं न्यवेशयत् ।
अङ्कुशं द्विरदस्येव यन्ता गम्भीरवेदिनः ॥ ३९ ॥

प्रतिजग्राह कालिङ्गस्तमस्त्रैर्गजसाधनः ।
पक्षच्छेदोद्यतं शक्रं शिलावर्षीव पर्वतः ॥ ४० ॥

द्विषां विषह्य काकुत्स्थस्तत्र नाराचदुर्दिनम् ।
सन्मङ्गलस्नात इव प्रतिपेदे जयश्रियम् ॥ ४१ ॥

ताम्बूलीनां दलैस्तत्र रचिताऽऽपानभूमयः ।
नारिकेलासवं योधाः शात्रवं च पपुर्यशः ॥ ४२ ॥

गृहीतप्रतिमुक्तस्य स धर्मविजयी नृपः ।
श्रियं महेन्द्रनाथस्य जहार न तु मेदिनीम् ॥ ४३ ॥

ततो वेलांतटेनैव फलवत्पूगमालिना ।
अगस्त्याचरितामाशामनाशास्यजयो ययौ ॥ ४४ ॥

स सैन्यपरिभोगेण गजदानसुगन्धिना ।
कावेरीं सरितां पत्युः शंकनीयामिवाकरोत् ॥ ४५ ॥

बलैरध्युषितास्तस्य विजिगीषोर्गताध्वनः ।
मारीचोद्भ्रान्तहारीता मलयाद्रेरुपत्यकाः ॥ ४६ ॥

ससञ्जुरश्वक्षुण्णानामेलानामुत्पतिष्णवः ।
तुल्यगन्धिषु मत्तेभकटेषु फलरेणवः ॥ ४७ ॥

भोगिवेष्टनमार्गेषु चन्दनानां समर्पितम् ।
नास्रसत्करिणां ग्रैवं त्रिपदीछेदिनामपि ॥ ४८ ॥

दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि ।
तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः प्रतापं न विषेहिरे ॥ ४९ ॥

ताम्रपर्णीसमेतस्य मुक्तासारं महोदधेः ।
ते निपत्य ददुस्तस्मै यशः स्वमिव संचितम् ॥ ५० ॥

स निर्विश्य यथाकामं तटेष्वालीनचन्दनौ ।
स्तनाविव दिशस्तस्याः शैलौ मलयदर्दुरौ ॥ ५१ ॥

चतुर्थः सर्गः

असह्यविक्रमः सह्यं दूरान्मुक्तमुदन्वता ।
नितम्बमिव मेदिन्याः स्रस्तांशुकमलङ्घयत् ॥ ५२ ॥

तस्यानीकैर्विसर्पद्भिरपरान्तजयोद्यतैः ।
रामास्त्रोत्सारितोऽप्यासीत्सह्यलग्न इवार्णवः ॥ ५३ ॥

भयोत्सृष्टविभूषाणां तेन केरलयोषिताम् ।
अलकेषु चमूरेणुश्चूर्णप्रतिनिधीकृतः ॥ ५४ ॥

मुरलामारुतोद्धूतमगमत्कैतकं रजः ।
तद्योधवारबाणानामयत्नपटवासताम् ॥ ५५ ॥

अभ्यभूयत वाहानां चरतां गात्रसिञ्जितैः ।
वर्मभिः पवनोद्धूतराजतालीवनध्वनिः ॥ ५६ ॥

खर्जूरीस्कन्धनद्धानां मदोद्गारसुगन्धिषु ।
कटेषु करिणां पेतुः पुंनागेभ्यः शिलीमुखाः ॥ ५७ ॥

अवकाशं किलोदन्वान्रामायाभ्यर्थितो ददौ ।
अपरान्तमहीपालव्याजेन रघवे करम् ॥ ५८ ॥

मत्तेभरदनोत्कीर्णव्यक्तविक्रमलक्षणम् ।
त्रिकूटमेव तत्रोच्चैर्जयस्तम्भं चकार सः ॥ ५९ ॥

पारसीकांस्ततो जेतुं प्रतस्थे स्थलवर्त्मना ।
इन्द्रियाख्यानिव रिपूंस्तत्त्वज्ञानेन संयमी ॥ ६० ॥

यवनीमुखपद्मानां सेहे मधुमदं न सः ।
बालातपमिवाब्जानामकालजलदोदयः ॥ ६१ ॥

संग्रामस्तुमुलस्तस्य पाश्चात्त्यैरश्वसाधनैः ।
शार्ङ्गकूजितविज्ञेयप्रतियोधे रजस्यभूत् ॥ ६२ ॥

भल्लापवर्जितैस्तेषां शिरोभिः श्मश्रुलैर्महीम् ।
तस्तार सरघाव्याप्तैः स क्षौद्रपटलैरिव ॥ ६३ ॥

अपनीतशिरस्त्राणाः शेषास्तं शरणं ययुः ।
प्रणिपातप्रतीकारः संरम्भो हि महात्मनाम् ॥ ६४ ॥

विनयन्ते स्म तद्योधा मधुभिर्विजयश्रमम् ।
आस्तीर्णाजिनरत्नासु द्राक्षावलयभूमिषु ॥ ६५ ॥

ततः प्रतस्थे कौबेरीं भास्वानिव रघुर्दिशम् ।
शरैरुस्रैरिवोदीच्यानुद्धरिष्यन्रसानिव ॥ ६६ ॥

विनीताध्वश्रमास्तस्य सिन्धुतीरविचेष्टनैः ।
दुधुवुर्वाजिनः स्कन्धाँल्लग्नकुङ्कुमकेसरान् ॥ ६७ ॥

तत्र हूणावरोधानां भर्तृषु व्यक्तविक्रमम् ।
कपोलपाटलादेशि बभूव रघुचेष्टितम् ॥ ६८ ॥

काम्बोजाः समरे सोढुं तस्य वीर्यमनीश्वराः ।
गजालानपरिक्लिष्टैरक्षोटैः सार्धमानताः ॥ ६९ ॥

तेषां सदश्वभूयिष्ठास्तुङ्गा द्रविणराशयः ।
उपदा विविशुः शश्वन्नोत्सेकाः कोशलेश्वरम् ॥ ७० ॥

ततो गौरीगुरुं शैलमारुरोहाश्वसाधनः ।
वर्धयन्निव तत्कूटानुद्धूतैर्धातुरेणुभिः ॥ ७१ ॥

शशंस तुल्यसत्त्वानां सैन्यघोषेऽप्यसंभ्रमम् ।
गुहाशयानां सिंहानां परिवृत्यावलोकितम् ॥ ७२ ॥

भूर्जेषु मर्मरीभूताः कीचकध्वनिहेतवः ।
गङ्गाशीकरिणो मार्गे मरुतस्तं सिषेविरे ॥ ७३ ॥

विशश्रमुर्नमेरूणां छायास्वध्यास्य सैनिकाः ।
दृषदो वासितोत्सङ्गा निषण्णमृगनाभिभिः ॥ ७४ ॥

सरलासक्तमातङ्गग्रैवेयस्फुरितत्विषः ।
आसन्नोषधयो नेतुर्नक्तमस्नेहदीपिकाः ॥ ७५ ॥

तस्योत्सृष्टनिवासेषु कण्ठरज्जुक्षतत्वचः ।
गजवर्ष्म किरातेभ्यः शशंसुर्देवदारवः ॥ ७६ ॥

तत्र जन्यं रघोर्घोरं पर्वतीयैर्गणैरभूत् ।
नाराचक्षेपणीयाश्मनिष्पेषोत्पतितानलम् ॥ ७७ ॥

शरैरुत्सवसंकेतान्स कृत्वा विरतोत्सवान् ।
जयोदाहरणं बाह्वोर्गापयामास किन्नरान् ॥ ७८ ॥

परस्परेण विज्ञातस्तेषूपायनपाणिषु ।
राज्ञा हिमवतः सारो राज्ञः सारो हिमाद्रिणा ॥ ७९ ॥

तत्राक्षोभ्यं यशोराशिं निवेश्यावरुरोह सः ।
पौलस्त्यतुलितस्याद्रेरादधान इव ह्रियम् ॥ ८० ॥

चकम्पे तीर्णलौहित्ये तस्मिन्प्राग्ज्योतिषेश्वरः ।
तद्गजालानतां प्राप्तैः सह कालागुरुद्रुमैः ॥ ८१ ॥

न प्रसेहे स रुद्धार्कमधारावर्षदुर्दिनम् ।
रथवर्त्मरजोऽप्यस्य कुत एव पताकिनीम् ॥ ८२ ॥

तमीशः कामरूपाणामत्याखण्डलविक्रमम् ।
भेजे भिन्नकटैर्नागैरन्यानुपरुरोध यैः ॥ ८३ ॥

कामरूपेश्वरस्तस्य हेमपीठाधिदेवताम् ।
रत्नपुष्पोपहारेण छायामानर्च पादयोः ॥ ८४ ॥

इति जित्वा दिशो जिष्णुर्न्यवर्तत रथोद्धतम् ।
रजो विश्रामयन्राज्ञां छत्रशून्येषु मौलिषु ॥ ८५ ॥

स विश्वजितमाजह्रे यज्ञं सर्वस्वदक्षिणम् ।
आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव ॥ ८६ ॥

सत्रान्ते सचिवसखः पुरस्क्रियाभिर्गुर्वीभिः शमितपराजयव्यलीकान् ।
काकुत्स्थश्चिरविरहोत्सुकावरोधान्राजन्यान्स्वपुरनिवृत्तयेऽनुमेने॥८७

ते रेखाध्वजकुलिशातपत्रचिह्नं सम्राजश्चरणयुगं प्रसादलभ्यम् ।
प्रस्थानप्रणतिभिरङ्गुलीषु चक्रुर्मौलिस्रक्च्युतमकरन्दरेणुगौरम्॥८८॥

इति महाकवि श्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
रघुदिग्विजयो नाम चतुर्थः सर्गः ॥



पञ्चमः सर्गः

तमध्वरे विश्वजिति क्षितीशं निःशेषविश्राणितकोषजातम् ।
उपात्तविद्यो गुरुदक्षिणार्थी कौत्सः प्रपेदे वरतन्तुशिष्यः ॥ १ ॥

स मृण्मये वीतहिरण्मयत्वात्पात्रे निधायार्घ्यमनर्घशीलः ।
श्रुतप्रकाशं यशसा प्रकाशः प्रत्युज्जगामातिथिमातिथेयः ॥ २ ॥

तमर्चयित्वा विधिवद्विधिज्ञस्तपोधनं मानधनाग्रयायी ।
विशांपतिर्विष्टरभाजमारात्कृताञ्जलिः कृत्यविदित्युवाच ॥ ३ ॥

अप्यग्रणीर्मन्त्रकृतामृषीणां कुशाग्रबुद्धे कुशली गुरुस्ते ।
यतस्त्वया ज्ञानमशेषमाप्तं लोकेन चैतन्यमिवोष्णरश्मेः ॥ ४ ॥

कायेन वाचा मनसापि शश्वद्यत्संभृतं वासवधैर्यलोपि ।
आपाद्यते न व्ययमन्तरायैः कच्चिन्महर्षेस्त्रिविधं तपस्तत् ॥ ५ ॥

आधारबन्धप्रमुखैः प्रयत्नैः संवर्धितानां सुतनिर्विशेषम् ।
कच्चिन्न वाय्वादिरुपप्लवो वः श्रमच्छिदामाश्रमपादपानाम् ॥ ६ ॥

क्रियानिमित्तेष्वपि वत्सलत्वादभग्नकामा मुनिभिः कुशेषु ।
तदङ्कशय्याच्युतनाभिनाला कच्चिन्मृगीणामनघा प्रसूतिः ॥ ७ ॥

निर्वर्त्यते यैर्नियमाभिषेको येभ्यो निवापाञ्जलयः पितॄणाम् ।
तान्युञ्छषष्ठाङ्कितसैकतानि शिवानि वस्तीर्थजलानि कच्चित् ॥ ८ ॥

नीवारपाकादि कडंगरीयैरामृश्यते जानपदैर्न कच्चित् ।
कालोपपन्नातिथिकल्प्यभागं वन्यं शरीरस्थितिसाधनं वः ॥ ९ ॥

अपि प्रसन्नेन महर्षिणा त्वं सम्यग्विनीयानुमतो गृहाय ।
कालो ह्ययं संक्रमितुं द्वितीयं सर्वोपकारक्षममाश्रमं ते ॥१०॥

तवार्हतो नाभिगमेन तृप्तं मनो नियोगक्रिययोत्सुकं मे ।
अप्याज्ञयाशासितुरात्मना वा प्राप्तोऽसि संभावयितुं वनान्माम् ॥११॥

इत्यर्घ्यपात्रानुमितव्ययस्य रघोरुदारामपि गां निशम्य ।
स्वार्थोपपत्तिं प्रति दुर्बलाशस्तमित्यवोचद्वरतन्तुशिष्यः ॥१२॥

सर्वत्र नो वार्तमवेहि राजन्नाथे कुतस्त्वय्यशुभं प्रजानाम् ।
सूर्ये तपत्यावरणाय दृष्टेः कल्पेत लोकस्य कथं तमिस्रा ॥१३॥

भक्तिः प्रतीक्ष्येषु कुलोचिता ते पूर्वान्महाभाग तयातिशेषे ।
व्यतीतकालस्त्वहमभ्युपेतस्त्वामर्थिभावादिति मे विषादः ॥१४॥

शरीरमात्रेण नरेन्द्र तिष्ठन्नाभासि तीर्थप्रतिपादितर्द्धिः ।
आरण्यकोपात्तफलप्रसूतिः स्तम्बेन नीवार इवावशिष्टः ॥१५॥

स्थाने भवानेकनराधिपः सन्नकिंचनत्वं मखजं व्यनक्ति ।
पर्यायपीतस्य सुरैर्हिमांशोः कलाक्षयः श्लाघ्यतरो हि वृद्धेः ॥१६॥

तदन्यतस्तावदनन्यकार्यो गुर्वर्थमाहर्तुमहं यतिष्ये ।
स्वस्त्यस्तु ते निर्गलिताम्बुगर्भं शरद्घनं नार्दति चातकोऽपि ॥१७॥

एतावदुक्त्वा प्रतियातु कामं शिष्यं महर्षेर्नृपतिर्निषिध्य ।
किं वस्तु विद्वन्गुरवे प्रदेयं त्वया कियद्वेति तमन्वयुङ्क्त ॥१८॥

ततो यथावद्विहिताध्वराय तस्मै स्मयावेशविवर्जिताय ।
वर्णाश्रमाणां गुरवे स वर्णी विचक्षणः प्रस्तुतमाचचक्षे ॥१९॥

समाप्तविद्येन मया महर्षिर्विज्ञापितोऽभूद्गुरुदक्षिणायै ।
स मे चिरायास्खलितोपचारां तां भक्तिमेवागणयत्पुरस्तात् ॥२०॥

निर्बन्धसंजातरुषार्थकार्श्यमचिन्तयित्वा गुरुणाहमुक्तः ।
वित्तस्य विद्यापरिसंख्यया मे कोटीश्चतस्रो दश चाहरेति ॥२१॥

सोऽहं सपर्याविधिभाजनेन मत्वा भवन्तं प्रभुशब्दशेषम् ।
अभ्युत्सहे संप्रति नोपरोद्धुमल्पेतरत्वाच्छ्रुतनिष्क्रयस्य ॥२२॥

इत्थं द्विजेन द्विजराजकान्तिरावेदितो वेदविदां वरेण ।
एनोनिवृत्तेन्द्रियवृत्तिरेनं जगाद भूयो जगदेकनाथः ॥२३॥

गुर्वर्थमर्थी श्रुतपारदृश्वा रघोः सकाशादनवाप्य कामम् ।
गतो वदान्यान्तरमित्ययं मे मा भूत्परीवादनवावतारः ॥२४॥

स त्वं प्रशस्ते महिते मदीये वसंश्चतुर्थोऽग्निरिवाग्न्यगारे ।
द्वित्राण्यहान्यर्हसि सोढुमर्हन्यावद्यते साधयितुं त्वदर्थम् ॥२५॥

तथेति तस्यावितथं प्रतीतः प्रत्यग्रहीत्संगरमग्रजन्मा ।
गामात्तसारां रघुरप्यवेक्ष्य निष्क्रष्टुमर्थं चकमे कुबेरात् ॥२६॥

वशिष्ठमन्त्रोक्षणजात्प्रभावादुदन्वदाकाशमहीधरेषु ।
मरुत्सखस्येव वलाहकस्य गतिर्विजघ्ने न हि तद्रथस्य ॥२७॥

अथाधिशय्य प्रयतः प्रदोषे रथं रघुः कल्पितशस्त्रगर्भम् ।
सामन्तसंभावनयैव धीरः कैलासनाथं तरसा जिगीषुः ॥२८॥

प्रातः प्रयाणाभिमुखाय तस्मै सविस्मयाः कोषगृहे नियुक्ताः ।
हिरण्मयी कोषगृहस्य मध्ये वृष्टिं शशंसुः पतितां नभस्तः ॥२९॥

तं भूपतिर्भासुरहेमराशिं लब्धं कुबेरादभियास्यमानात् ।
दिदेश कौत्साय समस्तमेव पादं सुमेरोरिव वज्रभिन्नम् ॥३०॥

जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ द्वावप्यभूतामभिनन्द्यसत्त्वौ ।
गुरुप्रदेयाधिकनिःस्पृहोऽर्थी नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च ॥३१॥

अथोष्ट्रवामीशतवाहितार्थं प्रजेश्वरं प्रीतमना महर्षिः ।
स्पृशन्करेणानतपूर्वकायं संप्रस्थितो वाचमुवाच कौत्सः ॥ ३२ ॥

किमत्र चित्रं यदि कामसूर्भूर्वृत्ते स्थितस्याधिपतेः प्रजानाम् ।
अचिन्तनीयस्तु तव प्रभावो मनीषितं द्यौरपि येन दुग्धा ॥ ३३ ॥

आशास्यमन्यत्पुनरुक्तभूतं श्रेयांसि सर्वाण्यधिजग्मुषस्ते ।
पुत्रं लभस्वात्मगुणानुरूपं भवन्तमीड्यं भवतः पितेव ॥ ३४ ॥

इत्थं प्रयुज्याशिषमग्रजन्मा राज्ञे प्रतीयाय गुरोः सकाशम् ।
राजापि लेभे सुतमाशु तस्मादालोकमर्कादिव जीवलोकः ॥ ३५ ॥

ब्राह्मे मुहूर्ते किल तस्य देवी कुमारकल्पं सुषुवे कुमारम् ।
अतः पिता ब्रह्मण एव नाम्ना तमात्मजन्मानमजं चकार ॥३६॥

रूपं तदोजस्वि तदेव वीर्यं तदेव नैसर्गिकमुन्नतत्वम् ।
न कारणात्स्वाद्बिभिदे कुमारः प्रवर्तितो दीप इव प्रदीपात् ॥३७॥

उपात्तविद्यं विधिवद्गुरुभ्यस्तं यौवनोद्भेदविशेषकान्तम् ।
श्रीः साभिलाषापि गुरोरनुज्ञां धीरेव कन्या पितुराचकाङ्क्ष ॥३८॥

अथेश्वरेण क्रथकैशिकानां स्वयंवरार्थं स्वसुरिन्दुमत्याः ।
आप्तः कुमारानयनोत्सुकेन भोजेन दूतो रघवे विसृष्टः ॥३९॥

तं श्लाघ्यसंबन्धमसौ विचिन्त्य दारक्रियायोग्यदशं च पुत्रम् ।
प्रस्थापयामास ससैन्यमेनमृद्धां विदर्भाधिपराजधानीम् ॥४०॥

तस्योपकार्यारचितोपचारा वन्येतरा जानपदोपदाभिः ।
मार्गे निवासा मनुजेन्द्रसूनोर्बभूवुरुद्यानविहारकल्पाः ॥४१॥

स नर्मदारोधसि सीकरार्द्रैर्मरुद्भिरानर्तितनक्तमाले ।
निवेशयामास विलङ्घिताध्वा क्लान्तं रजोधूसरकेतु सैन्यम् ॥४२॥

अथोपरिष्टाद्भ्रमरैर्भ्रमद्भिः प्राक्सूचितान्तःसलिलप्रवेशः ।
निर्धौतदानामलगण्डभित्तिर्वन्यः सरित्तो गज उन्ममज्ज ॥४३॥

निःशेषविक्षालितधातुनापि वप्रक्रियामृक्षवतस्तटेषु ।
नीलोर्ध्वरेखाशबलेन शंसन्दन्तद्वयेनाश्मविकुण्ठितेन ॥४४॥

संहारविक्षेपलघुक्रियेण हस्तेन तीराभिमुखः सशब्दम् ।
बभौ स भिन्दन्बृहतस्तरंगान्वार्यर्गलाभङ्ग इव प्रवृत्तः ॥४५॥

शैलोपमः शैवलमञ्जरीणां जालानि कर्षन्नुरसा स पश्चात् ।
पूर्वं तदुत्पीडितवारिराशिः सरित्प्रवाहस्तटमुत्ससर्प ॥४६॥

तस्यैकनागस्य कपोलभित्त्योर्जलावगाहक्षणमात्रशान्ता ।
वन्येतरानेकपदर्शनेन पुनर्दिदीपे मददुर्दिनश्रीः ॥४७॥

सप्तच्छदक्षीरकटुप्रवाहमसह्यमाघ्राय मदं तदीयम् ।
विलङ्घिताधोरणतीव्रयत्नाः सेनागजेन्द्रा विमुखा बभूवुः ॥४८॥

स च्छिन्नबन्धद्रुतयुग्यशून्यं भग्नाक्षपर्यस्तरथं क्षणेन ।
रामापरित्राणविहस्तयोधं सेनानिवेशं तुमुलं चकार ॥४९॥

तमापतन्तं नृपतेरवध्यो वन्यः करीति श्रुतवान्कुमारः ।
निवर्तयिष्यन्विशिखेन कुम्भे जघान नात्यायतकृष्टशार्ङ्गः ॥५०॥

स विद्धमात्रः किल नागरूपमुत्सृज्य तद्विस्मितसैन्यदृष्टः ।
स्फुरत्प्रभामण्डलमध्यवर्ति कान्तं वपुर्व्योमचरं प्रपेदे ॥५१॥

अथ प्रभावोपनतैः कुमारं कल्पद्रुमोत्थैरवकीर्य पुष्पैः ।
उवाच वाग्मी दशनप्रभाभिः संवर्धितोरःस्थलतारहारः ॥५२॥

मतङ्गशापादवलेपमूलादवाप्तवानस्मि मतङ्गजत्वम् ।
अवेहि गन्धर्वपतेस्तनूजं प्रियंवदं मां प्रियदर्शनस्य ॥५३॥

स चानुनीतः प्रणतेन पश्चान्मया महर्षिर्मृदुतामगच्छत् ।
उष्णत्वमग्न्यातपसंप्रयोगाच्छैत्यं हि यत्सा प्रकृतिर्जलस्य ॥५४॥

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो यदा ते भेत्स्यत्यजः कुम्भमयोमुखेन ।
संयोक्ष्यसे स्वेन वपुर्महिम्ना तदेत्यवोचत्स तपोनिधिर्माम् ॥५५॥

संमोचितः सत्त्ववता त्वयाहं शापाच्चिरप्रार्थितदर्शनेन ।
प्रतिप्रियं चेद्भवतो न कुर्यां वृथा हि मे स्यात्स्वपदोपलब्धिः ॥५६॥

संमोहनं नाम सखे ममास्त्रं प्रयोगसंहारविभक्तमन्त्रम् ।
गान्धर्वमादत्स्व यतः प्रयोक्तुर्न चारिहिंसा विजयश्च हस्ते ॥५७॥

अलं ह्रिया मां प्रति यन्मुहूर्तं दयापरोऽभूः प्रहरन्नपि त्वम् ।
तस्मादुपच्छन्दयति प्रयोज्यं मयि त्वया न प्रतिषेधरौक्ष्यम् ॥५८॥

तथेत्युपस्पृश्य पयः पवित्रं सोमोद्भवायाः सरितो नृसोमः ।
उदङ्मुखः सोऽस्त्रविदस्त्रमन्त्रं जग्राह तस्मान्निगृहीतशापात् ॥५९॥

एवं तयोरध्वनि दैवयोगादासेदुषोः सख्यमचिन्त्यहेतु ।
एको ययौ चैत्ररथप्रदेशान्सौराज्यरम्यानपरो विदर्भान् ॥६०॥

तं तस्थिवांसं नगरोपकण्ठे तदागमारूढगुरुप्रहर्षः ।
प्रत्युज्जगाम क्रथकैशिकेन्द्रश्चन्द्रं प्रवृद्धोर्मिरिवोर्मिमाली ॥६१॥

प्रवेश्य चैनं पुरमग्रयायी नीचैस्तथोपाचरदर्पितश्रीः ।
मेने यथा तत्र जनः समेतो वैदर्भमागन्तुमजं गृहेशम् ॥६२॥

तस्याधिकारपुरुषैः प्रणतैः प्रदिष्टां
प्राग्द्वारवेदिविनिवेशितपूर्णकुम्भाम् ।
रम्यां रघुप्रतिनिधिः स नवोपकार्यां
बाल्यात्परामिव दशां मदनोऽध्युवास ॥६३॥

तत्र स्वयंवरसमाहृतराजलोकं
कन्याललाम कमनीयमजस्य लिप्सोः ।
भावावबोधकलुषा दयितेव रात्रौ
निद्रा चिरेण नयनाभिमुखी बभूव ॥६४॥

तं कर्णभूषणनिपीडितपीवरांसं
शय्योत्तरच्छदविमर्दकृशाङ्गरागम् ।
सूतात्मजाः सवयसः प्रथितप्रबोधं
प्राबोधयन्नुषसि वाग्भिरुदारवाचः ॥६५॥

रात्रिर्गता मतिमतां वर मुञ्च शय्यां
धात्रा द्विधैव ननु धूर्जगतो विभक्ता ।
तामेकतस्तव बिभर्ति गुरुर्विनिद्र-
स्तस्या भवानपरधुर्यपदावलम्बी ॥६६॥

निद्रावशेन भवताप्यनवेक्षमाणा
पर्युत्सुकत्वमबला निशि खण्डितेव ।
लक्ष्मीर्विनोदयति येन दिगन्तलम्बी
सोऽपि त्वदाननरुचिं विजहाति चन्द्रः ॥६७॥

तद्वल्गुना युगपदुन्मिषितेन ताव-
त्सद्यः परस्परतुलामधिरोहतां द्वे ।

अस्पन्दमानपरुपेतरतारमन्त-
श्चक्षुस्तव प्रचलितभ्रमरं च पद्मम् ॥६८॥

वृन्ताच्छ्लथं हरति पुष्पमनोकहानां
संसृज्यते सरसिजैररुणांशुभिन्नैः ।
स्वाभाविकं परगुणेन विभातवायुः
सौरभ्यमीप्सुरिव ते मुखमारुतस्य ॥६९॥

ताम्रोदरेषु पतितं तरुपल्लवेषु
निर्धौतहारगुलिकाविशदं हिमाम्भः ।
आभाति लब्धपरभागतयाधरोष्ठे
लीलास्मितं सदशनार्चिरिव त्वदीयम् ॥७०॥

यावत्प्रतापनिधिराक्रमते न भानु-
रह्नाय तावदरुणेन तमो निरस्तम् ।
आयोधनाग्रसरतां त्वयि वीर याते
किं वा रिपूंस्तव गुरुः स्वयमुच्छिनत्ति ॥७१॥

शय्यां जहत्युभयपक्षविनीतनिद्राः
स्तम्बेरमा मुखरशृङ्खलकर्षिणस्ते ।
येषां विभान्ति तरुणारुणराग योगा
द्भिन्नाद्रिगैरिकतटा इव दन्तकोशाः ॥७२॥

दीर्घेष्वमी नियमिताः पटमण्डपेषु
निद्रां विहाय वनजाक्ष वनायुदेश्याः ।
वक्त्रोष्मणा मलिनयन्ति पुरोगतानि
लेह्यानि सैन्धवशिलाशकलानि वाहाः ॥७३॥

भवति विरलभक्तिर्म्लानपुष्पोपहारः
स्वकिरणपरिवेषोद्भेदशून्याः प्रदीपाः ।
अयमपि च गिरं नस्त्वत्प्रबोधप्रयुक्ता-
मनुवदति शुकस्ते मञ्जुवाक्पञ्जरस्थः ॥७४॥

इति विरचितवाग्भिर्वन्दिपुत्रैः कुमारः
सपदि विगतनिद्रस्तल्पमुज्झांचकार ।
मदपटुनिनदद्भिर्बोधितो राजहंसैः
सुरगज इव गाङ्गं सैकतं सुप्रतीकः ॥७५॥

अथ विधिमवसाय्य शास्त्रदृष्टं दिवसमुखोचितमञ्चिताक्षिपक्ष्मा ।
कुशलविरचितानुकूलवेषः क्षितिपसमाजमगात्स्वयंवरस्थम् ॥७६॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
अजस्वयंवराभिगमनो नाम पञ्चमः सर्गः ॥



षष्ठः सर्गः

स तत्र मञ्चेषु मनोज्ञवेषान्सिंहासनस्थानुपचारवत्सु ।
वैमानिकानां मरुतामपश्यदाकृष्टलीलान्नरलोकपालान् ॥ १ ॥

रतेर्गृहीतानुनयेन कामं प्रत्यर्पितस्वाङ्गमिवेश्वरेण ।
काकुत्स्थमालोकयतां नृपाणां मनो बभूवेन्दुमतीनिराशम् ॥ २ ॥

वैदर्भनिर्दिष्टमसौ कुमारः क्लृप्तेन सोपानपथेन मञ्चम् ।
शिलाविभङ्गैर्मृगराजशावस्तुङ्गं नगोत्सङ्गमिवारुरोह ॥ ३ ॥

परार्ध्यवर्णास्तरणोपपन्नमासेदिवान्रत्नवदासनं सः ।
भूयिष्ठमासीदुपमेयकान्तिर्मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन ॥ ४ ॥

तासु श्रिया राजपरम्परासु प्रभाविशेषोदयदुर्निरीक्ष्यः ।
सहस्रधात्मा व्यरुचद्विभक्तः पयोमुचां पङ्क्तिषु विद्युतेव ॥ ५ ॥

तेषां महार्हासनसंस्थितानामुदारनेपथ्यभृतां स मध्ये ।
रराज धाम्ना रघुसूनुरेव कल्पद्रुमाणामिव पारिजातः ॥ ६ ॥

नेत्रव्रजाः पौरजनस्य तस्मिन्विहाय सर्वान्नृपतीन्निपेतुः ।
मदोत्कटे रेचितपुष्पवृक्षा गन्धद्विपे वन्य इव द्विरेफाः ॥ ७ ॥

षष्ठः सर्गः

अथ स्तुते बन्दिभिरन्वयज्ञैः सोमार्कवंश्ये नरदेवलोके ।
संचारिते चागुरुसारयोनौ धूपे समुत्सर्पति वैजयन्तीः ॥ ८ ॥

पुरोपकण्ठोपवनाश्रयाणां कलापिनामुद्धतनृत्यहेतौ ।
प्रध्मातशङ्खे परितो दिगन्तांस्तूर्यस्वने मूर्च्छति मङ्गलार्थे ॥ ९ ॥

मनुष्यवाह्यं चतुरस्रयानमध्यास्य कन्या परिवारशोभि ।
विवेश मञ्चान्तरराजमार्गं पतिंवरा क्लृप्तविवाहवेषा ॥१०॥

तस्मिन्विधानातिशये विधातुः कन्यामये नेत्रशतैकलक्ष्ये ।
निपेतुरन्तःकरणैर्नरेन्द्रा देहैः स्थिताः केवलमासनेषु ॥११॥

तां प्रत्यभिव्यक्तमनोरथानां महीपतीनां प्रणयाग्रदूत्यः ।
प्रवालशोभा इव पादपानां शृङ्गारचेष्टा विविधा बभूवुः ॥१२॥

कश्चित्कराभ्यामुपगूढनालमालोलपत्राभिहतद्विरेफम् ।
रजोभिरन्तःपरिवेषबन्धि लीलारविन्दं भ्रमयांचकार ॥१३॥

विस्रस्तमंसादपरो विलासी रत्नानुविद्धाङ्गदकोटिलग्नम् ।
प्रालम्बमुत्कृष्य यथावकाशं निनाय साचीकृतचारुवक्त्रः ॥१४॥

आकुञ्चिताग्राङ्गुलिना ततोऽन्यः किंचित्समावर्जितनेत्रशोभः ।
तिर्यग्विसंसर्पिनखप्रभेण पादेन हैमं विलिलेख पीठम् ॥१५॥

निवेश्य वामं भुजमासनार्धे तत्संनिवेशादधिकोन्नतांसः ।
कश्चिद्विवृत्तत्रिकभिन्नहारः सुहृत्समाभाषणतत्परोऽभूत् ॥१६॥

विलासिनीविभ्रमदन्तपत्रमापाण्डुरं केतकबर्हमन्यः ।
प्रियानितम्बोचितसंनिवेशैर्विपाटयामास युवा नखाग्रैः ॥१७॥

कुशेशयाताम्रतलेन कश्चित्करेण रेखाध्वजलाञ्छनेन ।
रत्नाङ्गुलीयप्रभयानुविद्धानुदीरयामास सलीलमक्षान् ॥१८॥

कश्चिद्यथाभागमवस्थितेऽपि स्वसंनिवेशाद्व्यतिलङ्घिनीव ।
वज्रांशुगर्भाङ्गुलिरन्ध्रमेकं व्यापारयामास करं किरीटे ॥१६॥

ततो नृपाणां श्रुतवृत्तवंशा पुंवत्प्रगल्भा प्रतिहाररक्षी ।
प्राक्संनिकर्षं मगधेश्वरस्य नीत्वा कुमारीमवदत्सुनन्दा ॥२०॥

असौ शरण्यः शरणोन्मुखानामगाधसत्त्वो मगधप्रतिष्ठः ।
राजा प्रजारञ्जनलब्धवर्णः परंतपो नाम यथार्थनामा ॥२१॥

कामं नृपाः सन्तु सहस्रशोऽन्ये राजन्वतीमाहुरनेन भूमिम् ।
नक्षत्रताराग्रहसंकुलापि ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः ॥२२॥

क्रियाप्रबन्धादयमध्वराणामजस्रमाहूतसहस्रनेत्रः ।
शच्याश्चिरं पाण्डुकपोललम्बान्मन्दारशून्यानलकांश्चकार ॥२३॥

अनेन चेदिच्छसि गृह्यमाणं पाणिं वरेण्येन कुरुप्रवेशे ।
प्रासादवातायनसंश्रितानां नेत्रोत्सवं पुष्पपुराङ्गनानाम् ॥२४॥

एवं तयोक्ते तमवेक्ष्य किंचिद्विस्रंसिदूर्वाङ्कमधूकमाला ।
ऋजुप्रणामक्रिययैव तन्वी प्रत्यादिदेशैनमभाषमाणा ॥२५॥

तां सैव वेत्रग्रहणे नियुक्ता राजान्तरं राजसुतां निनाय ।
समीरणोत्थेव तरङ्गलेखा पद्मान्तरं मानसराजहंसीम् ॥२६॥

जगाद चैनामयमङ्गनाथो सुराङ्गनाप्रार्थितयौवनश्रीः ।
विनीतनागः किल सूत्रकारैरैन्द्रं पदं भूमिगतोऽपि भुङ्क्ते ॥२७॥

अनेन पर्यासयताश्रुबिन्दून्मुक्ताफलस्थूलतमान्स्तनेषु ।
प्रत्यर्पिताः शत्रुविलासिनीनामुन्मुच्य सूत्रेण विनैव हाराः ॥२८॥

निसर्गभिन्नास्पदमेकसंस्थमस्मिन्द्वयं श्रीश्च सरस्वती च ।
कान्त्या गिरा सूनृतया च योग्या त्वमेव कल्याणि तयोस्तृतीया ॥२६॥

अथाङ्गराजादवतार्य चक्षुर्याहीति जन्यामवदत्कुमारी ।
नासौ न काम्यो न च वेद सम्यग्द्रष्टुं न सा भिन्नरुचिर्हि लोकः ॥३०॥

ततः परं दुष्प्रसहं द्विषद्भिर्नृपं नियुक्ता प्रतिहारभूमौ ।
निदर्शयामास विशेषदृश्यमिन्दुं नवोत्थानमिवेन्दुमत्यै ॥३१॥

अवन्तिनाथोऽयमुदग्रबाहुर्विशालवक्षास्तनुवृत्तमध्यः ।
आरोप्य चक्रभ्रममुष्णतेजास्त्वष्ट्रेव यत्नोल्लिखितो विभाति ॥३२॥

अस्य प्रयाणेषु समग्रशक्तेरग्रेसरैर्वाजिभिरुत्थितानि ।
कुर्वन्ति सामन्तशिखामणीनां प्रभाप्ररोहास्तमयं रजांसि ॥३३॥

असौ महाकालनिकेतनस्य वसन्नदूरे किल चन्द्रमौलेः ।
तमिस्रपक्षेऽपि सह प्रियाभिर्ज्योत्स्नावतो निर्विशति प्रदोषान् ॥३४॥

अनेन यूना सह पार्थिवेन रम्भोरु कच्चिन्मनसो रुचिस्ते ।
सिप्रातरङ्गानिलकम्पितासु विहर्तुमुद्यानपरम्परासु ॥३५॥

तस्मिन्नभिद्योतितबन्धुपद्मे प्रतापसंशोषितशत्रुपङ्के ।
बबन्ध सा नोत्तमसौकुमार्या कुमुद्वती भानुमतीव भावम् ॥३६॥

तामग्रतस्तामरसान्तराभामनूपराजस्य गुणैरनूनाम् ।
विधाय सृष्टिं ललितां विधातुर्जगाद भूयः सुदतीं सुनन्दा ॥३७॥

सङ्ग्रामनिर्विष्टसहस्रबाहुरष्टादशद्वीपनिखातयूपः ।
अनन्यसाधारणराजशब्दो बभूव योगी किल कार्तवीर्यः ॥३८॥

अकार्यचिन्तासमकालमेव प्रादुर्भवंश्चापधरः पुरस्तात् ।
अन्तःशरीरेष्वपि यः प्रजानां प्रत्यादिदेशाविनयं विनेता ॥३९॥

ज्याबन्धनिष्पन्दभुजेन यस्य विनिःश्वसद्वक्त्रपरम्परेण ।
कारागृहे निर्जितवासवेन लङ्केश्वरेणोषितमाप्रसादात् ॥४०॥

तस्यान्वये भूपतिरेष जातः प्रतीप इत्यागमवृद्धसेवी ।
येन श्रियः संश्रयदोषरूढं स्वभावलोलेत्ययशः प्रमृष्टम् ॥४१॥

आयोधने कृष्णगतिं सहायमवाप्य यः क्षत्रियकालरात्रिम् ।
धारां शितां रामपरश्वधस्य संभावयत्युत्पलपत्रसाराम् ॥४२॥

अस्याङ्कलक्ष्मीर्भव दीर्घबाहोर्माहिष्मतीवप्रनितम्बकाञ्चीम् ।
प्रासादजालैर्जलवेणिरम्यां रेवां यदि प्रेक्षितुमस्ति कामः ॥४३॥

तस्याः प्रकामं प्रियदर्शनोऽपि न स क्षितीशो रुचये बभूव ।
शरत्प्रमृष्टाम्बुधरोपरोधः शशीव पर्याप्तकलो नलिन्याः ॥४४॥

सा शूरसेनाधिपतिं सुषेणमुद्दिश्य लोकान्तरगीतकीर्तिम् ।
आचारशुद्धोभयवंशदीपं शुद्धान्तरक्ष्या जगदे कुमारी ॥४५॥

नीपान्वयः पार्थिव एष यज्वा गुणैर्यमाश्रित्य परस्परेण ।
सिद्धाश्रमं शान्तमिवैत्य सत्त्वैर्नैसर्गिकोऽप्युत्ससृजे विरोधः ॥४६॥

यस्यात्मगेहे नयनाभिरामा कान्तिर्हिमांशोरिव संनिविष्टा ।
हर्म्याग्रसंरूढतृणाङ्कुरेषु तेजोऽविषह्यं रिपुमन्दिरेषु ॥४७॥

यस्यावरोधस्तनचन्दनानां प्रक्षालनाद्वारिविहारकाले ।
कलिन्दकन्या मथुरां गतापि गङ्गोर्मिसंसक्तजलेव भाति ॥४८॥

त्रस्तेन तार्क्ष्यात्किल कालियेन मणिं विसृष्टं यमुनौकसा यः ।
वक्षःस्थलव्यापि रुचं दधानः सकौस्तुभं ह्रेपयतीव कृष्णम् ॥४९॥

संभाव्य भर्तारममुं युवानं मृदुप्रवालोत्तरपुष्पशय्ये ।
वृन्दावने चैत्ररथादनूने निर्विश्यतां सुन्दरि यौवनश्रीः ॥५०॥

अध्यास्य चाम्भः पृषतोक्षितानि शैलेयगन्धीनि शिलातलानि ।
कलापिनां प्रावृषि पश्य नृत्यं कान्तासु गोवर्धनकन्दरासु ॥५१॥

नृपं तमावर्तमनोज्ञनाभिः सा व्यत्यगादन्यवधूर्भवित्री ।
महीधरं मार्गवशादुपेतं स्रोतोवहा सागरगामिनीव ॥५२॥

अथाङ्गदाश्लिष्टभुजं भुजिष्या हेमाङ्गदं नाम कलिङ्गनाथम् ।
आसेदुषीं सादितशत्रुपक्षं बालामबालेन्दुमुखी बभाषे ॥५३॥

असौ महेन्द्राद्रिसमानसारः पतिर्महेन्द्रस्य महोदधेश्च ।
यस्य क्षरत्सैन्यगजच्छलेन यात्रासु यातीव पुरो महेन्द्रः ॥५४॥

ज्याघातरेखे सुभुजो भुजाभ्यां बिभर्ति यश्चापभृतां पुरोगः ।
रिपुश्रियां साञ्जनबाष्पसेके बन्दीकृतानामिव पद्धती द्वे ॥५५॥

यमात्मनः सद्मनि संनिकृष्टो मन्द्रध्वनित्याजितयामतूर्यः ।
प्रासादवातायनदृश्यवीचिः प्रबोधयत्यर्णव एव सुप्तम् ॥५६॥

अनेन सार्धं विहराम्बुराशेस्तीरेषु तालीवनमर्मरेषु ।
द्वीपान्तरानीतलवङ्गपुष्पैरपाकृतस्वेदलवा मरुद्भिः ॥५७॥

प्रलोभिताप्याकृतिलोभनीया विदर्भराजावरजा तयैवम् ।
तस्मादपावर्तत दूरकृष्टा नीत्येव लक्ष्मीः प्रतिकूलदैवात् ॥५८॥

अथोरगाख्यस्य पुरस्य नाथं दौवारिकी देवसरूपमेत्य ।
इतश्चकोराक्षि विलोकयेति पूर्वानुशिष्टां निजगाद भोज्याम् ॥५९॥

पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः कॢप्ताङ्गरागो हरिचन्दनेन ।
आभाति बालातपरक्तसानुः सनिर्झरोद्गार इवाद्रिराजः ॥६०॥

विन्ध्यस्य संस्तम्भयिता महाद्रेर्निःशेषपीतोज्झितसिन्धुराजः ।
प्रीत्याश्वमेधावभृथार्द्रमूर्तेः सौस्नातिको यस्य भवत्यगस्त्यः ॥६१॥

अस्त्रं हरादाप्तवता दुरापं येनेन्द्रलोकावजयाय दृप्तः ।
पुरा जनस्थानविमर्दशङ्की संधाय लङ्काधिपतिः प्रतस्थे ॥६२॥

अनेन पाणौ विधिवद्गृहीते महाकुलीनेन महीव गुर्वी ।
रत्नानुविद्धार्णवमेखलाया दिशः सपत्नी भव दक्षिणस्याः ॥६३॥

ताम्बूलवल्लीपरिणद्धपूगास्वेलालतालिङ्गितचन्दनासु ।
तमालपत्रास्तरणासु रन्तुं प्रसीद शश्वन्मलयस्थलीषु ॥६४॥

इन्दीवरश्यामतनुर्नृपोऽसौ त्वं रोचनागौरशरीरयष्टिः ।
अन्योन्यशोभापरिवृद्धये वां योगस्तडित्तोयदयोरिवास्तु ॥६५॥

स्वसुर्विदर्भाधिपतेस्तदीयो लेभेऽन्तरं चेतसि नोपदेशः ।
दिवाकरादर्शनबद्धकोशे नक्षत्रनाथांशुरिवारविन्दे ॥६६॥

संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा ।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः ॥६७॥

तस्यां रघोः सूनुरुपस्थितायां वृणीत मां नेति समाकुलोऽभूत् ।
वामेतरः संशयमस्य बाहुः केयूरबन्धोच्छ्वसितैर्नुनोद ॥६८॥

तं प्राप्य सर्वावयवानवद्यं व्यावर्ततान्योपगमात्कुमारी ।
न हि प्रफुल्लं सहकारमेत्य वृक्षान्तरं काङ्क्षति षट्पदाली ॥६९॥

तस्मिन्समावेशितचित्तवृत्तिमिन्दुप्रभामिन्दुमतीमवेक्ष्य ।
प्रचक्रमे वक्तुमनुक्रमज्ञा सविस्तरं वाक्यमिदं सुनन्दा ॥७०॥

इक्ष्वाकुवंश्यः ककुदं नृपाणां ककुत्स्थ इत्याहितलक्षणोऽभूत् ।
काकुत्स्थशब्दं यत उन्नतेच्छाः श्लाघ्यं दधत्युत्तरकोशलेन्द्राः ॥७१॥

महेन्द्रमास्थाय महोक्षरूपं यः संयति प्राप्तपिनाकिलीलः ।
चकार बाणैरसुराङ्गनानां गण्डस्थलीः प्रोषितपत्रलेखाः ॥७२॥

ऐरावतास्फालनविश्लथं यः संघट्टयन्नंगदमंगदेन ।
उपेयुषः स्वामपि मूर्तिमग्र्यामर्धासनं गोत्रभिदोऽधितष्ठौ ॥७३॥

जातः कुले तस्य किलोरुकीर्तिः कुलप्रदीपो नृपतिर्दिलीपः ।
अतिष्ठदेकोनशतक्रतुत्वे शक्राभ्यसूयाविनिवृत्तये यः ॥७४॥

यस्मिन्महीं शासति वाणिनीनां निद्रां विहारार्धपथे गतानाम् ।
वातोऽपि नास्रंसयदंशुकानि को लम्बयेदाहरणाय हस्तम् ॥७५॥

पुत्रो रघुस्तस्य पदं प्रशास्ति महाक्रतोर्विश्वजितः प्रयोक्ता ।
चतुर्दिगावर्जितसंभृतां यो मृत्पात्रशेषामकरोद्विभूतिम् ॥७६॥

आरूढमद्रीनुदधीन्वितीर्णं भुजंगमानां वसतिं प्रविष्टम् ।
ऊर्ध्वं गतं यस्य न चानुबन्धि यशः परिच्छेत्तुमियत्तयालम् ॥७७॥

असौ कुमारस्तमजोऽनुजातस्त्रिविष्टपस्येव पतिं जयन्तः ।
गुर्वीं धुरं यो भुवनस्य पित्रा धुर्येण दम्यः सदृशं बिभर्ति ॥७८॥

कुलेन कान्त्या वयसा नवेन गुणैश्च तैस्तैर्विनयप्रधानैः ।
त्वमात्मनस्तुल्यममुं वृणीष्व रत्नं समागच्छतु काञ्चनेन ॥७९॥

ततः सुनन्दावचनावसाने लज्जां तनूकृत्य नरेन्द्रकन्या ।
दृष्ट्या प्रसादामलया कुमारं प्रत्यग्रहीत्संवरणस्रजेव ॥८०॥

सा यूनि तस्मिन्नभिलाषबन्धं शशाक शालीनतया न वक्तुम् ।
रोमाञ्चलक्ष्येण स गात्रयष्टिं भित्त्वा निराक्रामदरालकेश्याः ॥८१॥

तथागतायां परिहासपूर्वं सख्यां सखी वेत्रभृदाबभाषे ।
आर्ये व्रजामोऽन्यत इत्यथैनां वधूरसूयाकुटिलं ददर्श ॥८२॥

सा चूर्णगौरं रघुनन्दनस्य धात्रीकराभ्यां करभोपमोरूः ।
आसञ्जयामास यथाप्रदेशं कण्ठे गुणं मूर्तमिवानुरागम् ॥८३॥

तया स्रजा मङ्गलपुष्पमय्या विशालवक्षःस्थललम्बया सः ।
अमंस्त कण्ठार्पितबाहुपाशां विदर्भराजावरजां वरेण्यः ॥८४॥

शशिनमुपगतेयं कौमुदी मेघमुक्तं
जलनिधिमनुरूपं जह्नुकन्यावतीर्णा ।
इति समगुणयोगप्रीतयस्तत्र पौराः
श्रवणकटु नृपाणामेकवाक्यं विवव्रुः ॥८५॥

प्रमुदितवरपक्षमेकतस्तत्क्षितिपतिमण्डलमन्यतो वितानम् ।
उषसि सर इव प्रफुल्लपद्मं कुमुदवनप्रतिपन्ननिद्रमासीत् ॥८६॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
स्वयंवरवर्णनो नाम षष्ठः सर्गः ।



सप्तमः सर्गः

अथोपयन्त्रा सदृशेन युक्तां स्कन्देन साक्षादिव देवसेनाम् ।
स्वसारमादाय विदर्भनाथः पुरप्रवेशाभिमुखो बभूव ॥ १ ॥

सेनानिवेशान्पृथिवीक्षितोऽपि जग्मुर्विभातग्रहमन्दभासः ।
भोज्यां प्रति व्यर्थमनोरथत्वाद्रूपेषु वेषेषु च साभ्यसूयाः ॥ २ ॥

सांनिध्ययोगात्किल तत्र शच्याः स्वयंवरक्षोभकृतामभावः ।
काकुत्स्थमुद्दिश्य समत्सरोऽपि शशाम तेन क्षितिपाललोकः ॥ ३ ॥

तावत्प्रकीर्णाभिनवोपचारमिन्द्रायुधद्योतिततोरणाङ्कम् ।
वरः स वध्वा सह राजमार्गं प्राप ध्वजच्छायनिवारितोष्णम् ॥ ४ ॥

ततस्तदालोकनतत्पराणां सौधेषु चामीकरजालवत्सु ।
बभूवुरित्थं पुरसुन्दरीणां त्यक्तान्यकार्याणि विचेष्टितानि ॥ ५ ॥

आलोकमार्गं सहसा व्रजन्त्या कयाचिदुद्वेष्टनवान्तमाल्यः ।
बद्धुं न संभावित एव तावत्करेण रुद्धोऽपि च केशपाशः ॥ ६ ॥

प्रसाधिकालम्बितमग्रपादमाक्षिप्य काचिद्द्रवरागमेव ।
उत्सृष्टलीलागतिरागवाक्षादलक्तकाङ्कां पदवीं ततान ॥ ७ ॥

विलोचनं दक्षिणमञ्जनेन संभाव्य तद्वञ्चितवामनेत्रा ।
तथैव वातायनसंनिकर्षं ययौ शलाकामपरा वहन्ती ॥ ८ ॥

जालान्तरप्रेषितदृष्टिरन्या प्रस्थानभिन्नां न बबन्ध नीवीम् ।
नाभिप्रविष्टाभरणप्रभेण हस्तेन तस्थाववलम्ब्य वासः ॥ ९ ॥

अर्धाञ्चिता सत्वरमुत्थितायाः पदे पदे दुर्निमिते गलन्ती ।
कस्याश्चिदासीद्रशना तदानीमङ्गुष्ठमूलार्पितसूत्रशेषा ॥१०॥

तासां मुखैरासवगन्धगर्भैर्व्याप्तान्तराः सान्द्रकुतूहलानाम् ।
विलोलनेत्रभ्रमरैर्गवाक्षाः सहस्रपत्राभरणा इवासन् ॥११॥

ता राघवं दृष्टिभिरापिबन्त्यो नार्यो न जग्मुर्विषयान्तराणि ।
तथाहि शेषेन्द्रियवृत्तिरासां सर्वात्मना चक्षुरिव प्रविष्टा ॥१२॥

स्थाने वृता भूपतिभिः परोक्षैः स्वयंवरं साधुममंस्त भोज्या ।
पद्मेव नारायणमन्यथासौ लभेत कान्तं कथमात्मतुल्यम् ॥१३॥

परस्परेण स्पृहणीयशोभं न चेदिदं द्वन्द्वमयोजयिष्यत् ।
अस्मिन्द्वये रूपविधानयत्नः पत्युः प्रजानां वितथोऽभविष्यत् ॥१४

रतिस्मरौ नूनमिमावभूतां राज्ञां सहस्रेषु तथाहि बाला ।
गतेयमात्मप्रतिरूपमेव मनो हि जन्मान्तरसङ्गतिज्ञम् ॥१५॥

इत्युद्गताः पौरवधूमुखेभ्यः शृण्वन्कथाः श्रोत्रसुखाः कुमारः ।
उद्भासितं मङ्गलसंविधाभिः संबन्धिनः सद्म समाससाद ॥१६॥

ततोऽवतीर्याशु करेणुकायाः स कामरूपेश्वरदत्तहस्तः ।
वैदर्भनिर्दिष्टमथो विवेश नारीमनांसीव चतुष्कमन्तः ॥१७॥

महार्हसिंहासनसंस्थितोऽसौ सरत्नमर्घ्यं मधुपर्कमिश्रम् ।
भोजोपनीतं च दुकूलयुग्मं जग्राह सार्धं वनिताकटाक्षैः ॥१८॥

सप्तमः सर्गः

दुकूलवासाः स वधूसमीपं निन्ये विनीतैरवरोधरक्षैः ।
वेलासकाशं स्फुटफेनराजिर्नवैरुदन्वानिव चन्द्रपादैः ॥१९॥

तत्रार्चितो भोजपतेः पुरोधा हुत्वाग्निमाज्यादिभिरग्निकल्पः ।
तमेव चाधाय विवाहसाक्ष्ये वधूवरौ संगमयांचकार ॥२०॥

हस्तेन हस्तं परिगृह्य वध्वाः स राजसूनुः सुतरां चकासे ।
अनन्तराशोकलताप्रवालं प्राप्येव चूतः प्रतिपल्लवेन ॥२१॥

आसीद्वरः कण्टकितप्रकोष्ठः स्विन्नांगुलिः संववृते कुमारी ।
तस्मिन्द्वये तत्क्षणमात्मवृत्तिः समं विभक्तेव मनोभवेन ॥२२॥

तयोरपाङ्गप्रतिसारितानि क्रियासमापत्तिनिवर्तितानि ।
ह्रीयन्त्रणामानशिरे मनोज्ञामन्योन्यलोलानि विलोचनानि ॥२३॥

प्रदक्षिणप्रक्रमणात्कृशानोरुदर्चिषस्तन्मिथुनं चकासे ।
मेरोरुपान्तेष्विव वर्तमानमन्योन्यसंसक्तमहस्त्रियामम् ॥२४॥

नितम्बगुर्वी गुरुणा प्रयुक्ता वधूर्विधातृप्रतिमेन तेन ।
चकार सा मत्तचकोरनेत्रा लज्जावती लाजविसर्गमग्नौ ॥२५॥

हविःशमीपल्लवलाजगन्धी पुण्यः कृशानोरुदियाय धूमः ।
कपोलसंसर्पिशिखः स तस्या मुहूर्तकर्णोत्पलतां प्रपेदे ॥२६॥

तदञ्जनक्लेदसमाकुलाक्षं प्रम्लानबीजाङ्कुरकर्णपूरम् ।
वधूमुखं पाटलगण्डलेखमाचारधूमग्रहणाद्बभूव ॥२७॥

तौ स्नातकैर्बन्धुमता च राज्ञा पुरंध्रिभिश्च क्रमशः प्रयुक्तम् ।
कन्याकुमारौ कनकासनस्थावार्द्राक्षतारोपणमन्वभूताम् ॥२८॥

इति स्वसुर्भोजकुलप्रदीपः संपाद्य पाणिग्रहणं स राजा ।
महीपतीनां पृथगर्हणार्थं समादिदेशाधिकृतानधिश्रीः ॥२९॥

विलोचनं दक्षिणमञ्जनेन संभाव्य तद्वञ्चितवामनेत्रा ।
तथैव वातायनसंनिकर्षं ययौ शलाकामपरा वहन्ती ॥ ८ ॥

जालान्तरप्रेषितदृष्टिरन्या प्रस्थानभिन्नां न बबन्ध नीवीम् ।
नाभिप्रविष्टाभरणप्रभेण हस्तेन तस्थाववलम्ब्य वासः ॥ ९ ॥

अर्धाञ्चिता सत्वरमुत्थितायाः पदे पदे दुर्निमिते गलन्ती ।
कस्याश्चिदासीद्रशना तदानीमङ्गुष्ठमूलार्पितसूत्रशेषा ॥१०॥

तासां मुखैरासवगन्धगर्भैर्व्याप्तान्तराः सान्द्रकुतूहलानाम् ।
विलोलनेत्रभ्रमरैर्गवाक्षाः सहस्रपत्राभरणा इवासन् ॥११॥

ता राघवं दृष्टिभिरापिबन्त्यो नार्यो न जग्मुर्विषयान्तराणि ।
तथाहि शेषेन्द्रियवृत्तिरासां सर्वात्मना चक्षुरिव प्रविष्टा ॥१२॥

स्थाने वृता भूपतिभिः परोक्षैः स्वयंवरं साधुममंस्त भोज्या ।
पद्मेव नारायणमन्यथासौ लभेत कान्तं कथमात्मतुल्यम् ॥१३॥

परस्परेण स्पृहणीयशोभं न चेदिदं द्वन्द्वमयोजयिष्यत् ।
अस्मिन्द्वये रूपविधानयत्नः पत्युः प्रजानां वितथोऽभविष्यत् ॥१४

रतिस्मरौ नूनमिमावभूतां राज्ञां सहस्रेषु तथाहि बाला ।
गतेयमात्मप्रतिरूपमेव मनो हि जन्मान्तरसङ्गतिज्ञम् ॥१५॥

इत्युद्गताः पौरवधूमुखेभ्यः शृण्वन्कथाः श्रोत्रसुखाः कुमारः ।
उद्भासितं मङ्गलसंविधाभिः संबन्धिनः सद्म समाससाद ॥१६॥

ततोऽवतीर्याशु करेणुकायाः स कामरूपेश्वरदत्तहस्तः ।
वैदर्भनिर्दिष्टमथो विवेश नारीमनांसीव चतुष्कमन्तः ॥१७॥

महार्हसिंहासनसंस्थितोऽसौ सरत्नमर्घ्यं मधुपर्कमिश्रम् ।
भोजोपनीतं च दुकूलयुग्मं जग्राह सार्धं वनिताकटाक्षैः ॥१८॥

दुकूलवासाः स वधूसमीपं निन्ये विनीतैरवरोधरक्षैः ।
वेलासकाशं स्फुटफेनराजिर्नवैरुदन्वानिव चन्द्रपादैः ॥१९॥

तत्रार्चितो भोजपतेः पुरोधा हुत्वाग्निमाज्यादिभिरग्निकल्पः ।
तमेव चाधाय विवाहसाक्ष्ये वधूवरौ संगमयांचकार ॥२०॥

हस्तेन हस्तं परिगृह्य वध्वाः स राजसूनुः सुतरां चकासे ।
अनन्तराशोकलताप्रवालं प्राप्येव चूतः प्रतिपल्लवेन ॥२१॥

आसीद्वरः कण्टकितप्रकोष्ठः स्विन्नांगुलिः संववृते कुमारी ।
तस्मिन्द्वये तत्क्षणमात्मवृत्तिः समं विभक्तेव मनोभवेन ॥२२॥

तयोरपाङ्गप्रतिसारितानि क्रियासमापत्तिनिवर्तितानि ।
ह्रीयन्त्रणामानशिरे मनोज्ञामन्योन्यलोलानि विलोचनानि ॥२३॥

प्रदक्षिणप्रक्रमणात्कृशानोरुदर्चिषस्तन्मिथुनं चकासे ।
मेरोरुपान्तेष्विव वर्तमानमन्योन्यसंसक्तमहस्त्रियामम् ॥२४॥

नितम्बगुर्वी गुरुणा प्रयुक्ता वधूर्विधातृप्रतिमेन तेन ।
चकार सा मत्तचकोरनेत्रा लज्जावती लाजविसर्गमग्नौ ॥२५॥

हविःशमीपल्लवलाजगन्धी पुण्यः कृशानोरुदियाय धूमः ।
कपोलसंसर्पिशिखः स तस्या मुहूर्तकर्णोत्पलतां प्रपेदे ॥२६॥

तदञ्जनक्लेदसमाकुलाक्षं प्रम्लानबीजाङ्कुरकर्णपूरम् ।
वधूमुखं पाटलगण्डलेखमाचारधूमग्रहणाद्बभूव ॥२७॥

तौ स्नातकैर्बन्धुमता च राज्ञा पुरंध्रिभिश्च क्रमशः प्रयुक्तम् ।
कन्याकुमारौ कनकासनस्थावार्द्राक्षतारोपणमन्वभूताम् ॥२८॥

इति स्वसुर्भोजकुलप्रदीपः संपाद्य पाणिग्रहणं स राजा ।
महीपतीनां पृथगर्हणार्थं समादिदेशाधिकृतानधिश्रीः ॥२९॥

लिङ्गैर्मुदः संवृतविक्रियास्ते ह्रदाः प्रसन्ना इव गूढनक्राः ।
वैदर्भमामन्त्र्य ययुस्तदीयां प्रत्यर्प्य पूजामुपदाछलेन ॥३०॥

स राजलोकः कृतपूर्वसंविदारम्भसिद्धौ समयोपलभ्यम् ।
आदास्यमानः प्रमदामिषं तदावृत्य पन्थानमजस्य तस्थौ ॥३१॥

भर्तापि तावत्क्रथकैशिकानामनुष्ठितानन्तरजाविवाहः ।
सत्त्वानुरूपाहरणीकृतश्रीः प्रास्थापयद्राघवमन्वगाच्च ॥३२॥

तिस्रस्त्रिलोकप्रथितेन सार्धमजेन मार्गे वसतीरुषित्वा ।
तस्मादपावर्तत कुण्डिनेशः पर्वात्यये सोम इवोष्णरश्मेः ॥३३॥

प्रमन्यवः प्रागपि कोशलेन्द्रे प्रत्येकमात्तस्वतया बभूवुः ।
अतो नृपाश्चक्षमिरे समेताः स्त्रीरत्नलाभं न तदात्मजस्य ॥३४॥

तमुद्वहन्तं पथि भोजकन्यां रुरोध राजन्यगणः स दृप्तः ।
बलिप्रदिष्टां श्रियमाददानं त्रैविक्रमं पादमिवेन्द्रशत्रुः ॥३५॥

तस्याः स रक्षार्थमनल्पयोधमादिश्य पित्र्यं सचिवं कुमारः ।
प्रत्यग्रहीत्पार्थिववाहिनीं तां भागीरथीं शोण इवोत्तरंगः ॥३६॥

पत्तिः पदातिं रथिनं रथेशस्तुरङ्गसादी तुरगाधिरूढम् ।
यन्ता गजस्याभ्यपतद्गजस्थं तुल्यप्रतिद्वन्द्वि बभूव युद्धम् ॥३७॥

नदत्सु तूर्येष्वविभाव्यवाचो नोदीरयन्ति स्म कुलोपदेशान् ।
बाणाक्षरैरेव परस्परस्य नामोर्जितं चापभृतः शशंसुः ॥३८॥

उत्थापितः संयति रेणुरश्वैः सान्द्रीकृतः स्यन्दनवंशचक्रैः ।
विस्तारितः कुञ्जरकर्णतालैर्नेत्रक्रमेणोपरुरोध सूर्यम् ॥३९॥

मत्स्यध्वजा वायुवशाद्विदीर्णैर्मुखैःप्रवृद्धध्वजिनीरजांसि ।
बभुः पिबन्तः परमार्थमत्स्याः पर्याविलानीव नवोदकानि ॥४०॥

रथो रथाङ्गध्वनिना विजज्ञे विलोलघण्टाक्वणितेन नागः ।
स्वभर्तृनामग्रहणाद्बभूव सान्द्रे रजस्यात्मपरावबोधः ॥४१॥

आवृण्वतो लोचनमार्गमाजौ रजोऽन्धकारस्य विजृम्भितस्य ।
शस्त्रक्षताश्वद्विपवीरजन्मा बालारुणोऽभूद्रुधिरप्रवाहः ॥४२॥

स च्छिन्नमूलः क्षतजेन रेणुस्तस्योपरिष्टात्पवनावधूतः ।
अङ्गारशेषस्य हुताशनस्य पूर्वोत्थितो धूम इवावभासे ॥४३॥

प्रहारमूर्च्छापगमे रथस्था यन्तॄनुपालभ्य निवर्तिताश्वान् ।
यैः सादिता लक्षितपूर्वकेतूंस्तानेव सामर्षतया निजघ्नुः ॥४४॥

अप्यर्धमार्गे परबाणलूना धनुर्भृतां हस्तवतां पृषत्काः ।
संप्रापुरेवात्मजवानुवृत्त्या पूर्वार्धभागैः फलिभिः शरव्यम् ॥४५॥

आधोरणानां गजसंनिपाते शिरांसि चक्रैर्निशितैः क्षुराग्रैः ।
हृतान्यपि श्येननखाग्रकोटिव्यासक्तकेशानि चिरेण पेतुः ॥४६॥

पूर्वं प्रहर्ता न जघान भूयः प्रतिप्रहाराक्षममश्वसादी ।
तुरङ्गमस्कन्धनिषण्णदेहं प्रत्याश्वसन्तं रिपुमाचकाङ्क्ष ॥४७॥

तनुत्यजां वर्मभृतां विकोशैर्बृहत्सु दन्तेष्वसिभिः पतद्भिः ।
उद्यन्तमग्निं शमयांबभूवुर्गजा विविग्नाः करशीकरेण ॥४८॥

शिलीमुखोत्कृत्तशिरःफलाढ्या च्युतैः शिरस्त्रैश्चषकोत्तरेव ।
रणक्षितिः शोणितमद्यकुल्या रराज मृत्योरिव पानभूमिः ॥४९॥

उपान्तयोर्निष्कुषितं विहंगैराक्षिप्य तेभ्यः पिशितप्रियापि ।
केयूरकोटिक्षततालुदेशा शिवा भुजच्छेदमपाचकार ॥५०॥

कश्चिद्द्विषत्खड्गहृतोत्तमाङ्गः सद्यो विमानप्रभुतामुपेत्य ।
वामाङ्गसंसक्तसुराङ्गनः स्वं नृत्यत्कबन्धं समरे ददर्श ॥५१॥

अन्योन्यसूतोन्मथनादभूतां तावेव सूतौ रथिनौ च कौचित् ।
व्यश्वौ गदाव्यायाहतसंप्रहारौ भग्नायुधौ बाहुविमर्दनिष्ठौ ॥५२॥

परस्परेण क्षतयोः प्रहर्त्रोरुत्क्रान्तवाय्वोःसमकालमेव ।
अमर्त्यभावेऽपि कयोश्चिदासीदेकाप्सरःप्रार्थितयोर्विवादः ॥५३॥

व्यूहावुभौ तावितरेतरस्माद्भङ्गं जयं चापतुरव्यवस्थम् ।
पश्चात्पुरोमारुतयोः प्रवृद्धौ पर्यायवृत्त्येव महार्णवोर्मी ॥५४॥

परेण भग्नेऽपि बले महौजा ययावजः प्रत्यरिसैन्यमेव ।
धूमो निवर्त्येत समीरणेन यतस्तु कक्षस्तत एव वह्निः ॥५५॥

रथी निषङ्गी कवची धनुष्मान्दृप्तः स राजन्यकमेकवीरः ।
निवारयामास महावराहः कल्पक्षयोद्वृत्तमिवार्णवाम्भः ॥५६॥

स दक्षिणं तूणमुखेन वामं व्यापारयन्हस्तमलक्ष्यताजौ ।
आकर्णकृष्टा सकृदस्य योद्धुर्मौर्वीव बाणान्सुषुवे रिपुघ्नान् ॥५७॥

स रोषदष्टाधिकलोहितोष्ठैर्व्यक्तोर्ध्वरेखा भ्रुकुटीर्वहद्भिः ।
तस्तार गां भल्लनिकृत्तकण्ठैर्हुंकारगर्भैर्द्विषतां शिरोभिः ॥५८॥

सर्वैर्बलाङ्गैर्द्विरदप्रधानैः सर्वायुधैः कङ्कटभेदिभिश्च ।
सर्वप्रयत्नेन च भूमिपालास्तस्मिन्प्रजह्रुर्युधि सर्व एव ॥५९॥

सोऽस्त्रव्रजैश्छन्नरथः परेषां ध्वजाग्रमात्रेण बभूव लक्ष्यः ।
नीहारमग्नो दिनपूर्वभागः किंचित्प्रकाशेन विवस्वतेव ॥६०॥

प्रियंवदात्प्राप्तमसौ कुमारः प्रायुङ्क्त राजस्वधिराजसूनुः ।
गान्धर्वमस्त्रं कुसुमास्त्रकान्तः प्रस्वापनं स्वप्ननिवृत्तलौल्यः ॥६१॥

ततो धनुष्कर्षणमूढहस्तमेकांसपर्यस्तशिरस्त्रजालम् ।
तस्थौ ध्वजस्तम्भनिषण्णदेहं निद्राविधेयं नरदेवसैन्यम् ॥६२॥

ततः प्रियोपात्तरसेऽधरोष्ठे निवेश्य दध्मौ जलजं कुमारः ।
तेन स्वहस्तार्जितमेकवीरः पिबन्यशो मूर्तमिवाबभासे ॥६३॥

शङ्खस्वनाभिज्ञतया निवृत्तास्तं सन्नशत्रुं ददृशुः स्वयोधाः ।
निमीलितानामिव पङ्कजानां मध्ये स्फुरन्तं प्रतिमाशशाङ्कम् ॥६४॥

सशोणितैस्तेन शिलीमुखाग्रैर्निक्षेपिताः केतुषु पार्थिवानाम् ।
यशो हृतं संप्रति राघवेण न जीवितं वः कृपयेति वर्णाः ॥६५॥

स चापकोटीनिहितैकबाहुः शिरस्त्रनिष्कर्षणभिन्नमौलिः ।
ललाटबद्धश्रमवारिबिन्दुर्भीतां प्रियामेत्य वचो बभाषे ॥६६॥

इतः परानर्भकहार्यशस्त्रान्वैदर्भि पश्यानुमता मयासि ।
एवंविधेनाहवचेष्टितेन त्वं प्रार्थ्यसे हस्तगता ममैभिः ॥६७॥

तस्याः प्रतिद्वन्द्विभवाद्विषादात्सद्यो विमुक्तं मुखमाबभासे ।
निःश्वासबाष्पापगमात्प्रपन्नः प्रसादमात्मीयमिवात्मदर्शः ॥६८॥

हृष्टापि सा ह्रीविजिता न साक्षाद्वाग्भिः सखीनां प्रियमभ्यनन्दत् ।
स्थलीनवाम्भः पृषताभिवृष्टा मयूरकेकाभिरिवाभ्रवृन्दम् ॥६९॥

इति शिरसि स वामं पादमाधाय राज्ञामुदवहदनवद्यां तामवद्यादपेतः ।
रथतुरगरजोभिस्तस्य रूक्षालकाग्रा समरविजयलक्ष्मीः सैव मूर्ता बभूव

प्रथमपरिगतार्थस्तं रघुः संनिवृत्तं
विजयिनमभिनन्द्य श्लाघ्यजायासमेतम् ।
तदुपहितकुटुम्बः शान्तिमार्गोत्सुकोऽभू-
न्न हि सति कुलधुर्ये सूर्यवंश्या गृहाय ॥७१॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये अजेनेन्दुमतीपाणि-
ग्रहणो नाम सप्तमः सर्गः ॥

अष्टमः सर्गः

अथ तस्य विवाहकौतुकं ललितं बिभ्रत एव पार्थिवः ।
वसुधामपि हस्तगामिनीमकरोदिन्दुमतीमिवापराम् ॥ १ ॥

दुरितैरपि कर्तुमात्मसात्प्रयतन्ते नृपसूनवो हि यत् ।
तदुपस्थितमग्रहीदजः पितुराज्ञेति न भोगतृष्णया ॥ २ ॥

अनुभूय वशिष्ठसंभृतैः सलिलैस्तेन सहाभिषेचनम् ।
विशदोच्छ्वसितेन मेदिनी कथयामास कृतार्थतामिव ॥ ३ ॥

स बभूव दुरासदः परैर्गुरुणाथर्वविदा कृतक्रियः ।
पवनाग्निसमागमो ह्ययं सहितं ब्रह्म यदस्त्रतेजसा ॥ ४ ॥

रघुमेव निवृत्तयौवनं तममन्यन्त नवेश्वरं प्रजाः ।
स हि तस्य न केवलां श्रियं प्रतिपेदे सकलान्गुणानपि ॥ ५ ॥

अधिकं शुशुभे शुभंयुना द्वितयेन द्वयमेव सङ्गतम् ।
पदमृद्धमजेन पैतृकं विनयेनास्य नवं च यौवनम् ॥ ६ ॥

सदयं बुभुजे महाभुजः सहसोद्वेगमियं व्रजेदिति ।
अचिरोपनतां स मेदिनी नवपाणिग्रहणां वधूमिव ॥ ७ ॥

अहमेव मतो महीपतेरिति सर्वः प्रकृतिष्वचिन्तयत् ।
उदधेरिव निम्नगाशतेष्वभवन्नास्य विमानना क्वचित् ॥ ८ ॥

न खरो न च भूयसा मृदुः पवमानः पृथिवीरुहामिव ।
स पुरस्कृतमध्यमक्रमो नमयामास नृपाननुद्धरन् ॥ ९ ॥

अथ वीक्ष्य रघुः प्रतिष्ठितं प्रकृतिष्वात्मजमात्मवत्तया ।
विषयेषु विनाशधर्मसु त्रिदिवस्थेष्वपि निःस्पृहोऽभवत् ॥१०॥

गुणवत्सुतरोपितश्रियः परिणामे हि दिलीपवंशजाः ।
पदवीं तरुवल्कवाससां प्रयताः संयमिनां प्रपेदिरे ॥११॥

तमरण्यसमाश्रयोन्मुखं शिरसा वेष्टनशोभिना सुतः ।
पितरं प्रणिपत्य पादयोरपरित्यागमयाचतात्मनः ॥१२॥

रघुरश्रुमुखस्य तस्य तत्कृतवानीप्सितमात्मजप्रियः ।
न तु सर्प इव त्वचं पुनः प्रतिपेदे व्यपवर्जितां श्रियम् ॥१३॥

स किलाश्रममन्त्यमाश्रितो निवसन्नावसथे पुराद्बहिः ।
समुपास्यत पुत्रभोग्यया स्नुषयेवाविकृतेन्द्रियः श्रिया ॥१४॥

प्रशमस्थितपूर्वपार्थिवं कुलमभ्युद्यतनूतनेश्वरम् ।
नभसा निभृतेन्दुनातुलामुदितार्केण समारुरोह तत् ॥१५॥

यतिपार्थिवलिङ्गधारिणौ ददृशाते रघुराघवौ जनैः ।
अपवर्गमहोदयार्थयोर्भुवमंशाविव धर्मयोर्गतौ ॥१६॥

अजिताधिगमाय मन्त्रिभिर्युयुजे नीतिविशारदैरजः ।
अनपायिपदोपलब्धये रघुराप्तैः समियाय योगिभिः ॥१७॥

नृपतिः प्रकृतीरवेक्षितुं व्यवहारासनमाददे युवा ।
परिचेतुमुपांशु धारणां कुशपूतं प्रवयास्तु विष्टरम् ॥१८॥

अनयत्प्रभुशक्तिसंपदा वशमेको नृपतीननन्तरान् ।
अपरः प्रणिधानयोग्यया मरुतः पञ्च शरीरगोचरान् ॥१९॥

अकरोदचिरेश्वरः क्षितौ द्विषदारम्भफलानि भस्मसात् ।
इतरो दहने स्वकर्मणां ववृते ज्ञानमयेन वह्निना ॥२०॥

पणबन्धमुखान्गुणानजः षडुपायुङ्क्त समीक्ष्य तत्फलम् ।
रघुरप्यजयद्गुणत्रयं प्रकृतिस्थं समलोष्टकाञ्चनः ॥२१॥

न नवः प्रभुराफलोदयात्स्थिरकर्मा विरराम कर्मणः ।
न च योगविधेर्नवेतरः स्थिरधीरा परमात्मदर्शनात् ॥२२॥

इति शत्रुषु चेन्द्रियेषु च प्रतिषिद्धप्रसरेषु जाग्रतौ ।
प्रसितावुदयापवर्गयोरुभयीं सिद्धिमुभाववापतुः ॥२३॥

अथ काश्चिदजव्यपेक्षया गमयित्वा समदर्शनः समाः ।
तमसः परमापदव्ययं पुरुषं योगसमाधिना रघुः ॥२४॥

श्रुतदेहविसर्जनः पितुश्चिरमश्रूणि विमुच्य राघवः ।
विदधे विधिमस्य नैष्ठिकं यतिभिः सार्धमनग्निमग्निचित् ॥२५॥

अकरोत्स तदौर्ध्वदेहिकं पितृभक्त्या पितृकार्यकल्पवित् ।
न हि तेन पथा तनुत्यजस्तनयावर्जितपिण्डकाङ्क्षिणः ॥२६॥

स परार्ध्यगतेरशोच्यतां पितुरुद्दिश्य सदर्थवेदिभिः ।
शमिताधिरधिज्यकार्मुकः कृतवानप्रतिशासनं जगत् ॥२७॥

क्षितिरिन्दुमती च भामिनी पतिमासाद्य तमग्र्यपौरुषम् ।
प्रथमा बहुरत्नसूरभूदपरा वीरमजीजनत्सुतम् ॥२८॥

दशरश्मिशतोपमद्युतिं यशसा दिक्षु दशस्वपि श्रुतम् ।
दशपूर्वरथं यमाख्यया दशकण्ठारिगुरुं विदुर्बुधाः ॥२९॥

ऋषिदेवगणस्वधाभुजां श्रुतयागप्रसवैः स पार्थिवः ।
अनृणत्वमुपेयिवान्बभौ परिधेर्मुक्त इवोष्णदीधितिः ॥३०॥

बलमार्तभयोपशान्तये विदुषां सत्कृतये बहुश्रुतम् ।
वसु तस्य विभोर्न केवलं गुणवत्तापि परप्रयोजना ॥३१॥

स कदाचिदवेक्षितप्रजः सह देव्या विजहार सुप्रजः ।
नगरोपवने शचीसखो मरुतां पालयितेव नन्दने ॥३२॥

अथ रोधसि दक्षिणोदधेः श्रितगोकर्णनिकेतमीश्वरम् ।
उपवीणयितुं ययौ रवेरुदयावृत्तिपथेन नारदः ॥३३॥

कुसुमैर्ग्रथितामपार्थिवैः स्रजमातोद्यशिरोनिवेशिताम् ।
अहरत्किल तस्य वेगवानधिवासस्पृहयेव मारुतः ॥३४॥

भ्रमरैः कुसुमानुसारिभिः परिकीर्णा परिवादिनी मुनेः ।
ददृशे पवनावलेपजं सृजती वाष्पमिवाञ्जनाविलम् ॥३५॥

अभिभूय विभूतिमार्तवी मधुगन्धातिशयेन वीरुधाम् ।
नृपतेरमरस्रगाप सा दयितोरुस्तनकोटिसुस्थितिम् ॥३६॥

क्षणमात्रसखी सुजातयोः स्तनयोस्तामवलोक्य विह्वला ।
निमिमील नरोत्तमप्रिया हृतचन्द्रा तमसेव कौमुदी ॥३७॥

वपुषा करणोज्झितेन सा निपतन्ती पतिमप्यपातयत् ।
ननु तैलनिषेकबिन्दुना सह दीपार्चिरुपैति मेदिनीम् ॥३८॥

उभयोरपि पार्श्ववर्तिनां तुमुलेनार्तरवेण वेजिताः ।
विहगाः कमलाकरालयाः समदुःखा इव तत्र चुक्रुशुः ॥३९॥

नृपतेर्व्यजनादिभिस्तमो नुनुदे सा तु तथैव संस्थिता ।
प्रतिकारविधानमायुषः सति शेषे हि फलाय कल्पते ॥४०॥

प्रतियोजयितव्यवल्लकीसमवस्थामथ सत्त्वविप्लवात् ।
स निनाय नितान्तवत्सलः परिगृह्योचितमङ्कमङ्गनाम् ॥४१॥

पतिरङ्कनिषण्णया तया करणापायविभिन्नवर्णया ।
समलक्ष्यत बिभ्रदाविलां मृगलेखामुषसीव चन्द्रमाः ॥४२॥

विललाप स बाष्पगद्गदं सहजामप्यपहाय धीरताम् ।
अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिषु ॥४३॥

कुसुमान्यपि गात्रसंगमात्प्रभवन्त्यायुरपोहितुं यदि ।
न भविष्यति हन्त साधनं किमिवान्यत्प्रहरिष्यतो विधेः ॥४४॥

अथवा मृदु वस्तु हिंसितुं मृदुनैवारभते प्रजान्तकः ।
हिमसेकविपत्तिरत्र मे नलिनी पूर्वनिदर्शनं मता ॥४५॥

स्रगियं यदि जीवितापहा हृदये किं निहिता न हन्ति माम् ।
विषमप्यमृतं क्वचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया ॥४६॥

अथवा मम भाग्यविप्लवादशनिः कल्पित एष वेधसा ।
यदनेन तरुर्न पातितः क्षपिता तद्विटपाश्रिता लता ॥४७॥

कृतवत्यसि नावधीरणामपराद्धेऽपि यदा चिरं मयि ।
कथमेकपदे निरागसं जनमाभाष्यमिमं न मन्यसे ॥४८॥

ध्रुवमस्मि शठः शुचिस्मिते विदितः कैतववत्सलस्तव ।
परलोकमसंनिवृत्तये यदनापृच्छ्य गतासि मामितः ॥४९॥

दयितां यदि तावदन्वगाद्विनिवृत्तं किमिदं तया विना ।
सहतां हतजीवितं मम प्रबलामात्मकृतेन वेदनाम् ॥५०॥

सुरतश्रमसंभृतो मुखे ध्रियते स्वेदलवोद्गमोऽपि ते ।
अथ चास्तमिता त्वमात्मना धिगिमां देहभृतामसारताम् ॥५१॥

मनसापि न विप्रियं मया कृतपूर्वं तव किं जहासि माम् ।
ननु शव्दपतिः क्षितेरहं त्वयि मे भावनिवन्धना रतिः ॥५२॥

कुसुमोत्खचितान्वलीभृतश्चलयन्भृङ्गरुचस्तवालकान् ।
करभोरु करोति मारुतस्त्वदुपावर्तनशङ्कि मे मनः ॥५३॥

तदपोहितुमर्हसि प्रिये प्रतिवोधेन विषादमाशु मे ।
ज्वलितेन गुहागतं तमस्तुहिनाद्रेरिव नक्तमोषधिः ॥५४॥

इदमुच्छ्वसितालकं मुखं तव विश्रान्तकथं दुनोति माम् ।
निशि सुप्तमिवैकपङ्कजं विरताभ्यन्तरषट्पदस्वनम् ॥५५॥

शशिनं पुनरेति शर्वरी दयिता द्वन्द्वचरं पतत्रिणम् ।
इति तौ विरहान्तरक्षमौ कथमत्यन्तगता न मां दहेः ॥५६॥

नवपल्लवसंस्तरेऽपि ते मृदु दूयेत यदङ्गमर्पितम् ।
तदिदं विषहिष्यते कथं वद वामोरु चिताधिरोहणम् ॥५७॥

इयमप्रतिवोधशायिनीं रशना त्वां प्रथमा रहःसखी ।
गतिविभ्रमसादनीरवा न शुचा नानुमृतेव लक्ष्यते ॥५८॥

कलमन्यभृतासु भाषितं कलहंसीषु मदालसं गतम् ।
पृषतीषु विलोलमीक्षितं पवनाधूतलतासु विभ्रमाः ॥५९॥

त्रिदिवोत्सुकयाप्यवेक्ष्य मां निहिताः सत्यममी गुणास्त्वया ।
विरहे तव मे गुरुव्यथं हृदयं न त्ववलम्बितुं क्षमाः ॥६०॥

मिथुनं परिकल्पितं त्वया सहकारः फलिनी च नन्विमौ ।
अविधाय विवाहसत्क्रियामनयोर्गम्यत इत्यसांप्रतम् ॥६१॥

कुसुमं कृतदोहदस्त्वया यदशोकोऽयमुदीरयिष्यति ।
अलकाभरणं कथं नु तत्तव नेष्यामि निवापमाल्यताम् ॥६२॥

स्मरतेव सशब्दनूपुरं चरणानुग्रहमन्यदुर्लभम् ।
अमुना कुसुमाश्रुवर्षिणा त्वमशोकेन सुगात्रि शोच्यसे ॥६३॥

तव निःश्वसितानुकारिभिर्बकुलैरर्धचितां समं मया ।
असमाप्य विलासमेखलां किमिदं किन्नरकण्ठि सुप्यते ॥६४॥

समदुःखसुखः सखीजनः प्रतिपच्चन्द्रनिभोऽयमात्मजः ।
अहमेकरसस्तथापि ते व्यवसायः प्रतिपत्तिनिष्ठुरः ॥६५॥

धृतिरस्तमिता रतिश्च्युता विरतं गेयमृतुर्निरुत्सवः ।
गतमाभरणप्रयोजनं परिशून्यं शयनीयमद्य मे ॥६६॥

गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम् ॥६७॥

मदिराक्षि मदाननार्पितं मधु पीत्वा रसवत्कथं नु मे ।
अनुपास्यसि बाष्पदूषितं परलोकोपनतं जलाञ्जलिम् ॥६८॥

विभवेऽपि सति त्वया विना सुखमेतावदजस्य गण्यताम् ।
अहृतस्यविलोभनान्तरैर्मम सर्वे विषयास्त्वदाश्रयाः ॥६९॥

विलपन्निति कोशलाधिपः करुणार्थग्रथितं प्रियां प्रति ।
अकरोत्पृथिवीरुहानपि स्रुतशाखारसबाष्पदूषितान् ॥७०॥

अथ तस्य कथंचिदङ्कतः स्वजनस्तामपनीय सुन्दरीम् ।
विससर्ज तदन्त्यमण्डनामनलायागुरुचन्दनैधसे ॥७१॥

प्रमदामनु संस्थितः शुचा नृपतिः सन्निति वाच्यदर्शनात् ।
न चकार शरीरमग्निसात्सह देव्या न तु जीविताशया ॥७२॥

अथ तेन दशाहतः परे गुणशेषामुपदिश्य भामिनीम् ।
विदुषा विधयो महर्द्धयः पुर एवोपवने समापिताः ॥७३॥

स विवेश पुरीं तया विना क्षणदापायशशाङ्कदर्शनः ।
परिवाहमिवावलोकयन्स्वशुचः पौरवधूमुखाश्रुषु ॥७४॥

अथ तं सवनाय दीक्षितः प्रणिधानाद्गुरुराश्रमस्थितः ।
अभिषङ्गजडं विजज्ञिवानिति शिष्येण किलान्ववोधयत् ॥७५॥

असमाप्तविधिर्यतो मुनिस्तव विद्वानपि तापकारणम् ।
न भवन्तमुपस्थितः स्वयं प्रकृतौ स्थापयितुं पथश्च्युतम् ॥७६॥

मयि तस्य सुवृत्त वर्तते लघुसंदेशपदा सरस्वती ।
शृणु विश्रुतसत्त्वसार तां हृदि चैनामुपधातुमर्हसि ॥७७॥

पुरुषस्य पदेष्वजन्मनः समतीतं च भवच्च भावि च ।
स हि निष्प्रतिघेन चक्षुषा त्रितयं ज्ञानमयेन पश्यति ॥७८॥

चरतः किल दुश्चरं तपस्तृणविन्दोः परिशङ्कितः पुरा ।
प्रजिघाय समाधिभेदिनीं हरिरस्मै हरिणीं सुराङ्गनाम् ॥७९॥

स तपःप्रतिवन्धमन्युना प्रमुखाविष्कृतचारुविभ्रमाम् ।
अशपद्भव मानुषीति तां शमवेलाप्रलयोर्मिणा भुवि ॥८०॥

भगवन्परवानयं जनः प्रतिकूलाचरितं क्षमस्व मे ।
इति चोपनतां क्षितिस्पृशं कृतवाना सुरपुष्पदर्शनात् ॥८१॥

क्रथकैशिकवंशसंभवा तव भूत्वा महिषी चिराय सा ।
उपलब्धवती दिवश्च्युतं विवशा शापनिवृत्तिकारणम् ॥८२॥

तदलं तदपायचिन्तया विपदुत्पत्तिमतामुपस्थिता ।
वसुधेयमवेक्ष्यतां त्वया वसुमत्या हि नृपाः कलत्रिणः ॥८३॥

उदये मदवाच्यमुज्झता श्रुतमाविष्कृतमात्मवत्त्वया ।
मनसस्तदुपस्थिते ज्वरे पुनरक्लीवतया प्रकाश्यताम् ॥८४॥

रुदता कुत एव सा पुनर्भवता नानुमृतापि लभ्यते ।
परलोकजुषां स्वकर्मभिर्गतयो भिन्नपथा हि देहिनाम् ॥८५॥

अपशोकमनाः कुटुम्बिनीमनुगृह्णीष्व निवापदत्तिभिः ।
स्वजनाश्रु किलातिसंततं दहति प्रेतमिति प्रचक्षते ॥८६॥

मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः ।
क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन्यदि जन्तुर्ननु लाभवानसौ ॥८७॥

अवगच्छति मूढचेतनः प्रियनाशं हृदि शल्यमर्पितम् ।
स्थिरधीस्तु तदेव मन्यते कुशलद्वारतया समुद्धृतम् ॥८८॥

स्वशरीरशरीरिणावपि श्रुतसंयोगविपर्ययौ यदा ।
विरहः किमिवानुतापयेद्वद बाह्यैर्विषयैर्विपश्चितम् ॥८९॥

न पृथग्जनवच्छुचो वशं वशिनामुत्तम गन्तुमर्हसि ।
द्रुमसानुमतां किमन्तरं यदि वायौ द्वितयेऽपि ते चलाः ॥९०॥

स तथेति विनेतुरुदारमतेः प्रतिगृह्य वचो विससर्ज मुनिम् ।
तदलब्धपदं हृदि शोकघने प्रतियातमिवान्तिकमस्य गुरोः ॥९१॥

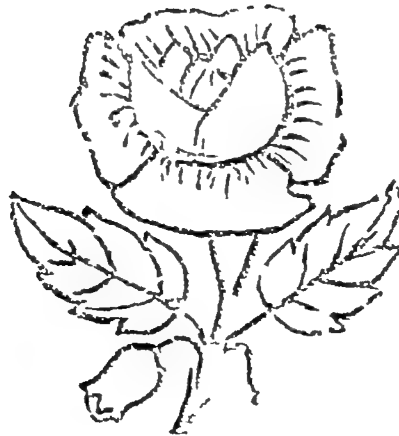
तेनाष्टौ परिगमिताः समाः कथंचिद्-
बालत्वादवितथसूनृतेन सूनोः ।
सादृश्यप्रतिकृतिदर्शनैः प्रियायाः
स्वप्नेषु क्षणिकसमागमोत्सवैश्च ॥ ९२ ॥

तस्य प्रसह्य हृदयं किल शोकशङ्कुः
प्लक्षप्ररोह इव सौधतलं बिभेद ।
प्राणान्तहेतुमपि तं भिषजामसाध्यं
लाभं प्रियानुगमने त्वरया स मेने ॥ ९३ ॥

सम्यग्विनीतमथ वर्महरं कुमार-
मादिश्य रक्षणविधौ विधिवत्प्रजानाम् ।
रोगोपसृष्टतनुदुर्वसतिं मुमुक्षुः
प्रायोपवेशनमतिर्नृपतिर्बभूव ॥ ९४ ॥

तीर्थे तोयव्यतिकरभवे जह्नुकन्यासरय्वो-
र्देहत्यागादमरगणनालेख्यमासाद्य सद्यः ।
पूर्वाकाराधिकतररुचा संगतः कान्तयासौ
लीलागारेष्वरमत पुनर्नन्दनाभ्यन्तरेषु ॥ ९५ ॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
अजविलापो नाम अष्टमः सर्गः ।



नवमः सर्गः

पितुरनन्तरमुत्तरकोशलान्समधिगम्य समाधिजितेन्द्रियः ।
दशरथः प्रशशास महारथो यमवतामवतां च धुरि स्थितः ॥ १ ॥

अधिगतं विधिवद्यदपालयत्प्रकृतिमण्डलमात्मकुलोचितम् ।
अभवदस्य ततो गुणवत्तरं सनगरं नगरन्ध्रकरौजसः ॥ २ ॥

उभयमेव वदन्ति मनीषिणः समयवर्षितया कृतकर्मणाम् ।
बलनिषूदनमर्थपतिं च तं श्रमनुदं मनुदण्डधरान्वयम् ॥ ३ ॥

जनपदे न गदः पदमादधावभिभवः कुत एव सपत्नजः ।
क्षितिरभूत्फलवत्यजनन्दने शमरतेऽमरतेजसि पार्थिवे ॥ ४ ॥

दशदिगन्तजिता रघुणा यथा श्रियमपुष्यदजेन ततः परम् ।
तमधिगम्य तथैव पुनर्बभौ न न महीनमहीनपराक्रमम् ॥ ५ ॥

समतया वसुवृष्टिविसर्जनैर्नियमनादसतां च नराधिपः ।
अनुययौ यमपुण्यजनेश्वरौ सवरुणावरुणाग्रसरं रुचा ॥ ६ ॥

न मृगयाभिरतिर्न दुरोदरं न च शशिप्रतिमाभरणं मधु ।
तमुदयाय न वा नवयौवना प्रियतमा यतमानमपाहरन् ॥ ७ ॥

न कृपणा प्रभवत्यपि वासवे न वितथा परिहासकथास्वपि ।
न च सपत्नजनेष्वपि तेन वागपरुषा परुषाक्षरमीरिता ॥ ८ ॥

उदयमस्तमयं च रघूद्वहादुभयमानशिरे वसुधाधिपाः ।
स हि निदेशमलङ्घयतामभूत्सुहृदयोहृदयः प्रतिगर्जताम् ॥ ९ ॥

अजयदेकरथेन स मेदिनीमुदधिनेमिमधिज्यशरासनः ।
जयमघोषयदस्य तु केवलं गजवती जवतीव्रहया चमूः ॥१०॥

अवनिमेकरथेन वरूथिना जितवतः किल तस्य धनुर्भृतः ।
विजयदुन्दुभितां ययुरर्णवा घनरवा नरवाहनसंपदः ॥११॥

शमितपक्षबलः शतकोटिना शिखरिणां कुलिशेन पुरंदरः ।
सशरवृष्टि मुचा धनुषा द्विषां स्वनवता नवतामरसाननः ॥१२॥

चरणयोर्नखरागसमृद्धिभिर्मुकुटरत्नमरीचिभिरस्पृशन् ।
नृपतयः शतशो मरुतो यथा शतमखं तमखण्डितपौरुषम् ॥१३॥

निववृते स महार्णवरोधसः सचिवकारितबालसुताञ्जलीन् ।
समनुकम्प्य सपत्नपरिग्रहाननलकानलकानवमां पुरीम् ॥१४॥

उपगतोऽपि च मण्डलनाभितामनुदितान्यसितातपवारणः ।
श्रियमवेक्ष्य स रन्ध्रचलामभूदनलसोऽनलसोमसमद्युतिः ॥१५॥

तमपहाय ककुत्स्थकुलोद्भवं पुरुषमात्मभवं च पतिव्रता ।
नृपतिमन्यमसेवत देवता सकमला कमलाघवमर्थिषु ॥१६॥

तमलभन्त पतिं पतिदेवताः शिखरिणामिव सागरमापगाः ।
मगधकोशलकेकयशासिनां दुहितरोऽहितरोपितमार्गणम् ॥१७॥

प्रियतमाभिरसौ तिसृभिर्बभौ तिसृभिरेव भुवं सह शक्तिभिः ।
उपगतो विनिनीषुरिव प्रजा हरिहयोऽरिहयोगविचक्षणः ॥१८॥

स किल संयुगमूर्ध्नि सहायतां मघवतः प्रतिपद्य महारथः ।
स्वभुजवीर्यमगापयदुच्छ्रितं सुरवधूरवधूतभयाः शरैः ॥१९॥

क्रतुषु तेन विसर्जितमौलिना भुजसमाहृतदिग्वसुना कृताः ।
कनकयूपसमुच्छ्रयशोभिनो वितमसा तमसासरयूतटाः ॥२०॥

अजिनदण्डभृतं कुशमेखलां यतगिरं मृगशृङ्गपरिग्रहाम् ।
अधिवसंस्तनुमध्वरदीक्षितामसमभासमभासयदीश्वरः ॥२१॥

अवभृथप्रयतो नियतेन्द्रियः सुरसमाजसमाक्रमणोचितः ।
नमयति स्म स केवलमुन्नतं वनमुचे नमुचेररये शिरः ॥२२॥

असकृदेकरथेन तरस्विना हरिहयाग्रसरेण धनुर्भृता ।
दिनकराभिमुखा रणरेणवो रुरुधिरे रुधिरेण सुरद्विषाम् ॥२३॥

अथ समाववृते कुसुमैर्नवैस्तमिव सेवितुमेकनराधिपम् ।
यमकुबेरजलेश्वरवज्रिणां समधुरं मधुरञ्चितविक्रमम् ॥२४॥

जिगमिषुर्धनदाध्युषितां दिशं रथयुजा परिवर्तितवाहनः ।
दिनमुखानि रविर्हिमनिग्रहैर्विमलयन्मलयं नगमत्यजत् ॥२५॥

कुसुमजन्म ततो नवपल्लवास्तदनु षट्पदकोकिलकूजितम् ।
इति यथाक्रममाविरभून्मधुर्द्रुमवतीमवतीर्य वनस्थलीम् ॥२६॥

नयगुणोपचितामिव भूपतेः सदुपकारफलां श्रियमर्थिनः ।
अभिययुः सरसो मधुसंभृतां कमलिनीमलिनीरपतत्रिणः ॥२७॥

कुसुममेव न केवलमार्तवं नवमशोकतरोः स्मरदीपनम् ।
किसलयप्रसवोऽपि विलासिनां मदयिता दयिताश्रवणार्पितः ॥२८॥

विरचिता मधुनोपवनश्रियामभिनवा इव पत्रविशेषकाः ।
मधुलिहां मधुदानविशारदाः कुरवका रवकारणतां ययुः ॥२९॥

सुवदनावदनासवसंभृतस्तदनुवादिगुणः कुसुमोद्गमः ।
मधुकरैरकरोन्मधुलोलुपैर्बकुलमाकुलमायतपङ्क्तिभिः ॥३०॥

उपहितं शिशिरापगमश्रिया मुकुलजालमशोभत किंशुके ।
प्रणयिनीव नखक्षतमण्डनं प्रमदया मदयापितलज्जया ॥३१॥

व्रणगुरुप्रमदाधरदुःसहं जघननिर्विषयीकृतमेखलम् ।
न खलु तावदशेषमपोहितं रविरलं विरलं कृतवान्हिमम् ॥३२॥

अभिनयान्परिचेतुमिवोद्यता मलयमारुतकम्पितपल्लवा ।
अमदयत्सहकारलता मनः सकलिका कलिकामजितामपि ॥३३॥

प्रथममन्यभृताभिरुदीरिताः प्रविरला इव मुग्धवधूकथाः ।
सुरभिगन्धिषु शुश्रुविरे गिरः कुसुमितासु मिता वनराजिषु ॥३४॥

श्रुतिसुखभ्रमरस्वनगीतयः कुसुमकोमलदन्तरुचो बभुः ।
उपवनान्तलताः पवनाहतैः किसलयैः सलयैरिव पाणिभिः ॥३५॥

ललितविभ्रमबन्धविचक्षणं सुरभिगन्धपराजितकेसरम् ।
पतिषु निर्विविशुर्मधुमङ्गनाः स्मरसखं रसखण्डनवर्जितम् ॥३६॥

शुशुभिरे स्मितचारुतराननाः स्त्रिय इव श्लथशिञ्जितमेखलाः ।
विकचतामरसा गृहदीर्घिका मदकलोदकलोलविहंगमाः ॥३७॥

उपययौ तनुतां मधुखण्डिता हिमकरोदयपाण्डुमुखच्छविः ।
सदृशमिष्टसमागमनिर्वृतिं वनितयानितया रजनीवधूः ॥३८॥

अपतुषारतया विशदप्रभैः सुरतसङ्गपरिश्रमनोदिभिः ।
कुसुमचापमतेजयदंशुभिर्हिमकरो मकरोर्जितकेतनम् ॥३९॥

हुतहुताशनदीप्ति वनश्रियः प्रतिनिधिः कनकाभरणस्य यत् ।
युवतयः कुसुमं दधुराहितं तदलके दलकेसरपेशलम् ॥४०॥

अलिभिरञ्जनबिन्दुमनोहरैः कुसुमपङ्क्तिनिपातिभिरङ्कितः ।
न खलु शोभयति स्म वनस्थलीं न तिलकस्तिलकः प्रमदामिव ॥४१॥

अमदयन्मधुगन्धसनाथया किसलयाधरसंगतया मनः ।
कुसुमसंभृतया नवमल्लिका स्मितरुचा तरुचारुविलासिनी ॥४२॥

अरुणरागनिषेधिभिरंशुकैः श्रवणलब्धपदैश्च यवांकुरैः ।
परभृताविरुतैश्च विलासिनः स्मरबलैरबलैकरसाः कृताः ॥४३॥

उपचितावयवा शुचिभिः कणैरलिकदम्बकयोगमुपेयुषी ।
सदृशकान्तिरलक्ष्यत मञ्जरी तिलकजालकजालकमौक्तिकैः ॥४४॥

ध्वजपटं मदनस्य धनुर्भृतश्छविकरं मुखचूर्णमृतुश्रियः ।
कुसुमकेसररेणुमलिव्रजाः सपवनोपवनोत्थितमन्वयुः ॥४५॥

अनुभवन्नवदोलमृतूत्सवं पटुरपि प्रियकण्ठजिघृक्षया ।
अनयदासनरज्जुपरिग्रहे भुजलतां जलतामबलाजनः ॥४६॥

त्यजत मानमलं बत विग्रहैर्न पुनरेति गतं चतुरं वयः ।
परभृताभिरितीव निवेदिते स्मरमते रमते स्म वधूजनः ॥४७॥

अथ यथासुखमार्तवमुत्सवं समनुभूय विलासवतीसखः ।
नरपतिश्चकमे मृगयारतिं स मधुमन्मधुमन्मथसंनिभः ॥४८॥

परिचयं चललक्ष्यनिपातने भयरुषोश्च तदिङ्गितबोधनम् ।
श्रमजयात्प्रगुणां च करोत्यसौ तनुमतोऽनुमतः सचिवैर्ययौ ॥४९॥

मृगवनोपगमक्षमवेषभृद्विपुलकण्ठनिषक्तशरासनः ।
गगनमश्वखुरोद्धतरेणुभिर्नृसविता स वितानमिवाकरोत् ॥५०॥

ग्रथितमौलिरसौ वनमालया तरुपलाशसवर्णतनुच्छदः ।
तुरगवल्गनचञ्चलकुण्डलो विरुरुचे रुरुचेष्टितभूमिषु ॥५१॥

तनुलताविनिवेशितविग्रहा भ्रमरसंक्रमितेक्षणवृत्तयः ।
ददृशुरध्वनि तं वनदेवताः सुनयनं नयनन्दितकोशलम् ॥५२॥

श्वगणिवागुरिकैः प्रथमास्थितं व्यपगतानलदस्यु विवेश सः ।
स्थिरतुरंगमभूमि निपानवन्मृगवयोगवयोपचितं वनम् ॥५३॥

अथ नभस्य इव त्रिदशायुधं कनकपिङ्गतडिद्गुणसंयुतम् ।
धनुरधिज्यमनाधिरुपाददे नरवरो रवरोपितकेसरी ॥५४॥

तस्य स्तनप्रणयिभिर्मुहुरेणशावै-
र्व्याहन्यमानहरिणीगमनं पुरस्तात् ।
आविर्बभूव कुशगर्भमुखं मृगाणां
यूथं तदग्रसरगर्वितकृष्णसारम् ॥५५॥

तत्प्रार्थितं जवनवाजिगतेन राज्ञा
तूणीमुखोद्धृतशरेण विशीर्णपङ्क्ति ।
श्यामीचकार वनमाकुलदृष्टिपातै-
र्वातेरितोत्पलदलप्रकरैरिवार्द्रैः ॥५६॥

लक्ष्यीकृतस्य हरिणस्य हरिप्रभावः
प्रेक्ष्य स्थितां सहचरीं व्यवधाय देहम् ।
आकर्णकृष्टमपि कामितया स धन्वी
बाणं कृपामृदुमनाः प्रतिसंजहार ॥५७॥

तस्यापरेष्वपि मृगेषु शरान्मुमुक्षोः
कर्णान्तमेत्य बिभिदे निबिडोऽपि मुष्टिः ।
त्रासातिमात्रचटुलैः स्मरयत्सु नेत्रैः
प्रौढप्रियानयनविभ्रमचेष्टितानि ॥५८॥

उत्तस्थुषः सपदि पल्वलपङ्कमध्या-
न्मुस्ताप्ररोहकवलावयवानुकीर्णम् ।
जग्राह स द्रुतवराहकुलस्य मार्गं
सुव्यक्तमार्द्रपदपङ्क्तिभिरायताभिः ॥५९॥

तं वाहनादवनतोत्तरकायमीषद्-
विध्यन्तमुद्धृतसटाः प्रतिहन्तुमीषुः ।
नात्मानमस्य विविदुः सहसा वराहा
वृक्षेषु विद्धमिषुभिर्जघनाश्रयेषु ॥६०॥

तेनाभिघातरभसस्य विकृष्य पत्री
वन्यस्य नेत्रविवरे महिषस्य मुक्तः ।
निर्भिद्य विग्रहमशोणितलिप्तपुङ्ख-
स्तं पातयां प्रथममास पपात पश्चात् ॥६१॥

प्रायो विषाणपरिमोक्षलघूत्तमाङ्गा-
न्खड्गांश्चकार नृपतिर्निशितैः क्षुरप्रैः ।
शृङ्गं स दृप्तविनयाधिकृतः परेषा-
मत्युच्छ्रितं न ममृषे न तु दीर्घमायुः ॥६२॥

व्याघ्रानभीरभिमुखोत्पतितान्गुहाभ्यः
फुल्लासनाग्रविटपानिव वायुरुग्णान् ।
शिक्षाविशेषलघुहस्ततया निमेषा-
त्तूणीचकार शरपूरितवक्त्ररन्ध्रान् ॥६३॥

निर्घातोग्रैः कुञ्जलीनाञ्जिघांसुर्ज्यानिर्घोषैः क्षोभयामास सिंहान् ।
नूनं तेषामभ्यसूयापरोऽभूद्वीर्योदग्रे राजशब्दे मृगेषु ॥६४॥

तान्हत्वा गजकुलबद्धतीव्रवैरान्काकुत्स्थः कुटिलनखाग्रलग्नमुक्तान् ।
आत्मानं रणकृतकर्मणां गजानामानृण्यं गतमिव मार्गणैरमंस्त ॥६५॥

चमरान्परितः प्रवर्तिताश्वः क्वचिदाकर्णविकृष्टभल्लवर्षी ।
नृपतीनिव तान्वियोज्य सद्यः सितबालव्यजनैर्जगाम शान्तिम् ॥६६॥

अपि तुरगसमीपादुत्पतन्तं मयूरं
न स रुचिरकलापं बाणलक्ष्यीचकार ।
सपदि गतमनस्कश्चित्रमाल्यानुकीर्णे
रतिविगलितबन्धे केशपाशे प्रियायाः ॥६७॥

तस्य कर्कशविहारसंभवं स्वेदमाननविलग्नजालकम् ।
आचचाम सतुषारशीकरो भिन्नपल्लवपुटो वनानिलः ॥६८॥

इति विस्मृतान्यकरणीयमात्मनः सचिवावलम्बितधुरं धराधिपम् ।
परिवृद्धरागमनुबन्धसेवया मृगया जहार चतुरेव कामिनी ॥६९॥

स ललितकुसुमप्रवालशय्यां ज्वलितमहौषधिदीपिकासनाथाम् ।
नरपतिरतिवाहयांबभूव क्वचिदसमेतपरिच्छदस्त्रियामाम् ॥७०॥

उषसि स गजयूथकर्णतालैः पटुपटहध्वनिभिर्विनीतनिद्रः ।
अरमत मधुराणि तत्र शृण्वन्विहगविकूजितबन्दिमङ्गलानि ॥७१॥

अथ जातु रुरोर्गृहीतवर्त्मा विपिने पार्श्वचरैरलक्ष्यमाणः ।
श्रमफेनमुचा तपस्विगाढां तमसां प्राप नदीं तुरंगमेण ॥७२॥

कुम्भपूरणभवः पटुरुच्चैरुच्चचार निनदोऽम्भसि तस्याः ।
तत्र स द्विरदबृंहितशङ्की शब्दपातिनमिषुं विससर्ज ॥७३॥

नृपतेः प्रतिषिद्धमेव तत्कृतवान्पङ्क्तिरथो विलङ्घ्य यत् ।
अपथे पदमर्पयन्ति हि श्रुतवन्तोऽपि रजोनिमीलिताः ॥७४॥

हा तातेति क्रन्दितमाकर्ण्य विषण्ण-
स्तस्यान्विष्यन्वेतसगूढं प्रभवं सः ।
शल्यप्रोतं प्रेक्ष्य सकुम्भं मुनिपुत्रं
तापादन्तःशल्य इवासीत्क्षितिपोऽपि ॥७५॥

तेनावतीर्य तुरगात्प्रथितान्वयेन
पृष्टान्वयः स जलकुम्भनिषण्णदेहः ।
तस्मै द्विजेतरतपस्विसुतं स्खलद्भि-
रात्मानमक्षरपदैः कथयांबभूव ॥७६॥

तच्चोदितश्च तमनुद्धृतशल्यमेव
पित्रोः सकाशमवसन्नदृशोर्निनाय ।
ताभ्यां तथागतमुपेत्य तमेकपुत्र-
मज्ञानतः स्वचरितं नृपतिः शशंस ॥७७॥

तौ दंपती बहु विलप्य शिशोः प्रहर्त्रा
शल्यं निखातमुदहारयतामुरस्तः ।
सोऽभूत्परासुरथ भूमिपतिं शशाप
हस्तार्पितैर्नयनवारिभिरेव वृद्धः ॥७८॥

दिष्टान्तमाप्स्यति भवानपि पुत्रशोका-
दन्त्ये वयस्यहमिवेति तमुक्तवन्तम् ।
आक्रान्तपूर्वमिव मुक्तविषं भुजंगं
प्रोवाच कोशलपतिः प्रथमापराद्धः ॥७९॥

शापोऽप्यदृष्टतनयाननपद्मशोभे
सानुग्रहो भगवता मयि पातितोऽयम् ।

कृष्यां दहन्नपि खलु क्षितिमिन्धनेद्धो
बीजप्ररोहजननीं ज्वलनः करोति ॥८०॥

इत्थंगते गतघृणः किमयं विधत्तां
वध्यस्तवेत्यभिहितो वसुधाधिपेन ।
एधान्हुताशनवतः स मुनिर्ययाचे
पुत्रं परासुमनुगन्तुमनाः सदारः ॥८१॥

प्राप्तानुगः सपदि शासनमस्य राजा
संपाद्य पातकविलुप्तधृतिर्निवृत्तः ।
अन्तर्निविष्टपदमात्मविनाशहेतुं
शापं दधज्ज्वलनमौर्वमिवाम्बुराशिः ॥८२॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
मृगयावर्णनो नाम नवमः सर्गः ॥



दशमः सर्गः

पृथिवीं शासतस्तस्य पाकशासनतेजसः ।
किंचिदूनमनूनर्द्धेः शरदामयुतं ययौ ॥ १ ॥

न चोपलेभे पूर्वेषामृणनिर्मोक्षसाधनम् ।
सुताभिधानं स ज्योतिः सद्यः शोकतमोपहम् ॥ २ ॥

अतिष्ठत्प्रत्ययापेक्षसंततिः स चिरं नृपः ।
प्राङ्मन्थादनभिव्यक्तरत्नोत्पत्तिरिवार्णवः ॥ ३ ॥

ऋष्यशृङ्गादयस्तस्य सन्तः संतानकाङ्क्षिणः ।
आरेभिरे जितात्मानः पुत्रीयामिष्टिमृत्विजः ॥ ४ ॥

तस्मिन्नवसरे देवाः पौलस्त्योपप्लुता हरिम् ।
अभिजग्मुर्निदाघार्ताश्छायावृक्षमिवाध्वगाः ॥ ५ ॥

ते च प्रापुरुदन्वन्तं बुबुधे चादिपूरुषः ।
अव्याक्षेपो भविष्यन्त्याः कार्यसिद्धेर्हि लक्षणम् ॥ ६ ॥

भोगिभोगासनासीनं ददृशुस्तं दिवौकसः ।
तत्फणामण्डलोदर्चिर्मणिद्योतितविग्रहम् ॥ ७ ॥

श्रियः पद्मनिषण्णायाः क्षौमान्तरितमेखले ।
अङ्के निक्षिप्तचरणमास्तीर्णकरपल्लवे ॥ ८ ॥

प्रबुद्धपुण्डरीकाक्षं बालातपनिभांशुकम् ।
दिवसं शारदमिव प्रारम्भसुखदर्शनम् ॥ ९ ॥

प्रभानुलिप्तश्रीवत्सं लक्ष्मीविभ्रमदर्पणम् ।
कौस्तुभाख्यमपां सारं बिभ्राणं बृहतोरसा ॥१०॥

बाहुभिर्विटपाकारैर्दिव्याभरणभूषितैः ।
आविर्भूतमपां मध्ये पारिजातमिवापरम् ॥११॥

दैत्यस्त्रीगण्डलेखानां मदरागविलोपिभिः ।
हेतिभिश्चेतनावद्भिरुदीरितजयस्वनम् ॥१२॥

मुक्तशेषविरोधेन कुलिशव्रणलक्ष्मणा ।
उपस्थितं प्राञ्जलिना विनीतेन गरुत्मता ॥१३॥

योगनिद्रान्तविशदैः पावनैरवलोकनैः ।
भृग्वादीननुगृह्णन्तं सौखशायनिकानृषीन् ॥१४॥

प्रणिपत्य सुरास्तस्मै शमयित्रे सुरद्विषाम् ।
अथैनं तुष्टुवुः स्तुत्यमवाङ्मनसगोचरम् ॥१५॥

नमो विश्वसृजे पूर्वं विश्वं तदनु बिभ्रते ।
अथ विश्वस्य संहर्त्रे तुभ्यं त्रेधास्थितात्मने ॥१६॥

रसान्तराण्येकरसं यथा दिव्यं पयोऽश्नुते ।
देशे देशे गुणेष्वेवमवस्थास्त्वमविक्रियः ॥१७॥

अमेयो मितलोकस्त्वमनर्थी प्रार्थनावहः ।
अजितो जिष्णुरत्यन्तमव्यक्तो व्यक्तकारणम् ॥१८॥

दशमः सर्गः

पृथिवीं शासतस्तस्य पाकशासनतेजसः ।
किंचिदूनमनूनर्द्धेः शरदामयुतं ययौ ॥ १ ॥

न चोपलेभे पूर्वेषामृणनिर्मोक्षसाधनम् ।
सुताभिधानं स ज्योतिः सद्यः शोकतमोपहम् ॥ २ ॥

अतिष्ठत्प्रत्ययापेक्षसंततिः स चिरं नृपः ।
प्राङ्मन्थादनभिव्यक्तरत्नोत्पत्तिरिवार्णवः ॥ ३ ॥

ऋष्यशृङ्गादयस्तस्य सन्तः संतानकाङ्क्षिणः ।
आरेभिरे जितात्मानः पुत्रीयामिष्टिमृत्विजः ॥ ४ ॥

तस्मिन्नवसरे देवाः पौलस्त्योपप्लुता हरिम् ।
अभिजग्मुर्निदाघार्ताश्छायावृक्षमिवाध्वगाः ॥ ५ ॥

ते च प्रापुरुदन्वन्तं बुबुधे चादिपूरुषः ।
अव्याक्षेपो भविष्यन्त्याः कार्यसिद्धेर्हि लक्षणम् ॥ ६ ॥

भोगिभोगासनासीनं ददृशुस्तं दिवौकसः ।
तत्फणामण्डलोदर्चिर्मणिद्योतितविग्रहम् ॥ ७ ॥

दशमः सर्गः

श्रियः पद्मनिषण्णायाः क्षौमान्तरितमेखले ।
अङ्के निक्षिप्तचरणमास्तीर्णकरपल्लवे ॥ ८ ॥

प्रबुद्धपुण्डरीकाक्षं बालातपनिभांशुकम् ।
दिवसं शारदमिव प्रारम्भसुखदर्शनम् ॥ ९ ॥

प्रभानुलिप्तश्रीवत्सं लक्ष्मीविभ्रमदर्पणम् ।
कौस्तुभाख्यमपां सारं बिभ्राणं बृहतोरसा ॥१०॥

बाहुभिर्विटपाकारैर्दिव्याभरणभूषितैः ।
आविर्भूतमपां मध्ये पारिजातमिवापरम् ॥११॥

दैत्यस्त्रीगण्डलेखानां मदरागविलोपिभिः ।
हेतिभिश्चेतनावद्भिरुदीरितजयस्वनम् ॥१२॥

मुक्तशेषविरोधेन कुलिशव्रणलक्ष्मणा ।
उपस्थितं प्राञ्जलिना विनीतेन गरुत्मता ॥१३॥

योगनिद्रान्तविशदैः पावनैरवलोकनैः ।
भृग्वादीननुगृह्णन्तं सौखशायनिकानृषीन् ॥१४॥

प्रणिपत्य सुरास्तस्मै शमयित्रे सुरद्विषाम् ।
अथैनं तुष्टुवुः स्तुत्यमवाङ्मनसगोचरम् ॥१५॥

नमो विश्वसृजे पूर्वं विश्वं तदनु बिभ्रते ।
अथ विश्वस्य संहर्त्रे तुभ्यं त्रेधास्थितात्मने ॥१६॥

रसान्तराण्येकरसं यथा दिव्यं पयोऽश्नुते ।
देशे देशे गुणेष्वेवमवस्थास्त्वमविक्रियः ॥१७॥

अमेयो मितलोकस्त्वमनर्थी प्रार्थनावहः ।
अजितो जिष्णुरत्यन्तमव्यक्तो व्यक्तकारणम् ॥१८॥

हृदयस्थमनासन्नमकामं त्वां तपस्विनम् ।
दयालुमनघस्पृष्टं पुराणमजरं विदुः ॥१९॥

सर्वज्ञस्त्वमविज्ञातः सर्वयोनिस्त्वमात्मभूः ।
सर्वप्रभुरनीशस्त्वमेकस्त्वं सर्वरूपभाक् ॥२०॥

सप्तसामोपगीतं त्वां सप्तार्णवजलेशयम् ।
सप्तार्चिर्मुखमाचख्युः सप्तलोकैकसंश्रयम् ॥२१॥

चतुर्वर्गफलं ज्ञानं कालावस्थाश्चतुर्युगाः ।
चतुर्वर्णमयो लोकस्त्वत्तः सर्वं चतुर्मुखात् ॥२२॥

अभ्यासनिगृहीतेन मनसा हृदयाश्रयम् ।
ज्योतिर्मयं विचिन्वन्ति योगिनस्त्वां विमुक्तये ॥२३॥

अजस्य गृह्णतो जन्म निरीहस्य हतद्विषः ।
स्वपतो जागरूकस्य याथार्थ्यं वेद कस्तव ॥२४॥

शब्दादीन्विषयान्भोक्तुं चरितुं दुश्चरं तपः ।
पर्याप्तोऽसि प्रजाः पातुमौदासीन्येन वर्तितुम् ॥२५॥

बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धहेतवः ।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे ॥२६॥

त्वय्यावेशितचित्तानां त्वत्समर्पितकर्मणाम् ।
गतिस्त्वं वीतरागाणामभूयः संनिवृत्तये ॥२७॥

प्रत्यक्षोऽप्यपरिच्छेद्यो मह्यादिर्महिमा तव ।
आप्तवागनुमानाभ्यां साध्यं त्वां प्रति का कथा ॥२८॥

केवलं स्मरणेनैव पुनासि पुरुषं यतः ।
अनेन वृत्तयः शेषा निवेदितफलास्त्वयि ॥२९॥

उदधेरिव रत्नानि तेजांसीव विवस्वतः ।
स्तुतिभ्यो व्यतिरिच्यन्ते दूराणि चरितानि ते ॥३०॥

अनवाप्तमवाप्तव्यं न ते किंचन विद्यते ।
लोकानुग्रह एवैको हेतुस्ते जन्मकर्मणोः ॥३१॥

महिमानं यदुत्कीर्त्य तव संह्रियते वचः ।
श्रमेण तदशक्त्या वा न गुणानामियत्तया ॥३२॥

इति प्रसादयामासुस्ते सुरास्तमधोक्षजम् ।
भूतार्थव्याहृतिः सा हि न स्तुतिः परमेष्ठिनः ॥३३॥

तस्मै कुशलसंप्रश्नव्यञ्जितप्रीतये सुराः ।
भयमप्रलयोद्वेलादाचख्युर्नैर्ऋतोदधेः ॥३४॥

अथ वेलासमासन्नशैलरन्ध्रानुनादिना ।
स्वरेणोवाच भगवान्परिभूतार्णवध्वनिः ॥३५॥

पुराणस्य कवेस्तस्य वर्णस्थानसमीरिता ।
बभूव कृतसंस्कारा चरितार्थैव भारती ॥३६॥

बभौ सदशनज्योत्स्ना सा विभोर्वदनोद्गता ।
निर्यातशेषा चरणाद्गङ्गेवोर्ध्वप्रवर्तिनी ॥३७॥

जाने वो रक्षसाक्रान्तावनुभावपराक्रमौ ।
अङ्गिनां तमसेवोभौ गुणौ प्रथममध्यमौ ॥३८॥

विदितं तप्यमानं च तेन मे भुवनत्रयम् ।
अकामोपनतेनेव साधोर्हृदयमेनसा ॥३९॥

कार्येषु चैककार्यत्वादभ्यर्थ्योऽस्मि न वज्रिणा ।
स्वयमेव हि वातोऽग्नेः सारथ्यं प्रतिपद्यते ॥४०॥

स्वासिधारापरिहृतः कामं चक्रस्य तेन मे ।
स्थापितो दशमो मूर्धा लभ्यांश इव रक्षसा ॥४१॥

स्रष्टुर्वरातिसर्गात्तु मया तस्य दुरात्मनः ।
अत्यारूढं रिपोः सोढं चन्दनेनेव भोगिनः ॥४२॥

धातारं तपसा प्रीतं ययाचे स हि राक्षसः ।
दैवात्सर्गादवध्यत्वं मर्त्येष्वास्थापराङ्मुखः ॥४३॥

सोऽहं दाशरथिर्भूत्वा रणभूमेर्बलिक्षमम् ।
करिष्यामि शरैस्तीक्ष्णैस्तच्छिरः कमलोच्चयम् ॥४४॥

अचिराद्यज्वभिर्भागं कल्पितं विधिवत्पुनः ।
मायाविभिरनालीढमादास्यध्वे निशाचरैः ॥४५॥

वैमानिकाः पुण्यकृतस्त्यजन्तु मरुतां पथि ।
पुष्पकालोकसंक्षोभं मेघावरणतत्पराः ॥४६॥

मोक्ष्यध्वे स्वर्गबन्दीनां वेणीबन्धानदूषितान् ।
शापयन्त्रितपौलस्त्यबलात्कारकचग्रहैः ॥४७॥

रावणावग्रहक्लान्तमिति वागमृतेन सः ।
अभिवृष्य मरुत्सस्यं कृष्णमेघस्तिरोदधे ॥४८॥

पुरुहूतप्रभृतयः सुरकार्योद्यतं सुराः ।
अंशैरनुययुर्विष्णुं पुष्पैर्वायुमिव द्रुमाः ॥४९॥

अथ तस्य विशांपत्युरन्ते काम्यस्य कर्मणः ।
पुरुषः प्रबभूवाग्नेर्विस्मयेन सहर्त्विजाम् ॥५०॥

हेमपात्रगतं दोर्भ्यामादधानः पयश्चरुम् ।
अनुप्रवेशादाद्यस्य पुंसस्तेनापि दुर्वहम् ॥५१॥

प्राजापत्योपनीतं तदन्नं प्रत्यग्रहीन्नृपः ।
वृषेव पयसां सारमाविष्कृतमुदन्वता ॥५२॥

अनेन कथिता राज्ञो गुणास्तस्यान्यदुर्लभाः ।
प्रसूतिं चकमे तस्मिंस्त्रैलोक्यप्रभवोऽपि यत् ॥५३॥

स तेजो वैष्णवं पत्न्योर्विभेजे चरुसंज्ञितम् ।
द्यावापृथिव्योः प्रत्यग्रमहर्पतिरिवातपम् ॥५४॥

अर्चिता तस्य कौशल्या प्रिया केकयवंशजा ।
अतः संभावितां ताभ्यां सुमित्रामैच्छदीश्वरः ॥५५॥

ते बहुज्ञस्य चित्तज्ञे पत्न्यौ पत्युर्महीक्षितः ।
चरोरर्धार्धभागाभ्यां तामयोजयतामुभे ॥५६॥

सा हि प्रणयवत्यासीत्सपत्न्योरुभयोरपि ।
भ्रमरी वारणस्येव मदनिस्यन्दरेखयोः ॥५७॥

ताभिर्गर्भः प्रजाभूत्यै दध्रे देवांशसंभवः ।
सौरीभिरिव नाडीभिरमृताख्याभिरम्मयः ॥५८॥

सममापन्नसत्त्वास्ता रेजुरापाण्डुरत्विषः ।
अन्तर्गतफलारम्भाः सस्यानामिव संपदः ॥५९॥

गुप्तं ददृशुरात्मानं सर्वाः स्वप्नेषु वामनैः ।
जलजासिगदाशार्ङ्गचक्रलाञ्छितमूर्तिभिः ॥६०॥

हेमपक्षप्रभाजालं गगने च वितन्वता ।
उह्यन्ते स्म सुपर्णेन वेगाकृष्टपयोमुचा ॥६१॥

बिभ्रत्या कौस्तुभन्यासं स्तनान्तरविलम्बिनम् ।
पर्युपास्यन्त लक्ष्म्या च पद्मव्यजनहस्तया ॥६२॥

कृताभिषेकैर्दिव्यायां त्रिस्रोतसि च सप्तभिः ।
ब्रह्मर्षिभिः परं ब्रह्म गृणद्भिरुपतस्थिरे ॥६३॥

ताभ्यस्तथाविधान्स्वप्नाञ्छ्रुत्वा प्रीतो हि पार्थिवः ।
मेने परार्ध्यमात्मानं गुरुत्वेन जगद्गुरोः ॥६४॥

विभक्तात्मा विभुस्तासामेकः कुक्षिष्वनेकधा ।
उवास प्रतिमाचन्द्रः प्रसन्नानामपामिव ॥६५॥

अथाग्र्यमहिषी राज्ञः प्रसूतिसमये सती ।
पुत्रं तमोपहं लेभे नक्तं ज्योतिरिवौषधिः ॥६६॥

राम इत्यभिरामेण वपुषा तस्य चोदितः ।
नामधेयं गुरुश्चक्रे जगत्प्रथममङ्गलम् ॥६७॥

रघुवंशप्रदीपेन तेनाप्रतिमतेजसा ।
रक्षागृहगता दीपाः प्रत्यादिष्टा इवाभवन् ॥६८॥

शय्यागतेन रामेण माता शातोदरी बभौ ।
सैकताम्भोजबलिना जाह्नवीव शरत्कृशा ॥६९॥

कैकेय्यास्तनयो जज्ञे भरतो नाम शीलवान् ।
जनयित्रीमलंचक्रे यः प्रश्रय इव श्रियम् ॥७०॥

सुतौ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ सुमित्रा सुषुवे यमौ ।
सम्यगाराधिता विद्या प्रबोधविनयाविव ॥७१॥

निर्दोषमभवत्सर्वमाविष्कृतगुणं जगत् ।
अन्वगादिव हि स्वर्गो गां गतं पुरुषोत्तमम् ॥७२॥

तस्योदये चतुर्मूर्तेः पौलस्त्यचकितेश्वराः ।
विरजस्कैर्नभस्वद्भिर्दिश उच्छ्वसिता इव ॥७३॥

कृशानुरपधूमत्वात्प्रसन्नत्वात्प्रभाकरः ।
रक्षोविप्रकृतावास्तामपविद्धशुचाविव ॥७४॥

दशाननकिरीटेभ्यस्तत्क्षणं राक्षसश्रियः ।
मणिव्याजेन पर्यस्ताः पृथिव्यामश्रुबिन्दवः ॥७५॥

पुत्रजन्मप्रवेश्यानां तूर्याणां तस्य पुत्रिणः ।
आरम्भं प्रथमं चक्रुर्देवदुन्दुभयो दिवि ॥७६॥

संतानकमयी वृष्टिर्भवने चास्य पेतुषी ।
सन्मङ्गलोपचाराणां सैवादिरचनाभवत् ॥७७॥

कुमाराः कृतसंस्कारास्ते धात्रीस्तन्यपायिनः ।
आनन्देनाग्रजेनेव समं ववृधिरे पितुः ॥७८॥

स्वाभाविकं विनीतत्वं तेषां विनयकर्मणा ।
मुमूर्च्छ सहजं तेजो हविषेव हविर्भुजाम् ॥७९॥

परस्पराविरुद्धास्ते तद्रघोरनघं कुलम् ।
अलमुद्द्योतयामासुर्देवारण्यमिवर्तवः ॥८०॥

समानेऽपि हि सौभ्रात्रे यथोभौ रामलक्ष्मणौ ।
तथा भरतशत्रुघ्नौ प्रीत्या द्वन्द्वं बभूवतुः ॥८१॥

तेषां द्वयोर्द्वयोरैक्यं बिभिदे न कदाचन ।
यथा वायुविभावस्वोर्यथा चन्द्रसमुद्रयोः ॥८२॥

ते प्रजानां प्रजानाथास्तेजसा प्रश्रयेण च ।
मनो जह्रुर्निदाघान्ते श्यामाभ्रा दिवसा इव ॥८३॥

स चतुर्धा बभौ व्यस्तः प्रसवः पृथिवीपतेः ।
धर्मार्थकाममोक्षाणामवतार इवाङ्गभाक् ॥८४॥

गुणैराराधयामासुस्ते गुरुं गुरुवत्सलाः ।
तमेव चतुरन्तेशं रत्नैरिव महार्णवाः ॥८५॥

सुरगज इव दन्तैर्भग्नदैत्यासिधारै-
र्नय इव पणबन्धव्यक्तयोगैरुपायैः ।
हरिरिव युगदीर्घैर्दोर्भिरंशैस्तदीयैः
पतिरवनिपतीनां तैश्चकाशे चतुर्भिः ॥८६॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
रामावतारो नाम दशमः सर्गः ॥



एकादशः सर्गः

कौशिकेन स किल क्षितीश्वरो राममध्वरविघातशान्तये ।
काकपक्षधरमेत्य याचितस्तेजसां हि न वयः समीक्ष्यते ॥ १ ॥

कृच्छ्रलब्धमपि लब्धवर्णभाक्तं दिदेश मुनये स लक्ष्मणम् ।
अप्यसुप्रणयिनां रघोः कुले न व्यहन्यत कदाचिदर्थिता ॥ २ ॥

यावदादिशति पार्थिवस्तयोर्निर्गमाय पुरमार्गसंस्क्रियाम् ।
तावदाशु विदधे मरुत्सखैः सा सपुष्पजलवर्षिभिर्घनैः ॥ ३ ॥

तौ निदेशकरणोद्यतौ पितुर्धन्विनौ चरणयोर्निपेततुः ।
भूपतेरपि तयोः प्रवत्स्यतोर्नम्रयोरुपरि बाष्पबिन्दवः ॥ ४ ॥

तौ पितुर्नयनजेन वारिणा किंचिदुक्षितशिखण्डकावुभौ ।
धन्विनौ तमृषिमन्वगच्छतां पौरदृष्टिकृतमार्गतोरणौ ॥ ५ ॥

लक्ष्मणानुचरमेव राघवं नेतुमैच्छदृषिरित्यसौ नृपः ।
आशिषं प्रयुयुजे न वाहिनीं सा हि रक्षणविधौ तयोः क्षमा ॥ ६ ॥

मातृवर्गचरणस्पृशौ मुनेस्तौ प्रपद्य पदवीं महौजसः ।
रेजतुर्गतिवशात्प्रवर्तिनौ भास्करस्य मधुमाधवाविव ॥ ७ ॥

वीचिलोलभुजयोस्तयोर्गतं शैशवाच्चपलमप्यशोभत ।
तोयदागम इवोद्ध्यभिद्ययोर्नामधेयसदृशं विचेष्टितम् ॥ ८ ॥

तौ बलातिबलयोः प्रभावतो विद्ययोः पथि मुनिप्रदिष्टयोः ।
मम्लतुर्न मणिकुट्टिमोचितौ मातृपार्श्वपरिवर्तिनाविव ॥ ९ ॥

पूर्ववृत्तकथितैः पुराविदः सानुजः पितृसखस्य राघवः ।
उह्यमान इव वाहनोचितः पादचारमपि न व्यभावयत् ॥१०॥

तौ सरांसि रसवद्भिरम्बुभिः कूजितैः श्रुतिसुखैः पतत्रिणः ।
वायवः सुरभिपुष्परेणुभिश्छायया च जलदाः सिषेविरे ॥११॥

नाम्भसां कमलशोभिनां तथा शाखिनां च न परिश्रमच्छिदाम् ।
दर्शनेन लघुना यथा तयोः प्रीतिमापुरुभयोस्तपस्विनः ॥१२॥

स्थाणुदग्धवपुषस्तपोवनं प्राप्य दाशरथिरात्तकार्मुकः ।
विग्रहेण मदनस्य चारुणा सोऽभवत्प्रतिनिधिर्न कर्मणा ॥१३॥

तौ सुकेतुसुतया खिलीकृते कौशिकाद्विदितशापया पथि ।
निन्यतुः स्थलनिवेशिताटनी लीलयैव धनुषी अधिज्यताम् ॥१४॥

ज्यानिनादमथ गृह्णती तयोः प्रादुरास बहुलक्षपाछविः ।
ताडका चलकपालकुण्डला कालिकेव निबिडा बलाकिनी ॥१५॥

तीव्रवेगधुतमार्गवृक्षया प्रेतचीवरवसा स्वनोग्रया ।
अभ्यभावि भरताग्रजस्तया वात्ययेव पितृकाननोत्थया ॥१६॥

उद्यतैकभुजयष्टिमायतीं श्रोणिलम्बिपुरुषान्त्रमेखलाम् ।
तां विलोक्य वनितावधे घृणां पत्रिणा सह मुमोच राघवः ॥१७॥

यच्चकार विवरं शिलाघने ताडकोरसि स रामसायकः ।
अप्रविष्ट विषयस्य रक्षसां द्वारतामगमदन्तकस्य तत् ॥१८॥

वाणभिन्नहृदया निपेतुषी सा स्वकाननभुवं न केवलाम् ।
विष्टपत्रयपराजयस्थिरां रावणश्रियमपि व्यकम्पयत् ॥१६॥

राममन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी ।
गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम सा ॥२०॥

नैर्ऋतघ्नमथ मन्त्रवन्मुनेः प्रापदस्त्रमवदानतोषितात् ।
ज्योतिरिन्धननिपाति भास्करात्सूर्यकान्त इव ताडकान्तकः ॥२१॥

वामनाश्रमपदं ततः परं पावनं श्रुतमृषेरुपेयिवान् ।
उन्मनाः प्रथमजन्मचेष्टितान्यस्मरन्नपि बभूव राघवः ॥२२॥

आससाद मुनिरात्मनस्ततः शिष्यवर्गपरिकल्पितार्हणम् ।
बद्धपल्लवपुटाञ्जलिद्रुमं दर्शनोन्मुखमृगं तपोवनम् ॥२३॥

तत्र दीक्षितमृषिं ररक्षतुर्विघ्नतो दशरथात्मजौ शरैः ।
लोकमन्धतमसात्क्रमोदितौ रश्मिभिः शशिदिवाकराविव ॥२४॥

वीक्ष्य वेदिमथ रक्तबिन्दुभिर्बन्धुजीवपृथुभिः प्रदूषिताम् ।
संभ्रमोऽभवदपोढकर्मणामृत्विजां च्युतविकङ्कतस्रुचाम् ॥२५॥

उन्मुखः सपदि लक्ष्मणाग्रजो वाणमाश्रयमुखात्समुद्धरन् ।
रक्षसां बलमपश्यदम्बरे गृध्रपक्षपवनेरितध्वजम् ॥२६॥

तत्र यावधिपती मखद्विषां तौ शरव्यमकरोत्स नेतरान् ।
किं महोरगविसर्पिविक्रमो राजिलेषु गरुडः प्रवर्तते ॥२७॥

सोऽस्त्रमुग्रजवमस्त्रकोविदः संदधे धनुषि वायुदैवतम् ।
तेन शैलगुरुमप्यपातयत्पाण्डुपत्रमिव ताडकासुतम् ॥२८॥

यः सुबाहुरिति राक्षसोऽपरस्तत्र तत्र विससर्प मायया ।
तं क्षुरप्रशकलीकृतं कृती पत्त्रिणां व्यभजदाश्रमाद्बहिः ॥२६॥

इत्यपास्तमखविघ्नयोस्तयोः सांयुगीनमभिनन्द्य विक्रमम् ।
ऋत्विजः कुलपतेर्यथाक्रमं वाग्यतस्य निरवर्तयन्क्रियाः ॥३०॥

तौ प्रणामचलकाकपक्षकौ भ्रातरावभृथाप्लुतो मुनिः ।
आशिषामनुपदं समस्पृशद्दर्भपाटिततलेन पाणिना ॥३१॥

तं न्यमन्त्रयत संभृतक्रतुर्मैथिलः स मिथिलां व्रजन्वशी ।
राघवावपि निनाय बिभ्रतौ तद्धनुःश्रवणजं कुतूहलम् ॥३२॥

तैः शिवेषु वसतिर्गताध्वभिः सायमाश्रमतरुष्वगृह्यत ।
येषु दीर्घतपसः परिग्रहो वासवक्षणकलत्रतां ययौ ॥३३॥

प्रत्यपद्यत चिराय यत्पुनश्चारु गौतमवधूः शिलामयी ।
स्वं वपुः स किल किल्बिषच्छिदां रामपादरजसामनुग्रहः ॥३४॥

राघवान्वितमुपस्थितं मुनिं तं निशम्य जनको जनेश्वरः ।
अर्थकामसहितं सपर्यया देहबद्धमिव धर्ममभ्यगात् ॥३५॥

तौ विदेहनगरीनिवासिनां गां गताविव दिवः पुनर्वसू ।
मन्यते स्म पिबतां विलोचनैः पक्ष्मपातमपि वञ्चनां मनः ॥३६॥

यूपवत्यवसिते क्रियाविधौ कालवित्कुशिकवंशवर्धनः ।
राममिष्वसनदर्शनोत्सुकं मैथिलाय कथयांबभूव सः ॥३७॥

तस्य वीक्ष्य ललितं वपुः शिशोः पार्थिवः प्रथितवंशजन्मनः ।
स्वं विचिन्त्य च धनुर्दुरानमं पीडितो दुहितृशुल्कसंस्थया ॥३८॥

अब्रवीच्च भगवन्मतङ्गजैर्यद्बृहद्भिरपि कर्म दुष्करम् ।
तत्र नाहमनुमन्तुमुत्सहे मोघवृत्ति कलभस्य चेष्टितम् ॥३९॥

ह्रेपिता हि बहवो नरेश्वरास्तेन तात धनुषा धनुर्भृतः ।
ज्यानिघातकठिनत्वचो भुजान्स्वान्विधूय धिगिति प्रतस्थिरे ॥४०॥

प्रत्युवाच तमृषिर्निशम्यतां सारतोऽयमथवा गिरा कृतम् ।
चाप एव भवतो भविष्यति व्यक्तशक्तिरशनिर्गिराविव ॥४१॥

एवमाप्तवचनात्स पौरुषं काकपक्षकधरेऽपि राघवे ।
श्रद्दधे त्रिदशगोपमात्रके दाहशक्तिमिव कृष्णवर्त्मनि ॥४२॥

व्यादिदेश गणशोऽथ पार्श्वगान्कार्मुकाभिहरणाय मैथिलः ।
तैजसस्य धनुषः प्रवृत्तये तोयदानिव सहस्रलोचनः ॥४३॥

तत्प्रसुप्तभुजगेन्द्रभीषणं वीक्ष्य दाशरथिराददे धनुः ।
विद्रुतक्रतुमृगानुसारिणं येन बाणमसृजद्वृषध्वजः ॥४४॥

आततज्यमकरोत्स संसदा विस्मयस्तिमितनेत्रमीक्षितः ।
शैलसारमपि नातियत्नतः पुष्पचापमिव पेशलं स्मरः ॥४५॥

भज्यमानमतिमात्रकर्षणात्तेन वज्रपरुषस्वनं धनुः ।
भार्गवाय दृढमन्यवे पुनः क्षत्रमुद्यतमिव न्यवेदयत् ॥४६॥

दृष्टसारमथ रुद्रकार्मुके वीर्यशुल्कमभिनन्द्य मैथिलः ।
राघवाय तनयामयोनिजां रूपिणीं श्रियमिव न्यवेदयत् ॥४७॥

मैथिलः सपदि सत्यसङ्गरो राघवाय तनयामयोनिजाम् ।
संनिधौ द्युतिमतस्तपोनिधेरग्निसाक्षिक इवातिसृष्टवान् ॥४८॥

प्राहिणोच्च महितं महाद्युतिः कोशलाधिपतये पुरोधसम् ।
भृत्यभावि दुहितुः परिग्रहाद्दिश्यतां कुलमिदं निमेरिति ॥४९॥

अन्वियेष सदृशीं स च स्नुषां प्राप चैनमनुकूलवाग्द्विजः ।
सद्य एव सुकृतां हि पच्यते कल्पवृक्षफलधर्मि काङ्क्षितम् ॥५०॥

तस्य कल्पितपुरस्क्रियाविधेः शुश्रुवान्वचनमग्रजन्मनः ।
उच्चचाल वलभित्सखो वशी सैन्यरेणुमुषितार्कदीधितिः ॥५१॥

आससाद मिथिलां स वेष्टयन्पीडितोपवनपादपां बलैः ।
प्रीतिरोधमसहिष्ट सा पुरी स्त्रीव कान्तपरिभोगमायतम् ॥५२॥

तौ समेत्य समये स्थितावुभौ भूपती वरुणवासवोपमौ ।
कन्यकातनयकौतुकक्रियां स्वप्रभावसदृशीं वितेनतुः ॥५३॥

पार्थिवीमुदवहद्रघूद्वहो लक्ष्मणस्तदनुजामथोर्मिलाम् ।
यौ तयोरवरजौ वरौजसौ तौ कुशध्वजसुते सुमध्यमे ॥५४॥

ते चतुर्थसहितास्त्रयो बभुः सूनवो नववधूपरिग्रहाः ।
सामदानविधिभेदनिग्रहाः सिद्धिमन्त इव तस्य भूपतेः ॥५५॥

ता नराधिपसुता नृपात्मजैस्ते च ताभिरगमन्कृतार्थताम् ।
सोऽभवद्वरवधूसमागमः प्रत्ययप्रकृतियोगसंनिभः ॥५६॥

एवमात्तरतिरात्मसंभवाँस्तान्निवेश्य चतुरोऽपि तत्र सः ।
अध्वसु त्रिषु विसृष्टमैथिलः स्वां पुरीं दशरथो न्यवर्तत ॥५७॥

तस्य जातु मरुतः प्रतीपगा वर्त्मसु ध्वजतरुप्रमाथिनः ।
चिक्लिशुर्भृशतया वरूथिनीमुत्तटा इव नदीरयाः स्थलीम् ॥५८॥

लक्ष्यते स्म तदनन्तरं रविर्बद्धभीमपरिवेषमण्डलः ।
वैनतेयशमितस्य भोगिनो भोगवेष्टित इव च्युतो मणिः ॥५९॥

श्येनपक्षपरिधूसरालकाः सांध्यमेघरुधिरार्द्रवाससः ।
अङ्गना इव रजस्वला दिशो नो बभूवुरवलोकनक्षमाः ॥६०॥

भास्करश्च दिशमध्युवास यां तां श्रिताः प्रतिभयं ववासिरे ।
क्षत्रशोणितपितृक्रियोचितं चोदयन्त्य इव भार्गवं शिवाः ॥६१॥

तत्प्रतीपपवनादि वैकृतं प्रेक्ष्य शान्तिमधिकृत्य कृत्यवित् ।
अन्वयुङ्क्त गुरुमीश्वरः क्षितेः स्वन्तमित्यलघयत्स तद्व्यथाम् ६२

तेजसः सपदि राशिरुत्थितः प्रादुरास किल वाहिनीमुखे ।
यः प्रमृज्य नयनानि सैनिकैर्लक्षणीयपुरुषाकृतिश्चिरात् ॥६३॥

पित्र्यमंशमुपवीतलक्षणं मातृकं च धनुरूर्जितं दधत् ।
यः ससोम इव घर्मदीधितिः सद्विजिह्व इव चन्दनद्रुमः ॥६४॥

येन रोषपरुषात्मनः पितुः शासने स्थितिभिदोऽपि तस्थुषा ।
वेपमानजननीशिरश्छिदा प्रागजीयत घृणा ततो मही ॥६५॥

अक्षबीजवलयेन निर्बभौ दक्षिणश्रवणसंस्थितेन यः ।
क्षत्रियान्तकरणैकविंशतेर्व्याजपूर्वगणनामिवोद्वहन् ॥६६॥

तं पितुर्वधभवेन मन्युना राजवंशनिधनाय दीक्षितम् ।
बालसूनुरवलोक्य भार्गवं स्वां दशां च विषसाद पार्थिवः ॥६७॥

नाम राम इति तुल्यमात्मजे वर्तमानमहिते च दारुणे ।
हृद्यमस्य भयदायि चाभवद्रत्नजातमिव हारसर्पयोः ॥६८॥

अर्घ्यमर्घ्यमिति वादिनं नृपं सोऽनवेक्ष्य भरताग्रजो यतः ।
क्षत्रकोपदहनार्चिषं ततः संदधे दृशमुदग्रतारकाम् ॥६९॥

तेन कार्मुकनिषक्तमुष्टिना राघवो विगतभीः पुरोगतः ।
अङ्गुलीविवरचारिणं शरं कुर्वता निजगदे युयुत्सुना ॥७०॥

क्षत्रजातमपकारवैरि मे तन्निहत्य बहुशः शमं गतः ।
सुप्तसर्प इव दण्डघट्टनाद्रोषितोऽस्मि तव विक्रमश्रवात् ॥७१॥

मैथिलस्य धनुरन्यपार्थिवैस्त्वं किलानमितपूर्वमक्षणोः ।
तन्निशम्य भवता समर्थये वीर्यशृङ्गमिव भग्नमात्मनः ॥७२॥

अन्यदा जगति राम इत्ययं शब्द उच्चरित एव मामगात् ।
व्रीडमावहति मे स संप्रति व्यस्तवृत्तिरुदयोन्मुखे त्वयि ॥७३॥

बिभ्रतोऽस्त्रमचलेऽप्यकुण्ठितं द्वौ रिपू मम मतौ समागसौ ।
धेनुवत्सहरणाच्च हैहयस्त्वं च कीर्तिमपहर्तुमुद्यतः ॥७४॥

क्षत्रियान्तकरणोऽपि विक्रमस्तेन मामवति नाजिते त्वयि ।
पावकस्य महिमा स गण्यते कक्षवज्ज्वलति सागरेऽपि यः ॥७५॥

विद्धि चात्तबलमोजसा हरेरैश्वरं धनुरभाजि यत्त्वया ।
खातमूलमनिलो नदीरयैः पातयत्यपि मृदुस्तटद्रुमम् ॥७६॥

तन्मदीयमिदमायुधं ज्यया सङ्गमय्य सशरं विकृष्यताम् ।
तिष्ठतु प्रधनमेवमप्यहं तुल्यबाहुतरसा जितस्त्वया ॥७७॥

कातरोऽसि यदि वोद्गतार्चिषा तर्जितः परशुधारया मम ।
ज्यानिघातकठिनाङ्गुलिर्वृथा बध्यतामभययाचनाञ्जलिः ॥७८॥

एवमुक्तवति भीमदर्शने भार्गवे स्मितविकम्पिताधरः ।
तद्धनुर्ग्रहणमेव राघवः प्रत्यपद्यत समर्थमुत्तरम् ॥७९॥

पूर्वजन्मधनुषा समागतः सोऽतिमात्रलघुदर्शनोऽभवत् ।
केवलोऽपि सुभगो नवाम्बुदः किं पुनस्त्रिदशचापलाञ्छितः ॥८०॥

तेन भूमिनिहितैककोटि तत्कार्मुकं च बलिनाधिरोपितम् ।
निष्प्रभश्च रिपुरास भूभृतां धूमशेष इव धूमकेतनः ॥८१॥

तावुभावपि परस्परस्थितौ वर्धमानपरिहीनतेजसौ ।
पश्यति स्म जनता दिनात्यये पार्वणौ शशिदिवाकराविव ॥८२॥

तं कृपामृदुरवेक्ष्य भार्गवं राघवः स्खलितवीर्यमात्मनि ।
स्वं च संहितममोघमाशुगं व्याजहार हरसूनुसंनिभः ॥८३॥

न प्रहर्तुमलमस्मि निर्दयं विप्र इत्यभिभवत्यपि त्वयि ।
शंस किं गतिमनेन पत्रिणा हन्मि लोकमुत ते मखार्जितम् ॥८४॥

प्रत्युवाच तमृषिर्न तत्त्वतस्त्वां न वेद्मि पुरुषं पुरातनम् ।
गां गतस्य तव धाम वैष्णवं कोपितो ह्यसि मया दिदृक्षुणा ॥८५॥

भस्मसात्कृतवतः पितृद्विषः पात्रसाच्च वसुधां ससागराम् ।
आहितो जयविपर्ययोऽपि मे श्लाघ्य एव परमेष्ठिना त्वया ॥८६॥

तद्गतिं मतिमतां वरेप्सितां पुण्यतीर्थगमनाय रक्ष मे ।
पीडयिष्यति न मां खिलीकृता स्वर्गपद्धतिरभोगलोलुपम् ॥८७॥

प्रत्यपद्यत तथेति राघवः प्राङ्मुखश्च विससर्ज सायकम् ।
भार्गवस्य सुकृतोऽपि सोऽभवत्स्वर्गमार्गपरिघो दुरत्ययः ॥८८॥

राघवोऽपि चरणौ तपोनिधेः क्षम्यतामिति वदन्समस्पृशत् ।
निर्जितेषु तरसा तरस्विनां शत्रुषु प्रणतिरेव कीर्तये ॥८९॥

राजसत्वमवधूय मातृकं पित्र्यमस्मि गमितः शमं यदा ।
नन्वनिन्दितफलो मम त्वया निग्रहोऽप्ययमनुग्रहीकृतः ॥९०॥

साधयाम्यहमविघ्नमस्तु ते देवकार्यमुपपादयिष्यतः ।
ऊचिवानिति वचः सलक्ष्मणं लक्ष्मणाग्रजमृषिस्तिरोदधे ॥९१॥

तस्मिन्गते विजयिनं परिरभ्य रामं स्नेहादमन्यत पिता पुनरेव जातम् ।
तस्याभवत्क्षणशुचः परितोषलाभः कक्षाग्निलङ्घिततरोरिव वृष्टिपातः ॥

अथ पथि गमयित्वा क्लृप्तरम्योपकार्ये
कतिचिदवनिपालः शर्वरीः शर्वकल्पः ।
पुरमविशदयोध्यां मैथिलीदर्शिनीनां
कुवलयितगवाक्षां लोचनैरङ्गनानाम् ॥९३॥

इति महाकवि श्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
सीताविवाहवर्णनो नामैकादशः सर्गः ॥

द्वादशः सर्गः

निर्विष्टविषयस्नेहः स दशान्त मुपेयिवान् ।
आसीदासन्ननिर्वाणः प्रदीपार्चिरिवोषसि ॥ १ ॥

तं कर्णमूलमागत्य रामे श्रीर्न्यस्यतामिति ।
कैकेयीशङ्कयेवाह पलितच्छद्मना जरा ॥ २ ॥

सा पौरान्पौरकान्तस्य रामस्याभ्युदयश्रुतिः ।
प्रत्येकं ह्लादयांचक्रे कुल्येवोद्यानपादपान् ॥ ३ ॥

तस्याभिषेकसंभारं कल्पितं क्रूरनिश्चया ।
दूषयामास कैकेयी शोकोष्णैः पार्थिवाश्रुभिः ॥ ४ ॥

सा किलाश्वासिता चण्डी भर्त्रा तत्संश्रुतौ वरौ ।
उद्ववामेन्द्रसिक्ता भूर्बिलमग्नाविवोरगौ ॥ ५ ॥

तयोश्चतुर्दशैकेन रामं प्राव्राजयत्समाः ।
द्वितीयेन सुतस्यैच्छद्वैधव्यैकफलां श्रियम् ॥ ६ ॥

पित्रा दत्तां रुदन्रामः प्राङ्महीं प्रत्यपद्यत ।
पश्चाद्वनाय गच्छेति तदाज्ञां मुदितोऽग्रहीत् ॥ ७ ॥

दधतो मङ्गलक्षौमे वसानस्य च वल्कले ।
ददृशुर्विस्मितास्तस्य मुखरागं समं जनाः ॥ ८ ॥

स सीतालक्ष्मणसखः सत्याद्गुरुमलोपयन् ।
विवेश दण्डकारण्यं प्रत्येकं च सतां मनः ॥ ९ ॥

राजाऽपि तद्वियोगार्तः स्मृत्वा शापं स्वकर्मजम् ।
शरीरत्यागमात्रेण शुद्धिलाभममन्यत ॥१०॥

विप्रोषितकुमारं तद्राज्यमस्तमितेश्वरम् ।
रन्ध्रान्वेषणदक्षाणां द्विषामामिषतां ययौ ॥११॥

अथानाथाः प्रकृतयो मातृबन्धुनिवासिनम् ।
मौलैरानाययामासुर्भरतं स्तम्भिताश्रुभिः ॥१२॥

श्रुत्वा तथाविधं मृत्युं कैकेयीतनयः पितुः ।
मातुर्न केवलं स्वस्याः श्रियोऽप्यासीत्पराङ्मुखः ॥१३॥

ससैन्यश्चान्वगाद्रामं दर्शितानाश्रमालयैः ।
तस्य पश्यन्ससौमित्रेरुदश्रुर्वसतिद्रुमान् ॥१४॥

चित्रकूटवनस्थं च कथितस्वर्गतिर्गुरोः ।
लक्ष्म्या निमन्त्रयांचक्रे तमनुच्छिष्टसंपदा ॥१५॥

स हि प्रथमजे तस्मिन्नकृतश्रीपरिग्रहे ।
परिवेत्तारमात्मानं मेने स्वीकरणाद्भुवः ॥१६॥

तमशक्यमपाक्रष्टुं निदेशात्स्वर्गिणः पितुः ।
ययाचे पादुके पश्चात्कर्तुं राज्याधिदेवते ॥१७॥

स विसृष्टस्तथेत्युक्त्वा भ्रात्रा नैवाविशत्पुरीम् ।
नन्दिग्राममगतस्तस्य राज्यं न्यासमिवाभुनक् ॥१८॥

दृढभक्तिरिति ज्येष्ठे राज्यतृष्णापराङ्मुखः ।
मातुः पापस्य भरतः प्रायश्चित्तमिवाकरोत् ॥१९॥

रामोऽपि सह वैदेह्या वने वन्येन वर्तयन् ।
चचार सानुजः शान्तो वृद्धेक्ष्वाकुव्रतं युवा ॥२०॥

प्रभावस्तम्भितच्छायमाश्रितः स वनस्पतिम् ।
कदाचिदङ्के सीतायाः शिश्ये किंचिदिव श्रमात् ॥२१॥

ऐन्द्रिः किल नखैस्तस्या विददार स्तनौ द्विजः ।
प्रियोपभोगचिह्नेषु पौरोभाग्यमिवाचरन् ॥२२॥

तस्मिन्नास्थदिषीकास्त्रं रामो रामावबोधितः ।
आत्मानं मुमुचे तस्मादेकनेत्रव्ययेन सः ॥२३॥

रामस्त्वासन्नदेशत्वाद्भरतागमनं पुनः ।
आशङ्क्योत्सुकसारङ्गां चित्रकूटस्थलीं जहौ ॥२४॥

प्रययावातिथेयेषु वसन्नृषिकुलेषु सः ।
दक्षिणां दिशमृक्षेषु वार्षिकेष्विव भास्करः ॥२५॥

बभौ तमनुगच्छन्ती विदेहाधिपतेः सुता ।
प्रतिषिद्धापि कैकेय्या लक्ष्मीरिव गुणोन्मुखी ॥२६॥

अनसूयातिसृष्टेन पुण्यगन्धेन काननम् ।
सा चकाराङ्गरागेण पुष्पोच्चलितषट्पदम् ॥२७॥

संध्याभ्रकपिशस्तस्य विराधो नाम राक्षसः ।
अतिष्ठन्मार्गमावृत्य रामस्येन्दोरिव ग्रहः ॥२८॥

स जहार तयोर्मध्ये मैथिलीं लोकशोषणः ।
नभोनभस्ययोर्वृष्टिमवग्रह इवान्तरे ॥२९॥

तं विनिष्पिष्य काकुत्स्थौ पुरा दूषयति स्थलीम् ।
गन्धेनाशुचिना चेति वसुधायां निचख्नतुः ॥३०॥

पञ्चवट्यां ततो रामः शासनात्कुम्भजन्मनः ।
अनपोढस्थितिस्तस्थौ विन्ध्याद्रिः प्रकृताविव ॥३१॥

रावणावरजा तत्र राघवं मदनातुरा ।
अभिपेदे निदाघार्ता व्यालीव मलयद्रुमम् ॥३२॥

सा सीतासंनिधावेव तं वव्रे कथितान्वया ।
अत्यारूढो हि नारीणामकालज्ञो मनोभवः ॥३३॥

कलत्रवानहं बाले कनीयांसं भजस्व मे ।
इति रामो वृषस्यन्तीं वृषस्कन्धः शशास ताम् ॥३४॥

ज्येष्ठाभिगमनात्पूर्वं तेनाप्यनभिनन्दिता ।
साभूद्रामाश्रया भूयो नदीवोभयकूलभाक् ॥३५॥

संरम्भं मैथिलीहासः क्षणसौम्यां निनाय ताम् ।
निवातस्तिमितां वेलां चन्द्रोदय इवोदधेः ॥३६॥

फलमस्योपहासस्य सद्यः प्राप्स्यति पश्य माम् ।
मृग्या परिभवो व्याघ्र्यामित्यवेहि त्वया कृतम् ॥३७॥

इत्युक्त्वा मैथिली भर्तुरङ्के निविशती भयात् ।
रूपं शूर्पणखा नाम्नः सदृशं प्रत्यपद्यत ॥३८॥

लक्ष्मणः प्रथमं श्रुत्वा कोकिलामञ्जुवादिनीम् ।
शिवाघोरस्वनां पश्चाद्बुबुधे विकृतेति ताम् ॥३९॥

पर्णशालामथ क्षिप्रं विकृष्टासिः प्रविश्य सः ।
वैरूप्यपौनरुक्त्येन भीषणां तामयोजयत् ॥४०॥

सा वक्रनखधारिण्या वेणुकर्कशपर्वया ।
अङ्कुशाकारयाङ्गुल्या तावतर्जयदम्बरे ॥४१॥

प्राप्य चाशु जनस्थानं खरादिभ्यस्तथाविधम् ।
रामोपक्रममाचख्यौ रक्षःपरिभवं नवम् ॥४२॥

मुखावयवलूनां तां नैर्ऋता यत्पुरो दधुः ।
रामाभियायिनां तेषां तदेवाभूदमङ्गलम् ॥४३॥

उदायुधानापततस्तान्दृप्तान्प्रेक्ष्य राघवः ।
निदधे विजयाशंसां चापे सीतां च लक्ष्मणे ॥४४॥

एको दाशरथिः कामं यातुधानाः सहस्रशः ।
ते तु यावन्त एवाजौ तावांश्च ददृशे स तैः ॥४५॥

असज्जने काकुत्स्थः प्रयुक्तमथ दूषणम् ।
न चक्षमे शुभाचारः स दूषणमिवात्मनः ॥४६॥

तं शरैः प्रतिजग्राह खरत्रिशिरसौ च सः ।
क्रमशस्ते पुनस्तस्य चापात्सममिवोद्ययुः ॥४७॥

तैस्त्रयाणां शितैर्बाणैर्यथापूर्वविशुद्धिभिः ।
आयुर्देहातिगैः पीतं रुधिरं तु पतत्रिभिः ॥४८॥

तस्मिन्रामशरोत्कृत्ते बले महति रक्षसाम् ।
उत्थितं ददृशेऽन्यच्च कबन्धेभ्यो न किंचन ॥४९॥

सा बाणवर्षिणं रामं योधयित्वा सुरद्विषाम् ।
अप्रबोधाय सुष्वाप गृध्रच्छाये वरूथिनी ॥५०॥

राघवास्त्रविदीर्णानां रावणं प्रति रक्षसाम् ।
तेषां शूर्पणखैवैका दुष्प्रवृत्तिहराऽभवत् ॥५१॥

निग्रहात्स्वसुराप्तानां वधाच्च धनदानुजः ।
रामेण निहितं मेने पदं दशसु मूर्धसु ॥५२॥

रक्षसा मृगरूपेण वञ्चयित्वा स राघवौ ।
जहार सीतां पक्षीन्द्रप्रयासक्षणविघ्नितः ॥५३॥

तौ सीतान्वेषिणौ गृध्रं लूनपक्षमपश्यताम् ।
प्राणैर्दशरथप्रीतेरनृणं कण्ठवर्तिभिः ॥५४॥

स रावणहृतां ताभ्यां वचसाचष्ट मैथिलीम् ।
आत्मनः सुमहत्कर्म व्रणैरावेद्य संस्थितः ॥५५॥

तयोस्तस्मिन्नवीभूतपितृव्यापत्तिशोकयोः ।
पितरीवाग्निसंस्कारात्परा ववृतिरे क्रियाः ॥५६॥

वधनिर्धूतशापस्य कबन्धस्योपदेशतः ।
मुमूर्च्छ सख्यं रामस्य समानव्यसने हरौ ॥५७॥

स हत्वा वालिनं वीरस्तत्पदे चिरकाङ्क्षिते ।
धातोः स्थान इवादेशं सुग्रीवं संन्यवेशयत् ॥५८॥

इतस्ततश्च वैदेहीमन्वेष्टुं भर्तृचोदिताः ।
कपयश्चेरुरार्तस्य रामस्येव मनोरथाः ॥५९॥

प्रवृत्तावुपलब्धायां तस्याः संपातिदर्शनात् ।
मारुतिः सागरं तीर्णः संसारमिव निर्ममः ॥६०॥

दृष्टा विचिन्वता तेन लङ्कायां राक्षसीवृता ।
जानकी विषवल्लीभिः परीतेव महौषधिः ॥६१॥

तस्य भर्तुरभिज्ञानमङ्गुलीयं ददौ कपिः ।
प्रत्युद्गतमिवानुष्णैस्तदानन्दाश्रुबिन्दुभिः ॥६२॥

निर्वाप्य प्रियसंदेशैः सीतामक्षवधोद्धतः ।
स ददाह पुरीं लङ्कां क्षणसोढारिनिग्रहः ॥६३॥

प्रत्यभिज्ञानरत्नं च रामायादर्शयत्कृती ।
हृदयं स्वयमायातं वैदेह्या इव मूर्तिमत् ॥६४॥

स प्राप हृदयन्यस्तमणिस्पर्शनिमीलितः ।
अपयोधरसंसर्गां प्रियालिङ्गननिर्वृतिम् ॥६५॥

श्रुत्वा रामः प्रियोदन्तं मेने तत्सङ्गमोत्सुकः ।
महार्णवपरिक्षेपं लङ्कायाः परिखालघुम् ॥६६॥

स प्रतस्थेऽरिनाशाय हरिसैन्यैरनुद्रुतः ।
न केवलं भुवः पृष्ठे व्योम्नि संबाधवर्त्मभिः ॥६७॥

निविष्टमुदधेः कूले तं प्रपेदे विभीषणः ।
स्नेहाद्राक्षसलक्ष्म्येव बुद्धिमादिश्य चोदितः ॥६८॥

तस्मै निशाचरैश्वर्यं प्रतिशुश्राव राघवः ।
काले खलु समारब्धाः फलं बध्नन्ति नीतयः ॥६९॥

स सेतुं बन्धयामास प्लवगैर्लवणाम्भसि ।
रसातलादिवोन्मग्नं शेषं स्वप्नाय शार्ङ्गिणः ॥७०॥

तेनोत्तीर्य पथा लङ्कां रोधयामास पिङ्गलैः ।
द्वितीयं हेमप्राकारं कुर्वद्भिरिव वानरैः ॥७१॥

रणः प्रववृते तत्र भीमः प्लवगरक्षसाम् ।
दिग्विजृम्भितकाकुत्स्थपौलस्त्यजयघोषणः ॥७२॥

पादपाविद्धपरिघः शिलानिष्पिष्टमुद्गरः ।
अतिशस्त्रनखन्यासः शैलरुग्णमतंगजः ॥७३॥

अथ रामशिरश्छेददर्शनोद्भ्रान्तचेतनाम् ।
सीतां मायेति शंसन्ती त्रिजटा समजीवयत् ॥७४॥

कामं जीवति मे नाथ इति सा विजहौ शुचम् ।
प्राङ्मत्वा सत्यमस्यान्तं जीवितास्मीति लज्जिता ॥७५॥

गरुडापातविश्लिष्टमेघनादास्त्रबन्धनः ।
दाशरथ्योः क्षणक्लेशः स्वप्नवृत्त इवाभवत् ॥७६॥

ततो बिभेद पौलस्त्यः शक्त्या वक्षसि लक्ष्मणम् ।
रामस्त्वनाहतोऽप्यासीद्विदीर्णहृदयः शुचा ॥७७॥

स मारुतिसमानीतमहौषधिहृतव्यथः ।
लङ्कास्त्रीणां पुनश्चक्रे विलापाचार्यकं शरैः ॥७८॥

स नादं मेघनादस्य धनुश्चेन्द्रायुधप्रभम् ।
मेघस्येव शरत्कालो न किंचित्पर्यशेषयत् ॥७९॥

कुम्भकर्णः कपीन्द्रेण तुल्यावस्थः स्वसुः कृतः ।
रुरोध रामं शृङ्गीव टङ्कच्छिन्नमनःशिलः ॥८०॥

अकाले बोधितो भ्रात्रा प्रियस्वप्नो वृथा भवान् ।
रामेषुभिरितीवासौ दीर्घनिद्रां प्रवेशितः ॥८१॥

इतराण्यपि रक्षांसि पेतुर्वानरकोटिषु ।
रजांसि समरोत्थानि तच्छोणितनदीष्विव ॥८२॥

निर्ययावथ पौलस्त्य पुनर्युद्धाय मन्दिरात् ।
अरावणमरामं वा जगदद्येति निश्चितः ॥८३॥

रामं पदातिमालोक्य लङ्केशं च वरूथिनम् ।
हरियुग्यं रथं तस्मै प्रजिघाय पुरंदरः ॥८४॥

तमाधूतध्वजपटं व्योमगङ्गोर्मिवायुभिः ।
देवसूतभुजालम्बी जैत्रमध्यास्त राघवः ॥८५॥

मातलिस्तस्य माहेन्द्रमामुमोच तनुच्छदम् ।
यत्रोत्पलदलक्लैब्यमस्त्राण्यापुः सुरद्विषाम् ॥८६॥

अन्योन्यदर्शनप्राप्तविक्रमावसरं चिरात् ।
रामरावणयोर्युद्धं चरितार्थमिवाभवत् ॥८७॥

भुजमूर्धोरुबाहुल्यादेकोऽपि धनदानुजः ।
ददृशे ह्ययथापूर्वो मातृवंश इव स्थितः ॥८८॥

जेतारं लोकपालानां स्वमुखैरर्चितेश्वरम् ।
रामस्तुलितकैलासमरातिं बह्वमन्यत ॥८९॥

तस्य स्फुरति पौलस्त्यः सीतासंगमशंसिनि ।
निचखानाधिकक्रोधः शरं सव्येतरे भुजे ॥९०॥

रावणस्यापि रामास्तो भित्त्वा हृदयमाशुगः ।
विवेश भुवमाख्यातुमुरगेभ्य इव प्रियम् ॥९१॥

वचसैव तयोर्वाक्यमस्त्रमस्त्रेण निघ्नतोः ।
अन्योन्यजयसंरम्भो ववृधे वादिनोरिव ॥९२॥

विक्रमव्यतिहारेण सामान्याभूद्द्वयोरपि ।
जयश्रीरन्तरा वेदिर्मत्तवारणयोरिव ॥९३॥

कृतप्रतिकृतप्रीतैस्तयोर्मुक्तां सुरासुरैः ।
परस्परशरव्राताः पुष्पवृष्टिं न सेहिरे ॥९४॥

अयः शंकुचितां रक्षः शतघ्नीमथ शत्रवे ।
हृतां वैवस्वतस्येव कूटशाल्मलिमक्षिपत् ॥९५॥

राघवो रथमप्राप्तां तामाशां च सुरद्विपाम् ।
अर्धचन्द्रमुखैर्बाणैश्चिच्छेद कदलीसुखम् ॥९६॥

अमोघं संदधे चास्मै धनुष्येकधनुर्धरः ।
ब्राह्ममस्त्रं प्रियाशोकशल्यनिष्कर्षणौषधम् ॥९७॥

तद्व्योम्नि शतधा भिन्नं ददृशे दीप्तिमन्मुखम् ।
वपुर्महोरगस्येव करालफणमण्डलम् ॥९८॥

तेन मन्त्रप्रयुक्तेन निमेषार्धादपातयत् ।
स रावणशिरःपङ्क्तिमज्ञातव्रणवेदनाम् ॥९९॥

बालार्कप्रतिमेवाप्सु वीचिभिन्ना पतिष्यतः ।
रराज रक्षःकायस्य कण्ठच्छेदपरम्परा ॥१००॥

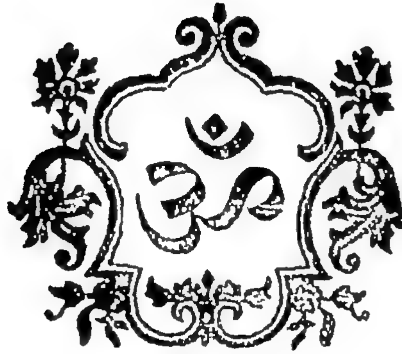
मरुतां पश्यतां तस्य शिरांसि पतितान्यपि ।
मनो नातिविशश्वास पुनःसंधानशङ्किनाम् ॥१०१॥

अथ मदगुरुपक्षैर्लोकपालद्विपाना-
मनुगतमलिवृन्दैर्गण्डभित्तीर्विहाय ।
उपनतमणिबन्धे मूर्ध्नि पौलस्त्यशत्रोः
सुरभि सुरविमुक्तं पुष्पवर्षं पपात ॥१०२॥

यन्ता हरेः सपदि संहृतकार्मुकज्य-
मापृच्छ्य राघवमनुष्ठितदेवकार्यम् ।
नामाङ्करावणशराङ्कितकेतुयष्टि-
मूर्ध्वं रथं हरिसहस्रयुजं निनाय ॥१०३॥

रघुपतिरपि जातवेदोविशुद्धां प्रगृह्य प्रियां
प्रियसुहृदि विभीषणे संगमय्य श्रियं वैरिणः।
रविसुतसहितेन तेनानुयातः ससौमित्रिणा
भुजविजितविमानरत्नाधिरूढः प्रतस्थे पुरीम् ॥१०४॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
रावणवधो नाम द्वादशः सर्गः ॥



त्रयोदशः सर्गः

अथात्मनः शब्दगुणं गुणज्ञः पदं विमानेन विगाहमानः ।
रत्नाकरं वीक्ष्य मिथः स जायां रामाभिधानो हरिरित्युवाच ॥१॥

वैदेहि पश्यामलयाद्विभक्तं मत्सेतुना फेनिलमम्बुराशिम् ।
छायापथेनेव शरत्प्रसन्नमाकाशमाविष्कृतचारुतारम् ॥२॥

गुरोर्यियक्षोः कपिलेन मेध्ये रसातलं संक्रमिते तुरंगे ।
तदर्थमुर्वीमवदारयद्भिः पूर्वैः किलायं परिवर्धितो नः ॥३॥

गर्भं दधत्यर्कमरीचयोऽस्माद्विवृद्धिमत्राश्नुवते वसूनि ।
अबिन्धनं वह्निमसौ बिभर्ति प्रह्लादनं ज्योतिरजन्यनेन ॥४॥

तां तामवस्थां प्रतिपद्यमानं स्थितं दश व्याप्य दिशो महिम्ना ।
विष्णोरिवास्यानवधारणीयमीदृक्तया रूपमियत्तया वा ॥५॥

नाभिप्ररूढाम्बुरुहासनेन संस्तूयमानः प्रथमेन धात्रा ।
अमुं युगान्तोचितयोगनिद्रः संहृत्य लोकान्पुरुषोऽधिशेते ॥६॥

पक्षच्छिदा गोत्रभिदात्तगन्धाः शरण्यमेनं शतशो महीध्राः ।
नृपा इवोपप्लविनः परेभ्यो धर्मोत्तरं मध्यममाश्रयन्ते ॥७॥

रसातलादादिभवेन पुंसा भुवः प्रयुक्तोद्वहनक्रियायाः ।
अस्याच्छमम्भः प्रलयप्रवृद्धं मुहूर्तवक्त्राभरणं बभूव ॥८॥

मुखार्पणेषु प्रकृतिप्रगल्भाः स्वयं तरङ्गाधरदानदक्षः ।
अनन्यसामान्यकलत्रवृत्तिः पिबत्यसौ पाययते च सिन्धूः ॥९॥

ससत्त्वमादाय नदीमुखाम्भः संमीलयन्तो विवृताननत्वात् ।
अमी शिरोभिस्तिमयः सरन्ध्रैरूर्ध्वं वितन्वन्ति जलप्रवाहान् ॥१०॥

मातङ्गनक्रैः सहसोत्पतद्भिर्भिन्नान्द्विधा पश्य समुद्रफेनान् ।
कपोलसंसर्पितया य एषां व्रजन्ति कर्णक्षणचामरत्वम् ॥११॥

वेलानिलाय प्रसृता भुजङ्गा महोर्मिविस्फूर्जथुनिर्विशेषाः ।
सूर्यांशुसंपर्कसमृद्धरागैर्व्यज्यन्त एते मणिभिः फणस्थैः ॥१२॥

तवाधरस्पर्धिषु विद्रुमेषु पर्यस्तमेतत्सहसोर्मिवेगात् ।
ऊर्ध्वाङ्कुरप्रोतमुखं कथंचित्क्लेशादपक्रामति शङ्खयूथम् ॥१३॥

प्रवृत्तमात्रेण पयांसि पातुमावर्तवेगाद्भ्रमता घनेन ।
आभाति भूयिष्ठमयं समुद्रः प्रमथ्यमानो गिरिणेव भूयः ॥१४॥

दूरादयश्चक्रनिभस्य तन्वी तमालतालीवनराजिनीला ।
आभाति वेला लवणाम्बुराशेर्धारानिबद्धेव कलङ्करेखा ॥१५॥

वेलानिलः केतकरेणुभिस्ते संभावयत्याननमायताक्षि ।
मामक्षमं मण्डनकालहानेर्वेत्तीव बिम्बाधरबद्धतृष्णम् ॥१६॥

एते वयं सैकतभिन्नशुक्तिपर्यस्तमुक्तापटलं पयोधेः ।
प्राप्ता मुहूर्तेन विमानवेगात्कूलं फलावर्जितपूगमालम् ॥१७॥

कुरुष्व तावत्करभोरु पश्चान्मार्गे मृगप्रेक्षिणि दृष्टिपातम् ।
एषा विदूरीभवतः समुद्रात्सकानना निष्पततीव भूमिः ॥१८॥

क्वचित्पथा संचरते सुराणां क्वचिद्घनानां पततां क्वचिच्च।
यथाविधो मे मनसोऽभिलाषः प्रवर्तते पश्य तथा विमानम् ॥१९॥

असौ महेन्द्रद्विपदानगन्धिस्त्रिमार्गगावीचिविमर्दशीतः ।
आकाशवायुर्दिनयौवनोत्थानाचामति स्वेदलवान्मुखे ते ॥२०॥

करेण वातायनलम्बितेन स्पृष्टस्त्वया चण्डि कुतूहलिन्या ।
आमुञ्चतीवाभरणं द्वितीयमुद्भिन्नविद्युद्वलयो घनस्ते ॥२१॥

अमी जनस्थानमपोढविघ्नं मत्वा समारब्धनवोटजानि ।
अध्यासते चीरभृतो यथास्वं चिरोज्झितान्याश्रममण्डलानि ॥२२॥

सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम् ।
अदृश्यत त्वच्चरणारविन्दविश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम् ॥२३॥

त्वं रक्षसा भीरु यतोऽपनीता तं मार्गमेताः कृपया लता मे ।
अदर्शयन्वक्तुमशक्नुवत्यः शाखाभिरावर्जितपल्लवाभिः ॥२४॥

मृग्यश्च दर्भाङ्कुरनिर्व्यपेक्षास्तवागतिज्ञं समबोधयन्माम् ।
व्यापारयन्त्यो दिशि दक्षिणस्यामुत्पक्ष्मराजीनि विलोचनानि॥२५॥

एतद्गिरेर्माल्यवतः पुरस्तादाविर्भवत्यम्बरलेखि शृङ्गम् ।
नवं पयो यत्र घनैर्मया च त्वद्विप्रयोगाश्रु समं विसृष्टम् ॥२६॥

गन्धश्च धाराहतपल्वलानां कादम्बमर्धोद्गतकेसरं च ।
स्निग्धाश्च केकाः शिखिनां बभूवुर्यस्मिन्नसह्यानि विना त्वया मे॥२७॥

पूर्वानुभूतं स्मरता च यत्र कम्पोत्तरं भीरु तवोपगूढम् ।
गुहाविसारीण्यतिवाहितानि मया कथंचिद्घनगर्जितानि ॥२८॥

आसारसिक्तक्षितिबाष्पयोगान्मामक्षिणोद्यत्र विभिन्नकोशैः ।
विडम्ब्यमाना नवकन्दलैस्ते विवाहधूमारुणलोचनश्रीः ॥२९॥

उपान्तवानीरवनोपगूढान्यालक्ष्यपारिप्लवसारसानि ।
दूरावतीर्णा पिबतीव खेदादमूनि पम्पासलिलानि दृष्टिः ॥३०॥

अत्रावियुक्तानि रथाङ्गनाम्नामन्योन्यदत्तोत्पलकेसराणि ।
द्वन्द्वानि दूरान्तरवर्तिना ते मया प्रिये सस्पृहमीक्षितानि ॥३१॥

इमां तटाशोकलतां च तन्वीं स्तनाभिरामस्तबकाभिनम्राम् ।
त्वत्प्राप्तिबुद्ध्या परिरब्धुकामः सौमित्रिणा साश्रुरहं निषिद्धः ॥३२॥

अमूर्विमानान्तरलम्बिनीनां श्रुत्वा स्वनं काञ्चनकिङ्किणीनाम् ।
प्रत्युद्व्रजन्तीव खमुत्पतन्त्यो गोदावरीसारसपङ्क्तयस्त्वाम् ॥३३॥

एषा त्वया पेशलमध्ययापि घटाम्बुसंवर्धितबालचूता ।
आनन्दयत्युन्मुखकृष्णसारा दृष्टा चिरात्पञ्चवटी मनो मे ॥३४॥

अत्रानुगोदं मृगयानिवृत्तस्तरंगवातेन विनीतखेदः ।
रहस्त्वदुत्सङ्गनिषण्णमूर्धा स्मरामि वानीरगृहेषु सुप्तः ॥३५॥

भ्रूभेदमात्रेण पदान्मघोनः प्रभ्रंशयां यो नहुषं चकार ।
तस्याविलाम्भः परिशुद्धिहेतोर्भौमो मुनेः स्थानपरिग्रहोऽयम् ॥३६॥

त्रेताग्निधूमाग्रमनिन्द्यकीर्तेस्तस्येदमाक्रान्तविमानमार्गम् ।
घ्रात्वा हविर्गन्धि रजोविमुक्तः समश्नुते मे लघिमानमात्मा ॥३७॥

एतन्मुनेर्मानिनि शातकर्णेः पञ्चाप्सरो नाम विहारवारि ।
आभाति पर्यन्तवनं विदूरान्मेघान्तरालक्ष्यमिवेन्दुबिम्बम् ॥३८॥

पुरा स दर्भाङ्कुरमात्रवृत्तिश्चरन्मृगैः सार्धमृषिर्मघोना ।
समाधिभीतेन किलोपनीतः पञ्चाप्सरोयौवनकूटबन्धम् ॥३९॥

तस्यायमन्तर्हितसौधभाजः प्रसक्तसंगीतमृदङ्गघोषः ।
वियद्गतः पुष्पकचन्द्रशालाः क्षणं प्रतिश्रुन्मुखराः करोति ॥४०॥

हविर्भुजामेधवतां चतुर्णां मध्ये ललाटंतपसप्तसप्तिः ।
असौ तपस्यत्यपरस्तपस्वी नाम्ना सुतीक्ष्णश्चरितेन दान्तः ॥४१॥

अमुं सहासप्रहितेक्षणानि व्याजार्धसंदर्शितमेखलानि ।
नालं विकर्तुं जनितेन्द्रशङ्कं सुराङ्गनाविभ्रमचेष्टितानि ॥४२॥

एषोऽक्षमालावलयं मृगाणां कण्डूयितारं कुशसूचिलावम् ।
सभाजने मे भुजमूर्ध्वबाहुः सव्येतरं प्राध्वमितः प्रयुङ्क्ते ॥४३॥

वाचंयमत्वात्प्रणतिं ममैष कम्पेन किंचित्प्रतिगृह्य मूर्ध्नः ।
दृष्टि विमानव्यवधानमुक्तां पुनः सहस्रार्चिषि संनिधत्ते ॥४४॥

अदः शरण्यं शरभङ्गनाम्नस्तपोवनं पावनमाहिताग्नेः ।
चिराय संतर्प्य समिद्भिरग्निं यो मन्त्रपूतां तनुमप्यहौषीत् ॥४५॥

छायाविनीताध्वपरिश्रमेषु भूयिष्ठसंभाव्यफलेष्वमीषु ।
तस्यातिथीनामधुना सपर्या स्थिता सुपुत्रेष्विव पादपेषु ॥४६॥

धारास्वनोद्गारिदरीमुखोऽसौ शृङ्गाग्रलग्नाम्बुदवप्रपङ्कः ।
बध्नाति मे बन्धुरगात्रि चक्षुर्दृप्तः ककुद्मानिव चित्रकूटः ॥४७॥

एषा प्रसन्नस्तिमितप्रवाहा सरिद्विदूरान्तरभावतन्वी ।
मन्दाकिनी भाति नगोपकण्ठे मुक्तावली कण्ठगतेव भूमेः ॥४८॥

अयं सुजातोऽनुगिरं तमालः प्रवालमादाय सुगन्धि यस्य ।
यवाङ्कुरापाण्डुकपोलशोभी मयावतंसः परिकल्पितस्ते ॥४९॥

अनिग्रहत्रासविनीतसत्त्वमपुष्पलिङ्गात्फलबन्धिवृक्षम् ।
वनं तपःसाधनमेतदत्रेराविष्कृतोदग्रतरप्रभावम् ॥५०॥

अत्राभिषेकाय तपोधनानां सप्तर्षिहस्तोद्धृतहेमपद्माम् ।
प्रवर्तयामास किलानसूया त्रिस्रोतसं त्र्यम्बकमौलिमालाम् ॥५१॥

वीरासनैर्ध्यानजुषामृषीणाममी समध्यासितवेदिमध्याः ।
निवातनिष्कम्पतया विभान्ति योगाधिरूढा इव शाखिनोऽपि ॥५२॥

त्वया पुरस्तादुपयाचितो यः सोऽयं वटः श्याम इति प्रतीतः ।
राशिर्मणीनामिव गारुडानां सपद्मरागः फलितो विभाति ॥५३॥

क्वचित्प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलैर्मुक्तामयी यष्टिरिवानुविद्धा ।
अन्यत्र माला सितपङ्कजानामिन्दीवरैरुत्खचितान्तरेव ॥५४॥

क्वचित्खगानां प्रियमानसानां कादम्बसंसर्गवतीव पङ्क्तिः ।
अन्यत्र कालागुरुदत्तपत्रा भक्तिर्भुवश्चन्दनकल्पितेव ॥५५॥

क्वचित्प्रभा चान्द्रमसी तमोभिश्छायाविलीनैः शबलीकृतेव ।
अन्यत्र शुभ्रा शरदभ्रलेखा रन्ध्रेष्विवालक्ष्यनभःप्रदेशा ॥५६॥

क्वचिच्च कृष्णोरगभूषणेव भस्माङ्गरागा तनुरीश्वरस्य ।
पश्यानवद्याङ्गि विभाति गङ्गा भिन्नप्रवाहा यमुनातरङ्गैः ॥५७॥

समुद्रपत्न्योर्जलसंनिपाते पूतात्मनामत्र किलाभिषेकात् ।
तत्त्वावबोधेन विनापि भूयस्तनुत्यजां नास्ति शरीरबन्धः ॥५८॥

पुरं निषादाधिपतेरिदं तद्यस्मिन्मया मौलिमणिं विहाय ।
जटासु बद्धास्वरुदत्सुमन्त्रः कैकेयि कामाः फलितास्तवेति ॥५९॥

पयोधरैः पुण्यजनाङ्गनानां निर्विष्टहेमाम्बुजरेणु यस्याः ।
ब्राह्मं सरः कारणमाप्तवाचो बुद्धेरिवाव्यक्तमुदाहरन्ति ॥६०॥

जलानि या तीरनिखातयूपा वहत्ययोध्यामनु राजधानीम् ।
तुरंगमेधावभृथावतीर्णैरिक्ष्वाकुभिः पुण्यतरीकृतानि ॥६१॥

यां सैकतोत्सङ्गसुखोचितानां प्राज्यैः पयोभिः परिवर्धितानाम् ।
सामान्यधात्रीमिव मानसं मे संभावयत्युत्तरकोशलानाम् ॥६२॥

सेयं मदीया जननीव तेन मान्येन राज्ञा सरयूर्वियुक्ता ।
दूरे वसन्तं शिशिरानिलैर्मां तरंगहस्तैरुपगूहतीव ॥६३॥

विरक्तसंध्याकपिशं पुरस्ताद्यतो रजः पार्थिवमुज्जिहीते ।
शङ्के हनूमत्कथितप्रवृत्तिः प्रत्युद्गतो मां भरतः ससैन्यः ॥६४॥

अद्धा श्रियं पालितसंगराय प्रत्यर्पयिष्यत्यनघां स साधुः ।
हत्वा निवृत्ताय मृधे खरादीन्संरक्षितां त्वामिव लक्ष्मणो मे ॥६५॥

असौ पुरस्कृत्य गुरुं पदातिः पश्चादवस्थापितवाहिनीकः ।
वृद्धैरमात्यैः सह चीरवासा मामर्घ्यपाणिर्भरतोऽभ्युपैति ॥६६॥

पित्रा विसृष्टां मदपेक्षया यः श्रियं युवाप्यङ्कगतामभोक्ता ।
इयन्ति वर्षाणि तया सहोग्रमभ्यस्यतीव व्रतमासिधारम् ॥६७॥

एतावदुक्तवति दाशरथौ तदीया-
मिच्छां विमानमधिदेवतया विदित्वा ।
ज्योतिष्पथादवततार सविस्मयाभि-
रुद्वीक्षितं प्रकृतिभिर्भरतानुगाभिः ॥६८॥

तस्मात्पुरःसरबिभीषणदर्शितेन
सेवाविचक्षणहरीश्वरदत्तहस्तः ।
यानादवातरददूरमहीतलेन
मार्गेण भङ्गिरचितस्फटिकेन रामः ॥६९॥

इक्ष्वाकुवंशगुरवे प्रयतः प्रणम्य
स भ्रातरं भरतमर्घ्यपरिग्रहान्ते ।
पर्यश्रुरस्वजत मूर्धनि चोपजघ्रौ
तद्भक्त्यपोढपितृराज्यमहाभिषेके ॥७०॥

श्मश्रुप्रवृद्धिजनिताननविक्रियांश्च
प्लक्षान्प्ररोहजटिलानिव मन्त्रिवृद्धान् ।
अन्वग्रहीत्प्रणमतः शुभदृष्टिपातै-
र्वार्तानुयोगमधुराक्षरया च वाचा ॥७१॥

दुर्जातबन्धुरयमृक्षहरीश्वरो मे
पौलस्त्य एष समरेषु पुरःप्रहर्ता ।
इत्यादृतेन कथितौ रघुनन्दनेन
व्युत्क्रम्य लक्ष्मणमुभौ भरतो ववन्दे ॥७२॥

सौमित्रिणा तदनु संससृजे स चैन-
मुत्थाप्य नम्रशिरसं भृशमालिलिङ्ग ।
रूढेन्द्रजित्प्रहरणव्रणकर्कशेन
क्लिश्यन्निवास्य भुजमध्यमुरःस्थलेन ॥७३॥

रामाज्ञया हरिचमूपतयस्तदानीं
कृत्वा मनुष्यवपुरारुरुहुर्गजेन्द्रान् ।
तेषु क्षरत्सु बहुधा मदवारिधाराः
शैलाधिरोहणसुखान्युपलेभिरे ते ॥७४॥

सानुप्लवः प्रभुरपि क्षणदाचराणां
भेजे रथान्दशरथप्रभवानुशिष्टः ।
मायाविकल्परचितैरपि ये तदीयै-
र्न स्यन्दनैस्तुलितकृत्रिमभक्तिशोभाः ॥७५॥

भूयस्ततो रघुपतिर्विलसत्पताक-
मध्यास्त कामगति सावरजो विमानम् ।

दोषातनं बुधबृहस्पतियोगदृश्य-
स्तारापतिस्तरलविद्युदिवाभ्रवृन्दम् ॥७६॥

तत्रेश्वरेण जगतां प्रलयादिवोर्वीं
वर्षात्ययेन रुचमभ्रघनादिवेन्दोः ।
रामेण मैथिलसुतां दशकण्ठकृच्छ्रात्-
प्रत्युद्धृतां धृतिमतीं भरतो ववन्दे ॥७७॥

लङ्केश्वरप्रणतिभङ्गदृढव्रतं तद्-
वन्द्यं युगं चरणयोर्जनकात्मजायाः ।
ज्येष्ठानुवृत्तिजटिलं च शिरोऽस्य साधो-
रन्योन्यपावनमभूदुभयं समेत्य ॥७८॥

क्रोशार्धं प्रकृतिपुरःसरेण गत्वा
काकुत्स्थः स्तिमितजवेन पुष्पकेण ।
शत्रुघ्नप्रतिविहितोपकार्यमार्यः
साकेतोपवनमुदारमध्युवास ॥७९॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
दण्डकात्प्रत्यागमनो नाम त्रयोदशः सर्गः ॥



चतुर्दशः सर्गः

भर्तुः प्रणाशादथ शोचनीयं दशान्तरं तत्र समं प्रपन्ने ।
अपश्यतां दाशरथी जनन्यौ छेदादिवोपघ्नतरोर्व्रतत्यौ ॥१॥

उभावुभाभ्यां प्रणतौ हतारी यथाक्रमं विक्रमशोभिनौ तौ ।
विस्पष्टमस्रान्धतया न दृष्टौ ज्ञातौ सुतस्पर्शसुखोपलम्भात् ॥२॥

आनन्दजः शोकजमश्रु बाष्पस्तयोरशीतं शिशिरो बिभेद ।
गङ्गासरय्वोर्जलमुष्णतप्तं हिमाद्रिनिस्यन्द इवावतीर्णः ॥३॥

ते पुत्रयोर्नैऋतशस्त्रमार्गानार्द्रानिवाङ्गे सदयं स्पृशन्त्यौ ।
अपीप्सितं क्षत्रकुलाङ्गनानां न वीरसूशब्दमकामयेताम् ॥४॥

क्लेशावहा भर्तुरलक्षणाहं सीतेति नाम स्वमुदीरयन्ती ।
स्वर्गप्रतिष्ठस्य गुरोर्महिष्यावभक्तिभेदेन वधूर्ववन्दे ॥५॥

उत्तिष्ठ वत्से ननु सानुजोऽसौ वृत्तेन भर्त्रा शुचिना तवैव ।
कृच्छ्रं महत्तीर्ण इति प्रियार्हां तामूचतुस्ते प्रियमप्यमिथ्या ॥६॥

अथाभिषेकं रघुवंशकेतोः प्रारब्धमानन्दजलैर्जनन्योः ।
निर्वर्तयामासुरमात्यवृद्धास्तीर्थाहृतैः काञ्चनकुम्भतोयैः ॥७॥

सरित्समुद्रान्सरसीश्च गत्वा रक्षः कपीन्द्रैरुपपादितानि ।
तस्यापतन्मूर्ध्नि जलानि जिष्णोर्विन्ध्यस्य मेघप्रभवा इवापः ॥८॥

तपस्विवेषक्रिययापि तावद्यः प्रेक्षणीयः सुतरां बभूव ।
राजेन्द्रनेपथ्यविधानशोभा तस्योदिताऽऽसीत्पुनरुक्तदोषा ॥९॥

समौलरक्षोहरिभिः ससैन्यस्तूर्यस्वनानन्दितपौरवर्गः ।
विवेश सौधोद्गतलाजवर्षामुत्तोरणामन्वयराजधानीम् ॥१०॥

सौमित्रिणा सावरजेन मन्दमाधूतबालव्यजनो रथस्थः ।
धृतातपत्रो भरतेन साक्षादुपायसंघात इव प्रवृद्धः ॥११॥

प्रासादकालागुरुधूमराजिस्तस्याः पुरो वायुवशेन भिन्ना ।
वनान्निवृत्तेन रघूत्तमेन मुक्ता स्वयं वेणिरिवाबभासे ॥१२॥

श्वश्रूजनानुष्ठितचारुवेषां कर्णीरथस्थां रघुवीरपत्नीम् ।
प्रासादवातायनदृश्यबन्धैः साकेतनार्योऽञ्जलिभिः प्रणेमुः ॥१३॥

स्फुरत्प्रभामण्डलमानुसूयं सा बिभ्रती शाश्वतमङ्गरागम् ।
रराज शुद्धेति पुनः स्वपुर्यै संदर्शिता वह्निगतेव भर्त्रा ॥१४॥

वेश्मानि रामः परिवर्हवन्ति विश्राण्य सौहार्दनिधिः सुहृद्भ्यः ।
बाष्पायमाणो बलिमन्निकेतमालेख्यशेषस्य पितुर्विवेश ॥१५॥

कृताञ्जलिस्तत्र यदम्ब सत्यान्नाभ्रश्यत स्वर्गफलाद्गुरुर्नः ।
तच्चिन्त्यमानं सुकृतं तवेति जहार लज्जां भरतस्य मातुः ॥१६॥

तथैव सुग्रीवविभीषणादीनुपाचरत्कृत्रिमसंविधाभिः ।
संकल्पमात्रोदितसिद्धयस्ते क्रान्ता यथा चेतसि विस्मयेन ॥१७॥

सभाजनायोपगतान्स दिव्यान्मुनीन्पुरस्कृत्य हतस्य शत्रोः ।
शुश्राव तेभ्यः प्रभवादि वृत्तं स्वविक्रमे गौरवमादधानम् ॥१८॥

प्रतिप्रयातेषु तपोधनेषु सुखादविज्ञातगतार्धमासान् ।
सीतास्वहस्तोपहृताग्र्यपूजान्रक्षः कपीन्द्रान्विससर्ज रामः ॥१९॥

तच्चात्मचिन्तासुलभं विमानं हृतं सुरारेः सह जीवितेन ।
कैलासनाथोद्वहनाय भूयः पुष्पं दिवः पुष्पकमन्वमंस्त ॥२०॥

पितुर्नियोगाद्वनवासमेवं निस्तीर्य रामः प्रतिपन्नराज्यः ।
धर्मार्थकामेषु समां प्रपेदे यथा तथैवावरजेषु वृत्तिम् ॥२१॥

सर्वासु मातृष्वपि वत्सलत्वात्स निर्विशेषप्रतिपत्तिरासीत् ।
षडाननापीतपयोधरासु नेता चमूनामिव कृत्तिकासु ॥२२॥

तेनार्थवाँल्लोभपराङ्मुखेन तेन घ्नता विघ्नभयं क्रियावान् ।
तेनास लोकः पितृमान्विनेत्रा तेनैव शोकापनुदेन पुत्री ॥२३॥

स पौरकार्याणि समीक्ष्य काले रेमे विदेहाधिपतेर्दुहित्रा ।
उपस्थितश्चारु वपुस्तदीयं कृत्वोपभोगोत्सुकयेव लक्ष्म्या ॥२४॥

तयोर्यथाप्रार्थितमिन्द्रियार्थानासेदुषोः सद्मसु चित्रवत्सु ।
प्राप्तानि दुःखान्यपि दण्डकेषु संचिन्त्यमानानि सुखान्यभूवन् ॥२५॥

अथाधिकस्निग्धविलोचनेन मुखेन सीता शरपाण्डुरेण ।
आनन्दयित्री परिणेतुरासीदनक्षरव्यञ्जितदोहदेन ॥२६॥

तामङ्कमारोप्य कृशाङ्गयष्टिं वर्णान्तराक्रान्तपयोधराग्राम् ।
विलज्जमानां रहसि प्रतीतः पप्रच्छ रामां रमणोऽभिलाषम् ॥२७॥

सा दृष्टनीवारबलीनि हिंस्रैः संबद्धवैखानसकन्यकानि ।
इयेष भूयः कुशवन्ति गन्तुं भागीरथीतीरतपोवनानि ॥२८॥

तस्यै प्रतिश्रुत्य रघुप्रवीरस्तदीप्सितं पार्श्वचरानुयातः ।
आलोकयिष्यन्मुदितामयोध्यां प्रासादमभ्रंलिहमारुरोह ॥२९॥

ऋद्धापणं राजपथं स पश्यन्विगाह्यमानां सरयूं च नौभिः ।
विलासिभिश्चाध्युषितानि पौरैः पुरोपकण्ठोपवनानि रेमे ॥३०॥

स किंवदन्ती वदतां पुरोगः स्ववृत्तमुद्दिश्य विशुद्धवृत्तः ।
सर्पाधिराजोरुभुजोऽपसर्पं पप्रच्छ भद्रं विजितारिभद्रः ॥३१॥

निर्बन्धपृष्टः स जगाद सर्वं स्तुवन्ति पौराश्चरितं त्वदीयम् ।
अन्यत्र रक्षोभवनोषितायाः परिग्रहान्मानवदेव देव्याः ॥३२॥

कलत्रनिन्दागुरुणा किलैवमभ्याहतं कीर्तिविपर्ययेण ।
अयोघनेनाय इवाभितप्तं वैदेहिबन्धोर्हृदयं विदद्रे ॥३३॥

किमात्मनिर्वादकथामुपेक्षे जायामदोषामुत संत्यजामि ।
इत्येकपक्षाश्रयविक्लवत्वादासीत्स दोलाचलचित्तवृत्तिः ॥३४॥

निश्चित्य चानन्यनिवृत्ति वाच्यं त्यागेन पत्न्याः परिमार्ष्टुमैच्छत् ।
अपि स्वदेहात्किमुतेन्द्रियार्थाद्यशोधनानां हि यशो गरीयः ॥३५॥

स संनिपात्यावरजान्हतौजास्तद्विक्रियादर्शनलुप्तहर्षान् ।
कौलीनमात्माश्रयमाचचक्षे तेभ्यः पुनश्चेदमुवाच वाक्यम् ॥३६॥

राजर्षिवंशस्य रविप्रसूतेरुपस्थितः पश्यत कीदृशोऽयम् ।
मत्तः सदाचारशुचेः कलङ्कः पयोदवातादिव दर्पणस्य ॥३७॥

पौरेषु सोऽहं बाहुलीभवन्तमपां तरङ्गेष्विव तैलबिन्दुम् ।
सोढुं न तत्पूर्वमवर्णमीशे आलानिकं स्थाणुमिव द्विपेन्द्रः ॥३८॥

तस्यापनोदाय फलप्रवृत्तावुपस्थितायामपि निर्व्यपेक्षः ।
त्यक्ष्यामि वैदेहसुतां पुरस्तात्समुद्रनेमिं पितुराज्ञयेव ॥३९॥

अवैमि चैनामनघेति किंतु लोकापवादो बलवान्मतो मे ।
छाया हि भूमेः शशिनो मलत्वेनारोपिता शुद्धिमतः प्रजाभिः ॥४०॥

१६

रक्षोवधान्तो न च मे प्रयासो व्यर्थः स वैरप्रतिमोचनाय ।
अमर्षणः शोणितकाङ्क्षया किं पदा स्पृशन्तं दशति द्विजिह्वः ॥४१॥

तदेष सर्गः करुणार्द्रचित्तैर्न मे भवद्भिः प्रतिषेधनीयः ।
यद्यर्थिता निर्हृतवाच्यशल्यान्प्राणान्मया धारयितुं चिरं वः ॥४२॥

इत्युक्तवन्तं जनकात्मजायां नितान्तरूक्षाभिनिवेशमीशम् ।
न कश्चन भ्रातृषु तेषु शक्तो निषेद्धुमासीदनुमोदितुं वा ॥४३॥

स लक्ष्मणं लक्ष्मणपूर्वजन्मा विलोक्य लोकत्रयगीतकीर्तिः ।
सौम्येति चाभाष्य यथार्थभाषी स्थितं निदेशे पृथगादिदेश ॥४४॥

प्रजावती दोहदशंसिनी ते तपोवनेषु स्पृहयालुरेव ।
स त्वं रथी तद्व्यपदेशनेयां प्रापय्य वाल्मीकिपदं त्यजैनाम् ॥४५॥

स शुश्रुवान्मातरि भार्गवेण पितुर्नियोगात्प्रहृतं द्विषद्वत् ।
प्रत्यग्रहीदग्रजशासनं तदाज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया ॥४६॥

अथानुकूलश्रवणप्रतीतामत्रस्नुभिर्युक्तधुरं तुरंगैः ।
रथं सुमन्त्रप्रतिपन्नरश्मिमारोप्य वैदेहसुतां प्रतस्थे ॥४७॥

सा नीयमाना रुचिरान्प्रदेशान्प्रियंकरो मे प्रिय इत्यनन्दत् ।
नाबुद्ध कल्पद्रुमतां विहाय जातं तमात्मन्यसिपत्रवृक्षम् ॥४८॥

जुगूह तस्याः पथि लक्ष्मणो यत्सव्येतरेण स्फुरता तदक्ष्णा ।
आख्यातमस्यै गुरु भावि दुःखमत्यन्तलुप्तप्रियदर्शनेन ॥४९॥

सा दुर्निमित्तोपगताद्विषादात्सद्यः परिम्लानमुखारविन्दा ।
राज्ञः शिवं सावरजस्य भूयादित्याशशंसे करणैरबाह्यैः ॥५०॥

गुरोर्नियोगाद्वनितां वनान्ते साध्वीं सुमित्रातनयो विहास्यन् ।
अवार्यतेवोत्थितवीचिहस्तैर्जह्नोर्दुहित्रा स्थितया पुरस्तात् ॥५१॥

रथात्स यन्त्रा निगृहीतवाहात्तां भ्रातृजायां पुलिनेऽवतार्य ।
गङ्गां निषादाहृतनौविशेषस्ततार संधामिव सत्यसंधः ॥५२॥

अथ व्यवस्थापितवाक्कथंचित्सौमित्रिरन्तर्गतबाष्पकण्ठः ।
औत्पातिको मेघ इवाश्मवर्षं महीपतेः शासनमुज्जगार ॥५३॥

ततोऽभिषङ्गानिलविप्रविद्धा प्रभ्रश्यमानाभरणप्रसूना ।
स्वमूर्तिलाभप्रकृतिं धरित्रीं लतेव सीता सहसा जगाम ॥५४॥

इक्ष्वाकुवंशप्रभवः कथं त्वां त्यजेदकस्मात्पतिरार्यवृत्तः ।
इति क्षितिः संशयितेव तस्यै ददौ प्रवेशं जननी न तावत् ॥५५॥

सा लुप्तसंज्ञा न विवेद दुःखं प्रत्यागतासुः समतप्यतान्तः ।
तस्याः सुमित्रात्मजयत्नलब्धो मोहादभूत्कष्टतरः प्रबोधः ॥५६॥

न चावदद्भर्तुरवर्णमार्या निराकरिष्णोर्वृजिनादृतेऽपि ।
आत्मानमेव स्थिरदुःखभाजं पुनःपुनर्दुष्कृतिनं निनिन्द ॥५७॥

आश्वास्य रामावरजः सतीं तामाख्यातवाल्मीकिनिकेतमार्गः ।
निघ्नस्य मे भर्तृनिदेशरौक्ष्यं देवि क्षमस्वेति बभूव नम्रः ॥५८॥

सीता तमुत्थाप्य जगाद वाक्यं प्रीतास्मि ते सौम्य चिराय जीव ।
बिडौजसा विष्णुरिवाग्रजेन भ्रात्रा यदित्थं परवानसि त्वम् ॥५९॥

श्वश्रूजनं सर्वमनुक्रमेण विज्ञापय प्रापितमत्प्रणामः ।
प्रजानिषेकं मयि वर्तमानं सूनोरनुध्यायत चेतसेति ॥६०॥

वाच्यस्त्वया मद्वचनात्स राजा वह्नौ विशुद्धामपि यत्समक्षम् ।
मां लोकवादश्रवणादहासीः श्रुतस्य किं तत्सदृशं कुलस्य ॥६१॥

कल्याणबुद्धेरथवा तवायं न कामचारो मयि शङ्कनीयः ।
ममैव जन्मान्तरपातकानां विपाकविस्फूर्जथुरप्रसह्यः ॥६२॥

उपस्थितां पूर्वमपास्य लक्ष्मीं वनं मया सार्धमसि प्रपन्नः ।
तदास्पदं प्राप्य तयातिरोषात्सोढास्मि न त्वद्भवने वसन्ती ॥६३॥

निशाचरोपप्लुतभर्तृकाणां तपस्विनीनां भवतः प्रसादात् ।
भूत्वा शरण्या शरणार्थमन्यं कथं प्रपत्स्ये त्वयि दीप्यमाने ॥६४॥

किंवा तवात्यन्तवियोगमोघे कुर्यामुपेक्षां हतजीवितेऽस्मिन् ।
स्याद्रक्षणीयं यदि मे न तेजस्त्वदीयमन्तर्गतमन्तरायः ॥६५॥

साहं तपः सूर्यनिविष्टदृष्टिरूर्ध्वं प्रसूतेश्चरितुं यतिष्ये ।
भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः ॥६६॥

नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत्स एव धर्मो मनुना प्रणीतः ।
निर्वासिताप्येवमतस्त्वयाहं तपस्विसामान्यमवेक्षणीया ॥६७॥

तथेति तस्याः प्रतिगृह्य वाचं रामानुजे दृष्टिपथं व्यतीते ।
सा मुक्तकण्ठं व्यसनातिभाराच्चक्रन्द विग्ना कुररीव भूयः ॥६८॥

नृत्यं मयूराः कुसुमानि वृक्षा दर्भानुपात्तान्विजहुर्हरिण्यः ।
तस्याः प्रपन्ने समदुःखभावमत्यन्तमासीद्रुदितं वनेऽपि ॥६९॥

तामभ्यगच्छद्रुदितानुसारी कविः कुशेध्माहरणाय यातः ।
निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः ॥७०॥

तमश्रु नेत्रावरणं प्रमृज्य सीताविलापाद्विरता ववन्दे ।
तस्यै मुनिर्दोहदलिङ्गदर्शी दाश्वान्सुपुत्राशिषमित्युवाच ॥७१॥

जाने विसृष्टां प्रणिधानतस्त्वां मिथ्यापवादक्षुभितेन भर्त्रा ।
तन्मा व्यथिष्ठा विषयान्तरस्थं प्राप्तासि वैदेहि पितुर्निकेतम् ॥७२॥

उत्खातलोकत्रयकण्टकेऽपि सत्यप्रतिज्ञेऽप्यविकत्थनेऽपि ।
त्वां प्रत्यकस्मात्कलुषप्रवृत्तावस्त्येव मन्युर्भरताग्रजे मे ॥७३॥

तवोरुकीर्तिः श्वशुरः सखा मे सतां भवोच्छेदकरः पिता ते ।
धुरि स्थिता त्वं पतिदेवतानां किं तन्न येनासि ममानुकम्प्या ॥७४॥

तपस्विसंसर्गविनीतसत्त्वे तपोवने वीतभया वसास्मिन् ।
इतो भविष्यत्यनघप्रसूतेरपत्यसंस्कारमयो विधिस्ते ॥७५॥

अशून्यतीरां मुनिसंनिवेशैस्तमोपहन्त्रीं तमसां वगाह्य ।
तत्सैकतोत्सङ्गबलिक्रियाभिः संपत्स्यते ते मनसः प्रसादः ॥७६॥

पुष्पं फलं चार्तवमाहरन्त्यो बीजं च बालेयमकृष्टरोहि ।
विनोदयिष्यन्ति नवाभिषङ्गामुदारवाचो मुनिकन्यकास्त्वाम् ॥७७॥

पयोघटैराश्रमबालवृक्षान्संवर्धयन्ती स्वबलानुरूपैः ।
असंशयं प्राक्तनयोपपत्तेः स्तनंधयप्रीतिमवाप्स्यसि त्वम् ॥७८॥

अनुग्रहप्रत्यभिनन्दिनी तां वाल्मीकिरादाय दयार्द्रचेताः ।
सायं मृगाध्यासितवेदिपार्श्वं स्वमाश्रमं शान्तमृगं निनाय ॥७९॥

तामर्पयामास च शोकदीनां तदागमप्रीतिषु तापसीषु ।
निर्विष्टसारां पितृभिर्हिमांशोरन्त्यां कलां दर्श इवौषधीषु ॥८०॥

ता इङ्गुदीस्नेहकृतप्रदीपमास्तीर्णमेध्याजिनतल्पमन्तः ।
तस्यै सपर्यानुपदं दिनान्ते निवासहेतोरुटजं वितेरुः ॥८१॥

तत्राभिषेकप्रयता वसन्ती प्रयुक्तपूजा विधिनातिथिभ्यः ।
वन्येन सा वल्कलिनी शरीरं पत्युः प्रजासंततये बभार ॥८२॥

अपि प्रभुः सानुशयोऽधुना स्यात्किमुत्सुकः शक्रजितोऽपि हन्ता ।
शशंस सीतापरिदेवनान्तमनुष्ठितं शासनमग्रजाय ॥८३॥

बभूव रामः सहसा सबाष्पस्तुषारवर्षीव सहस्यचन्द्रः ।
कौलीनभीतेन गृहान्निरस्ता न तेन वैदेहसुता मनस्तः ॥८४॥

निगृह्य शोकं स्वयमेव धीमान्वर्णाश्रमावेक्षणजागरूकः ।
स भ्रातृसाधारणभोगमृद्धं राज्यं रजोरिक्तमनाः शशास ॥८५॥

तामेकभार्यां परिवादभीरोः साध्वीमपि त्यक्तवतो नृपस्य ।
वक्षस्यसंघट्टसुखं वसन्ती रेजे सपत्नीरहितेव लक्ष्मीः ॥८६॥

सीतां हित्वा दशमुखरिपुर्नोपयेमे यदन्यां
तस्या एव प्रतिकृतिसखो यत्क्रतूनाजहार ।
वृत्तान्तेन श्रवणविषयप्रापिणा तेन भर्तुः
सा दुर्वारं कथमपि परित्यागदुःखं विषेहे ॥८७॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
सीतापरित्यागो नाम चतुर्दशः सर्गः ।



पञ्चदशः सर्गः

कृतसीतापरित्यागः स रत्नाकरमेखलाम् ।
बुभुजे पृथिवीपालः पृथिवीमेव केवलाम् ॥ १ ॥

लवणेन विलुप्तेज्यास्तामिस्रेण तमभ्ययुः ।
मुनयो यमुनाभाजः शरण्यं शरणार्थिनः ॥ २ ॥

अवेक्ष्य रामं ते तस्मिन्न प्रजह्रुः स्वतेजसा ।
त्राणाभावे हि शापास्त्राः कुर्वन्ति तपसो व्ययम् ॥ ३ ॥

प्रतिशुश्राव काकुत्स्थस्तेभ्यो विघ्नप्रतिक्रियाम् ।
धर्मसंरक्षणार्थैव प्रवृत्तिर्भुवि शार्ङ्गिणः ॥ ४ ॥

ते रामाय वधोपायमाचख्युर्विबुधद्विषः ।
दुर्जयो लवणः शूली विशूलः प्रार्थ्यतामिति ॥ ५ ॥

आदिदेशाथ शत्रुघ्नं तेषां क्षेमाय राघवः ।
करिष्यन्निव नामास्य यथार्थमरिनिग्रहात् ॥ ६ ॥

यः कश्चन रघूणां हि परमेकः परंतपः ।
अपवाद इवोत्सर्गं व्यावर्तयितुमीश्वरः ॥ ७ ॥

अग्रजेन प्रयुक्ताशीस्ततो दाशरथी रथी ।
ययौ वनस्थलीः पश्यन्पुष्पिताः सुरभीरभीः ॥ ८ ॥

रामादेशादनुगता सेना तस्यार्थसिद्धये ।
पश्चादध्ययनार्थस्य धातोरधिरिवाभवत् ॥ ९ ॥

आदिष्टवर्त्मा मुनिभिः स गच्छंस्तपतां वरः ।
विरराज रथप्रष्ठैर्वालखिल्यैरिवांशुमान् ॥१०॥

तस्य मार्गवशादेका बभूव वसतिर्यतः ।
रथस्वनोत्कण्ठमृगे वाल्मीकीये तपोवने ॥११॥

तमृषिः पूजयामास कुमारं क्लान्तवाहनम् ।
तपःप्रभावसिद्धाभिर्विशेषप्रतिपत्तिभिः ॥१२॥

तस्यामेवास्य यामिन्यामन्तर्वत्नी प्रजावती ।
सुतावसूत संपन्नौ कोशदण्डाविव क्षितिः ॥१३॥

संतानश्रवणाद्भ्रातुः सौमित्रिः सौमनस्यवान् ।
प्राञ्जलिर्मुनिमामन्त्र्य प्रातर्युक्तरथो ययौ ॥१४॥

स च प्राप मधूपघ्नं कुम्भीनस्याश्च कुक्षिजः ।
वनात्करमिवादाय सत्त्वराशिमुपस्थितः ॥१५॥

धूमधूम्रो वसागन्धी ज्वालाबभ्रुशिरोरुहः ।
क्रव्याद्गणपरीवारश्चिताग्निरिव जंगमः ॥१६॥

अपशूलं तमासाद्य लवणं लक्ष्मणानुजः ।
रुरोध संमुखीनो हि जयो रन्ध्रप्रहारिणाम् ॥१७॥

नातिपर्याप्तमालक्ष्य मत्कुक्षेरद्य भोजनम् ।
दिष्ट्या त्वमसि मे धात्रा भीतेनेवोपपादितः ॥१८॥

इति संतर्ज्य शत्रुघ्नं राक्षसस्तज्जिघांसया ।
प्रांशुमुत्पाटयामास मुस्तास्तम्बमिव द्रुमम् ॥१९॥

सौमित्रेर्निशितैर्बाणैरन्तरा शकलीकृतः ।
गात्रं पुष्परजः प्राप न शाखी नैर्ऋतेरितः ॥२०॥

विनाशात्तस्य वृक्षस्य रक्षस्तस्मै महोपलम् ।
प्रजिघाय कृतान्तस्य मुष्टिं पृथगिव स्थितम् ॥२१॥

ऐन्द्रमस्त्रमुपादाय शत्रुघ्नेन स ताडितः ।
सिकतात्वादपि परां प्रपेदे परमाणुताम् ॥२२॥

तमुपाद्रवदुद्यम्य दक्षिणं दोर्निशाचरः ।
एकताल इवोत्पातपवनप्रेरितो गिरिः ॥२३॥

कार्ष्णेन पत्रिणा शत्रुः स भिन्नहृदयः पतन् ।
आनिनाय भुवः कम्पं जहाराश्रमवासिनाम् ॥२४॥

वयसां पङ्क्तयः पेतुर्हतस्योपरि विद्विषः ।
तत्प्रतिद्वन्द्विनो मूर्ध्नि दिव्याः कुसुमवृष्टयः ॥२५॥

स हत्वा लवणं वीरस्तदा मेने महौजसः ।
भ्रातुः सोदर्यमात्मानमिन्द्रजिद्वधशोभिनः ॥२६॥

तस्य संस्तूयमानस्य चरितार्थैस्तपस्विभिः ।
शुशुभे विक्रमोदग्रं व्रीडयावनतं शिरः ॥२७॥

उपकूलं स कालिन्द्याः पुरीं पौरुषभूषणः ।
निर्ममे निर्ममोऽर्थेषु मधुरां मधुराकृतिः ॥२८॥

या सौराज्यप्रकाशाभिर्बभौ पौरविभूतिभिः ।
स्वर्गाभिष्यन्दवमनं कृत्वेवोपनिवेशिता ॥२९॥

तत्र सौधगतः पश्यन्यमुनां चक्रवाकिनीम् ।
हेमभक्तिमतीं भूमेः प्रवेणीमिव पिप्रिये ॥३०॥

सखा दशरथस्यापि जनकस्य च मन्त्रकृत् ।
संचस्कारोभयप्रीत्या मैथिलेयौ यथाविधि ॥३१॥

स तौ कुशलवोन्मृष्टगर्भक्लेदौ तदाख्यया ।
कविः कुशलवावेव चकार किल नामतः ॥३२॥

साङ्गं च वेदमध्याप्य किंचिदुत्क्रान्तशैशवौ ।
स्वकृतिं गापयामास कविप्रथमपद्धतिम् ॥३३॥

रामस्य मधुरं वृत्तं गायन्तौ मातुरग्रतः ।
तद्वियोगव्यथां किंचिच्छिथिलीचक्रतुः सुतौ ॥३४॥

इतरेऽपि रघोर्वंश्यास्त्रयस्त्रेताग्नितेजसः ।
तद्योगात्पतिवत्नीषु पत्नीष्वासन्द्विसूनवः ॥३५॥

शत्रुघातिनि शत्रुघ्नः सुबाहौ च बहुश्रुते ।
मधुराविदिशे सून्वोर्निदधे पूर्वजोत्सुकः ॥३६॥

भूयस्तपोव्ययो मा भूद्वाल्मीकेरिति सोऽत्यगात् ।
मैथिलीतनयोद्गीतनिःस्पन्दमृगमाश्रमम् ॥३७॥

वशी विवेश चायोध्यां रथ्यासंस्कारशोभिनीम् ।
लवणस्य वधात्पौरैरीक्षितोऽत्यन्तगौरवम् ॥३८॥

स ददर्श सभामध्ये सभासद्भिरुपस्थितम् ।
रामं सीतापरित्यागादसामान्यपतिं भुवः ॥३९॥

तमभ्यनन्दत्प्रणतं लवणान्तकमग्रजः ।
कालनेमिवधात्प्रीतस्तुरापाडिव शार्ङ्गिणम् ॥४०॥

स पृष्टः सर्वतो वार्तमाख्यद्राज्ञे न संततिम् ।
प्रत्यर्पयिष्यतः काले कवेराद्यस्य शासनात् ॥४१॥

अथ जानपदो विप्रः शिशुमप्राप्तयौवनम् ।
अवतार्याङ्कशय्यास्थं द्वारि चक्रन्द भूपतेः ॥४२॥

शोचनीयासि वसुधे या त्वं दशरथाच्च्युता ।
रामहस्तमनुप्राप्य कष्टात्कष्टतरं गता ॥४३॥

श्रुत्वा तस्य शुचो हेतुं गोप्ता जिह्राय राघवः ।
न ह्यकालभवो मृत्युरिक्ष्वाकुपदमस्पृशत् ॥४४॥

स मुहूर्तं क्षमस्वेति द्विजमाश्वास्य दुःखितम् ।
यानं सस्मार कौबेरं वैवस्वतजिगीषया ॥४५॥

आत्तशस्त्रस्तदध्यास्य प्रस्थितः स रघूद्वहः ।
उच्चचार पुरस्तस्य गूढरूपा सरस्वती ॥४६॥

राजन्प्रजासु ते कश्चिदपचारः प्रवर्तते ।
तमन्विष्य प्रशमयेर्भवितासि ततः कृती ॥४७॥

इत्याप्तवचनाद्रामो विनेष्यन्वर्णविक्रियाम् ।
दिशः पपात पत्रेण वेगनिष्कम्पकेतुना ॥४८॥

अथ धूमाभिताम्राक्षं वृक्षशाखावलम्बिनम् ।
ददर्श कंचिदैक्ष्वाकस्तपस्यन्तमधोमुखम् ॥४९॥

पृष्टनामान्वयो राज्ञा स किलाचष्ट धूमपः ।
आत्मानं शम्बुकं नाम शूद्रं सुरपदार्थिनम् ॥५०॥

तपस्यनधिकारित्वात्प्रजानां तमघावहम् ।
शीर्षच्छेद्यं परिच्छिद्य नियन्ता शस्त्रमाददे ॥५१॥

स तद्वक्त्रं हिमक्लिष्टकिञ्जल्कमिव पङ्कजम् ।
ज्योतिष्कणाहतश्मश्रु कण्ठनालादपातयत् ॥५२॥

कृतदण्डः स्वयं राज्ञा लेभे शूद्रः सतां गतिम् ।
तपसा दुश्चरेणापि न स्वमार्गविलङ्घिना ॥५३॥

रघुनाथोऽप्यगस्त्येन मार्गसंदर्शितात्मना ।
महौजसा संयुयुजे शरत्काल इवेन्दुना ॥५४॥

कुम्भयोनिरलंकारं तस्मै दिव्यपरिग्रहम् ।
ददौ दत्तं समुद्रेण पीतेनेवात्मनिष्क्रयम् ॥५५॥

तं दधन्मैथिलीकण्ठनिर्व्यापारेण बाहुना ।
पश्चान्निववृते रामः प्राक्परासुर्द्विजात्मजः ॥५६॥

तस्य पूर्वोदितां निन्दां द्विजः पुत्रसमागतः ।
स्तुत्या निवर्तयामास त्रातुर्वैवस्वतादपि ॥५७॥

तमध्वराय मुक्ताश्वं रक्षःकपिनरेश्वराः ।
मेघाः सस्यमिवाम्भोभिरभ्यवर्षन्नुपायनैः ॥५८॥

दिग्भ्यो निमन्त्रिताश्चैनमभिजग्मुर्महर्षयः ।
न भौमान्येव धिष्ण्यानि हित्वा ज्योतिर्मयान्यपि ॥५९॥

उपशल्यनिविष्टैस्तैश्चतुर्द्वारमुखी बभौ ।
अयोध्या सृष्टलोकेव सद्यः पैतामही तनुः ॥६०॥

श्लाघ्यस्त्यागोऽपि वैदेह्याः पत्युः प्राग्वंशवासिनः ।
अनन्यजानेः सैवासीद्यस्माज्जाया हिरण्मयी ॥६१॥

विधेरधिकसंभारस्ततः प्रववृते मखः ।
आसन्यत्र क्रियाविघ्ना राक्षसा एव रक्षिणः ॥६२॥

अथ प्राचेतसोपज्ञं रामायणमितस्ततः ।
मैथिलेयौ कुशलवौ जगतुर्गुरुचोदितौ ॥६३॥

वृत्तं रामस्य वाल्मीकेः कृतिस्तौ किंनरस्वनौ ।
किं तद्येन मनो हर्तुमलं स्यातां न शृण्वताम् ॥६४॥

रूपे गीते च माधुर्यं तयोस्तज्ज्ञैर्निवेदितम् ।
ददर्श सानुजो रामः शुश्राव च कुतूहली ॥६५॥

तद्गीतश्रवणैकाग्रा संसदश्रुमुखी बभौ ।
हिमनिष्यन्दिनी प्रातर्निर्वातेव वनस्थली ॥६६॥

वयोवेषविसंवादि रामस्य च तयोस्तदा ।
जनता प्रेक्ष्य सादृश्यं नाक्षिकम्पं व्यतिष्ठत ॥६७॥

उभयोर्न तथा लोकः प्रावीण्येन विसिष्मिये ।
नृपतेः प्रीतिदानेषु वीतस्पृहतया यथा ॥६८॥

गेये को नु विनेता वां कस्य चेयं कृतिः कवेः ।
इति राज्ञा स्वयं पृष्टौ तौ वाल्मीकिमशंसताम् ॥६९॥

अथ सावरजो रामः प्राचेतसमुपेयिवान् ।
ऊरीकृत्यात्मनो देहं राज्यमस्मै न्यवेदयत् ॥७०॥

स तावाख्याय रामाय मैथिलेयौ तदात्मजौ ।
कविः कारुणिको वव्रे सीतायाः संपरिग्रहम् ॥७१॥

तात शुद्धा समक्षं नः स्नुषा ते जातवेदसि ।
दौरात्म्याद्रक्षसस्तां तु नात्रत्याः श्रद्दधुः प्रजाः ॥७२॥

ताः स्वचारित्रमुद्दिश्य प्रत्याययतु मैथिली ।
ततः पुत्रवतीमेनां प्रतिपत्स्ये त्वदाज्ञया ॥७३॥

इति प्रतिश्रुते राज्ञा जानकीमाश्रमान्मुनिः ।
शिष्यैरानाययामास स्वसिद्धिं नियमैरिव ॥७४॥

अन्येद्युरथ काकुत्स्थः संनिपात्य पुरौकसः ।
कविमाह्वाययामास प्रस्तुतप्रतिपत्तये ॥७५॥

स्वरसंस्कारवत्यासौ पुत्राभ्यामथ सीतया ।
ऋचेवोदर्चिषं सूर्यं रामं मुनिरुपस्थितः ॥७६॥

काषायपरिवीतेन स्वपदार्पितचक्षुषा ।
अन्वमीयत शुद्धेति शान्तेन वपुषैव सा ॥७७॥

जनास्तदालोकपथात्प्रतिसंहृतचक्षुषः ।
तस्थुस्तेऽवाङ्मुखाः सर्वे फलिता इव शालयः ॥७८॥

तां दृष्टिविषये भर्तुर्मुनिरास्थितविष्टरः ।
कुरु निःसंशयं वत्से स्ववृत्ते लोकमित्यशात् ॥७९॥

अथ वाल्मीकिशिष्येण पुण्यमावर्जितं पयः ।
आचम्योदीरयामास सीता सत्यां सरस्वतीम् ॥८०॥

वाङ्मनःकर्मभिः पत्यौ व्यभिचारो यथा न मे ।
तथा विश्वंभरे देवि मामन्तर्धातुमर्हसि ॥८१॥

एवमुक्ते तया साध्व्या रन्ध्रात्सद्योभवाद्भुवः ।
शातह्रदमिव ज्योतिः प्रभामण्डलमुद्ययौ ॥८२॥

तत्र नागफणोत्क्षिप्तसिंहासननिषेदुषी ।
समुद्ररशना साक्षात्प्रादुरासीद्वसुंधरा ॥८३॥

सा सीतामङ्कमारोप्य भर्तृप्रणिहितेक्षणाम् ।
मा मेति व्याहरत्येव तस्मिन्पातालमभ्यगात् ॥८४॥

धरायां तस्य संरम्भं सीताप्रत्यर्पणैषिणः ।
गुरुर्विधिबलापेक्षी शमयामास धन्विनः ॥८५॥

ऋषीन्विसृज्य यज्ञान्ते सुहृदश्च पुरस्कृतान् ।
रामः सीतागतं स्नेहं निदधे तदपत्ययोः ॥८६॥

युधाजितश्च संदेशात्स देशं सिन्धुनामकम् ।
ददौ दत्तप्रभावाय भरताय भृतप्रजः ॥८७॥

भरतस्तत्र गन्धर्वान्युधि निर्जित्य केवलम् ।
आतोद्यं ग्राहयामास समत्याजयदायुधम् ॥८८॥

स तक्षपुष्कलौ पुत्रौ राजधान्योस्तदाख्ययोः ।
अभिषिच्याभिषेकार्हौ रामान्तिकमगात्पुनः ॥८९॥

अङ्गदं चन्द्रकेतुं च लक्ष्मणोऽप्यात्मसंभवौ ।
शासनाद्रघुनाथस्य चक्रे कारापथेश्वरौ ॥९०॥

इत्यारोपितपुत्रास्ते जननीनां जनेश्वराः ।
भर्तृलोकप्रपन्नानां निवापान्विदधुः क्रमात् ॥९१॥

उपेत्य मुनिवेषोऽथ कालः प्रोवाच राघवम् ।
रहःसंवादिनौ पश्येदावां यस्तं त्यजेरिति ॥९२॥

तथेति प्रतिपन्नाय विवृतात्मा नृपाय सः ।
आचख्यौ दिवमध्यास्व शासनात्परमेष्ठिनः ॥९३॥

विद्वानपि तयोर्द्वाःस्थः समयं लक्ष्मणोऽभिनत् ।
भीतो दुर्वाससः शापाद्रामसंदर्शनार्थिनः ॥९४॥

स गत्वा सरयूतीरं देहत्यागेन योगवित् ।
चकारावितथां भ्रातुः प्रतिज्ञां पूर्वजन्मनः ॥९५॥

तस्मिन्नात्मचतुर्भागे प्राङ्नाकमधितस्थुषि ।
राघवः शिथिलं तस्थौ भुवि धर्मस्त्रिपादिव ॥९६॥

स निवेश्य कुशावत्यां रिपुनागाङ्कुशं कुशम् ।
शरावत्यां सतां सूक्तैर्जनिताश्रुलवं लवम् ॥९७॥

उदक्प्रतस्थे स्थिरधीः सानुजोऽग्निपुरःसरः ।
अन्वितः पतिवात्सल्याद्गृहवर्जमयोध्यया ॥९८॥

जगृहुस्तस्य चित्तज्ञाः पदवीं हरिराक्षसाः ।
कदम्बमुकुलस्थूलैरभिवृष्टां प्रजाश्रुभिः ॥९९॥

उपस्थितविमानेन तेन भक्तानुकम्पिना ।
चक्रे त्रिदिवनिश्रेणिः सरयूरनुयायिनाम् ॥१००॥

यद्गोप्रतरकल्पोऽभूत्संमर्दस्तत्र मज्जताम् ।
अतस्तदाख्यया तीर्थं पावनं भुवि पप्रथे ॥१०१॥

स विभुर्विबुधांशेषु प्रतिपन्नात्ममूर्तिषु ।
त्रिदशीभूतपौराणां स्वर्गान्तरमकल्पयत् ॥१०२॥

निर्वर्त्यैवं दशमुखशिरश्छेदकार्यं सुराणां
विष्वक्सेनः स्वतनुमविशत्सर्वलोकप्रतिष्ठाम् ।
लङ्कानाथं पवनतनयं चोभयं स्थापयित्वा
कीर्तिस्तम्भद्वयमिव गिरौ दक्षिणे चोत्तरे च ॥१०३॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
रामस्वर्गारोहणो नाम पञ्चदशः सर्गः ।



षोडशः सर्गः

अथेतरे सप्त रघुप्रवीरा ज्येष्ठं पुरोजन्मतया गुणैश्च ।
चक्रुः कुशं रत्नविशेषभाजं सौभ्रात्रमेषां हि कुलानुसारि ॥ १ ॥

ते सेतुवार्तागजबन्धमुख्यैरभ्युच्छ्रिताः कर्मभिरप्यवन्ध्यैः ।
अन्योन्यदेशप्रविभागसीमां वेलां समुद्रा इव न व्यतीयुः ॥ २ ॥

चतुर्भुजांशप्रभवः स तेषां दानप्रवृत्तेरनुपारतानाम् ।
सुरद्विपानामिव सामयोनिर्भिन्नोऽष्टधा विप्रससार वंशः ॥ ३ ॥

अथार्धरात्रे स्तिमितप्रदीपे शय्यागृहे सुप्तजने प्रबुद्धः ।
कुशः प्रवासस्थकलत्रवेषामदृष्टपूर्वां वनितामपश्यत् ॥ ४ ॥

सा साधुसाधारणपार्थिवर्द्धेः स्थित्वा पुरस्तात्पुरुहूतभासः ।
जेतुः परेषां जयशब्दपूर्वं तस्याञ्जलिं बन्धुमतो बबन्ध ॥ ५ ॥

अथानपोढार्गलमप्यगारं छायामिवादर्शतलं प्रविष्टाम् ।
सविस्मयो दाशरथेस्तनूजः प्रोवाच पूर्वार्धविसृष्टतल्पः ॥ ६ ॥

लब्धान्तरा सावरणेऽपि गेहे योगप्रभावो न च लक्ष्यते ते ।
बिभर्षि चाकारमनिर्वृतानां मृणालिनी हैममिवोपरागम् ॥ ७ ॥

का त्वं शुभे कस्य परिग्रहो वा किं वा मदभ्यागमकारणं ते ।
आचक्ष्व मत्वा वशिनां रघूणां मनः परस्त्रीविमुखप्रवृत्ति ॥ ८ ॥

तमब्रवीत्सा गुरुणानवद्या या नीतपौरा स्वपदोन्मुखेन ।
तस्याःपुरः संप्रति वीतनाथां जानीहि राजन्नधिदेवतां माम् ॥ ९ ॥

वस्वौकसारामभिभूय साहं सौराज्यबद्धोत्सवया विभूत्या ।
समग्रशक्तौ त्वयि सूर्यवंश्ये सति प्रपन्ना करुणामवस्थाम् ॥१०॥

विशीर्णतल्पाट्टशतो निवेशः पर्यस्तशालः प्रभुणा विना मे ।
विडम्बयत्यस्तनिमग्नसूर्यं दिनान्तमुग्रानिलभिन्नमेघम् ॥११॥

निशासु भास्वत्कलनूपुराणां यः संचरोऽभूदभिसारिकाणाम् ।
नदन्मुखोल्काविचितामिषाभिः स वाह्यते राजपथः शिवाभिः ॥१२॥

आस्फालितं यत्प्रमदाकराग्रैर्मृदङ्गधीरध्वनिमन्वगच्छत् ।
वन्यैरिदानीं महिषैस्तदम्भः शृङ्गाहतं क्रोशति दीर्घिकाणाम् ॥१३॥

वृक्षेशया यष्टिनिवासभङ्गान्मृदङ्गशब्दापगमादलास्याः ।
प्राप्ता दवोल्काहतशेषबर्हाः क्रीडामयूरा वनबर्हिणत्वम् ॥१४॥

सोपानमार्गेषु च येषु रामा निक्षिप्तवत्यश्चरणान्सरागान् ।
सद्यो हतन्यङ्कुभिरस्रदिग्धं व्याघ्रैः पदं तेषु निधीयते मे ॥१५॥

चित्रद्विपाः पद्मवनावतीर्णाः करेणुभिर्दत्तमृणालभङ्गाः ।
नखाङ्कुशाघातविभिन्नकुम्भाः संरब्धसिंहप्रहृतं वहन्ति ॥१६॥

स्तम्भेषु योषित्प्रतियातनानामुत्क्रान्तवर्णक्रमधूसराणाम् ।
स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति सङ्गान्निर्मोकपट्टाः फणिभिर्विमुक्ताः ॥१७॥

कालान्तरश्यामसुधेषु नक्तमितस्ततो रूढतृणाङ्कुरेषु ।
त एव मुक्तागुणशुद्धयोऽपि हर्म्येषु मूर्च्छन्ति न चन्द्रपादाः ॥१८॥

आवर्ज्य शाखाः सदयं च यासां पुष्पाण्युपात्तानि विलासिनीभिः ।
वन्यैः पुलिन्दैरिव वानरैस्ताः क्लिश्यन्त उद्यानलता मदीयाः ॥१९॥

रात्रावनाविष्कृतदीपभासः कान्तामुखश्रीवियुता दिवापि ।
तिरस्क्रियन्ते कृमितन्तुजालैर्विच्छिन्नधूमप्रसरा गवाक्षाः ॥२०॥

बलिक्रियावर्जितसैकतानि स्नानीयसंसर्गमनाप्नुवन्ति ।
उपान्तवानीरगृहाणि दृष्ट्वा शून्यानि दूये सरयूजलानि ॥२१॥

तदर्हसीमां वसतिं विसृज्य मामभ्युपैतुं कुलराजधानीम् ।
हित्वा तनुं कारणमानुषीं तां यथा गुरुस्ते परमात्ममूर्तिम् ॥२२॥

तथेति तस्याः प्रणयं प्रतीतः प्रत्यग्रहीत्प्राग्रहरो रघूणाम् ।
पूरप्यभिव्यक्तमुखप्रसादा शरीरबन्धेन तिरोबभूव ॥२३॥

तदद्भुतं संसदि रात्रिवृत्तं प्रातर्द्विजेभ्यो नृपतिः शशंस ।
श्रुत्वा त एनं कुलराजधान्याः साक्षात्पतित्वे वृतमभ्यनन्दन् ॥२४॥

कुशावतीं श्रोत्रियसात्स कृत्वा यात्रानुकूलेऽहनि सावरोधः ।
अनुद्रुतो वायुरिवाभ्रवृन्दैः सैन्यैरयोध्याभिमुखः प्रतस्थे ॥२५॥

सा केतुमालोपवना बृहद्भिर्विहारशैलानुगतेव नागैः ।
सेना रथोदारगृहा प्रयाणे तस्याभवज्जंगमराजधानी ॥२६॥

तेनातपत्रामलमण्डलेन प्रस्थापितः पूर्वनिवासभूमिम् ।
बभौ बलौघः शशिनोदितेन वेलामुदन्वानिव नीयमानः ॥२७॥

तस्य प्रयातस्य वरूथिनीनां पीडामपर्याप्तवतीव सोढुम् ।
वसुंधरा विष्णुपदं द्वितीयमध्यारुरोहेव रजश्छलेन ॥२८॥

उद्यच्छमाना गमनाय पश्चात्पुरो निवेशे पथि च व्रजन्ती ।
सा यत्र सेना ददृशे नृपस्य तत्रैव सामग्र्यमतिं चकार ॥२९॥

तस्य द्विपानां मदवारिसेकात्खुराभिघाताच्च तुरंगमाणाम् ।
रेणुः प्रपेदे पथि पङ्कभावं पङ्कोऽपि रेणुत्वमियाय नेतुः ॥३०॥

मार्गैषिणी सा कटकान्तरेषु वैन्ध्येषु सेना बहुधा विभिन्ना ।
चकार रेवेव महाविरावा बद्धप्रतिश्रुन्ति गुहामुखानि ॥३१॥

स धातुभेदारुणयाननेमिः प्रभुः प्रयाणध्वनिमिश्रतूर्यः ।
व्यलङ्घयद्विन्ध्यमुपायनानि पश्यन्पुलिन्दैरुपपादितानि ॥३२॥

तीर्थे तदीये गजसेतुबन्धात्प्रतीपगामुत्तरतोऽस्य गङ्गाम् ।
अयत्नवालव्यजनीबभूवुर्हंसा नभोलङ्घनलोलपक्षाः ॥३३॥

स पूर्वजानां कपिलेन रोषाद्भस्मावशेषीकृतविग्रहाणाम् ।
सुरालयप्राप्तिनिमित्तमम्भस्त्रैस्रोतसं नौलुलितं ववन्दे ॥३४॥

इत्यध्वनः कैश्चिदहोभिरन्ते कूलं समासाद्य कुशः सरय्वाः ।
वेदिप्रतिष्ठान्विततताध्वराणां यूपानपश्यच्छतशो रघूणाम् ॥३५॥

आधूय शाखाः कुसुमद्रुमाणां स्पृष्ट्वा च शीतान्सरयूतरङ्गान् ।
तं क्लान्तसैन्यं कुलराजधान्याः प्रत्युज्जगामोपवनान्तवायुः ॥३६॥

अथोपशल्ये रिपुमग्नशल्यस्तस्याः पुरः पौरसखः स राजा ।
कुलध्वजस्तानि चलध्वजानि निवेशयामास बली बलानि ॥३७॥

तां शिल्पिसंघाः प्रभुणा नियुक्तास्तथागतां संभृतसाधनत्वात् ।
पुरं नवीचक्रुरपां विसर्गान्मेघा निदाघग्लपितामिवोर्वीम् ॥३८॥

ततः सपर्यां सपशूपहारां पुरः परार्ध्यप्रतिमागृहायाः ।
उपोषितैर्वास्तुविधानविद्भिर्निर्वर्तयामास रघुप्रवीरः ॥३९॥

तस्याः स राजोपपदं निशान्तं कामीव कान्ताहृदयं प्रविश्य ।
यथार्हमन्यैरनुजीविलोकं संभावयामास यथाप्रधानम् ॥४०॥

सा मन्दुरासंश्रयिभिस्तुरंगैः शालाविधिस्तम्भगतैश्च नागैः ।
पूरावभासे विपणिस्थपण्या सर्वाङ्गनद्धाभरणेव नारी ॥४१॥

वसन्स तस्यां वसतौ रघूणां पुराणशोभामधिरोपितायाम् ।
न मैथिलेयः स्पृहयांबभूव भर्त्रे दिवो नाप्यलकेश्वराय ॥४२॥

अथास्य रत्नग्रथितोत्तरीयमेकान्तपाण्डुस्तनलम्बिहारम् ।
निःश्वासहार्यांशुकमाजगाम घर्मः प्रियावेषमिवोपदेष्टुम् ॥४३॥

अगस्त्यचिह्नादयनात्समीपं दिगुत्तरा भास्वति संनिवृत्ते ।
आनन्दशीतामिव बाष्पवृष्टिं हिमस्रुतिं हैमवतीं ससर्ज ॥४४॥

प्रवृद्धतापो दिवसोऽतिमात्रमत्यर्थमेव क्षणदा च तन्वी ।
उभौ विरोधक्रियया विभिन्नौ जायापती सानुशयाविवास्ताम् ॥४५॥

दिने दिने शैवलवन्त्यधस्तात्सोपानपर्वाणि विमुञ्चदम्भः ।
उद्दण्डपद्मं गृहदीर्घिकाणां नारीनितम्बद्वयसं बभूव ॥४६॥

वनेषु सायंतनमल्लिकानां विजृम्भणोद्गन्धिषु कुड्मलेषु ।
प्रत्येकनिक्षिप्तपदः सशब्दं संख्यामिवैषां भ्रमरश्चकार ॥४७॥

स्वेदानुविद्धार्द्रनखक्षताङ्के भूयिष्ठसंदष्टशिखं कपोले ।
च्युतं न कर्णादपि कामिनीनां शिरीषपुष्पं सहसा पपात ॥४८॥

यन्त्रप्रवाहैः शिशिरैः परीतान्रसेन धौतान्मलयोद्भवस्य ।
शिलाविशेषानधिशय्य निन्युर्धारागृहेष्वातपमृद्धिमन्तः ॥४९॥

स्नानार्द्रमुक्तेष्वनुधूपवासं विन्यस्तसायंतनमल्लिकेषु ।
कामो वसन्तात्ययमन्दवीर्यः केशेषु लेभे बलमङ्गनानाम् ॥५०॥

आपिञ्जरा बद्धरजःकणत्वान्मञ्जर्युदारा शुशुभेऽर्जुनस्य ।
दग्ध्वापि देहं गिरिशेन रोषात्खण्डीकृता ज्येव मनोभवस्य ॥५१॥

मनोज्ञगन्धं सहकारभङ्गं पुराणशीधुं नवपाटलं च ।
संबध्नता कामिजनेषु दोषाः सर्वे निदाघावधिना प्रमृष्टाः ॥५२॥

जनस्य तस्मिन्समये विगाढे बभूवतुर्द्वौ सविशेषकान्तौ ।
तापापनोदक्षमपादसेवौ स चोदयस्थौ नृपतिः शशी च ॥५३॥

अथोर्मिलोलोन्मदराजहंसे रोधोलतापुष्पवहे सरय्वाः ।
विहर्तुमिच्छा वनितासखस्य तस्याम्भसि ग्रीष्मसुखे बभूव ॥५४॥

स तीरभूमौ विहितोपकार्यामानायिभिस्तामपकृष्टनक्राम् ।
विगाहितुं श्रीमहिमानुरूपं प्रचक्रमे चक्रधरप्रभावः ॥५५॥

सा तीरसोपानपथावतारादन्योन्यकेयूरविघट्टिनीभिः ।
सनूपुरक्षोभपदाभिरासीदुद्विग्नहंसा सरिदङ्गनाभिः ॥५६॥

परस्पराभ्युक्षणतत्पराणां तासां नृपो मज्जनरागदर्शी ।
नौसंश्रयः पार्श्वगतां किरातीमुपात्तबालव्यजनां बभाषे ॥५७॥

पश्यावरोधैः शतशो मदीयैर्विगाह्यमानो गलिताङ्गरागैः ।
संध्योदयः साभ्र इवैष वर्णं पुष्यत्यनेकं सरयूप्रवाहः ॥५८॥

विलुप्तमन्तःपुरसुन्दरीणां यदञ्जनं नौलुलिताभिरद्भिः ।
तद्बध्नतीभिर्मदरागशोभां विलोचनेषु प्रतिमुक्तमासाम् ॥५९॥

एता गुरुश्रोणिपयोधरत्वादात्मानमुद्वोढुमशक्नुवत्यः ।
गाढाङ्गदैर्बाहुभिरप्सु बालाः क्लेशोत्तरं रागवशात्प्लवन्ते ॥६०॥

अमी शिरीषप्रसवावतंसाः प्रभ्रंशिनो वारिविहारिणीनाम् ।
पारिप्लवाः स्रोतसि निम्नगायाः शैवाललोलांश्छलयन्ति मीनान् ॥६१॥

आसां जलास्फालनतत्पराणां मुक्ताफलस्पर्धिषु शीकरेषु ।
पयोधरोत्सर्पिषु शीर्यमाणः संलक्ष्यते न च्छिदुरोऽपि हारः ॥६२॥

आवर्तशोभा नतनाभिकान्तेर्भङ्गो भ्रुवां द्वन्द्वचराः स्तनानाम् ।
जातानि रूपावयवोपमानान्यदूरवर्तीनि विलासिनीनाम् ॥६३॥

तीरस्थलीबर्हिभिरुत्कलापैः प्रस्निग्धकेकैरभिनन्द्यमानम् ।
श्रोत्रेषु संमूर्च्छति रक्तमासां गीतानुगं वारिमृदङ्गवाद्यम् ॥६४॥

संदष्टवस्त्रेष्वबलानितम्बेष्विन्दुप्रकाशान्तरितोडुतुल्याः ।
अमी जलापूरितसूत्रमार्गा मौनं भजन्ते रशनाकलापाः ॥६५॥

एताः करोत्पीडितवारिधारा दर्पात्सखीभिर्वदनेषु सिक्ताः ।
वक्रेतराग्रैरलकैस्तरुण्यश्चूर्णारुणान्वारिलवान्वमन्ति ॥६६॥

उद्बन्धकेशश्च्युतपत्त्रलेखो विश्लेषिमुक्ताफलपत्त्रवेष्टः ।
मनोज्ञ एव प्रमदामुखानामम्भोविहाराकुलितोऽपि वेषः ॥६७॥

स नौविमानादवतीर्य रेमे विलोलहारः सह ताभिरप्सु ।
स्कन्धावलग्नोद्धृतपद्मिनीकः करेणुभिर्वन्य इव द्विपेन्द्रः ॥६८॥

ततो नृपेणानुगताः स्त्रियस्ता भ्राजिष्णुना सातिशयं विरेजुः ।
प्रागेव मुक्ता नयनाभिरामाः प्राप्येन्द्रनीलं किमुतोन्मयूखम् ॥६९॥

वर्णोदकैः काञ्चनशृङ्गमुक्तैस्तमायताक्ष्यः प्रणयादसिञ्चन् ।
तथागतः सोऽतितरां बभासे सधातुनिष्यन्द इवाद्रिराजः ॥७०॥

तेनावरोधप्रमदासखेन विगाहमानेन सरिद्वरां ताम् ।
आकाशगङ्गारतिरप्सरोभिर्वृतो मरुत्वाननुयातलीलः ॥७१॥

यत्कुम्भयोनेरधिगम्य रामः कुशाय राज्येन समं दिदेश ।
तदस्य जैत्राभरणं विहर्तुरज्ञातपातं सलिले ममज्ज ॥७२॥

स्नात्वा यथाकाममसौ सदारस्तीरोपकार्यां गतमात्र एव ।
दिव्येन शून्यं वलयेन बाहुमपोढनेपथ्यविधिर्ददर्श ॥७३॥

जयश्रियः संवननं यतस्तदामुक्तपूर्वं गुरुणा च यस्मात् ।
सेहेऽस्य न भ्रंशमतो न लोभात्स तुल्यपुष्पाभरणो हि धीरः ॥७४॥

ततः समाज्ञापयदाशु सर्वानानायिनस्तद्विचये नदीष्णान् ।
वन्ध्यश्रमास्ते सरयूं विगाह्य तमूचुरम्लानमुखप्रसादाः ॥७५॥

कृतः प्रयत्नो न च देव लब्धं मग्नं पयस्याभरणोत्तमं ते ।
नागेन लौल्यात्कुमुदेन नूनमुपात्तमन्तर्ह्रदवासिना तत् ॥७६॥

ततः स कृत्वा धनुराततज्यं धनुर्धरः कोपविलोहिताक्षः ।
गारुत्मतं तीरगतस्तरस्वी भुजंगनाशाय समाददेऽस्त्रम् ॥७७॥

तस्मिन्ह्रदः संहितमात्र एव क्षोभात्समाविद्धतरङ्गहस्तः ।
रोधांसि निघ्नन्नवपातमग्नः करीव वन्यः परुषं ररास ॥७८॥

तस्मात्समुद्रादिव मथ्यमानादुद्वृत्तनक्रात्सहसोन्ममज्ज ।
लक्ष्म्येव सार्धं सुरराजवृक्षः कन्यां पुरस्कृत्य भुजंगराजः ॥७९॥

विभूषणप्रत्युपहारहस्तमुपस्थितं वीक्ष्य विशांपतिस्तम् ।
सौपर्णमस्त्रं प्रतिसंजहार प्रह्वेष्वनिर्बन्धरुषो हि सन्तः ॥८०॥

त्रैलोक्यनाथप्रभवं प्रभावात्कुशं द्विषामङ्कुशमस्त्रविद्वान् ।
मानोन्नतेनाप्यभिवन्द्य मूर्ध्ना मूर्धाभिषिक्तं कुमुदो बभाषे ॥८१॥

अवैमि कार्यान्तरमानुषस्य विष्णोः सुताख्यामपरां तनुं त्वाम् ।
सोऽहं कथं नाम तवाचरेयमाराधनीयस्य धृतेर्विघातम् ॥८२॥

कराभिघातोत्थितकन्दुकेयमालोक्य बालातिकुतूहलेन ।
ह्रदात्पतज्ज्योतिरिवान्तरिक्षादादत्त जैत्राभरणं त्वदीयम् ॥८३॥

तदेतदाजानुविलम्बिना ते ज्याघातरेखाकिणलाञ्छनेन ।
भुजेन रक्षापरिघेण भूमेरुपैतु योगं पुनरंसलेन ॥८४॥

इमां स्वसारं च यवीयसीं मे कुमुद्वतीं नार्हसि नानुमन्तुम् ।
आत्मापराधं नुदतीं चिराय शुश्रूषया पार्थिव पादयोस्ते ॥८५॥

इत्यूचिवानुपहृताभरणः क्षितीशं
श्लाघ्यो भवान्स्वजन इत्यनुभाषितारम् ।
संयोजयां विधिवदास समेतबन्धुः
कन्यामयेन कुमुदः कुलभूषणेन ॥८६॥

तस्याः स्पृष्टे मनुजपतिना साहचर्याय हस्ते
माङ्गल्योर्णावलयिनि पुरः पावकस्योच्छिखस्य ।
दिव्यस्तूर्यध्वनिरुदचरद्व्यश्नुवानो दिगन्ता-
न्गन्धोदग्रं तदनु ववृषुः पुष्पमाश्चर्यमेघाः ॥८७॥

इत्थं नागस्त्रिभुवनगुरोरौरसं मैथिलेयं
लब्ध्वा बन्धुं तमपि च कुशः पंचमं तक्षकस्य ।
एकः शङ्कां पितृवधरिपोरत्यजद्वैनतेया-
च्छान्तव्यालामवनिमपरः पौरकान्तः शशास ॥८८॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
कुमुद्वतीपरिणयो नाम षोडशः सर्गः ॥



सप्तदशः सर्गः

अतिथिं नाम काकुत्स्थात्पुत्रं प्राप कुमुद्वती ।
पश्चिमाद्यामिनीयामात्प्रसादमिव चेतना ॥ १ ॥

स पितुः पितृमान्वंशं मातुश्चानुपमद्युतिः ।
अपुनात्सवितेवोभौ मार्गावुत्तरदक्षिणौ ॥ २ ॥

तमादौ कुलविद्यानामर्थमर्थविदां वरः ।
पश्चात्पार्थिवकन्यानां पाणिमग्राहयत्पिता ॥ ३ ॥

जात्यस्तेनाभिजातेन शूरः शौर्यवता कुशः
अमन्यतैकमात्मानमनेकं वशिना वशी ॥ ४ ॥

स कुलोचितमिन्द्रस्य साहायकमुपेयिवान् ।
जघान समरे दैत्यं दुर्जयं तेन चावधि ॥ ५ ॥

तं स्वसा नागराजस्य कुमुदस्य कुमुद्वती ।
अन्वगात्कुमुदानन्दं शशांकमिव कौमुदी ॥ ६ ॥

तयोर्दिवस्पतेरासीदेकः सिंहासनार्धभाक् ।
द्वितीयापि सखी शच्याः पारिजातांशभागिनी ॥ ७ ॥

तदात्मसंभवं राज्ये मन्त्रिवृद्धाः समादधुः ।
स्मरन्तः पश्चिमामाज्ञां भर्तुः संग्रामयायिनः ॥ ८ ॥

ते तस्य कल्पयामासुरभिषेकाय शिल्पिभिः ।
विमानं नवमुद्वेदि चतुःस्तम्भप्रतिष्ठितम् ॥ ९ ॥

तत्रैनं हेमकुम्भेषु संभृतैस्तीर्थवारिभिः ।
उपतस्थुः प्रकृतयो भद्रपीठोपवेशितम् ॥१०॥

नदद्भिः स्निग्धगम्भीरं तूर्यैराहतपुष्करैः ।
अन्वमीयत कल्याणं तस्याविच्छिन्नसंतति ॥११॥

दूर्वायवांकुरप्लक्षत्वगभिन्नपुटोत्तरान् ।
ज्ञातिवृद्धैः प्रयुक्तान्स भेजे नीराजनाविधीन् ॥१२॥

पुरोहितपुरोगास्तं जिष्णुं जैत्रैरथर्वभिः ।
उपचक्रमिरे पूर्वमभिषेक्तुं द्विजातयः ॥१३॥

तस्यौघमहती मूर्ध्नि निपतन्ती व्यरोचत ।
सशब्दमभिषेकश्रीर्गङ्गेव त्रिपुरद्विषः ॥१४॥

स्तूयमानः क्षणे तस्मिन्नलक्ष्यत स बन्दिभिः ।
प्रवृद्ध इव पर्जन्यः सारङ्गैरभिनन्दितः ॥१५॥

तस्य सन्मन्त्रपूताभिः स्नानमद्भिः प्रतीच्छतः ।
ववृधे वैद्युतस्याग्नेर्वृष्टिसेकादिव द्युतिः ॥१६॥

स तावदभिषेकान्ते स्नातकेभ्यो ददौ वसु ।
यावतैषां समाप्येरन्यज्ञाः पर्याप्तदक्षिणाः ॥१७॥

ते प्रीतमनसस्तस्मै यामाशिषमुदैरयन् ।
सा तस्य कर्मनिर्वृत्तैर्दूरं पश्चात्कृता फलैः ॥१८॥

बन्धच्छेदं स बद्धानां वधार्हाणामवध्यताम् ।
धुर्याणां च धुरो मोक्षमदोहं चादिशद्गवाम् ॥१९॥

क्रीडापतत्रिणोऽप्यस्य पञ्जरस्थाः शुकादयः ।
लब्धमोक्षास्तदादेशाद्यथेष्टगतयोऽभवन् ॥२०॥

ततः कक्ष्यान्तरन्यस्तं गजदन्तासनं शुचि ।
सोत्तरच्छदमध्यास्त नेपथ्यग्रहणाय सः ॥२१॥

तं धूपाश्यानकेशान्तं तोयनिर्णिक्तपाणयः ।
आकल्पसाधनैस्तैस्तैरुपसेदुः प्रसाधकाः ॥२२॥

तेऽस्य मुक्तागुणोन्नद्धं मौलिमन्तर्गतस्रजम् ।
प्रत्यूपुः पद्मरागेण प्रभामण्डलशोभिना ॥२३॥

चन्दनेनाङ्गरागं च मृगनाभिसुगन्धिना ।
समापय्य ततश्चक्रुः पत्रं विन्यस्तगोचनम् ॥२४॥

आमुक्ताभरणः स्रग्वी हंसचिह्नदुकूलवान् ।
आसीदतिशयप्रेक्ष्यः स राज्यश्रीवधूवरः ॥२५॥

नेपथ्यदर्शिनश्छाया तस्यादर्शे हिरण्मये ।
विरराजोदिते सूर्ये मेरौ कल्पतरोरिव ॥२६॥

स राजककुदव्यग्रपाणिभिः पार्श्ववर्तिभिः ।
ययावुदीरितालोकः सुधर्मानवमां सभाम् ॥२७॥

वितानसहितं तत्र भेजे पैतृकमासनम् ।
चूडामणिभिरुद्घृष्टपादपीठं महीक्षिताम् ॥२८॥

शुशुभे तेन चाक्रान्तं मङ्गलायतनं महत् ।
श्रीवत्सलक्षणं वक्षः कौस्तुभेनेव केशवम् ॥२९॥

बभौ भूयः कुमारत्वादाधिराज्यमवाप्य सः ।
रेखाभावादुपारूढः सामग्र्यमिव चन्द्रमाः ॥२०॥

प्रसन्नमुखरागं तं स्मितपूर्वाभिभाषिणम् ।
मूर्तिमन्तममन्यन्त विश्वासमनुजीविनः ॥२१॥

स पुरं पुरुहूतश्रीः कल्पद्रुमनिभध्वजाम् ।
क्रममाणश्चकार द्यां नागेनैरावतौजसा ॥२२॥

तस्यैकस्योच्छ्रितं छत्रं मूर्ध्नि तेनामलत्विषा ।
पूर्वराजवियोगौष्म्यं कृत्स्नस्य जगतो हृतम् ॥२३॥

धूमादग्नेः शिखाः पश्चादुदयादंशवो रवेः ।
सोऽतीत्य तेजसां वृत्तिं सममेवोत्थितो गुणैः ॥२४॥

तं प्रीतिविशदैर्नेत्रैरन्वयुः पौरयोषितः ।
शरत्प्रसन्नैर्ज्योतिर्भिर्विभावर्य इव ध्रुवम् ॥२५॥

अयोध्यादेवताश्चैनं प्रशस्तायतनार्चिताः ।
अनुदध्युरनुध्येयं सांनिध्यैः प्रतिमागतैः ॥२६॥

यावन्नाश्यायते वेदिरभिषेकजलाप्लुता ।
तावदेवास्य वेलान्तं प्रतापः प्राप दुःसहः ॥२७॥

वशिष्ठस्य गुरोर्मन्त्राः सायकास्तस्य धन्विनः ।
किं तत्साध्यं यदुभये साधयेयुर्न संगताः ॥२८॥

स धर्मस्थसखः शश्वदर्थिप्रत्यर्थिनां स्वयम् ।
ददर्श संशयच्छेद्यान्व्यवहारानतन्द्रितः ॥२९॥

ततः परमभिव्यक्तसौमनस्यनिवेदितैः ।
युयोज पाकाभिमुखैर्भृत्यान्विज्ञापनाफलैः ॥४०॥

प्रजास्तद्गुरुणा नद्यो नभसेव विवर्धिताः ।
तस्मिंस्तु भूयसीं वृद्धिं नभस्ये ता इवाययुः ॥४१॥

यदुवाच न तन्मिथ्या यद्ददौ न जहार तत् ।
सोऽभूद्भग्नव्रतः शत्रूनुद्धृत्य प्रतिरोपयन् ॥४२॥

वयोरूपविभूतीनामेकैकं मदकारणम् ।
तानि तस्मिन्समस्तानि न तस्योत्सिषिचे मनः ॥४३॥

इत्थं जनितरागासु प्रकृतिष्वनुवासरम् ।
अक्षोभ्यः स नवोऽप्यासीद्दृढमूल इव द्रुमः ॥४४॥

अनित्याः शत्रवो बाह्या विप्रकृष्टाश्च ते यतः ।
अतः सोऽभ्यन्तरान्नित्यान्षट्पूर्वमजयद्रिपून् ॥४५॥

प्रसादाभिमुखे तस्मिंश्चपलापि स्वभावतः ।
निकषे हेमरेखेव श्रीरासीदनपायिनी ॥४६॥

कातर्यं केवला नीतिः शौर्यं श्वापदचेष्टितम् ।
अतः सिद्धिं समेताभ्यामुभाभ्यामन्वियेष सः ॥४७॥

न तस्य मण्डले राज्ञो न्यस्तप्रणिधिदीधितेः ।
अदृष्टमभवत्किंचिद्व्यभ्रस्येव विवस्वतः ॥४८॥

रात्रिंदिवविभागेषु यदादिष्टं महीक्षिताम् ।
तत्सिषेवे नियोगेन स विकल्पपराङ्मुखः ॥४९॥

मन्त्रः प्रतिदिनं तस्य बभूव सह मन्त्रिभिः ।
स जातु सेव्यमानोऽपि गुप्तद्वारो न सूच्यते ॥५०॥

परेषु स्वेषु च क्षिप्तैरविज्ञातपरस्परैः ।
सोऽपसर्पैर्जजागार यथाकालं स्वपन्नपि ॥५१॥

दुर्गाणि दुर्ग्रहाण्यासँस्तस्य रोद्धुरपि द्विषाम् ।
नहि सिंहो गजास्कन्दी भयाद्गिरिगुहाशयः ॥५२॥

भव्यमुख्याः समारम्भाः प्रत्यवेक्ष्या निरत्ययाः ।
गर्भशालिसधर्माणस्तस्य गूढं विपेचिरे ॥५३॥

अपथेन प्रववृते न जातूपचितोऽपि सः ।
वृद्धौ नदीमुखेनैव प्रस्थानं लवणाम्भसः ॥५४॥

कामं प्रकृतिवैराग्यं सद्यः शमयितुं क्षमः ।
यस्य कार्यः प्रतीकारः स तन्नैवोदपादयत् ॥५५॥

शक्येष्वेवाभवद्यात्रा तस्य शक्तिमतः सतः ।
समीरणसहायोऽपि नाम्भःप्रार्थी दवानलः ॥५६॥

न धर्ममर्थकामाभ्यां बबाधे न च तेन तौ ।
नार्थं कामेन कामं वा सोऽर्थेन सदृशस्त्रिषु ॥५७॥

हीनान्यनुपकर्तॄणि प्रवृद्धानि विकुर्वते ।
तेन मध्यमशक्तीनि मित्राणि स्थापितान्यतः ॥५८॥

परात्मनोः परिच्छिद्य शक्त्यादीनां बलाबलम् ।
ययावेभिर्बलिष्ठश्चेत्परस्मादास्त सोऽन्यथा ॥५९॥

कोशेनाश्रयणीयत्वमिति तस्यार्थसंग्रहः ।
अम्बुगर्भो हि जीमूतश्चातकैरभिनन्द्यते ॥६०॥

परकर्मापहः सोऽभूदुद्यतः स्वेषु कर्मसु ।
आवृणोदात्मनो रन्ध्रं रन्ध्रेषु प्रहरन्रिपून् ॥६१॥

पित्रा संवर्धितो नित्यं कृतास्त्रः सांपरायिकः ।
तस्य दण्डवतो दण्डः स्वदेहान्न व्यशिष्यत ॥६२॥

सर्पस्येव शिरोरत्नं नास्य शक्तित्रयं परः ।
स चकर्ष परस्मात्तदयस्कान्त इवायसम् ॥६३॥

वापीष्विव स्रवन्तीषु वनेषूपवनेष्विव ।
सार्थाः स्वैरं स्वकीयेषु चेरुर्वेश्मस्विवाद्रिषु ॥६४॥

तपो रक्षन्स विघ्नेभ्यस्तस्करेभ्यश्च संपदः ।
यथास्वमाश्रमैश्चक्रे वर्णैरपि षडंशभाक् ॥६५॥

खनिभिः सुषुवे रत्नं क्षेत्रैः सस्यं वनैर्गजान् ।
दिदेश वेतनं तस्मै रक्षासदृशमेव भूः ॥६६॥

स गुणानां बलानां च षण्णां षण्मुखविक्रमः ।
बभूव विनियोगज्ञः साधनीयेषु वस्तुषु ॥६७॥

इति क्रमात्प्रयुञ्जानो राजनीतिं चतुर्विधाम् ।
आतीर्थादप्रतीघातं स तस्याः फलमानशे ॥६८॥

कूटयुद्धविधिज्ञेऽपि तस्मिन्सन्मार्गयोधिनि ।
भेजेऽभिसारिकावृत्तिं जयश्रीर्वीरगामिनी ॥६९॥

प्रायः प्रतापभग्नत्वादरीणां तस्य दुर्लभः ।
रणो गन्धद्विपस्येव गन्धभिन्नान्यदन्तिनः ॥७०॥

प्रवृद्धौ हीयते चन्द्रः समुद्रोऽपि तथाविधः ।
स तु तत्समवृद्धिश्च न चाभूत्ताविव क्षयी ॥७१॥

सन्तस्तस्याभिगमनादत्यर्थं महतः कृशाः ।
उदधेरिव जीमूताः प्रापुर्दातृत्वमर्थिनः ॥७२॥

स्तूयमानः स जिह्राय स्तुत्यमेव समाचरन् ।
तथापि ववृधे तस्य तत्कारिद्वेषिणो यशः ॥७३॥

दुरितं दर्शनेन घ्नंस्तत्त्वार्थेन नुदंस्तमः ।
प्रजाः स्वतन्त्रयांचक्रे शश्वत्सूर्य इवोदितः ॥७४॥

इन्दोरगतयः पद्मे सूर्यस्य कुमुदेंऽशवः ।
गुणास्तस्य विपक्षेऽपि गुणिनो लेभिरेऽन्तरम् ॥७५॥

पराभिसंधानपरं यद्यप्यस्य विचेष्टितम् ।
जिगीषोरश्वमेधाय धर्म्यमेव बभूव तत् ॥७६॥

एवमुद्यन्प्रभावेण शास्त्रनिर्दिष्टवर्त्मना ।
वृषेव देवो देवानां राज्ञां राजा बभूव सः ॥७७॥

पञ्चमं लोकपालानामूचुः साधर्म्ययोगतः ।
भूतानां महतां षष्ठमष्टमं कुलभूभृताम् ॥७८॥

दूरापवर्जितच्छत्रैस्तस्याज्ञां शासनार्पिताम् ।
दधुः शिरोभिर्भूपाला देवाः पौरंदरीमिव ॥७९॥

ऋत्विजः स तथाऽऽनर्च दक्षिणाभिर्महाक्रतौ ।
यथा साधारणीभूतं नामास्य धनदस्य च ॥८०॥

इन्द्राद्वृष्टिर्नियमितगदोद्रेकवृत्तिर्यमोऽभू-
द्यादोनाथः शिवजलपथः कर्मणे नौचराणाम् ।
पूर्वापेक्षी तदनु विदधे कोषवृद्धिं कुबेर-
स्तस्मिन्दण्डोपनतचरितं भेजिरे लोकपालाः ॥८१॥

इति महाकवि श्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
अतिथिवर्णनो नाम सप्तदशः सर्गः ॥



अष्टादशः सर्गः

स नैषधस्यार्थपतेः सुतायामुत्पादयामास निषिद्धशत्रुः ।
अनूनसारं निषधान्नगेन्द्रात्पुत्रं यमाहुर्निषधाख्यमेव ॥ १ ॥

तेनोरुवीर्येण पिता प्रजायै कल्पिष्यमाणेन ननन्द यूना ।
सुवृष्टियोगादिव जीवलोकः सस्येन संपक्तिफलोन्मुखेन ॥ २ ॥

शब्दादि निर्विश्य सुखं चिराय तस्मिन्प्रतिष्ठापितराजशब्दः ।
कौमुद्वतेयः कुमुदावदातैर्द्यामर्जितां कर्मभिरारुरोह ॥ ३ ॥

पौत्रः कुशस्यापि कुशेशयाक्षः ससागरां सागरधीरचेताः ।
एकातपत्रां भुवमेकवीरः पुरार्गलादीर्घभुजो बुभोज ॥ ४ ॥

तस्यानलौजास्तनयस्तदन्ते वंशश्रियं प्राप नलाभिधानः ।
यो नड्वलानीव गजः परेषां बलान्यमृद्नान्नलिनाभवक्त्रः ॥ ५ ॥

नभश्चरैर्गीतयशाः स लेभे नभस्तलश्यामतनुं तनूजम् ।
ख्यातं नभःशब्दमयेन नाम्ना कान्तं नभोमासमिव प्रजानाम् ॥ ६ ॥

तस्मै विसृज्योत्तरकोशलानां धर्मोत्तरस्तत्प्रभवे प्रभुत्वम् ।
मृगैरजर्यं जरसोपदिष्टमदेहबन्धाय पुनर्बबन्ध ॥ ७ ॥

तेन द्विपानामिव पुण्डरीको राज्ञामजय्योऽजनि पुण्डरीकः ।
शान्ते पितर्याहृतपुण्डरीका यं पुण्डरीकाक्षमिव श्रिता श्रीः ॥ ८ ॥

स क्षेमधन्वानममोघधन्वा पुत्रं प्रजाक्षेमविधानदक्षम् ।
क्ष्मां लम्भयित्वा क्षमयोपपन्नं वने तपः क्षान्ततरश्चचार ॥ ९ ॥

अनीकिनीनां समरेऽग्रयायी तस्यापि देवप्रतिमः सुतोऽभूत् ।
व्यश्रूयतानीकपदावसानं देवादि नाम त्रिदिवेऽपि यस्य ॥१०॥

पिता समाराधनतत्परेण पुत्रेण पुत्री स यथैव तेन ।
पुत्रस्तथैवात्मजवत्सलेन स तेन पित्रा पितृमान्बभूव ॥११॥

पूर्वस्तयोरात्मसमे चिरोढामात्मोद्भवे वर्णचतुष्टयस्य ।
धुरं निधायैकनिधिर्गुणानां जगाम यज्वा यजमानलोकम् ॥१२॥

वशी सुतस्तस्य वशंवदत्वात्स्वेषामिवासीद्द्विषतामपीष्टः ।
सकृद्विविग्नानपि हि प्रयुक्तं माधुर्यमीष्टे हरिणान्ग्रहीतुम् ॥१३॥

अहीनगुर्नाम स गां समग्रामहीनबाहुद्रविणः शशास ।
यो हीनसंसर्गपराङ्मुखत्वाद्युवाप्यनर्थैर्व्यसनैर्विहीनः ॥१४॥

गुरोः स चानन्तरमन्तरज्ञः पुंसां पुमानाद्य इवावतीर्णः ।
उपक्रमैरस्खलितैश्चतुर्भिश्चतुर्दिगीशश्चतुरो बभूव ॥१५॥

तस्मिन्प्रयाते परलोकयात्रां जेतर्यरीणां तनयं तदीयम् ।
उच्चैःशिरस्त्वाज्जितपारियात्रं लक्ष्मीः सिषेवे किल पारियात्रम् ॥१६॥

तस्याभवत्सूनुरुदारशीलः शिलः शिलापट्टविशालवक्षाः ।
जितारिपक्षोऽपि शिलीमुखैर्यः शालीनतामव्रजदीड्यमानः ॥१७॥

तमात्मसंपन्नमनिन्दितात्मा कृत्वा युवानं युवराजमेव ।
सुखानि सोऽभुङ्क्त सुखोपरोधि वृत्तं हि राज्ञामुपरुद्धवृत्तम् ॥१८॥

तं रागबन्धिष्ववितृप्तमेव भोगेषु सौभाग्यविशेषभोग्यम् ।
विलासिनीनामरतिक्षमापि जरा वृथा मत्सरिणी जहार ॥१९॥

उन्नाभ इत्युद्गतनामधेयस्तस्यायथार्थोन्नतनाभिरन्ध्रः ।
सुतोऽभवत्पङ्कजनाभकल्पः कृत्स्नस्य नाभिर्नृपमण्डलस्य ॥२०॥

ततः परं वज्रधरप्रभावस्तदात्मजः संयति वज्रघोषः ।
बभूव वज्राकरभूषणायाः पतिः पृथिव्याः किल वज्रणाभः ॥२१॥

तस्मिन्गते द्यां सुकृतोपलब्धां तत्संभवं शङ्खणमर्णवान्ता ।
उत्खातशत्रुं वसुधोपतस्थे रत्नोपहारैरुदितैः खनिभ्यः ॥२२॥

तस्यावसाने हरिदश्वधामा पित्र्यं प्रपेदे पदमश्विरूपः ।
वेलातटेषूषितसैनिकाश्वं पुराविदो यं व्युषिताश्वमाहुः ॥२३॥

आराध्य विश्वेश्वरमीश्वरेण तेन क्षितेर्विश्वसहो विजज्ञे ।
पातुं सहो विश्वसखः समग्रां विश्वंभरामात्मजमूर्तिरात्मा ॥२४॥

अंशे हिरण्याक्षरिपोः स जाते हिरण्यनाभे तनये नयज्ञः ।
द्विषामसह्यः सुतरां तरूणां हिरण्यरेता इव सानिलोऽभूत् ॥२५॥

पिता पितॄणामनृणस्तमन्ते वयस्यनन्तानि सुखानि लिप्सुः ।
राजानमाजानुविलम्बिबाहुं कृत्वा कृती वल्कलवान्बभूव ॥२६॥

कौशल्य इत्युत्तरकोशलानां पत्युः पतङ्गान्वयभूषणस्य ।
तस्यौरसः सोमसुतः सुतोऽभून्नेत्रोत्सवः सोम इव द्वितीयः ॥२७॥

यशोभिराब्रह्मसभं प्रकाशः स ब्रह्मभूयं गतिमाजगाम ।
ब्रह्मिष्ठमाधाय निजेऽधिकारे ब्रह्मिष्ठमेव स्वतनुप्रसूतम् ॥२८॥

तस्मिन्कुलापीडनिभे विपीडं सम्यङ्महीं शासति शासनाङ्काम् ।
प्रजाश्चिरं सुप्रजसि प्रजेशे ननन्दुरानन्दजलाविलाक्ष्यः ॥२९॥

पात्रीकृतात्मा गुरुसेवनेन स्पष्टाकृतिः पत्त्ररथेन्द्रकेतोः ।
तं पुत्रिणां पुष्करपत्त्रनेत्रः पुत्रः समारोपयदग्रसंख्याम् ॥३०॥

वंशस्थितिं वंशकरेण तेन संभाव्य भावी स सखा मघोनः ।
उपस्पृशन्स्पर्शनिवृत्तलौल्यस्त्रिपुष्करेषु त्रिदशत्वमाप ॥३१॥

तस्य प्रभानिर्जितपुष्परागं पौष्यां तिथौ पुष्यमसूत पत्नी ।
तस्मिन्नपुष्यन्नुदिते समग्रां पुष्टिं जनाः पुष्य इव द्वितीये ॥३२॥

महीं महेच्छः परिकीर्य सूनौ मनीषिणे जैमिनयेऽर्पितात्मा ।
तस्मात्सयोगादधिगम्य योगमजन्मनेऽकल्पत जन्मभीरुः ॥३३॥

ततः परं तत्प्रभवः प्रपेदे ध्रुवोपमेयो ध्रुवसंधिरुर्वीम् ।
यस्मिन्नभूज्ज्यायसि सत्यसंधे संधिर्ध्रुवः संनमतामरीणाम् ॥३४॥

सुते शिशावेव सुदर्शनाख्ये दर्शात्ययेन्दुप्रियदर्शने सः ।
मृगायताक्षो मृगयाविहारी सिंहादवापद्विपदं नृसिंहः ॥३५॥

स्वर्गामिनस्तस्य तमैकमत्यादमात्यवर्गः कुलतन्तुमेकम् ।
अनाथदीनाः प्रकृतीरवेक्ष्य साकेतनाथं विधिवच्चकार ॥३६॥

नवेन्दुना तन्नभसोपमेयं शावैकसिंहेन च काननेन ।
रघोः कुलं कुड्मलपुष्करेण तोयेन चाप्रौढनरेन्द्रमासीत् ॥३७॥

लोकेन भावी पितुरेव तुल्यः संभावितो मौलिपरिग्रहात्सः ।
दृष्टो हि वृण्वन्कलभप्रमाणोऽप्याशाः पुरोवातमवाप्य मेघः ॥३८॥

तं राजवीथ्यामधिहस्ति यान्तमाधोरणालम्बितमग्र्यवेशम् ।
षड्वर्षदेशीयमपि प्रभुत्वात्प्रैक्षन्त पौराः पितृगौरवेण ॥३९॥

कामं न सोऽकल्पत पैतृकस्य सिंहासनस्य प्रतिपूरणाय ।
तेजोमहिम्ना पुनरावृतात्मा तद्व्याप चामीकरपिञ्जरेण ॥४०॥

तस्मादधः किंचिदिवावतीर्णावसंस्पृशन्तौ तपनीयपीठम् ।
सालक्तकौ भूपतयः प्रसिद्धैर्ववन्दिरे मौलिभिरस्य पादौ ॥४१॥

मणौ महानील इति प्रभावादल्पप्रमाणेऽपि यथा न मिथ्या ।
शब्दो महाराज इति प्रतीतस्तथैव तस्मिन्युयुजेऽर्भकेऽपि ॥४२॥

पर्यन्तसंचारितचामरस्य कपोललोलोभयकाकपक्षात् ।
तस्यानवद्यादुच्चरितो विवादश्चस्खाल वेलास्वपि नार्णवानाम् ॥४३॥

निर्वृत्तजाम्बूनदपट्टशोभे न्यस्तं ललाटे तिलकं दधानः ।
तेनैव शून्यान्यरिसुन्दरीणां मुखानि स स्मेरमुखश्चकार ॥४४॥

शिरीषपुष्पाधिकसौकुमार्यः खेदं स यायादपि भूषणेन ।
नितान्तगुर्वीमपि सोऽनुभावाद्धुरं धरित्र्या बिभरांबभूव ॥४५॥

न्यस्ताक्षरामक्षरभूमिकायां कात्स्न्र्येन गृह्णाति लिपिं न यावत् ।
सर्वाणि तावच्छ्रुतवृद्धयोगात्फलान्युपायुङ्क्त स दण्डनीतेः ॥४६॥

उरस्यपर्याप्तनिवेशभागा प्रौढीभविष्यन्तमुदीक्षमाणा ।
संजातलज्जेव तमातपत्रच्छायाच्छलेनोपजुगूह लक्ष्मीः ॥४७॥

अनश्नुवानेन युगोपमानमबद्धमौर्वीकिणलाञ्छनेन ।
अस्पृष्टखड्गत्सरुणापि चासीद्रक्षावती तस्य भुजेन भूमिः ॥४८॥

न केवलं गच्छति तस्य काले ययुः शरीरावयवा विवृद्धिम् ।
वंश्या गुणाः खल्वपि लोककान्ताः प्रारम्भसूक्ष्माः प्रथिमानमापुः ४९

स पूर्वजन्मान्तरदृष्टपाराः स्मरन्निवाक्लेशकरो गुरूणाम् ।
तिस्रस्त्रिवर्गाधिगमस्य मूलं जग्राह विद्याः प्रकृतीश्च पित्र्याः ॥५०॥

व्यूह्य स्थितः किंचिदिवोत्तरार्धमुन्नद्धचूडोऽञ्चितसव्यजानुः ।
आकर्णमाकृष्टसबाणधन्वा व्यरोचतास्त्रेषु विनीयमानः ॥५१॥

अथ मधु वनितानां नेत्रनिर्वेशनीयं
मनसिजतरुपुष्पं रागबन्धप्रवालम् ।
अकृतकविधि सर्वाङ्गीणमाकल्पजातं
विलसितपदमाद्यं यौवनं स प्रपेदे ॥५२॥

प्रतिकृतिरचनाभ्यो दूतिसंदर्शिताभ्यः
समधिकतररूपाः शुद्धसंतानकामैः ।
अधिविविदुरमात्यैराहृतास्तस्य यूनः
प्रथमपरिगृहीते श्रीभुवो राजकन्याः ॥५३॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
वंशानुक्रमो नामाष्टादशः सर्गः ॥



एकोनविंशः सर्गः

अग्निवर्णमभिषिच्य राघवः स्वे पदे तनयमग्नितेजसम् ।
शिश्रिये श्रुतवतामपश्चिमः पश्चिमे वयसि नैमिषं वशी ॥ १ ॥

तत्र तीर्थसलिलेन दीर्घिकास्तल्पमन्तरितभूमिभिः कुशैः ।
सौधवासमुटजेन विस्मृतः संचिकाय फलनिःस्पृहस्तपः ॥ २ ॥

लब्धपालनविधौ न तत्सुतः खेदमाप गुरुणा हि मेदिनी ।
भोक्तुमेव भुजनिर्जितद्विषा न प्रसाधयितुमस्य कल्पिता ॥ ३ ॥

सोऽधिकारमभिकः कुलोचितं काश्चन स्वयमवर्तयत्समाः ।
संनिवेश्य सचिवेष्वतः परं स्त्रीविधेयनवयौवनोऽभवत् ॥ ४ ॥

कामिनीसहचरस्य कामिनस्तस्य वेश्मसु मृदङ्गनादिषु ।
ऋद्धिमन्तमधिकर्द्धिरुत्तरः पूर्वमुत्सवमपोहदुत्सवः ॥ ५ ॥

इन्द्रियार्थपरिशून्यमक्षमः सोढुमेकमपि स क्षणान्तरम् ।
अन्तरेव विहरन्दिवानिशं न व्यपैक्षत समुत्सुकाः प्रजाः ॥ ६ ॥

गौरवाद्यदपि जातु मन्त्रिणां दर्शनं प्रकृतिकाङ्क्षितं ददौ ।
तद्गवाक्षविवरावलम्बिना केवलेन चरणेन कल्पितम् ॥ ७ ॥

तं कृतप्रणतयोनुजीविनः कोमलात्मनखरागरूषितम् ।
भेजिरे नवदिवाकरातपस्पृष्टपङ्कजतुलाधिरोहणम् ॥ ८ ॥

यौवनोन्नतविलासिनीस्तनक्षोभलोलकमलाश्च दीर्घिकाः ।
गूढमोहनगृहास्तदम्बुभिः स व्यगाहत विगाढमन्मथः ॥ ९ ॥

तत्र सेकहृतलोचनाञ्जनैर्धौतरागपरिपाटलाधरैः ।
अङ्गनास्तमधिकं व्यलोभयन्नर्पितप्रकृतकान्तिभिर्मुखैः ॥१०॥

घ्राणकान्तमधुगन्धकर्षिणीः पानभूमिरचनाः प्रियासखः ।
अभ्यपद्यत स वासितासखः पुष्पिताः कमलिनीरिव द्विपः ॥११॥

सातिरेकमदकारणं रहस्तेन दत्तमभिलेषुरङ्गनाः ।
ताभिरप्युपहृतं मुखासवं सोऽपिबद्बकुलतुल्यदोहदः ॥१२॥

अङ्कमङ्कपरिवर्तनोचिते तस्य निन्यतुरशून्यतामुभे ।
वल्लकी च हृदयंगमस्वना वल्गुवागपि च वामलोचना ॥१३॥

स स्वयं प्रहतपुष्करः कृती लोलमाल्यवलयो हरन्मनः ।
नर्तकीरभिनयातिलङ्घिनीः पार्श्ववर्तिषु गुरुष्वलज्जयत् ॥१४॥

चारु नृत्यविगमे च तन्मुखं स्वेदभिन्नतिलकं परिश्रमात् ।
प्रेमदत्तवदनानिलः पिबन्नत्यजीवदमरालकेश्वरौ ॥१५॥

तस्य सावरणदृष्टसंधयः काम्यवस्तुषु नवेषु सङ्गिनः ।
वल्लभाभिरुपसृत्य चक्रिरे सामिभुक्तविषयाः समागमाः ॥१६॥

अङ्गुलीकिसलयाग्रतर्जनं भ्रूविभङ्गकुटिलं च वीक्षितम् ।
मेखलाभिरसकृच्च बन्धनं वञ्चयन्प्रणयिनीरवाप सः ॥१७॥

तेन दूतिविदितं निषेदुषा पृष्ठतः सुरतवारगत्रिषु ।
शुश्रुवे प्रियजनस्य कातरं विप्रलम्भपरिशङ्किनो वचः ॥१८॥

लौल्यमेत्य गृहिणीपरिग्रहान्नर्तकीष्वसुलभासु तद्वपुः ।
वर्तते स स कथंचिदालिखन्नङ्गुलीक्षरणसन्नवर्तिकः ॥१९॥

प्रेमगर्वितविपक्षमत्सरादायताच्च मदनान्महीक्षितम् ।
निन्युरुत्सवविधिच्छलेन तं देव्य उज्झितरुषः कृतार्थताम् ॥२०॥

प्रातरेत्यपरिभोगशोभिना दर्शनेन कृतखण्डनव्यथाः ।
प्राञ्जलिः प्रणयिनीः प्रसादयन्सोऽदुनोत्प्रणयमन्थरः पुनः ॥२१॥

स्वप्नकीर्तितविपक्षमङ्गनाः प्रत्यभैत्सुरवदन्त्य एव तम् ।
प्रच्छदान्तगलिताश्रुबिन्दुभिः क्रोधभिन्नवलयैर्विवर्तनैः ॥२२॥

क्लृप्तपुष्पशयनाँल्लतागृहानेत्य दूतिकृतमार्गदर्शनः ।
अन्वभूत्परिजनाङ्गनारतं सोऽवरोधभयवेपथूत्तरम् ॥२३॥

नाम वल्लभजनस्य ते मया प्राप्य भाग्यमपि तस्य काङ्क्ष्यते ।
लोलुपं ननु मनो ममेति तं गोत्रविस्खलितमूचुरङ्गनाः ॥२४॥

चूर्णबभ्रु लुलितस्रगाकुलं छिन्नमेखलमलक्तकाङ्कितम् ।
उत्थितस्य शयनं विलासिनस्तस्य विभ्रमरतान्यपावृणोत् ॥२५॥

स स्वयं चरणरागमादधे योषितां न च तथा समाहितः ।
लोभ्यमाननयनः श्लथांशुकैर्मेखलागुणपदैर्नितम्बिभिः ॥२६॥

चुम्बने विपरिवर्तिताधरं हस्तरोधि रशनाविघट्टने ।
विघ्नितेच्छमपि तस्य सर्वतो मन्मथेन्धनमभूद्वधूरतम् ॥२७॥

दर्पणेषु परिभोगदर्शिनीर्नर्मपूर्वमनुपृष्ठसंस्थितः ।
छायया स्मितमनोज्ञया वधूर्ह्रीनिमीलितमुखीश्चकार सः ॥२८॥

कण्ठसक्तमृदुबाहुबन्धनं न्यस्तपादतलमग्रपादयोः ।
प्रार्थयन्त शयनोत्थितं प्रियास्तं निशात्ययविसर्गचुम्बनम् ॥२९॥

प्रेक्ष्य दर्पणतलस्थमात्मनो राजवेशमतिशक्रशोभिनम् ।
पिप्रिये न स तथा यथा युवा व्यक्तलक्ष्म परिभोगमण्डनम् ॥३०॥

मित्रकृत्यमपदिश्य पार्श्वतः प्रस्थितं तमनवस्थितं प्रियाः ।
विद्म हे शठ पलायनच्छलान्यञ्जसेति रुरुधुः कचग्रहैः ॥३१॥

तस्य निर्दयरतिश्रमालसाः कण्ठसूत्रमपदिश्य योषितः ।
अध्यशेरत बृहद्भुजान्तरं पीवरस्तनविलुप्तचन्दनम् ॥३२॥

संगमाय निशि गूढचारिणं चारदूतिकथितं पुरोगताः ।
वञ्चयिष्यसि कुतस्तमोवृतः कामुकेति चकृषुस्तमङ्गनाः ॥३३॥

योषितामुडुपतेरिवार्चिषां स्पर्शनिर्वृतिमसाववाप्नुवन् ।
आरुरोह कुमुदाकरोपमां रात्रिजागरपरो दिवाशयः ॥३४॥

वेणुना दशनपीडिताधरा वीणया नखपदाङ्कितोरवः ।
शिल्पकार्य उभयेन वेजितास्तं विजिह्मनयना व्यलोभयन् ॥३५॥

अङ्गसत्त्ववचनाश्रयं मिथः स्त्रीषु नृत्यमुपधाय दर्शयन् ।
स प्रयोगनिपुणैः प्रयोक्तृभिः संजघर्ष सह मित्रसंनिधौ ॥३६॥

अंसलम्बिकुटजार्जुनस्रजस्तस्य नीपरजसाङ्गरागिणः ।
प्रावृषि प्रमदबर्हिणेष्वभूत्कृत्रिमाद्रिषु विहारविभ्रमः ॥३७॥

विग्रहाच्च शयने पराङ्मुखीर्नानुनेतुमबलाः स तत्वरे ।
आचकाङ्क्ष घनशब्दविक्लवास्ता विवृत्य विशतीर्भुजान्तरम् ॥३८॥

कार्तिकीषु सवितानहर्म्यभाग्यामिनीषु ललिताङ्गनासखः ।
अन्वभुङ्क्त सुरतश्रमापहां मेघमुक्तविशदां स चन्द्रिकाम् ॥३९॥

सैकतं च सरयूं विवृण्वतीं श्रोणिबिम्बमिव हंसमेखलम् ।
स्वप्रियाविलसितानुकारिणीं सौधजालविवरैर्व्यलोकयत् ॥४०॥

मर्मरैरगुरुधूपगन्धिभिर्व्यक्तहेमरशनैस्तमेकतः ।
जह्रुराग्रथनमोक्षलोलुपं हैमनैर्निवसनैः सुमध्यमाः ॥४१॥

अर्पितस्तिमितदीपदृष्टयो गर्भवेश्मसु निवातकुक्षिषु ।
तस्य सर्वसुरतान्तरक्षमाः साक्षितां शिशिररात्रयो ययुः ॥४२॥

दक्षिणेन पवनेन संभृतं प्रेक्ष्य चूतकुसुमं सपल्लवम् ।
अन्वनैषुरवधूतविग्रहास्तं दुरुत्सहवियोगमङ्गनाः ॥४३॥

ताः स्वमङ्कमधिरोप्य दोलया प्रेङ्खयन्परिजनापविद्धया ।
मुक्तरज्जु निविडं भयच्छलात्कण्ठबन्धनमवाप बाहुभिः ॥४४॥

तं पयोधरनिषिक्तचन्दनैर्मौक्तिकग्रथितचारुभूषणैः ।
ग्रीष्मवेषविधिभिः सिषेविरे श्रोणिलम्बिमणिमेखलैः प्रियाः ॥४५॥

यत्स लग्नसहकारमासवं रक्तपाटलसमागमं पपौ ।
तेन तस्य मधुनिर्गमात्कृशश्चित्तयोनिरभवत्पुनर्नवः ॥४६॥

एवमिन्द्रियसुखानि निर्विशन्नन्यकार्यविमुखः स पार्थिवः ।
आत्मलक्षणनिवेदितानृतूनत्यवाहयदनङ्गवाहितः ॥४७॥

तं प्रमत्तमपि न प्रभावतः शेकुराक्रमितुमन्यपार्थिवाः ।
आमयस्तु रतिरागसंभवो दक्षशाप इव चन्द्रमक्षिणोत् ॥४८॥

दृष्टदोषमपि तन्न सोऽत्यजत्सङ्गवस्तु भिषजामनाश्रवः ।
स्वादुभिस्तु विषयैर्हृतस्ततो दुःखमिन्द्रियगणो निवार्यते ॥४९॥

तस्य पाण्डुवदनाल्पभूषणा सावलम्बगमना मृदुस्वना ।
राजयक्ष्मपरिहानिराययौ कामयानसमवस्थया तुलाम् ॥५०॥

व्योम पश्चिमकलास्थितेन्दु वा पङ्कशेषमिव घर्मपल्वलम् ।
राज्ञि तत्कुलमभूत्क्षयातुरे वामनार्चिरिव दीपभाजनम् ॥५१॥

वाढमेष दिवसेषु पार्थिवः कर्म साधयति पुत्रजन्मने ।
इत्यदर्शितहरुजोऽस्य मन्त्रिणः शश्वदूचुरघशङ्किनीः प्रजाः॥५२॥

स त्वनेकवनितासखोऽपि सन्पावनीमनवलोक्य संततिम् ।
वैद्ययत्नपरिभाविनं गदं न प्रदीप इव वायुमत्यगात् ॥५३॥

तं गृहोपवन एव संगताः पश्चिमक्रतुविदा पुरोधसा ।
रोगशान्तिमपदिश्य मन्त्रिणः संभृते शिखिनि गूढमादधुः ॥५४॥

तैः कृतप्रकृतिमुख्यसंग्रहैराशु तस्य सहधर्मचारिणी ।
साधु दृष्टशुभगर्भलक्षणा प्रत्यपद्यत नराधिपश्रियम् ॥५५॥

तस्यास्तथा विधनरेन्द्रविपत्तिशोका-
दुष्णैर्विलोचनजलैः प्रथमाभितप्तः ।
निर्वापितः कनककुम्भमुखोज्झितेन
वंशाभिषेकविधिना शिशिरेण गर्भः ॥५६॥

तं भावार्थं प्रसवसमयाकाङ्क्षिणीनां प्रजाना-
मन्तर्गूढं क्षितिरिव नभोबीजमुष्टिं दधाना ।
मौलैः सार्धं स्थविरसचिवैर्हेमसिंहासनस्था
राज्ञी राज्यं विधिवदशिषद्भर्तुरव्याहताज्ञा ॥५७॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
अग्निवर्णशृङ्गारो नामैकोनविंशः सर्गः ॥

॥ इति रघुवंशम् ॥

॥ श्रीः ॥

कुमारसंभवम्

प्रथमः सर्गः

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः ।
पूर्वापरौ तोयनिधीवगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः ॥ १ ॥

यं सर्वशैलाः परिकल्प्य वत्सं मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदक्षे ।
भास्वन्ति रत्नानि महौषधीश्च पृथूपदिष्टां दुदुहुर्धरित्रीम् ॥ २ ॥

अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम् ।
एको हि दोषो गुणसंनिपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः ॥ ३ ॥

यश्चाप्सरोविभ्रममण्डनानां संपादयित्रीं शिखरैर्बिभर्ति ।
बलाहकच्छेदविभक्तरागामकालसंध्यामिव धातुमत्ताम् ॥ ४ ॥

आमेखलं संचरतां घनानां छायामधःसानुगतां निषेव्य ।
उद्वेजिता वृष्टिभिराश्रयन्ते शृङ्गाणि यस्यातपवन्ति सिद्धाः ॥ ५ ॥

पदं तुषारस्रुतिधौतरक्तं यस्मिन्नदृष्ट्वापि हतद्विपानाम् ।
विदन्ति मार्गं नखरन्ध्रमुक्तैर्मुक्ताफलैः केसरिणां किराताः ॥ ६ ॥

न्यस्ताक्षरा धातुरसेन यत्र भूर्जत्वचः कुञ्जरबिन्दुशोणाः ।
व्रजन्ति विद्याधरसुन्दरीणामनङ्गलेखक्रिययोपयोगम् ॥ ७ ॥

यः पूरयन्कीचकरन्ध्रभागान्दरीमुखोत्थेन समीरणेन ।
उद्गास्यतामिच्छति किंनराणां तानप्रदायित्वमिवोपगन्तुम् ॥ ८ ॥

कपोलकण्डूः करिभिर्विनेतुं विघट्टितानां सरलद्रुमाणाम् ।
यत्र स्रुतक्षीरतया प्रसूतः सानूनि गन्धः सुरभीकरोति ॥ ९ ॥

वनेचराणां वनितासखानां दरीगृहोत्सङ्गनिषक्तभासः ।
भवन्ति यत्रौषधयो रजन्यामतैलपूराः सुरतप्रदीपाः ॥१०॥

उद्वेजयत्यङ्गुलिपार्ष्णिभागान्मार्गे शिलीभूतहिमेऽपि यत्र ।
न दुर्वहश्रोणिपयोधरार्ता भिन्दन्ति मन्दां गतिमश्वमुख्यः ॥११॥

दिवाकराद्रक्षति यो गुहासु लीनं दिवाभीतमिवान्धकारम् ।
क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैःशिरसां सतीव ॥१२॥

लाङ्गूलविक्षेपविसर्पिशोभैरितस्ततश्चन्द्रमरीचिगौरैः ।
यस्यार्थयुक्तं गिरिराजशब्दं कुर्वन्ति वालव्यजनैश्चमर्यः ॥१३॥

यत्रांशुकाक्षेपविलज्जितानां यदृच्छया किंपुरुषाङ्गनानाम् ।
दरीगृहद्वारविलम्बिबिम्बास्तिरस्करिण्यो जलदा भवन्ति ॥१४॥

भागीरथीनिर्झरसीकराणां वोढा मुहुः कम्पितदेवदारुः ।
यद्वायुरन्विष्टमृगैः किरातैरासेव्यते भिन्नशिखण्डिबर्हः ॥१५॥

सप्तर्षिहस्तावचितावशेषाण्यधो विवस्वान्परिवर्तमानः ।
पद्मानि यस्याग्रसरोरुहाणि प्रबोधयत्यूर्ध्वमुखैर्मयूखैः ॥१६॥

यज्ञाङ्गयोनित्वमवेक्ष्य यस्य सारं धरित्रीधरणक्षमं च ।
प्रजापतिः कल्पितयज्ञभागं शैलाधिपत्यं स्वयमन्वतिष्ठत् ॥१७॥

स मानसीं मेरुसखः पितॄणां कन्यां कुलस्य स्थितये स्थितिज्ञः ।
मेनां मुनीनामपि माननीयामात्मानुरूपां विधिनोपयेमे ॥१८॥

कालक्रमेणाथ तयोः प्रवृत्ते स्वरूपयोग्ये सुरतप्रसङ्गे ।
मनोरमं यौवनमुद्वहन्त्या गर्भोऽभवद्भूधरराजपत्न्याः ॥१९॥

असूत सा नागवधूपभोग्यं मैनाकमम्भोनिधिबद्धसख्यम् ।
क्रुद्धेऽपि पक्षच्छिदि वृत्रशत्राववेदनाज्ञं कुलिशक्षतानाम् ॥२०॥

अथावमानेन पितुः प्रयुक्ता दक्षस्य कन्या भवपूर्वपत्नी ।
सती सती योगविसृष्टदेहा तां जन्मने शैलवधूं प्रपेदे ॥२१॥

सा भूधराणामधिपेन तस्यां समाधिमत्यामुदपादि भव्या ।
सम्यक्प्रयोगादपरिक्षतायां नीताविवोत्साहगुणेन संपत् ॥२२॥

प्रसन्नदिक्पांसुविविक्तवातं शङ्खस्वनानन्तरपुष्पवृष्टि ।
शरीरिणां स्थावरजंगमानां सुखाय तज्जन्मदिनं बभूव ॥२३॥

तया दुहित्रा सुतरां सवित्री स्फुरत्प्रभामण्डलया चकासे ।
विदूरभूमिर्नवमेघशब्दादुद्भिन्नया रत्नशलाकयेव ॥२४॥

दिने दिने सा परिवर्धमाना लब्धोदया चान्द्रमसीव लेखा ।
पुपोष लावण्यमयान्विशेषाञ्ज्योत्स्नान्तराणीव कलान्तराणि॥२५॥

तां पार्वतीत्याभिजनेन नाम्ना बन्धुप्रियां बन्धुजनो जुहाव ।
उमेति मात्रा तपसो निषिद्धा पश्चादुमाख्यां सुमुखी जगाम ॥२६॥

महीभृतः पुत्रवतोऽपि दृष्टिस्तस्मिन्नपत्ये न जगाम तृप्तिम् ।
अनन्तपुष्पस्य मधोर्हि चूते द्विरेफमाला सविशेषसङ्गा ॥२७॥

प्रभामहत्या शिखयेव दीपस्त्रिमार्गयेव त्रिदिवस्य मार्गः ।
संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तया स पूतश्च विभूषितश्च ॥२८॥

मन्दाकिनीसैकतवेदिकाभिः सा कन्दुकैः कृत्रिमपुत्रकैश्च ।
रेमे मुहुर्मध्यगता सखीनां क्रीडारसं निर्विशतीव बाल्ये ॥२९॥

तां हंसमालाः शरदीव गङ्गां महौषधिं नक्तमिवात्मभासः ।
स्थिरोपदेशामुपदेशकाले प्रपेदिरे प्राक्तनजन्मविद्याः ॥३०॥

असंभृतं मण्डनमङ्गयष्टेरनासवाख्यं करणं मदस्य ।
कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रं बाल्यात्परं साथ वयः प्रपेदे ॥३१॥

उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम् ।
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन ॥३२॥

अभ्युन्नताङ्गुष्ठनखप्रभाभिर्निक्षेपणाद्रागमिवोद्गिरन्तौ ।
आजह्रतुस्तच्चरणौ पृथिव्यां स्थलारविन्दश्रियमव्यवस्थाम् ॥३३॥

सा राजहंसैरिव संनताङ्गी गतेषु लीलाञ्चितविक्रमेषु ।
व्यनीयत प्रत्युपदेशलुब्धैरादित्सुभिर्नूपुरसिञ्जितानि ॥३४॥

वृत्तानुपूर्वे च न चातिदीर्घे जङ्घे शुभे सृष्टवतस्तदीये ।
शेषाङ्गनिर्माणविधौ विधातुर्लावण्य उत्पाद्य इवास यत्नः ॥३५॥

नागेन्द्रहस्तास्त्वचि कर्कशत्वादेकान्तशैत्यात्कदलीविशेषाः ।
लब्ध्वापि लोके परिणाहि रूपं जातास्तदूर्वोरुपमानबाह्याः ॥३६॥

एतावता नन्वनुमेयशोभि काञ्चीगुणस्थानमनिन्दितायाः ।
आरोपितं यद्गिरिशेन पश्चादनन्यनारीकमनीयमङ्कम् ॥३७॥

तस्याः प्रविष्टा नतनाभिरन्ध्रं रराज तन्वी नवलोमराजिः ।
नीवीमतिक्रम्य सिततरस्य तन्मेखलामध्यमणेरिवार्चिः ॥३८॥

मध्येन सा वेदिविलग्नमध्या वलित्रयं चारु बभार बाला ।
आरोहणार्थं नवयौवनेन कामस्य सोपानमिव प्रयुक्तम् ॥३९॥

अन्योन्यमुत्पीडयदुत्पलाक्ष्याः स्तनद्वयं पाण्डु तथा प्रवृद्धम् ।
मध्ये यथा श्याममुखस्य तस्य मृणालसूत्रान्तरमप्यलभ्यम् ॥४०॥

शिरीषपुष्पाधिकसौकुमार्यौ बाहू तदीयाविति मे वितर्कः ।
पराजितेनापि कृतौ हरस्य यौ कण्ठपाशौ मकरध्वजेन ॥४१॥

कण्ठस्य तस्याः स्तनबन्धुरस्य मुक्ताकलापस्य च निस्तलस्य ।
अन्योन्यशोभाजननाद्बभूव साधारणो भूषणभूष्यभावः ॥४२॥

चन्द्रं गता पद्मगुणान्न भुङ्क्ते पद्माश्रिता चान्द्रमसीमभिख्याम् ।
उमामुखं तु प्रतिपद्य लोला द्विसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः ॥४३॥

पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम् ।
ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य ॥४४॥

स्वरेण तस्याममृतस्रुतेव प्रजल्पितायामभिजातवाचि ।
अप्यन्यपुष्टा प्रतिकूलशब्दा श्रोतुर्वितन्त्रीरिव ताड्यमाना ॥४५॥

प्रवातनीलोत्पलनिर्विशेषमधीरविप्रेक्षितमायताक्ष्या ।
तया गृहीतं नु मृगाङ्गनाभ्यस्ततो गृहीतं नु मृगाङ्गनाभिः ॥४६॥

तस्याः शलाकाञ्जननिर्मितेव कान्तिर्भ्रुवोरायतलेखयोर्या ।
तां वीक्ष्य लीलाचतुरामनङ्गः स्वचापसौन्दर्यमदं मुमोच ॥४७॥

लज्जा तिरश्चां यदि चेतसि स्यादसंशयं पर्वतराजपुत्र्याः ।
तं केशपाशं प्रसमीक्ष्य कुर्युर्वालप्रियत्वं शिथिलं चमर्यः ॥४८॥

सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन यथाप्रदेशं विनिवेशितेन ।
सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकस्थसौन्दर्यदिदृक्षयेव ॥४९॥

तां नारदः कामचरः कदाचित्कन्यां किल प्रेक्ष्य पितुः समीपे ।
समादिदेशैकवधूं भवित्री प्रेम्णा शरीरार्धहरां हरस्य ॥५०॥

गुरुः प्रगल्भेऽपि वयस्यतोऽस्यास्तस्थौ निवृत्तान्यवराभिलाषः ।
ऋते कृशानोर्न हि मन्त्रपूतमर्हन्ति तेजांस्यपराणि हव्यम् ॥५१॥

अयाचितारं न हि देवदेवमद्रिः सुतां ग्राहयितुं शशाक ।
अभ्यर्थनाभङ्गभयेन साधुर्माध्यस्थ्यमिष्टेऽप्यवलम्बतेऽर्थे ॥५२॥

यदैव पूर्वे जनने शरीरं सा दक्षरोषात्सुदती ससर्ज ।
तदाप्रभृत्येव विमुक्तसङ्गः पतिः पशूनामपरिग्रहोऽभूत् ॥५३॥

स कृत्तिवासास्तपसे यतात्मा गङ्गाप्रवाहोक्षितदेवदारु ।
प्रस्थं हिमाद्रेर्मृगनाभिगन्धि किंचित्क्वणत्किंनरमध्युवास ॥५४॥

गणा नमेरुप्रसवावतंसा भूर्जत्वचः स्पर्शवतीर्दधानाः ।
मनःशिलाविच्छुरिता निषेदुः शैलेयनद्धेषु शिलातलेषु ॥५५॥

तुषारसंघातशिलाः खुराग्रैः समुल्लिखन्दर्पकलः ककुद्मान् ।
दृष्टः कथंचिद्गवयैर्विविग्नैरसोढसिंहध्वनिरुन्ननाद ॥५६॥

तत्राग्निमाधाय समित्समिद्धं स्वमेव मूर्त्यन्तरमष्टमूर्तिः ।
स्वयं विधाता तपसः फलानां केनापि कामेन तपश्चचार ॥५७॥

अनर्घ्यमर्घ्येण तमद्रिनाथः स्वर्गौकसामर्चितमर्चयित्वा ।
आराधनायास्य सखीसमेतां समादिदेश प्रयतां तनूजाम् ॥५८॥

प्रत्यर्थिभूतामपि तां समाधेः शुश्रूषमाणां गिरिशोऽनुमेने ।
विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः ॥५९॥

अवचितबलिपुष्पा वेदिसंमार्गदक्षा
नियमविधिजलानां बर्हिषां चोपनेत्री ।
गिरिशमुपचचार प्रत्यहं सा सुकेशी
नियमितपरिखेदा तच्छिरश्चन्द्रपादैः ॥ ६० ॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ कुमारसंभवे महाकाव्ये
उमोत्पत्तिर्नाम प्रथमः सर्गः ॥

द्वितीयः सर्गः

तस्मिन्विप्रकृताः काले तारकेण दिवौकसः ।
तुरासाहं पुरोधाय धाम स्वायंभुवं ययुः ॥ १ ॥

तेषामाविरभूद्ब्रह्मा परिम्लानमुखश्रियाम् ।
सरसां सुप्तपद्मानां प्रातर्दीधितिमानिव ॥ २ ॥

अथ सर्वस्य धातारं ते सर्वे सर्वतोमुखम् ।
वागीशं वाग्भिरर्थ्याभिः प्रणिपत्योपतस्थिरे ॥ ३ ॥

नमस्त्रिमूर्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टेः केवलात्मने ।
गुणत्रयविभागाय पश्चाद्भेदमुपेयुषे ॥ ४ ॥

यदमोघमपामन्तरुप्तं बीजमज त्वया ।
अतश्चराचरं विश्वं प्रभवस्तस्य गीयसे ॥ ५ ॥

तिसृभिस्त्वमवस्थाभिर्महिमानमुदीरयन् ।
प्रलयस्थितिसर्गाणामेकः कारणतां गतः ॥ ६ ॥

स्त्रीपुंसावात्मभागौ ते भिन्नमूर्तेः सिसृक्षया ।
प्रसूतिभाजः सर्गस्य तावेव पितरौ स्मृतौ ॥ ७ ॥

स्वकालपरिमाणेन व्यस्तरात्रिंदिवस्य ते ।
यौ तु स्वप्नावबोधौ तौ भूतानां प्रलयोदयौ ॥ ८ ॥

जगद्योनिरयोनिस्त्वं जगदन्तो निरन्तकः ।
जगदादिरनादिस्त्वं जगदीशो निरीश्वरः ॥ ९ ॥

आत्मानमात्मना वेत्सि सृजस्यात्मानमात्मना ।
आत्मना कृतिना च त्वमात्मन्येव प्रलीयसे । १०॥

द्रवः संघातकठिनः स्थूलः सूक्ष्मो लघुर्गुरुः ।
व्यक्तो व्यक्तेतरश्चासि प्राकाम्यं ते विभूतिषु ॥११॥

उद्घातः प्रणवो यासां न्यायैस्त्रिभिरुदीरणम् ।
कर्म यज्ञः फलं स्वर्गस्तासां त्वं प्रभवो गिराम् ॥१२॥

त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्तिनीम् ।
तद्दर्शिनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः ॥१३॥

त्वं पितॄणामपि पिता देवानामपि देवता ।
परतोऽपि परश्चासि विधाता वेधसामपि ॥१४॥

त्वमेव हव्यं होता च भोज्यं भोक्ता च शाश्वतः ।
वेद्यं च वेदिता चासि ध्याता ध्येयं च यत्परम् ॥१५॥

इति तेभ्यः स्तुतीः श्रुत्वा यथार्था हृदयंगमाः ।
प्रसादाभिमुखो वेधाः प्रत्युवाच दिवौकसः ॥१६॥

पुराणस्य कवेस्तस्य चतुर्मुखसमीरिता ।
प्रवृत्तिरासीच्छब्दानां चरितार्था चतुष्टयी ॥१७॥

स्वागतं स्वानधीकारान्प्रभावैरवलम्ब्य वः ।
युगपद्युगबाहुभ्यः प्राप्तेभ्यः प्राज्यविक्रमाः ॥१८॥

किमिदं द्युतिमात्मीयां न बिभ्रति यथा पुरा ।
हिमक्लिष्टप्रकाशानि ज्योतींषीव मुखानि वः ॥१९॥

प्रशमादर्चिषामेतदनुद्गीर्णसुरायुधम् ।
वृत्रस्य हन्तुः कुलिशं कुण्ठिताश्रीव लक्ष्यते ॥२०॥

किं चायमरिदुर्वारः पाणौ पाशः प्रचेतसः ।
मन्त्रेण हतवीर्यस्य फणिनो दैन्यमाश्रितः ॥२१॥

कुबेरस्य मनःशल्यं शंसतीव पराभवम् ।
अपविद्धगदो बाहुर्भग्नशाख इव द्रुमः ॥२२॥

यमोऽपि विलिखन्भूमिं दण्डेनास्तमितत्विषा ।
कुरुतेऽस्मिन्नमोघेऽपि निर्वाणालातलाघवम् ॥२३॥

अमी च कथमादित्याः प्रतापक्षतिशीतलाः ।
चित्रन्यस्ता इव गताः प्रकामालोकनीयताम् ॥२४॥

पर्याकुलत्वान्मरुतां वेगभङ्गोऽनुमीयते ।
अम्भसामोघसंरोधः प्रतीपगमनादिव ॥२५॥

आवर्जितजटामौलिविलम्बिशशिकोटयः ।
रुद्राणामपि मूर्धानः क्षतहुंकारशंसिनः ॥२६॥

लब्धप्रतिष्ठाः प्रथमं यूयं किं बलवत्तरैः ।
अपवादैरिवोत्सर्गाः कृतव्यावृत्तयः परैः ॥२७॥

तद्ब्रूत वत्साः किमितः प्रार्थयध्वं समागताः ।
मयि सृष्टिर्हि लोकानां रक्षा युष्मास्ववस्थिता ॥२८॥

ततो मन्दानिलोद्धूतकमलाकरशोभिना ।
गुरुं नेत्रसहस्रेण नोदयामास वासवः ॥२९॥

स द्विनेत्रं हरेश्चक्षुः सहस्रनयनाधिकम् ।
वाचस्पतिरुवाचेदं प्राञ्जलिर्जलजासनम् ॥३०॥

एवं यदात्थ भगवन्नामृष्टं नः परैः पदम् ।
प्रत्येकं विनियुक्तात्मा कथं न ज्ञास्यसि प्रभो ॥३१॥

भवल्लब्धवरोदीर्णस्तारकाख्यो महासुरः ।
उपप्लवाय लोकानां धूमकेतुरिवोत्थितः ॥३२॥

पुरे तावन्तमेवास्य तनोति रविरातपम् ।
दीर्घिकाकमलोन्मेषो यावन्मात्रेण साध्यते ॥३३॥

सर्वाभिः सर्वदा चन्द्रस्तं कलाभिर्निषेवते ।
नादत्ते केवलां लेखां हरचूडामणीकृताम् ॥३४॥

व्यावृत्तगतिरुद्याने कुसुमस्तेयसाध्वसात् ।
न वाति वायुस्तत्पार्श्वे तालवृन्तानिलाधिकम् ॥३५॥

पर्यायसेवामुत्सृज्य पुष्पसंभारतत्पराः ।
उद्यानपालसामान्यमृतवस्तमुपासते ॥३६॥

तस्योपायनयोग्यानि रत्नानि सरितां पतिः ।
कथमप्यम्भसामन्तरानिष्पत्तेः प्रतीक्षते ॥३७॥

ज्वलन्मणिशिखाश्चैनं वासुकिप्रमुखा निशि ।
स्थिरप्रदीपतामेत्य भुजंगाः पर्युपासते ॥३८॥

तत्कृतानुग्रहापेक्षी तं मुहुर्दूतहारितैः ।
अनुकूलयतीन्द्रोऽपि कल्पद्रुमविभूषणैः ॥३९॥

इत्थमाराध्यमानोऽपि क्लिश्नाति भुवनत्रयम् ।
शाम्येत्प्रत्यपकारेण नोपकारेण दुर्जनः ॥४०॥

तेनामरवधूहस्तैः सदयालूनपल्लवाः ।
अभिज्ञाश्छेदपातानां क्रियन्ते नन्दनद्रुमाः ॥४१॥

वीज्यते स हि संसुप्तः श्वाससाधारणानिलैः ।
चामरैः सुरबन्दीनां वाष्पसीकरवर्षिभिः ॥४२॥

उत्पाट्य मेरुशृङ्गाणि क्षुण्णानि हरितां खुरैः ।
आक्रीडपर्वतास्तेन कल्पिताः स्वेषु वेश्मसु ॥४३॥

मन्दाकिन्याः पयः शेषं दिग्वारणमदाविलम् ।
हेमाम्भोरुहसस्यानां तद्वाप्यो धाम सांप्रतम् ॥४४॥

भुवनालोकनप्रीतिः स्वर्गिभिर्नानुभूयते ।
खिलीभूते विमानानां तदापातभयात्पथि ॥४५॥

यज्वभिः संभृतं हव्यं विततेष्वध्वरेषु सः ।
जातवेदोमुखान्मायी मिषतामाच्छिनत्ति नः ॥४६॥

उच्चैरुच्चैःश्रवास्तेन हयरत्नमहारि च ।
देहबद्धमिवेन्द्रस्य चिरकालार्जितं यशः ॥४७॥

तस्मिन्नुपायाः सर्वे नः क्रूरे प्रतिहतक्रियाः ।
वीर्यवन्त्यौषधानीव विकारे सांनिपातिके ॥४८॥

जयाशा यत्र चास्माकं प्रतिघातोत्थितार्चिषा ।
हरिचक्रेण तेनास्य कण्ठे निष्कमिवार्पितम् ॥४९॥

तदीयास्तोयदेष्वद्य पुष्करावर्तकादिषु ।
अभ्यस्यन्ति तटाघातं निर्जितैरावता गजाः ॥५०॥

तदिच्छामो विभो स्रष्टुं सेनान्यं तस्य शान्तये ।
कर्मबन्धच्छिदं धर्मं भवस्येव मुमुक्षवः ॥५१॥

गोप्तारं सुरसैन्यानां यं पुरस्कृत्य गोत्रभित् ।
प्रत्यानेष्यति शत्रुभ्यो बन्दीमिव जयश्रियम् ॥५२॥

वचस्यवसिते तस्मिन्ससर्ज गिरमात्मभूः ।
गर्जितानन्तरां वृष्टिं सौभाग्येन जिगाय सा ॥५३॥

संपत्स्यते वः कामोऽयं कालः कश्चित्प्रतीक्ष्यताम् ।
न त्वस्य सिद्धौ यास्यामि सर्गव्यापारमात्मना ॥५४॥

इतः स दैत्यः प्राप्तश्रीर्नेत एवार्हति क्षयम् ।
विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसांप्रतम् ॥५५॥

वृत्तं तेनेदमेव प्राङ्मया चास्मै प्रतिश्रुतम् ।
वरेण शमितं लोकानलं दग्धुं हि तत्तपः ॥५६॥

संयुगे सांयुगीनं तमुद्यतं प्रसहेत कः ।
अंशादृते निषिक्तस्य नीललोहितरेतसः ॥५७॥

स हि देवः परं ज्योतिस्तमःपारे व्यवस्थितम् ।
परिच्छिन्नप्रभावर्द्धिर्न मया न च विष्णुना ॥५८॥

उमारूपेण ते यूयं संयमस्तिमितं मनः ।
शंभोर्यतध्वमाक्रष्टुमयस्कान्तेन लोहवत् ॥५९॥

उभे एव क्षमे वोढुमुभयोर्बीजमाहितम् ।
सा वा शंभोस्तदीया वा मूर्तिर्जलमयी मम ॥६०॥

तस्यात्मा शितिकण्ठस्य सैनापत्यमुपेत्य वः ।
मोक्ष्यते सुरबन्दीनां वेणीर्वीर्यविभूतिभिः ॥६१॥

इति व्याहृत्य विबुधान्विश्वयोनिस्तिरोदधे ।
मनस्याहितकर्तव्यास्तेऽपि देवा दिवं ययुः ॥६२॥

तत्र निश्चित्य कंदर्पमगमत्पाकशासनः ।
मनसा कार्यसंसिद्धौ त्वराद्विगुणरंहसा ॥६३॥

अथ स ललितयोषिद्भ्रूलताचारुशृङ्गं
रतिवलयपदाङ्के चापमासज्य कण्ठे ।
सहचरमधुहस्तन्यस्तचूताङ्कुरास्त्रः
शतमखमुपतस्थे प्राञ्जलिः पुष्पधन्वा ॥६४॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ कुमारसंभवे महाकाव्ये
ब्रह्मसाक्षात्कारो नाम द्वितीयः सर्गः ॥



तृतीयः सर्गः

तस्मिन्मघोनस्त्रिदशान्विहाय सहस्रमक्ष्णां युगपत्पपात ।
प्रयोजनापेक्षितया प्रभूणां प्रायश्चलं गौरवमाश्रितेषु ॥ १ ॥

स वासवेनासनसंनिकृष्टमितो निषीदेति विसृष्टभूमिः ।
भर्तुः प्रसादं प्रतिनन्द्य मूर्ध्ना वक्तुं मिथः प्राक्रमतैवमेनम् ॥ २ ॥

आज्ञापय ज्ञातविशेष पुंसां लोकेषु यत्ते करणीयमस्ति ।
अनुग्रहं संस्मरणप्रवृत्तमिच्छामि संवर्धितमाज्ञया ते ॥ ३ ॥

केनाभ्यसूया पदकाङ्क्षिणा ते नितान्तदीर्घैर्जनिता तपोभिः ।
यावद्भवत्याहितसायकस्य मत्कार्मुकस्यास्य निदेशवर्ती ॥ ४ ॥

असंमतः कस्तव मुक्तिमार्गं पुनर्भवक्लेशभयात्प्रपन्न ।
बद्धश्चिरं तिष्ठतु सुन्दरीणामारेचितभ्रूचतुरैः कटाक्षैः ॥ ५ ॥

अध्यापितस्योशनसापि नीतिं प्रयुक्तरागप्रणिधिर्द्विषस्ते ।
कस्यार्थधर्मौ वद पीडयामि सिन्धोस्तटावोघ इव प्रवृद्धः ॥ ६ ॥

कामेकपत्नीव्रतदुःखशीलां लोलं मनश्चारुतया प्रविष्टाम् ।
नितम्बिनीमिच्छसि मुक्तलज्जां कण्ठे स्वयंग्राहनिषक्तबाहुम् ॥ ७ ॥

कयासि कामिन्सुरतापराधात्पादानतः कोपनयावधूतः ।
तस्याः करिष्यामि दृढानुतापं प्रवालशय्याशरणं शरीरम् ॥ ८ ॥

प्रसीद विश्राम्यतु वीर वज्रं शरैर्मदीयैः कतमः सुरारिः ।
बिभेतु मोघीकृतबाहुवीर्यः स्त्रीभ्योऽपि कोपस्फुरिताऽधराभ्यः॥ ९ ॥

तव प्रसादात्कुसुमायुधोऽपि सहायमेकं मधुमेव लब्ध्वा ।
कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणेर्धैर्यच्युतिं के मम धन्विनोऽन्ये ॥१०॥

अथोरुदेशादवतार्य पादमाक्रान्तिसंभावितपादपीठम् ।
संकल्पितार्थे विवृतात्मशक्तिमाखण्डलः काममिदं बभाषे ॥११॥

सर्वं सखे त्वय्युपपन्नमेतदुभे ममास्त्रे कुलिशं भवाँश्च ।
वज्रं तपोवीर्यमहत्सु कुण्ठं त्वं सर्वतोगामि च साधकं च ॥१२॥

अवैमि ते सारमतः खलु त्वां कार्ये गुरुण्यात्मसमं नियोक्ष्ये ।
व्यादिश्यते भूधरतामवेक्ष्य कृष्णेन देहोद्वहनाय शेषः ॥१३॥

आशंसता बाणगतिं वृषाङ्के कार्यं त्वया नः प्रतिपन्नकल्पम् ।
निबोध यज्ञांशभुजामिदानीमुच्चैर्द्विषामीप्सितमेतदेव ॥१४॥

अमी हि वीर्यप्रभवं भवस्य जयाय सेनान्यमुशन्ति देवाः ।
स च त्वदेकेषुनिपातसाध्यो ब्रह्माङ्गभूर्ब्रह्मणि योजितात्मा ॥१५॥

तस्मै हिमाद्रेः प्रयतां तनूजां यतात्मने रोचयितुं यतस्व ।
योषित्सु तद्वीर्यनिषेकभूमिः सैव क्षमेत्यात्मभुवोपदिष्टम् ॥१६॥

गुरोर्नियोगाच्च नगेन्द्रकन्या स्थाणुं तपस्यन्तमधित्यकायाम् ।
अन्वास्त इत्यप्सरसां मुखेभ्यः श्रुतं मया मत्प्रणिधिः स वर्गः॥१७॥

तद्गच्छ सिद्धौ कुरु देवकार्यमर्थोऽयमर्थान्तरभाव्य एव ।
अपेक्षते प्रत्ययमुत्तमं त्वां बीजाङ्कुरः प्रागुदयादिवाम्भः ॥१८॥

तस्मिन्सुराणां विजयाभ्युपाये तवैव नामास्त्रगतिः कृती त्वम् ।
अप्यप्रसिद्धं यशसे हि पुंसामनन्यसाधारणमेव कर्म ॥१९॥

सुराः समभ्यर्थयितार एते कार्यं त्रयाणामपि विष्टपानाम् ।
चापेन ते कर्म न चातिहिंस्रमहो बतासि स्पृहणीयवीर्यः ॥२०॥

मधुश्च ते मन्मथ साहचर्यादसावनुक्तोऽपि सहाय एव ।
समीरणो नोदयिता भवेति व्यादिश्यते केन हुताशनस्य ॥२१॥

तथेति शेषामिव भर्तुराज्ञामादाय मूर्ध्ना मदनः प्रतस्थे ।
ऐरावतास्फालनकर्कशेन हस्तेन पस्पर्श तदङ्गमिन्द्रः ॥२२॥

स माधवेनाभिमतेन सख्या रत्या च साशङ्कमनुप्रयातः ।
अङ्गव्ययप्रार्थितकार्यसिद्धिः स्थाण्वाश्रमं हैमवतं जगाम ॥२३॥

तस्मिन्वने संयमिनां मुनीनां तपः समाधेः प्रतिकूलवर्ती ।
संकल्पयोनेरभिमानभूतमात्मानमाधाय मधुर्जजृम्भे ॥२४॥

कुबेरगुप्तां दिशमुष्णरश्मौ गन्तुं प्रवृत्ते समयं विलङ्घ्य ।
दिग्दक्षिणा गन्धवहं मुखेन व्यलीकनिश्वासमिवोत्ससर्ज ॥२५॥

असूत सद्यः कुसुमान्यशोकः स्कन्धात्प्रभृत्येव सपल्लवानि ।
पादेन नापैक्षत सुन्दरीणां संपर्कमासिञ्जितनूपुरेण ॥२६॥

सद्यः प्रवालोद्गमचारुपत्रे नीते समाप्तिं नवचूतबाणे ।
निवेशयामास मधुर्द्विरेफान्नामाक्षराणीव मनोभवस्य ॥२७॥

वर्णप्रकर्षे सति कर्णिकारं दुनोति निर्गन्धतया स्म चेतः ।
प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानां पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः ॥२८॥

बालेन्दुवक्राण्यविकासभावाद्बभुः पलाशान्यतिलोहितानि ।
सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम् ॥२९॥

लग्नद्विरेफाञ्जनभक्तिचित्रं मुखे मधुश्रीस्तिलकं प्रकाश्य ।
रागेण बालारुणकोमलेन चूतप्रवालोष्ठमलंचकार ॥३०॥

मृगाः प्रियालद्रुममञ्जरीणां रजःकणैर्विघ्नितदृष्टिपाताः ।
मदोद्धताः प्रत्यनिलं विचेरुर्वनस्थलीर्मर्मरपत्रमोक्षाः ॥३१॥

चूताङ्कुरास्वादकषायकण्ठः पुंस्कोकिलो यन्मधुरं चुकूज ।
मनस्विनीमानविघातदक्षं तदेव जातं वचनं स्मरस्य ॥३२॥

हिमव्यपायाद्विशदाधराणामापाण्डुरीभूतमुखच्छवीनाम् ।
स्वेदोद्गमः किंपुरुषाङ्गनानां चक्रे पदं पत्रविशेषकेषु ॥३३॥

तपस्विनः स्थाणुवनौकसस्तामाकालिकीं वीक्ष्य मधुप्रवृत्तिम् ।
प्रयत्नसंस्तम्भितविक्रियाणां कथंचिदीशा मनसां बभूवुः ॥३४॥

तं देशमारोपितपुष्पचापे रतिद्वितीये मदने प्रपन्ने ।
काष्ठागतस्नेहरसानुविद्धं द्वन्द्वानि भावं क्रियया विवव्रुः ॥३५॥

मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः ।
शृङ्गेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः ॥३६॥

ददौ रसात्पङ्कजरेणुगन्धि गजाय गण्डूषजलं करेणुः ।
अर्धोपभुक्तेन बिसेन जायां संभावयामास रथाङ्गनामा ॥३७॥

गीतान्तरेषु श्रमवारिलेशैः किंचित्समुच्छ्वासितपत्रलेखम् ।
पुष्पासवाघूर्णितनेत्रशोभि प्रियामुखं किंपुरुषश्चुचुम्बे ॥३८॥

पर्याप्तपुष्पस्तबकस्तनाभ्यः स्फुरत्प्रवालोष्ठमनोहराभ्यः ।
लतावधूभ्यस्तरवोऽप्यवापुर्विनम्रशाखाभुजबन्धनानि ॥३९॥

श्रुताप्सरोगीतिरपि क्षणेऽस्मिन्हरः प्रसंख्यानपरो बभूव ।
आत्मेश्वराणां नहि जातु विघ्नाः समाधिभेदप्रभवो भवन्ति ॥४०॥

लतागृहद्वारगतोऽथ नन्दी वामप्रकोष्ठार्पितहेमवेत्रः ।
मुखार्पितैकाङ्गुलिसंज्ञयैव मा चापलायेति गणान्व्यनैषीत् ॥४१॥

निष्कम्पवृक्षं निभृतद्विरेफं मूकाण्डजं शान्तमृगप्रचारम् ।
तच्छासनात्काननमेव सर्वं चित्रार्पितारम्भमिवावतस्थे ॥४२॥

दृष्टिप्रपातं परिहृत्य तस्य कामः पुरः शुक्रमिव प्रयाणे ।
प्रान्तेषु संसक्तनमेरुशाखं ध्यानास्पदं भूतपतेर्विवेश ॥४३॥

स देवदारुद्रुमवेदिकायां शार्दूलचर्मव्यवधानवत्याम् ।
आसीनमासन्नशरीरपातस्त्रियम्बकं संयमिनं ददर्श ॥४४॥

पर्यङ्कबन्धस्थिरपूर्वकायमृज्वायतं संनमितोभयांसम् ।
उत्तानपाणिद्वयसंनिवेशात्प्रफुल्लराजीवमिवाङ्कमध्ये ॥४५॥

भुजंगमोन्नद्धजटाकलापं कर्णावसक्तद्विगुणाक्षसूत्रम् ।
कण्ठप्रभासङ्गविशेषनीलां कृष्णत्वचं ग्रन्थिमतीं दधानम् ॥४६॥

किंचित्प्रकाशस्तिमितोग्रतारैर्भ्रूविक्रियायां विरतप्रसङ्गैः ।
नेत्रैरविस्पन्दितपक्ष्ममालैर्लक्ष्यीकृतघ्राणमधोमयूखैः ॥४७॥

अवृष्टिसंरम्भमिवाम्बुवाहमपामिवाधारमनुत्तरंगम् ।
अन्तश्चराणां मरुतां निरोधान्निवातनिष्कम्पमिव प्रदीपम् ॥४८॥

कपालनेत्रान्तरलब्धमार्गैर्ज्योतिःप्ररोहैरुदितैः शिरस्तः ।
मृणालसूत्राधिकसौकुमार्यां बालस्य लक्ष्मीं ग्लपयन्तमिन्दोः ॥४९॥

मनो नवद्वारनिषिद्धवृत्ति हृदि व्यवस्थाप्य समाधिवश्यम् ।
यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम् ॥५०॥

स्मरस्तथाभूतमयुग्मनेत्रं पश्यन्नदूरान्मनसाप्यधृष्यम् ।
नालक्षयत्साध्वससन्नहस्तः स्रस्तं शरं चापमपि स्वहस्तात् ॥५१॥

निर्वाणभूयिष्ठमथास्य वीर्यं संधुक्षयन्तीव वपुर्गुणेन ।
अनुप्रयाता वनदेवताभ्यामदृश्यत स्थावरराजकन्या ॥५२॥

अशोकनिर्भर्त्सितपद्मरागमाकृष्टहेमद्युतिकर्णिकारम् ।
मुक्ताकलापीकृतसिन्दुवारं वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती ॥५३॥

आवर्जिता किंचिदिव स्तनाभ्यां वासो वसाना तरुणार्करागम् ।
पर्याप्तपुष्पस्तबकावनम्रा संचारिणी पल्लविनी लतेव ॥५४॥

स्रस्तां नितम्बादवलम्बमाना पुनः पुनः केसरदामकाञ्चीम् ।
न्यासीकृतां स्थानविदा स्मरेण मौर्वीं द्वितीयामिव कार्मुकस्य ॥५५॥

सुगन्धिनिश्वासविवृद्धतृष्णं बिम्बाधरासन्नचरं द्विरेफम् ।
प्रतिक्षणं संभ्रमलोलदृष्टिर्लीलारविन्देन निवारयन्ती ॥५६॥

तां वीक्ष्य सर्वावयवानवद्यां रतेरपि ह्रीपदमादधानाम् ।
जितेन्द्रिये शूलिनि पुष्पचापः स्वकार्यसिद्धिं पुनराशशंसे ॥५७॥

भविष्यतः पत्युरुमा च शंभोः समाससाद प्रतिहारभूमिम् ।
योगात्स चान्तः परमात्मसंज्ञं दृष्ट्वा परं ज्योतिरुपारराम ॥५८॥

ततो भुजंगाधिपतेः फणाग्रैरधः कथंचिद्धृतभूमिभागः ।
शनैः कृतप्राणविमुक्तिरीशः पर्यङ्कबन्धं निबिडं बिभेद ॥५९॥

तस्मै शशंस प्रणिपत्य नन्दी शुश्रूषया शैलसुतामुपेताम् ।
प्रवेशयामास च भर्तुरेनां भ्रूक्षेपमात्रानुमतप्रवेशाम् ॥६०॥

तस्याः सखीभ्यां प्रणिपातपूर्वं स्वहस्तलूनः शिशिरात्ययस्य ।
व्यकीर्यत त्र्यम्बकपादमूले पुष्पोच्चयः पल्लवभङ्गभिन्नः ॥६१॥

उमापि नीलालकमध्यशोभि विस्रंसयन्ती नवकर्णिकारम् ।
चकार कर्णच्युतपल्लवेन मूर्ध्ना प्रणामं वृषभध्वजाय ॥६२॥

अनन्यभाजं पतिमाप्नुहीति सा तथ्यमेवाभिहिता भवेन ।
न हीश्वरव्याहृतयः कदाचित्पुष्णन्ति लोके विपरीतमर्थम् ॥६३॥

कामस्तु बाणावसरं प्रतीक्ष्य पतङ्गवद्वह्निमुखं विविक्षुः ।
उमासमक्षं हरबद्धलक्ष्यः शरासनज्यां मुहुराममर्श ॥६४॥

अथोपनिन्ये गिरिशाय गौरी तपस्विने ताम्ररुचा करेण ।
विशोषितां भानुमतो मयूखैर्मन्दाकिनीपुष्करबीजमालाम् ॥६५॥

प्रतिग्रहीतुं प्रणयिप्रियत्वात्त्रिलोचनस्तामुपचक्रमे च ।
संमोहनं नाम च पुष्पधन्वा धनुष्यमोघं समधत्त बाणम् ॥६६॥

हरस्तु किंचित्परिलुप्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥६७॥

विवृण्वती शैलसुतापि भावमङ्गैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः ।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन ॥६८॥

अथेन्द्रियक्षोभमयुग्मनेत्रः पुनर्वशित्वाद्बलवन्निगृह्य ।
हेतुं स्वचेतोविकृतेर्दिदृक्षुर्दिशामुपान्तेषु ससर्ज दृष्टिम् ॥६९॥

स दक्षिणापाङ्गनिविष्टमुष्टिं नतांसमाकुञ्चितसव्यपादम् ।
ददर्श चक्रीकृतचारुचापं प्रहर्तुमभ्युद्यतमात्मयोनिम् ॥७०॥

तपः परामर्शविवृद्धमन्योर्भ्रूभङ्गदुष्प्रेक्ष्यमुखस्य तस्य ।
स्फुरन्नुदर्चिः सहसा तृतीयादक्ष्णः कृशानुः किल निष्पपात ॥७१॥

क्रोधं प्रभो संहर संहरेति यावद्गिरः खे मरुतां चरन्ति ।
तावत्स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार ॥७२॥

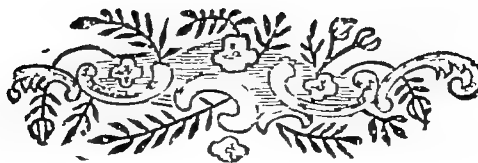
तीव्राभिषङ्गप्रभवेण वृत्तिं मोहेन संस्तम्भयतेन्द्रियाणाम् ।
अज्ञातभर्तृव्यसना मुहूर्तं कृतोपकारेव रतिर्बभूव ॥७३॥

तमाशु विघ्नं तपसस्तपस्वी वनस्पतिं वज्र इवावभज्य ।
स्त्रीसंनिकर्षं परिहर्तुमिच्छन्नन्तर्दधे भूतपतिः सभूतः ॥७४॥

शैलात्मजापि पितुरुच्छिरसोऽभिलाषं
व्यर्थं समर्थ्य ललितं वपुरात्मनश्च ।
सख्योः समक्षमिति चाधिकजातलज्जा
शून्या जगाम भवनाभिमुखी कथंचित् ॥७५॥

सपदि मुकुलिताक्षीं रुद्रसंरम्भभीत्या
दुहितरमनुकम्प्यामद्रिरादाय दोर्भ्याम् ।
सुरगज इव बिभ्रत्पद्मिनीं दन्तलग्नां
प्रतिपथगतिरासीद्वेगदीर्घीकृताङ्गः ॥७६॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ कुमारसंभवे महाकाव्ये
मदनदहनो नाम तृतीयः सर्गः ॥



चतुर्थः सर्गः

अथ मोहपरायणा सती विवशा कामवधूर्विबोधिता ।
विधिना प्रतिपादयिष्यता नववैधव्यमसह्यवेदनम् ॥ १ ॥

अवधानपरे चकार सा प्रलयान्तोन्मिषिते विलोचने ।
न विवेद तयोरतृप्तयोः प्रियमत्यन्तविलुप्तदर्शनम् ॥ २ ॥

अयि जीवितनाथ जीवसीत्यभिधायोत्थितया तया पुरः ।
ददृशे पुरुषाकृति क्षितौ हरकोपानलभस्म केवलम् ॥ ३ ॥

अथ सा पुनरेव विह्वला वसुधालिङ्गनधूसरस्तनी ।
विललाप विकीर्णमूर्धजा समदुःखामिव कुर्वती स्थलीम् ॥ ४ ॥

उपमानमभूद्विलासिनां करणं यत्तव कान्तिमत्तया ।
तदिदं गतमीदृशीं दशां न विदीर्ये कठिनाः खलु स्त्रियः ॥ ५ ॥

क्व नु मां त्वदधीनजीवितां विनिकीर्य क्षणभिन्नसौहृदः ।
नलिनीं क्षतसेतुबन्धनो जलसंघात इवासि विद्रुतः ॥ ६ ॥

कृतवानसि विप्रियं न मे प्रतिकूलं न च ते मया कृतम् ।
किमकारणमेव दर्शनं विलपन्त्यै रतये न दीयते ॥ ७ ॥

स्मरसि स्मर मेखलागुणैरुत गोत्रस्खलितेषु बन्धनम् ।
च्युतकेशरदूषितेक्षणान्यवतंसोत्पलताडनानि वा ॥ ८ ॥

हृदये वससीति मत्प्रियं यदवोचस्तदवैमि कैतवम् ।
उपचारपदं न चेदिदं त्वमनङ्गः कथमक्षता रतिः ॥ ९ ॥

परलोकनवप्रवासिनः प्रतिपत्स्ये पदवीमहं तव ।
विधिना जन एष वञ्चितस्त्वदधीनं खलु देहिनां सुखम् ॥१०॥

रजनीतिमिरावगुण्ठिते पुरमार्गे घनशब्दविक्लवाः ।
वसतिं प्रिय कामिनां प्रियास्त्वदृते प्रापयितुं क ईश्वरः ॥११॥

नयनान्यरुणानि घूर्णयन्वचनानि स्खलयन्पदे पदे ।
असति त्वयि वारुणीमदः प्रमदानामधुना विडम्बना ॥१२॥

अवगम्य कथीकृतं वपुः प्रियबन्धोस्तव निष्फलोदयः ।
बहुलेऽपि गते निशाकरस्तनुतां दुःखमनङ्ग मोक्ष्यति ॥१३॥

हरितारुणचारुबन्धनः कलपुंस्कोकिलशब्दसूचितः ।
वद संप्रति कस्य बाणतां नवचूतप्रसवो गमिष्यति ॥१४॥

अलिपङ्क्तिरनेकशस्त्वया गुणकृत्ये धनुषो नियोजिता ।
विरुतैः करुणस्वनैरियं गुरुशोकामनुरोदितीव माम् ॥१५॥

प्रतिपद्य मनोहरं वपुः पुनरप्यादिश तावदुत्थितः ।
रतिदूतिपदेषु कोकिलां मधुरालापनिसर्गपण्डिताम् ॥१६॥

शिरसा प्रणिपत्य याचितान्युपगूढानि सवेपथूनि च ।
सुरतानि च तानि ते रहः स्मर संस्मृत्य न शान्तिरस्ति मे ॥१७॥

रचितं रतिपण्डित त्वया स्वयमङ्गेषु ममेदमार्तवम् ।
ध्रियते कुसुमप्रसाधनं तव तच्चारु वपुर्न दृश्यते ॥१८॥

विबुधैरसि यस्य दारुणैरसमाप्ते परिकर्मणि स्मृतः ।
तमिमं कुरु दक्षिणेतरं चरणं निर्मितरागमेहि मे ॥१९॥

अहमेत्य पतङ्गवर्त्मना पुनरङ्काश्रयणी भवामि ते ।
चतुरैः सुरकामिनीजनैः प्रिय यावन्न विलोभ्यसे दिवि ॥२०॥

मदनेन विनाकृता रतिः क्षणमात्रं किल जीवितेति मे ।
वचनीयमिदं व्यवस्थितं रमण त्वामनुयामि यद्यपि ॥२१॥

क्रियतां कथमन्त्यमण्डनं परलोकान्तरितस्य ते मया ।
सममेव गतोऽस्यतर्कितां गतिमङ्गेन च जीवितेन च ॥२२॥

ऋजुतां नयतः स्मरामि ते शरमुत्सङ्गनिषण्णधन्वनः ।
मधुना सह सस्मितां कथां नयनोपान्तविलोकितं च यत् ॥२३॥

क्व नु ते हृदयंगमः सखा कुसुमायोजितकार्मुको मधुः ।
न खलूग्ररुषा पिनाकिना गमितः सोऽपि सुहृद्गतां गतिम् ॥२४॥

अथ तैः परिदेविताक्षरैर्हृदये दिग्धशरैरिवाहतः ।
रतिमभ्युपपत्तुमातुरां मधुरात्मानमदर्शयत्पुरः ॥२५॥

तमवेक्ष्य रुरोद सा भृशं स्तनसंबाधमुरो जघान च ।
स्वजनस्य हि दुःखमग्रतो विवृतद्वारमिवोपजायते ॥२६॥

इति चैनमुवाच दुःखिता सुहृदः पश्य वसन्त किं स्थितम् ।
तदिदं कणशो विकीर्यते पवनैर्भस्म कपोतकर्बुरम् ॥२७॥

अयि संप्रति देहि दर्शनं स्मर पर्युत्सुक एष माधवः ।
दयितास्वनवस्थितं नृणां न खलु प्रेम चलं सुहृज्जने ॥२८॥

अमुना ननु पार्श्ववर्तिना जगदाज्ञां ससुरासुरं तव ।
बिसतन्तुगुणस्य कारितं धनुषः पेलवपुष्पपत्रिणः ॥२९॥

गत एव न ते निवर्तते स सखा दीप इवानिलाहतः ।
अहमस्य दशेव पश्य मामविषह्यव्यसनेन धूमिताम् ॥३०॥

विधिना कृतमर्धवैशसं ननु मां कामवधे विमुञ्चता ।
अनपायिनि संश्रयद्रुमे गजभग्ने पतनाय वल्लरी ॥३१॥

तदिदं क्रियतामनन्तरं भवता बन्धुजनप्रयोजनम् ।
विधुरां ज्वलनातिसर्जनान्ननु मां प्रापय पत्युरन्तिकम् ॥३२॥

शशिना सह याति कौमुदी सह मेघेन तडित्प्रलीयते ।
प्रमदाः पतिवर्त्मगा इति प्रतिपन्नं हि विचेतनैरपि ॥३३॥

अमुनैव कषायितस्तनी सुभगेन प्रियगात्रभस्मना ।
नवपल्लवसंस्तरे यथा रचयिष्यामि तनुं विभावसौ ॥३४॥

कुसुमास्तरणे सहायतां बहुशः सौम्य गतस्त्वमावयोः ।
कुरु संप्रति तावदाशु मे प्रणिपाताञ्जलियाचितश्चिताम् ॥३५॥

तदनु ज्वलनं मदर्पितं त्वरयेर्दक्षिणवातवीजनैः ।
विदितं खलु ते यथा स्मरः क्षणमप्युत्सहते न मां विना ॥३६॥

इति चापि विधाय दीयतां सलिलस्याञ्जलिरेक एव नौ ।
अविभज्य परत्र तं मया सहितः पास्यति ते स बान्धवः ॥३७॥

परलोकविधौ च माधव स्मरमुद्दिश्य विलोलपल्लवाः ।
निवपेः सहकारमञ्जरीः प्रियचूतप्रसवो हि ते सखा ॥३८॥

इति देहविमुक्तये स्थितां रतिमाकाशभवा सरस्वती ।
शफरीं ह्रदशोषविक्लवां प्रथमा वृष्टिरिवान्वकम्पयत् ॥३९॥

कुसुमायुधपत्नि दुर्लभस्तव भर्ता न चिराद्भविष्यति ।
शृणु येन स कर्मणा गतः शलभत्वं हरलोचनार्चिषि ॥४०॥

अभिलापमुदीरितेन्द्रियः स्वसुतायामकरोत्प्रजापतिः ।
अथ तेन निगृह्य विक्रियामभिशप्तः फलमेतदन्वभूत् ॥४१॥

परिणेष्यति पार्वतीं यदा तपसा तत्प्रवणीकृतो हरः ।
उपलब्धसुखस्तदा स्मरं वपुषा स्वेन नियोजयिष्यति ॥४२॥

इति चाह स धर्मयाचितः स्मरशापावधिदां सरस्वतीम् ।
अशनेरमृतस्य चोभयोर्वशिनश्चाम्बुधराश्च योनयः ॥४३॥

तदिदं परिरक्ष शोभने भवितव्यप्रियसंगमं वपुः ।
रविपीतजला तपात्यये पुनरोघेन हि युज्यते नदी ॥४४॥

इत्थं रतेः किमपि भूतमदृश्यरूपं
मन्दीचकार मरणव्यवसायबुद्धिम् ।
तत्प्रत्ययाच्च कुसुमायुधबन्धुरेना-
माश्वासयत्सुचरितार्थपदैर्वचोभिः ॥४५॥

अथ मदनवधूरुपप्लवान्तं व्यसनकृशा परिपालयांबभूव ।
शशिन इव दिवातनस्य लेखा किरणपरिक्षयधूसरा प्रदोषम् ॥४६॥

इति महाकवि श्रीकालिदासकृतौ कुमारसंभवे महाकाव्ये
रतिविलापो नाम चतुर्थः सर्गः ॥



पञ्चमः सर्गः

तथा समक्षं दहता मनोभवं पिनाकिना भग्नमनोरथा सती ।
निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता ॥१॥

इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः ।
अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः ॥२॥

निशम्य चैनां तपसे कृतोद्यमां सुतां गिरीशप्रतिसक्तमानसाम् ।
उवाच मेना परिरभ्य वक्षसा निवारयन्ती महतो मुनिव्रतात् ॥३॥

मनीषिताः सन्ति गृहेषु देवतास्तपः क्व वत्से क्व च तावकं वपुः ।
पदं सहेत भ्रमरस्य पेलवं शिरीषपुष्पं न पुनः पतत्त्रिणः ॥४॥

इति ध्रुवेच्छामनुशासती सुतां शशाक मेना न नियन्तुमुद्यमात् ।
क ईप्सितार्थस्थिरनिश्चयं मनः पयश्च निम्नाभिमुखं प्रतीपयेत् ॥५॥

कदाचिदासन्नसखीमुखेन सा मनोरथज्ञं पितरं मनस्विनी ।
अयाचतारण्यनिवासमात्मनः फलोदयान्ताय तपःसमाधये ॥६॥

अथानुरूपाभिनिवेशतोषिणा कृताभ्यनुज्ञा गुरुणा गरीयसा ।
प्रजासु पश्चात्प्रथितं तदाख्यया जगाम गौरीशिखरं शिखण्डिमत् ॥७॥

विमुच्य सा हारमहार्यनिश्चया विलोलयष्टिप्रविलुप्तचन्दनम् ।
बबन्ध बालारुणबभ्रु वल्कलं पयोधरोत्सेधविशीर्णसंहति ॥ ८ ॥

यथा प्रसिद्धैर्मधुरं शिरोरुहैर्जटाभिरप्येवमभूत्तदाननम् ।
न षट्पदश्रेणिभिरेव पङ्कजं सशैवलासङ्गमपि प्रकाशते ॥ ९ ॥

प्रतिक्षणं सा कृतरोमविक्रियां व्रताय मौञ्जीं त्रिगुणां बभार याम् ।
अकारि तत्पूर्वनिबद्धया तया सरागमस्या रसनागुणास्पदम् ॥१०॥

विसृष्टरागादधरान्निवर्तितस्तनाङ्गरागारुणिताच्च कन्दुकात् ।
कुशाङ्कुरादानपरिक्षताङ्गुलिः कृतोऽक्षसूत्रप्रणयी तया करः ॥११॥

महार्हशय्यापरिवर्तनच्युतैः स्वकेशपुष्पैरपि या स्म दूयते ।
अशेत सा बाहुलतोपधायिनी निषेदुषी स्थण्डिल एव केवले ॥१२॥

पुनर्ग्रहीतुं नियमस्थया तया द्वयेऽपि निक्षेप इवार्पितं द्वयम् ।
लतासु तन्वीषु विलासचेष्टितं विलोलदृष्टं हरिणाङ्गनासु च ॥१३॥

अतन्द्रिता सा स्वयमेव वृक्षकान्घटस्तनप्रस्रवणैर्व्यवर्धयत् ।
गुहोऽपि येषां प्रथमाप्तजन्मनां न पुत्रवात्सल्यमपाकरिष्यति ॥१४॥

अरण्यबीजाञ्जलिदानलालितास्तथा च तस्यां हरिणा विशश्वसुः ।
यथा तदीयैर्नयनैः कुतूहलात्पुरः सखीनाममिमीत लोचने ॥१५॥

कृताभिषेकां हुतजातवेदसं त्वगुत्तरासङ्गवतीमधीतिनीम् ।
दिदृक्षवस्तामृषयोऽभ्युपागमन्न धर्मवृद्धेषु वयः समीक्ष्यते ॥१६॥

विरोधिसत्त्वोज्झितपूर्वमत्सरं द्रुमैरभीष्टप्रसवार्चितातिथि ।
नवोटजाभ्यन्तरसंभृतानलं तपोवनं तच्च बभूव पावनम् ॥१७॥

यदा फलं पूर्वतपःसमाधिना न तावता लभ्यममंस्त काङ्क्षितम् ।
तदानपेक्ष्य स्वशरीरमार्दवं तपो महत्सा चरितुं प्रचक्रमे ॥१८॥

क्लमं ययौ कन्दुकलीलयापि या तया मुनीनां चरितं व्यगाह्यत ।
ध्रुवं वपुः काञ्चनपद्मनिर्मितं मृदु प्रकृत्या च ससारमेव च ॥१९॥

शुचौ चतुर्णां ज्वलतां हविर्भुजां शुचिस्मिता मध्यगता सुमध्यमा ।
विजित्य नेत्रप्रतिघातिनीं प्रभामनन्यदृष्टिः सवितारमैक्षत ॥२०॥

तथातितप्तं सवितुर्गभस्तिभिर्मुखं तदीयं कमलश्रियं दधौ ।
अपाङ्गयोः केवलमस्य दीर्घयोः शनैः शनैः श्यामिकया कृतं पदम् २१

अयाचितोपस्थितमम्बु केवलं रसात्मकस्योडुपतेश्च रश्मयः ।
बभूव तस्याः किल पारणाविधिर्न वृक्षवृत्तिव्यतिरिक्तसाधनः॥२२॥

निकामतप्ता विविधेन वह्निना नभश्चरेणेन्धनसंभृतेन सा ।
तपात्यये वारिभिरुक्षिता नवैर्भुवा सहोष्माणममुञ्चदूर्ध्वगम् ॥२३॥

स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः ।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः॥२४॥

शिलाशयां तामनिकेतवासिनीं निरन्तरास्वन्तरवातवृष्टिषु ।
व्यलोकयन्नुन्मिषितैस्तडिन्मयैर्महातपःसाक्ष्य इव स्थिताः क्षपाः २५

निनाय सात्यन्तहिमोत्किरानिलाः सहस्यरात्रीरुदवासतत्परा ।
परस्पराक्रन्दिनि चक्रवाकयोः पुरो वियुक्ते मिथुने कृपावती ॥२६॥

मुखेन सा पद्मसुगन्धिना निशि प्रवेपमानाधरपत्रशोभिना ।
तुषारवृष्टिक्षतपद्मसंपदां सरोजसंधानमिवाकरोदपाम् ॥२७॥

स्वयं विशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिता परा हि काष्ठा तपसस्तया पुनः ।
तदप्यपाकीर्णमतः प्रियंवदां वदन्त्यपर्णेति च तां पुराविदः ॥२८॥

मृणालिकापेलवमेवमादिभिर्व्रतैः स्वमङ्गं ग्लपयन्त्यहर्निशम् ।
तपः शरीरैः कठिनैरुपार्जितं तपस्विनां दूरमधश्चकार सा ॥२९॥

अथाजिनाषाढधरः प्रगल्भवाग्ज्वलन्निव ब्रह्ममयेन तेजसा ।
विवेश कश्चिज्जटिलस्तपोवनं शरीरबद्धः प्रथमाश्रमो यथा ॥३०॥

तमातिथेयी बहुमानपूर्वया सपर्यया प्रत्युदियाय पार्वती ।
भवन्ति साम्येऽपि निविष्टचेतसां वपुर्विशेषेष्वतिगौरवाः क्रियाः॥३१॥

विधिप्रयुक्तां परिगृह्य सत्क्रियां परिश्रमं नाम विनीय च क्षणम्।
उमां स पश्यन्नृजुनैव चक्षुषा प्रचक्रमे वक्तुमनुज्झितक्रमः ॥३२॥

अपि क्रियार्थं सुलभं समित्कुशं जलान्यपि स्नानविधिक्षमाणि ते ।
अपि स्वशक्त्या तपसि प्रवर्तसे शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् ॥३३॥

अपि त्वदावर्जितवारिसंभृतं प्रवालमासामनुबन्धि वीरुधाम् ।
चिरोज्झितालक्तकपाटलेन ते तुलां यदारोहति दन्तवाससा ॥३४॥

अपि प्रसन्नं हरिणेषु ते मनः करस्थदर्भप्रणयापहारिषु ।
य उत्पलाक्षि प्रचलैर्विलोचनैस्तवाक्षिसादृश्यमिव प्रयुञ्जते ॥३५॥

यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः ।
तथाहि ते शीलमुदारदर्शने तपस्विनामप्युपदेशतां गतम् ॥३६॥

विकीर्णसप्तर्षिबलिप्रहासिभिस्तथा न गाङ्गैः सलिलैर्दिवश्च्युतैः ।
यथा त्वदीयैश्चरितैरनाविलैर्महीधरः पावित एष सान्वयः ॥३७॥

अनेन धर्मः सविशेषमद्य मे त्रिवर्गसारः प्रतिभाति भाविनि ।
त्वया मनोनिर्विषयार्थकामया यदेक एव प्रतिगृह्य सेव्यते ॥३८॥

प्रयुक्तसत्कारविशेषमात्मना न मां परं संप्रतिपत्तुमर्हसि ।
यतः सतां संनतगात्रि संगतं मनीषिभिः साप्तपदीनमुच्यते ॥३९॥

अतोऽत्र किंचिद्भवतीं बहुक्षमां द्विजातिभावादुपपन्नचापलः ।
अयं जनः प्रष्टुमनास्तपोधने न चेद्रहस्यं प्रतिवक्तुमर्हसि ॥४०॥

कुले प्रसूतिः प्रथमस्य वेधसस्त्रिलोकसौन्दर्यमिवोदितं वपुः ।
अमृग्यमैश्वर्यसुखं नवं वयस्तपःफलं स्यात्किमतः परं वद ॥४१॥

भवत्यनिष्टादपि नाम दुःसहान्मनस्विनीनां प्रतिपत्तिरीदृशी ।
विचारमार्गप्रहितेन चेतसा न दृश्यते तच्च कृशोदरि त्वयि ॥४२॥

अलभ्यशोकाभिभवेयमाकृतिर्विमानना सुभ्रु कुतः पितुर्गृहे ।
पराभिमर्शो न तवास्ति कः करं प्रसारयेत्पन्नगरत्नसूचये ॥४३॥

किमित्यपास्याभरणानि यौवने धृतं त्वया वार्धकशोभि वल्कलम् ।
वद प्रदोषे स्फुटचन्द्रतारका विभावरी यद्यरुणाय कल्पते ॥४४॥

दिवं यदि प्रार्थयसे वृथा श्रमः पितुः प्रदेशास्तव देवभूमयः ।
अथोपयन्तारमलं समाधिना न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत् ॥४५॥

निवेदितं निःश्वसितेन सोष्मणा मनस्तु मे संशयमेव गाहते ।
न दृश्यते प्रार्थयितव्य एव ते भविष्यति प्रार्थितदुर्लभः कथम् ॥४६॥

अहो स्थिरः कोऽपि तवेप्सितो युवा चिराय कर्णोत्पलशून्यतां गते ।
उपेक्षते यः श्लथलम्बिनीर्जटाः कपोलदेशे कलमाग्रपिङ्गलाः ॥४७॥

मुनिव्रतैस्त्वामतिमात्रकर्शितां दिवाकराप्लुष्टविभूषणास्पदाम् ।
शशाङ्कलेखामिव पश्यतो दिवा सचेतसः कस्य मनो न दूयते ॥४८॥

अवैमि सौभाग्यमदेन वञ्चितं तव प्रियं यश्चतुरावलोकिनः ।
करोति लक्ष्यं चिरमस्य चक्षुषो न वक्त्रमात्मीयमरालपक्ष्मणः ॥४९॥

कियच्चिरं श्राम्यसि गौरि विद्यते ममापि पूर्वाश्रमसंचितं तपः ।
तदर्धभागेन लभस्व काङ्क्षितं वरं तमिच्छामि च साधु वेदितुम् ॥५०॥

इति प्रविश्याभिहिता द्विजन्मना मनोगतं सा न शशाक शंसितुम् ।
अथो वयस्यां परिपार्श्ववर्तिनीं विवर्तितानञ्जननेत्रमैक्षत ॥५१॥

सखी तदीया तमुवाच वर्णिनं निबोध साधो तव चेत्कुतूहलम् ।
यदर्थमम्भोजमिवोष्णवारणं कृतं तपःसाधनमेतया वपुः ॥५२॥

इयं महेन्द्रप्रभृतीनधिश्रियश्चतुर्दिगीशानवमत्य मानिनी ।
अरूपहार्यं मदनस्य निग्रहात्पिनाकपाणिं पतिमाप्तुमिच्छति ॥५३॥

असह्यहुंकारनिवर्तितः पुरा पुरारिमप्राप्तमुखः शिलीमुखः ।
इमां हृदि व्यायतपातमक्षिणोद्विशीर्णमूर्तेरपि पुष्पधन्वनः ॥५४॥

तदाप्रभृत्युन्मदना पितुर्गृहे ललाटिकाचन्दनधूसरालका ।
न जातु बाला लभते स्म निर्वृतिं तुषारसंघातशिलातलेष्वपि ॥५५॥

उपात्तवर्णे चरिते पिनाकिनः सबाष्पकण्ठस्खलितैः पदैरियम् ।
अनेकशः किंनरराजकन्यका वनान्तसंगीतसखीररोदयत् ॥५६॥

त्रिभागशेषासु निशासु च क्षणं निमील्य नेत्रे सहसा व्यबुध्यत ।
क्व नीलकण्ठ व्रजसीत्यलक्ष्यवागसत्यकण्ठार्पितबाहुबन्धना ॥५७॥

यदा बुधैः सर्वगतस्त्वमुच्यसे न वेत्सि भावस्थमिमं कथं जनम् ।
इति स्वहस्तोल्लिखितश्च मुग्धया रहस्युपालभ्यत चन्द्रशेखरः॥५८॥

यदा च तस्याभिगमे जगत्पतेरपश्यदन्यं न विधिं विचिन्वती ।
तदा सहास्माभिरनुज्ञया गुरोरियं प्रपन्ना तपसे तपोवनम् ॥५९॥

द्रुमेषु सख्या कृतजन्मसु स्वयं फलं तपःसाक्षिषु दृष्टमेष्वपि ।
न च प्ररोहाभिमुखोऽपि दृश्यते मनोरथोऽस्याः शशिमौलिसंश्रयः ६०

न वेद्मि स प्रार्थितदुर्लभः कदा सखीभिरस्रोत्तरमीक्षितामिमाम् ।
तपःकृशामभ्युपपत्स्यते सखीं वृषेव सीतां तदवग्रहक्षताम् ॥६१॥

अगूढसद्भावमितीङ्गितज्ञया निवेदितो नैष्ठिकसुन्दरस्तया ।
अयीदमेवं परिहास इत्युमामपृच्छदव्यञ्जितहर्षलक्षणः ॥६२॥

अथाग्रहस्ते मुकुलीकृताङ्गुलौ समर्पयन्ती स्फटिकाक्षमालिकाम्।
कथंचिदद्रेस्तनया मिताक्षरं चिरव्यवस्थापितवागभाषत ॥६३॥

यथा श्रुतं वेदविदां वर त्वया जनोऽयमुच्चैःपदलङ्घनोत्सुकः।
तपः किलेदं तदवाप्तिसाधनं मनोरथानामगतिर्न विद्यते ॥६४॥

अथाह वर्णी विदितो महेश्वरस्तदर्थिनी त्वं पुनरेव वर्तसे।
अमङ्गलाभ्यासरतिं विचिन्त्य तं तवानुवृत्तिं न च कर्तुमुत्सहे ॥६५॥

अवस्तुनिर्बन्धपरे कथं नु ते करोऽयमामुक्तविवाहकौतुकः।
करेण शंभोर्वलयीकृताहिना सहिष्यते तत्प्रथमावलम्बनम् ॥६६॥

त्वमेव तावत्परिचिन्तय स्वयं कदाचिदेते यदि योगमर्हतः।
वधूदुकूलं कलहंसलक्षणं गजाजिनं शोणितबिन्दुवर्षि च ॥६७॥

चतुष्कपुष्पप्रकरावकीर्णयोः परोऽपि को नाम तवानुमन्यते।
अलक्तकाङ्कानि पदानि पादयोर्विकीर्णकेशासु परेतभूमिषु ॥६८॥

अयुक्तरूपं किमतः परं वद त्रिनेत्रवक्षः सुलभं तवापि यत्।
स्तनद्वयेऽस्मिन्हरिचन्दनास्पदे पदं चिताभस्मरजः करिष्यति ॥६९॥

इयं च तेऽन्या पुरतो विडम्बना यदूढया वारणराजहार्यया।
विलोक्य वृद्धोक्षमधिष्ठितं त्वया महाजनः स्मेरमुखो भविष्यति ॥७०॥

द्वयं गतं संप्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया पिनाकिनः।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ७१

वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु।
वरेषु यद्बालमृगाक्षि मृग्यते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने ॥७२॥

निवर्तयास्मादसदीप्सितान्मनः क्व तद्विधस्त्वं क्व च पुण्यलक्षणा।
अपेक्ष्यते साधुजनेन वैदिकी श्मशानशूलस्य न यूपसत्क्रिया ॥७३॥

इति द्विजातौ प्रतिकूलवादिनि प्रवेपमानाधरलक्ष्यकोपया ।
विकुञ्चितभ्रूलतमाहिते तया विलोचने तिर्यगुपान्तलोहिते ॥७४॥

उवाच चैनं परमार्थतो हरं न वेत्सि नूनं यत एवमात्थ माम् ।
अलोकसामान्यमचिन्त्यहेतुकं द्विषन्ति मन्दाश्चरितं महात्मनाम्॥७५॥

विपत्प्रतीकारपरेण मङ्गलं निषेव्यते भूतिसमुत्सुकेन वा ।
जगच्छरण्यस्य निराशिषः सतः किमेभिराशोपहतात्मवृत्तिभिः॥७६॥

अकिंचनः सन्प्रभवः स संपदां त्रिलोकनाथः पितृसद्मगोचरः ।
स भीमरूपः शिव इत्युदीर्यते न सन्ति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः ७७

विभूषणोद्भासि पिनद्धभोगि वा गजाजिनालम्बि दुकूलधारि वा ।
कपालि वा स्यादथवेन्दुशेखरं न विश्वमूर्तेरवधार्यते वपुः ॥७८॥

तदङ्गसंसर्गमवाप्य कल्पते ध्रुवं चिताभस्म रजोविशुद्धये ।
तथाहि नृत्याभिनयक्रियाच्युतं विलिप्यते मौलिभिरम्बरौकसाम् ७९

असंपदस्तस्य वृषेण गच्छतः प्रभिन्नदिग्वारणवाहनो वृषा ।
करोति पादावुपगम्य मौलिना विनिद्रमन्दाररजोरुणाङ्गुली ॥८०॥

विवक्षता दोषमपि च्युतात्मना त्वयैकमीशं प्रति साधु भाषितम् ।
यमामनन्त्यात्मभुवोऽपि कारणं कथं स लक्ष्यप्रभवो भविष्यति॥८१॥

अलं विवादेन यथा श्रुतस्त्वया तथाविधस्तावदशेषमस्तु सः ।
ममात्र भावैकरसं मनः स्थितं न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते ॥८२॥

निवार्यतामालि किमप्ययं बटुः पुनर्विवक्षुः स्फुरितोत्तराधरः ।
न केवलं यो महतोऽपभाषते शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक्॥८३॥

इतो गमिष्याम्यथवेति वादिनी चचाल बाला स्तनभिन्नवल्कला ।
स्वरूपमास्थाय च तां कृतस्मितःसमाललम्बे वृषराजकेतनः ॥८४॥

तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टि-
निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती ।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः
शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ ॥८५॥

अद्यप्रभृत्यवनताङ्गि तवास्मि दासः
क्रीतस्तपोभिरिति वादिनि चन्द्रमौलौ ।
अह्नाय सा नियमजं क्लममुत्ससर्ज
क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते ॥८६॥

इति महाकवि श्रीकालिदासकृतौ कुमारसंभवे महाकाव्ये
तपःफलोदयो नाम पञ्चमः सर्गः ।



षष्ठः सर्गः

अथ विश्वात्मने गौरी संदिदेश मिथः सखीम् ।
दाता मे भूभृतां नाथः प्रमाणीक्रियतामिति ॥१॥

तया व्याहृतसंदेशा सा बभौ निभृता प्रिये ।
चूतयष्टिरिवाभ्याशे मधौ परभृतोन्मुखी ॥२॥

स तथेति प्रतिज्ञाय विसृज्य कथमप्युमाम् ।
ऋषीञ्ज्योतिर्मयान्सप्त सस्मार स्मरशासनः ॥३॥

ते प्रभामण्डलैर्व्योम द्योतयन्तस्तपोधनाः ।
सारुन्धतीकाः सपदि प्रादुरासन्पुरः प्रभोः ॥४॥

आप्लुतास्तीरमन्दारकुसुमोत्किरवीचिषु ।
व्योमगङ्गाप्रवाहेषु दिङ्नागमदगन्धिषु ॥५॥

मुक्तायज्ञोपवीतानि बिभ्रतो हैमवल्कलाः ।
रत्नाक्षसूत्राः प्रव्रज्यां कल्पवृक्षा इवाश्रिताः ॥६॥

अधःप्रस्थापिताश्वेन समावर्जितकेतुना ।
सहस्ररश्मिना साक्षात्सप्रणाममुदीक्षिताः ॥७॥

आसक्तबाहुलतया सार्धमुद्धृतया भुवा ।
महावराहदंष्ट्रायां विश्रान्ताः प्रलयापदि ॥ ८ ॥

सर्गशेषप्रणयनाद्विश्वयोनेरनन्तरम् ।
पुरातनाः पुराविद्भिर्धातार इति कीर्तिताः ॥ ९ ॥

प्राक्तनानां विशुद्धानां परिपाकमुपेयुषाम् ।
तपसामुपभुञ्जानाः फलान्यपि तपस्विनः ॥१०॥

तेषां मध्यगता साध्वी पत्युः पादार्पितेक्षणा ।
साक्षादिव तपःसिद्धिर्बभासे बह्वरुन्धती ॥११॥

तामगौरवभेदेन मुनींश्चापश्यदीश्वरः ।
स्त्रीपुमानित्यनास्थैषा वृत्तं हि महितं सताम् ॥१२॥

तद्दर्शनादभूच्छंभोर्भूयान्दारार्थमादरः ।
क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूलकारणम्॥१३॥

धर्मेणापि पदं शर्वे कारिते पार्वतीं प्रति ।
पूर्वापराधभीतस्य कामस्योच्छ्वसितं मनः ॥१४॥

अथ ते मुनयः सर्वे मानयित्वा जगद्गुरुम् ।
इदमूचुरनूचानाः प्रीतिकण्टकितत्वचः ॥१५॥

यद्ब्रह्म सम्यगाम्नातं यदग्नौ विधिना हुतम् ।
यच्च तप्तं तपस्तस्य विपक्वं फलमद्य नः ॥१६॥

यदध्यक्षेण जगतां वयमारोपितास्त्वया ।
मनोरथस्याविषयं मनोविषयमात्मनः ॥१७॥

यस्य चेतसि वर्तेथाः स तावत्कृतिनां वरः ।
किं पुनर्ब्रह्मयोनेर्यस्तव चेतसि वर्तते ॥१८॥

सत्यमर्काच्च सोमाच्च परमध्यास्महे पदम् ।
अद्य तूच्चैस्तरं ताभ्यां स्मरणानुग्रहात्तव ॥१९॥

त्वत्संभावितमात्मानं बहुमन्यामहे वयम् ।
प्रायः प्रत्ययमाधत्ते स्वगुणेषूत्तमादरः ॥२०॥

या नः प्रीतिर्विरूपाक्ष त्वदनुध्यानसंभवा ।
सा किमावेद्यते तुभ्यमन्तरात्मासि देहिनाम् ॥२१॥

साक्षाद्दृष्टोऽसि न पुनर्विद्मस्त्वां वयमञ्जसा ।
प्रसीद कथयात्मानं न धियां पथि वर्तसे ॥२२॥

किं येन सृजसि व्यक्तमुत येन बिभर्षि तत् ।
अथ विश्वस्य संहर्ता भागः कतम एष ते ॥२३॥

अथवा सुमहत्येषा प्रार्थना देव तिष्ठतु ।
चिन्तितोपस्थितांस्तावच्छाधि नः करवाम किम् ॥२४॥

अथ मौलिगतस्येन्दोर्विशदैर्दशनांशुभिः ।
उपचिन्वन्प्रभां तन्वीं प्रत्याह परमेश्वरः ॥२५॥

विदितं वो यथा स्वार्था न मे काश्चित्प्रवृत्तयः ।
ननु मूर्तिभिरष्टाभिरित्थंभूतोऽस्मि सूचितः ॥२६॥

सोऽहं तृष्णातुरैर्वृष्टिं विद्युत्वानिव चातकैः ।
अरिविप्रकृतैर्देवैः प्रसूतिं प्रति याचितः ॥२७॥

अत आहर्तुमिच्छामि पार्वतीमात्मजन्मने ।
उत्पत्तये हविर्भोक्तुर्यजमान इवारणिम् ॥२८॥

तामस्मदर्थे युष्माभिर्याचितव्यो हिमालयः ।
विक्रियायै न कल्पन्ते संबन्धाः सदनुष्ठिताः ॥२९॥

उन्नतेन स्थितिमता धुरमुद्वहता भुवः ।
तेन योजितसंबन्धं वित्त मामप्यवञ्चितम् ॥३०॥

एवं वाच्यः स कन्यार्थमिति वो नोपदिश्यते ।
भवत्प्रणीतमाचारमामनन्ति हि साधवः ॥३१॥

आर्याप्यरुन्धती तत्र व्यापारं कर्तुमर्हति ।
प्रायेणैवंविधे कार्ये पुरंध्रीणां प्रगल्भता ॥३२॥

तत्प्रयातौषधिप्रस्थं सिद्धये हिमवत्पुरम् ।
महाकोशीप्रपातेऽस्मिन्संगमः पुनरेव नः ॥३३॥

तस्मिन्संयमिनामाद्ये जाते परिणयोन्मुखे ।
जहुः परिग्रहव्रीडां प्राजापत्यास्तपस्विनः ॥३४॥

ततः परममित्युक्त्वा प्रतस्थे मुनिमण्डलम् ।
भगवानपि संप्राप्तः प्रथमोद्दिष्टमास्पदम् ॥३५॥

ते चाकाशमसिश्यामम्रुत्पत्य परमर्षयः ।
आसेदुरोषधिप्रस्थं मनसा समरंहसः ॥३६॥

अलकामतिवाह्येव वसतिं वसुसंपदाम् ।
स्वर्गाभिष्यन्दवमनं कृत्वेवोपनिवेशितम् ॥३७॥

गङ्गास्रोतःपरिक्षिप्तं वप्रान्तर्ज्वलितौषधि ।
बृहन्मणिशिलासालं गुप्तावपि मनोहरम् ॥३८॥

जितसिंहभया नागा यत्राश्वा बिलयोनयः ।
यक्षाः किंपुरुषाः पौरा योषितो वनदेवताः ॥३९॥

शिखरासक्तमेघानां व्यज्यन्ते यत्र वेश्मनाम् ।
अनुगर्जितसंदिग्धाः करणैर्मुरजस्वनाः ॥४०॥

यत्र कल्पद्रुमैरेव विलोलविटपांशुकैः ।
गृहयन्त्रपताकाश्रीरपौरादरनिर्मिता ॥४१॥

यत्र स्फटिकहर्म्येषु नक्तमापानभूमिषु ।
ज्योतिषां प्रतिबिम्बानि प्राप्नुवन्त्युपहारताम् ॥४२॥

यत्रौषधिप्रकाशेन नक्तं दर्शितसंचराः ।
अनभिज्ञास्तमिस्राणां दुर्दिनेष्वभिसारिकाः ॥४३॥

यौवनान्तं वयो यस्मिन्नान्तकः कुसुमायुधात् ।
रतिखेदसमुत्पन्ना निद्रा संज्ञाविपर्ययः ॥४४॥

भ्रूभेदिभिः सकम्पोष्ठैर्ललिताङ्गुलितर्जनैः ।
यत्र कोपैः कृताः स्त्रीणामाप्रसादार्थिनः प्रियाः ॥४५॥

संतानकतरुच्छायासुप्तविद्याधराध्वगम् ।
यस्य चोपवनं बाह्यं गन्धवद्गन्धमादनम् ॥४६॥

अथ ते मुनयो दिव्याः प्रेक्ष्य हैमवतं पुरम् ।
स्वर्गाभिसंधिसुकृतं वञ्चनामिव मेनिरे ॥४७॥

ते सद्मनि गिरेर्वेगादुन्मुखद्वाःस्थवीक्षिताः ।
अवतेरुर्जटाभारैर्लिखितानलनिश्चलैः ॥४८॥

गगनादवतीर्णा सा यथावृद्धपुरस्सरा ।
तोयान्तर्भास्करालीव रेजे मुनिपरम्परा ॥४९॥

तानर्घ्यानर्घ्यमादाय दूरात्प्रत्युद्ययौ गिरिः ।
नमयन्सारगुरुभिः पादन्यासैर्वसुंधराम् ॥५०॥

धातुताम्राधरः प्रांशुर्देवदारुबृहद्भुजः ।
प्रकृत्यैव शिलोरस्कः सुव्यक्तो हिमवानिति ॥५१॥

विधिप्रयुक्तसत्कारैः स्वयं मार्गस्य दर्शकः ।
स तैराक्रमयामास शुद्धान्तं शुद्धकर्मभिः ॥५२॥

तत्र वेत्रासनासीनान्कृतासनपरिग्रहः ।
इत्युवाचेश्वरान्वाचं प्राञ्जलिर्भूधरेश्वरः ॥५३॥

अपमेघोदयं वर्षमदृष्टकुसुमं फलम् ।
अतर्कितोपपन्नं वो दर्शनं प्रतिभाति मे ॥५४॥

मूढं बुद्धमिवात्मानं हैमीभूतमिवायसम् ।
भूमेर्दिवमिवारूढं मन्ये भवदनुग्रहात् ॥५५॥

अद्यप्रभृति भूतानामधिगम्योऽस्मि शुद्धये ।
यदध्यासितमर्हद्भिस्तद्धि तीर्थं प्रचक्षते ॥५६॥

अवैमि पूतमात्मानं द्वयेनैव द्विजोत्तमाः ।
मूर्ध्नि गङ्गाप्रपातेन धौतपादाम्भसा च वः ॥५७॥

जङ्गमं प्रैष्यभावे वः स्थावरं चरणाङ्कितम् ।
विभक्तानुग्रहं मन्ये द्विरूपमपि मे वपुः ॥५८॥

भवत्संभावनोत्थाय परितोषाय मूर्च्छते ।
अपि व्याप्तदिगन्तानि नाङ्गानि प्रभवन्ति मे ॥५९॥

न केवलं दरीसंस्थं भास्वतां दर्शनेन वः ।
अन्तर्गतमपास्तं मे रजसोऽपि परं तमः ॥६०॥

कर्तव्यं वो न पश्यामि स्याच्चेत्किं नोपपद्यते ।
मन्ये मत्पावनायैव प्रस्थानं भवतामिह ॥६१॥

तथापि तावत्कस्मिंश्चिदाज्ञां मे दातुमर्हथ ।
विनियोगप्रसादा हि किंकराः प्रभविष्णुषु ॥६२॥

एते वयममी दाराः कन्येयं कुलजीवितम् ।
ब्रूत येनात्र वः कार्यमनास्था बाह्यवस्तुषु ॥६३॥

इत्यूचिवाँस्तमेवार्थं गुहामुखविसर्पिणा ।
द्विरिव प्रतिशब्देन व्याजहार हिमालयः ॥६४॥

अथाङ्गिरसमग्रण्यमुदाहरणवस्तुषु ।
ऋषयो नोदयामासुः प्रत्युवाच स भूधरम् ॥६५॥

उपपन्नमिदं सर्वमतः परमपि त्वयि ।
मनसः शिखराणां च सदृशी ते समुन्नतिः ॥६६॥

स्थाने त्वां स्थावरात्मानं विष्णुमाहुस्तथा हि ते ।
चराचराणां भूतानां कुक्षिराधारतां गतः ॥६७॥

गामधास्यत्कथं नागो मृणालमृदुभिः फणैः ।
आ रसातलमूलात्त्वमवालम्बिष्यथा न चेत् ॥६८॥

अच्छिन्नामलसंतानाः समुद्रोर्म्यनिवारिताः ।
पुनन्ति लोकान्पुण्यत्वात्कीर्तयः सरितश्च ते ॥६९॥

यथैव श्लाघ्यते गङ्गा पादेन परमेष्ठिनः ।
प्रभवेण द्वितीयेन तथैवोच्छिरसा त्वया ॥७०॥

तिर्यगूर्ध्वमधस्ताच्च व्यापको महिमा हरेः ।
त्रिविक्रमोद्यतस्यासीत्स तु स्वाभाविकस्तव ॥७१॥

यज्ञभागभुजां मध्ये पदमातस्थुषा त्वया ।
उच्चैर्हिरण्मयं शृङ्गं सुमेरोर्वितथीकृतम् ॥७२॥

काठिन्यं स्थावरे काये भवता सर्वमर्पितम् ।
इदं तु ते भक्तिनम्रं सतामाराधनं वपुः ॥७३॥

तदागमनकार्यं नः शृणु कार्यं तवैव तत् ।
श्रेयसामुपदेशात्तु वयमत्रांशभागिनः ॥७४॥

अणिमादि गुणोपेतमस्पृष्टपुरुषान्तरम् ।
शब्दमीश्वर इत्युच्चैः सार्धचन्द्रं बिभर्ति यः ॥७५॥

कल्पितान्योन्यसामर्थ्यैः पृथिव्यादिभिरात्मभिः ।
येनेदं ध्रियते विश्वं धुर्यैर्यानमिवाध्वनि ॥७६॥

योगिनो यं विचिन्वन्ति क्षेत्राभ्यन्तरवर्तिनम् ।
अनावृत्तिभयं यस्य पदमाहुर्मनीषिणः ॥७७॥

स ते दुहितरं साक्षात्साक्षी विश्वस्य कर्मणाम् ।
वृणुते वरदः शंभुरस्मत्संक्रामितैः पदैः ॥७८॥

तमर्थमिव भारत्या सुतया योक्तुमर्हसि ।
अशोच्या हि पितुः कन्या सद्भर्तृप्रतिपादिता ॥७९॥

यावन्त्येतानि भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
मातरं कल्पयन्त्वेनामीशो हि जगतः पिता ॥८०॥

प्रणम्य शितिकण्ठाय विबुधास्तदनन्तरम् ।
चरणौ रञ्जयन्त्वस्याश्चूडामणिमरीचिभिः ॥८१॥

उमा वधूर्भवान्दाता याचितार इमे वयम् ।
वरः शंभुरलं ह्येष त्वत्कुलोद्भूतये विधिः ॥८२॥

अस्तोतुः स्तूयमानस्य वन्द्यस्यानन्यवन्दिनः ।
सुतासंबन्धविधिना भव विश्वगुरोर्गुरुः ॥८३॥

एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी ।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥८४॥

शैलः संपूर्णकामोऽपि मेनामुखमुदैक्षत ।
प्रायेण गृहिणीनेत्राः कन्यार्थेषु कुटुम्बिनः ॥८५॥
मेने मेनापि तत्सर्वं पत्युः कार्यमभीप्सितम् ।
भवन्त्यव्यभिचारिण्यो भर्तुरिष्टे पतिव्रताः ॥८६॥
इदमत्रोत्तरं न्याय्यमिति बुद्ध्या विमृश्य सः ।
आददे वचसामन्ते मङ्गलालंकृतां सुताम् ॥८७॥
एहि विश्वात्मने वत्से भिक्षासि परिकल्पिता ।
अर्थिनो मुनयः प्राप्तं गृहमेधिफलं मया ॥८८॥
एतावदुक्त्वा तनयामृषीनाह महीधरः ।
इयं नमति वः सर्वांस्त्रिलोचनवधूरिति ॥८९॥
ईप्सितार्थक्रियोदारं तेऽभिनन्द्य गिरेर्वचः ।
आशीर्भिरेधयामासुः पुरःपाकाभिरम्बिकाम् ॥९०॥
तां प्रणामादरस्रस्तजाम्बूनदवतंसकाम् ।
अङ्कमारोपयामास लज्जमानामरुन्धती ॥९१॥
तन्मातरं चाश्रुमुखीं दुहितृस्नेहविक्लवाम् ।
वरस्यानन्यपूर्वस्य विशोकामकरोद्गुणैः ॥९२॥
वैवाहिकीं तिथिं पृष्टास्तत्क्षणं हरबन्धुना ।
ते त्र्यहादूर्ध्वमाख्याय चेरुश्चीरपरिग्रहाः ॥९३॥
ते हिमालयमामन्त्र्य पुनः प्राप्य च शूलिनम् ।
सिद्धं चास्मै निवेद्यार्थं तद्विसृष्टाः खमुद्ययुः ॥९४॥
पशुपतिरपि तान्यहानि कृच्छ्रादगमयदद्रिसुतासमागमोत्कः ।
कमपरमवशं न विप्रकुर्युर्विभुमपि तं यदमी स्पृशन्ति भावाः ॥९५॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ कुमारसंभवे महाकाव्ये
उमाप्रदानो नाम षष्ठः सर्गः ॥

२७

सप्तमः सर्गः

अथौषधीनामधिपस्य वृद्धौ तिथौ च जामित्रगुणान्वितायाम् ।
समेतबन्धुर्हिमवान्सुताया विवाहदीक्षाविधिमन्वतिष्ठत् ॥ १ ॥

वैवाहिकैः कौतुकसंविधानैर्गृहे गृहे व्यग्रपुरंध्रिवर्गम् ।
आसीत्पुरं सानुमतोऽनुरागादन्तःपुरं चैककुलोपमेयम् ॥ २ ॥

संतानकाकीर्णमहापथं तच्चीनांशुकैः कल्पितकेतुमालम् ।
भासोज्ज्वलत्काञ्चनतोरणानां स्थानान्तरं स्वर्ग इवावभासे ॥ ३ ॥

एकैव सत्यामपि पुत्रपङ्क्तौ चिरस्य दृष्टेव मृतोत्थितेव ।
आसन्नपाणिग्रहणेति पित्रोरुमा विशेषोच्छ्वसितं बभूव ॥ ४ ॥

अङ्काद्ययावङ्कमुदीरिताशीः सा मण्डनान्मण्डनमन्वभुङ्क्त ।
संबन्धिभिन्नोऽपि गिरेः कुलस्य स्नेहस्तदेकायतनं जगाम ॥ ५ ॥

मैत्रे मुहूर्ते शशलाञ्छनेन योगं गतासूत्तरफल्गुनीषु ।
तस्याः शरीरे प्रतिकर्म चक्रुर्बन्धुस्त्रियो याः पतिपुत्रवत्यः ॥ ६ ॥

सा गौरसिद्धार्थनिवेशवद्भिर्दूर्वाप्रवालैः प्रतिभिन्नशोभम् ।
निर्नाभि कौशेयमुपात्तबाणमभ्यङ्गनेपथ्यमलंचकार ॥ ७ ॥

बभौ च संपर्कमुपेत्य बाला नवेन दीक्षाविधिसायकेन ।
करेण भानोर्बहुलावसाने संधुक्ष्यमाणेव शशाङ्करेखा ॥ ८ ॥

तां लोध्रकल्केन हृताङ्गतैलामाश्यानकालेयकृताङ्गरागाम् ।
वासो वसानामभिषेकयोग्यं नार्यश्चतुष्काभिमुखं व्यनैषुः ॥ ९ ॥

विन्यस्तवैदूर्यशिलातलेऽस्मिन्नाबद्धमुक्ताफलभक्तिचित्रे ।
आवर्जिताष्टापदकुम्भतोयैः सतूर्यमेनां स्नपयांबभूवुः ॥१०॥

सा मङ्गलस्नानविशुद्धगात्री गृहीतपत्युद्गमनीयवस्त्रा ।
निर्वृत्तपर्जन्यजलाभिषेका प्रफुल्लकाशा वसुधेव रेजे ॥११॥

तस्मात्प्रदेशाच्च वितानवन्तं युक्तं मणिस्तम्भचतुष्टयेन ।
पतिव्रताभिः परिगृह्य निन्ये क्लृप्तासनं कौतुकवेदिमध्यम् ॥१२॥

तां प्राङ्मुखीं तत्र निवेश्य तन्वीं क्षणं व्यलम्बन्त पुरोनिषण्णाः ।
भूतार्थशोभाह्रियमाणनेत्राः प्रसाधने संनिहितेऽपि नार्यः ॥१३॥

धूपोष्मणा त्याजितमार्द्रभावं केशान्तमन्तःकुसुमं तदीयम् ।
पर्याक्षिपत्काचिदुदारबन्धं दूर्वावता पाण्डुमधूकदाम्ना ॥१४॥

विन्यस्तशुक्लागुरु चक्रुरङ्गं गोरोचनापत्रविभक्तमस्याः ।
सा चक्रवाकाङ्कितसैकतायास्त्रिस्रोतसः कान्तिमतीत्य तस्थौ ॥१५॥

लग्नद्विरेफं परिभूय पद्मं समेघलेखं शशिनश्च बिम्बम् ।
तदाननश्रीरलकैः प्रसिद्धैश्चिच्छेद सादृश्यकथाप्रसङ्गम् ॥१६॥

कर्णार्पितो लोध्रकषायरूक्षे गोरोचनाक्षेपनितान्तगौरे ।
तस्याः कपोले परभागलाभाद्बबन्ध चक्षूंषि यवप्ररोहः ॥१७॥

रेखाविभक्तः सुविभक्तगात्र्याः किंचिन्मधूच्छिष्टविमृष्टरागः ।
कामप्यभिख्यां स्फुरितैरपुष्यदासन्नलावण्यफलोऽधरोष्ठः ॥१८॥

पत्युः शिरश्चन्द्रकलामनेन स्पृशेति सख्या परिहासपूर्वम् ।
सा रञ्जयित्वा चरणौ कृताशीर्माल्येन तां निर्वचनं जघान ॥१९॥

तस्याः सुजातोत्पलपत्रकान्ते प्रसाधिकाभिर्नयने निरीक्ष्य ।
न चक्षुषोः कान्तिविशेषबुद्ध्या कालाञ्जनं मङ्गलमित्युपात्तम् ॥२०॥

सा संभवद्भिः कुसुमैर्लतेव ज्योतिर्भिरुद्यद्भिरिव त्रियामा ।
सरिद्विहंगैरिव लीयमानैरामुच्यमानाभरणा चकासे ॥२१॥

आत्मानमालोक्य च शोभमानमादर्शबिम्बे स्तिमितायताक्षी ।
हरोपयाने त्वरिता बभूव स्त्रीणां प्रियालोकफलो हि वेशः ॥२२॥

अथाङ्गुलिभ्यां हरितालमार्द्रं माङ्गल्यमादाय मनःशिलां च ।
कर्णावसक्तामलदन्तपत्रं माता तदीयं मुखमुन्नमय्य ॥२३॥

उमास्तनोद्भेदमनु प्रवृद्धो मनोरथो यः प्रथमं बभूव ।
तमेव मेना दुहितुः कथंचिद्विवाहदीक्षातिलकं चकार ॥२४॥

बबन्ध चास्राकुलदृष्टिरस्याः स्थानान्तरे कल्पितसंनिवेशम् ।
धात्र्यङ्गुलीभिः प्रतिसार्यमाणमूर्णामयं कौतुकहस्तसूत्रम् ॥२५॥

क्षीरोदवेलेव सफेनपुञ्जा पर्याप्तचन्द्रेव शरत्त्रियामा ।
नवं नवक्षौमनिवासिनी सा भूयो बभौ दर्पणमादधाना ॥२६॥

तामर्चिताभ्यः कुलदेवताभ्यः कुलप्रतिष्ठां प्रणमय्य माता ।
अकारयत्कारयितव्यदक्षा क्रमेण पादग्रहणं सतीनाम् ॥२७॥

अखण्डितं प्रेम लभस्व पत्युरित्युच्यते ताभिरुमा स्म नम्रा ।
तया तु तस्यार्धशरीरभाजा पश्चात्कृताः स्निग्धजनाशिषोऽपि ॥२८॥

इच्छाविभूत्योरनुरूपमद्रिस्तस्याः कृती कृत्यमशेषयित्वा ।
सभ्यः सभायां सुहृदास्थितायां तस्थौ वृषाङ्कागमनप्रतीक्षः ॥२९॥

तावद्भवस्यापि कुबेरशैले तत्पूर्वपाणिग्रहणानुरूपम् ।
प्रसाधनं मातृभिराद्दताभिर्न्यस्तं पुरस्तात्पुरशासनस्य ॥३०॥

तद्गौरवान्मङ्गलमण्डनश्रीः सा पस्पृशे केवलमीश्वरेण ।
स एव वेषः परिणेतुरिष्टं भावान्तरं तस्य विभोः प्रपेदे ॥३१॥

बभूव भस्मैव सिताङ्गरागः कपालमेवामलशेखरश्रीः ।
उपान्तभागेषु च रोचनाङ्को गजाजिनस्यैव दुकूलभावः ॥३२॥

शङ्खान्तरद्योति विलोचनं यदन्तर्निविष्टामलपिङ्गतारम् ।
सांनिध्यपक्षे हरितालमय्यास्तदेव जातं तिलकक्रियायाः ॥३३॥

यथाप्रदेशं भुजगेश्वराणां करिष्यतामाभरणान्तरत्वम् ।
शरीरमात्रं विकृतिं प्रपेदे तथैव तस्थुः फणरत्नशोभाः ॥३४॥

दिवापि निष्ठ्यूतमरीचिभासा बाल्यादनाविष्कृतलाञ्छनेन ।
चन्द्रेण नित्यं प्रतिभिन्नमौलेश्चूडामणेः किं ग्रहणं हरस्य ॥३५॥

इत्यद्भुतैकप्रभवः प्रभावात्प्रसिद्धनेपथ्यविधेर्विधाता ।
आत्मानमासन्नगणोपनीते खड्गे निषक्तप्रतिमं ददर्श ॥३६॥

स गोपतिं नन्दिभुजावलम्बी शार्दूलचर्मान्तरितोरुपृष्ठम् ।
तद्भक्तिसंक्षिप्तबृहत्प्रमाणमारुह्य कैलासमिव प्रतस्थे ॥३७॥

तं मातरो देवमनुव्रजन्त्यः स्ववाहनक्षोभचलावतंसाः ।
मुखैः प्रभामण्डलरेणुगौरैः पद्माकरं चक्रुरिवान्तरीक्षम् ॥३८॥

तासां च पश्चात्कनकप्रभाणां काली कपालाभरणा चकासे ।
बलाकिनी नीलपयोदराजी दूरं पुरःक्षिप्तशतह्रदेव ॥३९॥

ततो गणैः शूलभृतः पुरोगैरुदीरितो मङ्गलतूर्यघोषः ।
विमानशृङ्गाण्यवगाहमानः शशंस सेवावसरं सुरेभ्यः ॥४०॥

उपाददे तस्य सहस्ररश्मिस्त्वष्ट्रा नवं निर्मितमातपत्रम् ।
स तद्दुकूलादविदूरमौलिर्बभौ पतद्गङ्ग इवोत्तमाङ्गे ॥४१॥

मूर्ते च गङ्गायमुने तदानीं सचामरे देवमसेविषाताम् ।
समुद्रगारूपविपर्ययेऽपि सहंसपाते इव लक्ष्यमाणे ॥४२॥

तमभ्यगच्छत्प्रथमो विधाता श्रीवत्सलक्ष्मा पुरुषश्च साक्षात् ।
जयेति वाचा महिमानमस्य संवर्धयन्तौ हविषेव वह्निम् ॥४३॥

एकैव मूर्तिर्बिभिदे त्रिधा सा सामान्यमेषां प्रथमावरत्वम् ।
विष्णोर्हरस्तस्य हरिः कदाचिद्वेधास्तयोस्तावपि धातुराद्यौ ॥४४॥

तं लोकपालाः पुरुहूतमुख्याः श्रीलक्षणोत्सर्गविनीतवेषाः ।
दृष्टिप्रदाने कृतनन्दिसंज्ञास्तद्दर्शिताः प्राञ्जलयः प्रणेमुः ॥४५॥

कम्पेन मूर्ध्नः शतपत्रयोनिं वाचा हरिं वृत्रहणं स्मितेन ।
आलोकमात्रेण सुरानशेषान्संभावयामास यथाप्रधानम् ॥४६॥

तस्मै जयाशीः ससृजे पुरस्तात्सप्तर्षिभिस्तान्स्मितपूर्वमाह ।
विवाहयज्ञे विततेऽत्र यूयमध्वर्यवः पूर्ववृता मयेति ॥४७॥

विश्वावसुप्राग्रहरैः प्रवीणैः संगीयमानत्रिपुरावदानः ।
अध्वानमध्वान्तविकारलङ्घ्यस्ततार ताराधिपखण्डधारी ॥४८॥

खे खेलगामी तमुवाह वाहः सशब्दचामीकरकिंकिणीकः ।
तटाभिघातादिव लग्नपङ्के धुन्वन्मुहुः प्रोतघने विषाणे ॥४९॥

स प्रापदप्राप्तपराभियोगं नगेन्द्रगुप्तं नगरं मुहूर्तात् ।
पुरोविलग्नैर्हरदृष्टिपातैः सुवर्णसूत्रैरिव कृष्यमाणः ॥५०॥

तस्योपकण्ठे घननीलकण्ठः कुतूहलादुन्मुखपौरदृष्टः ।
स्वबाणचिह्नादवतीर्य मार्गादासन्नभूपृष्ठमियाय देवः ॥५१॥

तमृद्धिमद्बन्धुजनाधिरूढैर्वृन्दैर्गजानां गिरिचक्रवर्ती ।
प्रत्युज्जगामागमनप्रतीतः प्रफुल्लवृक्षैः कटकैरिव स्वैः ॥५२॥

वर्गावुभौ देवमहीधराणां द्वारे पुरस्योद्घटितापिधाने ।
समीयतुर्दूरविसर्पिघोषौ भिन्नैकसेतू पयसामिवौघौ ॥५३॥

ह्रीमानभूद्भूमिधरो हरेण त्रैलोक्यवन्द्येन कृतप्रणामः ।
पूर्वं महिम्ना स हि तस्य दूरमावर्जितं नात्मशिरो विवेद ॥५४॥

स प्रीतियोगाद्विकसन्मुखश्रीर्जामातुरग्रेसरतामुपेत्य ।
प्रावेशयन्मन्दिरमृद्धमेनमागुल्फकीर्णापणमार्गपुष्पम् ॥५५॥

तस्मिन्मुहूर्ते पुरसुन्दरीणामीशानसंदर्शनलालसानाम् ।
प्रासादमालासु बभूवुरित्थं त्यक्तान्यकार्याणि विचेष्टितानि ॥५६॥

आलोकमार्गं सहसा व्रजन्त्या कयाचिदुद्वेष्टनवान्तमाल्यः ।
बद्धुं न संभावित एव तावत्करेण रुद्धोऽपि च केशपाशः ॥५७॥

प्रसाधिकाऽऽलम्बितमग्रपादमाक्षिप्य काचिद्द्रवरागमेव ।
उत्सृष्टलीलागतिरागवाक्षादलक्तकाङ्कां पदवीं ततान ॥५८॥

विलोचनं दक्षिणमञ्जनेन संभाव्य तद्वञ्चितवामनेत्रा ।
तथैव वातायनसंनिकर्षं ययौ शलाकामपरा वहन्ती ॥५९॥

जालान्तरप्रेषितदृष्टिरन्या प्रस्थानभिन्नां न बबन्ध नीवीम् ।
नाभिप्रविष्टाभरणप्रभेण हस्तेन तस्थाववलम्ब्य वासः ॥६०॥

अर्धाचिता सत्वरमुत्थितायाः पदे पदे दुर्निमिते गलन्ती ।
कस्याश्चिदासीद्रशना तदानीमङ्गुष्ठमूलार्पितसूत्रशेषा ॥६१॥

तासां मुखैरासवगन्धगर्भैर्व्याप्तान्तराः सान्द्रकुतूहलानाम् ।
विलोलनेत्रभ्रमरैर्गवाक्षाः सहस्रपत्राभरणा इवासन् ॥६२॥

तावत्पताकाकुलमिन्दुमौलिरुत्तोरणं राजपथं प्रपेदे ।
प्रासादशृङ्गाणि दिवापि कुर्वञ्ज्योत्स्नाभिषेकद्विगुणद्युतीनि ॥६३॥

तमेकदृश्यं नयनैः पिबन्त्यो नार्यो न जग्मुर्विषयान्तराणि ।
तथाहि शेषेन्द्रियवृत्तिरासां सर्वात्मना चक्षुरिव प्रविष्टा ॥६४॥

स्थाने तपो दुश्चरमेतदर्थमपर्णया पेलवयापि तप्तम् ।
या दास्यमप्यस्य लभेत नारी सा स्यात्कृतार्था किमुताङ्कशय्याम् ६५

परस्परेण स्पृहणीयशोभं न चेदिदं द्वन्द्वमयोजयिष्यत् ।
अस्मिन्द्वये रूपविधानयत्नः पत्युः प्रजानां विफलोऽभविष्यत् ॥६६॥

न नूनमारूढरुषा शरीरमनेन दग्धं कुसुमायुधस्य ।
व्रीडादमुं देवमुदीक्ष्य मन्ये संन्यस्तदेहः स्वयमेव कामः ॥६७॥

अनेन संबन्धमुपेत्य दिष्ट्या मनोरथप्रार्थितमीश्वरेण ।
मूर्धानमालि क्षितिधारणोच्चमुच्चैस्तरं वक्ष्यति शैलराजः ॥६८॥

इत्योपधिप्रस्थविलासिनीनां शृण्वन्कथाः श्रोत्रसुखास्त्रिनेत्रः ।
केयूरचूर्णीकृतलाजमुष्टिं हिमालयस्यालयमाससाद ॥६९॥

तत्रावतीर्याच्युतदत्तहस्तः शरद्घनाद्दीधितिमानिवोक्ष्णः ।
क्रान्तानि पूर्वं कमलासनेन कक्ष्यान्तराण्यद्रिपतेर्विवेश ॥७०॥

तमन्वगिन्द्रप्रमुखाश्च देवाः सप्तर्षिपूर्वाः परमर्षयश्च ।
गणाश्च गिर्यालयमभ्यगच्छन्प्रशस्तमारम्भमिवोत्तमार्थाः ॥७१॥

तत्रेश्वरो विष्टरभाग्यथावत्सरत्नमर्घ्यं मधुमच्च गव्यम् ।
नवे दुकूले च नगोपनीतं प्रत्यग्रहीत्सर्वममन्त्रवर्जम् ॥७२॥

दुकूलवासाः स वधूसमीपं निन्ये विनीतैरवरोधदक्षैः ।
वेलासमीपं स्फुटफेनराजिर्नवैरुदन्वानिव चन्द्रपादैः ॥७३॥

नवपरिणयलज्जाभूषणां तत्र गौरीं
वदनमपहरन्तीं तत्कृताक्षेपमीशः ।
अपि शयनसखीभ्यो दत्तवाचं कथंचित्
प्रमथमुखविकारैर्हासयामास गूढम् ॥६५॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ कुमारसंभवे महाकाव्ये
उमापरिणयो नाम सप्तमः सर्गः ॥



ध्रुवेण भर्त्रा ध्रुवदर्शनाय प्रयुज्यमाना प्रियदर्शनेन ।
सा दृष्ट इत्याननमुन्नमय्य ह्रीसन्नकण्ठी कथमप्युवाच ॥८५॥

इत्थं विधिज्ञेन पुरोहितेन प्रयुक्तपाणिग्रहणोपचारौ ।
प्रणेमतुस्तौ पितरौ प्रजानां पद्मासनस्थाय पितामहाय ॥८६॥

वधूर्विधात्रा प्रतिनन्द्यते स्म कल्याणि वीरप्रसवा भवेति ।
वाचस्पतिः सन्नपि सोऽष्टमूर्तौ त्वाशास्यचिन्तास्तिमितो बभूव ॥८७॥

कॢप्तोपचारां चतुरस्रवेदीं तावेत्य पश्चात्कनकासनस्थौ ।
जायापती लौकिकमेषणीयमार्द्राक्षतारोपणमन्वभूताम् ॥८८॥

पत्रान्तलग्नैर्जलबिन्दुजालैराकृष्टमुक्ताफलजालशोभम् ।
तयोरुपर्यायतनालदण्डमाधत्त लक्ष्मीः कमलातपत्रम् ॥८९॥

द्विधाप्रयुक्तेन च वाङ्मयेन सरस्वती तन्मिथुनं नुनाव ।
संस्कारपूतेन वरं वरेण्यं वधूं सुखग्राह्यनिबन्धनेन ॥९०॥

तौ संधिषु व्यञ्जितवृत्तिभेदं रसान्तरेषु प्रतिबद्धरागम् ।
अपश्यतामप्सरसां मुहूर्तं प्रयोगमाद्यं ललिताङ्गहारम् ॥९१॥

देवास्तदन्ते हरमूढभार्यं किरीटबद्धाञ्जलयो निपत्य ।
शापावसाने प्रतिपन्नमूर्तेर्ययाचिरे पञ्चशरस्य सेवाम् ॥९२॥

तस्यानुमेने भगवान्विमन्युर्व्यापारमात्मन्यपि सायकानाम् ।
कालप्रयुक्ता खलु कार्यविद्भिर्विज्ञापना भर्तृषु सिद्धिमेति ॥९३॥

अथ विबुधगणांस्तानिन्दुमौलिर्विसृज्य
क्षितिधरपतिकन्यामाददानः करेण ।
कनककलशयुक्तं भक्तिशोभासनाथं
क्षितिविरचितशय्यं कौतुकागारमागात् ॥९४॥

नवपरिणयलज्जाभूषणां तत्र गौरीं
वदनमपहरन्तीं तत्कृताक्षेपमीशः ।
अपि शयनसखीभ्यो दत्तवाचं कथंचित्
प्रमथमुखविकारैर्हासयामास गूढम् ॥९५॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ कुमारसंभवे महाकाव्ये
उमापरिणयो नाम सप्तमः सर्गः ॥



अष्टमः सर्गः

पाणिपीडनविधेरनन्तरं शैलराजदुहितुर्हरं प्रति ।
भावसाध्वसपरिग्रहादभूत्कामदोहदमनोहरं वपुः ॥१॥

व्याहृता प्रतिवचो न संदधे गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका ।
सेवते स शयनं पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः ॥२॥

कैतवेन शयिते कुतूहलात्पार्वती प्रति मुखं निपातितम् ।
चक्षुरुन्मिपति सस्मितं प्रिये विद्युताहतमिव न्यमीलयत् ॥३॥

नाभिदेशनिहितः सकम्पया शंकरस्य रुरुधे तया करः ।
तद्दूकूलमथ चाभवत्स्वयं दूरमुच्छ्वसितनीविबन्धनम् ॥४॥

एवमालि निगृहीतसाध्वसं शंकरो रहसि सेव्यतामिति ।
सा सखीभिरुपदिष्टमाकुला नास्मरत्प्रमुखवर्तिनि प्रिये ॥५॥

अप्यवस्तुनि कथाप्रवृत्तये प्रश्नतत्परमनङ्गशासनम् ।
वीक्षितेन परिवीक्ष्य पार्वती मूर्धकम्पमयमुत्तरं ददौ ॥६॥

शूलिनः करतलद्वयेन सा संनिरुध्य नयने हृतांशुका ।
तस्य पश्यति ललाटलोचने मोघयत्नविधुरा रहस्यभूत् ॥७॥

चुम्बनेष्वधरदानवर्जितं खिन्नहस्तसदयोपगूहनम् ।
क्लिष्टमन्मथमपि प्रियं प्रभोर्दुर्लभप्रतिकृतं वधूरतम् ॥८॥

यन्मुखग्रहणमक्षताधरं दानमव्रणपदं नखस्य यत् ।
यद्रतं च सदयं प्रियस्य तत्पार्वती विषहते स्म नेतरत् ॥९॥

रात्रिवृत्तमनुयोक्तुमुद्यतं सा प्रभातसमये सखीजनम् ।
नाकरोदपकुतूहलं ह्रिया शंसितुं तु हृदयेन तत्वरे ॥१०॥

दर्पणे च परिभोगदर्शिनी पृष्ठतः प्रणयिनो निषेदुषः ।
प्रेक्ष्य बिम्बमुपबिम्बमात्मनः कानि कानि न चकार लज्जया ॥११॥

नीलकण्ठपरिभुक्तयौवनां तां विलोक्य जननी समाश्वसत् ।
भर्तृवल्लभतया हि मानसीं मातुरस्यति शुचं वधूजनः ॥१२॥

वासराणि कतिचित्कथंचन स्थाणुना रतमकारि चानया ।
ज्ञातमन्मथरसा शनैः शनैः सा मुमोच रतिदुःखशीलताम् ॥१३॥

सस्वजे प्रियमुरोनिपीडनं प्रार्थितं मुखमनेन नाहरत् ।
मेखलाप्रणयलोलतां गतं हस्तमस्य शिथिलं रुरोध सा ॥१४॥

भावसूचितमदृष्टविप्रियं दार्ढ्यभाक्क्षणवियोगकातरम् ।
कैश्चिदेव दिवसैस्तथा तयोः प्रेमगूढमितरेतराश्रयम् ॥१५॥

तं यथात्मसदृशं वरं वधूरन्वरज्यत वरस्तथैव ताम् ।
सागरादनपगा हि जाह्नवी सोऽपि तन्मुखरसैकवृत्तिभाक् ॥१६॥

शिष्यतां निधुवनोपदेशिनः शंकरस्य रहसि प्रपन्नया ।
शिक्षितं युवतिनैपुणं तया यत्तदेव गुरुदक्षिणीकृतम् ॥१७॥

दष्टमुक्तमधरोष्ठमम्बिका वेदनाविधुतहस्तपल्लवा ।
शीतलेन निरवापयत्क्षणं मौलिचन्द्रशकलेन शूलिनः ॥१८॥

चुम्बनादलकचूर्णदूषितं शंकरोऽपि नयनं ललाटजम् ।
उच्छ्वसत्कमलगन्धये ददौ पार्वतीवदनगन्धवाहिने ॥१९॥

एवमिन्द्रियसुखस्य वर्त्मनः सेवनादनुगृहीतमन्मथः ।
शैलराजभवने सहोमया मासमात्रमवसद्वृषध्वजः ॥२०॥

सोऽनुमान्य हिमवन्तमात्मभूरात्मजाविरहदुःखखेदितम् ।
तत्र तत्र विजहार संपतन्नप्रमेयगतिना ककुद्मता ॥२१॥

मेरुमेत्य मरुदाशुगोक्षकः पार्वतीस्तनपुरस्कृतान्कृती ।
हेमपल्लवविभङ्गसंस्तरानन्वभूत्सुरतमर्दनक्षमान् ॥२२॥

पद्मनाभचरणाङ्किताश्मसु प्राप्तवत्स्वमृतविप्रुषो नवाः ।
मन्दरस्य कटकेषु चावसत्पार्वतीवदनपद्मषट्पदः ॥२३॥

रावणध्वनितभीतया तया कण्ठसक्तदृढबाहुबन्धनः ।
एकपिङ्गलगिरौ जगद्गुरुर्निर्विवेश विशदाः शशिप्रभाः ॥२४॥

तस्य जातु मलयस्थलीरते धूतचन्दनलतः प्रियाक्लमम् ।
आचचाम सलवङ्गकेसरश्चाटुकार इव दक्षिणानिलः ॥२५॥

हेमतामरसताडितप्रिया तत्कराम्बुविनिमीलितेक्षणा ।
सा व्यगाहत तरङ्गिणीमुमा मीनपङ्क्तिपुनरुक्तमेखला ॥२६॥

तां पुलोमतनयालकोचितैः पारिजातकुसुमैः प्रसाधयन् ।
नन्दने चिरमयुग्मलोचनः सस्पृहं सुरवधूभिरीक्षितः ॥२७॥

इत्यभौममनुभूय शंकरः पार्थिवं च दयितासखः सुखम् ।
लोहितायति कदाचिदातपे गन्धमादनवनं व्यगाहत ॥२८॥

तत्र काञ्चनशिलातलाश्रयो नेत्रगम्यमवलोक्य भास्करम् ।
दक्षिणेतरभुजव्यपाश्रयां व्याजहार सहधर्मचारिणीम् ॥२९॥

पत्रकान्तिमरुणत्रिभागयोः संक्रमय्य तव नेत्रयोरिव ।
संक्षये जगदिव प्रजेश्वरः संहरत्यहरसावहर्पतिः ॥३०॥

सीकरव्यतिकरं मरीचिभिर्दूरयत्यवनते विवस्वति ।
इन्द्रचापपरिवेषशून्यतां निर्झरास्तव पितुर्व्रजन्त्यमी ॥३१॥

दष्टतामरसकेसरस्रजोः क्रन्दतोर्विपरिवृत्तकण्ठयोः ।
निघ्नयोः सरसि चक्रवाकयोरल्पमन्तरमनल्पतां गतम् ॥३२॥

स्थानमाह्निकमपास्य दन्तिनः सल्लकीविटपभङ्गवासितम् ।
आविभातचरणाय गृह्णते वारि वारिरुहबद्धषट्पदम् ॥३३॥

पश्य पश्चिमदिगन्तलम्बिना निर्मितं मितकथे विवस्वता ।
लब्धया प्रतिमया सरोम्भसां तापनीयमिव सेतुबन्धनम् ॥३४॥

उत्तरन्ति विनिकीर्य पल्वलं गाढपङ्कमतिवाहितातपाः ।
दंष्ट्रिणो वनवराहयूथपा दष्टभङ्गुरबिसाङ्कुरा इव ॥३५॥

एष वृक्षशिखरे कृतास्पदो जातरूपरसगौरमण्डलम् ।
हीयमानमहरत्ययातपं पीवरोरु पिबतीव बर्हिणः ॥३६॥

पूर्वभागतिमिरप्रवृत्तिभिर्व्यक्तपङ्कमिव जातमेकतः ।
खं हृतातपजलं विवस्वता भाति किंचिदिव शेषवत्सरः ॥३७॥

आविशद्भिरुटजाङ्गणं मृगैर्मूलसेकसरसैश्च वृक्षकैः ।
आश्रमाः प्रविशदग्र्यधेनवो बिभ्रति श्रियमुदीरिताग्नयः ॥३८॥

बद्धकोशमपि तिष्ठति क्षणं सावशेषविवरं कुशेशयम् ।
षट्पदाय वसतिं ग्रहीष्यते प्रीतिपूर्वमिव दातुमन्तरम् ॥३९॥

दूरमग्रपरिमेयरश्मिना वारुणी दिगरुणेन भानुना ।
भाति केसरवतेव मण्डिता बन्धुजीवतिलकेन कन्यका ॥४०॥

सामभिः सहचराः सहस्रशः स्यन्दनाश्वहृदयंगमस्वनैः ।
भानुमग्निपरिकीर्णतेजसं संस्तुवन्ति किरणोष्मपायिनः ॥४१॥

सोऽयमानतशिरोधरैर्हयैः कर्णचामरविघट्टितेक्षणैः ।
अस्तमेति युगभुग्नकेसरैः संनिधाय दिवसं महोदधौ ॥४२॥

खं प्रसुप्तमिव संस्थिते रवौ तेजसो महत ईदृशी गतिः ।
तत्प्रकाशयति यावदुद्गतं मीलनाय खलु तावतश्च्युतम् ॥४३॥

संध्ययाप्यनुगतं रवेर्वपुर्वन्द्यमस्तशिखरे समर्पितम् ।
येन पूर्वमुदये पुरस्कृता नानुयास्यति कथं तमापदि ॥४४॥

रक्तपीतकपिशाः पयोमुचां कोटयः कुटिलकेशि भान्त्यमूः ।
द्रक्ष्यसि त्वमिति संध्ययानया वर्तिकाभिरिव साधुमण्डिताः ॥४५॥

सिंहकेसरसटासु भूभृतां पल्लवप्रसविषु द्रुमेषु च ।
पश्य धातुशिखरेषु भानुना संविभक्तमिव सांध्यमातपम् ॥४६॥

अद्रिराजतनये तपस्विनः पावनाम्बुविहिताञ्जलिक्रियाः ।
ब्रह्म गूढमभिसंध्यमादृताः शुद्धये विधिविदो गृणन्त्यमी ॥४७॥

तन्मुहूर्तमनुमन्तुमर्हसि प्रस्तुताय नियमाय मामपि ।
त्वां विनोदनिपुणः सखीजनो वल्गुवादिनि विनोदयिष्यति ॥४८॥

निर्विभुज्य दशनच्छदं ततो वाचि भर्तुरवधीरणापरा ।
शैलराजतनया समीपगामाललाप विजयामहेतुकम् ॥४९॥

ईश्वरोऽपि दिवसात्ययोचितं मन्त्रपूर्वमनुतस्थिवान्विधिम् ।
पार्वतीमवचनामसूयया प्रत्युपेत्य पुनराह सस्मितम् ॥५०॥

मुञ्च कोपमनिमित्तकोपने संध्यया प्रणमितोऽस्मि नान्यया ।
किं न वेत्सि सहधर्मचारिणं चक्रवाकसमवृत्तिमात्मनः ॥५१॥

निर्मितेषु पितृषु स्वयंभुवा या तनुः सुतनु पूर्वमुज्झिता ।
सेयमस्तमुदयं च सेवते तेन मानिनि ममात्र गौरवम् ॥५२॥

तामिमां तिमिरवृद्धिपीडितां शैलराजतनयेऽधुना स्थिताम् ।
एकतस्तटतमालमालिनीं पश्य धातुरसनिम्नगामिव ॥५३॥

सांध्यमस्तमितशेषमातपं रक्तलेखमपरा बिभर्ति दिक् ।
सांपरायवसुधासशोणितं मण्डलाग्रमिव तिर्यगुज्झितम् ॥५४॥

यामिनीदिवससंधिसंभवे तेजसि व्यवहिते सुमेरुणा ।
एतदन्धतमसं निरङ्कुशं दिक्षु दीर्घनयने विजृम्भते ॥५५॥

नोर्ध्वमीक्षणगतिर्न चाप्यधो नाभितो न पुरतो न पृष्ठतः ।
लोक एष तिमिरौघवेष्टितो गर्भवास इव वर्तते निशि ॥५६॥

शुद्धमाविलमवस्थितं चलं वक्रमार्जवगुणान्वितं च यत् ।
सर्वमेव तमसा समीकृतं धिङ्महत्त्वमसतां हृतान्तरम् ॥५७॥

नूनमुन्नमति यज्वनां पतिः शार्वरस्य तमसो निषिद्धये ।
पुण्डरीकमुखि पूर्वदिङ्मुखं कैतकैरिव रजोभिराहतम् ॥५८॥

मन्दरान्तरितमूर्तिना निशा लक्ष्यते शशभृता सतारका ।
त्वं मया प्रियसखीसमागता श्रोष्यतेव वचनानि पृष्ठतः ॥५९॥

रुद्धनिर्गमनमा दिनक्षयात्पूर्वदृष्टतनु चन्द्रिकास्मितम् ।
एतदुद्गिरति चन्द्रमण्डलं दिग्रहस्यमिव रात्रिनोदितम् ॥६०॥

पश्य पक्वफलिनीफलत्विषा बिम्बलाञ्छितवियत्सरोम्भसा ।
विप्रकृष्टविवरं हिमांशुना चक्रवाकमिथुनं विडम्ब्यते ॥६१॥

शक्यमोषधिपतेर्नवोदयाः कर्णपूररचनाकृते तव ।
अप्रगल्भयवसूचिकोमलाश्छेत्तुमग्रनखसंपुटैः कराः ॥६२॥

अङ्गुलीभिरिव केशसंचयं संनिगृह्य तिमिरं मरीचिभिः ।
कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं शशी ॥६३॥
पश्य पार्वति नमेन्दुरश्मिभिर्भिन्नसान्द्रतिमिरं नभस्तलम् ।
लक्ष्यते द्विरदभोगदूषितं सप्रसादमिव मानसं सरः ॥६४॥
रक्तभावमपहाय चन्द्रमा जात एष परिशुद्धमण्डलः ।
विक्रिया न खलु कालदोषजा निर्मलप्रकृतिषु स्थिरोदया ॥६५॥
उन्नतेषु शशिनः प्रभा स्थिता निम्नसंश्रयपरं निशातमः ।
नूनमात्मसदृशी प्रकल्पिता वेधसा हि गुणदोषयोर्गतिः ॥६६॥
चन्द्रपादजनितप्रवृत्तिभिश्चन्द्रकान्तजलबिन्दुभिर्गिरिः ।
मेखलातरुषु निद्रितानमून्बोधयत्यसमये शिखण्डिनः ॥६७॥
कल्पवृक्षशिखरेषु संप्रति प्रस्फुरद्भिरिव पश्य सुन्दरि ।
हारयष्टिरचनामिवांशुभिः कर्तुमागतकुतूहलः शशी ॥६८॥
उन्नतावनतभाववत्तया चन्द्रिका सतिमिरा गिरेरियम् ।
भक्तिभिर्बहुविधाभिरर्पिता भाति भूतिरिव मत्तहस्तिनः ॥६९॥
एतदुच्छ्वसितपीतमैन्दवं वोढुमक्षममिव प्रभारसम् ।
मुक्तषट्पदविरावमञ्जसा भिद्यते कुमुदमा निबन्धनात् ॥७०॥
पश्य कल्पतरुलम्बि शुद्धया ज्योत्स्नया जनितरूपसंशयम् ।
मारुते चलति चण्डिके बलाद्व्यज्यते विपरिवृत्तमंशुकम् ॥७१॥
शक्यमङ्गुलिभिरुत्थितैरधः शाखिनां पतितपुष्पपेशलैः ।
पत्रजर्जरशशिप्रभालवैरेभिरुत्कचयितुं तवालकान् ॥७२॥
एष चारुमुखि योगतारया युज्यते तरलबिम्बया शशी ।
साध्वसादुपगतप्रकम्पया कन्ययेव नवदीक्षया वरः ॥७३॥

पाकभिन्नशरकाण्डगौरयोरुल्लसत्प्रकृतिजप्रसादयोः ।
रोहतीव तव गण्डलेखयोश्चन्द्रबिम्बनिहिताक्षि चन्द्रिका ॥७४॥

लोहितार्कमणिभाजनार्पितं कल्पवृक्षमधु बिभ्रति स्वयम् ।
त्वामियं स्थितिमतीमुपागता गन्धमादनवनाधिदेवता ॥७५॥

आर्द्रकेसरसुगन्धि ते मुखं मत्तरक्तनयनं स्वभावतः ।
अत्र लब्धवसतिर्गुणान्तरं किं विलासिनि मदः करिष्यति ॥७६॥

मान्यभक्तिरथवा सखीजनः सेव्यतामिदमनङ्गदीपनम् ।
इत्युदारमभिधाय शंकरस्तामपाययत पानमम्बिकाम् ॥७७॥

पार्वती तदुपयोगसंभवां विक्रियामपि सतां मनोहराम् ।
अप्रतर्क्यविधियोगनिर्मितामाम्रतेव सहकारतां ययौ ॥७८॥

तत्क्षणं विपरिवर्तितह्रियोर्नेष्यतोः शयनमिद्धरागयोः ।
सा बभूव वशवर्तिनी द्वयोः शूलिनः सुवदना मदस्य च ॥७९॥

घूर्णमाननयनं स्खलत्कथं स्वेदबिन्दुमदकारणस्मितम् ।
आननेन न तु तावदीश्वरश्चक्षुषा चिरमुमामुखं पपौ ॥८०॥

तां विलम्बितपनीयमेखलामुद्वहञ्जघनभारदुर्वहाम् ।
ध्यानसंभृतविभूतिरीश्वरः प्राविशन्मणिशिलागृहं रहः ॥८१॥

तत्र हंसधवलोत्तरच्छदं जाह्नवीपुलिनचारुदर्शनम् ।
अध्यशेत शयनं प्रियासखः शारदाभ्रमिव रोहिणीपतिः ॥८२॥

क्लिष्टकेशमवलुप्तचन्दनं व्यत्ययार्पितनखं समत्सरम् ।
तस्य तच्छिदुरमेखलागुणं पार्वतीरतमभून्न तृप्तये ॥८३॥

केवलं प्रियतमादयालुना ज्योतिषामवनतासु पङ्क्तिषु ।
तेन तत्प्रतिगृहीतवक्षसा नेत्रमीलनकुतूहलं कृतम् ॥८४॥

स व्यबुध्यत बुधस्तवोचितः शातकुम्भकमलाकरैः समम् ।
मूर्च्छनापरिगृहीतकैशिकैः किन्नरैरुपसि गीतमङ्गलः ॥८५॥

तौ क्षणं शिथिलितोपगूहनौ दंपती चलितमानसोर्मयः ।
पद्मभेदपिशुनाः सिषेविरे गन्धमादनवनान्तमारुताः ॥८६॥

ऊरुमूलनखमार्गराजिभिस्तत्क्षणं हृतविलोचनो हरः ।
वाससः प्रशिथिलस्य संयमं कुर्वतीं प्रियतमामवारयत् ॥८७॥

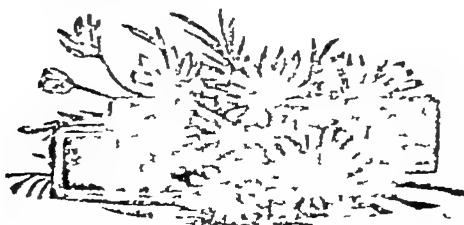
स प्रजागरकषायलोचनं गाढदन्तपरिताडिताधरम् ।
आकुलालकमरंस्त रागवान्प्रेक्ष्य भिन्नतिलकं प्रियामुखम् ॥८८॥

तेन भिन्नविषमोत्तरच्छदं मध्यपिण्डितविसूत्रमेखलम् ।
निर्मलेऽपि शयनं निशात्यये नोज्झितं चरणरागलाञ्छितम् ॥८९॥

स प्रियामुखरसं दिवानिशं हर्षवृद्धिजननं सिषेविषुः ।
दर्शनप्रणयिनामदृश्यतामाजगाम विजयानिवेदनात् ॥९०॥

समदिवसनिशीथं सङ्गिनस्तत्र शंभोः
शतमगमदृतूनां साग्रमेका निशेव ।
न तु सुरतसुखेभ्यश्छिन्नतृष्णो बभूव
ज्वलन इव समुद्रान्तर्गतस्तज्जलौघैः ॥९१॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ कुमारसंभवे महाकाव्ये
उमा सुरतवर्णनं नामाष्टमः सर्गः ॥



नवमः सर्गः

तथाविधेऽनङ्गरसप्रसङ्गे मुखारविन्दे मधुपः प्रियायाः ।
संभोगवेश्म प्रविशन्तमन्तर्ददर्श पारावतमेकमीशः ॥ १ ॥

सुकान्तकान्तामणितानुकारं कूजन्तमाघूर्णितरक्तनेत्रम् ।
प्रस्फारितोन्नम्रविनम्रकण्ठं मुहुर्मुहुर्न्यञ्चितचारुपुच्छम् ॥ २ ॥

विशृङ्खलं पक्षतियुग्ममीषद्दधानमानन्दगतिं मदेन ।
शुभ्रांशुवर्णं जटिलाग्रपादमितस्ततो मण्डलकैश्चरन्तम् ॥ ३ ॥

रतिद्वितीयेन मनोभवेन ह्रदात्सुधायाः प्रविगाह्यमानात् ।
तं वीक्ष्य फेनस्य चयं नवोत्थमिवाभ्यनन्दत्क्षणमिन्दुमौलिः ॥ ४ ॥

तस्याकृतिं कामपि वीक्ष्य दिव्यामन्तर्भवश्छद्मविहंगमग्निम् ।
विचिन्तयन्संविविदे स देवो भ्रूभङ्गभीमश्च रुषा बभूव ॥ ५ ॥

स्वरूपमास्थाय ततो हुताशस्त्रसन्चलत्कम्पकृताञ्जलिः सन् ।
प्रवेपमानो नितरां सरारिमिदं वचो व्यक्तमथाभ्युवाच ॥ ६ ॥

अयि त्वमेको जगतामधीशः स्वर्गौकसां त्वं विपदो निहंसि ।
ततः सुरेन्द्रप्रमुखाः प्रभो त्वामुपासते दैन्यवशैर्विभिन्नाः ॥ ७ ॥

त्वया प्रियाप्रेमवशंवदेन शतं व्यतीये सुरतादृतूनाम् ।
रहःस्थितेन त्वदवीक्षणार्तो दैन्यं परं प्राप सुरैः सुरेन्द्रः ॥ ८ ॥

त्वदीयसेवावसरप्रतीक्षैरभ्यर्थितः शक्रमुखैः सुरैस्त्वाम् ।
उपागतोऽन्वेष्टुमहं विहंगरूपेण विद्वन्समयोचितेन ॥ ९ ॥

इति प्रभो चेतसि संप्रधार्य तन्नोऽपराधं भगवन्क्षमस्व ।
पराभिभूता वद किं क्षमन्ते कालातिपातं शरणार्थिनोऽमी ॥१०॥

प्रभो प्रसीदाशु सृजात्मपुत्रं यं प्राप्य सेनान्यमसौ सुरेन्द्रः ।
स्वर्लोकलक्ष्मीप्रभुतामवाप्य जगत्त्रयं पाति तव प्रसादात् ॥११॥

स शंकरस्तामिति जातवेदोविज्ञापनामर्थवतीं निशम्य ।
अभूत्प्रसन्नः परितोषयन्ति गीर्भिर्गिरीशा रुचिराभिरीशम् ॥१२॥

प्रसन्नचेता मदनान्तकारः स तारकारेर्जयिनो भवाय ।
शक्रस्य सेनाधिपतेर्जयाय व्यचिन्तयच्चेतसि भावि किंचित् ॥१३॥

युगान्तकालाग्निमिवाविषह्यं परिच्युतं मन्मथरङ्गभङ्गात् ।
रतान्तरेतः स हिरण्यरेतस्यथोर्ध्वरेतास्तदमोघमाधात् ॥१४॥

अथोष्णबाष्पानिलदूषितान्तं विशुद्धमादर्शमिवात्मदेहम् ।
बभार भूम्ना सहसा पुरारिरेतः परिक्षेपकुवर्णमग्निः ॥१५॥

त्वं सर्वभक्षो भव भीमकर्मा कुष्ठाभिभूतोऽनल धूमगर्भः ।
इत्थं शशापाद्रिसुता हुताशं रुष्टा रतानन्दसुखस्य भङ्गात् ॥१६॥

दक्षस्य शापेन शशी क्षयीव प्लुष्टो हिमेनेव सरोजकोशः ।
वहन्विरूपं वपुरुग्ररेतश्चयेन वह्निः किल निर्जगाम ॥१७॥

स पावकालोकरुषा विलक्षां सत्रपास्मेरविनम्रवक्त्राम् ।
विनोदयामास गिरीन्द्रपुत्रीं शृङ्गारगर्भैर्मधुरैर्वचोभिः ॥१८॥

हरो विकीर्णं घनघर्मतोयैर्नेत्राञ्जनाङ्कं हृदयप्रियायाः ।
द्वितीयकौपीनचलाञ्चलेनाहरन्मुखेन्दोरकलङ्किनोऽस्याः ॥१९॥

मन्देन खिन्नाङ्गुलिना करेण कम्पेन तस्या वदनारविन्दात् ।
परामृशन्घर्मजलं जहार हरः सहेलं व्यजनानिलेन ॥२०॥

रतिश्लथं तत्कबरीकलापमंसावसक्तं विगलत्प्रसूनम् ।
स पारिजातोद्भवपुष्पमय्या स्रजा बबन्धामृतमूर्तिमौलिः ॥२१॥

कपोलपाल्यां मृगनाभिचित्रपत्रावलीमिन्दुमुखः सुमुख्याः ।
सरस्य सिद्धस्य जगद्विमोहमन्त्राक्षरश्रेणिमिवोल्लिलेख ॥२२॥

रथस्य कर्णावभि तन्मुखस्य ताटङ्कचक्रद्वितयं न्यधात्सः ।
जगज्जिगीषुर्विषमेषुरेष ध्रुवं यमारोहति पुष्पचापः ॥२३॥

तस्याः स कण्ठे पिहितस्तनाग्रां न्यधत्त मुक्ताफलहारवल्लीम् ।
या प्राप मेरुद्वितयस्य मूर्ध्नि स्थितस्य गाङ्गौघयुगस्य लक्ष्मीम् ॥२४॥

नखव्रणश्रेणिवरे बबन्ध नितम्बबिम्बे रशनाकलापम् ।
चलस्वचेतोमृगबन्धनाय मनोभुवः पाशमिव स्मरारिः ॥२५॥

भालेक्षणाग्नौ स्वयमञ्जनं स भङ्क्त्वा दृशोः साधु निवेश्य तस्याः ।
नवोत्पलाक्ष्याः पुलकोपगूढे कण्ठे विनीलेऽङ्गुलिमुज्जघर्ष ॥२६॥

अलक्तकं पादसरोरुहाग्रे सरोरुहाक्ष्याः किल संनिवेश्य ।
स्वमौलिगङ्गासलिलेन हस्तारुणत्वमक्षालयदिन्दुचूडः ॥२७॥

भस्मानुलिप्ते वपुषि स्वकीये सहेलमादर्शतलं विमृज्य ।
नेपथ्यलक्ष्म्याः परिभावनार्थमदर्शयज्जीवितवल्लभां सः ॥२८॥

प्रियेण दत्ते मणिदर्पणे सा संभोगचिह्नं स्ववपुर्विभाव्य ।
त्रपावती तत्र घनानुरागं रोमाञ्चदम्भेन बहिर्बभार ॥२९॥

नेपथ्यलक्ष्मीं दयितोपक्लृप्तां सस्मेरमादर्शतले विलोक्य ।
अमंस्त सौभाग्यवतीषु धुर्यामात्मानमुद्भूतविलक्षभावा ॥३०॥

अन्तः प्रविश्यावसरेऽथ तत्र स्निग्धे वयस्ये विजया जया च ।
सुसंपदोपाचरतां कलानामङ्के स्थितां तां शशिखण्डमौलेः ॥३१॥

व्यधुर्बहिर्मङ्गलगानमुच्चैर्वैतालिकाश्चित्रचरित्रचारु ।
जगुश्च गन्धर्वगणाः सशङ्खस्वनं प्रमोदाय पिनाकपाणेः ॥३२॥

ततः स्वसेवावसरे सुराणां गणांस्तदालोकनतत्पराणाम् ।
द्वारि प्रविश्य प्रणतोऽथ नन्दी निवेदयामास कृताञ्जलिः सन् ॥३३॥

महेश्वरो मानसराजहंसीं करे दधानस्तनयां हिमाद्रेः ।
संभोगलीलालयतः सहेलं हरो बहिस्तानभि निर्जगाम ॥३४॥

क्रमान्महेन्द्रप्रमुखाः प्रणेमुः शिरोनिबद्धाञ्जलयो महेशम् ।
प्रालेयशैलाधिपतेस्तनूजां देवीं च लोकत्रयमातरं ते ॥३५॥

यथागतं तान्विबुधान्विसृज्य प्रसाद्य मानक्रियया प्रतस्थे ।
स नन्दिना दत्तभुजोऽधिरुह्य वृषं वृषाङ्कः सह शैलपुत्र्या ॥३६॥

मनोतिवेगेन ककुद्मता स प्रतिष्ठमानो गगनाध्वनोऽन्तः ।
वैमानिकैः साञ्जलिभिर्ववन्दे विहारहेलागतिभिर्गिरीशः ॥३७॥

स्वर्वाहिनीवारिविहारचारी रतान्तनारीश्रमशान्तिकारी ।
तौ पारिजातप्रसवप्रसङ्गो मरुत्सिषेवे गिरिजागिरीशौ ॥३८॥

पिनाकिनापि स्फटिकाचलेन्द्रः कैलासनामा कलिताम्बरांशः ।
धृतार्धसोमोऽद्भुतभोगिभोगो विभूतधारी स्व इव प्रपेदे ॥३९॥

विलोक्य यत्र स्फटिकस्य भित्तौ सिद्धाङ्गनाः स्वं प्रतिबिम्बमारात् ।
भ्रान्त्या परस्या विमुखीभवन्ति प्रियेषु मानग्रहिला नमत्सु ॥४०॥

सुविम्बितस्य स्फटिकांशुगुम्फैश्चन्द्रस्य चिह्नप्रकरः करोति ।
गौर्यार्पितस्येव रसेन यत्र कस्तूरिकायाः शकलस्य लीलाम् ॥४१॥

यदीयभित्तौ प्रतिबिम्बिताङ्गमात्मानमालोक्य रुषा करीन्द्राः ।
मत्तान्यकुम्भिभ्रमतोऽतिभीमदन्ताभिघातव्यसनं वहन्ति ॥४२॥

निशासु यत्र प्रतिबिम्बितानि ताराकुलानि स्फटिकालयेषु ।
दृष्ट्वा रतान्तच्युततारहारमुक्ताभ्रमं बिभ्रति सिद्धवध्वः ॥४३॥

नभश्चरीमण्डनदर्पणश्रीः सुधानिधिर्मूर्धनि यस्य तिष्ठन् ।
अनर्घ्यचूडामणितामुपैति शैलाधिनाथस्य शिवालयस्य ॥४४॥

समीयिवांसो रहसि स्मरार्ता रिरंसवो यत्र सुराः प्रियाभिः ।
एकाकिनोऽपि प्रतिबिम्बभाजो विभान्ति भूयोभिरिवान्विताः स्वैः॥४५

देवोऽपि गौर्या सह चन्द्रमौलिर्यदृच्छया स्फाटिकशैलशृङ्गे ।
शृङ्गारचेष्टाभिरनारताभिर्मनोहराभिर्व्यहरच्चिराय ॥४६॥

देवस्य तस्य स्मरसूदनस्य हस्तं समालिङ्ग्य सुविभ्रमश्रीः ।
सा नन्दिना वेत्रभृतोपदिष्टमार्गा पुरोगेण कलं चचाल ॥४७॥

चलच्छिखाग्रो विकटाङ्गभङ्गः सुदन्तुरः शुष्कसुतीक्ष्णतुण्डः ।
भ्रुवोपदिष्टः स तु शंकरेण तरसा विनोदाय ननर्त भृङ्गी ॥४८॥

कण्ठस्थलीलोलकपालमाला दंष्ट्राकरालाननमभ्यनृत्यत् ।
प्रीतेन तेन प्रभुणा नियुक्ता काली कलत्रस्य मुदे प्रियस्य ॥४९॥

भयङ्करौ तौ विकटं नदन्तौ विलोक्य बाला भयविह्वलाङ्गी ।
सरागमुत्सङ्गमनङ्गशत्रोर्गाढं प्रसह्य स्वयमालिलिङ्ग ॥५०॥

उत्तुङ्गपीनस्तनपिण्डपीडं ससंभ्रमं तत्परिरम्भमीशः ।
प्रपद्य सद्यः पुलकोपगूढः स्मरेण रूढप्रमदो ममाद ॥५१॥

इति गिरितनुजाविलासलीला-
विविधविभङ्गिभिरेष तोषितः सन् ।
अमृतकरशिरोमणिर्गिरीन्द्रे
कृतवसतिर्वशिभिर्गणैर्ननन्द ॥५२॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ कुमारसंभवे महाकाव्ये
कैलासगमनो नाम नवमः सर्गः ॥



दशमः सर्गः

आससाद सुनासीरं सदसि त्रिदशैः सह ।
एष त्रैयम्बकं तीव्रं वहन्वह्निर्महन्महः ॥ १ ॥

सहस्रेण दृशामीशः कुत्सिताङ्गं च सादरम् ।
दुर्दर्शनं ददर्शाग्निं धूम्रधूमितमण्डलम् ॥ २ ॥

दृष्ट्वा तथाविधं वह्निमिन्द्रः क्षुब्धेन चेतसा ।
व्यचिन्तयच्चिरं किंचित्कन्दर्पद्वेपिरोपजम् ॥ ३ ॥

स विलक्ष्यमुखैर्देवैर्वीक्ष्यमाणः क्षणं क्षणम् ।
उपाविशत्सुरेन्द्रेणादिष्टं सादरमासनम् ॥ ४ ॥

हव्यवाह त्वयासादि दुर्दशेयं दशा कुतः ।
इति पृष्टः सुरेन्द्रेण स निःश्वस्य वचोऽवदत् ॥ ५ ॥

अनतिक्रमणीयात्ते शासनात्सुरनायक ।
पारावतं वपुः प्राप्य वेपमानोऽतिसाध्वसात् ॥ ६ ॥

अभिगौरि रतासक्तं जगामाहं महेश्वरम् ।
कालस्येव स्मरारातेः स्वं रूपमहमासदम् ॥ ७ ॥

दृष्ट्वा छद्मविहङ्गं मां सुज्ञो विज्ञाय जम्भभित् ।
ज्वलज्ज्वालानले होतुं कोपनो माममन्यत ॥ ८ ॥

वचोभिर्मधुरैः सार्थैर्विनम्रेण मया स्तुतः ।
प्रीतिमानभवद्देवः स्तोत्रं कस्य न तुष्टये ॥ ९ ॥

शरण्यः सकलत्राता मामत्रायत शंकरः ।
क्रोधाग्नेर्ज्वलतो ग्रासात्त्रासतो दुर्निवारतः ॥१०॥

परिहृत्य परीरम्भरभसं दुहितुर्गिरेः ।
कामकेलिरसोत्सेकाद्व्रीडया विरराम सः ॥११॥

रङ्गभङ्गच्युतं रेतस्तदामोघं सुदुर्वहम् ।
त्रिजगद्दाहकं सद्यो मद्विग्रहमधि न्यधात् ॥१२॥

दुर्विषह्येण तेनाहं तेजसा दहनात्मना ।
निर्दग्धमात्मनो देहं दुर्वहं वोढुमक्षमः ॥१३॥

रौद्रेण दह्यमानस्य महसातिमहीयसा ।
मम प्राणपरित्राणप्रगुणो भव वासव ॥१४॥

इति श्रुत्वा वचो वह्नेः परितापोपशान्तये ।
हेतुं विचिन्तयामास मनसा विबुधेश्वरः ॥१५॥

तेजोदग्धानि गात्राणि पाणिनाम्य परामृशन् ।
किंचित्कृपीटयोनिं तं दिवस्पतिरभाषत ॥१६॥

प्रीतः स्वाहास्वधाहन्तकारैः प्रीणयसे स्वयम् ।
देवान्पितॄन्मनुष्यांस्त्वमेकस्तेषां मुखं यतः ॥१७॥

त्वयि जुह्वति होतारो हवींपि ध्वस्तकल्मषाः ।
भुञ्जन्ति स्वर्गमेकस्त्वं स्वर्गप्राप्तौ हि कारणम् ॥१८॥

हवींषि मन्त्रपूतानि हुताश त्वयि जुह्वतः ।
तपस्विनस्तपःसिद्धिं यान्ति त्वं तपसां प्रभुः ॥१९॥

निधत्से हुतमर्काय स पर्जन्योऽभिवर्षति ।
ततोऽन्नानि प्रजास्तेभ्यस्तेनासि जगतः पिता ॥२०॥

अन्तश्चरोऽसि भूतानां तानि त्वत्तो भवन्ति च ।
ततो जीवितभूतस्त्वं जगतः प्राणदोऽसि च ॥२१॥

जगतः सकलस्यास्य त्वमेकोऽस्युपकारकृत् ।
कार्योपपादने तत्र त्वत्तोऽन्यः कः प्रगल्भते ॥२२॥

अमीषां सुरसंघानां त्वमेकोऽर्थसमर्थने ।
विपत्तिरपि संश्लाघ्योपकारव्रतिनोऽनल ॥२३॥

देवी भागीरथी पूर्वं भक्त्यास्माभिः प्रतोषिता ।
निमज्जतस्तवोदीर्णं तापं निर्वापयिष्यति ॥२४॥

गङ्गां तद्गच्छ मा कार्षीर्विलम्बं हव्यवाहन ।
कार्येष्ववश्यकार्येषु सिद्धये क्षिप्रकारिता ॥२५॥

शंभोरम्भोमयी मूर्तिः सैव देवी सुरापगा ।
त्वत्तः स्मरद्विषो बीजं दुर्धरं धारयिष्यति ॥२६॥

इत्युदीर्य सुनासीरो विरराम स चानलः ।
तद्विसृष्टस्तमापृच्छ्य प्रतस्थे स्वर्धुनीमभि ॥२७॥

हिरण्यरेतसा तेन देवी स्वर्गतरङ्गिणी ।
तीर्णाध्वना प्रपेदे सा निःशेषक्लेशनाशिनी ॥२८॥

स्वर्गारोहणनिःश्रेणिर्मोक्षमार्गाधिदेवता ।
उदारदुरितोद्धारहारिणी दुर्गतारिणी ॥२९॥

महेश्वरजटाजूटवासिनी पापनाशिनी ।
सरागान्वयनिर्वाणकारिणी धर्मधारिणी ॥३०॥

विष्णुपादोदकोद्भूता ब्रह्मलोकादुपागता ।
त्रिभिः स्रोतोभिरश्रान्तं पुनाना भुवनत्रयम् ॥३१॥

जातवेदसमायान्तमूर्मिहस्तैः समुत्थितैः ।
आजुहावार्थसिद्ध्यै तं सुप्रसादधरेव सा ॥३२॥

संमिलद्भिर्मरालैः सा कलं कूजद्भिरुन्मदैः ।
ददे श्रेयांसि दुःखानि निहन्मीति तमभ्यधात् ॥३३॥

कल्लोलैरुद्गतैरर्वाचीनं तटमभिद्रुतैः ।
प्रीतेव तमभीयाय स्वर्धुनी जातवेदसम् ॥३४॥

अथाभ्युपेतस्तापार्तो निममज्जानलः किल ।
विपदा परिभूताः किं व्यवस्यन्ति विलम्बितुम् ॥३५॥

गङ्गावारिणि कल्याणकारिणि श्रमहारिणि ।
स मग्नो निर्वृतिं प्राप पुण्यभारिणि तारिणि ॥३६॥

तत्र माहेश्वरं धाम संचक्राम हविर्भुजः ।
गङ्गायामुत्तरंगायामन्तस्तापविपद्धृति ॥३७॥

कृशानुरेतसो रेतस्याहृते सरिता तया ।
निश्चक्राम ततः सौख्यं हव्यवाहो वहन्बहु ॥३८॥

सुधासारैरिवाम्भोभिरभिषिक्तो हुताशनः ।
यथागतं जगामाथ परां निर्वृतिमादधन् ॥३९॥

सा सुदुर्विषहं गङ्गा धाम कामजितो महत् ।
आदधाना परीतापमवाप व्योमवाहिनी ॥४०॥

बहिरार्ता युगान्ताग्नेस्तप्तानीव शिखाशतैः ।
हित्वोष्णानि जलान्यस्या निर्जग्मुर्जलजन्तवः ॥४१॥

तेजसा तेन रौद्रेण तप्तानि सलिलान्यपि ।
समुद्वान्ति चण्डानि दुर्धराणि बभार सा ॥४२॥

जगच्चक्षुषि चण्डांशौ किंचिदभ्युदयोन्मुखे ।
जग्मुः षट् कृत्तिका माघे मासि स्नातुं सुरापगाम् ॥४३॥

शुभ्रैरभ्रंकषैरूर्मिशतैः स्वर्गनिवासिनाम् ।
कथयन्तीमिवालोकावगाहाचमनादिकम् ॥४४॥

सुस्नातानां मुनीन्द्राणां बलिकर्मोचितैरलम् ।
बहिः पुष्पोत्करैः कीर्णतीरां दूर्वाक्षतान्वितैः ॥४५॥

ब्रह्मध्यानपरैर्योगपरैर्ब्रह्मासनस्थितैः ।
योगनिद्रागतैर्योगपट्टबन्धैरुपाश्रिताम् ॥४६॥

पादाङ्गुष्ठाग्रभूमिस्थैः सूर्यसंबद्धदृष्टिभिः ।
ब्रह्मर्षिभिः परं ब्रह्म गृणद्भिरुपसेविताम् ॥४७॥

अथ दिव्यां नदीं देवीमभ्यनन्दन्विलोक्य ताः ।
कं नाभिनन्दयत्येषा दृष्टा पीयूषवाहिनी ॥४८॥

चन्द्रचूडामणिर्देवो यामुद्वहति मूर्धनि ।
यस्या विलोकनं पुण्यं श्रद्दधुस्तां मुदा हृदि ॥४९॥

दिव्यां विष्णुपदीं देवीं निर्वाणपददेशिनीम् ।
निर्धूतकल्मषां मूर्ध्ना सुप्रह्वास्ता ववन्दिरे ॥५०॥

सौभाग्यैः खलु सुप्रापां मोक्षप्रतिभुवं सतीम् ।
भक्त्यात्र तुष्टास्तां ताः श्रद्दधाना दिवोधुनीम् ॥५१॥

मुक्तिस्त्रीसङ्गदूत्यज्ञैस्तत्र ता विमलैर्जलैः ।
प्रक्षालितमलाः सस्नुः सुस्नातास्तपसान्विताः ॥५२॥

स्नात्वा तत्र सुलभ्यायां भाग्यैः परिपचेलिमैः ।
चरितार्थं स्वमात्मानं बहु ता मेनिरे मुदा ॥५३॥

कृशानुरेतसो रेतस्तासामभिकलेवरम् ।
अमोघं संचचाराथ सद्यो गङ्गावगाहनात् ॥५४॥

रौद्रं सुदुर्धरं धाम दधाना दहनात्मकम् ।
परितापमवापुस्ता मग्ना इव विपाम्बुधौ ॥५५॥

अक्षमा दुर्वहं वोढुमम्बुनो वहिरातुराः ।
अग्निं ज्वलन्तमन्तस्ता दधाना इव निर्ययुः ॥५६॥

अमोघं शांभवं बीजं सद्यो नद्योज्झितं महत् ।
तासामभ्युदरं दीप्तं स्थितं गर्भत्वमागमत् ॥५७॥

सुज्ञा विज्ञाय ता गर्भभृतं तद्वोढुमक्षमाः ।
विषादमदधुः सद्यो गाढं भर्तृभिया ह्रिया ॥५८॥

ततः शरवणे सार्धं भयेन व्रीडया च ताः ।
तद्गर्भजातमुत्सृज्य स्वान्गृहानभिनिर्ययुः ॥५९॥

ताभिस्तत्रामृतकरकलाकोमलं भासमानं
तद्विक्षिप्तं क्षणमभिनभोगर्भमभ्युज्जिहानैः ।
स्वैस्तेजोभिर्दिनपतिशतस्पर्धमानैरमानै-
र्वक्त्रैः षड्भिः स्मरहरगुरुस्पर्धनेवाजनीव ॥६०॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ कुमारसंभवे महाकाव्ये
कुमारोत्पत्तिर्नाम दशमः सर्गः ॥

एकादशः सर्गः

अभ्यर्थ्यमाना विबुधैः समग्रैः प्रह्वैः सुरेन्द्रप्रमुखैरुपेत्य ।
तं पाययामास सुधातिपूर्णं सुरापगा स्वं स्तनमाशु मूर्ता ॥ १ ॥

पिबन्स तस्याः स्तनयोः सुधौघं क्षणंक्षणं साधु समेधमानः ।
आपाकृतिं कामपि षड्भिरेत्य निषेव्यमाणः खलु कृत्तिकाभिः ॥ २ ॥

भागीरथीपावककृत्तिकानामानन्दबाष्पाकुललोचनानाम् ।
तं नन्दनं दिव्यमुपात्तुमासीत्परस्परं प्रौढतरो विवादः ॥ ३ ॥

अत्रान्तरे पर्वतराजपुत्र्या समं शिवः स्वैरविहारहेतोः ।
नभो विमानेन विगाहमानो मनोतिवेगेन जगाम तत्र ॥ ४ ॥

निसर्गवात्सल्यवशाद्विवृद्धचेतःप्रमोदौ गलदश्रुनेत्रौ ।
अपश्यतां तं गिरिजागिरीशौ षडाननं षड्दिनजातमात्रम् ॥ ५ ॥

अथाह देवी शशिखण्डमौलिं कोऽयं शिशुर्दिव्यवपुः पुरस्तात् ।
कस्याथवा धन्यतमस्य पुंसो मातास्य वा भाग्यवतीषु धुर्या ॥ ६ ॥

स्वर्गापगापावकलोऽयमेताः षट् कृत्तिकाः किं कलहायमानाः ।
इत्थो ममायं न तवायमित्थं मिथ्येति वैलक्ष्यमुदाहरन्ति ॥ ७ ॥

एतेषु कस्येदमपत्यमीशाखिलत्रिलोकीतिलकायमानम् ।
अन्यस्य कस्याप्यथ देवदैत्यगन्धर्वसिद्धोरगराक्षसेषु ॥ ८ ॥

श्रुत्वेति वाक्यं हृदयप्रियायाः कौतूहलिन्या विमलस्मितश्रीः ।
सान्द्रप्रमोदोदयसौख्यहेतुभूतं वचोऽवोचत चन्द्रचूडः ॥ ९ ॥

जगत्त्रयीनन्दन एष वीरः प्रवीरमातुस्तव नन्दनोऽस्ति ।
कल्याणि कल्याणकरः सुराणां त्वत्तोऽपरस्याः कथमेष सर्गः ॥ १० ॥

देवि त्वमेवास्य निदानमास्से सर्गे जगन्मङ्गलगानहेतोः ।
सत्यं त्वमेवेति विचारयस्व रत्नाकरे युज्यत एव रत्नम् ॥ ११ ॥

अतः शृणुष्वावहितेन वृत्तं बीजं यदग्नौ निहितं मया तत् ।
संक्रान्तमन्तस्त्रिदशापगायां ततोऽवगाहे सति कृत्तिकासु ॥ १२ ॥

गर्भत्वमाप्तं तदमोघमेतत्ताभिः शरस्तम्बमधि न्यधायि ।
बभूव तत्रायमभूतपूर्वो महोत्सवोऽशेषचराचरस्य ॥ १३ ॥

अशेषविश्वप्रियदर्शनेन धुर्या त्वमेतेन सुपुत्रिणीनाम् ।
अलं विलम्ब्याचलराजपुत्रि स्वपुत्रमुत्सङ्गतले निधेहि ॥ १४ ॥

अथेति वादिन्यमृतांशुमौलौ शैलेन्द्रपुत्री रभसेन सद्यः ।
सान्द्रप्रमोदेन सुपीनगात्री धात्री समस्तस्य चराचरस्य ॥ १५ ॥

किरीटबद्धाञ्जलिभिर्नभःस्थैर्नमस्कृता मत्सरनाकिलोकैः ।
विमानतोऽवातरदात्मजं तं ग्रहीतुमुत्कण्ठनमानमाभून् ॥ १६ ॥

स्वर्गापगापावककृत्तिकादीन्कृताञ्जलीनानमतोऽपि भूयः ।
हित्वोत्सुका तं सुतमाससाद पुत्रोत्सवे माद्यति का न हर्षात् ॥ १७ ॥

प्रमोदबाष्पाकुललोचना सा नतं ददर्श क्रमगमग्रतोऽपि ।
परिस्पृशन्ती करकुड्मलेन मुदान्तरं प्राप किमप्यपूर्वम् ॥ १८ ॥

सुविस्मयानन्दविकस्वरायाः शिशुर्गलद्बाष्पतरंगितायाः ।
विवृद्धवात्सल्यरसोत्तरायाः देव्यादृशोर्गोचरतां जगाम ॥१९॥

तमीक्षमाणा क्षणमीक्षणानां सहस्रमाप्तुं विनिमेषमैच्छत् ।
सा नन्दनालोकनमङ्गलेषु क्षणंक्षणं तृप्यति कस्य चेतः ॥२०॥

विनम्रदेवासुरपृष्ठगाभ्यामादाय तं पाणिसरोरुहाभ्याम् ।
नवोदयं पार्वणचन्द्रचारुं गौरी स्वमुत्सङ्गतलं निनाय ॥२१॥

स्वमङ्कमारोप्य सुधानिधानमिवात्मनो नन्दनमिन्दुवक्त्रा ।
तमेकमेषा जगदेकवीरं बभूव पूज्या धुरि पुत्रिणीनाम् ॥२२॥

निसर्गवात्सल्यरसौघसिक्ता सान्द्रप्रमोदामृतपूरपूर्णा ।
तमेकपुत्रं जगदेकमाताभ्युत्सङ्गिनं प्रस्नविणी बभूव ॥२३॥

अशेषलोकत्रयमातुरस्याः षाण्मातुरः स्तन्यसुधामधासीत् ।
सुरस्रवन्त्याः किल कृत्तिकाभिर्मुहुर्मुहुः सस्पृहमीक्ष्यमाणः ॥२४॥

सुखाश्रुपूर्णेन मृगाङ्कमौलेः कलत्रमेकेन मुखाम्बुजेन ।
तथैकनालोद्गतपद्मपद्मलक्ष्मीं क्रमात्पङ्कदनीं चुचुम्ब ॥२५॥

हैमी फलं हेमगिरेर्लतेव विकस्वरं नाकनदीव पद्मम् ।
पूर्वेव दिङ्नूतनमिन्दुमाभात्तं पार्वती नन्दनमादधाना ॥२६॥

प्रीतात्मना सा प्रयतेन दत्तहस्तावलम्बा शशिशेखरेण ।
कुमारमुत्सङ्गतले दधाना विमानमभ्रंलिहमारुरोह ॥२७॥

महेश्वरोऽपि प्रमदप्ररूढरोमोद्गमो भूधरनन्दनायाः ।
अङ्कादुपादत्त तदङ्कतः सा तस्यास्तु सोऽप्यात्मजवत्सलत्वात् ॥२८॥

दधानया नेत्रसुधैकमत्रं पुत्रं पवित्रं सुतया तयाद्रेः ।
संश्लिष्यमाणः शशिखण्डधारी विमानवेगेन गृहाञ्जगाम ॥२९॥

अधिष्ठितः स्फाटिकशैलशृङ्गे तुङ्गे निजं धाम निकामरम्यम् ।
महोत्सवाय प्रमथप्रमुख्यान्पृथून्गणाञ्शंभुरथादिदेश ॥३०॥

पृथुप्रमोदः प्रगुणो गणानां गणः समग्रो वृषवाहनस्य ।
गिरीन्द्रपुत्र्यास्तनयस्य जन्मन्यथोत्सवं संववृते विधातुम् ॥३१॥

स्फुरन्मरीचिच्छुरिताम्बराणि संतानशाखिप्रसवाञ्चितानि ।
उच्चिक्षिपुः काञ्चनतोरणानि गणा वराणि स्फटिकालयेषु ॥३२॥

दिक्षु प्रसर्पंस्तदधीश्वराणामथामराणामिव मध्यलोके ।
महोत्सवं शंसितुमाहतोऽन्यैर्दध्वान धीरः पटहः पटीयान् ॥३३॥

महोत्सवे तत्र समागतानां गन्धर्वविद्याधरसुन्दरीणाम् ।
संभावितानां गिरिराजपुत्र्या गृहेऽभवन्मङ्गलगीतकानि ॥३४॥

सुमङ्गलोपायनपात्रहस्तास्तं मातरो मातृवदभ्युपेताः ।
विधाय दूर्वाक्षतकानि मूर्ध्नि निन्युः स्वमङ्कं गिरिजातनूजम् ॥३५॥

ध्वनत्सु तूर्येषु सुमन्द्रमङ्क्यालिङ्ग्योर्ध्वकेष्वप्सरसो रसेन ।
सुसंधिबन्धं ननृतुः सुवृत्तगीतानुगं भावरसानुविद्धम् ॥३६॥

वाता ववुः सौख्यकराः प्रसेदुराशा विधूमो हुतभुग्दिदीपे ।
जलान्यभूवन्विमलानि तत्रोत्सवेऽन्तरिक्षं प्रससाद सद्यः ॥३७॥

गम्भीरशङ्खध्वनिमिश्रमुच्चैर्गृहोद्भवा दुन्दुभयः प्रणेदुः ।
दिवौकसां व्योम्नि विमानसंघा विमुच्य पुष्पप्रचयान्प्रसस्नुः ॥३८॥

इत्थं महेशाद्रिसुतासुतस्य जन्मोत्सवे संमदयांचकार ।
चराचरं विश्वमशेषमेतत्परं चकम्पे किल तारकश्रीः ॥३९॥

ततः कुमारः समुदां निदानैः स बाललीलाचरितैर्विचित्रैः ।
गिरीशगौर्योर्हृदयं जहार मुदे न हृद्या किमु बालकेलिः ॥४०॥

द्वादशः सर्गः

अथ प्रपेदे त्रिदशैरशेषैः क्रूरासुरोपप्लवदुःखितात्मा ।
पुलोमपुत्रीदयितोऽन्धकारिं पत्रीव तृष्णातुरितः पयोदम् ॥ १ ॥

द्रुतारिसंत्रासखिलीकृतात्स कथंचिदम्भोदविहारमार्गात् ।
अवाततारामिगिरिं गिरीशगौरीपदन्यासविशुद्धमिन्द्रः ॥ २ ॥

संक्रन्दनः स्यन्दनतोऽवतीर्य मेघात्मनो मातलिदत्तहस्तः ।
पिनाकिनोऽथालयमुच्चचाल शुचौ पिपासाकुलितो यथाम्भः ॥ ३ ॥

इतस्ततोऽथ प्रतिबिम्बभाजं विलोकमानः स्फटिकाद्रिभूमौ ।
आत्मानमप्येकमनेकधा स व्रजन्विभोरास्पदमाससाद ॥ ४ ॥

विचित्रचञ्चन्मणिभङ्गिसङ्गं सौवर्णदण्डं दधतातिचण्डम् ।
स नन्दिनाधिष्ठितमध्यतिष्ठत्सौधाङ्गणद्वारमनङ्गशत्रोः ॥ ५ ॥

ततः स कक्षाहितहेमदण्डो नन्दी सुरेन्द्रं प्रतिपद्य सद्यः ।
प्रतोषयामास सुराग्रेण गत्वा शशंस स्वयमीश्वरस्य ॥ ६ ॥

भ्रूसंज्ञयानेन कृताभ्यनुज्ञः सुरेश्वरं तं जगदीश्वरेण ।
प्रवेशयामास सुरैः पुरोगः समं स नन्दी सदनं सदस्य ॥ ७ ॥

स चण्डिभृङ्गिप्रमुखैर्गरिष्ठैर्गणैरनेकैर्विविधस्वरूपैः ।
अधिष्ठितं संसदि रत्नमय्यां सहस्रनेत्रः शिवमालुलोके ॥ ८ ॥

कपर्दमुद्बद्धमहीनमूर्धरत्नांशुभिर्भासुरमुल्लसद्भिः ।
दधानमुच्चैस्तरमिद्धधातोः सुमेरुशृङ्गस्य समत्वमाप्तम् ॥ ९ ॥

विभ्राणमुत्तुङ्गतरङ्गमालां गङ्गां जटाजूटतटं भजन्तीम् ।
गौरीं तदुत्सङ्गजुषं हसन्तीमिव स्वफेनैः शरदभ्रशुभ्रैः ॥१०॥

गङ्गातरङ्गप्रतिबिम्बितैः स्वैर्बहूभवन्तं शिरसा सुधांशुम् ।
चलन्मरीचिप्रचयैस्तुषारगौरैर्हिमद्योतितमुद्वहन्तम् ॥११॥

भालस्थले लोचनमेधमानधामाधरीभूतरवीन्दुनेत्रम् ।
युगान्तकालोचितहव्यवाहं मीनध्वजप्लोषणमादधानम् ॥११॥

महार्हरत्नाञ्चितयोरुदारं स्फुरत्प्रभामण्डलयोः समन्तात् ।
कर्णस्थिताभ्यां शशिभास्कराभ्यामुपासितं कुण्डलयोश्छलेन ॥१३॥

स्वबद्धया कण्ठिकयेव नीलमाणिक्यमय्या कुतुकेन गौर्याः ।
नीलस्य कण्ठस्य परिस्फुरन्त्या कान्त्या महत्या सुविराजमानम् ॥१४॥

कालार्दितानां त्रिदशासुराणां चितारजोभिः परिपाण्डुराङ्गम् ।
महन्महेभाजिनमुद्भूताभ्रप्रालेयशैलश्रियमुद्वहन्तम् ॥१५॥

पाणिस्थितब्रह्मकपालपात्रं वैकुण्ठभाजापि निषेव्यमाणम् ।
नरास्थिखण्डाभरणं रणान्तमूलं त्रिशूलं कलयन्तमुच्चैः ॥१६॥

पुरातनीं ब्रह्मकपालमालां कण्ठे वहन्तं पुनराश्वसन्तीम् ।
प्रणीतवेदां मुकुटेन्दुवर्षत्सुधाभरौघाप्लवलब्धसंज्ञाम् ॥१७॥

सर्वाङ्गसङ्गान्वितया गिरीन्द्रपुत्र्या नवाष्टापदकान्तिभाजा ।
विराजमानं शरदभ्रखण्डं परिस्फुरन्त्याचिररोचिषेव ॥१८॥

द्वादशः सर्गः

अथ प्रपेदे त्रिदशैरशेषैः क्रूरासुरोपप्लवदुःखितात्मा ।
पुलोमपुत्रीदयितोऽन्धकारिं पत्रीव तृष्णातुरितः पयोदम् ॥ १ ॥

दृप्तारिसंत्रासखिलीकृतात्स कथंचिदम्भोदविहारमार्गात् ।
अवातताराभिगिरिं गिरीशगौरीपदन्यासविशुद्धमिन्द्रः ॥ २ ॥

संक्रन्दनः स्यन्दनतोऽवतीर्य मेघात्मनो मातलिदत्तहस्तः ।
पिनाकिनोऽथालयमुच्चचाल शुचौ पिपासाकुलितो यथाम्भः ॥ ३ ॥

इतस्ततोऽथ प्रतिबिम्बभाजं विलोकमानः स्फटिकाद्रिभूमौ ।
आत्मानमप्येकमनेकधा स व्रजन्विभोरास्पदमाससाद ॥ ४ ॥

विचित्रचञ्चन्मणिभङ्गिसङ्गं सौवर्णदण्डं दधतातिचण्डम् ।
स नन्दिनाधिष्ठितमध्यतिष्ठत्सौधाङ्गणद्वारमनङ्गशत्रोः ॥ ५ ॥

ततः स कक्षाहितहेमदण्डो नन्दी सुरेन्द्रं प्रतिपद्य सद्यः ।
प्रतोपयामास सुगौरवेण गत्वा शशंस स्वयमीश्वरस्य ॥ ६ ॥

भ्रूसंज्ञयानेन कृताभ्यनुज्ञः सुरेश्वरं तं जगदीश्वरेण ।
प्रवेशयामास सुरैः पुरोगः समं स नन्दी सदनं सदस्य ॥ ७ ॥

स चण्डिभृङ्गिप्रमुखैर्गरिष्ठैर्गणैरनेकैर्विविधस्वरूपैः ।
अधिष्ठितं संसदि रत्नमय्यां सहस्रनेत्रः शिवमालुलोके ॥ ८ ॥

कपर्दमुद्बद्धमहीनमूर्धरत्नांशुभिर्भासुरमुल्लसद्भिः ।
दधानमुच्चैस्तरमिद्धधातोः सुमेरुशृङ्गस्य समत्वमाप्तम् ॥ ९ ॥

विश्राणमुत्तुङ्गतरङ्गमालां गङ्गां जटाजूटतटं भजन्तीम् ।
गौरीं तदुत्सङ्गजुषं हसन्तीमिव स्वफेनैः शरदभ्रशुभ्रैः ॥१०॥

गङ्गातरङ्गप्रतिबिम्बितैः स्वैर्बहूभवन्तं शिरसा सुधांशुम् ।
चलन्मरीचिप्रचयैस्तुषारगौरैर्हिमद्योतितमुद्वहन्तम् ॥११॥

भालस्थले लोचनमेधमानधामाधरीभूतरवीन्दुनेत्रम् ।
युगान्तकालोचितहव्यवाहं मीनध्वजप्लोषणमादधानम् ॥११॥

महार्हरत्नाञ्चितयोरुदारं स्फुरत्प्रभामण्डलयोः समन्तात् ।
कर्णस्थिताभ्यां शशिभास्कराभ्यामुपासितं कुण्डलयोरछलेन॥१३॥

स्वबद्धया कण्ठिकयेव नीलमाणिक्यमय्या कुतुकेन गौर्याः ।
नीलस्य कण्ठस्य परिस्फुरन्त्या कान्त्या महत्या सुविराजमानम्॥१४॥

कालार्दितानां त्रिदशासुराणां चितारजोभिः परिपाण्डुराङ्गम् ।
महन्महेभाजिनमुद्धताभ्रप्रालेयशैलश्रियमुद्वहन्तम् ॥१५॥

पाणिस्थितब्रह्मकपालपात्रं वैकुण्ठभाजापि निषेव्यमाणम् ।
नरास्थिखण्डाभरणं रणान्तमूलं त्रिशूलं कलयन्तमुच्चैः ॥१६॥

पुरातनीं ब्रह्मकपालमालां कण्ठे वहन्तं पुनराश्वसन्तीम् ।
प्रतीतवेदां मुकुटेन्दुवर्षत्सुधासमेघाप्लवलब्धसंज्ञाम् ॥१७॥

मलीमसक्ष्मास्थितया गिरीन्द्रपुत्र्या नवाष्टापदवल्लिभासा ।
विराजमानं शरदभ्रखण्डं परिस्फुरन्त्याचिररोचिषेव ॥१८॥

दृप्तान्धकप्राणहरं पिनाकं महासुरस्त्रीविधवत्वहेतुम् ।
करेण गृह्णन्तमगृह्यमन्यैः पुरा स्मरप्लोषणकेलिकारम् ॥१९॥

भद्रासनं काञ्चनपादपीठं महार्हमाणिक्यविभङ्गिचित्रम् ।
अधिष्ठितं चन्द्रमरीचिगौरैरुद्वीज्यमानं चमरैर्गणाभ्याम् ॥२०॥

शस्त्रास्त्रविद्याभ्यसनैकसक्ते सविस्मयैरेत्य गणैः सुदृष्टे ।
नीराज्यमाने स्फटिकाचलेन सानन्दनिर्दिष्टदृशं कुमारे ॥२१॥

तथाविधं शैलसुताधिनाथं पुलोमपुत्रीदयितो निरीक्ष्य ।
आसीत्क्षणं क्षोभपरो नु कस्य मनो न हि क्षुभ्यति धामधाम्नि ॥२२॥

विकस्वराम्भोजवनश्रिया तं दृशां सहस्रेण निरीक्षमाणः ।
रोमालिभिः स्वर्गपतिर्विभासे पुष्पोत्कराकीर्ण इवाम्रशाखी ॥२३॥

दृष्ट्वा सहस्रेण दृशां महेशमभूत्कृतार्थोऽतितरां महेन्द्रः ।
सर्वाङ्गजातं तदथो विरूपमिव प्रियाकोपकरं विवेद ॥२४॥

ततः कुमारं कनकाद्रिसारं पुरंदरः प्रेक्ष्य धृतास्त्रशस्त्रम् ।
महेश्वरोपान्तिकवर्तमानं शत्रोर्जयाशां मनसा ववन्ध ॥२५॥

श्रीनीलकण्ठ द्युपतिः पुरोऽस्ति त्वयि प्रणामावसरं प्रतीच्छन् ।
सहस्रनेत्रेऽत्र भव त्रिनेत्र दृष्ट्या प्रसादप्रगुणो महेश ॥२६॥

इति प्रबद्धाञ्जलिरेत्य नन्दी निधाय कक्षामभि हेमवेत्रम् ।
प्रसादपात्रं पुरतो भविष्णुरथ स्मरारातिमुवाच वाचम् ॥२७॥

पुरा सुरेन्द्रं सुरसङ्घसेव्यं त्रिलोकसेव्यस्त्रिपुरासुरारिः ।
प्रीत्या सुधासारनिधारिणेव ततोऽनुजग्राह विलोकनेन ॥२८॥

किरीटकोटिच्युतपारिजातपुष्पोत्करेणानमितेन मूर्ध्ना ।
स्वर्गैकवन्द्यो जगदेकवन्द्यं तं देवदेवं प्रणनाम देवः ॥२९॥

अनेकलोकैकनमस्क्रियार्हं महेश्वरं तं त्रिदशेश्वरः सः ।
भक्त्या नमस्कृत्य कृतार्थतायाः पात्रं पवित्रं परमं बभूव ॥३०॥

सुभक्तिभाजामधि पादपीठं प्रान्तक्षितिं नम्रतरैः शिरोभिः ।
ततः प्रणेमुः पुरतो गणानां गणाः सुराणां क्रमतः पुरारिम् ॥३१॥

गणोपनीते प्रभुणोपदिष्टः शुभासने हेममये पुरस्तात् ।
प्रापोपविश्य प्रमुदं सुरेन्द्रः प्रभुप्रसादो हि मुदे न कस्य ॥३२॥

क्रमेण चान्येऽपि विलोकनेन संभाविताः सस्मितमीश्वरेण ।
उपाविशंस्तोपविशेषमाप्ता दृग्गोचरे तस्य सुराः समग्राः ॥३३॥

अथाह देवो बलवैरिमुख्यान्गीर्वाणवर्गान्करुणार्द्रचेताः ।
कृताञ्जलीकानसुराभिभूतान्ध्वस्तश्रियः श्रान्तमुखानवेक्ष्य ॥३४॥

अहो बतानन्तपराक्रमाणां दिवौकसो वीरवरायुधानाम् ।
हिमोदबिन्दुग्लपितस्य किं यः पद्मस्य दैन्यं दधते मुखानि ॥३५॥

स्वर्गौकसः स्वर्गपरिच्युताः किं स्वपुण्यराशौ सुमहत्तमेऽपि ।
चिह्नं चिरोढं न तु यूयमेते निजाधिपत्यस्य परित्यजध्वम् ॥३६॥

दिवौकसो देवगृहं विहाय मनुष्यसाधारणतामवाप्ताः ।
यूयं कुतः कारणतश्चरध्वं महीतले मानभृतो महान्तः ॥३७॥

अनन्यसाधारणसिद्धमुच्चैस्तद्दैवतं धाम निकामरम्यम् ।
कस्मादकस्मान्निरगाद्भवद्भ्यश्चिरार्जितं पुण्यमिवापचारात् ॥३८॥

दिवौकसो वो हृदयस्य कस्मात्तथाविधं धैर्यमहार्यमार्याः ।
अगादगाधस्य जलाशयस्य ग्रीष्मातितापादिवशादिवाम्भः ॥३९॥

सुराः सुराधीशपुरःसराणां समीयुषां वः सममातुराणाम् ।
नदन्त लोकत्रयजित्स्वरातिः महासुरात्तारकतो विरुद्धम् ॥४०॥

पराभवं तस्य महासुरस्य निषेद्धुमेकोऽहमलंभविष्णुः ।
दावानलप्लोषविपत्तिमन्यो महाम्बुदात्किं हरते वनानाम् ॥४१॥

इतीरिते मन्मथमर्दनेन सुराः सुरेन्द्रप्रमुखा मुखेषु ।
सान्द्रप्रमोदाश्रुतरङ्गितेषु दधुः श्रियं सत्वरमाश्वसन्तः ॥४२॥

ततो गिरीशस्य गिरां विरामे जगाद लब्धेऽवसरे सुरेन्द्रः ।
भवन्ति वाचोऽवसरे प्रयुक्ता ध्रुवं फलाविष्टमहोदयाय ॥४३॥

ज्ञानप्रदीपेन तमोपहेनाविनश्वरेणास्खलितप्रभेण ।
भूतं भवद्भावि च यच्च किंचित्सर्वज्ञ सर्वं तव गोचरं तत् ॥४४॥

दुर्वारदोरुद्यमदुःसहेन यत्तारकेणामरघस्मरेण ।
तदीशतामाप्नुवता निरस्ता वयं दिवोऽमी वद किं न वेत्सि ॥४५॥

विधेरमोघं स वरप्रसादमासाद्य सद्यस्त्रिजगज्जिगीषुः ।
सुरानशेषानहकप्रमुख्यान्दोर्दण्डचण्डो मनुते तृणाय ॥४६॥

स्तुत्या पुरास्माभिरुपासितेन पितामहेनेति निरूपितं नः ।
सेनापतिः संयति दैत्यमेतं पुरः स्मरारातिसुतो निहन्ति ॥४७॥

अहो ततोऽनन्तरमद्ययावत्सुदुःसहां तस्य पराभवार्तिम् ।
विषेहिरे हन्त हृदन्तशल्यमाज्ञानिवेशं त्रिदिवौकसोऽमी ॥४८॥

निदाघधामक्लमविक्लवानां नवीनमम्भोदमिवौषधीनाम् ।
सुनन्दनं नन्दनमात्मनो नः सेनान्यमेतं स्वयमादिश त्वम् ॥४९॥

त्रैलोक्यलक्ष्मीहृदयैकशल्यं समूलमुत्खाय महासुरं तम् ।
अस्माकमेषां पुरतो भवन्सन्दुःखापहारं युधि यो विधत्ते ॥५०॥

महाहवे नाथ तवास्य सूनोः शस्त्रैः शितैः कृत्तशिरोधराणाम् ।
महासुराणां रमणीविलापैर्दिशो दशैता मुखरीभवन्तु ॥५१॥

महारणक्षोणिपशूपहारीकृतेऽसुरे तत्र तवात्मजेन ।
वन्दिस्थितानां सुदृशां करोतु वेणीप्रमोक्षं सुरलोक एषः ॥५२॥

इत्थं सुरेन्द्रे वदति स्मरारिः सुरारिदुश्चेष्टितजातरोषः ।
कृतानुकम्पस्त्रिदशेषु तेषु भूयोऽपि भूताधिपतिर्बभाषे ॥५३॥

अहो अहो देवगणाः सुरेन्द्रमुख्याः शृणुध्वं वचनं ममैते ।
विचेष्टते शंकर एष देवः कार्याय सज्जो भवतां सुताद्यैः ॥५४॥

पुरा मयाकारि गिरीन्द्रपुत्र्याः प्रतिग्रहोऽयं नियतात्मनापि ।
तत्रैष हेतुः खलु तद्भवेन वीरेण यद्वध्यत एव शत्रुः ॥५५॥

अत्रोपपन्नं तदमी नियुज्य कुमारमेनं पृतनापतित्वे ।
निघ्नन्तु शत्रुं सुरलोकमेष भुनक्तु भूयोऽपि सुरैः सहेन्द्रः ॥५६॥

इत्युदीर्य भगवाँस्तमात्मजं घोरसंगरमहोत्सवोत्सुकम् ।
नन्दनं हि जहि देवविद्विषं संयतीति निजगाद शंकरः ॥५७॥

शासनं पशुपतेः स कुमारः स्वीचकार शिरसावनतेन ।
सर्वथैव पितृभक्तिरतानामेष एव परमः खलु धर्मः ॥५८॥

असुरयुद्धविधौ विबुधेश्वरे पशुपतौ वदतीति तमात्मजम् ।
गिरिजया मुमुदे सुतविक्रमे सति न नन्दति का खलु वीरसूः ॥५९॥

सुरपरिवृढः प्रौढं वीरं कुमारमुमापते-
र्बलवदमरारातिस्त्रीणां दृगञ्जनभञ्जनम् ।
जगदभयदं सद्यः प्राप्य प्रमोदपरोऽभव-
द्ध्रुवमभिमते पूर्णे को वा मुदा न हि माद्यति ॥६०॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ कुमारसंभवे महाकाव्ये
कुमारसैनापत्यवर्णनं नाम द्वादशः सर्गः ॥

त्रयोदशः सर्गः

प्रस्थानकालोचितचारुवेषः स स्वर्गिवर्गैरनुगम्यमानः ।
ततः कुमारः शिरसा नतेन त्रैलोक्यभर्तुः प्रणनाम पादौ ॥ १ ॥

जहीन्द्रशत्रुं समरेऽमरेशपदं स्थिरत्वं नय वीर वत्स ।
इत्याशिषा तं प्रणमन्तमीशो मूर्धन्युपाघ्राय मुदाभ्यनन्दत् ॥ २ ॥

प्रह्वीभवन्नम्रतरेण मूर्ध्ना नमश्चकाराङ्घ्रियुगं स्वमातुः ।
तस्याः प्रमोदाश्रुपयःप्रवृष्टिस्तस्याभवद्वीरवराभिषेकः ॥ ३ ॥

तमङ्कमारोप्य सुता हिमाद्रेराश्लिष्य गाढं सुतवत्सला सा ।
शिरस्युपाघ्राय जगाद शत्रुं जित्वा कृतार्थां कुरु वीरसूं माम् ॥ ४ ॥

उद्दामदैत्येशविपत्तिहेतुः श्रद्धालुचेताः समरोत्सवस्य ।
आपृच्छ्य भक्त्या गिरिजागिरीशौ ततः प्रतस्थेऽभि दिवं कुमारः ५ ॥

देवं महेशं गिरिजां च देवीं ततः प्रणम्य त्रिदिवौकसोऽपि ।
प्रदक्षिणीकृत्य च नाकनाथपूर्वाः समस्तास्तमथानुजग्मुः ॥ ६ ॥

अथ व्रजद्भिस्त्रिदशैरशेषैः स्फुरत्प्रभाभासुरमण्डलैस्तैः ।
नभो बभासे परितो विकीर्णं दिवापि नक्षत्रगणैरिवोग्रैः ॥ ७ ॥

रराज तेषां व्रजतां सुराणां मध्ये कुमारोऽधिककान्तिकान्तः ।
नक्षत्रताराग्रहमण्डलानामिव त्रियामारमणो नभोन्ते ॥ ८ ॥

गिरीशगौरीतनयेन सार्धं पुलोमपुत्रीदयितादयस्ते ।
उत्तीर्य नक्षत्रपथं मुहूर्तात्प्रपेदिरे लोकमथात्मनीनम् ॥ ९ ॥

ते स्वर्गलोकं चिरकालदृष्टं महासुरत्रासवशंवदत्वात् ।
सद्यः प्रवेष्टुं न विषेहिरे तत्क्षणं व्यलम्बन्त सुराः समग्राः ॥१०॥

पुरो भव त्वं न पुरो भवामि नाहं पुरोगोऽसि पुरःसरस्त्वम् ।
इत्थं सुरास्तत्क्षणमेव भीताः स्वर्गं प्रवेष्टुं कलहं वितेनुः ॥११॥

सुरालयालोकनकौतुकेन मुदा शुचिस्मेरविलोचनास्ते ।
दधुः कुमारस्य मुखारविन्दे दृष्टिं द्विषत्साध्वसकातरान्ताम् ॥१२॥

सहेलहासच्छुरिताननेन्दुस्ततः कुमारः पुरतो भविष्णुः ।
स तारकापातमपेक्षमाणो रणप्रवीरो हि सुरानवोचत् ॥१३॥

भीत्यालमद्य त्रिदिवौकसोऽमी स्वर्गं भवन्तः प्रविशन्तु सद्यः ।
अत्रैव मे दृक्पथमेतु शत्रुर्महासुरो वः खलु दृष्टपूर्वः ॥१४॥

स्वर्लोकलक्ष्मीकचकर्षणाय दोर्मण्डलं वल्गति यस्य चण्डम् ।
इहैव तच्छोणितपानकेलिसहाय कुर्वन्तु शरा ममैते ॥१५॥

शक्तिर्ममामावहतप्रचारा प्रभावसारा सुमहःप्रसारा ।
स्वर्लोकलक्ष्म्या विपदावहाः शिरो हरन्ती दिशतान्मुदं वः ॥१६॥

इत्यन्धकारातिसुतस्य दैत्यवधाय युद्धोत्सुकमानसस्य ।
सर्वं शुचिस्मेरमुखारविन्दं गीर्वाणवृन्दं वचसा ननन्द ॥१७॥

सान्द्रप्रमोदात्पुलकोपगूढः सर्वाङ्गसंफुल्लसहस्रनेत्रः ।
तस्योत्तरीयेण निजाम्बरेण निरुञ्छनं चारु चकार शक्रः ॥१८॥

घनप्रमोदाश्रुतरंगिताक्षैर्मुखैश्चतुर्भिः प्रचुरप्रसादैः ।
अथो अचुम्बद्विधिरादिवृद्धः षडाननं षट्सु शिरःसु चित्रम् ॥१६॥

तं साधु साध्वित्यभितः प्रशस्य मुदा कुमारं त्रिपुरासुरारेः ।
आनन्दयन्वीर जयेति वाचा गन्धर्वविद्याधरसिद्धसंघाः ॥२०॥

दिव्यर्षयः शत्रुविजेष्यमाणं तमभ्यनन्दन्किल नारदाद्याः ।
निरुञ्छनं चक्रुरथोत्तरीयैश्चामीकरीयैर्निजवल्कलैश्च ॥२१॥

ततः सुराः शक्तिधरस्य तस्यावष्टम्भतः साध्वसमुत्सृजन्तः ।
उत्सेहिरे स्वर्गमनन्तशक्तेर्गन्तुं वनं यूथपतेरिवेभाः ॥२२॥

अथाभिपृष्ठं गिरिजासुतस्य पुरंदरारातिवधं चिकीर्षोः ।
सुरा निरीयुस्त्रिपुरं दिधक्षोरिव सरारेः प्रमथाः समन्तात् ॥२३॥

सुराङ्गनानां जलकेलिभाजां प्रक्षालितैः संततमङ्गरागैः ।
प्रपेदिरे पिञ्जरवारिपूरां स्वर्गौकसः स्वर्गधुनीं पुरस्तात् ॥२४॥

दिग्दन्तिनां वारिविहारभाजां कराहतैर्भीमतरैस्तरंगैः ।
आप्लावयन्ती मुहुरालवालश्रेणिं तरूणां निजतीरजानाम् ॥२५॥

लीलारसाभिः सुरकन्यकाभिर्हिरण्मयीभिः सिकताभिरुच्चैः ।
माणिक्यगर्भाभिरुपाहिताभिः प्रकीर्णतीरां वरवेदिकाभिः ॥२६॥

सौरभ्यलुब्धभ्रमरोपगीतैर्हिरण्यहंसावलिकेलिलोलैः ।
चामीकरीयैः कमलैर्विनिद्रैश्च्युतैः परागैः परिपिङ्गतोयाम् ॥२७॥

कुतूहलाद्द्रष्टुमुपागताभिस्तीरस्थिताभिः सुरसुन्दरीभिः ।
अभ्यूर्मिराजि प्रतिबिम्बिताभिर्मुदं दिशन्तीं व्रजतां जनानाम् ॥२८॥

ननन्द सद्यश्चिरकालदृष्टां विलोक्य शक्रः सुरदीर्घिकां ताम् ।
अदर्शयत्सादरमद्रिपुत्रीमहेशपुत्राय ततः पुरोगः ॥२९॥

स कार्तिकेयः पुरतः परीतः सुरैः समस्तैः सुरनिम्नगां ताम् ।
अपूर्वदृष्टामवलोकमानः सविस्मयः स्मेरविलोचनोऽभूत् ॥३०॥

उपेत्य तां तत्र किरीटकोटिन्यस्ताञ्जलिर्भक्तिपरः कुमारः ।
गीर्वाणवृन्दैः प्रणुतां प्रणुत्य नम्रेण मूर्ध्ना मुदितो ववन्दे ॥३१॥

प्रणर्तितस्मेरसरोजराजिः पुरः परीरम्भमिलन्महोर्मिः ।
कपोलपालिश्रमवारिहारि भेजे गुहं तं सरितः समीरः ॥३२॥

ततो व्रजन्नन्दननामधेयं लीलावनं जम्भजितः पुरस्तात् ।
विभिन्नभग्नोद्धृतशालसंघं प्रेक्षांचकार स्मरशत्रुसूनुः ॥३३॥

सुरद्विपोपप्लुतमेवमेतद्वनं बलस्य द्विषतो गतश्रि ।
इत्थं विचिन्त्यारुणलोचनोऽभूद्भ्रूभङ्गदुष्प्रेक्ष्यमुखः स कोपात् ॥३४॥

निर्लूनलीलोपवनामपश्यद्दुःसंचरीभूतविमानमार्गाम् ।
विध्वस्तसौधप्रचयां कुमारो विश्वैकसाराममरावतीं सः ॥३५॥

गतश्रियं वैरिवराभिभूतां दशां सुदीनामभितो दधानाम् ।
नारीमवीरामिव तामवेक्ष्य स गाढमन्तः करुणापरोऽभूत् ॥३६॥

दुश्चेष्टिते दैत्यरिपौ सरोषस्तस्याविषण्णः समराय चोत्कः ।
तथाविधां तां स विवेश पश्यन्सुरैः सुराधीश्वरराजधानीम् ॥३७॥

दैतेयदन्त्यावलिदन्तघातैः क्षुण्णान्तराः स्फाटिकहर्म्यपङ्क्तीः ।
महाहिनिर्मोकपिनद्धजालाः स वीक्ष्य तस्यां विषसाद सद्यः ॥३८॥

उत्कीर्णचामीकरपङ्कजानां दिग्दन्तिदानद्रवदूषितानाम् ।
हिरण्यहंसव्रजवर्जितानां विकीर्णवैदूर्यमहाशिलानाम् ॥३९॥

आविर्भवद्बालतृणाञ्चितानां तदीयलीलागृहदीर्घिकाणाम् ।
स दुर्दशां वीक्ष्य विरोधिजानां विषादवैलक्ष्यभरं बभार ॥४०॥

तद्दन्तिदन्तक्षतहेमभित्ति सुतन्तुजालाकुलरत्नजालाम् ।
निन्ये सुरेन्द्रेण पुरोगतेन स वैजयन्ताभिधमात्मसौधम् ॥४१॥

निर्दिष्टवर्त्मा विबुधेश्वरेण सुरैः समग्रैरनुगम्यमानः ।
स प्राविशत्तं विविधाश्मरश्मिच्छिन्नेन सोपानपथेन सौधम् ॥४२॥

निसर्गकल्पद्रुमतोरणं तं स पारिजातप्रसवस्रगाढ्यम् ।
दिव्यैः कृतस्वस्त्ययनं मुनीन्द्रैरन्तःप्रविष्टप्रमदं प्रपेदे ॥४३॥

पादौ महर्षेः किल कश्यपस्य कुलादिवृद्धस्य सुरासुराणाम् ।
प्रदक्षिणीकृत्य कृताञ्जलिः सन्पड्भिः शिरोभिः स नतैर्ववन्दे ४४॥

स देवमातुर्जगदेकवन्द्यौ पादौ तथैव प्रणनाम कामम् ।
मुनेः कलत्रस्य च तस्य भक्त्या प्रह्वीभवञ्शैलसुतातनूजः ॥४५॥

स कश्यपः सा जननी सुराणां तमेधयामासतुराशिषा द्वौ ।
तया यया नैकजगज्जिगीषुं जेता मृधे तारकमुग्रवीर्यम् ॥४६॥

स्वदर्शनार्थं समुपेयुषीणां सुदेवतानामदितिश्रितानाम् ।
पादौ ववन्दे पतिदेवतास्तमाशीर्वचोभिः पुनरभ्यनन्दन् ॥४७॥

पुलोमपुत्री विबुधाधिभर्तुस्ततः शची नाम कलत्रमेषः ।
नमश्चकार स्मरशत्रुसूनुस्तमाशिषा सा समुपाचरच्च ॥४८॥

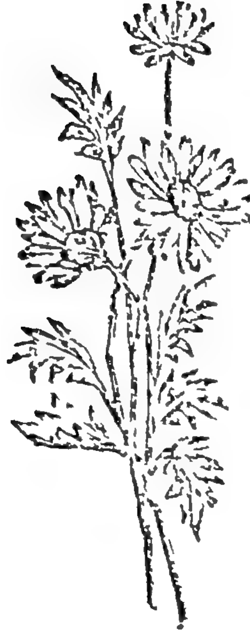
अथादितीन्द्रप्रमदाः समेतास्ता मातरः सप्त घनप्रमोदाः ।
उपेत्य भक्त्या नमते महेशपुत्राय तस्मै ददुराशिषः प्राक् ॥४९॥

समेत्य सर्वेऽपि मुदं दधानामहेन्द्रमुख्यास्त्रिदिवौकसोऽथ ।
आनन्दकल्लोलितमानसं तं समभ्यषिञ्चन्पृतनाधिपत्ये ॥५०॥

सकलविबुधलोकः स्वस्तनिःशेषशोकः
कृतरिपुविजयाशः प्राप्तयुद्धावकाशः ।

अजनि हरसुतेनानन्तवीर्येण तेना-
खिलविबुधचमूनां प्राप्य लक्ष्मीमनूनाम् ॥५१॥

इति महाकवि श्रीकालिदासकृतौ कुमारसंभवे महाकाव्ये
कुमारसैनापत्याभिषेको नाम त्रयोदशः सर्गः ।



चतुर्दशः सर्गः

रणोत्सुकेनान्धकशत्रुसूनुना समं प्रयुक्तैस्त्रिदशैर्जिगीषुणा ।
महासुरं तारकसंज्ञकं द्विपं प्रसह्य हन्तुं समनह्यत द्रुतम् ॥१॥

स दुर्निवारं मनसोऽतिवेगिनं जयश्रियः संनयनं सुदुःसहम् ।
विजित्वरं नाम तदा महारथं धनुर्धरः शक्तिधरोऽध्यरोहयत् ॥२॥

सुरालयश्रीविपदां निवारणं सुरारिसंपत्परितापकारणम् ।
केनापि दध्रेऽस्य विरोधिदारणं सुचारु चामीकरघर्मवारणम् ॥३॥

शरच्चरच्चन्द्रमरीचिपाण्डुरैः स वीज्यमानो वरचारुचामरैः ।
पुरःसरैः किंनरसिद्धचारणै रणोच्छुरस्तूयत वाग्भिरुल्बणैः ॥४॥

प्रयाणकालोचितचारुवेषभृद्वज्रं वहन्पर्वतपक्षदारणम् ।
ऐरावतं स्फाटिकशैलसोदरं ततोऽधिरुह्य द्युपतिस्तमन्वगात् ॥५॥

तमन्वगच्छद्गिरिश्रृङ्गसोदरं मदोद्धतं मेषमधिष्ठितः शिखी ।
विरोधिविद्वेषरुषाधिकं ज्वलन्महोमहीयस्तरमायुधं दधत् ॥६॥

अथेन्द्रनीलाचलचण्डविग्रहं विषाणविध्वस्तमहापयोधरम् ।
अधिष्ठितः कासरमुद्धरं मुदा वैवस्वतो दण्डधरस्तमन्वगात् ॥७॥

मदोद्धतं प्रेतमथाधिरूढवाँस्तमन्धकद्वेषितनूजमन्वगात् ।
महासुरद्वेपविशेषभीषणः सुरोपणश्चण्डरणाय नैर्ऋतः ॥८॥

नवोद्यदम्भोधरघोरदर्शने युद्धाय रूढो मकरे महत्तरे ।
दुर्वारपाशो वरुणो रणोल्बणस्तमन्वियाय त्रिपुरान्तकात्मजम् ॥९॥

दिगम्बराधिक्रमणोल्बणं क्षणान्मृगं महीयांसमरुद्ध विक्रमम् ।
अधिष्ठितः संगरकेलिलालसो मरुन्महेशात्मजमन्वगाद्द्रुतम् ॥१०॥

विरोधिनां शोणितपारणैषिणी गदामनूनां नरवाहनो वहन् ।
महाहवाम्भोधिविगाहनोद्धतं यियासुमन्वागमदीशनन्दनम् ॥११॥

महाहिनिर्बद्धजटाकलापिनो ज्वलत्त्रिशूलप्रबलायुधा युधे ।
रुद्रास्तुषाराद्रिसखं महावृषं ततोऽधिरूढास्तमयुः पिनाकिनः ॥१२॥

अन्येऽपि संनह्य महारणोत्सवश्रद्धालवः स्वर्गिगणास्तमन्वयुः ।
स्ववाहनानि प्रबलान्यधिष्ठिताः प्रमोदविस्मेरमुखाम्बुजश्रियः ॥१३॥

उद्दण्डहेमध्वजदण्डसंकुलाश्चञ्चद्विचित्रातपवारणोज्ज्वलाः ।
चलद्घनस्यन्दनघोषभीषणाः करीन्द्रघण्टारवचण्डचीत्कृताः ॥१४॥

स्फुरद्विचित्रायुधकान्तिमण्डलैरुद्द्योतिताशावलयाम्बरान्तराः ।
दिवौकसां सोऽनुवहन्महाचमूः पिनाकपाणेस्तनयस्ततो ययौ ॥१५॥

कोलाहलेनोच्चलतां दिवौकसां महाचमूनां गुरुभिर्ध्वजव्रजैः ।
घनैर्निरुच्छ्वासमभूदनन्तरं दिङ्मण्डलं व्योमतलं महीतलम् ॥१६

सुरारिलक्ष्मीपरिकम्पहेतवो दिक्चक्रवालप्रतिनादमेदुराः ।
नभोन्तकुक्षिंभरयो घनाः स्वना निहन्यमानैः पटहैर्वितेनिरे ॥१७॥

प्रमथ्यमानाम्बुधिगर्जितर्जनैः सुरारिनारीगणगर्भपातनैः ।
नभश्चमूधूलिकुलैरिवाकुलं रणाय गाढं पटहप्रतिस्वनैः ॥१८॥

क्षुण्णं रथैर्वाजिभिराहतं खुरैः करीन्द्रकर्णैः परितः प्रसारितम्।
धूतं ध्वजैः काञ्चनशैलजं रजो वातैर्हतं व्योम समारुहत्क्रमात् ॥१६॥

खातं खुरै रथ्यतुरंगपुंगवैरुपत्यकाहाटकमेदिनीरजः।
गतं दिगन्तान्मुखरैः समीरणैः सुविभ्रमं भूरि बभार भूयसा ॥२०॥

अधस्तथोर्ध्वं पुरतोऽथ पृष्ठतोऽभितोऽपि चामीकररेणुरुच्चकैः।
चमूषु सर्पन्मरुदाहतोऽहरन्नवीनसूर्यस्य च कान्तिवैभवम् ॥२१॥

बलोद्धृतं काञ्चनभूमिजं रजो बभौ दिगन्तेषु नभःस्थले स्थितम्।
अकालसंध्याघनरागपिङ्गलं घनं घनानामिव वृन्दमुद्यतम् ॥२२॥

हेमावनीषु प्रतिबिम्बमात्मनो मुहुर्विलोक्याभिमुखं महागजाः।
रसातलोत्तीर्णगजभ्रमात्क्रुधा दन्तप्रकाण्डप्रहृतानि तेनिरे ॥२३॥

सुजातसिन्दूरपरागपिञ्जरैः कलं चलद्भिः सुरसैन्यसिन्धुरैः।
शुद्धासु चामीकरशैलभूमिषु नादृश्यत स्वं प्रतिबिम्बमग्रतः ॥२४॥

इति क्रमेणामरराजवाहिनी महाहवाम्भोधिविलासलालसा।
अवातरान्काञ्चनशैलतो द्रुतं कोलाहलाक्रान्तविधूतकन्दरा ॥२५॥

महाचमूस्यन्दनचण्डचीत्कृतैर्विलोलघण्टेभपतेश्च बृंहितैः।
सुरेन्द्रशैलेन्द्रमहागुहाशयाः सिहा महत्स्वप्नसुखं न तत्यजुः ॥२६॥

गम्भीरभेरिध्वनितैर्भयंकरैर्महागुहान्तप्रतिनादमेदुरैः।
महारथानां गुरुनेमिनिःस्वनैरनाकुलैस्तैर्मृगराजताजनि ॥२७॥

समुत्थितेन त्रिदिवौकसां महाचमूरवेणाद्रितटान्तदारिणा।
प्रपेदिरे केसरिणोऽधिकं मदं स्ववीर्यलक्ष्मीमृगराजतावशात् ॥२८॥

भिया सुरानीकविमर्दजन्मना विदुद्रुवुर्दूरतरं द्रुतं मृगाः।
गुहागृहान्ताद्बहिरेत्य हेलया तस्थुर्विशङ्कं नितरां मृगाधिपाः ॥२६॥

विलोकिताः कौतुकिनामरावतीजनेन जुष्टप्रमदेन दूरतः ।
सुराचलप्रान्तभुवः प्रपेदिरे सुविस्तृतायाः प्रसरं सुसैनिकाः ॥३०॥

पीतासितारक्तसितैः सुराचलप्रान्तस्थितैर्धातुरजोभिरम्बरम् ।
अयत्नगन्धर्वपुरोदयभ्रमं बभार भूम्नोत्पतितैरितस्ततः ॥३१॥

महास्वनः सैन्यविमर्दसंभवः कर्णान्तकूलंकषतामुपेयिवान् ।
पयोनिधेः क्षुब्धतरस्य वर्धनो बभूव भूम्ना भुवनोदरंभरिः ॥३२॥

महागजानां गुरुबृंहितैस्ततैः सुहेषितैर्घोरतरैश्च वाजिनाम् ।
घनै रथानां गुरुचण्डचीत्कृतैस्तिरोहितोऽभूत्पटहस्य निःस्वनः ३३

महासुराणामवरोधयोषितां कचाक्षिपक्ष्मस्तनमण्डलेषु च ।
ध्वजेषु नागेषु रथेषु वाजिषु क्षणेन तस्थौ सुरसैन्यजं रजः ॥३४॥

घनैर्विलोक्य स्थगितार्कमण्डलैश्च भूरजोभिर्निचितं नभःस्थलम् ।
अयायि हंसैरभि मानसं घनभ्रमेण सानन्दमनर्ति केकिभिः ॥३५॥

सान्द्रैः सुरानीकरजोभिरम्बरे नवाम्बुदानीकनिभैरभिश्रिते ।
चकाशिरे स्वर्णमया महाध्वजाः परिस्फुरन्तस्तडितां गणा इव ॥३६॥

विलोक्य धूलीपटलैर्भृशं भृतं द्यावापृथिव्योरलमन्तरं महत् ।
किमूर्ध्वतोऽधः किमधस्त ऊर्ध्वतो रजोऽभ्युपैतीति जनैरतर्क्यत ।३७।

नोर्ध्वं न चाधो न पुरो न पृष्ठतो न पार्श्वतोऽभूत्खलु चक्षुषोर्गतिः ।
सूच्यग्रभेद्यैः पृतनारजश्चयैराच्छादिता प्राणिगणस्य सर्वतः ॥३८॥

दिगन्तदन्त्यावलिदानहारिभिर्विमानरन्ध्रप्रतिनादमेदुरैः ।
रणेऽश्वायध्वनितैरनारतैर्जगर्ज गाढं गुरुभिर्नभस्तलम् ॥३९॥

इदं दिगाशा प्रथमा महाचमूः क्वचिन्न मान्ती महतीं दिवं खलु ।
सुसङ्कुलायामपि तत्र निर्भरात्किं कांदिशीकत्वमवाप नाकुला ॥४०॥

उद्दामदानद्विपवृन्दबृंहितैर्नितान्तमुत्तुङ्गतुरंगहेषितैः ।
चलद्धनस्यन्दननेमिनिस्वनैरभून्निरुच्छ्वासमिवाकुलं जगत् ॥४१॥

महागजानां गुरुभिस्तु गर्जितैर्विलोलघण्टारणितै रणोल्बणैः ।
वीरप्रणादैः प्रमदप्रमेदुरैर्वाचालतामादधिरेतरां दिशः ॥४२॥

दन्तीन्द्रदानद्रववारिवीचिभिः सद्योऽपि नद्यो बहुधा पुपूरिरे ।
धारा रजोभिस्तुरगैः क्षतैर्भृता याः पङ्कतामेत्य रथैः स्थलीकृताः॥४३॥

निम्नाः प्रदेशाः स्थलतामुपागमन्निम्नत्वमुच्चैरपि सर्वतश्च ते ।
तुरंगमाणां व्रजतां खुरैः क्षता रथैर्गजेन्द्रैः परितः समीकृताः ॥४४॥

नभोदिगन्तप्रतिघोषभीषणैर्महामहीभृत्तटदारणोल्बणैः ।
पयोधिनिर्धूननकेलिभिर्जगद्बभूव भेरीध्वनितैः समाकुलम् ॥४५॥

इतस्ततो वातविधूतचञ्चलैर्नीरन्ध्रिताशागमनैर्ध्वजांशुकैः ।
लक्षैः क्वणत्काञ्चनकिङ्किणीकुलैरमज्जि धूलीजलधौ नभोगते ४६॥

घण्टारवै रौद्रतरैर्निरन्तरं विसृत्वरैर्गर्जरवैः सुभैरवैः ।
मत्तद्विपानां प्रथयांबभूविरे न वाहिनीनां पटहस्य निःस्वनाः ॥४७॥

करालवाचालमुखाश्वमूस्वनैर्ध्वस्ताम्बरा वीक्ष्य दिशो रजस्वलाः ।
तिरोबभूवे गहनैर्दिनेश्वरो रजोन्धकारैः परितः कुतोऽप्यसौ ॥४८॥

आक्रान्तपूर्वा रभसेन सैनिकैर्दिगङ्गना व्योम रजोभिदूषिता ।
भेरीरवाणां प्रतिशब्दितैर्घनैर्जगर्ज गाढं घनमत्सरादिव ॥४९॥

गुरुसमीरसमीरितभूधरा इव गजा गगनं विजगाहिरे ।
गुरुतरा इव वारिधरा रथा भुवमितीह विवर्त इवाभवत् ॥५०॥

बलमदसुरलोकानल्पकल्पान्तकाल
निरवधय इवाम्भोराशयो घोरघोषाः ।

गुरुतरपरिभज्जजङ्घ्रृतो देवसेना
वव्रधुरपि सुपूर्णा व्योमभूम्यन्तराले ॥५१॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ कुमारसंभवे महाकाव्ये
देवसेनाप्रयाणं नाम चतुर्दशः सर्गः ॥



पञ्चदशः सर्गः

सेनापतिं नन्दनमन्धकद्विषो युधे पुरस्कृत्य बलस्य शात्रवः ।
सैन्यैरुपैतीति सुरद्विषां पुरोऽभूत्किंवदन्ती हृदयप्रकम्पिनी ॥ १ ॥

चमूप्रभुं मन्मथमर्दनात्मजं विजित्वरीभिर्विजयश्रियाश्रितम् ।
श्रुत्वा सुराणां पृतनाभिरागतं चित्ते चिरं चुक्षुभिरे महासुराः ॥ २ ॥

समेत्य दैत्याधिपतेः पुरे स्थिताः किरीटबद्धाञ्जलयः प्रणम्य ते ।
न्यवेदयन्मन्मथशत्रुसूनुना युयुत्सुना जम्भजितं सहागतम् ॥ ३ ॥

दासीकृताशेषजगत्त्रयं न मां जिगाय युद्धे कतिशः शचीपतिः ।
गिरीशपुत्रस्य बलेन सांप्रतं ध्रुवं विजेतेति स काकुतोऽहसत् ॥ ४ ॥

ततः क्रुधा विस्फुरिताधराधरः स तारको दर्पितदोर्बलोद्धतान् ।
युधे त्रिलोकीजयकेलिलालसः सेनापतीन्संनहनार्थमादिशत् ॥ ५ ॥

महाचमूनामधिपाः समन्ततः संनह्य सद्यः सुतरामुदायुधाः ।
तस्थुर्विनम्रक्षितिपालसंकुले तदङ्गनद्वारवरप्रकोष्ठके ॥ ६ ॥

स द्वारपालेन पुरः प्रदर्शितान्कृतानतीन्बाहुवरानधिष्ठितान् ।
महाहवाम्भोधिविधूननोद्धतान्ददर्श राजा पृतनाधिपान्बहून् ॥ ७ ॥

बली बलारातिबलातिशातनं दिग्दन्तिनादद्रवनाशनस्वनम् ।
महीधराम्भोधिनवारितक्रमं ययौ रथं घोरमयाधिरुह्य सः ॥ ८ ॥

युगान्तयत्क्षुब्धपयोधिनिःस्वनाश्चलत्पताकाकुलवारितातपाः ।
धरारजोग्रस्तदिगन्तभास्कराः पतिं प्रयान्तं पृतनास्तमन्वयुः ॥ ९ ॥

चमूरजः प्राप दिगन्तदन्तिनां महासुरस्याभिसुरं प्रसर्पिणः ।
दन्तप्रकाण्डेषु सितेषु शुभ्रतां कुम्भेषु दानाम्बुघनेषु पङ्कताम् ॥१०॥

महीभृतां कन्दरदारणोल्बणैस्तद्वाहिनीनां पटहस्वनैर्घनैः ।
उद्वेलिताश्चुक्षुभिरे महार्णवा नभःस्रवन्ती सहसाभ्यवर्धत ॥११॥

सुरारिनाथस्य महाचमूस्वनैर्विगाह्यमाना तुमुलैः सुरापगा ।
अभ्युच्छ्रितैरूर्मिशतैश्च वारिजैरक्षालयन्नाकनिकेतनावलीम् ॥१२॥

अथ प्रयाणाभिमुखस्य नाकिनां द्विपः पुरस्तादशुभोपदेशिनी ।
अगाधदुःखाम्बुधिमध्यमज्जनं बभूव चोत्पातपरम्परा तव ॥१३॥

आगामिदैत्याशनकेलिकाङ्क्षिणी कुपक्षिणां घोरतरा परम्परा ।
दधौ पदं व्योम्नि सुरारिवाहिनीस्पर्युपर्येत्यनिवारितातपा ॥१४॥

मुहुर्विभग्नातपवारणध्वजश्चलद्धराधूलिकलाकुलेक्षणः ।
धृताश्वमातङ्गमहारथाकरानवेक्षणोऽभूत्प्रसभं प्रभञ्जनः ॥१५॥

मयो विभिन्नाञ्जनपुञ्जतेजसो मुखैर्विषाग्नि विकिरन्त उच्चकैः ।
पुरः पथोऽतीत्य महाभुजंगमा भयंकराकारभृतो भृशं ययुः ॥१६॥

मिलन्मराभीमभुजंगभीषणं ग्रशुद्दिनानां परिवेषमादधौ ।
महासुरस्य द्विपतोऽतिमत्सरादिवान्तमाञ्चयितुं भयंकरः ॥१७॥

निपामधीशस्य पुरोऽधिमण्डलं शिवाः समेताः परुषं ववाशिरे ।
सुरारिजन्य रणान्तशोणितं प्रसह्य पातुं हृतमन्युका इव ॥१८॥

दिवापि तारास्तरलास्तरस्विनीः परापतन्तीः परितोऽथ वाहिनीः।
विलोक्य लोको मनसा व्यचिन्तयत्प्रयाणव्ययान्तं व्यसनं सुरद्विषः॥

ज्वलद्भिरुच्चैरभितः प्रभाभरैरुद्भासिताशेषदिगन्तराम्बरम्।
रवेण रौद्रेण हृदन्तदारणं पपात वज्रं नभसो निरम्बुदात्॥२०॥

ज्वलद्भिरङ्गारचयैर्नभस्तलं ववर्ष गाढं सह शोणितास्थिभिः।
धूमं ज्वलन्तो व्यसृजन्मुखै रजो दधुर्दिशोरासभकण्ठधूसरम्॥२१॥

निर्घातघोषो गिरिशृङ्गशातनो घनोऽम्बराशाकुहरोदरंभरिः।
बभूव भूम्ना श्रुतिभित्तिभेदनः प्रकोपिकालार्जितगर्जितर्जनः॥२२॥

स्खलन्महेभं प्रपतत्तुरङ्गमं परस्पराश्लिष्टजनं समन्ततः।
प्रक्षुभ्यदम्भोधिविभिन्नभूधराद्बलं द्विपोऽभूदवनिप्रकम्पात्॥२३॥

ऊर्ध्वीकृतास्या रविदत्तदृष्टयः समेत्य सर्वे सुरविद्विषः पुरः।
श्वानः स्वरेण श्रवणान्तशातिना मिथो रुदन्तः करुणेन निर्ययुः २४

अपीति पश्यन्परिणामदारुणां महत्तमां गाढमरिष्टसंततिम्।
दुर्दैवदष्टो न खलु न्यवर्तत क्रुधा प्रयाणव्यवसायतोऽसुरः॥२५॥

अरिष्टमाशङ्क्य विपाकदारुणं निवार्यमाणोऽपि बुधैर्महासुरः।
पुरः प्रतस्थे महतां वृथा भवेदसद्ग्रहान्धस्य हितोपदेशनम्॥२६॥

क्षितौ निरस्तं प्रतिकूलवायुना तदीयचामीकरधर्मवारणम्।
रराज मृत्योरिव पारणाविधौ प्रकल्पितं हाटकभाजनं महत्॥२७॥

विजानता भाविशिरोनिकृन्तनं प्रज्ञेन शोकादिव तस्य मौलिना।
मुहुर्गलद्भिस्तरलैरलंतरामरोदि मुक्ताफलबाष्पबिन्दुभिः॥२८॥

निवार्यमाणैरभितोऽनुयायिभिर्ग्रहीतुकामैरिव तं मुहुर्मुहुः।
अपाति गृध्रैरभि मौनिमाकुलैर्भविष्यदेतन्मरणोपदेशिभिः॥२९॥

सद्यो निकृत्ताञ्जनसोदरद्युतिं फणामणिप्रज्वलदंशुमण्डलम् ।
निर्यद्विषोल्कानलगर्भफूत्कृतं ध्वजे जनस्तस्य महाहिमैक्षत ॥३०॥

रथाश्वकेशावलिकर्णचामरं ददाह बाणासनबाणबाणधीन् ।
अकाण्डतश्चण्डतरो हुताशनस्तस्यातनुस्यन्दनधुर्यगोचरः ॥३१॥

इत्याद्यरिष्टैरशुभोपदेशिभिर्विहन्यमानोऽप्यसुरः पुनः पुनः ।
यदा मदान्धो न गतान्यवर्तताम्बरात्तदाभून्मरुतां सरस्वती ॥३२॥

मदान्ध मा गा भुजदण्डचण्डिमावलेपतो मन्मथहन्तृसूनुना ।
सुरैः सनाथेन पुरंदरादिभिः समं समन्तात्समरं विजित्वरैः ॥३३॥

गुहोऽसुरैः षड्दिनजातमात्रको निदाघधामेव निशातमोभरैः ।
विपद्यते नाभिमुखो हि संगरे कुतस्त्वया तस्य समं विरोधिता ॥३४॥

अभ्रंलिहैः शृङ्गशतैः समन्ततो दिक्चक्रवालैः स्थगितस्य भूभृतः ।
क्रौञ्चस्य रन्ध्रं विशिखेन निर्ममे येनाहवस्तस्य सह त्वया कुतः ३५॥

लब्ध्वा धनुर्वेदमनङ्गविद्विषस्त्रिःसप्तकृत्वः समरे महीभुजाम् ।
कृत्वाभिषेकं रुधिराम्बुभिर्घनैः स्वक्रोधवह्निं शमयांबभूव यः ॥३६॥

न जामदग्न्यः क्षयकालरात्रिकृत्स क्षत्रियाणां समराय वल्गति ।
येन त्रिलोकीसुभटेन तेन कुतोऽवकाशः सह विग्रहग्रहे ॥३७॥

त्यजाशु गर्वं मदमूढ मा स गाः स्मरारिसूनोर्वरशक्तिगोचरम् ।
तमेव नूनं शरणं व्रजाधुना जगत्सुवीरं स चिराय जीव तत् ॥३८॥

श्रुत्वेति वाचं वियतो गरीयसीं क्रोधादहंकारपरो महासुरः ।
प्रकम्पिताशेषजगत्त्रयोऽपि सन्नकम्पनोच्चैर्दिवमभ्यधाच्च सः ॥३९॥

किं मूध रे व्योमचरा महासुराः स्मरारिसूनुप्रतिपत्तवर्तिनः ।
मर्मस्थलाणव्रणवेदना हि साधुना कथं विस्मृतिगोचरीकृता ॥४०॥

कटुस्वरैः प्रालपथाम्बरस्थिताः शिशोर्बलात्पड्दिनजातकस्य किम् ।
श्वानः प्रमत्ता इव कार्तिके निशि स्वैरं वनान्ते मृगधूर्तका इव ॥४१॥

सङ्गेन यो गर्भतपस्विनः शिशुर्वराक एषोऽन्तमवाप्स्यति ध्रुवम् ।
अतस्करस्तकरसङ्गतो यथा तद्वो निहन्मि प्रथमं ततोऽप्यमुम् ॥४२॥

इतीरयत्युग्रतरं महासुरे महाकृपाणं कलयत्यलं क्रुधा ।
परस्परोत्पीडितजानवो भयान्नभश्चरा दूरतरं विदुद्रुवुः ॥४३॥

ततोऽवलेपाद्विकटं विहस्य स व्यधत्त कोशादसिमुत्तमं बहिः ।
रथं द्रुतं प्रापय वासवान्तिकं नन्वित्यवोचन्निजसारथिं रथी ॥४४॥

मनोतिवेगेन रथेन सारथिप्रणोदितेन प्रचलन्महासुरः ।
ततः प्रपेदे सुरसैन्यसागरं भयंकराकारमपारमग्रतः ॥४५॥

पुरः सुराणां पृतनां प्रथीयसीं विलोक्य वीरः पुलकं प्रमोदजम् ।
बभार भूम्नाथ स बाहुदण्डयोः प्रचण्डयोः संगरकेलिकौतुकी ॥४६॥

ततो महेन्द्रस्य चराश्चमूचरा रणान्तलीलारभसेन भूयसा ।
पुरः प्रचेलुर्मनसोऽतिवेगिनो युयुत्सुभिः किं समरे विलम्ब्यते ॥४७॥

पुरःस्थितं देवरिपोश्चमूचरा बलद्विषः सैन्यसमुद्रमभ्ययुः ।
भुजं समुत्क्षिप्य परेभ्य आत्मनोऽभिधानमुच्चैरभितो न्यवेदयन् ४८

पुरोगतं दैत्यचमूमहार्णवं दृष्ट्वा परं चुक्षुभिरे महासुराः ।
पुरारिसूनोर्नयनैककोणके ममुर्भटास्तस्य रणेऽवहेलया ॥४९॥

द्विपद्धलत्रासविभीषिताश्चमूर्दिवौकसामन्धकशत्रुनन्दनः ।
अपश्यदुद्दिश्य महारणोत्सवं प्रसादपीयूषधरेण चक्षुषा ॥५०॥

उत्साहिताः शक्तिधरस्य दर्शनान्मृधे महेन्द्रप्रमुखा मखाशनाः ।
अहं मृधे जेतुमरीनरीरमन्न कस्य वीर्याय वरस्य संगतिः ॥५१॥

परस्परं वज्रधरस्य सैनिका द्विषोऽपि योद्धुं स्वकरोद्धृतायुधाः ।
वैतालिकश्राविततारविक्रमाभिधानमीयुर्विजयैषिणो रणे ॥५२॥

सङ्ग्रामं प्रलयाय संनिपततो वेलामतिक्रामतो
वृन्दारासुरसैन्यसागरयुगस्याशेषदिग्व्यापिनः ।
कालातिथ्यभुजो बभूव बहलः कोलाहलः क्रोपणः
शैलोत्तालतटीविघट्टनपटुर्ब्रह्माण्डकुक्षिंभरिः ॥५३॥

इति श्री महाकविकालिदासकृतौ कुमारसंभवे महाकाव्ये
सुरासुरसैन्यसंघट्टो नाम पञ्चदशः सर्गः ॥



षोडशः सर्गः

अथान्योन्यं विमुक्तास्त्रशस्त्रजालैर्भयंकरैः ।
युद्धमासीत्सुनासीरसुरारिबलयोर्महत् ॥१॥

पत्तिः पत्तिमभीयाय रणाय रथिनं रथी ।
तुरंगस्थं तुरंगस्थो दन्तिस्थं दन्तिनि स्थितः ॥२॥

युद्धाय धावतां धीरं वीराणामितरेतरम् ।
वैतालिकाः कुलाधीशा नामान्यलमुदाहरन् ॥३॥

पठतां वन्दिवृन्दानां प्रवीरा विक्रमावलीम् ।
क्षणं विलम्ब्य चित्तानि ददुर्युद्धोत्सुकाः पुरः ॥४॥

सङ्ग्रामानन्दवर्धिष्णौ विग्रहे पुलकाञ्चिते ।
आसीत्कवचविच्छेदो वीराणां मिलतां मिथः ॥५॥

निर्दयं खड्गभिन्नेभ्यः कवचेभ्यः समुत्थितैः ।
आसन्व्योमदिशस्तूलैः पलितैरिव पाण्डुराः ॥६॥

खड्गा रुधिरसंलिप्ताश्चण्डांशुकरभासुराः ।
इतस्ततोऽपि वीराणां विद्युतां वैभवं दधुः ॥७॥

विसृजन्तो मुखैर्ज्वाला भीमा इव भुजंगमाः ।
विसृष्टाः सुभटै रुष्टैर्व्योम व्यानशिरे शराः ॥८॥

बाढं वपूंषि निर्भिद्य धन्विनां निघ्नतां मिथः ।
अशोणितमुखा भूमिं प्राविशन्दूरमाशुगाः ॥९॥

निर्भिद्य दन्तिनः पूर्वं पातयामासुराशुगाः ।
पेतुः प्रवरयोधानां प्रीतानामाहवोत्सवे ॥१०॥

ज्वलदग्निमुखैर्बाणैर्नीरन्ध्रैरितरेतरम् ।
उच्चैर्वैमानिका व्योम्नि कीर्णे दूरमपासरन् ॥११॥

विभिन्नं धन्विनां बाणैर्व्यथार्तमिव विह्वलम् ।
ररास विरसं व्योम श्येनप्रतिरवच्छलात् ॥१२॥

चापैराकर्णमाकृष्टैर्विमुक्ता दूरमाशुगाः ।
अधावन्रुधिरास्वादलुब्धा इव रणैषिणाम् ॥१३॥

गृहीताः पाणिभिर्वीरैर्विकोशाः खड्गराजयः ।
कान्तिजालच्छलादाजौ व्यहसन्संमदादिव ॥१४॥

खड्गा शोणितसंदिग्धा नृत्यन्तो वीरपाणिषु ।
रजोघने रणेऽनन्ते विद्युतां वैभवं दधुः ॥१५॥

कुन्ताश्चकाशिरे चण्डमुल्लसन्तो रणार्थिनाम् ।
जिह्वाभोगा यमस्येव लेलिहाना रणाङ्गणे ॥१६॥

प्रज्वलत्कान्तिचक्राणि चक्राणि वरचक्रिणाम् ।
चण्डांशुमण्डलश्रीणि रणव्योमनि बभ्रमुः ॥१७॥

केचिद्वीरैः प्रणादैश्च वीरगणामभ्युपेयुषाम् ।
निपेतुः क्षोभतो वाहादपरे मुमुहुर्मदात् ॥१८॥

कश्चिदभ्यागते वीरे जिघांसौ मुदमादधौ ।
परावृत्य गते लुब्धे विपसादाहवप्रियः ॥१९॥

बहुभिः सह युद्ध्वा वा परिभ्रम्य रणोल्बणाः ।
उद्दिश्य तानुपेयुः केऽपि ये पूर्ववृता रणे ॥२०॥

अभितोऽभ्यागतान्योद्धुं वीरान्रणमदोद्धतान् ।
प्रत्यनन्दन्भुजादण्डरोमोद्गमभृतो भटाः ॥२१॥

शस्त्रभिन्नेभकुम्भेभ्यो मौक्तिकानि च्युतान्यधः ।
अध्याहवक्षेत्रमुप्तकीर्तिबीजाङ्कुरश्रियम् ॥२२॥

वीराणां विपयैर्घोषैर्विद्रुता वारणा रणे ।
शास्यमाना अपि त्रासाद्भ्रेजुर्धृताङ्कुशा दिशः ॥२३॥

रणे बाणगणैर्भिन्ना भ्रमन्तो भिन्नयोधिनः ।
निममज्जुर्मिलद्रक्तनिम्नगासु महागजाः ॥२४॥

अपारेऽसृक्सरित्पूरे रथेपूच्चेस्तरेष्वपि ।
रथिनोऽभिरिपुं क्रुद्धा हुंकृतैर्व्यसृजञ्शरान् ॥२५॥

खड्गनिर्लूनमूर्धानो व्यापतन्तोऽपि वाजिनः ।
प्रथमं पातयामासुरसिना दारितानरीन् ॥२६॥

वीराणां शस्त्रभिन्नानि शिरांसि निपतन्त्यपि ।
अधावन्दन्तदष्टोष्ठभीमान्यभिरिपुं क्रुधा ॥२७॥

शिरांसि वरयोधानामर्धचन्द्रहृतान्यलम् ।
आददाना भृशं पादैः श्येना व्यानशिरे नभः ॥२८॥

क्रोधादभ्यापतद्दन्तिदन्तारूढाः पदातयः ।
अश्वारोहा गजारोहप्राणान्प्रासैरपाहरन् ॥२९॥

शस्त्रच्छिन्नगजारोहा विभ्रमन्त इतस्ततः ।
युगान्तवातचलिताः शैला इव गजा बभुः ॥३०॥

मिलितेषु मिथो योद्धुं दन्तिषु प्रसभं भटाः ।
अगृह्णन्युध्यमानाश्च शस्त्रैः प्राणान्परस्परम् ॥३१॥

रुषा मिथो मिलद्दन्तिदन्तसंघर्षजोऽनलः ।
योधाञ्शस्त्रहृतप्राणानदहत्सहसारिभिः ॥३२॥

आक्षिप्ता अपि दन्तीन्द्रैः कोपनैः पत्तयः परम् ।
तदघ्नन्हरन्खड्गघातैः स्वस्य पुरः प्रभोः ॥३३॥

उत्क्षिप्य करिभिर्दूरान्मुक्तानां योधिनां दिवि ।
प्रापि जीवात्मभिर्दिव्या गतिर्वा विग्रहैर्मही ॥३४॥

खड्गैर्धवलधारालैर्निहत्य करिणां करान् ।
तैर्भुवापि समं विद्धान्संतोषं न भटा ययुः ॥३५॥

आक्षिप्याभिदिवं नीताः पत्तयः करिभिः करैः ।
दिव्याङ्गनाभिरादातुं रक्ताभिर्द्रुतमीपिरे ॥३६॥

धन्विनस्तुरगारूढा गजारोहाञ्शरैः क्षतान् ।
प्रत्यैच्छन्मूर्च्छितान्भूयो योद्धुमाश्वसतश्चिरम् ॥३७॥

क्रुद्धस्य दन्तिनः पत्तिर्जिघृक्षोरसिना करम् ।
निर्भिद्य दन्तमुसलावारुरोह जिघृक्षया ॥३८॥

खड्गेन मूलतो हत्वा दन्तिनो रदनद्वयम् ।
प्रातिपक्ष्ये प्रविष्टोऽपि पदातिर्निरगादद्भुतम् ॥३९॥

करेण करिणा वीरः सुगृहीतोऽपि कोपिना ।
असिनाछिन्नहाराशु तस्यैव स्वयमक्षतः ॥४०॥

३५

तुरंगी तुरगारूढं प्रासेनाहत्य वक्षसि ।
पततस्तस्य नाज्ञासीत्प्रासघातं स्वके हृदि ॥४१॥

द्विपा प्रासहृतप्राणो वाजिपृष्ठदृढासनः ।
हस्तोद्धृतमहाप्रासो भुवि जीवन्निवाभ्रमत् ॥४२॥

तुरंगसादिनं शस्त्रहृतप्राणं मतं भुवि ।
अबद्धोऽपि महावाजी न साश्रुनयनोऽत्यजत् ॥४३॥

भल्लेन शितधारेण भिन्नोऽपि रिपुणाश्वगः ।
नामूर्च्छत्कोपतो हन्तुमियेष प्रपतन्नपि ॥४४॥

मिथः प्रासाहतौ वाजिच्युतौ भूमिगतौ रुपा ।
शस्त्र्या युयुधतुः कौचित्केशाकेशि भुजाभुजि ॥४५॥

रथिनो रथिभिर्बाणैर्हृतप्राणा दृढासनाः ।
क्षतकार्मुकसंधानाः सप्राणा इव मेनिरे ॥४६॥

न रथी रथिनं भूयः प्राहरच्छस्त्रमूर्च्छितम् ।
प्रत्याश्वसन्तमन्विच्छन्नातिष्ठद्युधि लोभतः ॥४७॥

अन्योन्यं रथिनौ कौचिद्धतप्राणौ दिवं गतौ ।
एकामप्सरसं प्राप्य युयुधाते वरायुधौ ॥४८॥

मिथोऽर्धचन्द्रनिर्लूनमूर्धानौ रथिनौ रुषा ।
खेचरौ भुवि नृत्यन्तौ स्वकबन्धावपश्यताम् ॥४९॥

रणाङ्गणे शोणितपङ्कपिच्छिले कथं कथंचिन्ननृतुर्धृतायुधाः ।
नदत्सु तूर्येषु परेतयोषितां गणेषु गायत्सु कबन्धराजयः ॥५०॥

इति सुररिपुवृत्ते युद्धे सुरासुरसैन्ययो
रुधिरसरितां मज्जद्दन्तिव्रजेषुतटेष्वलम् ।

अरुणनयनः क्रोधाद्भीमभ्रमद्भ्रुकुटीमुखः
सपदि ककुभामीशानभ्यामगत्स युयुत्सया ॥५१॥

इति श्रीकालिदासकृतौ कुमारसंभवे महाकाव्ये सुरासुरसैन्यसङ्ग्रामवर्णनं नाम षोडशः सर्गः ॥



सप्तदशः सर्गः

दृष्ट्वाभ्युपेतमथ दैत्यपतिं पुरस्ता-
त्सङ्ग्रामकेलिकुतुकेन घनप्रमोदम् ।
योद्धुं मदेन मिमिलुः ककुभामधीशा
बाणान्धकारितदिगम्बरगर्भमेत्य ॥१॥

देवद्विपां परिवृढो विकटं विहस्य
बाणावलीभिरमरान्विकटान्ववर्ष ।
शैलानिव प्रवरवारिधरो गरिष्ठा-
नद्भिः पराभिरथ गाढमनारताभिः ॥२॥

जम्भद्विपत्प्रभृतिदिक्पतिचापमुक्ता
बाणाः शिता दनुजनायकबाणसङ्घान् ।
अह्नाय तार्क्ष्यनिवहा इव नागपूगा-
न्सद्यो विचिच्छिदुरलं कणशो रणान्ते ॥३॥

तान्प्रज्वलत्फलमुखैर्विषमैः मुरारि-
नामाङ्कितैः पिहितदिग्गगनान्तरालैः ।

आच्छादितस्तृणचयानिव हव्यवाह-
श्चिच्छेद सोऽपि सुरसैन्यशरान्शरौघैः ॥४॥

दैत्येश्वरो ज्वलितरोषविशेषभीमः
सद्यो मुमोच युधि यान्विशिखान्सहेलः ।
ते प्रापुरुद्भटभुजंगमभीमभावं
गाढं बबन्धुरपि तांस्त्रिदशेन्द्रमुख्यान् ॥५॥

ते नागपाशविशिखैरसुरेण बद्धाः
श्वासानिलाकुलमुखा विमुखा रणस्य ।
दिङ्नायका बलरिपुप्रमुखाः सरारि-
सूनोः समीपमगमन्विपदन्तहेतोः ॥६॥

दृष्टिप्रपातवशतोऽपि पुरारिसूनो-
स्ते नागपाशघनबन्धविपत्तिदुःखात् ।
इन्द्रादयो मुमुचिरे स्वयमस्य देवाः
सेवां व्यधुर्निकटमेत्य महाजिगीषोः ॥७॥

उद्दीप्तकोपदहनोऽथ सुरेन्द्रशत्रु-
रह्नाय सारथिमवोचत चण्डबाहुः ।
बद्धा मया सुरपतिप्रमुखाः प्रसह्य
बालस्य धूर्जटिसुतस्य निरीक्षणेन ॥८॥

मुक्ता बभूवुरधुना तदिमान्विहाय
वर्तास्म्यमुं समरभूमिपशूपहारम् ।
तत्स्यन्दनं सपदि वाहय शंभुसूनुं
प्रत्यासि दर्पितभुजाबलमाहवाय ॥९॥

तत्स्यन्दनः सपदि सारथिसंप्रणुन्नः
प्रक्षुब्धवारिधरधीरगभीरघोषः ।
चण्डश्चचाल दलिताखिलशत्रुसैन्य-
मांसास्थिशोणितविपङ्कविलुप्तचक्रः ॥१०॥

दृष्ट्वा रथं प्रलयवातचलद्गिरीन्द्र-
कल्पं दलद्धलविरावविशेषरौद्रम् ।
अभ्यागतं सुररिपोः सुरराजसैन्यं
क्षोभं जगाम परमं भयवेपमानम् ॥११॥

प्रक्षुभ्यमाणमवलोक्य दिगीशसैन्यं
शंभोः सुतं कलहकेलिकुतूहलोत्कम् ।
उद्दामदोः कलितकार्मुकदण्डचण्डः
प्रोवाच वाचमुपगम्य स कार्तिकेयम् ॥१२॥

रे शंभुतापसशिशो बत मुञ्च मुञ्च
दोर्दर्पमत्र विरम त्रिदिवेन्द्रकार्यात् ।
शस्त्रैः किमत्र भवतोऽनुचितैरतीव
बालत्वकोमलभुजातुलभारभूतैः ॥१३॥

एवं त्वमेव तनयोऽसि गिरीशगौर्योः
किं यासि कालविषयं विषमैः शरैर्मे ।
सङ्ग्रामतोऽपसर जीव पितुर्जनन्या-
स्तूर्णं प्रविश्य वरमङ्कतलं विधेहि ॥१४॥

सम्यक्स्वयं किल विमृश्य गिरीशपुत्र
जम्भद्विपोऽस्य जहिहि प्रतिपक्षमाशु ।

एष स्वयं पयसि मज्जति दुर्विगाह्ये
पाषाणनौरिव निमज्जयते पुरा त्वाम् ॥१५॥

इत्थं निशम्य वचनं युधि तारकस्य
कम्प्राधरो विकचकोकनदारुणाक्षः ।
क्षोभात्त्रिलोचनसुतो धनुरीक्षमाणः
प्रोवाच वाचमुचितां परिमृश्य शक्तिम् ॥१६॥

दैत्याधिराज भवता यदवादि गर्वा-
त्तत्सर्वमप्युचितमेव तवैव किं तु ।
द्रष्टास्मि ते प्रवरबाहुबलं वरिष्ठं
शस्त्रं गृहाण कुरु कार्मुकमाततज्यम् ॥१७॥

इत्युक्तवन्तमवदत्त्रिपुरारिपुत्रं
दैत्यः क्रुधौष्ठमधरं किल निर्विभिद्य ।
युद्धार्थमुद्भटभुजाबलदर्पितोऽसि
बाणान्सहस्व मम सादितशत्रुपृष्ठान् ॥१८॥

दुःप्रेक्षणीयमरिभिर्धनुराततज्यं
सद्यो विधाय विषमान्विशिखान्न्यधत्त ।
स क्रोधभीमभुजगेन्द्रनिभं स्वचापं
चण्डं प्रपञ्चयति जैत्रशरैः कुमारे ॥१९॥

कर्णान्तमेत्य दितिजेन विकृष्यमाणं
कोदण्डमेतदभितः सुपुवे शरौघान् ।
व्योमाङ्गणे लिपिकरान्निकरप्ररोहैः
सान्द्रैर्गमोपककुभां पलितंकरिष्णून् ॥२०॥

वाणैः सुरारिधनुषः प्रसृतैरनन्तै-
निर्घोषभीषितभटो लसदंशुजालैः ।
अन्धीकृताखिलसुरेश्वरसैन्य ईश-
सूनुः कुतोऽपि विषयं न जगाम दृष्टेः ॥२१॥

देवेन मन्मथरिपोस्तनयेन गाढ-
माकर्णकृष्टमभितो धनुराततज्यम् ।
बाणानसूत निशितान्युधि यान्सुजैत्रा-
स्तैः सायका विभिदिरे सहसा सुरारेः ॥२२॥

रेजे सुरारिशरदुर्दिनके निरस्ते
सद्यस्तरां निखिलखेचरखेदहेतौ ।
देवः प्रभाप्रभुरिव सरशत्रुसूनुः
प्रद्योतनः सुघनदुर्धरधामधामा ॥२३॥

तत्राथ दुःसहतरं समरे तरस्वी
धामाधिकं दधति धीरतरं कुमारे ।
मायामयं समरमाशु महासुरेन्द्रो
मायाप्रचारचतुरो रचयांचकार ॥२४॥

अह्नाय कोपकलुषो विकटं विहस्य
व्यर्थां समर्थ्य वरशस्त्रयुधं कुमारे ।
जिष्णुजगद्विजयदुर्ललितः सहेलं
वायव्यमस्त्रमसुरो धनुषि न्यधत्त ॥२५॥

संधानमात्रमपि यस्य युगान्तकाल-
भूतभ्रमं परुषभीषणघोरघोषः ।

उद्धूतधूलिपटलैः पिहिताम्बराशः
प्रच्छन्नचण्डकिरणो व्यसरत्समीरः ॥२६॥

कुन्दोज्ज्वलानि सकलातपवारणानि
धृतानि तेन मरुता सुरसैनिकानाम् ।
उड्डीयमानकलहंसकुलोपमानि
मेघाभधूलिमलिने नभसि प्रसस्रुः ॥२७॥

विध्वस्य तेन सुरसैन्यमहापताका
नीता नभस्थलमलं नवमल्लिकाभाः ।
स्वर्गापगाजलमहौघसहस्रलीलां
व्यातेनिरे दिवि सिताम्बरकैतवेन ॥२८॥

धृतानि तेन सुरसैन्यमहागजानां
सद्यः शतानि विधुराणि दलत्कुथानि ।
पेतुः क्षितौ कुपितवासववज्रलून-
पक्षस्य भूधरकुलस्य तुलां वहन्ति ॥२९॥

तास्ताः खरेण मरुता रथराजयोऽपि
दोधूयमाननिपतिष्णुतुरंगमाश्च ।
विस्रस्तसारथिकुलप्रवराः समन्ता-
द्व्यावृत्य पेतुरवनौ सुरवाहिनीनाम् ॥३०॥

हित्वायुधानि सुरसैन्यतुरंगवाहा
वातेन तेन विधुराः सुरसैन्यमध्ये ।
शस्त्राभिघातमनवाप्य निपेतुरुर्व्यां
स्वीयेषु वाहनवरेषु पतत्सु सत्सु ॥३१॥

तेनाहतास्त्रिदशसैन्यपदातयोऽपि
स्रस्तायुधाः सुविधुराः परुषं रसन्तः ।
वात्याविवर्तदलवद्भ्रममेत्य दूरं
निःपेतुरम्बरतलाद्वसुधातलेऽस्मिन् ॥३२॥

इत्थं विलोक्य सुरसैन्यमथो अशेषं
दैत्येश्वरेण विधुरीकृतमस्त्रयोगात् ।
स्वर्लोकनाथकमलाकुशलैकहेतु-
र्दिव्यं प्रभावमतनोदतनुः स देवः ॥३३॥

तेनोज्झितं सकलमेव सुरेन्द्रसैन्यं
स्वास्थ्यं प्रपद्य पुनरेव युधि प्रवृत्तम् ।
दृष्ट्वासृजद्दहनदैवतमस्त्रमिद्ध-
मुद्दीप्तकोपदहनः सहसा सुरारिः ॥३४॥

वर्षातिकालजलदद्युतयो नभोन्ते
गाढान्धकारितदिशो घनधूमसंघाः ।
सद्यः प्रसस्रुरसितोत्पलदामभासो
दृग्गोचरत्वमखिलं न हि सन्नयन्तः ॥३५॥

दिक्चक्रवालगिलनैर्मलिनैस्तमोभि-
र्लिप्तं नभःस्थलमलं घनवृन्दसान्द्रैः ।
धूमैर्विलोक्य मुदिताः खलु राजहंसा
गन्तुं सरः सपदि मानसमीपुरुच्चैः ॥३६॥

जज्वाल वह्निरतुलः सुरसैनिकेषु
कल्पान्तकालदहनप्रतिमः समन्तात् ।

आशामुखानि विमलान्यखिलानि कीला-
जालैरलं कपिलयन्सकलं नभोऽपि ॥३७॥

उज्जागरस्य दहनस्य निरर्गलस्य
ज्वालावलीभिरतुलाभिरनारताभिः।

कीर्णं पयोदनिवहैरिव धूमसंघै-
र्व्योमाभ्यलक्ष्यत कुलैस्तडितामिवोच्चैः ॥३८॥

गाढाद्भयाद्वियति विद्रुतखेचरेण
दीप्तेन तेन दहनेन सुदुःसहेन ।

दन्दह्यमानमखिलं सुरराजसैन्य-
मत्याकुलं शिवसुतस्य समीपमाप ॥३९॥

इत्यग्निना घनतरेण ततोऽभिभूतं
तद्देवसैन्यमखिलं विकलं विलोक्य ।

सस्मेरवक्त्रकमलोऽन्धकशत्रुसूनु-
र्धर्मासनेन समधत्त स वारुणास्त्रम् ॥४०॥

घोरान्धकारनिकरप्रतिमो युगान्त-
कालानलप्रबलधूमनिभो नभोन्ते ।

गर्जारवैर्विघटयन्नवनीधराणां
शृङ्गाणि मेघनिवहो घनमुज्जगाम ॥४१॥

विद्युल्लता वियति वारिदवृन्दमध्ये
गम्भीरभीषणरवैः कपिशीकृताशा ।

घोरा युगान्तचलितस्य भयंकराथ
कालस्य लोलरसनेव चमत्कार ॥४२॥

कादम्बिनी विरुरुचे विषकण्ठिकाभि
रुत्तालकालरजनीजलदावलीभिः ।
व्योम्न्युच्चकैरचिररुक्परिदीपितांशा-
द्दृष्टिच्छिदा विषमघोषविभीषणा च ॥४३॥

व्योम्नस्तलं पिदधतां ककुभां मुखानि
गर्जारवैरविरतैस्तुदतां मनांसि ।
अम्भोभृतामतितरामनणीयसीभि-
र्धारावलीभिरभितो ववृषे समूहैः ॥४४॥

घोरान्धकारपटलैः पिहिताम्बराणां
गम्भीरगर्जनरवैर्व्यथितासुराणाम् ।
वृष्टया तया जलमुचां वरुणास्त्रजानां
विश्वोदरंभरिरपि प्रशशाम वह्निः ॥४५॥

दैत्योऽपि रोषकलुषो निशितैः क्षुरप्रै-
राकर्णकृष्टधनुरुत्पतितैः स भीमैः ।
तद्भीतिविद्रुतसमस्तसुरेन्द्रसैन्यो
गाढं जघान मकरध्वजशत्रुसूनुम् ॥४६॥

देवोऽपि दैत्यविशिखप्रकरं सचापं
बाणैश्चकर्त कणशो रणकेलिकारी ।
योगीव योगविधिशुष्कमना यमाद्यैः
सांसारिकं विषयगंधममोघवीर्यम् ॥४७॥

भ्रूभङ्गभीषणमुखोऽसुरचक्रवर्ती
संदीप्तकोपदहनोऽथ रथं विहाय ।

क्रीडत्करालकरवालकरोऽसुरेन्द्र-
स्तं प्रत्यधावदभितस्त्रिपुरारिसूनुम् ॥४८॥

अभ्यापतन्तमसुराधिपमीशपुत्रो
दुर्वारबाहुविभवं सुरसैनिकैस्तम् ।
दृष्ट्वा युगान्तदहनप्रतिमां मुमोच
शक्तिं प्रमोदविकसद्वदनारविन्दः ॥४९॥

उद्द्योतिताम्बरदिगन्तरमंशुजालैः
शक्तिः पपात हृदि तस्य महासुरस्य ।
हर्षाश्रुभिः सह समस्तदिगीश्वराणां
शोकोष्णबाष्पसलिलैः सह दानवानाम् ॥५०॥

शक्त्या हृता सुमसुरेश्वरमापतन्तं
कल्पान्तवातहतभिन्नमिवाद्रिशृङ्गम् ।
दृष्ट्वा प्ररूढपुलकाञ्चितचारुदेहा
देवाः प्रमोदमगमंस्त्रिदशेन्द्रमुख्याः ॥५१॥

यत्रापतत्स दनुजाधिपतिः परासुः
संवर्तकालनिपतच्छिखरीन्द्रतुल्यः ।
तत्रादधात्फणिपतिर्धरणीं फणाभि-
स्तद्भूरिभारविधुराभिरधो व्रजन्तीम् ॥५२॥

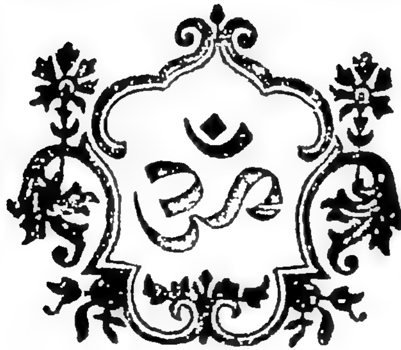
स्वर्गापगासलिलशीकरिणी समन्ता-
त्सौरभ्यलुब्धमधुपावलिसेव्यमाना ।
कल्पद्रुमप्रसववृष्टिरभून्नभस्तः
शंभोः सुतस्य शिरसि त्रिदशारिशत्रोः ॥५३॥

पुलकभरविभिन्नबाहुबाणा भुजविभवं बहु तारकस्य शत्रोः ।
सकलसुरगणा महेन्द्रमुख्याः प्रमदमुखच्छविसंपदोऽभ्यनन्दन् ५४

इति विषमशरारेः सूनुना जिष्णुनाजौ
त्रिभुवनवरशल्ये प्रोद्धृते दानवेन्द्रे ।
बलरिपुरथ नाकस्याधिपत्यं प्रपद्य
व्यजयत सुरचूडारत्नघृष्टाग्रपादः ॥५५॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ कुमारसंभवे महाकाव्ये
तारकासुरवधो नाम सप्तदशः सर्गः ॥

॥ इति कुमारसंभवम् ॥



॥ श्रीः ॥

मेघदूतम्

पूर्वमेघः

कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः
शापेनास्तंगमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्तुः ।
यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु ॥१॥

तस्मिन्नद्रौ कतिचिदबलाविप्रयुक्तः स कामी
नीत्वा मासान्कनकवलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः ।
आषाढस्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानुं
वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श ॥२॥

तस्य स्थित्वा कथमपि पुरः कौतुकाधानहेतो-
रन्तर्बाष्पश्चिरमनुचरो राजराजस्य दध्यौ ।
मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेतः
कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे ॥३॥

प्रत्यासन्ने नभसि दयिताजीवितालम्बनार्थी
जीमूतेन स्वकुशलमयीं हारयिष्यन्प्रवृत्तिम् ।

स प्रत्यग्रैः कुटजकुसुमैः कल्पितार्घाय तस्मै
प्रीतः प्रीतिप्रमुखवचनं स्वागतं व्याजहार ॥४॥

धूमज्योतिःसलिलमरुतां संनिपातः क्व मेघः
सन्देशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः।
इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन्गुह्यकस्तं ययाचे
कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ॥५॥

जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानां
जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः।
तेनार्थित्वं त्वयि विधिवशाद्दूरबन्धुर्गतोऽहं
याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा ॥६॥

संतप्तानां त्वमसि शरणं तत्पयोद प्रियायाः
सन्देशं मे हर धनपतिक्रोधविश्लेषितस्य।
गन्तव्या ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वराणां
बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या ॥७॥

त्वामारूढं पवनपदवीमुद्गृहीतालकान्ताः
प्रेक्षिष्यन्ते पथिकवनिताः प्रत्ययादाश्वसन्त्यः।
कः संनद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जायां
न स्यादन्योऽप्यहमिव जनो यः पराधीनवृत्तिः ॥८॥

तां चावश्यं दिवसगणनातत्परामेकपत्नी-
मव्यापन्नामविहतगतिर्द्रक्ष्यसि भ्रातृजायाम्।
आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां
सद्यःपाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि ॥९॥

मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वां
वामश्चायं नदति मधुरं चातकस्ते सगन्धः ।
गर्भाधानक्षणपरिचयान्नूनमाबद्धमालाः
सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः ॥१०॥

कर्तुं यच्च प्रभवति महीमुच्छिलीन्ध्रामवन्ध्यां
तच्छ्रुत्वा ते श्रवणसुभगं गर्जितं मानसोत्काः ।
आकैलासाद्बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः
संपत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः ॥११॥

आपृच्छस्व प्रियसखममुं तुङ्गमालिङ्ग्य शैलं
वन्द्यैः पुंसां रघुपतिपदैरङ्कितं मेखलासु ।
काले काले भवति भवतो यस्य संयोगमेत्य
स्नेहव्यक्तिश्चिरविरहजं मुञ्चतो बाष्पमुष्णम् ॥१२॥

मार्गं तावच्छृणु कथयतस्त्वत्प्रयाणानुरूपं
संदेशं मे तदनु जलद श्रोष्यसि श्रोत्रपेयम् ।
खिन्नः खिन्नः शिखरिषु पदं न्यस्य गन्तासि यत्र
क्षीणः क्षीणः परिलघुपयःस्रोतसां चोपभुज्य ॥१३॥

अद्रेः शृङ्गं हरति पवनः किंस्विदित्युन्मुखीभि-
र्दृष्टोत्साहश्चकितचकितं मुग्धसिद्धाङ्गनाभिः ।
स्थानादस्मात्सरसनिचुलादुत्पतोदङ्मुखः खं
दिङ्नागानां पथि परिहरन्स्थूलहस्तावलेपान् ॥१४॥

रत्नच्छायाव्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत्पुरस्ता-
द्वल्मीकाग्रात्प्रभवति धनुःखण्डमाखण्डलस्य ।

येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते
बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः ॥१५॥
त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञैः
प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः ।
सद्यः सीरोत्कषणसुरभि क्षेत्रमारुह्य मालं
किंचित्पश्चाद्व्रज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण ॥१६॥
त्वामासारप्रशमितवनोपप्लवं साधु मूर्ध्ना
वक्ष्यत्यध्वश्रमपरिगतं सानुमानाम्रकूटः ।
न क्षुद्रोऽपि प्रथमसुकृतापेक्षया संश्रयाय
प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः किं पुनर्यस्तथोच्चैः ॥१७॥
छन्नोपान्तः परिणतफलद्योतिभिः काननाम्रै-
स्त्वय्यारूढे शिखरमचलः स्निग्धवेणीसवर्णे ।
नूनं यास्यत्यमरमिथुनप्रेक्षणीयामवस्थां
मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः॥१८॥
* अध्वक्लान्तं प्रतिमुखगतं सानुमानाम्रकूट-
स्तुङ्गेन त्वां जलद शिरसा वक्ष्यति श्लाघ्यमानः।
आसारेण त्वमपि शमयेस्तस्य नैदाघमग्निं
सद्भावार्द्रः फलति न चिरेणोपकारो महत्सु ॥१९॥
स्थित्वा तस्मिन्वनचरवधूभुक्तकुञ्जे मुहूर्तं
तोयोत्सर्गद्रुततरगतिस्तत्परं वर्त्म तीर्णः ।
रेवां द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णां
भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमङ्गे गजस्य ॥२०॥

तस्यास्तिक्तैर्वनगजमदैर्वासितं वान्तवृष्टि-
जम्बूकुञ्जप्रतिहतरयं तोयमादाय गच्छेः ।
अन्तःसारं घन तुलयितुं नानिलः शक्ष्यति त्वां
रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय ॥२१॥

नीपं दृष्ट्वा हरितकपिशं केसरैरर्धरूढै-
राविर्भूतप्रथममुकुलाः कन्दलीश्चानुकच्छम् ।
जग्ध्वारण्येष्वधिकसुरभिं गन्धमाघ्राय चोर्व्याः
सारङ्गास्ते जललवमुचः सूचयिष्यन्ति मार्गम् ॥२२॥

* अम्भोबिन्दुग्रहणचतुरांश्चातकान्वीक्षमाणाः
श्रेणीभूताः परिगणनया निर्दिशन्तो बलाकाः ।
त्वामासाद्य स्तनितसमये मानयिष्यन्ति सिद्धाः
सोत्कम्पानि प्रियसहचरीसंभ्रमालिङ्गितानि ॥२३॥

उत्पश्यामि द्रुतमपि सखे मत्प्रियार्थं यियासोः
कालक्षेपं ककुभसुरभौ पर्वते पर्वते ते ।
शुक्लापाङ्गैः सजलनयनैः स्वागतीकृत्य केकाः
प्रत्युद्यातः कथमपि भवान्गन्तुमाशु व्यवस्येत् ॥२४॥

पाण्डुच्छायोपवनवृतयः केतकैः सूचिभिन्नै-
र्नीडारम्भैर्गृहबलिभुजामाकुलग्रामचैत्याः ।
त्वय्यासन्ने परिणतफलश्यामजम्बूवनान्ताः
संपत्स्यन्ते कतिपयदिनस्थायिहंसा दशार्णाः ॥२५॥

तेषां दिक्षु प्रथितविदिशालक्षणां राजधानीं
गत्वा सद्यः फलमविकलं कामुकत्वस्य लब्धा ।

तीरोपान्तस्तनितसुभगं पास्यसि स्वादु यस्मा-
त्सभ्रूभङ्गं मुखमिव पयो वेत्रवत्याश्चलोर्मि ॥२६॥

नीचैराख्यं गिरिमधिवसेस्तत्र विश्रामहेतो-
स्त्वत्संपर्कात्पुलकितमिव प्रौढपुष्पैः कदम्बैः ।
यः पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिर्नागराणा-
मुद्दामानि प्रथयति शिलावेश्मभिर्यौवनानि ॥२७॥

विश्रान्तः सन्व्रज वननदीतीरजातानि सिञ्च-
न्नुद्यानानां नवजलकणैर्यूथिकाजालकानि ।
गण्डस्वेदापनयनरुजाक्लान्तकर्णोत्पलानां
छायादानात्क्षणपरिचितः पुष्पलावीमुखानाम् ॥२८॥

वक्रः पन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां
सौधोत्सङ्गप्रणयविमुखो मा स्म भूरुज्जयिन्याः ।
विद्युद्दामस्फुरितचकितैस्तत्र पौराङ्गनानां
लोलापाङ्गैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोसि ॥२९॥

वीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणिकाञ्चीगुणायाः
संसर्पन्त्याः स्खलितसुभगं दर्शितावर्तनाभेः ।
निर्विन्ध्यायाः पथि भव रसाभ्यन्तरः सन्निपत्य
स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु ॥३०॥

वेणीभूतप्रतनुसलिलाऽसावतीतस्य सिन्धुः
पाण्डुच्छाया तटरुहतरुभ्रंशिभिर्जीर्णपर्णैः ।
सौभाग्यं ते सुभग विरहावस्थया व्यञ्जयन्ती
कार्श्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्यः ॥३१॥

प्राप्यावन्तीनुदयनकथाकोविदग्रामवृद्धा-
न्पूर्वोद्दिष्टामनुसर पुरीं श्रीविशालां विशालाम्।
स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणां गां गतानां
शेषैः पुण्यैर्हृतमिव दिवः कान्तिमत्खण्डमेकम् ॥३२॥

दीर्घीकुर्वन्पटु मदकलं कूजितं सारसानां
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः।
यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूलः
शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः ॥३३॥

* हारांस्तारांस्तरलगुटिकान्कोटिशः शङ्खशुक्तीः
शष्पश्यामान्मरकतमणीनुन्मयूखप्ररोहान्।
दृष्ट्वा यस्यां विपणिरचितान्विद्रुमाणां च भङ्गा-
न्संलक्ष्यन्ते सलिलनिधयस्तोयमात्रावशेषाः ॥३४॥

* प्रद्योतस्य प्रियदुहितरं वत्सराजोऽत्र जह्रे
हैमं तालद्रुमवनमभूदत्र तस्यैव राज्ञः।
अत्रोद्भ्रान्तः किल नलगिरिः स्तम्भमुत्पाट्य दर्पा-
दित्यागन्तून्रमयति जनो यत्र बन्धूनभिज्ञः ॥३५॥

जालोद्गीर्णैरुपचितवपुः केशसंस्कारधूपै-
र्बन्धुप्रीत्या भवनशिखिभिर्दत्तनृत्योपहारः।
हर्म्येष्वस्याः कुसुमसुरभिष्वध्वखेदं नयेथा
लक्ष्मीं पश्यँल्ललितवनितापादरागाङ्कितेषु ॥३६॥

भर्तुः कण्ठच्छविरिति गणैः सादरं वीक्ष्यमाणः
पुण्यं यायास्त्रिभुवनगुरोर्धाम चण्डीश्वरस्य।

धूतोद्यानं कुवलयरजोगन्धिभिर्गन्धवत्या-
स्तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिक्तैर्मरुद्भिः ॥३७॥

अप्यन्यस्मिञ्जलधर महाकालमासाद्य काले
स्थातव्यं ते नयनविषयं यावदत्येति भानुः ।
कुर्वन्संध्याबलिपटहतां शूलिनः श्लाघनीया-
मामन्द्राणां फलमविकलं लप्स्यसे गर्जितानाम् ॥३८॥

पादन्यासैः क्वणितरशनास्तत्र लीलावधूतैः
रत्नच्छायाखचितवलिभिश्चामरैः क्लान्तहस्ताः ।
वेश्यास्त्वत्तो नखपदसुखान्प्राप्य वर्षाग्रबिन्दू-
नामोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान्कटाक्षान् ॥३९॥

पश्चादुच्चैर्भुजतरुवनं मण्डलेनाभिलीनः
सान्ध्यं तेजः प्रतिनवजपापुष्परक्तं दधानः ।
नृत्तारम्भे हर पशुपतेरार्द्रनागाजिनेच्छां
शान्तोद्वेगस्तिमितनयनं दृष्टभक्तिर्भवान्या ॥४०॥

गच्छन्तीनां रमणवसतिं योषितां तत्र नक्तं
रुद्धालोके नरपतिपथे सूचिभेद्यैस्तमोभिः ।
सौदामन्या कनकनिकषस्निग्धया दर्शयोर्वीं
तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो मा स्म भूर्विक्लवास्ताः ॥४१॥

तां कस्यांचिद्भवनवलभौ सुप्तपारावतायां
नीत्वा रात्रिं चिरविलसनात्खिन्नविद्युत्कलत्रः ।
दृष्टे सूर्ये पुनरपि भवान्वाहयेदध्वशेषं
मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः ॥४२॥

तस्मिन्काले नयनसलिलं योषितां खण्डितानां
शान्तिं नेयं प्रणयिभिरतो वर्त्म भानोस्त्यजाशु ।
प्रालेयास्रं कमलवदनात्सोऽपि हर्तुं नलिन्याः
प्रत्यावृत्तस्त्वयि कररुधि स्यादनल्पाभ्यसूयः ॥४३॥

गम्भीरायाः पयसि सरितश्चेतसीव प्रसन्ने
छायात्माऽपि प्रकृतिसुभगो लप्स्यते ते प्रवेशम् ।
तस्मादस्याः कुमुदविशदान्यर्हसि त्वं न धैर्या-
न्मोघीकर्तुं चटुलशफरोद्वर्तनप्रेक्षितानि ॥४४॥

तस्याः किंचित्करधृतमिव प्राप्तवानीरशाखं
हृत्वा नीलं सलिलवसनं मुक्तरोधोनितम्बम् ।
प्रस्थानं ते कथमपि सखे लम्बमानस्य भावि
ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः ॥४५॥

त्वन्निष्यन्दोच्छ्वसितवसुधागन्धसंपर्करम्यः
स्रोतोरन्ध्रध्वनितसुभगं दन्तिभिः पीयमानः ।
नीचैर्वास्यत्युपजिगमिषोर्देवपूर्वं गिरिं ते
शीतो वायुः परिणमयिता काननोदुम्बराणाम् ॥४६॥

तत्र स्कन्दं नियतवसतिं पुष्पमेघीकृतात्मा
पुष्पासारैः स्नपयतु भवान्व्योमगङ्गाजलार्द्रैः ।
रक्षाहेतोर्नवशशिभृता वासवीनां चमूना-
मत्यादित्यं हुतवहमुखे संभृतं तद्धि तेजः ॥४७॥

ज्योतिर्लेखावलयि गलितं यस्य बर्हं भवानी
पुत्रप्रेम्णा कुवलयदलप्रापि कर्णे करोति ।

धौतापाङ्गं हरशशिरुचा पावकेस्तं मयूरं
पश्चादद्रिग्रहणगुरुभिर्गर्जितैर्नर्तयेथाः ॥४८॥

आराध्यैनं शरवणभवं देवमुल्लङ्घिताध्वा
सिद्धद्वन्द्वैर्जलकणभयाद्वीणिभिर्मुक्तमार्गः ।

व्यालम्बेथाः सुरभितनयालम्भजां मानयिष्यन्
स्रोतोमूर्त्या भुवि परिणतां रन्तिदेवस्य कीर्तिम् ॥४९॥

त्वय्यादातुं जलमवनते शार्ङ्गिणो वर्णचौरे
तस्याः सिन्धोः पृथुमपि तनुं दूरभावात्प्रवाहम् ।

प्रेक्षिष्यन्ते गगनगतयो नूनमावर्ज्य दृष्टी-
रेकं मुक्तागुणमिव भुवः स्थूलमध्येन्द्रनीलम् ॥५०॥

तामुत्तीर्य व्रज परिचितभ्रूलताविभ्रमाणां
पक्ष्मोत्क्षेपादुपरि विलसत्कृष्णशारप्रभाणाम् ।

कुन्दक्षेपानुगमधुकरश्रीमुषामात्मबिम्बं
पात्रीकुर्वन्दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानाम् ॥५१॥

ब्रह्मावर्तं जनपदमथ च्छायया गाहमानः
क्षेत्रं क्षत्रप्रधनपिशुनं कौरवं तद्भजेथाः ।

राजन्यानां सितशरशतैर्यत्र गाण्डीवधन्वा
धारापातैस्त्वमिव कमलान्यभ्यवर्षन्मुखानि ॥५२॥

हित्वा हालामभिमतरसां रेवतीलोचनाङ्कां
बन्धुप्रीत्या समरविमुखो लाङ्गली याः सिषेवे ।

कृत्वा तासामभिगममपां सौम्य सारस्वतीना-
मन्तः शुद्धस्त्वमपि भविता वर्णमात्रेण कृष्णः ॥५३॥

तस्माद्गच्छेरनुकनखलं शैलराजावतीर्णां
जह्नोः कन्यां सगरतनयस्वर्गसोपानपङ्क्तिम् ।
गौरीवक्त्रभ्रुकुटिरचनां या विहस्येव फेनैः
शंभोः केशग्रहणमकरोदिन्दुलग्नोर्मिहस्ता ॥५४॥

तस्याः पातुं सुरगज इव व्योम्नि पश्चार्द्धलम्बी
त्वं चेदच्छस्फटिकविशदं तर्कयेस्तिर्यगम्भः ।
संसर्पन्त्या सपदि भवतः स्रोतसि च्छाययाऽसौ
स्यादस्थानोपगतयमुनासङ्गमेवाभिरामा ॥५५॥

आसीनानां सुरभितशिलं नाभिगन्धैर्मृगाणां
तस्या एव प्रभवमचलं प्राप्य गौरं तुषारैः ।
वक्ष्यस्यध्वश्रमविनयने तस्य शृङ्गे निषण्णः
शोभां शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपङ्कोपमेयाम् ॥५६॥

तं चेद्वायौ सरति सरलस्कन्धसंघट्टजन्मा
बाधेतोल्काक्षपितचमरीबालभारो दवाग्निः ।
अर्हस्येनं शमयितुमलं वारिधारासहस्रै-
रापन्नार्तिप्रशमनफलाः संपदो ह्युत्तमानाम् ॥५७॥

ये संरम्भोत्पतनरभसाः स्वाङ्गभंगाय तस्मि-
न्मुक्ताध्वानं सपदि शरभा लङ्घयेयुर्भवन्तम् ।
तान्कुर्वीथास्तुमुलकरकावृष्टिपातावकीर्णान्
के वा न स्युः परिभवपदं निष्फलारम्भयत्नाः ॥५८॥

तत्र व्यक्तं दृषदि चरणन्यासमर्धेन्दुमौलेः
शश्वत्सिद्धैरुपचितबलिं भक्तिनम्रः परीयाः ।

धौतापाङ्गं हरशशिरुचा पावकेस्तं मयूरं
पश्चादद्रिग्रहणगुरुभिर्गर्जितैर्नर्तयेथाः ॥४८॥

आराध्यैनं शरवणभवं देवमुल्लङ्घिताध्वा
सिद्धद्वन्द्वैर्जलकणभयाद्वीणिभिर्मुक्तमार्गः ।
व्यालम्बेथाः सुरभितनयालम्भजां मानयिष्यन्
स्रोतोमूर्त्या भुवि परिणतां रन्तिदेवस्य कीर्तिम् ॥४९॥

त्वय्यादातुं जलमवनते शार्ङ्गिणो वर्णचौरे
तस्याः सिन्धोः पृथुमपि तनुं दूरभावात्प्रवाहम् ।
प्रेक्षिष्यन्ते गगनगतयो नूनमावर्ज्य दृष्टी-
रेकं मुक्तागुणमिव भुवः स्थूलमध्येन्द्रनीलम् ॥५०॥

तामुत्तीर्य व्रज परिचितभ्रूलताविभ्रमाणां
पक्ष्मोत्क्षेपादुपरि विलसत्कृष्णशारप्रभाणाम् ।
कुन्दक्षेपानुगमधुकरश्रीमुषामात्मबिम्बं
पात्रीकुर्वन्दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानाम् ॥५१॥

ब्रह्मावर्तं जनपदमथ च्छायया गाहमानः
क्षेत्रं क्षत्रप्रधनपिशुनं कौरवं तद्भजेथाः ।
राजन्यानां शितशरशतैर्यत्र गाण्डीवधन्वा
धारापातैस्त्वमिव कमलान्यभ्यवर्षन्मुखानि ॥५२॥

हित्वा हालामभिमतरसां रेवतीलोचनाङ्कां
बन्धुप्रीत्या समरविमुखो लाङ्गली याः सिषेवे ।
कृत्वा तासामभिगममपां सौम्य सारस्वतीना-
मन्तः शुद्धस्त्वमपि भविता वर्णमात्रेण कृष्णः ॥५३॥

तस्माद्गच्छेरनुकनखलं शैलराजावतीर्णां
जह्नोः कन्यां सगरतनयस्वर्गसोपानपङ्क्तिम् ।
गौरीवक्त्रभ्रुकुटिरचनां या विहस्येव फेनैः
शंभोः केशग्रहणमकरोदिन्दुलग्नोर्मिहस्ता ॥५४॥

तस्याः पातुं सुरगज इव व्योम्नि पश्चार्द्धलम्बी
त्वं चेदच्छस्फटिकविशदं तर्कयेस्तिर्यगम्भः ।
संसर्पन्त्या सपदि भवतः स्रोतसि च्छाययाऽसौ
स्यादस्थानोपगतयमुनासङ्गमेवाभिरामा ॥५५॥

आसीनानां सुरभितशिलं नाभिगन्धैर्मृगाणां
तस्या एव प्रभवमचलं प्राप्य गौरं तुषारैः ।
वक्ष्यस्यध्वश्रमविनयने तस्य शृङ्गे निषण्णः
शोभां शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपङ्कोपमेयाम् ॥५६॥

तं चेद्वायौ सरति सरलस्कन्धसंघट्टजन्मा
बाधेतोल्काक्षपितचमरीबालभारो दवाग्निः ।
अर्हस्येनं शमयितुमलं वारिधारासहस्रै-
रापन्नार्तिप्रशमनफलाः संपदो ह्युत्तमानाम् ॥५७॥

ये संरम्भोत्पतनरभसाः स्वाङ्गभंगाय तस्मि-
न्मुक्ताध्वानं सपदि शरभा लङ्घयेयुर्भवन्तम् ।
तान्कुर्वीथास्तुमुलकरकावृष्टिपातावकीर्णान्
के वा न स्युः परिभवपदं निष्फलारम्भयत्नाः ॥५८॥

तत्र व्यक्तं दृषदि चरणन्यासमर्धेन्दुमौलेः
शश्वत्सिद्धैरुपचितबलिं भक्तिनम्रः परीयाः ।

यस्मिन्दृष्टे करणविगमादूर्ध्वमुद्धूतपापाः
कल्पिष्यन्ते स्थिरगणपदप्राप्तये श्रद्दधानाः ॥५९॥

शब्दायन्ते मधुरमनिलैः कीचकाः पूर्यमाणाः
संसक्ताभिस्त्रिपुरविजयो गीयते किंनरीभिः।
निर्ह्रादस्ते मुरज इव चेत्कन्दरेषु ध्वनिः स्यात्
संगीतार्थो ननु पशुपतेस्तत्र भावी समग्रः ॥६०॥

प्रालेयाद्रेरुपतटमतिक्रम्य ताँस्तान्विशेषा-
न्हंसद्वारं भृगुपतियशोवर्त्म यत्क्रौञ्चरन्ध्रम्।
तेनोदीचीं दिशमनुसरेस्तिर्यगायामशोभि
श्यामः पादो बलिनियमनाभ्युद्यतस्येव विष्णोः॥६१॥

गत्वा चोर्ध्वं दशमुखभुजोच्छ्वासितप्रस्थसंधेः
कैलासस्य त्रिदशवनितादर्पणस्यातिथिः स्याः।
शृङ्गोच्छ्रायैः कुमुदविशदैर्यो वितत्य स्थितः खं
राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः ॥६२॥

उत्पश्यामि त्वयि तटगते स्निग्धभिन्नाञ्जनाभे
सद्यः कृत्तद्विरददशनच्छेदगौरस्य तस्य।
शोभामद्रेः स्तिमितनयनप्रेक्षणीयां भवित्री-
मंसन्यस्ते सति हलभृतो मेचके वाससीव ॥६३॥

हित्वा तस्मिन्भुजगवलयं शंभुना दत्तहस्ता
क्रीडाशैले यदि च विचरेत्पादचारेण गौरी।
भङ्गीभक्त्या विरचितवपुः स्तम्भितान्तर्जलौघः
सोपानत्वं कुरु मणितटारोहणायाग्रयायी ॥६४॥

तत्रावश्यं वलयकुलिशोद्धट्टनोद्गीर्णतोयं
नेष्यन्ति त्वां सुरयुवतयो यन्त्रधारागृहत्वम् ।
ताभ्यो मोक्षस्तव यदि सखे घर्मलब्धस्य न स्यात्
क्रीडालोलाः श्रवणपरुषैर्गर्जितैर्भाययेस्ताः ॥६५॥

हेमाम्भोजप्रसवि सलिलं मानसस्याददानः
कुर्वन्कामं क्षणमुखपटप्रीतिमैरावतस्य ।
धुन्वकल्पद्रुमकिसलयान्यंशुकानीव वातै-
र्नानाचेष्टैर्जलद ललितैर्निर्विशेस्तं नगेन्द्रम् ॥६६॥

तस्योत्सङ्गे प्रणयिन इव स्रस्तगंगादुकूलां
न त्वं दृष्ट्वा न पुनरलकां ज्ञास्यसे कामचारिन् ।
या वः काले वहति सलिलोद्गारमुच्चैर्विमाना
मुक्ताजालग्रथितमलकं कामिनीवाभ्रवृन्दम् ॥६७॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ मेघदूते
काव्ये पूर्वमेघः समाप्तः ॥



उत्तरमेघः

विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम् ।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुंगमभ्रंलिहाग्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः ॥१॥

हस्ते लीलाकमलमलके बालकुन्दानुविद्धं
नीतालोध्रप्रसवरजसा पाण्डुतामानने श्रीः ।
चूडापाशे नवकुरवकं चारु कर्णे शिरीषं
सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम् ॥२॥

* यत्रोन्मत्तभ्रमरमुखराः पादपा नित्यपुष्पा
हंसश्रेणीरचितरशना नित्यपद्मा नलिन्यः ।
केकोत्कण्ठा भवनशिखिनो नित्यभास्वत्कलापा
नित्यज्योत्स्नाः प्रतिहततमोवृत्तिरम्याः प्रदोषाः ॥३॥

* आनन्दोत्थं नयनसलिलं यत्र नान्यैर्निमित्तै-
र्नान्यस्तापः कुसुमशरजादिष्टसंयोगसाध्यात् ।

नाप्यन्यस्मात्प्रणयकलहाद्विप्रयोगोपपत्ति-
वित्तेशानां न च खलु वयो यौवनादन्यदस्ति ॥ ४ ॥

यस्यां यक्षाः सितमणिमयान्येत्य हर्म्यस्थलानि
ज्योतिश्छायाकुसुमरचितान्युत्तमस्त्रीसहायाः ।
आसेवन्ते मधु रतिफलं कल्पवृक्षप्रसूतं
त्वद्गम्भीरध्वनिषु शनकैः पुष्करेष्वाहतेषु ॥ ५ ॥

मन्दाकिन्याः सलिलशिशिरैः सेव्यमाना मरुद्भि-
र्मन्दाराणामनुतटरुहां छायया वारितोष्णाः ।
अन्वेष्टव्यैः कनकसिकतामुष्टिनिक्षेपगूढैः
संक्रीडन्ते मणिभिरमरप्रार्थिता यत्र कन्याः ॥ ६ ॥

नीवीबन्धोच्छ्वसितशिथिलं यत्र बिम्बाधराणां
क्षौमं रागादनिभृतकरेष्वाक्षिपत्सु प्रियेषु ।
अर्चिस्तुङ्गानभिमुखमपि प्राप्य रत्नप्रदीपा-
न्ह्रीमूढानां भवति विफलप्रेरणा चूर्णमुष्टिः ॥ ७ ॥

नेत्रा नीताः सततगतिना यद्विमानाग्रभूमी-
रालेख्यानां नवजलकणैर्दोषमुत्पाद्य सद्यः ।
शङ्कास्पृष्टा इव जलमुचस्त्वादृशा जालमार्गै-
र्धूमोद्गारानुकृतिनिपुणा जर्जरा निष्पतन्ति ॥ ८ ॥

यत्र स्त्रीणां प्रियतमभुजालिङ्गनोच्छ्वासिताना-
मङ्गग्लानिं सुरतजनितां तन्तुजालावलम्बाः ।
त्वत्संरोधापगमविशदैश्चन्द्रपादैर्निशीथे
व्यालुम्पन्ति स्फुटजललवस्यन्दिनश्चन्द्रकान्ताः ॥ ९ ॥

अक्षय्यान्तभवननिधयः प्रत्यहं रक्तकण्ठै-
रुद्गायद्भिर्धनपतियशः किंनरैर्यत्र साधम् ।
वैभ्राजाख्यं विबुधवनितावारमुख्यासहाया
बद्धालापा बहिरुपवनं कामिनो निर्विशन्ति ॥१०॥

गत्युत्कम्पादलकपतितैर्यत्र मन्दारपुष्पैः
पत्रच्छेदैः कनककमलैः कर्णविभ्रंशिभिश्च ।
मुक्ताजालैः स्तनपरिसरच्छिन्नसूत्रैश्च हारै-
र्नैशो मार्गः सवितुरुदये सूच्यते कामिनीनाम् ॥११॥

वासश्चित्रं मधु नयनयोर्विभ्रमादेशदक्षं
पुष्पोद्भेदं सह किसलयैर्भूषणानां विकल्पान्
लाक्षारागं चरणकमलन्यासयोग्यं च यस्या—
मेकः सूते सकलमबलामण्डनं कल्पवृक्षः

* पत्रश्यामा दिनकरहयस्पर्धिनो यत्र वाहाः
शैलोदग्रास्त्वमिव करिणो वृष्टिमन्तः प्रभेदात् ।
योधाग्रण्यः प्रतिदशमुखं संयुगे तस्थिवांसः
प्रत्यादिष्टाभरणरुचयश्चन्द्रहासव्रणाङ्कैः ॥१३॥

मत्वा देवं धनपतिसखं यत्र साक्षाद्वसन्तं
प्रायश्चापं न वहति भयान्मन्मथः षट्पदज्यम् ।
सभ्रूभंगप्रहितनयनैः कामिलक्ष्येष्वमोघै-
स्तस्यारम्भश्चतुरवनिताविभ्रमैरेव सिद्धः ॥१४॥

तत्रागारं धनपतिगृहानुत्तरेणास्मदीयं
दूराल्लक्ष्यं सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन ।

यस्योपान्ते कृतकतनयः कान्तया वर्धितो मे
हस्तप्राप्यस्तवकनमितो बालमन्दारवृक्षः ॥१५॥

वापी चास्मिन्मरकतशिलाबद्धसोपानमार्गा
हैमैश्छन्ना विकचकमलैः स्निग्धवैदूर्यनालैः ।
यस्यास्तोये कृतवसतयो मानसं संनिकृष्टं
नाध्यास्यन्ति व्यपगतशुचस्त्वामपि प्रेक्ष्य हंसाः॥१६॥

तस्यास्तीरे रचितशिखरः पेशलैरिन्द्रनीलैः
क्रीडाशैलः कनककदलीवेष्टनप्रेक्षणीयः ।
मद्गेहिन्याः प्रिय इति सखे चेतसा कातरेण
प्रेक्ष्योपान्तस्फुरिततडितं त्वां तमेव स्मरामि ॥१७॥

रक्ताशोकश्चलकिसलयः केसरश्चात्र कान्तः
प्रत्यासन्नौ कुरबकवृतेर्माधवीमण्डपस्य ।
एकः सख्यास्तव सह मया वामपादाभिलाषी
काङ्क्षत्यन्यो वदनमदिरां दोहदच्छद्मनास्याः ॥१८॥

तन्मध्ये च स्फटिकफलका काञ्चनी वासयष्टि-
र्मूले बद्धा मणिभिरनतिप्रौढवंशप्रकाशैः ।
तालैः शिञ्जावलयसुभगैर्नर्तितः कान्तया मे
यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद्वः ॥१९॥

एभिः साधो ! हृदयनिहितैर्लक्षणैर्लक्षयेथा
द्वारोपान्ते लिखितवपुषौ शङ्खपद्मौ च दृष्ट्वा ।
क्षामच्छायं भवनमधुना मद्वियोगेन नूनं
सूर्यापाये न खलु कमलं पुष्यति स्वामभिख्याम् ॥२०॥

गत्वा सद्यः कलभतनुतां शीघ्रसंपातहेतोः
क्रीडाशैले प्रथमकथिते रम्यसानौ निषण्णः ।
अर्हस्यन्तर्भवनपतितां कर्तुमल्पाल्पभासं
खद्योतालीविलसितनिभां विद्युदुन्मेषदृष्टिम् ॥२१॥

तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः ।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां
या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः ॥२२॥

तां जानीथाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं
दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम् ।
गाढोत्कण्ठां गुरुषु दिवसेष्वेषु गच्छत्सु बालां
जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम् ॥२३॥

नूनं तस्याः प्रबलरुदितोच्छूननेत्रं प्रियाया
निःश्वासानामशिशिरतया भिन्नवर्णाधरोष्ठम् ।
हस्तन्यस्तं मुखमसकलव्यक्ति लम्बालकत्वा-
दिन्दोर्दैन्यं त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तेर्बिभर्ति ॥२४॥

आलोके ते निपतति पुरा सा बलिव्याकुला वा
मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती ।
पृच्छन्ती वा मधुरवचनां सारिकां पञ्जरस्थां
कच्चिद्भर्तुः स्मरसि रसिके त्वं हि तस्य प्रियेति ॥२५॥

उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां
मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा ।

तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचि-
द्भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती ॥२६॥

शेषान्मासान्विरहदिवसस्थापितस्यावधेर्वा
विन्यस्यन्ती भुवि गणनया देहलीदत्तपुष्पैः ।
मत्सङ्गं वा हृदयनिहितारम्भमास्वादयन्ती
प्रायेणैते रमणविरहेष्वङ्गनानां विनोदाः ॥२७॥

सव्यापारामहनि न तथा पीडयेन्मद्वियोगः
शङ्के रात्रौ गुरुतरशुचं निर्विनोदां सखीं ते ।
मत्संदेशैः सुखयितुमलं पश्य साध्वीं निशीथे
तामुन्निद्रामवनिशयनां सौधवातायनस्थः ॥२८॥

* स्निग्धाः सख्यः कथमपि दिवा तां न मोक्ष्यन्ति तन्वी-।
मेकप्रख्या भवति हि जगत्यङ्गनानां प्रवृत्तिः ।
स त्वं रात्रौ जलद शयनासन्नवातायनस्थः
कान्तां सुप्ते सति परिजने वीतनिद्रामुपेयाः ॥२९॥

* अन्वेष्टव्यामवनिशयने संनिकीर्णैकपार्श्वां
तत्पर्यङ्क प्रगलितनवैश्छिन्नहारैरिवास्रैः ।
भूयो भूयः कठिनविषमां सादयन्तीं कपोला-
दामोक्तव्यामयमितनखेनैकवेणीं करेण ॥३०॥

आधिक्षामां विरहशयने संनिषण्णैकपार्श्वां
प्राचीमूले तनुमिव कलामात्रशेषां हिमांशोः ।
नीता रात्रिः क्षण इव मया सार्धमिच्छारतैर्या
तामेवोष्णैर्विरहमहतीमश्रुभिर्यापयन्तीम् ॥३१॥

पादानिन्दोरमृतशिशिराञ्जालमार्गप्रविष्टा-
न्पूर्वप्रीत्या गतमभिमुखं संनिवृत्तं तथैव
चक्षुः खेदात्सलिलगुरुभिः पक्ष्मभिश्छादयन्तीं
साभ्रेऽह्नीव स्थलकमलिनीं न प्रबुद्धां न सुप्ताम् ॥३२॥

निःश्वासेनाधरकिसलयक्लेशिना विक्षिपन्तीं
शुद्धस्नानात्परुषमलकं नूनमागण्डलम्बम् ।
मत्संभोगः कथमुपनयेत्स्वप्नजोऽपीति निद्रा-
माकाङ्क्षन्तीं नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशाम् ॥३३॥

आद्ये बद्धा विरहदिवसे या शिखा दाम हित्वा
शापस्यान्ते विगलितशुचा तां मयोद्वेष्टनीयां
स्पर्शक्लिष्टामयमितनखेनासकृत्सारयन्तीं
गण्डाभोगात्कठिनविषमामेकवेणीं करेण ॥३४॥

सा संन्यस्ताभरणमबला पेशलं धारयन्ती
शय्योत्सङ्गे निहितमसकृद्दुःखदुःखेन गात्रम् ।
त्वामप्यस्रं नवजलमयं मोचयिष्यत्यवश्यं
प्रायः सर्वो भवति करुणावृत्तिरार्द्रान्तरात्मा ॥३५॥

जाने सख्यास्तव मयि मनः संभृतस्नेहमस्मा-
दित्थंभूतां प्रथमविरहे तामहं तर्कयामि ।
वाचालं मां न खलु सुभगम्मन्यभावः करोति
प्रत्यक्षं ते निखिलमचिराद्भ्रातरुक्तं मया यत् ॥३६॥

रुद्धापाङ्गप्रसरमलकैरञ्जनस्नेहशून्यं
प्रत्यादेशादपि च मधुनो विस्मृतभ्रूविलासम् ।

त्वय्यासन्ने नयनमुपरिस्पन्दि शङ्के मृगाक्ष्या
मीनक्षोभाच्चलकुवलयश्रीतुलामेष्यतीति ॥३७॥

वामश्चास्याः कररुहपदैर्मुच्यमानो मदीयै-
र्मुक्ताजालं चिरपरिचितं त्याजितो दैवगत्या ।
संभोगान्ते मम समुचितो हस्तसंवाहनानां
यास्यत्यूरुः सरसकदलीस्तम्भगौरश्चलत्वम् ॥३८॥

तस्मिन्काले जलद यदि सा लब्धनिद्रासुखा स्या-
दन्वास्यैनां स्तनितविमुखो याममात्रं सहस्व ।
माभूदस्याः प्रणयिनि मयि स्वप्नलब्धे कथंचि-
त्सद्यःकण्ठच्युतभुजलताग्रन्थि गाढोपगूढम् ॥३९॥

तामुत्थाप्य स्वजलकणिकाशीतलेनानिलेन
प्रत्याश्वस्तां सममभिनवैर्जालकैर्मालतीनाम् ।
विद्युद्गर्भः स्तिमितनयनां त्वत्सनाथे गवाक्षे
वक्तुं धीरः स्तनितवचनैर्मानिनीं प्रक्रमेथाः ॥४०॥

भर्तुर्मित्रं प्रियमविधवे विद्धि मामम्बुवाहं
तत्संदेशैर्हृदयनिहितैरागतं त्वत्समीपम् ।
यो वृन्दानि त्वरयति पथि श्राम्यतां प्रोषितानां
मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिरबलावेणिमोक्षोत्सुकानि ॥४१॥

इत्याख्याते पवनतनयं मैथिलीवोन्मुखी सा
त्वामुत्कण्ठोच्छ्वसितहृदया वीक्ष्य संभाव्य चैवम् ।
श्रोष्यत्यस्मात्परमवहिता सौम्य सीमन्तिनीनां
कान्तोदन्तः सुहृदुपनतः संगमात्किंचिदूनः ॥४२॥

तामायुष्मन्मम च वचनादात्मनश्चोपकर्तुं
ब्रूयादेवं तव सहचरो रामगिर्याश्रमस्थः ।
अव्यापन्नः कुशलमबले पृच्छति त्वां वियुक्तः
पूर्वाभाष्यं सुलभविपदां प्राणिनामेतदेव ॥४३॥

अङ्गेनाङ्गं प्रतनु तनुना गाढतप्तेन तप्तं
सास्रेणाश्रुद्रुतमविरतोत्कण्ठमुत्कण्ठितेन ।
उष्णोच्छ्वासं समधिकतरोच्छ्वासिना दूरवर्ती
संकल्पैस्तैर्विशति विधिना वैरिणा रुद्धमार्गः ॥४४॥

शब्दाख्येयं यदपि किल ते यः सखीनां पुरस्ता-
त्कर्णे लोलः कथयितुमभूदाननस्पर्शलोभात् ।
सोऽतिक्रांतः श्रवणविषयं लोचनाभ्यामदृष्ट-
स्त्वामुत्कण्ठाविरचितपदं मन्मुखेनेदमाह ॥४५॥

श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान् ।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासा-
न्हंतैकस्मिन्क्वचिदपि न ते चण्डि सादृश्यमस्ति ॥४६॥

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः ॥४७॥

धारासिक्तस्थलसुरभिणस्त्वन्मुखस्यास्य बाले
दूरीभूतं प्रतनुमपि मां पञ्चबाणः क्षिणोति ।

घर्मान्तेऽस्मिन्विगणय्य कथं वासराणि व्रजेयु-
र्दिक्संसक्तप्रविततघनव्यस्तसूर्यातपानि ॥४८॥

मामाकाशप्रणिहितभुजं निर्दयाश्लेषहेतो-
र्लब्धायास्ते कथमपि मया स्वप्नसंदर्शनेषु ।
पश्यन्तीनां न खलु बहुशो न स्थलीदेवतानां
मुक्तास्थूलास्तरुकिसलयेष्वश्रुलेशाः पतन्ति ॥४९॥

भित्त्वा सद्यः किसलयपुटान्देवदारुद्रुमाणां
ये तत्क्षीरस्रुतिसुरभयो दक्षिणेन प्रवृत्ताः ।
आलिङ्ग्यन्ते गुणवति मया ते तुषाराद्रिवाताः
पूर्वं स्पृष्टं यदि किल भवेदङ्गमेभिस्तवेति ॥५०॥

संक्षिप्येत क्षण इव कथं दीर्घयामा त्रियामा
सर्वावस्थास्वहरपि कथं मन्दमन्दातपं स्यात् ।
इत्थं चेतश्चटुलनयने दुर्लभप्रार्थनं मे
गाढोष्माभिः कृतमशरणं त्वद्वियोगव्यथाभिः ॥५१॥

नन्वात्मानं बहु विगणयन्नात्मनैवावलम्बे
तत्कल्याणि त्वमपि नितरां मा गमः कातरत्वम् ।
कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥५२॥

शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ
शेषान्मासान्गमय चतुरो लोचने मीलयित्वा ।
पश्चादावां विरहगुणितं तं तमात्माभिलाषं
निर्वेक्ष्यावः परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु ॥५३॥

भूयश्चाह त्वमपि शयने कण्ठलग्ना पुरा मे
निद्रां गत्वा किमपि रुदती सस्वनं विप्रबुद्धा।
सान्तर्हासं कथितमसकृत्पृच्छतश्च त्वया मे
दृष्टः स्वप्ने कितव रमयन्कामपि त्वं मयेति ॥५४॥

एतस्मान्मां कुशलिनमभिज्ञानदानाद्विदित्वा
मा कौलीनाच्चकितनयने मय्यविश्वासिनी भूः।
स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगा—
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसा प्रेमराशीभवन्ति ॥५५॥

आश्वास्यैवं प्रथमविरहोदग्रशोकां सखीं ते
शैलादाशु त्रिनयनवृषोत्खातकूटान्निवृत्तः।
साभिज्ञानप्रहितकुशलैस्तद्वचोभिर्ममापि
प्रातः कुन्दप्रसवशिथिलं जीवितं धारयेथाः ॥५६॥

कच्चित्सौम्य व्यवसितमिदं बन्धुकृत्यं त्वया मे
प्रत्यादेशान्न खलु भवतो धीरतां कल्पयामि।
निःशब्दोऽपि प्रदिशसि जलं याचितश्चातकेभ्यः
प्रत्युक्तं हि प्रणयिषु सतामीप्सितार्थक्रियैव ॥५७॥

एतत्कृत्वा प्रियमनुचितप्रार्थनावर्तिनो मे
सौहार्दाद्वा विधुर इति वा मय्यनुक्रोशबुद्ध्या।
इष्टान्देशाञ्जलद विचर प्रावृषा संभृतश्री-
र्मा भूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः ॥५८॥

* तस्मादद्रेर्निगदितमथो शीघ्रमेत्यालकायां
यक्षागारं विगलितनिभं दृष्टिचिह्नैर्विदित्वा।

यत्संदिष्टं प्रणयमधुरं गुह्यकेन प्रयत्नात्
तद्गेहिन्याः सकलमवदत्कामरूपी पयोदः ॥५९॥

* तं संदेशं जलधरवरो दिव्यवाचाचचक्षे
प्राणांस्तस्या जनहितरतो रक्षितुं यक्षवध्वाः ।
प्राप्योदन्तं प्रमुदितमना सापि तस्थौ स्वभर्तुः
केषां न स्यादभिमतफला प्रार्थना ह्युत्तमेषु ॥६०॥

* श्रुत्वा वार्तां जलदकथितां तां धनेशोऽपि सद्यः
शापस्यान्तं सदयहृदयः संविधायास्तकोपः ।
संयोज्यैतौ विगलितशुचौ दंपती हृष्टचित्तौ
भोगानिष्टानविरतसुखं भोजयामास शश्वत् ॥६१॥

* इत्याख्याते सुरपतिसखः शैलकुल्यापुरीषु
स्थित्वा स्थित्वा धनपतिपुरीं वासरैः कैश्चिदाप ।
मत्वागारं कनकरुचिरं लक्षणैः पूर्वमुक्तैः
तस्योत्संगे क्षितितलगतां तां च दीनां ददर्श ॥६२॥

* इत्थंभूतं सुचरितपदं मेघदूताभिधानं
कामक्रीडाविरहितजने विप्रयुक्ते विनोदः ।
मेघस्यास्मिन्नतिनिपुणता बुद्धिभावः कवीनां
नत्वार्यायाश्चरणकमलं कालिदासश्चकार ॥६३॥

इति श्रीमहाकविकालिदासकृतौ मेघदूते उत्तरमेघः समाप्तः ।

* पुष्पाङ्किता श्लोका प्रक्षिप्ता ॥

[इति मेघदूतम्]

॥ श्रीः ॥

ऋतुसंहारम्

प्रथमः सर्गः

ग्रीष्मवर्णनम्

प्रचण्डसूर्यः स्पृहणीयचन्द्रमाः सदावगाहक्षतवारिसंचयः ।
दिनान्तरम्योऽभ्युपशान्तमन्मथो निदाघकालोऽयमुपागतः प्रिये ॥१॥
निशाः शशाङ्कक्षतनीलराजयः क्वचिद्विचित्रं जलयन्त्रमन्दिरम् ।
मणिप्रकाराः सरसं च चन्दनं शुचौ प्रिये यान्ति जनस्य सेव्यताम् ॥२॥
सुवासितं हर्म्यतलं मनोहरं प्रियामुखोच्छ्वासविकम्पितं मधु ।
सुतन्त्रिगीतं मदनस्य दीपनं शुचौ निशीथेऽनुभवन्ति कामिनः ॥३॥
नितम्बबिम्बैः सदुकूलमेखलैः स्तनैः सहाराभरणैः सचन्दनैः ।
शिरोरुहैः स्नानकषायवासितैः स्त्रियो निदाघं शमयन्ति कामिनाम् ॥४॥
नितान्तलाक्षारसरागरञ्जितैर्नितम्बिनीनां चरणैः सनूपुरैः ।
पदे पदे हंसरुतानुकारिभिर्जनस्य चित्तं क्रियते समन्मथम् ॥५॥
पयोधराश्चन्दनपङ्कचर्चितास्तुषारगौरार्पितहारशेखराः ।
नितम्बदेशाश्च सहेममेखलाः प्रकुर्वते कस्य मनो न सोत्सुकम् ॥६॥
समुद्गतस्वेदचिताङ्गसंधयो विमुच्य वासांसि गुरूणि सांप्रतम् ।
स्तनेषु तन्वंशुकमुन्नतस्तना निवेशयन्ति प्रमदाः सयौवनाः ॥७॥

सचन्दनाम्बुव्यजनोद्भवानिलैः सहारयष्टिस्तनमण्डलार्पणैः ।
सवल्लकीकाकलिगीतनिस्वनैर्विबोध्यते सुप्त इवाद्य मन्मथः ॥८॥

सितेषु हर्म्येषु निशासु योषितां सुखप्रसुप्तानि मुखानि चन्द्रमाः ।
विलोक्य नूनं भृशमुत्सुकश्चिरं निशाक्षये याति ह्रियेव पाण्डुताम् ॥९॥

असह्यवातोद्धतरेणुमण्डला प्रचण्डसूर्यातपतापिता मही ।
न शक्यते द्रष्टुमपि प्रवासिभिः प्रियावियोगानलदग्धमानसैः ॥१०॥

मृगाः प्रचण्डातपतापिता भृशं तृषा महत्या परिशुष्कतालवः ।
वनान्तरे तोयमिति प्रधाविता निरीक्ष्य भिन्नाञ्जनसंनिभं नभः ॥११॥

सविभ्रमैः सस्मितजिह्मवीक्षितैर्विलासवत्यो मनसि प्रवासिनाम् ।
अनङ्गसंदीपनमाशु कुर्वते यथा प्रदोषाः शशिचारुभूषणाः ॥१२॥

रवेर्मयूखैरभितापितो भृशं विदह्यमानः पथितप्तपांसुभिः ।
अवाङ्मुखो जिह्मगतिः श्वसन्मुहुः फणी मयूरस्य तले निषीदति ॥१३॥

तृषा महत्या हतविक्रमोद्यमः श्वसन्मुहुर्दूरविदारिताननः ।
न हन्त्यदूरेऽपि गजान्मृगेश्वरो विलोलजिह्वश्चलिताग्रकेसरः ॥१४॥

विशुष्ककण्ठोद्गतशीकराम्भसो गभस्तिभिर्भानुमतोऽनुतापिताः ।
प्रवृद्धतृष्णोपहता जलार्थिनो न दन्तिनः केसरिणोऽपि बिभ्यति ॥१५॥

हुताग्निकल्पैः सवितुर्गभस्तिभिः कलापिनः क्लान्तशरीरचेतसः ।
न भोगिनं घ्नन्ति समीपवर्तिनं कलापचक्रेषु निवेशिताननम् ॥१६॥

सभद्रमुस्तं परिशुष्ककर्दमं सरः खनन्नायतपोत्रमण्डलैः ।
रवेर्मयूखैरभितापितो भृशं वराहयूथो विशतीव भूतलम् ॥१७॥

विवस्वता तीक्ष्णतरांशुमालिना सपङ्कतोयात्सरसोऽभितापितः ।
उत्प्लुत्य भेकस्तृषितस्य भोगिनः फणातपत्रस्य तले निषीदति ॥१८॥

समुद्धृताशेषमृणालजालकं विपन्नमीनं द्रुतभीतसारसम् ।
परस्परोत्पीडनसंहतैर्गजैः कृतं सरः सान्द्रविमर्दकर्दमम् ॥१९॥

रविप्रभोद्भिन्नशिरोमणिप्रभो विलोलजिह्वाद्वयलीढमारुतः ।
विषाग्निसूर्यातपतापितः फणी न हन्ति मण्डूककुलं तृषाकुलः ॥२०॥

सफेनलालावृतवक्त्रसंपुटं विनिःसृतालोहितजिह्वमुन्मुखम् ।
तृषाकुलं निःसृतमद्रिगह्वरादवेक्षमाणं महिषीकुलं जलम् ॥२१॥

पटुतरदवदाहोच्छुष्कसस्यप्ररोहाः
परुषपवनवेगोत्क्षिप्तसंशुष्कपर्णाः ।
दिनकरपरितापक्षीणतोयाः समन्ता-
द्विदधति भयमुच्चैर्वीक्ष्यमाणा वनान्ताः ॥२२॥

श्वसिति विहगवर्गः शीर्णपर्णद्रुमस्थः
कपिकुलमुपयाति क्लान्तमद्रेर्निकुञ्जम् ।
भ्रमति गवययूथः सर्वतस्तोयमिच्छ-
ञ्शरभकुलमजिह्मं प्रोद्धरत्यम्बु कूपात् ॥२३॥

विकचनवकुसुम्भस्वच्छसिन्दूरभासा
प्रबलपवनवेगोद्भूतवेगेन तूर्णम् ।
तरुविटपलताग्रालिङ्गनव्याकुलेन
दिशि दिशि परिदग्धा भूमयः पावकेन ॥२४॥

ज्वलति पवनवृद्धः पर्वतानां दरीषु
स्फुटति पटुनिनादः शुष्कवंशस्थलीषु ।
प्रसरति तृणमध्ये लब्धवृद्धिः क्षणेन
ग्लपयति मृगवर्गं प्रान्तलग्नो दवाग्निः ॥२५॥

वहुतर इव जातः शाल्मलीनां वनेषु
स्फुरति कनकगौरः कोटरेषु द्रुमाणाम् ।
परिणतदलशाखानुत्पतप्रांशुवृक्षा-
न्भ्रमति पवनधूतः सर्वतोऽग्निर्वनान्ते ॥२६॥

गजगवयमृगेन्द्रा वह्निसंतप्तदेहा
सुहृद इव समेता द्वन्द्वभावं विहाय ।
हुतवहपरिखेदादाशु निर्गत्य कक्षा-
द्विपुलपुलिनदेशां निम्नगां संविशन्ति ॥२७॥

कमलवनचिताम्बुः पाटलामोदरम्यः
सुखसलिलनिषेकः सेव्यचन्द्रांशुहारः ।
व्रजतु तव निदाघः कामिनीभिः समेतो
निशि सुललितगीते हर्म्यपृष्ठे सुखेन ॥२८॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ ऋतुसंहारे
ग्रीष्मवर्णनं नाम प्रथमः सर्गः



द्वितीयः सर्गः

प्रावृड्वर्णनम्

सशीकराम्भोधरमत्तकुञ्जरस्तडित्पताकोऽशनिशब्दमर्दलः ।
समागतो राजवदुद्धतद्युतिर्घनागमः कामिजनप्रियः प्रिये ॥१॥
नितान्तनीलोत्पलपत्रकान्तिभिः क्वचित्प्रभिन्नाञ्जनराशिसंनिभैः ।
क्वचित्सगर्भप्रमदास्तनप्रभैः समाचितं व्योम घनैः समन्ततः ॥२॥
तृषाकुलैश्चातकपक्षिणां कुलैः प्रयाचितास्तोयभरावलम्बिनः ।
प्रयान्ति मन्दं बहुधारवर्षिणो बलाहकाः श्रोत्रमनोहरस्वनाः ॥३॥
बलाहकाश्चाशनिशब्दमर्दलाः सुरेन्द्रचापं दधतस्तडिद्गुणम् ।
सुतीक्ष्णधारापतनोग्रसायकैस्तुदन्ति चेतः प्रसभं प्रवासिनाम् ॥४॥
प्रभिन्नवैदूर्यनिभैस्तृणाङ्कुरैः समाचिता प्रोत्थितकन्दलीदलैः ।
विभाति शुक्लेतररत्नभूषिता वराङ्गनेव क्षितिरिन्द्रगोपकैः ॥५॥
सदा मनोज्ञं स्वनदुत्सवोत्सुकं विकीर्णविस्तीर्णकलापशोभितम् ।
ससंभ्रमालिङ्गनचुम्बनाकुलं प्रवृत्तनृत्यं कुलमद्य बर्हिणाम् ॥६॥
निपातयन्त्यः परितस्तटद्रुमान्प्रवृद्धवेगैः सलिलैरनिर्मलैः ।
स्त्रियः सुदुष्टा इव जातविभ्रमाः प्रयान्ति नद्यस्त्वरितं पयोनिधिम् ॥७॥

तृणोत्करैरुद्गतकोमलाङ्कुरैश्चितानि नीलैर्हरिणीमुखक्षतैः ।
वनानि वैन्ध्यानि हरन्ति मानसं विभूषितान्युद्गतपल्लवैर्द्रुमैः ॥८॥

विलोलनेत्रोत्पलशोभिताननैर्मृगैः समन्तादुपजातसाध्वसैः ।
समाचिता सैकतिनी वनस्थली समुत्सुकत्वं प्रकरोति चेतसः ॥९॥

अभीक्ष्णमुच्चैर्ध्वनता पयोमुचा घनान्धकारीकृतशर्वरीष्वपि ।
तडित्प्रभादर्शितमार्गभूमयः प्रयान्ति रागादभिसारिकाः स्त्रियः १०॥

पयोधरैर्भीमगभीर निस्वनैस्तडिद्भिरुद्वेजितचेतसो भृशम् ।
कृतापराधानपि योषितः प्रियान्परिष्वजन्ते शयने निरन्तरम् ॥११॥

विलोचनेन्दीवरवारिबिन्दुभिर्निषिक्तबिम्बाधरचारुपल्लवाः ।
निरस्तमाल्याभरणानुलेपनाः स्थिता निराशाः प्रमदाः प्रवासिनाम् १२

विपाण्डुरं कीटरजस्तृणान्वितं भुजंगवद्वक्रगतिप्रसर्पितम् ।
ससाध्वसैर्भेक कुलैर्निरीक्षितं प्रयाति निम्नाभिमुखं नवोदकम् ॥१३॥

विपत्रपुष्पां नलिनीं समुत्सुका विहाय भृङ्गाः श्रुतिहारिनिस्वनाः ।
पतन्ति मूढाः शिखिनां प्रनृत्यतां कलापचक्रेषु नवोत्पलाशया ॥१४॥

वनद्विपानां नववारिदस्वनैर्मदान्वितानां ध्वनतां मुहुर्मुहुः ।
कपोलदेशा विमलोत्पलप्रभाः सभृङ्गयूथैर्मदवारिभिश्चिताः ॥१५॥

सितोत्पलाभाम्बुदचुम्बितोपलाः समाचिताः प्रस्रवणैः समन्ततः ।
प्रवृत्तनृत्यैः शिखिभिः समाकुलाः समुत्सुकत्वं जनयन्ति भूधराः ॥१६

कदम्बसर्जार्जुनकेतकीवनं विकम्पयंस्तत्कुसुमाधिवासितः ।
सशीकराम्भोधरमङ्गशीतलः समीरणः कं न करोति सोत्सुकम् ॥१७॥

शिरोरुहैः श्रोणितटावलम्बिभिः कृतावतंसैः कुसुमैः सुगन्धिभिः ।
स्तनैः सहारैर्वदनैः ससीधुभिः स्त्रियो रतिं संजनयन्ति कामिनाम् ॥१८

* वहन्ति वर्षन्ति नदन्ति भान्ति ध्यायन्ति नृत्यन्ति समाश्रयन्ति।
नद्यो घना मत्तगजा वनान्ताः प्रियविहीनाः शिखिनः प्लवङ्गाः ॥१९

तडिल्लताशक्रधनुर्विभूषिताः पयोधरास्तोयभरावलम्बिनः ।
स्त्रियश्च काञ्चीमणिकुण्डलोज्ज्वला हरन्ति चेतो युगपत्प्रवासिनाम् २०

मालाः कदम्बनवकेसरकेतकीभि-
रायोजिताः शिरसि बिभ्रति योषितोऽद्य ।
कर्णान्तरेषु ककुभद्रुममञ्जरीभि-
रिच्छानुकूलरचितानवतंसकांश्च ॥२१॥

कालागुरुप्रचुरचन्दनचर्चिताङ्ग्यः
पुष्पावतंससुरभीकृतकेशपाशाः ।
श्रुत्वा ध्वनिं जलमुचां त्वरितं प्रदोषे
शय्यागृहं गुरुगृहात्प्रविशन्ति नार्यः ॥२२॥

कुवलयदलनीलैरुन्नतैस्तोयनम्रै-
र्मृदुपवनविधूतैर्मन्दमन्दं चलद्भिः ।
अपहृतमिव चेतस्तोयदैः सेन्द्रचापैः
पथिकजनवधूनां तद्वियोगाकुलानाम् ॥२३॥

मुदित इव कदम्बैर्जातपुष्पैः समन्ता-
त्पवनचलितशाखैः शाखिभिर्नृत्यतीव ।
हसितमिव विधत्ते सूचिभिः केतकीनां
नवसलिलनिषेकच्छिन्नतापो वनान्तः ॥२४॥

शिरसि बकुलमालां मालतीभिः समेतां
विकसितनवपुष्पैर्यूथिकाकुड्मलैश्च ।

विकचनवकदम्बैः कर्णपूरं वधूनां
रचयति जलदौघः कान्तवत्काल एषः ॥२५॥

दधति वरकुचाग्रैरुन्नतैर्हारयष्टिं
प्रतनुसितदुकूलान्यायतैः श्रोणिबिम्बैः ।
नवजलकणसेकादुद्गतां रोमराजीं
ललितवलिविभङ्गैर्मध्यदेशैश्च नार्यः ॥२६॥

नवजलकणसङ्गाच्छीततामादधानः
कुसुमभरनतानां लासकः पादपानाम् ।
जनितरुचिरगन्धः केतकीनां रजोभिः
परिहरति नभस्वान्प्रोपितानां मनांसि ॥२७॥

जलभरनमितानामाश्रयोऽस्माकमुच्चै-
रयमिति जलसेकैस्तोयदास्तोयनम्राः ।
अतिशयपरुषाभिर्ग्रीष्मवह्नेः शिखाभिः
समुपजनिततापं ह्लादयन्तीव विन्ध्यम् ॥२८॥

बहुगुणरमणीयः कामिनीचित्तहारी
तरुविटपलतानां बान्धवो निर्विकारः ।
जलदसमय एप प्राणिनां प्राणभूतो
दिशतु तव हितानि प्रायशो वाञ्छितानि ॥२९॥

इति महाकविश्रीकालिदास कृतौ ऋतुसंहारे प्रावृड्वर्णनं
नाम द्वितीय सर्गः ॥

तृतीयः सर्गः

शरद्वर्णनम्

काशांशुका विकचपद्ममनोज्ञवक्त्रा
सोन्मादहंसरवनूपुरनादरम्या ।
आपक्वशालिरुचिरानतगात्रयष्टिः
प्राप्ता शरन्नवधूरिव रूपरम्या ॥ १ ॥

काशैर्मही शिशिरदीधितिना रजन्यो
हंसैर्जलानि सरितां कुमुदैः सरांसि ।
सप्तच्छदैः कुसुमभारनतैर्वनान्ताः
शुक्लीकृतान्युपवनानि च मालतीभिः ॥ २ ॥

चञ्चन्मनोज्ञशफरीरसनाकलापाः
पर्यन्तसंस्थितसिताण्डजपङ्क्तिहाराः ।
नद्यो विशालपुलिनान्तनितम्बबिम्बा
मन्दं प्रयान्ति समदाः प्रमदा इवाद्य ॥ ३ ॥

व्योम क्वचिद्रजतशङ्खमृणालगौरै-
स्त्यक्ताम्बुभिर्लघुतया शतशः प्रयातैः ।

संलक्ष्यते पवनवेगचलैः पयोदै
राजेव चामरशतैरुपवीज्यमानः ॥ ४ ॥

भिन्नाञ्जनप्रचयकान्ति नभो मनोज्ञं
बन्धूकपुष्परजसाऽरुणिता च भूमिः ।
वप्राश्च पक्वकलमावृतभूमिभागाः
प्रोत्कण्ठयन्ति न मनो भुवि कस्य यूनः ॥ ५ ॥

मन्दानिलाकुलितचारुतराग्रशाखः
पुष्पोद्गमप्रचयकोमलपल्लवाग्रः ।
मत्तद्विरेफपरिपीतमधुप्रसेक-
श्चित्तं विदारयति कस्य न कोविदारः ॥ ६ ॥

तारागणप्रवरभूषणमुद्वहन्ती
मेघावरोधपरिमुक्तशशाङ्कवक्त्रा ।
ज्योत्स्नादुकूलममलं रजनी दधाना
वृद्धिं प्रयात्यनुदिनं प्रमदेव बाला ॥ ७ ॥

कारण्डवाननविघट्टितवीचिमालाः
कादम्बसारसकुलाकुलतीरदेशाः ।
कुर्वन्ति हंसविरुतैः परितो जनस्य
प्रीतिं सरोरुहरजोरुणितास्तटिन्यः ॥ ८ ॥

नेत्रोत्सवो हृदयाहारिमरीचिमालः
प्रह्लादकः शिशिरशीकरवारिवर्षी ।
पत्युर्वियोगविषदिग्धशरक्षतानां
चन्द्रो दहत्यतितरां तनुमङ्गनानाम् ॥ ९ ॥

आकम्पयन्फलभरानतशालिजाला-
न्यानर्तयँस्तरुवरान्कुसुमावनम्रान् ।
उत्फुल्लपङ्कजवनां नलिनीं विधुन्व-
न्यूनां मनश्चलयति प्रसभं नभस्वान् ॥१०॥

सोन्मादहंसमिथुनैरुपशोभितानि
स्वच्छप्रफुल्लकमलोत्पलभूषितानि ।
मन्दप्रभातपवनोद्गतवीचिमाला-
न्युत्कण्ठयन्ति सहसा हृदयं सरांसि ॥११॥

नष्टं धनुर्बलभिदो जलदोदरेषु
सौदामिनी स्फुरति नाद्य वियत्पताका ।
धुन्वन्ति पक्षपवनैर्न नभो बलाकाः
पश्यन्ति नोन्नतमुखा गगनं मयूराः ॥१२॥

नृत्यप्रयोगरहिताञ्शिखिनो विहाय
हंसानुपैति मदनो मधुरप्रगीतान् ।
मुक्त्वा कदम्बकुटजार्जुनसर्जनीपा-
न्सप्तच्छदानुपगता कुसुमोद्गमश्रीः ॥१३॥

शेफालिकाकुसुमगन्धमनोहराणि
स्वस्थस्थिताण्डजकुलप्रतिनादितानि ।
पर्यन्तसंस्थितमृगीनयनोत्पलानि
प्रोत्कण्ठयन्त्युपवनानि मनांसि पुंसाम् ॥१४॥

कह्लारपद्मकुमुदानि मुहुर्विधुन्वँ-
स्तत्संगमादधिकशीतलतामुपेतः ।

उत्कण्ठयत्यतितरां पवनः प्रभाते
पत्रान्तलग्नतुहिनाम्बुविधूयमानः ॥१५॥

संपन्नशालिनिचयावृतभूतलानि
स्वस्थस्थितप्रचुरगोकुलशोभितानि ।
हंसैः ससारसकुलैः प्रतिनादितानि
सीमान्तराणि जनयन्ति नृणां प्रमोदम् ॥१६॥

हंसैर्जिता सुललिता गतिरङ्गनाना-
मम्भोरुहैर्विकसितैर्मुखचन्द्रकान्तिः ।
नीलोत्पलैर्मदकलानि विलोचनानि
भ्रूविभ्रमाश्च रुचिरास्तनुभिस्तरङ्गैः ॥१७॥

श्यामा लताः कुसुमभारनतप्रवालाः
स्त्रीणां हरन्ति धृतभूषणबाहुकान्तिम् ।
दन्तावभासविशदस्मितचन्द्रकान्तिं
कङ्केलिपुष्परुचिरा नवमालती च ॥१८॥

केशान्नितान्तघननीलविकुञ्चिताग्रा-
नापूरयन्ति वनिता नवमालतीभिः ।
कर्णेषु च प्रवरकाञ्चनकुण्डलेषु
नीलोत्पलानि विविधानि निवेशयन्ति ॥१९॥

हारैः सचन्दनरसैः स्तनमण्डलानि
श्रोणीतटं सुविपुलं रसनाकलापैः ।
पादाम्बुजानि कलनूपुरशेखरैश्च
नार्यः प्रहृष्टमनसोऽद्य विभूषयन्ति ॥२०॥

स्फुटकुमुदचितानां राजहंसाश्रितानां
मरकतमणिभासा वारिणा भूषितानाम् ।
श्रियमतिशयरूपां व्योम तोयाशयानां
वहति विगतमेघं चन्द्रताराबकीर्णम् ॥२१॥

शरदि कुमुदसङ्गाद्वायवो वान्ति शीता
विगतजलदवृन्दा दिग्विभागा मनोज्ञाः ।
विगतकलुषमम्भः श्यानपङ्का धरित्री
विमलकिरणचन्द्रं व्योम ताराविचित्रम् ॥२१॥

* करकमलमनोज्ञाः कान्तसंसक्तहस्ता
वदनविजितचन्द्राः काश्चिदन्यास्तरुण्यः ।
रचितकुसुमगन्धि प्रायशो यान्ति वेश्म
प्रबलमदनहेतोस्त्यक्तसंगीतरागाः ॥२३॥

* सुरतरुसविलासाः सत्सखीभिः समेता
असमशरविनोदं सूचयन्ति प्रकामम् ।
अनुपमसुखरागा रात्रिमध्ये विनोदं
शरदि तरुणकान्ताः सूचयन्ति प्रमोदान् ॥२४॥

दिवसकरमयूखैर्बोध्यमानं प्रभाते
वरयुवतिमुखाभं पङ्कजं जृम्भतेऽद्य ।
कुमुदमपि गतेऽस्तं लीयते चन्द्रबिम्बे
हसितमिव वधूनां प्रोपितेषु प्रियेषु ॥२५॥

असिततनयनलक्ष्मीं लक्षयित्वोत्पलेषु
क्वणितकनककाञ्चीं मत्तहंसस्वनेषु ।

अधररुचिरशोभां बन्धुजीवे प्रियाणां
पथिकजन इदानीं रोदिति भ्रान्तचित्तः ॥२६॥

स्त्रीणां विहाय वदनेषु शशाङ्कलक्ष्मीं
काम्यं च हंसवचनं मणिनूपुरेषु ।
बन्धूककान्तिमधरेषु मनोहरेषु
क्वापि प्रयाति सुभगाशरदागमश्रीः ॥२७॥

विकचकमलवक्त्रा फुल्लनीलोत्पलाक्षी
विकसितनवकाशश्वेतवासो वसाना ।
कुमुदरुचिरकान्तिः कामिनीवोन्मदेयं
प्रतिदिशतु शरद्वश्चेतसः प्रीतिमग्र्याम् ॥२८॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ ऋतुसंहारे
शरद्वर्णनं नाम तृतीयः सर्गः ॥



चतुर्थः सर्गः

हेमन्तवर्णनम्

नवप्रवालोद्गमसस्यरम्यः प्रफुल्ललोध्रः परिपक्वशालिः ।
विलीनपद्मः प्रपतत्तुषारो हेमन्तकालः समुपागतोऽयम् ॥ १ ॥
मनोहरैश्चन्दनरागगौरैस्तुषारकुन्देन्दुनिभैश्च हारैः ।
विलासिनीनां स्तनशालिनीनां नालंक्रियन्ते स्तनमण्डलानि ॥ २ ॥
न बाहुयुग्मेषु विलासिनीनां प्रयान्ति सङ्गं वलयाङ्गदानि ।
नितम्बबिम्बेषु नवं दुकूलं तन्वंशुकं पीनपयोधरेषु ॥ ३ ॥
काञ्चीगुणैः काञ्चनरत्नचित्रैर्नो भूषयन्ति प्रमदा नितम्बान् ।
न नूपुरैर्हंसरुतं भजद्भिः पादाम्बुजान्यम्बुजकान्तिभाञ्जि ॥ ४ ॥
गात्राणि कालीयकचर्चितानि सपत्रलेखानि मुखाम्बुजानि ।
शिरांसि कालागुरुधूपितानि कुर्वन्ति नार्यः सुरतोत्सवाय ॥ ५ ॥
रतिश्रमक्षामविपाण्डुवक्त्राः संप्राप्तहर्षाभ्युदयास्तरुण्यः ।
हसन्ति नोच्चैर्दशनाग्रभिन्नान्प्रपीड्यमानानधरानवेक्ष्य ॥ ६ ॥
पीनस्तनोरःस्थलभागशोभामासाद्य तत्पीडनजातखेदः ।
तृणाग्रलग्नैस्तुहिनैः पतद्भिराक्रन्दतीवोषसि शीतकालः ॥ ७ ॥

प्रभूतशालिप्रसवैश्चितानि मृगाङ्गनायूथविभूषितानि ।
मनोहरक्रौञ्चनिनादितानि सीमान्तराण्युत्सुकयन्ति चेतः ॥ ८ ॥

प्रफुल्लनीलोत्पलशोभितानि सोन्मादकादम्बविभूषितानि ।
प्रसन्नतोयानि सुशीतलानि सरांसि चेतांसि हरन्ति पुंसाम् ॥ ९ ॥

*मार्गं समीक्ष्यातिनिरस्तनीरं प्रवासखिन्नं पतिमुद्वहन्त्यः ।
अवेक्ष्यमाणा हरिणेक्षणाक्ष्यः प्रबोधयन्तीव मनोरथानि ॥१०॥

पाकं व्रजन्ती हिमजातशीतैराधूयमाना सततं मरुद्भिः ।
प्रिये प्रियङ्गुः प्रियविप्रयुक्ता विपाण्डुतां याति विलासिनीव ॥११॥

पुष्पासवामोदसुगन्धिवक्त्रो निःश्वासवातैः सुरभीकृताङ्गः ।
परस्पराङ्गव्यतिषङ्गशायी शेते जनः कामरसानुविद्धः ॥१२॥

दन्तच्छदैः सव्रणदन्तचिह्नैः स्तनैश्च पाण्यग्रकृताभिलेखैः ।
संसूच्यते निर्दयमङ्गनानां रतोपभोगो नवयौवनानाम् ॥१३॥

काचिद्विभूषयति दर्पणसक्तहस्ता
बालातपेषु वनिता वदनारविन्दम् ।
दन्तच्छदं प्रियतमेन निपीतसारं
दन्ताग्रभिन्नमवकृष्य निरीक्षते च ॥ १४ ॥

अन्या प्रकामसुरतश्रमखिन्नदेहा
रात्रिप्रजागरविपाटलनेत्रपद्मा ।
स्रस्तांसदेशलुलिताकुलकेशपाशा
निद्रां प्रयाति मृदुसूर्यकराभितप्ता ॥ १५ ॥

निर्माल्यदाम परिभुक्तमनोज्ञगन्धं
मूर्ध्नोऽपनीय घननीलशिरोरुहान्ताः ।

पीनोन्नतस्तनभरानतगात्रयष्ट्यः
कुर्वन्ति केशरचनामपरास्तरुण्यः ॥ १६ ॥

अन्या प्रियेण परिभुक्तमवेक्ष्य गात्रं
हर्षान्विता विरचिताधरचारुशोभा ।
कूर्पासकं परिदधाति नखक्षताङ्गी
व्यालम्बिनीललितालककुञ्चिताक्षी ॥ १७ ॥

अन्याश्चिरं सुरतकेलिपरिश्रमेण
खेदं गताः प्रशिथिलीकृतगात्रयष्ट्यः ।
संहृष्यमाणपुलकोरुपयोधरान्ता
अभ्यञ्जनं विदधति प्रमदाः सुशोभाः ॥ १८ ॥

बहुगुणरमणीयो योषितां चित्तहारी
परिणतबहुशालिव्याकुलग्रामसीमा ।
विनिपतिततुषारः क्रौञ्चनादोपगीतः
प्रदिशतु हिमयुक्तस्त्वेष कालः सुखं वः ॥ १९ ॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ ऋतुसंहारे
हेमन्तवर्णनं नाम चतुर्थः सर्गः ॥



पञ्चमः सर्गः

शिशिर-वर्णनम्

प्ररूढशालीक्षुचयावृतक्षितिं क्वचित्स्थितक्रौञ्चनिनादराजितम् ।
प्रकामकामं प्रमदाजनप्रियं वरोरु कालं शिशिराह्वयं शृणु ॥१॥
निरुद्धवातायनमन्दिरोदरं हुताशनो भानुमतो गभस्तयः ।
गुरूणिवासांस्यबलाःसयौवनाःप्रयान्ति कालेऽत्र जनस्य सेव्यताम्॥२॥
न चन्दनं चन्द्रमरीचिशीतलं न हर्म्यपृष्ठं शरदिन्दुनिर्मलम् ।
न वायवः सान्द्रतुषारशीतला जनस्य चित्तं रमयन्ति सांप्रतम् ॥३॥
तुषारसंघातनिपातशीतलाः शशाङ्कभाभिः शिशिरीकृताः पुनः ।
विपाण्डुतारागणचारुभूषणा जनस्य सेव्या न भवन्ति रात्रयः ॥४॥
गृहीतताम्बूलविलेपनस्रजः पुष्पासवामोदितवक्त्रपङ्कजाः ।
प्रकामकालागुरुधूपवासितं विशन्ति शय्यागृहमुत्सुकाः स्त्रियः ॥५॥
कृतापराधान्बहुशोऽभितर्जितान्सवेपथून्साध्वसलुप्तचेतसः ।
निरीक्ष्य भर्तॄन्सुरताभिलाषिणः स्त्रियोऽपराधान्समदा विसस्मरुः॥६॥
प्रकामकामैर्युवभिः सुनिर्दयं निशासु दीर्घास्वभिरामिताश्चिरम् ।
भ्रमन्ति मन्दं श्रमखेदितोरवः क्षपावसाने नवयौवनाः स्त्रियः ॥७॥

मनोज्ञकूर्पासकपीडितस्तनाः सरागकौशेयकभूषितोरवः ।
निवेशितान्तः कुसुमैः शिरोरुहैर्विभूषयन्तीव हिमागमं स्त्रियः ॥८॥

पयोधरैः कुङ्कुमरागपिञ्जरैः सुखोपसेव्यैर्नवयौवनोष्मभिः ।
विलासिनीभिः परिपीडितोरसः स्वपन्ति शीतं परिभूय कामिनः ॥९॥

सुगन्धिनिःश्वासविकम्पितोत्पलं मनोहरं कामरतिप्रबोधकम् ।
निशासु हृष्टाः सह कामिभिः स्त्रियः पिबन्ति मद्यं मदनीयमुत्तमम् ॥१०॥

अपगतमदरागा योषिदेका प्रभाते कृतनिबिडकुचाग्रा पत्युरालिङ्गनेन ।
प्रियतमपरिभुक्तं वीक्षमाणा स्वदेहं व्रजति शयनवासाद्वासमन्यं हसन्ती॥

अगुरुसुरभिधूपामोदितं केशपाशं गलितकुसुममालं कुञ्चिताग्रं वहन्ती ।
त्यजति गुरुनितम्बा निम्ननाभिःसुमध्या
उषसि शयनमन्या कामिनी चारुशोभा ॥१२॥

कनककमलकान्तैश्चारुताम्राधरोष्ठैः श्रवणतटनिषक्तैःपाटलोपान्तनेत्रैः
उषसि वदनबिम्बैरंससंसक्तकेशैः श्रिय इव गृहमध्ये संस्थिता योषितोऽद्य।

पृथुजघनभरार्ताः किंचिदानम्रमध्याः स्तनभरपरिखेदान्मंदमंदं व्रजन्त्यः।
सुरतसमयवेषं नैशमाशु प्रहाय दधति दिवसयोग्यं वेषमन्यास्तरुण्यः१४॥

नखपदचितभागान्वीक्षमाणाः स्तनान्ता-
नधरकिसलयाग्रं दन्तभिन्नं स्पृशन्त्यः ।
अभिमतरतवेषं नन्दयन्त्यस्तरुण्यः सवितुरुदयकाले भूषयन्त्याननानि॥

प्रचुरगुडविकारः स्वादुशालीक्षुरम्यः प्रबलसुरतकेलिर्जातकन्दर्पदर्पः ।
प्रियजनरहितानां चित्तसंतापहेतुःशिशिरसमय एष श्रेयसे वोऽस्तु नित्यम्

इति महाकविश्रीकालिदासविरचिते ऋतुसंहारकाव्ये
शिशिरवर्णनं नाम पञ्चमः सर्गः ॥

षष्ठः सर्गः

वसन्त-वर्णनम्

प्रफुल्लचूताङ्कुरतीक्ष्णसायको द्विरेफमालाविलसद्धनुर्गुणः ।
मनांसि भेत्तुं सुरतप्रसङ्गिनां वसन्तयोद्धा समुपागतः प्रिये ॥१॥
द्रुमाः सपुष्पाः सलिलं सपद्मं स्त्रियः सकामाः पवनः सुगन्धिः ।
सुखाः प्रदोषा दिवसाश्च रम्याः सर्वं प्रिये चारुतरं वसन्ते ॥२॥
*ईषत्तुषारैः कृतशीतहर्म्यं सुवासितं चारु शिरश्च चम्पकैः ।
कुर्वन्ति नार्योऽपि वसन्तकाले स्तनं सहारं कुसुमैर्मनोहरैः ॥३॥
वापीजलानां मणिमेखलानां शशाङ्कभासां प्रमदाजनानाम् ।
चूतद्रुमाणां कुसुमान्वितानां ददाति सौभाग्यमयं वसन्तः ॥४॥
कुसुम्भरागारुणितैर्दुकूलैर्नितम्बबिम्बानि विलासिनीनाम् ।
तन्वंशुकैः कुङ्कुमरागगौरैरलंक्रियन्ते स्तनमण्डलानि ॥५॥
कर्णेषु योग्यं नवकर्णिकारं चलेषु नीलेष्वलकेष्वशोकम् ।
पुष्पं च फुल्लं नवमल्लिकायाः प्रयान्ति कान्तिं प्रमदाजनानाम् ॥६॥
स्तनेषु हाराः सितचन्दनार्द्रा भुजेषु सङ्गं वलयाङ्गदानि ।
प्रयान्त्यनङ्गातुरमानसानां नितम्बिनीनां जघनेषु काञ्च्यः ॥७॥

सपत्रलेखेषु विलासिनीनां वक्त्रेषु हेमाम्बुरुहोपमेषु ।
रत्नान्तरे मौक्तिकसङ्गरम्यः स्वेदागमो विस्तरतामुपैति ॥८॥

उच्छ्वासयन्त्यः श्लथबन्धनानि गात्राणि कंदर्पसमाकुलानि ।
समीपवर्तिष्वधुना प्रियेषु समुत्सुका एव भवन्ति नार्यः ॥९॥

तनूनि पाण्डूनि मदालसानि मुहुर्मुहुर्जृम्भणतत्पराणि ।
अङ्गान्यनङ्गः प्रमदाजनस्य करोति लावण्यससंभ्रमाणि ॥१०॥

* छायां जनः समभिवाञ्छति पादपानां
नक्तं तथेच्छति पुनः किरणं सुधांशोः ।
हर्म्यं प्रयाति शयितुं सुखशीतलं च
कान्तां च गाढमुपगूहति शीतलत्वात् ॥११॥

नेत्रेषु लोलो मदिरालसेषु गण्डेषु पाण्डुः कठिनः स्तनेषु ।
मध्येषु निम्नो जघनेषु पीनः स्त्रीणामनङ्गो बहुधा स्थितोऽद्य ॥१२॥

अङ्गानि निद्रालसविभ्रमाणि वाक्यानि किंचिन्मदिरालसानि ।
भ्रूक्षेपजिह्मानि च वीक्षितानि चकार कामः प्रमदाजनानाम् ॥१३॥

प्रियङ्गुकालीयककुङ्कुमाक्तं स्तनेषु गौरेषु विलासिनीभिः ।
आलिप्यते चन्दनमङ्गनाभिर्मदालसाभिर्मृगनाभियुक्तम् ॥१४॥

गुरूणि वासांसि विहाय तूर्णं तनूनि लाक्षारसरञ्जितानि ।
सुगन्धिकालागुरुधूपितानि धत्ते जनः काममदालसाङ्गः ॥१५॥

पुंस्कोकिलश्चूतरसासवेन मत्तः प्रियां चुम्बति रागहृष्टः ।
कूजद्द्विरेफोऽप्ययमम्बुजस्थः प्रियं प्रियायाः प्रकरोति चाटु ॥१६॥

ताम्रप्रवालस्तबकावनम्राश्चूतद्रुमाः पुष्पितचारुशाखाः ।
कुर्वन्ति कामं पवनावधूताः पर्युत्सुकं मानसमङ्गनानाम् ॥१७॥

आ मूलतो विद्रुमरागताम्रं सपल्लवाः पुष्पचयं दधानाः ।
कुर्वन्त्यशोका हृदयं सशोकं निरीक्ष्यमाणा नवयौवनानाम् ॥१८॥

मत्तद्विरेफपरिचुम्बितचारुपुष्पा
मन्दानिलाकुलितनम्रमृदुप्रवालाः ।
कुर्वन्ति कामिमनसां सहसोत्सुकत्वं
बालातिमुक्तलतिकाः समवेक्ष्यमाणाः ॥१९॥

कान्तामुखद्युतिजुषामचिरोद्गतानां
शोभां परां कुरबकद्रुममञ्जरीणाम् ।
दृष्ट्वा प्रिये सहृदयस्य भवेन्न कस्य
कंदर्पबाणपतनव्यथितं हि चेतः ॥२०॥

आदीप्तवह्निसदृशैर्मरुताऽवधूतैः
सर्वत्र किंशुकवनैः कुसुमावनम्रैः ।
सद्यो वसन्तसमयेन समाचितेयं
रक्तांशुका नववधूरिव भाति भूमिः ॥२१॥

किं किंशुकैः शुकमुखच्छविभिर्न भिन्नं
किं कर्णिकारकुसुमैर्न कृतं नु दग्धम् ।
यत्कोकिलः पुनरयं मधुरैर्वचोभि-
र्यूनां मनः सुवदनानिहितं निहन्ति ॥२२॥

पुंस्कोकिलैः कलवचोभिरुपात्तहर्षैः
कूजद्भिरुन्मदकलानि वचांसि भृङ्गैः ।
लज्जान्वितं सविनयं हृदयं क्षणेन
पर्याकुलं कुलगृहेऽपि कृतं वधूनाम् ॥२३॥

आकम्पयन्कुसुमिताः सहकारशाखा
विस्तारयन्परभृतस्य वचांसि दिक्षु ।
वायुर्विवाति हृदयानि हरन्नराणां
नीहारपातविगमात्सुभगो वसन्ते ॥२४॥

कुन्दैः सविभ्रमवधूहसितावदातै-
रुद्योतितान्युपवनानि मनोहराणि ।
चित्तं मुनेरपि हरन्ति निवृत्तरागं
प्रागेव रागमलिनानि मनांसि यूनाम् ॥२५॥

आलम्बिहेमरसनाः स्तनसक्तहाराः
कंदर्पदर्पशिथिलीकृतगात्रयष्ट्यः ।
मासे मधौ मधुरकोकिलभृङ्गनादै-
र्नार्यो हरन्ति हृदयं प्रसभं नराणाम् ॥२६॥

नानामनोज्ञकुसुमद्रुमभूषितान्ता-
न्हृष्टान्यपुष्टनिनदाकुलसानुदेशान् ।
शैलेयजालपरिणद्धशिलातलान्ता-
न्दृष्ट्वा जनः क्षितिभृतो मुदमेति सर्वः ॥२७॥

नेत्रे निमीलयति रोदिति याति शोकं
घ्राणं करेण विरुणद्धि विरौति चोच्चैः ।
कान्तावियोगपरिखेदितचित्तवृत्ति-
र्दृष्ट्वाऽध्वगः कुसुमितान्सहकारवृक्षान् ॥२८॥

समदमधुकराणां कोकिलानां च नादैः
कुसुमितसहकारैः कर्णिकारैश्च रम्यः ।

इषुभिरिव सुतीक्ष्णैर्मानसं मानिनीनां
तुदति कुसुममासो मन्मथोद्दीपनाय ॥२९॥

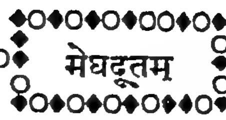
* रुचिरकनककान्तीन्मुञ्चतः पुष्पराशी-
न्मृदुपवनविधूतान्पुष्पिताँश्चूतवृक्षान् ।
अभिमुखमभिवीक्ष्य क्षामदेहोऽपि मार्गे
मदनशरनिघातैर्मोहमेति प्रवासी ॥३०॥

* परभृतकलगीतैर्ह्लादिभिः सद्वचांसि
सितदशनमयूखान्कुन्दपुष्पप्रभाभिः ।
करकिसलयकान्तिं पल्लवैर्विद्रुमाभै-
रुपहसति वसन्तः कामिनीनामिदानीम् ॥३१॥

* कनककमलकान्तैराननैः पाण्डुगण्डै-
रुपरिनिहितहारैश्चन्दनार्द्रैः स्तनान्तैः ।
मदजनितविलासैर्दृष्टिपातैर्मुनीन्द्रा-
न्स्तनभरनतनार्यः कामयन्ति प्रशान्ताम् ॥३२॥

* मधुसुरभि मुखाब्जं लोचने लोध्रताम्रे
नवकुरवकपूर्णः केशपाशो मनोज्ञः ।
गुरुतरकुचयुग्मं श्रोणिबिम्बं तथैव
न भवति किमिदानीं योषितां मन्मथाय ॥३३॥

* आकम्पितानि हृदयानि मनस्विनीनां
वातैः प्रफुल्लसहकारकृताधिवासैः ।
उत्कूजितैः परभृतस्य मदाकुलस्य
श्रोत्रप्रियैर्मधुकरस्य च गीतनादैः ॥३४॥



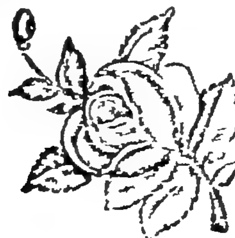
* रम्यः प्रदोषसमयः स्फुटचन्द्रभासः
पुंस्कोकिलस्य विरुतं पवनः सुगन्धिः ।
मत्तालियूथविरुतं निशि सीधुपानं
सर्वं रसायनमिदं कुसुमायुधस्य ॥३५॥

* रक्ताशोकविकल्पिताधरमधुर्मत्तद्विरेफस्वनः
कुन्दापीडविशुद्धदन्तनिकरः प्रोत्फुल्लपद्माननः ।
चूतामोदसुगन्धिमन्दपवनः शृङ्गारदीक्षागुरुः
कल्पान्तं मदनप्रियो दिशतु वः पुष्पागमो मङ्गलम् ॥३६॥

* मलयपवनविद्धः कोकिलालापरम्यः
सुरभिमधुनिषेकाल्लब्धगन्धप्रबन्धः ।
विविधमधुपयूथैर्वेष्ट्यमानः समन्ता-
द्भवतु तव वसन्तः श्रेष्ठकालः सुखाय ॥३७॥

आम्री मञ्जुलमञ्जरी वरशरः सत्किंशुकं यद्धनु-
र्ज्या यस्यालिकुलं कलङ्करहितं छत्रं सितांशुः सितम् ।
मत्तेभो मलयानिलः परभृता यद्वन्दिनो लोकजि-
त्सोऽयं वो वितरीतरीतु वितनुर्भद्रं वसन्तान्वितः ॥३८॥

इति महाकविश्रीकालिदासविरचिते ऋतुसंहारकाव्ये
वसन्तवर्णन नाम षष्ठः सर्गः ।



पहला खंड

महाकवि कालिदासके

काव्योंका

नागरी भाषामें अनुवाद

॥ श्रीगणेशजीको प्रणाम ॥

रघुवंश

पहला सर्ग

वाणी और अर्थ जैसें अलग कहलाते हुएभी एक ही हैं, वैसे ही पार्वतीजी और शिवजी भी कहने को दो रूप हैं, पर हैं वे सचमुच एक ही। इसलिये वाणी और अर्थको अपनानेके लिये, उनको ठीक समझने और उनका ठीक व्यवहार करनेके लिये मैं संसारके माता-पिता पार्वतीजी और शिवजीको प्रणाम करता हूँ जो शब्द और अर्थके समान एक रूप हैं ॥ १ ॥

मैं रघुवंशका वर्णन करने तो बैठा हूँ पर मैं देख रहा हूँ कि कहाँ तो सूर्यसे उत्पन्न हुआ वह तेजस्वी वंश जिसमें रघु और राम जैसे पराक्रमी उत्पन्न हुए हों और कहाँ मोटी बुद्धिवाला मैं। मैं यह भली भाँति जानता हूँ कि मैं रघुवंशका पार नहीं पा सकता फिर भी मेरी मूर्खता तो देखिए कि तिनकों से बनी छोटी सी नाव लेकर अपार समुद्रको पार करनेकी बात सोच रहा हूँ ॥ २ ॥ देखिए, मैं हूँ तो मूर्ख, पर मेरी साध यह है कि बड़े-बड़े कवियों में मेरी गिनती हो। यह सुनकर लोग मुझपर अवश्य हँसेंगे, क्योंकि मेरी यह करनी

वैसी ही है जैसे कोई बौना अपने नन्हे नन्हें हाथ ऊपर उठाकर उन फलों को तोड़ना चाहता हो जहाँ केवल लम्बे हाथवालोंकी ही पहुँच हो सकती हो ॥ ३ ॥ पर मुझे एक बड़ा भारी भरोसा यह है कि वाल्मीकि आदि कवियों ने सूर्यवंशपर सुन्दर काव्य लिखकर, वाणीका द्वार पहले ही खोल दिया है। इसलिये उसमें पैठ जाना और उस वंशका फिरसे वर्णन करना मेरे लिये वैसा ही सरल हो गया है जैसे हीरेकी कनीसे बिंधे हुए मणिमें डोरा पिरोना ॥ ४ ॥

मैं जानता हूँ कि मुझे कुछ आता जाता नहीं है, फिर भी मैं उन प्रतापी रघुवंशियोंका वर्णन करने बैठा हूँ, जिनके चरित्र जन्मसे लेकर अन्तनक शुद्ध और पवित्र रहे, जो किसी कामको उठाकर उसे पूरा करके ही छोड़ते थे, जिनका राज्य समुद्रके ओर-छोरतक फैला हुआ था, जिनके रथ पृथ्वीसे सीधे स्वर्गतक जाया-आया करते थे, जो शास्त्रों के नियमके अनुसार ही यज्ञ करते थे, जो माँगने वालों को मन-चाहा दान देते थे, जो अपराधियों को अपराधके अनुसार ही दण्ड देते थे, जो अवसर देखकर ही काम करते थे, जो दान करनेके लिये ही धन बटोरते थे, जो सत्यकी रक्षाके लिये बहुत कम बोलते थे कि जितना कहें उतना कर भी दिखावें, जो दूसरों का राज हड़पने या लूटमार के लिये नहीं वरन् अपना यश बढ़ाने के लिये ही दूसरे देशों को जीतते थे, जो भोग-विलास के लिये नहीं वरन् सन्तान उत्पन्न करनेके लिये ही विवाह करते थे, जो बालकपन में पढ़ते थे, तरुणाई में संसारके भोगों का आनन्द लेते थे, बुढ़ापेमें मुनियों के समान जंगलों में रहकर तपस्या करते थे और अन्तमें परमात्माका ध्यान करते हुए अपना शरीर छोड़ते थे। सच पूछिए तो रघुवंशियों के ये गुण जब मेरे कानमें पड़े, तब इन्हों ने ही मुझे यह काव्य लिखनेकी ढिठाई करनेको उसकाया ॥ ५-६ ॥ इस काव्यको सुननेके अधिकारी भी वे ही सज्जन हैं जिन्हें भले-बुरे की अच्छी परख है क्योंकि सोनेका खरापन या खोटापन आगमें डालने पर ही जाना जाता है ॥ १० ॥

जैसे वेदके छन्दों में सबसे पहले ॐ है वैसे ही राजाओं में सबसे पहले सूर्यके पुत्र वैवस्वत मनु हुए जिनका आदर बड़े बड़े

विद्वान् लोग भी किया करते थे ॥ ११ ॥ उन्हीं वैवस्वत मनुके उज्ज्वल वंशमें राजाओंमें चन्द्रमाके समान सबको सुख देनेवाले तथा अत्यन्त शुद्ध चरित्रवाले राजा दिलीपने वैसे ही जन्म लिया जैसे क्षीरसागरमें चन्द्रमाने जन्म लिया था ॥ १२ ॥

राजा दिलीपका रूप देखने ही योग्य था। उनकी चौड़ी छाती, साँड़केसे ऊँचे और भारी कंधे, शालके वृक्ष जैसी लंबी भुजाएँ और अपार तेज देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो क्षत्रियोंका धर्म वीरत्व उनके शरीरमें यह समझकर आ डटा है कि सज्जनोंकी रक्षा और दुर्जनों के नाश करनेका जो मेरा काम है वह इस शरीरसे अवश्य पूरा हो सकेगा ॥ १३ ॥

जैसे सुमेरु पर्वतने अपनी दृढ़तासे संसारके सब दृढ़ पदार्थोंको दबा दिया है, अपनी चमकसे सब चमकीली वस्तुओंकी चमक घटा दी है, अपनी ऊँचाईसे सब ऊँची वस्तुओंको नीचा दिखा दिया है और अपने फैलावसे सारी पृथ्वीको ढक लिया है वैसे ही राजा दिलीपने भी अपने बल, तेज और डील-डौलवाले शरीरसे सबको नीचा दिखाकर सारी पृथ्वीको अपनी मुट्ठीमें कर लिया था ॥ १४ ॥

जैसा सुन्दर उनका रूप था, वैसी ही तीखी उनकी बुद्धि थी, जैसी तीखी बुद्धि थी वैसी ही शीघ्रता से उन्होंने सब शास्त्र पढ़ डाले थे। इसलिये वे शास्त्रके अनुसार ही किसी काममें हाथ डालते थे। फल यह होता था कि उन्हे वैसी ही बड़ी सफलता भी अवश्य हाथ लगती थी ॥ १५ ॥ जैसे घड़ियालों और मगरमच्छोंके डरसे लोग समुद्रमें पैठनेसे डरते हैं, वैसे ही राजा दिलीपसे भी उनके सेवक डरते थे क्योंकि वे न्यायमें बड़े कठोर थे और किसीका पक्षपात नहीं करते थे। किन्तु समुद्रके सुन्दर और मनोहर रत्नोंको पानेके लिये जैसे लोग समुद्रमें पैठ ही जाते हैं वैसे ही राजा दिलीप इतने दयालु, उदार और गुणशाली थे कि उनके सेवक उनकी कृपा पानेके लिये सदा उनका मुँह जोहते रहते थे ॥ १६ ॥ जैसे चतुर सारथी जब रथ चलाता है तब रथके पहिये बालभर भी लीकसे बाहर नहीं हो पाते वैसे ही राजा दिलीपने ऐसे अच्छे ढंगसे प्रजाकी देखभाल की थी कि प्रजाका कोई

भी व्यक्ति मनुके बताए हुए नियमोंसे बहक कर चलनेका साहस नहीं कर सकता था। सब लोग वर्ण और आश्रमोंके नियमोंके अनुसार ही अपने धर्मका पालन करते थे ॥ १७ ॥ जैसे सूर्य अपनी किरणोंसे पृथ्वीका जो जल सोखता है उसका सहस्रगुना बरसा देता है, वैसे ही राजा दिलीप भी अपनी प्रजासे जितना कर लेते थे वह सब प्रजाकी भलाईमें ही लगा देते थे ॥१८॥ जैसे और राजाओंके पास बड़ी भारी सेना होती थी वैसे ही राजा दिलीपके पास भी बड़ी भारी सेना थी पर वह सेना केवल शोभाके लिये ही थी उससे कोई काम राजा दिलीप नहीं लेते थे। शास्त्रोंका उन्हे बहुत अच्छा ज्ञान था, और धनुष चलानेमें भी वे एक ही थे। इसलिये वे अपना सब काम अपनी तीखी बुद्धि और धनुषपर चढ़ी हुई डोरी इन दो से ही निकाल लेते थे। उन्हें किसी काममें किसी औरकी सहायता नहीं लेनी पड़ती थी ॥ १९ ॥

राजा दिलीप न तो अपने मनका भेद किसीको बताते थे और न अपनी भावभंगीसे ही यह जानने देते थे कि वे क्या करनेवाले हैं। जैसे इस जन्ममें किसीके सुखी या दुखी जीवनको देखकर लोग समझते हैं कि उसने पिछले जन्ममें अच्छे या बुरे काम किए थे वैसे ही राजा दिलीपके मनकी बात भी लोग तभी जान पाते थे जब वह काम हो चुकता था, उससे पहले नहीं ॥ २० ॥ वे निडर होकर अपनी रक्षा करते थे, बड़े धीरजके साथ अपने धर्मका पालन करते थे, लोभ छोड़कर धन इकट्ठा करते थे और मोह छोड़कर संसारके सुख भोगते थे ॥२१॥

जो लोग बहुत लिख-पढ़ जाते हैं वे अपनी विद्याका ढिंढोरा पीटते हैं, जो बलवान होते हैं वे दूसरोंको सतानेमें अपनी बड़ाई समझते हैं, जो लोग दान देते हैं या किसीके लिये कुछ त्याग करते हैं तो यह चाहते हैं कि चारो ओर हमारा नाम हो। पर राजा दिलीप में यह बात नहीं थी। वे सब कुछ जानकर भी चुप रहते थे, शत्रुओंसे बदला लेनेकी शक्ति रहते हुए भी उन्हें क्षमा कर देते थे, और दान देकर या किसीके लिये त्याग करके भी अपनी प्रशंसा करानेकी इच्छा नहीं करते थे। उनके इस जगसे न्यारे व्यवहारको देखकर

यही जान पड़ता था कि चुप रहने, क्षमा करने और प्रशंसासे दूर भागनेके गुण भी उनमें ज्ञान, शक्ति और त्यागके साथ ही साथ उत्पन्न हुए थे ॥ २२ ॥ संसारके भोगोंको वे अपने पास नहीं फटकने देते थे, सारी विद्याओंको उन्होंने मुट्ठीमें कर लिया था और अपना जीवन वे दिनरात धर्मके कामों में ही लगाते थे। छोटी ही अवस्थामें वे इतने चतुर हो गए थे कि विना बुढ़ापा आए ही उनकी गिनती बड़े बूढ़ों में होने लगी ॥२३॥ जैसे पिता अपने पुत्रोंको बुरे काम करनेसे रोकता है, अच्छे काम करनेकी सीख देता है, सब प्रकारसे उनकी रक्षा करता है और उनको पाल पोसकर बड़ा करता है वैसे ही राजा दिलीप भी अपनी प्रजा को बुरे मार्गपर जानेसे रोकते थे, अच्छा काम करनेको उत्साहित करते थे, विपत्तियों से उनकी रक्षा करते थे और उनके लिये अन्न, वस्त्र, धन तथा शिक्षाका प्रबन्ध करके उनका पालन-पोषण करते थे। इस प्रकार वे ही अपनी प्रजाके सच्चे पिता थे, पिता कहलानेवाले और लोग तो केवल जन्म देने भरके पिता थे ॥ २४ ॥

अपराधीको दण्ड देना राजाका धर्म है। क्योंकि अपराधीको दंड दिए विना राज्य ठहर नहीं सकता, इसलिये वे अपराधियोंको उचित दंड देते थे। वंश चलाना भी मनुष्यका धर्म है। इसलिये सन्तान उत्पन्न करके वंश चलानेकी इच्छासे ही उन्होंने विवाह किया था, कोई भोग-विलासके लिये नहीं। इस प्रकार यद्यपि दंड और विवाह वास्तवमें अर्थशास्त्र और कामशास्त्रके विषय हैं फिर भी उनके हाथों में पहुँचकर ये धर्म ही वन गए थे ॥२५॥

राजा दिलीप प्रजासे जो कर लेते थे वह इन्द्रको प्रसन्न करनेके लिये यज्ञ में लगा देते थे क्योंकि उस समय यह विश्वास था कि यज्ञ करनेसे देवता प्रसन्न होते हैं और पुष्ट होते हैं। उधर इन्द्र भी इससे प्रसन्न होकर आकाशको दुहता था और जल बरसाता था जिससे खेत अन्नसे लद जाते थे। इस प्रकार राजा दिलीप और इन्द्र एक दूसरेकी सहायता करके दोनों लोकोंका पालन करते थे ॥२६॥

दिलीपको छोड़कर और कोई भी राजा अपनी प्रजाकी रक्षा करने में नाम न कमा सका क्योंकि सभीके यहाँ कभी-कभी चोरी डकैती हो ही जाती थी। पर राजा दिलीपका अपने राज्य में ऐसा दबदबा था कि चोरीका शब्द केवल कहने-सुननेको ही रह गया था, उस राज्य में कोई भी किसीका धन नहीं चुरा पाता था ॥२७॥

जैसे रोगी यह समझकर औषधको पी लेता है कि इससे मैं अच्छा हो जाऊँगा वैसे ही राजा दिलीप भी उन वैरियोंको अपना लेते थे जो भले होते थे और जैसे साँपके काटनेपर लोग अपनी उँगली भी काटकर फेंक देते हैं वैसे ही राजा दिलीप अपने उन सगे और प्यारे लोगोंको भी निकाल बाहर करते थे जो दुष्ट होते थे ॥ २८ ॥

ब्रह्माने निश्चय ही महाराज दिलीपको पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश इन पाँच तत्त्वों से ही बनाया था क्योंकि जैसे ये तत्त्व निरन्तर सारी सृष्टिकी गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द गुणों से सेवा करते हैं वैसे ही राजा दिलीपके सब गुणों से भी केवल दूसरोंका उपकार ही होता था ॥ २९ ॥

जैसे कोई राजा किसी ऐसी नगरीपर शासन करे जिसके चारों ओर परकोटा और खाई हो वैसे ही दिलीप इस पूरी पृथ्वीपर अकेले राज्य करते थे जिसका परकोटा समुद्रका तट था और जिसकी खाईका काम स्वयं समुद्र करता था ॥ ३० ॥

जैसे यज्ञकी पत्नी दक्षिणा प्रसिद्ध है वैसे ही मगधवंशमें उत्पन्न सुदक्षिणा नामकी उनकी पत्नी थी जो संसारमें अपनी चतुरताके लिये प्रसिद्ध थी ॥३१॥ वैसे तो राजा दिलीपकी बहुत सी रानियाँ थीं, पर वे यदि अपनेको स्त्रीवाला समझते थे तो लक्ष्मीके समान मनस्विनी केवल अपनी पत्नी सुदक्षिणाके कारण ही ॥ ३२ ॥

उनकी बड़ी इच्छा थी कि मेरी प्यारी पत्नीसे मेरे जैसा पुत्र हो, पर दिन बीतते चले जा रहे थे और मनकी साध पूरी नहीं हो पा रही थी ॥३३॥ तब उन्होंने निश्चय किया कि सन्तान उत्पन्न करने का कुछ उपाय करना ही चाहिए। उन्होंने पहला काम तो यह किया कि पृथ्वी पालनेका कुल भार अपने कंधोंसे उतारकर

मंत्रियोंको सौंप दिया ॥ ३४ ॥ राज्यकी चिन्तासे छुट्टी पाकर पवित्र मनसे राजा दिलीप और देवी सुदक्षिणाने पुत्रकी इच्छासे पहले ब्रह्माजीकी पूजा की, और फिर वे दोनों पति-पत्नी वहाँसे अपने कुलगुरु वशिष्ठजीके आश्रमकी ओर चले ॥ ३५ ॥

जिस रथपर वे दोनों बैठे हुए थे वह मीठी-मीठी घनघनाहट करता हुआ चला जा रहा था। उस पर बैठे हुए वे दोनों ऐसे जान पड़ते थे मानो वर्षाके बादलपर ऐरावत और बिजली दोनों चढ़े चले जा रहे हों ॥ ३६ ॥

उन्हों ने अपने साथ बहुतसे सेवक नहीं लिए थे क्योंकि उन्हें ध्यान था कि बहुत भीड़-भाड़ ले जानेसे आश्रमके काममें बाधा होगी, पर उनका प्रताप और तेज ही इतना अधिक था कि जान पड़ता था मानो साथमें बड़ी सेना चली जा रही है ॥३७॥

खुले मार्गमें सालकी गोंदकी गन्धमें बसा हुआ, फूलोंके पराग उड़ाता हुआ और वनके वृक्षों की पाँतोंको धीरे-धीरे कँपाता हुआ पवन उनके शरीरको सुख देता हुआ उनकी सेवा करता चल रहा था ॥ ३८ ॥

राजा दिलीप और देवी सुदक्षिणाने इधर-उधर दृष्टि घुमाई और देखा कि कहीं तो रथकी गड़गड़ाहट सुनकर बहुतसे मोर अपना मुँह इसलिये ऊपर उठाकर दुहरे मनोहर षड्ज शब्द सुना रहे हैं कि कहीं ऊपर बादल तो नहीं गरज रहे हैं ॥ ३९ ॥ कहीं वे देखते हैं कि हरिणोंके जोड़े मार्गसे कुछ हटकर रथकी ओर एकटक देख रहे हैं। उनकी सरल चितवनको देखकर राजा दिलीपने उन्हें सुदक्षिणाके नेत्रोंके समान समझा और सुदक्षिणाने राजा दिलीपके नेत्रोंके समान ॥ ४० ॥ कभी जब वे आँख उठाकर ऊपर देखते तो आकाशमें उड़ते हुए और मीठे बोलनेवाले बगुले भी उन्हें दिखाई पड़ जाते थे जो पाँत में उड़ते हुए ऐसे जान पड़ते थे मानो खम्भेके बिना ही वन्दनवार टँगी हुई हो ॥ ४१ ॥

पवन भी उनके अनुकूल चल रहा था और यह संकेत दे रहा था कि मनकी इच्छाएँ अवश्य पूरी होंगी। वह ऐसी दिशासे चल रहा था कि घोड़ों के खुरों से उठी हुई धूल न तो देवी सुदक्षिणाके

२

वालोंको छू पाती थी और न राजा दिलीपकी पगड़ीको ॥ ४२ ॥ मार्ग में जो ताल पड़ते थे उनमें लहरकी झकोरों से जो कमलोंकी ठंढी सुगन्ध उड़ती थी उसकी गन्ध लेते हुए वे चले जा रहे थे। वह सुगंध-भरा पवन उनकी साँसके समान ही सुगन्धित था ॥ ४३ ॥

जो गाँव उन्हों ने ब्राह्मणोंको दान कर दिए थे और जिनमें स्थान स्थानपर यज्ञके खम्भे खड़े हुए थे वहाँके ब्राह्मणों ने पहले तो अर्घ्य भेंट करके उनकी पूजा की और फिर उनको ऐसे आशीर्वाद दिए जो जो कभी निष्फल हो ही नहीं सकते थे ॥ ४४ ॥ गाँवों के जो बड़े बूढ़े घोसी, गायका तुरत निकाला हुआ मक्खन लेकर उनकी भेंट करनेको आते थे उनसे राजा दिलीप और रानी मार्गके वनों और वृक्षोंका नाम पूछते चलते थे ॥ ४५ ॥

जैसे चैतकी पूनोंके दिन चित्रा नक्षत्रके साथ उजला चन्द्रमा आँखोंको भला लगता है वैसे ही सुन्दरी सुदक्षिणाके साथ मार्गमें जाते हुए उजले वस्त्र पहने राजा दिलीप भी बड़े मनोहर लग रहे थे ॥ ४६ ॥

साँझ होते होते यशस्वी राजा दिलीप अपनी पत्नीके साथ संयमी महर्षि वशिष्ठजीके आश्रमतक पहुँच गए। इतने थोड़े समयमें इतनी दूरकी यात्रा करनेके कारण उनके घोड़े भी थक चुके थे ॥ ४७ ॥ ४८ ॥

वहाँ पहुचकर वे देखते हैं कि संध्याके अग्निहोत्रके लिये बहुतसे तपस्वी हाथमें समिधा कुशा और फल लिए हुए जंगलों से आश्रमको लौट रहे हैं ॥ ४९ ॥ बहुतसे मृग वहाँ आश्रममें इधर-उधर पर्णकुटियोंके द्वार रोके खड़े हुए थे क्योंकि उन्हें भी ऋषि पत्नियों के बच्चोंके समान तिन्नीके दाने खानेका अभ्यास पड़ गया था ॥ ५० ॥ ऋषि-कन्याएँ वृक्षोंकी जड़ों में पानी दे देकर वहाँसे हट गई थीं जिससे आश्रमके पक्षी उन वृक्षों के थाँवलोंका जल निडर होकर पी सकें ॥ ५१ ॥ धूपमें सुखानेके लिये जो तिन्नीका अन्न फैलाया हुआ था, वह दिन छिपते ही समेटकर कुटियाके आँगनमें ढेर लगा दिया गया था और वहीं आँगनमें बहुतसे हरिण सुखसे बैठकर जुगाली कर रहे थे ॥ ५२ ॥

हवन सामग्रीकी गंधसे भरे हुए अग्निहोत्रका धुआँके पवनके कारण चारो ओर फैल गया था और उस धुएँने आश्रमकी ओर आते हुए इन अतिथियोंको भी पवित्र कर दिया ॥ ५३ ॥

तब राजा दिलीपने अपने सारथीको आज्ञा दी कि घोड़ोंको खड़ा करो। फिर सहारा देकर पहले तो उन्होंने अपनी पत्नीको रथसे उतारा और फिर स्वयं भी रथसे उतर पड़े ॥ ५४ ॥

जब यह समाचार आश्रमवालोंको मिला तब वहाँके सभ्य संयमी मुनियोंने रक्षक, आदरणीय तथा शास्त्रके अनुसार चलनेवाले सपत्नीक राजा दिलीपका सम्मानके साथ स्वागत किया ॥५५ ॥

जब संध्याकी सब क्रियाएँ हो चुकीं तब उन्होंने तपस्वी महामुनि वशिष्ठको देखा जिनके पीछे देवी अरुन्धतीजी भी उसी प्रकार बैठी थीं जैसे अग्निके पीछे स्वाहा ॥ ५६ ॥

राजा दिलीप और मगधकी राजकुमारी सुदक्षिणाने उनके चरण छूकर प्रणाम किया और गुरु वशिष्ठ और उनकी पत्नीने बड़े दुलारसे उनका स्वागत किया ॥५७॥

पहले तो वशिष्ठजीने उनका इतना आतिथ्य-सत्कार किया कि रथकी हचकसे जो उन्हें थकावट हुई थी सब दूर हो गई और तब उन्होंने राजा दिलीपसे पूछा कि आपके राज्यमें सब कुशल तो है ॥ ५८ ॥

राजा दिलीपने जहाँ अपनी वीरतासे शत्रुओंके नगर जीते थे और धनपति बने थे वहाँ वे बातचीत करनेकी कलामें भी बड़े चतुर थे, इसलिये उन्होंने अथर्ववेदके रक्षक वशिष्ठजीके उत्तरमें बड़ी अर्थ भरी हुई वाणी में कहा ॥५९॥

आपकी कृपासे इस राज्यमे राजा, मंत्री, मित्र, राजकोष, राज्य, दुर्ग और सेना ये सातों अंग भरपूर हैं। अग्नि, जल, महामारी, अकाल और मृत्यु इन दैवी विपत्तियों और चोर, डाकू, शत्रु आदि मानुषी आपत्तियोंको दूर करनेवाले आप बैठे ही हैं ॥ ६० ॥ आप मन्त्रोंके रचयिता हैं। आपके मंत्र इतने शक्तिशाली हैं कि मुझे अपने बाण चलानेकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती, क्योंकि अपने बाणोंसे तो मैं केवल उन्हें ही बेध सकता हूँ जो मेरे आगे आते हैं, पर आपके मन्त्र तो दूरसे ही शत्रुओंको नष्ट कर देते हैं ॥ ६१ ॥

हे यज्ञ करनेवाले! आप जब शास्त्रीय विधिसे अग्नि में हवन करते हैं तो आपकी आहुतियाँ अनावृष्टिसे सूखे हुए धानके खेतोंपर जलवृष्टि हो कर बरसने लगती हैं ॥ ६२ ॥ यह आपके ब्रह्मतेजका ही तो बल है कि मेरी प्रजामें कोई भी न तो सौ बरस से कम आयु पाता और न किसीको बाढ़, सूखा, चूहा, तोता, राज-कलह, वैरीकी चढ़ाई आदि किसी प्रकारकी विपत्तिका डर रहता है ॥ ६३ ॥ जब आप स्वयं ब्रह्माके पुत्र ही हमारे कुलगुरु होकर सदा हमारे कल्याणकी बात सोचते रहते हैं तो हमारी सम्पत्ति निर्विघ्न क्यों न रहे ॥ ६४ ॥ पर देव! आपकी इतनी कृपा होते हुए भी जब मेरी इस पत्नीके गर्भसे मेरे समान तेजस्वी पुत्र नहीं हुआ तब रत्नोंको पैदा करने वाली, कई द्वीपों में फैली हुई, अपने राज्यकी यह पृथ्वी भी मुझे अच्छी नहीं लग रही है ॥ ६५ ॥ अब तो मुझे ऐसा जान पड़ने लगा है कि मेरे पीछे कोई मुझे पिण्ड देनेवाला भी नहीं रह जायगा। इसी दुःखसे हमारे पितर मेरे दिए हुए यज्ञान्नको भरपेट न खाकर उसका अधिक भाग आगेके लिये इकट्ठा करने लग गए हैं ॥ ६६ ॥ जब मैं तर्पणके समय जलदान देने लगता हूँ तब मेरे पितर यह सोचकर दुःखकी साँसें लेने लगते हैं कि मेरे पीछे उन्हें जल नहीं मिलेगा और फिर वे उन साँसों से गरम हुए जलको ही पी लेते हैं ॥ ६७ ॥ जिस प्रकार लोकालोक नामका पर्वत एक ओरसे सूर्यका प्रकाश पड़नेसे चमकता है और दूसरी ओर प्रकाश न पड़ने से अँधियारा रहता है, उसी प्रकार सदा यज्ञ करनेसे तो मेरा चित्त प्रसन्न रहता है किन्तु पुत्र न होनेसे सदा शोकसे भरा रहता है ॥६८॥ देव! तपस्या करनेसे और ब्राह्मणों तथा दीनोंको दान देनेसे जो पुण्य मिलता है वह केवल परलोकमें सुख देता है पर अच्छी सन्तान सेवा-सुश्रूषा करके इस लोकमें तो सुख देती ही है, साथ ही तर्पण और पिण्डदान आदि करके परलोकमें भी सुख देती है ॥ ६९ ॥ हे गुरुदेव! जैसे अपने हाथों से प्रेमसे सींचे हुए आश्रमके वृक्षमें फल लगता न देखकर बड़ा दुःख होता है वैसे ही जब आप मुझ कृपापात्रको सन्तानहीन देखते हैं तो क्या आपको दुःख नहीं होता ॥७०॥ हे भगवन्! जिस प्रकार हाथीको उसका खूँटा अत्यन्त कष्ट देता है

वैसे ही पुत्र न होनेके कारण जो पितरोंका भार मेरे सिर चढ़ रहा है वह भी मुझे बहुत पीड़ा दे रहा है ॥ ७१ ॥ इसलिये हे प्रभो! अब कोई ऐसा उपाय बताइए जिससे मेरे पुत्र-रत्न हो और मैं अपने पितृ-ऋणसे मुक्त हो जाऊँ क्यों कि इक्ष्वाकुवंशी राजाओंकी सभी कठिनाइयाँ आपकी कृपासे दूर हो जाती हैं ॥ ७२ ॥

राजाकी बात सुनकर वशिष्ठजीने अपनी आँखें बन्द करके क्षण-भरके लिये ध्यान लगाया। उस समय वे उस तालके समान स्थिर और निश्चल हो गए जिसकी सब मछलियाँ सो गई हों। ॥ ७३ ॥ वशिष्ठजीने अपने योगके बलसे ध्यान किया कि पवित्र आत्मावाले राजाको पुत्र क्यों नहीं हुआ और ध्यान कर चुकने पर वे राजाको समझाने लगे ॥ ७४ ॥

हे राजन्! बहुत दिन हुए, एक बार जब तुम स्वर्गसे इन्द्रकी सेवा करके पृथ्वीको लौट रहे थे तब मार्गमें कल्पवृक्षकी छायामें कामधेनु बैठी हुई थी ॥ ७५ ॥ उस समय तुम्हारी पत्नीने रजस्वला होनेपर स्नान किया था और तुम सोचते जा रहे थे कि यदि इस समय उसके साथ संभोग नहीं करूँगा तो गृहस्थका धर्म बिगड़ जायगा। इसी विचारमें पड़े रहनेके कारण तुमने कामधेनुकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया। यह काम तुमने ठीक नहीं किया, क्यों कि तुम्हें चाहिए था कि उसकी पूजा और प्रदक्षिणा करते ॥ ७६ ॥ इसीसे रुष्ट होकर कामधेनु गौने तुम्हे शाप दिया कि तुमने जो मेरा तिरस्कार किया है इसका दंड यही है कि जबतक तुम मेरी सन्तानकी सेवा नहीं करोगे, तबतक तुम्हे पुत्र नहीं होगा ॥ ७७ ॥ उस समय बड़े-बड़े मतवाले दिग्गज आकाशगंगामें खेलते हुए बहुत चिग्घाड़ रहे थे। इसलिये उस शापको न तो तुम ही सुन पाए न तुम्हारा सारथी ही ॥ ७८ ॥ इसलिये तुम्हारे पुत्र न होनेका कारण यही है कि तुमने कामधेनुका तिरस्कार किया है। देखो, जो पुरुष अपने पूज्यों की पूजा नहीं करता है उसके शुभ कार्योंमें विघ्न पड़ता ही है ॥ ७९ ॥ अब इस समय तो कामधेनु मिल नहीं सकती क्यों कि वरुणदेव पातालमें एक बहुत बड़ा यज्ञ कर रहे हैं। उस यज्ञमें आहुतिकी सामग्री देनेके लिये कामधेनु भी पाताल लोक गई है और

उस लोकके द्वारोंपर बड़े-बड़े विषधर सर्प रखवाले बैठे हैं ॥ ८० ॥ चाहिए तो यही था कि पहले तुम कामधेनुको ही प्रसन्न करते पर इस समय तो उनका दर्शन दुर्लभ है। इसलिये तुम उनकी पुत्री नन्दिनीको ही उनकी प्रतिनिधि समझ लो और अपनी रानीके साथ शुद्ध मनसे उसकी सेवा करो, क्योंकि यदि वह प्रसन्न हो जायगी तो वह तुरंत इच्छित फल अवश्य दे देगी ॥ ८१ ॥

इधर वशिष्ठजी यह कह ही रहे थे कि उनकी आहुतिके लिये घृत आदि जुटाने वाली सुन्दर नन्दिनी गौ वनसे लौटकर आ पहुँची ॥ ८२ ॥

नन्दिनीकी देह नये पत्तेके समान कोमल और लाल थी। उसके माथेपर भूरे बालोंकी टेढ़ी रेखा बनी हुई थी। इससे वह ऐसी जान पड़ती थी जैसे लाल संध्याके माथेपर द्वितीयाका चन्द्रमा चढ़ आया हो ॥ ८३ ॥

अपना बछड़ा देखते ही उसके कुंडके समान बड़े थनों से गरम गरम दूध निकलकर पृथ्वीपर टपकने लगा जो यज्ञके स्नानके जलसे भी अधिक पवित्र था ॥ ८४ ॥

नन्दिनीके आते समय उसके खुरों से उड़ी हुई धूलके लगनेसे राजा दिलीप वैसे ही पवित्र हो गए जैसे किसी तीर्थमें स्नान करके लौटे हों। शकुनके जाननेवाले तपस्वी वशिष्ठजीने जब उस गौको देखा जिसके दर्शनसे ही पुण्य मिलता है तब वे अपने यजमान उन राजा दिलीपसे बोले जो अपनी प्रार्थना सफल करानेके लिये वहाँ आए हुए थे ॥ ८६ ॥ हे राजन्! तुम्हारा मनोरथ बहुत शीघ्र ही पूरा होगा क्योंकि यह कल्याण करनेवाली नन्दिनी नाम लेते ही आ पहुँची है ॥ ८७ ॥

जैसे विद्यार्थी सब सुखोंको छोड़कर लगनसे विद्या प्राप्त कर लेता है वैसे ही यदि तुम भी सब भोगोंको छोड़कर कन्द-मूल-फल खाते हुए सदा इस गौकी सेवा करोगे तो यह तुमपर प्रसन्न होगी और तुम्हारी इच्छा पूरी करेगी ॥ ८८ ॥ जब यह चले तब तुम भी इसके पीछे पीछे चलना, जब खड़ी हो जाय तब तुम भी खड़े हो जाना, जब बैठे तब तुम भी बैठ जाना और जब यह पानी पीने लगे तभी

तुम भी पानी पीना ॥ ८६ ॥ तुम्हारी वधू सुदक्षिणाको चाहिए कि वह नित्य प्रातः काल बड़ी भक्तिसे इसकी पूजा करे और जब यह वनको जाने लगे तब ये तपोवनके बाड़ेतक उसके पीछे पीछे जायँ और सायंकाल लौटने समय वहीं से अगवानी करके उसे आश्रममें ले आवें ॥ ९० ॥ जबतक यह गौ प्रसन्न न हो जाय तबतक तुम इसी प्रकार इसकी सेवा करते रहो। ईश्वर करे तुम्हें कोई बाधा न हो और जिस प्रकार तुम अपने पिताके योग्य पुत्र हो वैसे ही तुम्हें भी सुयोग्य पुत्र प्राप्त हो ॥ ९१ ॥

राजा दिलीप यह सोचकर मनमें बहुत प्रसन्न हुए कि संध्याके समय हवनकी अग्निके सामने बैठकर वशिष्ठजीने जो कुछ कहा है वह अवश्य सत्य होगा। तब बड़ी नम्रतासे उन्हों ने वशिष्ठजीसे कहा कि हम ऐसा ही करेंगे और यह कहकर उन्हों ने और उनकी पत्नी ने गुरुजीसे इस व्रतके लिये आज्ञा ली ॥ ९२ ॥

रात हो चली थी। विद्वान्, सत्यवक्ता, ब्रह्माके पुत्र वशिष्टजीने राजा दिलीपको सोनेकी आज्ञा दे दी ॥ ९३ ॥

यद्यपि वशिष्टजी चाहते तो अपनी तपस्याके प्रभावसे राजा दिलीपके योग्य भोजन और सोनेका उचित प्रबन्ध कर देते पर वे व्रतके नियमोंको जानते थे इसलिये उन्हों ने राजाके व्रतके योग्य कन्दमूलके भोजन और कुशकी चटाईका ही प्रबंध किया था ॥९४॥

कुलपति वशिष्टजीने जो पर्णकुटी बताई उसीमें राजा दिलीप ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए रानी सुदक्षिणाके साथ कुशाकी चटाई पर ही सोए। प्रातःकाल वशिष्टजीने जब अपने शिष्योंको वेद पढ़ाना प्रारम्भ किया तब उसकी ध्वनि कानमें पड़ते ही राजा दिलीप उठ बैठे ॥ ९५ ॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यका वशिष्टके आश्रममें गमन नामका पहला सर्ग समाप्त हुआ ॥



दूसरा सर्ग

दूसरे दिन प्रातःकाल रानी सुदक्षिणाने पहले फूल माला-चन्दन लेकर नन्दिनीकी पूजा की, फिर जब नन्दिनीके बछड़ेने दूध पी लिया तब यशस्वी राजा दिलीपने उसे बाँध दिया और ऋषिकी गौको जंगलमें चरानेके लिये खोल दिया ॥ १ ॥

नन्दिनी चली जा रही थी और उसके खुरोंसे उड़ी हुई धूल मार्गको पवित्र कर रही थी। उसी मार्गमें नन्दिनीके पीछे पीछे चलती हुई उस समयकी पतिव्रताओंमें सर्वश्रेष्ठ रानी सुदक्षिणा ठीक वैसी ही लग रही थी जैसे श्रुतिके पीछे-पीछे स्मृति चली जा रही हो॥ २ ॥

कोमलहृदयवाले यशस्वी राजा दिलीपने आश्रमके द्वार परसे ही रानी सुदक्षिणाको लौटा दिया और अपने आप उस नन्दिनीकी रक्षा करने लगे जो ऐसी प्रतीत होती थी मानो साक्षात् पृथ्वीने ही गौका रूप धारण कर लिया हो और जिसके चारो थन ही पृथ्वीके चार समुद्र हों ॥ ३ ॥

राजा दिलीपने केवल रानीको ही नहीं वरन् सब नौकर-चाकरोंको भी लौटा दिया क्योंकि उन्होंने तो गौकी सेवाका व्रत ही ले

लिया था। रही अपने शरीरकी रक्षाकी बात, उसके लिये उन्होंने किसी सेवककी आवश्यकता नहीं समझी क्योंकि जिस राजाने मनुके वंशमें जन्म लिया हो वह अपनी रक्षा तो स्वयं कर ही सकता है ॥ ४ ॥

राजा दिलीप बड़ी लगनसे नन्दिनीकी सेवा करते थे। कभी तो वे उसे रसीली घासकी मुट्ठियाँ खिलाते थे, कभी उसकी देहको खुजलाते थे और कभी डाँस उड़ाते थे और वह जिधर भी जाना चाहती थी उधर उसे जाने देते थे ॥५॥ जब वह खड़ी होती तो राजा भी खड़े हो जाते थे और ज्योंही वह चलनेको पग बढ़ाती त्यों ही वे भी चल देते थे। वह बैठती तो ये भी बैठ जाते और जब वह जल पीनेकी इच्छा करती तभी राजाको भी प्यास लग आती थी। बस यह समझिए कि वे छायाके समान ही उसके पीछे पीछे चल रहे थे ॥ ६ ॥ किसी मतवाले हाथीके माथेसे मदकी धारा न भी निकलती हो तो भी उसको देखते ही उसके तेजका अनुमान हो जाता है। राजा दिलीपके साथ भी ठीक यही बात थी। उन्हों ने गौकी सेवाके व्रतके कारण यद्यपि छत्र चँवर आदि सब राजसी ठाट छोड़ दिए थे फिर भी उनके गठे हुए शरीर और मुखके तेजको देखकर कोई भी कह सकता था कि ये सम्राट ही हैं ॥ ७ ॥ उनके सिरकी लटें जंगलकी लताओंकी समान उलझ गई थीं। जब वे हाथमें धनुष लेकर जंगलमें घूमते थे तब उन्हें देखकर ऐसा लगता था मानो नन्दिनीकी रक्षाके बहाने वे जंगलके दुष्ट जीवोंको शान्त रहनेकी सीख दे रहे हों ॥ ८ ॥

मार्गके वृक्षोंपर अनेक मतवाले पक्षी चहचहा रहे थे। उनके कलरवको सुनकर ऐसा जान पड़ता था मानो मार्गके वृक्ष यह समझकर तेजस्वी राजा दिलीपकी जय जयकार कर रहे हों कि उनकी जय करनेवाला कोई भी सेवक उनके साथ नहीं है ॥९॥ जब वृक्षों ने राजाका सत्कार किया तब वनकी लताएँ ही क्यों पीछे रहें। इसलिये जिधर जिधर राजा दिलीप जाते थे उधर उधरकी लताएँ अग्निके समान तेजस्वी और पूजनीय राजा दिलीपके ऊपर उसी प्रकार फूलोंकी वर्षा कर रही थीं जिस प्रकार राजाके स्वागतमें नगरकी कन्याएँ राजाके ऊपर धानकी खीलें बरसाती हैं ॥ १० ॥

राजा दिलीपके हाथोंमें धनुष देखकर भी हरिणियाँ डरीं नहीं क्योंकि वे उन्हें देखते ही ताड़ गईं कि ये बड़े कोमल हृदय वाले हैं, बाण न चलायँगे। राजा दिलीपके सुन्दर शरीरको वे एकटक देखती ही रह गईं मानो नेत्रोंके बड़े होनेका उन्हें सच्चा फल प्राप्त हो गया हो॥ ११॥

राजा दिलीप सुन रहे थे कि वन-देवता वनकी कुंजोंमें ऊँचे स्वरसे उनका यश गा रहे हैं। उन वन-देवताओंके गीतके साथ वे बाँस भी मधुर बाँसुरी बजा रहे थे जिनके छेदोंमेंसे वायु भर जानेके कारण मधुर स्वर निकल रहे थे॥ १२॥

पहाड़ी झरनोंकी ठंडी फुहारोंसे लदा हुआ, और मन्द-मन्द कँपाए हुए वृक्षोंकी फूलोंके गन्धमें बसा हुआ वायु उन सदाचारी राजा दिलीपको ठंढक देता चल रहा था जिन्हें छत्र न होनेके कारण धूपसे कष्ट हो रहा था॥१३॥

राजा दिलीप प्रजापालक थे इसीलिये उनके जंगलमें पहुँचते ही वर्षाके बिना ही वनकी आग ठंढी हो गई, वहाँके पेड़ भी फल और फूलोंसे लद गए और वहाँके बड़े जीवोंने छोटे जीवोंको सताना भी छोड़ दिया॥१४॥

दिन ढलनेपर नये पत्तोंकी ललाईके सामने सूर्यकी ललाई चारों ओर फैलकर सब दिशाओंको पवित्र करके अब विश्राम करनेको लौट रही थी। उधर लाल रंगकी नन्दिनी भी अपने खुरोंके स्पर्शसे मार्गको पवित्र करती हुई तपोवनकी ओर लौट पड़ी॥१५॥ पृथ्वीका पालन करनेवाले राजा दिलीप भी वशिष्ठ ऋषिके यज्ञ, श्राद्ध, अतिथि-पूजा आदि धर्मके कामोंके लिये दूध देने वाली उस नन्दिनीके पीछे-पीछे लौट पड़े। उस समय वह गौ ऐसी भली लग रही थी जैसे ब्रह्माकी पुत्री श्रद्धाके साथ सदाचार शोभा देता है॥१६॥ राजा दिलीप देखते हुए चले जा रहे थे कि कहीं तो छोटे-छोटे नालोंमेंसे सूअरोंके झुंड निकल-निकल कर चले जा रहे हैं, कहीं मोर अपने बसेरोंकी ओर उड़े जा रहे हैं, कहीं हरिण हरी घासों-पर थककर बैठ गए हैं और धीरे-धीरे साँझ होनेसे वनकी सब धरती धुँधली पड़ती जा रही है॥१८॥ नन्दिनी और दिलीप

दोनों धीरे-धीरे चले जा रहे थे। नन्दिनी अपने थनके भारी होनेसे धीरेधीरे चलती थी और राजा दिलीप भारी शरीर होनेके कारण धीरे धीरे चल रहे थे। उन दोनोंको धीरे-धीरे चलते देखकर तपोवनका मार्ग बस देखते ही बनता था ॥१८॥

जब साँझको राजा दिलीप नन्दिनी के पीछे-पीछे लौटे तब सुदक्षिणा अपलक नेत्रों से उन्हें देखती रह गई मानो उसकी आँखें राजा दिलीपका रूप पीनेकी प्यासी हों ॥१९॥

आश्रमके मार्गमें गौके पीछे राजा दिलीप थे और आगे अगवानीके लिये रानी सुदक्षिणा खड़ी थीं। इन दोनों के बीच में वह लाल रंगवाली नन्दिनी ऐसी शोभा दे रही थी जैसे दिन और रातके बीचमें साँझकी ललाई ॥ २० ॥ पहले तो सुदक्षिणाने हाथमें अक्षत आदि सामग्री लेकर नन्दिनीकी पूजा करके प्रदक्षिणा की, फिर प्रणाम करके उसकी सींगोंके बीचमें माथेपर चन्दन-अक्षत लगाया क्योंकि उन्होंने समझ लिया था कि वे सींग नहीं वरन् मेरी पुत्र कामना पूरी करनेके दो द्वार हैं ॥२१॥ यद्यपि नन्दिना उस समय अपना बछड़ा देखनेके लिये बहुत उतावली थी फिर भी वह रानीसे पूजा करानेके लिये खड़ी होगई। नन्दिनीका यह प्रेम देखकर वे दोनों बहुत प्रसन्न हुए, क्योंकि नन्दिनीके समान मनोरथ पूर्ण करनेवाले यदि भक्तपर प्रसन्न हो जायँ तो समझ लो कि काम पूरा हो गया ॥२२॥

गौकी पूजा हो जानेपर शत्रुओंके संहारक राजा दिलीपने पहले वशिष्टजी और अरुन्धतीजीके चरणों की वन्दना की और फिर अपने सन्ध्या समयके नित्य कर्मोंको समाप्त किया। जब नन्दिनीका दूध दूह लिया गया और वह बैठ गई तब राजा दिलीप फिर उसकी सेवामें लग गए ॥२३॥

प्रजापालक राजा दिलीप अपनी पत्नीके साथ बहुत देरतक नन्दिनीकी सेवा और पूजा करते रहे। जब वह सो गई तब ये दोनों भी सोने चले गए और ज्योंही वह सोकर उठी त्योंही इन दोनों की नींद भी टूट गई ॥२४॥

इस प्रकार अपनी पत्नीके साथ सन्तान प्राप्तिके लिये यह कठोर व्रत करते हुए दोनोंके रक्षक राजा दिलीपके इक्कीस दिन बीत गए ॥२५॥

तब नन्दिनीने सोचा कि मैं अपने सेवक राजा दिलीपकी परीक्षा क्यों न लूं कि वे सच्चे भावसे सेवा कर रहे हैं या केवल स्वार्थ भावसे। इसलिये राजा दिलीप जब बाइसवें दिन उसे वन में ले गए तो वह झट हिमालयकी उस गुफामें पैठ गई जिसमें गङ्गाजीकी धारा गिर रही थी और जिसके तटपर घनी हरी-हरी घास खड़ी हुई थी ॥२६॥

राजा दिलीपने भी उधर जानेसे उसे नहीं रोका क्योंकि उन्हें यह विश्वास था कि कोई भी हिंसक जन्तु नन्दिनीपर आक्रमण करनेकी बात भी नहीं सोच सकता। इतनेमें ही अचानक एक सिंह गौको दबोच ही तो बैठा। उस समय राजा दिलीप पर्वतकी शोभा देख रहे थे इसलिये उन्हें दिखाई ही नहीं पड़ा कि उसपर सिंह कब झपटा ॥२७॥ सिंहकी झपटसे नन्दिनी रँभाने लगी और उसकी ध्वनि गुफामें गूँज उठी। राजा दिलीप उस समय पर्वतकी शोभा निहारनेमें लगे हुए थे पर इस पुकारने उनकी दृष्टिको उसी प्रकार खींच लिया जैसे किसीने रस्सीमें बाँधकर खींच लिया हो ॥२८॥ धनुषधारी राजा दिलीपने देखा कि उस लाल गौपर बैठा हुआ सिंह ऐसा लग रहा है जैसे गेरूके पहाड़की ढालपर बहुतसे पीले फूलोंवाला लोधका पेड़ फूल रहा हो ॥२९॥

उस समय सिंहके समान चलनेवाले, शरणागत-रक्षक और बल पूर्वक शत्रुओंका संहार करनेवाले राजा दिलीपने समझा कि यह सिंह मेरी शरणमें आई हुई गौको मारकर मेरा अपमान करना चाहता है। बस, झट उन्होंने उस सिंहको मारनेके लिये तूणीरसे बाण निकालनेको हाथ उठाया ॥३०॥

कहाँ तो राजा दिलीप उस सिंहको मारने जा रहे थे और कहाँ यह हुआ कि उनके दाहिने हाथकी उँगलियाँ उनके नखोंसे चमकने वाले बाणोंके पंखोंसे चिपक गईं। उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ने लगा जैसे बाण निकालनेका प्रयत्न करनेका किसीने चित्र खींच लिया हो॥३१॥

इस प्रकार हाथ बँध जानेसे राजा दिलीप पास ही खड़े अपराधी-पर प्रहार न कर सकनेके कारण क्रोधसे तमतमा उठे और अपने तेजसे भीतर ही भीतर उसी प्रकार जलने लगे जैसे मन्त्र और जड़ी से बँधा हुआ साँप ॥३२॥

सज्जनों के मित्र, मनुवंशके शिरोमणि और सिंहके समान पराक्रमी राजा दिलीप बड़े अचम्भे में पड़े हुए थे और जब वह सिंह मनुष्यकी बोलीमें बोलने लगा तब तो उनके अचरजका ठिकाना ही नहीं रहा ॥ ३३ ॥

सिंह बोला—हे राजा! तुम मुझे मारनेका जतन मत करो, क्योंकि मुझपर जो भी अस्त्र चलाओगे वह व्यर्थ जायगा। देखो! वायुका जो वेग वृक्षोंको जड़से उखाड़ फेकनेकी शक्ति रखता है वह पर्वतका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता ॥ ३४ ॥ मुझे तुम साधारण सिंह न समझो। मै सर्वशक्तिशाली शंकरजीका कृपापात्र और सेवक कुम्भोदर नामका गण हूँ और शिवजीके शक्तिशाली गण निकुम्भका मित्र हूँ। जब शंकरजी कैलास पर्वतके समान उजले नन्दीपर चढ़ते हैं तब उसके पहले अपने चरणोंसे मेरी पीठ पवित्र करते है ॥ ३५ ॥ और यह जो तुम्हारे सामने बड़ासा देवदारका पेड़ दिखाई दे रहा है इसे शंकरजी अपने पुत्रके समान मानते है, क्योंकि स्वयं पार्वतीजीने अपने सोनेके घड़े जैसे स्तनों के दूधसे सींच सींचकर इसे इतना बड़ा किया है ॥ ३६ ॥ तुम जानते नहीं हो कि पार्वतीजी इसे कितना प्यार करती है। एक बार एक जंगली हाथी आकर इससे रगड़ रगड़कर अपनी कनपटी खुजलाने लगा। उससे इसकी थोड़ी छाल छिल गई। बस इतनेपर ही पार्वतीजीको ऐसा शोक हुआ जैसा दैत्योंके बाणोंसे घायल स्वामिकार्तिकेयको देखकर हुआ था ॥ २७ ॥ तबसे शंकरजीने जंगली हाथियोंको डरानेके लिये मुझे यहाँ पहाड़के ढालपर रखवाला बनाकर रख छोड़ा है और मेरा पेट भरनेके लिये मुझे आज्ञा दे दी है कि यहाँ जो जीव आवे उसे मारकर खा जाया करो ॥ ३८ ॥ जैसे चन्द्रमाका अमृत राहुको मिलता है वैसे ही शिवजीकी कृपासे ठीक भोजनके समयपर यह गौ आ गई है और मेरे आजके भोजनके लिये यह बहुत है ॥ ३९ ॥ इसलिये अब तुम लाज छोड़कर घर लौट

जाओ। तुमने यह तो दिखला ही दिया है कि तुम अपने गुरुके बड़े भक्त हो। पर जब किसी वस्तुकी रक्षा शस्त्रसे हो ही न सके तो इसमें शस्त्र धारण करने वालेका क्या दोष, इससे उसका तो अपजस होता नहीं है ॥ ४० ॥

सिंहकी ऐसी ढीठ बातें सुनकर जब राजाको यह विश्वास हो गया कि शंकरजीके प्रभावसे ही हम अस्त्र नहीं चला सके तब उनके मनकी आत्मग्लानि कुछ कम हुई ॥ ४१ ॥

किसी समय इन्द्रने शिवजी पर वज्र चला दिया था। शिवजीने केवल उनकी ओर देख भर दिया कि इंद्र कठमारेसे हो गए। ठीक वही दशा दिलीपकी भी हो गई। बाण चलानेमें पहले पहल असफल होनेवाले, हाथ-बँधे राजा दिलीपने सिंहसे कहा ॥ ४२ ॥—

हे सिंह! हाथके बँध जानेसे मैं कुछ कर नहीं सकता इसलिये जो कुछ भी मैं कहूँगा उसकी सब खिल्ली ही उड़ावोगे, फिर भी तुम सबके मनकी बात जानते हो, इसलिये मैं तुमसे ही कह रहा हूँ ॥४३॥ देखो! जड़ चेतन सभी प्राणियोंको जन्म देनेवाले, पालन-पोषण करने वाले और संहार करनेवाले शिवजीका मैं बड़ा आदर करता हूँ। पर साथ ही मैं अग्निहोत्री गुरुके इस गौरूपी धनको भी अपनी आँखोंके आगे नष्ट होते नहीं देख सकता ॥ ४४ ॥ इसलिये तुम मुझे खाकर अपनी भूख मिटा लो और इस महर्षि वशिष्ठजीकी गौको छोड़ दो क्योंकि इसका छोटासा बछड़ा साँझ हो जानेसे इसकी बाट जोह रहा होगा ॥ ४५ ॥

यह सुनकर वह शिवजीका सेवक सिंह गुफाके अँधेरेमें दाँतकी चमकसे उजाला करता हुआ कुछ हँसकर राजासे बोला ॥ ४६ ॥

हे राजन्! जान पड़ता है कि तुममें यह सोचनेकी शक्ति भी नहीं रह गई है कि तुम्हें क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए, क्योंकि तुम एक साधारण सी गौके पीछे इतना बड़ा राज्य, यौवन और ऐसा सुन्दर शरीर छोड़नेपर उतारू हो गए हो ॥ ४७ ॥ यदि तुम केवल प्राणियोंपर दया करनेके विचारसे ही ऐसा कर रहे हो तो भी यह त्याग ठीक नहीं है,

क्यों कि इस समय यदि तुम मेरे भोजन बनते हो तो केवल एक गौकी रक्षा होगी, पर यदि जीते रहोगे तो अपने पिताके समान तुम अपनी पूरी प्रजाकी रक्षा कर सकोगे ॥ ४८ ॥ और यदि तुम गौके स्वामी और अग्निके समान अपने तेजस्वी गुरुजीसे डरते हो तो उन्हें बड़े-बड़े थनोंवाली करोड़ों गौएँ देकर तुम उन्हें मना सकते हो ॥ ४९ ॥ देखो ! अभी तुम्हारे खेलने खानेके दिन हैं। इसलिये तुम अपने बलवान शरीरकी रक्षा करो, क्यों कि विद्वानोंने कहा है कि सुख और समृद्धिसे भरा हुआ राज्य पृथ्वीपर ही स्वर्ग बन जाता है। उस स्वर्गसे इस स्वर्गमें इतना ही अन्तर होता है कि यह भूमिका स्वर्ग होता है और वह देवलोकका ॥ ५० ॥

जब राजा दिलीपसे इतना कहकर सिंह चुप हो गया तब पर्वतकी कन्दरासे भी उसकी गूँज सुनाई पड़ी मानो पर्वतने भी प्रसन्न होकर सिंहकी ही बातोंका समर्थन किया हो ॥५१॥

राजाने एक ओर सिंहकी बातें सुनीं और दूसरी ओर देखा कि सिंहके नीचे दबी हुई गाय कातर नेत्रोंसे रक्षाकी भीख माँग रही है। दयालु राजा दिलीपका जी भर आया और वे बोले—॥५२॥

हे सिंह ! क्षत्रिय शब्दका अर्थ ही यह है कि दूसरोंको नष्ट होनेसे बचावे। यदि मैंने यह काम नहीं किया तो मेरा राज्य करना ही किस कामका और अपजस लेकर जीते रहना ही किस कामका ॥५३॥ तुम समझते हो कि इसके बदलेमें दूसरी गौएँ देकर मैं महर्षि वशिष्ठको मना लूँगा। यह हो नहीं सकता। तुम इस गौको नहीं पहचान रहे हो। यह किसी भी प्रकार कामधेनुसे कम नहीं है। आज शंकरजीका बल लेकर ही तुमने इसपर आक्रमण किया है, नहीं तो तुममें इतनी शक्ति कहाँ कि इसका बाल भी बाँका कर सको ॥५४॥ इसलिये मुझे अपना शरीर देकर भी इसे छुड़ाना ही चाहिए, क्यों कि ऐसा करनेसे तुम्हारी भूख भी मिट जायगी और गौके न रहनेसे वशिष्ठजीकी जो यज्ञ-क्रियाएँ रुक जातीं वे भी न रुकेंगी ॥५५॥ देखो भाई ! तुम भी दूसरेके सेवक हो और बड़ी लगनसे देवदारकी रक्षा कर रहे हो। तुम यह जानते होगे कि जिसकी रक्षाका भार सेवकको मिलता है यदि वह नष्ट हो जाय और सेवकके शरीरपर

आँच भी न आवे तो बताओ वह अपने स्वामीके आगे कौन मुँह लेकर जायगा ॥५६॥ यदि तुम किसी कारणसे मेरे ऊपर दया करना चाहते हो तो मेरे यशकी रक्षा करो, क्योंकि मुझ जैसे लोग पञ्च तत्वसे बने इस नश्वर शरीरसे तनिक भी मोह नहीं करते ॥५७॥ देखो भाई ! बातचीतसे ही मित्रता प्रारम्भ होती है, और इस जंगलमें बातचीत चलानेके नाते हम दोनों मित्र हो गए हैं, इसलिये हे शिवके सेवक ! अपने मित्रकी प्रार्थना न ठुकराओ ॥५८॥

यह सुनकर सिंह बोला—अच्छी बात है, यही सही। तत्काल दिलीपका हाथ खुल गया और राजा दिलीप अपने अस्त्र फेंककर मांसके पिंडके समान सिंहके आगे जा पड़े ॥५९॥ नीचा मुँह करके राजा दिलीप यह सोच ही रहे थे कि अब सिंह उनपर टूटने ही वाला है कि इतने में ही प्रजा-पालक राजा दिलीपके ऊपर आकाशसे विद्याधरों ने फूलोंकी झड़ी लगा दी ॥६०॥ इसी बीच अमृतके समान मीठे वचन सुनाई दिए—"उठो बेटा" ! राजा दिलीपने सिर उठाया। देखते क्या हैं कि आगे माताके समान नन्दिनी खड़ी है और सिंहका कहीं नाम भी नहीं है ॥६१॥

राजा दिलीप अचरजभरी आँखों से यह सब देख रहे थे। इतनेमें नन्दिनी मनुष्यकी बोलीमें बोलने लगी—हे साधु ! मैंने माया रचकर तुम्हारी परीक्षा ली थी। वशिष्ठ ऋषिके प्रभावसे यमराज भी मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकते फिर और दूसरे हिंसक जीवोंकी तो बात ही क्या है ॥ ६२ ॥ हे पुत्र ! तुमने जो अपने गुरुमें भक्ति और मुझपर दया दिखलाई है उससे मैं बहुत प्रसन्न हूँ। तुम जो चाहो वर माँगो। तुम मुझे केवल दूध देनेवाली साधारण गाय न समझना। मैं प्रसन्न हो जाऊँ तो मुझसे जो माँगा जाय वही फल दे सकती हूँ ॥ ६३ ॥

तब मँगनों को मनचाहा दान देनेवाले और अपने पराक्रमसे वीर कहलानेवाले राजा दिलीपने हाथ जोड़कर यह वर माँगा कि मेरी प्यारी रानी सुदक्षिणाके गर्भसे ऐसा यशस्वी पुत्र हो जिससे सूर्यवंश बराबर चलता चले ॥६४॥

नन्दिनीने सन्तान माँगनेवाले राजा दिलीपसे प्रतिज्ञा की कि मैं तेरी इच्छा पूर्ण करूँगी और यह आज्ञा दी कि तू एक दोनेमें मेरा दूध दूहकर पी जा ॥६५॥

राजाने कहा—हे माँ! मैं चाहता हूँ कि बछड़ेके पी चुकनेपर और हवन क्रियासे बचनेपर ऋषिकी आज्ञा लेकर मैं उसी प्रकार तुम्हारा दूध ग्रहण करूँ जैसे मैं राज्यकी रक्षा करके उसका छठा भाग ग्रहण करूँ ॥६६॥

यह बात सुनकर तो नन्दिनी बहुत ही प्रसन्न हुई और राजाके साथ ही हिमालयकी उस कन्दरासे बिना थके ही आश्रमकी ओर लौटी ॥६७॥

निर्मल चन्द्रमाके समान सुन्दर मुखवाले राजाधिराज दिलीप जब वशिष्ठजीके पास पहुँचे तब उनकी प्रसन्नताको देखतेही वशिष्ठ-जी सब बातें पहलेसे समझ गए। इसलिये राजाने जो समाचार सुनाया वह उन्हे ऐसा लगा मानो दुबारा कहा जा रहा हो। गुरुजी से कह चुकनेपर राजा दिलीपने यह समाचार सुदक्षिणासे भी कह सुनाया ॥६८॥

जब बछड़ा दूध पी चुका और हवन भी हो चुका तब सज्जनों के प्यारे प्रशंसनीय राजा दिलीपने वशिष्ठजीकी आज्ञासे नन्दिनीके दूधको ऐसे पी लिया मानो उन्हे बड़ी प्यास लगी हुई हो और उस दूधके उजलेपनका तो कहना ही क्या। बस जान पड़ता था कि स्वयं उजला यश ही दूध बनकर चला आया हो ॥६९॥

दूसरे दिन प्रातःकाल जितेन्द्रिय वशिष्ठजीने समझ लिया कि ऋषि गौकी सेवाका व्रत तो पूरा हो ही गया इसलिये उन्होंने राजा और रानी दोनोंको आशीर्वाद दिया कि तुम्हारा मार्ग आनन्दसे कटे और उन्हें अयोध्याके लिये विदा कर दिया ॥ ७० ॥

विदा लेते समय राजाने पहले हवन-कुण्डकी, फिर गुरु वशिष्ठकी, तब माता अरुन्धतीकी और सबसे पीछे बछड़ेके साथ बैठी हुई नन्दिनीकी परिक्रमा की। महर्षिके आशीर्वाद पानेसे उनका तेज और भी अधिक बढ़ गया था ॥ ७१ ॥

सहनशील राजा दिलीप अपनी धर्मपत्नीके साथ जिस रथपर चढ़कर अयोध्याको चले उसकी ध्वनि कानोंको बड़ी मीठी लग रही थी और वह ऐसा अच्छा था कि उसमें नामको भी हचक नहीं लगती थी। इसलिये उसपर सुखसे चढ़कर जाते हुए वे ऐसे लगते थे मानो वे अपने सफल मनोरथपर बैठे हुए जा रहे हों, रथ पर नहीं ॥ ७२ ॥

राजाको अयोध्यासे गए बहुत दिन हो गए थे इसलिये प्रजा उनके दर्शनके लिये तरस रही थी। पुत्रकी उत्पत्तिके लिये जो उन्होंने व्रत किया था उससे वे कुछ दुबले हो गए थे। अब इतने दिनों पर लौटनेसे उनकी प्रजा उन्हें ऐसा एकटक होकर देखने लगी जैसे लोग द्वितीयाके चन्द्रमाके उदय होनेपर उसे ध्यानसे देखते हैं ॥७३॥

इन्द्रके समान सम्पत्तिशाली राजा दिलीपने प्रजाका आदर पाकर उस अयोध्या नगरीमें प्रवेश किया जिसमें उनके स्वागतके लिये स्थान-स्थान पर झंडियाँ फहरा रही थीं। वहाँ पहुँचकर उन्होंने शेषनागके समान अपनी बलवती भुजाओं से फिर राज-काज सँभाल लिया ॥ ७४ ॥

जैसे अत्रि ऋषिके नेत्रसे निकली हुई चन्द्रमारूपी ज्योतिको आकाशने धारण किया और जैसे स्कन्दको उत्पन्न करनेवाले शंकरजीके उस तेजको गंगाजीने धारण किया जिसे अग्नि भी नहीं सँभाल सकी थी, वैसे ही रानी सुदक्षिणाने राजा दिलीपका वंश चलानेके लिये आठों दिशाओं के लोकपालों के तेजसे भरा हुआ प्रतापी गर्भ धारण किया ॥ ७५ ॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यका नन्दिनी वर-प्रदान नामक दूसरा सर्ग समाप्त हुआ।



तीसरा सर्ग

धीरे-धीरे रानी सुदक्षिणाके शरीरमें उस गर्भके लक्षण दिखाई देनेलगे जो राजा दिलीपकी इच्छा पूरी होनेका सन्देश दे रहे थे, जिन्हें देख देखकर रानीकी सखियोंके नेत्रोंको ऐसा सुख मिल रहा था मानो चाँदनी देखकर मगन हो रहे हों और जो इस बातके प्रमाण थे कि अब इक्ष्वाकु वंश नष्ट नहीं होगा, बराबर चलता रहेगा ॥१॥

गर्भिणी होनेसे रानी दुबली पड़ गई थीं इसलिये उन्होंने अपने बहुतसे गहने उतार डाले। उनका मुँह लोधके फूलके समान पीला पड़ गया और इस वेशमें वे पौ फटते समयकी रात जैसी लगने लगीं जब थोड़ेसे तारे बचे रह जाते हैं और चन्द्रमा भी पीला पड़ जाता है ॥ २ ॥ जैसे गर्मीके अन्तमें पहली बार वर्षा होनेसे जंगलके छोटे छोटे तालोंकी मिट्टी सोंधी हो जाती है और हाथी उसे बार-बार सूंघते हैं वैसे ही मिट्टी खानेसे रानी सुदक्षिणाका जो मुँह सोंधा हो गया था उसे एकान्तमें बार बार सूंघकर भी राजा दिलीप अघाते नहीं थे ॥ ३ ॥ रानी होकर भी सुदक्षिणाने सब पदार्थ छोड़कर मानो इसलिये मिट्टी खाना आरंभ किया कि भविष्यमें उसका पुत्र भी

सम्पूर्ण पृथ्वीपर उसी प्रकार राज करे जैसे इन्द्र स्वर्गपर राज करते हैं ॥ ४ ॥ राजा दिलीप यह समझते थे कि सुदक्षिणा बड़ी लजीली है और अपनी इच्छा हमसे प्रकट नहीं करती है इसलिये वे बार-बार उसके पास रहनेवाली सखियों से पूछते रहते थे कि रानीको कौन कौन सी वस्तुओंकी इच्छा होती है ॥ ५ ॥ गर्भिणी रानी सुदक्षिणा का जब जिस वस्तुपर मन चलता था वह उसी समय उन्हें मिल भी जाती थी क्योंकि धनुषधारी राजा दिलीपको स्वर्गकी भी वस्तुएँ मिल सकती थीं फिर इस लोककी वस्तुओंकी तो बात ही क्या ॥६॥ धीरे-धीरे जब गर्भके प्रारंभिक कष्ट बीत गए तब रानी वैसेही हृष्ट पुष्ट और सुन्दर लगने लगी जैसे वसन्त ऋतुमें पुराने पत्ते गिराकर नये कोमल पत्तोंसे लदकर लताएँ सुन्दर लगने लगती हैं ॥ ७ ॥ थोड़ी ही दिनों में उसके बड़े बड़े स्तनोंकी घुंडियाँ काली पड़ गईं। इससे रानीके स्तन ऐसे सुन्दर लगने लगे कि उनकी शोभाके आगे कमलके जोड़े पर बैठे हुए भौरोंकी शोभा भी हार मान बैठी ॥ ८ ॥

राजा दिलीप गर्भिणी रानी सुदक्षिणाको वैसीही महत्ववाली समझते थे जैसे अमूल्य रत्नों से भरी हुई पृथ्वी, अपने भीतर अग्नि रखनेवाला शमीका वृक्ष या भीतर ही भीतर जल बहानेवाली सरस्वती नदी ॥ ९ ॥

राजा दिलीप जितना रानीको प्यार करते थे, जितनी उन्हे प्रसन्नता थी और जितना बड़ा उनका राज्य था उतने ही ठाटबाटसे उन्हों ने पुंसवन आदि संस्कार भी किए ॥ १० ॥

धीरे धीरे रानी सुदक्षिणाका वह गर्भ बढ़ने लगा जिसमें लोकपालों के अंश भरे थे। अब रानीको उठने-बैठनेमें भी कठिनाई होने लगी। इसलिये जब राजा रनिवासमें आते थे तब वे बड़ी कठिनाईसे उनके स्वागतके लिये उठ सकती थीं। उनको प्रणाम करनेके लिये जब वे हाथ जोड़ती थीं तो हाथ ढीले हो जाते थे और थकावटसे बारबार आँखों में आँसू आ जाते थे। इन बातों को देखकर राजा दिलीप बड़े प्रसन्न होते थे क्योंकि वे समझ रहे थे कि अब पुत्र होनेमें विलंब नहीं है ॥ ११ ॥

बच्चोंकी चिकित्सा करनेवाले बहुतसे चतुर वैद्य वे सब उपाय

कर रहे थे जिनसे गर्भिणी सुखसे बच्चा जनती है और गर्भ पुष्ट होता है। दसवें महीनेमें राजाने देखा कि शीघ्र ही पुत्रको जन्म देनेवाली रानी ऐसी लग रही थी जैसे तत्काल बरसनेवाले बादलोंसे घिरा हुआ आकाश हो ॥ १२ ॥

जिस प्रकार राजा अपने तेज, उत्साह और ठीक मन्त्रणासे अचल सम्पत्ति पा लेता है वैसे ही इन्द्राणीके समान तेजवाली सुदक्षिणाने भी वह पुत्र उत्पन्न किया जिसके सौभाग्यशाली होनेकी सूचना वे पाँच शुभ ग्रह दे रहे थे जो उस समय ऊँचे स्थानपर थे और सम्मुख दिखाई भी दे रहे थे ॥ १३ ॥

बालकके उत्पन्न होनेके समय आकाश खुल गया था, शीतल-मन्द-सुगन्ध वायु चल रहा था और हवनकी अग्निकी लपटें दक्षिणकी ओर घूमकर हवनकी सामग्रियाँ ले रही थीं। सभी शकुन अच्छे हो रहे थे और यह उचित भी था, क्योंकि ऐसे बालक संसारके कल्याणके लिये ही उत्पन्न होते हैं ॥ १४ ॥ उस भाग्यवान बालकका तेज सौरी-घरमें चारों ओर इतना छाया हुआ था कि आधी रातके समय घरमें रक्खे हुए दीपोंका प्रकाश भी एकदम फीका पड़ गया और वे ऐसे जान पड़ने लगे मानो चित्रमें बने हुए हों ॥ १५ ॥ झट अन्तःपुरके सेवकने राजा दिलीपसे आकर पुत्र होनेका समाचार दिया। यह संवाद सुनकर वे इतने प्रसन्न हुए कि छत्र और दोनों चँवर तो न दे सके क्योंकि वे राजचिह्न थे, शेष सब आभूषण उन्होंने उतारकर उसे दे डाले ॥ १६ ॥

वे तत्काल भीतर गए और जैसे वायुके रुक जानेपर कमल निश्चल हो जाता है वैसे ही वे एकटक होकर अपने पुत्रका मुँह देखने लगे। जैसे चन्द्रमाको देखकर महासमुद्रमें ज्वार आ जाता है वैसे ही पुत्रको देखकर राजाको इतना अधिक आनन्द हुआ कि वह उनके हृदयमें समा न सका ॥ १७ ॥

पुरोहित वशिष्ठजीने भी जब यह शुभ समाचार पाया तब वे भी तपोवनसे आए और स्वभावसे ही सुन्दर उस बालकके जातकर्म आदि संस्कार किए। संस्कार हो जानेपर वह बालक वैसे ही सुन्दर लगने लगा जैसे खानसे निकालकर खरादा हुआ हीरा ॥ १८ ॥

वह बालक तो संसारका कल्याण करने वाला था इसलिये उसके जन्म लेनेपर केवल मगध-नरेश दिलीपके ही राजमन्दिरमें मनोहर बाजे और वेश्याओंके नाच आदि उत्सव नहीं हो रहे थे वरन् आकाशमें देवताओंके यहाँ भी नाच-गान हो रहा था ॥ १९ ॥

जब राजकुमारका जन्म होता है तब बन्दी-गृहों से बन्दी छोड़े जाते हैं पर राजा दिलीपके राज्यका ऐसा अच्छा प्रबन्ध था कि कोई अपराध ही नहीं करता था। इसलिये राज्यमें कोई बन्दी ही नहीं था जिसे वे पुत्र-जन्मकी प्रसन्नता में छोड़ते। इसलिये उन्हों ने यही समझा कि पुत्र न होने से जो मैं पितरोंके ऋणके बन्धनमें था उस बन्धनसे आज मैं ही छूट गया हूँ ॥ २० ॥

उस बालकका नाम रघु यह सोचकर रक्खा गया कि वह सम्पूर्ण शास्त्रोंके पार भी जायगा और युद्धक्षेत्रमें शत्रुओंके व्यूहोंको तोड़कर उनके भी पार जायगा। यह रघु शब्द संस्कृतकी 'रघि' धातुसे बना है जिसका अर्थ है जाना ॥ २१ ॥

जैसे शुक्ल पक्षकी प्रतिपदाका चन्द्रमा सूर्यकी किरणें पाकर दिन-दिन बढ़ने लगता है वैसे ही बालक रघुके अंग भी सम्पत्तिशाली पिताकी देखरेखमें दिन-दिन बढ़ने लगे ॥२२॥ जैसे कार्तिकेयके समान पुत्रको पाकर शंकर और पार्वतीको अत्यन्त प्रसन्नता हुई थी और जयन्त जैसे प्रतापी पुत्रको पाकर इन्द्र और शची प्रसन्न हुए थे, वैसे ही राजा दिलीप और रानी सुदक्षिणा भी उन दोनों के ही समान तेजस्वी पुत्रको पाकर बड़े प्रसन्न हुए ॥ २३ ॥

राजा और रानीमें चकवा और चकईके समान गाढ़ा प्रेम था। वह प्रेम यद्यपि एकमात्र पुत्र रघुपर बँट गया था फिर भी उनके परस्पर प्रेममें कमी नहीं हुई, उलटे वह बढ़ता ही गया ॥ २४ ॥

जब बालक रघु कुछ बड़े हुए तब धायने उन्हें जो कुछ सिखाया, उसे वह अपनी तोतली बोलीमें बोलने लगे, उसकी उँगली पकड़कर चलने लगे और सिर झुकाकर बड़ोंको प्रणाम करना भी सीख गए। राजा दिलीप अपने पुत्रकी इन बाल लीलाओंको देखकर फूले नहीं समाते थे ॥ २५ ॥ जब राजा उसे गोदमें उठाते तब उसके शरीरको छूनेसे ही उन्हें ऐसा जान पड़ता था मानो उनके शरीरपर अमृतकी

फुहारें बरस रही हों। उस समय आँखे बन्द करके वे बहुत देर तक यह आनन्द लेते ही रह जाते थे ॥ २६ ॥ जैसे प्रजापति ब्रह्माने अपने सतोगुणवाले अंशसे विष्णुके प्रकट होनेपर यह समझ लिया कि अब हमारी सृष्टि अमर हो गई, वैसे ही मर्यादापालक दिलीपने भी यह समझ लिया कि रघुसे भी सूर्यवंश सदा चलता रहेगा ॥ २७ ॥

मुण्डन संस्कार हो जानेपर रघुने चंचल लटोंवाले तथा समान आयुवाले मंत्रियोंके पुत्रोंके साथ पहले वर्णमाला लिखना-पढ़ना सीखा और फिर साहित्यका अध्ययन करना प्रारम्भ कर दिया मानो नदीके मुहानेसे होकर समुद्रमें पैठ गए हों ॥ २८ ॥

जब ग्यारहवें वर्षमें यज्ञोपवीत हो गया तब रघुको चतुर पंडित और सब विद्याएँ भी पढ़ाने लगे। इसमें गुरुओंको विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ा क्योंकि चतुर शिष्यको जो शिक्षा दी जाती है वह बहुत शीघ्र फलती है ॥ २९ ॥ जैसे सूर्य अपने सरपट दौड़नेवाले घोड़ोंकी सहायतासे थोड़े ही समयमें चारों दिशाओंको पार कर लेता है वैसे ही बुद्धिमान् रघुने अपनी तीव्र बुद्धिकी सहायतासे शीघ्र ही चार समुद्रों के समान विस्तृत आन्विक्षिकी, त्रयी, वार्ता तथा दण्ड-नीति इन चारों विद्याओंको सीख लिया ॥ ३० ॥

पवित्र रुरु मृगका चर्म पहनकर रघुने मन्त्रयुक्त अस्त्रोंकी शिक्षा अपने पितासे ही प्राप्त की क्योंकि उनके पिता केवल चक्रवर्ती राजा ही नहीं थे वरन् अद्वितीय धनुष चलानेवाले भी थे ॥ ३१ ॥

जैसे गायका बछड़ा बड़ा होकर साँड़ हो जाता है और हाथीका बच्चा बढ़कर गजराज हो जाता है वैसे ही जब रघुने भी बचपन बिताकर युवावस्थामें पैर रक्खा तब उनका शरीर और भी खिल उठा ॥ ३२ ॥

राजाने बारहवें वर्षमें गोदान संस्कार करके उनका विवाह कर दिया। जैसे दक्षकी अश्विनी आदि कन्याएँ चन्द्रमा जैसे पतिको पाकर प्रसन्न हुई थीं वैसे ही राजकुमारियाँ भी रघु जैसे प्रतापी पति-को पाकर बहुत प्रसन्न हुईं ॥ ३३ ॥

युवावस्थाके कारण उनकी भुजाएँ हलके जुएके समान दृढ़ और लम्बी हो गईं, छाती चौड़ी हो गई और कन्धे भारी हो गए। इस

प्रकार डील-डौल बढ़ जानेके कारण रघु अपने बूढ़े पितासे ऊँचे और तगड़े लगते थे, फिर भी वे इतने नम्र थे कि कभी अपना बड़प्पन प्रकट नहीं होने देते थे ॥ ३४ ॥

जब राजा दिलीपने देखा कि शिक्षा आदि संस्कारोंसे रघु नम्र हो गए हैं और भली भाँति राज्य सँभाल सकते हैं तब उन्होंने सोचा कि बहुत दिनोंसे जो राज्य मैं चला रहा हूँ उसे रघुको क्यों न सौंप दूँ। यह विचारकर उन्होंने रघुको युवराज बना दिया ॥ ३५ ॥ जैसे सुन्दरताकी देवी मुरझाए हुए कमलको छोड़कर नये कमल पर चढ़ जाती है वैसे ही राज्य-लक्ष्मी भी बूढ़े दिलीपको छोड़ कर धीरे धीरे रघुपर पहुँच गई ॥ ३६ ॥

जैसे वायुकी सहायतासे अग्नि, शरद ऋतुके खुले हुए आकाशको पाकर सूर्य और मद बहनेके कारण हाथी प्रचंड हो जाता है वैसे ही प्रतापी रघुकी सहायतासे दिलीप भी इतने शक्तिशाली हो गए कि उनके शत्रु उनसे काँपने लगे ॥ ३७ ।

इन्द्रके समान प्रभावशाली दिलीपने यज्ञके घोड़ेकी रक्षाका भार रघु और अन्य धनुर्धर राजकुमारोंको सौंपकर निन्यानबे अश्वमेध यज्ञ बिना बाधाके पूरे कर लिए ॥ ३८ ॥ तब दिलीपने सौवाँ यज्ञ करनेके लिये घोड़ा छोड़ा। इन्द्रको यह बात बड़ी खटकी और उन्होंने अपनेको छिपाकर धनुषधारी रक्षकोंके देखते-देखते उस घोड़ेको चुरा लिया ॥ ३९ ॥

जब घोड़ेकी रक्षा करनेवाली रघुकी सेनाने देखा कि घोड़ा देखते देखते अदृश्य होगया तब वे बड़े घबराए और उन्हें आश्चर्य भी हुआ। ठीक उसी समय वहाँ वशिष्ट ऋषिकी प्रभावशालिनी गौ नन्दिनी घूमती-घामती चली आई ॥ ४० ॥ सज्जनोंके पूज्य रघुने तत्काल नन्दिनीके मूत्रको अपनी आँखोंसे लगाया जिससे उन्हें उन सब वस्तुओंको देख सकनेकी शक्ति आगई जो किसी भी इन्द्रियसे किसीको नहीं प्रकट होती ॥ ४१ ॥ इस प्रकार दिव्य दृष्टि प्राप्त करके रघु देखते क्या हैं कि पर्वतोंके पंख काटनेवाले इन्द्र स्वयं उस घोड़ेको लिए चले जा रहे हैं और वह घोड़ा भी उनके रथके

पीछे बँधा हुआ, तुड़ाकर भागनेका जतन कर रहा है जिसे इन्द्रका सारथी बार-बार सँभालनेका यत्न कर रहा है ॥ ४२ ॥ रघुने आँख गड़ाकर देखा कि घोड़ेको हरने वालेके शरीरपर आँखे ही आँखें है, उन आँखोंकी पलकें भी नहीं गिरती है और उनके रथके घोड़े भी हरे हरे हैं। बस रघुने समझ लिया कि हो न हो ये इन्द्र ही हैं और ऊँचे गंभीर स्वरसे इस प्रकार इन्द्रसे बोले मानो उन्हें लौटनेको ललकार रहे हों ॥ ४३ ॥

हे देवेन्द्र ! विद्वानोंका कहना है कि यज्ञका भाग सबसे पहले आपको ही मिलता है। मेरे पिताजी भी आप लोगोंके लिये ही यज्ञ कर रहे है फिर न जाने क्यों आप उसमें विघ्न डाल रहे हैं ॥४४॥ उलटे आपको तो यह चाहिए कि संसारमें जो कोई भी यज्ञमें विघ्न डाले उसे आप स्वयं दण्ड दें, क्योंकि आप तो तीनों लोकोंके स्वामी हैं, और जब स्वयं आपही यज्ञमें विघ्न डालने लगेंगे तब तो संसारसे धर्म लुप्त ही हो जायगा ॥४५॥ इसलिये हे इन्द्रदेव ! आप मेरे पिताके अश्वमेध यज्ञके लिये इस घोड़ेको छोड़ दीजिए। आप तो वेदका मार्ग दिखानेवाले महात्मा हैं। ऐसा ओछा काम करना आपको शोभा नहीं देता ॥४६॥

रघुके अभिमान भरे इन वचनोंको सुनकर इन्द्रको बड़ा आश्चर्य हुआ और रथको घुमाकर वे बोले ॥ ४७ ॥—

हे राजकुमार ! तुम जो कहते हो वह सब ठीक है। पर हम यशस्वियोंका यह भी कर्त्तव्य है कि जो अपनेसे होड़ करें उनसे अपने यशकी रक्षा भी करें। मैंने सौ यज्ञ करनेका जो यश पाया है उसे तुम्हारे पिता मुझसे छीनना चाहते हैं ॥ ४८ ॥ देखो ! जिस प्रकार पुरुषोत्तम केवल विष्णु ही हैं, त्र्यम्बक केवल शंकर ही हैं वैसे ही मुनि लोग शतक्रतु (सौ यज्ञ करने वाला) केवल मुझे ही कहते हैं। जिन नामोंसे हम लोग प्रसिद्ध हैं वे नाम दूसरे नहीं रख सकते ॥४९॥ इसलिये जैसे कपिल मुनिने तुम्हारे पुरखे सगरके घोड़ेको हर लिया था वैसे ही मैंने तुम्हारे पिताके इस घोड़ेको हर लिया है। तुम इसे छुड़ानेका प्रयत्न मत करो, नहीं तो जैसे कपिल मुनिके क्रोधसे सगरके साठ सहस्र पुत्र भस्म हो गए थे वैसे ही हमारे क्रोधसे तुम भी भस्म हो जाओगे ॥ ५० ॥

यह सुनकर अश्वके रक्षक रघुने निडर होकर हँसते हुए इन्द्रसे कहा—यदि आपने यही निश्चय किया हो तो शस्त्र उठाइए और युद्ध कीजिए। रघुको जीते विना आप घोड़ा ले कर नहीं जा सकते ॥५१॥

यह कहकर रघुने धनुषपर बाण चढ़ाया और पैंतरा साधकर इन्द्रकी ओर ऊपर मुँह करके खड़े हो गए। उस समय वे ऐसे लग रहे थे मानो इन्द्रसे युद्ध करनेके लिये स्वयं शंकर भगवान् आ डटे हों ॥५२॥ रघुने खंभेके समान दृढ़ एक बाण इन्द्रकी छातीमें मारा। इससे इन्द्र बड़े क्रोधित हुए और अपने धनुषपर ऐसा बाण चढ़ाया जिसका वार कभी चूकता नहीं। इन्द्रका वह धनुष इतना सुन्दर था कि थोड़ी देरके लिये उसने नए बादलोंमें इन्द्र-धनुष जैसे रंग भर दिए। बड़े-बड़े राक्षसोंका रक्त पीनेवाले उस बाणने रघुकी छातीमें घुसकर वहाँका रक्त बड़े चावसे पिया क्योंकि उसे अभीतक मनुष्य के रक्तका स्वाद तो मिला ही नहीं था ॥ ५४ ॥ कार्तिकेयके समान पराक्रमी रघुने भी अपना नाम खुदा हुआ एक बाण इन्द्रकी उस बाँई भुजामें मारा जिसकी उँगलियाँ ऐरावतको बार-बार थपथपानेसे कड़ी होगई थीं और जिसपर शचीने कुंकुम आदिसे कुछ चित्रकारी कर दी थी ॥ ५५ ॥ फिर रघुने मोरकी पाँखवाले दूसरे बाणसे इन्द्रकी वज्र-जैसी ध्वजाको काट डाला। उससे इन्द्रको ऐसा क्रोध हुआ मानो किसीने बलपूर्वक देवताओंकी राज्य-लक्ष्मीके सिरके बाल काट लिए हों ॥ ५६ ॥

रघु और इन्द्र दोनों ही अपनी अपनी जीत चाहते थे और दोनों सूर्यके समान तीखे बाणोंसे भयंकर युद्ध कर रहे थे। रघुको लक्ष्य बनाकर इन्द्र नीचेकी ओर अपने बाण चलाते थे और इन्द्रको ताक ताककर रघु ऊपर बाण चला रहे थे। ऊपर देवता और नीचे रघुके सैनिक इस अचरज-भरे युद्धको देख रहे थे ॥ ५७ ॥ जैसे बादल घोर वर्षा करके भी अपने हृदयमें उत्पन्न बिजलीको नहीं बुझा सकता वैसे ही इन्द्र भी अपने अंशसे पैदा हुए रघुको बाणोंकी वर्षासे हरा न सके ॥५८॥ तब रघुने अर्द्धचन्द्रके आकारके बाणसे इन्द्रकी धीर कलाईके पास धनुषकी वह डोरी काट डाली जिसमेंसे बाण चलाते समय ऐसा प्रचण्ड शब्द होता था जैसे मथे जानेके समय क्षीर

समुद्रमें होता था ॥५९॥ धनुषकी डोरी कट जाने से इन्द्रको बड़ा क्रोध हुआ। उन्होंने धनुषको तो दूर फेका और अपने प्रबल शत्रु रघुको मारनेके लिये पर्वतोंके पंख काटनेवाले, अग्निके समान चमकीले वज्रको उठा लिया ॥ ६० ॥ उस वज्रकी मारसे रघु पृथ्वीपर गिर पड़े। उनके गिरते ही उनके सैनिकोंने रोना-पीटना आरम्भ कर दिया। किन्तु क्षण भरमें ही वे सँभलकर उठ खड़े हुए और उनके साथ ही उनके सैनिकोंकी जयजयकार भी आकाशमें गूँज उठी ॥६१॥ वज्रकी चोटसे क्षण भरमें सँभलकर रघु फिर लड़नेके लिये आ डटे। उनकी इस अद्वितीय वीरताको देखकर इन्द्र बड़े संतुष्ट हुए। ठीक भी था, क्योंकि गुणोंका आदर सर्वत्र होता ही है ॥ ६२ ॥

इन्द्रने कहा—हे राजकुमार! पर्वतोंके पंख काटनेवाले मेरे कठोर वज्रकी चोटको तुम्हे छोड़कर आज-तक किसीने नहीं सहा। मैं तुम्हारी वीरतापर प्रसन्न हूँ। तुम इस घोड़ेको छोड़कर और जो कुछ मुझसे माँगना चाहो, माँग लो ॥ ६३ ॥ इन्द्रके ये वचन सुनकर रघुने तूणीरसे आधे निकाले हुए उस बाणको फिरसे उसमें डाल दिया जिसके सुनहरे पंखकी चमकसे रघुकी उंगलियोंके नख भी चमक उठे थे। और फिर वे इन्द्रसे बोले ॥६४॥— हे इन्द्र! यदि आप घोड़ेको नहीं देना चाहते हैं तो यही वरदान दीजिए कि मेरे पिता विधि-पूर्वक यज्ञको समाप्त करके इस घोड़ेके विना ही सौ अश्वमेध यज्ञ करनेका फल पा जायँ ॥ ६५ ॥ हे लोकेश! मेरे पिता यज्ञ-मंडपमें अष्टमूर्ति शिवजीके एक अंशके रूपमें बैठे हुए हैं अतः वहाँ इस समय हम लोगोंमेंसे कोई पहुँच नहीं सकता। इसलिये ऐसा उपाय कीजिए जिससे आपका ही कोई दूत जाकर उनको यह समाचार सुना आवे ॥ ६६ ॥

इन्द्रने कहा—ऐसा ही होगा। यह कहकर जिस मार्गसे वे आए थे उसी मार्गसे चले गए। सुदक्षिणाके पुत्र रघु भी अपने पिता राजा दिलीपकी सभामें लौट आए। वे बड़े खिन्न थे क्योंकि इन्द्रसे युद्धमें जीतनेपर भी अश्वमेधका घोड़ा लौटा न पानेका उन्हें बड़ा दुःख था॥६७॥

रघुके पहुँचनेके पहले ही इन्द्रके दूतने राजा दिलीपको सब वृत्तान्त सुना दिया था। इसलिये जब रघु वहाँ आए तब राजा दिलीपने

उनकी बड़ी प्रशंसा की और जहाँ उन्हें वज्र लगा था वहाँ धीरे-धीरे सहलाने लगे ॥ ६८ ॥

इस प्रकार जिस दिलीपकी आज्ञा कोई टाल नहीं सकता था उन्होंने मानो स्वर्ग जानेके लिये निन्यानवे यज्ञोंकी सीढ़ी सी बना ली थी ॥ ६९ ॥

तब संसारके सब विषय छोड़कर राजा दिलीपने अपने नवयुवक पुत्र रघुको शास्त्रोंके अनुसार छत्र, चँवर आदि राजचिह्न दे दिए और देवी सुदक्षिणाके साथ तप करनेके लिये जंगलकी राह ली। क्योंकि इक्ष्वाकुवंशके राजाओंमें यही परंपरा चली आई है कि वे बूढ़े होने पर जंगलमें जाकर तपस्या किया करते थे ॥ ७० ॥

महाकवि श्री कालिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यमें रघुका राज्याभिषेक नामक तीसरा सर्ग समाप्त हुआ ॥



चौथा सर्ग

जैसे साँझके सूर्यसे तेज लेकर अग्नि चमक उठती है वैसे ही अपने पितासे राज्य पाकर रघु और भी अधिक तेजस्वी हो गए ॥ १ ॥ जब दूसरे राजाओंने सुना कि दिलीपके पीछे रघु राजा होगए तब उनके हृदयमें वैरकी जो आग धीरे-धीरे सुलग रही थी वह मानो भड़क उठी ॥ २ ॥

जब राजा रघु अपने ऊँचे सिंहासनपर बैठते थे तब उनकी प्रजाके सब बूढ़े-बच्चे उनकी ओर आँख उठाकर देखते हुए वैसे ही प्रसन्न होते थे जैसे आकाशमें उठे हुए नए इन्द्रधनुषको देखकर लोग प्रसन्न होते हैं ॥ ३ ॥

हाथीके समान मस्त चालसे चलनेवाले राजा रघुने पिताके सिंहासनपर और अपने शत्रुओं पर एक साथ अधिकार कर लिया ॥४॥

जब वे सिंहासनपर बैठते थे उस समय उनके चारों ओर प्रकाशका एक घेरा सा बन जाता था। उसे देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो लक्ष्मी स्वयं छिपकर उनके कमलका छत्र लेकर उनके पीछे खड़ी हों ॥ ५ ॥ और समय-समयपर सरस्वती भी उनके चारणों के मुँहोंमें बैठकर अर्थभरे विरद सुनाकर उन प्रशंसनीय राजा रघुका

गुण गाती थी ॥ ६ ॥ यों तो रघुसे पहले मनु आदि बहुतसे प्रतापी राजा पृथ्वीका भोग कर चुके थे पर रघुके हाथमें पहुँचकर वही पृथ्वी ऐसी नई जान पड़ती थी मानो पहले-पहल रघुके हाथों में आई हो ॥ ७ ॥

जैसे वसंतका वायु बहुत ठंढा या बहुत गरम न होनेके कारण सबके मनको भाता है वैसे ही रघु भी आवश्यकतासे अधिक कठोर या कोमल दंड नहीं देते थे। जो जैसा अपराध करता था उसको वैसा ही दंड देते थे। इस प्रकारके न्यायसे उनकी प्रजा उनसे बड़ी प्रसन्न थी ॥ ८ ॥ और जैसे आमके सुन्दर फलोंको देखकर लोग उसके बौरोंको भूल जाते हैं वैसे ही रघुमें राजा दिलीपसे अधिक गुण देखकर लोग दिलीपको भूलसे गए ॥ ९ ॥

नीति जाननेवाले मंन्त्रियों ने रघुको सरल और कुटिल दोनों प्रकारकी नीतियों से राज्य चलानेकी विधियाँ सिखा दीं, पर उस धर्मात्मा राजाने सीधी नीतिको ही अपनाया और टेढी नीतिको छोड़ दिया ॥ १० ॥

रघुके सिंहासनपर बैठते ही जलकी मिठास अधिक होगई, फूलोंकी सुगन्ध बढ़ गई और पृथ्वी, जल, अग्नि वायु, आकाश इन पाँचों तत्वोंके गुण भी बढ़ने लगे। ऐसा जान पड़ने लगा मानो नए राजाको पाकर सभी वस्तुएँ नई हो गईं ॥ ११ ॥ जैसे सबको आनन्द देकर चन्द्रमाने अपना नाम सार्थक किया और सबको तपाकर सूर्यने अपना तपन नाम सार्थक किया, वैसे ही रघुने भी प्रजाका रंजन करके, उन्हें सुख देकर अपना राजा नाम सार्थक कर दिया ॥ १२ ॥

यद्यपि रघुके नेत्र कानोंतक फैले हुए और बहुत बड़े-बड़े थे पर उन्हें अधिक भरोसा अपने उस ज्ञान-नेत्रपर था जिससे वे सूक्ष्मसे सूक्ष्म बातोंको भी शीघ्र समझ जाते थे ॥ १३ ॥

जब रघुने अपने राज्यमें शान्ति स्थापित कर ली और उनका चित्त ठिकाने हुआ उस समय शरद् ऋतु आ गई थी, चारों ओर सुन्दर कमल खिल गए थे, ॥ १४ ॥ वर्षा बीत चुकी थी, बादल हट गए थे और जैसे खुले आकाशमें चमकते हुए सूर्यका प्रकाश चारों ओर

फैल गया था वैसे ही शत्रुओंके नष्ट हो जानेपर राजा रघुका प्रताप भी फैल गया ॥ १५ ॥ इन्द्रने जब अपना वर्षा-ऋतु वाला इन्द्र-धनुष हटाया तब रघुने अपना विजयी धनुष हाथमें उठा लिया क्योंकि ये दोनों ही बारी-बारीसे प्रजाकी भलाई कियाकरते थे ॥१६॥ शरद्-ऋतु भी रघुके छत्र और चँवरको देखकर कमलके छत्र और फूले हुए काँसके चँवर लेकर रघुसे होड़ करने चली, पर सब कुछ करके भी उनकी शोभा नहीं पा सकी ॥ १७ ॥ शरद्-ऋतुमें रघुके खिले हुए मुख और उजले चन्द्रमा दोनोंको देखकर दर्शकों को एक सा आनन्द मिलता था ॥ १८ ॥ उजले हंसोंकी उड़ती हुई पातों, रातमें खिले हुए टिमटिमाते तारों और तालोंमें खिली हुई कोईंको देखकर यह जान पड़ता था कि रघुकी कीर्त्ति ही इतने रूप बनाकर फैली हुई है ॥ १९ ॥ प्रजाको वे इतने प्यारे थे कि धानके खेतोंकी रखवाली करने वाली किसानोंकी स्त्रियाँ, ईखकी छायामें बैठकर प्रजापालक राजा रघुकी बचपनसे तबतककी कथाओंके गीत बना बनाकर गाती थीं ॥२०॥ इधर तो चमकीले अगस्त्य तारेके निकलनेसे जल निर्मल हो गया उधर शत्रुओंके मनमें यह जानकर खलबली मच गई कि अब न जाने कब रघु चढ़ाई कर बैठें ॥ २१ ॥ कहीं ऊँचे-ऊँचे कंधोंवाले मतवाले साँड नदियोंके कगार ढाते हुए ऐसे लगते थे मानो वे रघुके लड़कपनके खेलवाड़ोंका अनुकरण कर रहे हों ॥ २२ ॥ शरद् ऋतुमें चारों ओर छतिवनके फूल फूले हुए थे। उनकी मतवाली गन्ध पाकर रघुके हाथियों ने सोचा कि ये भी हाथी हैं और हमसे होड़ करके मद बहा रहे हैं। इसलिये वे भी रीसके मारे अपनी सूँड़के नथनों से, दोनों कपोलों से, कनपटों से और दोनों आँखों से मद बहाने लगे ॥२३॥ शरद्के आते ही नदियोंका पानी उतर गया और मार्गका कीचड़ भी सूख गया, मानो शरद् ऋतुने रघुके सोचनेसे पहलेही उन्हें दिग्विजय करनेको उकसा दिया हो ॥२४॥ यात्राके लिये चलनेसे पहले घोड़ोंकी पूजाके लिये हवन होने लगा और हवनकी आग भी दाहिनी ओर घूमती हुई उठ रही थी मानो अपने हाथ उठाकर रघुको विजय का आशीर्वाद दे रही हो ॥२५॥ सौभाग्यशाली रघुने पहले राजधानी और सीमाके गढ़ोंकी रक्षाका प्रबन्ध किया फिर शुभ मुहूर्तमें

घुड़सवार, हाथी, रथ, पैदल, गुप्तचर और शत्रुके राज्यके मार्गको जाननेवाले सैनिकोंको लेकर वे विजयके लिये चल पड़े ॥ २६ ॥

जैसे मन्दराचलसे मथते समय क्षीरसागरकी लहरोंकी उछलती हुई उजली फुहारें विष्णु भगवान्‌के ऊपर बरस रही थीं वैसे ही नगरकी बड़ी-बूढ़ी स्त्रियोंने विजय-यात्राके लिये जाते हुए रघुके ऊपर धानकी खीलें बरसाईं ॥ २७ ॥ इन्द्रके समान प्रतापी राजा रघु पहले दिग्विजयके लिये पूर्वकी ओर चले। वायु लगनेसे सेनाकी जो झंडियाँ फरफरा रही थीं वे मानो शत्रुओंको उँगली उठा-उठाकर डाँट रही थीं ॥ २८ ॥ रघुके रथोंके चलनेसे जो धूल ऊपर उड़ी उसने आकाशको पृथ्वी बना दिया। इधर पृथ्वीपर चलती हुई सेनाके काले-काले हाथी बादल जैसे लग रहे थे। उनके कारण पृथ्वी भी आकाश जैसी लगने लगी थी ॥२६॥

रघुका प्रताप इतना अधिक था कि सेनाके पहुँचनेसे पहले ही शत्रु काँप जाते थे। इस प्रकार आगे-आगे उनका प्रताप चलता था, पीछे उनकी सेनाका कोलाहल सुनाई पड़ता था, तब धूल उड़ती दिखाई देती थी और सबसे पीछे रथ आदिकी सेना चली आ रही थी। रघुकी सेना मानो इस प्रकारके चार भागोंमें बँटी हुई चल रही थी ॥३०॥ रघुके पास ऐसे साधन थे कि मरुभूमिमें भी जलकी धाराएँ बहने लगीं, गहरी नदियोंपर पुल बँध गए और घने जंगलोंमें खुले मार्ग बन गए ॥३१॥ अपनी विशाल सेनाके साथ जब वे पूर्वी समुद्रकी ओर जा रहे थे उस समय वे ऐसे लग रहे थे मानो शंकरजीकी जटासे निकली हुई गंगाजीको साथ लिए हुए भगीरथजी पूर्वी समुद्रकी ओर चले जा रहे हों ॥ ३२ ॥

जैसे कोई बलवान जंगली हाथी फलोंको गिराता और बड़े बड़े पेड़ोंको उखाड़ता-तोड़ता अपना मार्ग बनाता चलता है वैसे ही रघुने भी किसी राजासे कर लिया, किसीका राज्य छीना, और किसीको लड़ाईमें हराया। इस प्रकार शत्रुओंको नाश करके उन्होंने अपने मार्गके सब रोड़े दूर कर डाले ॥३३॥ विजयी राजा रघु पूर्वी राज्योंको जीतते हुए उस समुद्रके किनारे पहुँचे जो तटपर खड़े हुए ताड़के वृक्षोंकी छाया पड़नेसे काला दिखाई पड़ रहा था ॥३४॥ जैसे बेतकी शाखाएँ नदीकी

धारामें झुककर खड़ी रह जाती है वैसे ही सुह्म देशके राजाओंने अभिमानियोंको उखाड़ फेकनेवाले रघुकी अधीनता चुपचाप कान दबाकर मान ली और अपने प्राण बचा लिए ॥३५॥ फिर सेनानायक रघुने उन बंगाली राजाओंको हराया जो जलसेना लेकर लड़ने आए थे। उन्हें जीतकर रघुने गङ्गासागरके द्वीपोंमें अपनी विजयका झंडा गाड़ दिया ॥३६॥ जैसे किसान धानके पौधोंको एक खेतसे उखाड़-उखाड़कर दूसरे खेतमें ले जाकर रोपते हैं और फिर वे धानके पौधे किसानका घर अन्नसे भर देते हैं वैसे ही रघुने जिन राजाओंको हराकर उन्हें फिर राजपर बैठा दिया उन बंगाली राजाओंने बहुत सा धन-धान्य देकर रघुका सत्कार किया ॥ ३७ ॥ वहाँसे चलकर रघुने हाथियोंका पुल बनाकर अपनी पूरी सेनाको कपिशा नदीके पार कर दिया। वहाँ उड़ीसाके राजाओंने अधीनता तो स्वीकार की ही साथ ही आगेका मार्ग भी बताया और रघु कलिङ्गदेश जीतनेके लिये आगे बढ़े ॥३८॥ जैसे मतवाले हाथीके माथेमें हाथीवान अंकुश गड़ाता है वैसे ही रघुने भी महेन्द्र पहाड़पर पहुँचकर उसकी चोटीपर अपना पड़ाव जमा दिया ॥ ३९ ॥ जैसे पत्थर बरसानेवाले पहाड़ने पत्थर बरसाकर पर्वतोंके पख काटनेवाले इन्द्रका सामना किया था वैसे ही कलिङ्गनरेशने हाथियोंकी सेना लेकर और अस्त्र बरसाकर रघुका सामना किया ॥ ४० ॥

जैसे तीर्थोंके जलसे स्नान कराकर राजाओंका राज्याभिषेक होता है और उन्हें राज्य-लक्ष्मी मिलती है वैसे ही रघुने भी शत्रुओंके बाणोंकी वर्षासे स्नान करके विजय पाई ॥४१॥ लड़ाई हो चुकनेपर रघुके वीर सैनिकोंने महेन्द्र पर्वतपर पानके पत्ते बिछाकर मदिरालय बनाया और वहाँ नारियलकी मदिराके साथ साथ मानो शत्रुओंका यश भी पी गए ॥ ४२ ॥

राजा रघु तो धर्म युद्ध करते थे इसलिये उन्होंने कलिङ्ग नरेशको बन्दी तो बना लिया पर जब उन्होंने इनकी अधीनता स्वीकार कर ली तब उसे छोड़ भी दिया। इस प्रकार उन्होंने कलिङ्ग नरेशकी राज्यश्री तो ले ली पर राज्य उन्हींको लौटा दिया ॥ ४३ ॥

६

पूर्व दिशाको जीतकर विजयी रघु समुद्रके उस तटपर होते हुए दक्षिण दिशाको गए जिसपर पकी हुई सुपारियोंके पेड़ लगे हुए थे ॥ ४४ ॥

जब वे कावेरीके तटपर पहुँचे तब राजा रघुके सैनिक जी भर कर उस नदीमें नहाए और जलको मथ दिया। फिर हाथियोंके नहानेसे मदकी कसैली गन्ध भी जलमें आने लगी। इस प्रकार कावेरी नदीकी ऐसी दुर्गति कर दी गई कि जब वह अपने पति समुद्रके पास जाय तो उसे उसके चरित्रमे सन्देह होने लगे ॥ ४५ ॥

वहाँसे चलते चलते वे बहुत दूर निकल गए और विजय चाहने वाले रघुके सैनिक मलयाचलकी उस तराईमें उतरे जहाँ काली मिर्च की झाड़ियोंमें हरे हरे सुग्गे इधर-उधर उड़ रहे थे ॥ ४६ ॥ वहाँ पृथ्वीपर गिरे हुए लौंगके बीज घोड़ोंकी टापोंसे पिसकर वायुके सहारे हाथियोंके उन गालोंपर चिपक गए जहाँ उन्हींके गन्ध जैसी मदकी गन्ध निकल रही थी ॥ ४७ ॥

साँपोंके सदा लिपटे रहनेसे वहाँके चन्दनके पेड़ोंके चारों ओर गहरी रेखाएँ बन गई थीं जिनमें बँधे हुए रस्सोंको वे हाथी भी न तोड़ सके जो पैरके रस्सोंको झटकेसे तोड़ डालते थे ॥ ४८ ॥

दक्षिण दिशामें महाप्रतापी सूर्यका तेज भी मन्द पड़ जाता है पर रघुका तेज इतना प्रबल था कि वहाँके पांड्य राजा भी इनके आगे न ठहर सके ॥ ४९ ॥

दक्षिणके पांड्य राजाओंने ताम्रपर्णी और समुद्रके संगमसे जितने मोती बटोरे थे वे सब उन्होंने रघुको ऐसे सौंप दिए मानो अपना बटोरा हुआ यश ही उन्हें दे डाला हो ॥ ५० ॥ उन्हें जीतकर महाप्रतापी रघुने उन मलय और दुर्दर नामकी पहाड़ियोंपर बहुत दिनों तक पड़ाव डाला जिनपर चन्दनके पेड़ लगे थे और जो ऐसे दिखाई पड़ते थे मानो चंदन लगे हुए दक्षिण दिशाके दो स्तन हों ॥ ५१ ॥ फिर वे सह्यकी उस पहाड़ीको पार करके आगे बढ़े जो समुद्रके दूर हट जानेसे ऐसी दिखाई पड़ती थी मानो वह पृथ्वीका नितंब हो, जिस परसे कपड़ा हट गया हो ॥ ५२ ॥ यद्यपि परशुरामने अपने फरसेसे ही समुद्रको सह्य पर्वतसे हटा दिया था फिर भी उसके

पाससे जाती हुई रघुकी सेना ऐसी लगती थी मानो समुद्र फिर सह्याद्रिके पाससे होकर बह रहा हो ॥ ५३ ॥

रघुके भयसे जो केरल देशकी स्त्रियाँ साज-सिंगार छोड़कर घरसे भाग खड़ी हुई थीं उनके बालों पर रघुकी सेनाके चलनेसे उठी हुई जो धूल बैठ गई थी वह ऐसी लगती थी मानो कस्तूरीका चूरा लगा हुआ हो ॥ ५४ ॥ मुरला नदीकी ओरसे आनेवाले वायुके कारण जो केवड़ेके फूलोंकी धूल उड़ रही थी वह सैनिकोंके कवचों पर बैठकर बिना यत्नके ही सुगन्धित चूर्णका काम देने लगी ॥ ५५ ॥

चलते समय घोड़ोंके शरीरपरके कवच ऐसे ऊँचे स्वरसे खन-खना रहे थे कि वायुके चलनेसे जो बड़े बड़े ताड़के पेड़ोंमेंसे ध्वनि निकल रही थी वह भी उसके आगे फीकी पड़ गई ॥५६॥ नागकेसरके फूलोंपर बैठे हुए भौंरोंको जैसे ही खजूरकी डालोंसे बँधे हुए हाथियोंके कपोलोंसे टपकते हुए मदकी गन्ध मिली कि वे उन्हें छोड़कर इनपर आ टूटे ॥ ५७ ॥

पश्चिमके राजाओंने जो रघुके अधीन होकर उन्हें कर दिया था वह मानो उन्होंने नहीं वरन् उस प्रतापी समुद्रने ही कर दिया जिसने बहुत प्रार्थना करनेपर परशुरामजीको थोड़ी सी भूमि दी थी ॥ ५८ ॥ वहाँ रघुके मतवाले हाथियोंने अपने दाँतोंकी चोटोंसे त्रिकूट पर्वतपर जो रेखाएँ बना दी थीं उनसे वह पर्वत ऐसा लगने लगा मानो वह रघुकी विजयका स्मरण दिलानेवाला जय-स्तम्भ खड़ा हो जिसपर रघुकी विजय-गाथा लिखी हुई हो ॥ ५९ ॥

जैसे कोई योगी इन्द्रियरूपी शत्रुओंको जीतनेके लिये तत्त्वज्ञानका सहारा लेता है वैसे ही रघुने भी पारसी राजाओंको जीतनेके लिये स्थल मार्ग पकड़ा ॥ ६० ॥

जैसे अकस्मात् उठे हुए बादलोंसे प्रभातकी धूपमें खिले हुए कमलोंकी चमक जाती रहती है वैसे ही रघुके अचानक आक्रमणसे मदिराके लाल आँखोंवाली यवनियोंके मुख-कमल मुरझा गए ॥ ६१ ॥

वहाँ पश्चिम देशके घुड़सवार राजाओंसे रघुकी घनघोर लड़ाई हुई। सेनाके चलनेसे इतनी धूल उड़ी कि आस-पास कुछ भी नहीं दिखाई पड़ता था केवल धनुषकी टङ्कारसे ही सैनिक लोग शत्रुओंको

पहचान पाते थे ॥ ६२ ॥ मधुमक्खियोंसे भरे हुए छत्तेके समान दाढ़ियोंवाले यवनों के सिरोंको भल्ल नामके बाणों से काट-काट कर रघुने पृथ्वी पाट दी ॥ ६३ ॥ उनमेंसे जो जीते बच गए उन्होंने अपने लोहेके टोप उतार-उतार कर रघुके चरणोंमें रख दिए क्यों कि महापुरुषोंकी कृपा प्राप्त करनेका यही उपाय है कि उनकी शरणमें पहुँच जाया जाय ॥ ६४ ॥

रघुके सैनिक दाखकी लताओं से घिरी हुई पृथ्वीपर सुहावनी मृगछालाएँ बिछाकर चैनसे बैठ गए और मदिरा पी-पीकर लड़ाईकी थकावट मिटाने लगे ॥ ६५ ॥

जैसे सूर्य अपनी तीखी किरणोंसे पृथ्वीका जल खींचनेके लिये उत्तरकी ओर घूम जाता है वैसे ही रघु भी उत्तरके राजाओंको जीतने के लिये उधर घूम पड़े ॥ ६६ ॥

सिन्धु नदीके तटपर पहुँचकर रघुके घोड़े, वहाँकी रेतीमें लोट लोटकर अपनी थकावट उतारने लगे। लोटनेसे उनके शरीरमें जो केसर लग गई थी उसे उठ-उठकर उन्होंने हिलाकर झाड़ दिया॥६७॥

वहाँ रघुने अपने प्रचण्ड पराक्रमसे जिन हूण राजाओंको मार डाला, उनकी स्त्रियाँ इतना सिर पीट-पीटकर रोईं कि उनके गाल लाल हो गए ॥ ६८ ॥

कंबोज या काबुलके राजा भी लड़ाईमें रघुके आगे नहीं टहर सके। हाथियोंके बाँधनेसे जैसे वहाँकी अखरोटकी डालियाँ झुक गई थीं वैसे ही वे राजा भी रघुके आगे झुक गए ॥ ६९ ॥ कंबोजके हारे हुए राजाओं ने रघुको बहुतसे घोड़े और बहुतसा धन दिया पर उतना धन पाकर भी रघुको अभिमान नहीं हुआ ॥ ७० ॥

वहाँसे वे अपने घोड़ोंकी सेना लेकर हिमालय पहाड़पर चढ़ गए, मानो अपने घोड़ोंकी टापों से उठी हुई गेरू आदि धातुओंकी लाल-लाल धूलसे हिमालयकी चोटियोंको और भी ऊँची करना चाहते हों ॥ ७१ ॥

सैनिकोंके समान ही बलवान सिंह गुफाओंमें लेटे लेटे आँखें घुमाकर रघुकी सेनाको देख रहे थे। उनकी सेनाके कोलाहलसे वे तनिक भी मनमें घबराते नहीं थे ॥ ७२ ॥

वहाँ भोजपत्रोंमें मर्मर करता हुआ, पहाड़ी बाँसोंके छेदोंमें घुसकर बाँसुरी सी बजाता हुआ और गंगाजीकी फुहारोंसे ठण्ढा हुआ वायु रघुकी सेवा कर रहा था ॥ ७३ ॥ और रघुके सैनिक भी वहाँ नमेरुके वृक्षोंके तले उन पथरीली पाटियोंपर बैठकर सुस्ताने लगे जिनमेंसे कस्तूरी मृगोंके बैठनेसे सुगन्ध आ रही थी ॥७४॥

देवदारके पेड़ोंमें बँधे हुए हाथियोंके गलेमें जो साँकलें पड़ी थीं वे रातको चमकने वाली बूटियोंके प्रकाशसे चमचमा उठती थीं और इस प्रकार उन बूटियोंने रघुके लिये बिना तेलके ही दीपक जला दिए ॥ ७५ ॥

जब रघुने वहाँसे अपनी सेनाका पड़ाव हटा लिया तब वहाँ देवदारकी ऊँची-ऊँची शाखाओंपर हाथियोंके गलेकी साँकलोंसे बनी रेखाओंको देखकर ही जंगली किरातोंने रघुके हाथियोंकी ऊँचाईका अनुमान किया ॥ ७६ ॥

पहाड़ी सेनाओंसे रघुकी सेनाकी घनघोर लड़ाई हुई। रघुकी सेना बाण चलाती थी और पहाड़ी लोग पत्थर चलाते थे। इस प्रकार जब कभी लोहे और पत्थरकी भिड़न्त हो जाती थी तो कभी कभी आग उत्पन्न हो जाया करती थी ॥ ७७ ॥ रघुने धुआँधार बाण बरसा कर उत्सव-संकेत नामक पहाड़ियोंके छक्के छुड़ा दिए। इसपर किन्नरोंने मिलकर रघुकी वीरताके बहुतसे गीत गाए ॥ ७८ ॥ पहाड़ी राजाओंने रत्नोंके ढेर रघुको भेंटमें दिए जिसे देखकर रघुने हिमालयके अतुल धनका अनुमान किया और हिमालयने भी युद्धमें रघुके पराक्रमका अनुमान कर लिया ॥ ७९ ॥ हिमालयपर अपना झंडा गाड़कर आगे कैलासकी ओर न बढ़कर रघु लौट पड़े। इससे कैलास पर्वतको इस बातकी लज्जा हुई कि एक बार रावणने मुझे क्या उठा लिया कि सभी मुझे हारा हुआ समझने लगे ॥ ८० ॥

लौहित्य नदीको पार करके रघु प्राग्ज्योतिष या आसाममें पहुँचे। वहाँ हाथियोंके बँधनेसे जैसे कालागुरुके पेड़ काँपने थे वैसे ही प्राग्ज्योतिषके राजा भी रघुके भयसे काँपने लगे ॥ ८१ ॥

वहाँके राजाने देखा कि बादलोंके बिना ही केवल रघुकी सेनाकी [illegible]ने ही सूर्य घिर गया। जब इतने [illegible] ही वह बहुत [illegible]

गया तो फिर सेनासे वह लड़ता ही क्या ॥ ८२ ॥ तब आसामके राजाने जिन हाथियोंको लेकर बड़े-बड़े शत्रुओंको हरा दिया था उन्हीं हाथियोंको उसने इन्द्रसे भी अधिक पराक्रमी रघुको भेंटमें दे दिया ॥८३॥ और जैसे कोई भक्त फूल-माला आदिसे भक्ति पूर्वक देवताकी पूजा करता है वैसे ही कामरूपके नरेशने सोनेके पाँव-पीढेपर पड़ी हुई रघुके चरणोंकी छायाको रत्नों से पूजा ॥ ८४ ॥

इस प्रकार विजयी रघु सारी पृथ्वीको जीतकर अपनी राजधानी अयोध्याको लौटे तो उनके रथके पहियोंसे उठी हुई धूल पीछे पीछे चलनेवाले हारे हुए राजाओं के छत्र-रहित मुकुटोंपर बैठती चलती थी ॥ ८५ ॥

दिग्विजयसे लौटकर रघुने विश्वजित नामका यज्ञ किया जिसमें उन्हों ने अपनी सारी सम्पत्ति दक्षिणामें दे दी। जैसे बादल पृथ्वीसे जल लेकर फिर पृथ्वीपर बरसा देते हैं वैसे ही महात्मा लोग भी धनको दान करनेके लिये ही इकट्ठा करते है ॥ ८६ ॥

यज्ञ समाप्त हो जानेपर रघुने और उनके मन्त्रियोंने हारे हुए राजाओंका बड़ा सत्कार किया और उनके मनमें हारनेकी जो लाज थी उसे दूर कर दिया। फिर अपनी रानियोंसे बहुत दिनसे बिछुड़े हुए उन राजाओंको उन्हों ने अपने अपने देशोंमें जानेकी आज्ञा दे दी ॥८७॥

जाते समय उन राजाओं ने रघुके उन चरणों मे झुककर प्रणाम किया जिनपर ध्वजा, वज्र और छत्र आदिकी रेखाएँ बनी हुई थीं। उस समय उन राजाओं के सिरकी मालाओं से जो पराग गिर रहा था उससे रघुके चरणोंकी उँगलियाँ गोरी हो गईं ॥ ८८ ॥

महाकवि कालिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यमें रघु दिग्विजय नामका चौथा सर्ग समाप्त हुआ।



पाँचवाँ सर्ग

जिस समय रघु विश्वजित यज्ञमें अपना सब कुछ दान करके बैठे थे उसी समय वरतन्तुके शिष्य कौत्स ऋषि गुरुदक्षिणाके लिये धन माँगनेको उनके पास आ पहुँचे ॥ १ ॥

अत्यन्त शीलवान और यशस्वी रघु मिट्टीका पात्र लेकर विद्वान् कौत्स ऋषिकी पूजा करने चले क्योंकि सोने-चाँदीके पात्र तो उन्होंने सब दान ही कर डाले थे ॥ २ ॥

तपस्वी कौत्स कुशाके आसनपर बैठे हुए थे। शास्त्रके जाननेवाले सम्माननीय रघुने बड़ी विधिसे उनकी पूजा की और उनसे बोले॥३॥

हे बुद्धिमान्! जैसे सूर्य अपने प्रकाशसे सोए हुए संसारको जगा देता है वैसे ही जिस गुरुने आपको ज्ञानकी ज्योति देकर जगाया है और जो मन्त्र-द्रष्टा ऋषियोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं वे आपके गुरु कुशलसे तो हैं न ॥ ४ ॥ और उन्होंने शरीर, मन और वचन तीनों प्रकारसे जो कठिन तप करना प्रारम्भ किया था और जिसे देखकर इन्द्र भी डरा करते थे वह तप तो ठीक चल रहा है न ॥५॥ और आप लोगोंने आश्रमके जिन वृक्षोंके थाले बाँधकर उन्हें पुत्रके समान पालनसे

पाला है और जिनसे पथिकोंको छाया मिलती है उन वृक्षोंको आँधी पानीसे कोई हानि तो नहीं पहुँची है ॥ ६ ॥ और हरिणियोंके वे छोटे-छोटे बच्चे तो कुशलसे हैं न, जिन्हें ऋषि लोग बड़े प्यारसे गोदीमें बैठाकर खिलाते हैं, और जिनकी नाभिका नाल ऋषियोंके गोदमें ही सूखकर गिरता है और जिन्हें ऋषिलोग यज्ञके लिये बटोरी हुई कुशाको भी खानेसे नहीं टोकते ॥ ७ ॥ हाँ, उन नदियोंका जल तो ठीक है न, जिसमें आपलोग प्रतिदिन स्नान, संध्या, तर्पण आदि करते हैं और जिसकी रेतीपर आप लोगों ने अपने चुने हुए अन्नका छठा भाग राजाका अंश समझकर रख छोड़ा है ॥ ८ ॥ जिन तिन्नीके अन्न और फलोंसे आप लोग अतिथियोंका सत्कार करते हैं और जिन्हें खाकर ही आप लोग रह जाते हैं उन्हें आस पासके गाँवोंके घास चरनेवाले पशु तो नहीं चर जाते ॥ ९ ॥ क्या ऋषिने आपकी विद्वत्तासे प्रसन्न होकर आपको गृहस्थ बन जानेकी आज्ञा दे दी है, क्योंकि आपकी इतनी अवस्था भी हो गई है कि आप विवाह करें और सबका भला करनेवाले गृहस्थाश्रममें प्रवेश करें ॥१०॥ आप जैसे पूजनीय महात्माके आने भरसे मेरा जी नहीं भरा, मुझे कुछ सेवा करनेकी भी आज्ञा दीजिए और यह बताइए कि आपने केवल अपने गुरुजीकी आज्ञासे ही यहाँ आकर मुझे कृतार्थ किया है या अपनी इच्छासे आपने कृपा की है ॥ ११ ॥

कौत्सने ध्यानसे रघुकी उदार बातें सुनीं पर देखा कि उनके हाथमें केवल मट्टीका पात्र बचा है। उन्होंने समझ लिया कि रघुके पास एक कौड़ी भी नहीं है। उनका मुँह उतर गया और उन्होंने समझ लिया कि यहाँ हमारा काम नहीं बनेगा। यह सोचकर वे बोले ॥ १२ ॥—

हे राजन्! आपके राज्यमें हमें सब प्रकारका सुख है। जैसे सूर्यके रहते हुए अँधेरा नहीं ठहर पाता वैसे ही आपके राजा रहनेपर प्रजामें दुःखका नाम भी नहीं है ॥ १३ ॥ हे भाग्यशाली! बड़ोंकी पूजा करना आपके वंशका ही धर्म है और आप तो इस बातमें अपने पूर्वजोंसे भी आगे बढ़े हुए हैं। मैं आपके पास कुछ माँगने आया था पर मैं समझता हूँ कि मुझे आनेमें कुछ विलंब हो गया है, इसीका मुझे

खेद है ॥ १४ ॥ हे राजन्! आपने अपना सब धन अच्छे लोगोंको दे डाला है और केवल यह शरीर भर आपके पास बचा है। इससे आप उस तिन्नीके पौधेकी ठूँठ जैसे रह गए हैं जिसके दाने तपस्वियोंने झाड़ लिए हों ॥ १५ ॥ चक्रवर्ती होते हुए भी यज्ञमें सब कुछ देकर और दरिद्र होकर आप उस चन्द्रमाके समान बड़े सुन्दर लगते हैं जिसकी सारी कलाएँ धीरे-धीरे देवताओंने पी डाली हों ॥ १६ ॥ आपके पास तो कुछ है नहीं, इसलिये मैं अब किसी दूसरे धनीका द्वार खटखटाता हूँ क्योंकि पपीहा भी बिना जलवाले बादलोंसे पानी नहीं माँगता। आपका कल्याण हो ॥ १७ ॥

ऐसा कहकर कौत्स उठकर चलने लगे। रघुने उन्हें रोका और पूछा—आप गुरुजीको क्या और कितना देना चाहते हैं, कुछ कहिए भी तो ॥ १८ ॥

ब्रह्मचारी कौत्सने देखा कि विश्वजित यज्ञ करनेपर भी रघुको अभिमान छू नहीं गया इसलिये वर्ण और आश्रमकी रक्षा करनेवाले रघुसे उन्होंने अपने मनकी बात कहनी प्रारम्भ की ॥ १९ ॥—

राजन्! विद्या पढ़ चुकनेपर मैंने गुरुजीसे कहा कि आप मुझसे गुरु दक्षिणा माँगिए। गुरुजीने कहा—मैं तुम्हारी गुरुभक्तिसे ही बहुत प्रसन्न हूँ फिर गुरु-दक्षिणा लेकर क्या होगा। मैंने बड़ी भक्तिसे उनकी सेवा की थी उसे ही उन्होंने गुरु-दक्षिणा समझ लिया था ॥२०॥ पर जब मैंने बार बार दक्षिणा माँगनेके लिये उनसे हठ की तो वे बड़े लाल-पीले हो गए और मेरी दरिद्रताका विचार किए बिना ही बोल उठे—मैंने तुम्हें चौदह विद्याएँ पढ़ाई हैं इसलिये मुझे चौदह करोड़ स्वर्ण मुद्राएँ ला कर दो ॥ २१ ॥ आपके हाथमें मट्टीका पात्र देखकर ही मैं समझ गया कि आपके पास "राजा" शब्दको छोड़कर और कुछ भी नहीं बचा है, इधर मेरी गुरु-दक्षिणा भी बड़ी गहरी है इसलिये अब मेरा मन ही नहीं करता कि आपसे कुछ माँगूँ ॥ २२ ॥

जब वैदिक ब्राह्मणोंमें सर्वश्रेष्ठ कौत्सने यह कहा तब चन्द्रमाके समान सुन्दर परम धार्मिक रघु बोले—आप जैसे वेदपाठी ब्राह्मण गुरु-दक्षिणाके लिये हमारे पास आवें और यहाँसे निराश लौटकर किसी दूसरेका द्वार खोजें, यह नहीं हो सकता ॥ २३ ॥ इसलिये

आप हमारी यज्ञशालामें चलिए। वहाँ गार्हपत्य, दाक्षिणात्य और आहवनीय—ये तीन पूजनीय अग्नियाँ स्थापित हैं। आप भी चौथी अग्नि के समान पूजनीय होकर दो चार दिन ठहरिए तबतक मैं आपकी गुरुदक्षिणाके लिये कुछ जतन करता हूँ ॥ २५ ॥

यह सुनकर कौत्स बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने सत्यवादी रघुकी बात मान ली।

रघुने भी देखा कि पृथ्वी पर तो धन है नहीं, इसलिये उन्होंने निश्चय किया कि कुबेरसे ही धन लिया जाय ॥ २६ ॥ जैसे वायुके झोंकों से मेघ कहीं भी जा सकता है वैसे ही वशिष्ठजीके मन्त्रों से पवित्र किया हुआ रघुका रथ, समुद्र, आकाश और पर्वत कहीं भी आ-जा सकता था ॥२७॥ रघुने सोचा कि उसी रथपर चढ़कर मैं अकेला ही महा प्रतापी कैलासके स्वामी कुबेरको छोटेसे राजाके समान सहजमें जीत लूँगा। यह निश्चय करके वे साँझ होते ही अस्त्र-शस्त्र ठीक करके रथमें ही जाकर सो रहे ॥ २८ ॥

दूसरे दिन तड़के जैसे ही रघु चलनेको हुए वैसे ही राजकोशके रक्षकों ने आकर यह अचरज-भरा समाचार दिया कि कोशमें बहुत देर तक सोनेकी वर्षा होती रही है ॥ २९ ॥ बात यह हुई थी कि रघुकी चढ़ाईकी बात कानमें पड़तेही कुबेरने रातको ही सोनेकी वर्षा कर दी थी। वह सोनेका ढेर ऐसा चमक रहा था जैसे किसीने वज्रसे सुमेरु पर्वतका एक टुकड़ा काटकर गिरा दिया हो। रघुने वह सारा सोना कौत्सको भेंट कर दिया ॥ ३० ॥

उसे देखकर कौत्सने कहा—मैं इतना सोना लेकर क्या करूँगा। मुझे तो गुरु-दक्षिणा चुकाने भरको धन चाहिए। इस पर रघु बोले—यह नहीं हो सकता। यह सारा धन आप ही ले जाइए।

अयोध्या-निवासियों ने इन दोनोंकी बड़ी प्रशंसा की क्योंकि उन दोनों में एक तो इतना सन्तोषी था कि आवश्यकतासे एक कौड़ी अधिक लेनेको उद्यत नहीं था और दूसरा इतना बड़ा दाता था कि माँगसे भी अधिक धन देनेपर तुला हुआ था ॥ ३१ ॥

रघुने उस सारे धनको सैकड़ों ऊँटों और खच्चरोंपर लदवा दिया और जब कौत्स चलने लगे तब राजाने बड़ी नम्रतासे उन्हें

प्रणाम किया। कौत्स बड़े प्रसन्न थे और उन्होंने राजाके सिरपर हाथ धरते हुए कहा ॥ ३२ ॥—

धर्मात्मा राजाओंके लिये यदि पृथ्वी उनकी इच्छाके अनुसार धन दे तो कोई अचरज नहीं है, पर तुम्हारे प्रभावको देखकर तो सचमुच बड़ा आश्चर्य होता है क्योंकि तुमने तो स्वर्गसे भी जितना चाहा उतना धन ले लिया ॥ ३३ ॥ संसारकी सभी वस्तुएँ तुम्हें प्राप्त हो सकती हैं इसलिये तुम्हें उनके लिये आशीर्वाद देना तो व्यर्थ है तो भी मैं तुम्हें यह आशीर्वाद देता हूँ कि जैसे तुम्हारे पिता दिलीपको तुम्हारे जैसा श्रेष्ठ पुत्र मिला वैसे ही तुम्हें भी तुम्हारे ही समान प्रतापी पुत्र हो ॥ ३४ ॥

राजाको यह आशीर्वाद देकर ब्राह्मण कौत्स तो अपने गुरुजीके पास चले गए और जैसे सूर्यसे संसारको प्रकाश मिलता है वैसे ही ब्राह्मणके आशीर्वादसे थोड़े ही दिनोंमें रघुको भी पुत्र-रत्न प्राप्त हुआ ॥ ३५ ॥ रघुकी रानीकी कोखसे तड़के ब्राह्ममुहूर्तमें कार्त्तिकेयके समान तेजस्वी पुत्र जनमा तो ब्राह्म मुहूर्त्तमें जन्म होनेसे पिताने ब्रह्माके नामपर लड़केका नाम अज रक्खा ॥ ३६ ॥ जैसे एक दीपकसे जलाए जानेपर दूसरे दीपकोंमें भी ठीक वैसी ही लौ और ज्योति होती है वैसे ही अज भी रूप, गुण, बल सभी बातोंमें रघुके जैसा ही था, किसी भी बातमें कम नहीं था ॥ ३७ ॥ जैसे शीलवती कन्या अपनी इच्छाके अनुसार रूप-गुणवाले वरको चुनकर भी विवाहके लिये पिताकी आज्ञा ले लेना चाहती है वैसे ही राज्य-लक्ष्मी भी यद्यपि सुन्दर युवा रघुको स्वामी बनाना चाहती थी फिर भी वह रघुकी आज्ञाकी बाट जोह रही थी कि वे कब अजको राज्य सौंपें ॥ ३८ ॥

इसी बीचमें विदर्भ देशके राजा भोजने अपनी बहन इन्दुमतीके स्वयंवरमें अजको बुलानेके लिये एक अपना विश्वासपात्र दूत रघुके पास भेजा ॥ ३९ ॥ रघुने भी सोचा कि भोजके वंशके साथ अपने कुलका सम्बन्ध करना ठीक ही होगा और कुमार अज भी विवाहके योग्य हो गए हैं। इसलिये उन्होंने सेनाके साथ अजको विदर्भकी राजधानीको भेज दिया ॥ ४० ॥

मार्गमें अजके ठहरनेके लिये अनेक प्रकारके ऐसे वितानोंका प्रवन्ध किया गया था जिनमें सब प्रकारके सुखकी सामग्री एकत्र कर दी गई और वहाँके पासके गाँववालों ने अजके लिये अच्छी-अच्छी वस्तुएँ भेटमें ला कर दीं। इन सबके कारण वे ग्रामीण स्थान भी ऐसे लगने लगे मानो अज राजसी विलास-उद्यानोंमें हों ॥ ४१ ॥ वहाँसे चलकर अजने नर्मदा नदीके किनारे अपनी उस थकी हुई सेनाका पड़ाव डाला जिसकी पताकाएँ मार्गकी धूल लगनेसे मट मैली हो गई थीं। वहाँ बड़ा शीतल वायु वह रहा था और उसके झोंकों में करञ्जकके पेड़ झूम रहे थे ॥ ४२ ॥ इसी बीच एक जगली हाथी नर्मदाके जलमें से झूमता हुआ निकला। उसके जलमें घुसनेसे पहले ही उसके मदके कारण मधुमक्खियाँ वहाँ पहुँच गई थीं और ऊपर गूँज रही थीं। जलमें स्नान करनेके कारण उसके माथेके दोनों ओरका मद धुल गया था ॥४३॥ यद्यपि नहानेसे उसके दाँतों में लगी गेरूकी लाली तो छूट गई थी फिर भी पत्थरकी रगड़से उसकी दाँतों पर जो नीली-नीली रेखाएँ बन गई थीं उनसे जान पड़ता था कि उसने ऋक्षवान पर्वतकी शिलाओं में टक्करें मारी हैं ॥ ४४ ॥ वह हाथी ज्यों ज्यों तटकी ओर आने लगा त्यों त्यों अपनी सूँड़ फैलाकर और सिकोड़कर चिग्घाड़ता हुआ जलकी लहरोंको चीरने लगा। उस समय वह ऐसा जान पड़ता था मानो वह अलानकी साँकलें तोड़ रहा हो ॥४५॥ वह पहाड़के समान लम्बा-चौड़ा हाथी अपनी छातीसे सेवारको अपने साथ खींचता हुआ तट पर आ पहुँचा और उससे जलमें जो लहरें उठी थीं वे उससे भी पहले तटपर पहुँच चुकी थीं ॥४६॥ यद्यपि नदीमें नहानेसे उस हाथीके माथेका सब मद धुल चुका था फिर भी अजकी सेनाके हाथियोंको देखकर वह बलवान हाथी क्रोध से तमतमा उठा और उसके माथेसे फिर मद बहने लगा ॥ ४७ ॥ जब अजके हाथियोंने उसके छितवनके दूधके समान कसैले मदकी गन्ध पाई तब वे हाथीवानों के बार बार रोकने पर भी इधर-उधर भाग चले ॥ ४८ ॥ उस विशाल जंगली हाथीको देखते ही सब घोड़े भी रस्सा तुड़ा-तुड़ाकर भाग चले। इस भगदड़ में जिन रथोंके धुरे टूट गए वे जहाँ-तहाँ गिरे पड़े थे। सैनिक लोग अपनी

स्त्रियोंको छिपानेके लिये सुरक्षित स्थान ढूँढने लगे। उस एक हाथीने सेनामें इतनी भगदड़ मचा दी ॥ ४९ ॥ वह हाथी अजकी ओर चला आ रहा था किन्तु अजने सोचा कि यह जंगली हाथी है, इसको मारना ठीक नहीं है। इसलिये उन्होंने अपने धनुषको थोड़ा सा खींचकर एक बाण उसके मस्तकमें ऐसा मारा जिससे वह लौट जाय ॥ ५० ॥ बाण लगते ही उस हाथीका शरीर ऐसा सुन्दर और तेजपूर्ण हो गया जैसा देवताओंका होता है। यह देखकर अजके सैनिक तो आँख फाड़कर अचरजसे जहाँके तहाँ खड़े रह गए ॥५१॥ उस देवताका वेष धारण करनेवाले पुरुषने अपने प्रभावसे कल्पवृक्षके फूल मँगाकर अजके ऊपर बरसाए और जब उसने बोलनेके लिये मुँह खोला तब उसके दाँतोंकी चमकसे उसके गलेमें पड़ा हुआ हार दमक उठा ॥ ५२ ॥

वह बोला—मैं गन्धर्वोंके राजा प्रियदर्शनका पुत्र प्रियम्वद हूँ। एक बार मैंने अभिमानमें आकर मतंग ऋषिका अपमान किया था। उन्हींके शापसे मैं हाथी होगया ॥ ५३ ॥ जब मैंने ऋषिके बहुत हाथ पाँव जोड़े तब उन्हें दया आ गई क्योंकि जल तो आगकी गर्मी पाकर ही गर्म होता है, उसका अपना स्वभाव तो ठंढा ही होता है ॥ ५४ ॥ तब प्रसन्न होकर उस तपस्वीने कहा—इक्ष्वाकु वंशमें अज नामके कुमार उत्पन्न होंगे और जब वे तुम्हारे माथेपर लोहेके फलवाला बाण मारेंगे तब तुम्हें फिरसे अपना वास्तविक शरीर प्राप्त हो जायगा ॥५५॥ उसी दिनसे मैं हाथी हो गया और तबसे सदा आपके आनेकी बाट देखा करता था। आज बड़े भाग्यसे आप आगए और मुझे शापसे छुड़ा दिया। इस उपकारके बदलेमें यदि मैंने आपकी कोई भलाई न की तो मेरा यह शरीर पाना व्यर्थ ही है ॥५६॥ लीजिए! मेरे पास यह सम्मोहन नामका गन्धर्वास्त्र है जिसके चलाने और लौटानेके अलग-अलग मन्त्र हैं। इस दुर्लभ अस्त्रको आप ले लीजिए। इसमें यह विशेषता है कि जब आप इसे चलावेंगे तब आप शत्रुके प्राण लिए बिना ही उसे जीत लेंगे ॥५७॥ जान पड़ता है कि [illegible] जो मेरे ऊपर बाण चलाया है उससे आपके मनमें कुछ संकोच हो रहा है। पर इसमें लजानेकी क्या बात है,

क्यों कि वाण चलाते समय भी आपके मनमें मुझे मारनेकी इच्छा तो थी नहीं। आपने तो दया करके ही वाण चलाया था। अब मैं आपसे यह प्रार्थना करता हूँ कि आप यह अस्त्र ले लीजिए, आना-कानी न कीजिए ॥ ५८ ॥

चन्द्रमाके समान सुन्दर अजने गन्धर्वका कहना मान लिया। उन्हों ने पहले चन्द्रमासे निकली हुई नर्मदाके जलका आचमन किया और फिर उत्तरकी ओर मुँह करके शापसे छूटे हुए उस गन्धर्वसे वह अस्त्र ले लिया और उसके चलाने और रोकनेका मंत्र भी सीख लिया ॥ ५९ ॥

इस प्रकार दैवयोगसे अज और प्रियम्वदकी मार्गमें ही मित्रता हो गई। वहाँसे प्रियम्वद तो कुवेरके चित्ररथ नामक उपवनकी ओर चला गया और अज भी उस विदर्भ देशकी ओर चल पड़े जो अच्छे शासनके कारण बड़ा सुन्दर था ॥ ६० ॥

जब विदर्भके राजाको यह समाचार मिला कि अज आ गए हैं तब वे बड़े प्रसन्न हुए और जैसे समुद्र अपनी लहरोंको ऊँचे उठाकर चन्द्रमाका स्वागत करता है वैसे ही उन्हों ने भी नगरके बाहर अजके पड़ावमें जाकर उनका स्वागत किया ॥ ६१ ॥

राजा भोज अपने साथ अजको नगरमें ले गए और वहाँ उन्हें अपना सब कुछ भेंट करके ऐसी नम्रताके साथ उनका सत्कार किया कि लोग यही समझने लगे कि अज ही इस घरके स्वामी हैं और भोज अतिथि हैं ॥ ६२ ॥ वहाँसे भोज-राजके सेवक, अजको बड़ी नम्रतासे उस मनोहर राजमंदिरमें ले गए जिसके द्वारकी चौकियोंपर जलसे भरे मंगल-कलश रक्खे हुए थे।

उस भवनमें रघुके प्रतिनिधि अज ऐसे रहने लगे मानो कामदेवने अपना वचपन विताकर जवानीमें पैर धरा हो ॥ ६३ ॥

अब अजको यह चाह हुई कि किसी प्रकार उस कन्याको प्राप्त करें जिसे पानेके लिये सैकड़ों राजा स्वयम्वरमें आए थे। इसी उलझन में पड़े रहनेके कारण रघुकी आँखोंमें रातको उसी प्रकार बहुत विलंबसे नींद आई जैसे अपने पतिके मनको न जाननेवाली नई वहू अपने पतिके पास विलंबसे जाती है ॥ ६४ ॥

एक करवट सोनेके कारण अजके भरे हुए कन्धोंपर कुंडलके दबनेसे उसका चिह्न पड़ गया और बिछौनेकी रगड़से उनके शरीरपर लगा हुआ अंगराग भी पुँछ गया था। दिन निकलते ही उनकी समान अवस्थावाले और मधुर बोलनेवाले सूतों के पुत्र यह स्तुति गा-गाकर बुद्धिमान अजको जगाने लगे ॥ ६५ ॥—

हे परम बुद्धिमान ! रात ढल गई है, अब शैया छोड़िए। ब्रह्माने पृथ्वीका भार केवल दो भागोंमें बाँटा है, जिसे एक ओर तो तुम्हारे पिता सदा सजग होकर सँभालते हैं और दूसरी ओर तुम्हें जागकर सँभालना है ॥ ६६ ॥ देखो, तुम्हारी सौंदर्य-लक्ष्मीने जब यह देखा कि तुम निद्रा-रूपी दूसरी स्त्रीके वशमें हो तब वह तुम्हें चाहते रहनेपर भी रुष्ट होकर तुम्हारे ही मुखके समान सुन्दर चन्द्रमाके पास चली गई थी पर इस समय चन्द्रमा भी मलिन हो गया है और इसलिये वह सौन्दर्य लक्ष्मी बेचारी निराधार हो गई है, क्योंकि तुम्हारे मुखकी बराबरी करनेवाला और कोई सुन्दर पदार्थ तो है नहीं जिसके पास वह जा सके। इसलिये जागकर तुम उसे फिर अपनालो ॥ ६७ ॥

इस समय तुम्हारी बन्द आँखों में पुतलियाँ घूम रही हैं और तालों में कमलोंके भीतर भौंरे गूँज रहे हैं। इस समय उठो तो सूर्यके निकलनेपर तुम्हारे नेत्र और कमल एक साथ खिलकर एक जैसे सुन्दर लगने लगें ॥ ६८ ॥ प्रातःकालका पवन वृक्षोंकी शाखाओंपर झूलनेवाले ढीली कोरवाले फूलोंको गिराता हुआ सूर्यकी किरणों से खिले हुए कमलोंको छूता हुआ चल रहा है मानो तुम्हें जगा हुआ न देखकर वह तुम्हारे मुखकी स्वाभाविक सुगन्धको दूसरों से लेनेका प्रयास कर रहा है ॥ ६९ ॥ हारके उजले मोतियों के समान निर्मल ओसके कण वृक्षोंके लाल लाल पत्तोंपर गिरकर वैसे ही सुन्दर लग रहे हैं जैसे तुम्हारे हँसनेके समय तुम्हारे लाल-लाल ओठोंपर पड़ी हुई तुम्हारे दाँतोंकी चमक सुन्दर लगती है ॥ ७० ॥ सूर्यके उदय होनेके पहले ही उनका चतुर सारथी अरुण संसारसे अँधेरेको भगा देता है। यह ठीक भी है क्योंकि जब सेवक चतुर होता है तब स्वामीको स्वयं कार्य करनेका कष्ट नहीं उठाना पड़ता। देखो जब तुम्हारे जैसे [illegible] [illegible] [illegible] लगते हैं

तब तुम्हारे पिताजीको क्या कभी शत्रुओंको स्वयं मारनेका कष्ट उठाना पड़ता है, कभी नहीं ॥ ७१ ॥

तुम्हारी सेनाके हाथी, दोनों ओर करवटें बदलकर खन-खनाती हुई,साँकलोंको खींचते हुए उठ खड़े हुए हैं। लाल सूर्यकी किरणें पड़नेसे उनके दाँत ऐसे लगते हैं मानो वे अभी गेरूके पहाड़को खोदकर चले आ रहे हों ॥७२॥ हे कमलके समान नेत्रवाले ! बड़े-बड़े पट मंडपोंमें बँधे हुए तुम्हारे वनायु देशके घोड़े नींद छोड़कर सेंधे नमकके उन टुकड़ोंको अपने मुँहकी भापसे मैला कर रहे हैं जो चाटनेके लिये उनके आगे रक्खे हुए हैं ॥७३॥ रातकी सजावटके फूल मुरझाकर टूक टूक हो गए हैं। उजाला हो जानेके कारण दीपकका प्रकाश भी अब अपनी लौ से बाहर नहीं जाता और पींजरेमें बैठा हुआ मीठी बोली बोलने वाला तुम्हारा यह तोता भी हमारी ही बातोंको दुहरा रहा है ॥७४॥

जैसे आकाशगंगाकी रेतीमें लेटा हुआ सुप्रतीक नामका देवताओंका हाथी, राजहंसोंका शब्द सुनकर जाग उठता है वैसे ही चारणोंकी सुरचित वाणी सुनकर राजकुमार अजकी नींद खुल गई और वे उठ बैठे ॥ ७५ ॥

सुन्दर पलकोंवाले राजकुमार अजने उठकर शास्त्रमें बताई हुई प्रातः कालकी सब उचित क्रियाएँ कीं और फिर उनके चतुर सेवकोंने उन्हें बहुत सुन्दर वस्त्र पहनाए । इस प्रकार सज-धजकर वे स्वयम्वरके राज-समाजकी ओर चल दिए ॥ ७६ ॥

महाकवि कालिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यमें अजका स्वयंवर गमन नामका पाँचवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।



छठा सर्ग

स्वयम्वरमें जाकर अजने देखा कि सजे हुए मंचोंपर बैठे हुए राजा लोग ऐसे सुन्दर लग रहे हैं जैसे विमानोंपर देवता बैठे हुए हों ॥१॥

जब दूसरे राजाओंने अजको देखा तब उन्होंने इन्दुमतीको पानेकी सब आशाएँ छोड़ दीं क्योंकि अज ऐसे लग रहे थे मानो साक्षात् कामदेव हों, जिन्हें शिवजीने रतिकी प्रार्थनापर फिरसे जीवित कर दिया हो ॥२॥

जैसे सिंहका बच्चा एक-एक शिलापर पैर रखता हुआ पहाड़पर चढ़ जाता है वैसे ही राजकुमार अज भी सुन्दर सीढ़ीपर चढ़कर भोजके बनाए हुए मंचपर जाकर बैठ गए ॥३॥

जिस सिंहासनपर वे जाकर बैठे, वह सोनेका बना हुआ था, उसमें रत्न जड़े थे और उसपर रंग-बिरंगे वस्त्र बिछे हुए थे। उसपर बैठे हुए वे ऐसे सुन्दर लग रहे थे मानो कार्त्तिकेय अपने मोरपर चढ़े बैठे हों ॥४॥

वहाँ बैठे हुए राजाओंका ठाट-बाट और तड़क-भड़क देखकर आँखें चौंधियाई जाती थीं और ऐसा जान पड़ता था मानो लक्ष्मीने अपनी

शोभा उन लोगोंमें उसी प्रकार बाँट दी हो जैसे बिजली अपनी चमक बादलों में बाँट देती है ॥५॥

जैसे नन्दन वनके वृक्षों में पारिजात ही सबसे अधिक सुन्दर है वैसे ही बहुमूल्य सिंहासनोंपर बैठे हुए और बड़े ठाट-बाटसे सजे हुए राजाओंके बीचमें अकेले अज ही शोभा देते थे ॥ ६ ॥

जैसे फूलवाले वृक्षोंको छोड़कर मद बहानेवाले जंगली हाथियोंपर भौंरे झुक पड़ते हैं, वैसे ही नगर वासियोंकी आँखें सब राजाओंसे हटकर अजपर जा लगीं ॥ ७ ॥

इतनेमें सब राजाओंके वंशोंको जानने वाले भाटोंने सूर्य और चन्द्रमाके वंशमें उत्पन्न होनेवाले उन सब राजाओंकी प्रशंसा की और अगरके सारसे बनाई हुई धूप-बत्तियोंका धुआँ चारो ओर उड़ता हुआ फहराती हुई झंडियोंतक पहुँच गया ॥ ८ ॥

जिन शंखों और मंगल बाजोंके बजनेपर नगरके आस पासकी अमराइयों में रहने वाले मोर उसे बादलका गरजना समझकर नाच उठते हैं उन बाजोंकी ध्वनिसे दसों दिशाएँ गूँज उठीं। इसी बीच विवाहके समयका वेष धारण किए हुए इन्दुमती, वर चुननेके लिये पालकीपर चढ़कर मंचोंके बीचवाले राजमार्गसे आई। उस पालकीको मनुष्य ढो रहे थे और उसके चारों ओर दासियाँ पैदल चला आ रही थीं ॥ १० ॥

वह कन्या क्या थी, ब्रह्माकी रचनाका एक बहुत ही सुन्दर रूप था जिसे सैकड़ों आँखे एकटक होकर देख रही थीं। उसकी सुन्दरताको देखते ही सब राजाओंका मन तो उसपर चला गया, केवल उनके शरीर भर मंचोंपर रह गए ॥ ११ ॥

राजाओंने अपना प्रेम जतानेके लिये जो वृक्षोंके पत्तोंके समान अनेक प्रकारसे भौंह आदि चलाकर शृंगार चेष्टाएँ कीं वे मानो उनके प्रेमको इन्दुमतीतक पहुँचानेवाली दूतियाँ थीं ॥ १२ ॥

कोई राजा हाथमें सुन्दर कमल लेकर उसकी डंठल पकड़कर घुमाने लगा। उसके घूमनेसे भौंरे तो इधर उधर भाग गए पर उसमें जो पराग भरा हुआ था, उसके फैलनेसे कमलके भीतर चारों ओर एक कुण्डली सी बन गई। उसे घुमाकर वह यह प्रकट करता

था कि विवाह कर लेनेपर हम भी तुम्हारे हाथमें इसी प्रकार नाच सकते हैं ॥ १३ ॥ दूसरा एक विलासी राजा, थोड़ा मुँह घुमाकर कन्धेसे सरकी हुई और भुजबन्धमें उलझी हुई रत्नोंकी मालाको उठाकर फिरसे गलेमें ठीकसे पहनने लगा। इससे उसने यह संकेत किया कि मैं सदा तुम्हें गले लगाए रहूँगा ॥ १४ ॥ तीसरा राजा भौंह चलाकर पैरकी उँगली सिकोड़कर पैरके नखोंकी कान्ति तिरछी डालते हुए पैरसे सोनेके पाँव-पीढ़ेपर कुछ लिखने लगा। इस संकेतसे वह इन्दुमतीको अपने पास बुलाना चाहता था ॥ १५ ॥ कोई राजा सिंहासनके एक ओर बाईं भुजा टेककर बैठ गया और अपने पास बैठे हुए मित्रसे बात करने लगा, जिससे उसका बायाँ कन्धा उठ गया और गलेकी माला भी पीठपर लटक गई। इससे उसने यह संकेत किया कि मैं सदा तुम्हें अपनी बाईं ओर बिठाऊँगा ॥१६॥ एक दूसरा युवा राजा था, जिसके नख मानो प्रियाके नितम्बोंपर चिह्न बनानेके लिये ही बने थे। वह उन नखोंसे केतकीके उन धौले पत्तोंको नोच रहा था जो किसी विलासी स्त्रीके शृंगारके लिये कानके आभूषणके रूपमें कटे हुए थे। इस संकेतसे उसने प्रकट किया कि हम इसी प्रकार तुम्हारे नितम्बों पर नख-चिह्न लगावेंगे ॥१७॥ एक दूसरे राजा थे जिनकी हथेली कमलके समान लाल थी और जिसपर ध्वजाकी रेखाएँ बनी हुई थीं। वे अपने हाथमें पासे उछाल रहे थे, और उनकी अंगूठीकी झलक पासोंपर पड़ रही थी। वे संकेत कर रहे थे कि तुम्हारे साथ विवाह होनेपर हम दिन रात तुम्हारे साथ पासा खेला करेंगे ॥ १८ ॥ एक दूसरा राजा बार-बार अपने हाथसे उस मुकुटको सीधा कर रहा था जो पहलेसे ही सीधा था। ऐसा करनेसे उसके हाथोंकी उँगलियोंके बीचका भाग रत्नोंकी किरणोंसे चमक उठता था। इससे वह यह संकेत करता था कि मैं तुम्हें सदा सिर आँखों पर रक्खूँगा ॥ १९ ॥

करते हैं। अपनी प्रजाको सुख देकर इन्होंने बड़ा नाम कमाया है। इनका नाम परंतप है और ये सचमुच परंतप अर्थात् शत्रुओंको ताप देनेवाले हैं ॥ २१ ॥ जैसे तारों, ग्रहों और नक्षत्रों से भरी रहनेपर भी रात तभी चाँदनी रात कहलाती है जब चन्द्रमा खिला हुआ हो, वैसे ही यद्यपि संसारमें सहस्रों राजा हैं किन्तु पृथ्वी इन्हींके रहनेसे राजावाली कहलाती है ॥ २२ ॥ इन्होंने एक पर एक यज्ञ करके बार बार इन्द्रको अपने यहाँ बुलाया। जिसका फल यह हुआ कि इन्द्राणीके सिरकी चोटी कल्पवृक्षके फूलों का शृङ्गार न होनेसे उसके पीले गालोंपर झूलने लगी, क्योंकि पतिके पास न रहनेसे उन्होंने शृंगार करना ही छोड़ दिया था ॥२३॥ यदि इनके साथ तुम विवाह करना चाहती हो तो अवश्य करो। क्योंकि जब तुम विवाह करके इनके साथ इनकी राजधानी पाटलिपुत्रमें पहुँचोगी तब वहाँकी स्त्रियाँ झरोखोंमें बैठकर तुम्हें देखेंगी और तुम्हारी सुन्दरता देखकर उनकी आँखोंको सुख मिलेगा ॥२४॥

सुनन्दाकी बात सुनकर इन्दुमतीने तनिक सी आँख उठाकर राजाको देखा। उसके हाथकी दूबमें गुथी हुई महुएकी माला कुछ सरक गई और बिना कुछ कहे-सुने सीधा सा प्रणाम करके उसे अस्वीकार करती हुई वह आगे बढ़ गई ॥ २५ ॥

जैसे वायुसे उठी हुई लहरके सहारे मानसरोवरकी राजहंसिनी एक कमलसे दूसरे कमलपर पहुँच जाती है, उसी प्रकार सुनन्दा भी राजकुमारी इन्दुमतीको दूसरे राजाके आगे पहुँचाकर खड़ी हो गई ॥ २६ ॥ और बोली—ये अंग देशके राजा हैं। इनके यौवनको देवताओंकी स्त्रियाँ भी चाहा करती हैं। बड़े बड़े हाथियोंकी विद्या जानने वाले लोग इनके हाथियोंको सिखाते हैं। इन्हें पृथ्वीपर रहते हुए भी इन्द्रके समान ही समझो ॥ २७ ॥ इन्होंने जिन राजाओंको युद्धमें मार डाला है उनकी स्त्रियोंने अपने पतिके शोकमें मोतियोंका हार उतार फेंका पर उनके रोनेसे उनके स्तनों पर गिरती हुई बूँदोंकी धाराएँ मोतियोंके हारके समान ही लगने लगीं। उसे देखकर ऐसा लगता था मानो इन्होंने शत्रुओंकी स्त्रियोंके गलेमें मोतियोंके हार उतारकर उन्हें आँसुओंके हार पहना दिए हों ॥२८॥

यों तो तुम जानती ही हो कि लक्ष्मी और सरस्वती दोनोंमें कभी नहीं बनती, पर इनके पास दोनों ही मिलकर रहती हैं। इसलिये हे कल्याणी! तुम सुन्दर भी हो और तुम्हारी मधुर वाणी भी है, इसलिये तुम उन दोनोंके साथ तीसरी बनकर पहुँच सकती हो ॥ २९ ॥

इन्दुमतीने उस अंग देशके राजासे आँखें हटाईं और सुनन्दासे कहा—आगे चलो। यह बात नहीं थी कि वह राजा सुन्दर नहीं था और न यही बात थी कि इन्दुमतीने उसे ठीकसे देखा न हो। अपनी अपनी रुचि ही तो है, किसीको कोई अच्छा लगता है किसीको कोई ॥ ३० ॥

वहाँसे आगे चलकर प्रतिहारी सुनन्दाने एक दूसरे राजाको दिखाया जो शत्रुओंको कँपाने वाला था और जिसका रूप और यौवन पूर्णोंके उठते हुए चन्द्रमाके समान सुन्दर था। उसे दिखाकर सुनन्दा बोली—देखो, ये जो लम्बी भुजा, चौड़ी छाती, और पतली गोल कमर वाले राजा सूर्यके समान चमक रहे हैं, ये अवन्ति देशके राजा हैं, और ऐसा जान पड़ता है कि विश्वकर्माने अपने शान धरनेके चक्रपर इन्हें बड़े यत्नसे खराद दिया है ॥ ३२ ॥ जब ये शक्तिशाली राजा शत्रुओं पर चढ़ाई करते हैं तब सेनाके आगे चलने वाले घोड़ोंकी टापोंसे उठी हुई धूलसे शत्रुओंके मुकुटोंकी चमक धुँधली पड़ जाती है ॥३३॥ इनका राज-भवन महाकाल मन्दिरमें बैठे हुए सिर पर चन्द्रमा धारण करनेवाले शिवजीके पास ही है। इसलिये अँधेरे पाखमें भी शिवजीके सिरपर बने हुए चन्द्रमाकी चाँदनीसे यह अपनी प्रियोंके साथ सदा उजले पाखका ही आनन्द लेते हैं। केलेके खम्भेके समान जाँघवाली इन्दुमती! क्या तुम अवन्तीके उन उद्यानोंमें विहार करना चाहती हो जिनमें दिन-रात सिप्रा नदीका ठंडा वायु बहता रहता है ॥ ३५ ॥

इतनी सारी बात सुनकर भी सुकुमारी इन्दुमतीको मित्रोंको प्रसन्न और शत्रुओंको मारनेवाला वह प्रतापी राजा उसी प्रकार अच्छा नहीं लगा जैसे कुमुदिनियोंको वह सूर्य नहीं भाता जो कमलोंको खिलाता है और कीचड़को सुखा देता है । ३६ ।

कमलके समान सुन्दर, बड़ी गुणवती, विधाताकी सुन्दर रचना और सुन्दर दाँतों वाली इन्दुमतीको सुनन्दा वहाँसे अनूप राजाके आगे ले जाकर बोला ॥ ३७ ॥—

बहुत दिनोंकी बात है, एक कार्त्तवीर्य नामके बड़े योगी हो गए हैं। उनमें बड़ी भारी बात यह थी कि जब वे लड़ने जाते थे तब उनके सहस्रों हाथ निकल आते थे। उन्होंने अठारह द्वीपोंमें जाकर यज्ञके खम्भे गाड़ दिए। वे ऐसे प्रतापी थे कि उनके सामने कोई अपनेको राजा नहीं कह सकता था ॥ ३८ ॥ उनके समयमें यदि कोई पाप करनेका विचार भी करता था तो वे धनुष-बाण लेकर उसके सिरपर जा चढ़ते थे। इस ढंगसे उस दंडधारीने सब लोगोंके मनमेंसे पाप निकाल डाला ॥ ३९ ॥ जिस रावणने इन्द्रको भी जीत लिया था उसको भी उन्होंने अपने कारागारमें बन्दी रख छोड़ा और उसकी भुजाएँ इस प्रकार धनुषकी डोरीसे कसकर बाँध दी गई थीं कि वह बेचारा दिनरात उसाँसें भरता रहता था और जबतक कार्त्तवीर्य उसपर प्रसन्न नहीं हुए तब तक उसे छोड़ा नहीं ॥ ४० ॥ उन्हीं प्रसिद्ध राजाके वंशमें ये उत्पन्न हुए हैं। ये वेदों और ब्राह्मणोंकी बड़ी सेवा करते हैं। लक्ष्मीको लोग चंचलताका दोष लगाते थे पर उनका वह दोष भी तबसे धुल गया जबसे वह इनके साथ रहने लगीं क्योंकि लक्ष्मी तो उसी पुरुषको छोड़कर चंचला होकर जाती हैं, जो व्यसनी होते हैं। इनमें कोई व्यसन नहीं, इसलिये इन्हें क्यों छोड़कर जाय ॥ ४१ ॥ ये राजा इतने बलवान हैं कि अग्निकी सहायता पा लेनेसे ये परशुरामजीके उस फरसेकी तेज धारको भी पँखड़ीके कमलके समान कोमल समझते हैं जिसने युद्धमें क्षत्रियोंका संहार कर डाला था ॥४२॥ तुम यदि राजभवनके झरोखोंसे उस सुन्दर लहरोंवाली नर्मदाका सुन्दर दृश्य देखना चाहती हो जो माहिष्मती नगरीके चारों ओर तगड़ी जैसी घूम गई है तो इस महाबाहु राजासे विवाह कर लो ॥ ४३ ॥

जैसे खुले आकाशवाली शरद्ऋतुका मनोहर चन्द्रमा भी कमलिनी को नहीं भाता वैसे ही वह सुन्दर राजा भी इन्दुमतीके मनमें नहीं जँचा। तब रनिवासकी सेविका सुनन्दा, राजकुमारीसे शूरसेन

उस राजा सुषेणके आगे ले गई जिसकी कीर्ति स्वर्गके देवता भी गाते थे और जिसने अपने शुद्ध चरित्रसे माता और पिताके दोनों कुलोंको उजागर कर दिया था। उन्हें दिखाकर सुनन्दा बोली ॥ ४५ ॥—

ये राजा बड़ी विधिसे यज्ञ करते हैं और प्रशंसनीय वंशमें उत्पन्न हुए हैं। जैसे ऋषियोंके शान्त आश्रमोंमें सब जीव वैर छोड़ कर एक साथ रहते हैं वैसे ही विद्वत्ता और मौन रहना ये परस्पर विरोधी गुण भी इनमें एक साथ रहते हैं ॥ ४६ ॥ इनका चन्द्रमाकी चाँदनी जैसा आँखोंको सुखदेनेवाला प्रकाश तो घरमें रहता है और सूर्यके समान प्रचण्ड तेज शत्रुओंके उन राजभवनोंपर दिखाई देता है जिनके उजड़ जानेपर उनमें घास जम आई है ॥ ४७ ॥ जब ये जल-विहार करते हैं और इनकी रानियोंके स्तनोंपर लगा हुआ चन्दन जलमें मिलकर यमुनामें बहता है उस समय मथुरामें भी यमुनाजीका रंग ऐसा प्रतीत होता है मानो वहीं पर उनका गंगाजीकी लहरोंसे संगम हो गया हो ॥ ४८ ॥ जब ये अपने गलेमें वह मणि पहन लेते हैं, जो उन्हें उस कालिय नागने दी थी जो गरुड़के डरसे यमुनाके जलमें रहने लगा था, उस समय इनकी शोभाके आगे कौस्तुभ मणि पहने हुए श्रीकृष्णजीकी शोभा भी लजा जाती है ॥४९॥ हे सुन्दरी! इनके साथ विवाह करके आप कुबेरके चैत्ररथ नामके उद्यानसे भी सुन्दर वृन्दावनमें कोमल पत्तों और फूलोंकी शय्याओं पर विहार करो ॥ ५० ॥ और वर्षाके दिनोंमें गोवर्धन पर्वतकी सुहावनी गुफाओंमें पानीके फुहारोंसे भीगी हुई शिला-जीतकी गन्धवाली पत्थरकी पाटियोंपर बैठकर मोरोंका नाच देखना ॥ ५१ ॥

पानीकी भँवरके समान गहरी नाभिवाली और अन्य किसीसे विवाह न करने वाली इन्दुमती, राजा सुषेणको छोड़कर उसी प्रकार आगे बढ़ गई जैसे समुद्रकी ओर बहती हुई नदी बीचमें पड़ते हुए पहाड़को छोड़ जाती है ॥ ५२ ॥

इसके पीछे सुनन्दा नामकी प्रतीहारी चन्द्रमाके समान मुख वाली इन्दु-मतीको उस दक्षिण देशके राजा हेमाङ्गदके आगे ले गई जो अपनी बाँहमें

भुजबन्ध पहने हुए थे और जिन्होंने अपने शत्रुओंको नष्ट कर डाला था। उन्हें दिखाती हुई सुनन्दा बोली ॥ ५३ ॥—

इनको देखती हो! ये महेन्द्र पर्वतके समान शक्तिवाले हैं और महेन्द्र पर्वत और समुद्र दोनोंपर इनका अधिकार है। जब ये युद्धके लिये चलते हैं उस समय इनके आगे-आगे चलने वाले मतवाले हाथी ऐसे लगते हैं मानो हाथियोंका वेष बनाकर स्वयं महेन्द्र पर्वत चला जा रहा हो ॥ ५४ ॥ इनको देखती हो न, कैसी सुन्दर इनकी भुजाएँ हैं, और धनुषधारियोंमें तो इनसे बढ़कर कोई है ही नहीं। इनकी भुजाओंपर जो दो काली काली रेखाएँ धनुषकी डोरी खींचनेसे बन गई हैं, वे ऐसी जान पड़ती हैं मानो ये शत्रुओंकी उस राज्य-लक्ष्मीके आनेकी दो पगडंडियाँ हैं जो उन्होंने शत्रुओंसे छीन ली है और जिसके कजरारे नेत्रोंसे बहे हुए आंसुओंके कारण ये काले पड़ गए हैं। ठीक इनके राजभवनके नीचे ही समुद्र हिलोरें लेता है। उसकी लहरें राजभवनके झरोखोंसे स्पष्ट दिखाई देती हैं। जब ये अपने राजभवनमें सोते हैं तब वह समुद्र ही नगाड़ेकी ध्वनिसे भी गंभीर अपने गर्जनसे इन्हें प्रातः जगा देता है ॥ ५६ ॥ तुम चाहो तो इनके साथ विवाह करके समुद्रके उन तटोंपर विहार करो जहाँ दिनरात ताड़के जंगलोंकी तड़तड़ाहट सुनाई देती है, और वहाँ जब तुम्हें पसीना भी होगा तब लौंगके फूलोंकी सुगन्धमें बसा हुआ दूसरे द्वीपोंसे आता हुआ शीतल पवन तुम्हारा पसीना पोंछ देगा ॥ ५७ ॥

विदर्भराजकी छोटी बहन सुन्दरी इन्दुमती अपनी दासीकी लुभावनी बातोंको सुनकर भी उस राजाको छोड़कर उसी प्रकार आगे बढ़ गई जैसे पुरुषार्थसे लाई हुई सम्पत्ति भाग्यके फेरसे छोड़कर चली जाती है ॥ ५८ ॥

तब सुनन्दा उसे देवताके समान मनोहर नागपुरके राजाके पास ले जाकर बोली—चकोर-नेत्र वाली, इधर तो देख ॥५९॥ यह पांड्य देशके राजा हैं। इनके कंधेपर हार लटका हुआ है, और इनके शरीरपर हरिचन्दनका लेप किया हुआ है। इस वेशमें ये उस

हिमालयके शिखरके समान सुन्दर लग रहे हैं जो प्रातःकालकी धूप से लाल हो गया हो और जिस परसे अनेक पानीके झरने गिर रहे हों ॥ ६० ॥ जब ये अश्वमेध यज्ञ करके स्नान करते हैं तब वे महा-प्रतापी अगस्त्य ऋषि इनसे कुशल पूछने आते हैं जिन्होंने विन्ध्याचलको आगे बढ़नेसे रोक दिया और पूरे समुद्रको पीकर फिर मुँहसे निकाल दिया था ॥६१॥ जब महाप्रतापी रावण इन्द्रको जीतने चला, तब उसने इनसे इस डरसे सन्धि कर ली थी कि कहीं ऐसा न हो कि मेरी पीठ पीछे ये मेरे देशको नष्ट भ्रष्ट कर दें, क्योंकि इन्होंने भी शिवजीसे बड़ा प्रतापी अस्त्र प्राप्त किया है ॥६२॥ ये बड़े अच्छे कुलमें उत्पन्न हुए हैं और तुम भी पृथ्वीके समान महान हो। इनके साथ विधिपूर्वक पाणि-ग्रहण करके तुम रत्नों से भरी उस दक्षिण देशकी पृथ्वीकी सौत बन जाओ जिसकी तगड़ी स्वयं रत्नों से भरा समुद्र है ॥ ६३ ॥

यदि तुम सदा मलय पर्वतकी उन घाटियों मे विहार करना चाहो, जिनमे पानकी बेलोंसे ढके हुए सुपारीके पेड़ खड़े हैं, इलायचीकी बेलों से लिपटे हुए चन्दनके पेड़ लगे हैं और स्थान स्थानपर ताड़के पत्ते फैले हुए हैं, तो तुम इनसे विवाह कर लो ॥ ६४ ॥ फिर ये नीले कमलके समान साँवले हैं और तुम गोरोचन जैसी गोरी हो, इसलिये यदि तुम दोनोंका विवाह हो जायगा तो तुम ऐसी सुन्दर लगोगी जैसे बादलके साथ बिजली ॥ ६५ ॥

सुनन्दाकी बातें इन्दुमतीके मनमे वैसे ही नहीं घर कर सकीं जैसे सूर्यके न दिखाई देनेपर बन्द कमलके भीतर चन्द्रमाकी किरणें नहीं पहुँच पातीं ॥ ६६ ॥

रातको जब हम दिया लेकर चलते हैं तब जो जो राजमार्गके भवन पीछे छूटने चलते हैं वे अँधेरेमें पड़ते जाते हैं वैसे ही जिन जिन राजाओंको छोड़कर इन्दुमती आगे बढ़ गई उनका मुँह उतर गया ॥ ६७ ॥

तब वह रघुके पुत्र अजके आगे आई तब उनके मनमें भी यह [illegible] होने लगी कि यह मुझे वरेगी या नहीं। पर उसी समय

६

भुजबन्धके पास उनकी दाईं भुजा फड़क उठी जिससे उनकी शङ्का दूर हो गई ॥ ६८ ॥

इन्दुमतीने जब उस सर्वाङ्ग-सुन्दर राजा अजको देखा तब वह वहीं रुक गई और फिर किसी राजाके आगे नहीं जा सकी क्योंकि जब भौरोंका झुण्ड आमके वृक्षपर पहुँच जाता है तब उन्हें दूसरे वृक्षों के पास जानेकी चाह नहीं रहती ॥ ६९ ॥

सुनन्दा तो बात करनेमें बड़ी चतुर थी। जब उसने देखा कि चन्द्रमाके समान मुखवाली इन्दुमती अजके रूपपर लट्टू हो गई है तब वह बहुत बढ़ा-चढ़ाकर बात बनाती हुई बोली—देखो ! इक्ष्वाकुके वंशमें, राजाओं में श्रेष्ठ और सुन्दर लक्षणों वाले एक ककुत्स्थ नामके राजा हो गए हैं, जिनके कारण उनके पीछे उत्तर कोशलके सभी राजा अपनेको काकुत्स्थ कहते आए हैं ॥ ७१ ॥

उन काकुत्स्थ राजाने जब युद्धमें असुरोंको मारा था तब बैलपर चढ़े हुए वे शिवजीके समान लगते थे। और जानती हो उनका बैल कौन था। स्वयं इन्द्र भगवान उनके लिये बैल बने हुए थे और उस युद्धमें उन्हों ने जिन असुरोंको मार डाला था उनकी स्त्रियों ने पतियों से बिछोह होनेके कारण अपने कपोलोंको चीतना ही छोड़ दिया था ॥७२॥ युद्ध समाप्त हो जानेपर जब इन्द्र अपना रूप धारण कर ऐरावतपर चढ़कर स्वर्ग जाने लगे तब उनके साथ ककुत्स्थ भी बैठे हुए थे। उस समय वे इन्द्रके साथ ऐसे सटे हुए बैठे थे कि ऐरावतको बार-बार अंकुश लगानेसे इन्द्रके जो भुजबन्ध ढीले पड़ गए थे वे ककुत्स्थके भुजबन्धसे रगड़ खाते चलते थे ॥ ७३ ॥ उन्हीं प्रतापी ककुत्स्थके वंशमें यशस्वी राजा दिलीपने जन्म लिया जो केवल निन्यानवे यज्ञ करके ही इसलिये चुप हो गए कि कहीं सौ यज्ञ पूरे करनेमें इन्द्रको कष्ट न हो ॥ ७४ ॥ वे प्रतापी राजा ऐसे अच्छे ढंगसे अपना राज चलाते थे और उनका ऐसा दबदबा था कि उपवनों में मद पीकर सोई हुई स्त्रियोंके वस्त्रोंको वायु भी नहीं हिला सकता था फिर उन्हें हटानेका साहस तो भला कौन करता ॥ ७५ ॥ उन्हींके पुत्र रघु उनके पीछे राजा हुए, जिन्हों ने सब देशोंको जीतकर अपार धन इकट्ठा किया और विश्वजित यज्ञमें अपना सब कुछ दान

दिया, केवल एक मिट्टीका पात्र उनके पास बच गया ॥ ७६ ॥ उनका यश कहाँतक फैला हुआ है उसकी थाह थोड़े ही है। पर्वतोंपर, समुद्रके पार, पातालमें, नागोंके देशमें, आकाशमें, सब दिशाओंमे और भूत, भविष्य, वर्त्तमान तीनों कालोंमें सब कहीं तो उनका यश फैला हुआ है ॥ ७७ ॥ जैसे इन्द्रके बड़े प्रतापी पुत्र जयन्त हुए थे वैसे ही कुमार अज भी उन्हीं प्रतापी रघुके पुत्र है, और ये भी अपने प्रतापी पिताके समान ही राज्यका सब काम सँभालते हैं॥७८॥ इनका कुल, इनका रूप, इनका यौवन और नम्रता ये सब गुण तुम्हारे ही जैसे हैं। तुम इनसे अवश्य विवाह करो जिससे रत्न और सोने का ठीक-ठीक संयोग हो जाय ॥७९॥ जब सुनन्दा कह चुकी तब इन्दुमतीने संकोच छोड़कर अपनी हँसती हुई आँखे अजपर डालीं और आँखों आँखों में उन्हे वर लिया मानो वह दृष्टि ही स्वयंवरकी माला हो ॥ ८० ॥ इन्दुमती लाजके मारे अपने प्रेमकी बात अजसे कह तो न सकी पर उस प्रेमके कारण उसे रोमांच हो आया और घुँघराले बालोंवाली इन्दुमतीके हृदयका वह प्रेम छिपानेपर भी न छिप सका मानो खड़े हुए रोंगटोंके रूपमे वह प्रेम शरीर फोड़ कर निकल आया हो ॥ ८१ ॥ सुनन्दाने इन्दुमतीकी यह दशा देखकर ठिठोली करते हुए कहा—आर्ये, चलिए आगे बढ़िए। इसपर इन्दुमतीने आँखे तरेर कर सुनन्दाकी ओर देखा ॥ ८२ ॥ हाथीकी सूँड़के समान जंघाओंवाली इन्दुमतीने वह स्वयंवरकी माला सुनन्दाके हाथों रघुके पुत्र अजके गलेमें पहनवा दी। उस मालाके हारमें लगी हुई रोली साक्षात् अनुरागके समान ही लग रही थी ॥ ८३ ॥

जब अजके गलेमें वह फूलोंकी मंगल माला पड़ी और उनकी चौड़ी छातीपर झूल गई तब उसे देखकर अजने यही समझा मानो इन्दुमतीने मेरे गलेमें अपनी भुजाएँ ही डाल दी हों ॥ ८४ ॥

जब वहाँके नगर-वासियोंने देखा कि समान गुणवाले अज और इन्दुमतीका सम्बन्ध हो गया तब वे एक साथ बोल उठे— यह तो रोहिणी और चन्द्रमाका मेल हुआ है और गङ्गाजी समुद्रमें

मिल गई हैं। उनकी ये बातें सुन सुनकर दूसरे राजा लोग अपने मनमें बहुत क्रुद्ध रहे थे ॥ ८५ ॥

स्वयंवरके मंडपमें एक ओर अजके पक्षवाले हँसते हुए खड़े थे और दूसरी ओर उदास मुँहवाले राजा लोग खड़े थे। उस समय वह मण्डप प्रातःकालके उस सरोवर जैसा लगने लगा जिसमें एक ओर खिले हुए कमल हों और दूसरी ओर मुँदे हुए कुमुदोंका झुण्ड खड़ा हो ॥ ८६ ॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यमें इन्दुमती स्वयंवर नामका छठा सर्ग समाप्त हुआ ॥



सातवाँ सर्ग

स्वयंवर हो चुकनेपर योग्य पतिसे ब्याही हुई अपनी बहिन इन्दुमतीको साथ लेकर विदर्भ-नरेश नगरकी ओर चले। अपनी पत्नी इन्दुमतीके साथ जाते हुए अज ऐसे लग रहे थे मानो साक्षात् देवसेनाके साथ स्कन्द जा रहे हों ॥ १ ॥

दूसरे राजा लोग भी प्रातःकालके तारोंके समान अपना उदास मुँह लेकर अपने अपने डेरोंमें चले गए और सब कहते जा रहे थे कि जब इन्दुमती नहीं मिली तब हम लोगोंका यह रूप और यह वेश किस कामका ॥ २ ॥

उस स्वयंवरमें स्वयं इन्द्राणी उपस्थित थीं इसलिये वहाँ किसीका साहस नहीं हुआ कि कुछ गड़बड़ी कर सकें। यों तो जितने हारे हुए राजा थे वे सभी अजसे मनमें जलते थे किन्तु इन्द्राणीके सामने उनका भी क्रोध ठंडा पड़ गया ॥ ३ ॥

सत्कारमें सजाए गए थे। नगरमें इतनी झण्डियाँ लगाई गई थीं कि धूप भी रुक गई थी ॥ ४ ॥ उनको देखनेके लिये नगरकी सुन्दरियाँ अपना-अपना काम छोड़कर अपने भवनों के झरोखोंकी ओर दौड़ पड़ीं ॥ ५ ॥

एक सुन्दरी उन्हें देखनेके लिये जब झरोखेकी ओर लपकी तब सहसा उसका जूड़ा खुल गया और उस हड़बड़ीमें अपना जूड़ा बाँधनेकी भी उसे सुध न रही और वह अपने केश हाथमें थामे ही खिड़कीपर पहुँच गई। बालोंके ढीले पड़ जानेसे उनमें गुथे हुए फूल बराबर नीचे गिरते जाते थे ॥ ६ ॥ दूसरी स्त्री अपनी शृंगार करनेवाली दासीसे पैरमें महावर लगवा रही थी। वह भी उससे पैर खींचकर गीले पैरोंसे ही झरोखेकी ओर दौड़ी जिससे झरोखे तक लाल पैरोंकी छापकी पाँतसी बनती चली गई ॥ ७ ॥ एक तीसरी स्त्री अपनी आँखोंमें आँजन लगा रही थी। दाईं आँखमें तो लगा चुकी थी पर बाईं आँखमें आँजन लगाए बिना ही वह सलाई लिए हुए झरोखेकी ओर दौड़ पड़ी ॥ ८ ॥

एक और स्त्री झरोखेमें आँखें लगाए खड़ी थी। उसका नाड़ा खुल गया था पर उसे बाँधनेकी सुध ही उसे नहीं थी। वह अपने कपड़े हाथसे थामे इस प्रकार खड़ी थी कि उसके हाथके आभूषणोंकी चमक उसकी नाभितक पहुँच रही थी ॥ ९ ॥

एक स्त्री बैठी हुई मणियोंकी तगड़ी गूँथ रही थी। उसका एक छोर उसने एक पैरके अँगूठेमें बाँध रक्खा था। अभी आधी ही पिरो पाई थी कि सहसा उठकर अजको देखनेके लिये झरोखेकी ओर लपकी। फल यह हुआ कि वहाँ पहुँचते पहुँचते मणियाँ तो निकल निकलकर इधर उधर बिखर गईं, केवल डोरा भर पाँवमें बँधा रह गया ॥ १० ॥ मदिराकी गन्धसे सुवासित मुखोंवाली, झरोखों में उत्सुकताके साथ झाँकती हुई वे स्त्रियाँ ऐसी जान पड़ती थीं मानो झरोखोंमें बहुतसे कमल सजे हुए हों और उनपर बहुतसे भौंरे बैठे हुए हों क्योंकि उनके सुन्दर मुखोंपर आँखें ऐसी जान पड़ती थीं जैसे कमलपर भौंरे बैठे हों ॥ ११ ॥ वे स्त्रियाँ ऐसी एक टक होकर अपने नेत्रोंसे अजका रूप पी रही थीं कि उनका ध्यान

किसी ओर कामकी ओर गया ही नहीं मानो उनकी सब इन्द्रियोंकी शक्ति एक आँखोंमें ही आ बसी हो ॥ १२ ॥

स्त्रियाँ आपसमें कह रही थीं—यों तो बहुतसे राजाओंने अपने आप आकर इन्दुमतीसे विवाहकी प्रार्थना की थी, पर राजकुमारीने स्वयंवर करके ही अपना विवाह करना उचित समझा और यह ठीक भी किया। जैसे स्वयंवरमें लक्ष्मीने नारायणको वर लिया वैसे ही इन्दुमतीने अजको वर लिया है। बताओ तो बिना स्वयंवरके उसे ऐसा योग्य वर कैसे मिलता ॥१३॥ यदि ब्रह्मा इस सुन्दर जोड़ीको न मिलाते तो इन दोनोंको सुन्दर बनानेका उनका सब परिश्रम व्यर्थ हो जाता ॥१४॥ ये दोनों पिछले जन्ममें रति और कामदेव ही रहे होंगे। इसीलिये तो सहस्रों राजाओंके बीचमें इन्दुमतीने उन्हें प्राप्त कर लिया क्योंकि मन तो पिछले जन्मके सम्बन्धको भली भाँति पहचान ही लेता है ॥ १५ ॥

नगरकी महिलाओंके मुँहसे इस प्रकारकी बातें सुनते हुए कुमार अज अपने सम्बन्धी भोजके उस राजभवनमें पहुँचे जो मंगल सामग्रियोंकी सजावटसे जगमगा रहा था ॥ १६ ॥ वहाँ पहुँचकर वे झटसे हथिनीसे नीचे उतरे और कामरूपके राजाके हाथमें हाथ देकर विदर्भराजके बनाए हुए भीतरी चौकमें ऐसे पैठ गए मानो वे वहाँकी स्त्रियोंके मनमें भी पैठ गए हों ॥१७॥ वहाँ वे सुन्दर बहुमूल्य सिंहासनपर जाकर बैठ गए। भोजने उन्हें रेशमी वस्त्रोंके एक जोड़ेके साथ जो रत्न, मधु और घी मिला हुआ मधुपर्क भेंट किया उसे उन्होंने स्त्रियोंकी बाँकी चितवनके साथ साथ स्वीकार कर लिया ॥१८॥

जैसे चन्द्रमाकी नई किरणें समुद्रकी उठती झागवाली लहरोंको खींचकर दूर किनारेतक ले जाती हैं वैसे ही रनिवासके नम्र सेवक अजको इन्दुमतीके पास ले गए ॥ १९ ॥

वहाँ विदर्भ-राजके अग्निके समान तेजस्वी पुरोहितने घी आदि सामग्रियोंसे हवन करके और उसी अग्निको साक्षी बनाकर वर और कन्याका गठबंधन कर दिया ॥२०॥ जैसे आमका पेड़ अपनी पत्तियोंके साथ [illegible] लालकी लाल पत्तियोंके मिल जानेसे मनोहर लगता है वैसे ही वर अपने [illegible] हाथ पाकर और भी

बहुत सुन्दर लगने लगे ॥२१॥ बहूके हाथ थामनेसे अजके गहेके पास रोमांच हो आया और इन्दुमतीकी उँगलियोंमें पसीना आने लगा। उस समय ऐसा प्रतीत हुआ मानो कामदेवने अपने प्रेमका भाव उन दोनोंमें बराबर बाँट दिया हो ॥ २२ ॥ वे कनखियोंसे एक दूसरेकी ओर देखते थे और आँखें चार होतेही एक दूसरेको देखकर लज्जासे आँखें नीची कर लेते थे। उनका यह लाजभरा संकोच देखनेवालोंको बड़ा सुन्दर लग रहा था ॥ २३ ॥ अज और इन्दुमती जब हवनकी अग्निके फेरे देने लगे उस समय ऐसा जान पड़ता था मानो दिन और रातका जोड़ा मिलकर सुमेरु पर्वतकी फेरी दे रहा हो ॥ २४ ॥

तब बड़े-बड़े नितम्बों वाली, मत्त चकोरके समान आँखोंवाली, लजीली इन्दुमतीने ब्रह्माके समान पूज्य पुरोहितके कहनेसे अग्निमें धानकी खीलें छोड़ीं ॥ २५ ॥ घी, शमीके पत्तों और धानकी खीलोंकी गन्धसे भरा हुआ पवित्र धुआँ अग्निसे निकलकर जब इन्दुमतीके कपोलतक पहुँचा तब ऐसा जान पड़ा मानो इन्दुमतीने नीले कमलका कर्णफूल पहन रक्खा हो ॥ २६ ॥ उस विवाहकी अग्निका धुआँ लगनेसे इन्दुमतीकी आँखोंसे आँजन मिला हुआ आँसू निकलने लगा, कानोंके कर्णफूल कुम्हला गए और गाल लाल होगए ॥२७॥

फेरे हो चुकनेपर सोनेके सिंहासनपर बैठे हुए वर वधूके ऊपर स्नातकोंने, कुटुम्बियोंने, भोजराजने और पुरोहितजीने गीले वारीसे गीले अक्षत छोड़कर आशीर्वाद दिए ॥ २८ ॥

उस भोज-कुलके दीपक, लक्ष्मीवान राजाने अपनी बहनका विवाह-संस्कार पूरा करके सेवकोंको आज्ञा दी कि वे अलग-अलग सब राजाओंका आदर-सत्कार करें ॥ २९ ॥

जैसे तालके निर्मल जलके भीतर ही घड़ियाल रहता है वैसे ही दूसरे राजा भी ऊपरसे तो बड़े प्रसन्न दिखाई देते थे पर मन मनमें कुढ़े हुए थे। वे सब विदर्भराजसे आज्ञा लेकर उनकी दी गई सामग्रीको भेंटके बहानेसे लौटाकर अपने-अपने देशोंको लौट चले ॥३०॥ इन राजाओंने मिलकर पहले ही निश्चय कर लिया था कि जब रघु इन्दुमतीको लेकर चलें तो उन्हें घेर लिया जाय और उनसे

सुन्दरी इन्दुमतीको छीन लिया जाय इसलिये वे सब मिलकर आगे रघुका मार्ग रोककर बीचमें ठहर गए ॥ ३१ ॥

इधर छोटी बहिनका विवाह करके विदर्भ-राजने भी अपने सामर्थ्यके अनुसार धन देकर रघुके पुत्र अजको विदा दी और उनके साथ-साथ जाकर कुछ दूरतक उन्हें पहुँचा आए ॥ ३२ ॥ कुण्डिनपुरके राजा भोजने तीनों लोकोंमें विख्यात अजके साथ मार्गमें तीन रातें बिताईं और फिर वैसे ही लौट आए जैसे अमावास्या होनेपर सूर्यके पाससे चन्द्रमा लौट आता है ॥ ३३ ॥

जो राजा मार्ग रोके खड़े हुए थे उनका कोशलपति रघुने दिग्विजयके समय धन छीन लिया था इसलिये वे पहलेसे ही उनसे वैर मानते थे। इसीलिये वे यह भी नहीं सह सके कि रघुका पुत्र हम लोगोंके रहते हुए स्त्रियोंमें रत्न इन्दुमतीको लेकर चला जाय ॥३४॥

जब अज इन्दुमतीको साथ लिए चले जा रहे थे उस समय उन अभिमानी राजाओंने अजको उसी प्रकार रोक लिया जैसे इन्द्रके शत्रु वृत्रासुरने वामनके चरणको उस समय रोक लिया था जब वे बलिकी राज्य-लक्ष्मी लेकर चले थे ॥ ३५ ॥ अजने अपने पिताके मन्त्रीको आज्ञा दी कि थोड़ेसे योद्धा साथ लेकर इन्दुमती की रक्षा करो और स्वयं उस सेनाको रोककर उसी प्रकार खड़े हो गए जैसे बरसाती दिनोंमें ऊँची तरंगों वाला शोणनद गङ्गाजीकी धाराको रोक लेता है ॥ ३६ ॥

लड़ाई छिड़ गई। पैदल पैदलोंसे भिड़ गए, रथवाले रथवालोंसे जूझ गए, घुड़सवार घुड़सवारोंसे उलझ पड़े, हाथी-सवार हाथी-सवारोंपर टूट पड़े। इस प्रकार बराबर जोड़की लड़ाई होने लगी ॥ ३७ ॥ वहाँ इतनी तुरहियाँ बज रही थीं कि कुछ सुनाई नहीं देता था। इसलिये धनुर्धारी अपना कुल और नाम भी नहीं पुकार रहे थे। पर वे जो बाण चला रहे थे उनपर खुदे हुए अक्षरोंसे ही उनके नामोंका ज्ञान हो जाता था ॥ ३८ ॥

दौड़ते हुए घोड़ोंकी टापोंसे जो धूल उड़ी उसमें रथके पहियोंसे उठी हुई धूल मिलकर और भी घनी हो गई। हाथियोंके कानोंके फटकनेसे वह धूल चारों ओर ऐसे फैल गई मानो कपड़ेसे ढक दिया

गया हो ॥ ३९ ॥ वायुके कारण सेनाकी मछलीके आकार वाली झंडियोंके मुँह खुल गए थे। उनमें जब धूल घुस रही थी तब वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो वर्षाका गदला पानी पीती हुई सच्ची मछलियाँ हों ॥ ४० ॥ धूल इतनी उठी हुई थी कि उस युद्ध-क्षेत्रमें सैनिकों ने पहियोंका शब्द सुनकर जाना कि रथ आ रहा है और अपने परायेका ज्ञान उन्हें तब होता था जब दोनों ओरके सैनिक अपने-अपने राजाओंका नाम ले लेकर युद्ध करते थे ॥ ४१ ॥ आँखोंके आगे अँधेरा करने वाली और युद्ध भूमिमें फैली हुई धूलके अँधियारेमें, शस्त्रों से घायल घोड़ों, हाथियों और योद्धाओं के शरीरसे निकला हुआ लहू, प्रातःकालके सूर्यकी लाली जैसा लगने लगा ॥ ४२ ॥

पृथ्वीपर इतना रक्त वहा कि नीचेकी धूल दब गई और जो धूल उठ चुकी थी वह वायुके सहारे इधर-उधर फैलकर उस धुएँ जैसी लगने लगी जो अग्नि से उठकर ऊपर फैल चुका हो और नीचे केवल अंगारे बचे रह गए हों ॥ ४३ ॥ जो योद्धा चोट लगने से मूर्छित हो गए थे उनको उनके सारथी रथपर डालकर लौटा लाए। पर जब उनकी मूर्छा दूर हुई तो वे अपने सारथियोंको बहुत बुरा-भला कहने लगे और जिनकी मारसे वे घायल हुए थे उन्हें रथके झण्डों से पहचान पहचानकर मारने लगे ॥ ४४ ॥ जिन धनुर्धारियोंके हाथ बाण चलानेमें सधे हुए थे उनके बाण यद्यपि शत्रुओंके बाणों से बीचमें ही दो टूक हो जाते थे फिर भी उनमें इतना वेग होता था कि उनका फल लगा हुआ अगला भाग लक्ष्यपर पहुँच ही जाता था ॥ ४५ ॥ जहाँ हाथियोंका युद्ध हो रहा था वहां पैने छुरेवाले चक्रों से जिन हाथीवानों के सिर कट गए थे वे सिर बहुत देरसे पृथ्वीपर गिरते थे, क्योंकि उनके लम्बे लम्बे बाल बाजोंके नखों में उलझनेसे बहुत देरतक ऊपर ही टँगे रह जाते थे ॥ ४६ ॥ एक घुड़सवारने अपने शत्रु घुड़सवारपर पहले चोट की। चोट खातेही वह घोड़ेके कंधेपर झुक गया और उसमें इतनी भी शक्ति न रही कि सिरतक उठा सके। जिस घुड़सवारने प्रहार किया था उसने यह देखकर फिर हाथ नहीं उठाया,

उलटे यह मनाने लगा कि वह फिरसे जी उठे ॥ ४७ ॥ जो कवच-धारी योद्धा अपने प्राण हथेलीपर लिए लड़ रहे थे, उन्हों ने नंगी तलवारसे जब हाथियों के दाँतों पर चोटें कीं तब आग निकलने लगी। उस आगसे हाथी इतने डर गए कि वे अपनी सूँड़के जलसे उस आगको बुझाने लगे ॥ ४८ ॥ वह युद्धक्षेत्र मृत्युदेवके मदिरालय सा जान पड़ रहा था जिसमें बाणसे कटे हुए सिर ही मानो फल हों, उलटकर गिरे हुए कूँड़ ही मानो प्याले हों और बहता हुआ रक्त ही मानो मदिरा हो ॥ ४९ ॥ एक स्थानपर किसीके बाँहका टुकड़ा कटा पड़ा था जिसे गिद्ध आदि पक्षियों ने नोच रक्खा था। उसे मांसके लोभसे सियारिन खींच ले गई, पर ज्योंही उसने उसपर मुँह मारा त्योंही बाँहमें बँधे हुए भुजबन्धकी नोकसे उसका तालू छिद गया और उसने उसे वहींपर छोड़ दिया ॥ ५० ॥

एक योद्धाका सिर शत्रुकी तलवारसे कट गया। युद्धमें मृत्यु होनेसे वह देवता हो गया और अपने बाएँ एक अप्सरा लिए हुए विमानपर चढ़कर आकाशसे यह देखने लगा कि मेरा धड़ रणभूमिमें किस प्रकार नाच रहा है ॥ ५१ ॥ दो योद्धाओंके सारथी मारे जा चुके थे इसलिये वे अपने आप रथ भी चला रहे थे और लड़ भी रहे थे। पर जब उनके घोड़े भी मारे जा चुके तब वे रथों से उतरकर पैदल ही गदा लेकर लड़ने लगे और जब गदाएँ भी टूट गईं तब वे मल्ल-युद्ध करने लगे ॥ ५२ ॥ दो वीर एक दूसरेके प्रहारसे एक साथ मारे गए। दोनों देवता होकर जब स्वर्गमें पहुँचे तब वहाँ एक ही अप्सरापर दोनों रीझ गए और वहाँ भी वे आपसमें झगड़ने लगे ॥ ५३ ॥

जैसे समुद्रकी दो लहरें आगे पीछे झोंका लेनेवाले वायुसे हटती बढ़ती रहती हैं वैसे ही वे दोनों सेनाएँ भी कभी जीतती थीं और कभी हारती थीं ॥ ५४ ॥

यद्यपि शत्रुओं ने अजकी सेनाको मारकर भगा दिया था पर महापराक्रमी अज शत्रुकी सेनामें बढ़ते ही चले गए क्योंकि वायु धुएँको भले ही हटा दे पर आग तो उलटे उसके सहारे घास-फूसको पकड़ती ही चली जाती है ॥ ५५ ॥

जैसे प्रलयके समय वराह भगवान समुद्रके बढ़े हुए जलको चीरते हुए चलते थे वैसे ही घोड़ेपर चढ़े तूणीर बाँधे स्वाभिमानी वीर अज अकेले ही शत्रुओंकी सेनाको चीरते चले जा रहे थे ॥५६॥

वे इतनी फुर्तीसे बाण चला रहे थे कि यह पता ही नहीं चलता था कि उन्होंने कब अपना हाथ तूणीरमें डाला और कब बाण निकाला। वरन् ऐसा जान पड़ता था कि वे जब कानतक धनुषकी डोरी खींचते थे तब उसीमेंसे शत्रुओंका नाश करनेवाले बाण निकलते चले जा रहे थे ॥ ५७ ॥ जिन राजाओंने क्रोधसे चबा-चबाकर ओठोंको लाल कर लिया था और जो भौंहें तानकर हुंकार करते हुए आगे बढ़ रहे थे उनके सिर काट-काट कर अजने पृथ्वी पाट दी ॥ ५८ ॥ जब उन राजाओंने यह देखा तब वे रथ, घोड़े और पैदल लेकर कवचतक काट देने वाले पैने अस्त्रोंसे पूरा बल लगाकर एक साथ अजपर प्रहार करने लगे ॥ ५९ ॥

इन राजाओंने अजपर इतने अस्त्र बरसाए कि उनका रथ ढक गया। जैसे कोहरेके दिन, प्रभात होनेका ज्ञान धुँधले सूर्यको देखकर होता है वैसे ही अजका पता उनके रथकी पताकाके सिरेको देखकर ही मिलता था ॥ ६० ॥ तब महाराज रघुके पुत्र, कामदेवके समान सुन्दर, सावधान अजने प्रियंवदका दिया हुआ वह गान्धर्व अस्त्र राजाओंपर छोड़ा जिससे निद्रा आ जाती है ॥ ६१ ॥ अस्त्र छोड़ते ही उन राजाओंकी सेनाके हाथ ऐसे रुक गए कि वे अपने धनुषतक न खींच पाए। उनकी पगड़ियाँ गिरकर कन्धोंपर झूल गईं और सारी सेना झंडियोंके डंडोंके सहारे सो गई ॥ ६२ ॥

उस समय इन्दुमतीके चुंबनका रस लेनेवाले अपने ओठोंसे शंख फूँकते हुए अज ऐसे जान पड़ते थे मानो अपने बाहुबलसे उत्पन्न किए हुए मूर्तिमान यशको ही पी रहे हों ॥ ६३ ॥ शंखकी ध्वनिको पहचानकर अजके योद्धा लौट आए। सोते हुए शत्रुओंके बीच अज उन्हें ऐसे लगे मानो मुँदे हुए कमलोंके बीचमें चन्द्रमा चमकता हो ॥ ६४ ॥ तब उन मूर्छित पड़े हुए राजाओंकी ध्वजाओंपर रुधिरमें सने बाणोंकी नोकोंसे यह लिख दिया गया—हे राजाओ! इस समय राजकुमार अजने तुम लोगोंका यश तो ले लिया पर दया करके

प्राण नहीं लिए। अजने अपने सिरका कूँड़ उतारा तो उनके बाल छितरा गए, उनके माथेपर पसीना छा गया और धनुषके एक छोरपर बाँह टेककर वे इन्दुमतीके पास आकर बोले ॥ ६६ ॥ इन्दुमती! चलो तो तुम्हें दिखावें कि जिन राजाओंके शस्त्र बालक भी छीन सकते हैं वे सब युद्धभूमिमें सोए पड़े हैं। देखो, इसी बलपर ये तुम्हें मेरे हाथों से छीनने चले थे ॥ ६७ ॥

जब इन्दुमतीको विश्वास हो गया कि शत्रु मारे गए तब उसका मुँह उस दर्पणके समान सुन्दर लगने लगा जिसपर पड़ी हुई साँसकी भाप पोंछ दी गई हो ॥ ६८ ॥

अपने पतिका पराक्रम देखकर इन्दुमती प्रसन्न तो हुई पर वह इतनी लजा गई कि उसके मुँहसे उनके स्वागतके लिये शब्द ही नहीं निकले, पर जैसे नये बादलोंकी बूँदों से भीगी हुई पृथ्वी मोरके शब्दों में मेघोंका स्वागत करती है वैसे ही उसकी सखियोंने जो अजकी प्रशंसा की वह मानो इन्दुमतीने ही उनका अभिवादन किया ॥ ६९ ॥

इस प्रकार पवित्र अज उन राजाओं के सिरोंपर बायाँ पैर रखकर सुन्दरी इन्दुमतीको लेकर चले। उनके रथके घोड़ोंकी टापों से उठी हुई धूलसे इन्दुमतीके केश भर गए थे और वह साक्षात् विजय-लक्ष्मी जैसी जान पड़ रही थी ॥ ७० ॥

रघुको यह सब समाचार पहले ही मिल चुका था इसलिये उन्होंने सुन्दरी पत्नीके साथ आए हुए विजयी अजका स्वागत किया और फिर उन्हें कुटुम्बका भार सौंपकर मोक्षकी साधनामें लग गए, क्योंकि सूर्यवंशी राजाओंका यह नियम है कि जब पुत्र कुलका भार सँभालनेके योग्य हो जाता है तब वे घरमें नहीं रहते ॥ ७१ ॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यमें
अजका विवाह नामक सातवाँ सर्ग समाप्त हुआ।



आठवाँ सर्ग

अभी अजने विवाहका सुन्दर मङ्गल-सूत्र उतारा भी नहीं था कि रघुने अजके हाथोंमें सारी पृथ्वी इस प्रकार सौंप दी मानो वह भी दूसरी इन्दुमती हो ॥ १ ॥

जिस राज्यको पानेके लिये दूसरे राजकुमार खोटे उपायोंका प्रयोग करनेमें भी नहीं संकोच करते, उसी राज्यको अजने केवल अपने पिताकी आज्ञा मानकर ही स्वीकार कर लिया, भोगकी इच्छासे नहीं ॥ २ ॥

जिस समय अजका राज्याभिषेक हुआ उस समय वशिष्ठजीने उनके ऊपर जो पवित्र जल छिड़का वह पृथ्वी पर भी पड़ा। उससे पृथ्वीसे जो भाप निकली वह मानो यह सूचित करती थी कि उसे भी अजके राजा होनेसे सन्तोष है ॥ ३ ॥ अथर्ववेदके जाननेवाले वशिष्ठजीने जब उनका राज्याभिषेक कर दिया तब वे इतने तेजस्वी हो उठे कि उनके सब शत्रु काँप गए क्योंकि जब क्षात्र तेजके साथ ब्रह्मतेज मिल जाता है तब वह वैसा ही बलशाली हो जाता है जैसे वायुका सहारा पाकर अग्नि ॥ ४ ॥ वहाँकी प्रजाने भी अजके राजा होनेपर यही समझा मानो रघु ही फिरसे युवा हो

गए हों क्यों कि अजने केवल रघुकी राज्यलक्ष्मीको ही नहीं पाया था वरन् रघुके सब गुण भी उनमें आ गए थे ॥५॥

उस समय संसारमे केवल दो ही वस्तुएँ एक दूसरेसे मिलकर सुन्दर जँची, एक तो पिताका भरापूरा राज्य पाकर अज और दूसरे अजकी नम्रता पाकर उनका नया यौवन ॥ ६ ॥ महाबाहु अजने नई पाई हुई पृथ्वीका पालन यह समझकर दयालुताके साथ करना प्रारम्भ किया कि कहीं अधिक कठोरताका व्यवहार करनेसे वह नई ब्याही हुई बहूके समान घबरा न जाय ॥ ७ ॥ वे अपनी प्रजाको बहुत प्यार करते थे। इससे सब लोग यही सोचते थे कि वे हमें ही सबसे अधिक मानते हैं। बात यह थी कि जैसे समुद्र सैकड़ों नदियों से एकसा ही व्यवहार करता है वैसे ही वे भी किसीका बुरा नहीं चाहते थे और न किसीसे वैर करते थे ॥ ८ ॥ वे न तो बहुत कठोर थे और न बड़े कोमल। उन्हों ने बीचका मार्ग पकड़ा था और अपने शत्रु राजाओंको राजगद्दीसे उतारे बिना ही उनको उसी प्रकार नम्र कर दिया जैसे मध्यम गतिसे बहनेवाला वायु वृक्षोंको उखाड़ता तो नहीं पर झुका अवश्य देता है ॥ ९ ॥

जब रघुने देखा कि हमारे पुत्र अजका प्रजामें बड़ा आदर है और वह भली भाँति राज कर रहा है तब उन्हें इतना आत्मज्ञान हो गया कि स्वर्गके उन सुखोंकी चाह भी उन्हों ने छोड़ दी जो कभी न कभी नाश हो ही जाते हैं ॥ १० ॥

दिलीपके वंशमे जितने राजा हुए वे बुढ़ौतीमें सब राज-पाट अपने गुणवान पुत्रको सौंपकर नियमसे पेड़की छालोंका वस्त्र पहनने वाले सन्यासियों के समान जंगलमें चले जाते थे ॥ ११ ॥ इसलिये जब राजा रघु जंगलमें जानेको उद्यत हुए तब अजने मणिदार पगड़ी वाला अपना सिर उनके चरणों में नवाकर प्रार्थना की कि आप मुझे छोड़कर न जाइए ॥ १२ ॥ अपने पुत्र अजको रघु बहुत प्यार करते थे इसलिये अजकी आँखों में आँसू देख कर वे रुक तो गए पर जैसे साँप अपनी केंचुली छोड़कर फिर उसे नहीं पहनता वैसे ही उन्होंने जिस राज्य-लक्ष्मीको एक बार छोड़ दिया उसे फिर स्वीकार नहीं किया ॥ १३ ॥

वे संन्यास लेकर नगरके बाहर एक कुटियामें रहने लगे। जिस भूमिपर उनके पुत्र राज्य कर रहे थे वह जितेन्द्रिय रघुको फल फूल देकर उसी प्रकार सेवा कर रही थी मानो उनकी पतोहू ही हो ॥१४॥

उस समय सूर्य-वंश उस आकाशके समान लग रहा था जिसमें एक ओर चन्द्रमा छिप रहे हों और दूसरी ओर सूर्य निकल रहे हों, क्योंकि एक ओर राजा रघु संन्यास लेकर शान्तिका जीवन बिता रहे थे और दूसरी ओर ऐश्वर्यशाली अज राजा बनकर गद्दीपर बैठे थे ॥ १५ ॥ संन्यासी बने हुए रघु और राजा बने हुए अजको देखकर लोगों ने यह समझ लिया कि मोक्ष और ऐश्वर्य देनेवाले धर्मोंके दो अंश पृथ्वीपर साथ चले आए हैं ॥ १६ ॥ एक ओर अज नीति जानने वाले मंत्रियों के साथ दिग्विजय का विचार करने लगे, दूसरी ओर रघु भी मोक्ष पद पानेके लिये तत्वदर्शी योगियोंके साथ शास्त्र-चर्चा करने लगे ॥१७॥ इधर युवा राजा अज जनताके कामोंकी देख-भाल करनेके लिये न्यायके आसनपर बैठते थे, उधर बूढ़े रघु अपने मनको साधनेका अभ्यास करनेके लिये अकेलेमें कुशाके पवित्र आसनपर बैठते थे ॥ १८ ॥ अजने तो अपने प्रभुत्व और शक्ति से आस-पासके शत्रु राजाओंको वशमें कर लिया था। और रघुने अपने योगबलसे शरीरके भीतर रहने वाले प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान इन पाँचों पवनोंको अपने वशमें कर लिया था ॥ १९ ॥ अजने पृथ्वीपर शत्रुओं की सब चालों को नष्ट कर डाला और रघुने ज्ञानकी अग्निसे अपने सारे कर्मोंको नाश कर डाला ॥२०॥ अज एक ओर संधि, विग्रह, यान, आसन आश्रय और द्वैधी भाव इन छ नीतियों का परिणाम समझकर प्रयोग करते थे, दूसरी ओर मट्टी और सोना सबको बराबर समझनेवाले रघुने भी प्रकृतिके सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंको जीत लिया ॥ २१ ॥ दृढ़ प्रतिज्ञावाले अज जब किसी कामको उठाते थे तो उसे तबतक नहीं छोड़ते थे जबतक वह पूरा नहीं हो जाता था, वैसे ही स्थिर चित्तवाले रघुने भी तबतक योगक्रिया नहीं छोड़ी जबतक उन्हें परमात्माका दर्शन नहीं हो गया ॥ २२ ॥ इस प्रकार एक ओर अज सारे संसारके ऐश्वर्यको प्राप्त करनेमें लगे हुए थे और दूसरी ओर

रघु मोक्ष प्राप्त करनेमें मन लगाए हुए थे। अजने अपने शत्रुओंका बढ़ना रोककर और रघुने इन्द्रियोंको वशमें करके अपनी-अपनी सिद्धियाँ प्राप्त कर लीं ॥ २३ ॥

सबको समान समझने वाले रघुने अजके कहनेसे कुछ वर्ष संसारमें और बिताए। फिर योगबलसे सदा प्रकाशमान, अविनाशी परमात्मामें लीन हो गए ॥ २४ ॥

अपने पिताके देहत्यागका समाचार पाकर अग्निहोत्र करनेवाले अज बहुत रोए। उन्होंने अपने पिताके शरीरका दाहसंस्कार नहीं किया वरन् योगियोंके साथ उनके शरीरको ले जाकर पृथ्वीमें समाधि दे दी क्योंकि संन्यासियोंका दाहसंस्कार नहीं किया जाता ॥ २५ ॥

यद्यपि रघु जैसे जो महात्मा योगबलसे शरीरको त्याग करके मुक्त हो जाते हैं उन्हें अपने पुत्रोंसे पिण्डदानकी आवश्यकता नहीं रहती, फिर भी अज यह जानते थे कि पिताका संस्कार किस प्रकार करना चाहिए। इसलिये उन्होंने बड़ी भक्तिसे अपने पिताके श्राद्ध आदि संस्कार किए ॥ २६ ॥ तत्वज्ञानी पण्डितोंने जब अजको समझाया कि तुम्हारे पिताने मोक्ष पा लिया है तब उन्हें धीरज हुआ और उनका शोक कम हुआ। तब वे धनुष-बाण लेकर सारे संसारपर एकछत्र राज्य करने लगे ॥ २७ ॥

पृथ्वी और इन्दुमती दोनों अज जैसे महापराक्रमीको पतिके रूपमें पाकर बड़ी प्रसन्न हुईं और बदलेमें पृथ्वीने बहुतसे रत्न उत्पन्न किए और इन्दुमतीने वीर पुत्रको जन्म दिया ॥ २८ ॥

ये अजके पुत्र वही थे जो दस सौ किरणोंवाले सूर्यके समान तेजस्वी थे, जिनका यश दसों दिशाओंमें फैला था, जो उस रामके पिता थे जिन्होंने दस सिरवाले रावणको मारा था और जिन्हें पण्डित लोग दशरथ कहते हैं ॥ २९ ॥

इस प्रकार वेदोंका अध्ययन करके ऋषियोंके ऋणसे, यज्ञ करके देवताओंके ऋणसे और पुत्र उत्पन्न करके अपने पितरोंके ऋणसे छूटकर अज वैसे ही शोभित हुए जैसे मण्डलसे छूटकर सूर्य शोभित होता है। ३०।

अजने केवल अपने धनसे ही दूसरोंको लाभ नहीं पहुँचाया वरन् अपने गुणों से भी लोगोंका उपकार किया। क्योंकि अपने पराक्रमसे तो उन्हों ने दीन दुर्बलोंका डर दूर किया और अपने शास्त्रके ज्ञानसे विद्वानोंका सत्कार किया ॥ ३१ ॥

एक दिन अच्छी संतानवाले, प्रजापालक राजा अज अपनी रानी इन्दुमतीके साथ नगरके उपवनमें उसी प्रकार विहार कर रहे थे जैसे देवताओंके पालन करनेवाले इन्द्र नन्दन वनमें इन्द्राणीके साथ विहार करते हैं ॥ ३२ ॥ उसी समय दक्खिनी समुद्रके किनारेपर गोकर्णमें बसे हुए शंकरजीको वीणाके साथ गाना सुनानेके लिये नारदजी आकाशसे चले जा रहे थे ॥ ३३ ॥

उनकी वीणाके सिरेपर स्वर्गीय फूलोंसे गुथी हुई माला लटकी हुई थी। कहा जाता है कि उस समय वेगसे चलनेवाले वायुके कारण वह माला खिसककर नीचे गिर गई मानो वायुने ही गन्धके लोभसे उसे वहाँसे उतार लिया हो ॥ ३४ ॥ वह माला तो गिर गई पर फूलोंके साथ लगे हुए भौंरे अभी तक नारदजीकी वीणापर मँडरा रहे थे। उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो वायुसे अपमानित होकर वीणा, काजल मिले हुए आँसू बहा रही हो ॥ ३५ ॥ उस स्वर्गीय मालामें इतना अधिक मधु और इतनी अधिक गन्ध थी कि उसके आगे वसन्तके वृक्षों और लताओंका मधु और सुवास लजा जाता था। वही माला रानी इन्दुमतीके बड़े-बड़े स्तनों के बीचमें आकर गिरी ॥ ३६ ॥ क्षणभरके लिये अजकी प्रियतमाने अपने स्तनोंकी सखी उस मालाको देखा और देखते ही उसने व्याकुल होकर आँखें मूँद लीं मानो चन्द्रमाको राहुने ग्रस लिया हो ॥३७॥ प्राणहीन होनेसे वह गिर पड़ी और उसके साथ साथ अज भी गिर पड़े क्योंकि गिरते हुए तेलकी बूँदों के साथ क्या दीपककी लौ पृथ्वीपर नहीं गिर पड़ती ॥ ३८ ॥ उनके जिन सेवकों ने घबराकर रोना चिल्लाना प्रारम्भ कर दिया था उनसे डरकर तालाबों में रहनेवाले पक्षी भी इस प्रकार चिल्ला उठे मानो वे भी उनके दुःखमें दुःखी हों ॥ ३९ ॥ पंखा डुलाने और दूसरे उपायों से किसी प्रकार अजकी मूर्छा तो दूर हुई पर रानी इन्दुमती ज्यों की त्यों पड़ी रही।

क्यों कि औषध तो तभी काम करती है जब आयु शेष हो ॥ ४० ॥

तब उस अत्यन्त प्यारे राजाने अपनी मृत पत्नीको अपनी गोदमें उठाकर उसी प्रकार रख लिया जैसे तार मिलाने के समय वीणा रख ली जाती है ॥ ४१ ॥

प्राण निकल जानेसे इन्दुमतीके शरीरका रंग पीला पड़ गया था। उसे गोदीमें लिटाए हुए राजा उस प्रातःकालके चन्द्रमाके समान दिखाई दे रहे थे जिसकी गोदमें धुँधली मृगकी छाया हो ॥ ४२ ॥

उनका स्वाभाविक धीरज जाता रहा, गला भर आया और वे ढाढ़ मारकर रोने लगे, क्यों कि तपनेपर लोहा भी नरम हो जाता है फिर देहधारियोंकी तो बात ही क्या है ॥ ४३ ॥

वे रोते हुए कहते जा रहे थे—हाय ! जब फूल भी शरीरको छूकर प्राण ले सकते हैं तब तो दैव जब किसी को मारना चाहेगा तब किसी भी वस्तुसे मार सकता है ॥४४॥ या संभवतः कोमल वस्तुको मारनेके लिये दैव कोमल वस्तुका ही प्रयोग करता हो, क्यों कि मैं ने पहले ही देख लिया है कि नलिनीको नष्ट करनेके लिये पाला ही बहुत होता है॥४५॥ और यदि यह माला ही प्राण लेनेवाली है तो मैं भी इसे छातीपर रख लेता हूँ पर यह मुझे क्यों नहीं मार डालती। ईश्वरकी इच्छा ही तो है। कहीं विष भी अमृत हो जाता है और कहीं अमृत विष हो जाता है ॥४६॥ या यह मेरा दुर्भाग्य है कि विधाताने इस मालाको बिजली बनाकर भेजा है जिसने पेड़को तो छोड़ दिया पर उसके साथ लिपटी हुई लताको जला दिया ॥ ४७ ॥ हे इन्दुमती ! मैंने बहुत अपराध किए पर तुमने कभी मेरा तिरस्कार नहीं किया फिर आज एकाएक बिना अपराधके ही तुम मुझसे बात करनेके लिये भी क्यों अयोग्य समझ रही हो ॥ ४८ ॥ हे मधुर हँसी हँसनेवाली ! तुमने सचमुच यह समझा है कि मैं तुमसे झूठा प्रेम करता हूँ इसीलिये तो मुझसे बिना पूछे तुम सदाके लिये परलोक चली गई ॥ ४९ ॥ मेरे [illegible] भाग । जब प्रियाके साथ-साथ चले गए [illegible] तब वे लौट क्यों [illegible] इतनी जल्दी चली ही [illegible] [illegible] । [illegible] ॥ ५० ॥

अभी तुम्हारे मुँहपरसे सम्भोगकी थकावटके पसीनेकी बूँदें भी नहीं सूखीं और तुम चल बसीं। मनुष्यकी इस नश्वरताको धिक्कार है ॥ ५१ ॥ मैं ने कभी मनसे भी तुम्हारी बुराई नहीं की फिर तुम मुझे क्यों छोड़ रही हो। मैं पृथ्वीका पति तो नाम भरको हूँ, मेरा सच्चा प्रेम तो केवल तुमसे ही है ॥ ५२ ॥ हे सुन्दर जाँघोंवाली! फूलों से गुँथी और भौरों के समान काली तुम्हारी लटें जब वायुसे हिलती हैं तब मेरे मनमें यह आशा होने लगती है कि अब तुम अवश्य जी उठोगी ॥ ५३ ॥ इसलिये हे प्रिये! जैसे रातमें चमकनेवाली बूटियाँ अपने प्रकाशसे हिमालयकी अँधेरी गुफामें भी चाँदना कर देती हैं वैसे ही तुम भी फिरसे जागकर मेरा दुःख मिटाओ ॥ ५४ ॥ मौन भौंरों से भरे हुए, रातमें मुँदे अकेले कमलके जैसा लगनेवाला तुम्हारा बिखरी अलकों से ढका मौन मुख देखकर मेरा हृदय फटा जा रहा है ॥५५॥ देखो चन्द्रमाको रात्रि फिर मिल जाती है, चकवेको चकवी भी प्रातः मिल ही जाती है, इसलिये उन्हें बिछोहका दुःख थोड़ी ही देरतक रहता है पर तुम तो सदाके लिये चली जा रही हो, फिर बताओ मैं विरह की आगमें जलकर क्यों न भस्म हो जाऊँ ॥ ५६ ॥ कोमल पल्लवोंका बिछौना भी जिस शरीरमें गड़ता था, हे सुन्दर जंघावाली! बताओ वही शरीर चितापर कैसे चढ़ सकेगा ॥ ५७ ॥ क्या तुम नहीं देख रही हो कि तुम्हारी हावभरी चालके बन्द हो जानेसे तुम्हारी एकान्त सखी यह तगड़ी भी तुम्हें सदाके लिये सोती देखकर तुम्हारे शोकमें मरी सी दिखाई दे रही है ॥५८॥ तुम्हारी मीठी बोली कोयलों ने ले ली, तुम्हारा धीरे-धीरे चलना कलहंसिनियों ने ले लिया, तुम्हारी चंचल चितवन हरिणियों को मिल गई और तुम्हारा चुलबुलापन वायुसे हिलती हुई लताओं में पहुँच गया ॥ ५९ ॥ अपने स्वर्ग जानेकी उतावली में यद्यपि तुमने मुझे बहलानेके लिये अपने गुण यहीं छोड़ दिए पर तुम्हारे बिछोहसे तो मैं इतना अधीर हो गया हूँ कि इन सबसे मेरे हृदयको किसी प्रकार भी सन्तोष नहीं मिल रहा है ॥ ६० ॥ प्रिये! तुमने इस आम और प्रियंगु लताका विवाह ठीक किया था। इन दोनोंका विवाह किए बिना तुम्हारा जाना ठीक नहीं है ॥ ६१ ॥ देखो! जिस अशोकको तुमने अपने

चरणोंकी ठोकर लगाई थी वह जब आगे चलकर फूलेगा तब तुम्हारे केशोंको सजानेवाले उनके फूलोंको मैं जलदानकी अञ्जलिमें कैसे ले सकूँगा ॥ ६२ ॥ हे सुन्दरी ! तुम्हारे झुनझुनाते बिछुओं वाले चरणकी ठोकर किसीको नहीं मिलती पर तुमने बड़ी कृपा करके उस अशोकको ठोकर लगाई थी। अब उन तुम्हारे चरणों की कृपाको स्मरण करके ही यह अशोक वृक्ष फूलों के आँसू बरसाकर तुम्हारे लिये रो रहा है ॥ ६३ ॥ हे मधुरभाषिणी ! अपने श्वासके समान सुगन्ध वाले मौलसिरीके फूलोंकी जो सुन्दर माला तुम मेरे साथ गूँथ रही थी उसे अधगुँथी ही छोड़ कर क्यों सो रही हो ॥ ६४ ॥ तुम्हारे सुख-दुखकी साथी ये सखियाँ खड़ी हैं, शुक्ल पक्षके चन्द्रमाके समान प्रसन्न मुखवाला तुम्हारा पुत्र भी यहीं है और तुम्हारा अनन्य प्रेमी मैं भी तुम्हारे पास हूँ, फिर हम लोगोंको छोड़कर चले जानेकी जो तुमने ठान ली है यह तुम्हारी बड़ी कठोरता है ॥ ६५ ॥ आज मेरा धीरज छूट गया, आनन्द जाता रहा, गाना-बजाना दूर गया, ऋतुएँ फीकी पड़ गईं, पहनना-ओढ़ना बेकाम हो गया, और शय्या भी सूनी हो गई ॥ ६६ ॥ तुम्हीं मेरी स्त्री थी, सम्मति देनेवाली मित्र थी, एकान्तकी सखी थी और गान विद्या आदि ललित कलाओं में शिष्या थी। तुम्हीं बताओ तुम्हें मुझसे छीनकर निर्दयी विधाताने मेरा क्या नहीं छीन लिया ॥६७॥ हे मदभरे नयनोंवाली ! तुमने मेरे मुँहसे छूटे हुए स्वादिष्ट आसवको पीया है, अब तुम आँसुओंके जलसे मिली हुई मेरी दी जलाञ्जलिको परलोकमें कैसे पी सकोगी ॥६८॥ इतना ऐश्वर्य होनेपर भी तुम्हारे बिना अजका सारा सुख नष्ट हो गया है, क्योंकि मुझे और किसी वस्तुसे तो प्रेम है नहीं मेरे तो सब सुखोंका केन्द्र तुम्हीं थी ॥ ६९ ॥

जब कोशलनरेश अज अपनी प्रियाके लिये इसप्रकार शोक करके रो रहे थे उस समय उन्हें देखकर वृक्ष भी मानो अपनी शाखाओंसे रस बहाकर रोने लगे ॥ ७० ॥

बड़ी कठिनाईसे बन्धुओंने किसी प्रकार इन्दुमतीके शवको हटाया और उसी पुष्पमालासे उसका शृङ्गार करके अगर और चन्दनकी लकड़ियोंसे उसका अन्त्य-संस्कार किया ॥ ७१ ॥

अपनी पत्नीके वियोगमें राजा अज इतने व्याकुल हो गए कि उन्हें जीनेकी साध नहीं रही किन्तु वे इन्दुमतीके साथ इसलिये चिता पर नहीं चढ़े कि कहीं लोग यह न कहने लगें कि राजा अज विद्वान होकर भी अपनी स्त्रीके पीछे मर गए ॥ ७२ ॥

जिस इन्दुमतीके केवल गुण बचे रह गए थे उस प्रियाके सब क्रिया-कर्म शास्त्रज्ञ अजने दस दिन बीत जानेपर उसी उपवनमें बड़े धूम-धामसे पूरे किए ॥ ७३ ॥

इन्दुमतीके वियोगमें अज ऐसे उदास लगने लगे जैसे रात बीत जानेपर चन्द्रमा मंन्द पड़ जाता है। जब वे नगरमें घुसे तब उन्हें देखकर नगर भरकी स्त्रियाँ फूट-फूटकर रोने लगीं मानो अजका शोक इतनी आँखोंसे बह रहा हो ॥ ७४ ॥

उन दिनों वशिष्ठजी यज्ञ कर रहे थे। उन्होंने आश्रममें ही योग बलसे राजाके शोकका कारण जान लिया और एक शिष्यसे अजके पास सन्देश भेजा। शिष्यने अजसे आकर कहा— ॥ ७५ ॥

वशिष्ठ मुनिका यज्ञ समाप्त नहीं हुआ है इसलिये आपके दुःखको जानते हुए भी न तो वे आ ही सके और न आपको इस शोकमें धीरज ही बँधा सके ॥ ७६ ॥ हे सच्चरित्र राजा! मैं उनका एक छोटासा सन्देश लाया हूँ, उसे आप धीरज रखकर सुनिए और सम भिए ॥ ७७ ॥ वे अपने ज्ञानके नेत्रोंसे तीनों लोकोंकी बीती हुई, होती हुई और होनेवाली सभी बातें जानते हैं ॥ ७८ ॥ एक बार तृणबिन्दु नामक ऋषि तप कर रहे थे। उनकी तपस्यासे डरकर इन्द्रने उनका तप भंग करनेके लिये हरिणी नामकी अप्सरा भेजी ॥ ७९ ॥ जैसे प्रलयकालकी लहर समुद्र तटको गिरा देती है वैसे ही ऋषिका तप डिगानेके लिये वह अप्सरा वहाँ पहुँची। अप्सराको देखते ही मुनिने क्रोधित होकर शाप दिया कि जा तू संसारमें मनुष्यकी स्त्री हो ॥ ८० ॥ शाप सुनते ही अप्सरा घबरा उठी। वह हाथ जोड़कर गिड़गिड़ाकर बोली—हे भगवन्! मैंने दूसरोंके कहनेसे यह काम किया है, मेरा इसमें कुछ भी दोष नहीं है, मुझे क्षमा कीजिए। इसपर ऋषिने कहा—जब तक तुम्हें स्वर्गीय पुष्प नहीं दिखाई पड़ेंगे तबतक तुम्हें पृथ्वीपर रहना ही पड़ेगा ॥ ८१ ॥ वही अप्सरा क्रथकैशिक (विदर्भ)

वंशमें जन्म लेकर तुम्हारी रानी हुई और इतने दिनोंपर जैसे ही उसे स्वर्गीय पुष्प दिखाई पड़े, वैसे ही वह शापसे छूटकर शरीर छोड़कर चली गई ॥ ८२ ॥ इसीलिये अब आप उसकी मृत्युका शोक न कीजिए, क्योंकि जो जन्म लेता है वह मरता ही है। इसलिये सब शोक छोड़कर सावधान होकर आप पृथ्वीका पालन कीजिए, क्यों कि राजाओंकी सच्ची सहधर्मचारिणी तो पृथ्वी ही है ॥ ८३ ॥ ऐश्वर्य पाकर राजा लोग मतवाले हो जाते हैं, किन्तु आप सुखके दिनोंमें भी इस अपयशसे बचे रहे और अभिमान छोड़कर आपने अपने आत्मज्ञानका परिचय दिया। वैसे ही इस दुःखके समय भी धीरज धरकर आप फिर उसी अध्यात्मज्ञानका प्रकाश कीजिए ॥ ८४ ॥ रोनेकी तो बात ही क्या, यदि आप मर भी जायँ तब भी इन्दुमती आपको नहीं मिल सकती क्यों कि मरनेपर सब प्राणी अपने-अपने कर्मके अनुसार अलग-अलग मार्गसे जाते हैं ॥ ८५ ॥ अब आप सब शोक छोड़कर पिण्डदान आदि करके अपनी पत्नीका परलोक सुधारिए क्यों कि शास्त्र कहते हैं कि जब कुटुम्बी बहुत रोते हैं तब उससे प्रेतात्माको बड़ा कष्ट होता है ॥ ८६ ॥ देखिए, जिसने देह धारण की है उसका मरना तो स्वाभाविक है। विद्वानोंका तो यह कहना है कि वास्तवमें जीना ही बड़ा भारी विकार है। इसलिये प्राणी जितने क्षण जी जाय उतनेसे ही उसे सन्तोष करना चाहिए ॥ ८७ ॥ प्रियजनकी मृत्युको मूर्ख लोग वैसा ही दुःखकारक मानते हैं जैसे छातीमें कील गड़ गई हो, पर विद्वान् लोग यह समझते हैं कि जो मर गया वह सब झंझटों से छूट गया। उनकी समझमें मृत्यु वैसा ही सुख देती है जैसे हृदयमें गड़ी हुई कील निकालने पर होता है ॥८८॥ आपही बताइए कि जब शरीर और आत्मा भी आपसमें बिछुड़नेवाले माने गए हैं, तब पुत्र, स्त्री आदि बाहरी वस्तुओंके बिछोहसे विद्वानोंको क्यों दुःख हो ॥ ८९ ॥ और फिर आप तो जितेन्द्रियोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं। आप साधारण लोगोंके समान शोक मत कीजिए। यदि पर्वत भी वृक्षके समान आँधीसे हिल उठेगा तो इन दोनोंमें अन्तर ही क्या रहा ॥ ९० ॥

[illegible] वसिष्ठजीका सन्देश राजाने स्वीकार किया

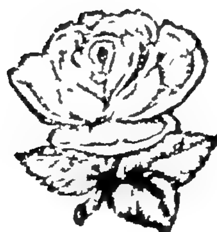
और उनके शिष्यको विदा दी मानो अजके शोकभरे हृदयमें स्थान न पानेसे उनका उपदेश ही लौट गया हो ॥ ९१ ॥

प्रिय, सत्यभाषी अजने अपने पुत्रके बचपनका ध्यान करके और प्रियाके चित्रको देख-देखकर तथा स्वप्नमें प्रियासे क्षण भरके समागमका आनन्द लेकर किसी प्रकार आठ वर्ष काट दिए ॥ ९२ ॥

कहा जाता है कि जैसे बड़की जटाएँ भवनकी तलीको छेदकर नीचे घुस जाती हैं वैसे ही शोककी बर्छीने राजाके हृदयको बलपूर्वक आरपार वेध दिया था। पर अपनी प्रियाके पीछे प्राण देनेको वे इतने उतावले थे कि उन्होंने प्राण लेनेवाली और वैद्योंसे अच्छी न होने वाली उस शोककी बर्छीको भी सहायक ही समझा ॥ ९३ ॥

तब सुशिक्षित कवचधारी कुमार दशरथको शास्त्रके अनुसार प्रजाका पालन करनेका उपदेश देकर वे रोगी शरीरसे छुटकारा पानेके लिये अनशन करने लगे ॥ ९४ ॥ थोड़े दिनोंमें ही गंगा और सरयूके संगमपर उन्होंने अपना शरीर छोड़ दिया और तत्काल देवता बनकर पहले शरीरसे भी अधिक सुंदर शरीरवाली भार्याके साथ नन्दन वनके विलास-भवनोंमें विहार करने लगे ॥९५॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यमें
अज-विलाप नामका आठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥



नवाँ सर्ग

संयमसे अपनी इन्द्रियोंको जीत लेनेवाले योगियोंमें और प्रजाका पालन करनेवाले राजाओंमें सर्वश्रेष्ठ दशरथजीने अपने पिताके पीछे उत्तर कोशलका राज्य बड़ी योग्यतासे सँभाला ॥ १ ॥ क्रौञ्च पहाड़को फाड़ देनेवाले कार्त्तिकेयके समान वे बलवान थे। उन्होंने अपने पुरखोंसे पाई हुई राजधानी और मण्डलोंका ऐसे अच्छे ढंगसे पालन किया कि सारी प्रजा उन्हें पहलेके सभी राजाओंसे बढ़कर मानने लगी ॥ २ ॥ विद्वानोंका कहना है कि संसारमें दो ही तो ऐसे हुए हैं जिन्होंने कर्त्तव्य पालन करनेवाले लोगोंको उनके परिश्रमका ठीक-ठीक पुरस्कार दिया है। उनमें से एक तो हैं इन्द्र जिन्होंने समयपर वर्षा करके किसानोंका परिश्रम सफल किया और दूसरे हैं मनुवंशी दशरथ, जिन्होंने [illegible]को धन देकर उनका पालन-पोषण किया ॥ ३ ॥ दशरथजी देवताओंके समान तेजस्वी थे और उनका मन भी सदा प्रजाके [illegible] था। राज्यके [illegible] होते ही उनका देश धन-धान्यसे भर गया, रोग भी उनके राज्यकी सीमामें पैर न रख सके, फिर शत्रुओंके [illegible] तो [illegible] ही क्या थी ॥ ४ ॥

जैसे दसों दिशाओं के जीतनेवाले रघुने और उनके पीछे उनके पुत्र अजने पृथ्वीकी शोभा बढ़ाई थी उसी प्रकार उन्हीं दोनों के समान शक्तिशाली महापराक्रमी दशरथको पाकर पृथ्वीकी शोभा न बढ़ी हो यह बात नहीं है ॥ ५ ॥

जैसे यम सबको एक समान समझते हैं वैसे ही वे भी सबसे एक सा व्यवहार करते थे। जैसे कुबेर धन बरसाते हैं वैसे ही वे भी धन बाँटते थे। जैसे वरुण दुष्टोंको दंड देते हैं वैसे ही वे भी दुष्टोंको दंड देते थे और जैसे सूर्यका बड़ा तेज है वैसे ही उनका भी तेज था ॥ ६ ॥ सांसारिक ऐश्वर्यको बटोरनेमें वे ऐसे लगे हुए थे कि आखेटका व्यसन, जूएका खेल, चन्द्रमाकी परछाईं पड़ी हुई मदिरा और नवयौवना पत्नी, कोई भी उन्हें न लुभा सका ॥७॥ वे इतने मनस्वी थे कि इन्द्रतकके आगे वे कभी नहीं गिड़गिड़ाए, हँसीमें भी उन्हों ने झूठ नहीं बोला और क्रोधित होनेकी तो बात ही दूर है, उन्हों ने अपने शत्रुको भी कोई कठोर शब्द नहीं कहा ॥ ८ ॥

उन रघुकुलमें श्रेष्ठ दशरथके हाथों बहुतसे राजा बने और बहुत से बिगड़े क्यों कि जो उनका कहा मान लेते थे उन्हें तो वे दया करके छोड़ देते थे पर जो ऐंठकर उनसे टक्कर लेने आगे आते थे उन्हें वे मिटाकर ही छोड़ते थे ॥ ९ ॥

एक धनुष लेकर और अकेले एक रथपर चढ़कर ही उन्होंने समुद्रतक फैली हुई सारी पृथ्वी जीत ली। वेगसे चलनेवाले हाथी-घोड़ोंकी उनकी सेना तो केवल जय-जयकार भर करती थी ॥ १० ॥ जिस समय अकेले सुरक्षित रथपर चढ़े कुबेरके समान सम्पत्तिशाली धनुषधारी दशरथजी पृथ्वी जीतते हुए चलते थे उस समय बादलके समान गरजता हुआ समुद्र उनकी विजय-दुंदुभी बजाता था ॥ ११ ॥ जैसे इन्द्रने अपने सौ नोकोंवाले वज्रसे पर्वतोंके पंख काट दिए थे वैसे ही नये कमलके समान सुन्दर मुखवाले दशरथजीने अपने बाण बरसानेवाले धनुषसे शत्रुओंको मारकर बिछा दिया ॥ १२ ॥ और जैसे देवता लोग इन्द्रके चरण छूते हैं वैसे ही सैकड़ों राजाओं ने पराक्रमी दशरथके चरणोंपर अपने उन मुकुटोंवाले सिर रख दिए जिनके मुकुटमणि दशरथजीके पैरके नखोंकी लाल कान्तिसे चमक उठे

थे ॥ १३ ॥ उन्हों ने जिन जिन देशों के राजाओंको मार डाला था उनकी रानियाँ अपने पुत्रोंको लेकर राजा दशरथके आगे आईं और उन देशों के मंत्रियोंने उन राजपुत्रोंको दशरथके आगे हाथ जोड़कर खड़ाकर दिया। उन खुले केशवाली शत्रुओंकी रानियों के साथ दशरथजीने बड़ी दयाका व्यवहार किया और उस महासमुद्रके तटसे वे अपनी उस अयोध्या राजधानीको लौट आए जो कुवेरकी राजधानी अलकासे किसी प्रकार कम नहीं थी ॥ १४ ॥

चारों ओरके राजाओंका मण्डल उनके हाथमें आ गया जिससे वे अग्नि और चन्द्रमाके समान तेजस्वी लगने लगे। उनका प्रताप इतना बढ़ गया कि उनके आगे कोई भी दूसरा राजा श्वेत छत्र नहीं लगा सकता था। पर चक्रवर्ती हो जानेपर भी आलस्यको वे अपने पास नहीं फटकने देते थे क्यों कि वे जानते थे कि जहाँ एक भी दोष आया कि लक्ष्मी हमें छोड़कर भागी ॥ १५ ॥ और फिर भगवान् विष्णु और दशरथको छोड़कर और दूसरा राजा ही कौन सा था, जिसके यहाँ हाथमें कमल धारण करनेवाली पतिव्रता लक्ष्मी जाकर रहती ॥ १६ ॥

जैसे पर्वतों से निकलनेवाली नदियाँ समुद्रको पा लेती हैं वैसे ही कोशल, मगध और केकय देशके राजाओंकी कौशल्या, सुमित्रा और कैकेयी नामकी कन्याओं ने शत्रुओं पर बाण बरसानेवाले दशरथजीको पतिके रूपमें पा लिया ॥ १७ ॥ शत्रुओंका नाश करनेवाले दशरथजी अपनी तीनों रानियों के साथ ऐसे जान पड़ते थे मानो पृथ्वीपर राज्य करनेके लिये स्वयं इन्द्र ही प्रभाव, उत्साह और मन्त्र नामकी अपनी तीनों शक्तियों के साथ अवतार लेकर चले आए हों ॥ १८ ॥

यह कहा जाता है कि महारथी दशरथने युद्धमें इन्द्रकी सहायता करके और अपने बाणों से उनके शत्रुओंका नाश करके देवताओंकी स्त्रियोंका भय दूर कर दिया और वे इन्द्र दशरथजीके बाहुबलके

तमसा और सरयूके किनारे सोनेके यज्ञ-स्तम्भ खड़े कर दिए ॥ २० ॥ जब वे मृगछाला पहनकर, हाथमें दण्ड लेकर, कुशाकी तगड़ी बाँध कर चुपचाप हरिणकी सींग लिए यज्ञकी दीक्षा लेकर बैठे, उस समय भगवान अष्टमूर्ति महादेव उनके शरीरमें पैठ गए जिससे उनकी शोभा और भी अधिक बढ़ गई ॥ २१ ॥ यज्ञ समाप्त हो जानेपर जब वे स्नान करके पवित्र हुए तब देवताओंके साथ बैठने योग्य संयमी राजा दशरथने केवल नमुचि राक्षसके शत्रु, जल बरसानेवाले एक इन्द्रके आगे ही अपना ऊँचा मस्तक झुकाया ॥ २२ ॥ अकेले रथपर चढ़कर युद्ध करनेवाले पराक्रमी, धनुर्द्धर और युद्धमें इन्द्रसे भी आगे चलनेवाले दशरथने कई बार सूर्यपर छाई हुई युद्धकी धूलको राक्षसोंके रक्तसे सींच सींचकर दबाया है ॥ २३ ॥

यम, कुबेर, वरुण और इन्द्रके समान पराक्रमी उन एक छत्र राजाका अभिनंदन करनेके लिये वसन्त ऋतु भी नये नये फूलोंकी भेंट लेकर वहाँ आ पहुँची ॥ २४ ॥ सूर्य भी उत्तरकी ओर घूम जाना चाहते थे इसलिये उनके सारथी अरुणने घोड़ोंकी रास उधरको ही मोड़ दी। सर्दी दूर करके, प्रातःकालका पाला हटाकर उसे और भी अधिक चमकाते हुए सूर्यने मलय पर्वतसे विदा ली ॥ २५ ॥ पहले फूल खिले, फिर नई कोंपलें फूटीं, फिर भौंरे गूँजने लगे और तब कोयलकी कूक भी सुनाई पड़ने लगी। इस क्रमसे धीरे धीरे वनस्थलीमें वसन्त प्रकट होने लगा ॥ २६ ॥ राजा दशरथकी चतुर नीतिसे उनके पास बहुत धन इकट्ठा हो गया था और उस धनसे वे अपनी प्रजाका बहुत उपकार भी करते थे। इसीलिये जैसे उनकी लक्ष्मीके आगे बहुतसे मंगन हाथ फैलाया करते थे, वैसे ही वसन्तकी शोभासे लदी हुई तालकी कमलिनीके आसपास भौंरे और हंस भी मँडराने लगे ॥ २७ ॥ उन दिनों वसंतमें फूले हुए अशोकके फूलोंको देखकर ही कामोद्दीपन नहीं होता था वरन कामियोंको मतवाला बनानेवाले जो कोमल कोंपलोंके गुच्छे स्त्रियोंने अपने कानोंपर रख लिए थे उन्हें देखकर भी मन हाथसे निकल जाता था ॥ २८ ॥ वनमें खड़े हुए कुरबकके पेड़ ऐसे जान पड़ते थे मानो वसन्तने वनश्रीके शरीरपर बेलबूटे चीतकर उसका शृङ्गार किया हो।

उन पेड़ों से इतना मधु वह रहा था कि भौंरे मस्त होकर उन्हींपर गुञ्जार कर रहे थे ॥ २९ ॥ बकुलके जो वृक्ष सुन्दरी स्त्रियोंके मदिराके कुल्लेसे फूल उठे थे और जिनमें उन्हीं स्त्रियोंके समान गुण भी भरे थे, उनको झुण्ड बनाकर उड़ते हुए मधुके लोभी भौंरों ने बड़ा झकझोरा ॥ ३० ॥ वसन्तके आनेसे पलासमें भी कलियाँ फूट आईं। वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो कामके आवेशमें लाज छोड़कर किसी कामिनीने अपने प्रियतमके शरीर पर नख-क्षत कर दिए हों ॥ ३१ ॥

अभी वह ठंढ भली प्रकार दूर नहीं हुई थी जब पतियों के दाँतों से घायल हुए स्त्रियों के ओठ दुखा करते हैं और ठण्ढी होनेके कारण स्त्रियाँ अपनी कमरकी तगड़ी भी उतार डालती हैं। पर हाँ सूर्यने कुछ जाड़ा कम अवश्य कर दिया था ॥ ३२ ॥ नये बौरे हुए आमके वृक्षोंकी डालियाँ मलयके वायुसे झूम उठीं मानो उन्होंने अभिनय सीखना प्रारंभ किया हो। उन्हें देखकर राग-द्वेषको जीतने वाले योगियोंका मन भी मचल उठा ॥ ३३ ॥ जिस समय मनहर सुगन्धवाली वनकी लताओंपर बैठकर कोयल बोली तो ऐसा जान पड़ा मानो वहीं कोई मुग्धा नायिका ही बोल उठी हो ॥ ३४ ॥ वनके किनारे बढ़ी हुई लताएँ ऐसी सजीव सी जान पड़ती थीं मानो कानोंको सुख देनेवाली भौंरोंकी गुञ्जार ही उनके गीत हों, खिले हुए कोमल फूल ही उनकी हँसीके दाँत हों और वायुसे हिली हुई शाखाओं वाले हाथों से वे अनेक प्रकारके हाव-भाव दिखा रही हों ॥ ३५ ॥ चितवन आदि मधुर हाव भाव करानेको उकसानेवाले और बकुलको भी अपनी गन्धसे हरानेवाले कामदेवके साथी मदको स्त्रियों ने अपने पतिके प्रेमसे बिना बाधा दिए ही पी लिया ॥ ३६ ॥ तालों के घरों के भीतर बनी हुई बावलियों के जो कमल खिले हुए थे और वहाँ मधुर शब्द करते हुए जो जल-पक्षी तैर रहे थे उनसे वे बावलियाँ ऐसी सुन्दर जान पड़ती थीं मानो उनके [illegible] हुई सुन्दर मुसकाती और [illegible] ॥ ३७ ॥ [illegible]

रूपी नायिका भी वसन्तके आनेसे छोटी होती चली गई और उसका चन्द्रमावाला मुख भी पीला पड़ता गया ॥ ३८ ॥

पाला दूर हो जानेसे चन्द्रमा निर्मल हो गया और संभोगकी थकावटको दूर करनेवाली उसकी ठंढी किरणों से कामदेवके फूलों के धनुषको मानो और भी अधिक बल मिल गया हो ॥ ३९ ॥

हवनकी अग्निके समान चमकते हुए कनैरके फूल वनलक्ष्मीके कानों के कर्णफूल जैसे जान पड़ते थे। अपने प्रियतमों के हाथों से जूड़ों में खुँसे हुए वे सुन्दर पंखड़ी वाले और पराग वाले फूल स्त्रियों के केशों में बड़े सुन्दर लग रहे थे ॥ ४० ॥ तिलकके वृक्षने भी वनस्थलाकी कम शोभा नहीं बढ़ाई। जैसे किसी युवतीके शृंगारके लिये उसका मुँह चीता जाता है वैसे ही उस तिलक वृक्षके फूलों पर मँडराते हुए काजलकी बुँदकियों के समान सुन्दर भौंरे ऐसे जान पड़ते थे मानो वनस्थलियों का मुख भी चीत दिया गया हो ॥४१॥ वहाँ वृक्षोंकी सुन्दर नायिका नवमल्लिका लता भी थी। वह अपने मकरन्द रूपी मद्यके गन्धसे भरी लाल-लाल-पत्तों के ओठोंपर फूलों की मुसकान लेकर देखने वालोंको पागल बना देती थी ॥ ४२ ॥ प्रातःकालकी ललाईसे भी अधिक लाल-वस्त्रों ने, कानपर रक्खे हुए जौके अंकुरों ने और कोयलकी कूकोंकी सेना लेकर कामदेवने ऐसा जाल बिछाया कि सभी विलासी पुरुष युवती स्त्रियों के प्रेममें सुध-बुध खो बैठे ॥ ४३ ॥ तिलक वृक्षके फूलों के गुच्छे उजले परागसे भरे बढ़ चुके थे। उनपर मँडराते हुए भौंरों के झुण्डसे वे ऐसे सुन्दर लगने लगे जैसे किसी स्त्रीने अपने सिरपर मोतियोंकी जाली पहन ली हो ॥ ४४ ॥ उपवनके फूलोंका पराग जो वायुने उड़ाया तो भौंरों के झुण्ड भी उसके पीछे पीछे उड़ चले। वह उड़ता हुआ पराग ऐसा जान पड़ता था मानो धनुषधारी कामदेवका झण्डा हो या वसन्तश्रीके मुखपर लगानेका शृंगार-चूर्ण हो ॥ ४५ ॥ जो स्त्रियाँ वसन्तोत्सवमें नये झूलों पर सावधान होकर झूल रही थीं वे भी अपने हाथसे पकड़ी हुई रस्सीको इसलिये ढीला छोड़ देती थीं कि हाथ छूटनेपर हमारे प्रियतम हमें थाम ही लेंगे और इस प्रकार हम उनके गलेसे भी लग

जायँगी ॥ ४६ ॥ उन दिनो कोयल जो कूक रही थी वह मानो कामदेवका यह आदेश सुना रही थी कि हे स्त्रियो रूठना छोड़ दो। लड़ाई झगड़ा छोड़ो। बीता हुआ यौवन फिर हाथ नहीं आता। यह सुन सुनकर सभी स्त्रियाँ अपने पतियोंके साथ फिर रमण करने लगीं ॥ ४७ ॥

विष्णुके समान पराक्रमी, वसंत ऋतुके समान प्रसन्न और काम-देवके समान सुन्दर दशरथजीने भी सुन्दरी स्त्रियोंके साथ वसंत ऋतुका आनन्द लिया और फिर उनके मनमें आखेट करनेकी इच्छा होने लगी ॥ ४९ ॥ आखेटसे बड़े लाभ भी होते है। पहली बात तो यह है कि उससे चलते हुए लक्ष्यको बेधनेका अभ्यास हो जाता है। फिर उससे जीवोंके भय और क्रोध आदि भावोंकी पहचान हो जाती है और परिश्रम करनेसे शरीर भी भली प्रकार गठ जाता है। इसलिये मंत्रियोंसे सम्मति लेकर वे आखेटके लिये निकल पड़े ॥४९॥ जब अहेरीका वेष बनाकर, अपने ऊँचे कन्धेपर धनुष टाँगे, तेजस्वी राजा दशरथ घोड़ेपर चढ़कर चले तब उनके घोड़ोंकी टापोंसे इतनी धूल उठी कि आकाशमें चँदोवा सा तन गया ॥ ५० ॥ उनके केशोंमें वनमाला गुँथी हुई थी। वे वृक्षके पत्तोंके समान गहरे रंगका कवच पहने हुए थे और घोड़ेके वेगसे चलनेके कारण उनके कानोंके कुण्डल भी हिल रहे थे। इस वेषमें चलते-चलते वे उस जंगलमें जा पहुँचे जहाँ रुरु जातिके हरिण बहुत घूमा करते हैं ॥ ५१ ॥

कोमल लताओंका रूप धारण करके भौंरोंकी आँखोंने वनदेवता भी इन सुन्दर नेत्रवाले और कोशलकी प्रजाको सदा सुख पहुँचाने-वाले राजा दशरथको देखनेके लिये वहाँ पहुँच गए ॥ ५२ ॥

तब वे उस जंगलमें पहुँचे जहाँ पहलेसे ही जालोंसे और शिकारी कुत्तोंको लेकर उनके सेवक पहुँच चुके थे। वहाँ न तो [illegible] था न चोरोंका। [illegible] पृथ्वी घोड़ोंके लिये पक्की थी। वहाँ [illegible] [illegible] हरिण [illegible] और [illegible] घूमा करती थी ॥ ५३ ॥ तब इन [illegible] [illegible] [illegible]

इन्द्रधनुष निकला हुआ हो और जिसमें सोनेके रंगकी पीली बिजली की डोरी बँधी हो ॥ ५४ ॥ उन्होंने देखा कि आगे एक हरिणोंका झुण्ड चला जा रहा है जिसमें बहुतसी हरिणियाँ भी हैं जो अपने उन छौनोंके कारण रुकती चलती हैं जो कुशा चबाते-चबाते अपनी माँके स्तनोंसे दूध पीनेके लिये बीच-बीचमें खड़े हो जाते हैं। इस झुण्डके आगे-आगे एक गर्वीला काला हरिण भी चला जा रहा था ॥ ५५ ॥ राजाने ज्योंही अपने वेगगामी घोड़ेपर चढ़कर और अपने तूणीरमें से बाण निकालकर उनका पीछा किया कि वह झुण्ड तितर बितर हो गया और उनकी घबराई हुई आँखोंसे भरा हुआ वह सारा जंगल ऐसा लगने लगा मानो वायुने नीले कमलोंकी पंखड़ियाँ लाकर वहाँ बिखेर दी हों ॥ ५६ ॥ इन्द्रके समान शक्तिशाली चतुर धनुषधारी राजा दशरथने देखा कि वे जिस हरिणको मारना चाहते थे उसकी हरिणी बीचमें आकर खड़ी हो गई। वे स्वयं भी प्रेमी थे। अपने हरिणके लिये हरिणीका यह प्रेम देखकर उनका हृदय भी दयासे भर आया और उन्होंने कानतक खींचा हुआ भी अपना बाण उतार लिया ॥ ५७ ॥ वे दूसरे हरिणोंपर बाण चलाना चाहते थे और उन्होंने बाणकी चुटकी कानतक खींच भी ली थी पर जब उन्होंने उन हरिणोंकी डरी हुई आँखोंको देखा तो उन्हें अपनी युवती प्रियतमाके चञ्चल नेत्रोंका स्मरण हो आया और उनके हाथ ढीले पड़ गए ॥ ५८ ॥

उन्हें छोड़कर दशरथजी उधर घूम पड़े जिधर आधे चबे हुए मोथकी घासके मुट्ठे स्थान-स्थान पर बिखरे हुए थे और पैरकी गीली छापोंकी पाँतको देखकर जान पड़ता था कि तालोंकी कीचड़से निकल-निकलकर बनैले सूअरोंका झुण्ड उधरको भागा है ॥ ५९ ॥ ज्योंही उन्होंने घोड़ेपर चढ़े हुए अपने शरीरको आगे झुकाकर उन सूअरोंपर बाण चलाए त्योंही वे भी अपने कड़े बाल खड़े करके राजा दशरथपर झपटे। किन्तु उन्होंने तत्काल ऐसे कसकर बाण मारे कि सूअरोंको पता ही नहीं चला कि कब वे उन पेड़ोंमें बाणोंके साथ चिपक गए जिनके सहारे वे खड़े थे ॥ ६० ॥

इतनेमें ही उन्होंने देखा कि एक जंगली भैंसा उनकी ओर

झपटा आ रहा है। उन्होंने उसकी आँखमें एक ऐसा बाण मारा कि वह भैंसेके शरीरमें से इतनी फुर्तीसे पार हो गया कि बाणके पंखमें तनिक सा भी रक्त नहीं लगा और विशेषता यह थी कि बाण तो देरसे गिरा किन्तु भैंसा पहले ही पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ६१ ॥

इतनेमें उन्हें बारहसिंगोंका झुंड दिखाई दिया। राजा दशरथने अर्द्धचन्द्र बाणोंसे उनके सींग काटकर उनके सिरका बोझ हलका कर दिया। वे सिर उठाकर चलनेवालोंका दमन अवश्य करते थे इसीलिये उन्होंने ऐंठकर चलनेके साधन सींगोंको काट डाला यद्यपि राजाको उनके प्राणोंसे कोई बैर नहीं था ॥६२॥

जब सिंह अपनी माँदोंमेंसे निकलकर उनकी ओर झपटे तब निर्भय राजा दशरथने इतनी शीघ्रतासे उनपर बाण चलाए कि उन सिंहोंके खुले हुए मुँह उनके बाणोंके तूणीर बन गए और वे ऐसे जान पड़ने लगे जैसे आँधीसे उखड़े हुए फूले आसनके पेड़की आगेकी टहनियाँ हों ॥ ६३ ॥

झाड़ियोंमें लेटे हुए सिंहोंको मारनेके लिये पहले उन्होंने आँधीके समान भयंकर शब्द करनेवाली अपने धनुषकी डोरीमें टंकार किया। उसे सुनते ही सिंह भड़क उठे। बात यह थी कि राजा दशरथको उन अत्यन्त शक्तिशाली सिंहोंकी इस बातसे चिढ़ हो रही थी कि वे जीवोंके राजा क्यों कहलाते हैं ॥ ६४ ॥ बस उन्होंने हाथियोंसे बैर रखनेवाले उन सिंहोंको मार डाला जिनके नोकीले अगले पंजोंमें अधतक गजमुक्ताएँ उलझी हुई थीं। इस प्रकार ककुत्स्थ-वंशी राजा दशरथने मानो अपने बाणोंसे उन हाथियोंका ऋण चुका दिया जो युद्धमें उनकी सेनामें काम आ रहे थे ॥६५॥ चामर मृगोंके दाईं ओर अपना घोड़ा दौड़ाते हुए भालेकी नोकवाले बाण चलाकर उन्होंने उन मृगोंकी चँवर वाली पूँछें काट डालीं। इससे उन्हें ऐसा संतोष हुआ मानो चँवरधारी राजाओंके चँवर ही उन्होंने छीन लिए हों ॥ ६६ ॥ इधर-उधर उनके पासमें सुन्दर [illegible] [illegible] दाईं ओर भी उड़ जाते थे। पर वे उनपर बाण नहीं चलाते थे। क्योंकि उन्हें देखकर [illegible] [illegible] मालाओंसे गुँथे हुए और [illegible] [illegible] हुए [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

हो आता था ॥ ६७ ॥ कठिन परिश्रमसे उनके मुँहपर जो पसीना छा गया था उसे वनके उस वायुने सुखा दिया जो जलके कणोंसे शीतल होकर पत्तों और कलियोंको गिराता चल रहा था ॥ ६८ ॥

इस प्रकार अपना सब काम भूले हुए और राज्यका भार मन्त्रियों पर छोड़कर वनमें आए हुए राजा दशरथका मन आखेटके व्यसनने उसी प्रकार लुभा लिया जैसे कोई स्त्री अपने पतिकी सेवा करके उसे अपने वशमें कर लेती है ॥ ६९ ॥ यह आखेटका व्यसन उन्हें ऐसा लगा कि कभी-कभी उन्हें सारी रात फूल-पत्तोंकी साँथरपर, रातको चमकनेवाली बूटियोंके प्रकाशके सहारे, विना किसी सेवकके अकेले ही काटनी पड़ी ॥ ७० ॥ और प्रातःकाल जब नगाड़ोंके समान शब्द करनेवाले हाथियोंके कानोंकी फटफट होती थी तब उनकी आँखें खुलती थीं और उस समय वनके पक्षी चारणोंके समान जो मंगल गीत गाते थे उन्हें सुनकर ही वे मगन हो जाते थे ॥ ७१ ॥

एक दिन जंगलमें रुरु मृगका पीछा करते हुए वे अपने साथियोंसे दूर भटक गए। थकावटके कारण उनका घोड़ा मुँहसे झाग फेंकने लगा। उसी पर चढ़े हुए वे तमसा नदीके उस तटपर निकल गए जहाँ बहुतसे तपस्वियोंके आश्रम बने हुए थे ॥७२॥ वहाँ जलमें कोई घड़ा भर रहा था। इन्होंने समझा कि यह कोई हाथी है। बाण निकाला और शब्दपर लक्ष्य करके इन्होंने झट शब्दबेधी बाण चला ही तो दिया ॥७३॥ हाथीको मारना शास्त्रसे विरुद्ध है। इस लिये दशरथने जो किया वह राजाके लिये ठीक नहीं था पर कभी-कभी विद्वान् लोग भी जब आवेशसे अंधे होजाते हैं तब वे भी उलटा काम कर ही बैठते हैं ॥ ७४ ॥

सहसा कोई चिल्लाया—हाय पिता! यह सुनकर इनका माथा ठनका और ये उसे ढूँढ़ने चले। देखा कि नरकटकी झाड़ियोंमें बाणसे विंधा हुआ, घड़ेपर झुका हुआ, मुनिका पुत्र पड़ा है। उसे देखकर उनको ऐसा कष्ट हुआ मानो इन्हें भी बाण लग गया हो ॥ ७५ ॥ जब श्रेष्ठवंश वाले राजा दशरथने घड़ेपर झुके हुए मुनि पुत्रसे उसका वंश-परिचय पूछा तब उसने लड़खड़ाती वाणीसे बताया कि मैं ब्राह्मण नहीं हूँ। मेरे पिता वैश्य हैं और मेरी माता शूद्रा है

॥ ७६ ॥ उसने राजा दशरथसे कहा कि मुझे मेरे अंधे माता पिताके पास ले चलो। राजा दशरथने उस बाणसे बिंधे मुनि-पुत्रको उठाया और उनके माता-पिताके पास ले गए और वहाँ पहुँचकर उन्होंने उनसे सब कथा बता दी कि भूलसे मैंने आपके एकलौते पुत्रपर किस प्रकार बाण चला दिया है ॥ ७७ ॥

यह सुनते ही वे दोनों तो डाढ़ मारकर रोने लगे और उन्होंने अपने पुत्रके हत्यारेको आज्ञा दी कि मेरे पुत्रकी छातीमेंसे बाण निकाल लो। बाण निकालते ही मुनि-कुमारके प्राण भी निकल गए। इसपर बूढ़े तपस्वीने अपने आँसुओंसे अपनी अंजली भरकर राजाको यह शाप दिया—॥ ७८ ॥

हे राजा! जाओ तुम भी हमारे ही समान बुढ़ापेमें पुत्र-शोकसे प्राण छोड़ोगे ॥ पैरसे दबनेपर सर्प जैसे विष उगलकर शान्त हो जाता है वैसे ही शाप देकर जब वे बूढ़े मुनि शान्त हो गए तब पहले पहल अपराध करनेवाले राजा दशरथ उनसे बोले—॥ ७९ ॥ हे मुनि! मुझे आजतक पुत्रके मुख-कमलका दर्शन तक नहीं हुआ है इसलिये मैं आपके शापको वरदान ही समझता हूँ क्योंकि इसी बहाने मुझे पुत्र तो प्राप्त होगा। जंगलकी लकड़ीकी आग चाहे एक बार पृथ्वी को भले ही जला दे किन्तु वह पृथ्वीको इतनी उपजाऊ बना देती है कि आगे उसमें बड़ी अच्छी उपज होती है ॥ ८० ॥

यह कहकर राजाने फिर उनसे कहा—मैं तो इसी योग्य हूँ कि आप मेरा वध करें। अब मुझ नीचके लिये आपकी क्या आज्ञा होती है। यह सुनकर उस मुनिने कहा कि हम और हमारी स्त्री अब अपने पुत्रके साथ ही मर जायेंगे। इसलिये अब हमारे लिये ईंधन और अग्नि जुटाओ ॥ ८१ ॥

राजा दशरथके अनुचर भी तबतक पहुँच गए थे। तत्काल ईंधन और अग्नि जुटा दी गई। जैसे समुद्रके हृदयमें बड़वानल जलता रहता है वैसे ही अपने पापसे व्यथित हृदयमें मुनिका शाप लिए हुए वे घर लौटे ॥ ८२ ॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यका नवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥

दसवाँ सर्ग

अपार धनवाले और इन्द्रके समान तेजस्वी राजा दशरथको पृथ्वीपर राज करते लग-भग दस सहस्र शरद् बीत गए थे ॥१॥ पर अभीतक पितरोंके ऋणसे छुटकारा दिलानेवाली और शोकके अँधेरे को दूर करनेवाली वह ज्योति उन्हें नहीं मिल सकी जिसे पुत्र कहते हैं ॥२॥ जैसे समुद्रको रत्न उत्पन्न करनेके लिये मथे जानेतक ठहरना पड़ा था वैसे ही संतानके लिये उपाय होनेतक राजा दशरथको भी ठहरना पड़ा ॥३॥ तब ऋष्यशृङ्ग आदि जितेन्द्रिय और सन्त यज्ञ करनेवाले ऋषियोंने संतान चाहनेवाले राजा दशरथके लिये पुत्रेष्टि यज्ञ करना प्रारंभ किया ॥४॥

ठीक उसी समय रावणके अत्याचारसे घबराकर देवता लोग उसी प्रकार विष्णुकी शरणमें गए जैसे धूपसे व्याकुल होकर पथिक, छायावाले वृक्षके नीचे पहुँच जाते हैं ॥५॥ ज्यों ही देवता लोग क्षीर सागरमें पहुँचे त्योंही विष्णु भगवान भी योग-निद्रासे जाग उठे। काममें देर न होना ही उसके पूरे होनेका सबसे बड़ा लक्षण है ॥६॥

देवताओंने देखा कि विष्णु भगवान् शेष शय्यापर लेटे हुए हैं और शेषके फणोंकी मणियोंसे उनका शरीर और भी अधिक चमक

उठा है ॥७॥ उन्हीं के पास कमलपर लक्ष्मी बैठी हुई थीं जिनकी कमरमें रेशमी वस्त्र पड़ा हुआ था और जो विष्णु भगवान्के चरण अपनी गोदमें लेकर पलोट रही थीं ॥८॥ जैसे खिले हुए कमलों और कन्याराशिके सूर्यसे शरद् ऋतुके प्रारंभिक दिन बड़े सुहावने लगते हैं वैसे ही खिले हुए कमल जैसी आँखोंवाले, प्रातःकालकी धूपके समान सुनहले वस्त्र पहने और ध्यानमग्न योगियोंको सरलतासे दर्शन देनेवाले विष्णु भी बड़े सुन्दर लग रहे थे ॥९॥ उनके चौड़े वक्षस्थलपर वह कौस्तुभ मणि चमक रही थी जिसमें लक्ष्मीजी शृंगारके समय अथवा हाव-भाव करते हुए अपना मुँह देखा करती हैं और जिनकी चमकसे भृगुके चरणके प्रहारसे बना हुआ श्रीवत्स चिह्न भी चमक उठता था ॥ १० ॥ आभूषणों से सजी हुई उनकी बड़ी-बड़ी भुजाएँ वृक्षकी शाखाओं के समान थीं और उनसे वे ऐसे लगते थे मानो समुद्रमें एक दूसरा कल्पवृक्ष निकल आया हो ॥ ११ ॥

असुरोंको मारकर उनकी स्त्रियोंके गालोंसे मदकी लाली मिटानेवाले उनके चक्र, गदा आदि अस्त्र सजीव होकर उनकी जय-जयकार कर रहे थे ॥ १२ ॥ शेषनागसे स्वाभाविक विरोध छोड़कर स्वयं वज्रकी चोटका चिह्न धारण किए हुए गरुड़जी बड़ी नम्रतासे हाथ जोड़कर उनकी सेवामें खड़े थे ॥ १३ ॥

वे योग-निद्रासे उठकर अपनी स्वच्छ और पवित्र चितवनसे उन भृगु आदि ऋषियोंको अनुगृहीत कर रहे थे जो उनसे पूछ रहे थे— भगवन् ! आप सुखसे तो सोए हैं ॥ १४ ॥ तब देवताओंने दैत्योंके नाश करनेवाले विष्णु भगवान्को प्रणाम किया और उन प्रशंसनीय विष्णुकी स्तुति करने लगे जिनतक न तो वाणी ही पहुँचती है और न तो मन ही पहुँच सकता है। वे बोले— ॥ १५ ॥

पहले विश्वको बनानेवाले, फिर उसका पालन करनेवाले और पीछे उसका संहार करनेवाले ये तीनों रूप आप अपनेमें धारण करते हैं। आपको प्रणाम है ॥१६॥ जैसे एक स्वादवाला वर्षाका जल अलग अलग देशोंमें बरसकर अलग-अलग स्वादवाला हो जाता है वैसे ही आप सब प्रकारके विकारोंसे दूर होते हुए भी सत्त्व, रज और तम तीनों गुणोंको लेकर अनेक रूप धारण कर लेते हैं ॥१७॥

हे भगवन् ! आप कितने बड़े हैं यह कोई नहीं माप सकता पर आपने सब लोक माप डाले हैं। आपकी स्वयं कोई इच्छा नहीं है पर आप सबकी इच्छाएँ पूरी करते हैं। आपको कोई नहीं जीत सकता पर आपने सबको जीत लिया है। आप किसीको दिखाई नहीं देते पर आपने ही इस दिखाई देनेवाले संसारको उत्पन्न किया है ॥ १८ ॥ हे भगवन् ! विद्वानोंका कहना है कि आप सबके हृदयमें रहते हुए भी दूर हैं। आप कोई इच्छा नहीँ करते, फिर भी नर-नारायणके रूपमें बदरिकाश्रममें तपस्या करते हैं। आप दयालु हैं पर आपको शोक नहीँ होता। आपको लोग पुराण अर्थात् पुरातन पुरुष कहते हैं पर आप कभी बूढ़े नहीँ होते ॥ १९ ॥ आप सबको जानते हैं पर आपको कोई नहीँ जानता। आपने सारी सृष्टि उत्पन्न की है पर आपको किसीने उत्पन्न नहीँ किया है। आप सबके स्वामी हैं पर आपका कोई स्वामी नहीँ है और एक रूप होते हुए भी आप संसारके सब रूप धारण किए हुए हैं ॥ २० ॥

विद्वानोंका कहना है कि सामवेदके सातों प्रकारके गीतोंमें आपके ही गुणोंके गीत हैं। आप ही सातों समुद्रोंके जल में निवास करते हैं। सातों प्रकारकी अग्नियाँ आपके ही मुख हैं और सातों लोकोंके आप ही एक सहारे हैं ॥२१॥ आपके ही चारो मुखों से धर्म अर्थ, काम और मोक्ष फल देनेवाला ज्ञान उत्पन्न हुआ है। चार युगों में बँटाहुआ समय भी आपने ही उत्पन्न किया है और चार वर्णोंवाला यह संसार भी आपका ही बनाया हुआ है ॥ २२ ॥

योगी लोग सदा प्राणायाम आदिसे मनको वशमें करके मुक्ति पानेके लिये अपने हृदयों में बैठे हुए ज्योतिस्वरूप आपकी ही खोज किया करते हैं ॥ २३ ॥ हे भगवन् ! आप अजन्मा कहलाकर भी जन्म लेते हैं और कर्म-रहित होकर भी शत्रुओंका संहार करते हैं। योग निद्रामें सोते हुए भी आप जागते ही रहते हैं, फिर बताइए, आपका सच्चा भेद कौन जान सकता है ॥ २४ ॥ आप कृष्ण आदि रूपोंमें शब्द, स्पर्श रूप, रस, गन्ध आदिका भोग करते हैं। नर-नारायण रूपसे कठोर तपस्या करते हैं। राम आदि रूप धारण करके प्रजाका पालन करते हैं और शान्त रूप धारण करके उदासीन भी रह

जाते हैं ॥ २५ ॥ जैसे गंगाजीकी सभी धाराएँ समुद्रमें ही गिरती हैं उसी प्रकार परमानन्द पानेके जितने मार्ग बताए गए हैं वे अलग-अलग शास्त्रोंमें अलग-अलग रूपसे बताए जानेपर भी सब आपमेंही पहुँचते हैं ॥ २६ ॥

जो योगी लोग सदा आपका ही ध्यान करते हैं, जिन्होंने अपने सब कर्म आपको ही समर्पित कर दिए हैं और जो राग-द्वेषसे दूर हैं उन योगियोंको तो आप ही जन्म-मरणके बन्धनसे छुटकारा देते हैं ॥ २७ ॥ यद्यपि पृथ्वी आदिको देखनेसे आपकी महिमा प्रकट होती है पर उतनेसे आपका वर्णन नहीं हो सकता। फिर भला वेदोंके वर्णनसे और अनुमानसे आपका कैसे ज्ञान हो सकता है ॥ २८ ॥ आपके स्मरण मात्रसे ही लोग पवित्र हो जाते हैं। फिर यदि उन्हें आपका दर्शन हो जाय, वे आपका चरण छू सकें, और आपकी वाणी सुन सकें तो उससे जितना पुण्य होगा उसका वर्णन कौन कर सकता है ॥ २९ ॥ जैसे समुद्रके रत्न और सूर्यकी किरणें गिनी नहीं जा सकतीं वैसे ही स्तुति करके आपके पूरे चरितका वर्णन नहीं हो सकता ॥ ३० ॥ संसारमें प्राप्त करने योग्य कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जो आपके हाथमें न हो। फिर भी आप जो जन्म लेते हैं और कर्म करते हैं उसका एकमात्र उद्देश्य यही है कि आप संसारपर अनुग्रह करना चाहते हैं ॥ ३१ ॥ आपकी महत्ताकी प्रशंसा करके जो हम चुप हो रहे हैं, इसका यह कारण नहीं है कि हमने आपके सब गुण बखान डाले, वरन् इसका कारण यही है कि हम थक गए हैं और आगे बोलनेकी शक्ति हममें नहीं रही ॥ ३२ ॥

जो भगवान किसी भी इन्द्रियसे प्राप्त नहीं होते हैं उनकी स्तुति करके देवताओंने उन्हें प्रसन्न कर लिया। वह स्तुति भी उनकी झूठी प्रशंसा नहीं थी वरन् सब बातें सच्ची ही थीं ॥३३॥ फिर भगवानने प्रसन्न होकर उनसे कुशल मंगल पूछा, जिसके उत्तरमें देवताओंने कहा कि आजकल ऐसे राक्षस उत्पन्न हो गए हैं जिन्होंने बिना प्रलय-काल आए ही सारे संसारकी मर्यादा और इसके चारों ओर हाहाकार मचा दिया है ।३४।

यह सुनकर समुद्रसे भी बढ़कर गंभीर ध्वनि के उन भगवान

उत्तर देने लगे तब क्षीर सागरके तटपर खड़े हुए पहाड़ोंकी गुफाओंमें उनके शब्द गूँज उठे ॥३५॥ विष्णु भगवान् तो सबसे पुराने कवि हैं इसलिये जब कण्ठ, तालु दाँत, ओठ आदि उच्चारणके स्थानोंसे भली-भाँति वाणी निकली तब मानो सरस्वतीने अपने जन्म लेनेका फल पा लिया ॥३६॥ उनके दाँतोंकी चमकसे जगमगाती हुई उनकी वाणी जब मुखसे निकली तब वह ऐसी शोभा देने लगी मानो उनके चरणोंसे निकल कर गंगाजी ऊपरको जा रही हों ॥३७॥

विष्णु भगवान् बोले—हे देवताओ ! जैसे संसारके जीवोंके सतोगुण और रजोगुणको उनका तमोगुण दबा लेता है वैसे ही आपके तेज और बलको रावण दबा बैठा है ॥३८॥ मैं यह भी जानता हूँ कि जैसे अनजानमें किए हुए पापसे सज्जनका मन घबरा जाता है वैसे ही सारा संसार रावणके अत्याचारसे घबरा उठा है ॥३९॥ इसलिये रावणको मिटा डालनेका काम जैसा इन्द्रका है वैसा ही मेरा भी है । इसके लिये इन्द्रने जो मेरी प्रर्थना की है उसकी मैं कोई आवश्यकता नहीं समझता हूँ क्योंकि आगकी सहायताके लिये वायुसे कहना नहीं पड़ता, वह तो स्वयं आगको उभाड़ देता है ॥४०॥ शिवजीको प्रसन्न करनेके लिये रावणने अपने नौ सिर काट कर चढ़ा दिए थे । अब जान पड़ता है कि उस राक्षसने अपना दसवाँ सिर मेरे चक्रसे कटनेके लिये रख छोड़ा है ॥४१॥ ब्रह्माजीने जो उसे वरदान दे दिया है उसीसे मैंने उस दुष्टका दिन-दिन ऊपर चढ़ना उसी प्रकार सहा है जैसे अपने ऊपर चढ़ते हुए साँपको चन्दनका पेड़ सह लेता है ॥४२॥ जब ब्रह्माजी उसकी तपस्यासे प्रसन्न हुए तब उसने यही वरदान माँगा कि मैं देवताओंके हाथसे न मारा जा सकूँ क्योंकि मनुष्योंको तो वह कुछ समझता ही नहीं है ॥४३॥ इस लिये मैं राजा दशरथके यहाँ जन्म लेकर अपने तीखे बाणोंसे उसके सिरोंको कमलके समान उतार कर रणभूमिको भेंट चढ़ाऊँगा ॥४४॥ हे देवताओ ! यजमान लोग जो विधिसे दिया हुआ यज्ञका भाग तुम्हें देंगे उसे अब राक्षस लोग छीनकर नहीं खा सकेंगे सब आप लोगोंको ही मिलेगा ॥४५॥ अब आप लोग निडर होकर अपने-अपने विमानोंपर चढ़कर आकाशमें घूमिए और सगर्व

पुष्पक विमानको देखकर और उससे डरकर बादलों में छिपना छोड़ दीजिए ॥४६॥ रावणने स्वर्गकी जिन स्त्रियोंको अपने यहाँ बन्दी किया है उनके जूड़ों को नलकूबरके शापके डरसे हाथ नहीं लगाया है अब आप लोग ही उन बन्दी स्त्रियोंके जूड़े अपने हाथों से खोलेंगे ॥४७॥ जैसे सूखेके दिनों में कोई बादल धानके खेतपर जल बरसाकर निकल जाय वैसे ही रावणके डरसे सूखे हुए देवताओंपर अपने मधुर वचन बरसाकर विष्णु भगवान भी अन्तर्धान हो गए ॥४८॥ जैसे वायुके चलनेपर वनके वृक्ष स्वयं उसके पीछे न जाकर अपने फूल उसके साथ भेज देते हैं वैसे ही जब भगवान विष्णु देवताओंका कार्य करनेके लिये चले तब इन्द्र आदि देवताओं ने भी अपने अपने अंश उनके साथ भेज दिए ॥४९॥

इधर ज्यों ही राजा दशरथका पुत्रेष्टि यज्ञ समाप्त हुआ त्यों ही यज्ञकी अग्निमेंसे एक पुरुष प्रकट हुआ जिसे देखकर यज्ञ करने वाले सभी ऋषि बड़े अचरजमें पड़ गए ॥५०॥ उस पुरुषके हाथमें खीरसे भरा हुआ सोनेका कटोरा था। उस खीरमें सारे ब्रह्माण्डको सँभा-लने वाले विष्णु भगवान पैठे हुए थे, इसलिये वह दिव्य पुरुष भी उस कटोरेको बड़ी कठिनाई से सँभाल पा रहा था ॥५१॥ जैसे इन्द्रने समुद्रमेंसे निकले हुए अमृतके कलशको थाम लिया था वैसे ही राजा दशरथने भी उस दिव्य पुरुषके हाथसे वह खीर ले ली ॥५२॥ उस दिव्य पुरुषने राजा दशरथके असाधारण गुणोंकी इतनी प्रशंसा की कि विष्णु भगवानको भी उनके यहाँ जन्म लेनेकी इच्छा होने लगी ॥५३॥ जैसे सूर्य अपनी नई धूप पृथ्वी और आकाश दोनोंमें बाँट देता है वैसे ही खीरके रूपमें प्राप्त हुए विष्णुके तेजको राजाने कौशल्या और कैकेयीमें बराबर बराबर बाँट दिया ॥५४॥

कौशल्या उनकी बड़ी रानी थीं और कैकेयी उनकी प्यारी रानी थीं। इसलिये वे चाहते थे कि वे दोनों रानियाँ ही अपने-अपने भागमें [illegible] हुए भाग देकर सुमित्राका सम्मान करें ॥५५॥

[illegible] सब जाननेवाले राजा दशरथकी उन दोनों रानियोंने [illegible] खीरका आधा-आधा भाग सुमित्राको दे दिया ॥५६॥

[illegible] रानियाँ दोनों [illegible] [illegible] [illegible]

धाराओंसे भौंरी बराबर प्रेम करती है वैसे ही सुमित्रा भी अपनी दोनों सौतोंसे बराबर प्रेम करती थीं ॥ ५७ ॥

जैसे अमृत नामकी जल बरसानेवाली सूर्यकी किरणें संसारके कल्याणके लिये जल लिए रहती हैं वैसे ही उन तीनों रानियोंने लोकके कल्याणके लिये विष्णुके अंशसे भरे गर्भको धारण किया ॥ ५८ ॥ एक साथ गर्भ धारण करनेवाली वे रानियाँ गर्भसे पीली पड़नेके कारण उन अनाजकी बालोंके समान पीली लगती थीं जिनमें दाने पड़ गए हों ॥ ५९ ॥ उन्हें यह स्वप्न दिखाई देता था कि कमल, तलवार, गदा, शार्ङ्ग धनुष और चक्र लिए हुए कोई बौना सा पुरुष हमारी रक्षा कर रहा है ॥ ६० ॥ और अपने सोनेके पंखोंसे प्रकाश फैलाता हुआ अपने वेगके कारण अपने साथ बादलोंको भी खींचकर ले जाता हुआ गरुड़ हमें आकाशमें उड़ाकर ले जा रहा है ॥ ६१ ॥ और वक्षस्थलपर कौस्तुभमणि पहने हुए लक्ष्मी हाथमें कमलका पंखा लेकर हमारी सेवा कर रही हैं ॥ ६२ ॥ इतना ही नहीं, आकाश गङ्गामें स्नान करके सप्तर्षि भी वेद पाठ करते हुए हमारी ही उपासना कर रहे हैं ॥ ६३ ॥

जब रानियोंने राजासे अपने ये स्वप्न सुनाए हुए और उन्होंने समझ लिया कि अब संसा[illegible] कोई नहीं है क्योंकि मैं संसारके गुरु विष्णु[illegible] रहा हूँ ॥ ६४ ॥

यद्यपि विष्णुका एक ही रूप है पर जैसे निर्म[illegible] बहुतसे प्रतिबिम्ब पड़ जाते हैं वैसे ही वे भी गर्भोंमें अलग अलग निवास कर रहे थे ॥ ६५ ॥ [illegible]सी वूटियोंमें रातको अँधेरा दूर करनेवाला [illegible] वैसे ही राजाकी पटरानी कौशल्याने तमोगुण[illegible] पुत्र उत्पन्न किया ॥ ६६ ॥

गर्भसे दुबली माता कौशल्या, नन्हेसे रामको लिए हुए पलंगपर लेटी हुई ऐसी सुन्दर जान पड़ती थीं जैसे शरद् ऋतुमें पतली धारवाली गङ्गाजीके तटपर किसीका चढ़ाया हुआ नीला कमल रक्खा हुआ हो ॥ ६९ ॥

कैकेयीने भरतको जन्म दिया। उन्हें पाकर वे ऐसी शोभा दे रही थीं जैसे लक्ष्मीके साथ विनय शोभा देता है ॥ ७० ॥ जैसे अभ्याससे पाई हुई विद्यासे ज्ञान और विनय दोनों मिल जाते हैं वैसे ही सुमित्राके लक्ष्मण और शत्रुघ्न नामके दो जुड़वाँ पुत्र उत्पन्न हुए ॥ ७१ ॥

उस समय संसारसे सारे दोष भाग गए और चारों ओर गुण ही गुण फैल गए मानो विष्णु भगवानके साथ साथ स्वर्ग भी पृथ्वी-पर चला आया हो ॥ ७२ ॥ दसों दिशाओं में बिना धूलकी जो स्वच्छ हवा चलने लगी वह ऐसी लगती थी मानो रावणसे डरे हुए कुबेर आदि दिग्पालोंने पृथ्वीपर चार रूपोंमें आए हुए भगवानको पाकर सन्तोषकी साँस ली हो ॥ ७३ ॥ रावणसे पीड़ा पाई हुई अग्निका धुआँ निकल गया और सूर्य भी निर्मल हो गए मानो दोनोंका शोक दूर हो गया हो ॥ ७४ ॥ उसी समय रावणके मुकुटके कुछ मणि पृथ्वीपर गिर पड़े मानो राक्षसोंकी लक्ष्मीके आँसू ही गिर पड़े हों ॥ ७५ ॥

वनको चमका देती हैं वैसे ही परस्पर प्रेमसे उन चारो कुमारोंने पवित्र रघुकुलको उजागर कर दिया ॥ ८० ॥

यद्यपि चारोंमें परस्पर बहुत प्रेम था, फिर भी विशेष प्रेमके कारण जैसे राम और लक्ष्मणकी एक जोट हो गई वैसे ही भरत और शत्रुघ्नकी भी जोट हो गई ॥ ८१ ॥ जैसे वायु और अग्निका तथा चन्द्रमा और समुद्रका जोड़ा कभी अलग नहीं होता वैसे ही राम और लक्ष्मणका तथा भरत और शत्रुघ्नका साथ कभी नहीं छूटा ॥८२॥

उन प्रजाके स्वामी राजकुमारों ने अपने तेज और नम्र व्यवहारसे अपनी प्रजाका मन उसी प्रकार हर लिया जैसे गर्मीके अंतमें काले बादल लोगों के मन आकर्षित कर लेते हैं ॥ ८३ ॥ राजाकी चारों संतान ऐसी शोभा दे रही थी मानो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों ने अवतार ले लिया हो ॥ ८४ ॥

चारों पितृभक्त राजकुमारोंने राजा दशरथको अपने गुणोंसे उसी प्रकार प्रसन्न कर लिया जैसे चारो समुद्रों ने रत्न देकर चारो दिशाओं के स्वामी राजा दशरथको प्रसन्न कर लिया था ॥ ८५ ॥

जैसे असुरोंकी तलवारोंकी धार कुंठित करनेवाले अपने चार दाँतोंसे ऐरावत शोभा देता है, जैसे साम, दाम, दण्ड और भेद इन चार उपायोंसे राजनीति शोभा देती है और जैसे रथके जुएके समान अपनी लम्बी-लम्बी चार भुजाओं से विष्णु भगवान शोभा देते हैं वैसे ही राजा दशरथ भी अपने चार सुयोग्य पुत्रोंसे सुशोभित हुए ॥ ८६

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यमें रामावतार नामका दसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।



ग्यारहवाँ सर्ग

एक दिन विश्वामित्रजी राजा दशरथके पास आए और उन्होंने कहा कि मेरे यज्ञकी रक्षाके लिये काकपक्ष धारी रामको हमारे साथ भेज दीजिए। ठीक ही है, जो तेजस्वी होते हैं, उनके लिये यह नहीं विचार किया जाता कि वे छोटे हैं या बड़े ॥ १ ॥

यद्यपि दशरथजीने राम और लक्ष्मणको बड़ी तपस्यासे पाया था पर वे विद्वानोंके इतने भक्त थे कि उन्होंने तत्काल राम-लक्ष्मण-को मुनिजीके साथ भेज दिया। क्योंकि रघुकुलकी सदासे यह रीति रही है कि यदि कोई प्राण भी माँगे तो उसे विमुख नहीं लौटाते ॥ २ ॥

उन्हें देखते हुए पुरवासियोंकी आँखें ऐसी दीखती थीं मानो नेत्रोंकी वंदनवारें बाँध दी गई हों ॥ ५ ॥

विश्वामित्रजी केवल राम और लक्ष्मणको ही ले जाना चाहते थे अतः राजाने उनकी सहायताके लिये अपना आशीर्वादही दिया, सेना नहीं। क्योंकि उनका आशीर्वाद ही उनकी रक्षाके लिये पर्याप्त था॥६॥ माताओंके चरण छूकर दोनों राजकुमार उन तेजस्वी मुनिके पीछे चलते ऐसे शोभित होते थे मानो सूर्यके पीछे पीछे चैत्र और वैशाख मास चले जा रहे हों। बचपनके कारण लहरोंके समान चंचल बाहों वाले राजकुमारोंका चुलबुलापन ऐसा सुन्दर लग रहा था मानो वर्षा ऋतुमें दोनों उद्ध और भिद्य नदियाँ लहराती इठलाती तटोंको ढाती हुई बहती चली जा रही हों ॥ ८ ॥

आजतक उन बालकोंने घरसे बाहर तो पैर रक्खा ही न था। इसलिये मार्ग में ही विश्वामित्रजीने उन्हें बला और अतिबला नामकी दोनों विद्याएँ सिखा दीं जिससे ऊबड़-खाबड़ वनके मार्गमें चलते हुए उन्हें वैसा ही सुख हो रहा था मानों वे मणियोंसे जड़े हुए अपने भवनों में अपनी माताके आसपास घूम रहे हों ॥ ९ ॥ जो राम और लक्ष्मण सदा दिव्य रथोंपर चढ़कर चलते थे उन्हें तनिक भी थकावट नहीं हुई क्योंकि उनके पिताके मित्र विश्वामित्रजी उन्हें मार्गमें पुरानी कथाएँ सुनाते चले जाते थे ॥ १० ॥ सरोवरोंने अपना मीठा जल पिलाकर, पक्षियोंने मधुर गीत सुनाकर, वायुने सुगन्धित पराग फैलाकर और बादलोंने शीतल छाया देकर मार्गमें उन दोनोंकी बड़ी सेवा की ॥ ११ ॥

कमलोंसे भरे हुए सरोवरों तथा थकावट हरनेवाले छायाको देखकर भी आश्रमके तपस्वी उतने प्रसन्न कभी न थे जितने इन दोनों राजकुमारोंको देखकर प्रसन्न हुए ॥ १२ ॥

जिस तपोवनमें शिवजीने कामदेवको भस्म किया था वे सुन्दर शरीरवाले राम, धनुष उठाए हुए पहुँचे तब जान पड़ा वे वहाँ कामदेवकी सुन्दरताके प्रतिनिधि बनकर आए हों, कार्योंके नहीं ॥ १३ ॥

वहीं मार्गमें उन्हें वह सुकेतु की कन्या ताड़का राक्षसी

जिसने सारे मार्गको उजाड़ बना दिया था और जिसके शापकी कथा महर्षि विश्वामित्रने पहले ही रामको सुना दी थी। उसे देखते ही उन दोनों भाइयों ने अपने धनुषोंको पृथ्वीपर टेककर डोरियाँ चढ़ा लीं ॥ १४ ॥

उनके धनुषकी डोरीकी टंकार सुनते ही, कानों मे लटकी हुई मनुष्यकी खोपड़ियोंका कुण्डल हिलाती हुई अमावास्याकी रात्रिके समान काली कलूटी ताड़का उनके आगे आकर इस प्रकार खड़ी हो गई मानो बगुलोंकी पाँतों से भरी काली बदली हो ॥ १५ ॥

बड़े वेगसे मार्गके वृक्षोंको ढाती हुई प्रेतों के वस्त्र पहने हुई और भयंकर गरजनेवाली तथा श्मशानसे उठे, हुए बवंडरके समान आकृति वाली ताड़का, रामके ऊपर टूट पड़ी ॥ १६ ॥ वृक्षकी शाखाके समान अपनी बाँह उठाती हुई और कमरमें आँतो की लगटी पहने हुई उस ताड़काको देख कर रामने स्त्रीको मारनेकी घृणा और बाण दोनों एक साथ छोड़े ॥ १७ ॥

रामके उस बाणने पत्थरकी चट्टानके समान कठोर ताड़काकी छातीमें जो छेद किया वह मानो राक्षसोंके उस देशमें यमराजके प्रवेश करनेके लिये द्वार खोल दिया हो जहाँ अभीतक वह जा नहीं पाया था।

रामके बाणसे ताड़काकी छाती फट गई और वह उर नीचे गिरी तब उसके गिरनेसे वह जङ्गल ही नहीं वरन तीनों लोकों को जीतकर पाई हुई रावणकी राजलक्ष्मी भी काँप उठी ॥ १८ ॥

विषयमें विश्वामित्रजीने उन्हें सब बता दिया था। वहाँ अपने पूर्व जन्मके वामनावतारकी लीलाओंका ठीक-ठीक स्मरण न होनेपर भी वे कुछ उत्कंठितसे हो गए ॥ २२ ॥

वहाँसे मुनि अपने आश्रममें पहुँचे जहाँ शिष्योंने पूजा की सा सामग्री इकट्ठी कर रक्खी थी, वृक्ष भी अपने पत्तोंकी अञ्जली बाँधे खड़े थे और मृग बड़ी उत्सुकतासे इन लोगोंको देख रहे थे ॥२३॥

जैसे सूर्य और चन्द्रमा बारी-बारीसे अपनी किरणों से पृथ्वीका अँधेरा दूर करते हैं वैसे ही आश्रममें राम और लक्ष्मण बारी बारीसे यज्ञ करनेवाले ऋषिके विघ्न दूर कर रहे थे ॥२४ ॥ इतने में ही यज्ञकी वेदीपर बन्धुजीव (दुपहरिया) के फूलके समान बड़ी-बड़ी रक्तकी बूँदें देखकर ऋषियोंको बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने यज्ञ करना बन्द करके अपने-अपने खैरके स्रुवे रख दिए ॥ २५ ॥ उसी समय रामने अपने तूणीरसे बाण निकाले और ऊपर मुँह करके आकाशकी ओर देखा कि गिद्धके पंखोंके समान हिलती हुई ध्वजाओंवाली राक्षसोंकी सेना डटी खड़ी है ॥ २६ ॥ रामने और सबको छोड़कर उन्हीं दो राक्षसोंको बाण मारे जो उस सेनाके सेनानायक थे और जो यज्ञसे घृणा करते थे ॥ २७ ॥ क्योंकि भला बड़े बड़े साँपोंपर आक्रमण करनेवाला गरुड़ क्या कभी जलके छोटे-छोटे साँपोंपर आक्रमण किया करता है ॥ २७ ॥ दिव्य अस्त्र चलानेमें रामका हाथ ऐसा सधा हुआ था कि उन्होंने झट अपने धनुषपर वायव्य अस्त्र चढ़ाया और पर्वतसे भी बड़े ताड़काके पुत्र मारीचको उस बाणसे उड़ाकर वैसे ही दूर फेंक दिया जैसे कोई सूखा पत्ता उड़ा दिया हो ॥ २८ ॥

सुबाहु नामका जो दूसरा राक्षस अपनी मायासे
रहा था उसे भी रामने अपने बाणोंसे टुकड़े-टुकड़े
बाहर मार गिराया जिसे पक्षियोंने क्षण भरमें बाँट
जब यज्ञ करनेवाले ऋषियोंने देखा कि थोड़े
सब विघ्न दूर कर दिए तो उन्होंने राम और लक्ष्मणके पराक्रमकी बड़ी प्रशंसा की और मौन धारण किए हुए विश्वामित्रजीने विधिके साथ अपना यज्ञ समाप्त कर लिया ॥ ३० ॥

यज्ञ समाप्त होनेपर स्नान करके महर्षि विश्वामित्रने उन राम और लक्ष्मणको बड़ा आशीर्वाद दिया जिनकी लटें प्रणाम करते समय हिल रही थीं। ऋषिने कुशासे छिली हुई अपनी हथेली उनके सिरपर रखकर उनपर अपना बड़ा स्नेह दिखाया ॥ ३१ ॥

उन्हीं दिनों राजा जनकने धनुष-यज्ञ ठान रक्खा था उसमें उन्होंने मुनियोंको भी निमंत्रण दिया था। धनुषयज्ञ की बात सुनकर दोनों राजकुमारोंको बड़ा कुतूहल हुआ, इसलिये विश्वामित्रजी उन दोनोंको साथ लेकर मिथिलापुरीकी ओर चल दिए ॥ ३२ ॥

वे कुछ दूर चले तो साँझ हो गई और वे उस आश्रमके सुन्दर वृक्षोंके तले टिक गए जहाँ महातपस्वी गौतमकी स्त्री अहिल्या थोड़ी देरके लिये इन्द्रकी पत्नी बन गई थीं ॥ ३३ ॥ रामके चरणोंकी धूल सब पापोंको हरनेवाली थी इसलिये उनके छूते ही पतिके शापसे पत्थर बनी हुई अहिल्याको फिर इतने दिनों पीछे वही पहलेवाला सुन्दर शरीर मिल गया ॥ ३४ ॥

जब राजा जनकजीको यह समाचार मिला कि विश्वामित्रजीके साथ राम और लक्ष्मण भी आए हुए हैं तब वे पूजाकी सामग्री लेकर उनकी अगवानीके लिये मिलने चले। जनकजीको वे ऐसे लगे मानो धर्मके साथ अर्थ और काम ही चले आए हों ॥ ३५ ॥ वे दोनों राजकुमार ऐसे सुन्दर लग रहे थे मानो दो पुनर्वसु नक्षत्र ही पृथ्वीपर उतर आए हों। जनकपुरके निवासी ऐसे मगन होकर अपनी आँखोंसे उनका रूप पी रहे थे कि पलकोंका गिरना भी उन्हें बड़ा खटकता था ॥ ३६ ॥

हाथी नहीं कर सकते, उसे हाथीके बच्चेसे कराना व्यर्थकी गेलगाट है। इसलिये मेरा मन तो नहीं चाहता कि इनसे धनुष उठवाया जाय ॥ ३९ ॥ इस धनुषके उठानेमें बड़े-बड़े धनुषधारी राजा अपना सा मुँह लेकर रह गए और अपनी उन भुजाओंको धिक्कारते हुए चले गए जिनपर धनुषकी डोरीकी फटकारसे बड़े-बड़े घट्ठे पड़े हुए थे ॥ ४० ॥ यह सुनकर मुनि बोले—राजन्! इनकी शक्ति मैं आपको बतलाता हूँ। पर कहनेसे होता क्या है। जैसे वज्रकी शक्तिकी परीक्षा पहाड़पर होती है वैसे ही इनकी शक्तिकी परीक्षा धनुषपर ही हो जायगी ॥ ४१ ॥

मुनिके कहनेसे जनकजीको कुछ-कुछ विश्वास होने लगा कि जैसे वीरबहूटीके बराबर छोटी चिनगारीमें भी जलानेकी शक्ति छिपी रहती है वैसे ही काकपक्षधारी राममें भी धनुष उठानेकी शक्ति होगी ॥४२॥ इसलिये जनकजीने अपने सेवकोंको उसी प्रकार धनुष लानेकी आज्ञा दी जैसे इन्द्र, बादलोंको अपना धनुष प्रकट करनेकी आज्ञा दे देते हैं ॥ ४३ ॥ धनुष लाया गया। वह ऐसा जान पड़ता था मानो कोई बड़ा भारी अजगर सोया हुआ हो। रामने देखते देखते शङ्करजीके उस धनुषको उठा लिया जिसे हाथमें लेकर शङ्करजीने मृगका रूप धरकर दौड़नेवाले यज्ञदेवताके ऊपर बाण छोड़े थे ॥४४॥ यह देखकर सब सभासदोंको बड़ा आश्चर्य हुआ जब रामने उस पर्वत के समान भारी धनुषपर वैसी ही सरलतासे डोरी चढ़ा दी जैसे काम देव अपने फूलोंके धनुषपर डोरी चढ़ाता है ॥ ४५ ॥

रामने धनुषको इतना तान लिया कि वह वज्रके समान भयङ्कर शब्द करके कड़कड़ाता हुआ टूट गया, मानो उसने महाक्रोधी परशुरामको सूचना दे दी हो कि क्षत्रियोंने अब फिर सिर उठाना प्रारम्भ कर दिया है ॥ ४६ ॥

राजा जनकने जब देखा कि धनुष तोड़कर रामने अपना पराक्रम दिखला दिया है तब उन्होंने रामका बड़ा आदर किया और पृथ्वीसे उत्पन्न हुई अपनी कन्या जानकीजीको उसी प्रकार रामके हाथ सौंप दिया मानो साक्षात् अपनी लक्ष्मी ही उन्हें दे डाली हो ॥ ४७ ॥ सत्य प्रतिज्ञा करनेवाले जनकने विश्वामित्रजीको ही विवाहका साक्षी अग्नि

समझ लिया और तत्काल उन्हींके आगे रामको सीता समर्पित कर दी ॥ ४८ ॥ तब महातेजस्वी राजा जनकने अपने पूज्य पुरोहितको दशरथजीके पास यह कहलाकर भेजा कि मेरी पुत्री सीताको स्वीकार करके इस निमि-कुलपर वैसी ही कृपा कीजिए जैसी आप अपने सेवकोंपर करते हैं ॥ ४९ ॥

उधर दशरथ यह विचार ही रहे थे कि योग्य पतोहू हमारे घरमें आवे कि इतनेमें ही जनकजीके पुरोहित राजा दशरथकी इच्छा पूरी होनेका समाचार लेकर आ पहुँचे । ठीक भी है, पुण्यवानोंकी अभिलाषा कल्पवृक्षके समान तत्काल फल देनेवाली होती है ॥ ५० ॥ इन्द्रके मित्र, जितेन्द्रिय दशरथने पुरोहितजीका बड़ा सत्कार किया। उनकी बातें सुनकर वे इतनी सेना लेकर चले कि उससे उठी हुई धूलसे सूर्य भी ढक गया ॥५१॥ वे इस ठाट-बाटसे मिथिला पहुँचे मानो उसे घेरते हुए आए हों । बाहर मिथिलाके उपवनोंको तो उनकी सेनाने रौंद ही डाला । पर इस प्रेमके घेरेको उस नगरीने उसी प्रकार सहन किया जैसे कोई स्त्री अपने प्रियतमके कठोर सम्भोगको सहन करती है ॥ ५२ ॥ वरुण और इन्द्रके समान उन दोनों प्रतापी राजाओंने मिलकर शास्त्रकी विधिसे अपने ऐश्वर्यके अनुकूल अपने पुत्रों और कन्याओंका विवाह कर दिया ॥ ५३ ॥

रामका सीतासे और लक्ष्मणका सीताजीकी छोटी बहन उर्मिलासे विवाह हुआ । भरत और शत्रुघ्नका विवाह जनकजीके छोटे भाई कुशध्वजकी माण्डवी और श्रुतिकीर्ति नामकी कन्याओंसे हुआ ॥५४॥ वे चारों भाई नई बहुओंके साथ ऐसे सुशोभित हुए मानो राजा दशरथके साम, दाम, दण्ड और भेद इन चारों उपायोंको सिद्धियाँ मिल गई हों ॥ ५५ ॥ इन चारों राजकुमारोंको पाकर राजकन्याएँ और राजकन्याओंको पाकर राजकुमार निहाल हो गए। वर वधू और वधुओंका मिलन ऐसा हुआ जैसे शब्दके मूल [illegible] प्रत्यय हो गए हों ॥ ५६ ॥

जैसे बढ़ी हुई नदीकी धारा आस-पासकी भूमिको उजाड़ देती है वैसे ही एक दिन मार्ग में सेनाके ध्वजारूपी वृक्षोंको झकझोरनेवाले वायुने सारी सेनाको व्याकुल कर दिया ॥ ५८ ॥ उससे सूर्यके चारों ओर एक बड़ा भारी मण्डल बन गया और वह ऐसा लगने लगा जैसे गरुड़से मारा हुआ कोई साँप अपने सिरसे गिरी हुई मणिके चारों ओर कुण्डली मारकर पड़ा हुआ हो ॥ ५९ ॥

जैसे रूखे, मैले बालोंवाली तथा रक्तसे लाल कपड़ोंवाली रजस्वला स्त्री देखनेमें अच्छी नहीं लगती उसी प्रकार उस समय चारो ओरकी वे दिशाएँ भी आँखोंको नहीं सुहा रही थीं जिनमें मटमैले बाजों के पंख इधर-उधर उड़ रहे थे और सन्ध्याके लाल बादल छाए हुए थे ॥६०॥ जिधर सूर्य था उधरही सियारियाँ भयानक रूपसे रोने लगीं मानो क्षत्रियोंके रक्तसे अपने पिताका तर्पण करनेवाले परशुरामको वे पुकार रही हों ॥ ६१ ॥

विरोधी हवाके चलने आदि अशकुन होते देखकर उसकी शान्ति के लिये दशरथजीने अपने गुरुसे पूछा कि अब क्या करना चाहिए। इसपर गुरुजीने कहा—चिन्ताकी कोई बात नहीं है। इसका फल अच्छा ही होगा। यह सुनकर दशरथजीके मनमें कुछ ढाढ़स बँधा ॥ ६२ ॥

इसी बीच अचानक एक ऐसा प्रकाशका पुञ्ज सेनाके आगे उठता दिखाई दिया जिसे देखकर सब सैनिकोंकी आँखें चौंधिया गईं। जब उन्होंने आँखें मलकर देखा तब वह प्रकाशका पुञ्ज एक पुरुषके रूपमें दिखाई देने लगा ॥६३॥ उस तेजस्वी पुरुषके शरीरपर ब्राह्मण पिताके अंशका सूचक यज्ञोपवीत शोभा दे रहा था और कन्धेपर क्षत्रिय माताका अंश सूचित करनेवाला धनुष लटक रहा था। इस वेशमें वे ऐसे जान पड़ते थे जैसे सूर्यके साथ चन्द्रमा हों या चन्दनके पेड़से साँप लिपटे हुए हों ॥ ६४ ॥ उन्होंने जिस समय क्रोधसे कठोर हृदयवाले और उचित अनुचितका विचार छोड़ देनेवाले अपने पिताकी आज्ञा मानकर अपनी काँपती हुई माताका सिर काट लिया था उस समय उन्होंने पहले तो घृणाको जीत लिया और फिर पृथ्वी को जीत लिया था ॥ ६५ ॥ उनके दाएँ कानपर इक्कीस दानेकी

रुद्राक्षकी माला लटक रही थी मानो वह इक्कीस बार क्षत्रियोंके नाश करनेकी गिनती करनेके लिये ही उन्होंने पहन रक्खी हो ॥६६॥

जब दशरथजीने उन परशुरामको देखा जिन्होंने अपने पिताके मारे जानेपर क्रोधसे क्षत्रियोंका नाश करनेकी प्रतिज्ञा कर ली थी तब दशरथजीको अपनी दशा देखकर बड़ी चिन्ता हुई क्योंकि उनके पुत्र अभी बच्चे ही थे ॥ ६७ ॥

उनके पुत्र और परशुराम दोनों में राम नाम था। इसलिये जैसे गलेके हार और सर्प दोनों में रहनेवाली मणि आनन्द भी देती है और भय भी, वैसे ही अपने पुत्र और परशुराम दोनों में आए हुए राम-नामसे उन्हें भय भी हुआ और आनन्द भी ॥ ६८ ॥

दशरथजी अभी कहते ही रह गए कि आपके सत्कारके लिये यह अर्घ्य है, किन्तु परशुरामजीने उधर ध्यान न देकर क्षत्रियोंको जलानेवाली अपनी टेढ़ी चितवनसे रामको देखा ॥ ६९ ॥ युद्धके लिये उद्यत और मुट्ठीमें धनुष पकड़कर उँगलियों में बाण चढ़ाते हुए परशुरामजीने अपने आगे निडर खड़े हुए रामसे कहा ॥ ७० ॥—

मेरे पिताका वध करके क्षत्रियोंने मुझसे शत्रुता मोल ले ली है। उन्हें बहुत बार मारकर मुझे कुछ शान्ति मिली थी। पर जैसे ईंटसे छेड़ देनेपर साँप फुफकार उठता है वैसे ही तुम्हारा पराक्रम सुनकर मेरे शरीरमें भी आग लग गई है ॥ ७१ ॥

जनकजीके जिस धनुषको कोई राजा झुका भी न सका उसीको तुमने तोड़ दिया है। यह सुनकर मैंने यही समझा है कि आजतक जो मैं सबसे बढ़कर बलवान समझा जाता था वह बल मानो आज [illegible] ले गया हो ॥ ७२ ॥ पहले संसारमें राम कहनेसे लोग मुझे ही जानते थे पर ज्यों ज्यों तुम ऊँचे बढ़ते चले जा रहे हो त्यों त्यों वह नाम भी तुम्हारे नामके साथ लगता चला जा रहा है। यह बात [illegible] मुझे [illegible] नहीं है ॥ ७३ ॥ जिस परशुरामके [illegible] पहाड़ोंने [illegible] [illegible] ॥ [illegible]

इसलिये क्षत्रियोंका नाश करनेवाला मेरा पराक्रम तबतक मुझे अच्छा नहीं लगता जबतक मैं तुम्हें न जीत लूँ। क्योंकि अग्निका प्रताप तभी सराहनीय है जब वह समुद्रमें भी वैसे ही भड़ककर जले जैसे सूखी घासके ढेरमें ॥ ७५ ॥ तुम्हें यह समझ रखना चाहिए कि शिवजीके जिस धनुषको तोड़कर तुम ऐंठ रहे हो उसकी कठोरता तो विष्णुजीने पहले ही हर ली थी। इसलिये उसे तोड़कर तुमने कोई वीरताका काम नहीं किया है, क्योंकि जिस वृक्षकी जड़ें नदीकी प्रचण्ड धाराने पहले ही खोखली कर दी हों वह तो वायुके तनिकसे झोंकेमें ही ढह जायगा ॥ ७६ ॥ देखो राम! युद्ध तो पीछे होगा, पहले तुम मेरे इस धनुषपर डोरी चढ़ाकर इसे बाणके साथ खींचो तो। यदि तुम इतना भी कर लोगे तो मैं समझूँगा कि तुम मेरे ही समान बलवान् हो और मैं इतनेसे ही हार मानकर लौट जाऊँगा ॥ ७७ ॥ और यदि तुम मेरे फरसेकी चमकती हुई धारको देखकर डर गए हो तो अपने उन हाथोंको जोड़कर अभयकी भिक्षा माँगो जिनकी उँगलियोंमें धनुषकी डोरीकी फटकारसे व्यर्थ ही घट्ठे पड़ गए हैं ॥ ७८ ॥

भयङ्कर वेशधारी परशुरामजीने जब यह कहा तो रामने हँसते हँसते इस प्रकार वह धनुष हाथमें ले लिया मानो परशुरामजीके वचनोंका वही ठीक उत्तर हो ॥ ७९ ॥ जैसे ही उन्होंने वह अपने पिछले जन्मवाला धनुष हाथमें लिया त्योंही उनकी शोभा और भी बढ़ गई, क्योंकि एक तो नया बादल यों ही सुन्दर लगता है, फिर यदि उसमें इन्द्र-धनुष भी बन जाय तब तो उसकी शोभाका [illegible] ही क्या ॥ ८० ॥ पराक्रमी रामने उस धनुषकी एक ओर पृथ्वीपर टेककर जैसे ही उसपर डोरी चढ़ाई वैसे ही क्षत्रियोंके शत्रु परशुरामजी उसी अग्निके समान निस्तेज हो गए जिसमें केवल धुआँ भर रह गया हो ॥ ८१ ॥

आमने-सामने खड़े हुए राम और परशुराममेंसे एकका तेज बढ़ गया और दूसरेका घट गया और इस प्रकार वे दोनों ऐसे जान पड़ने लगे जैसे वे सन्ध्या समयके चन्द्रमा और सूर्य हों ॥८२॥ कार्तिकेयके समान तेजस्वी दयालु रामचन्द्रजीने एक बार निस्तेज परशुरामजीकी

और फिर धनुषपर चढ़े हुए अपने अचूक बाणको देखा और बोले ॥८३॥—यद्यपि आपने हमारा अपमान किया है पर आप ब्राह्मण हैं, इसलिये मैं निर्दय होकर आपको मारूँगा नहीं। पर यह बताइए कि अब इस बाणसे मैं आपकी गति रोकूँ या आपका उन दिव्य लोकोंमें पहुँचना रोक दूँ जो आपने यज्ञ करके जीत लिए हैं ॥ ८४ ॥

यह सुनकर परशुरामजी बोले—यह बात नहीं है कि आपको देखते ही मैं पहचान न गया हूँ कि आप ही साक्षात् पुरातन पुरुष हैं, किन्तु मैंने यह जाननेके लिये आपको कष्ट दिया था कि देखूँ आप विष्णुका कितना तेज लेकर पृथ्वीपर उतरे हैं ॥ ८५ ॥ पिताके शत्रुओंका नाश करनेवाले और सागरतक फैली हुई पृथ्वी ब्राह्मणोंको दान देनेवाले मुझ परशुरामके लिये आप परमपुरुषके हाथों हारना भी गौरवकी ही बात है ॥ ८६ ॥ इसलिये आप मेरी गति न रोकिए, जिससे मैं पवित्र तीर्थोंमें आ-जा सकूँ। मुझे भोगकी तो इच्छा है नहीं इसलिये यदि मुझे स्वर्ग न भी मिले तो कुछ दुःख नहीं होगा ॥८७॥

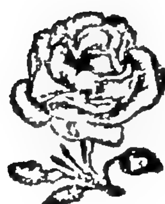
रामने परशुरामजीका कहना मान लिया और पूरबकी ओर मुँह करके बाण छोड़ दिया। यद्यपि परशुरामजीने बहुत पुण्य किए थे किन्तु वह बाण सदाके लिये परशुरामजीके स्वर्गका मार्ग रोककर खड़ा हो गया ॥ ८८ ॥

तब रामने परशुरामजीसे क्षमा माँगते हुए उनके चरणोंमें प्रणाम किया क्योंकि जब कोई पराक्रमी अपने बलसे अपने शत्रुको जीत लेता है तब यदि वह नम्रता भी दिखावे तो उसकी कीर्ति ही बढ़ती है ॥ ८९ ॥

है। इस थोड़ी देरके दुःखके पश्चात् उन्हें ऐसा संतोष मिला जैसे जंगलकी आगसे झुलसे हुए पेड़को वर्षाका जल मिल जाय ॥९२॥

तब शिवके समान राजा दशरथने कुछ रातें तो उस मार्गमें बिताईं जहाँ उनके लिये सुन्दर डेरे तने हुए थे। फिर वे उस अयोध्या नगरीमें पहुँचे जहाँ सीताजीको देखनेके लिये उत्सुक, नगरकी सुन्दर स्त्रियोंकी आँखें झरोखोंमें कमलके समान दिखाई पड़ रही थीं ॥९३॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यमें सीताजीके विवाहका वर्णन नामका ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।



बारहवाँ सर्ग

राजा दशरथने संसारके सब सुख भोग लिए और बूढ़े हो चले। अब उनकी दशा प्रातःकालके उस दीपक जैसी हो गई थी जिसका तेल चुक गया हो और बस वह बुझने ही वाला हो ॥ १ ॥ उनकी कनपटीके पासके बाल पक गए थे मानो बुढ़ापा, कैकेयीसे शंकित होकर राजाके कानमें आकर यह कह रहा हो कि अब रामको राज्य सौंप ही देना चाहिए ॥ २ ॥ जैसे पानीकी गूलसे सिंचकर पूरे उद्यानके रूख हरे भरे हो जाते हैं वैसे ही नगरवासियोंके प्यारे रामके राज्याभिषेकका समाचार सुनकर अयोध्याके लोग फूले नहीं समाए ॥ ३ ॥

कैकेयीने एक वर तो यह माँगा कि चौदह वर्षके लिये राम वनमें चले जायँ और दूसरा यह कि मेरे बेटे भरतको राज्य मिले। पर इस वर माँगनेका एकमात्र फल यही निकला कि कैकेयी विधवा हो गई ॥ ६ ॥

जब दशरथजी रामको राजगद्दी दे रहे थे उस समय रामने आँखों में आँसू भरकर उसे स्वीकार किया था और जब उनसे कहा गया कि वन चले जाओ तब रामने इस आज्ञाको हँसते हँसते सिर माथे चढ़ा लिया ॥ ७ ॥ यह देखकर लोगों के आश्चर्यका ठिकाना न रहा कि रामके मुँहका भाव जैसा राज्याभिषेकके रेशमी वस्त्र पहनते समय था ठीक वैसा ही वन जानेके लिये पेड़की छालके वस्त्र पहनते समय भी था ॥८॥ अपने पिताके वचनोंको सत्य करनेके लिये वे सीता और लक्ष्मणके साथ केवल दण्डक वनमें ही नहीं पैठे वरन् अपने इस सत्य व्यवहारसे उन्होंने सज्जनों के मनमें भी घर कर लिया ॥९॥

उनके वियोगमें राजा दशरथको बड़ा दुःख हुआ। उन्हें मुनिका शाप स्मरण हो आया और उन्होंने समझ लिया कि अब प्राण देकर ही मेरी शुद्धि होगी ॥ १० ॥

दशरथजीके शत्रु तो ऐसे अवसरकी ताकमें ही थे। जब उन्होंने देखा कि अयोध्याके राजा स्वर्ग चले गए और राजकुमार भी राज्य छोड़कर चल दिए तो उन्होंने झट अयोध्यापर धावा बोल दिया ॥ ११ ॥ यह देखकर अयोध्याकी अनाथ प्रजाने उन कुल-मन्त्रियोंको भेजकर भरतको उनकी ननिहालसे बुलाया जिन्होंने अपने आँसू नहीं निकलने दिए थे ॥ १२ ॥

जब भरतजीको अपने पिताकी मृत्युका सब समाचार मिला तब वे केवल अपनी माँ से ही नहीं वरन् अयोध्याकी राज-लक्ष्मीसे भी बड़े चिढ़ गए ॥ १३ ॥ उन्होंने अपने साथ सेना ली और रामको ढूँढ़ने निकल पड़े। जब मार्गके आश्रम-वासियोंने उन्हें वे वृक्ष दिखाए जिनके तले राम और लक्ष्मण जाते हुए टिके थे तो उनकी आँखों में आँसू छलक आए ॥ १४ ॥

उन दिनों राम चित्रकूट-वनमें रहते थे। वहाँ जाकर भरतजीने उन्हें दशरथजीकी मृत्युका समाचार सुनाया और कहा कि

अयोध्याकी राजलक्ष्मीको मैंने छुआ भी नहीं है। आप ही उसे चलकर सँभालिए ॥ १५ ॥ क्योंकि जिस राज्यको बड़े भाईने स्वीकार नहीं किया उसे लेना मैं उतना ही बड़ा पाप समझता हूँ जितना बड़े भाईके अविवाहित रहनेपर छोटे भाईका विवाह कर लेना ॥ १६ ॥

किन्तु राम अपने स्वर्गीय पिताकी आज्ञासे तनिक भी टससे मस नहीं हुए। तब भरतजीने उनसे प्रार्थना की कि आप मुझे अपनी खड़ाऊँ दे दीजिए जिन्हें मैं आपके स्थानपर रखकर राज्यका काम चलाऊँ ॥ १७ ॥

रामने अपनी खड़ाऊँ दे दी। उसे लेकर भरतजी लौटे पर वे अयोध्यामें नहीं आए। उन्होंने नन्दिग्राममें डेरा डाला और वहींसे अयोध्याके राज्यकी उसी प्रकार रक्षा की मानो अपने भाईकी धरोहर सँभाल रहे हों ॥ १८ ॥ इस प्रकार अपने बड़े भाईमें भक्ति करके राजपदको ठुकराकर मानो भरतजीने अपनी माताके पापका प्रायश्चित्त कर डाला ॥ १९ ॥

उधर राम भी सीता और लक्ष्मणके साथ कन्द-मूल-फल खाते हुए युवावस्थामें ही वह व्रत करने लगे जो इक्ष्वाकु वंशवाले बुढ़ापेमें किया करते थे ॥ २० ॥

एक बार वे थके हुए सीताजीकी गोदीमें सिर रखके एक पेड़के नीचे लेटे हुए थे जिसकी छाया उन्होंने अपने अलौकिक प्रभावसे बाँध दी थी ॥२१॥ इसी बीच इन्द्रका पुत्र जयन्त कौआ बनकर आया और उसने अपने नखोंसे सीताजीके स्तनोंपर ठूँग मारी मानो वह सीताजीके स्तनोंपर रामके हाथसे बने हुए नखक्षतोंको प्रकट कर अपनी यह बात बता रहा हो कि मेरा काम ही दूसरोंका दोष ढूँढ़ना है ॥ २२ ॥

झट सीताजीने रामको जगाया। तत्काल रामने उसपर सींकका बाण मारा। उससे बचनेके लिये वह कौआ बहुत इधर-उधर चक्कर काटता रहा पर जबतक उसने अपनी एक आँख नहीं दे दी तबतक उसका छुटकारा नहीं हुआ ॥ २३ ॥

है, ऐसा न हो कि भरत फिर यहाँ पहुँच जायँ ॥ २४ ॥ जैसे वर्षाके दस नक्षत्रों में ठहरता हुआ सूर्य दक्षिणको घूम जाता है वैसे ही अतिथि-सत्कार करनेवाले ऋषियों के आश्रमों में टिकते हुए राम भी दक्षिणकी ओर चल दिए ॥ २५ ॥

यद्यपि कैकेयीने रामको राजलक्ष्मीसे हटा दिया था फिर भी उनके पीछे-पीछे चलनेवाली सीता ऐसी जान पड़ती थी मानो गुणों के पीछे चलनेवाली साक्षात् लक्ष्मी ही हों ॥ २६ ॥

अत्रि ऋषिके आश्रममें जब वे पहुँचे तब उनकी पत्नी अनसूयाजीने सीताजीके शरीरमें ऐसा सुगन्धित अङ्गराग लगाया कि उसकी पवित्र गन्ध पाकर भौंरे भी जंगली फूलों से उड़ उड़कर उधर ही टूट पड़े ॥ २७ ॥

जैसे चन्द्रमाका मार्ग राहु रोक लेता है वैसे ही सन्ध्याके बादलके समान लाल रंगवाला विराध राक्षस भी रामका मार्ग रोककर खड़ा होगया ॥ २८ ॥

जैसे कोई खोटा ग्रह सावन और भादों के महीनों के बीचसे वर्षाको ले बीतता है, वैसे ही उस राक्षसने राम और लक्ष्मणके बीचसे सीताजीको हर लिया ॥ २९ ॥ पर राम-लक्ष्मणने उसे तत्काल मार डाला और यह सोचकर उसे पृथ्वीमें गाड़ दिया कि कहीं इसके शरीरकी दुर्गन्धि इस देशमें न फैल जाय ॥ ३० ॥

जैसे अगस्त्यजीकी आज्ञासे विन्ध्याचल अपनी मर्यादामें ही रह गया था वैसे ही राम भी मर्यादापूर्वक पञ्चवटीमें रहने लगे ॥ ३१ ॥

जैसे धूपसे घबराकर कोई नागिन चन्दनके पेड़के पास पहुँच गई हो वैसे ही कामसे पीड़ित रावणकी छोटी बहन शूर्पनखा रामके पास जा पहुँची ॥ ३२ ॥ पहले तो उसने अपने कुलका परिचय दिया और फिर सीताजीके सामने ही रामसे कहने लगी कि मैं तुम्हें अपना पति मानती हूँ। क्योंकि स्त्रियाँ जब बहुत अधिक कामासक्त हो जाती हैं तब उन्हें इस बातका ध्यान ही नहीं रहता कि हमें इस समय क्या करना चाहिए क्या न करना चाहिए ॥ ३३ ॥ कामासक्त शूर्पनखाकी यह बात सुनकर साँड़केसे ऊँचे कन्धोंवाले राम बोले— बाले! मेरा तो विवाह हो चुका है। तुम मेरे छोटे भाईके पास जाओ ॥ ३४ ॥

वह झट लक्ष्मणके पास पहुँची। लक्ष्मणने उससे कहा—तू पहले मेरे बड़े भाईके पास विवाहकी इच्छासे जा चुकी है इसलिये तू मेरी माताके समान है। मैं तुझसे विवाह नहीं कर सकता। यह सुनकर वह फिर रामके पास पहुँची। राम और लक्ष्मणके पास आते जाते उसकी दशा उस नदीके समान हो गई जो बारी-बारीसे अपने दोनों तटोंको छूती हुई बहती हो ॥ ३५ ॥

जैसे वायुके रुके रहनेसे शान्त समुद्रका तल चन्द्रमाके निकलने पर हिलोरें लेने लगता है वैसे ही सीताजीको हँसते हुए देखकर क्षण-भरके लिये सुन्दर रूप धारण करनेवाली वह कुरूपा शूर्पनखा भी एक-दम बिगड़ खड़ी हुई ॥ ३६ ॥ और बोली—इधर देखो ! तुम्हें इस हँसीका फल बहुत शीघ्र ही दूँगी। तुमने वैसे ही मेरा अपमान किया है जैसे कोई हरिणी किसी बाघिनका अपमान करे। समझीं ! ॥३७॥

सीताजी तो यह सुनते ही डरके मारे रामकी ओटमें जा छिपीं और शूर्पनखाने, अपने नामके अनुसार सूपके समान बड़े-बड़े नखवाला अपना भयङ्कर रूप दिखाया ॥ ३८ ॥ जब लक्ष्मणने देखा कि अभी तो यह कोयलके समान मधुर बोल रही थी और अब सियारिनके समान हुआँ हुआँ कर रही है तब उन्होंने समझ लिया कि यह स्त्री बड़ी खोटी है ॥ ३९ ॥ और यह समझते ही वे झट अपनी कुटियामें गए और वहाँसे तलवार लाकर शूर्पणखाके नाक कान काट लिए। नाक-कान कट जानेसे वह और भी अधिक कुरूप दिखाई देने लगी ॥ ४० ॥ नकटी-बूची होकर वह आकाशमें उड़ी और अंकुश जैसे टेढ़े-टेढ़े नखोंवाली और बाँसके जैसे बड़े पोरोंवाली अपनी उँगलियोंको चमका चमका-कर राम-लक्ष्मणको धमकाने लगी ॥ ४१ ॥

रामने दूरसे देखा कि हाथमें शस्त्र उठाए घमंडी राक्षस बढ़े चले आ रहे हैं तो उन्हें विश्वास हो गया कि इन्हें तो हम अकेले अपने धनुषसे ही जीत लेंगे। इसलिये उन्होंने सीताकी रक्षाका भार लक्ष्मणको सौंप दिया ॥ ४४ ॥

राम अकेले थे और राक्षस सहस्रों थे पर राम इस प्रकार लड़ रहे थे कि वहाँ जितने राक्षस थे उन्हें उतने ही राम दिखाई पड़ रहे थे ॥ ४५ ॥ जिस प्रकार सदाचारी राम अपने ऊपर नीच पुरुषों द्वारा लगाया हुआ दूषण या कलङ्क नहीं सह सकते थे वैसे ही वे युद्धमें दूषण राक्षसका आना भी नहीं सह सके ॥ ४६ ॥ उन्होंने दूषण, खर और त्रिशिरापर अपने बाण एक एक करके चलाए किन्तु अत्यन्त शीघ्रतासे चलाए हुए वे बाण ऐसे जान पड़ते थे मानो वे एक साथ धनुषसे छूटे हों ॥ ४७ ॥ वे बाण उनके शरीरको छेद कर इतने वेगसे बाहर निकल गए कि उनमें रक्त भी नहीं लग सका, क्योंकि बाण तो उनकी आयु पीनेके लिये गए थे, उनका रक्त तो पीया पक्षियोंने ॥ ४८ ॥ रामने अपने बाणोंसे राक्षसोंकी पूरी सेनाको इस प्रकार काट डाला कि युद्ध-भूमिमें राक्षसोंके धड़ोंको छोड़कर और कुछ भी नहीं दिखाई दे रहा था ॥ ४९ ॥ बाण बरसानेवाले रामसे लड़कर वह राक्षसोंकी सेना गिद्धोंके पंखोंकी छायामें सदाके लिये सो गई ॥ ५० ॥ और रामके अस्त्रसे मारे हुए उन राक्षसोंकी मृत्युका समाचार रावणके पास पहुँचानेके लिये अकेली शूर्पणखा ही बच पाई थी ॥ ५१ ॥

बहनका अपमान और खर-दूषण आदि अपने संबन्धियोंका वध रावणको इतना अपमानजनक जान पड़ा मानो रामने उसके दसों सिरोंपर पैर रख दिया हो ॥ ५२ ॥

तब उसने मारीचको माया-मृग बनाया और राम-लक्ष्मणको धोखा देकर सीताजीको चुराकर लङ्कामें ले गया। मार्गमें गृध्रराज जटायु उससे लड़ा भी, पर वह कुछ कर न सका ॥५३ ॥ राम और लक्ष्मण अब सीताको ढूँढ़ने लगे। उन्होंने मार्गमें जटायुको देखा। उसके पंख कटे हुए थे। उसके प्राण कण्ठ तक आ गए थे पर उसने सीताके चुरा ले जानेवाले रावणसे लड़कर अपने मित्र दशरथका ऋण चुका

दिया था ॥ ५४ ॥ वह राम-लक्ष्मणसे बोला कि सीताजीको रावण ले गया है। जटायुके घावोंको ही देखकर यह स्पष्ट था कि वह कितने जी-जानसे रावणसे लड़ा था ॥ ५५ ॥ केवल इतना ही कह कर जटायु बेचारा चल बसा। उसके मरनेसे राम-लक्ष्मणको उतना ही शोक हुआ जितना उन्हें अपने पिताके मरनेपर हुआ था। उसका विधिवत् दाह-संस्कार करके उन्होंने उसका श्राद्ध आदि किया ॥ ५६ ॥ वहाँसे वे आगे बढ़े तो उन्हें कबन्ध मिला जो किसी ऋषिके शापसे राक्षस हो गया था। रामने उसकी बाँहें काट डालीं जिससे उसका शाप छूट गया और वह फिर देवता हो गया। उसने प्रसन्न होकर सुग्रीवका पता बताया। इस सुग्रीवके भी राज्य और स्त्रीको उनके भाई बालीने छीन लिया था, इसलिये उसने स्त्रीसे बिछुड़े हुए रामसे शीघ्र ही मित्रता कर ली ॥ ५७ ॥ पराक्रमी रामने बाली-को मारकर उसके सिंहासनपर सुग्रीवको वैसे ही बैठा दिया जैसे कोई वैयाकरण, लिट् लुट् आदि लकारोंमें अस् धातुके बदले भू धातुको बैठा देता है ॥ ५८ ॥

सुग्रीवने जानकारोंको आज्ञा दी कि जाओ और जाकर सीताजीका पता लगाओ। जैसे विरही रामका मन सीताजीकी खोजमें इधर-उधर भटकता था वैसे ही वानर भी इधर-उधर घूमकर सीताजीकी खोज करने लगे ॥ ५९ ॥ मार्गमें जटायुके भाई सम्पातीसे उनकी भेंट हुई। उसने बतलाया कि समुद्र पार लङ्काद्वीपका राजा रावण सीताजीको हर ले गया है। यह सुनकर हनुमानजी उसी प्रकार समुद्रको लाँघ गए जैसे निर्मोही पुरुष संसार-सागरको पार कर लेता है ॥ ६० ॥ लङ्कामें पहुँच कर ढूँढते-ढाँढते उन्होंने एक स्थानपर सीताजीको देखा। चारों ओर राक्षसियोंसे घिरी हुई वे ऐसी लग रही थीं जैसे विषकी लताओंके बीचमें संजीवनी बूटी हो ॥ ६१ ॥ उनके पास जाकर हनुमानजीने रामकी अँगूठी उन्हें दी, जिसका स्वागत सीताजीने हर्ष भरे हुए आँसुओंसे किया ॥ ६२ ॥

लङ्कामें आग लगा दी ॥ ६३ ॥ फिर सीताजीसे मिलनेकी पहचान के लिये उनसे चूड़ामणि लेकर वे रामके पास लौट आए। उस मणि को पाकर रामको वैसा ही आनन्द हुआ मानो साक्षात् सीताजीका हृदय ही अपने आप चला आया हो ॥ ६४ ॥ उस मणिको हृदयसे लगाकर वे सुध-बुध भूलकर मग्न हो गए। उन्हें उस समय वैसी ही प्रसन्नता हो रही थी मानो स्तनके स्पर्शको छोड़कर सीताजी ही हृदयसे आ लगी हों ॥ ६५ ॥

प्रियाका सन्देश सुनकर राम उनसे मिलनेके लिये उतावले हो गए। उस उत्साहमें उन्हें लङ्काके चारों ओरका चौड़ा और गहरा समुद्र खाईसे भी कम चौड़ा लगने लगा ॥ ६६ ॥ वे वानरोंकी अपार सेना साथ लेकर शत्रुका संहार करने चले। वह सेना इतनी अधिक थी कि पृथ्वी की कौन कहे, आकाशमें भी बड़ी कठिनाई से चल पाती थी ॥ ६७ ॥

जब राम समुद्रके तटपर पहुँचे तो रावणका भाई विभीषण उनसे मिलने आया मानो राक्षसोंकी राजलक्ष्मीने उसकी बुद्धिमें पैठकर उसे यह समझा दिया हो कि अब रामकी शरणमें जाने पर ही तुम्हारा कल्याण होगा ॥ ६८ ॥ रामने भी उससे यह प्रतिज्ञा कर ली कि हम तुम्हें राक्षसोंका राजा बना देंगे। ठीक भी है। समय पर काममें लाई हुई कूट-नीति आगे चलकर अवश्य ही फल देती है ॥ ६९ ॥ रामने वानरोंको लगाकर समुद्रपर जो पत्थरोंका धवल पुल बँधवाया वह ऐसा जान पड़ता था मानो विष्णुको अपने ऊपर सुलानेके लिये स्वयं शेषनाग ही उतर आए हों ॥ ७० ॥ उस पुलसे समुद्र पार करके पीले पीले वानरोंने लङ्काको चारों ओरसे घेर लिया। उनसे घिरी हुई लङ्का ऐसी जान पड़ती थी मानो लङ्काके चारों ओर सोनेका एक दूसरा परकोटा बन गया हो ॥ ७१ ॥ वहाँ वानरों और राक्षसोंका ऐसा भयङ्कर युद्ध होने लगा कि राम और रावणकी जय जयकारोंसे दिशाएँ फटी पड़ती थीं ॥ ७२ ॥

उस युद्धमें वानर, पेड़ोंसे मार-मारकर राक्षसोंकी लोहेकी गदाएँ तोड़ डालते थे, पत्थर बरसाकर उनके मुद्गर पीस डालते थे, अपने नखोंसे ऐसे भयङ्कर घाव कर देते थे कि शस्त्रोंसे भी वैसे घाव नहीं

हो सकते थे और लड़ाकू हाथियोंके सिरोंपर बड़ी बड़ी चट्टानें पटक पटककर उनका कचूमर निकाल देते थे ॥ ७३ ॥ उसी समय एक राक्षसने मायासे रामका सिर बनाकर सीताजीके आगे ला धरा। उसे देखते ही सीताजी मूर्छित होकर गिर पड़ीं। पर जब त्रिजटाने उन्हें समझाया कि यह सब राक्षसी माया है तब सीताजीकी जानमें जान आई ॥ ७४ ॥ यह जानकर उनका शोक तो छूट गया कि मेरे पतिदेव जीवित हैं पर उन्हें इस बातकी बड़ी लज्जा हुई कि पतिके मारे जानेका समाचार सुनकर भी मैं जीवित रह गई, मरी नहीं ॥ ७५ ॥

उसी समय मेघनादने राम और लक्ष्मणको नागपाशमें बाँध लिया पर गरुड़ने आकर वह फन्दा तुरन्त काट दिया। पाशमें बँधनेका वह क्षण भरका क्लेश भी उन दोनों भाइयोंको ऐसा जान पड़ा मानो स्वप्नमें हुआ हो ॥ ७६ ॥ तब मेघनादने खींचकर लक्ष्मणकी छातीमें शक्ति-बाण मारा। लक्ष्मण गिर गए और उन्हें देखकर रामका हृदय शोकसे फटने लगा। हनुमानजी तत्काल हिमालयसे जाकर संजीवनी बूटी ले आए, जिसके पिलाते ही लक्ष्मणकी सारी पीड़ा जाती रही और फिर उठकर उन्होंने अपने बाणोंसे अनगिनत राक्षसोंको मारकर लङ्कामें कुहराम मचा दिया ॥ ७८ ॥ जैसे शरद् ऋतुके आनेपर न तो बादलका गर्जन रह पाता है न इन्द्रधनुष ही दिखाई देता है वैसे ही लक्ष्मण भी मेघनादके गर्जनको और उसके इन्द्रधनुषके समान धनुषको क्षणभरमें ले बीते ॥ ७९ ॥

इधर सुग्रीवने कुम्भकर्णकी नाक-कान काटकर उसे [illegible] समान बना दिया था और वह रामका मार्ग रोककर उसी प्रकार खड़ा होगया जैसे टाँकीसे कटी हुई कोई मैनसिलकी चट्टान आ गिरी हो ॥ ८० ॥ रामके बाणोंसे घायल होकर वह गिरकर सब [illegible] मानो रामके बाणोंने उसे यह कहकर गहरी नींदमें सुला दिया हो कि तुम्हें नींद बड़ी प्यारी है, तुम्हारे भाईने व्यर्थ ही तुम्हें [illegible] जगा दिया ॥ ८१ ॥

और भी बहुतसे राक्षस [illegible] वानरोंकी [illegible] [illegible] इस प्रकार गिर रहे थे मानो राक्षसोंके [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] रही हो ॥ ८२ ॥

जब रावणने सब काण्ड सुना तब वह अपने राजभवनसे निकल कर रण-भूमिमें आया। उसने मनमें ठान लिया था कि आज संसारमें या तो रावण ही नहीं रहेगा या राम ही नहीं रहेंगे ॥ ८३ ॥ रावणको रथपर और रामको पैदल देखकर इन्द्रने उनके लिये अपना वह रथ भेजा जिसमें पीले रंगके घोड़े जुते हुए थे ॥ ८४ ॥ उस रथकी ध्वजा आकाश-गङ्गाकी लहरोंके पवनसे फड़फड़ाती चल रही थी। इन्द्रके सारथी मातलिका हाथ थामकर रामचन्द्रजी उसपर चढ़ गए ॥ ८५ ॥ मातलिने उन्हें इन्द्रका वह कवच भी पहना दिया जिसपर राक्षसोंके अस्त्र ऐसे लगते थे मानो वे अस्त्र न हों वरन कमलके फूल हों ॥ ८६ ॥ आज बहुत दिनोंपर राम और रावणने एक दूसरेको देखा। आज उन दोनोंको अपनी वीरता दिखानेका अवसर मिला और इस प्रकार तीनों लोकोंमें जो राम रावणका युद्ध प्रसिद्ध था वह आज सफल हो गया ॥ ८७ ॥ राक्षसोंके मारे जानेके कारण रावण अकेला रह गया था फिर भी अपनी बहुत सी बाँहों और बहुतसे मुखोंके कारण वह ऐसा जान पड़ता था मानो उसके साथ बहुतसे राक्षस हों ॥ ८८ ॥

जिस रावणने इन्द्र आदि लोकपालोंको जीत लिया था, जिसने अपने सिर काट काटकर शिवजीको चढ़ा दिए थे और जिसने कैलास पर्वतको उँगलियोंपर उठा लिया था उसे देखकर रामने समझा कि यह कुछ कम पराक्रमी नहीं है ॥ ८९ ॥

रावणने बड़ा क्रोध करके रामकी उस दाहिनी भुजामें बाण मारा जो फड़कती हुई यह शुभ सूचना दे रही थी कि अब सीताके प्राप्त होनेमें देर नहीं है ॥ ९० ॥ रामने जो बाण छोड़ा वह रावणकी छातीको छेदकर पातालमें चला गया मानो पाताल-वासियोंको रावणके मरनेकी शुभ सूचना देनेके लिये चला जा रहा हो ॥ ९१ ॥

वे दोनों क्रोध करके एक दूसरेको ललकारते हुए और अस्त्रों शस्त्रोंसे काटते हुए लड़ रहे थे और उनका क्रोध उसी प्रकार बढ़ता जा रहा था जैसे विजयके लिये शास्त्रार्थ करनेवालोंका क्रोध बढ़ता चलता है ॥९२॥ कभी राम अधिक पराक्रम दिखाते थे और कभी रावण। इसलिये विजयश्री कभी रामके पास जाती थी तो कभी

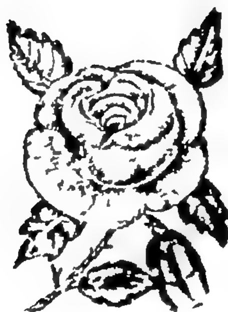
रावणके पास। उसकी दशा वैसी ही हो गई जैसे लड़ते हुए मतवाले हाथियोंके बीचकी दीवाल की हो ॥ ९३ ॥ जब राम बाण चलाते या रावणका वार रोकते तब देवता उनके ऊपर फूल बरसाने लगते और जब रामपर रावण प्रहार करता या उनका वार रोकता तब असुर उसपर फूल बरसाने लगते। पर रामके अस्त्र रावणके ऊपर बरसते हुए फूलोंको ऊपर ही तितर बितर कर देते और रावणके बाण रामपर बरसनेवाले फूलोंको आकाशमें ही छितरा देते थे ॥ ९४ ॥ रावणने लोहेकी कीलोंसे जड़ी हुई वह शतघ्नी रामपर चलाई जो यमराजके अस्त्र कूटशाल्मलीके समान भयङ्कर थी ॥९५॥ उस समय राक्षसोंको पूरी आशा हो गई कि इस अस्त्रसे तो राम अवश्य ही समाप्त हो जायँगे। पर रामने उस शतघ्नीको रथतक पहुँचनेके पहलेही तिरछी नोंकवाले बाणोंसे ऐसी सरलतासे टुकड़े टुकड़े कर डाला मानो केला छील रहे हों। यह देखकर राक्षसोंकी रही-सही आशा भी भङ्ग हो गई ॥ ९६ ॥ राम कोई साधारण धनुष-धारी थोड़े ही थे। उन्होंने रावणको मारनेके लिये धनुषपर वह महास्त्र चढ़ाया जो कभी व्यर्थ ही नहीं जाता। वह ऐसा था मानो सीताके शोकरूपी काँटोंको निकालनेकी अचूक ओषधि हो ॥ ९७ ॥

यह महास्त्र आकाशमें जाते ही दस भागोंमें फट गया और उसमें से जो आग निकली वह ऐसी थी मानो फणोंका चमकीला मंडल लिए हुए शेषनाग ही हों ॥ ९८ ॥ मन्त्रसे चलाए हुए उस ब्रह्मास्त्रसे रामने रावणके दसों सिरोंको आधे पलमें काटकर पृथ्वीपर गिरा दिया जिससे रावणको तनिक भी कष्ट नहीं हुआ ॥ ९९ ॥ रावणके सिर कटकर गिरते हुए ऐसे अच्छे लगते थे जैसे चंचल लहरों में प्रातःकालके सूर्यका प्रतिबिम्ब शोभा देता है ॥ १०० ॥ रावणके कटे हुए सिरोंको देखकर भी देवताओंको विश्वास नहीं हुआ क्योंकि उन्हें यह डर था कि कहीं ये फिर न उग आयें ॥१०१॥

की डोरी उतार दी क्योंकि उन्होंने देवताओंका काम पूरा कर दिया था। इन्द्रके सारथी मातलि उनसे आज्ञा लेकर अपने सहस्रों घोड़ेवाले रथको लेकर स्वर्गमें चला गया। उस रथकी ध्वजापर अभीतक रावणके नाम खुदे हुए बाणोंके चिह्न पड़े हुए थे ॥१०३॥

रामने रावणकी राज्यश्री विभीषणको सौंप दी और फिर सीताजी को अग्निमें शुद्ध करके सुग्रीव, विभीषण और लक्ष्मणके साथ अपने बाहुबलसे जीते हुए पुष्पक विमानपर चढ़कर अयोध्याकी ओर लौटे ॥ १०४ ॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यमें रावण-वध नामका बारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥



तेरहवाँ सर्ग

विमानपर चढ़े हुए और उस आकाशमें जाते हुए जिनका गुण शब्द है, गुणी तथा राम कहलानेवाले विष्णु भगवान्, समुद्रको देखकर सीताजीसे एकान्तमें बोले ॥ १ ॥ हे सीते ! इस फेनसे भरे हुए समुद्रको तो देखो जिसे मेरे बनाए हुए पुलने मलय पर्वततक दो भागोंमें इस प्रकार बाँट दिया है जैसे सुन्दर तारोंसे भरे हुए शरद् ऋतुके खुले आकाशको आकाशगङ्गा दो भागोंमें बाँट देती है ॥ २ ॥ जानती हो समुद्र कैसे बना है ? जब हमारे पुरखे महाराज सागर अश्वमेध यज्ञ कर रहे थे तब कपिलजी उनका घोड़ा पाताल लोकमें हर ले गए। उस समय सगरजीके पुत्रोंने घोड़ेकी खोज करनेके लिये सारी पृथ्वी खोद डाली इसीसे यह समुद्र इतना लम्बा-चौड़ा हो गया है ॥ ३ ॥ यह समुद्र है बड़े कामका। देखो इसीसे सूर्यकी किरणें जल पी-पीकर [illegible] ॥ इसमें रत्न बढ़ते हैं अपने [illegible] बड़वानलको भी यह अपनेमें पालता है और सुखदायी प्रकाशवाला चन्द्रमा भी इसीमेंसे उत्पन्न हुआ है ॥ ४ ॥ यह अपना रूप भी बदलता रहता है और यह इतना

वड़ा है कि दसों दिशाओं में दूरतक फैला हुआ है। इसलिये जैसे विष्णु भगवानके विषयमें नहीं कहा जा सकता कि वे ऐसे और इतने वड़े हैं वैसे ही इसके विषयमें भी यह नहीं कहा जा सकता कि यह ऐसा है या इतना वड़ा है ॥ ५ ॥ जब आदिपुरुष विष्णु भगवान् तीनों लोकोंका संहार कर चुकते हैं तब यहीं पहुँचकर योगनिद्रामें सोते हैं और इनकी नाभिसे निकले हुए कमलसे उत्पन्न होनेवाले ब्रह्माजी सदा इनके गुण गाया करते हैं ॥ ६ ॥ जैसे शत्रुओं से डरकर राजा लोग किसी धर्मात्मा और तटस्थ राजाकी शरण लेते हैं वैसे ही उन सैकड़ों पहाड़ों ने भी इसकी शरण ली थी जिनके पंख इन्द्रने काट दिए थे और जिनका अभिमान इन्द्रने चूर कर दिया था ॥ ७ ॥ सृष्टिके आरम्भमें जब वराह भगवान् पृथ्वीको पाताल ले जा रहे थे उस समय प्रलयसे वढ़ा हुआ इसका स्वच्छ जल क्षण भरके लिये उनका घूँघट वन गया था ॥ ८ ॥ देखो ! दूसरे लोग केवल स्त्रियोंका अधरपान करते हैं, अपना अधर उन्हें नहीं पिलाते । पर समुद्र इस वातमें भी औरोंसे वढ़कर है क्योंकि जब नदियाँ ढीठ होकर चुम्वनके लिये अपना मुख इसके सामने वढ़ाती है तव यह वड़ी चतुराईसे अपना तरङ्ग रूपी अधर तो उन्हें पिलाता है और उनका अधर स्वयं पीता है ॥ ९ ॥

यह देखो ये वड़े-वड़े मगरमच्छ अपना मुँह खोलकर मछलियोंको लिए दिए समुद्रका जल पी जाते हैं और फिर मुँह वन्द करके अपने सिरके छेदों से पानीकी जल-धाराएँ छोड़ने लगते हैं ॥१०॥ इन मगरमच्छोंके अचानक उठनेसे समुद्रकी फटी हुई फेनको तो देखो। इनके गालोंपर क्षण भरके लिए लगी हुई यह फेन ऐसी दिखाई देती है मानो इनके कानोंपर चँवर टँगे हुए हों ॥ ११ ॥ ये जो वड़ी वड़ी लहरोंके जैसे तटपर दिखाई दे रहे हैं ये साँप हैं जो तटका वायु पीनेके लिये वाहर निकल आए हैं। पर जब सूर्यकी किरणों से इनकी मणियाँ चमक जाती हैं तब ये पहचानमें आ जाते हैं ॥१२॥ देखो, लहरोंकी झोंकमें तुम्हारे अधरोंके समान लाल लाल मूँगेकी चट्टानसे टकरा जानेसे इन जीवित शंखोंके मुँह छिद गए हैं और इस पीड़ासे ये वेचारे वड़ी कठिनाईसे इधर उधर चल पा रहे हैं ॥ १३ ॥

वह देखो! काले-काले बादल समुद्रका पानी लेने आए हैं और समुद्रकी भँवरके साथ साथ बड़ी तीव्र गतिसे चक्कर काट रहे हैं। इस समय यह समुद्र ऐसा जान पड़ रहा है मानो मन्दराचल फिर इसे मथ रहा हो ॥ १४ ॥

देखो! दूर होनेसे पहिएकी हालके समान बहुत पतला और ताड़ तथा तमाल आदि वृक्षोंके कारण नीला दिखाई देनेवाला समुद्र तट ऐसा जान पड़ रहा है जैसे चक्रकी धारपर मुर्चा जम गया हो ॥ १५ ॥

हे सुलोचने! समुद्रतटका वायु तुम्हारे मुखपर केतकीका पराग छिड़क रहा है मानो वह यह जान गया है कि मैं तुम्हारे अधरोंको चूमने ही वाला हूँ और अब अधिक शृङ्गारकी बाट नहीं देखूँगा ॥ १६ ॥

यह देखो हम लोग विमानके तीव्र चलनेके कारण क्षण भरमें ही समुद्रके उस तटपर पहुँच गए जहाँ बालूपर सीपोंके फटनेसे मोती बिखरे पड़े हैं और फलोंके भारसे सुपारीके पेड़ झुके खड़े हैं ॥ १७ ॥

हे कदलीके समान जाँघोंवाली मृगनयनी! पीछेकी ओर तो देखो। दूर निकल आनेसे यह जंगलोंसे भरी हुई भूमि ऐसी दिखाई पड़ रही है मानो समुद्रमेंसे अभी अचानक निकल पड़ी हो ॥ १८ ॥

देखो! मैं जिधर चाहता हूँ उधर ही यह विमान घूम जाता है। यह कभी तो देवताओंके मार्गमें उड़ता चलता है, कभी बादलोंके मार्गमें पहुँच जाता है और कभी पक्षियोंके मार्गमें ही उड़ने लगता है ॥ १९ ॥ ऐरावतके मदकी गन्धसे बसा हुआ और आकाश गंगाकी लहरोंसे ठंढाया हुआ आकाशका वायु तुम्हारे मुखपर दोप-हरकी गर्मीसे आई हुई पसीनेकी बूँदोंको पोंछ चलता है ॥ २० ॥ हे [illegible]! जब तुम खेल खेलमें अपना हाथ विमानके बाहर निकाल कर [illegible] हो तो [illegible] और [illegible] है। [illegible] ॥ २१ ॥

[illegible]

इन चीरधारी तपस्वियों ने समझ लिया है कि अब कोई खटका नहीं रहा और इसलिये वे नई कुटिया बना-बनाकर, तपोवनमें सुखसे रहते हैं ॥ २२ ॥

देखो ! यह वही स्थान है जहाँ तुम्हें ढूँढ़ते हुए मैंने पृथ्वीपर पड़ा हुआ तुम्हारा बिछुआ देखा था। चुपचाप पड़ा हुआ वह ऐसा लग रहा था मानो तुम्हारे चरणों से अलग हो जानेके दुःखसे चुप हो गया हो ॥ २३ ॥

हे भीरु ! रावण तुम्हें जिस मार्गसे ले गया था उस मार्गकी लताएँ मुझे कृपा करके तुम्हारे जानेका मार्ग बताना चाहती थीं पर बोल न सकनेके कारण उन्होंने अपनी पत्तोंवाली डालियाँ ही उधर झुकाकर मुझे तुम्हारा पता बता दिया था ॥ २४ ॥ हरिणियोंने भी जब देखा कि मुझे तुम्हारे जानेके मार्गका पता नहीं है तब वे अपनी उठी हुई पलकोंवाली आँखें दक्षिण दिशाकी ओर करके मुझे मार्ग समझाने लगी थीं ॥ २५ ॥ देखो ! यह जो आगे माल्यवान पर्वतकी ऊँची चोटी दिखाई देती है, यहाँ जब बादलोंने नया जल बरसाना आरम्भ किया, उस समय तुम्हारे न रहनेसे मेरी आँखें भी जल बरसाने लगी थीं ॥ २६ ॥ उस समय वर्षाके कारण पोखरोंमें से उठी हुई सोंधी गन्ध, अधखिली मञ्जरियोंवाले कदम्बके फूल और मोरोंके मनोहर स्वर तुम्हारे बिना मुझे बड़े अखरे ॥२७॥ जब वहाँ बादल गरजते थे और गुफाओं में उसकी प्रतिध्वनि होने लगती थी तब मुझे वे दिन स्मरण हो आए जब बादलोंके गर्जनसे डरकर तुम मुझसे लिपट जाती थीं। सचमुच माल्यवान पर्वतपर वे पावसके दिन मैंने बड़े कष्टसे बिताए ॥ २८ ॥ वर्षाके कारण वहाँकी धरतीसे जो भाप निकली, उससे कन्दलियोंकी कलियाँ खिल उठीं और वैसी ही लाल-लाल हो गईं जैसे विवाहके समय हवनका धुआँ लगनेसे तुम्हारी आँखें लाल हो गई थीं। अब उन्हें देखकर तुम्हारा स्मरण हो आनेसे मैं बेचैन हो गया था ॥२९॥

देखो ! बहुत ऊँचेसे देखनेके कारण और बेंतके जंगलों से ढके होने के कारण पम्पा सरोवरका जल ठीक ठीक नहीं दिखाई दे रहा है। फिर भी जलपर तैरते हुए सारस कुछ कुछ दिखाई पड़ जाते हैं ॥ ३० ॥ हे प्रिये ! यहाँ चकवा-चकवीके जोड़े एक दूसरेको प्रेम

पूर्वक कमलका केसर दिया करते थे। तुमसे इतनी दूर होनेके कारण उन्हें देख देखकर मैं यही सोचा करता था कि मुझे भी ये दिन कब देखने को मिलेंगे ॥ ३१ ॥ तुम्हारे वियोगमें मैं ऐसा पागल हो गया था कि एक दिन स्तनके समान गुच्छोंवाली इस पतली अशोक लताको मैंने यह समझकर गले लगाना चाहा था कि तुम ही हो। जैसे ही मैं उसे गले लगाने चला तो मेरा यह पागलपन देखकर रोते हुए लक्ष्मणने मुझे वहाँसे हटा लिया ॥ ३२ ॥

यह देखो! विमानके नीचे लटकती हुई सोनेकी किङ्किणियोंका शब्द सुनकर गोदावरी नदीके सारसोंकी पाँत ऊपर उड़ी चली आ रही है मानो ये तुम्हारी अगवानी करने आ रही हों ॥ ३३ ॥

आज बहुत दिनोंपर इस पञ्चवटीको देखकर मेरा जी खिल उठा है। यह देखो! वहाँके मृग ऊपर सिर उठाकर विमानको देख रहे हैं। यहीं पर तो तुमने अपनी पतली कमरपर घड़े ले लेकर आमके वृक्षोंको सींचकर पाला-पोसा था ॥ ३४ ॥ मुझे वे दिन स्मरण हो रहे हैं जब मैं यहाँ एकान्तमें, बेतकी झोंपड़ीमें तुम्हारी गोदमें सिर रखकर सोया करता था और गोदावरीकी ठण्डी वायु मेरे आखेटकी थकावट मिटाया करती थी ॥ ३५ ॥ यह देखो! आगे ही उन तपस्वी अगस्त्य ऋषिका आश्रम है, जिन्होंने केवल भौं तानकर ही राजा नहुषको इन्द्रके पदसे नीचे ढकेल दिया था। ये ही जब उदय होते हैं तब वर्षाका सब गदला जल स्वच्छ कर देते हैं ॥ ३६ ॥ इन्हीं यशस्वी ऋषिकी गार्हपत्य, दाक्षिणात्य और आहवनीय अग्नियोंसे उठने वाला हवन सामग्रीकी गन्धसे मिला हुआ वह धुआँ विमानके पास तक उठा चला आ रहा है जिसे देखते ही मेरा मन पवित्र हो गया है ॥ ३७ ॥

तप डिगानेके लिये इन्द्रने, एक साथ पाँच अप्सराओंका जाल इन फैंका और ये बेचारे फँस गए ॥ ३९ ॥ यह जो नाच गाना सु दे रहा है यह जलके भीतर बने हुए उन्हीं के भवनका है। वह मृदङ्गकी ध्वनि आकाशमें पुष्पक-विमानकी छतरीसे टकराकर रही है ॥ ४० ॥

यह जो चार अग्नियों के बीचमें और ऊपर सूर्यकी किरणों तपते हुए तपस्वी बैठे हैं इनका नाम तो सुतीक्ष्ण अर्थात् तीखा है पर ये हैं बड़े सीधे ॥ ४१ ॥ इनके तपसे डरकर इन इनके पास भी अप्सराओंको भेजा। वे मुसकरा-मुसकराकर इन तिरछी चितवन चलाती थीं और किसी न किसी बहाने अ तगड़ी भी उघाड़कर इन्हें दिखा देती थीं पर उनकी यह सब नट मटक इन्हें न लुभा सकी ॥ ४२ ॥ देखो! वे मुझे देखकर रुद्राक्ष माला बँधी हुई, मृगों को सहलानेवाली और कुश उखाड़नेवा अपनी दाहिनी भुजा उठाकर मेरा स्वागत कर रहे हैं ॥ ४३ ॥ मौन रहते हैं इसलिये केवल सिर हिलाकर ही इन्हों ने मेरे प्रणाम स्वीकार किया है। विमानके बीचमें आजानेसे जो इनकी दृष्टि ग अलग हो गई थी वह फिर इन्हों ने सूर्यमें लगा ली है ॥ ४४ ॥

यह आगे शरणागतकी रक्षा करनेवाले अग्निहोत्री शरभङ्ग ऋ का तपोवन है जिन्होंने बहुत दिनोंतक अग्निको समिधासे तृप्त क अन्तमें अपना पवित्र शरीर भी उसमें हवन कर दिया था ॥ ४ जैसे सुपुत्र अपने पिताके धर्मका पालन करते हैं वैसे ही अतिथि स का काम उनके बदले ये आश्रमके वृक्ष करते हैं जिनकी छायामें कर पथिक अपनी थकावट दूर करते हैं और जिनमें बड़े मीठे फल भी लगते हैं ॥ ४६ ॥

हे सुन्दरी ! मस्त साँड़के समान यह चित्रकूट पर्वत मुझे सुहावना लग रहा है। इसकी गुफा ही इसका मुख है, इससे निक वाले जलकी धाराका शब्द ही साँड़की डकार है, इसकी चोटि उसकी सींगें हैं और उसपर छाये हुए बादल ही मानो सींगों लगी हुई कीचड़ है ॥ ४७ ॥ यह लो गङ्गाजी आ गई। इनका कैसा स्वच्छ और धीरे धीरे बह रहा है। दूर होनेके कारण ये कि

पतली दिखाई दे रही हैं। चित्रकूट पर्वतके नीचे बहती हुई ये ऐसी जान पड़ती हैं मानो पृथ्वी रूपी नायिकाके गलेमें मोतियोंकी माला पड़ी हुई हो ॥ ४८ ॥

पहाड़की ढालपर जो तमालका वृक्ष दिखाई दे रहा है यह वही है जिसके प्रवालका कर्णफूल बनाकर मैंने तुम्हारे कानमें पहनाया था और जो तुम्हारे जौ के अङ्कुरके समान पीले गालोंपर लटकता हुआ बड़ा सुन्दर लगता था ॥ ४९ ॥

यह आगे अत्रि मुनिका तपोवन है जहाँके सिंह आदि पशु बिना मारे-पीटे ही ऐसे सीधे हो गए हैं कि किसीसे कुछ बोलते नहीं। यह तपोवन इतना प्रभावशाली है कि यहाँ बिना फूल आए ही वृक्षों में फल लग जाते हैं ॥५०॥ अत्रिकी पत्नी अनुसूयाजी ऋषियोंके स्नानके लिये उन त्रिपथगा गङ्गाजीको यहाँ ले आई हैं जिनमेंसे सप्तर्षिगण स्वर्ण कमल चुना करते हैं और जो शिवजीके सिरपर मालाके समान सुन्दर लगती हैं ॥ ५१ ॥ इस आश्रमके वृक्षोंके नीचे वेदियोंपर तपस्वी लोग वीरासन लगा लगाकर ध्यान करते हैं और यहाँके वृक्ष भी वायु न चलनेके कारण ऐसे स्थिर खड़े हैं मानो वे भी योग साध रहे हों ॥ ५२ ॥ यह काला-काला वही बड़का पेड़ है जिसकी तुमने मनौती मानी थी। इसमें जो लाल-लाल बड़-पीपलियाँ फली हैं उनसे यह पेड़ ऐसा लग रहा है जैसे मरकत मणियोंके ढेरमें पहुतसे पद्मराग मणि भरे हों ॥ ५२ ॥

नीला आकाश झाँक रहा हो ॥ ५६ ॥ और कहीं पर भस्म लगाए हुए शिवजीके उस शरीरके समान दिखाई पड़ रही है जिसपर काले काले सर्प लिपटे हुए हों ॥ ५६ ५७ ॥ समुद्रकी इन दो पत्नियों अर्थात् गङ्गा-यमुनाके सङ्गममें जो स्नान करके पवित्र होते हैं वे तत्वज्ञानी न होनेपर भी संसारके बन्धनोंसे छूट जाते हैं ॥ ५८ ॥

यह आगे वही निषादराज गुहका नगर है जहाँ मैंने मुकुटमणि उतारकर जटा बाँधी थी और जिसे देखकर सुमन्त्र यह कहकर रोने लगे थे कि हे कैकेयी! तेरी इच्छा सफल हो गई ॥ ५९ ॥

जैसे ऋषि लोग कहते हैं कि अव्यक्त अर्थात् प्रकृतिसे बुद्धि उत्पन्न हुई वैसे ही यह सरयू नदी भी उस मानसरोवरसे निकली है, जिनके कमलोंका पराग यक्षोंकी स्त्रियाँ अपने स्तनोंमें लगाती हैं ॥ ६० ॥ यह नदी इक्ष्वाकुवंशी राजाओंको राजधानी अयोध्याके लगी बहती है। इसके तटपर जहाँ तहाँ यज्ञोंके खम्भे गड़े हुए हैं जिनमें बाँधकर पशुओंकी बलि दी जाती थी। अश्वमेध करनेके अनन्तर सूर्यवंशी राजाओंने जो इसमें स्नान किया है उससे इसका जल पवित्र हो गया है ॥ ६१ ॥ मैं इस नदीका बड़ा आदर करता हूँ क्योंकि यह उत्तरकोशलके राजाओंकी धाय है। इसीके बालूमें खेल खेलकर वे सब पलते हैं और इसीका मीठा जल पीकर पुष्ट होते हैं ॥ ६१ ॥ माननीय महाराज दशरथसे बिछुड़ी हुई मेरी माताके ही समान यह सरयू अपने ठंढे वायुवाले तरंग रूपी हाथ उठा रही है मानो इतने ऊँचे परसे ही मुझे गले लगाना चाहती हो ॥ ६२ ॥

देखो! लाल सन्ध्याके समान जो धूल पृथ्वीसे उठ रही है उससे जान पड़ता है कि हनुमानजीसे मेरे आनेका समाचार सुनकर भरत सेना लेकर मेरा स्वागत करने आ रहे हैं ॥ ६४ ॥

खर दूषण आदि राक्षसोंको मारकर मैं जब लौटा था उस समय जैसे लक्ष्मणने तुम्हे मेरे हाथ सुरक्षित रूपमें सौंप दिया था वैसे ही अब मैं अवधि पूरी करके जो लौटा हूँ तो जान पड़ता है कि सज्जन भरत मुझे सुरक्षित राज्यलक्ष्मी अवश्य ही सौंपेंगे ॥ ६५ ॥ चीर पहने, पैदल चलते हुए हाथमें पूजाकी सामग्री लिए हुए मन्त्रियोंके

साथ भरत मेरे ही पास आ रहे हैं। देखो इनके आगे-आगे वशिष्ठजी चल रहे हैं और पीछे-पीछे सेना चली आ रही है ॥ ६६ ॥

जैसे किसी युवा पुरुषकी गोदमें कोई सुन्दर स्त्री आकर बैठ जाय और वह उससे भोग न करके तलवारकी धारपर चलनेके समान कठोर, इन्द्रियोंको वशमें रखनेका व्रत कर ले, वैसे ही भरतने भी पिताकी दी हुई राज्यलक्ष्मीको भोग करनेकी शक्ति रहते हुए भी मेरे कारण उसका भोग न करके कठिन असिधार व्रतका पालन किया है ॥ ६७ ॥

जब राम ऐसा कह रहे थे उसी समय रामकी इच्छाको ही विमानका चालक मानकर वह विमान आकाशसे नीचे उतर आया और भरतजीके पीछे चलनेवाली सारी जनता आँख फाड़-फाड़ कर उसे देखने लगी ॥ ६८ ॥

सेवामें चतुर सुग्रीवके हाथों के सहारे स्फटिक मणियोंसे जड़ी हुई सीढ़ीसे रामचन्द्रजी विमानसे नीचे उतरे और विभीषण आगे आगे मार्ग दिखाते चले ॥ ६९ ॥

विनीत रामने पहले इक्ष्वाकुवंशके गुरु वशिष्ठजीको प्रणाम किया। फिर अर्घ्य ग्रहण करके आँखमें आँसू भरकर उन्होंने पहले भरतजीको छातीसे लगा लिया फिर उनके उस मस्तकको सूँघा जिसने रामकी भक्तिके कारण राज्याभिषेक भी अस्वीकार कर दिया था ॥ ७० ॥ मूँछ और दाढ़ीके बढ़ जानेसे वे ऐसे दिखाई दे रहे थे जैसे घनी बरोहवाले बड़के वृक्ष हों। रामने प्रसन्नभरी आँखोंसे मधुर भाषामें उनसे कृपापूर्वक कुशल-मङ्गल पूछा ॥ ७१ ॥

मेघनादके प्रहारोंसे कठोर हुई उनकी छातीको अपनी भुजाओंसे दबाते हुए उन्हें अपनी छातीसे लगा लिया ॥ ७३ ॥

रामके कहनेसे वानरों और भालुओंके सेनापति मनुष्योंका वेश बना-बनाकर हाथियोंपर चढ़ गए। उन हाथियोंके मस्तकसे मदकी धारा वह रही थी, इसलिये सूँड़की ओरसे चढ़ते समय उनको वही आनन्द मिला मानो झरनोंवाले पहाड़ोंपर ही चढ़ रहे हों ॥ ७४ ॥

रामकी आज्ञासे विभीषण और उनके साथी भी रथोंपर चढ़ गए। वे रथ यद्यपि मनुष्योंने बनाए थे फिर भी वे इतने सुन्दर थे कि राक्षसोंकी मायासे बनाए हुए रथ भी उनकी सुन्दरताके आगे पानी भरते थे ॥ ७५ ॥

जैसे बुध और बृहस्पतिके साथ चन्द्रमा सन्ध्याको बिजलीवाले बादलोंपर बैठता है वैसे ही राम भी भरत और लक्ष्मणके साथ पताकाओंसे सजे हुए और इच्छानुसार चलनेवाले पुष्पक विमानपर चढ़ गए ॥ ७६ ॥

जैसे आदि वराहने प्रलयसे पृथ्वीको उबार लिया था, जैसे वर्षा बीतनेपर शरद, बादलोंसे चाँदनी छीन लेता है वैसे ही रामने रावण-रूपी सङ्कटसे जिसे उबार लिया था उस विमानमें बैठी हुई सीताजीको भरतजीने जाकर प्रणाम किया ॥ ७७ ॥

सीताजीके जिन पवित्र चरणोंने रावणकी प्रणय-प्रार्थनाको दृढ़ता पूर्वक ठुकरा दिया था उनपर जब भरतजीने बड़े आदरकी भक्तिके कारण बढ़ी हुई जटावाला अपना सिर रक्खा तो इन दोनोंने आपसमें मिलकर एक दूसरेको पवित्र कर दिया ॥ ७८ ॥

आगे-आगे अयोध्याकी जनता चल रही थी और पीछे पीछे वह पुष्पक विमान धीरे-धीरे चला जा रहा था जिसपर राम बैठे हुए थे। इस प्रकार आध कोसतक चलकर उन्होंने अयोध्याके एक सुन्दर उपवनमें डेरा जमाया जिसे पहलेसे ही शत्रुघ्नने भली भाँति सजा रक्खा था ॥ ७९ ॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यमें दण्डकवनसे लौटना नामका तेरहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।



चौदहवाँ सर्ग

उस उपवनमें पहुँचकर राम अपनी माताओंसे मिले जो उसी प्रकार उदास लग रही थीं जैसे वृक्षके कट जानेपर उसके सहारे चढ़ी हुई लताएँ मुरझा जाती हैं ॥ १ ॥

पराक्रमी राम और लक्ष्मणने बारी-बारीसे कौशल्या और सुमित्राको प्रणाम किया। अपने पुत्रोंको देखते ही दोनों माताओंकी आँखोंमें आँसू छलछला आए इसलिये वे आँख भर उन्हें देख भी नहीं सकीं पर [illegible] प्यारसे पुचकारते समय उन्हें पहचान गईं ॥ २ ॥ जैसे [illegible] शीतल जल [illegible] और [illegible] हा कर देता है वैसे ही उन दोनों [illegible] आँखोंसे बहे हुए आनन्दके [illegible] शोकके गरम आँसुओंको ठंडा कर दिया ॥ ३ ॥ [illegible]

[illegible] ॥ ४ ॥

[illegible]

सीताजीने एक-सी भक्तिसे स्वर्गवासी ससुरकी दोनों रानियोंके नाम छूए ॥ ५ ॥ माताओं ने सीताजीको उठाते हुए बड़ी प्यारी और मर्म बात कही—उठो बेटी ! तेरे ही पातिव्रतके प्रभावसे राम और लक्ष्मण इस बड़े भारी संकटसे पार हुए हैं ॥ ६ ॥

जिस राज्याभिषेकका आरम्भ माताओंके हर्ष भरे आँसुओं से हुआ था, उस अभिषेकको सोनेके घड़ोंमें भरे तीर्थोंसे लाए हुए जलसे रामको नहलाकर बूढ़े मन्त्रियों ने पूरा कर दिया ॥७॥ राक्षसों और वानरोंके नायकोंने नदियों, समुद्रों और तालों से जो जल लाकर दिया वह अभिषेकके समय रामके सिरपर वैसे ही बरस रहा था जैसे विन्ध्याचलकी चोटीपर बादलोंका लाया हुआ जल बरसा करता है ॥ ८ ॥ जो राम तपस्वीके वेशमें भी बहुत सुन्दर लगते थे वे इस समय राजसी वस्त्र पहनकर और भी सुन्दर लगने लगे ॥ ९ ॥

वृद्ध मन्त्रियों, राक्षसों और वानरोंको साथ लेकर रामने अपनी सेनाके साथ उस राजधानी अयोध्यामें पैर रक्खे जो चारों ओर वन्दनवारों से सजाई गई थी, जहाँके श्वेत भवनोंपरसे धान की खीलें बरस रही थीं और जहाँके निवासी तुरही आदि बाजोंको सुन-सुनकर बड़े प्रसन्न हो रहे थे ॥ १० ॥ लक्ष्मण और शत्रुघ्न रामपर चँवर डुला रहे थे और भरत हाथमें छत्र लिए हुए थे। इस प्रकार जब राम अपने भाइयोंके साथ अयोध्यामें प्रविष्ट हुए तब चारों भाई ऐसे जान पड़ रहे थे मानो साम, दाम, दण्ड और भेद ये चारों उपाय इकट्ठे हो गए हों ॥ ११ ॥ भवनों के ऊपर वायुसे छितराया हुआ काले अगरका धुआँ ऐसा लग रहा था मानो वनसे लौटकर रामने अयोध्यापुरीका जूड़ा ही अपने हाथसे खोलकर छितरा दिया हो ॥ १२ ॥ भवनों के झरोखों में हाथ बाँधे दिखाई पड़नेवाली अयोध्याकी महिलाओं ने हाथ जोड़कर उन सीताजीको प्रणाम किया जो उस समय पालकीपर बैठी चल रही थीं और जिन्हें कौशल्या आदि सासों ने बड़े मनोहर ढंगसे वस्त्र और आभूषणोंसे सजा रक्खा था ॥ १३ ॥ सीताजीके शरीरपर अब भी वह अमिट रहनेवाला अङ्गराग लगा हुआ था जो अनसूयाजीने उनके अंगोंमें लगा दिया था। उससे अग्निके समान प्रकाशमान उनका

शरीर ऐसा दिखाई पड़ रहा था मानो पुरवासियोंको सीताजीकी शुद्धता दिखलानेके लिये रामने उन्हें फिर अग्निमें बैठा दिया हो ॥ १४ ॥

मित्र-प्रेमी रामने पहले तो सुग्रीव आदि मित्रोंको सब प्रकारकी सामग्रीसे सजे भवनोंमें ठहराया और तब वे अपने पिताजीके पूजाघरमें गए। वहाँ दशरथजीका अकेला चित्र देखकर रामकी आँखोंमें आँसू आ गए ॥ १५ ॥ कैकेयी वहाँ उदास बैठी हुई थीं। रामने हाथ जोड़कर कैकेयीसे कहा—माँ! तुम्हारे ही पुण्यके प्रतापसे हमारे पिताजी अपने उस सत्यसे नहीं डिगे जिससे स्वर्ग मिलता है। यदि तुम उनसे वरदान न माँगती तो उन्होंने जो तुम्हें वरदान देनेकी प्रतिज्ञा की थी वह झूठी हो जाती। यह सुनकर कैकेयीके मनमें जो आत्मग्लानि भरी हुई थी कि राम मेरे लिये न जाने क्या सोचते होंगे और मैं कैसे उन्हें मुँह दिखाऊँगी, वह सब जाती रही ॥ १६ ॥

वहाँसे आकर उन्होंने सुग्रीव और विभीषण आदि मित्रोंका भली भाँति स्वागत-सत्कार किया। उन लोगोंको यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि हम जो कुछ चाहते हैं वह झट बिना कहे ही पहुँच जाता है ॥ १७ ॥

सीताजीने एक-सी भक्तिसे स्वर्गवासी ससुरकी दोनों रानियोंके चरण छूए ॥ ५ ॥ माताओं ने सीताजीको उठाते हुए बड़ी प्यारी और सच्ची बात कही—उठो बेटी ! तेरे ही पातिव्रतके प्रभावसे राम और लक्ष्मण इस बड़े भारी संकटसे पार हुए हैं ॥ ६ ॥

जिस राज्याभिषेकका आरम्भ माताओंके हर्ष भरे आँसुओं से हुआ था, उस अभिषेकको सोनेके घड़ोंमें भरे तीर्थोंसे लाए हुए जलसे रामको नहलाकर बूढ़े मन्त्रियों ने पूरा कर दिया ॥७॥ राक्षसों और वानरोंके नायकोंने नदियों, समुद्रों और तालों से जो जल लाकर दिया वह अभिषेकके समय रामके सिरपर वैसे ही बरस रहा था जैसे विन्ध्याचलकी चोटीपर बादलोंका लाया हुआ जल बरसा करता है ॥ ८ ॥ जो राम तपस्वीके वेशमें भी बहुत सुन्दर लगते थे वे इस समय राजसी वस्त्र पहनकर और भी सुन्दर लगने लगे ॥ ९ ॥

वृद्ध मन्त्रियों, राक्षसों और वानरोंको साथ लेकर रामने अपनी सेनाके साथ उस राजधानी अयोध्यामें पैर रक्खे जो चारों ओर वन्दनवारों से सजाई गई थी, जहाँके श्वेत भवनोंपरसे धान की खीलें बरस रही थीं और जहाँके निवासी तुरही आदि बाजोंको सुन-सुनकर बड़े प्रसन्न हो रहे थे ॥ १० ॥ लक्ष्मण और शत्रुघ्न रामपर चँवर डुला रहे थे और भरत हाथमें छत्र लिए हुए थे। इस प्रकार जब राम अपने भाइयोंके साथ अयोध्यामें प्रविष्ट हुए तब चारों भाई ऐसे जान पड़ रहे थे मानो साम, दाम, दण्ड और भेद ये चारों उपाय इकट्ठे हो गए हों ॥ ११ ॥ भवनों के ऊपर वायुसे छितराया हुआ काले अगरका धुआँ ऐसा लग रहा था मानो वनसे लौटकर रामने अयोध्यापुरीका जूड़ा ही अपने हाथसे खोलकर छितरा दिया हो ॥ १२ ॥ भवनों के झरोखों में हाथ बाँधे दिखाई पड़नेवाली अयोध्याकी महिलाओं ने हाथ जोड़कर उन सीताजीको प्रणाम किया जो उस समय पालकीपर बैठी चल रही थीं और जिन्हें कौशल्या आदि माताओं ने बड़े मनोहर ढंगसे वस्त्र और आभूषणों से सजा रक्खा था ॥ १३ ॥ सीताजीके शरीरपर अब भी वह अमिट कान्तिवाला अङ्गराग लगा हुआ था जो अनसूयाजीने उनके शरीरमें लगा दिया था। उससे अग्निके समान प्रकाशमान उनका

शरीर ऐसा दिखाई पड़ रहा था मानो पुरवासियोंको सीताजीकी शुद्धता दिखलानेके लिये रामने उन्हें फिर अग्निमें बैठा दिया हो ॥ १४ ॥

मित्र-प्रेमी रामने पहले तो सुग्रीव आदि मित्रोंको सब प्रकारकी सामग्रीसे सजे भवनोंमें ठहराया और तब वे अपने पिताजीके पूजाघरमें गए। वहाँ दशरथजीका अकेला चित्र देखकर रामकी आँखोंमें आँसू आ गए ॥ १५ ॥ कैकेयी वहाँ उदास बैठी हुई थीं। रामने हाथ जोड़कर कैकेयीसे कहा—माँ! तुम्हारे ही पुण्यके प्रतापसे हमारे पिताजी अपने उस सत्यसे नहीं डिगे जिससे स्वर्ग मिलता है। यदि तुम उनसे वरदान न माँगती तो उन्होंने जो तुम्हें वरदान देनेकी प्रतिज्ञा की थी वह झूठी हो जाती। यह सुनकर कैकेयीके मनमें जो आत्मग्लानि भरी हुई थी कि राम मेरे लिये न जाने क्या सोचते होंगे और मैं कैसे उन्हें मुँह दिखाऊँगी, वह सब जाती रही ॥ १६ ॥

वहाँसे आकर उन्होंने सुग्रीव और विभीषण आदि मित्रोंका भली भाँति स्वागत-सत्कार किया। उन लोगोंको यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि हम जो कुछ चाहते हैं वह झट बिना कहे ही पहुँच जाता है ॥ १७ ॥

तब रामने उन अगस्त्य आदि ऋषियोंका सत्कार किया जो उन्हें बधाई देने आए थे। फिर उन ऋषियोंको बैठाकर उन्होंने अपने शत्रु रावणके जन्मसे मृत्युतकका वह वृत्तान्त सुना जो उन्हींका गौरव बढ़ानेवाला था ॥ १८ ॥ ऋषियोंके चले जानेपर रामने उन राक्षसों और वानर-सेनापतियोंको विदा किया जो अयोध्यामें इतने आनन्दसे रहे कि उन्हें पता ही न चला कि आधा महीना कब बीत गया। चलते समय सीताजीने स्वयं अपने हाथोंसे उनकी पूजा की ॥१९॥ तब रामने उस स्वर्गके फूलके समान पुष्पक विमानको भी कुबेरके पास जानेकी आज्ञा दी जो सदा इच्छा करते ही उनकी सेवाके लिये आ जाता था और जिसे उन्होंने रावणके प्राणके साथ-साथ उससे छीन लिया था ॥ २० ॥

इस प्रकार पिताकी आज्ञासे वनवासकी अवधि बिताकर रामने

सीताजीने एक-सी भक्तिसे स्वर्गवासी ससुरकी दोनों रानियोंके चरण छूए ॥ ५ ॥ माताओं ने सीताजीको उठाते हुए बड़ी प्यारी और सच्ची बात कही—उठो बेटी ! तेरे ही पातिव्रतके प्रभावसे राम और लक्ष्मण इस बड़े भारी संकटसे पार हुए हैं ॥ ६ ॥

जिस राज्याभिषेकका आरम्भ माताओंके हर्ष भरे आँसुओं से हुआ था, उस अभिषेकको सोनेके घड़ोंमें भरे तीर्थोंसे लाए हुए जलसे रामको नहलाकर बूढ़े मन्त्रियों ने पूरा कर दिया ॥७॥ राक्षसों और वानरोंके नायकोंने नदियों, समुद्रों और तालों से जो जल लाकर दिया वह अभिषेकके समय रामके सिरपर वैसे ही बरस रहा था जैसे विन्ध्याचलकी चोटीपर बादलोंका लाया हुआ जल बरसा करता है ॥ ८ ॥ जो राम तपस्वीके वेशमें भी बहुत सुन्दर लगते थे वे इस समय राजसी वस्त्र पहनकर और भी सुन्दर लगने लगे ॥ ९ ॥

वृद्ध मन्त्रियों, राक्षसों और वानरोंको साथ लेकर रामने अपनी सेनाके साथ उस राजधानी अयोध्यामें पैर रक्खे जो चारों ओर वन्दनवारों से सजाई गई थी, जहाँके श्वेत भवनोंपरसे धान की खीलें बरस रही थीं और जहाँके निवासी तुरही आदि बाजोंको सुन-सुनकर बड़े प्रसन्न हो रहे थे ॥ १० ॥ लक्ष्मण और शत्रुघ्न रामपर चँवर डुला रहे थे और भरत हाथमें छत्र लिए हुए थे। इस प्रकार जब राम अपने भाइयोंके साथ अयोध्यामें प्रविष्ट हुए तब चारों भाई ऐसे जान पड़ रहे थे मानो साम, दाम, दण्ड और भेद ये चारों उपाय इकट्ठे हो गए हों ॥ ११ ॥ भवनों के ऊपर वायुसे छितराया हुआ काले अगरका धुआँ ऐसा लग रहा था मानो वनसे लौटकर रामने अयोध्यापुरीका जूड़ा ही अपने हाथसे खोलकर छितरा दिया हो ॥ १२ ॥ भवनों के झरोखों में हाथ बाँधे दिखाई पड़नेवाली अयोध्याकी महिलाओं ने हाथ जोड़कर उन सीताजीको प्रणाम किया जो उस समय पालकीपर बैठी चल रही थीं और जिन्हें कौशल्या आदि सासों ने बड़े मनोहर ढंगसे वस्त्र और आभूषणों से सजा रक्खा था ॥ १३ ॥ सीताजीके शरीरपर अब भी वह अमिट कान्तिवाला अङ्गराग लगा हुआ था जो अनसूयाजीने उनके शरीरमें लगा दिया था। उससे अग्निके समान प्रकाशमान उनका

शरीर ऐसा दिखाई पड़ रहा था मानो पुरवासियोंको सीताजीकी शुद्धता दिखलानेके लिये रामने उन्हें फिर अग्निमें बैठा दिया हो ॥ १४ ॥

मित्र-प्रेमी रामने पहले तो सुग्रीव आदि मित्रोंको सब प्रकारकी सामग्रीसे सजे भवनोंमें ठहराया और तब वे अपने पिताजीके पूजाघरमें गए। वहाँ दशरथजीका अकेला चित्र देखकर रामकी आँखों में आँसू आ गए ॥ १५ ॥ कैकेयी वहाँ उदास बैठी हुई थीं। रामने हाथ जोड़कर कैकेयीसे कहा—माँ! तुम्हारे ही पुण्यके प्रतापसे हमारे पिताजी अपने उस सत्यसे नहीं डिगे जिससे स्वर्ग मिलता है। यदि तुम उनसे वरदान न माँगती तो उन्होंने जो तुम्हें वरदान देनेकी प्रतिज्ञा की थी वह झूठी हो जाती। यह सुनकर कैकेयीके मनमें जो आत्मग्लानि भरी हुई थी कि राम मेरे लिये न जाने क्या सोचते होंगे और मैं कैसे उन्हें मुँह दिखाऊँगी, वह सब जाती रही ॥ १६ ॥

वहाँसे आकर उन्होंने सुग्रीव और विभीषण आदि मित्रोंका भली भाँति स्वागत-सत्कार किया। उन लोगोंको यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि हम जो कुछ चाहते हैं वह झट बिना कहे ही पहुँच जाता है ॥ १७ ॥

तब रामने उन अगस्त्य आदि ऋषियोंका सत्कार किया जो उन्हें बधाई देने आए थे। फिर उन ऋषियोंको बैठाकर उन्होंने अपने शत्रु रावणके जन्मसे मृत्युतकका वह वृत्तान्त सुना जो उन्हींका गौरव बढ़ानेवाला था ॥ १८ ॥ ऋषियोंके चले जानेपर रामने उन राक्षसों और वानर-सेनापतियोंको विदा किया जो अयोध्यामें इतने आनन्दसे रहे कि उन्हें पता ही न चला कि आधा महीना कब बीत गया। चलते समय सीताजीने स्वयं अपने हाथोंसे उनकी पूजा की ॥१९॥ तब रामने उस स्वर्गके फूलके समान पुष्पक विमानको भी कुबेरके पास जानेकी आज्ञा दी जो सदा इच्छा करते ही उनकी सेवाके लिये आ जाता था और जिसे उन्होंने रावणके प्राणके साथ-साथ उससे छीन लिया था ॥ २० ॥

इस प्रकार पिताकी आज्ञासे वनवासकी अवधि बिताकर रामने

अपने पिताका राज्य फिरसे पाया। जैसा वे धर्म, अर्थ और कामके साथ समान व्यवहार करते थे उसी प्रकार वे अपने भाइयोंके साथ भी समान प्रेमका व्यवहार करते थे ॥ २१ ॥ जैसे स्वामिकार्तिकेय अपने छः मुखोंसे छओं कृत्तिकाओंका स्तन पीकर समान रूपसे प्रेम दिखलाते थे, वैसे ही रामचन्द्रजी भी सभी माताओंको बराबर प्यार करते थे ॥ २२ ॥

वे निर्लोभ थे इसीलिये उन्होंने प्रजापर कोई कर नहीं लगाया। फल यह हुआ कि थोड़े ही दिनोंमें प्रजा धनी हो गई। वे कहीं भी विघ्न आने ही नहीं देते थे, इसलिये सब लोग प्रसन्नतासे यज्ञ आदि क्रियाएँ करने लगे। वे सबको ठीक मार्गपर चलाते थे इसलिये सब उन्हें पिताके समान मानते थे और विपत्ति पड़नेपर वे सबकी सहायता करते थे इसलिये वे प्रजाके पुत्र भी थे ॥ २३ ॥ वे ठीक समयपर प्रजाका काम देख-भालकर सीताजीके साथ रमण भी करते थे। ऐसा जान पड़ता था मानो राज्यलक्ष्मीने ही रामके साथ रमण करनेकी इच्छासे सीताका सुन्दर रूप धर लिया हो ॥ २४ ॥

वे दोनों उस भवनमें इच्छानुसार भोग-विलास करते थे, जिसमें वनवासके समयके चित्र टँगे हुए थे। उन चित्रोंको देखकर वनवासके दुःखोंका स्मरण करके भी उन्हें सुख ही मिलता था ॥२५॥

धीरे-धीरे सीताजीके नेत्रोंकी शोभा बढ़ने लगी और उनका मुख पके सरपतके समान पीला पड़ने लगा। इन गर्भके लक्षणोंको देखकर राम बड़े प्रसन्न हुए ॥ २६ ॥ जब उन्हें पक्का विश्वास हो गया कि सीताजी गर्भिणी हैं तब वे दुबली तथा काले स्तनोंवाली लजीली सीताजीको एकान्तमें गोदमें बैठाकर पूछने लगे—बताओ, तुम्हें क्या-क्या चाहिए ॥ २७ ॥ सीताजी बोलीं—मैं गङ्गाजीके तटके उन तपोवनोंको देखना चाहती हूँ जहाँके हिंसक जन्तु मांस न खाकर नीवार ही खाते हैं, जहाँ मेरी सखियाँ तपस्वियोंकी कन्याएँ रहती हैं और जहाँ कुशाकी झाड़ियाँ चारों ओर खड़ी हैं ॥ २८ ॥ रामचन्द्रजीने कहा—अच्छी बात है। हम तुम्हें उस तपोवनमें अवश्य भेजेंगे। वहाँसे उठकर वे अपने सेवकोंके साथ सुन्दर अयोध्याकी छटा निहारनेके लिये आकाशसे बात करनेवाले अपने ऊँचे राजभवन-

की छतपर जा चढ़े ॥ २९ ॥ वहाँसे उन्होंने देखा कि राजमार्गकी दुकानें धनधान्यसे भरी हुई हैं, सरयूमें नावें चल रही हैं और अयोध्याके उद्यानोंमें विलासी पुरवासी प्रसन्न होकर विलास कर रहे हैं ॥ ३० ॥

नगरीकी यह शोभा देखकर सुन्दर बोलनेवाले, सदाचारी, और शेषनागके समान बड़ी-बड़ी बाँहों और जाँघोंवाले शत्रुविजयी रामने अपने भद्र नामके दूतसे पूछा—कहो भद्र! हमारे विषयमें प्रजा क्या कहती है ॥ ३१ ॥ पहले तो भद्र चुप रहा पर जब राम बार-बार उससे पूछने लगे तब वह बोला—हे नरश्रेष्ठ! जनता आपकी सब बातोंकी प्रशंसा करती है, किन्तु आपने राक्षसके घरमें रहनेवाली देवी सीताको जो फिरसे ग्रहण कर लिया है, उसे लोग अच्छा नहीं समझते ॥ ३२ ॥

अपनी पत्नीपर लगाए हुए इस भीषण कलङ्कको सुनकर सीता-पति रामका हृदय वैसे ही फट गया जैसे घनकी चोटसे तपाया हुआ लोहा फट जाता है ॥ ३३ ॥ वे मनमें सोचने लगे कि अब दो ही उपाय है। या तो मैं इस बातको अनसुनी ही कर दूँ और टाल जाऊँ या फिर निर्दोष पत्नीको सदाके लिये छोड़ दूँ। उस समय उनका चित्त हिंडोला बना हुआ था, वे निश्चय ही नहीं कर पा रहे थे कि इन दोनोंमें क्या करना चाहिए क्या नहीं ॥ ३४ ॥

पर उस कलङ्कको मिटानेका कोई दूसरा मार्ग नहीं था। इस लिये उन्होंने निश्चय कर लिया कि सीताको त्याग कर ही इस कलंकको मिटाना चाहिए। क्योंकि यशस्वियोंको अपना यश अपने शरीरसे भी अधिक प्यारा होता है फिर स्त्री आदि भोगकी वस्तुओं-की तो बात ही क्या ॥ ३५ ॥

उदास मुँहसे रामने भाइयोंको बुलाया तो वे भी इनकी दशा देख कर सन्न रह गए। अपने भाइयोंसे राम बोले—॥ ३६ ॥ यद्यपि मैं सदाचारी होनेके कारण पवित्र हूँ फिर भी जैसे भाप पड़नेसे स्वच्छ दर्पण भी धुँधला हो जाता है, वैसे ही देखो, सूर्यवंशी राज-र्षियोंके कुलमें मेरे कारण कैसा कलङ्क लग रहा है ॥ ३७ ॥ जैसे पानीकी लहरोंके ऊपर तेलकी बूँद फैल जाती है वैसे ही इस

समय घर-घर मेरी निन्दा फैल रही है। इसलिये जैसे हाथी अपने अलानसे खीझ कर उसे उखाड़नेकी चेष्टा करता है वैसे ही मैं भी अपने इस कलङ्कको अब नहीं सह सकता ॥ ३८ ॥ इस समय यद्यपि सीताको पुत्र होनेवाला है तो भी अपने कलङ्कको मिटानेके लिये मैं सब मोह तोड़कर उसे वैसे ही छोड़ दूँगा जैसे पिताकी आज्ञासे मैंने राज्य छोड़ दिया था ॥ ३९ ॥ मैं जानता हूँ कि वह निर्दोष है पर बदनामी सत्यसे भी अधिक बलवान होती है। देखो! निर्मल चन्द्र-बिम्ब के ऊपर पड़ी हुई पृथ्वीकी छायाको लोग चन्द्रमाका कलङ्क कहते हैं और झूठ होनेपर भी सारा संसार इसे ही ठीक मानता है ॥ ४० ॥ तुम यह कहोगे कि यदि ऐसा ही था तो राक्षसोंको क्यों मारा। उसका उत्तर यह है कि सीताको छुड़ानेके लिये मैंने जो राक्षसोंको मारा वह मेरा प्रयत्न सीताको निकाल देनेसे बेकार नहीं कहा जायगा क्योंकि वह तो मैंने अपनी स्त्रीके हरणका उन राक्षसोंसे बदला लिया है। क्योंकि जब कोई साँप पैरके नीचे दब जाता है तब वह रक्तके लोभसे थोड़े ही डँसता है, वह तो बदला लेनेके लिये ही डँसता है ॥ ४२ ॥ इसलिये यदि तुम लोग इस कलङ्कके बाणको मेरे हृदयसे निकालकर मुझे जीवित रखना चाहते हो तो केवल सीताकी दशापर दया करके उसका पक्ष लेकर तुम मेरे इस निश्चयका विरोध मत करो ॥ ४२ ॥

जब भाइयोंने देखा कि राजा इतनी निठुराई करना चाहते हैं तब भाइयोंमेंसे न तो कोई उनका समर्थन ही कर सका, न विरोध ही ॥ ४३ ॥ तीनों लोकों में प्रसिद्ध यशस्वी, अपनी बातके पक्के रामने जब देखा कि लक्ष्मण उनकी आज्ञा माननेको तत्पर हैं तब वे लक्ष्मणसे कहने लगे—लक्ष्मण! तुम बड़े अच्छे हो। और यह कहकर उन्हें एकान्तमें ले गए और बोले— ॥ ४४ ॥ तुम्हारी गर्भिणी भाभी तपोवन देखना चाहती ही हैं इसलिये तुम उन्हें इसी बहानेसे रथपर ले जाकर वाल्मीकिजीके आश्रमतक पहुँचाकर छोड़ आओ ॥ ४५ ॥

लक्ष्मणने सुन ही रक्खा था कि पिताकी आज्ञा पाकर परशुरामजीने अपनी माताको वैसी ही निर्दयताके साथ मार डाला जैसे कोई अपने शत्रुको मारे। इसलिये उन्होंने पिताके समान रामकी आज्ञा

सिर चढ़ा ली, क्योंकि बड़ोंकी आज्ञामें मीन-मेख निकालना ठीक नहीं है ॥ ४६ ॥

सीताजी यह सुनकर बड़ी प्रसन्न हुई कि लक्ष्मण हमें तपोवन दिखाने ले जा रहे हैं। लक्ष्मणजी उन्हें ऐसे रथपर चढ़ाकर ले चले जिसे स्वयं सुमन्त्र हाँक रहे थे और जिसके घोड़े ऐसे सधे हुए थे कि रथके चलते समय गर्भिणी सीताको तनिक भी हचक नहीं लगने पाती थी॥४७॥ मनोहर प्रदेशों मेंको रथपर जाती हुई सीताजी यह सोचकर बड़ी प्रसन्न हुईं कि मेरे प्राणप्रिय सदा मेरे मनकी ही बात करते हैं। उन्हें क्या पता था कि इस समय वे मेरे लिये मनोरथ पूरा करनेवाले कल्पवृक्षके बदले उस असिपत्रके वृक्षके समान कष्ट-दायक हो गए हैं जिसके पत्ते तलवारके समान पैने होते हैं ॥४८॥

लक्ष्मणने सीताजीसे मार्गमें कुछ भी नहीं बताया कि तुमपर क्या विपत्ति आनेवाली है पर सीताजीके दाहिने नेत्रने फड़ककर आगे आनेवाले दुःखकी सूचना दे ही तो दी ॥ ४९ ॥ यह असगुन होते ही उनका मुँह उदास हो गया और वे मन ही मन मनाने लगीं कि भाइयोंके साथ राजा सुखसे रहें, उनपर कोई आँच न आवे ॥५०॥

मार्गमें गङ्गाजी पड़ीं। उनमें जो लहरें उठ रही थीं वे बड़े भाईकी आज्ञासे पतिव्रता सीताको वनमें छोड़नेके लिये ले जाते हुए लक्ष्मणसे मानो हाथ हिला हिलाकर कह रही थीं कि ऐसा न करो, ऐसा न करो ॥५१॥ गङ्गाजीके तटपर पहुँचकर सारथीने रास खींच ली। सच्ची प्रतिज्ञा करनेवाले लक्ष्मणने सीताजीको रेतीपर उतार लिया और केवटने जो नाव लाकर दी, उसपर चढ़कर सीताजीके साथ गङ्गाजीसे भी पार हो गए और अपनी उस प्रतिज्ञासे भी पार हो गए जो उन्होंने सीताको गङ्गापार छोड़नेके लिये रामसे की थी ॥५२॥ पार पहुँचकर लक्ष्मणने आँसू रोककर, रुँधे हुए गलेसे सीताजीको राजाकी आज्ञा इस प्रकार सुनाई जैसे कोई भयङ्कर बादल ओले बरसा रहा हो ॥ ५३ ॥

जैसे लू लगनेसे लताके फूल झड़ जाते हैं और वह सूखकर पृथ्वीपर गिर पड़ती है वैसे ही इस अपमानजनक बातको सुनकर सीताके आभूषण भी गिर पड़े और वे भी अपनी माँ पृथ्वीकी गोदमें

गिर पड़ीं ॥ ५४ ॥ उस समय पृथ्वीने सीताजीको मानो इस दुविधाके कारण अपनी गोदमें नहीं समा लिया कि इक्ष्वाकु-वंशी सदाचारी पति इस प्रकार सीताजीको अचानक क्यों छोड़ देंगे ॥ ५५ ॥

मूर्छा आ जानेसे उन्हें उस समय तो दुःख नहीं हुआ पर जब वे मूर्छासे जगीं तब उनके हृदयमें बड़ी व्यथा हुई। लक्ष्मणने प्रयत्न करके जो उनकी मूर्छा दूर की वह बात उन्हे मूर्छासे भी अधिक कष्ट देनेवाली जान पड़ी ॥ ५६ ॥ वे इतनी साध्वी थीं कि निरपराध पत्नीको निकालनेवाले अपने पतिको उन्होंने कुछ भी बुरा-भला नहीं कहा वरन् बार-बार वे अपने भाग्यको ही कोसने लगीं ॥ ५७ ॥

लक्ष्मणने उन्हें बहुत समझाया बुझाया और वाल्मीकिका आश्रम दिखाकर कहा—देवि ! मैं पराधीन हूँ। इसलिये स्वामीकी आज्ञासे मैंने आपके साथ जो कठोर व्यवहार किया है उसे आप क्षमा कीजिए ॥ ५८ ॥

सीताजी उठीं और लक्ष्मणसे बोलीं—हे सौम्य ! मैं तुमपर प्रसन्न हूँ। तुम बहुत दिन तक जियो। क्योंकि जैसे इन्द्रके छोटे भाई विष्णु सदा अपने बड़े भाईकी आज्ञा मानते हैं वैसे ही तुम भी अपने बड़े भाईकी आज्ञा माननेवाले हो ॥ ५९ ॥ तुम जाकर सभी सासोंसे मेरा प्रणाम कहकर कहना कि मेरे गर्भ में आपके पुत्रका तेज है। इसलिये आप लोग हृदयसे उसकी कुशल मनाते रहिएगा ॥ ६० ॥ और राजासे जाकर तुम मेरी ओरसे कहना कि आपने अपने सामने ही मुझे अग्निमें शुद्ध पाया था। इस समय अपजसके डरसे जो आपने मुझे छोड़ दिया है वह क्या उस प्रसिद्ध कुलको शोभा देती है जिसमें आपने जन्म लिया है ॥ ६१ ॥ पर नहीं, आप तो सबकी भलाई करनेवाले हैं आप अपने मनसे हमारे साथ ऐसा व्यवहार नहीं कर सकते। यह सब मेरे पूर्व जन्मके पापोंका ही फल है ॥ ६२ ॥ जान पड़ता है कि कुछ समय पहले आप जिस राज्यलक्ष्मीका निरस्कार करके मेरे साथ वनमें चले गए थे वह राज्यलक्ष्मी मुझसे रुष्ट हो गई है और उसे आपके घरमें मेरा प्रतिष्ठा-पूर्वक रहना देखा नहीं गया ॥ ६३ ॥ पिछली बार आपकी कृपासे मैंने वनवासके समय बहुतसी ऐसी तपस्विनियोंको

अपने यहाँ आश्रम दिया था जिनके पतियोंको राक्षसों ने सता रक्खा था। अब आपही बतलाइए कि आपके रहते हुए मैं किस मुँहसे उन्हीं तपस्विनियोंकी आश्रिता होकर रहूँगी ॥ ६४ ॥ यदि मेरे गर्भमें आया हुआ आपका वह तेज बाधा न देता जिसकी रक्षा करना आवश्यक है, तो मैं आपसे सदाके लिये बिछुड़े हुए अपने प्राण भी छोड़ देती ॥ ६५ ॥ पर पुत्र हो जानेपर मैं सूर्यमें दृष्टि बाँधकर ऐसी तपस्या करूँगी कि अगले जन्ममें भी आप ही मेरे पति हों, आपसे मुझे अलग न होना पड़े ॥६६॥ मनुने कहा है कि—राजाओंका धर्म वर्णों और आश्रमोंकी रक्षा करना है इसलिये घरसे निकाल देने पर भी आप यह समझकर मेरी देख-भाल करते रहिएगा कि सीता भी उनकी प्रजा और तपस्विनी है ॥ ६७ ॥

यह सुनकर लक्ष्मण बोले—मैं सब कह दूँगा। यह कहकर ज्योंही वे वहाँसे चलकर आँखों से ओझल हुए कि विपत्तिके भारसे व्याकुल होकर सीताजी, डरी हुई कुररीके समान डाढ़ मार-मारकर रोने लगीं ॥ ६८ ॥

उनका रोना सुनकर मोरों ने नाचना बन्द कर दिया, वृक्ष फूलके आँसू गिराने लगे और हरिणियों ने मुँहमें भरी हुई घासका कौर गिरा दिया। सीताजीके दुखसे दुखी होकर सारा जङ्गल रोने लगा ॥ ६९ ॥

जिन महाकृपालु वाल्मीकि ऋषिका शोक व्याधके हाथसे मारे हुए क्रौञ्चको देखकर श्लोक बनकर निकल पड़ा था वे उस समय कुश उपाड़ने निकले थे। रोनेका शब्द सुनकर वे सीताजीकी ओर आए। उन्हें देखकर सीताजीने आँसू पोंछकर चुप-चाप उन्हें प्रणाम किया। ऋषिने गर्भके चिह्न देखकर उन्हें आशीर्वाद दिया कि तुम पुत्रवती हो। आशीर्वाद देकर वे बोले—॥ ७१ ॥

बेटी! मैंने योगबलसे जान लिया है कि तुम्हारे पतिने झूठे अपजससे डरकर तुम्हें घरसे निकाल दिया है। बेटी! यहाँ भी तुम अपने पिताका ही घर समझो और शोक छोड़ दो ॥ ७२ ॥ यद्यपि राम तीनों लोकोंका दुःख दूर करनेवाले हैं, अपनी प्रतिज्ञाके पक्के हैं और अपने मुँहसे अपनी बड़ाई भी नहीं करते फिर भी

तुम्हारे साथ जो उन्होंने यह भद्दा व्यवहार किया है इसे देखकर मुझे उनपर बड़ा क्रोध आ रहा है ॥ ७३ ॥ तुम्हारे यशस्वी श्वसुरजी मेरे मित्र थे और तुम्हारे पिता जनकजी भी ज्ञानोपदेश देकर बहुतसे विद्वानोंको संसारके बन्धनसे छुड़ाते रहते हैं, तुम स्वयं पतिव्रताओंमें सर्वश्रेष्ठ हो और फिर तुममें ऐसा दोष ही कौन-सा है जो मैं तुम्हारे ऊपर कृपा न करूँ ॥ ७४ ॥ देखो ! तपस्वियोंके साथ रहते-रहते यहाँके सब जीव बड़े सीधे हो गए हैं। ये किसीसे कुछ कहते सुनते नहीं। इसी आश्रममें तुम भी निर्भय होकर रहो। तुम्हारी पवित्र सन्तानके जातकर्म आदि संस्कार मैं यही करूँगा ॥ ७५ ॥ पाप मिटानेवाली जिस तमसाके किनारे तपस्वी लोग सदा सन्ध्या-पूजा करते हैं उसमें स्नान करके तुम उसकी रेतीपर देवताओंको बलि दिया करो, इससे तुम्हारा मन प्रसन्न रहेगा ॥ ७६ ॥ यहाँकी मुनि-कन्याएँ तुम्हें सब ऋतुओं में उत्पन्न होनेवाले फूल फल और पूजाके योग्य अन्न लाकर दिया करेंगी और मीठ-मीठी बातें करके तुम्हारा मन भी बहलाया करेंगी ॥ ७७ ॥ जो जलके घड़े तुमसे उठ सकें उन्हें लेकर तुम आश्रमके पौधोंको प्रेमसे सींचा करो। इससे बड़ा लाभ यह होगा कि बच्चा होनेके पहले ही तुम यह सीख जाओगी कि बच्चोंसे कैसे प्रेम करना चाहिए ॥ ७८ ॥

सीताजीने उनकी कृपाको बहुत सराहा और दयालु वाल्मीकिके साथ उनके आश्रममें चली गईं। साँझ हो जानेके कारण बहुतसे मृग वहाँ वेदीको घेरकर बैठे हुए थे और सिंह आदि जन्तु भी चुपचाप आँख मूँदे पड़े थे ॥ ७९ ॥ जैसे अमावास्या, जड़ी-बूटियों और लता-वृक्षोंको चन्द्रमाकी वह सारहीन अन्तिम कला सौंप देती है जिसका अमृत पितर खींच लेते हैं, वैसे ही ऋषिने भी शोकसे व्याकुल सीताको आश्रमकी उन तपस्विनियोंके हाथ सौंप दिया जो सीताजीके वहाँ आजानेसे बड़ी प्रसन्न हो गई थीं ॥ ८० ॥ पूजा हो चुकनेपर उन तपस्विनियोंने सीताके रहनेके लिये एक पत्तोंकी कुटिया दे दी जिसमें हिंगोटके तेलका दीया जल रहा था और जिसमें नीचे मृगचर्म बिछा हुआ था ॥ ८१ ॥

वहाँ सीताजी प्रतिदिन स्नान करके बड़े नियमसे रहती थीं,

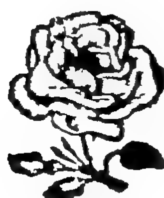
ठीक विधिसे अतिथियोंकी पूजा करती थीं, वृक्षोंकी छालके कपड़े पहनती थीं और केवल पतिका वंश चलानेकी इच्छासे ही कन्द-मूल खाकर शरीर धारण करती थीं ॥ ८२ ॥

सीताजीने रो-रोकर जो बातें कही थीं वे सब अयोध्या पहुँचकर लक्ष्मणजीने रामसे यह सोचकर कह दीं कि देखें राम अब भी पछताते हैं या नहीं ॥ ८३ ॥ उन बातोंको सुनकर ओस बरसानेवाले पूसके चन्द्रमाके समान रामकी आँखोंसे टपटप आँसू गिरने लगे क्योंकि उन्होंने सीताजीको अपनी इच्छासे नहीं वरन् कलङ्कके डरसे ही छोड़ा था ॥ ८४ ॥

वर्णाश्रम-धर्मके रक्षक बुद्धिमान राम संसारके सुखोंका मोह छोड़कर और शोकको रोककर भाइयोंके साथ अपने भरे-पूरे राज्यका शासन करने लगे ॥ ८५ ॥

राजाने कलङ्कके डरसे अपनी रानीको छोड़ दिया इसलिये मानो बिना सौतकी होकर राज्यलक्ष्मी ही उनके हृदयमें सुखसे निवास करने लगी ॥ ८६ ॥ रामने सीताको त्यागकर किसी दूसरी स्त्रीसे विवाह नहीं किया, वरन् अश्वमेध यज्ञ करते समय उन्होंने सीताजीकी सोनेकी मूर्तिको ही अपने बाएँ बैठाया था। जब सीताजीने अपने पतिकी ये बातें सुनीं तब उनके मनमें जो छोड़े जानेका दुःख था वह कम हो गया ॥ ८७ ॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचेहुए रघुवंश महाकाव्यमें सीता-परित्याग नामका चौदहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।



पन्द्रहवाँ सर्ग

सीताजीको छोड़ देनेपर राजा रामचन्द्रजीने केवल समुद्रों से घिरी हुई पृथ्वीका ही भोग किया, किसी दूसरी स्त्रीसे विवाह नहीं किया ॥ १ ॥

इसी बीच एक दिन यमुना-तटपर रहनेवाले कुछ तपस्वी, शरणागत वत्सल रामके पास शरण माँगने आए, क्यों कि लवणासुर राक्षसके उपद्रवों के कारण उनकी यज्ञ आदि क्रियाएँ बन्द हो गई थीं ॥ २ ॥ वे तपस्वी यदि चाहते तो अपने तेजसे लवणासुरको भस्म कर डालते किन्तु उन्हों ने ऐसा करना ठीक नहीं समझा क्यों कि जिन लोगों में शाप देकर भस्म करनेकी शक्ति होती है वे तपस्यासे बटोरे हुए तेजको ऐसे काममें तभी लगाते हैं, जब कोई दूसरा उनका रक्षक न हो ॥ ३ ॥ रामने उनके विघ्न दूर करनेकी प्रतिज्ञा की क्यों कि धर्मकी रक्षाके लिये ही तो वे संसारमें अवतार लेते हैं ॥ ४ ॥

तब मुनियों ने रामको बताया कि जबतक लवणासुरके हाथमें भाला रहेगा तब तक उसका हारना कठिन है इसलिये उसपर ऐसे समय आक्रमण करना चाहिए जब उसके हाथमें भाला न हो ॥ ५ ॥

रामने उन मुनियों की रक्षाका भार शत्रुघ्नको दिया मानो शत्रुघ्नके हाथों शत्रुका संहार कराकर उनका शत्रुघ्न नाम सच्चा करा देना चाहते हों ॥ ६॥ जैसे व्याकरणमें कोई अपवादवाला सूत्र व्यापक नियमवाले सूत्रको भी उलट देता है वैसे ही रघुके वंशका बच्चा बच्चा इतना बलवान होता था कि वह शत्रुको पछाड़ सकता था ॥ ७ ॥

जब शत्रुघ्न निडर होकर रथपर चढ़कर चले तब रामने उन्हें आशीर्वाद दिया और वे सुगन्धित वनोंकी छटा निहारते हुए चल पड़े ॥ ८ ॥ रामकी आज्ञासे शत्रुघ्नके साथ जो सेना गई वह वैसे ही व्यर्थ थी जैसे अध्ययन शब्दमें इङ् धातुसे लगा हुआ अधि उपसर्ग। क्योंकि इङ्का ही अर्थ अध्ययन होता है, उसमें अधि से कोई विशेषता नहीं बढ़ती। इसी प्रकार लवणासुरको शत्रुघ्न अकेले जीत सकते थे, चाहे सेना जाती या न जाती ॥ ९ ॥

जैसे रथपर चढ़े हुए सूर्यको बालखिल्य नामके ऋषि लोग मार्ग दिखाते चलते हैं वैसे ही रथपर चढ़े हुए शत्रुघ्नको भी मुनि लोग आगे-आगे मार्ग दिखाते चले ॥१०॥ मार्गमें जाते हुए उन्होंने पहली रात तो वाल्मीकिजीके उस आश्रममें बिताई जहाँके मृग उनके रथके शब्दको सुनकर बड़े चावसे उधर देखने लगे थे ॥ ११ ॥ शत्रुघ्नजीके घोड़े भी थक गए थे इसलिये रुकना आवश्यक हो गया। तब वाल्मीकिजीने अपनी तपस्याके प्रभावसे आतिथ्यकी सब सामग्री जुटाकर शत्रुघ्नका बड़ा सत्कार किया ॥ १२ ॥

उसी रातको इनकी गर्भिणी भाभी सीताने दो तेजस्वी पुत्रोंको उसी प्रकार जन्म दिया जैसे पृथ्वी अपने राजाके लिये धन और सेना उत्पन्न करती है ॥ १३ ॥ भाईके पुत्र होनेकी बात सुनकर शत्रुघ्नका जी खिल गया और अगले दिन तड़के ही वे हाथ जोड़कर मुनिसे आज्ञा लेकर रथपर चढ़कर आगे बढ़े ॥ १४ ॥

जिस समय वे मधुपद्म नगरमें पहुँचे, उसी समय रावणकी बहन कुम्भीनसीका बेटा लवणासुर बहुतसे पशुओंको मारकर वनसे इस प्रकार लौटा चला आ रहा था मानो वनने उसे यह सब भेंटमें दिया हो ॥ १५ ॥ उसका रंग धुएँ जैसा काला था, उसकी देहसे चर्बीकी गन्ध निकल रही थी, आगकी लपटोंके समान उसके बिखरे हुए

वाल थे और मांस खानेवाले राक्षस उसके चारों ओर चल रहे थे। इस प्रकार वह उस चिताकी अग्निके समान लग रहा था जो धुएँसे धुँधली हो, जिसमेंसे चर्बीकी गन्ध निकलती हो, जिसमें लपटें निकल रही हों और जिसके आसपास कुत्ते और गिद्ध आदि मांसभक्षी पशु-पक्षी घूम रहे हों ॥ १६ ॥ शत्रुघ्नने देखा कि यह अवसर ठीक है क्योंकि इसके हाथमें भाला नहीं है। बस झट उन्होंने लवणासुरको घेर लिया क्योंकि जो शत्रुके शक्तिहीन होनेपर प्रहार करता है वह अवश्य विजयी होता है ॥ १७ ॥

लक्ष्मणको देखकर लवणासुर गरज उठा—आज मेरे भोजनकी सामग्री कम थी, यह देखकर ब्रह्माने डरकर मेरा भोजन पूरा करनेके लिये तुम्हें यहाँ भेज दिया है ॥ १८ ॥ यह कहकर उसने शत्रुघ्नको मारनेके लिये एक बड़ा भारी पेड़ ऐसे धीरेसे उखाड़ लिया जैसे मोथा उखाड़ लिया जाता है ॥ १६ ॥ लवणासुरने ज्यों ही वह वृक्ष शत्रुघ्न पर फेंका त्यों ही उन्होंने उसे बीचमें ही टुकड़े-टुकड़े कर डाला। इस प्रकार वह वृक्ष तो उनके शरीरतक नहीं पहुँच सका केवल उसके फूलोंका परागभर उनतक पहुँच पाया ॥२० ॥ उस वृक्षके टूक-टूक हो जानेपर उस राक्षसने एक ऐसी भयङ्कर शिला उठाकर शत्रुघ्न पर फेंकी मानो वह यमराजका घूँसा ही हो ॥ २१ ॥ पर शत्रुघ्नने ऐन्द्र अस्त्र चलाकर उसे चूर-चूर कर दिया ॥ २२ ॥ तब वह राक्षस अपना दाहिना हाथ ऊपर उठाए हुए शत्रुघ्नकी ओर झपटा। उस समय वह ऐसा लगा मानो बवंडर से उड़ाया हुआ कोई ऐसा पहाड़ चला आ रहा हो जिसकी चोटीपर ताड़का पेड़ खड़ा हो ॥ २३ ॥ वैष्णव बाण लगते ही वह राक्षस पृथ्वीपर जा गिरा। उसके गिरनेसे ऐसी धमक हुई कि धरती काँप उठी। पर हाँ, आश्रमवासियोंका काँपना दूर हो गया ॥ २४ ॥ मरे हुए शत्रुके ऊपर गिद्ध आदि पक्षी टूट पड़े और शत्रुघ्नके ऊपर स्वर्गसे फूलोंकी वर्षा होने लगी ॥ २५ ॥

शत्रुघ्नजी जब लवणासुरको मार चुके तब उन्हें यह सन्तोष हुआ कि अब मैं मेघनादके मारनेवाले तेजस्वी लक्ष्मणका सचमुच सगा भाई हूँ ॥ २६ ॥ जब तपस्वियोंका काम पूरा होगया तब वे शत्रुघ्नकी बड़ाई करने लगे। अपनी प्रशंसा सुनकर शत्रुघ्नजी शीलके मारे लज्जा

गए ॥ २७ ॥ तब पराक्रमी, संयमी और सुन्दर शत्रुघ्नने यमुनाके किनारे मथुरा नामकी नगरी बसाई ॥ २८ ॥ अच्छा राजा पा जानेसे उस नगरीके लोग ऐसे धनी और सुखी होगए मानो स्वर्गमें जन-संख्या बढ़ जानेके कारण वहाँके कुछ लोग यहाँ लाकर बसा दिए गए हों ॥ २९ ॥ शत्रुघ्नने मथुराके एक ऊँचे भवनपर चढ़कर उस नीले जलवाली यमुनाको देखा जिसमें बहुतसे चकवे चहचहा रहे थे। उस समय यमुना उन्हें ऐसी सुन्दर दिखाई पड़ीं मानो वह सुनहरी फुन्दोंवाली पृथ्वीकी चोटी हो ॥ ३० ॥

इधर मन्त्रद्रष्टा वाल्मीकिजीने दशरथ और जनक दोनोंके मित्र होनेके नाते सीताजीके पुत्रोंके जातकर्म आदि सब संस्कार बड़ी विधिसे किए ॥ ३१॥ जेठे लड़के लवके उत्पन्न होते समय सीताजीकी प्रसव-पीड़ा गायकी पूँछके बालसे दूर हुई और छोटेके समय कुशासे। इसलिये वाल्मीकिजीने दोनों बच्चोंका नाम इन्हीं दोनों वस्तुओंके नामपर लव और कुश रख दिया ॥ ३२ ॥

जब वे बच्चे बड़े हुए तो ऋषिने उन दोनोंको वेद और वेदाङ्ग पढ़ाया और फिर उन्हें अपनी रचना आदिकाव्य रामायणका गाना सिखाया ॥ ३३ ॥

उन दोनों बालकोंने अपनी माताके आगे रामका यश गा-गाकर उनका बहुत मन बहलाया ॥ ३४ ॥

दाक्षिणात्य, गार्हपत्य और आहवनीय, इन तीन अग्नियोंके समान तेजस्वी भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न इन तीनों भाइयोंने भी अपनी-अपनी पत्नियोंके साथ संभोग करके दो-दो पुत्र उत्पन्न किए ३५

शत्रुघ्न अपने बड़े भाइयोंसे मिलनेको आतुर थे इसलिये उन्होंने शत्रुघाती और सुबाहु नामक अपने दो विद्वान् पुत्रोंको मथुरा और विदिशाका राज्य सौंप दिया ॥ ३६ ॥

लौटते समय शत्रुघ्नजी वाल्मीकिके उस तपोवनमें नहीं गए जहाँके मृग शान्त होकर लव और कुशके गीत सुना करते थे। क्योंकि शत्रुघ्नने यह सोचा कि मेरे जानेपर वाल्मीकिजी अपनी सिद्धियोंके बलसे मेरे सत्कारकी सामग्री जुटाने लगेंगे, जिससे व्यर्थ ही उनकी तपस्याकी शक्ति कम होगी ॥ ३७ ॥

यहाँ से चलकर जितेन्द्रिय शत्रुघ्नजी उस अयोध्यामें पहुँचे जहाँ की सड़कें उनके स्वागतमें बड़ी सुन्दरतासे सजाई गई थीं। वे लवणासुरको मारकर लौटे थे इसलिये पुरवासी उन्हें बड़े आदरसे देख रहे थे ॥ ३८ ॥

राज-सभामें पहुँचकर उन्होंने देखा कि राम बैठे हुए हैं और बहुतसे सभासद् उनकी सेवा कर रहे हैं और सीताजीको छोड़ देनेपर अब वे एकमात्र पृथ्वीके ही स्वामी रह गए हैं ॥ ३९ ॥ जैसे इन्द्रने प्रसन्न होकर कालनेमिको मारनेवाले विष्णुका स्वागत किया था वैसे ही जब लवणासुरको मारनेवाले शत्रुघ्नजी उन्हें प्रणाम करनेको झुके तब रामने भी उनका अभिनन्दन किया ॥ ४० ॥

रामके पूछनेपर उन्होंने और सब बातें तो कह सुनाईं, पर पुत्र होनेकी बात नहीं कही क्योंकि वाल्मीकिजीने उन्हें कह दिया था कि समय आनेपर हम स्वयं दोनों पुत्र रामको सौंप देंगे, तुम मत कहना ॥ ४१ ॥

थोड़े दिनों पीछे एक दिन उसी जनपदका रहनेवाला एक ब्राह्मण अपने मरे हुए नवयुवक पुत्रको राजाकी ड्योढ़ीपर गोदसे उतारकर यह कह कहकर फूट-फूटकर रोने लगा ॥ ४२ ॥—हे पृथ्वी ! तुम दशरथके हाथसे छूटकर रामके हाथमें आकर बड़े कष्टमें पड़ गई हो। तुम्हारी दशा बड़ी शोचनीय हो गई है ॥ ४३ ॥

प्रजा-पालक रामने जब उसके शोककी बात सुनी तब उन्हें बड़ी लज्जा आई क्योंकि इक्ष्वाकुवंशी राजाओंके राज्यमें किसीकी भी अकाल-मृत्यु नहीं होती थी ॥ ४४ ॥ रामने उस दुखी ब्राह्मणको यह कहकर ढाढ़स बँधाया कि तुम थोड़ी देर ठहरो, मैं अभी तुम्हारा शोक दूर करता हूँ। यह कहकर यमराजको जीतनेकी इच्छासे उन्होंने पुष्पक विमानको स्मरण किया ॥ ४५ ॥ जब वे अस्त्र शस्त्रसे लैस होकर पुष्पक विमानपर बैठकर चलने लगे तब यह आकाश वाणी सुनाई पड़ी ॥ ४६ ॥—

हे राजन् ! आपकी प्रजामें कुछ वर्ण धर्म सम्बन्धी दोष आ गया है उसे खोजकर दूर करो, तभी तुम्हारा उद्देश्य पूरा होगा ॥४७॥

इस विश्वास-भरे वचनको सुनकर वेगसे चलनेके कारण काँपती

हुई ध्वजावाले पुष्पक विमानपर चढ़कर राम यह देखनेके लिये सवा दिशाओंमें चक्कर काटने लगे कि वर्ण-धर्ममें कहाँ दोष आया है ॥४६॥

घूमते-घामते एक स्थानपर राम क्या देखते हैं कि एक पेड़की शाखा पर उलटा लटका हुआ एक मनुष्य नीचे जलती हुई आगका धुआँ पी-पीकर तप कर रहा है और धुआँ लगनेसे उसकी आँखें लाल हो गई हैं ॥ ४६ ॥

रामने उससे पूछा—आपका नाम क्या है और आप किस वंशके हैं। वह तपस्वी बोला—मैं देवपद पानेके लिये तप कर रहा हूँ। मेरा नाम शम्बूक है और मैं शूद्र हूँ ॥५०॥

शूद्रोंको तप करनेका अधिकार नहीं है। इसी अनधिकार कामके करनेसे प्रजामें पाप फैल रहा था। इसलिये रामने निश्चय कर लिया कि इसका वध करना ही होगा। उन्होंने हाथमें शस्त्र उठा लिया ॥ ५१ ॥ और उसका सिर उसी प्रकार गले परसे काट दिया जैसे कमलकी डंडी परसे कमल उतार दिया गया हो। आगकी चिनगारियोंसे झुलसी दाढ़ीवाला उसका सिर ऐसा लग रहा था जैसे पालेसे जली हुई केशरवाला कमलगट्टा हो ॥५२॥ राजासे दण्ड पानेके कारण उस शूद्रको वह सद्गति मिल गई जो वह अपने उस कठोर तपसे कभी न पाता जो वह अपने वर्ण-धर्मका उल्लङ्घन करके चाह रहा था ॥ ५३ ॥

जैसे चन्द्रमा शरद् ऋतुसे मिलता है वैसे ही रामको मार्गमें अगस्त्य ऋषि भी मिले ॥ ५४ ॥

ऋषिने उन्हें वे सुन्दर आभूषण दिए जो उन्हें समुद्रने उस समय दण्डके रूपमें दिए थे, जब उन्होंने समुद्रको पी डाला था ॥ ५५ ॥ रामने वे आभूषण लेकर अपनी उन भुजाओंमें बाँध लिए जो सीताजीके वन चले जानेसे उनके कण्ठमें पड़नेसे वंचित हो रहे थे। जब राम अयोध्या लौटे तब उन्हें ज्ञात हुआ कि उनके आनेके पहले ही ब्राह्मणका पुत्र जी उठा ॥ ५६ ॥ पुत्रके जी उठनेपर उस ब्राह्मणने रामकी बड़ी स्तुति की और पहले जो निन्दा की थी उसे अपनी स्तुतिसे धो डाला क्योंकि रामने उसके पुत्रको यमराजके हाथोंसे छुड़ाया था ॥ ५७ ॥

कुछ दिन पीछे रामने अश्वमेध यज्ञके लिये घोड़ा छोड़ा। जैसे बादल धानके खेतपर जल बरसाते हैं वैसे ही सुग्रीव-विभीषण आदि ने आकर रामके आगे भेंटके धनकी वर्षा कर दी ॥ ५८ ॥ यज्ञके लिये रामने तीनों लोकों के ऋषियोंको आमन्त्रित किया था। वे ऋषि पृथ्वीसे ही नहीं, वरन् सप्तर्षि-मण्डल आदि दिव्य स्थानों से भी राम के पास आए ॥ ५९ ॥

वे लोग आकर नगरके आस पासके देहातों में टिके हुए थे। जब वे अयोध्याके चारो द्वारों से नगरमें पैठे तब चार द्वारोंवाली वह अयोध्या ऐसी जान पड़ने लगी मानो तत्काल सृष्टि करनेवाले ब्रह्मा-की चतुर्मुखी मूर्ति हो ॥ ६० ॥

सीताके त्यागसे रामकी एक यह भी प्रशंसा हुई कि रामने किसी दूसरी स्त्रीसे अपना विवाह नहीं किया। इसलिये यज्ञमें सोनेकी सीता बनाकर रामने अपनी पत्नीके स्थानपर बैठा दिया॥ ६१ ॥ इस प्रकार वह प्रसिद्ध यज्ञ प्रारम्भ हुआ जिसमें आवश्यकतासे अधिक तो सामग्री इकट्ठी हुई थी और विशेषता यह थी कि यज्ञ-क्रियामें विघ्न करनेवाले राक्षस ही उसकी रखवाली कर रह रहे थे ॥ ६२ ॥

तब वाल्मीकिजीकी आज्ञासे सीताजीके पुत्र लव और कुश उनकी बनाई हुई रामायण गाते हुए इधर-उधर घूमने लगे ॥ ६३ ॥ एक तो रामका चरित, उसपर वाल्मीकिजी उसके रचयिता, और फिर किन्नरों के समान मधुर कण्ठवाले लव और कुश उसके गायक, फिर बताइए उसमें रह ही क्या गया था कि लोग उसे सुनकर लट्टू न हो जाते ॥ ६४ ॥ यह बात रामके कानों तक भी पहुँची। उन्हों ने बालकोंको बुला भेजा और अपने भाइयों के साथ उन दोनों बालकों-के रूप और गीतकी मधुरताको आश्चर्यके साथ देखा और सुना ॥ ६५ ॥ सारी सभा गूँगी होकर उनका गीत सुनती जा रही थी और आँखों से आँसू बहाती जा रही थी। उस समय वह सभा प्रातःकालकी उस शान्त वनस्थलीके समान दिखाई देने लगी जिसमें वृक्षों से टपटप ओसकी बूँदे गिर रही हों ॥ ६६ ॥ लोगों ने एकटक होकर राम और उन दोनों बालकोंका एकदम मिलता जुलता वह रूप देखा जिसमें अन्तर इतना ही था कि वे दोनों अभी कुमार थे

तथा वनवासियोंके से वस्त्र पहने हुए थे और राम प्रौढ़ थे तथा राजसी वस्त्र पहने हुए थे ॥ ६७ ॥

जनताको इनके गानेका कौशल देखकर उतना आश्चर्य नहीं हुआ जितना इस बात पर हुआ कि राजाने उन्हें प्रेमसे जो दान दिया वह भी उन्होंने लौटा दिया ॥ ६८ ॥ जब रामने उनसे पूछा कि तुम्हें किसने संगीत सिखाया है और यह किस कविकी रचना है तब उन्होंने वाल्मीकिजीका नाम बता दिया ॥ ६९ ॥

अपने भाइयोंको साथ लेकर रामचन्द्रजी वाल्मीकिजीके पास गए। उन्होंने वाल्मीकिजीके पास जाकर अपनेको छोड़कर शेष सारा राज्य उनको भेंट कर दिया ॥ ७० ॥ दयालु ऋषिने रामसे कहा कि ये दोनों गायक कुमार सीताजीके गर्भसे उत्पन्न हुए हैं और तुम्हारे पुत्र हैं। अब तुम्हें चाहिए कि सीताजीको स्वीकार कर लो ॥ ७१ ॥

रामने कहा कि आपकी पतोहू सीता हमारे सामने ही अग्निमें शुद्ध हो चुकी है, पर रावणकी दुष्टताका विचार करके यहाँकी प्रजाको विश्वास नहीं होता ॥ ७२ ॥ इसलिये यदि सीता अपनी शुद्धताका प्रमाण देकर प्रजाको विश्वास दिलावे, तब मैं आपकी आज्ञासे पुत्रोंके साथ उन्हें ग्रहण कर लूँगा ॥ ७३ ॥

रामकी ऐसी प्रतिज्ञा सुनकर वाल्मीकिजीने शिष्योंको भेजकर सीताजीको इस प्रकार बुलाया मानो वे नियमोंके द्वारा अपनी सिद्धि बुला रहे हों ॥ ७४ ॥

दूसरे दिन रामने इस कामके लिये प्रजाको इकट्ठा करके वाल्मीकिजीको बुलाया ॥ ७५ ॥

वाल्मीकिजी लव, कुश और सीताजीको साथ लेकर रामके आगे उपस्थित हुए। पुत्रोंके साथ रामके पास जाती हुई सीताजी ऐसी लगती थीं मानो स्वर और संस्कारोंके साथ गायत्री, सूर्यके पास जा रही हों ॥ ७६ ॥ गेरुए वस्त्र पहने और अपनी आँखें नीची किए हुए सीताजी अपने शान्त शरीरसे ही पवित्र दिखाई देती थीं ॥७७॥

उन्हें देखते ही सब लोगोंने उसी प्रकार अपनी आँखें नीची कर लीं जैसे पके हुए धानके कलम झुक जाते हैं क्योंकि उन्हें लज्जा लगी कि हम लोगोंने व्यर्थ ही इस साध्वीपर कलंक लगाया ॥ ७८ ॥

आसनपर बैठे हुए वाल्मीकिजीने सीताजीसे कहा—बेटी ! जनताके मनमें तुम्हारे चरित्रके विषयमें जो सन्देह हैं वह तुम अपने पतिके आगे ही मिटा दो ॥ ७६ ॥

वाल्मीकिजीके शिष्यने पवित्र जल लाकर सीताजीको दिया और उसका आचमन करके सीताजीने यह सत्य वचन कहा ॥८४॥—यदि मैंने मन, वचन, कर्म किसी प्रकारसे भी अपना पतिव्रत भङ्ग न किया हो तो हे धरती माता ! तुम मुझे अपनी गोदमें ले लो ॥ ८१ ॥

पतिव्रता सीताके ऐसा कहते ही पृथ्वी फटी और उसमेंसे बिजलीके समान चमकीला एक तेजोमण्डल निकला ॥ ८२ ॥ उसमें से नागके फणपर रक्खे हुए सिंहासनपर बैठी हुई, समुद्रकी तगड़ी पहने साक्षात् धरती माता प्रकट हुईं ॥८३॥ उन्होंने उन सीताजीको अपनी गोदमें ले लिया जो रामपर आँखें गड़ाए हुए थीं। राम कहते ही रह गए— हैं यह क्या करती हो, यह क्या करती हो, पर वे सबके देखते-देखते पातालमें समा गईं ॥ ८४ ॥

रामको पृथ्वीपर बड़ा क्रोध आया और पृथ्वीसे सीताको लौटा लेनेके लिये उन्होंने अपना धनुष उठाया। पर ब्रह्माजी तो सब कुछ जानते ही थे, उन्होंने आकर रामको समझाया और उनका क्रोध शान्त किया ॥ ८५ ॥

किसी प्रकार यज्ञ समाप्त हुआ और यज्ञ हो जानेपर रामने ऋषियोंको छुट्टी दी। अब वे अपने पुत्रों से उतना ही प्रेम करने लगे जितना सीताजीसे करते थे ॥ ८६ ॥

प्रजापालक रामने भरतके मामा युधाजित्‌के कहनेपर सिन्धु देशका राज्य प्रभावशाली भरतको दे दिया ॥८७॥ भरतने गन्धर्वोंको जीतकर उनके हाथमें केवल वीणा तो रहने दी और धनुष छुड़वा दिया ॥ ८८ ॥ उन्होंने तक्ष और पुष्कल नामके योग्य पुत्रों को, तक्ष और पुष्कल राजधानियों का राजा बना दिया और स्वयं रामके पास लौट आए ॥ ८६ ॥ रामकी आज्ञासे लक्ष्मणने, अङ्गद और चन्द्रकेतु नामके अपने दोनों पुत्रोंको कारापथका राजा बना दिया ॥ ६० ॥ इस प्रकार पुत्रोंको राज्य देकर उन चारों ने अपनी स्वर्गीया माताओं के श्राद्ध आदि संस्कार किए ॥ ६१ ॥

यह सव हो जानेपर एक दिन रामके पास मुनिका वेश वनाकर काल आया और वोला—हम आपसे एकान्तमें कुछ वात करेंगे। जो भी कोई हम लोगोंकी वातके वीचमें आवे उसे आप देशनिकाला दे दीजिए ॥ ९२ ॥ रामने कहा—अच्छी वात है। तव उसने अपना सच्चा रूप दिखाया और कहा कि ब्रह्माकी आज्ञा है कि अव आप चलकर वैकुण्ठमें रहें ॥ ९३ ॥

यह वात हो ही रही थी कि इसी वीच दुर्वासाजी आ धमके। उन्होंने द्वारपर वैठे हुए लक्ष्मणसे कहा कि अभी जाकर रामसे कहो कि मैं आया हूँ, नहीं तो तुम्हारे कुलको अभी शापसे भस्म कर दूँगा। लक्ष्मण तो जानते ही थे कि जो इस समय रामके पास जायगा उसे देश-निकाला होगा फिर भी वातचीतके वीचमें ही पहुँचकर उन्होंने सूचना दे दी ॥ ९४ ॥ वहाँसे लौटकर योगमार्गके जाननेवाले लक्ष्मणने सरयूके किनारे जाकर योग-वलसे शरीर छोड़कर वड़े भाईकी प्रतिज्ञाकी रक्षा कर ली ॥ ९५ ॥ अपने चौथाई अंश लक्ष्मणके स्वर्ग चले जानेपर राम उसी प्रकार ढीले पड़ गए जैसे पृथ्वीपर त्रेता युगमें तीन पैरवाला धर्म ढीला पड़ जाता है ॥ ९६ ॥

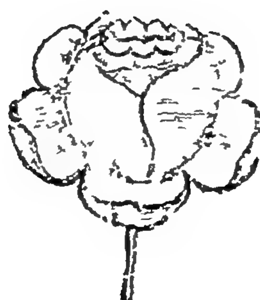
स्थिर वुद्धिवाले रामने शत्रु-रूपी हाथियोंके लिये अंकुशके समान भयदायक कुशको कुशावतीका राज्य दे दिया और अपने मधुर वचनोंसे सज्जनोंकी आँखोंसे आँसूकी धारा वहानेवाले लवको उन्होंने शरावतीका राजा वनाया ॥ ९७ ॥ फिर अग्निहोत्रकी अग्नि आगे करके भाइयोंके साथ वे उत्तरकी ओर चले। जव अयोध्या-वासियोंने यह सुना तो रामके प्रेममें वे सव भी केवल घरोंको छोड़कर उनके पीछे हो लिए ॥ ९८ ॥

रामके मनकी वात जाननेवाले वानर और राक्षस भी उनके पीछे-पीछे चले। जिस मार्गसे राम चले जा रहे थे वह मार्ग रामके पीछे-पीछे जानेवाली जनताके आँसुओंसे भीग गया था ॥ ९९ ॥ भक्तोंपर कृपा करनेवाले राम विमानपर चढ़कर स्वर्ग चले गए और सरयूको उन्होंने अपने पीछे आनेवालोंके लिये स्वर्गकी सीढ़ी वना दिया अर्थात् जो सरयूमें स्नान करता था वह तुरन्त स्वर्ग चला जाता था ॥ १०० ॥ वहाँ स्नान करनेवालोंकी ऐसी ही भीड़ हुई जैसी

गौओंको पार कराते समय होती है, इसलिये उस पवित्र तीर्थका नाम ही संसारमें गोप्रतर प्रसिद्ध हो गया ॥ १०१ ॥ देवताओंके अंशधारी रीछ-वानरोंने भी अपना देवरूप धारण कर लिया इसलिये इतने लोग स्वर्गमें पहुँच गए कि सामर्थ्यशाली रामको देवपद प्राप्त करनेवाले अयोध्यावासियोंके रहनेके लिये एक दूसरा स्वर्ग बनाना पड़ा ॥ १०२ ॥

विष्णु भगवानने इस प्रकार रावणका वध करके देवताओंका कार्य पूरा किया और उत्तरगिरि हिमालयपर हनुमानजीको तथा दक्षिणगिरि त्रिकूटपर विभीषणजीको अपने दो कीर्तिस्तम्भोंके रूपमें स्थापित करके तीनों लोकोंको धारण करनेवाले भगवान् अपने विराट शरीरमें लीन होगए ॥ १०३ ॥

श्री महाकवि कालिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यमें रामका स्वर्गारोहण नामका पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।



सोलहवाँ सर्ग

लव आदि सात रघुवंशी वीरोंने अपने सबसे बड़े भाई कुशको अपना मुखिया बनाया क्योंकि भ्रातृप्रेम तो उनके कुलका धर्म ही था ॥१॥ वे सभी पुल बाँधने, कृषिकी रक्षा करने और हाथियोंको इकट्ठा करनेमें कुशल थे। फिर भी जैसे समुद्र अपने तटका उल्लङ्घन नहीं करता है, वैसे ही उनमें से किसीने भी अपने राज्यकी सीमा लाँघकर दूसरे भाईके राज्यकी सीमामें प्रवेश करनेका यत्न नहीं किया ॥ २ ॥ जैसे सामवेदके कुलमें उत्पन्न मतवाले दिग्गजोंका कुल आठ भागोंमें बँट गया था वैसे ही विष्णुके अंशसे उत्पन्न हुए रामका दानी कुल भी आठ भागोंमें फैला ॥ ३ ॥

एक दिन आधी रातको, जब शयन-गृहका दीपक टिमटिमा रहा था और सब लोग सोए हुए थे, कुशको एक स्त्री दिखाई दी। उसे उन्होंने पहले कभी नहीं देखा था पर उसके वेशको देखकर जान पड़ता था कि उसका पति परदेश चला गया है ॥ ४ ॥

अपनी सम्पत्तिसे सज्जनोंका उपकार करनेवाले, इन्द्रके समान तेजस्वी और शत्रुओंको जीतनेवाले कुशके आगे वह स्त्री हाथ जोड़कर खड़ी हो गई ॥ ५ ॥ जैसे दर्पणमें मुँहका प्रतिबिम्ब पैठ

जाता है, वैसे ही वह स्त्री भी द्वार बन्द रहनेपर भी घरके भीतर आ गई थी। उसे देखकर कुशको बड़ा आश्चर्य हुआ। वे शय्यापर आधे उठकर उससे बोले ॥ ६ ॥—तुम हमारे इस बन्द भवनमें घुस तो आई हो, पर तुम्हारे मुखसे यह नहीं प्रकट होता कि तुम योगिनी हो, क्योंकि तुम पालेसे मारी हुई कमलिनीके समान उदास दिखाई दे रही हो ॥ ७ ॥ हे शुभे! तुम कौन हो। तुम्हारे पतिका क्या नाम है और मेरे पास किस लिये आई हो। तुम यह समझकर मुँह खोलना कि रघुवंशियोंका चित्त पराई स्त्रीकी ओर नहीं जाता ॥ ८ ॥

उस स्त्रीने उत्तर दिया—जब भगवान् राम वैकुण्ठ जाने लगे, तो इस निर्दोष अयोध्यापुरीके निवासियोंको भी अपने साथ लेते गए। हे राजन्! मैं उसी अनाथ अयोध्यापुरीकी नगरदेवी हूँ ॥९॥ पहले अच्छा राज होनेके कारण मैं इतनी ऐश्वर्यशालिनी हो गई थी कि मेरे आगे कुबेरकी अलकापुरी भी फीकी लगती थी। आजकल तुम्हारे ऐसे प्रतापी राजाके रहते हुए भी मेरी बहुत बुरी दशा होगई है ॥१०॥ स्वामीके न रहनेसे कोठे-अटारियोंके टूट जानेसे मेरी निवास-भूमि अयोध्या ऐसी उदास लगती है जैसे सूर्यास्तके समयकी वह सन्ध्या जिसमें वायुके वेगसे इधर-उधर छितराए हुए बादल दिखाई देते हों ॥११॥ रातके समय पहले जिन सड़कों पर चमकते हुए बिछुओंवाली अभिसारिकाएँ चलती थीं, उन्हींपर आजकल सियारिनें घूमती हैं जिनके मुखसे चिल्लाते समय चिनगारियाँ निकलती हैं ॥ १२ ॥ नगरकी जिन बावलियोंका जल पहले जलक्रीड़ा करनेवाली सुन्दरियोंके हाथके थपेड़ोंसे मृदङ्गके समान गम्भीर शब्द करता था, वह आजकल जङ्गली भैंसोंके सींगोंकी चोटोंसे कान फोड़ता है ॥१३॥ अड्डोंके टूट जानेसे यहाँके मोर अब वृक्षोंपर जाकर बैठते हैं और मृदङ्ग न बजनेके कारण उन्होंने नाचना भी बन्द कर दिया है। अब वे उन जंगली मोरोंके समान लगते हैं, जिनकी पूँछें वनकी आगसे जल गई हों ॥ १४ ॥ और क्या कहें, पहले जिन सीढ़ियोंपर सुन्दरियाँ अपने महावर लगे लाल लाल पैर रखती चलती थीं, उन्हीं पर मृग मारनेवाले बाघ अपने रक्तसे सने लाल पैर रखते चलते हैं

॥१५॥ जिन चित्रों में ऐसा दिखाया गया था कि हाथी कमलके तालमें उतर रहे हैं और हथिनियाँ उन्हें सूँड़से कमलकी डण्ठल तोड़कर दे रही हैं, उन चित्रित हाथियों के मस्तकों को सिंहों ने सच्चे हाथीका मस्तक समझकर नखों से फाड़ दिया है ॥ १६ ॥ जिन बहुतसे खंभों में स्त्रियों की मूर्तियाँ बनी हुई थीं आजकल उन मूर्तियों का रंग उड़ गया है। उन खंभोंको चन्दनका वृक्ष समझ कर जो साँप उनसे लिपटे हैं उनकी केचुलें छूटकर उन मूर्तियों से सट गई हैं, और वे ऐसी लगती हैं मानो उन स्त्रियों ने स्तन ढकनेके लिये कोई कपड़ा डाल लिया हो॥१७॥ जिन भवनों पर कभी मोतीकी मालाके समान शुभ्र चाँदनी चमका करती थी उनपर अब चाँदनी भी नहीं चमकती क्यों कि बहुत दिनों से मरम्मत न होनेके कारण कोठों के चूनेका रंग काला पड़ गया है और उनपर जहाँ तहाँ घास जम आई है ॥१८॥ पहले उद्यानकी जिन लताओंको धीरेसे झुकाकर सुन्दरी स्त्रियाँ फूल उतारा करती थीं उन मेरी प्यारी लताओंको जंगली म्लेच्छों के समान उत्पाती बन्दर झकझोर डालते हैं ॥१९॥ आजकल अटारियों के झरोखों से न तो रातको दीपकोंकी किरणें निकलती हैं, न दिनमें सुन्दरियोंका मुख दिखाई देता है और न कहीं से अगरुका धुँआ ही निकलता है। अब वे झरोखे मकड़ियों के जालों से ढक गए हैं ॥२०॥ मुझे यह देखकर बड़ा दुःख होता है कि अब न तो। सरयूके घाटोंपर देवताओं के लिये बलि दी जाती है न स्त्रियों के स्नान करनेसे उसमेंसे अंगराग आदिकी गन्ध ही निकल रही है। सरयूके तटपर बनी हुई बेतकी झोंपड़ियाँ भी सूनी पड़ी रहती हैं ॥ २१ ॥ इसलिये जैसे तुम्हारे पिता रामने राक्षसोंको मारनेके लिये जो मनुष्य शरीर धारण किया था उसे छोड़कर परमात्मामें पहुँच गए वैसे ही तुम भी इस नई राजधानी कुशावतीको छोड़कर अपनी कुल-परंपराकी राजधानी अयोध्यामें चलकर रहो ॥ २२ ॥

कुशने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और कहा—ऐसा ही करेंगे। यह सुनकर अयोध्याकी नगरदेवी भी अन्तर्धान हो गई ॥ २३ ॥

राजाने रातकी यह अचरजभरी घटना प्रातःकाल सभामें ब्राह्मणों

से कही। यह सुनकर ब्राह्मणों ने उनकी प्रशंसा की कि आप धन्य हैं, जिसे कुल-राजधानीने अपनी इच्छासे अपना पति चुना है ॥२४॥

उन्होंने कुशावती, वेदपाठी ब्राह्मणोंको सौंप दी और जैसे वायुके पीछे-पीछे बादल चलते हैं वैसे ही सेनाको साथ लेकर शुभ मुहूर्तमें अयोध्याके लिये चल दिए ॥ २५ ॥

यात्राके समय चलती हुई कुशकी सेना चलती-फिरती राजधानी के समान लगती थी क्योंकि उसका ध्वजाओंवाला भाग लतावाले उपवनों जैसा लग रहा था, बड़े-बड़े हाथी बनावटी पर्वतों जैसे जान पड़ते थे और रथ ऊँची-ऊँची अटारियों जैसे लग रहे थे ॥ २६ ॥

जैसे चन्द्रमा उदित होकर समुद्रको तटतक खींच लाता है, वैसे ही श्वेत छत्रधारी कुश अपनी सेनाको रघुकुलकी पुरानी राजधानी अयोध्याकी ओर ले चले ॥ २७ ॥ चलते समय कुशकी सेनाका भार पृथ्वी नहीं सँभाल सकी, इसीलिये उड़ती हुई धूल ऐसी जान पड़ रही थी मानो पृथ्वी विष्णुके दूसरे पद आकाशमें पहुँच गई हो ॥ २८ ॥

कुशावतीसे चलती हुई या आगेके पड़ावपर पहुँची हुई या मार्गमें चलनेवाली जितनी भी कुशकी सेनाकी टुकड़ियाँ थीं, वे सब पूरी सेना ही प्रतीत होती थीं ॥ २९ ॥ कुशके हाथियोंके मदजलसे मार्गकी धूल कीचड़ बन गई और कीचड़ भी घोड़ोंकी टापों से धूल बन गई ॥३०॥ मार्ग भूल जानेके कारण वह सेना विन्ध्याचलके आस-पास मार्ग ढूँढ़ने लगी और कई भागों में बँट गई। उस सेनाने नर्मदाके समान जो गम्भीर गर्जन किया उससे पर्वतकी गुफाएँ भी गूँज उठीं ॥३१॥ गेरु आदि धातुओं से जिसके रथके पहिए लाल हो गए और जिसकी चलती हुई सेनाके शब्दसे तुरहीके शब्द भी दब गए वह कुश विन्ध्याचलवासी किरातोंके हाथसे पाई हुई भेंटकी सामग्रियोंको देखते हुए आगे बढ़े ॥ ३२ ॥ वहाँ पास ही उलटी पश्चिमकी ओर बहनेवाली गङ्गाजीपर हाथियोंका पुल बनाकर वे पार उतरने लगे। उस समय आकाशमें जो चञ्चल पंखोंवाले हंस उड़ते थे वे कुशपर डुलते हुए चँवरके समान लग रहे थे ॥ ३३ ॥

कुशने नावों के चलनेसे चंचल जलवाली गङ्गाजीको प्रणाम किया।

क्योंकि कपिलके कोपसे जले हुए, उनके पूर्वज सगरके पुत्र उसी जलकी कृपासे स्वर्ग पहुँचे थे ॥ ३४ ॥

इस प्रकार मार्गमें कुछ दिन बिताकर कुश सरयूके किनारे पहुँचे। वहाँ उन्हें बड़े-बड़े यज्ञ करनेवाले रघुवंशी राजाओंके गाड़े हुए सैकड़ों यज्ञके खम्भे दिखाई दिए ॥ ३५ ॥ अयोध्याके उपवनोंमें वायुने फूले हुए वृक्षोंकी डालियोंको कँपाकर तथा सरयूके शीतल जलका स्पर्श करके सेनाके साथ थके हुए कुशका स्वागत किया ॥३६॥

शत्रु-विनाशक प्रजा-हितैषी राजाने फहराती हुई ध्वजावाली अपनी सेनाको नगरके आस-पासके स्थानोंमें ठहरा दिया ॥ ३७ ॥

जैसे इन्द्रकी आज्ञासे बादल, जल बरसाकर गरमीसे तपी हुई पृथ्वीको हरी भरी कर देते हैं, वैसे ही कुशकी आज्ञासे कारीगरोंने अपने यन्त्रोंकी सहायतासे अयोध्याका कायापलट कर दिया ॥ ३८ ॥ फिर रघुवीर कुशने व्रत और उपवास करनेवाले वास्तु-विद्याके पण्डितोंसे अनमोल मूर्तियोंसे भरे घरोंवाली अयोध्याका विधिपूर्वक पूजन कराया और पशुओंका बलिदान भी कराया ॥३९॥

जैसे कामी पुरुष स्त्रीके हृदयमें पैठ जाता है वैसे ही कुश भी अयोध्याके राजभवनमें प्रविष्ट हो गए और उन्होंने अपने मन्त्रियों आदिके रहनेके लिये दूसरे बहुतसे भवन दिए ॥४०॥

अयोध्याकी हाटोंमें सुन्दर-सुन्दर वस्तुएँ बिकनेको सजी हुई थीं, घुड़सालमें घोड़े बँधे हुए थे, हथसारोंमें खम्भोंसे हाथी बँधे हुए थे। इस प्रकार वह नगरी ऐसी सुन्दर लगने लगी जैसे सारे शरीरमें गहना पहने हुए कोई स्त्री हो ॥ ४१ ॥

अयोध्या फिर पहले जैसी सुन्दर लगने लगी। उसमें निवास करके जानकीजीके पुत्र कुशको ऐसा सुख मिला कि न तो उन्हें सुन्दर-सुन्दर अप्सराओंसे भरे स्वर्गके स्वामी बननेकी इच्छा रही और न [illegible] रत्नोंवाली अलकापुरीको ही लेने की ॥४२॥

इतनेमें ग्रीष्म ऋतु आई जिसने मानो इन्हें अपनी उन प्रियाका स्मरण करा दिया जिनकी ओठोंमें रत्न लगे हों, जिनके गोरे-गोरे

स्तनोंपर मोतियोंका हार लटका हो और जो साँससे उड़नेवाले महीन कपड़े पहने हुए हो ॥ ४३ ॥

गर्मीमें जो हिम गलने लगा वह मानो दक्षिण दिशासे सूर्यके लौट आनेकी प्रसन्नतामें उत्तर दिशाने आनन्दके ठंडे आँसुओंके समान पानीकी ठंडी धारा हिमालयसे बहाई हो ॥४४॥ अत्यन्त सन्तापसे भरे दिन और अत्यन्त छोटी रातें ये दोनों उन पछताते हुए पति-पत्नीके समान दिखाई देने लगे जो आपसमें झगड़ा करके एक दूसरेसे रूठ बैठे हों ॥ ४५ ॥ गर्मीके कारण घरकी बावलियाँ भी सेवार जमी हुई सीढ़ियोंको छोड़कर पीछे हटने लगीं अर्थात् उनका पानी सूखने लगा। उनमें कमलकी डंडियाँ दिखाई देने लगीं और पानी घटकर स्त्रियोंकी कमर तक रह गया ॥ ४६ ॥ वनोंमें चमेली खिल गई और उसकी सुगन्ध चारों ओर फैलने लगी। सन्ध्याको गुनगुनाते हुए भौंरे उसके एक-एक फूलपर बैठकर मानो फूलोंकी गिनती करते थे ॥ ४७ ॥ स्त्रियोंके गालोंपर प्रियतमके हाथोंसे बने नख-क्षतोंपर पसीनेकी बूँदे फैल जाती थीं और कानपर रक्खे हुए सिरसके फूलोंका केसर उनसे सट जाता था। इसलिये जब वे फूल कान परसे गिरते भी थे तो सहसा पृथ्वीपर नहीं गिर पाते थे ॥ ४८ ॥

धनी लोग गर्मीमें ठंडी रहनेवाली उन विशेष प्रकारकी शिलाओंपर सोकर दुपहरी बिताते थे जो चन्दनसे धुली होती थीं और जिनके चारों ओर जल-धाराएँ छूटती रहती थीं ॥ ४९ ॥ वसन्त बीत जानेके कारण जो कामदेव मन्द पड़ गया था वह स्त्रियोंके उन केशोंमें जाकर बस गया जो स्नान करनेपर खोल दिए जाते थे और जिनमें धूपसे सुगन्धित करके शामको फूलनेवाली चमेलीके सुगन्धित फूल खोंस लिए जाते थे ॥ ५० ॥ परागसे भरी कुछ पीली-पीली अर्जुनकी मञ्जरी ऐसी लगती थी मानो कामदेवका शरीर भस्म करनेके पश्चात् शिवजीके हाथसे तोड़ी हुई कामदेवके धनुषकी डोरी हो ॥ ५१ ॥ मनोहर गन्धवाली आमकी बौर, पुरानी मदिरा और नये पाटलके फूल लाकर ग्रीष्म ऋतुने कामी पुरुषोंकी सब कमी पूरी कर दी ॥ ५२ ॥ उस कठिन ग्रीष्म समयमें उदित होकर दो ही

प्रजाके बहुत प्यारे हुए। एक तो सेवासे प्रसन्न होकर निर्धनता आदि सन्तापोंको दूर करनेवाले राजा कुश और दूसरे शीतल किरणोंसे गर्मीका ताप दूर करनेवाले चन्द्रमा ॥ ५३ ॥

एक दिन कुशकी इच्छा हुई कि लहरोंके लहरानेसे मतवाले बने हंसोंवाले, तटकी लताओंके फूलोंको बहानेवाले और गर्मीमें सुख देनेवाले सरयूके जलमें अपनी रानियोंके साथ विहार करें ॥ ५४ ॥

यह निश्चय करके विष्णुके समान प्रभावशाली कुश, सरयूके जलमें विहार करने चले। सरयूके तटपर डेरे तान दिए गए और मल्लाहोंने जाल डालकर ग्राह आदि सब जीव-जन्तु उसमेंसे निकाल डाले ॥ ५५ ॥ जब कुशकी रानियाँ सीढ़ियोंसे पानीमें उतरने लगीं, उस समय उनके भुजबन्द एक दूसरेसे रगड़ खाने लगे, पैरके बिछुए बजने लगे और इन शब्दोंको सुन-सुनकर सरयूके हंस मचल उठे ॥ ५६ ॥ वे रानियाँ एक दूसरेके ऊपर जलके छींटे उड़ाने लगीं। उन रानियोंके स्नानकी शोभा देखकर नावपर बैठे हुए राजा, पासमें चँवर लेकर खड़ी हुई किरातिनसे कहने लगे ॥ ५७ ॥—

देख तो! मेरे रनवासकी सैकड़ों रानियोंके स्नान करनेसे और उनके शरीरसे धुले हुए अंगरागके मिल जानेसे सरयूकी धारा ऐसी रंग-बिरंगी लगने लगी है, जैसे बादलोंसे भरी सन्ध्या ॥ ५८ ॥ नावोंके चलनेसे जलमें जो लहरें उठती हैं उन्होंने इन सुन्दरियोंकी आँखोंका अञ्जन धो दिया है और उसके बदलेमें मदपानके समयकी लाली इनकी आँखोंमें भर दी है ॥ ५९ ॥ भारी नितम्बों और स्तनोंके कारण ये रानियाँ भली भाँति तैर नहीं पातीं फिर भी खेलमें सम्मिलित होनेके कारण ये मोटे-मोटे भुजबन्दोंवाली बाँहोंसे जलमें बड़ी कठिनाईसे तैर रही हैं ॥ ६० ॥ इन जल-क्रीड़ा करनेवाली रानियोंके कानोंसे सिरसके कर्णफूल खिसककर नदीमें गिर कर तैर रहे हैं। इनको देखकर मछलियोंको सेवार का भ्रम हो रहा है और वे इनपर मुँह मारनेको झपट रही हैं ॥ ६१ ॥ देख, जल-क्रीड़ामें लगी हुई इन रानियोंको यह भी नहीं पता कि हमारे हार टूट गए हैं और मोती बिखर गए हैं। ये उन मोतियोंके समान बूँदोंको ही मोती मानकर समझे बैठी हैं कि हार

टूटा नहीं है ॥६२॥ देख, सुन्दरी स्त्रियोंके शरीरके अंगोंके समान जो वस्तुएँ संसारमें प्रसिद्ध हैं वे सब इन सुन्दरियोंके आस-पास जुट आई हैं। देख, ये पानीकी भँवर इनकी गहरी नाभिके समान है, लहरें इनकी भौंहोंके समान हैं और चकवा-चकवी इनके स्तनोंके समान हैं॥६३॥ ये गा-गाकर जो मृदंग बजानेके समान थपकी दे देकर जल ठोक रही है उसे सुनकर तटपर बैठे हुए मोर अपनी पूँछ उठाकर और बोलकर उनका अभिनन्दन कर रहे हैं ॥ ६४ ॥ इन रानियोंने अपने नितम्बों पर श्वेत वस्त्र लपेट लिया है जिसके नीचे तगड़ीके घुँघुरू ऐसे दिखाई देते हैं जैसे चाँदनीसे ढके हुए तारे हों। तगड़ीके डोरोंमें जल भर जानेसे इन स्त्रियोंके इधरसे उधर दौड़नेपर भी ये बज नहीं रहे हैं ॥ ६५ ॥ जब इनकी सखियाँ इनके मुँहपर पानी डालती हैं और ये अहंकारसे अपनी सखियोंपर पानी उछालती हैं तब इनके सीधे लटके हुए बालोंसे कुङ्कुम मिली हुई लाल रंगकी बूँदे चूने लगती हैं ॥ ६६ ॥ यद्यपि स्नानके कारण बाल खुल जानेसे, मुँहपर और स्तनोंपर बनी हुई चित्रकारीके धुल जानेसे, तथा मोतियोंके कर्णफूल कानसे निकल जानेसे इन स्त्रियोंका वेश बेढंगा होगया है फिर भी देख, ये कितनी मनोहर लग रही है ॥ ६७ ॥

यह कहकर कुश भी पानीमें उतर पड़े और जैसे कमलिनियोंको उखाड़कर कन्धेपर लटकाए हुए हाथी, हथिनियोंके साथ जल-क्रीड़ा करता है वैसे ही वे भी उन स्त्रियोंके साथ जल-विहार करने लगे ॥ ६८ ॥ उस कान्तिमान राजाके साथ क्रीड़ा करती हुई वे रानियाँ पहलेसे भी अधिक सुन्दर लगने लगीं क्योंकि मोती तो यों ही सुन्दर होता है और फिर यदि वह इन्द्र नीलमणिके साथ मिल जाय तब तो कहना ही क्या ॥ ६९ ॥ वे स्त्रियाँ सोनेकी पिचकारियोंसे रंग छोड़-छोड़कर उन्हें भिगोने लगीं। उस समय वे ऐसे लगने लगे जैसे पर्वतराज हिमालय परसे गेरूका झरना गिर रहा हो ॥ ७० ॥ स्त्रियोंके साथ सरयूमें जल-क्रीड़ा करते समय कुश ऐसे लगते थे मानो देवराज इन्द्र अप्सराओंके साथ आकाशगङ्गामें जलक्रीड़ा कर रहे हों ॥७१॥ रामको अगस्त्य ऋषिने जैत्र अर्थात् सदा जितानेवाला जो आभूषण दिया था उसे रामने राज्यके साथ ही कुशको दे दिया

था। जल-क्रीड़ा करते समय वह आभूषण पानीमें गिर पड़ा और किसीको इसका पता भी नहीं चला ॥ ७२ ॥

रानियोंके साथ इच्छानुसार जल-क्रीड़ा करके जब कुश बाहर निकले और डेरेमें गए तब कपड़े बदलनेके पहले ही उन्होंने देखा कि भुजापर वह दिव्य आभूषण नहीं है ॥ ७३ ॥

बुद्धिमान राजा कुश, फूल और आभूषण दोनोंको बराबर समझते थे। अतः उन्हें उस आभूषणके खोनेका इसलिये दुःख नहीं था कि वह बहुमूल्य था, वरन् इसलिये दुःख हुआ कि वह आभूषण विजय-लक्ष्मी प्राप्त करानेवाला था और पिताका चिह्न था ॥ ७४ ॥

तब उन्होंने सब धीवरोंको आभूषण ढूँढ़नेकी आज्ञा दी। बहुत देरतक उन लोगोंने पानी झकोरा पर उनका सब परिश्रम व्यर्थ गया। वे कुशके पास आकर बोले— ॥ ७५ ॥

हे देव! बहुत परिश्रम करनेपर भी हम लोग जलमें पड़े हुए आपके आभूषणको नहीं पा सके। जान पड़ता है कि इस जलमें रहनेवाले कुमुद नामके नागने लोभसे उसे चुरा लिया है ॥ ७६ ॥ यह सुनते ही कुशकी आँखें क्रोधसे लाल हो गईं और वहीं तटपर खड़े होकर उन्होंने धनुषको ठीक किया और उसपर नागोंका नाश करनेवाला गारुड़ास्त्र चढ़ाया ॥ ७७ ॥ उनके धनुष चढ़ाते ही वहाँका जल खलबलाता हुआ अपने तरंग रूपी हाथ जोड़े हुए, तटको तोड़ता हुआ ऐसे गरजने लगा जैसे गड्ढेमें पड़ा हुआ हाथी चिग्घाड़ रहा हो ॥ ७८ ॥

उस जलको समुद्रके समान मथा जाता देखकर घड़ियाल आदि जीव घबरा उठे। इतनेमें ही उस जलमेंसे अचानक एक कन्याको आगे किए हुए नागराज कुमुद इस प्रकार निकले मानो लक्ष्मीको साथ लेकर कल्पवृक्ष निकल आया हो ॥ ७९ ॥

कुशने देखा कि कुमुदके हाथमें वही आभूषण है, इसलिये उन्होंने धनुषपरसे गारुड़ास्त्र उतार लिया क्योंकि सज्जन लोग उनपर क्रोध नहीं करते जो नम्र होकर उनके आगे आते हैं ॥ ८० ॥

त्रिलोकीनाथ रामके पुत्र तथा शत्रुओंको अंकुशके समान दुःख देने-वाले राजा कुशको सामने खड़ा हुआ अपना सिर नवाकर कुमुदने प्रणाम

किया क्योंकि वह कुशके बाणकी शक्ति भली भाँति जानता था। प्रणाम करके वह बोला— ॥८१॥ मैं यह जानता हूँ कि आप, राक्षसोंका नाश करनेके लिये मनुष्यका शरीर धारण करनेवाले विष्णुके ही दूसरे रूप अर्थात् पुत्र हैं, इसलिये आप पूजनीय हैं। फिर मैं भला आपसे कैसे वैर कर सकता हूँ ॥ ८२ ॥ यह मेरी कन्या गेंद खेल रही थी। इसकी थपकीसे गेंद ऊपर उछल गई। उसे देखनेके लिये उसने जो ऊपर आँखें उठाई तो देखा कि आकाशसे गिरते हुए तारेके समान आपका आभूषण नीचे चला आ रहा है। इसने झट उसे पकड़ लिया ॥८३॥

आप इसे लीजिए और अपनी उस मोटी और घुटनों तक लम्बी भुजामें फिर बाँध लीजिए जिसमें धनुषकी डोरीकी फटकारसे घट्ठे पड़ गए हैं और जो पृथ्वीकी रक्षा करती है ॥ ८४ ॥ हे राजन्! यह मेरी छोटी बहन कुमुद्वती जीवन भर आपकी सेवा करके अपना अपराध मिटाना चाहती है, इसलिये आप इसे अपनी पत्नीके रूपमें ग्रहण कर लीजिए ॥ ८५ ॥

यह कहकर कुमुदने वह आभूषण कुशको दे दिया। कुश बोले—आजसे आप मेरे आदरणीय सम्बन्धी हुए। यह सुनकर कुमुदने अपने कुटुम्बियोंको बुलाया और बड़ी धूमधामसे अपनी कन्या कुशसे ब्याह दी ॥ ८६ ॥

जब राजा कुशने अग्निके आगे उस कन्याका ऊनी कंगन बँधा हुआ हाथ पकड़ा, उस समय तुरही आदि बाजोंकी ध्वनिसे दिशाएँ गूँज उठीं और विचित्र प्रकारके मेघोंने आकर आकाशसे सुगन्धित फूल बरसा दिए ॥ ८७ ॥

इस प्रकार नागराज कुमुदने त्रिलोकीनाथ विष्णु अर्थात् रामके सच्चे पुत्र कुशको अपना सम्बन्धी बनाकर गरुड़से डरना छोड़ दिया क्योंकि अब वह उनके सम्बन्धीके पिताका वाहन मात्र था। कुशने भी नागराज तक्षकके पाँचवें पुत्र कुमुदको सम्बन्धी बना लिया जिससे सर्प शान्त हो गए और कुश पृथ्वीपर भली भाँति राज करने लगे ॥ ८८ ॥

महाकवि कालिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यमें कुमुद्वतीका विवाह नामका सोलहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥

सत्रहवाँ सर्ग

जैसे रातके चौथे पहर अर्थात् ब्राह्म मुहूर्त्तमें बुद्धिको नयापन मिल जाता है वैसे ही कुशको कुमुद्वतीसे अतिथि नामका पुत्र प्राप्त हुआ ॥ १ ॥ जैसे तेजस्वी सूर्य अपने प्रकाशसे उत्तर और दक्षिण दोनों दिशाओंको पवित्र कर देता है, वैसे ही सुशिक्षित अतिथिने माता और पिताके दोनों कुलोंको पवित्र कर दिया ॥ २ ॥

पिता कुशने पहले उसे आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और तथा दण्ड-नीति ये चारो विद्याएँ सिखाईं फिर राजाओंकी कन्याओं से उसका विवाह करा दिया ॥ ३ ॥ अतिथि भी कुशके समान ही कुलीन, शूर और जितेन्द्रिय थे इसलिये कुश अपने पुत्रको अपना ही दूसरा रूप समझते थे ॥ ४ ॥

अपने कुलकी चलनके अनुसार कुश भी एक बार युद्धमें इन्द्रकी सहायता करने गए। वहाँ शक्तिशाली दुर्जय नामके राक्षसको मार कर वे स्वयं भी वीर गतिको प्राप्त हुए ॥५॥ जैसे कुमुदोंको खिलाने-वाले चन्द्रमाके अस्त होनेके साथ-साथ चाँदनी भी छिप जाती है, वैसे ही नागराज कुमुदकी बहन कुमुद्वती भी उनके साथ ही सती हो गई ॥ ६ ॥ कुशको तो इन्द्रके सिंहासनका आधा भाग मिला

और कुमुद्वती जाकर इन्द्राणीके साथ पारिजातमें आधा भाग ले बैठीं ॥ ७ ॥

लड़ाईमें जाते समय कुशने जो आज्ञा दी थी उसके अनुसार मंत्रियोंने उनके पुत्र अतिथिको राजा बनाया ॥ ८ ॥ मंत्रियोंने उसके अभिषेकके लिये कारीगरोंसे चार खंभोंका नया मंडप बनवाया ॥९॥ प्रजाने भद्रपीठपर बैठे हुए राजा अतिथिको सोनेके घड़ोंमें भरे हुए तीर्थोंके जलसे नहलाया ॥ १० ॥ थाप पड़नेपर मृदंग आदि बाजोंसे जो मीठा और गम्भीर शब्द निकल रहा था वह यह सूचना दे रहा था कि राजा अतिथिका सदा कल्याण होगा ॥११ ॥ दूब, जौके अङ्कुर तथा बड़की छाल दोनेमें रखकर कुलके बूढ़ों ने जो आरती की, उसे राजा अतिथिने बड़े आदरसे स्वीकार किया ॥ १२ ॥ तब पुरोहितजीको आगे करके ब्राह्मण आए और उन्होंने विजयी राजाको अथर्ववेदके उन मंत्रोंको पढ़कर नहलाना प्रारम्भ किया जिनसे विजय प्राप्त होती है ॥१३॥ उनके सिरपर गिरती हुई अभिषेकके जलकी धारा ऐसी सुन्दर लगती थी मानो शिवजीके सिरपर गङ्गाजीकी धारा गिर रही हो ॥१४॥ उस समय भाट और चारण जब उनका विरद बखानने लगे तो ऐसा लगता था मानो बहुतसे चातक मिलकर बादलके गुण गा रहे हों ॥१५॥मन्त्रों से पवित्र हुए जलसे स्नान करते समय उनके शरीरका तेज वैसे ही बढ़ गया जैसे वर्षाके जलसे बिजलीकी चमक बढ़ जाती है॥ १६ ॥ अभिषेकके पश्चात् उन्होंने यज्ञ करानेवाले ब्राह्मणोंको इतना धन दिया कि उस धनसे वे स्वयं गहरी दक्षिणा दे देकर अपना एक-एक यज्ञ कर सकते थे ॥१७॥ ब्राह्मणों ने प्रसन्न होकर उन्हें जो आशीर्वाद दिया उस आशीर्वादको फलीभूत होनेके लिये बहुत दिन देखने पड़े क्यों कि आशीर्वादके समय तो राजा अतिथि अपने पूर्व जन्मके सत्कर्मों का ही फल भोग रहे थे, आशीर्वादका फल तो उस फलके समाप्त होने पर प्रारंभ होता ॥ १८ ॥

राज्याभिषेककी प्रसन्नतामें अतिथिने आज्ञा दी कि बन्दियों को छोड़ दिया जाय, मृत्यु-दण्ड पाए हुए मारे न जायँ, बोझा ढोनेवाले पशुओंके कन्धेपरसे जुए उतार लिए जायँ और गौओंका दूध बछड़ोंको पीनेके लिये छोड़ दिया जाय ॥१९ ॥ उनकी आज्ञासे पिंजड़े

के सुग्गे आदि पक्षी भी छोड़ दिए गए जो अपने मनसे इधर-उधर उड़ने लगे ॥ २० ॥

तब वह अपना राजसी सिंगार करानेके लिये हाथी दाँतके बने सिंहासनपर बैठा, जो राजभवनमें एक ओर रक्खा हुआ था और जिसपर बिछावन बिछा हुआ था ॥ २१ ॥ सिंगारियोंने स्वच्छ हाथों से, धूपसे सुगंधित केशवाले राजा अतिथिको सब प्रकारसे सजा दिया ॥ २२ ॥ फूल और मोतियोंकी मालाओं से गुँथे हुए राजाके सिरपर उन्होंने वह पद्मरागमणि बाँधी जिसकी सुन्दर चमक चारों ओर फैल गई ॥ २३ ॥ तब उन्होंने कस्तूरीमें बसे हुए चन्दनका अंगराग लगाकर गोरोचनसे राजाका मुँह चीता ॥ २४ ॥

आभूषण और माला पहने हुए, हंस छपा हुआ दुपट्टा ओढ़े हुए राजा अतिथि उस समय ऐसे सुन्दर दिखाई देते थे मानो राज-लक्ष्मी-रूपी वहूके दूल्हे हों ॥ २५ ॥ सोनेकी चौखटवाले दर्पणमें जब वे अपनी सजावट देखने लगे उस समय उनका प्रतिबिम्ब ऐसा लग रहा था मानो सूर्योदयके समय सुमेरु पर्वतपर कल्पवृक्षका प्रतिबिम्ब पड़ रहा हो ॥ २६ ॥

तब वे अपनी उस सभाकी ओर चले जो किसी भी प्रकार देवताओंकी सभासे कम नहीं थी। उनके पीछे-पीछे बहुतसे सेवक हाथसे चँवर डुलाते और जय-जयकार करते चल रहे थे ॥ २७ ॥ वहाँ चँदोवा लगे हुए अपने पूर्व पुरखों के सिंहासनपर वे जा बैठे। उनके पैरके नीचे जो पीढ़ा रक्खा था वह प्रणाम करनेवाले राजाओं-के सिरकी मणियों की रगड़से घिस गया था ॥ २८ ॥ जैसे भृगुके चरणकी चोटसे बने हुए श्रीवत्सके चिह्नवाला विष्णुका वक्ष:स्थल कौस्तुभमणिसे चमक उठता है वैसे ही राजा अतिथिके बैठनेसे वह सभा-भवन भी जगमगा उठा ॥ २९ ॥ राजा अतिथिको युवराज बननेका अवसर ही नहीं आया क्योंकि वे कुमार अवस्थाके पश्चात् तुरन्त ही महाराज हो गए, मानो एक कलावाले चन्द्रमामें तुरन्त सोलहों कलाएँ आ गई हों ॥ ३० ॥ उनका मुख सदा प्रसन्न रहता था, और वे सबसे हँसकर बोलते थे इसलिये उनके सेवक उन्हें साक्षात् विश्वासके समान मानते थे ॥ ३१ ॥

इन्द्रके समान ऐश्वर्यशाली राजा अतिथि जब ऐरावतके समान बलवान हाथीपर चढ़कर अयोध्यामें घूमने निकले तब कल्पवृक्षके समान ध्वजाओंवाली अयोध्या नगरी स्वर्गके समान लगने लगी ॥ ३२ ॥

यद्यपि राज-छत्र केवल अतिथिके सिरपर ही लगा हुआ था पर उस श्वेत रंगके छत्रने सारे संसारके उस तापको दूर कर दिया जो कुशके वियोगसे उत्पन्न हो गया था ॥ ३३ ॥

आगकी लपट धुआँ निकलनेके पीछे उठती हैं और किरणें सूर्यके उदय होनेके पीछे दिखाई देती हैं पर अतिथिने इन तेजस्वियों-के नियमोंको भी उलट दिया, क्योंकि उनके गुण उनके राजा बनने-के साथ साथ प्रकट हो गए ॥ ३४ ॥ जैसे शरद् ऋतुकी निर्मल रातों-के तारे ध्रुवके चारों ओर घूमते हैं, वैसे ही नगरकी स्त्रियोंकी प्रेम भरी आँखें अतिथिपर लट्टू हो गईं ॥ ३५ ॥ अयोध्याके बड़े-बड़े मन्दिरोंमें जिन देवताओंकी पूजा की गई उन्होंने अपनी मूर्तियोंमें पैठ-पैठकर कृपाके योग्य राजा अतिथिपर बड़ी कृपा की ॥ ३६ ॥ अभी अभिषेकके जलसे भीगी हुई वेदी सूखने भी न पाई थी कि उनका दुस्सह प्रताप समुद्रके तटतक पहुँच गया ॥ ३७ ॥ गुरु वशिष्ठके मन्त्र और धनुषधारी राजाके बाण दोनोंने, कोई ऐसा कार्य नहीं था जिसे मिलकर पूरा न कर डाला हो ॥ ३८ ॥ धर्मात्माओंके मित्र राजा अतिथि, आलस्य छोड़कर वादी-प्रतिवादियोंके पेचीदे झगड़े स्वयं निपटाते थे ॥ ३९ ॥ जैसे वृक्षको फूला हुआ देखकर यह जान लिया जाता है कि इससे इतने फल मिलेंगे वैसे ही राजा अतिथिके प्रसन्न मुखको देखकर ही उनके सेवक जान जाते थे कि हमें इतना धन मिलेगा ॥ ४० ॥ कुशके समयमें जो प्रजा सावनकी नदीके समान भरी-पूरी थी वह फिर अतिथिके राज्यमें भादोंकी नदीके समान और भी अधिक उतराने लगी ॥ ४१ ॥

राजा अतिथिने मुँहसे जो कह दिया उसे पूरा कर दिखाया, जिसे जो दे दिया उससे फिर लिया नहीं। पर हाँ, शत्रुओंको उखाड़-कर उन्हें फिर जमाते समय उन्होंने यह नियम तोड़ दिया था ॥४२॥ यौवन, सौन्दर्य और ऐश्वर्य, इनमेंसे एक भी वस्तु जिसके पास होती है

वह मतवाला हो जाता है, पर राजा अतिथिके पास ये सभी थे फिर भी उन्हें अभिमान छू तक न गया था ॥ ४३ ॥

इस प्रकार प्रजा उनसे दिन पर दिन अधिक प्रेम करने लगी और नये राजा होनेपर भी वे गहरी जड़वाले वृक्षके समान अचल हो गए ॥ ४४ ॥

यह सोचकर कि बाहरी शत्रु तो सदा होते नहीं और होते भी हैं तो दूर रहते हैं, इसलिये उन्होंने शरीरके भीतर सदा रहनेवाले काम आदि छओं शत्रुओंको पहले ही जीत लिया ॥४५॥ स्वभावसे चंचल लक्ष्मी भी प्रसन्न मुखवाले अतिथिके पास आकर उसी प्रकार अचल होकर बैठ गई जैसे कसौटीपर बनी हुई सोनेकी लकीर पक्की होकर बैठ जाती है ॥ ४६ ॥ केवल कूटनीतिसे काम लेना कायरता है और मारकाटसे जीतना हिंसक पशुओंका स्वभाव है, इसलिये उन्होंने कूटनीति और मारकाट दोनोंको मिलाकर शत्रुओंको जीता ॥ ४७ ॥ जैसे खुले आकाशमें सूर्यकी किरणोंके फैल जानेसे कुछ भी छिपा नहीं रह जाता, वैसे ही अतिथिने चारों ओर दूतोंका ऐसा जाल बिछा दिया कि प्रजाकी कोई बात उनसे छिपी नहीं रह पाती थी ॥ ४८ ॥ शास्त्रों ने राजाओं के लिये दिन और रातके जो कर्तव्य निर्धारित किए हैं उन सबको राजा अतिथि विश्वासके साथ नियम पूर्वक पालते थे ॥ ४९ ॥ वे प्रतिदिन मन्त्रियोंके साथ राज्य-की बातें करते थे, पर वे बातें इतनी गुप्त रक्खी जाती थीं कि प्रति-दिन व्यवहारमें आनेपर भी किसीको उनका पता नहीं चलता था ॥ ५० ॥

उन्होंने अपने कर्मचारियों तथा शत्रुओंका भेद जाननेके लिये ऐसी चतुराईसे उनके पीछे दूत लगा रक्खे थे कि वे दूत भी आपसमें एक दूसरेको नहीं पहचान पाते थे। उन दूतोंसे सब समाचार मिलते रहनेके कारण वे सोते हुए भी मानो जागते रहते थे ॥ ५१ ॥ यद्यपि वे युद्धमें ही शत्रुओंको घेरते थे, फिर भी उन्होंने राजधानीके चारों ओर बहुत बड़े बड़े दुर्ग बनवा दिए थे क्योंकि हाथियोंको मारनेवाला सिंह गुफामें हाथियोंके भयसे नहीं सोता है वरन् उसका स्वभाव ही वैसा होता है ॥ ५२ ॥ वे जो काम करते थे सब

कल्याणकारी होते थे। वे कोई काम करनेके पहले उसपर भलीभाँति विचार भी कर लेते थे। इसलिये उसमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं पड़ती थी। जैसे धानका दाना भीतर ही भीतर पक जाता है वैसे ही उनका काम भी गुप्त रूपसे ही आरम्भ होकर पूरा हो जाता था ॥ ५३ ॥ ऐश्वर्यशाली होकर भी उन्होंने खोटे मार्गमें पैर नहीं धरा क्यों कि ज्वारके समय भी जब समुद्र बढ़ता है तब नदियों के मार्गसे ही बढ़ता है दूसरे मार्गों से नहीं ॥ ५४ ॥ उनमें इतनी शक्ति थी कि प्रजामें यदि किसी कारण असन्तोष हो तो उसे क्षणभरमें दूर कर दें पर उन्हों ने प्रजामें कोई ऐसा असन्तोष उत्पन्न ही नहीं होने दिया जिसे दूर करनेकी आवश्यकता पड़े ॥ ५५ ॥ वे शक्तिमान थे इसलिये शक्तिशाली राजाओंपर ही चढ़ाई करते थे, दुर्बलोंपर नहीं। क्यों कि वायुकी सहायता मिलनेपर भी वनमें लगी हुई आग, पानी-को नहीं जलाती ॥५६॥ उन्हों ने अर्थ और कामके लिये कभी धर्मको नहीं छोड़ा और धर्मसे बँधकर अर्थ और कामको नहीं छोड़ा और न अर्थके कारण कामको या कामके कारण अर्थको छोड़ा वरन् धर्म अर्थ और काम तीनों के साथ वे एक-सा व्यवहार करते थे ॥ ५७ ॥ यदि नीच मित्र मिल जाते हैं तो कुछ न कुछ खोट अवश्य करते हैं, यदि धनी मिल जाते हैं तो कुछ न कुछ बाधा डालते हैं, इसलिये उन्हों ने ऐसे लोगों को मित्र बनाया जो न नीच ही थे न धनी ही थे ॥ ५८ ॥ चढ़ाई करनेके पहले वे अपने और अपने शत्रुके बल और त्रुटिको भली भाँति तौल लेते थे। जब शत्रुसे अपना बल अधिक देखा तभी उसपर आक्रमण किया नहीं तो चुप बैठे रहे ॥ ५९ ॥

उन्हों ने इसलिये धन इकट्ठा किया कि एक तो इससे आदर होता है और दूसरे, दीन लोग आकर आश्रय लेते हैं क्यों कि चातक उन्हीं बादलोंका स्वागत करते हैं जिनमें पानी भरा होता है ॥ ६१ ॥

शत्रुओंका उद्योग नष्ट करके वे अपने उद्योगमें लग गए। उन्हों ने शत्रुओं के दोषोंका लाभ उठाकर उन्हें नष्ट कर दिया और अपने दोषोंको दूर कर लिया ॥ ६१ ॥ कुशके प्रयत्नसे ही बढ़ी हुई, शस्त्रास्त्र

चलाना जाननेवाली और युद्ध करनेमें समर्थ जो उनकी सेना थी उसे दंडधर अतिथि अपने उस शरीरके समान ही प्यार करते थे ॥ ६२ ॥ जैसे सर्पकेसिरसे मणि नहीं निकाली जा सकती वैसे ही शत्रु इनके प्रभाव, उत्साह और मन्त्र इन तीन शक्तियोंको अपनी ओर नहीं खींच सके। पर जैसे चुम्बक लाहेको अपनी ओर खींच लेता है वैसे ही इन्होंने शत्रुओंकी उन तीनों शक्तियों को अपनी ओर खींच लिया ॥ ६३ ॥ अतिथिका इतना प्रताप था कि व्यापारी लोग ऐसे वे रोक टोक व्यापार करते थे कि नदियाँ उनके लिये बावलियों जैसी घरेलू, वन भी उद्यान जैसे सुखकर, और पहाड़ अपने भवन जैसे सुगम हो गए ॥ ६४ ॥ उन्होंने विघ्नोंसे तपस्वियोंके तपकी रक्षा की, चोरोंसे प्रजाकी सम्पत्तिको बचाया और चारों आश्रमों तथा चारों वर्णोंसे उनके धनके अनुसार छठा भाग पाया ॥ ६५ ॥ जिस प्रकार वे रक्षा कर रहे थे उसी प्रकार पृथ्वी भी उन्हे ऐश्वर्य देती जा रही थी। खानोंने रत्न दिए, खेतोंने अन्न दिया और वनोंने उन्हें हाथी दिए ॥ ६६ ॥ कार्त्तिकेयके समान पराक्रमी राजा अतिथि यह भली-भाँति जानते थे कि सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधी-भाव इन छः राजगुणोंको कैसे व्यवहारमें लाना चाहिए तथा छः प्रकारकी सेनाओंके साथ कैसा वर्त्ताव करना चाहिए ॥ ६७ ॥ इस प्रकार साम-दाम आदि चार उपायोंके साथ राजनीति चलाते हुए उन्होंने मन्त्रियों आदिकी सहायतासे उन उपायोंका निर्विघ्न फल पा लिया ॥ ६८॥ वे कपट-युद्ध भी जानते थे पर युद्धक्षेत्रमें वे धर्मकी लड़ाई ही लड़ते थे, इसलिये वीरोंकी सखी विजयश्री उनके पास अभिसारिकाके समान चुपकेसे पहुँच जाती थी ॥ ६९ ॥ युद्ध क्षेत्रमें अतिथिको देखते ही शत्रुओंके छक्के छूट जाते थे और वे प्राण लेकर भाग खड़े होते थे, इसलिये जैसे बिना मदवाले हाथी, मतवाले हाथीसे नहीं लड़ पाते वैसे ही प्रतापी राजा अतिथिसे लड़नेका कोई साहस ही नहीं करता था ॥ ७० ॥

पूरा बढ चुकनेपर चन्द्रमा घटने लगता है और समुद्रकी भी यही दशा होती है, पर अतिथिके साथ यह बात उलटी थी। वे चन्द्रमा

और समुद्रके समान बढ़े तो सही पर उनके समान घटे नहीं ॥७१॥ जैसे बिना पानीके मेघ समुद्रके पास जाते हैं और वह उन्हें इतना जल दे देता है कि वे संसार भरको जल बाँटने लगते हैं, वैसे ही जो बहुतसे निर्धन विद्वान् अतिथि के पास जाते थे उन्हें वे इतना धन दे देते थे कि वे विद्वान् स्वयं भी दूसरों को दान देने लगते थे ॥७२॥ उनके सभी काम प्रशंसाके योग्य होते थे पर जब कोई उनकी प्रशंसा करता था तब वे सकुचा जाते थे पर प्रशंसाकी इच्छा न करनेपर भी उनका यश बढ़ता ही गया ॥ ७३ ॥ जैसे निकलते हुए सूर्यके दर्शनसे पाप दूर हो जाते हैं वैसे ही उनके दर्शनसे पाप भाग जाते थे। वे ज्ञानी भी थे इसलिये वे दूसरोंको तत्व-ज्ञान सिखाकर अज्ञानका अँधेरा भी मिटाते थे। इसलिये उन्होंने प्रजाको सब प्रकारसे अपनी मुट्ठीमें कर लिया ॥ ७४ ॥ चन्द्रमाकी किरणें कमलों में तथा सूर्यकी किरणें कुमुदों में नहीं पैठ पातीं, पर अतिथिके गुणों ने शत्रुओंके हृदयमें भी घर कर लिया था और शत्रु भी उनके गुणोंका लोहा मानते थे ॥ ७५ ॥

अश्वमेधके लिये जब वे दिग्विजय करने निकले तब उस समय इनका काम यद्यपि शत्रुओंको जिस-तिस प्रकार हराना ही था पर उस समय भी उन्होंने धर्मसे ही काम लिया, कूटनीति अथवा छलसे नहीं ॥ ७६ ॥ इस प्रकार शास्त्रोंके अनुसार चलनेसे अतिथि का प्रभाव बढ़ गया और जैसे इन्द्र देवताओंके देवता हैं वैसे ही वे भी राजाओंके राजा हो गए ॥ ७७ ॥ इन्द्र आदि चारों लोकपालों के समान पराक्रम होनेके कारण लोग उन्हें पाँचवाँ लोकपाल कहते थे, पृथ्वी, जल आदि पाँचों तत्वों के समान महान होनेके कारण लोग उन्हें छठा तत्त्व कहते थे और हिमाचल आदि सात कुलपर्वतों के समान विशाल होनेके कारण वे आठवें कुलपर्वत कहलाते थे ॥ जैसे देवता लोग इन्द्रकी आज्ञा मानते हैं वैसे ही राजा लोग भी अपने छत्र उतारकर उनकी आज्ञा अपने सिर-माथे चढ़ाते थे ॥ ७८ ॥ अश्वमेधके समय जिन ब्राह्मणों ने यज्ञ कराया था उनका अतिथिने इतना सत्कार किया कि लोग इन्हें भी दूसरा कुबेर कहने लगे ॥ ८० ॥

इन्द्रने उनके साम्राज्यपर वर्षा की, यमराजने रोगोंका बढ़ना रोका, वरुणने नाव चलानेवालोंके लिये जलके मार्ग खोल दिए और कुबेरने इनका राज-कोश भर दिया। इस प्रकार इन्द्र आदि लोकपाल मानो इनके प्रतापसे ही डरकर इनकी सेवा कर रहे थे ॥ ८१ ॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यमें अतिथि-वर्णन नामका सत्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।



अठारहवाँ सर्ग

शत्रुओंका नाश करनेवाले राजा अतिथिकी रानी निषध-राजकी पुत्री थीं। उस रानीसे अतिथिने निषध पर्वतके समान बलवान पुत्र उत्पन्न किया और उसका नाम भी निषध रक्खा ॥१॥

जैसे समयकी वर्षासे फले हुए अनाजके खेतों को देखकर संसारके प्राणी प्रसन्न हो जाते हैं, वैसे ही अत्यन्त प्रतापी युवराज निषधको देखकर राजा अतिथि भी प्रसन्न हुए ॥ २ ॥ कुमुद्वतीके पुत्र अतिथिने बहुत दिनोंतक सुख भोगा और फिर निषधको राज-पाट सौंपकर अपने पुण्यों के बलसे पाए हुए स्वर्गलोकमें सुख भोगने चले गए ॥३॥

कमलके समान नेत्रवाले, समुद्रके समान गम्भीर चित्तवाले और नगरके प्रधान फाटककी अर्गलाके समान बड़ी-बड़ी बाहोंवाले अद्वितीय वीर निषधने भी सागरतक फैली हुई पृथ्वीका भोग किया। ॥ ४ ॥

उनके पीछे उनके अग्निके समान तेजस्वी पुत्र नल राजा हुए। उस कमलके समान सुन्दर मुखवाले राजाने शत्रुओं के बलको वैसे ही तोड़ डाला जैसे हाथी नरकटके गट्ठेको तोड़ डालता है ॥५॥

वे इतने यशस्वी थे कि आकाशमें गन्धर्व लाग उनका यश गाते थे।
उन्हें आकाशके समान साँवला नभ नामका पुत्र उत्पन्न हुआ
जो लोगोंको वैसा ही प्यारा लगा जैसे सावनका महीना ॥६॥
धर्मात्मा नलने उस पुत्रको उत्तरकोशलका राज्य सौंप दिया और
स्वयं बुढ़ापेके कारण जंगलोंमें जाकर मृगोंके साथ इसलिये रहने
लगे कि फिर संसारमें जन्म न लेना पड़े ॥७॥ नभको पुण्डरीक
नामका पुत्र हुआ और जैसे हाथियों में पुण्डरीक नामका हाथी सर्व-
श्रेष्ठ है वैसे ही उस समयके राजाओं में वे ही सर्वश्रेष्ठ थे। पिताके
स्वर्ग चले जानेपर, कमल धारण करनेवाली लक्ष्मीने उन्हें ही
विष्णु मानकर घर लिया ॥ ७ ॥ उन सफल धनुषधारी
पुण्डरीकने प्रजाका कल्याण करनेमें समर्थ और शान्त स्वभाव-
वाले अपने पुत्र क्षेमधन्वाको राज सौंप दिया और स्वयं शान्त
होकर जङ्गलमें तपस्या करने चले गए ॥९॥ उस क्षेमधन्वाको
भी इन्द्रके समान पुत्र हुआ जो युद्धमें सेनाके आगे-आगे चलता
था और जिसका देव शब्दसे आरम्भ होनेवाला और अनीक शब्दसे
अन्त होनेवाला देवानीक नाम स्वर्ग मे भी प्रसिद्ध हो गया ॥१०॥
जैसे इस पितृभक्त पुत्रको पाकर क्षेमधन्वा सुपुत्रवान् हुए, वैसे ही
पुत्रको प्यार करनेवाले पिताको पाकर देवानीक भी पितावाले हुए॥११॥
बड़े-बड़े यज्ञ करनेवाले गुणी क्षेमधन्वा अपने ही समान तेजस्वी पुत्रको
चारों वर्णोंकी रक्षाका भार सौंपकर स्वर्ग चले गए ॥ १२ ॥ उनके
जितेन्द्रिय पुत्र देवानीक इतना मधुर बोलते थे कि शत्रु भी उनका वैसे
ही आदर करते थे जैसे मित्र। क्योंकि मधुर वचनमें ऐसा प्रभाव
होता है कि एक बार डराए हुए हरिण भी वशमें हो जाते हैं ॥ १३ ॥
देवानीकके पुत्रका नाम अहीनग था। उनकी बाँहें बड़ी शक्ति-शालिनी
थीं। उन्होंने कभी नीच लोगोंका साथ नहीं किया, इसलिये व्यसनों से
दूर रहकर युवावस्थामे ही वे सारी पृथ्वीपर शासन करने लगे
॥ १४ ॥ वे बड़े चतुर थे और सबके मनकी बात जान लेते थे।
पिताके पीछे राजा होकर वे सफलताके साथ साम-दाम-दंड भेदका
प्रयोग करके शीघ्र ही विष्णुके समान चारों दिशाओं के स्वामी हो
गए ॥ १५ ॥ उस शत्रु विजयी राजाके स्वर्ग चले जानेपर अयोध्याकी

राज-लक्ष्मी उनके उस प्रतापी पुत्र पारियात्रकी सेवा करने लगी जिन्होंने अपने सिरकी ऊँचाईसे पारियात्र पर्वतको भी नीचा दिखा दिया था ॥१६॥ उन्हें शिल नामका बड़ा शीलवान् पुत्र हुआ जिसकी छाती पत्थरकी पाटी जैसी चौड़ी थी। यद्यपि उन्होंने बाणों से शत्रुओंको जीत लिया फिर भी स्वयं वे नम्र ही रहे ॥ १७ ॥ शुद्ध चरित्रवाले पारियात्रने बुद्धिमान् शिलको युवराज बनानेपर ही सुख भोगना प्रारंभ किया। क्यों कि राजा रहते हुए उन्हें इतने अधिक काम थे कि उन्हें सुख भोगनेके लिये अवसर ही कहाँ मिलता था ॥ १८ ॥ वे अभी भोगों से अघाए नहीं थे और सुन्दरी स्त्रियों से भोग कर ही रहे थे कि उन्हें उस वृद्धावस्थाने आ घेरा जो स्वयं भोगने योग्य न होनेपर भी सुन्दरियों से व्यर्थ ही ईर्ष्या करती है ॥१६॥ शिलको उन्नाभ नामका प्रसिद्ध पुत्र हुआ जिनकी नाभि गहरी थी और जो विष्णुके समान पराक्रमी होनेके कारण संसारके सभी राजाओं के मुखिया बन गए ॥२०॥ उनके पीछे उनके पुत्र वज्रनाभ, हीरकी खानोंका भूषण पहननेवाली पृथ्वीके स्वामी हुए। वे इन्द्रके समान प्रभावशाली थे और युद्धक्षेत्रमें वज्रके समान गरजते थे ॥२१॥ उन्होंने अपने पुण्यके बलसे स्वर्ग प्राप्त किया और उनके पीछे शंखण नामका उनका शत्रु-विनाशक पुत्र सारी पृथ्वीका शासक हुआ ॥ २२ ॥ उनके पीछे उनके अश्विनीकुमारके समान सुन्दर और सूर्यके समान तेजस्वी पुत्र राजा हुए जिन्होंने सब देशोंको जीतकर अपनी सेना और घोड़ों को समुद्रके तटपर ठहराया इसलिये वृद्धों ने उनका नाम व्युषिताश्व अर्थात् बहुत दूरतक घोड़ोंको ले जानेवाला रक्खा ॥२३॥ उन्होंने काशीके विश्वेश्वरकी आराधना करके विश्वसह नामक पुत्र पाया जो संसारके बड़े प्रिय हुए और जिन्होंने सारी पृथ्वीपर शासन किया ॥२४॥ उस नीतिज्ञ विश्वसहको हिरण्यनाभ नामक पुत्र उत्पन्न हुआ जो साक्षात् विष्णुका अंश था। ऐसे पुत्रको पाकर विश्वसह शत्रुओं के लिये वैसे ही भयंकर हो गए जैसे वायुकी सहायता पाकर वृक्षों के लिये अग्नि भयंकर हो उठती है ॥२५॥ अब वे पिताके ऋणसे उऋण हो गए और बहुत सुख भोगकर वृद्धावस्था में पुत्रको राज्य देकर स्वयं वल्कल पहनकर वनमें चले गए ॥२६॥

उत्तरकोशलके स्वामी और सूर्यकुलके भूषण उन हिरण्यनाभको कौशल्य नामका पुत्र हुआ, जो सबकी आँखोंको उसी प्रकार आनन्द देनेवाला था मानो दूसरा चन्द्रमा ही हो ॥२७॥ कौशल्यका यश ब्रह्मा की सभा तक प्रसिद्ध हो गया। वृद्धावस्थामें उन्होंने ब्रह्मिष्ठ नामके अपने ब्रह्मज्ञानी पुत्रको राज्य दे दिया और स्वयं ब्रह्म-प्राप्तिके लिये वनमें तप करने चले गए ॥२८॥ भली सन्तानवाले ब्रह्मिष्ठ भी अपने कुलके शिरोमणि थे। उन्होंने बड़ी योग्यतासे प्रजाका शासन किया। उनके सुन्दर शासनको देखकर प्रजाको आनन्दके आँसू आजाते थे। उनके शासनमें प्रजा बहुत दिनोंतक सुख भोगती रही ॥२९॥ उनके सुपुत्रने उन्हें पुत्रवानोंका शिरोमणि बना दिया। पिताकी सेवा-सुश्रूषा करनेसे वे बड़े योग्य हो गए थे। वे गरुड़ध्वज विष्णुके समान सुन्दर थे और उन कमललोचनका नाम भी पुत्र ही था ॥३०॥ विषय-वासनाओंसे दूर रहकर इन्द्रके भावी मित्र ब्रह्मिष्ठने अपनी कुल-प्रतिष्ठा अपने पुत्र पुत्रको सौंप दी और स्वयं त्रिपुष्कर क्षेत्रमें स्नान करके स्वर्ग चले गए ॥३१॥ उनके पुत्रकी पत्नीसे पूसकी पूर्णिमाके दिन पद्मरागमणिसे भी अधिक कान्तिमान पुष्य नामक पुत्र हुआ। उसके जन्म होनेसे प्रजा उसी प्रकार धन-धान्यसे भरपूर हो गई मानो दूसरा पुष्य नक्षत्र ही निकल आया हो ॥३२॥ राजा पुत्र बड़े उदार हृदय-वाले थे वे संसारमें फिर जन्म लेना नहीं चाहते थे इसीलिये उन्होंने पृथ्वीका भार अपने पुत्र पुष्यको सौंप दिया और स्वयं जैमिनि ऋषिके शिष्य होकर उनसे योग सीखकर आवागमनसे मुक्त हो गए ॥३३॥ पुष्यके पीछे उनके ध्रुवके समान निश्चल पुत्र ध्रुवसन्धि राजा हुए जिनसे डरकर शत्रुओंसे सन्धि कर ली। उनका लिखा हुआ सन्धिपत्र पक्का होता था क्योंकि वे अपनी बातके धनी थे ॥३४॥ उनके नेत्र मृगोंके नेत्रोंके समान बड़े-बड़े थे और वे पुरुषोंमें सिंह के समान थे। एक दिन वे जंगलमें आखेट करते हुए मारे गए। उस समयतक द्वितीयाके चन्द्रमाके समान सुन्दर लगनेवाला सुदर्शन नामका उनका पुत्र बालक ही था ॥३५॥

उन स्वर्गगामी राजाके मन्त्रियोंने राजाके न होनेसे प्रजाकी दीन दशा देखकर सर्वसम्मतिसे उनके इकलौते पुत्र सुदर्शनको विधिपूर्वक

साकेतका स्वामी बना दिया ॥ ३६ ॥ इस बालकसे राजा रघुका कुल वैसे ही शोभा देने लगा जैसे द्वितीयाके चन्द्रमासे आकाश, सिंहके बच्चेसे वन, और कमलकी कलीसे ताल शोभा देता है ॥ ३७ ॥ उस बालक सुदर्शनने जब सिरपर मुकुट धारण किया तभी प्रजाने आँक लिया कि यह पिताके समान ही तेजस्वी होगा, क्योंकि हाथीके बच्चेके समान छोटा दिखाई देनेवाला बादल भी पुरवाई पवनका सहारा पाकर चारों दिशाओंमें फैल जाता है ॥ ३८ ॥ जब वे छः वर्षके छोटेसे राजा हाथीपर चढ़कर राज-मार्गसे निकलते थे तब हाथीवान उनके राजसी वस्त्रोंके कोनेको थामे रखता था कि कहीं वे गिर न पड़ें। उस समय भी उन्हें देखकर जनता उनके पिताके समान ही उनका आदर करती थी ॥३९॥ वे छोटे थे इसलिये जब वे अपने पिताके सिंहासनपर बैठते थे तब वह पूरा भरता नहीं था। पर उनके शरीरसे जो सुवर्णके समान तेज निकलता था उससे वह सिंहासन भरा सा ही जान पड़ता था ॥ ४० ॥ उस सिंहासनसे उनके पैर लटकते रहते थे क्योंकि छोटे होनेके कारण पाद-पीठतक पहुँच नहीं पाते थे। राजाओंने अपने प्रसिद्ध मुकुटोंसे उन महावर-लगे पैरोंका वन्दन किया ॥४१ ॥ जैसे छोटे होनेपर भी मणिका महा नील नाम निरर्थक नहीं होता, वैसे ही बालक राजा सुदर्शनका महाराज नाम भी उन्हें फबता था ॥ ४२ ॥ उनके आस-पास चँवर डुलाए जाते थे और उनके गालोंपर लटें लटकती रहती थीं। इस बालक अवस्थामें भी उन्होंने जो आज्ञाएँ दीं उन्हें समुद्रके तटवाले लोगोंने भी नहीं टाला, फिर पास रहनेवालोंकी तो बात ही क्या ॥४३॥ सोनेका पट्टा बँधे हुए अपने ललाटपर वे स्वयं तिलक लगाते थे और सदा हँसमुख रहते थे, पर संग्राममें शत्रुओंको नष्ट करके उन्होंने शत्रुओंकी स्त्रियोंके मुखपरका तिलक और उनकी मुस्कराहट दोनों छीन लीं ॥ ४४ ॥ वे सिरसके फूलसे भी अधिक सुकुमार थे इसलिये यद्यपि उन्हें गहने पहननेमें भी कष्ट होता था फिर भी उनमें आत्मशक्ति इतनी थी कि उन्होंने पृथ्वीके अत्यन्त भारी भारको सँभाल लिया ॥ ४५ ॥ अभी वे पटियापर भली भाँति अक्षर भी लिखना नहीं सीख पाए थे कि विद्वानोंके संसर्गसे वे दण्डनीति

और राजनीतिकी सारी बातें जान गए ॥४६॥ बालक राजाके हृदयको अभी छोटा समझकर लक्ष्मी उनके युवा होनेकी आशा लगाए बैठी थीं पर बीच-बीचमें छत्रकी छाया बनकर उनका आलिङ्गन कर ही लेती थीं मानो छोटा पति होनेके कारण उनसे खुलकर गले लगने में लजा रही हों ॥ ४७ ॥ यद्यपि उनकी भुजा जुएके समान मोटी और लम्बी नहीं हुई थी, धनुषकी डोरी खींचनेसे कड़ी भी नहीं हो पाई थी और तलवारकी मूठ भी नहीं छू सकी थी फिर भी उसने पृथ्वीकी रक्षा भली भाँति कर ली ॥ ४८ ॥ कुछ ही दिनों में केवल उनके शरीरके अंग ही नहीं बढ़े वरन् उनके वे वंश-परम्परावाले गुण भी बढ़े जो पहले छोटे ही थे और जो प्रजाको बहुत प्यारे लगते थे ॥४९॥ उन्होंने धर्म अर्थ और काम फल देनेवाली त्रयी (तीनों वेद) वार्ता (कृषि) और दण्डनीति तीनों विद्याओंको इतनी शीघ्रतासे सीख लिया मानो पूर्व जन्ममें ही वे उन्हे पढ़ चुके हों। साथ ही अपने पिताकी प्रजाको भी उन्होंने अपने वशमें कर लिया ॥ ५० ॥ जब वे धनुर्विद्या सीखते समय अपने शरीरका ऊपरी भाग कुछ आगे बढ़ा देते थे, बाल ऊपर बाँध लेते थे, बाईं जाँघ कुछ झुका लेते थे और बाण चढ़ाकर धनुषकी डोरी कान-तक खींचते थे उस समय वे बड़े सुन्दर लगते थे ॥५१॥ तब सुदर्शनके शरीरमें वह जवानी आ गई जो स्त्रियोंकी आँखोंकी मदिरा होती है, शरीरकी स्वाभाविक शोभा होती है और विलासका पहला अड्डा होता है ॥५२॥ दूतियाँ भिन्न-भिन्न राजधानियों में जाकर सुन्दर-सुन्दर राजकुमारियोंका चित्र ले आईं और राजाको सन्तान होनेकी इच्छासे मन्त्रियोंने चित्रसे बढ़कर सुन्दरी उन राजकुमारियोंका महाराज सुदर्शनसे विवाह करा दिया। विवाह हो जानेपर वे सब राजकुमारियाँ, राजाकी पहली रानियोंकी, पृथ्वीकी और राजलक्ष्मीकी सौतके समान हो गईं ॥ ५२ ॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यमें वंशानुक्रम नामका अठारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।



उन्नीसवाँ सर्ग

विद्वान् राजा सुदर्शनने बुढ़ापेमें अपने अग्निके समान तेजस्वी पुत्र अग्निवर्णको राजा बना दिया और स्वयं नैमिषारण्यमें रहने लगे ॥ १ ॥ वहाँ वे तीर्थ-जलके आगे घरकी बावलियोंको, भूमिपर बिछे हुए कुशके आगे राजसी पलंगको तथा कुटियाके आगे बड़े बड़े महलोंको भूल गए और फलकी इच्छा छोड़कर तप करने लगे ॥२॥ पितासे पाई हुई पृथ्वीका पालन करनेमें अग्निवर्णको कोई कठिनाई नहीं हुई क्योंकि उनके पिताने शत्रुओंको पहले ही हरा दिया था। इसलिये इन्हें तो केवल भोग करनेके लिये ही राज्य मिला था, राज्यके शत्रुओंको मिटानेके लिये नहीं ॥ ३ ॥ इसका फल यह हुआ कि अग्निवर्ण कामुक हो गए। कुछ दिनोंतक तो उन्होंने स्वयं राजकाज देखा पर फिर मन्त्रियोंपर राज्यका भार डालकर जवानीका रस लेने लगे ॥ ४ ॥

वह कामी राजा कामिनियोंके साथ उन भवनोंमें दिन रात पड़ा रहने लगा जिनमें बराबर मृदंग बजते रहते थे और प्रतिदिन एकसे एक बढ़कर ऐसे उत्सव होते रहते थे कि अगले दिनके उत्सवके धूम-धड़ाकेके आगे पहले दिनका उत्सव फीका पड़ जाता

था ॥ ५ ॥ उसे ऐसा चसका लग गया कि वह क्षण भर भी भोग-विलासके बिना नहीं रह सकता था। इसलिये वह सदा रनिवासके भीतर रहकर ही विहार करने लगा। उसके दर्शनके लिये जनता अधीर रहती थी पर वह कभी उनकी सुध नहीं लेता था ॥६॥ यदि कभी मन्त्रियों के कहने-सुननेसे वह प्रजाको दर्शन भी देता तो बस इतना ही कि झरोखेसे एक पैर बाहर लटका देता था ॥७॥ राजकर्मचारी उनके नखोंकी लालीवाले उस चरणका नमस्कार करके आराधना करते थे जो प्रभातकी लाल किरणों से भरे हुए कमलके समान था ॥ ८ ॥ वह महाकामी राजा उन बावलियों में सुन्दर स्त्रियों के साथ विहार करता था जिनमें विलास-घर भी बने हुए थे। स्त्रियों के ऊँचे ऊँचे स्तन जब बावलीके कमलों से टकराते थे तब वे कमल हिलने लगते थे ॥ ९ ॥ जलमें स्नान करनेसे जब उन स्त्रियोंकी आँखोंका अञ्जन छूट जाता था और ओठों पर लगी हुई लाली धुल जाती थी तब उनकी स्वाभाविक सुन्दरताको देखकर वह और भी अधिक मोहित हो उठता था ॥ १० ॥

हाथी जैसे खिली हुई कमलिनियोंकी गन्धसे भरे सरोवरमें हथिनियों के साथ पैठता है, वैसे ही अग्निवर्ण भी सुन्दरी स्त्रियों के साथ मद्यके गंधमें बसी हुई पानशाला या मदिराघरमें पहुँचता था ॥११॥ वहाँ पे स्त्रियाँ अग्निवर्णका जूठा मदकारी आसव बड़े प्रेमसे पीती थीं। जैसे मौलसिरीका पेड़ स्त्रियोंके मुखका आसव पानेको तरसा करता है उसी प्रकार उन स्त्रियों के मुखसे आसव पीनेकी इच्छा करनेवाला अग्निवर्ण भी उनके मुँहका आसव पिया करता था ॥ १२ ॥ गोदमें बैठाने योग्य दो ही तो वस्तुएँ हैं—एक तो मनोहर शब्दवाली वीणा और दूसरी मधुर-भाषिणी कामिनी। इन दोनों ने उसकी गोदको सदा भरपूर रक्खा ॥ १३ ॥

जब नर्तकियों के नाचते समय वह स्वयं मृदंग बजाने लगता था तब उसके गलेकी माला हिल उठती थी। उस समय वह ऐसा सुन्दर लगता था कि नर्तकियाँ सुध-बुध खोकर नाचना भी भूल जातीं थीं। इसका फल यह होता था कि उन्हें नाचना सिखानेवाले उनके जो गुरु वहाँ बैठे रहते थे उनके आगे वे अपनी इस बातपर लज्जा

जाती थीं ॥ १४ ॥ जब नृत्य समाप्त हो जाता था और नाचनेके परिश्रमसे उनके मुखपर पसीनेकी बूँदें छा जाती थीं तब राजा अग्निवर्ण प्रेमपूर्वक फूँक मार-मारकर उनके मुखको चूमने लगता था। उस समय वह समझता था कि मैं इन्द्र और कुबेर से भी बढ़कर सुखी और भाग्यवान् हूँ ॥ १५ ॥

वह सदा नई-नई भोगकी सामग्रियाँ चाहता था। जिस वस्तुसे उसका मन भर जाता था उसे वह छोड़ देता था। इसलिये स्त्रियाँ संभोगके समय राजासे आधी ही रति करके उठ खड़ी होतीं, पूरी नहीं। क्योंकि उन्हें डर था कि यदि राजा पूर्ण रूपसे तृप्त हो जायगा तो हमें छोड़ देगा ॥ १६ ॥ कभी-कभी जब वह राजा इन कामिनियोंको धोखा या चकमा दे जाता था तब वे बिगड़कर अपनी लाल-लाल उँगलियोंको चमकाकर धमकाती थीं, भौंहे तरेरती थीं और राजाको अपनी करधनीसे बाँध देती थीं ॥ १७ ॥

जिस दिन रातको उसे किसी स्त्रीसे संभोग करने जाना होता तो दूतीसे सब बातें बताकर वह पास ही छिपकर बैठ जाता। वह स्त्री जब आती और विप्रलब्धा नायिकाके समान दूतीसे विरहकी इस प्रकार बातें करने लगतीं कि पता नहीं वे कब आवेंगे, अभीतक आए क्यों नहीं इत्यादि, तब वह उन बातोंको छिपे-छिपे बड़े प्रेमसे सुनता था ॥ १८ ॥ जब कभी उसे रानियाँ रोक लेतीं, तब नर्तकियोंके न मिलनेसे विरह-कातर हो जाता और हाथमें तूलिका लेकर किसी नर्तकीका चित्र बनाने लगता था। उस समय उसे वह नर्तकी स्मरण हो आती और सात्विक भावके कारण उसकी उँगलियोंमें पसीना आ जाता और कूँची फिसल पड़ती थी। इस प्रकार वह बड़ी कठिनाईसे चित्र बना पाता था ॥ १९ ॥ यदि राजा किसी रानीसे प्रेम करता तो वह गर्वसे फूली न समाती। यह देखकर उसकी सौतें जल उठती थीं और कामातुर हो जाती थीं और किसी उत्सवका बहाना करके राजाको अपने यहाँ बुलाकर उसके साथ अपनी तपन बुझाती थीं ॥ २० ॥

रातमें बाहर किसी स्त्रीसे संभोग करके जब राजा प्रातःकाल घर लौटता था तब रातके भोगवाले सुन्दर वेशमें उसे देखकर उसकी

प्रेमिकाएँ खंडिता नायिकाके समान आँसू बहाने लगती थीं तब राजा हाथ जोड़कर उन्हें मना लेता था। पर जब रातकी थकावटके कारण वह उनसे भरपूर प्रेम नहीं करता था तो वे फिर व्याकुल हो उठती थीं॥ २१ ॥ जब स्त्रियाँ देखतीं कि राजा स्वप्नमें बड़बड़ाते हुए किसी दूसरी स्त्रीकी बड़ाई कर रहा है तब वे कामिनियाँ बिना बोलें ही बिस्तरके कोनेपर आँसू गिराती हुई, क्रोधसे कंगन तोड़कर उनसे पीठ फेरकर सो जाती थीं और इस प्रकार उनसे रूठ जाती थीं ॥२२॥ कभी-कभी दूतियाँ राजाको मार्ग दिखाती हुई उस स्थानपर ले जातीं जहाँ लताओंके बीचमें सम्भोगके लिये फूलोंकी सेज बिछी रहती थी। उस समय उसे यह डर होता कि कहीं ये दासियाँ जाकर रानियोंसे न कह दें। इसलिये दासियोंको फुसलानेके लिये वह उन दासियोंसे सम्भोग करके उन्हें प्रसन्न कर देता था ॥२३॥ कभी-कभी वह भूलसे स्त्रियोंके आगे किसी बाहरी प्रेमिकाका नाम ले लेता। उसे सुनकर वे स्त्रियाँ कहने लगतीं कि बड़ा अच्छा हुआ जो आपने अपनी प्रेमिकाका नाम बता दिया। धन्य है उसका भाग्य! पर क्या करें, हमारा भी तो लोभी मन नहीं मानता। आपको कैसे छोड़ दें? ॥२४॥ जब वह सोकर उठता तब उसका पलँग, फैले हुए केसरके चूर्णसे सुनहरा दिखाई देता था। उसपर फूलोंकी मसली हुई मालाएँ और टूटी हुई तगड़ियाँ पड़ी रहती थीं और जहाँ-तहाँ महावरकी छाप पड़ी रहती थी, जिसे देखकर यह प्रकट होता था कि वह कितना विलासी है ॥२५॥ कभी-कभी वह स्त्रियोंके पैरोंमें स्वयं महावर लगाने बैठ जाता। पर उसी समय उसकी दृष्टि स्त्रियोंके उन नितम्बोंपर पड़ जाती थी जिनपरसे कपड़ा सरका हुआ रहता था। उन्हें देखकर वह ऐसा मुग्ध हो जाता कि भली भाँति महावर भी नहीं लगा पाता था ॥२६॥ सम्भोगके समय जब वह स्त्रियोंके ओठ चूमने लगता तब वे मुँह फेर लेती थीं और जब कमरका नाड़ा खोलने लगता तब हाथ थाम लेतीं। इस प्रकार वह जो कुछ करना चाहता, स्त्रियाँ कुछ भी नहीं करने देती थीं, फिर भी उसका काम बढ़ता ही गया ॥२७॥ जब कभी स्त्रियाँ दर्पणके आगे खड़ी होकर दाँत काटने या चूँटने आदि सम्भोगके चिह्नोंको देखने लगती थीं, तब राजा उनके पीछे

चुपकेसे आकर खड़ा हो जाता और मुसकरा देता। जब दर्पणमें उसका प्रतिबिम्ब स्त्रियाँ देख लेतीं तब वे झेंपकर मुँह नीचा कर लेती थीं ॥२८॥ जब वह प्रातःकाल पलँगसे उठकर जाने लगता तब स्त्रियोंकी इच्छा होती कि बिछुड़नेके पहले राजा एक बार गलेमें बाहें डाल कर चूम तो ले ॥२९॥ वह राजा इन्द्रके वस्त्रोंसे भी सुन्दर अपने राजसी वस्त्रको दर्पणमें देखकर उतना प्रसन्न नहीं होता था जितना संभोगके चिह्नोंको देखकर ॥३०॥ कभी-कभी अपनी रानियोंके पास बैठे-बैठे उसके मनमें किसी प्रियतमाके पास जानेकी इच्छा होती तो वह यह कहकर उठने लगता—अरे मुझे एक मित्रसे मिलने जाना है। यह सुनकर रानियाँ ताड़ जातीं और कहने लगतीं कि हम भी भली भाँति जानती हैं कि तुम किस मित्रके यहाँ जा रहे हो और फिर बाल पकड़कर उसे रोक लेतीं ॥३१॥ जब कभी उसके साथ बहुत देरतक संभोग करनेके कारण स्त्रियाँ अलसा जाती थीं तब वे अपने मोटे-मोटे स्तनोंसे राजाकी छातीके चन्दनको पोंछती हुई उसके वक्षःस्थलपर इस प्रकार सो जाती थीं मानो वे संभोगका वह कंठसूत्र नामका आसन साध रही हों जिसमें स्त्रियाँ पतिके ऊपर सोकर अपने स्तनोंसे धीरे-धीरे अपने प्रियतमकी छातीको थपकते हुए कसकर छातीसे लिपट जाती हैं ॥३२॥ रातको वह संभोगकी इच्छासे छिपकर जब बाहर जानेको होता था तो दूतियोंसे समाचार पाकर उसकी स्त्रियाँ उसके आगे पहुँच जाती थीं और यह कहते हुए खींच लाती थीं कि कहिए चकमा देकर रातको किधर चले ॥३३॥ स्त्रियोंके स्पर्शसे उसे वैसा ही आनन्द मिलता था जैसा चन्द्रमाकी किरणोंसे। अत वह कुमुदोंके समान रातभर जागता रहता और दिनभर सोता रहता ॥३४॥ उसने गानेवाली स्त्रियोंके ओठोंपर अपने दाँतके और उनकी जाँघोंपर चूँट-चूँटकर नखोंके ऐसे घाव कर दिए थे कि जब वे अपने अधरोंपर बाँसुरी और जाँघपर वीणा रखतीं तब उन्हें बड़ा कष्ट होता और वे टेढ़ी भौंहोंसे राजाकी ओर देखने लगती थीं कि यह सब आपकी ही करतूत है। उनकी यह भावभंगी देखकर राजा और भी मोहित हो जाता था ॥३५॥ इतना ही नहीं, जब वह एकान्तमें स्त्रियोंको आंगिक, सात्त्विक और वाचिक तीनों प्रकारका अभिनय

सिखाकर अपने मित्रोंके आगे उनका प्रदर्शन करता था उस समय वह बड़े-बड़े नाट्यशास्त्रियोंके भी कान काटता था ॥३६॥ वर्षा ऋतुमें वह कुटज और अर्जुनकी माला गलेमें पहनकर तथा शरीरमें कदम्बके परागका अंगराग लगाकर, मतवाले मोरोंसे भरे हुए क्रीड़ा पर्वतोंपर विहार किया करता था ॥३७॥ जब पलँगपर सोई हुई स्त्रियाँ रूठकर पीठ फेरकर सो जाती थीं तब राजा उन्हें मनाना नहीं चाहता था, वरन् यह चाहता था कि किसी प्रकार बादल गरज उठे जिससे डरकर ये मेरी छातीसे आ चिपटें ॥३८॥ कार्तिककी रातोंमें वह राजभवनके ऊपर चँदोवा तनवा देता था और सुन्दरियोंके साथ उस चाँदनीका आनन्द लेता था जो संभोगका श्रम दूर करती है और जो बादलोंके न रहनेसे बराबर फैली रहती है ॥३९॥ वह अपने राजभवनके झरोखेसे सरयूको देखता था जिसके तटपर उजले हंसोंकी पाँतें बैठी रहती थीं। वह दृश्य ऐसा दिखाई देता था मानो सरयू, उन सुन्दरियोंका अनुकरण कर रही हो जिनके नितम्बोंपर तगड़ी पड़ी हो ॥४०॥ पतला कमरवाली स्त्रियाँ जाड़ेके ऐसे कपड़े पहनती थीं जो माड़ीके कारण करकराते थे और जिनके नीचे झलकती हुई सोनेकी तगड़ीको बाँधने और खोलनेके लिये लालायित रहनेवाला वह राजा मोहित हो जाता था ॥ ४१ ॥ सब प्रकारकी संभोग-क्रीड़ा करने योग्य हेमन्त ऋतुकी बड़ी-बड़ी रातोंमें वह राज-भवनकी उन भीतरी कोठियोंमें विहार किया करता था जहाँ उसके साक्षी केवल वे दीप थे जो वायुके न आनेसे एकटक होकर सब कुछ देख रहे थे ॥४२॥ मलय पर्वतसे आए हुए दक्षिणी पवनसे आमोंमें बौर छा गए जिन्हें देखकर प्रेमिकाओंने कामोन्मत्त होकर राजासे रूठना छोड़ दिया और उनके विरहमें व्याकुल होकर स्वयं उन्हें ढूँढने लगीं ॥४३॥ उन स्त्रियोंको गोदमें बैठाकर वह उन झूलोंमें झूलने लगा जिन्हें नौकर झुला रहे थे। राजाने एक बार झूलेको जो झटका दिया तो उन स्त्रियोंने भयका बहाना करके रस्सी छोड़ दी और राजाके गलेमें बाँह डालकर उससे लिपट गईं ॥४४॥ ग्रीष्म ऋतुमें स्तनोंपर चन्दन लगाकर, मोतियोंका आभूषण पहनकर और नितम्बपर मणिकी तगड़ी लटकाकर वे स्त्रियाँ उस राजाके

साथ संभोग करके उसे प्रसन्न करती थीं ॥४५॥ उस समय वह आम की बौर और पाटलका लाल फूल पात्रमें लगाकर आसव पीता था जिससे वसन्त बीतनेसे मंद पड़ा हुआ उसका काम फिर जाग उठता था ॥४६॥ इस प्रकार वह कामी राजा राज-काज छोड़कर इन्द्रिय-सुखोंका रस लेता हुआ ऋतुएँ बिताने लगा। वह काम-क्रीड़ाके लिये भिन्न-भिन्न ऋतुओं में भिन्न-भिन्न प्रकारका वेश बनाया करता था, इसलिये उसके वेशको देखकर ज्ञात हो जाता था कि किस समय कौनसी ऋतु है ॥४७॥

इतना व्यसनमें लीन होनेपर भी दूसरे राजा उसके राज्यपर आक्रमण नहीं करते थे। फिर भी जैसे दक्षके शापसे चन्द्रमाको क्षय रोग हो गया था वैसे ही अधिक भोग-विलास करनेसे उसे भी क्षय रोग हो गया और धीरे-धीरे बढ़ने लगा ॥ ४८ ॥ वैद्यों के बार-बार रोकनेपर भी उसने कामको जगानेवाली ये वस्तुएँ नही छोड़ीं, क्यों कि जब इन्द्रियाँ एक बार विषयों में फँस जाती हैं तब उन्हें रोकना कठिन हो जाता है ॥४९॥ धीरे-धीरे उसका शरीर पीला पड़ गया, दुर्बलताके कारण उसने आभूषण पहनना भी छोड़ दिया, वह नौकरों के कन्धेपर सहारा देकर चलने लगा, उसकी बोली धीमी पड़ गई और यक्ष्मा रोगसे सूखकर वह ठीक विरहियों-के समान दिखाई देने लगा ॥५०॥ राजाके क्षय रोगसे रोगी होनेपर सूर्यकुल ऐसा रह गया जैसे एक कला भर बचा हुआ कृष्ण पक्षकी चतुर्दशीका चन्द्रमा हो या कीचड़ भर बचा हुआ गर्मीके दिनोंका ताल हो या तनिक-सी बची हुई दीपककी लौ हो ॥५१॥ जब प्रजा पूछती थी कि राजाको कोई भयानक रोग तो नहीं है, उस समय मन्त्री लोग प्रजाको यह कहकर समझाते थे कि राजा इस समय पुत्रोत्पत्तिके लिये व्रत आदि कर रहे हैं, इसीलिये दुबले होते जा रहे हैं। इस प्रकार वे लोग राजाके रोगकी बात जनतासे छिपा रहे थे ॥५२॥

अनेक रानियोंके होते हुए भी वह राजा पुत्रका मुँह नहीं देख सका और वैद्य लोग राजाको अच्छा नहीं कर सके। जैसे वायुके आगे दीपकका कुछ भी वश नहीं चलता वैसे ही राजा भी रोगसे

नहीं बचाया जा सका ॥५३॥ अन्त्येष्टिकी विधि जाननेवाले पुरोहितसे मिलकर मंत्रियों ने रोग-शान्तिके बहानेसे राजाके शवको राजभवनके उपवनमें ही चुपचाप जलती अग्निमें रख दिया कि कहीं बाहर ले जानेसे यह रोग प्रजामें न फैल जाय ॥५४॥

मन्त्रियों ने शीघ्र ही प्रजाके नेताओंको इकट्ठा किया और उनकी सम्मतिसे राजाकी उस पटरानीको सिंहासनपर बैठा दिया जिसमें गर्भके शुभ चिह्न दिखाई दे रहे थे ॥५५॥

राजाकी ऐसी दुःखद मृत्युसे महारानीकी आँखों के गरम गरम आँसुओं से तपे हुए गर्भपर जब कुल-परम्पराके अनुसार होने वाले अभिषेकके समय सोनेके घड़ेसे शीतल जल पड़ा तब वह गर्भ शीतल हो गया ॥५६॥

जैसे सावनमें बोए हुए मुट्ठी भर बीजोंको पृथ्वी छिपाए रहती है वैसे ही महारानी भी अपनी उस प्रजाकी भलाईके लिये गर्भ धारण किए हुए थीं जो पुत्र उत्पन्न होनेकी बाट जोह रही थी। इस प्रकार जिसका कहना कोई टाल नहीं सकता था वह गर्भवता महारानी वृद्ध मन्त्रियोंकी सम्मतिके अनुसार राजकाज चलाने लगी।

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यमें अग्निवर्णका शृंगार नामका उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

॥ रघुवंश महाकाव्य समाप्त हुआ ॥



॥ श्री ॥

कुमारसंभव

पहला सर्ग

भारतके उत्तरमें देवताके समान पूजनीय हिमालय नामका बड़ा भारी पहाड़ है। वह पूर्व और पश्चिमके समुद्रों तक फैला हुआ ऐसा लगता है मानो वह पृथ्वीको नापने-तौलनेका मापदंड हो ॥१॥ राजा पृथुके कहनेसे सब पर्वतों ने मिलकर इसे बछड़ा बनाया और दूहने में चतुर मेरु पर्वतको दूहनेवाला बनाकर पृथ्वी-रूपी गौसे सब चमकीले रत्न और जड़ी-बूटियाँ दूहकर निकाल लीं ॥ २ ॥ इस अनगिनत रत्न उत्पन्न करनेवाले हिमालयकी शोभा हिमके कारण कुछ कम नहीं हुई क्योंकि जहाँ बहुतसे गुण हों वहाँ यदि एक-आध अवगुण भी आ जायँ तो उसका वैसे ही पता नहीं चल पाता जैसे चन्द्रमाकी किरणों में उसका कलंक छिप जाता है ॥३॥ हिमालयकी कुछ चोटियोंपर गेरु आदि धातुओंकी अनेक रंग-बिरंगे चट्टानें हैं। इसलिये कभी-कभी उन चट्टानों के पास पहुँचे हुए बादलों के टुकड़े उनके रंगकी छाया पड़नेसे सन्ध्याके बादलों जैसे रंग-बिरंगी दिखाई पड़ने लगते हैं। उन्हें देखकर सन्ध्या होनेके पहले ही वहाँकी अप्सराओंको यह भ्रम हो जाता है कि सन्ध्या हो गई और इस हड़बड़ीमें वे सायंकालके नाच-गानके लिये अपना शृंगार करना प्रारम्भ

कर देती हैं ॥ ४ ॥ इसकी कुछ चोटियाँ इतनी ऊँची उठी हैं कि मेघ भी उनके बीचतक ही पहुँचकर रह जाते हैं, उनके ऊपरका आधा भाग मेघोंके ऊपर निकला रहता है। इसलिये निचले भागमें छायाका आनन्द लेनेवाले सिद्ध लोग जब अधिक वर्षा होनेसे घबड़ा उठते हैं, तब वे बादलोंके ऊपर उठी हुई उन चोटियोंपर जाकर रहने लगते हैं जहाँ उस समय धूप बनी रहती है ॥ ५ ॥ यहाँ के सिंह जब हाथियोंको मारकर चले जाते हैं तब रक्तसे लाल उनके पंजोंकी पड़ी हुई छाप हिमकी धारासे धुल जाती है। फिर भी उन सिंहों के नखों से गिरी हुई गज-मुक्ताओंको देखकर ही यहाँके किरात पता चला लेते हैं कि सिंह किधर गए हैं ॥ ६॥ इस पर्वतपर उत्पन्न होनेवाले जिन भोज पत्रोंपर लिखे हुए अक्षर हाथीके सूँड़पर बनी हुई लाल बुँदकियों जैसे दिखाई पड़ते हैं उन्हें विद्याधरियाँ अपने प्रेम-पत्र लिखनेके काममें लाया करती हैं ॥ ७ ॥ इस पहाड़पर ऐसे छेदवाले बाँस बहुतायतसे होते हैं जो वायु भर जानेपर बजने लगते हैं। तब ऐसा जान पड़ता है मानो ऊँचे स्वरसे गानेवाले किन्नरोंके गानेके साथ ये संगत कर रहे हों ॥ ८ ॥ जब यहाँके हाथी अपनी कनपटी खुजलानेके लिये देवदारुके पेड़ों से माथा रगड़ते हैं तब उनसे ऐसा सुगन्धित दूध बहने लगता है कि उसकी महकसे इस पर्वतकी सभी चोटियाँ एक साथ गमक उठती हैं ॥ ९ ॥ यहाँकी गुफाओंमें रातको चमकनेवाली जड़ी-बूटियाँ भी बहुत होती हैं। इसलिये यहाँके किरात लोग जब अपनी-अपनी प्रियतमाओंके साथ उन गुफाओंमें विहार करने आते हैं तब ये चमकनेवाली जड़ी-बूटियाँ ही उनकी काम-क्रीड़ाके समय बिना तेलके दीपक बन जाती हैं ॥ १० ॥ यहाँकी किन्नरियाँ जब जमे हुए हिमके मार्गोंपर चलती हैं तब उनकी उँगलियाँ और एड़ियाँ ऐंठ जाती हैं, पर वे करें क्या? अपने भारी नितम्बों और स्तनोंके बोझके मारे वे बेचारी शीघ्रतासे चल नहीं पातीं और चाहते हुए भी वे अपनी स्वाभाविक मन्द गतिको नहीं छोड़ पातीं ॥ ११ ॥ हिमालयकी लम्बी गुफाओंमें दिनमें भी अँधेरा छाया रहता है। ऐसा लगता है मानो अँधेरा भी दिनसे डरनेवाले उल्लूके समान इसकी गहरी गुफाओंमें जाकर

दिनमें छिप जाता है और हिमालय उसे अपनी गोदमें शरण दे देता है। क्योंकि जो महान् होते हैं वे अपनी शरणमें आए हुए नीच लोगों से भी वैसा ही अपनापन बनाए रखते हैं जैसा सज्जनों के साथ ॥ १२ ॥ जिन हरिणियोंकी पूँछों के चँवर बनते हैं वे चमरी हरिणियाँ जब यहाँ चन्द्रमाकी किरणों के समान अपनी धौली पूँछोंको इधर-उधर घुमाती हुई चलती हैं तब ऐसा प्रतीत होता है मानो वे इस पर्वतराजपर पूँछके चँवर डुलाकर इसका गिरिराज नाम सच्चा कर रही हों ॥ १३ ॥ जब यहाँकी गुफाओं में किन्नरियाँ अपने प्रियतमों के साथ काम-क्रीड़ा करती रहती हैं उस समय जब वे शरीरपरसे वस्त्र हट जानेके कारण लजाने लगती हैं तब बादल उन गुफाओं के द्वारोंपर आकर ओट करके अँधेरा कर देते हैं ॥ १४ ॥ गंगाजीके झरनों की फुहारों से लदा हुआ, बार-बार देवदारुके वृक्षको कँपानेवाला और किरातोंकी कमरमें बँधे हुए मोरपंखोंको फरफरानेवाला यहाँका शीतल-मन्द-सुगन्ध पवन उन किरातोंकी थकान मिटाता चलता है जो मृगोंकी खोजमें हिमालयपर इधर-उधर घूमते रहते हैं ॥ १५ ॥ इसकी ऊँची चोटियोंपरके तालों में खिलनेवाले कमलोंको स्वयं सप्तर्षिगण पूजाके लिये अपने सप्तर्षि मण्डलसे आकर तोड़ ले जाया करते हैं। उनके चुननेसे जो कमल बच रहते हैं उन्हें नीचे उदय होनेवाला सूर्य अपनी किरणें ऊँची करके खिलाया करता है ॥ १६ ॥

यज्ञमें काम आनेवाली सामग्रियोंको उत्पन्न करनेके कारण और पृथ्वीको सँभाले रखनेकी शक्ति होनेके कारण इस हिमालयको स्वयं ब्रह्माजीने उन पर्वतोंका स्वामी बना दिया जिन्हें यज्ञमें भाग पानेका अधिकार मिला हुआ है ॥ १७ ॥

सुमेरुके मित्र और मर्यादा जाननेवाले हिमालयने अपना वंश चलानेके लिये मेना नामकी उस कन्यासे शास्त्रके अनुसार विवाह किया जो पितरों के मनसे उत्पन्न हुई थी, जिसका मुनि लोग भी आदर करते हैं और जो हिमालयके समान ही ऊँचे कुल और शीलवाली थी ॥ १८ ॥

विवाह हो जानेपर हिमालय और मेना दोनों ने मनचाहा भोग-

विलास किया और कुछ ही दिनोंमें हिमालयकी वह सुन्दर और युवती पत्नी मेना गर्भवती हो गई ॥ १९ ॥

मेनाके उस गर्भसे मैनाक नामका वह प्रतापी पुत्र उत्पन्न हुआ जिसने नाग-कन्याके साथ विवाह किया, समुद्रके साथ मित्रता की और जिसने पर्वतोंके पंख काटनेवाले इन्द्रके क्रुद्ध होनेपर भी उनके वज्रकी चोट अपने शरीरको नहीं लगने दी ॥ २० ॥

मैनाकके जन्मके कुछ ही दिनों पीछे ऐसा हुआ कि महादेवजीकी पहली पत्नी और दक्षकी कन्या परम साध्वी सतीने अपने पितासे अपमानित होनेके कारण योग-बलसे अपना शरीर छोड़ दिया और दूसरा जन्म लेनेके लिये वे मेनाकी कोखमें आ बसीं ॥ २१ ॥ और जैसे ठीक ठीक काममें लाई जानेसे न बिगड़नेवाली नीति, उत्साहका मेल पाकर बड़ी सम्पत्ति उत्पन्न करती है, वैसे ही हिमालयने पतिव्रता मेनासे उन कल्याणीको जन्म दिया ॥ २२ ॥

उनके जन्मके दिन आकाश खुला हुआ था। पवनमें धूलका नाम भी नहीं था, आकाशसे शंख बजनेके साथ-साथ फूल बरस रहे थे और चर-अचर सभी उनके जन्मसे प्रसन्न हो उठे थे ॥ २३ ॥

जैसे नये मेघके गरजनेपर विदूर पर्वतके रत्नोंमें अंकुर फूट आते हैं और उनके प्रकाशसे विदूर पर्वतकी भूमि चमक उठती है वैसे ही तेजोमण्डलसे भरे मुखवाली उस कन्याको गोदमें पाकर मेना भी खिल उठीं ॥ २४ ॥

धीरे-धीरे पार्वतीजी चन्द्रकलाके समान दिन-दिन बढ़ने लगीं, और जैसे चाँदनीके बढ़नेके साथ साथ चन्द्रमाकी और सभी कलाएँ भी बढ़ने लगती हैं वैसे ही ज्यों-ज्यों पार्वतीजी बढ़ने लगीं त्यों त्यों उनके सुन्दर अंग भी सुडौल होकर बढ़ने लगे ॥ २५ ॥

पर्वतसे उत्पन्न होनेके कारण पिताने और कुटुम्बियोंने सबकी दुलारी उस कन्याको पार्वती कहकर पुकारना आरम्भ कर दिया। पीछे जब पार्वतीको उनकी माताने उ मा [उ=हे (वत्से) मा= (तप) मत करो।] कहकर तपस्या करनेसे रोका था तबसे उनका नाम उमा पड़ गया था ॥ २६ ॥

जैसे भौंरोंकी पाँत वसन्तके ढेरों फूलोंको छोड़कर आमकी मंज-

रियोंपर ही झूमती रहती हैं वैसे ही अनेक संतानों के होते हुए भी हिमवानकी आँखें पार्वतीको देखकर अघाती नहीं थीं ॥ २७ ॥

जैसे अत्यन्त प्रकाशमान लौको पाकर दीपक, मन्दाकिनीको पाकर स्वर्गका मार्ग और व्याकरणसे शुद्ध वाणी पाकर विद्वान् लोग पवित्र और सुन्दर लगने लगते हैं वैसे ही पार्वतीजीको पाकर हिमवान भी पवित्र और सुन्दर हो गए ॥ २८ ॥

पार्वतीजी अपनी सखियों के साथ कभी तो गंगाजीके बलुए तटपर वेदियाँ बनाती थीं, कभी गेंद खेलती थीं और कभी गुड़ियाँ बना-बनाकर सजाती थीं। इस प्रकार उनका पूरा बचपन खेल-कूदमें निकल गया ॥ २९ ॥

जब अत्यन्त तीव्र बुद्धिवाली पार्वतीजीने पढ़ना प्रारंभ किया उस समय पूर्व जन्मकी सभी विद्याएँ उन्हें उसी प्रकार अपने-आप स्मरण हो आईं जैसे शरद् ऋतुके आ जानेपर गंगाजीमें हंस आ जाते हैं या जैसे अपने आप चमकनेवाली जड़ी-बूटियोंमें रातको चमक आ जाती है ॥ ३० ॥

इस प्रकार धीरे-धीरे उनका बचपन बीत गया और उनके शरीरमें वह यौवन फूट पड़ा जो शरीरकी लताका स्वाभाविक सिंगार है, जो मदिराके बिना ही मनको मतवाला बना देता है और जो कामदेवका बिना फूलोंवाला बाण है ॥ ३१ ॥

जैसे कूँचीसे ठीक-ठीक रंग भरनेपर चित्र खिल उठता है और सूर्यकी किरणोंका परस पाकर कमलका फूल हँस उठता है वैसे ही पार्वतीजीका शरीर भी नया यौवन पाकर बहुत ही खिल उठा ॥३२॥ जब वे चलती थीं तब उनके स्वाभाविक लाल और कोमल पैरों के उठे हुए अँगूठों के नखों से निकलनेवाली चमकको देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो वे पैर ललाई उगल रहे हों और जब वे अपने इन चरणोंको उठा-उठाकर रखती चलती थीं तब तो ऐसा जान पड़ता था मानो वे पग-पगपर स्थलकमल उगाती चल रही हों ॥ ३३ ॥

यौवनके भारसे झुकी हुई जब वे हाव-भावसे चलती थीं उस समय ऐसा जान पड़ता था मानो उनके बिछुओं से निकलनेवाली मधुर ध्वनिको सीखनेके लिये ललचाए हुए राजहंसों ने अपनी हाव-

भरी चाल उन्हें पहले ही बदलेमें सिखा दी हो ॥ ३४ ॥ उनके समूचे शरीरको सुन्दर बनानेके लिये ब्रह्माने सुन्दरताकी जितनी सामग्रियाँ इकट्ठी की थीं वे सब तो उनकी ठीक चढ़ाव उतारवाली, गोल और ठीक मोटाईवाली जाँघोंके बनानेमें ही समाप्त हो गईं। इसलिये शेष अंगोंको बनानेके लिये सुन्दरताकी और सामग्रियाँ फिर जुटानेमें ब्रह्माजीको बड़ा कष्ट उठाना पड़ा ॥३५॥ पार्वतीजीकी उन दोनों मोटी जाँघोंकी उपमा दो ही वस्तुओंसे दी जा सकती थी—एक तो हाथीकी सूँड़से और दूसरे केलेके खंभेसे। पर हाथीकी सूँड़ कड़ी होती है और केलेका खंभा बड़ा ठण्ढा होता है इसलिये पार्वतीजीकी बड़ी-बड़ी जाँघोंके जोड़की कोई भी ठीक वस्तु न मिल सकी ॥३६॥ उन अत्यन्त सुंदर अंगोंवालीके नितम्ब कितने सुन्दर रहे होंगे यह तो इसी बातसे आँका जा सकता है कि विवाह करनेपर स्वयं शिवजीने उन नितम्बोंको अपनी उस गोदमें रक्खा जहाँतक पहुँचनेकी कोई और स्त्री साध भी नहीं कर सकती ॥ ३७ ॥ नाड़ेके ऊपर गहरी नाभितक पहुँची हुई और नये यौवनके आनेके कारण बालोंकी जो नई उगी हुई पतली रेखा बन गई थी उसे देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो नाड़ेके ऊपर बँधी हुई उनकी तगड़ीके बीचोबीच जड़ा हुआ नीलम चमक उठा हो ॥ ३८ ॥ उन पतली कमरवाली और नये यौवनवालीके पेटपर तीन सिकुड़नकी रेखाएँ पड़ी हुई थीं जिन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो कामदेवको ऊपर स्तन आदि अंगोंतक चढ़ा ले जानेके लिये नये यौवनने सीढ़ी बना दी हो ॥ ३९ ॥ उन कमलके समान आँखोंवालीके, साँवली घुंडियोंवाले गोरे-गोरे दोनों स्तन बढ़कर आपसमें इतने सट गए थे कि उनके बीचमें इतना भी स्थान नहीं रह गया कि कमल नालका एक सूत भी उसमें समा सके ॥ ४० ॥ मेरी समझमें पार्वतीजीकी भुजाएँ सिरसके फूलसे भी अधिक कोमल थीं, इसीलिये तो फूलोंके अस्त्रवाले कामदेवने शिवजीसे हार जानेपर उनके गलेमें इन भुजाओंका फन्दा बनाकर डाल दिया था ॥ ४१ ॥ पार्वतीजीका गोल-गोल गला और उसमेंसे उनके ऊँचे स्तनों पर लटकता हुआ गोल मोतियोंका हार, दोनों एक दूसरेकी शोभा बढ़ा रहे थे। पार्वतीजीके कण्ठकी शोभा

हार बढ़ा रहा था और उस हारकी शोभा उनका कण्ठ बढ़ा रहा था ॥ ४२ ॥ जबतक वे उत्पन्न नहीं हुई थीं तबतक चंचल शोभा-वाली लक्ष्मी बड़ी दुविधामें पड़ी रहती थीं, क्योंकि रातको जब वे चन्द्रमामें पहुँचती थीं तब उन्हें कमलका आनन्द नहीं मिल पाता था और जब दिनमें वे कमलमें आ बसती थीं तब रातके चन्द्रमाका आनन्द उन्हें नहीं मिल पाता था। पर जबसे वे चन्द्रमा और कमल दोनों के गुणवाले पार्वतीजीके मुखमें आ बसीं तबसे उन्हें चन्द्रमा और कमल दोनोंका आनन्द एक साथ मिलने लगा ॥ ४३ ॥ उनके लाल-लाल ओठोंपर फैली हुई उनकी मुस्कुराहटका उजलापन ऐसा सुन्दर लगता था जैसे लाल कोंपलमें कोई उजला फूल रक्खा हुआ हो या स्वच्छ मूँगेके बीचमें मोती जड़ा हुआ हो ॥ ४४ ॥ वे मधुर वाणीवाली जब बोलने लगती थीं तब मानो अमृतकी धारा फूट निकलती थी। उनकी मीठी बोलीके आगे कोयलकी कूक कानों-को ऐसी कड़वी लगती थी जैसे किसी अनाड़ीने अनमिली वीणाके बेसुरे तार छेड़ दिए हों ॥ ४५ ॥

उन बड़ी बड़ी आँखोंवालीकी चितवन, आँधीसे हिलते हुए नीले कमलों के समान चंचल थी। उसे देखकर यह पता ही नहीं चल पाता था कि यह कला उन्होंने हरिणियों से सीखी थी या हरि-णियों ने ही उनसे सीखी थी ॥ ४६ ॥ उनकी लम्बी और मनोहर भौं हें ऐसी लगती थीं जैसे किसीने तूलिका लेकर बना दी हो। वे भौं हें इतनी सुन्दर थीं कि कामदेव भी अपने धनुषकी सुन्दरताका जो घमण्ड लिए फिरते थे वह इन भौंहों के आगे चूर-चूर हो गया ॥ ४७ ॥ उनके बाल इतने सुन्दर थे कि यदि पशु-पक्षियों में भी मनुष्यके समान लज्जा हुआ करती तो अपने बालोंपर इतराने-वाली चौंरी हरिणियाँ भी उनके बाल देखकर अपने चँवरोंपर इठलाना भूल जातीं ॥४८॥ पार्वतीजीको देखकर ऐसा जान पड़ता था कि संसारको बनानेवाले ब्रह्माजी पृथ्वीपरकी सारी सुन्दरता एकसाथ देखना चाहते थे। इसीलिये तो उन्होंने सुन्दर अङ्गोंकी उपमामें आने वाली सब वस्तुओंको जतनसे बटोरकर उन्हें पार्वतीजीके सब अङ्गोंपर यथास्थान सजाकर सुन्दरताकी मूर्त्ति पार्वतीजीको बनाया था ॥४९॥

अपने मनसे इधर-उधर घूमनेवाले नारदजी एक दिन घूमते-घामते हिमालयके यहाँ पहुँचे। वहीं हिमालयके पास उनकी कन्या भी बैठी थीं। उन्हें देखकर नारदजीने यह भविष्य वाणी की कि यह कन्या अपने प्रेमसे शिवजीके आधे शरीरकी स्वामिनी और उनकी अकेली पत्नी बनकर रहेगी ॥ ५० ॥

यद्यपि पार्वतीजी सयानी होती चली जा रही थीं पर नारदजीकी बातसे हिमालय इतने निश्चिन्त हो गए कि उन्होंने दूसरा वर खोजनेकी चिन्ता ही छोड़ दी। क्योंकि जैसे मन्त्रसे दी हुई हवनकी सामग्री, अग्निको छोड़कर और कोई नहीं ले सकता वैसे ही महादेवजीको छोड़कर पार्वतीजीको और कौन ग्रहण कर सकता था ॥ ५१ ॥

पर हिमालयने सोचा कि जबतक स्वयं महादेवजी कन्या माँगने नहीं आते तबतक उन्हें अपने-आप कन्या देने जाना ठीक नहीं जँचता। इसलिये जहाँ सज्जन लोगोंको निरादरका डर होता है वहाँ वे अपने काममें किसी बिचवईको साथ ले लेते हैं ॥ ५२ ॥

इधर जबसे सतीने अपने पिता दक्षके हाथों महादेवजीका अपमान होनेपर क्रोध करके यज्ञकी अग्निसे अपना शरीर छोड़ा था तभीसे महादेवजीने भी सब भोग-विलास छोड़ दिए थे और दूसरा विवाह भी नहीं किया ॥ ५३ ॥ और अपनी इन्द्रियोंको जीतनेवाले और खाल ओढनेवाले वे भगवान शङ्करजी कस्तूरीकी गन्धमें बसी हुई हिमालयकी एक ऐसी सुन्दर चोटीपर जाकर तप करने लगे जहाँके देवदारुके वृक्षोंको गङ्गाजीकी धारा सींचती थीं और जहाँ दिन-रात गन्धर्व गाते रहते थे ॥५४॥ और उनके आसपास ही सिरपर नमेरुके कोमल फूलोंकी माला बाँधे, शरीरपर भोजपत्रोंके कपड़े लपेटे और मैनसिलके रङ्गसे अपने शरीर रँगे हुए उनके प्रमथ आदि गण लोग शिलाजीतसे पुती हुई चट्टानोंपर बैठे रहते थे ॥ ५५ ॥

उनके साथ ही उनका गर्वीला नन्दी साँड़ भी रहता था जो गरजते हुए सिंहकी दहाड़को न सह सकनेके कारण जब अपने खुरोंसे हिमकी चट्टानोंको खूँदता हुआ डकार उठता था तब नील-गाएँ घबराकर उसे देखती रह जाती थीं कि यह सिंह जैसा गरजनेवाला दूसरा कौन आ पहुँचा ॥ ५६ ॥ उसी चोटीपर सब तपस्याओं

संसारका उत्पन्न करनेवाला बताते हैं ॥५॥ आप ही शिव, विष्णु और हिरण्यगर्भ इन तीन रूपों से अपनी शक्ति प्रकट करके संसारका नाश, पालन और उत्पादन करते हैं ॥ ६ ॥ आप ही जब स्त्री और पुरुषकी सृष्टि करने चलते हैं, उस समय आपके ही स्त्री और पुरुष दो रूप बन जाते हैं। वे ही दोनों रूप सारे संसारके माता-पिता कहे जाते हैं ॥ ७ ॥ आपने समयकी जो माप बना रक्खी है उसके अनुसार जो दिन और रात होते हैं, उसमें जब आप सोते हैं तब संसारका महाप्रलय हो जाता है और जब आप जागते हैं तब संसारकी सृष्टि होती है ॥८॥ संसारको आपने उत्पन्न किया है पर आपको किसीने उत्पन्न नहीं किया। आप संसारका अन्त करते हैं पर आपका कोई अन्त नहीं कर सकता। आपने संसारका प्रारम्भ किया है पर आपका कभी प्रारम्भ नहीं हुआ। आप संसारके स्वामी हैं पर आपका कोई स्वामी नहीं है ॥ ९ ॥ आप, अपने-आप ही अपनेको जानते हैं और अपने आप अपनेको उत्पन्न करते हैं और जब अपना काम पूरा कर चुकते हैं तब अपनेको अपनेमें ही लीन कर लेते हैं ॥ १० ॥ आप तरल भी हैं, कठोर भी हैं, मोटे भी हैं, पतले भी हैं, छोटे भी हैं, बड़े भी है, आप दिखाई भी देते हैं और नहीं भी दिखाई देते। इस प्रकार जितनी भी सिद्धियाँ हैं वे सब आपके हाथमें हैं। आप जैसा चाहे वैसा बन सकते हैं ॥ ११ ॥ आपने ही उस वेदकी वाणीको उत्पन्न किया है जिसका प्रारम्भ ॐकारसे होता है, जिसका उच्चारण उदात्त, अनुदात्त और स्वरित इन तीन स्वरों से होता है और जिसके मन्त्रों मे यज्ञ करके लोग स्वर्ग प्राप्त कर लेते हैं ॥ १२ ॥ आपको ही लोग धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके लिये मनुष्यको उकसानेवाली मूल प्रकृति कहते हैं और आप ही उस प्रकृतिका दर्शन करनेवाले उदासीन पुरुष भी माने जाते हैं ॥ १३ ॥ आप पितरों के भी पिता, देवताओं के भी देवता हैं, अच्छों से भी आप अच्छे हैं और सृष्टि करनेवाले प्रजापतियोंकी भी आप सृष्टि करनेवाले हैं ॥ १४ ॥ आप ही सदा हवनकी सामग्री भी हैं, और आप ही हवन करनेवाले भी हैं। आप ही भोगकी वस्तुएँ भी हैं और आप ही भोग करनेवाले भी हैं। आप ही जाननेके

योग्य हैं और आप ही जाननेवाले हैं। आप ही ध्यान करनेवाले हैं और आप ही वह सर्वश्रेष्ठ हैं जिनका ध्यान भी किया जाना चाहिए ॥ १५ ॥

देवताओंकी सच्ची और मनभावनी स्तुति सुनकर दयालु ब्रह्माजी जिस समय देवताओंसे बोलने लगे— ॥ १६ ॥ उस समय सबसे पुराने कवि ब्रह्माजीके चार मुँहोंसे निकली हुई वाणीने अपना चार—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—इन रूपोंवाली होना सच्चा कर दिया ॥ १७ ॥

ब्रह्माजी बोले—एक साथ मिलकर आए हुए, अपनी शक्तिसे अपने-अपने अधिकारोंकी रक्षा करनेवाले और बड़ी-बड़ी बाँहोंवाले हे शक्तिशाली देवताओ! मैं आप लोगोंका स्वागत करता हूँ ॥ १८ ॥ पर यह तो बताइए कि आप लोगोंके मुँहकी पहले जैसी कान्ति कहाँ चली गई। आप लोग कुहरेसे ढके हुए धुँधले तारेके समान उदास क्यों दिखाई दे रहे हैं ॥ १९ ॥ वृत्रको मारनेवाला और इन्द्र-धनुषके समान चमकीला वज्र भी आज चमक खोकर कुण्ठित-सा क्यों दिखाई दे रहा है ॥ २० ॥ और शत्रुओंको नाश करनेवाला यह वरुणदेवके हाथका फन्दा मन्त्रसे बँधे हुए साँपके समान इतना दीन क्यों दिखाई दे रहा है ॥ २१ ॥ कुबेरका यह बाहु भी गदाके बिना ऐसा क्यों लग रहा है जैसे कटी हुई शाखावाला वृक्षका ठूँठ हो। यह बता रहा है कि किसी बड़े तगड़े शत्रुसे हार जानेका काँटा इनके हृदयमें कसक रहा है ॥ २२ ॥ अपने निस्तेज दण्डसे पृथ्वीको कुरेदते हुए यमराज ऐसे क्यों लग रहे हैं मानो उनका करारा दण्ड भी बुझी हुई लूक जैसा बेकाम हो गया हो ॥२३॥ यह बारह आदित्य भी अपना तेज गँवाकर ठण्डे पड़े हुए, ऐसे चित्रलिखे-से और मंदे क्यों दिखाई दे रहे हैं कि कोई भी जबतक चाहे उन्हें आँख गड़ाकर देखता रह जाय ॥२४॥ जैसे ऊँचेकी ओर बहने-वाले जलका बहाव धीमा पड़ जाता है वैसे ही उनचासों पवन ऐसे क्यों दिखाई पड़ रहे हैं जैसे वे भी घबराहटसे मन्दे पड़ गए हों ॥२५॥ हारके दुःखसे झुकी हुई खुली जटाओंमें लटकती हुई चन्द्रकलाओं-वाले ग्यारह रुद्रोंके माथे भी यह बता रहे हैं कि उनकी हुंकार करने-

की शक्ति भी जाती रही है ॥ २६ ॥ जैसे व्याकरण आदि शास्त्रों में किसी व्यापक नियमको अपवादवाला नियम व्यर्थ कर देता है वैसे ही क्या आप लोग भी किसी पराक्रमी शत्रुसे अपना-अपना अधिकार लुटवा बैठे हैं ॥ २७ ॥ हे देवताओ ! मुझे बताइए कि आप लोग मेरे पास इकट्ठे होकर क्या कहनेके लिये आए हैं, क्यों कि हमारा काम तो केवल संसारकी सृष्टि करना भर है, उसकी रक्षा करना तो आप ही लोगों के हाथमें है ॥ २८ ॥

ब्रह्माजीकी यह बात सुनकर इन्द्रने अपने सहस्रनेत्रोंको इस प्रकार चलाकर बृहस्पतिजीको बोलनेके लिये संकेत किया जैसे मन्द पवनके चलनेपर कमलका वन हिल उठे ॥२९॥ जिनके दो नेत्रों में ही इन्द्रके सहस्र नेत्रों से भी बढ़कर देखनेकी शक्ति थी वे बृहस्पतिजी, हाथ जोड़कर ब्रह्माजीसे कहने लगे ॥ ३० ॥ हे ब्रह्मन् ! आप जो कुछ कहते हैं वह सब सत्य है हम लोगों के सब स्थान शत्रुओं ने अपने हाथमें कर लिए हैं। आप तो सबके घट-घटमें रमे हुए हैं, भला आपसे कोई बात छिपी थोड़े ही रहती है ॥ ३१ ॥ हे भगवन् ! आपका वरदान पाकर तारक नामका ढीठ राक्षस उसी प्रकार सिर उठाता चला जा रहा है जैसे संसारका नाश करनेके लिये पुछल्ला तारा निकल आया हो ॥ ३२ ॥ प्रचण्ड किरणोंवाला सूर्य भी उससे इतना डरता है कि उसके नगरपर केवल उतनी ही किरणें फैलाता है जिनसे तालके कमल भर खिल उठें ॥३३॥ चन्द्रमा वहाँ पूरे महीने भर अपनी पूरी कला लेकर चमका करता है, केवल उस एक कलाको छोड़ देता है जिसे शिवजीने अपने मस्तककी मणि बना लिया है ॥ ३४ ॥ पवन भी उसके पास पंखेके वायुसे अधिक वेगसे नहीं बहता क्योंकि उसे डर है कि कहीं तारकासुरकी फुलवारीके फूल झड़ जायँ और उसे चोरका दण्ड भोगना पड़े ॥ ३५ ॥ छओं ऋतुएँ अपने समयका विचार छोड़ कर एक साथ फुलवारीकी मालिनों के समान एक दूसरे ऋतुके फूलोंको बिना छेड़े हुए अपने-अपने ऋतुके फूल उपजाकर तारकासुरकी सेवा किया करती हैं ॥ ३६ ॥ समुद्र भी उसके पास भेंटके योग्य रत्न भेजनेके लिये तबतक जलके भीतर बाट जोहता रहता है, जबतक कि वे रत्न ठीक बढ़ न जायँ ॥३७॥

चमकती हुई मणिके फनवाले वासुकी आदि बड़े-बड़े साँप रातको अपने मणियों के न बुझनेवाले दीप लेकर उसकी सेवा किया करते हैं ॥ ३८ ॥ इन्द्र भी उसकी कृपा पानेके लिये बार-बार अपने दूतों के हाथ कल्पवृक्षके सुन्दर रत्न उसके पास भेजकर उसे प्रसन्न रक्खा करते हैं ॥ ३९ ॥

इतनी सेवा करनेपर भी वह तीनों भुवनोंको पीड़ा दे रहा है क्यों कि लातके देवता बातसे नहीं मानते ॥ ४० ॥ नन्दनवनके जिन वृक्षों के कोमल पत्तोंको देवताओंकी स्त्रियाँ बड़ी कोमलताके साथ अपने कनफूल बनानेके लिये तोड़ा करती थीं उन्हींको वह राक्षस बड़ी निर्दयतासे काट-काट कर गिरा रहा है ॥ ४१ ॥ जब वह सोता है उस समय देवताओंकी बन्दी स्त्रियाँ गरम गरम-साँसें लेती हुई और आँसू बहाती हुई उसपर चँवर डुलाया करती हैं ॥ ४२ ॥ सूर्यके घोड़ोंकी टापों से ढीली पड़ी हुई मेरुकी चोटियोंको उखाड़-उखाड़कर उसने अपने घरमें ले जाकर खिलौनेके पहाड़ बना डाले हैं ॥ ४३ ॥ मन्दाकिनीके सोनकमल उखाड़-उखाड़कर उसने अपने घरकी बावलियों में लगा लिए हैं और इसीलिये मन्दाकिनी में आजकल केवल दिग्गजों के मदसे गँदला जल भर दिखाई देता है ॥ ४४ ॥ पहले देवता लोग विमानोंपर चढ़कर इस लोकसे उस लोकमें घूमते-फिरते थे, पर अब उसके आक्रमणके डरसे आकाशमें निकल नहीं पाते ॥ ४५ ॥ वह ऐसा भारी छलिया है कि जब यज्ञमें यजमान हम लोगों को आहुति देता है तब वह हम लोगों के देखते-देखते अग्नि के मुँहसे हमारा भाग छीन लेता है ॥४६॥ और उसने उच्चैः श्रवा नामके उस सुन्दर घोड़ेको भी छीन लिया है जो बहुत दिनों से इकट्ठे किए हुए इन्द्रके यशके समान ही महान् था ॥४७॥ जैसे सन्निपातमें बड़ी-बड़ी ओषधियाँ भी काम नहीं कर पातीं उसी प्रकार हम भी उस दुष्टको मारनेके लिये जितने उपाय करते हैं वे सब व्यर्थ हो जा रहे हैं ॥४८॥ विष्णुके जिस चक्रपर हम लोग जीतकी आस लगाए बैठे थे, वह भी जब उसके गलेपर जाकर टकराता है तब उसमेंसे निकली हुई चिनगारियाँ ऐसी जान पड़ती हैं मानो उस राक्षसके गलेमें माला पहना दी गई हो ॥ ४९ ॥ आज ऐरावतको भी हरा देनेवाले उसके हाथी

पुष्करावर्त्तक आदि बादलों से टक्कर ले-लेकर अपना टीले ढाहनेका खेलवाड़ किया करते हैं ॥ ५० ॥ इसलिये हे प्रभो! जिस प्रकार मोक्ष पानेकी इच्छा करनेवाले लोग जन्म-मरणसे छूटनेके लिये-कर्मके बन्धनों को काटनेवाला उपाय खोजा करते हैं वैसे ही हम लोग भी उस राक्षसको नष्ट करनेके लिये एक ऐसा सेनापति उत्पन्न करना चाहते हैं ॥ ५१ ॥ जिसे देवताओंकी सेनाका रक्षक बनाकर और उसे सेनाके आगे करके भगवान इन्द्र, शत्रुओं के हाथमें बन्दीके समान पड़ी हुई विजय-श्रीको लौटा लावेंगे ॥ ५२ ॥

उनके कह चुकनेपर ब्रह्माजी ऐसी मधुर वाणी बोले जो मेघके गर्जनके पीछे होनेवाली वर्षाके समान भली लगती थी ॥ ५३ ॥ वे बोले—आप लोगोंकी इच्छा तो पूरी हो जायगी पर आप लोगोंको थोड़े दिन और बाट जोहनी पड़ेगी क्यों कि तारकासुरको मारनेके लिये मैं स्वयं तो अवतार ले नहीं सकता क्यों कि ॥ ५४ ॥ उस राक्षसको मैंने ही वरदान दिया है इसलिये अपने हाथसे उसे मारना मुझे ठीक नहीं लगता। अपने हाथसे लगाए हुए विषके पेड़को भी अपने ही हाथसे काटना ठीक नहीं होता ॥५५॥ उसने मुझसे उस समय जो वरदान माँगा था यदि मैं उसे न देता तो उसकी तपस्यासे सारा संसार जल उठता ॥५६॥ महादेवजीके वीर्यसे उत्पन्न होनेवाले पुत्रके अतिरिक्त उस युद्ध-भूमिमें लड़नेवाले प्रसिद्ध लड़ाके तारकासुरका नाश और कोई दूसरा नहीं कर सकता ॥५७॥ क्यों कि शंकर भगवान् अन्धकारके पार रहनेवाले वे परम तेज हैं जिन्हें अविद्या छू भी नहीं पाती। इसलिये हम और विष्णु भी उनकी महिमाका पता अबतक नहीं लगा पाए हैं ॥ ५८ ॥ अब आप लोग कोई ऐसा जतन कीजिए कि जैसे चुम्बकसे लोहा खिंच आता है वैसे ही समाधि लगाए हुए शंकरजीका मन भी पार्वतीजीके रूपकी ओर खिंच आवे ॥ ५९ ॥ क्यों कि हमारे और शिवजीके वीर्यको धारण करना कोई हँसी-ठट्टा नहीं है। शिवजीके वीर्यको केवल पार्वतीजी धारण कर सकती हैं और हमारे वीर्यको जलका रूप धारण करनेवाली शिवजीकी मूर्त्ति ही धारण कर सकती है ॥ ६० ॥ उन्हीं पार्वतीजीसे शंकरजीका जो पुत्र होगा वही आप लोगोंका

सेनापति होकर अपने पराक्रमसे देवताओंकी वन्दी स्त्रियोंको छुड़ाकर उनके उलझे हुए बाल सुलझावेगा ॥ ६१ ॥

संसारको उत्पन्न करनेवाले ब्रह्माजी इतना कहकर आँखसे ओझल हो गए और देवता लोग भी आगेका काम सोच विचारकर स्वर्गलोकको चले गए ॥ ६२ ॥

इन्द्रने स्वर्गलोकमें पहुँचकर भला भाँति सोच-विचारकर अपने कामके लिये वेगसे दौड़नेवाले मनमें कामदेवको स्मरण किया ॥६३॥

स्मरण करते ही रतिके कंगनकी छाप पड़े हुए गले में, सुन्दर स्त्रीकी भौंहों के समान सुन्दर धनुष लटकाकर और अपने साथी वसन्तके हाथमें आमके बौरका बाण देकर, कामदेव हाथ जोड़कर इन्द्रके आगे आ खड़ा हुआ ॥ ६४ ॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचेहुए कुमारसम्भव नामके महाकाव्यमें ब्रह्मासे भेंट नामका दूसरा सर्ग समाप्त हुआ ।



तीसरा सर्ग

कामदेवके आते ही इन्द्रकी सहस्रों आँखें देवताओंपरसे हटकर एक साथ आदरके साथ कामदेवकी ओर घूम गईं। क्योंकि प्रायः ऐसा होता है कि स्वामीको अपने सेवकोंसे जब जैसा काम निकालना होता है उसीके अनुसार वे उनपर आदर भी दिखाया करते हैं ॥१॥

इन्द्रने कामदेवसे कहा—आओ यहाँ बैठो। यह कहकर उसे अपने पास ही बैठा लिया। उसने भी सिर झुकाकर इन्द्रकी कृपा स्वीकार कर ली और उनसे गुप-चुप बातचीत करने लगा ॥ २ ॥

वह बोला--सबके गुणोंको पहचाननेवाले स्वामी ! आज्ञा दीजिए, तीनों लोकोंमें ऐसा कौन-सा काम है जो आप मुझसे कराना चाहते हैं। क्योंकि मुझे स्मरण करके आपने जो कृपा की है उस कृपाको मैं आपकी आज्ञाका पालन करके और भी बढ़ाना चाहता हूँ ॥ ३ ॥ ऐसा कौन पुरुष उत्पन्न हो गया है जिसने बहुत बड़ी-बड़ी तपस्याएँ करके आपके मनमें ईर्ष्या जगा दी है। आप मुझे उसका नाम भर बतला दीजिए। मैं अभी जाकर उसे अपने इस बाण चढ़े हुए धनुषसे

जीत लाता हूँ ॥४॥ ऐसा कौन पुरुष है जो आपका शत्रु बनकर संसार के कष्टोंसे घबराकर मोक्षकी ओर चल पड़ा है। मैं उसे अभी उन सुन्दरियोंकी चितवनमें बहुत दिनोंके लिये फँसा देता हूँ जो बाँकी चितवन चलानेमें बड़ी चतुर हैं ॥५॥ यदि आपका वह शत्रु शुक्राचार्य से भी नीतिशास्त्र पढ़कर आया होगा तब भी मैं अत्यन्त भोगकी इच्छाको ऐसा दूत बनाकर उसके पास भेजता हूँ जो उसका धर्म और अर्थ दोनों उसी प्रकार नाश कर देगा जैसे बरसातमें बढ़ी हुई नदीका वेग दोनों तटोंको बहा ले जाता है ॥ ६ ॥ कौन ऐसी सुन्दर और हठीली पतिव्रता है जो आपके चञ्चल मनमें बैठ गई है। मैं उस सुन्दरीपर ऐसा बाण चलाता हूँ कि वह सब लाज-शील छोड़कर आपके गलेसे आ लगे ॥ ७ ॥ हे कामी! कौन सी ऐसी स्त्री है जो आपका संभोग न पानेपर क्रोध करके आपसे इतनी रूठी बैठी है कि पैरोंपर गिरकर मनानेपर भी अभी तक नहीं मानी है। मैं उसके मनमें ऐसा पछतावा उत्पन्न करता हूँ कि वह अपने आप आकर आपके पत्तोंके ठण्ढे बिछौनेपर लेट जायगी ॥ ८ ॥ हे वीर! आप चिन्ता न करें और अपने वज्रको भी विश्राम कर लेने दें। आप मुझे बताइए वह कौन-सा दैत्य है जो मेरे बाणोंकी मारसे ऐसा शक्तिहीन हो जाना चाहता है कि क्रोधसे काँपते हुए ओठोंवाली नारी उसे डरा दें ॥ ९ ॥ आपकी कृपा हो तो मैं केवल वसन्तको अपने साथ लेकर अपने फूलके बाणोंसे ही पिनाक धारण करने वाले स्वयं महादेवजीके छक्के छुड़ा दूँ, फिर और दूसरे धनुषधारी तो हैं किस गिनतीमें ॥ १० ॥

यह बात सुनकर इन्द्रको कुछ ढाढ़स हुआ और उन्होंने अपने पैर खोलकर पाँव पीढ़ेपर रक्खे और जिस कामदेवने उनके सोचे हुए काममें अपने आप इतना उत्साह दिखाया था उससे बोले ॥११॥ हे मित्र! तुम सब कुछ कर सकते हो क्योंकि यों तुम और वज्र, ये ही तो मेरे दो अस्त्र हैं। पर शत्रुओंकी तपस्याने हमारे वज्रकी धार तो उतार दी है। अब तुम्हीं ऐसे बच रहे हो जो बेरोक-टोक सब ओर जा भी सकते हो और हमारा काम भी कर भी सकते हो ॥ १२ ॥ मैं तुम्हारी शक्ति भली-भाँति जानता हूँ, इसीलिये मैं तुम्हें

अपने जैसा मानकर इस बड़े काममें लगाना चाहता हूँ। जानते हो प्रलय होनेपर अपने सोनेके लिये भगवानने शेषको ही अपनी शय्या क्यों बनाया था? क्योंकि वे देख चुके थे कि शेषनाग जब पृथ्वीको धारण कर सकते हैं तो मेरा बोझ भी सह लेंगे ॥ १३ ॥ अभी-अभी तुमने कहा है कि हम अपने बाणोंसे शंकरजीको भी वशमें कर सकते हैं। इसलिये एक प्रकारसे तुमने हमारा काम करनेका बीड़ा ही उठा लिया है। इसलिये समझ लो कि बलवान शत्रुसे सताए हुए और डरे हुए देवता तुमसे यही काम कराना चाहते हैं॥१४॥ ये देवता लोग चाहते हैं कि शत्रुको जीतनेके लिये शिवजीके वीर्यसे हमारा सेनापति उत्पन्न हो। इसलिये मन्त्रके बलसे ब्रह्ममें ध्यान लगाए हुए महादेवजीकी समाधि तुम्हीं अपने एक बाणमें तोड़ सकते हो ॥१५॥ अब तुम ऐसा जतन करो कि समाधिमें बैठे हुए महादेवजीके मनमें हिमालयकी कन्या पार्वतीके लिये प्रेम उत्पन्न हो जाय, क्योंकि ब्रह्माजीने स्वयं यह बात बताई है कि स्त्रियोंमें वे ही एक ऐसी हैं जो शिवजीका वीर्य धारण कर सकती हैं ॥ १६ ॥ गुप्तचरका काम करनेवाली अपनी अप्सराओंके मुँहसे हमने सुना है कि पार्वतीजी अपने पिताकी आज्ञासे हिमालय पहाड़पर तप करते हुए महादेवजीकी सेवा कर रही हैं ॥ १७ ॥ इसलिये तुम यह काम करनेके लिये जाओ और देवताओंका काम कर डालो क्योंकि इस काममें बस एक कारण भर चाहिए था। जैसे बीजको अंकुर बननेके लिये जलकी आवश्यकता पड़ती है वैसे ही यह काम भी तुम्हारी सहायताके भरोसे ही अटका हुआ था ॥१८॥ देवताओंकी विजय तुम्हारे ही बाणोंसे हो सकती है। तुम सचमुच बड़े भाग्यशाली हो क्योंकि संसारमें ऐसा ही असाधारण काम करनेसे यश होता है जिसे दूसरा कोई कर न सके ॥ १९ ॥ और फिर एक तो सब देवता लोग तुमसे इस कामके लिये भीख माँग रहे हैं, दूसरे यह कार्य तीनों लोकवालोंका है, और तीसरी बात यह है कि यद्यपि इस काममें तुम्हारा धनुष काम आवेगा सही, पर इससे किसीकी हिंसा नहीं होगी। आज तुम्हें देखकर सबके मनमें यह इच्छा जग उठी है कि हमें भी तुम्हारी जैसी ही शक्ति मिल जाय ॥२०॥ हे कामदेव! हमने

तुम्हारी सहायताके लिये वसन्तका नाम नहीं लिया पर वह तो तुम्हारा साथी है ही। क्योंकि भला पवनको कहीं यह थोड़े ही कहा जाता है कि तुम जाकर आगकी सहायता करो। वह तो आगको भड़काता ही है चाहे कोई कहे या न कहे ॥ २१ ॥

कामदेव बोला—जैसी आज्ञा। और जैसे कोई उपहारमें दी हुई मालाको सिरपर चढ़ा लेता है वैसे ही कामदेवने इन्द्रकी आज्ञा सिर पर चढ़ा ली। जब वह चलने लगा तब इन्द्रने उसकी पीठपर अपना वह हाथ फेरकर उत्साहित किया जो ऐरावतको अंकुश लगाते-लगाते कड़ा पड़ गया था ॥ २२ ॥

उसने निश्चय कर लिया कि प्राण देकर भी मैं देवताओंका काम करूँगा और वसन्तको साथ लेकर वह वहाँको चल दिया जहाँ शिवजी बैठे तपस्या कर रहे थे। इनके पीछे-पीछे बेचारी रति मनमें डरती हुई चली जा रही थी कि आज न जाने क्या होने-वाला है ॥२३॥

वहाँ वनमें संयमी मुनियोंके तपकी समाधिको डिगानेवाला और कामदेवका सहायक बननेका घमण्ड करनेवाला वसन्त अपना पूरा रूप खोलकर चारों ओर छा गया ॥२४॥ वसन्तके आते ही असमयमें ही सूर्य दक्षिणायनसे उत्तरायण चले आए। उस समय दक्षिणसे जो मलय पवन बहता था वह ऐसा प्रतीत होता था मानो अपने पति सूर्यके चले जानेपर दक्षिण दिशा दुखी होकर अपने मुँहसे लम्बी लम्बी साँसें छोड़ रही हो ॥ २५ ॥ अशोकका वृक्ष भी तत्काल नीचे से ऊपरतक फूल-पत्तोंसे लद गया और झनझनाते बिछुओंवाली सुन्दरियोंके चरणके प्रहारकी बाट भी उसने नहीं देखी ॥२६॥ सुन्दर वसन्तने नई कोपलोंके पंख लगाकर आमकी मंजरियोंके बाण तैयार कर दिए और उनपर उसने जो भौंरे बैठाए वे ऐसे लगते थे मानो उन बाणोंपर कामदेवके नामके अक्षर लिखे हुए हों ॥२७॥ वहाँ फूले हुए कर्णिकार देखनेमें तो सुन्दर थे पर गन्ध न होनेके कारण मनको भाते न थे। ब्रह्माकी कुछ ऐसी बान ही पड़ गई है कि वे किसी भी वस्तुमें पूरे गुण भरते ही नहीं ॥ २८ ॥ वसन्तके आते ही दूजके चन्द्रमाके समान टेढ़े अत्यन्त लाल लाल अधखिले टेसूके फूल वन-

भूमिमें फैले हुए ऐसे लग रहे थे मानो वसन्तने वनस्थलियोंके साथ विहार करके उनपर अपने नखोंके नये चिह्न बना दिए हों ॥ २९ ॥ वहाँ उड़ते हुए भौंरे और खिले हुए तिलकके फूल और प्रातःकाल के सूर्यकी लालीसे चमकनेवाली कोंपलें ऐसी लगती थीं मानो वसन्तकी शोभा रूपी स्त्रीने भौंरे रूपी आँजनसे अपने मुँह चीतकर अपने माथेपर तिलकके फूलका तिलक लगाकर और प्रातःकाल निकले हुए सूर्यकी कोमल लालीसे चमकनेवाले आमकी कोंपलोंसे अपने ओठ रंग लिए हों ॥ ३० ॥ आँखोंमें प्रियालके फूलोंके परागके उड़-उड़कर पड़नेसे जो मतवाले हरिण भली भाँति देख नहीं पा रहे थे वे पवनसे झड़े हुए सूखे पत्तोंसे मर्मर करती हुई वनकी भूमिपर इधर-उधर दौड़ते फिर रहे थे ॥ ३१ ॥ आमकी मञ्जरियोंको खा लेनेसे जिस कोकिलका कंठ मीठा हो गया था वह जब मीठे स्वरसे कूक उठता था तब उसे सुन-सुनकर रूठी हुई स्त्रियाँ अपना रूठना भूल जाती थीं ॥३२॥ जाड़ेके बीतने और गर्मीके आ जानेसे कोमल ओठों और सुन्दर गोरे मुखोंवाली किन्नरियोंके मुखपर चीती हुई चित्रकारीपर पसीना आने लगा ॥ ३३ ॥

महादेवजीके साथ उस वनमें रहनेवाले तपस्वी लोगोंने असमयमें वसन्तको आया हुआ देखकर अपने मनको विकारोंसे हटाकर बड़ी कठिनाईसे रोक रक्खा था ॥ ३४ ॥ फिर जब अपने फूलके धनुषपर बाण चढ़ाकर रतिको साथ लेकर कामदेव आया तब चर और अचरोंकी अत्यन्त बढ़ी हुई सम्भोगकी इच्छा उनकी चलनमें दिखाई देने लगी ॥ ३५ ॥ भौंरा अपनी प्यारी भौंरीके साथ एक ही फूलकी कटोरीमें मकरन्द पीने लगा। काला हरिण अपनी उस हरिणीको सींगसे खुजलाने लगा जो उसके स्पर्शका सुख लेती हुई आँख मूँदे बैठी थी ॥ ३६ ॥ हथिनी बड़े प्रेमसे कमलके परागमें बसा हुआ सुगन्धित जल अपनी सूँड़से निकालकर अपने हाथीको पिलाने लगी और चकवा आधी कुतरी हुई कमलकी नाल लेकर चकवीको भेंट करने लगा ॥ ३७ ॥ किन्नर लोग गीतोंके बीचमें ही अपनी प्रियाओंके उन मुखोंको चूमने लगे जिनपर थकावटके कारण पसीना छा गया था, जिनपर चीती हुई चित्रकारी लिप गई

थीं और जिनके नेत्र फूलोंकी मदिरासे मतवाले होनेके कारण बड़े सुन्दर लग रहे थे ॥३८॥ वृक्ष भी अपनी झुकी हुई डालियोंको फैला-फैलाकर उन लताओं से लिपटने लगे जिनके बड़े-बड़े फूलों के गुच्छों के रूपमें स्तन लटक रहे थे और पत्तों के रूपमें जिनके सुन्दर ओठ हिल रहे थे ॥ ३९ ॥

इसी बीच अप्सराओं ने अपना गाना-नाचना आरम्भ कर दिया पर महादेवजी उससे मस न हुए और अपने ध्यानमें ही मग्न रहे क्यों कि जो लोग अपने मनको वशमें कर लेते हैं उनकी समाधि क्या भला कोई छुड़ा सकता है ॥ ४० ॥

उस समय नन्दी अपने बाएँ हाथमें सोनेका डंडा लिए हुए लता-मंडपके द्वारपर बैठा मुँहपर उँगली रखकर सब गणोंको संकेतसे मना कर रहा था कि तुम लोग नटखटपन छोड़कर चुपचाप बैठो ॥४१॥

उसकी आज्ञा पाते ही वृक्षोंने हिलना बन्द कर दिया, भौंरों ने गूँजना बन्द कर दिया, सब जीव-जन्तु चुप हो गए और पशु भी जहाँ के तहाँ खड़े रह गए, यहाँतक कि सारा वन उस एक ही संकेतमें ऐसा लगने लगा मानो चित्रमें खिचा हुआ हो ॥ ४२ ॥

जैसे यात्रा करनेके समय लोग सामनेके शुक्रकी दृष्टि बचाते हैं वैसे ही कामदेव भी नन्दीकी आँखें बचाकर नमेरुकी शाखाओं से घिरे हुए उस स्थानमें जा घुसा जहाँ महादेवजी समाधि लगाए बैठे थे ॥ ४३ ॥

थोड़ी ही देरमें मृत्युके मुँहमें पहुँचनेवाला वह कामदेव देखता क्या है कि देवदारुके पेड़की जड़में पत्थरकी पाटियों से बनी हुई चौकीपर बाघाम्बर बिछा हुआ है और उसपर महादेवजी समाधि लगाए बैठे हुए हैं ॥ ४४ ॥ उन्होंने वीरासन लगा रक्खा है, अपना धड़ सीधा और अचल कर लिया है और अपने दोनों कन्धे झुका-कर अपनी गोदमें कमलके समान दोनों हथेलियोंको ऊपर किए वे बिना हिले-डुले बैठे हुए हैं ॥ ४५ ॥ साँपोंसे जटा बाँधे हुए हैं। दाहिने कानपर दुहरी रुद्राक्षकी माला टँगी है और गलेकी नीली चमक पड़नेसे और भी अधिक नीली दिखाई पड़नेवाली मृगछालाको गाँठ लगाकर वे शरीरपर बाँधे हुए हैं ॥४६॥ भौंहें तानकर ऊँचे-ऊँचे

प्रकाश देनेवाली, निश्चल, उग्र, तारोंवाली और अपनी किरणें नीचे डालनेवाली अपलक आँखों से नाकके अगले भागपर दृष्टि जमाए वे बैठे हुए हैं ॥ ४७ ॥ और शरीरके भीतर चलनेवाले सब पवनोंको रोककर वे ऐसे अचल हुए बैठे हैं जैसे न बरसनेवाला बादल हो, बिना लहरोंवाला निश्चल ताल हो या पवन-रहित स्थानमें खड़ी लौ वाला दीपक हो ॥४८॥ उस समय उनके सिर और नेत्रों से जो तेज निकल रहा था उसके आगे कमलके तन्तुसे भी अधिक कोमल बाल चन्द्रमाकी शोभा भी कुछ नहीं थी ॥ ४९ ॥ वहाँ समाधिमें बैठे हुए शंकरजी अपनी उस अविनाशी आत्माकी ज्योतिको अपने भीतर देख रहे थे जिसे ज्ञानी लोग अपनी नओं इन्द्रियोंके द्वार रोककर मनको समाधिसे वशमें करके हृदय नामके, स्थानमें रखकर जान पाते हैं ॥ ५० ॥

तीन नेत्रवाले शंकरजीका जो रूप बुद्धि और मनसे भी परे था उसी रूपको इतने पाससे देखकर कामदेवके हाथ डरके मारे ऐसे ढीले पड़ गए कि उसे यह भी न पता चला कि मेरे हाथसे धनुष-बाण कब छूटकर गिर गए ॥ ५१ ॥

डरके मारे कामदेवकी शक्ति तो नष्ट हो गई थी पर जब उसने मालिनी और विजया नामकी वन-देवियों के साथ अत्यन्त सुन्दर पार्वतीजीके सुन्दर रूपको देखा तब मानो उसकी खोई हुई शक्ति फिर जाग उठी ॥ ५२ ॥

उस समय पार्वतीजीके शरीरपर लाल मणिको लज्जित करनेवाले अशोकके पत्तोंके, सोनेकी चमकको घटानेवाले कर्णिकारके फूलों के और मोतियोंकी मालाके समान उजले सिन्धुवारके वासंत फूलों के आभूषण सजे हुए थे ॥ ५३ ॥ स्तनोंके बोझसे झुके हुए शरीरपर प्रातःकालके सूर्यके समान लाल कपड़े पहने हुए वे ऐसी लग रही थीं जैसे फूलों के गुच्छेके भारसे झुकी हुई नई लाल लाल कोंपलोंवाली चलती फिरती लता हो ॥ ५४ ॥ उनकी कमरमें पड़ी हुई केसरके फूलोंकी तगड़ी जब-जब नितम्बसे नीचे खिसक आती थी तब-तब वे उसे अपने हाथसे पकड़कर ऊपर सरका लेती थीं। वह तगड़ी ऐसी लगती थी मानो कहाँ क्या पहनना चाहिए

इस बातको जाननेवाले कामदेवने अपने हाथसे उनकी कमरमें अपने धनुषकी दूसरी डोरी पहना दी हो ॥ ५५ ॥

कामदेवने देखा कि उनके सुगन्धित साँसपर ललचे हुए भौंरे जब-जब उनके लाल-लाल ओठोंके पास आते थे तब तब वे घबराहटसे आँखे नचाती हुई छोटे-छोटे कमलोंसे मारकर उन्हें भगा देती थीं ॥५६॥

कामदेवने जब रतिको भी लजानेवाली, अधिक सुघर अंगोंवाली पार्वतीजीको देखा तब उसके मनमें जितेन्द्रिय महादेवजीको वशमें करनेकी आशा फिर हरी हो उठी ॥ ५७ ॥

इसी बीच पार्वतीजी अपने भावी पति शंकरजीके आश्रमके द्वार पर पहुँची। ठीक उसी समय महादेवजीने भी परमात्म नामकी परम ज्योतिका दर्शन करके अपनी समाधि तोड़ी ॥ ५८ ॥ आँखें खोलकर उन्होंने धीरे-धीरे साँस लेना प्रारंभ कर दिया और अपनी कठोर पलथी भी खोल दी। इसलिये उनका वह शरीर जो समाधिके समय बहुत हलका हो गया था, फिर इतना भारी हो गया कि उनके बैठनेकी भूमिको शेष भगवान बड़ी कठिनाईसे अपने फणोंपर सँभाल पाए ॥ ५९ ॥

उनकी समाधि खुली देखकर नन्दीने जाकर उन्हें प्रणाम करके कहा कि आपकी सेवा करनेके लिये पार्वतीजी आई हुई हैं। महादेवजीने अपनी भौंहों से उन्हें बुलानेका संकेत किया और पार्वतीजीको नन्दी भीतर ले आए ॥ ६० ॥

पहले पार्वतीजीकी दोनों सखियों ने शंकरजीको प्रणाम किया और फिर अपने हाथसे चुने हुए, पत्तों के टुकड़े मिले हुए वसन्ती फूलोंका ढेर उनके पैरोंपर चढ़ा दिया ॥ ६१ ॥ पार्वतीजीने भी शिवजीको प्रणाम करनेके लिये ज्योंही अपना सिर झुकाया त्योंही उनके काले-काले बालों में गुँथे हुए कर्णिकारके फूल और कानपर धरे हुए पत्ते पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ६२ ॥

प्रणाम करती हुई पार्वतीजीको भगवान शंकरने यह सत्य आशीर्वाद दिया कि तुम्हें ऐसा पति मिले जो किसी भी स्त्रीको न मिल सका हो। ठीक ही था क्योंकि महापुरुषोंकी वाणी कभी झूठी थोड़े ही होती है। ६३।

जैसे कोई पतंगा आगमें कूदनेको उतावला हो वैसे ही कामदेवने भी सोचा कि बस बाण छोड़नेका यही ठीक अवसर है और बस वह पार्वतीजीके आगे बैठे हुए शिवजीपर ताक-ताककर धनुषकी डोरी खींचने ही तो लगा ॥ ६४ ॥ उधर पार्वतीजीने प्रणाम करके धूपमें सुखाए हुए मन्दाकिनीके कमलके बीजोंकी माला लेकर समाधिसे जगे हुए शंकरजीके गलेमें अपने लाल-लाल हाथों से पहना दी ॥ ६५ ॥

शिवजीने भक्तपर प्रेम करनेके नाते पार्वतीजीकी वह माला ली ही थी कि कामदेवने भी सम्मोहन नामका अचूक बाण अपने धनुष पर चढ़ा लिया ॥ ६६ ॥ जैसे चन्द्रमाके निकलनेपर समुद्रमें ज्वार आ जाता है वैसे ही पार्वतीजीको देखकर महादेवजीके हृदयमें भी कुछ हलचल-सी होने लगी और वे पार्वतीजीके बिम्बाके समान लाल लाल ओठोंपर अपनी ललचाई आँखें डालने लगे ॥ ६७ ॥ और पार्वतीजी भी फले हुए नये कदंबके समान पुलकित अंगों से प्रेम जतलाती हुई, लजीली आँखों से अपना अत्यन्त सुन्दर मुख कुछ तिर्छा करके खड़ी रह गईं ॥ ६८ ॥

पर महादेवजी तत्काल सँभल गए। संयमी होनेके कारण उन्हों ने तत्काल इन्द्रियोंकी चंचलताको बलपूर्वक रोक लिया और यह देखनेके लिये चारों ओर दृष्टि दौड़ाई कि मेरे मनमें यह विकार लाया कौन ॥ ६९ ॥ शंकरजी देखते क्या हैं कि अपने धनुषको खींचकर गोल करके, दाहिनी आँखकी कोरतक चुटकीसे डोरी खींचे हुए, दाहिना कन्धा झुकाकर बाएँ पैरका घुटना मारे हुए, कामदेव मुझपर बाण चलाने ही वाला है ॥ ७० ॥

अपने तपमें बाधा डालनेवाले कामदेवपर महादेवजीको इतना क्रोध आया कि उनकी चढ़ी भौंहोंवाला नेत्र देखा नहीं जाता था। झट उनका तीसरा नेत्र खुला और उसमेंसे सहसा जलती हुई आगकी लपटें निकल पड़ीं ॥ ७१ ॥

यह देखते ही एक साथ सब देवता आकाशमें चिल्ला उठे—हैं, हैं, रोकिए ! रोकिए ! अपने क्रोधको प्रभु ! पर इतनी देरमें तो सृष्टि-

कर्त्ता कहलानेवाले महादेवजीकी आँखोंसे निकलनेवाली उस आगने कामदेवको जलाकर राख ही कर डाला था ॥ ७२ ॥

अपने सिरपर आई हुई इस भारी विपत्तिको देखकर कामदेवकी स्त्री तो मूर्छित होकर गिर पड़ी। उसकी इन्द्रियाँ स्तब्ध हो गईं और ऐसा जान पड़ा मानो भगवानने कृपा करके उतनी देरके लिये पतिकी मृत्युका ज्ञान हरकर उसे दुःखसे बचाए रक्खा ॥ ७३ ॥

जैसे बिजली किसी पेड़पर गिरकर उसे तोड़ डालती है उसी प्रकार अपनी तपस्यामें बाधा डालनेवाले कामदेवको जलाकर शिवजीने निश्चय किया कि स्त्रियोंका साथ छोड़ देना चाहिए। इसलिये तपस्वी महादेवजी तत्काल अपने भूत-प्रेतोंको साथ लेकर अन्तर्धान हो गए ॥ ७४ ॥

यह देखकर पार्वतीजीको इस बातकी बड़ी लज्जा हुई कि आज सखियोंके आगे मेरे ऊँचे सिरवाले पिताका मनोरथ और मेरी सुन्दरता दोनों अकारथ हो गईं और वे बड़े उदास मनसे किसी प्रकार घर लौट चलीं ॥ ७५ ॥

तत्काल हिमालय वहाँ पहुँच गए। और जैसे ऐरावत अपने दाँतोंपर कमलिनीको उठा ले वैसे ही महादेवजीके क्रोधसे डरकर आँख बन्द करके जाती हुई अपनी दुखी कन्याको हिमालयने गोदमें उठा लिया और वेगसे सीधा शरीर किए हुए जिधरसे आए थे उधर ही लौट गए ॥ ७६ ॥

महाकवि कालिदासके रचे हुए कुमारसम्भव नामके महाकाव्यमें मदन-दहन नामका तीसरा सर्ग समाप्त हुआ।



चौथा सर्ग

महादेवजीके अन्तर्धान होजानेपर और पार्वतीजीके चले जाने पर अकेली काठके समान मूर्छित पड़ी हुई कामदेवकी पतिव्रता पत्नीको ब्रह्माने नये विधवापनका दुःख सहनेके लिये जगा दिया ॥१॥

मूर्छा हटते ही वह चारों ओर आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगी, पर उसे यह पता ही न चला कि जिसे सदा अपने आगे देखते रहने पर भी आँखें अघातीं नहीं थीं, वही प्यारा सदाके लिये आँखों से ओझल हो गया ॥ २ ॥

हे प्राणनाथ! क्या तुम जीते हो—यह कहती हुई ज्योंही वह खड़ी हुई तो देखती क्या है कि महादेवजीके क्रोधसे जली हुई पुरुषके आकारकी एक राखकी ढेर सामने पृथ्वीपर पड़ी हुई है ॥ ३ ॥ उस राखकी ढेरको देखते ही रति बेहाल हो उठी और मट्टीमें लोट-लोट कर, बाल बिखेरकर ऐसी बिलख-बिलखकर रोने लगी कि ऐसा जान पड़ने लगा मानो समूची वन-भूमि ही उसके साथ-साथ रो रही हो ॥ ४ ॥ वह रो-रोकर कहती जा रही थी—हे प्यारे! आजतक विलासियोंके शरीरकी तुलना तुम्हारे जिस सुन्दर शरीरसे की जाती थी उसे इस दशामें देखकर भी मेरी छाती

फट नहीं गई। सचमुच स्त्रियोंका हृदय बड़ा कठोर होता है ॥ ५ ॥ जैसे पानीका बहाव बाँधको तोड़कर जलमें बहनेवाला कमलिनीको वहीं छोड़कर झटसे निकल जाता है वैसे ही तुम्हारे हाथमें अपने प्राण सौंपनेवाली मुझ अभागिनसे नाता तोड़कर तुम इतनी शीघ्रतासे रूठकर कहाँ चल दिए ॥ ६ ॥ प्यारे! तुमने कभी मेरी अनचाही बात नहीं की और मैंने भी कभी तुम्हारी बात नहीं टाली। फिर बिना बातके ही मुझ बिलखती हुईको तुम दर्शन क्यों नहीं दे रहे हो ॥ ७ ॥ हे कामदेव! पहले जब भूलसे तुमने अपनी किसी दूसरी प्यारीका नाम ले डाला था उसपर मैंने जो तुम्हें अपनी तगड़ीसे बाँध दिया था, क्या वही स्मरण करके तुम मुझसे रूठ बैठे हो! या जब मैंने अपने कानमें पहने हुए कमलसे तुम्हें पीटा था उस समय उसका पराग पड़ जानेसे जो तुम्हारी आँखें दुखने लगी थीं, क्या उसीको स्मरण करके तुम मुझसे रूठे हो ॥ ८ ॥ तुम मुझसे जो यह मीठी-मीठी बात बनाया करते थे कि तुम मेरे हृदयमें सदा रहती हो वह सब मेरी समझमें झूठ थी, क्योंकि यदि वह बात केवल मेरा मन रखने भरको न होती तो तुम्हारे राख हो जानेपर तुम्हारी यह रति भला जीती कैसे बची रह जाती ॥ ९ ॥ तुम अभी-अभी स्वर्गको गए हो, मैं भी तुम्हारे पीछे पीछे वहीं चली आ रही हूँ। ब्रह्माने मुझे मूर्छित करके बड़ा धोखा दे दिया, नहीं तो मैं उसी समय तुम्हारे साथ चल देती क्योंकि मेरा ही नहीं वरन् सारे संसारका सुख तुम अपने साथ लिए चले गए हो ॥ १० ॥ बताओ प्यारे! अब वर्षाके दिनोंमें रातकी घनी अँधियारीसे भरे डरावने नगरके मार्गोंमें बिजलीकी कड़कड़ाहटसे डर उठनेवाली कामिनियोंको उनके प्यारोंके घर अब तुम्हारे बिना कौन पहुँचावेगा ॥ ११ ॥ अपने लाल लाल नेत्रोंको घुमाती हुई और पद-पद शब्दपर रुक-रुककर बोलती हुई प्रमदाओंका मदिरा पीना अब तुम्हारे न रहनेपर भला किस कामका होगा ॥ १२ ॥ हे अनंग! तुम चन्द्रमाके बड़े प्यारे मित्र थे। जब उसे यह पता चलेगा कि तुम्हारा शरीर केवल कहानी भर रह गया है तब वह [illegible] उगा हुआ चन्द्रमा शुक्ल पक्षमें भी बड़ी कठिनाईसे अपना दुबलापन छोड़ पावेगा ॥ १३ ॥ तुम्हारे हरे

और लाल रंगमें बँधा हुआ और कोयलकी मीठी कूकसे गूँजता हुआ आमका नया बौर, बताओ अब किसका बाण बना करेगा ॥ १४ ॥ जिन भौंरोंकी पाँतोंकी तुम अनेक बार अपने धनुषकी डोरी बनाया करते थे उनकी दुखभरी गुंजार ऐसी जान पड़ती है मानो वे भी मुझ दुःखमें बिलखती हुईके साथ-साथ रो रही हों ॥ १५ ॥ हे काम! तुम अपने इस राखके शरीरको छोड़कर पहले जैसा सुन्दर शरीर धारण करके स्वभावसे ही मधुर बोलनेमें चतुर इस कोयलको आज्ञा दो कि यह अपनी मधुर कूकसे प्रेमियोंको मिलनेका स्थान बताना आरंभ कर दे ॥ १६ ॥ हे कामदेव! मुझ रूठी हुईको मनानेके लिये जब तुम मेरे पैरों पड़कर काँपते हुए मुझे मनाकर गलेसे लगाया करते थे और फिर मेरे साथ अनेक प्रकारसे संभोग किया करते थे, अब उन बातोंका स्मरण कर करके मेरा जी फटा जाता है ॥१७॥ हे काम-क्रीड़ाओं में चतुर! तुमने अपने हाथों से मेरा जो वासन्ती सिंगार किया था वह तो अभी ज्योंका त्यों बना हुआ है पर तुम्हारा सुन्दर शरीर अब कहीं देखनेको नहीं मिल रहा है ॥ १८ ॥ अभी थोड़ी देर पहले जब तुम मेरे पैरों में महावर लगाने बैठे थे और केवल दाहने पाँवमें ही लगा पाए थे कि इसी बीच कठोर हृदयवाले देवताओं ने तुम्हें अपने कामके लिये बुला लिया। अब आकर मेरे इस बाएँ पैरमें भी महावर क्यों नहीं लगा जाते ॥ १९ ॥ हे प्यारे! जबतक स्वर्गकी चतुर अप्सराएँ तुम्हें अपने रूपमें लुभावें उससे पहले ही मैं आगमें जलकर तुम्हारी गोदमें जा पहुँचती हूँ ॥ २० ॥ हे रमण! यह तो निश्चय है कि मैं तुम्हारे पीछे-पीछे आ रही हूँ, फिर भी मुझपर यह कलंकका टीका तो सदाके लिये लग ही गया कि कामदेवके न रहनेपर रति थोड़ी देर तक जीती रह गई ॥ २१ ॥ मुझे इसी बातका शोक है कि तुम अपना शरीर और प्राण दोनों एक साथ लेकर स्वर्ग चले गए। अब मेरी समझमें ही नहीं आ रहा है कि तुम्हारे परलोक चले जानेपर मैं तुम्हारे शरीरका अंतिम सिंगार कैसे करूँ ॥ २२ ॥

तुम्हारा वह गोदमें धनुष रखकर बाण सीधा करना, वसन्तके साथ हँस-हँसकर बातें करना और बीच बीचमें मेरी ओर तिरछी

चितवनसे देखना मुझे भूलता नहीं है ॥ २३ ॥ अब कहाँ गया वह तुम्हारे लिये फूलोंका धनुष बनानेवाला प्यारा मित्र वसन्त ! कहीं वह भी महादेवजीके तीखे क्रोधकी आगमें अपने मित्रके साथ-साथ भस्म तो नहीं हो गया ॥२४॥

यह सुनते ही बिलखती हुई वियोगिनी रतिको ढाढ़स बँधानेके लिये वसन्त वहाँ आ खड़ा हुआ। वह ऐसा दुखी जान पड़ रहा था मानो उसके हृदयको रतिके विलापके वचनोंके बाणोंने बींध डाला हो ॥२५॥ वसन्तको देखकर वह और भी फूट-फूटकर और छाती पीट-पीटकर रोने लगी क्योंकि दुःखमें अपने स्वजनोंको देखते ही दुःख उसी प्रकार बढ़ जाता है जैसे रुकी हुई वस्तुको बाहर निकलनेके लिये बड़ा भारी द्वारा मिल जाय ॥२६॥ वह रोती हुई वसन्तसे बोली—हे वसन्त ! बताओ तो, तुम्हारे मित्रकी यह दशा कैसे हो गई। वह देखो ! तुम्हारा मित्र राख हुआ पड़ा है। और देखो ! कबूतरके पंखके समान उनकी भूरी राखको यह पवन इधर-उधर बिखेर रहा है ॥ २७ ॥ हे कामदेव ! तुम्हारा मित्र वसन्त तुम्हें देखनेके लिये बड़ा उतावला है, आकर इसे दर्शन तो दो। क्योंकि पुरुष अपनी स्त्रीसे प्रेम करनेमें भले ही ढिलाई कर दे पर अपने प्रेमी मित्रोंमें तो उसका प्रेम अटल ही होता है ॥२८॥ तुम्हारे इस साथी वसन्तके ही कारण तो ये सब देवता और राक्षस तुम्हारे कमलकी तन्तुसे बनी हुई डोरीवाले और कोमल फूलोंके बाणवाले धनुषका लोहा मानते थे ॥२९॥ हे वसन्त ! देखो तुम्हारा मित्र पवनके झोंकेसे बुझे हुए दीपकके समान जाकर अब लौटता ही नहीं है। अब अत्यन्त दुःखमें भरी हुई मैं उस बुझे हुए दीपककी धुआँ देती हुई बत्ती भर बची रह गई हूँ ॥३०॥

हे वसन्त ! क्या तुम समझते हो कि ब्रह्माने मुझे जीता छोड़कर मेरे आधे अंग कामदेवका वध करके केवल आधा ही वध किया है। उसने मुझे भी मार डाला है क्योंकि तुम्हीं बताओ, भला हाथीकी टक्करसे वृक्षके टूट जानेपर उसके सहारे चढ़ी हुई लता क्या कभी बची रह पाती है ॥३१॥ अब तुम बन्धु होनेके नाते मेरे लिये इतना तो कर दो कि मेरा दाह करके मुझे मेरे पतिके पास पहुँचा दो ॥३२॥

देखो ! चाँदनी चन्द्रमाके साथ चली जाती है, बिजली बादलके साथ ही छिप जाती है, इसलिये पतिके साथ जाना तो जड़ोंमें भी पाया जाता है फिर मैं चेतन होकर अपने पतिके पास क्यों न जाऊँ ॥३३॥ अब मैं अपने सामने पड़े हुए प्यारेके शरीरकी सुन्दर भस्मसे अपने स्तनोंका श्रृंगार करके चिताकी आगमें चढ़कर उसी प्रकार लेट रहूँगी जैसे कोई नई-नई लाल कोंपलोंसे सजी हुई सेज पर जा सोवे ॥३४॥ हे वसन्त ! तुमने बहुत बार हम लोगोंको फूलके बिछौने बनानेमें सहायता दी है अब मैं तुमसे हाथ जोड़कर पैरों पड़कर यह भीख माँगती हूँ कि तुम मेरे लिये शीघ्र ही चिता रच डालो ॥३५॥ और फिर शीघ्रतासे दक्षिण पवनका पंखा झलकर उसमें बड़ी लपटें भी उठा दो जिससे मैं अत्यन्त शीघ्र जलकर राख हो जाऊँ, क्योंकि तुम जानते ही हो कि मेरा प्यारा कामदेव मेरे बिना एक क्षण नहीं रह सकता है ॥ ३६ ॥ और जब मैं जल जाऊँ तब तुम हम दोनों के लिये एक साथ जलसे तर्पण करना जिससे परलोकमें गया हुआ तुम्हारा मित्र मेरे ही साथ जल पी सके ॥३७॥ हे वसन्त ! जब तुम कामदेवका श्राद्ध करना तब उनके लिये पत्तोंवाली आमकी मंजरी अवश्य देना क्योंकि तुम्हारे मित्रको आमकी मंजरी बहुत प्यारी थी ॥३८॥

जैसे अचानक बरसनेवाली वर्षाकी पहली बूँदें सूखते हुए तालाबकी व्याकुल मछलियोंको जिला देती हैं वैसे ही अचानक सुनाई पड़नेवाली आकाशवाणीने भी प्राण छोड़नेको उतारू रतिपर यह कृपाकी वाणी बरसा दी ॥३९॥—हे कामदेवकी पत्नी ! तुम्हारा पति तुम्हें थोड़े ही दिनों में मिल जायगा। वह महादेवजीकी आँखकी ज्वालामें पतंग बनकर कैसे जला वह सुनो ॥४०॥

ब्रह्माजीने सृष्टि करते समय जब सरस्वतीको उत्पन्न किया था उस समय कामदेवने उनके मनमें ऐसा पाप भर दिया कि वे सरस्वतीके रूपपर मोहित हो गए और उससे संभोग करनेकी इच्छा करने लगे। पर इतनेमें ही कामदेवकी काली करतूतका उन्हें पता चल गया और उन्हों ने अपने मनको रोककर कामदेवको शाप दिया कि जाओ, तुम शिवजीके तीसरे नेत्रकी अग्निसे जलकर राख बन

जाओगे। उसीका यह सब फल है ॥४१॥ पर जब धर्मने ब्रह्माजीसे सृष्टिकी रक्षाके लिये कामदेवको जिलानेकी प्रार्थना की तब ब्रह्माजी ने कहा कि जब पार्वतीजीकी तपस्यासे प्रसन्न होकर महादेवजी उनके साथ विवाह कर लेंगे तब कामदेवको अपना सहायक समझकर उसे पहले जैसा शरीर दे देंगे और तभी हमारा शाप भी छूट जायगा। सत्य है जैसे बादलमें बिजली और जल दोनों साथ-साथ रहते हैं वैसे ही संयमी लोगोंके मनमें क्रोध और क्षमा दोनों इकट्ठे ही रहते हैं ॥४२-४३॥ इसलिये हे सुन्दरी! अपने प्यारेसे मिलनेके लिये तुम अपने शरीरकी रक्षा करो। देखो! जो नदियाँ गरमीमें सूर्यकी किरणोंको अपना जल पिलाकर छिछली हो जाती हैं उन्हीं नदियोंमें वर्षा आनेपर बाढ़ आ जाती है ॥ ४४ ॥

इस प्रकार आकाशवाणी सुनकर रतिने अपने प्राण देनेका विचार छोड़ दिया और उस आकाशवाणीपर विश्वास करके कामदेवके मित्र वसन्तने भी बहुत कुछ समझा-बुझाकर उसे ढाढ़स बँधाया ॥ ४५ ॥

आकाशवाणी और वसन्तके धीरज बँधानेपर शोकसे दुबली रति, कामदेवके शाप बीतनेकी अवधिकी उसी प्रकार बाट जोहने लगी जैसे दिनमें दिखाई देनेवाले निस्तेज चन्द्रमाकी किरण साँझ होनेकी बाट जोहती है ॥ ४६ ॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए कुमारसम्भव महाकाव्यमें रति-विलाप नामका चौथा सर्ग समाप्त हुआ।



पाँचवाँ सर्ग

महादेवजीने देखते-देखते कामदेवको भस्म कर डाला। यह देखकर पार्वतीजीकी सब आशाएँ धूलमें मिल गईं और वे जी भरकर अपनी सुन्दरताको कोसने लगीं, क्योंकि जो सुन्दरता अपने प्यारेको न रिझा सके उसका होना न होना दोनों बराबर है ॥ १ ॥ बस उन्होंने ठान लिया कि जिसे मैं रूपसे नहीं रिझा सकी उसे अब सच्चे मनसे तपस्या करके पाऊँगी। बात भी ठीक है क्योंकि ऐसा निराला प्रेम, और ऐसा निराला पति कहीं बिना तपस्याके भी मिला करता है ॥ २ ॥

जब उनकी माँ मेनाने सुना कि हमारी पुत्री शिवजीपर रीझकर उनके लिये तप करनेपर तुली हुई है तब पार्वतीजीको गलेसे लगाकर उन्हें इतनी कड़ी तपस्या करनेसे बरजती हुई वे बोलीं ॥३॥ वत्से! तुम्हारे घरमें ही इतने बड़े-बड़े देवता हैं कि तुम जो चाहो उनसे माँग लो। और फिर तपस्या करना कोई हँसी खेल थोड़े ही है। बताओ, कहाँ तो तपस्या और कहाँ तुम्हारा कोमल शरीर। देखो! शिरीषके फूलपर भौंरे भले ही आकर बैठ जायँ पर यदि कोई पक्षी उसपर आकर बैठने लगे तब तो वह नन्हाँ सा फूल झड़ ही जायगा ॥४॥

पर सब कुछ समझानेपर भी वे अपनी पुत्रीकी टेकको नहीं टाल पाईं क्योंकि अपनी बातके धनी लोगोंका मन और नीचे गिरते हुए पानीका वेग भला कौन उलट सकता है ? ॥ ५ ॥

हिमालय तो पार्वतीजीके मनकी बात जानते ही थे। इसी बीच एक दिन पार्वतीजीने अपनी प्यारी सखीके मुँहसे अपने पिताजीसे पुछवाया कि क्या मैं तबतकके लिये वनमें जाकर तपस्या कर सकती हूँ जबतक शिवजी मुझपर प्रसन्न न हो जायँ ॥ ६ ॥

जब हिमालयने समझ लिया कि पार्वतीजी अपनी सच्ची टेकसे डिगेंगी नहीं तब उन्होंने पार्वतीजीको तप करनेकी आज्ञा दे दी। अपने पूज्य पितासे आज्ञा पाकर वे हिमालयकी उस चोटीपर तप करने पहुँची जहाँ बहुतसे मोर रहा करते थे और पीछे जिसका नाम उन्हींके नामपर गौरीशिखर पड़ गया ॥ ७ ॥

अपनी टेककी पक्की पार्वतीजीने अपना वह हार उतार फेंका जिसके सदा हिलते रहनेसे उनकी छाती परका हरिचन्दन उसमें पुँछकर लगा हुआ था। उसके स्थानपर उन्होंने प्रातःकालके सूर्यके समान लाल-लाल वल्कल लपेट लिया ॥ ८ ॥ जटा रख लेनेपर भी उनका मुख वैसा ही प्यारा लगता था जैसा पहले सजी हुई चोटियोंसे लगता था। क्योंकि केवल भौंरोंसे ही कमल अच्छा नहीं लगता वरन् सेवारसे लिपटा होनेपर भी वह वैसा ही सजीला लगता है ॥ ९ ॥ उन्होंने तपस्याके लिये अपनी कमरमें जो मूँजकी तिहरी तगड़ी बाँध रक्खी थी वह उनके कोमल शरीरपर इतनी चुभती थी कि उससे घड़ी-घड़ी वे काँप उठती थीं और पहले पहल उसे पहननेसे उनकी सारी कमर लाल पड़ गई थी ॥ १० ॥ कहाँ तो वे अपने हाथोंसे ओठ रँगा करती थीं और स्तनके अंगरागसे लाल रँगी हुई गेंद खेला करती थीं, कहाँ उन्हीं कोमल हाथोंमें उन्होंने रुद्राक्षकी माला ले ली और कुशाके अँकुवे उखाड़-उखाड़कर अपने उन्हीं हाथोंकी उँगलियोंमें घाव कर लिए ॥ ११ ॥ अपने पिताके घर पर ठाट-बाटसे सजे हुए पलंगपर करवटें लेते समय अपने बालोंसे झड़े हुए फूलोंके दबनेसे जो पार्वतीजी सी-सी कर उठती थीं वे ही अपने हाथोंका तकिया बनाकर बिना बिछी हुई भूमिपर बैठी-बैठी

सो जाती थीं ॥१२॥ तपके समय वे ऐसी शान्त हो गई थीं मानो तप करनेके समय तकके लिये उन्होंने अपना हाव-भाव कोमल लताओंको और अपनी चंचल चितवन हरिणियोंको धरोहर बनाकर दे दी हो ॥१३॥ आलस छोड़कर उन्होंने वहाँके जिन छोटे-छोटे पौधोंको अपने स्तनोंके जैसे घड़ोंके जलसे सींच-सींचकर पाला था उन्हें वे पुत्रोंके समान इतना प्यार करती थीं कि पीछे जब स्वामी कार्त्तिकेयका जन्म हो गया तब भी उनका वात्सल्य प्रेम इन पौधोंपर कम नहीं हुआ ॥१४॥ वहाँके जिन हरिणोंको उन्होंने अपने हाथसे तिन्नीके दाने खिला-खिलाकर पाला-पोसा था वे इतने परच गए थे कि कभी-कभी मन बहलावके लिये अपनी सखियोंके आगे उन्हें लाकर वे उन हरिणोंके नेत्रोंसे अपने नेत्र मापा करती थीं ॥ १५ ॥

यद्यपि पार्वतीजी छोटी-सी ही थीं फिर भी जब वे स्नान करके, हवन करके, वल्कलकी ओढ़नी ओढ़कर बैठी पाठ-पूजा किया करती थीं, उस समय उन्हें देखनेके लिये दूर-दूरसे बड़े बड़े ऋषि-मुनि उनके पास आया करते थे। क्योंकि जो धर्मका जीवन बितानेमें बढ़े-चढ़े होते हैं उनके लिये फिर यह नहीं देखा जाता कि ये छोटे हैं या बड़े ॥१६॥ उस तपोवनमें रहनेवाले सब पशु-पक्षियोंने अपना पिछला आपसका बैर छोड़ दिया था, वहाँके वृक्ष इतने फल-फूलसे लद गए थे कि आए हुए अतिथि जो चाहते थे वही उन्हें मिल जाता था और वहाँ नई पर्णकुटीमें सदा हवनकी अग्नि जलती रहा करती थी। इन सब बातोंसे वह तपोवन बड़ा पवित्र हो गया था ॥१७॥

पार्वतीजीने जब देखा कि इन प्रारम्भिक नियमोंसे काम नहीं सधता तब उन्होंने अपने शरीरकी कोमलताका ध्यान छोड़कर बड़ी कठोर तपस्या आरम्भ कर दी ॥१८॥ जो पार्वतीजी पहले गेंद खेलनेमें भी थक जाया करती थीं उन्होंने ही जब मुनियोंका कठोर बाना ले लिया तब ऐसा जान पड़ने लगा मानों उनका शरीर सोनेके कमलोंसे बना था, जो कमलसे बने होनेके कारण स्वभावसे कोमल भी था पर साथ ही साथ सोनेका बना होनेसे ऐसा पका भी था कि तपस्यासे कुँभला न सके ॥१९॥ पतली कमरवाली हँसमुख पार्वतीजी गरमीके दिनोंमें अपने चारों ओर आग जलाकर उसीके बीच खड़ी रहने

लगीं और आँखें चकाचौंध करनेवाले सूर्यके प्रकाशको भी जीतकर वे सूर्यकी ओर एकटक होकर देखती रहने लगीं ॥२०॥ इस प्रकार तप करते रहनेपर भी उनका मुख सूर्यकी किरणोंसे तपकर कुम्हलाया नहीं वरन् कमलके समान खिल उठा। हाँ, इतना अवश्य हुआ कि उनकी बड़ी-बड़ी आँखोंकी कोरोंमें धीरे-धीरे कुछ साँवलापन आने लगा ॥ २१ ॥

फिर वर्षाके दिनोंमें वे एक तो बिना माँगे अपने आप बरसे हुए जलको पीकर और दूसरे अमृतसे भरी चन्द्रमाकी किरणोंको पीकर ही रह जातीं। बस यह समझ लीजिए कि उन दिनों पार्वतीजीका खाना-पीना वही था जो वृक्षोंका होता है ॥२२॥ वर्षा होनेपर उधर तो गर्मीसे तपी हुई पृथ्वीसे भाप निकल उठी और इधर ईंधनकी आग तथा सूर्यकी गर्मीसे तपे हुए पार्वतीजीके शरीरसे भाप निकल उठी ॥२३॥ उनके सिरपर जो वर्षाका जल पड़ता था वह पलभर तो उनकी पलकोंमें टिकता था, फिर वहाँसे ढुलककर उनके ओठोंपर जा पड़ता था, वहाँसे उनके कठोर स्तनोंपर गिरकर बूँद-बूँद बनकर छितरा जाता था और फिर उनके पेटपर बनी हुई सिकुड़नोंमें होता हुआ वह बड़ी देरसे नाभितक पहुँच पाता था ॥२४॥ जिन दिनों घनघोर वर्षाके साथ-साथ रात-रातभर आँधियाँ चला करती थीं उन दिनों भी वे खुले मैदानमें पत्थरकी पटियापर ही पड़ी रहा करती थीं और वे अँधेरी रातें अपनी बिजलीकी आँखें खोल-खोलकर इस प्रकार उन्हें देखा करती थीं मानो वे उनके कठोर तपकी साक्षी हों ॥२५॥

पूसकी जिन रातोंमें वहाँका सरसराता हुआ पवन चारों ओर हिम ही हिम बिखेरता चलता था, उन दिनों वे रात-रातभर जलमें बैठी बिता देती थीं और उनके सामने ही चकवे और चकवीका जो जोड़ा एक दूसरेसे बिछुड़ा हुआ चिल्लाया करता था उन्हें वे ढाढ़स बँधाया करती थीं ॥२६॥ उन जाड़ेकी रातोंमें जलके ऊपर पार्वतीजीका मुँह भर दिखाई पड़ता था जाड़ेसे उनके ओंठ काँपते थे और उनकी साँससे कमलकी गन्धके समान जो सुगन्ध निकल रही थी उसकी गमक चारों ओर फैल जाती थी। उस समय जलमें खड़ी हुई वे

ऐसी लगती थीं मानो पालेसे मारे हुए कमलोंके जल जानेपर उनके मुखके कमलने ही उस तालको कमलवाला बनाए रक्खा हो ॥२७॥ अपने आप झड़कर गिरे हुए पत्तोंको खाकर रहना ही तपकी पराकाष्ठा समझी जाती है पर पार्वतीजीने पत्ते खाने भी छोड़ दिए, इसीलिये मधुर-भाषिणी पार्वतीजीको पण्डित लोग पीछे पत्ते न खानेवाली अपर्णा भी कहने लगे ॥२८॥

कमलिनीके समान अपने कोमल अङ्गको इस प्रकारकी तपस्यासे रात-दिन सुखाकर पार्वतीजीने कठोर शरीरवाले तपस्वियोंको भी लजा दिया ॥ २९ ॥

इसी बीच एक दिन ब्रह्मचर्यके तेजसे चमकता हुआ-सा, हरिणकी छाल ओढ़े और पलासका दंड हाथमें लिए हुए, गठीले शरीरवाला और चतुराईके साथ बोलनेवाला एक जटाधारी ब्रह्मचारी उस तपोवनमें आया। वह ऐसा जान पड़ता था मानो साक्षात् ब्रह्मचर्याश्रम ही उठा चला आ रहा हो ॥ ३० ॥

अतिथिका सत्कार करनेवाली पार्वतीजीने बड़े आदरसे आगे बढ़कर उसकी पूजा की, क्योंकि जिन्होंने अपने मनको भली प्रकार साध लिया है वे यदि अपनी बराबरकी अवस्थावाले तेजस्वी पुरुषसे भी मिलते हैं तो बड़े आदरसे मिलते हैं ॥ ३१ ॥

उस ब्रह्मचारीने भेंट-पूजा लेकर और पलभर अपनी थकावट मिटाकर पार्वतीजीकी ओर एकटक देखते हुए बिना रुके बोलना प्रारम्भ कर दिया ॥ ३२ ॥—कहिए, आपको इस तपोवनमें हवनके लिये समिधा, कुशा और स्नान करनेके योग्य जल तो मिल जाता है न? और आप अपने शरीरकी शक्तिके अनुसार ही तप कर रही हैं न? क्योंकि देखिए! धर्मके जितने काम हैं उनमें शरीरकी रक्षा करना सबसे पहला काम है ॥ ३३ ॥ हाँ, आपके हाथसे सींची हुई इन लताओंमें कोमल लाल-लाल पत्तियोंवाली वे कोपलें तो फूट आई होंगी जो आपके उन ओठोंसे होड़ करती होंगी जो बहुत दिनोंसे महावरसे न रँगे जानेपर भी लाल हैं ॥ ३४ ॥ और हे कमलनयनी! आपके हाथसे प्रेमसे कुशा छीनकर खानेवाले इन हरिणोंमें तो आपका मन बहला रहता है न, जिनकी आँखें

आपकी आँखोंके समान ही चञ्चल हैं ॥ ३५ ॥ हे पार्वतीजी ! यह ठीक ही कहा जाता है कि सुन्दरता पापकी ओर कभी नहीं झुकती, क्यों कि हे सुन्दरी ! आपका ही रहन-सहन देखें तो वह इतना, सच्चा है कि बड़े-बड़े तपस्वी भी उससे सीख ले सकते हैं ॥ ३६ ॥ यों तो सप्तऋषियों के हाथसे चढ़ाए हुए पूजाके फूल और आकाशसे उतरी हुई गंगाकी धाराएँ हिमालयपर गिरती हैं, पर इन सबसे भी हिमालय उतना पवित्र नहीं हुआ जितना आपके पवित्र रहन-सहनसे हुआ है ॥ ३७ ॥ हे देवि ! आपके इस आचरणसे ही मैं समझ रहा हूँ कि धर्म, अर्थ और काम इन तीनों में धर्म ही सबसे बढ़कर है क्यों कि आप अर्थ और कामसे अपने मनको हटाकर अकेले धर्मका पल्ला थामकर उसकी सेवा कर रही हैं ॥ ३८ ॥ हे सुन्दरी ! यह कहा जाता है कि सज्जन लोगोंकी पहली ही भेंटमें उनकी मित्रता पक्की हो जाती है, इसलिये आपने जो मेरा सत्कार किया है उसीसे यह सिद्ध है कि आप मुझे कोई पराया नहीं समझतीं ॥ ३९ ॥ हे तपस्विनी ! यदि उसी अपनेपनके नाते मैं ब्राह्मण होनेकी ढिठाई करके आपसे कुछ ऐसी-वैसी बात पूछ बैठूँ तो आप बुरा न मानिएगा और यदि कोई छिपानेकी बात न हो तो आप कृपा करके उत्तर भी दे दीजिएगा ॥ ४० ॥ मैं यही पूछना चाहता हूँ कि ब्रह्माके वंशमें तो आपका जन्म, शरीर भी आपका ऐसा सुन्दर मानो तीनों लोकोंकी सुन्दरता आपमें ही लाकर भरी हो, धनका सुख इतना कि कुछ पूछना ही नहीं और जवानी भी अभी फूट ही रही है, फिर बताइए कि आपको तप करनेकी आवश्यकता क्या आ पड़ी ॥ ४१ ॥ हाँ, कभी-कभी ऐसा भी होता है कि अपने वैरीसे बदला लेनेके लिये भी मानिनी स्त्रियाँ कठोर तपस्या कर बैठती हैं पर जहाँतक मैं समझता हूँ, ऐसी भी कोई बात नहीं दिखाई देती ॥४२॥ क्यों कि हे सुन्दर भौंहोंवाली ! आपका रूप ही ऐसा है कि न तो आपपर कोई क्रोध ही कर सकता है न आपका निरादर कर सकता। क्यों कि पिताके घरमें तो आपका निरादर करनेवाला कोई है नहीं और यह भी नहीं हो सकता कि कोई शत्रु आकर आपका अपमान करे क्यों कि ऐसा कौन माईका लाल जन्मा है जो साँपकी मणि लेनेके लिये उसपर

हाथ डालेगा ॥४३॥ इसलिये हे गौरी ! आप यह तो बताइए कि इस भरी जवानीमें आपने सुन्दर गहने छोड़कर ये वुढ़ियोंवाले वल्कल क्यों पहन लिए हैं। बताइए भला चढ़ती हुई रातकी सजावट खिले हुए चन्द्रमा और तारोंसे होती है या सवेरेके सूर्यकी लालीसे? ॥ ४४ ॥ और यदि आप स्वर्ग पानेकी इच्छासे तप कर रही हों तब तो आपका सारा परिश्रम अकारथ है क्योंकि आपके पिता हिमालयका जितना राज्य है उतनेमें ही तो सब देवता रहते हैं, और यदि आप अपने योग्य पति पानेके लिये तपस्या करती हों तब भी तपस्या व्यर्थ है क्योंकि मणि किसीको खोजने नहीं जाता, उल्टे मणिको ही लोग खोजते फिरते हैं ॥ ४५ ॥ आपने जो लम्बी साँस ली है इससे मैं समझ रहा हूँ कि आप योग्य पति पानेके लिये ही तपस्या कर रही हैं, पर मेरे जी में यह बड़ा भारी सन्देह उठ खड़ा हुआ है कि भला आप जिसे चाहें वह आपको न मिले, यह बात हो कैसे सकती है, क्योंकि मुझे तो संसारमें कोई ऐसा पुरुष नहीं जँचता जिसके पीछे आपको दौड़ना पड़े ॥ ४६ ॥ यह सचमुच बड़े अचरजकी बात है कि जिस युवकको आप चाहती हों वह ऐसा हठी हो कि बहुत दिनों से कर्णफूलसे सूने आपके गालों पर लटकी हुई इन धानके बालोंके समान पीली जटाओंको देखकर भी न पिघलता हो ॥ ४१ ॥ ऐसा कौन जीता-जागता पुरुष होगा जिसका जी आपके इस तपस्यासे अत्यन्त सूखे हुए शरीरको देखकर रो न पड़े जिसपर आभूषण पहनने के अंग सूर्यकी किरणों से झुलस गए हैं और जो दिनके चन्द्रमाकी लेखाके समान उदास दिखाई पड़ रहा है ॥ ४२ ॥ मैं समझता हूँ कि आप जिसे प्यार करती हैं वह अपनी सुन्दरताका झूठा घमण्ड लिए फिरता है नहीं तो उसे अबतक यहाँ आकर अपने मुँहको आपकी कटीली भौहोंवाले सुन्दर नैनोंका लक्ष्य बनाना चाहिए था ॥४६॥ अच्छा, यह तो बताइए गौरीजी ! कि आप कबतक यह तपस्या करती रहेंगी ? देखिए, ब्रह्मचर्यकी अवस्थामें मैंने बहुत सी तपस्या इकट्ठी कर रक्खी है। उसका आधा भाग आपले लीजिए और आपकी जो भी साधें हों, सब उनसे पूरी कर लीजिए। पर हाँ, इतना तो कमसे कम बता दीजिए कि वह है कौन ॥५०॥

उस ब्राह्मणने इस ढंगसे बातें कहीं मानो पार्वतीजीके हृदयमें पैठकर सब बातें जान ली हों। उन्हें सुनकर पार्वतीजी ऐसी लजा गईं कि वे अपने मनकी बात अपने मुँहसे कह न पाईं। इसलिये उन्होंने अपने बिना काजल लगे नेत्र पास बैठी हुई सखीकी ओर घुमाकर उसे बोलनेके लिये संकेत किया ॥ ५१ ॥

तब पार्वतीजीकी सखी उस ब्रह्मचारीसे बोली—हे साधु! यदि आप सुनना ही चाहते हों तो मैं बताती हूँ कि जैसे कोई धूप बचानेके लिये कमलका छाता लगा ले वैसे ही इन्होंने भी अपने कोमल शरीरको कठोर तपस्यामें क्यों लगा दिया ॥ ५२ ॥ ये मानिनी, महेन्द्र आदि बड़े-बड़े चारों दिगपालोंको छोड़कर उन महादेवजीसे विवाह करने पर तुली हुई हैं जो अब कामदेवके नष्ट हो जाने पर केवल रूप दिखाकर नहीं रिझाए जा सकते ॥ ५३ ॥ उस समय कामदेवने शिवजीके ऊपर जो बाण चलाया था वह उनकी हुंकार सुनकर ही लौट गया और उस जलकर राख बने हुए कामदेवका वह बाण मेरी सखीके हृदयमें लगकर बड़ा भारी घाव कर गया ॥ ५४ ॥ तभीसे ये बेचारी अपने पिताके घर इतनी प्रेमकी पीड़ासे व्याकुल हुई पड़ी रहती थीं कि माथेपर पुते हुए चन्दनसे बाल भर जानेपर भी और जमे हुए हिमकी पाटियोंपर लेटे रहने पर भी इन्हें चैन नहीं मिलती थी ॥ ५५ ॥ जब ये महादेवजीके गीत गाने लगती थीं तब इनकी संगीतकी सखियाँ वनवासिनी किन्नरी राज-कुमारियाँ इनके रुँधे हुए गलेसे निकले हुए शब्दोंको सुन-सुनकर बहुत बार रो देती थीं ॥५६॥ रातके पहले ही पहरमें क्षण भरके लिये आँख लगी नहीं कि बिना बातके ये चौंककर घबराती हुई जाग उठती थीं कि हे नीलकंठ! तुम कहाँ जा रहे हो, और उसी सपनेके धोखेमें ये अपने हाथोंको ऐसा फैलाती थीं मानो शिवजीके गलेमें हाथ डालकर उन्हें रोक रही हों ॥ ५७ ॥ इस प्रकार नींदमें उठकर ये अपने हाथसे बनाए हुए शंकरजीके चित्रको ही सचमुच शंकरजी समझकर उन्हें यह कहकर उलाहना देने लगती थीं कि आपके लिये पंडित लोग तो कहते हैं कि आप घट-घटकी बात जानते हैं फिर आप मेरी ओर इतना क्यों नहीं जान पाते जो आपको मैं मनसे प्यार करती

है ॥ ५८ ॥ जब उन संसारके स्वामी शिवजीको पानेका इन्हें कोई दूसरा उपाय न सूझा तो ये अपने पिताकी आज्ञा लेकर हम लोगोंके साथ तप करनेके लिये यहाँ तपोवनमें चली आईं ॥ ५९ ॥ हमारी सखीको यहाँ तपस्या करते हुए इतने दिन हो गए कि इनके हाथके रोपे हुए जिन वृक्षोंने इनके तपको खड़े खड़े देखा है वे भी फल गए पर महादेवजीको पानेकी जो इनकी साध थी उसमें अभी अँकुवे भी नहीं फूट पाए हैं ॥ ६० ॥ तपने इन्हें ऐसा सुखा दिया है कि इन्हें देखकर हमारी सखियोंकी आँखें भी डबडबा आती हैं। इतने पर भी जो दुर्लभ वर पानेके लिये ये इतनी साँसत भोग रही हैं वह देखें कब हमारी सखीपर उसी प्रकार कृपा बरसाता है जैसे जुती हुई होनेपर भी पानी न बरसनेसे सूखी हुई धरतीपर इन्द्र पानी बरसा देते हैं ॥ ६१ ॥

इस प्रकार पार्वतीके मनकी बात जाननेवाली सखीने तपस्या करनेका ठीक-ठीक कारण बता दिया। यह सुनकर उस ब्रह्मचारी और सुन्दर पुरुषने अपने मुखपर प्रसन्नताकी एक रेखा भी नहीं पड़ने दी और उलटा पार्वतीजीसे पूछने लगा कि ये जो कुछ कह रही हैं वह क्या सत्य है, या ये हँसी कर रही हैं ॥६२॥

बहुत देरतक तो पार्वतीजी लाजके कारण कुछ भी नहीं बोली पर उन्होंने अपनी अँगुलियोंको समेटकर स्फटिककी माला हाथमें पहन ली और बड़े नपे-तुले अक्षरोंमे वे किसी-किसी प्रकार बोलीं ॥ ६३ ॥ हे वेदके परम पडित ! आपने जैसा सुना है मेरे मनमें वैसा ही ऊँचा पद पानेकी साध जाग उठी है और यह तप भी मैं उन्हींको पानेके लिये कर रही हूँ, क्योंकि साध कहाँतक पहुँचती है इसका कोई ठिकाना तो है ही नहीं ॥६४॥

पार्वतीजीकी बात सुनकर ब्रह्मचारी बोला कि जिसने पहले ही आपके प्यारको ठुकरा दिया, उसे पानेके लिये क्या आपके मनमें अभी तक साध बनी हुई है ? जब मैं उन भौंड़े वेशवाले शिवजीका विचार करता हूँ तब मेरा मन तो नहीं करता कि आपको इसके लिये सम्मति दूँ ॥ ६५ ॥ पार्वतीजी ! आप भी किस वेतुकेसे प्रेम करने चली हैं। बताइए तो, पाणि-ग्रहणके समय विवाहके मंगल सूत्रसे सजा

हुआ आपका यह हाथ शंकरजीके साँप लिपटे हुए हाथको कैसे छू पावेगा? ॥ ६६ ॥ आप स्वयं सोचिए, कि कहाँ तो हंस छपी हुई चुँदरी ओढ़े हुए आप, और कहाँ रक्तकी बूँद टपकाती हुई महादेवजीके कन्धे पर पड़ी हुई हाथीकी खाल! भला ये दोनों कहाँ मेल खा सकती हैं॥६७॥ आप अभी तक फूल बिछे हुए चौकमें चलती आई हैं। अब बताइए आप अपने महावरसे रँगे पैरोंको उस श्मशानकी भूमिमें कैसे रक्खेंगी जहाँ इधर-उधर भूत-प्रेतोंके बाल बिखरे पड़े होंगे। यह बात तो आपका शत्रु भी आपके लिये नहीं चाहेगा ॥ ६८ ॥ और बताइए, यदि शिवजी आपको मिल भी जायँ तो भी इससे बढ़कर भद्दी और क्या बात होगी कि आपके जिन स्तनोंपर हरिचन्दन पुता हुआ है उनपर चिताकी भस्म पोती जाय ॥ ६९ ॥ और एक सबसे बड़ी हँसीकी बात तो तब होगी जब आप हाथी छोड़कर उनके बूढ़े बैलपर चढ़कर अपनी ससुरालको चलेंगी और नगरके भलेमानुस सब आपको देखकर तालियाँ बजावेंगे ॥७०॥ मैं तो समझता हूँ कि शिवजीको पानेके फेरमें दोके भाग फूट गए, एक तो चन्द्रमाकी कलाके, जो उनके माथेपर है, और दूसरे आपके जो संसारके नेत्रोंको खिलानेवाली हैं ॥ ७१ ॥ और देखिए, तीन तो उनके आँख, जन्मका उनके कोई ठिकाना नहीं, और उनके सदा नंगे रहनेसे ही आप समझ सकती होंगी कि उनके घरमें धरा ही क्या होगा। इसलिये हे मृगके छौनेकी आँख जैसी आँखवाली पार्वतीजी! वरमें जो गुण खोजे जाते हैं उनमेंसे एक भी तो महादेवजीमें नहीं है। न रूप है, न कुल है और न धन है ॥ ७२ ॥ इसलिये आप अपने मनसे यह भोंडी इच्छा हटा ही दीजिए। बताइए, कहाँ तो महादेव, और कहाँ सुन्दर लक्षणोंवाली आप। देखिए, शूली देनेके लिये श्मशानमें जो खंभा गड़ा रहता है उसको जिस प्रकार सज्जन लोग यज्ञके खंभेका काम नहीं लेते हैं वैसे ही इन महादेवजीको पति बनाना भी आपको शोभा नहीं देता ॥ ७३ ॥

उस ब्रह्मचारीकी ऐसी उल्टी-सीधी बातें सुनकर पार्वतीजीके ओंठ क्रोधसे काँपने लगे, उनकी आँखें लाल हो गईं और उन्होंने भौंहें तानकर उस ब्रह्मचारीकी ओर आँखें तरेरकर देखा ॥ ७४ ॥

और बोलीं—तब तुम महादेवजीको भली प्रकार जानते ही नहीं जो मुझसे इस प्रकार कह रहे हो। जो खोटे लोग होते हैं वे उन महात्माओं के अनोखे कामोंको बुरा कहते ही हैं जिन्हें पहचाननेकी उनमें योग्यता नहीं होती ॥ ७५ ॥ लोग जो गन्ध आदि मंगल वस्तुओंको काममें लाते हैं उसका कारण यह है कि या तो वे अमंगल दूर करनेके लिये ऐसा करते हैं या फिर अपनी तड़क-भड़क दिखलानेके लिये। पर जो तीनों लोकोंकी रक्षा करनेवाले हैं और जिनके मनमें कोई इच्छा ही नहीं रहती वे शंकरजी, इन वस्तुओंको लेकर करेंगे ही क्या? ॥ ७६ ॥ पासमें कुछ न होते हुए भी सारी सम्पत्तियाँ वे ही उत्पन्न करते हैं, श्मशानमें रहते हुए भी वे तीनों लोकों के स्वामी हैं और डरावने दिखाई देनेपर भी वे सबका कल्याण करनेवाले कहे जाते हैं,इसलिये उनका सच्चा रूप संसारमें कोई समझ नहीं पाता है ॥ ७७ ॥ संसारमें जितने रूप दिखाई देते हैं वे सब उन्हीं के तो हैं इसलिये उनका शरीर गहनों से चमकता हो या साँपों से लिपटा हुआ हो, हाथीकी खाल लटकाए हुए हो या वस्त्र ओढ़े हुए हो, गलेमें खोपड़ियोंकी माला पहने हुए हो या माथेपर चन्द्रमा सजाये हुए हो पर उसपर यह विचार नहीं किया जाता कि वह कैसा है कैसा नहीं ॥ ७८ ॥ उनके शरीरसे लगकर चिताकी राख भी पवित्र हो जाती है, इसीलिये तो जब वे तांडव नृत्य करने लगते हैं उस समय उनके शरीरसे झड़ी हुई भस्मको देवता लोग बड़ी श्रद्धासे अपने माथे चढ़ाते हैं॥७९॥जिन्हें तुम दरिद्र कहते हो वे ही जब अपने बैलपर चढ़कर चलते हैं तब मतवाले ऐरावतपर चढ़नेवाला इन्द्र भी आकर उनके पैरोंपर मस्तक नवाता है और फले हुए कल्पवृक्षके पराग से उनके पैरोंकी उँगलियाँ रँगा करता है ॥८०॥ तुमने अपने दुष्ट स्वभाव से कहते-कहते कमसे कम एक बात तो उनके लिये ठीक कह दी कि जो ब्रह्मातकको उत्पन्न करनेवाला बताया जाता है उस ईश्वरके जन्म और कुलको कोई जान ही कैसे सकता है ॥ ८१ ॥ इसलिये, अब यह झगड़ा जाने दीजिए। आपने उन्हें जैसा सुना, वे वैसे ही सही पर मेरा मन तो उन्हीं में रम गया है। जब किसीका मन किसीपर लग जाता है तब वह किसीके कहने-सुननेपर ध्यान थोड़े ही देता है ॥ ८२ ॥

इतनेमें उन्होंने देखा कि ब्रह्मचारी कुछ और बोलना चाहता है। यह देखकर वे अपनी सखीसे बोलीं—देखो सखी! इस ब्रह्मचारीके ओठ फड़क रहे हैं। यह फिर कुछ कहना चाहता है। इसे अब कह दो कि एक बात भी न बोले। क्योंकि जो बड़ोंकी निन्दा करता है केवल वही पापी नहीं होता, वरन् जो सुनता है उसे भी पाप लगता है ॥ ८३ ॥ या फिर मैं ही यहाँसे उठकर चली जाती हूँ। यह कहकर वे उठीं। इस हड़बड़ीमें उनके स्तनपर पड़ा हुआ वल्कल फट गया और ज्यों ही उन्होंने चलनेको पैर बढ़ाया त्यों ही महादेवजीने अपना सच्चा रूप धारण करके मुस्कराते हुए उनका हाथ थाम लिया ॥८४॥

महादेवजीको देखकर पार्वतीजीके शरीरमें कँपकँपी छुट गई। वे पसीने-पसीने हो गईं और आगे चलनेको उठाए हुए अपने पैरको उन्होंने जहाँका तहाँ रोक लिया। जैसे धाराके बीचमें पहाड़ पड़ जानेसे न तो नदी आगे बढ़ पाती है न पीछे हट पाती है वैसे ही हिमालयकी कन्या भी न तो आगे ही बढ़ पाईं न खड़ी ही रह पाईं ॥ ८५ ॥

शिवजी बोले—हे कोमल शरीरवाली! आजसे तुम मुझे तपसे मोल लिया हुआ अपना दास समझो। इतना सुनना भर था कि तपस्यासे पार्वतीजीको जितना कष्ट हुआ था वह सब जाता रहा क्योंकि जब काम पूरा हो जाता है तब उसके लिये किया हुआ कष्ट फिर खटकता नहीं ॥ ८६ ॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए कुमारसंभव महाकाव्यमें तपःफल नामक पाँचवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥



छठा सर्ग

तब पार्वतीजीने, घट-घटमें रमनेवाले शंकरजीको अपनी सखीके मुँहसे धीरेसे कहलाया कि मेरा विवाह करने या न करनेवाले मेरे पिता हिमालय हैं, इसलिये यदि आप मुझसे विवाह करना चाहते हों तो पहले उन्हें जाकर मना लीजिए ॥१॥ प्रेममें पगी हुई पार्वतीजी अपनी सखीके मुँहसे महादेवजीको यह सन्देश कहलाती हुई वैसी ही सुशोभित हुईं जैसे कोयलकी बोलीमें वसन्तके पास अपना सन्देश भेजती हुई आमकी डाल शोभा देती है ॥ २ ॥

महादेवजीने कहा—अच्छी बात है, और बड़ी कठिनाईसे उन्हों ने पार्वतीजीको घर जानेकी आज्ञा दी। पार्वतीजीके चले जानेपर उन्हों ने तेजसे जगमगानेवाले सप्त ऋषियों को झटसे स्मरण किया ॥३॥ स्मरण करते ही तेजोमंडलों से उजाला करते हुए अरुन्धतीको साथ लेकर तत्काल शंकरजीके आगे वे सातों तपस्वी आकर खड़े हो गए ॥४॥ जिन्हों ने उस आकाश-गंगामें स्नान कर रक्खा था जो अपने तीरपर गिरे हुए कल्पवृक्षके फूलोंको अपनी लहरोंपर उछालती चलती है और जिसके जलमें दिग्गजों के मदकी सुगन्ध आया करती है ॥ ५ ॥ जिनके कन्धोंपर मोतीके यज्ञोपवीत लटक रहे थे,

पीठपर सोनेके वल्कल पड़े हुए थे, जो हाथोंमें रत्नोंकी माला लिए हुए थे और जो इस वेशमें ऐसे जान पड़ते थे मानो कल्प-वृक्षोंने संन्यास ले लिया हो ॥ ६ ॥ उनके तलेसे जाता हुआ सूर्य अपने घोड़े नीचे रोककर और झंडी उतारकर बड़ी नम्रतासे जिन्हें ऊपर आँख उठाकर प्रणाम किया करता है ॥ ७ ॥ जो प्रलयके समय वराह भगवानके जबड़ोंसे उबारी हुई पृथ्वीके साथ-साथ उनके जबड़ोंमें विश्राम किया करते हैं ॥ ८ ॥ जिनके लिये लोग कहते हैं कि ब्रह्माके सृष्टि कर चुकनेपर इन्हीं ऋषियोंने ही सृष्टि की थी और इसीलिये जिन्हें इतिहास जाननेवाले पुराने लोग विधाता कहा करते हैं ॥ ९ ॥ जो अपने पूर्व जन्मकी तपस्याका फल भोगते रहनेपर भी अब तक तपस्या करते चले जाते हैं ॥ १० ॥ और जिनके बीचमें, अपने पति वशिष्ठजीके चरणोंकी ओर निहारती हुई सती अरुन्धती ऐसी लगती थीं मानो साक्षात् तपकी सिद्धि ही आकर खड़ी हो गई हो ॥ ११ ॥

शंकरजीने अरुन्धतीजीको और ऋषियोंको बिना स्त्री-पुरुषके भेद-भाव किए समान आदरसे देखा, क्योंकि सज्जन लोगोंसे व्यवहार करते समय यह नहीं देखा जाता कि यह पुरुष है या स्त्री, वरन् यही विचार किया जाता है कि इनका चरित्र कैसा है ॥ १२ ॥

शिवजीने जब अरुन्धतीजीको देखा तब उनके मनमें यह बात और भी पक्की जम गई कि बिना पतिव्रता पत्नीके विवाह किए धार्मिक क्रियाएँ पूरी नहीं हो सकतीं ॥ १३ ॥

शंकरजीके मनमें पार्वतीजीसे विवाह करनेकी इच्छा देखकर उस कामदेवके मनमें भी कुछ-कुछ ढाढ़स होने लगा जो अभीतक अपने एक बारके किए हुए अपराधसे डरा बैठा था ॥ १४ ॥

तब वेद-वेदाङ्गको जाननेवाले और प्रेमसे पुलकित शरीरवाले सप्तऋषियोंने शंकरजीका पूजन करके उनसे कहा कि भली प्रकार वेद पढ़नेका, विधि पूर्वक हवन करनेका और तप करनेका जो कुछ भी फल हो सकता है वह सब आज हमें मिल गया ॥ १५ ॥ क्योंकि आपने जिस मनतक किसीकी इच्छाएँ भी नहीं पहुँच सकतीं उसी मनसे आप संसारके स्वामीने हम लोगोंको स्मरण किया है ॥ १६ ॥

यों तो आप जिसके मनमें बसते हैं वही सबसे बड़ा पुण्यात्मा है पर जो आपके चित्तमें आकर बसता हो उसका तो फिर कहना ही क्या ॥ १८ ॥ यद्यपि हम लोग सूर्य और चन्द्रमा दोनों से यों ही ऊपर रहते हैं पर आज आपने स्मरण करके हमें उनसे और भी ऊँचा चढ़ा दिया है ॥ १९ ॥ आपसे यह आदर पाकर हम अपने मनमें फूले नहीं समाते क्यों कि अपने गुणोंपर लोगोंको तभी सच्चा विश्वास होता है जब सज्जन लोग उनके गुणोंका आदर करें ॥ २० ॥ हे शिवजी ! आपने हमको जो स्मरण किया है उससे हमारे मनमें आपके लिये जो प्रेम उत्पन्न हुआ है उसे हम अपने मुँहसे आपके आगे क्या कहें, क्यों कि आप तो घट-घटकी जाननेवाले हैं ॥ २१ ॥ हे देव ! यद्यपि हम आपको अपनी आँखोंके आगे खड़ा देख रहे हैं फिर भी हम आपका भेद ठीक-ठीक जान नहीं पा रहे हैं इसलिये आप कृपा करके अपना स्वरूप तो बताइए क्यों कि हमारी बुद्धि तो आप तक पहुँच नहीं पाती ॥ २२ ॥ यह तो बताइए कि आपकी जो मूर्ति हम देख रहे हैं, यह क्या वही है जिससे आप सृष्टि उत्पन्न करते हैं, या वह है जिससे पालन करते हैं, या वह है जिससे संसार का संहार करते हैं ॥ २३ ॥ पर देव ! यह तो बड़ी लंबी कथा है। इसे अभी रहने दीजिए और पहले यह बताइए कि आपने हमें इस समय किस कामके लिये स्मरण किया है। कहिए, हमें क्या करना होगा ॥ २४ ॥

अपनी मन्द हँसीसे चमकते हुए दाँतोंकी दमकसे, सिरपर बैठे हुए बालचन्द्रमाकी मन्दी चमकको बढ़ाते हुए महादेवजी सप्तऋषियों-से बोले ॥२५॥ हे मुनियो ! आप लोग तो जानते ही हैं कि हम अपने लिये कुछ नहीं करते और हमारी आठो मूर्त्तियाँ—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आकाश, सूर्य, चन्द्र और होता—इस बातके साक्षी भी हैं ॥२६॥ इसलिये जैसे प्यासे चातक, बादलों से जलकी बूँदे माँगते हैं वैसे ही शत्रुओं से सताए हुए देवता लोग भी मुझसे पुत्र उत्पन्न कराना चाहते हैं ॥ २७ ॥ इसलिये पुत्र उत्पन्न करनेकी इच्छासे मैं पार्वती-जीको उसी प्रकार लाना चाहता हूँ जैसे अग्नि उत्पन्न करनेके लिये यजमान अरणि लाता है ॥२८॥ तो आप लोग मेरी ओरसे जाकर

हिमालयसे पार्वतीजीको माँग लीजिए क्योंकि सज्जन लोग बीचमें पड़कर जो सम्बन्ध करा देते हैं उसमें फिर किसी प्रकारकी झंझट नहीं होती ॥२९॥ फिर ऐसी ऊँची प्रतिष्ठावाले और पृथ्वीको धारण करनेवाले हिमालयसे सम्बन्ध करके मैं भी अपनेको धन्य समझूँगा ॥ ३० ॥ आप लोगोंको यह तो समझाना नहीं है कि कन्याको माँगनेके लिये ऐसे कहिएगा। क्योंकि इस प्रकारके शिष्टाचारकी जो बातें दूसरे पंडित लोग काममें ला रहे हैं वे आप ही लोगों ने तो बनाई हैं ॥ ३१ ॥ हाँ, आर्या अरुन्धती भी इस काममें सहायता कर सकती हैं, क्योंकि इन बातों में प्रायः स्त्रियाँ अधिक चतुर होती हैं ॥ ३२ ॥ इसलिये अब आप लोग हिमालयके ओषधिप्रस्थ नगरमें जाकर काम बनाइए और वहाँसे लौटकर महाकोशी नदीके झरनेपर आकर आप लोग मुझसे मिल लीजिएगा ॥ ३३ ॥

जब सप्तऋषियों ने देखा कि संयमियों में श्रेष्ठ महादेवजी ही विवाहके लिये इतने उतावले हैं तब उन लोगों के मनमें विवाहकी बातों से जो झिझक हुआ करती थी वह सब जाती रही ॥३४ ॥

तब ऋषि लोग ॐ कहकर चल दिए और भगवान् शंकर भी वहाँ पहुँच गए जहाँ उन्हों ने ऋषियों से मिलनेको कहा था ॥३५॥

मनके समान वेगसे चलनेवाले वे परम ऋषि लोग कृपाणके समान नीले आकाशमें उड़ते हुए ओषधिप्रस्थ नगरमें पहुँच गए॥३६॥ वह नगर ऐसा भरापूरा था मानो उसने धन-सम्पत्तिसे भरी हुई अलकाको भी नीचा दिखा दिया हो और ऐसा जान पड़ता था मानो स्वर्गका बढ़ा हुआ धन निकालकर इसमें ही ला भरा हो ॥३७॥ उस नगरके चारों ओर गंगाजीकी धाराएँ बहती थीं, चमकनेवाली जड़ी-बूटियाँ वहाँ प्रकाश करती थीं और मणियोंके ऊँचे-ऊँचे परकोटों में छिपे रहनेपर भी वह नगर बड़ा सुन्दर लग रहा था ॥३८॥ वहाँके हाथी ऐसे थे कि सिंहको भी पावँ तो पछाड़ दें, और घोड़े तो सभी बिल जातिके थे। वहाँके नागरिक देखो तो यक्ष या यक्ष थे या किन्नर, और स्त्रियाँ तो सब वनदेवियाँ ही थीं ॥ ३९ ॥ इस नगरके घरोंपर दिन-रात बादल छाए रहते थे और उन

कभी उन घरोंमें मृदंग बजता था तब लोगोंको पहले यही भ्रम होता था कि यह बादलों की गरजकी गूँज है, पर फिर उनकी तालसे समझ जाते थे कि ये बादल नहीं गरजते वरन् मृदंग बज रहे हैं ॥४०॥ कल्प-वृक्षकी चंचल शाखाएँ ही उस नगरकी झंडियाँ थीं और यद्यपि उन्हें किसी नागरिकने बनाया नहीं था फिर भी वे ऐसी लग रही थीं मानो घरोंपर डंडे खड़े करके उनमें झंडियाँ बाँध दी गई हों ॥४१॥ स्फटिकके भवनोंमें सजे हुए मदिरालयपर रातको जब तारोंकी परछाईं पड़ती थी तो ऐसा जान पड़ता था मानो किसीने फूल बिखेर दिए हों ॥४२॥ बरसातके दिनोंमें रातको चमकनेवाली जड़ी-बूटियाँ ऐसा प्रकाश देती थीं कि वहाँकी अभिसारिकाओंको बरसातकी घनी अँधियारीमें भी अँधेरेका पता नहीं चलता था ॥४३॥ वहाँके लोग सदा-जवान् थे, कामदेवको छोड़कर और कोई किसीको मारता नहीं था और संभोगकी थकावटसे जो नींद आती थी वही वहाँकी मूर्छा थी ॥४४॥ यों तो वहाँ कोई किसीको डाँटता-डपटता नहीं था पर हाँ, वहाँकी स्त्रियाँ भौंहें चढ़ा-चढ़ाकर, ओठ कँपा-कँपाकर, और सुन्दर उँगलियाँ चमका चमकाकर अपने प्रेमियोंको तबतक अवश्य डाँटती थी जबतक वे प्रेमी आगेके लिये अपने कान न पकड़ लें ॥४५॥ गन्धमादन नामका सुगन्धित पर्वत ही उस नगरके बाहरका उपवन था जिसके कल्प-वृक्षोंकी छायामें विद्याधर लोग चलते-चलते थककर सो जाते थे ॥४६॥

हिमालयकी उस राजधानीको देखकर उन दिव्य मुनियों ने सोचा कि स्वर्गके लिये इतनी तपस्या करके हम लोग ठगे ही गए ॥४७॥

चित्रमें बनी हुई आगकी निश्चल लपटों जैसी अपनी जटाएँ लिए-दिए जब वे बड़े वेगसे हिमालयके भवनपर उतरे तब हिमालयके द्वार-रक्षक ऊपर मुँह उठा-उठाकर इन्हें अचरजके साथ देखने लगे ॥ ४८ ॥

आकाशसे एक-एक करके उतरते हुए वे मुनि ऐसे शोभा देते थे जैसे चलते हुए जलमें पड़ी हुई सूर्यकी बहुत सी परछा-इँयाँ हों ॥४९॥

उन्हें देखकर हाथमें अर्घ्य-पाद्य लेकर दूरसे ही उनकी पूजा

करनेके लिये जब हिमालय अपने ठोस बोझीले पैर बढ़ाता हुआ चला तो उसके पैरोंकी धमकसे पृथ्वी भी पग-पगपर झुकती चली ॥५०॥ मुनियोंने देखतेही पहचान लिया कि यह गेरु आदि धातुओंकी लाल चट्टानोंके ओठोंवाला, देवदारुके बड़े-बड़े वृक्षोंकी भुजाओंवाला और स्वभावसे ही पत्थरकी शिलाओंवाली चौड़ी और पक्की छातीवाला हिमालय ही है ॥ ५१ ॥

हिमालयने बड़ी विधिके साथ उन ऋषियोंकी पूजा की और उन सत्कर्म करनेवाले ऋषियोंको मार्ग दिखाता हुआ उन्हें अपने साथ रनिवासमें ले गया ॥५२॥ हिमालयने इन ऋषियोंको बेंतके आसनोंपर बैठा दिया और फिर हाथ जोड़कर उनसे कहा ॥ ५३ ॥ आपका इस प्रकार अचानक आना मुझे ऐसा लग रहा है जैसे बिना बादलोंके वर्षा हो गई हो या बिना फूलके आप ही फल निकल आया हो ॥ ५४ ॥ मैं अपनेको आज ऐसा समझ रहा हूँ मानो मुझ मूर्खको ज्ञान मिल गया हो, लोहेसे सोना बन गया हूँ और पृथ्वीपर रहते हुए भी स्वर्गमे चढ़ गया हूँ ॥ ५५ ॥ मैं आजसे अपनेको ऐसा बड़ा भारी तीर्थ समझने लगा हूँ जहाँ आते ही लोग शुद्ध हो जायँ, क्योंकि सज्जन लोग जहाँ आकर बस जायँ वही तो तीर्थ हो जाता है ॥ ५६ ॥ हे ब्रह्मऋषियों! मैं अपनेको दोनों प्रकारसे पवित्र मानता हूँ, एक तो सिरपर गंगाजीकी धारा गिरनेसे, दूसरे आप लोगोंके चरणकी धोवन पा लेनेसे ॥ ५७ ॥ हे मुनियो! मुझे ऐसा जान पड़ता है कि आप लोगोंने मेरे चल और अचल दोनों शरीरों पर अलग-अलग कृपा की है क्योंकि मेरे चल शरीरको तो आपने अपना दास बना लिया है और मेरे अचल शरीरपर आपने अपने पवित्र चरण धरे हैं ॥ ५८ ॥ आप लोगोंने यहाँ आकर जो कृपा की है उससे मुझे इतनी प्रसन्नता हो रही है कि दूर-दूरतक फैले हुए अपने इन बड़े अङ्गोंमें भी मैं फूला नहीं समा रहा हूँ ॥ ५९ ॥ आप जैसे तेजस्वियोंके दर्शनसे केवल मेरी गुफाओंका ही अँधेरा नहीं मिटा वरन् मेरे हृदयके अज्ञानका अँधेरा भी जाता रहा ॥ ६० ॥ मेरी समझमें आप किसी कामसे तो यहाँ आए नहीं होंगे। क्योंकि आपमें तो स्वयं इतनी शक्ति है कि

किसी भी कामको वातकी वातमें पूरा कर लें। इसलिये मैं तो यही समझता हूँ कि केवल मुझको पवित्र करनेके लिये ही आप लोगोंने यहाँ आनेका कष्ट किया है ॥ ६१ ॥ पर जब आप आ ही गए हैं तो मेरे लिये कोई सेवा बताइए। स्वामीको तभी प्रसन्न समझना चाहिए जब वे सेवकसे कुछ काम करनेको कहें ॥ ६२ ॥ यहाँ आपकी आज्ञाका पालन करने के लिये मैं आपके आगे खड़ा ही हूँ, ये मेरी स्त्रियाँ हैं और यह मेरे घरभरकी प्यारी कन्या है। इनमेंसे जिससे भी आपका काम बने उसे आज्ञा दीजिए, क्योंकि धन-सम्पत्ति आदि जितनी वाहरी वस्तुएँ हैं वे तो आपकी सेवाके लिये तुच्छ हैं इसलिये उनका नाम लेते हुए भी मुझे हिचक हो रही है ॥ ६३ ॥

हिमालयके कह चुकनेपर गुफाओंमेंसे जो गूँज निकली वह ऐसी जान पड़ती थी मानो हिमालयने अपनी बात फिरसे दुहरा दी हो ॥ ६४ ॥ तब ऋषियोंने महादेवजीका संदेश हिमालयसे कहनेके लिये अपनेमें से उन अंगिरा ऋषिको उकसाया जो बातचीत करनेमें बड़े चतुर थे। तब अंगिरा ऋषिने हिमालयसे कहा ॥ ६५ ॥ हे हिमालय! जो कुछ तुमने कहा है वह, और उससे भी अधिक जो कुछ कहा जाय, सब तुम्हें शोभा देता है। क्योंकि तुम्हारा मन वैसा ही ऊँचा है जैसी तुम्हारी चोटियाँ ॥ ६६ ॥ तुम्हें जो सब अचल पदार्थोंका विष्णु कहा जाता है, वह ठीक ही है, क्योंकि चर और अचर सब तुम्हारी गोदसे ही सहारा पाते हैं, जितने रत्न हैं वे सब तुम्हारी गोदमें होते हैं और तुम्हारे ही गोदसे निकली हुई नदियोंसे आर्यावर्त्त जी रहा है ॥६७॥ यदि तुम पातालके नीचेतक पृथ्वीको अपने बोझसे न दबाए हो तो बताओ शेषनाग अपने कमलकी नालके समान कोमल फणोंपर पृथ्वीको कैसे सँभालते ॥ ६८ ॥ जैसे तुम्हारे यहाँसे निकलती हुई, निरन्तर बहती हुई और समुद्रकी लहरोंसे भी टक्कर लेनेवाली निर्मल नदियाँ अपनी पवित्रतासे सारे संसारको पवित्र करती हैं वैसे ही तुम्हारी कीर्त्ति भी सब लोकोंको पवित्र करती है ॥६९॥ जैसे गंगाजी, विष्णुके चरणोंसे निकलकर अपनेको बहुत बड़ा मानती हैं उसी प्रकार

तुम्हारे शिखरसे निकलकर बहनेमें भी वे अपनी बड़ाई ही समझती हैं ॥७०॥ भगवान विष्णुकी महिमा संसारमें तब फैली जब उन्होंने ऊपर, नीचे और तिरछे पैर रखकर वामन अवतार धारण करके तीनों लोकोंको माप डाला, पर तुम्हारी महिमा तो पहलेसे ही तीनों लोकोंमें फैली हुई है ॥७१॥ यज्ञका भाग पानेवाले देवताओंमें स्थान पाकर तुमने सुमेरु पर्वतकी सुनहरी और ऊँची चोटियोंको भी नीचा दिखा दिया ॥७२॥ तुमने अपनी सारी कठोरता अपने अचल शरीरमें भर ली है और तुम्हारा यह चल शरीर भक्तिसे ऐसा झुका हुआ है कि सज्जन लोग आ-आकर इसकी पूजा किया करते हैं ॥ ७३ ॥ इसलिये हम तुम्हें अपने आनेका कारण बताते हैं और वह काम ऐसा है जिसमें तुम्हारी ही भलाई है और यह भली बात तुम्हे समझानेके बहाने हम लोगोंको भी थोड़ीसी भलाई मिल जायगी ॥ ७४ ॥ तुम तो जानते ही होगे कि अणिमा आदि आठों सिद्धियोंके जो स्वामी हैं, जिन्हें छोड़कर दूसरा कोई ईश्वर कहला नहीं सकता और जिनके माथेपर आधा चन्द्रमा बसा हुआ है ॥ ७५ ॥ जो अपने पृथ्वी-जल आदि उन आठों शरीरोंसे पृथ्वीको जिलाए रहते हैं जो एक दूसरेकी शक्ति बढ़ानेवाले और संसारको इस प्रकार ठीकसे चलानेवाले हैं जैसे घोड़े मार्गमें रथको लीकमें बाँधे रहते है, ॥ ७६ ॥ जिन्हे योगी लोग अपने शरीरके भीतर बैठा हुआ पाते हैं और जिनके लिये विद्वानोंका कहना है कि वे जन्म-मरणके बन्धनोंसे बाहर ही हैं, ॥ ७७ ॥ उन्हीं संसार भरके कामोंको देखने वाले और वर देनेवाले शंकरजीने हम लोगोंके मुँहसे सँदेसा भेजकर स्वयं तुम्हारी पुत्री पार्वतीजीको माँगा है ॥ ७८ ॥ इसलिये तुम शिवजीसे अपनी पुत्रीका वैसे ही अटूट संबंध कर दो जैसे वाणीका अर्थसे हो गया है, क्योंकि अच्छे पतिसे कन्याका विवाह हो जाय तो पिताकी चिन्ता मिट जाती है ॥ ७९ ॥ तुम यह समझ लो कि महादेवजी संसारके पिता हैं इसलिये पार्वतीजी भी संसारके चर और अचर सब प्राणियोंकी माता बन जायँगी ॥ ८० ॥ और फिर इतनी पूजनीय हो जायँगी कि देवता लोग महादेवजीको प्रणाम करके अपने सिरपर धरी हुई मणियोंकी किरणोंसे पार्वती

जीके ही चरण रँगा करेंगे ॥ ८१ ॥ और संयोग तो देखो कि उमा हों वहू, तुम हो कन्या-दान करनेवाले, हम हों विवाहके लिये कहनेवाले और महादेवजी हों वर। वताओ, तुम्हारे कुलके लिये इससे वढ़कर और कौन-सी प्रतिष्ठाकी वात होगी ॥ ८२ ॥ और फिर, अपनी पुत्रीका उनसे विवाह करके तुम उन महादेवजीके भी वड़े वन जाओ जो स्वयं किसी की स्तुति नहीं करते पर संसार जिनकी स्तुति करता है और जो स्वयं किसीकी वन्दना नहीँ करते पर संसार जिनकी वन्दना करता है ॥ ८३ ॥

देवर्षि लोग जिस समय यह कह रहे थे उस समय पार्वतीजी अपने पिताके पास नीचा मुँह किए खिलौनेके कमलके पत्ते वैठी गिन रही थीं ॥ ८४ ॥

यद्यपि हिमालय स्वयं तो इससे सहमत थे पर फिर भी उन्हों ने इसका उत्तर पानेके लिये मेनाकी ओर देखा, क्योंकि जव कभी कन्याके सम्बन्धकी कोई वात होती है तो गृहस्थ लोग अपनी स्त्रियों से ही सम्मति लिया करते हैं ॥ ८५ ॥

मेनाने भी अपने पतिकी हाँ में हाँ मिलाकर सव वातें मान लीं, क्यों कि जो सती स्त्रियाँ हुआ करती हैं वे किसी भी वातमें पतिसे वाहर नहीं होती ॥ ८६ ॥

ऋषियों के कह चुकनेपर हिमालयने सुन्दर मांगलिक वस्त्रों से सजी हुई अपनी कन्याको वुलाया और कहा—यहाँ आओ वत्से! देखो, घट-घटमें रमनेवाले शिवजीने मुझसे तुम्हें माँगा है और वह भिक्षा लेनेके लिये ये सप्तऋषि लोग आए हुए हैं। सचमुच आज मुझे गृहस्थ होनेका सच्चा फल मिला है कि ऐसे माँगनेवाले मेरे द्वारपर पधारे ॥ ८८ ॥ अपनी पुत्रीसे इतना कहकर वे ऋषियों से वोले—यह महादेवजीकी पत्नी आपको प्रणाम करती हैं ॥ ८९ ॥

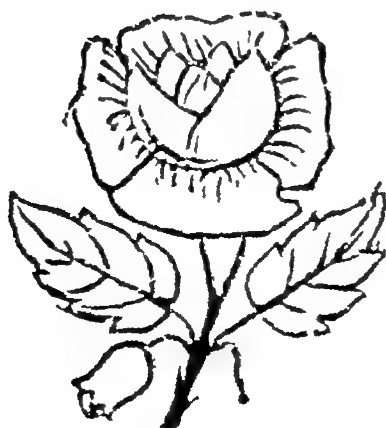
अपना काम पूरा हुआ देखकर सप्तऋषियों ने हिमालयकी प्रशंसा की। उन्हों ने अम्विकाको ऐसे आशिर्वाद दिए जो तत्काल फल देनेवाले हों ॥ ९० ॥ ऋषियोंको प्रणाम करनेके लिये पार्वतीजी ज्यों हीं लजाती हुई झुकीं कि उनके कानों से सोनेका कुण्डल खिसक गया और अरुन्धतीजीने उन्हें झट उठाकर अपनी गोदमें वैठा

लिया ॥ ८१ ॥ मेना अपनी पुत्रीके स्नेहमें इतनी अधीर हो गईं कि उनकी आँखें डबडबा आईं पर अरुन्धतीजीने उन्हें अनोखे वरके गुण सुना-सुनाकर बड़ा धीरज बँधाया ॥ ८२ ॥

विवाहकी तिथि पूछे जानेपर सप्तऋषियोंने बताया कि तीन दिन पीछे विवाह करना ठीक होगा और यह कहकर वे सब ऋषि वहाँसे चल दिए ॥ ८३ ॥ हिमालयसे विदा होकर उन्होंने महादेवजीसे जाकर बताया कि सब ठीक हो गया है और फिर उनसे आज्ञा लेकर वे आकाशमें उड़ गए ॥ ८४ ॥

पार्वतीजीसे मिलनेके लिये महादेवजी इतने उतावले हो गए कि तीन दिन भी उन्होंने बड़ी कठिनाईसे काटे। बताइए जब महादेवजी जैसोंकी प्रेममें यह दशा हो जाती है तब भला दूसरे लोग अपने मनको कैसे सँभाल सकते हैं ॥ ८५ ॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए कुमारसम्भव महाकाव्यमें
पार्वतीजीकी मँगनी नामका छठा सर्ग समाप्त हुआ ॥



सातवाँ सर्ग

तीन दिन पीछे हिमालयने लग्नसे सातवें घरमें पड़ी हुई शुक्ल पक्षकी शुभ तिथिको अपने भाई-बन्धुओं को बुलाकर अपनी पुत्रीका विवाह शंकरजीके साथ कर दिया ॥ १ ॥

वहाँके सब लोग हिमालयसे ऐसा प्रेम करते थे कि उस नगरके घर-घरमें सब स्त्रियाँ बड़ी धूमधामके साथ विवाहका उत्सव मना रही थीं। घर और बाहरके सब लोग ऐसे हिलमिलकर काम कर रहे थे मानो सब एक ही कुलके हों ॥ २ ॥ बड़ी-बड़ी सड़कोंपर कल्प वृक्षके फूल बिछे हुए थे, दोनों ओर रेशमी झंडियाँ पाँतों में टँगी हुई थीं और द्वार-द्वार पर सोनेके वन्दनवार बँधे हुए थे। इन सबकी चमकसे जगमगाता हुआ वह नगर ऐसा जान पड़ता था मानो स्वर्ग ही उतर कर यहाँ चला आया हो ॥ ३ ॥

यद्यपि हिमालयके बहुतसे पुत्र थे फिर भी उस समय हिमालय और मेना दोनोंको पार्वतीजी ऐसी प्राणसे बढ़कर प्यारी लग रही थीं मानो बहुत दिनोंपर मिली हों, या अभी जी कर उठी हों, क्योंकि विवाह हो जाने पर वे अभी वहाँसे चली जाने वाली थीं ॥ ४ ॥ सब कुटुम्बियों ने पार्वतीजीको बारी बारीसे अपनी-

अपनी गोदीमें बैठाकर आशीर्वाद दिया और एक-से-एक बढ़कर गहने दिए। ऐसा जान पड़ता था मानो हिमालयके सब कुटुम्बियोंका स्नेह पार्वतीजीमें ही आकर भर गया हो ॥ ५ ॥ सूर्य निकलनेके तीन मूहूर्त्त पीछे उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्रमें कुटुम्बकी सुहागिन और पुत्रवती स्त्रियाँ पार्वतीजीका सिंगार करने लगीं ॥६॥ पहले दूबके अंकुरों और सरसोंके दानोंसे उनका सिंगार किया गया फिर उन्हें नाभितक ऊँची रेशमी साड़ी पहना कर उसमें एक बाण खोंस दिया गया। इस प्रकार तेल लगाकर सिंगार करनेकी सजावट पूरी हो गई ॥७॥ इस नये विवाहका बाण कमरमें खोंसकर पार्वतीजी ऐसे चमकने लगीं जैसे शुक्ल पक्षमें सूर्यकी किरण पाकर चन्द्रमा चमकने लगता है ॥८॥ तब सुहागिन स्त्रियोंने उनके शरीरपर मले हुए तेलको लोधकी बुकनीसे सुखाया और कुछ-कुछ गीला सुगन्धित लेप लेकर उनके शरीरको रँगा। तब स्नान करनेका कपड़ा पहनाकर वे उन्हें चौकोर स्नानघरमें लिवा ले गईं ॥९॥ उस स्नानघरमें नीलमणिकी एक सुन्दर चौकी बिछी हुई थी और चारों ओर रंग-बिरंगी मोतियोंकी मालाएँ सजी हुई थीं। उस चौकीपर उन स्त्रियोंने उमाको बैठाया और गाते-बजाते हुए सोनेके घड़ोंके जलसे पार्वतीजीको नहला दिया ॥१०॥ मंगल स्नान करनेसे पार्वतीजीका शरीर अत्यन्त निर्मल हो गया और उन्होंने विवाहके वस्त्र पहन लिए। उस समय वे ऐसी लगने लगीं मानो गरजते हुए बादलोंके जलसे धुली हुई और काँसके फूलोंसे भरी हुई धरती शोभा दे रही हो ॥ ११ ॥ यों नहला धुलाकर वे सुहागिनी पतिव्रताएँ पार्वतीजीको सहारा देकर उस कोहबरमें ले गईं जहाँ मणियोंके खंभोंपर चँदवा तना हुआ था, बीचमें मंगलवेदी बनी हुई थी और उसपर सजा हुआ आसन बिछा हुआ था ॥१२॥ वहाँ उन्होंने पार्वतीजीको पूरबकी ओर मुँह करके बैठा दिया। सिंगारकी सब वस्तुएँ पासमें होनेपर भी वे सब पार्वतीजीकी स्वाभाविक शोभापर ही इतनी लट्टू हो गईं कि कुछ देरतक तो वे सुधबुध भूलकर उनकी ओर एकटक निहारती हुई बैठी रह गईं ॥१३॥ फिर, किसीने तो अगर-चन्दनके धुएँसे उनके बाल सुखाकर बालोंमें फूल गूँथे और फिर दूबमें पिरोई हुई पीले महुएके

फलोंकी माला उनके जूड़ेमें लपेटी ॥ १४ ॥ किसीने उजले अगरमें बनाया हुआ अंगराग उनके शरीरपर मला और फिर अत्यन्त लाल गोरोचनसे उनका शरीर चीता । उस समय पार्वतीजी इतनी सुन्दर लग रही थीं कि उनके रूपके आगे उजली धारावाली उन गंगाजीकी शोभा भी फीकी पड़ गई जिनके तीर परकी बालू में चकवे बैठे हों ॥ १५ ॥ भौंरोंसे घिरा हुआ कमल और बादल के टुकड़ोंमें लिपटा हुआ चन्द्रमा, कोई भी ऐसा न दिखाई दिया जो उनके गुँथी हुई चोटीवाले मुखकी सुन्दरताके आगे ठहर सके ॥ १६ ॥ उनके कानोंपर लटकते हुए जौके अंकुर और लोध्रसे पुते तथा गोरोचन लगे हुए गोरे गोरे गाल इतने सुन्दर लगने लगे कि सबकी आँखें बरबस उनकी ओर खिंची जाती थीं ॥ १७ ॥ सुडौल अंगोंवाली पार्वतीजीका जो निचला ओठ ऊपरके ओठसे एक रेखासे अलग हो गया था, जिसपर लगी हुई चिकनाईने उसपर और भी लाली चढ़ाकर उसे सुन्दर बना दिया था और जिसकी सुन्दरता बस फलने ही वाली थी, वह ओठ

गईं और महादेवजीसे मिलनेके लिये मचल उठीं, क्योंकि स्त्रियोंका शृंगार तभी सफल होता है जब पति उसे देखे ॥ २२ ॥ इतनेमें पार्वतीजीकी माता मेना वहाँ आईं और उन्होंने उमाका वह मुखड़ा ऊपर उठाया जिसके दोनों ओर कानोंमें सुन्दर कर्णफूल झूल रहे थे। उस रूपको देखकर वे आनन्दसे बेसुध हो गईं पर किसी प्रकार उन्होंने अपनी दो उँगलियोंसे गीली हरताल और मंगलसूचक मैनसिल लेकर अपनी पुत्रीके माथेपर विवाहका तिलक कर दिया। उस समय ऐसा जान पड़ा मानो मेनाने यह तिलक लगाकर, पार्वतीजीके मनमें जो जवानी आनेके समयसे ही शंकरजीको पानेकी साध बराबर बढ़ रही थी वह पूरी कर दी ॥ २३-२४ ॥

आनन्दके मारे मेनाकी आँखोंमें आँसू भर आए, इसलिये ठीक-ठीक देख न सकनेके कारण उन्होंने पार्वतीजीके हाथमें जहाँ कंगना बाँधना था वहाँ न बाँधकर कहीं और ही बाँध दिया। पर उनकी धायने अपनी उँगलियोंसे खिसकाकर उस ऊनके कंगनेको ठीक स्थानपर पहुँचा दिया ॥ २५ ॥

नई साड़ी पहने हुए और हाथमें नया दर्पण लिए हुए वे ऐसी लगने लगीं मानो वे, उतराते हुए फेनवाली क्षीरसमुद्रकी लहर हों ॥ २६ ॥

विवाहके सब रीति-ढंग जाननेवाली मेनाने अपने कुलका यश बढ़ानेवाली पार्वतीजीसे सब कुलके देवताओंको प्रणाम करवाया और फिर सब सखियोंके पैर छुआए ॥ २७ ॥ लाजसे सकुचाती हुई पार्वतीजीको सब सखियोंने यह आशीर्वाद दिया कि तुम्हारे पति तुम्हें तन-मनसे प्यार करें। पर पार्वतीजीने भगवान शंकरके आधे शरीरमें बसकर अपनी सखियोंके आशीर्वाद छोटे कर दिए ॥ २८ ॥ हिमालयने भी बड़े उत्साहसे जी खोलकर पार्वतीजीके विवाहके सब प्रारम्भिक काम निपटा दिए और फिर सभामें बैठकर भगवान शंकरजीके आनेकी बाट जोहने लगे। उसी समय कैलास पर्वतपर भी सप्तमाताओंने आकर शृंगारकी वे सब सामग्रियाँ लाकर महादेवजीके आगे रख दीं जो उनके पहले विवाहमें काम आई थीं ॥३०॥

शंकरजीने माताओंका आदर करनेके लिये वे सब मंगल-शृंगार-

की सामग्रियाँ छू भर दीं, पहनी नहीं। उन्होंने अपनी शक्तिसे अपने ही वेशको विवाहके योग्य बना लिया ॥ ३१ ॥ उनके शरीरपर पुती हुई चिताकी भस्म उजला अंगराग बन गई, कपाल ही सिरका सुन्दर आभूषण बन गया और हाथीका चर्म ही ऐसा रेशमी वस्त्र बन गया जिसके आँचलोंपर गोरोचनासे हंसके जोड़े छपे हुए थे ॥ ३२ ॥ और उनके माथेमें पीली पुतलीवाला जो चमकता हुआ नेत्र था वही हरतालका सुन्दर तिलक बन गया ॥ ३३ ॥ उनके शरीरके बहुतसे अंगोंमे जो साँप लिपटे हुए थे वे भी उन-उन अंगोंके आभूषण बन गए पर उनके फणोंपर जो मणियाँ थीं वे ज्यों की त्यों चमकती रह गईं ॥ ३४ ॥ उनके मुकुटपर सदा रहनेवाला जो चन्द्रमा दिनमें भी अपनी किरणें चमकाता था और जिसके छोटे होनेके कारण उसमेंका कलंक दिखाई नहीं देता था वह चन्द्रमा ही उनका चूड़ामणि बन गया था इसलिये वे दूसरा चूड़ामणि लेकर करते ही क्या । ३५। अपनी शक्तिसे संसारके सभी सिंगारको बनाने वाले और सदा अनोखा ही काम करनेवाले महादेवजीने अपने पास बैठे हुए गणसे खड्ग मँगाकर उसमें अपना मुँह देखा ॥ ३६ ॥

यह सूचना दी कि अब सबको अपने-अपने काममें जुट जाना चाहिए ॥ ४० ॥

झट सूर्यने विश्वकर्माके हाथका बनाया हुआ नया छत्र लेकर शिवजी पर लगा दिया। उस समय शिवजीके सिरके पास छत्रसे लटकता हुआ कपड़ा ऐसा जान पड़ता था मानो गंगाजीकी धारा ही गिर रही हो ॥ ४१ ॥ गंगा और यमुना भी अपना नदीका रूप छोड़कर महादेवजीपर चँवर डुलाने लगीँ। वे चँवर ऐसे लगते थे मानो हंस उड़ रहे हों ॥ ४२ ॥ जैसे आगमें घी डालनेसे उसकी लपट बढ़ जाती है वैसे ही ब्रह्मा और विष्णुने आकर उनकी जयजयकार करके उनकी महिमा और भी बढ़ा दी ॥ ४३ ॥ सच्ची बात तो यह है कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश एक ही मूर्तिके तीन रूप हो गए हैं और ये सब बराबर आपसमें एक दूसरेसे छोटे-बड़े हुआ ही करते हैं। कभी शिवजी विष्णुसे बढ़ जाते हैं, कभी ब्रह्मा इन दोनोंसे बढ़ जाते हैं और कभी ये दोनों ब्रह्मासे बढ़ जाते हैं ॥ ४४ ॥ वहाँ अपना राजसी ठाट छोड़कर और विनीत वेश बनाकर इन्द्र आदि लोकपाल जब उनके दर्शन करनेको आए तो नन्दीने संकेतसे इन लोगोंको महादेव जीके दर्शन करा दिए और तब इन लोगोंने हाथ जोड़कर शिवजीको प्रणाम किया ॥ ४५ ॥ शिवजीने ब्रह्माजीकी ओर सिर हिलाकर, विष्णुजीसे कुशल-मंगल पूछकर, इन्द्रकी ओर मुस्कराकर और जितने देवता थे उन सबको केवल देखकर जो जैसा बड़ा छोटा था वैसे ही सबका आदर किया ॥ ४६ ॥ फिर जब सप्तर्षियोंने जय कह-कर उन्हे आशीर्वाद दिया, तब शिवजी उनसे बोले कि इस बड़े भारी विवाहके काममें पुरोहितका काम मैंने पहलेसे ही आपके लिये रख छोड़ा है ॥ ४७ ॥ सब विकारोंसे परे रहनेवाले महादेवजी जब चलने लगे उस समय उनके आगे-आगे विश्वावसु आदि प्रसिद्ध गंधर्व गवैये त्रिपुरासुरपर विजय पानेके गीत गाते चल रहे थे ॥ ४८ ॥

बड़ी मीठी चालसे चलनेवाला और अपने गलेमें लटकी हुई सोनेकी छोटी-छोटी घंटियोंको टनटनाता हुआ वह बैल उन बादलों-को अपने सींगों से बार-बार झुकारता हुआ चला जा रहा था जो उसके सींगों में इस प्रकार लगे हुए थे मानो नदीके तीर परके टीले

की सामग्रियाँ छू भर दीं, पहनी नहीं। उन्होंने अपनी शक्तिसे अपने ही वेशको विवाहके योग्य बना लिया ॥ ३१ ॥ उनके शरीरपर पुती हुई चिताकी भस्म उजला अंगराग बन गई, कपाल ही सिरका सुन्दर आभूषण बन गया और हाथीका चर्म ही ऐसा रेशमी वस्त्र बन गया जिसके आँचलोंपर गोरोचनासे हंसके जोड़े छपे हुये थे ॥ ३२ ॥ और उनके माथेमें पीली पुतलीवाला जो चमकता हुआ नेत्र था वही हरतालका सुन्दर तिलक बन गया ॥ ३३ ॥ उनके शरीरके बहुतसे अंगों में जो साँप लिपटे हुए थे वे भी उन-उन अंगों के आभूषण बन गए पर उनके फणोंपर जो मणियाँ थीं वे ज्यों की त्यों चमकती रह गईं ॥ ३४ ॥ उनके मुकुटपर सदा रहनेवाला जो चन्द्रमा दिनमें भी अपनी किरणें चमकाता था और जिसके छोटे होनेके कारण उसमेंका कलंक दिखाई नहीं देता था वह चन्द्रमा ही उनका चूड़ामणि बन गया था इसलिये वे दूसरा चूड़ामणि लेकर करते ही क्या ॥३५॥ अपनी शक्तिसे संसारके सभी सिंगारको बनाने वाले और सदा अनोखा ही काम करनेवाले महादेवजीने अपने पास बैठे हुए गणसे खड्ग मँगाकर उसमें अपना मुँह देखा ॥ ३६ ॥

फिर नन्दीके हाथका सहारा लेकर वे अपने उस लंबे-चौड़े डील-डौलवाले बैलकी पीठपर चढ़कर चले जिसपर सिंहकी खाल बिछी हुई थी और जो ऐसा दिखाई पड़ता था मानो शंकरजीमें भक्ति रखनेके कारण कैलासने ही अपने बड़े रूपको छोटा बना लिया हो ॥ ३७ ॥ अपने तेजोमंडलकी चमकसे गोरे-गोरे मुखवाली सुन्दर माताएँ जब अपने-अपने रथोंपर बैठकर पीछे पीछे चलीं तो रथों के झटकेसे उनके कर्णफूल हिलने लगे। उस समय उनके मुँह आकाशमें ऐसे लग रहे थे मानो किसी तालमें बहुतसे कमल खिल गए हों ॥ ३८ ॥ सोनेके समान चमकनेवाली उन माताओंके पीछे-पीछे उजले खप्परों से देह सजाए हुए भद्रकालीजी आ रही थीं जो ऐसी लग रही थीं मानो बगलों से भरी हुई और दूरतक चमकती हुई बिजलीवाली नीले बादलों की घटा चली आ रही हो ॥ ३९ ॥

महादेवजीके आगे आगे चलनेवाले गणों ने जो मंगल तुरही बजाई उसकी ध्वनिने देवताओं के विमानोंकी छतरियों में गूँजकर

यह सूचना दी कि अब सबको अपने-अपने काममें जुट जाना चाहिए ॥ ४० ॥

झट सूर्यने विश्वकर्माके हाथका बनाया हुआ नया छत्र लेकर शिवजी पर लगा दिया। उस समय शिवजीके सिरके पास छत्रसे लटकता हुआ कपड़ा ऐसा जान पड़ता था मानो गंगाजीकी धारा ही गिर रही हो ॥ ४१ ॥ गंगा और यमुना भी अपना नदीका रूप छोड़कर महादेवजीपर चँवर डुलाने लगीं। वे चँवर ऐसे लगते थे मानो हंस उड़ रहे हों ॥ ४२ ॥ जैसे आगमें घी डालनेसे उसकी लपट बढ़ जाती है वैसे ही ब्रह्मा और विष्णुने आकर उनकी जयजयकार करके उनकी महिमा और भी बढ़ा दी ॥ ४३ ॥ सच्ची बात तो यह है कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश एक ही मूर्तिके तीन रूप हो गए हैं और ये सब बराबर आपसमें एक दूसरेसे छोटे-बड़े हुआ ही करते हैं। कभी शिवजी विष्णुसे बढ़ जाते हैं, कभी ब्रह्मा इन दोनोंसे बढ़ जाते हैं और कभी ये दोनों ब्रह्मासे बढ़ जाते हैं ॥ ४४ ॥ वहाँ अपना राजसी ठाट छोड़कर और विनीत वेश बनाकर इन्द्र आदि लोकपाल जब उनके दर्शन करनेको आए तो नन्दीने संकेतसे इन लोगोंको महादेव जीके दर्शन करा दिए और तब इन लोगोंने हाथ जोड़कर शिवजीको प्रणाम किया ॥ ४५ ॥ शिवजीने ब्रह्माजीकी ओर सिर हिलाकर, विष्णुजीसे कुशल-मंगल पूछकर, इन्द्रकी ओर मुस्कराकर और जितने देवता थे उन सबको केवल देखकर जो जैसा बड़ा छोटा था वैसे ही सबका आदर किया ॥ ४६ ॥ फिर जब सप्तर्षियोंने जय कह-कर उन्हें आशीर्वाद दिया, तब शिवजी उनसे बोले कि इस बड़े भारी विवाहके काममें पुरोहितका काम मैंने पहलेसे ही आपके लिये रख छोड़ा है ॥ ४७ ॥ सब विकारोंसे परे रहनेवाले महादेवजी जब चलने लगे उस समय उनके आगे-आगे विश्वावसु आदि प्रसिद्ध गंधर्व गवैये त्रिपुरासुरपर विजय पानेके गीत गाते चल रहे थे ॥ ४८ ॥

बड़ी मीठी चालसे चलनेवाला और अपने गलेमें लटकी हुई सोनेकी छोटी-छोटी घंटियोंको टनटनाता हुआ वह बैल उन बादलों-को अपने सींगोंसे बार-बार झुँकारता हुआ चला जा रहा था जो उसके सींगोंमें इस प्रकार लगे हुए थे मानो नदीके तीर परके टीले

ढाते समय उनमें कीचड़ लग गई हो ॥ ४६ ॥ किसीसे भी कभी न हारनेवाला वह बैल हिमालयके ओषधिप्रस्थ नामवाले नगरमें इस प्रकार क्षण भरमें पहुँच गया मानो आगे पड़ती हुई शिवजीकी चितवनकी सोनेकी डोरियाँ उसे खींचती ले गई हों ॥ ५० ॥ उसी नगरके पास बादलों के समान नीले कण्ठवाले महादेवजी उस आकाशसे पृथ्वीपर उतरे जिसमें उन्हों ने त्रिपुरासुरके मारते समय बहुतसे बाण चलाकर चिह्न बना दिए थे। वे जब उतर रहे थे तो वहाँके निवासी बड़े चावसे ऊपर मुँह उठाए हुए उन्हें देख रहे थे ॥ ५१ ॥

महादेवजीके आनेसे पर्वतराज हिमालय बड़े प्रसन्न हुए और अपने उन धनी कुटुम्बियोंको हाथीपर चढ़ा-चढ़ाकर शिवजीकी अगवानीके लिये ले चले जो उसी प्रकार सुसज्जित थे जैसे हिमालय-की ढालपर फूलों से लदे हुए वृक्ष ॥५२॥ इन दोनों ही दलोंका हल्ला दूरतक सुनाई पड़ रहा था और वे जब हिमालयके नगरके खुले फाटकों वाले द्वारपर आकर मिले तो ऐसे लगने लगे मानो बाँध टूट जाने पर जलकी दो धाराएँ आकर आपसमें मिल गई हों ॥५३॥

शंकरजीने जब पहले हिमालयको प्रणाम किया तो वह लाजसे गड़ गया, पर उसे यह नहीं पता चला कि प्रणाम करनेके पहले ही उनकी महिमासे ही उसका सिर झुक चुका था ॥ ५४ ॥ इस सुन्दर सम्बन्धसे हिमालय बड़े प्रसन्न थे। आगे-आगे चलकर वे मणियों और बेलबूटों से सजे हुए अपने नगरमें अपने जामाताको उस मार्गसे ले गए जहाँ इतने फूल बिछे थे कि फूलोंमें पैर धँसे जा रहे थे ॥५५॥

उसी समय महादेवजीके दर्शनके लिये चावसे भरी हुई नगरकी सब सुन्दरियाँ अपना अपना सब काम काज छोड़कर अपने भवनोंकी छतोंपर आ खड़ी हुईं ॥ ५६ ॥ एक स्त्री ज्यों ही खिड़कीकी ओर हड़बड़ीमें भागी कि उसके जूड़ेमें बँधी हुई फूलकी माला खुल गई और वह उसे अपने हाथसे पकड़े हुए ही चली गई, उसे बाँधनेकी सुध न रही ॥ ५७ ॥ एक स्त्री अपने पैरमें महावर लगवा रही थी कि उसे अधूरा छोड़कर ही वह झटपट खिड़की-के पासतक अपने महावर-लगे पैरोंकी छाप बनाती हुई दौड़ गई ॥५८॥ एक स्त्री अपनी दाईं आँखमें तो काजल लगा चुकी थी पर बाईं

आँखमें विना लगाए हाथमें सलाई लिए हुए ही खिड़कीकी ओर लपकी ॥५९॥ एक दूसरी स्त्री ज्योंही खिड़कीकी जालियों मे जाकर झाँकने लगी कि उसकी कमरका नाड़ा खुल गया और विना बाँधे ही उसे हाथसे पकड़े जो खड़ी हुई तो उसके हाथके कंगन के रत्नकी चमकसे उसकी नाभि चमकती दिखाई देने लगी ॥ ६० ॥ एक स्त्री डोरेमें मणि पिरो रही थी। इतनेमें ही शंकरजीकी बरातका हल्ला सुनकर वह हड़बड़ाकर उठी और खिड़कीकी ओर दौड़ी। हुआ यह कि खिड़कीतक पहुँचते पहुँचते मणियोंके दाने तो सब बिखर गए पर पैरके अँगूठेमें बँधा हुआ डोरा ज्योंका त्यों रह गया ॥ ६१ ॥ उन चावभरे-नैन-वालियों के आसवसे महकते हुए और चचल नेत्रवाले मुख खिड़कियों में झाँकते हुए ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानो खिड़कियोंकी जालियोंमें भौंरों से भरे कमल टाँग दिए गए हों ॥६२॥ इतनेमें ही उन चूनेसे पुते हुए उजले भवनों के कँगूरोंको अपने सिरके चंद्रमाकी चाँदनीसे और भी अधिक चमकाते हुए, महादेवजीने ध्वजाओं और पताकाओं से सजे हुए राजमार्गमें प्रवेश किया ॥ ६३ ॥ नगरकी स्त्रियाँ सब सुधबुध भूलकर इस प्रकार एकटक देखती हुई उन्हें अपने नेत्रों से पी रही थीं मानो उनकी सब इन्द्रियाँ आकर आँखों में ही समा गई हों ॥ ६४ ॥ वे सोचने लगीं कि ऐसे वरके लिये सुकुमार पार्वतीका तप करना ठीक ही था क्योंकि ये तो ऐसे सुन्दर हैं कि जो स्त्री इनकी दासी भी हो जाय वह भी धन्य हो जाय फिर जो इनकी गोदमें जाकर लेटे उसका तो कहना ही क्या है ॥ ६५ ॥ सुन्दरतामें एक दूसरेसे बढ़े-चढ़े हुए इस जोड़ेका यदि विवाह न होता तो हम यही समझते कि ब्रह्माजीने इन दोनोंका रूप गढ़नेमें जो परिश्रम किया वह सब अकारथ ही था ॥ ६६ ॥ अब हमारी समझमें आ रहा है कि इन्हों ने कामदेवको क्रोध करके भस्म नहीं किया है वरन् कामदेव ही इनकी सुन्दरताको देखकर टीसके मारे स्वयं जल मरा ॥ ६७ ॥ हे सखी ! पर्वतेश्वर हिमालय बड़े भाग्यवान् हैं। एक तो पृथ्वी धारण करनेसे उनका सिर वैसे ही ऊँचा था उसपर अपने मनचाहे वर भगवान शंकरजीसे सम्बन्ध करके उनका सिर और भी ऊँचा हो जायगा ॥ ६८ ॥

ओषधिप्रस्थकी स्त्रियोंकी ऐसी मीठी-मीठी बातें सुनते हुए, महादेवजी हिमालयके उस घरमें पहुँचे जहाँ इतनी भीड़ थी कि कुमारियोंने आचार दिखलानेके लिये जो खीलें बिखेरी थीं वे वहाँके लोगोंके भुजबंधोंकी रगड़से ही पिसकर चूर्ण बन गई थीं॥६९॥वहाँ पहुँचनेपर विष्णुजीने हाथका सहारा देकर महादेवजीको इस प्रकार बैलसे उतार लिया मानो शरद्के उजले बादलोंसे सूर्यको उतार लिया हो। वहाँसे वे हिमालयके भवनकी उस भीतरकी कोठरीमें पहुँचे जहाँ ब्रह्माजी पहलेसे बैठे हुए थे ॥ ७० ॥ उनके पीछे पीछे इन्द्र आदि देवता, सप्तर्षियोंके साथ सब महर्षि और महादेवजीके सभी गण हिमालयके घरमें उसी प्रकार पैठे जैसे किसी कामके ठीक-ठीक प्रारंभ हो जानेपर उसके पीछे और भी बहुतसे बड़े-बड़े काम सध जाते हैं ॥७१॥ वहाँ आसनपर महादेवजीको बैठाकर हिमालयने रत्न, अर्घ्य, मधु, दही और नये वस्त्र, जो कुछ लाकर दिए वे सब उन्होंने मंत्रके साथ ले लिए ॥७२॥ रेशमी वस्त्र पहने हुए महादेवजीको रनिवासके सेवक उसी प्रकार पार्वतीजीके पास ले गए जैसे चंद्रमाकी किरणें फेनवाले समुद्रको तटतक पहुँचा देती हैं ॥ ७३ ॥

जैसे शरद्के आनेपर लोग प्रसन्न हो जाते हैं वैसे ही अत्यन्त चमकते हुए चंद्रमाके समान मुखवाली पार्वतीको देखकर शंकरजीके नेत्ररूपी कुमुद खिल गए और उनका मन जलके समान निर्मल हो गया ॥ ७४ ॥ पार्वतीजीके और शंकरजीके नेत्र थोड़ी देरके लिये मिलकर फिर हट जाते थे और इस प्रकार एक दूसरेको चाह-भरी चितवनसे देखकर उनके हृदयमें फिर बड़ी लज्जा भी आ जाती थी कि हमें देखकर दूसरे क्या कहते होंगे ॥ ७५ ॥ तब हिमालयके पुरोहितने पार्वतीजीका हाथ आगे बढ़ाकर शंकरजीके हाथपर रख दिया। पार्वतीजीका वह लाल-लाल उँगलियोंवाला हाथ ऐसा लगता था मानो महादेवजीके डरसे छिपे हुए कामदेवके अंकुर पहले-पहल निकल रहे हों ॥ ॥ ७६ ॥ हाथ पकड़ते ही पार्वतीजीको भी रोमांच हो आया और महादेवजीकी उँगलियोंसे भी पसीना छूटने लगा। ऐसा जान पड़ा मानो उन दोनोंका हाथ मिलाकर कामदेवने दोनोंको एक साथ अपने वशमें कर लिया हो ॥ ७७ ॥

जो पार्वती और शंकर संसार भरमे विवाहके समय स्मरण किए जानेपर वहू और वरोंकी शोभा बढ़ाते हैं उन्हीं पार्वती और शंकरका जब स्वयं ही विवाह हो रहा हो तब उनकी शोभाका तो कहना ही क्या है ॥ ७८ ॥ ईंधनसे जली हुई अग्निका फेरा देते समय पार्वती और शंकरजी इस प्रकार शोभित हुए मानो रात और दिन दोनों मिलकर सुमेरु पर्वतका फेरा लगा रहे हों ॥७९॥ एक दूसरेको छूनेके कारण पार्वती और शंकरजी आँख मूँदकर आनंद लेते हुए अग्निका फेरा लगा रहे थे । जब तीन बार जलती हुई अग्निके फेरे हो गए तब पुरोहितजीने अग्निमें धानकी खीलोंका हवन कराया ॥ ८० ॥

पार्वतीजीने पुरोहितजीके कहनेसे उस खीलके होमसे उठे हुए सुगन्धित धुएँको अपने हाथकी अंजलीसे सूँघा। वह धुआँ उनके गालोंके पास पहुँचकर क्षण भरके लिये उनके कानोंका कर्णफूल बन जाता था ॥ ८१ ॥ उस हवनके गरम धुएँसे पार्वतीजीके गाल कुछ लाल हो गए, मुँहपर पसीनेकी बूँदें छा गईं, आँखोंका काला आँजन फैल गया और कानोंपर धरे हुए जवे भी धुँधले पड़ गए ॥ ८२ ॥ तब पुरोहितजीने पार्वतीजीसे कहा कि हे वत्से! यह अग्नि तुम्हारे विवाहकी साक्षी है। आजसे तुम सब प्रकारकी शंका छोड़कर सदा शिवजीके साथ धर्मके काम करना ॥ ८३ ॥

आँखोंतक अपने कान फैलाकर पार्वतीजीने पुरोहितजीकी बात वैसे ही आदरसे सुनी जैसे गर्मीसे तपी हुई पृथ्वी वर्षाकी पहली बूँदें ग्रहण करती है ॥ ८४ ॥ जब शंकरजीने कहा कि ध्रुवकी ओर देखो तब पार्वतीजीने ऊपर मुँह उठाकर बहुत लजाते हुए किसी-किसी प्रकार इतना कहा—हाँ देख लिया ॥ ८५ ॥ इस प्रकार कर्म-काण्ड जाननेवाले पुरोहितजीने संसारके माता-पिता पार्वती और शंकरजीका विवाह पूरा करा दिया। तब कमलके आसनपर बैठे हुए ब्रह्माजीको दोनोंने प्रणाम किया ॥ ८६ ॥ ब्रह्माजीने वहूको तो यह आशीर्वाद दे दिया कि हे कल्याणी! तुम वीरपुत्रकी माता बनो। किन्तु वाणीके स्वामी होते हुए भी उनकी यह समझमें नहीं आया कि सब इच्छाओंसे परे रहनेवाले शंकरजीको हम क्या आशीर्वाद दें॥८७॥

वहाँसे महादेवजी और पार्वतीजी, फूलोंसे सजे हुए चौकमें लाए

गए और सोनेके आसनपर बैठा दिए गए। तब उनके ऊपर लौकिक विधिसे लोगोंने गीले और पीले अक्षत छिड़के ॥ ८८ ॥

उस समय स्वयं लक्ष्मीजी, पत्तोंके कोरोंपर लटकती हुई और मोतीके समान चमकती हुई जलकी बूँदोंसे भरे हुए लम्बी डंठलवाले कमलका छत्र उनके ऊपर लगाकर खड़ी हो गईं ॥ ८९ ॥ और सरस्वतीजी भी संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओंमें शिव और पार्वतीजीकी प्रशंसा करने लगीं। संस्कृतमें तो उन्होंने प्रशंसनीय वरकी और सरलतासे समझमें आनेवाली प्राकृत भाषामें उन्होंने वधूकी प्रशंसा की ॥ ९० ॥

तब पार्वती और शंकरने श्रृंगार आदि रसोंवाला और सुन्दर हाव-भावसे भरा और पाँचों संधियोंमें अलग-अलग भाषा-शैलियोंसे सजा हुआ वह नाटक थोड़ी देरतक देखा जो अप्सराओंने खेला था ॥९१॥ नाटक समाप्त हो चुकनेपर इन्द्र आदि देवता विवाहित शंकर-जीके पास आए और अपने किरीट बाँधे हुए सिरपर हाथ जोड़कर यह प्रार्थना की कि आपका विवाह हो जानेसे आपका दिया हुआ शाप भी समाप्त हो गया, इसलिये आप आज्ञा दें तो कामदेव फिरसे जी उठे और आपकी सेवा करे ॥ ९२ ॥

प्रसन्न मनवाले शंकरजीने कहा—अच्छी बात है। अब कामदेवसे कह दो कि वह जी भरकर हमपर अपने बाण चलावे। ठीक ही है, जो चतुर सेवक यह जानते हैं कि स्वामीसे कौनसी बात कब कहनी चाहिए वे स्वामीसे जो प्रार्थना करते हैं वह अवश्य ही पूरी होती है ॥ ९३ ॥ तब शंकरजीने इन्द्र आदि सब देवताओंको विदा किया और पार्वतीजीका हाथ अपने हाथमें लेकर उस शयन-घरमें पहुँचे जहाँ सेज बिछी हुई थी, फूलोंकी मालाएँ सजी हुई थीं और सोनेका कलश भरा धरा था ॥ ९४ ॥

नया विवाह होनेसे लजीली, महादेवजीके हाथोंसे आँचल खींचे जानेपर अपना मुँह छिपानेवाली और सखियोंकी चुटकियोंका ज्यों-त्यों उत्तर देनेवाली पार्वतीजीके आगे आकर जब प्रमथ आदि गण अनेक प्रकारके मुँह बनाने लगे तो पार्वतीजी भी मन ही मन हँस दीं॥

महाकवि कालिदासके रचे हुए कुमारसंभव महाकाव्यमें पार्वतीजीके विवाहका वर्णन नामका सातवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

आठवाँ सर्ग

विवाह हो जानेपर पार्वतीजी यह तो चाहती ही थीं कि शिवजी से दूर न रहूँ पर साथ ही कुछ झिझकती भी थीं। इनके इस प्रेम और झिझकसे भरे सुन्दर शरीरको ही देख-देखकर महादेवजी इन पर लट्टू हुए जा रहे थे ॥ १ ॥ ये इतनी लजाती थीं कि शिवजी कुछ पूछते भी थे तो ये बोलती न थीं, यदि वे इनका आँचल थाम लेते तो ये उठकर भागने लगती थीं और साथ सोते समय भी ये दूसरी ओर मुँह फेरकर ही सोती थीं। पर शिवजीको इन बातोंमें भी कम आनन्द नहीं मिलता था ॥२॥ जब कभी शिवजी सोनेका बहाना करके आँख मूँदकर लेट जाते थे तब पार्वतीजी उनकी ओर घूमकर उन्हें टकटकी बाँधकर देखा करतीं। इतनेमें ही शिवजी मुस्कराकर आँखें खोल देते और ये चट इस फुर्तीसे अपनी आँखें मींच लेतीं मानो बिजलीकी चकाचौंधसे आँखें मिच गई हों ॥ ३ ॥ जब शंकरजी अपने हाथ उनकी नाभिकी ओर बढ़ाते तो पार्वतीजी काँपते हुए उनका हाथ थाम लेतीं, पर न जाने कैसे इनकी साड़ीकी गाँठ ढीली पड़कर अपने आप खुल जाती ॥ ४ ॥ पार्वतीजीकी सखियाँ इन्हें सिखाया करतीं कि देखो सखी, तुम डरना मत और जैसे-जैसे हम सिखाती

हैं वैसे ही वैसे अकेलेमें शंकरजीके पास रहना, पर शिवजीके सामने पहुँचते ही ये इतनी घबरा जातीं कि सखियोंकी सब सीख इनके ध्यानसे उतर जाती ॥ ५ ॥ जब कभी बात-बातमें शिवजी ऊट-पटाँग बातें छेड़ कर इनसे उत्तर माँगते तो ये अपने मुँहसे तो कुछ न कहतीं, बस अपनी आँखें ऊपर उठाकर और सिर घुमाकर यह जता देतीं कि मैं आपकी सब बातें मानती हूँ ॥ ६ ॥ जब कभी अकेलेमें शिवजी इनके कपड़े खींचकर इन्हें उघाड़ देते तो ये अपनी दोनों हथेलियों से शिवजीके दोनों नेत्र बन्द कर लेतीं जिससे वे देख न पावें। पर शिवजी भी ऐसे गुरु थे कि झट अपना तीसरा नेत्र खोल लेते और ये हार मानकर बैठ जातीं ॥ ७ ॥ महादेवजी जब इन्हें चूमना चाहें तो ये अपना ओठ ही न बढ़ावें और जब वे इन्हें कसकर छाती लगाना चाहें तो ये अपने हाथ तक न उठावें। इस प्रकार बाधाओं के साथ और अधूरे रसके साथ भी शिवजीने वधूके साथ जो संभोग किया उसमें भी उन्हें आनन्द ही मिला ॥८॥ धीरे-धीरे पार्वतीजीकी झिझक मिटने लगी और इसलिये जब कभी महादेवजी इन्हें चूमते समय काटते नहीं थे, चूँटते हुए घाव नहीं करते थे और बहुत धीरे-धीरे संभोग करते थे तो ये आनाकानी नहीं करती थीं। पर जहाँ वे इससे आगे बढ़े कि ये घबरा उठतीं ॥ ९ ॥ पार्वतीजी इतनी लजीली थीं कि जब इनकी सखियाँ इनसे रातकी बातें पूछने लगतीं तो ये चाहते हुए भी लज्जाके मारे उनसे बता नहीं पाती थीं ॥१०॥ जब ये हाथमें दर्पण लेकर उसमें अपने शरीर पर बने हुए संभोगके चिह्न बैठी देखतीं और उस समय कहीं पीछेसे चुपचाप शिवजी पहुँच जाते तो उनकी परछाहीं दर्पणमें पड़ते ही ये ऐसी लजा जातीं कि झेंपके मारे क्या-क्या नहीं करने लगती थीं ॥११॥

मेनाको यह देखकर बड़ा संतोष हुआ कि महादेवजी हमारी कन्याके यौवनका उपभोग कर रहे हैं, क्योंकि जब माता यह देख लेती है कि मेरी कन्याका पति कन्याको प्यार करता है तो उसका जी हल्का हो जाता है ॥ १२ ॥

कुछ दिनोंतक तो महादेवजी ज्यों-त्यों करके पार्वतीजीसे संभोग

करते रहे पर धीरे-धीरे जब पार्वतीजीको भी संभोगका रस मिलने लगा तब इनकी भी झिझक धीरे-धीरे जाती रही ॥१३॥ और इसलिये जब महादेवजी इन्हें कसकर छातीसे लगाते तो ये उन्हें दोनों हाथों-से कस लेतीं, जब वे चूमनेको मुँह बढ़ाते तो ये अपना मुँह हटाती नहीं थीं और जब शंकरजी इनकी तगड़ी पकड़कर खींचते तो ये आधे मनसे ही उनका हाथ रोकतीं ॥ १४ ॥ थोड़े ही दिनों में दोनोंकी चाल-ढालसे यह पता चलने लगा कि अब ये बहुत घुल-मिल गए हैं क्योंकि दोनों एक दूसरेकी बड़ाई करते अघाते न थे और जो कहीं क्षण भरके लिये भी एक दूसरेसे अलग हुए कि बस तड़पने लगते ॥ १५ ॥ जैसे गंगाजी, समुद्रके पास जाकर और मिलकर वहाँसे लौटनेका नाम तक नहीं लेतीं और समुद्र भी उन्हींके मुखका जल ले-लेकर बराबर उनसे प्रेम किया करता है वैसे ही पार्वतीजी भी जैसे-जैसे अपने प्रियतमका मन बहलातीं वैसे-वैसे महादेवजी भी उनके मनकी ही बातें किया करते थे ॥ १६ ॥ पार्वती-जीने शंकरजीसे अकेलेमें जो काम-कलाकी शिक्षा ली थी उस कलाके अनुसार इन्होंने महादेवजीके साथ नई नवेलियोंकी चटक-मटकसे भरा जो संभोग किया वही मानो कला सीखनेकी गुरु-दक्षिणा थी ॥ १७ ॥

जब कभी महादेवजी, पार्वतीजीका ओठ काट लेते तो ये पीड़ासे अपने हाथ झटकने लगतीं और फिर तत्काल महादेवजीके सिरपर बसे हुए चन्द्रमापर ज्योंही ओठ रखतीं त्योंही उन्हें ऐसी ठंढक मिलती कि उनकी सब पीड़ा जाती रहती ॥ १८ ॥ इसी प्रकार चुम्बन लेते समय जब पार्वतीजीके केशोंका चूर्ण झड़कर शिवजीके तीसरे नेत्रमें पड़ता तो वह नेत्र दुखने लगता। तब खिले हुए कमलकी गंधवाले पार्वतीजीके मुँहकी फूँक पानेके लिये वे अपना नेत्र उठाकर उनके मुँहतक पहुँचा देते ॥१९॥ इस प्रकार जवानीका रस लेकर महादेवजीने कामदेवपर बड़ी कृपा की और हिमालयके घरपर उमाके साथ रहते हुए उन्होंने एक महीना बिता दिया ॥२०॥

तब उन्होंने हिमालयसे जानेकी आज्ञा माँगी। कन्याको अपनेसे अलग करनेमें हिमालयको दुःख तो बहुत हुआ पर उसने विदा

दे दी। वहाँसे अपने बेरोक-टोक चलनेवाले नन्दीपर चढ़कर वे जहाँ-तहाँ घूम-घूमकर विहार करने लगे ॥ २१ ॥

पवनके समान वेगसे चलनेवाले उस बैलपर चढ़कर और आगे पार्वतीजीको बैठाकर उनके स्तन पकड़े हुए वे मेरु पर्वतपर जा पहुँचे और वहाँ सुनहरे पत्तों से बिछी हुई शय्यापर उन्होंने एक रात संभोग किया ॥ २२ ॥ पार्वतीजीके मुख-कमलका रस लेनेवाले महादेवजी वहाँसे चलकर मन्दराचलकी उस ढालपर पहुँचे जहाँकी चट्टानोंपर विष्णुके चरणोंकी छाप और समुद्र-मंथनके समय उड़े हुए अमृतकी बूँदों के नये-नये छींटे पड़े हुए थे ॥ २३ ॥ वहाँसे चलकर वे कुबेरकी राजधानी कैलासपर पहुँचे जहाँ रावणकी ललकार सुनकर पार्वतीजी ऐसी डर गईं कि वे अपनी कोमल भुजाएँ शिवजीके गलेमें डालकर उनसे लिपट गईं। वहाँ रहकर शंकरजीने उजली चाँदनीका भरपूर आनन्द लूटा ॥ २४ ॥

वहाँसे घूमते-घामते वे मलय पर्वतपर पहुँच गए जहाँ चन्दनकी कोमल शाखाओंको हिलानेवाला और लौंगके फूलोंकी केसर उड़ाने वाला दक्षिणका वायु, संभोगसे थकी हुई पार्वतीजीकी थकावट उसी प्रकार दूर कर रहा था जैसे कोई मीठी-मीठी बातें करके किसी थके हुएका मन बहला रहा हो ॥२५॥ कभी पार्वतीजी उस आकाश-गंगामें जल-विहार करने लगतीं जहाँ उनकी कमरके चारों ओर खेलनेवाली मछलियाँ ऐसी लगती थीं मानो उन्होंने दूसरी करधनी पहन ली हो। वहाँ वे सोनेके कमल तोड़-तोड़कर उनसे महादेवजीको मारतीं और महादेवजी भी ऐसा पानी उछालते कि इनकी आँखें बन्द हो जातीं ॥ २६ ॥ वहाँसे नन्दनवनमें पहुँचकर महादेवजी पारिजातके उन फूलों से बहुत दिनों तक पार्वतीजीका शृङ्गार करते रहे जिनसे इन्द्राणीके केश सजाए जाते थे। वहाँकी अप्सराएँ महादेवजीकी इस कलाको बड़े चावसे निहारा करतीं ॥ २७ ॥

इस प्रकार अपनी प्राणप्यारीके साथ सांसारिक और स्वर्गीय दोनों सुख भोगते हुए वे एक दिन गन्ध मादन पर्वतपर जा पहुँचे। उस समय साँझ हो चली थी और सूर्य लाल-लाल दिखाई पड़ रहे थे ॥ २८ ॥ वहाँ पहुँचकर वे सोनेकी एक चट्टानपर बैठ गए। उस

समय सूर्यका तेज इतना कम हो गया था कि उसकी ओर भलीभाँति देखा जा सकता था। उसे देखकर अपनी बाईं भुजाके सहारे बैठी हुई अपनी धर्म-पत्नीसे महादेवजी बोले—॥ २९ ॥ देखो प्यारी! इस समय सूर्य ऐसा दिखाई पड़ रहा है मानो यह तुम्हारी तिहाई लाल आँखों के समान सुन्दर कमलोंकी शोभाको लजाकर उसी प्रकार दिनको समेट रहा है जैसे प्रलयके समय ब्रह्माजी सारे संसारको समेटे लेते हैं ॥ ३० ॥ देखो! ज्यों-ज्यों दिन ढलता जाता है, त्यों त्यों सूर्यकी किरणें हिमालयके झरनोंकी फुहारों से हटती जाती हैं और उनके हटते ही उन फुहारों में बने हुए इन्द्र-धनुष भी छिपते जा रहे ह ॥ ३१ ॥ फूले हुए कमलोंकी केसर चोंचमें उठाकर ये चकवी-चकवे एक दूसरेके कंठसे अलग होकर चिल्लाने लगे हैं और तालाब-का छोटासा पाट भी इनके लिये बहुत बड़ा हो गया है ॥३२॥ सलईके वृक्षों के टूटनेसे जहाँ गन्ध फैल गई है और जहाँ हाथी दिनमें रहा करते थे उन स्थानोंको अगले दिन तकके लिये छोड़ छोड़कर ये हाथी उस तालकी ओर बढ़े चले जा रहे हैं, जहाँ कमलों में भौंरे बन्द पड़े हैं ॥ ३३ ॥ हे मिठबोली! देखो पच्छिममें लटके हुए सूर्यने अपनी परछाईं से तालके जलमें एक सुनहरा पुल-सा बना डाला है ॥३४॥ देखो! तालोंको मथकर उनके गाढ़े कीचड़में लोट-लोटकर दिनभर की गर्मी बितानेवाले ये जो बड़े-बड़े दाँतवाले लंबे-चौड़े जंगली सूअर निकले चले आ रहे हैं, इनके दाँत ऐसे दिखाई देते हैं मानो इनके जबड़ों में खाए हुए कमलोंकी डंठलें अटकी हुई हों ॥ ३५ ॥ सामने पेड़की शाखापर बैठे हुए मोरकी पूँछमें बनी हुई गोल-गोल और सोनेके पानीके समान सुनहरी चन्द्रिकाओंको देखनेसे ऐसा लगता है मानो यह बैठा हुआ साँझकी सब धूप पी रहा हो और उसीसे दिन ढलता जा रहा हो ॥ ३६ ॥

देखो! सूर्यने आकाशसे धूपका पानी खींच लिया है। इसलिये आकाश उस तालाबके समान दिखाई दे रहा है जिसमें पूर्वकी ओर अँधेरा बढ़ते आनेसे यह जान पड़ता है कि उधर कीचड़ बचा रह गया है और पच्छिममें कुछ कुछ उजाला रहनेसे ऐसा लग रहा है कि उधर अभी थोड़ा-थोड़ा पानी बचा रह गया है ॥ ३७ ॥ पर्ण-

कुटियों के आँगनमें आते हुए हिरणों से, सींचे हुए जड़वाले हरे-भरे पौधों से, लौटकर आती हुई सुन्दर दुधारू गौओं से और हवनकी जलती हुई अग्निसे ये आश्रम कैसे सुहावने लग रहे हैं ॥ ३८ ॥ देखो! ये कमल इस समय मुँद चले, फिर भी पल भरके लिये अपना मुँह थोड़ा-सा इसलिये खुला रक्खे हुए हैं कि जो भौंरे बाहर रह गए हों उन्हें हम प्रेमसे भीतर बसा लें ॥ ३९ ॥

हे सुन्दरी! बहुत दूरपर सूर्यकी हलकी-सी झलक दिखाई पड़नेसे पच्छिम दिशा उस कन्याके समान लग रही है जिसने अपने माथेपर केसरसे भरे बन्धुजीवके फूलका तिलक लगा रक्खा हो ॥ ४० ॥ किरणोंकी गर्मी पी जानेवाले और सहस्रों के झुण्डमें रहनेवाले बाल-खिल्य आदि ऋषि इस समय सूर्यके रथके घोड़ोंको भला लगनेवाला सामवेद गा-गाकर उस सूर्यकी स्तुति कर रहे हैं जिन्होंने इस समय अपना तेज अग्निको सौंप दिया है ॥४१॥ दिनको समुद्रमें डुबोकर और अपने उन घोड़ोंको लिए हुए सूर्य अस्ताचलकी ओर चले जा रहे हैं जिनके सिर नीचेकी ओर उतरनेके कारण झुके हुए हैं, जिनके कानों-की चौरियाँ रह-रहकर आँखोंपर झूल जाती हैं और जिनके केसर कंधेपर रक्खे हुए जूएसे लग-लगकर छितरा गए हैं ॥ ४२ ॥ सूर्यके छिपते ही सारा आकाश सोया हुआ-सा जान पड़ रहा है। देखो! तेजस्वियोंकी ऐसी ही बात होती है कि वे जहाँ निकलते हैं वहाँ उजाला हो जाता है और जहाँ वे छिपते हैं वहाँ अँधेरा छा जाता है ॥ ४३ ॥ देखो! पूजनीय सूर्य अस्ताचलको चले तो सन्ध्या भी उनके पीछे-पीछे चल दी, क्योंकि तड़के उदयके समय जो सूर्यके आगे-आगे रहा वह सूर्यकी विपत्तिके समय उनका साथ भला कैसे छोड़ दे ॥ ४४ ॥

हे घुँघराले बालोंवाली! ये सामने लाल-पीले और भूरे बादलके टुकड़े फैले हुए ऐसे लग रहे हैं मानो सन्ध्याने उन्हें यह समझकर तूलिकासे रंग दिया हो कि तुम उन्हें देखोगी ॥ ४५ ॥ हिमालयके सिंहों के लाल-लाल केसरोंको, नये-नये पत्तोंसे लदे हुए वृक्षोंको और रंगीन धातुवाली हिमालयकी चोटियोंको देखकर ऐसा जान पड़ रहा है कि अस्त होते हुए सूर्यने अपनी लाल धूप इन सबको बाँट

दी है ॥ ४६ ॥ हे पार्वती ! सब क्रिया जाननेवाले ये तपस्वी, पवित्र जलसे सूर्यको सन्ध्या समय अर्घ्य देकर बड़ी श्रद्धाके साथ अपनी आत्म-शुद्धिके लिये रहस्य-भरे गायत्री मंत्रका जप कर रहे हैं ॥ ४७ ॥ हे मिठबोली ! अब साँझ हो चली है, इसलिये तुम भी मुझे थोड़ी देरकी छुट्टी दो तो मैं संध्या कर डालूँ । उतनी देरतक मनबहलावके काममें चतुर तुम्हारी सखियाँ तुम्हारा मन बहलाती रहेंगी ॥४८॥

यह सुनकर पार्वतीजीने महादेवजीकी बात अनसुनी-सी करके अपना ओठ बिचका लिया और पास बैठी हुई विजयासे उन्होंने इधर-उधरकी बेसिर-पैरकी बातें छेड़ दीं ॥ ४६ ॥

मन्त्रोंके साथ अपनी सन्ध्या पूरी करके महादेवजी उन पार्वती-जीके पास पहुँचे जो चुप्पी साधकर रूठी बैठी थीं। महादेवजी उनसे मुस्कुराते हुए कहने लगे—॥ ५० ॥ बिना बातके क्रोध करनेवाली भामिनी ! देखो, क्रोध न करो। मैं सन्ध्या करने ही तो गया था। सदा तुम्हारे ही साथ धर्मका काम करनेवाले मुझको क्या तुम चकवेके जैसा सच्चा प्रेमी नहीं समझती हो ॥ ५१ ॥ देखो सुन्दरी ! ब्रह्माने जब पितरोंको रचा था उस समय उन्होंने अपनी एक छोटीसी मूर्ति बना छोड़ी थी। वही मूर्त्ति सूर्योदय और सूर्यास्तके समय संध्याके रूपमें पूजी जाती है। इसीलिये हे रूठनेवाला ! मैं भी संध्याका इतना आदर करता हूँ॥५२॥ हे पार्वती ! एक ओरसे बढ़ते हुए अन्ध-कारसे घिरी हुई सन्ध्या, इस समय ऐसी जान पड़ रही है मानो बहते हुए गेरूकी धाराके एक किनारे तमालके पेड़ छाए हुए हों ॥ ५३ ॥ और दूसरी ओर अस्त होनेसे बचे हुए सन्ध्याके प्रकाशकी लाल रेखा पश्छिममें ऐसी दिखाई पड़ रही है मानो युद्ध-भूमिमें टेढ़ी चलाई हुई लहूभरी करवाल हो ॥ ५४ ॥ हे बड़ी-बड़ी आँखोंवाली ! सूर्यास्त हो जानेसे रात और दिनका मेल करनेवाली साँझका सब प्रकाश सुमेरु पर्वतके बीचमें आ जानेसे जाता रहा और अब यह घोर अँधेरा मनमाने ढंगसे चारों ओर फैलता जा रहा है ॥ ५५ ॥ अँधेरा फैल जानेसे न तो इस समय ऊपर कुछ दिखाई दे रहा है न नीचे, न आस-पास, न आगे-पीछे। इस रातके समय सारा संसार इस प्रकार अँधेरेमें घिर गया है जैसे गर्भकी झिल्लीमें लिपटा हुआ बालक पड़ा

हो ॥ ५६ ॥ इस समय अँधेरेमें, उजले और मैले, खड़े और चलते सीधे और टेढ़े सब एकसे हो गए हैं। भाड़में जाय ऐसे दुर्गोंका राज, जहाँ भले-बुरे सब एक घाट उतारे जाते हों ॥ ५७ ॥ हे कमलके समान मुखवाली ! पूर्व दिशाका अगला भाग कुछ कुछ ऐसा उजला दिखाई पड़ रहा है मानो केतकीके फूलका पराग उधर फैला हुआ हो। इससे यह निश्चय जान पड़ रहा है कि रातका अँधेरा दूर करनेके लिये चन्द्रमा निकलते चले आ रहे हैं ॥ ५८ ॥ यद्यपि अभी चन्द्रोदय हुआ नहीं है पर आकाशमें तारे निकल आए हैं। इसलिये इस समय मन्दराचलके पीछे छिपे हुए चन्द्रमा इस तारोंवाली रातमें ठीक ऐसे लगते हैं जैसे मैं तुम्हारे पीछे आकर तुम लोगोंकी बात उस समय सुनता हूँ जब तुम अपनी सखियोंके साथ बैठकर बातें करती होती हो ॥ ५९ ॥ जो चन्द्रमा दिनभर दिखाई नहीं देता था, वह इस समय निकला हुआ ऐसा लगता है मानो रातके कहनेसे यह चाँदनीके रूपमें मुस्कुराता हुआ पूर्व दिशाके सब भेद खोल रहा हो ॥ ६० ॥ हे पार्वती ! यह उदय होता हुआ चन्द्रमा इस समय पके हुए प्रियङ्गुके फलके समान लाल दिखाई पड़ रहा है। इस समय आकाशका चन्द्रमा और तालके पानीमें पड़ी हुई चन्द्रमाकी परछाँई दोनों ऐसे लगते हैं मानो रात होनेसे चकवी-चकवेका जोड़ा दूर-दूर जा पड़ा हो ॥ ६१ ॥ चन्द्रमाकी निखरती हुई नई किरणें नये और कोमल जौके अँकुवोंके समान कोमल हैं। तुम चाहो तो अपने कनफूल बनानेके लिये अपने नखोंकी नोकसे उन्हें तोड़ लो ॥ ६२ ॥ इस समय कमल मुँद गए हैं और चाँदनी फैल जानेसे अँधेरा मिट गया है। इसलिये इस समय चन्द्रमा ऐसा लग रहा है मानो वह अपनी किरण रूपी उँगलियोंसे रात रूपी नायिकाके मुँहपर फैले हुए अँधेरे रूपी बालोंको हटाकर उसका मुँह चूम रहा हो और रात भी उस चुम्बनका रस लेनेके लिये अपने कमल रूपी नेत्र मूँदे बैठी हो ॥ ६३ ॥ हे पार्वती ! उठे हुए चन्द्रकी किरणोंसे घना अँधेरा मिट जानेपर आकाश ऐसा जान पड़ रहा है मानो हाथियोंकी जल-क्रीड़ासे गँदला मानसरोवर निर्मल हो चला हो ॥ ६४ ॥ अब चन्द्रमाका मण्डल ललाई छोड़कर धीरे-

धीरे उजला होने लगा है। ठीक भी है, क्योंकि जो निर्मल स्वभाव वाले होते हैं उनमें यदि समयके फेरसे कभी कोई दोष आ भी जाता है तो वह बहुत दिनों तक नहीं टिक पाता ॥ ६५ ॥ पर्वतकी चोटियों-पर तो चाँदनी फैल गई है पर घाटियों और खड्ढों में अभी अँधेरा बना हुआ है। सचमुच ब्रह्माने गुण और दोषकी कुछ चाल ही ऐसी बनाई है कि गुण तो ऊँचे पर रहता है और दोष नीचेकी ओर चला जाता है ॥ ६६ ॥ चन्द्रमाकी किरण पड़नेके कारण इस पर्वतकी चन्द्रकान्त मणिकी चट्टानों से जलकी बूँदें टपक रही हैं। इसलिये पर्वतकी ढालपर वृक्षोंकी छायामें सोए हुए मोर, इन बूँदोंको वर्षाकी बूँदें समझकर बिना वर्षा आप ही जाग खड़े हुए हैं ॥६७॥ हे सुन्दरी! इस समय कल्पवृक्षकी फुनगियोंपर चमकती हुई किरणोंको देखकर ऐसा जान पड़ रहा है मानो चन्द्रमा अपनी किरणों से कल्पवृक्षोंमें चन्द्रहार बनाने आ पहुँचा हो ॥ ६८ ॥ पहाड़के ऊँचे-नीचे होनेसे कहीं तो चाँदनी पड़ रही है और कहीं अँधेरा है। इसलिये यह ऐसा दिखाई पड़ रहा है मानो किसी मतवाले हाथीपर अनेक प्रकारकी चित्रकारी कर दी गई हो ॥ ६९ ॥ यह जो भौंरों की गूँजसे भरा हुआ कुमुद खिल रहा है, वह ऐसा लगता है मानो साँस ले-लेकर इसने जो भरपेट चाँदनी पी ली थी उसे पचा न सकनेके कारण इसका पेट फट गया हो और यह कराह रहा हो ॥७०॥

हे चण्डिके! कल्पवृक्षमें लटके हुए कपड़ों और चन्द्रमाकी निर्मल किरणों के एक से होनेके कारण उनमें धोखा हो जाता है, पर वायुके चलनेपर जब कपड़े हिलने लगते हैं तब अपने आप पता चल जाता है कि यह कपड़ा ही है ॥७१॥ पत्तोंके बीचसे छनकर धरतीपर पड़ने-वाली चाँदनी ऐसी सुन्दर और सुहावनी दिखाई दे रही है जैसे पेड़ों-से झड़े हुए फूल हों, इसलिये तुम चाहो तो फूलों के समान दिखाई पड़नेवाले इन चाँदनीके फूलों से ही तुम्हारे केश गूँथ दिए जायँ॥७२॥ जैसे नई-नई बहू पहली बार संभोगके डरसे काँपती हुई अपने पतिके पास जाती है वैसे ही हे सुन्दरी! ये टिमटिमाती हुई तरैयें भी काँपती हुई चन्द्रमाके पास जा रही हैं ॥ ७३ ॥ हे सुन्दरी! तुम जो चन्द्रमा-की ओर टकटकी लगाकर देख रही हो तो पके हुए सरकंडे-

के समान गोरे-गोरे और अपनी स्वाभाविक प्रसन्नतासे खिले हुए तुम्हारे गाल ऐसे लग रहे हैं मानो उनपर चाँदनी चढ़ती आ रही हो ॥ ७४ ॥ लो, तुम्हें यहाँ बैठी हुई देखकर लाल सूर्यकान्तमणिके प्यालेमें कल्पवृक्षकी मदिरा लिए हुए गन्धमादनकी वनदेवी अपने आप तुम्हारी आवभगत करने आ पहुँची हैं ॥ ७५ ॥ तुम्हारी मतवाली आँखें भी स्वभावसे ही लाल हैं इसलिये मदिरा पीनेसे भी तुमपर कोई विशेष प्रभाव तो पड़ेगा नहीं ॥ ७६ ॥ और फिर सखियोंका आग्रह टालना भी नहीं चाहिए, इसलिये लो, यह कामको उकसानेवाली मदिरा पी ही डालो। यह लुभावनी बात कहकर शंकर जीने बड़ी उदारतासे वह मदिरा पार्वतीजीको पिला दी ॥७७॥

जैसे वसन्तमें ब्रह्माकी कृपासे आमका पेड़ अधिक सुगन्धित होकर सहकार बन जाता है वैसे ही मदिरा पीनेसे पार्वतीजीका रूप कुछ ऐसा हो गया कि उनकी स्वाभाविक सुन्दरता और भी बढ़ गई ॥७८॥ मदिरा पीनेसे सुन्दर मुखवाली पार्वतीजी ऐसी मदमें चूर होकर शंकरजीकी गोदमें गिरीं कि उनकी लाज जाती रही, उनका काम बढ़ गया और उसी दशामें वे शयनागारमें पहुँचाई गईं ॥ ७९ ॥

पार्वतीजीकी आँखें चंचलतासे नाच रही थीं, मदके कारण मुँहसे सीधी बोली नहीं निकल रही थी, मुँहपर पसीनेकी बूँदें झलक रही थीं और बिना बातके ही वे हँस-हँस पड़ती थीं। पार्वतीजीके उस मुखको भगवान् शंकरने अपने मुँहसे चूमा नहीं वरन् बहुत देर तक अपनी आँखों से ही उसकी सुन्दरताको पीते रहे ॥८०॥ सोनेकी करधन लटकाए हुए और भारी नितम्बों के बोझसे धीरे-धीरे चलनेवाली पार्वतीको लिए हुए भगवान् शिव, मणिशिलाके बने हुए उस सुनसान घरमे पहुँचे जहाँ सुखकी सभी सामग्रियाँ उनके सोचने भरसे उत्पन्न हो गई थीं ॥ ८१ ॥ जैसे रोहिणीके पति चन्द्रमा उजले बादलों में विश्राम करते-से जान पड़ते हैं वैसे ही उस शयनागारमें हंसके समान उजली चादरवाले और गंगातीरके समान मनोहर दिखाई देनेवाले पलँगपर भगवान् शंकर अपनी प्रियतमाके साथ लेट गए ॥ ८२ ॥

दोनों एक दूसरेको हरानेके लिये तुले हुए थे, इसलिये उमा और शंकरजीने ऐसा संभोग किया कि दोनोंके केश छितरा गए, चन्दन पुँछ गया, नख-चिह्न भी इधरके उधर हो गए और पार्वतीजी की करधनी भी टूट गई, फिर भी पार्वतीजीके साथ संभोग करके शंकरजीका जी नहीं भरा ॥ ८३ ॥ पर रातके पिछले पहरमें जब तारे छिपने जा रहे थे तब केवल अपनी प्रियतमापर दया करके शंकरजी ने उमाके हाथों में बँधे-बँधे ही सोनेके लिये अपनी आँखें मूँद लीं ॥ ८४ ॥ और जब सुनहले कमल खिलने लगे और वीणा-धारी गन्धर्व अलाप भरते हुए शंकरजीका मंगल-गान करने लगे, उस उषा-कालमें देवताओंके पूज्य शिवजी जाग उठे ॥ ८५ ॥ उस समय गन्धमादन वनका जो पवन मानसरोवरमें लहरियाँ उठाता हुआ मन्द-मन्द बह रहा था और जिसे छू जानेसे ही मानो कमल खिलते जा रहे थे, उस वायुका उन दोनोंने थोड़ी देर तक अलग होकर आनन्द लिया ॥ ८६ ॥ वायुके झोंकेसे कपड़ा हट जानेसे पार्वतीकी नंगी जाँघोंपर जो नखोंके चिह्नोंकी पाँत दिखाई दे रही थी उसे शिवजी एकटक होकर देख रहे थे और जब अपने उघड़े हुए कपड़ेको पार्वतीजी ठीक करने लगीं तो शिवजीने उनका हाथ थाम लिया॥८७॥ रातभर जागनेसे पार्वतीजीकी आँखें लाल हो रही थीं, ओठोंपर शिवजीके दाँतोंके घाव भरे पड़े थे, सँवारे हुए केश इधर-उधर छितरा गए थे और उनका तिलक भी पुँछ गया था। अपनी प्रियतमाके ऐसे मुखको देखकर प्रेमी भगवान् शंकर मगन हो उठे ॥८८॥ जिस पलँगपर वे सोए थे उसकी चादरमें सलवटें पड़ गई थीं, बिना डोरीवाली टूटी करधनी उसपर इकट्ठी हुई पड़ी थी और उसपर कहीं-कहीं पाँवके महावरकी छाप भी जहाँ-तहाँ लगी हुई थी। वह पलँग महादेवजीको ऐसा प्यारा हो गया था कि दिन निकल आनेपर भी उन्होंने पलँग छोड़नेका नाम न लिया ॥ ८९ ॥ प्रियतमाके सुख बढ़ानेवाले ओठोंका रस दिन-रात पीनेकी इच्छा करनेवाले शिवजीकी यह दशा हो गई कि यदि कोई उनके दर्शनको आता तो विजयासे सूचना पानेपर भी वे दर्शन देनेतकको बाहर न निकलते ॥ ९० ॥ भगवान् शंकरने बराबर दिनरात पार्वतीजीके साथ संभोग करते

हुए सैकड़ों वर्ष ऐसे बिता दिए मानो एक रात हो। पर भगवान् शंकर जीका जी इतने संभोगसे भी उसी प्रकार नहीं भरा जैसे समुद्रके जलमें रहनेपर भी बड़वानलकी प्यास नहीं बुझ पाती ॥९१॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए कुमार-संभव महाकाव्यमें शंकर-पार्वतीकी काम-क्रीड़ा नामका आठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥८॥



नवाँ सर्ग

जिन दिनों पार्वतीजीके मुख-कमलपर भौंरेके समान लट्टू होकर शिवजी संभोग कर रहे थे उन्हीं दिनो एक बार शिवजी देखते क्या है कि जिस घरमें वे संभोग कर रहे थे उसीमें एक कबूतर घुस आया है ॥१॥ वह कबूतर वैसा ही मीठा बोल रहा था जैसे संभोगके समय सुन्दरियाँ बोलती हैं, उसकी लाल-लाल आँखें इधर-उधर नाच रही थीं, वह कभी अपना कंठ ऊँचा कर लेता था, कभी झुका लेता था और वह बार-बार अपनी पूँछको सिकोड़ता जाता था ॥ २ ॥ उनके चन्द्रमाके समान उजले रंगवाला कबूतर अपने पंजे समेटे हुए दोनों पंख खोले मस्तीका आनन्द लेता हुआ इधर-उधर उड़ता हुआ चक्कर लगा रहा था ॥ ३ ॥ उस कबूतरको देखकर शिवजी बड़े प्रसन्न हुए क्योंकि वह उन्हें ऐसा दिखाई दे रहा था मानो वह उस अमृत-कुण्डकी नई फेनका पिंड हो जिसमें कामदेवने रतिके साथ डुबकी लगा-लगाकर नहाया हो ॥ ४ ॥ पर जब भगवान् शंकरने उसका रंग-ढंग कुछ देवताओंका सा देखा तो उनका माथा ठनका और ध्यान लगाते ही वे समझ गए कि अग्नि यह कपट वेश बनाकर आया है। यह देखते ही क्रोधसे उनकी टेढ़ी भौंहें डरावनी बनकर तन गईं ॥ ५ ॥

शिवजीका यह रूप देखकर अग्निने अपना सच्चा रूप बनाकर, दोनों काँपते हुए हाथ जोड़कर, डरसे अत्यन्त थरथराते हुए, सब बातें सच्ची-सच्ची कह सुनाईं—॥६॥ भगवन्! संसारके आप ही तो एक स्वामी हैं। आप ही स्वर्गमें रहनेवाले देवताओंकी विपत्तियाँ मिटानेवाले हैं। हे प्रभो! इसीलिये इन्द्र आदि देवता जब-जब दैत्योंसे हारते हैं तब-तब वे आपकी ही शरणमें आते हैं ॥७॥ आपने अपनी प्रियाके प्रेममें सौ वर्ष तो संभोगमे ही बिता दिए और आप यहाँ ऐसे अकेलेमें रहने लगे कि आपका दर्शन न पानेसे इन्द्र और दूसरे देवता लोग सब बड़े घबराने लगे थे ॥ ८ ॥ हे भगवन्! वे सब इन्द्र आदि देवता अब आपके दर्शनके लिये बैठे बाट जो रहे हैं और उन्हींके कहनेसे मैं आपको ढूँढ़ने निकला था। मैंने यही जान कर पक्षीका रूप बना लिया था कि आप इस समय सम्भोग कर रहे होंगे ॥ ९ ॥ इसलिये हे प्रभो! आप मेरा अपराध क्षमा कीजिए। आप ही सोच देखिए कि शत्रुओंसे हारकर और अपमानित होकर आपकी शरणमें आए हुए देवता लोग भला कितने दिनोंतक मन मारे बैठे रह सकते थे ॥ १० ॥ इसलिये हे प्रभो! आप प्रसन्न होकर शीघ्र ही अपने वीर्यसे एक ऐसा पुत्र उत्पन्न कीजिए जिसे सेनापति बनाकर इन्द्र भगवान फिरसे स्वर्ग-लोकके स्वामी बनकर आपकी कृपासे तीनों लोकोंका पालन करें ॥ ११ ॥

अग्निकी ठीक-ठीक बात सुनकर शंकरजीका क्रोध जाता रहा। क्योंकि जिन्हें बात करनेका ढंग आता है वे अपनी बातोंसे अपने स्वामियोंको प्रसन्न कर ही लेते हैं ॥ १२ ॥

तब कामदेवको जलानेवाले हँसमुख शंकरजीने ऐसा पुत्र उत्पन्न करनेका विचार किया जो तारक राक्षसको जीत सके और सेनापति बनकर इन्द्रको जिता सके ॥ १३ ॥

अपने वीर्यको ऊपर खींच सकनेवाले शंकरजीका जो प्रलयकी आगके समान किसीसे सहा न जा सकनेवाला अचूक वीर्य संभोगके अन्तमें निकल पड़ा उसे शंकरजीने अग्निको दे दिया ॥१४॥ उसे लेते ही अग्निका उजला शरीर एकदम ऐसा धुँधला पड़ गया जैसे मुँहकी भापसे दर्पण धुँधला पड़ जाता है ॥ १५ ॥

उधर संभोगके सुखमें इस प्रकार बाधा पड़ जानेसे पार्वतीजी भी आग-भभूका हो उठीं और उन्होंने अग्निको शाप दिया—जाओ, तुम आजसे पवित्र-अपवित्र सब वस्तुएँ खाओ, और संसारकी वस्तुओंको जलानेका भयानक काम करो, कोढ़ी हो जाओ और सदा धुएँसे भरे रहो ॥ १६ ॥

महादेवजीका वीर्य लेनेसे अग्निका रूप ऐसा बिगड़ गया जैसे दक्ष के शापसे क्षय रोगवाले चन्द्रमाका रूप, या पालेसे मारे हुए कमल-के कोशका रूप। वही रूप लेकर अग्नि वहाँसे बाहर निकले ॥ १७ ॥

अग्निने अचानक संभोगके समय ही उन्हें देख लिया था इसीलिये पार्वतीजी क्रोधके मारे आपेसे बाहर हो गईं। काम और लाजके मारे अपनी झेंप मुस्कराहटमें छिपाती हुईं और नीचा मुँह किए बिगड़ी बैठी हुई पार्वतीजीको प्रेम-भरे मीठे वचनोंसे शंकर भगवान बह-लाने लगे ॥ १८ ॥ घने पसीनेकी बूँदोंके कारण पार्वतीजीकी आँखों का आँजन उनके मुँहपर इधर-उधर फैल गया था। शंकरजीकी प्राण-प्रियाके मुख-चन्द्रपर वे आँजनके चिह्न ऐसे लग रहे थे मानो वे चन्द्रमाके कलंक हों। महादेवजीने फैला हुआ आँजन अपने कन्धे पर धरे हुए कोपीनसे पोंछ डाला ॥ १९ ॥ अपनी गीली अँगुलियों-वाले हाथोंको पंखेके समान झलकर शिवजीने धीरे-धीरे पार्वतीके मुख-कमलका सब पसीना सुखा दिया ॥२०॥ संभोगके समय जूड़ा खुल जानेसे पार्वतीजीके बाल कंधोंपर फैल गए थे और जूड़ेमें लगे हुए सब फूल भी निकल गए थे। उस जूड़े को महादेवजीने फिरसे पारिजातके फूलोंकी मालासे बाँध दिया ॥ २१ ॥ चन्द्रके समान मुख वाले शंकरजीने सुन्दर मुखवाली पार्वतीजीके गाल कस्तूरीके लेपसे चीत दिए। उसे देखकर यह जान पड़ा मानो वह चित्रकारी, सिद्ध कामदेवके हाथों से लिखे हुए वे मंत्र हों जिनसे वह, संसारको वशमें कर लिया करता है ॥ २२ ॥ शंकरजीने पार्वतीजीके दोनों कानोंमें दो गोल कनफूल पहना दिए। उनसे इनका मुख ऐसा सुन्दर दिखाई पड़ने लगा मानो यह कामदेवका ऐसा रथ हो जिसपर बैठकर वह तीनों लोकोंको जीतने निकला हो और ये दोनों कनफूल उस रथके दोनों पहिए हों ॥ २३ ॥ शंकरजीने पार्वतीजीके गलेमें जो

मोतियोंका हार पहनाया वह उनके स्तनोंकी घुंडियोंको छूकर छाती पर लटका हुआ ऐसा जान पड़ता था मानो दो सुमेरु पर्वतोंकी दो चोटियों से गंगाजीकी दो धाराएँ गिर रही हों ॥ २४ ॥ शंकरजीने पार्वतीजीके उन नितम्बों पर करधनी पहना दी जिनपर उनके हाथों-से बने हुए नखों के चिह्न चमक रहे थे। वह करधनी ऐसी लगती थी मानो कामदेवने अपने चञ्चल चित्तको बाँधनेके लिये फाँस बाँध दी हो ॥२५॥ उन्हों ने अपने ललाटमें जलनेवाले नेत्रसे स्वयं आँजन पारकर नये कमल जैसी आँखोंवाली पार्वतीजीके नयनों में काजल लगा दिया और फिर उँगलीमें लगा हुआ आँजन पोंछनेके लिये वह उँगली अपने नीले कंठमें रगड़ ली ॥ २६ ॥ तब उन कमलनयनी पार्वतीजीके चरण कमलके पंजों में शंकरजीने महावर लगाकर अपने सिरपर बहती हुई गंगाकी धारामें अपने हाथका रंग धो डाला ॥ २७ ॥ यह सब करके बड़े मगन होकर उन्हों ने अपने भस्म लगे हुए शरीरपर दर्पण रगड़कर पोंछा और फिर अपनी प्राण-प्यारीको सिंगारकी सजावट दिखानेके लिये वह दर्पण उनके आगे कर दिया ॥ २८ ॥

शंकरजीके हाथसे दिखाए हुए उस दर्पणमें अपने शरीरपर बने हुए संभोगके चिह्नोंको देखनेसे उन्हें लाजके मारे जो रोमांच हो आया उसीसे उन्हों ने जतला दिया कि हम शंकरजीसे कितना प्रेम करती हैं ॥ २९ ॥

अपने प्यारे पतिके हाथसे किए हुए सिंगारकी शोभा जब उन्होंने दर्पणमें देखी तो वे मुस्कुरा दीं और सब क्रोध छोड़कर ऐसी प्रसन्न हो गईं कि वे अपनेको संसारकी सब सौभाग्यवती स्त्रियों में सबसे बढ़कर समझने लगीं ॥ ३० ॥

तब जया और विजया नामकी सखियों ने देखा कि अब ठीक अवसर है। वे झट भीतर गईं और शंकरजीकी गोदमें बैठी हुई पार्वतीजीका शृङ्गार करने लगीं ॥३१॥ उसी समय शंकरजीको प्रसन्न करनेके लिये चारणों ने उनके सुन्दर चरित्रके मनोहर मंगल गीत गाने प्रारंभ कर दिए और गन्धर्व लोग भी शंख बजा-बजाकर गाने

लगे ॥३२॥ महादेवजीकी सेवा करनेका ठीक अवसर जानकर नन्दी भी भीतर जा पहुँचे और उन्हों ने शंकरजीसे प्रार्थना की कि देवता लोग आपके दर्शनके लिये बाहर आए खड़े हैं ॥ ३३ ॥ यह सुनकर अपनी प्राण-प्यारीके हाथमें हाथ डाले भगवान् शंकर देवताओं से मिलनेके लिये उस संभोग-घरसे बाहर निकल आए ॥ ३४ ॥

आते ही इन्द्र आदि देवताओं ने धीरे-धीरे बारी-बारीसे शिवजीको तथा तीनों लोकोंकी माता पार्वतीजीको हाथ जोड़कर और सिर नवाकर प्रणाम किया ॥ ३५ ॥ शंकरजीने सब देवताओंका सम्मान करके उन्हें प्रसन्न किया और विदा किया। तब नन्दीके हाथके सहारेसे पार्वतीजीके साथ बैलपर चढ़कर वे स्वयं वहाँसे चल पड़े ॥३६॥ मनसे भी अधिक वेगसे चलनेवाले उस बैलपर चढ़कर जब वे आकाश-मार्गमें जा रहे थे उस समय जो देवता लोग अपने-अपने विमानोंपर चढ़कर आकाशमें घूम रहे थे, उन सबने शिवजीको हाथ जोड़कर प्रणाम किया ॥ ३७ ॥ उस समय आकाश-गंगाके जल की फुहारों से शीतल, पारिजातके फूलों में बसे हुए और संभोग करके थकी हुई नारीकी थकावटको मिटानेवाले पवनने आकर शंकरजीकी और पार्वतीजीकी बड़ी सेवा की ॥ ३८ ॥ यों चलते-चलते भगवान् शंकर स्फटिकके बने हुए पर्वतों म श्रेष्ठ कैलासपर जा पहुचे। यह पहाड़ शंकरजीके समान ही लगता था क्योंकि अपने बड़प्पनसे शंकरजी सारे आकाशमें व्याप्त हैं और कैलासके भी चारों ओर आकाश है। इसलिये दोनों ही आकाशसे सजे हैं। सोम कहलानेवाले भगवान् शंकरजी इस पर्वतपर रहते हैं और सोम कहलानेवाला चन्द्रमा महादेवजीके माथेपर रहता है। इसलिये दोनों ही सोमको धारण करनेवाले हैं। इस पर्वतपर भोगी या कामी अनूठा संभोग करते हैं और महादेवजीपर भोगी अर्थात् साँप अनूठे ढंगसे लिपटे रहते हैं। इसलिये दोनों ही अनूठे भोगीवाले हैं। इस पर्वतपर बहुत विभूति अर्थात् रत्नमणि आदि पाए जाते हैं और महादेवजी के शरीरपर विभूति अर्थात् भस्म है। इसलिये दोनों ही विभूतिवाले भी हैं ॥३९॥ जब सिद्धोंकी स्त्रियाँ अपने पतियों के साथ कैलास पर्वतकी स्फटिककी दीवारों के पास पहुँचकर अपनी परछाईं देखती हैं तो

उन्हें यह धोखा हो जाता है कि हमारे पति किसी दूसरी स्त्रीको तो साथ नहीं लिए हुए हैं। फल यह होता है कि अपने पतियोंके मनाते रहनेपर भी वे रूठी ही रहती हैं ॥ ४० ॥ जब उस स्फटिकके बने हुए कैलासपर चन्द्रमाकी सुन्दर परछाइँ पड़ती हैं तब चन्द्रमाके कलंककी छाया तो दिखाई पड़ती है पर चन्द्रकी छाया उसीमें मिल जाती है। वह कलंककी छाया ऐसी लगती है मानो पार्वतीजीने कस्तूरी पीसकर और उसकी पिंडी बनाकर वहाँ छोप दी हो ॥ ४१ ॥ इसी पर्वतकी भीतोंपर अपने अङ्गोंकी छाया देखकर मतवाले हाथी उसे दूसरा मतवाला हाथी समझ बैठते हैं। इसलिये क्रोधमें भरकर अपने दाँतों से उनपर करारी टक्करें लेने लगते हैं ॥ ४२ ॥ यहाँके स्फटिकके बने हुए भवनोंपर जब तारोंकी परछाईं पड़ती है तो सिद्धोंकी स्त्रियों-को यह धोखा हो जाता है कि ये कहीं संभोगके समय छूटकर गिरे हुए मोतियोंके दाने तो नहीं हैं ॥ ४३ ॥ अप्सराओंके दर्पणके समान सुन्दर लगनेवाला चन्द्रमा जब इस कैलासकी चोटीपर आ पहुँचता है तब यह उस हिमालयका अनमोल चूड़ामणि-सा लगने लगता है जिसपर शिवजी निवास करते हैं ॥ ४४ ॥ कामसे पीड़ित देवता लोग अपनी-अपनी स्त्रियोंको साथ लेकर जब यहाँ एकान्तमें विहार करने आते हैं तब स्वयं अकेले होनेपर भी अनेक परछाइँयाँ पड़नेके कारण उन्हें ऐसा जान पड़ता है मानो हमारे बहुतसे रूप हो गए हों॥४५॥ उसी सुन्दर कैलासकी स्फटिककी चोटीपर शंकरजीने भी पार्वतीजी-के साथ बहुत दिनोंतक लगातार जी भरकर अनेक प्रकारकी काम-क्रीड़ाएँ कीं ॥ ४६ ॥ अपनी रसीली चटक-मटकसे जी लुभानेवाली पार्वतीजी भी शंकरजीके हाथमें हाथ दिए हुए उन पथोंपर घूमा करती थीं जहाँ हाथमें बेतका डंडा लिए हुए नन्दी आगे-आगे मार्ग बताता चलता था ॥ ४७ ॥ शंकरजीकी भौंहोंका संकेत पाकर बड़े-बड़े दाँतोंवाले, लहराती हुई चोटीवाले, टेढ़े-मेढ़े अंगोंवाले और उजले बेढंगे मुँहवाले भृंगीने पार्वतीजीका मन बहलानेके लिए बड़ा नाच दिखलाया ॥ ४८ ॥ हँसमुख दिखाई पड़नेवाले शंकरजीकी आज्ञा पाकर हिलती हुई खोपड़ियोंकी माला कंठमें पहननेवाली कालिकाने भी अपने डरावने दाँतोंवाला मुँह बना-बनाकर अपने

स्वामीकी प्यारीका मन बहलानेके लिये नाच दिखलाया ॥ ४९ ॥ इस प्रकार विकट रूपसे भयंकर शब्द करते हुए भृंगी और कालीको देखते ही पार्वतीजी डरके मारे ऐसे घबरा उठीं कि बड़े प्रेमसे शंकरजीकी छातीसे कसके लिपट गईं ॥ ५० ॥ पार्वतीजीकी इस घबराहटमें उनके उठे हुए और मोटे-मोटे स्तनोंके अपनी छातीपर लगते ही शंकरजी मगन हो उठे और उनके मनमें इतना काम उत्पन्न हो गया कि वे प्रेममें मतवाले हो उठे ॥ ५१ ॥ इस प्रकार श्रीपार्वतीकी अनेक हाव-भाव भरी लीलाओं और अनेक प्रकारके संभोगसे सन्तुष्ट होकर भगवान शकरजी अपने साथ कैलासपर रहनेवाले गणोंके साथ बड़े प्रसन्न हुए ॥ ५२ ॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए कुमार सभव महाकाव्यमें कैलास गमन नामका नवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

दसवाँ सर्ग

शंकरजीके उस जलते हुए वीर्यको लेकर अग्नि उस सभामें पहुँचे, जहाँ इन्द्र भगवान देवताओंके साथ बैठे हुए थे ॥ १ ॥ इन्द्रने बड़े आदरके साथ अपनी सहस्रों आँखोंसे उन अग्निको देखा जिनके अंग बेढंगे भद्दे और धुएँसे काले पड़ गए थे ॥ २ ॥ अग्निका यह रूप देखकर इन्द्र बड़े दुखी हुए और थोड़ी देर सोचते ही वे समझ गए कि शंकरजीके क्रोधसे ही अग्निकी यह दशा हुई है ॥ ३ ॥ जिन अग्निकी ओर सब देवता बड़े दुखी होकर बारबार देख रहे थे उन्हें इन्द्रने संकेतसे एक आसनपर बैठा दिया ॥ ४ ॥ और उन्होंने अग्नि देवसे पूछा—कहिए! आपकी यह दुर्दशा कैसे हो गई? तब लंबी साँस लेकर अग्निदेव कहने लगे—॥ ५ ॥

हे देवेन्द्र! आपकी अटल आज्ञासे मैं कबूतर बनकर बड़ा डरता-

डरता महादेवजीके पास पहुँचा। उस समय वे पार्वतीजीके साथ संभोग कर रहे थे। मुझे पहचानते ही जब वे क्रोधके मारे महाकाल के समान भयंकर हो गए तब मैंने कबूतरका रूप छोड़कर डरके मारे अपना सच्चा रूप बना लिया ॥६-७॥ हे इन्द्र! मुझे पक्षीके कपट वेषमें देखकर सब कुछ जाननेवाले शंकरजीको ऐसा क्रोध, आया कि वे मुझे अपने ललाटकी जलती हुई आगमें झोंक ही देते ॥ ८ ॥ पर मैंने बहुत गिड़गिड़ाकर बड़े अर्थ-भरे मीठे शब्दोंमें उनकी बड़ी स्तुति की तो वे पिघल गए, क्योंकि अपनी प्रशंसा भला किसको नहीं अच्छी लगती ॥ ९ ॥ यह तो आप जानते ही हैं कि शंकरजीकी शरणमें जो पहुँच जाता है उसकी और सारे जगतकी वे रक्षा करते ही हैं। इसलिये उनके क्रोधकी जलती हुई जिस आगसे कोई बच नहीं सकता उसकी आहुति बनते-बनते मैं बच गया ॥१०॥ उन्होंने झट पार्वतीजीके कसकर बँधे हुए हाथोंसे अपनेको छुड़ा लिया और लज्जाके कारण, सम्भोगके सुखकी इच्छा छोड़कर वे हट गए ॥ ११ ॥ संभोगके बीच में ही रंगमें भंग होनेसे उनका जो तीनों लोकोंको जलानेवाला और किसीसे भी सहा न जा सकनेवाला अचूक वीर्य निकला, वह उन्होंने मेरे शरीरमें डाल दिया ॥ १२ ॥ अब मैं उस असह्य जलते हुए तेजसे इतना जला जा रहा हूँ कि मुझे अपना शरीर भी भारी हो रहा है ॥ १३ ॥ हे इन्द्र! महादेवजीके इस अत्यन्त भयानक तेजसे मेरा सारा शरीर जला जा रहा है इसलिये अब आप किसी भी प्रकार मेरे प्राण बचानेका यश लीजिए ॥ १४ ॥

अग्निकी ये बातें सुनकर देवराज इन्द्र अपने मनमें कोई ऐसा उपाय सोचने लगे जिससे अग्निकी जलन मिट जाय ॥१५॥ महादेवजीके तेजसे जलते हुए अग्निके अंगोंपर हाथ फेरते हुए इन्द्र बोले—॥ १६ ॥

हे अग्नि! देखो, जब हवन करनेवाले होता लोग स्वाहा, स्वधा, और वषट् कहकर हवन करते हैं उस समय तुम प्रसन्न होकर देवों, पितरों और मनुष्योंको प्रसन्न करते हो, क्योंकि तुम्हारे ही मुखसे तो सबको अपना-अपना भाग मिलता है ॥ १७ ॥ होता लोग तुममें हवन करके पापसे छूटकर स्वर्गलोकमें जाकर सुख भोगते हैं।

वे एक तुम्हारे ही सहारे तो स्वर्गतक पहुँच पाते हैं ॥ १८ ॥ हे अग्नि ! यज्ञ करनेवाले तपस्वी मन्त्र पढ़कर जो तुम्हें आहुति देते हैं, उससे वे अपनी तपस्याका पूरा फल पा जाते हैं क्योंकि तपके देवता भी तो तुम्हीं हो ॥ १६ ॥ सूर्यके लिये जो आहुति दी जाती है उसे तुम धरोहरकी भाँति लेकर उन्हें दे देते हो। सूर्य उसे बादल बनाकर बरसा देते हैं, जिससे अन्न पैदा होता है और फिर उसी अन्नसे संसारके प्राणियोंका पेट पलता है। इस प्रकार सारे संसारके पिता भी तुम्हीं हो ॥ २० ॥ हे अग्नि ! सब प्राणियोंके भीतर तुम्हीं तो रहते हो और वे सब तुम्हींसे उत्पन्न होते हैं। इसलिये तुम्हीं संसारके जीवन और प्राण देनेवाले हो॥ २१ ॥ इस समूचे संसारका भला करनेवाले एक तुम्हीं तो हो, इसलिये ऐसी साँसतका काम तुम्हें छोड़कर और कर ही कौन सकता है ॥ २२ ॥ हे अग्नि ! तुम्हीं तो एक ऐसे हो जो देवताओंका काम साध सकते हो। देखो ! जो दूसरोंकी भलाई करनेका बीड़ा उठाते हैं वे जो कष्ट सहते हैं वह भी बड़े गौरव और बड़ाईकी बात होती है ॥ २३ ॥ देखो ! हम लोगों ने पहलेसे ही बहुत हाथ-पैर जोड़कर गंगाजीको प्रसन्न कर लिया है। बस, ज्यों ही तुम उनकी धारामें स्नान करोगे त्योंही वे इस घोर जलनको शान्त कर देंगी ॥ २४ ॥ इसलिये हे अग्नि ! तुम झटपट गंगाजीके पास जाओ, देर न करो, क्योंकि जिस कामको पूरा करनेकी बात जीमें ठान ले उसे पूरा करनेमें देर नहीं करनी चाहिए ॥२५॥ देखो ! श्रीगंगाजी शंकरजीकी ही जलवाली मूर्ति हैं। वे उनके तेजस्वी वीर्यको तुमसे लेकर अपनेमें रख लेंगी ॥ २६ ॥

इतना कहकर इन्द्र चुप हो गए और अग्नि भी उनसे विदा होकर गंगाजीकी ओर चल पड़े ॥ २७ ॥ और चलकर उन गंगाजीके तीरपर जा पहुँचे जो सब दुःखोंको मिटा देती हैं ॥ २८ ॥ जो सीढ़ी बनाकर भक्तोंको स्वर्ग पहुँचा देती हैं, मोक्ष दे डालती हैं, बड़े-बड़े पाप हर लेती हैं, कठिनाइयाँ दूर कर देती हैं, ॥ २६ ॥ शंकरजीके जटा जूटमें रहती हैं, सगरके पुत्रोंको भी तारनेवाली हैं, धर्मकी रक्षा करनेवाली हैं ॥ ३० ॥ विष्णुके चरणसे जलके रूपमें निकलकर ब्रह्मलोकसे आई हैं और अपनी तीन धाराओंमें से तीनों

लोकोंको सदा पवित्र करती रहती हैं ॥ ३१ ॥ वहाँ गंगाजीकी जो लहरें उठ रही थीं वे ऐसी लगती थीं मानो दूरसे आते हुए अग्निको देखकर वे प्रसन्न मनसे अपनी लहरों के हाथों से उनका काम साधनेके लिये उन्हें दूरसे ही बुला रही हों ॥ ३२ ॥ वहाँ बहुतसे राजहंस एक साथ मिलकर मतवाले बने हुए जो कलकल शब्द कर रहे थे वह ऐसा लग रहा था मानो गंगाजी अग्निसे यह कह रही हों कि मैं सबका भला किया करती हूँ और दुःख हर लिया करती हूँ ॥३३॥ गंगाजीकी ऊँची उठती हुई और हर हर करके आगे बढ़ती हुई तरंगें जो ढलुवे तटपर बढ़ती आ रही थीं वे ऐसी लगती थीं मानो गंगाजी कुछ आगे बढ़कर अग्निका स्वागत करने चली आ रही हों ॥ ३४ ॥ तापसे जलते हुए अग्निने वहाँ पहुँचकर झट गंगाजीमें डुबकी लगाई। सच है, विपदाके मारे लोगोंको कहीं कुछ देर रुककर सोचनेकी सुध थोड़े ही रहती है ॥ ३५ ॥

सबका कल्याण करनेवाली, थकावट दूरकरनेवाली, परम पवित्र तथा सबको तारनेवाली गंगाजीके जलमें डुबकी लगाकर अग्निको बड़ा सुख मिला ॥ ३६ ॥

अपनी ज्वालासे दहकता हुआ शंकरजीका वीर्य अग्निसे निकलकर ऊँची तरंगोंवाली गंगाजीमें पहुँच गया ॥ ३७ ॥ जब गंगाजीने बड़े आदरसे शंकरजीका वीर्य ले लिया तब अग्नि बहुत प्रसन्न होकर जलसे बाहर निकल आए ॥ ३८ ॥ और उस अमृतकी धाराके समान गंगा-जलसे अत्यन्त ठंढे होकर और अत्यन्त सुख पाकर वे जहाँसे आए थे वहाँ चले गए ॥ ३९ ॥

शंकरजीके असह्य वीर्यको पाकर आकाशमें बहनेवाली गंगाजी भी एकदम उबल उठीं ॥ ४० ॥ जैसे प्रलयकी आगकी सैकड़ों लपटोंसे तपे हुए गरम जलको छोड़कर जलके जीव पानीसे बाहर निकल आते हैं वैसे ही गंगाजीके तपते हुए जलको छोड़कर सब जीव भी घबराकर बाहर निकल आए ॥ ४१ ॥ रुद्रके उस भयानक तेजसे जब यह जल अत्यन्त तप चला तब वह भयंकर जल उबलकर ऐसा गरम हो गया कि छुआ तक नहीं जा सकता था, फिर भी गंगाजी उसे लिए ही रहीं ॥ ४२ ॥

एक दिन माघके महीनेमें जब संसारके नेत्र और प्रचंड किरणों-वाले भगवान् सूर्य थोड़े-थोड़े निकल रहे थे उस समय छओं कृतिकाएँ नहानेके लिये गंगाजीके तीरपर आईं ॥ ४३ ॥ उस समय गंगाजीकी उजली और आकाश चूमनेवाली सैकड़ों तरंगे उछल-उछलकर मानो यह बता रही थीं कि स्वर्गमें रहनेवाले देवता लोग यहीं आकर दर्शन, स्नान और आचमन किया करते हैं ॥ ४४ ॥

वहाँ तीरपर फूल, दूब, अक्षत आदि वे सब पूजाकी सामग्री बिखरी पड़ी थीं जो मुनियोंने भली प्रकार स्नान-पूजा करके वहाँ चढ़ा रक्खी थीं ॥ ४५ ॥ उसी तीरपर कुशके आसनोंपर पद्मासन बाँधकर ब्रह्मका ध्यान करते हुए और समाधि लगाए हुए ऋषि लोग कमरसे घुटने तक कपड़े ओढ़े सदा बैठे रहते हैं ॥ ४६ ॥ और वहीं पर पाँवके अँगूठोंपर खड़े होकर सूर्यकी ओर आँख लगाए हुए ब्रह्मर्षि परब्रह्मका ध्यान किया करते हैं ॥ ४७ ॥ ऐसी दिव्य नदीको उन छओं कृत्तिकाओंने प्रणाम किया। भला ऐसी अमृतकी धारावाली गंगाजीको देखकर कौन नहीं मुग्ध हो जायगा ॥ ४८ ॥

स्वयं भगवान् शंकर, जिन गंगाजीको मस्तकपर रखते हैं, जिनके दर्शन करनेसे ही पुण्य होता है उन गंगाजीको देखकर छओं कृत्तिकाएँ मनमें बड़ी प्रसन्न हुईं और उनके मनमें गंगाजीके लिये बड़ी श्रद्धा जाग उठी ॥ ४९ ॥ उन कृत्तिकाओंने, मुक्ति देनेवाली, विष्णुके चरणोंसे निकलनेवाली और पापोंका नाश करनेवाली गंगाजीकी बड़ी भक्तिसे वन्दना की ॥ ५० ॥ जिनका बड़े सौभाग्यसे दर्शन होता है और जो साक्षात् मोक्ष ही हैं उन गंगाजीकी स्तुति कृत्तिकाओंने बड़ी भक्तिके साथ की ॥ ५१ ॥ और तब उन तपस्विनी कृत्तिकाओंने जी भर मलमलकर गंगाजीके उस निर्मल जलमें स्नान किया जो ऐसा लगता था मानो मुक्तिके पास ही पहुँचा रहा हो ॥ ५२ ॥ जिन गंगाजीमें पिछले जन्मके पुण्यवान् लोग ही स्नान कर पाते हैं उन गंगाजीमें बड़े आनन्दके साथ स्नान करके उन कृत्तिकाओंने अपने भाग्यको बड़ा सराहा ॥ ५३ ॥

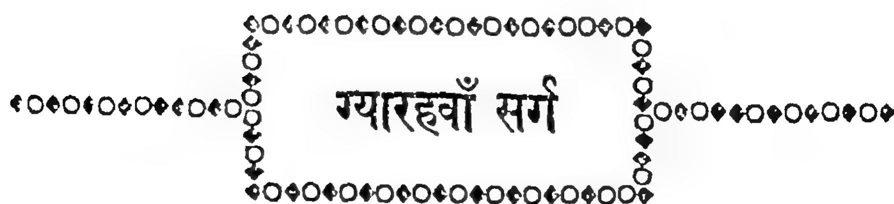
जब वे गंगाजीमें स्नान कर रही थीं उस समय शंकरजीका अचूक वीर्य गंगाजीसे निकलकर उन कृत्तिकाओंके शरीरमें पैठ गया

॥ ५४ ॥ तब शिवजीके उस भयंकर असह्य अग्निके समान वीर्यके आ जानेसे वे बहुत तप उठीं और उन्हें ऐसा जान पड़ा मानो हम विषके समुद्रमें ही डूब गई हैं ॥ ५५ ॥

निदान उस असह्य तेजको बहुत देरतक न सह सकनेके कारण वे भीतर ही भीतर जलती हुई उस तेजको लिए जलसे बाहर निकलीं ॥ ५६ ॥ शंकरजीका वह भभकता हुआ अचूक वीर्य गंगाजीसे छूट जानेपर उन कृत्तिकाओंके पेटमें पहुँचकर गर्भ बन गया ॥ ५७ ॥ जब उन कृत्तिकाओंने देखा कि वह तेज तो गर्भ बन गया है और हमसे संभाले नहीं सँभलेगा तब वे बुद्धिमती कृत्तिकाएँ अपने-अपने पतियों के डरसे और लाजके मारे बड़ी दुखी हो गईं ॥ ५८ ॥ और तब उस लज्जा और भयके कारण वे एक सरपतके जंगलमें अपने-अपने गर्भ छोड़कर अपने-अपने घर लौट गईं ॥ ५९ ॥

कृत्तिकाओंने उस सरपतके जंगलमें जो चन्द्रमाकी किरणोंके समान कोमल और तेजस्वी गर्भ छोड़े थे वे ऐसे तेजस्वी बन गए कि उनका तेज उदय होते हुए सैकड़ों सूर्यों से भी होड़ करता था और अपने छः मुखों से वे चार मुखवाले ब्रह्माको भी मानो चुनौती दे रहे थे ॥ ६० ॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए कुमार-संभव महाकाव्यमें
कुमारका जन्म नामका दसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।



ग्यारहवाँ सर्ग

इन्द्र आदि सब देवताओंने जब गंगाजीके पास आकर बड़ी नम्रतासे प्रार्थना की तब वे स्त्रीका रूप धारण करके अपना अमृतसे भरा हुआ स्तन उस बालकको पिलाने लगीं ॥ १ ॥ वह छः मुखों-वाला बालक अमृतकी धारा पी-पीकर पल-पलमें वेगसे बढ़ने लगा ।

और जब छओं कृत्तिकाएँ भी आकर उसकी देखभाल करने लगीं तब तो उसका रूप-रंग कुछ अनोखे ही ढंगसे सुन्दर हो उठा ॥२॥ उस दिव्य रूपवाले बालकको देखकर, गंगाजी, अग्नि और छओं कृत्तिकाएँ सब आँखोंमें प्रेमके आँसू भरकर उस बालकको अपना अपना पुत्र बनानेके लिये आपसमें बड़ा झगड़ा करने लगीं ॥ ३ ॥ इसी बीच शिवजी भी पार्वतीजीके साथ यों ही घूमते-घामते मनके समान वेगसे चलनेवाले विमानपर चढ़े हुए आकाशमें उड़ते हुए वहाँ आ पहुचे ॥ ४ ॥ छः दिनों के उस छः मुँहवाले बालकको देखते ही शिवजी और पार्वतीजीकी आँखें स्वाभाविक पुत्र-प्रेमकी प्रसन्नताके मारे छलछला उठीं ॥ ५ ॥ शंकरजीसे पार्वतीजी पूछने लगीं कि यह सामने दिव्य शरीरवाला बालक कौन है ? किस बड़-भागीका पुत्र है और कौन ऐसी सबसे बड़भागी स्त्री है जो इसकी माता है ? ॥ ६ ॥ ये अग्नि, गंगा, और छओं कृत्तिकाएँ सब आपसमें यह कह-कहकर क्यों झगड़ा कर रहे हैं कि यह मेरा पुत्र है, तुम्हारा नहीं। ये इस प्रकारकी बेतुकी और झूठी-झूठी बातें क्यों बक रहे हैं ॥ ७ ॥ हे ईश ! यह तीनों लोकों में तिलकके समान सबका सिर-मौर सुन्दर बालक इन तीनोंमें से सचमुच किसका पुत्र है ? या यह इनको छोड़कर किसी और ही देव, दैत्य, गन्धर्व, सिद्ध नाग या राक्षसका पुत्र है ॥ ८ ॥

अपनी प्राणप्यारी पार्वतीकी यह चावभरी बात सुनकर निर्मल कान्ति फैलानेवाली मुस्कराहटके साथ शंकरजीने बड़ी प्यारी बात कही— ॥ ९ ॥

तीनों लोकोंको आनन्द देनेवाला यह बालक तुम वीरमाताका ही वीर पुत्र है। हे कल्याणी ! तुम्हें छोड़कर देवताओंका कल्याण करने-वाला ऐसा पुत्र कौन उत्पन्न कर सकता है ॥ १० ॥ हे देवी ! संसार भरके मंगलके कामोंमें जिस बालककी कीर्ति गाई जायगी वह तुम्हारा यही पुत्र है। तुम्हीं ठीक ठीक विचारकर देख लो कि रत्न तो रत्नाकरसे ही निकल सकता है ॥ ११ ॥ हे पार्वती ! सावधान होकर इस बालकके उत्पन्न होनेकी कथा सुनो। देखो मैंने अपना जो अचूक वीर्य अग्निमें रख दिया था, उसे अग्निने गंगाजीमें छोड़ दिया

और वह फिर स्नान करती हुई छओं कृत्तिकाओं के पेटमें पहुँचकर गर्भ बन गया और तब उस अचूक वीर्यको कृत्तिकाओं ने सरपतके जंगलमें डाल दिया। उसी गर्भसे चर और अचर प्राणियोंको हर्ष देनेवाला यह अनोखा बालक जन्मा है ॥ १२-१३ ॥ हे पार्वती! सारे संसारके प्यारे इस बालककी माता होनेसे तुम अपनेको सब पुत्रवती स्त्रियों में श्रेष्ठ समझो! अब देर न करो और अपने पुत्रको उठाकर गोदमें ले लो ॥ १४ ॥

शंकरजीकी यह बात सुनकर सारे संसारकी माता पार्वतीजी हर्षसे फूली न समाईं और झट विमानसे उतरकर उस पुत्र-रत्नको गोदमें लेनेके लिये अधीर हो उठीं। उस समय आकाशमें इन्द्र आदि देवता लोग अपने मुकुटोंपर हाथ जोड़कर और सिर झुकाकर उन्हें प्रणाम करने लगे ॥ १५-१६ ॥ गंगा, अग्नि और कृत्तिकाएँ सभी बार-बार झुक-झुककर उन्हें प्रणाम कर रहे थे पर पार्वतीजीका ध्यान उधर गया ही नहीं और उन्होंने बड़े चावसे उस पुत्रको अपनी गोदमें उठा लिया। भला कौन ऐसी माता होगी जो अपने पुत्रके प्रेममें सुध-बुध न खो बैठती हो ॥ १७ ॥

आँखों में आनन्दके आँसू छलक आनेसे वे थोड़ी देरतक तो अपने पुत्रको देख ही न पाईं और अपने कलीके समान कोमल हाथसे ही पुत्रको सहलाने भरसे वे अनोखा सुख लेती रहीं ॥ १८ ॥ उन्हें वह मनोहर बालक तब दिखाई दिया जब उनकी आँखें अचरज और आनन्दसे खिली जा रही थीं, जी उमड़ा पड़ रहा था, आँसू बहे जा रहे थे और वात्सल्यभाव रोम-रोमसे छलका पड़ रहा था ॥ १९ ॥ उस बच्चेकी ओर एकटक देखती हुई पार्वतीजी सोचने लगीं कि यदि इस समय मुझे एक सहस्र आँखें मिल जातीं तो कितना अच्छा होता। भला पुत्र-दर्शनके समय किसका जी भरता है ॥ २० ॥ प्रणाम करनेके समय झुके हुए देवताओं और दैत्योंकी पीठपर अपने जो हाथ रखकर वे आशीष दिया करती थीं उन्हीं हाथोंसे पार्वतीजीने पूनोके चन्द्रमाके समान सुन्दर पुत्रको अपनी गोदमें बिठा लिया ॥ २१ ॥ चन्द्रमाके समान मुखवाली पार्वतीजीने संसारमें सबसे श्रेष्ठ अपने उस अनोखे वीरपुत्रको गोदमें इस प्रकार

ले लिया मानो अमृतका कलश गोदमें रख लिया हो और उस समय वे पुत्रवतियोंमें सबसे श्रेष्ठ पूजनीय हो उठीं ॥ २२ ॥

संसारकी माता पार्वतीजीने जब उस अनोखे पुत्रको गोदमें उठा लिया तो वात्सल्य रसकी स्वाभाविक धारा उनके रोम-रोमसे उमड़ पड़ी, हर्षके अमृतकी बाढ़ आ गई और उनके स्तनोंसे दूधकी धारा बह चला ॥ २३ ॥ जब कार्त्तिकेयजी सब लोकोंकी माता पार्वतीजीके स्तनोंका अमृत पीने लगे तब गंगाजी और कृत्तिकाएँ बड़ी डाहसे उनकी ओर बार-बार देखने लगीं ॥२४॥शंकरजीकी प्यारी पार्वतीजीने हर्षके आँसू बहाते हुए अपने कमलके समान एक मुखसे उस पुत्रके उन छओं मुखोंको चूमा जो ऐसे लगते थे मानो कमलकी एक डंठलमें पाँच सुंदर कमल निकल आए हों और उन पाँचों के बीचमें उन कमलोंकी ही शोभा छठा कमल बनकर निकल आई हो ॥ २५ ॥ गोदमें सुन्दर पुत्र लिए हुए पार्वतीजी ऐसी सुन्दर लग रही थीं मानो सोनेके सुमेरु पर्वतपर उत्पन्न होनेवाली सुनहली लतामें फल निकल आया हो या आकाशगंगामें कमल खिल उठा हो या पूर्व दिशामें चन्द्रमा निकल आया हो ॥ २६ ॥ पुत्रको गोदमें लिए हुए सुखी मनसे पार्वतीजी शंकरजीके हाथका सहारा लेकर आकाश चूमनेवाले ऊँचे विमानपर चढ़ गईं ॥ २७ ॥ वे दोनों पुत्र-प्रेमसे इतने मगन हो गए थे कि कभी तो पार्वतीजीकी गोदसे शंकरजी उस पुत्रको ले लेते थे और कभी उनकी गोदसे उसे पार्वतीजी ले लेती थीं। इस प्रकार पुत्र-प्रेममें भरे हुए दोनों उसे खिला रहे थे ॥ २८ ॥ आँखोंको अमृतके समान सुख देनेवाले इस परम पवित्र पुत्रको गोदमें लिए अपनी छातीसे लिपटी हुई पार्वतीजीको साथ लेकर भगवान् शंकर वेगसे चलनेवाले विमानपर चढ़कर कैलास लौट आए ॥ २९ ॥ स्फटिकके बने हुए उस कैलासके ऊँचे शिखरपर अपने सुन्दर भवनमें बैठकर शंकरजीने अपने मुख्य-मुख्य प्रमथ आदि गणोंको आज्ञा दी कि पुत्र उत्पन्न होनेका उत्सव मनाओ ॥ ३० ॥

बड़े आनन्द और चावसे सभी गुणवान् गण लोग पार्वतीजी और शंकरजीके पुत्रजन्मके उपलक्ष्यमें महोत्सव मनानेमें जुट गए ॥ ३१ ॥ कुछ गण तो स्फटिकमें चमकती हुई किरणों के पड़नेसे

रंग-बिरंगे दिखाई देनेवाले कपड़ोंसे और कल्पवृक्षके फूलों और पत्तोंसे बनाए हुए सुनहले सुन्दर बन्दनवारोंसे अपने स्फटिकके भवन सजाने लगे ॥ ३२ ॥ और कुछ गणोंने जो नगाड़े बजाए उनकी गंभीर ध्वनि जब दसों दिशाओंमें फैली तो धरतीसे उठी हुई उसकी धमक मानो यह बता रही थी कि दिग्पालों और देवताओंके लोकके समान ही यहाँ भी पुत्रोत्सव मनाया जा रहा है ॥ ३३ ॥ इस महोत्सवके उपलक्ष्यमें गन्धर्वों और विद्याधरोंकी सुन्दरियोंने घर आकर बधैया गाई और पार्वतीजीने उन सबकी बड़ी आवभगत की ॥ ३४ ॥ ब्राह्मी आदि माताएँ भी बधावेकी सामग्री लेकर बालक के पास आईं और उसके सिरपर दूब, अक्षत छिड़ककर सबने उसे अपनी-अपनी गोदीमें ले लिया ॥३५॥

वहाँ अंक्य, आलिङ्ग्य और ऊर्ध्वक नामकी अनेक प्रकारकी तुरहियाँ मीठी-मीठी बज रही थीं और भाव तथा रस-भरे अच्छे-अच्छे छन्दोंमें बँधे हुए गाने गाती हुई अप्सराएँ, बड़े हाव-भावसे नाच रही थीं ॥ ३६ ॥ सुख देनेवाला पवन बहने लगा, दिशाएँ खिल उठीं, धुआँ मिट जानेसे आग चमक उठी और जल निर्मल हो गया। यहाँ तक कि उस उत्सवमें आकाश भी तत्काल खुल गया ॥ ३७ ॥ शंखकी गम्भीर ध्वनिके साथ साथ घर-घरके छोटे-छोटे नगाड़े भी बजने लगे। देवता लोग भी आकाशमें आकर विमानोंसे फूल बरसाते और चले जाते ॥३८॥ इस प्रकार शंकरजी और पार्वतीजीके पुत्रके जन्मोत्सवसे संसारके सभी चर और अचर प्राणी तो हर्षसे फूल गए पर तारक राक्षसकी राज-लक्ष्मी काँप उठी ॥ ३९ ॥

धीरे-धीरे वह बालक अपनी मनोहर और अनोखी बाल-लीलाओं-से शंकरजी और पार्वतीजीको आनन्द देने लगा ॥४०॥ वे हर्षसे मत-वाले होकर अपने पुत्रके पोपले और मनोहर मुखोंको बार-बार बड़े भावसे चूमा करते थे ॥ ४१ ॥ कहीं लड़खड़ाता हुआ और कहीं सीधे चलता हुआ, कहीं काँपता-सा और कहीं तना हुआ-सा वह बालक अपनी खिलवाड़-भरी चालोंसे उनका जी लुभाने लगा ॥४२॥ अपने माता-पिताकी गोदमें बैठा हुआ वह बालक, अनेक प्रकारसे उनका जी लुभाया करता था। कभी तो उसका मुखचन्द्र बिना

किसी बातके ही हँसीसे चमक उठता था, कभी घरके आँगनमें खेलनेसे उसका शरीर धूलसे भर जाता था और कभी वह बार-बार तोतली बोली बोलकर अपने माता-पिताको रिझाया करता ॥ ४३ ॥ कभी तो वह शंकरजीके बैलकी सींग पकड़ता, कभी पार्वतीजीके सिंहके केसर सहलाता और कभी भृंगीकी चोटीके महीन बाल खींचने लगता। यह सब देखकर उसके माता-पिता हर्षसे फूले न समाते ॥ ४४ ॥ कभी-कभी वह शंकरजीके कंठमें पड़ी हुई मुंडमाला-के मुखोंमें उँगली डालकर उनके दाँतोंको मोती समझकर उन्हें निकालने लग जाता था ॥ ४५ ॥ कभी वह शंकरजीके सिरपर रहनेवाली गंगाजीकी लहरोंमें अपना हाथ डाल देता पर जब बहुत ठंढ लगनेसे उसके हाथ सुन्न हो जाते तब वह अपना कमल-सा कोमल हाथ शिवजीके माथेपर जलते हुए तीसरे नेत्रके आगे ले जाकर सेंक लेता ॥ ४६ ॥ जब वह देखता कि शंकरजीका कन्धा तनिक नीचा हो रहा है और उनके जटा-जूट झुक रहे हैं तब वह जटाके साथ नीचे लटकनेवाले उनके सिरपरके चन्द्रमाको ही बड़ी देर तक चूमता रहता ॥ ४७ ॥

इस प्रकार पुत्रकी मनोहर और खिलवाड़से भरी बाल-लीलाओं-म आनन्द लेते हुए। शंकरजी और पार्वतीजी इतने मगन हो गए कि उन्हें यही सुध नहीं रह गई कि कब दिन चढ़ा और कब रात आई ॥ ४८ ॥ यों अनेक प्रकारकी मन-लुभावनी और बड़ी सुहावनी बाल-लीलाएँ करते हुए वह बालक छठें दिन बड़ा बुद्धिमान और जवान हो गया और छः ही दिनोंमें उसे सब शास्त्र और शस्त्र-विद्याएँ भली प्रकार आ गईं ॥ ४९ ॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए कुमारसम्भव महाकाव्यमें
कुमारका जन्म नामका ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

बारहवाँ सर्ग

जैसे प्यास लगनेपर पपीहा बादलकी शरणमें जाता है, वैसे ही अत्याचारी तारकके उपद्रवोंसे दुखी इन्द्र भी, सब देवताओंको साथ लेकर शंकरजीके पास जा पहुँचे ॥ १ ॥

उस घमंडी शत्रु तारकके भयसे, देवता लोग किसी भी मार्गसे आ-जा नहीं सकते थे। इसलिये इन्द्र भी बादलोंके बीचसे छिपते-छिपाते किसी प्रकार उस कैलासपर जा उतरे जो शंकर और पार्वतीजीके चरण पड़नेसे पवित्र हो गया था ॥ २ ॥ वहाँ मातलिके हाथका सहारा लेकर इन्द्र, बादलके रथसे उतरे और शंकरजीके भवनकी ओर उसी प्रकार झपटकर बढ़े जैसे गर्मीमें कोई प्यासा, पानीकी ओर दौड़े ॥ ३ ॥ स्फटिकसे बने हुए कैलासमें चारों ओर अपनी बहुतसी परछाइयाँ देखते हुए वे शंकरजीके भवनपर पहुँचे ॥ ४ ॥ शंकरजीके भवनकी देहलीपर पहुँचकर इन्द्र रुक गए। वहाँ रंग-बिरंगे मणियोंकी पच्चीकारी की हुई थी और एक बड़ा सा सोनेका डंडा हाथमें लिए हुए नन्दी वहाँ बैठे थे ॥ ५ ॥ अपने सोनेके डंडेको एक कोनेमें रखकर नन्दीने चटसे आगे बढ़कर आवभगत करके इन्द्रका स्वागत किया और स्वयं भीतर जाकर महादेवजीको उनके आनेकी सूचना दी ॥ ६ ॥ शंकरजीने भौंहोंसे ही उन्हें भीतर लानेका संकेत किया और उनकी आज्ञा पाकर नन्दीने आगे-आगे मार्ग दिखाते हुए इन्द्र और देवताओंको शंकरजीके पास पहुँचाया ॥७॥

इन्द्रने देखा कि वहाँ रतन-जड़े सभा-मण्डपमें चण्डी, भृंगी आदि अनेक रूप-रंगवाले बहुतसे बड़े-बड़े गणों से घिरे हुए शिवजी बैठे हुए हैं ॥ ८ ॥ साँपों से लिपटा हुआ शिवजीके सिरका जटा जूट वासुकि आदि बड़े-बड़े साँपों के फनों के मणियोंकी किरनों से चमकता हुआ सुमेरु पर्वतकी चोटीके समान दिखाई पड़ रहा था ॥९॥ शिवजीके जटा-जूटके अगले भागमें बसी हुई ऊँची ऊँची तरङ्गोंवाली

गंगाजी, शरदके बादलों के समान उजली फेन उछाल उछालकर मानो शंकरजीकी गोदमें बैठी पार्वतीकी हँसी उड़ा रही थीं कि देखो हम तो शिवजीके सिरपर चढ़ी हुई हैं ॥१०॥ शिवजीके सिरके चन्द्रमाकी हिम जैसी उजली किरणोंकी जो परछाईं गंगाजीकी तरङ्गों में बहुत रूपों में नाच रही थी वह ऐसी जान पड़ती थी मानो उस एक चन्द्रमाके बहुतसे चन्द्रमा बन गए हों ॥ ११ ॥ उनके माथेपर कामदेवको जलानेवाला, प्रलयकी अग्निके समान वह तीसरा नेत्र चमक रहा था जिसके बढ़ते हुए तेजके आगे प्रलयके सूर्य और चन्द्ररूपी नेत्र भी झॅप जाते हैं ॥ १२ ॥ उनके कानों में किरणोंके घेरेसे घिरे हुए अनमोल रत्नों से जड़े दो कुण्डल ऐसे लटक रहे थे मानो इनके बहाने सूर्य और चन्द्र ही शकरजीके दोनों कानोंपर उनकी सेवा कर रहे हों ॥ १३ ॥ उनका नीला कंठ ठीक वैसा ही चमकता था जैसा कभी कभी खिलवाड़में नीलमका हार पहन लेनेपर पार्वतीजीका गला चमक उठता है ॥ १४ ॥ मरेहुए देव-दानवोंकी चिताओंकी भस्म पुते हुए अपने उजले अङ्गपर उजले हाथीकी खाल ओढ़े हुए वे ऐसे दिखाई देते थे मानो बादलों से घिरा हुआ विशाल हिमालय हो ॥ १५ ॥ उनके एक हाथमें ब्रह्म-कपालका पात्र था, गलेमें मरेहुओंकी हड्डियों के टुकड़ोंके गहने थे और दूसरे हाथमें युद्ध समाप्त करनेवाला अपना त्रिशूल ऊपर उठाए हुए थे। इस ऊटपटॉग वेशमें होनेपर भी वैकुंठवासी विष्णु उनकी सेवा कर रहे थे ॥ १६ ॥ उनके गलेमें ब्रह्म-कपालोंकी एक पुरानी माला पड़ी थी जो सिरपर बसे हुए चन्द्रमासे बरसी हुई अमृतकी बूँदे पी-पीकर जीवित सी होकर वेद गा रही थी ॥ १७ ॥ सोनेकी नई लताके समान सुन्दर पार्वतीजीको अपनी गोदमें बैठाए हुए वे ऐसे दिखाई पड़ते थे मानो चमकती हुई बिजलीवाला कोई शरदका बादल हो ॥ १८ ॥ उनके हाथमें वह पिनाक धनुष था जिसने अन्धक नामके मतवाले दैत्यके प्राण ले लिए थे, बड़े-बड़े दानवों को मारकर उनकी स्त्रियोंको विधवा बना दिया था, कामदेव को जलाकर राख कर दिया था और जिसे दूसरा कोई उठा भी नहीं सकता था ॥ १९ ॥ अनमोल मोती और मणियोंकी सजावटसे रंग-बिरंगे दिखाई देनेवाले

उस सिंहासनपर वे बैठे हुए थे जिसके नीचे सोनेका पैर-पीढ़ा रक्खा हुआ था और दोनों ओरसे दो गण उनपर चन्द्रकी किरणों के समान उजले चवँर डुला रहे थे ॥२०॥ वे बैठे हुए बड़े चावसे उन कुमार कार्त्तिकेयकी शस्त्र-विद्या और अस्त्र-विद्याका अभ्यास देख रहे थे, जिन्हें शंकरजीके गण भी बड़े आश्चर्यसे देख रहे थे और वह स्फटिकका पर्वत भी जिनकी आरती उतार रहा था ॥ २१ ॥

ऐसे शंकरजीको देखकर थोड़ी देरके लिये इन्द्रका मन भी ललच उठा, क्यों कि अचानक इतनी सुख-सम्पति इकट्ठी देखकर भला किसका मन नहीं ललच उठेगा ॥ २२ ॥ खिले हुए कमलों के समान अपने सुन्दर सहस्रों नेत्रों से शंकरजीको देखते हुए इन्द्र, उस आमके पेड़के समान सुन्दर लगने लगे जो नीचेसे ऊपरतक मञ्जरियों से लदा हुआ हो ॥ २३ ॥ अपनी सहस्रों आँखोंसे शंकरजीको देखकर इन्द्रने अपना बड़ा भाग्य सराहा पर इससे उनके शरीर भरमें जो रोमाञ्च हो आया उसे देखकर उन्हें यह डर हुआ कि कहीं इन्द्राणी यह न समझ बैठें कि किसी दूसरी सुन्दरीको देखनेसे रोमांच हो आया है और इसपर वह सौतिया डाह करके रूठ न बैठे ॥ २४ ॥ इसके पश्चात् जब उन्होंने शंकरजीके पास बैठे हुए, सुमेरुके समान बलवाले और अस्त्र-शस्त्र-धारी कुमारको देखा तो उनके मनमें यह आशा होने लगी कि अब हम शत्रुको अवश्य जीत लेंगे ॥ २५ ॥

इतनेमें अपने सोनेके डंडेको एक कोनेमें रखकर, आगे बढ़कर और हाथ जोड़कर, शंकरजीकी कृपा पानेकी इच्छासे नन्दीने शंकरजीसे जाकर कहा कि हे नीलकंठ! देवताओं के स्वामी इन्द्रदेव आपको प्रणाम करनेकी बाट जोहते हुए यहाँ खड़े हुए हैं, इसलिये कृपा करके इनकी ओर भी अपनी कृपादृष्टि घुमा लाजिएगा ॥२६-२७॥

यह सुनकर त्रिपुर राक्षसका नाश करनेवाले, संसारके पूजनीय शंकर भगवानने देवताओं के पूजनीय इन्द्रको अपनी अमृतकी धारा बरसाती हुई सी दृष्टिसे देखकर अनुगृहीत किया ॥ २८ ॥

स्वर्गमें जिनकी सब पूजा करते हैं, वे देवराज इन्द्र, जब सारे संसारके एक साथ पूजनीय और देवताओं के देवता महादेवजीको प्रणाम करनेके लिये झुके तो उनके मस्तकके किरीटकी नोकसे

पारिजातके बहुतसे फूल गिरकर बिखर गए ॥ २६ ॥ सब लोकोंके एक मात्र पूजनीय भगवान् शंकरको भक्तिके साथ प्रणाम करके स्वर्गके स्वामी इन्द्रने अपनेको परम पवित्र और धन्य समझा ॥ ३० ॥ और दूसरे देवताओंने भी प्रमथ आदि गणोंके देखते-देखते बड़ी भक्तिसे शंकरजीके पैर रखनेके पीढ़ेके पास धरतीपर माथा टेककर बारी-बारीसे उन्हें प्रणाम किया ॥ ३१ ॥ यह सब हो चुकनेपर शंकरजीकी आज्ञा पाकर एक गण जाकर एक आसन उठा लाया जिसपर बैठकर इन्द्रको बड़ा आनन्द हुआ। भला शंकरजीका प्रसाद पाकर कौन अपनेको धन्य नहीं मानेगा ॥३२॥ सब देवताओंकी ओर बारी-बारीसे मुस्कुराते हुए देखकर शंकरजीने उन सबका भी सम्मान किया। इससे वे सब भी बड़े प्रसन्न होकर उनकी आँखोंके सामने ही बैठ गए ॥ ३३ ॥

इन्द्र आदि जो देवता हाथ जोड़े आगे बैठे हुए थे और दैत्योंसे हारे जानेके कारण जिनके मुँह उदास और सुस्त दिखाई पड़ रहे थे उनकी ओर देखकर करुणासे पिघले हुए हृदयवाले शिवजी बोले—॥ ३४ ॥ हे देवताओ ! इतने बड़े-बड़े वीर होकर, एकसे एक बढ़कर अस्त्र-शस्त्रोंसे सजधजकर और स्वर्गमें रहकर भी आप लोगोंके मुख पाला मारे हुए कमलोंके समान उदास क्यों दिखाई दे रहे हैं ॥ ३५ ॥ हे देवताओ ! इतने बड़े पुण्य करनेपर भी आप लोग स्वर्गसे निकल कैसे आए ? आप लोग इतने दिनोंसे जो छत्र-चँवर आदि राज-चिह्न रखते आ रहे थे उन्हें आप लोग छोड़िए मत ॥३६॥ आप लोग इतने मनस्वी, महिमाशाली और स्वर्ग-निवासी होकर भी स्वर्ग छोड़कर साधारण मनुष्योंके समान पृथ्वी-तलपर इधर-उधर क्यों मारे-मारे फिर रहे हैं ॥ ३७ ॥ जैसे पाप करनेसे बहुत दिनोंसे इकट्ठा किया हुआ पुण्य हाथसे निकल जाता है, वैसे ही बड़ी-बड़ी सिद्धियोंसे भरा हुआ बड़ा सुन्दर स्वर्ग भी आप लोगोंके हाथसे अचानक कैसे निकल गया ॥ ३८ ॥ हे देवताओ ! जैसे बहुत गर्मी पड़नेसे गहरा तालाब भी सूख जाता है, वैसे ही आप लोगोंके हृदयमें रहनेवाला वह बड़ा भारी अटल धीरज कहाँ चला गया ॥३९॥ आज व्याकुल होकर एक साथ आए हुए इन्द्र आदि देवताओ !

आप यह तो बताइए कि आप लोगों ने तीनो लोकों को जीतनेवाले दैत्यराज तारकसे तो झगड़ा मोल नहीँ ले लिया है ॥४०॥ देखिए, उस महादैत्यने आप लोगोंका जो अपमान किया है उसका बदला केवल मैं ही ले सकता हूँ क्योंकि जंगलों में लगी हुई आग बादलोंकी बड़ी घटाको छोड़कर और कौन बुझा सकता है ॥ ४१ ॥ शंकरजीके ऐसा कहनेपर इन्द्र आदि सभी देवताओंकी आँखोंमें अत्यन्त आनन्दके आँसू छलछला आए और जब उन्हें यह ढाढ़स दे दिया गया कि अब आप लोगोंकी प्राण-रक्षा हो जायगी तो वे सब खिल उठे ॥४२॥

भगवान् शंकरके कह चुकनेपर ठीक अवसर जानकर इन्द्रने कहना आरम्भ किया, क्योंकि अवसरपर कही हुई बातका अवश्य ही ठीक फल मिलता है—॥ ४३ ॥ हे प्रभु ! आप तो घट-घटकी जानने-वाले हैं, आप अज्ञानको मिटानेवाले हैं, आपका कभी नाश नहीं होता, और अपने कभी न बुझनेवाले ज्ञानके प्रकाशसे आप संसारके भूत, भविष्य और वर्त्तमान इन तीनों कालोंकी सब बातें जान जाते हैं ॥ ४४ ॥ इसलिये हे नाथ ! यह तो आप जानते ही होंगे कि अपने कठोर बाहुबलके पराक्रमसे मतवाला होकर, देवताओंको पीड़ा देने-वाला तारक असुर, स्वर्गका मालिक बन बैठा है और उसने हम सबको स्वर्गसे निकाल भगाया है ॥ ४५ ॥ वह तारक असुर ब्रह्मासे अचूक वरदान पाकर अपनी भुजाओंके बलसे तुरंत तीनों लोकोंको जीत लेना चाहता है और मुझे तथा दूसरे बड़े-बड़े देवताओंको भी तिनकेके बराबर तुच्छ समझता है ॥ ४६ ॥ हे भगवन् ! हम लोगों ने पहले जब ब्रह्माजीकी स्तुति की थी तब उन्होंने प्रसन्न होकर हमें बताया था कि जब शंकरजीका पुत्र देवताओंका सेनापति बनकर उससे लड़ेगा तभी वह दैत्य मारा जायगा ॥ ४७ ॥ तबसे आजतक सब देवता लोग तारक असुरके हाथसे हारनेकी कसक और हृदयमें चुभे हुए गाँसके समान कसकनेवाली उसकी आज्ञाका अपमान सहते चले आ रहे हैं ॥ ४८ ॥ इसलिये हे भगवन् ! जैसे गर्मीके सूर्यकी तपनसे जले हुए लता-वृक्षोंको नये बादल हरा कर देते हैं वैसे ही अपने इस आनन्द-दायक पुत्रको हमारे सेनापति बननेकी आज्ञा देकर आप भी हमें जिला लीजिए ॥ ४९ ॥ तीनों लोकोंके

हृदयमें काँटेके समान चुभनेवाले इस महादैत्यको जब आपके ये पुत्र युद्धमें आगे बढ़कर मार डालेंगे तभी हमारा दुःख मिट पावेगा ॥५०॥ हे नाथ! ऐसा कीजिए कि जब इस महासंग्राममें आपके पुत्रके नुकीले बाणोंसे महादैत्योंके सिर कट-कटकर गिरें तब उन दैत्योंकी स्त्रियोंके विलापसे दसों दिशाएँ गूँज उठें ॥ ५१ ॥ और जब आपके पुत्र उस महासमर भूमिमें उन दैत्योंको सियार आदि जन्तुओंकी भेंट चढ़ावें तब स्वर्गमें बन्दी बनी हुई अपनी सुन्दर नेत्रोंवाली स्त्रियोंकी उलझी हुई एकलड़ी चोटियोंको ये देवता लोग जाकर खोलें ॥५२॥

इस प्रकार इन्द्रके मुँहसे तारकका अत्याचार सुनकर भूतपति शंकरजी क्रोधसे लाल हो उठे और उन देवताओंपर कृपा करते हुए वे फिर बोले ॥ ५३ ॥ हे इन्द्र आदि देवताओ! आप लोग मेरी बातें सुनिए। अब मैं शंकर, अपने पुत्रोंको लेकर तुम्हारा काम करनेके लिये तैयार हो गया हूँ ॥ ५४ ॥ हे देवो! समाधिमें लगे होनेपर भी मैंने पार्वतीके साथ इसीलिये विवाह किया था कि इनका पुत्र तारकको मार डाले ॥ ५५ ॥ इसलिये आपका काम करनेवाले इस कुमारको सेनापति बनाकर आप शत्रुका नाश कीजिए और इन्द्रके साथ फिर स्वर्गका आनन्द लीजिए ॥ ५६ ॥ इतना कहकर शंकरजीने उस घोर संग्रामको एक महोत्सव मानकर उसके लिये अपने पुत्रसे कहा— हे पुत्र! तुम जाकर देवताओंके शत्रु तारक असुरको युद्धभूमिमें मार आओ ॥५७॥ कुमार कार्त्तिकेयने सिर झुकाकर शंकरजीकी आज्ञा स्वीकार कर ली। क्योंकि पिताके भक्त पुत्रोंका यही सच्चा धर्म है कि पिताकी आज्ञा मान लें ॥५८॥ सब देवताओंके स्वामी शिवजी जब अपने पुत्रको दैत्योंसे युद्ध करनेकी बात समझाने लगे तो पार्वतीजीकी छाती दूनी हो गई, क्योंकि भला कौन ऐसी वीर माता होगी जो अपने पुत्रकी वीरताकी बातसे प्रसन्न न हो ॥ ५९ ॥ बलवान् दैत्योंकी स्त्रियोंको रुलाकर उनके आँसूसे उनके आँखका आँजन मिटानेवाले तथा संसारको अभय दान देनेवाले परम पराक्रमी कुमार कार्त्तिकेयको पाकर इन्द्र भगवान् आनन्दसे खिल उठे, क्योंकि संसारमें ऐसा कौन है जो अपनी इच्छा पूरी हो जाने पर आनन्दसे पागल न हो उठता हो ॥६०॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए कुमार-संभव महाकाव्यमें कुमारके सेनापति होनेका वर्णन नामका बारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥

तेरहवाँ सर्ग

लड़ाईका बाना पहनकर और सब देवताओंके आगे होकर कुमारने चलते समय तीनों लोकों के स्वामी शिवजीके चरणमें प्रणाम किया ॥ १ ॥ प्रणाम करते हुए पुत्रको उठाकर और उसका सिर सूँघकर शिवजीने यह आशीर्वाद देते हुए कुमारको उत्साहित किया कि हे वीर पुत्र ! जाओ युद्धमें इन्द्रके शत्रुको मारो और इन्द्रको उनके पदपर फिरसे भली भाँति बैठा दो ॥ २ ॥ जिस समय कुमार अपने पिताजीके दोनों चरणों में झुककर माथा टेके हुए प्रणाम कर रहे थे उस समय शिवजीकी आँखों से जो प्रेमके आँसू बरसे उन आँसुओं के जलसे ही मानो सेनापति पदके लिये कुमारका अभिषेक हो गया ॥३॥

अपने पुत्रका लाड़-प्यार करनेवाली पार्वतीजीने कुमारको गोदमें लेकर कसकर अपने हृदयसे लगा लिया और उसका माथा सूँघकर आशीर्वाद दिया—हे पुत्र ! लड़ाईमें शत्रुको जीतकर यह बात सच्ची कर दो कि मैं वीरकी माता हूँ ॥ ४ ॥

तब उस बलवान दैत्यराजको मारने और संग्रामरूपी उत्सव मनानेके लिये उतावले बने हुए कुमार, बड़ी भक्तिसे अपने माता-पितासे आज्ञा लेकर स्वर्गकी ओर चल पड़े ॥ ५ ॥ इन्द्र आदि सब देवता भी भगवान् शंकर और भगवती पार्वतीजीको प्रणाम करके और उनकी प्रदक्षिणा करके कुमारके पीछे-पीछे चल पड़े ॥ ६ ॥ तब चारों ओर फैली हुई कान्तिवाले उन सब देवताओंके एक साथ चलनेसे, आकाश ऐसा लगने लगा मानो दिनमें चमकनेवाले बड़े-बड़े तारे चारों ओर निकल आए हों ॥ ७ ॥ आकाशमें चलते हुए देवताओं के बीचमें अपनी अत्यन्त चमकसे सुन्दर दिखाई पड़नेवाले कुमार कार्त्तिकेय ऐसे लगते थे मानो नक्षत्र और तारों के बीचमें चन्द्रमा चले जा रहे हों ॥ ८ ॥ कुमारके पीछे-पीछे इन्द्र आदि देवता थोड़ी ही देरमें आकाश पार करके स्वर्गलोक जा पहुँचे ॥६॥ दैत्यराज

तारकके डरसे देवता स्वर्ग में जा नहीं पा रहे थे इसलिये वे झिझकके कारण एकदम भीतर न जा सके, थोड़ी देर ठिठके रहे ॥१०॥ उस समय वे सब डरे हुए देवता आपसमें एक दूसरेको धकेलते हुए यह झगड़ा करने लगे—तुम चलो आगे। मैं आगे नहीं चलूँगा। मैं क्यों आगे चलूँ? तुम्हींको आगे-आगे चलना चाहिए ॥ ११ ॥

उस समय स्वर्गको सामने देखकर मगन हो उठनेवाले उन देवताओंकी आँखें आनन्दसे खिल गईं पर शत्रुके डरसे उनकी आँखें कातर होकर कुमारके मुख-कमलपर जा पड़ीं ॥ १२ ॥ उस समय कुमारका मुख-चन्द्र खिलवाड़-भरी हँसीसे खिल उठा और तारकके धावेकी बाट जोहते हुए रणवीर कुमार कार्तिकेयने ने आगे होकर देवताओं से कहा—॥ १३ ॥ हे देवो! अब डरनेकी कोई बात नहीं है। आप लोग निडर होकर स्वर्गमें घुस चलिए। मैं चाहता हूँ कि अपने जिस घोर शत्रु तारकको आप लोग देख चुके हैं वह यहीं मेरे आगे आ जाय ॥ १४ ॥ मैं तो चाहता हूँ कि जिस तारक असुरकी भुजाएँ, बलपूर्वक लक्ष्मीके बाल पकड़कर उन्हें दुर्दशा करते हुए खींचनेके लिये मचली रहती हैं, उसका लहू पीनेका आनन्द मेरे बाणों को झटसे यहीं पर मिल जाय ॥ १५ ॥ और वह चमकनेवाली, अत्यन्त तेजस्विनी, प्रतापशालिनी और स्वर्गलोककी राजलक्ष्मीका कष्ट दूर करनेवाली जो मेरी शक्ति है वह यहींपर शत्रुका सिर काट-कर आप लोगोंको आनन्द दे ॥१६॥ दैत्योंका नाश करनेकी इच्छासे जो लड़ाई करनेपर उतारू हो रहे थे उन कुमारकी ये बातें सुनकर देवताओं के सुन्दर मुख कमल खिल उठे और वे प्रसन्न हो गए ॥१७॥ अत्यन्त आनन्दके कारण इन्द्र भी पुलकित हो उठे और उनके शरीर-की सब आँखें खिल उठीं। तब इन्द्र और कुमारने आपसमें एक दूसरेसे वस्त्र बदलकर अपनी मित्रता पक्की कर ली ॥ १८ ॥ देवताओं में सबसे बूढ़े ब्रह्माकी आँखें भी अत्यधिक आनन्दसे बहते हुए आँसुओं-की लहरों से छलछला आईं और उनके चारों मुख प्रसन्नतासे खिल उठे और उन्हों ने अपने चारों मुखों से कुमारके छओं मुखोंका विचित्र ढंगसे चुम्बन किया ॥१९॥ उस समय गन्धर्व, विद्याधर और सिद्धों ने कुमारको 'साधु-साधु' कहकर बड़े आनन्दके साथ उनकी बड़ाई

करते हुए यह कहकर उन्हें आनन्दित किया कि हे वीर ! तुम्हारी जय हो ॥ २० ॥ देवर्षि नारद आदिने भी शत्रुको जीतनेवाले कुमारकी प्रशंसा की और उनके सुनहले उत्तरीय आदि वस्त्रोंसे अपने वल्कल बदलकर उनसे भाईपनका नाता जोड़ लिया ॥ २१ ॥ हाथमें शक्ति लिए हुए कुमारका इस प्रकार सहारा पाकर, देवता लोग निडर हो गए और वे उसी उत्साहसे स्वर्गमें पैठ गए जैसे किसी शक्तिशाली बड़े हाथीका सहारा पाकर छोटे हाथी भी जंगलमें घुस पड़ते हैं ॥ २२ ॥ जैसे त्रिपुरासुरको जलानेके लिये जाते समय शंकरजीके पीछे उनके प्रमथ आदि गण चले थे वैसे ही तारकको मारनेकी इच्छा करनेवाले कुमारके पीछे-पीछे देवता भी स्वर्गमें घुस पड़े ॥२३॥ पहले पहल उन्हें वह आकाशगंगा दिखाई दीं जिनका जल, जल-विहार करनेवाली अप्सराओंके धुले हुए अङ्गोंसे छुटे हुए अङ्गरागसे रँग जाया करता है, ॥२४॥ जिनके जलमें विहार करते समय दिग्पालों-के हाथी, लहरोंपर अपनी सूँड़ पटका करते हैं और जिनकी लहरों-के जलसे तीरपर खड़े हुए पेड़ोंके थाँवले सदा सिंचे रहते हैं, ॥ २५ ॥ जहाँ खेल खेलनेके लिये आई हुई देवकन्याओंके हाथकी बनी हुई सुनहरे बालूकी वे ऊँची-ऊँची वेदिकाएँ दूर-दूरतक बनी हुई थीं जो उन्होंने बीच-बीचमें मणि डाल-डालकर अपने खेलके लिये बना रक्खी थीं, ॥ २६ ॥ जहाँ सुगन्धके लोभी भौंरे सदा गुनगुनाते रहते हैं, सुनहले हंस किलोल करते हैं और जहाँ ऐसे सोनेके कमल खिले रहते हैं, जिनके गिरे हुए परागसे वहाँका जल भी पीला हो उठता है ॥ २७ ॥ जहाँ देवताओंकी सुन्दरियाँ मन बहलावके लिये आ-आकर तटपर बैठी रहती हैं और तरङ्गोंमें पड़ती हुई जिनकी परछाईं उधरसे आने-जानेवाले पथिकका जी भी लुभाती हैं ॥ २८ ॥

इतने दिनोंपर उस देव-नदीको देखकर इन्द्र तुरन्त प्रसन्न हो उठे और आगे बढ़कर आदरके साथ उन्होंने कुमारको भी वह नदी दिखलाई ॥ २९ ॥ सब देवताओंसे घिरे हुए कार्तिकेयजीको इस नई नदीको सामने देखकर बड़ा अचरज हुआ और प्रसन्नतासे उनकी आँखे खिल गईं ॥ ३० ॥ जिस नदीकी सब देवता स्तुति करते हैं, उस मंदाकिनीके तटपर जाकर कुमार कार्तिकेयने सिर झुकाकर

अपने किरीटके सिरेपर हाथ जोड़कर बड़ी भक्तिसे प्रसन्न होकर उन्हें प्रणाम किया और उनकी वन्दना की ॥ ३१ ॥ उस समय, खिले हुए कमलोंको नचानेवाले, तरंगोंसे गले मिलकर चलनेवाले और गालोंके पसीनेको सुखानेवाले उस मंदाकिनीके मन्द पवनने वहाँ आए हुए कुमारकी सेवा की ॥ ३२ ॥ वहाँसे चलकर कार्त्तिकेयने इन्द्रके विलासके नन्दन उपवनको देखा। वहाँके सब सालके पेड़ या तो तोड़ डाले गए थे, या जड़से ही उखाड़ दिए गए थे ॥ ३३ ॥ कार्त्तिकेयने समझ लिया कि तारकासुरके अत्याचारसे ही इन्द्रके इस सुन्दर वनकी शोभा बिगड़ गई है। यह सोचते ही मारे क्रोधके उनका मुँह तमतमा उठा, भौंहें तन गईं और आँखें लाल हो उठीं ॥ ३४ ॥ वहाँसे और आगे बढ़कर कुमारने विश्वकी सर्वश्रेष्ठ नगरी अमरावतीको देखा, जिसके लीला-उपवन तहस-नहस कर डाले गए थे, ऊँचे-ऊँचे महल गिरा दिए गए थे और सब ऐसा उजाड़ हो गया था कि उधर विमानपर चढ़कर जानेको भी जी नहीं करता था ॥३५॥ तारकके हाथों उजाड़ी हुई उस नष्ट-भ्रष्ट और सुनसान नगरीको देखकर कार्तिकेयको उसी प्रकार बड़ी दया आई जैसे किसी नपुंसककी स्त्रीको देखकर दया आती है ॥ ३६ ॥ अमरावतीकी यह दुर्दशा देखते ही कुमार उस दुराचारी दैत्यपर बड़े क्रुद्ध हो उठे और युद्धके लिये बड़े उतावलेसे होकर वे देवताओंकी राजधानीमें घुसे ॥ ३७ ॥ वहाँके स्फटिकके बने हुए बड़े-बड़े भवन दैत्योंके हाथियोंकी दाँतोंकी टक्करोंसे तड़क गए थे और जहाँ-तहाँ बड़े बड़े साँपोंकी केंचुलियाँ छुटी पड़ी थीं। यह सब देखकर कुमारको बड़ा दुःख हुआ ॥३८॥ उन्होंने देखा कि देवताओंके विलास-घरोंमें बनी हुई बावलियोंमेंसे सोनेके कमल उखाड़ डाले गए थे, दिग्गजोंके मदसे उनका जल गँदला हो गया था, सुनहरे हंस वहाँसे उड़ गए थे, पन्नोंकी बनी बड़ी पटियें भी टूट-फूट गई थीं और चारों ओर छोटी छोटी घासें उग आई थीं। शत्रुओंके हाथों वहाँकी यह दुर्दशा देखकर उनका मन दुःखसे भारी हो उठा ॥३९-४०॥ तब इन्द्र भगवान्, कुमारको अपने उस वैजयन्त नामके भवनमें ले गए जहाँकी सुनहली दीवालें दैत्योंके हाथियोंके दाँतोंकी टक्करोंसे फट गई थीं और जहाँ मकड़ियोंने जाले तान दिए थे ॥ ४१ ॥

आगे-आगे इन्द्र चल रहे थे और पीछे-पीछे सब देवता चले जा रहे थे। इस प्रकार रत्नोंकी चमकसे सुहावनी लगनेवाली सीढ़ियों पर चढ़कर कुमार उस भवनमें पहुँचे ॥ ४२ ॥ सब लोग उस सुन्दर भवनमें पहुँचे जहाँ कल्पवृक्ष ही स्वयं वन्दनवार बना हुआ था, जहाँ ढेरके ढेर पारिजातके फूल बिखरे पड़े थे, जहाँ देवर्षियों ने स्वस्ति-पाठ किया था और जहाँ एकसे एक बढ़कर अप्सराएँ रहती थीं ॥ ४३ ॥ वहाँपर देव-दानव वंशके सबसे बड़े बूढ़े महर्षि कश्यपके चरणोंकी प्रदक्षिणा करके कुमारने अपने छओं सिरोंसे उन्हें प्रणाम किया ॥४४॥ कुमारने बड़ी भक्तिसे कश्यपकी स्त्री और देवोंकी आदि माता अदितिके उन चरणोंको भी भली भाँति प्रणाम किया जिन्हें सारा संसार पूजता है ॥ ४५ ॥

तब कश्यप और देव-माता अदितिने कुमारको यह आशीर्वाद देकर उनका साहस बढ़ाया कि तीनों लोकोंके जीतनेवाले इस शक्तिशाली तारक असुरको तुम युद्धमें अवश्य हराओगे ॥ ४६ ॥ वहाँ अदितिके यहाँ और जो देवाङ्गनाएँ रहती थीं वे भी कुमारको देखनेके लिये आ पहुँचीं। कुमारने उन सबको प्रणाम किया और उन सब पतिव्रता स्त्रियों ने कुमारको आशीर्वाद देकर उनका बड़ा मान बढ़ाया ॥४७॥ तब कुमारने इन्द्रकी पत्नी शचीको प्रणाम किया और उन्हों ने भी आशीष देकर इनका मान बढ़ाया ॥ ४८ ॥ तब कुमारने कश्यपजीकी उन सातों पत्नियोंके पास जाकर बड़ी भक्तिसे प्रणाम किया जो बड़े आनन्दसे भरी वहीं इकट्ठी बैठी हुई थीं। उन्हों ने प्रणाम करनेसे पहले ही कुमारको विजय पानेका आशीर्वाद दे दिया था ॥४९॥

उस समय इन्द्र आदि सभी देवताओं ने आनन्दके साथ इकट्ठे होकर हँसमुख कुमार कार्तिकेयको अपना सेनापति बना दिया ॥५०॥

इस प्रकार जब अनन्त शक्तिशाली कुमार कार्तिकेय, देवताओंकी समूची सेनाके सेनापति हो गए तो देवताओंको विश्वास हो गया कि अब हम लोग युद्धमें शत्रुओंको अवश्य जीत लेंगे और यह समझकर उनका सब शोक भी जाता रहा ॥ ५१ ॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए कुमारसम्भव महाकाव्यमें सेनापतिका अभिषेक नामका तेरहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

चौदहवाँ सर्ग

विजयकी इच्छासे लड़नेके लिये उतारू कुमार कार्तिकेयके कहने-से सब देवता मिलकर बलपूर्वक तारकको मार डालनेके लिये अस्त्र-शस्त्र बाँधने लगे ॥१॥ तब धनुषधारी शक्तिशाली कुमार, अपने 'विजित्वर' नामके उस बड़े भारी रथपर चढ़ गए जो मनसे भी अधिक वेगसे चलता था, जो किसीके रोके रुकता नहीं था और जिसपर चढ़कर लड़नेसे सदा विजय मिलती ही है ॥२॥ उसी समय किसीने उनपर एक सोनेका शत्रु-नाशक छत्र लाकर लगा दिया जो स्वर्गकी लक्ष्मीको सुख देनेवाला था और दैत्योंकी संपत्ति उजाड़ देनेवाला था ॥ ३ ॥ कुमारके दोनों ओर शरद्के चन्द्रमाकी किरणोंके समान उजले सुन्दर चँवर डुल रहे थे और उनके आगे बड़े-बड़े अखाड़िए किन्नर, सिद्ध और चारण उन युद्ध-प्रेमी कुमारकी बड़ाईके गीत गाते चल रहे थे ॥ ४ ॥

युद्धका ठाट सजाकर और पर्वतोंके पंख काटनेवाला वज्र लेकर इन्द्र भी स्फटिकके पर्वतके समान उजले और ऊँचे ऐरावत हाथीपर चढ़कर उनके पीछे-पीछे हो लिए ॥ ५ ॥ शत्रुपर क्रोधके मारे और भी अधिक जलते हुए अग्निदेव भी, पर्वतकी चोटीके समान ऊँचे और बिगड़ैल मेंढ़ेपर चढ़कर और बड़ा भयंकर दहकता हुआ अस्त्र हाथमें लेकर कुमारके पीछे-पीछे चल दिए ॥ ६ ॥ हाथमें दंड लेकर यमराज भी अपने नीलमके पहाड़ जैसे ऊँचे और कलूटे उस भैंसेपर चढ़कर कुमारके पीछे चल दिए जो अपनी सींगोंसे बादलोंको फाड़ता चलता था ॥ ७ ॥ नैऋत्य दिशाका स्वामी नैऋत राक्षस भी तारकसे चिढ़कर बड़ा भयानक हो गया और शत्रुसे लड़नेके लिये मतवाले प्रेतपर चढ़कर कुमारके पीछे चल दिया ॥ ८ ॥ हाथमें अपनी अचूक फाँस लिए हुए बड़े बलवान् वरुणदेव अपने उस बड़े भारी घड़ियालपर बैठकर युद्धके लिये कुमारके पीछे चले जो नई उठी

हुई घटाके समान एकदम काला था ॥९॥ पवनदेव लड़ाईकी इच्छासे क्षण भरमें अपने उस पराक्रमी हरिणपर बैठकर कुमारके पीछे चल दिए जो पृथ्वी और आकाशमें सब कहीं बिना रुके चौकड़ी भरता उड़ता चलता था ॥ १० ॥ जो गदा शत्रुओंका लहू पीकर ही युद्धका व्रत तोड़ती थी, वह भारी गदा लेकर कुवेर उस पालकी-पर चढ़कर कुमारके पीछे चले जिसे मनुष्य ढो रहे थे ॥ ११ ॥ अपने-अपने हाथोंमें पिनाक धनुष और जलते हुए त्रिशूल लेकर और अपने जटा-जूटोंको बड़े-बड़े साँपोंसे कसकर हिमालयके समान उजले बैलोंपर चढ़कर ग्यारहों रुद्र कुमारके पीछे पीछे हो लिए ॥ १२ ॥ महायुद्धके इस उत्सवमें रुचि रखनेवाले दूसरे सब देवता भी अपने-अपने तगड़े वाहनोंपर चढ़कर आनन्दसे हँस हँसकर अपना मुख कमल खिलाते हुए कार्तिकेयके साथ चल पड़े ॥ १३ ॥ इस प्रकार सब ठाठोंसे सजी हुई, अनगिनत सोनेके डंडे ऊपर उठा-कर चलती हुई, चमचमाते हुए रंग-बिरंगे छत्र चमकाती हुई, झुण्डके झुण्ड चलनेवाले रथोंकी घनघनाहटसे भयंकर लगती हुई, मतवाले हाथियोंके घंटोंकी टन-टन और उनकी चिग्घाड़ोंसे कान फाड़ती हुई, अनेक प्रकारके झिलमिलाते हुए अस्त्र-शस्त्रोंकी चमकसे चारों दिशाओं और आकाशको चमकाती हुई उस देवताओंकी महासेनाको लिए हुए वीर कुमार चले ॥ १४-१५ ॥ उछलते-कूदते चलनेवाले देवताओंके हल्लेसे और उस बड़ी भारी सेनाकी ऊँची-ऊँची और बड़ी-बड़ी ध्वजाओंसे, दसों दिशाएँ, आकाश और पृथ्वी सब एक-से दिखाई पड़ने लगे ॥ १६ ॥ उनके नगाड़ोंकी घोर ध्वनिकी गूँज चारों ओर सुनकर दैत्योंकी राज-लक्ष्मी भी काँप उठी ॥ १७ ॥ सेनाके चलनेसे उठी हुई धूलसे भरा हुआ आकाश ऐसा लगता था मानो मथनेके समय समुद्रकी गर्जनसे भी अधिक डरावनी ध्वनि-वाले और वैरियोंकी स्त्रियोंके गर्भ गिरानेवाले नगाड़ोंकी धमक सुनकर आकाश रो उठा हो ॥१८॥ वहाँ सुमेरु पर्वतकी धूल इस ढंगसे आकाशमें पहुँची कि पहले तो रथोंने वहाँकी मट्टी उखाड़ी, फिर घोड़ोंने खूँद-खूँदकर उसे महीन कर दिया, तब हाथियोंने अपने कान हिला-हिलाकर उसे चारों ओर फैला दिया, तब लहराती हुई झंडियोंने

उस धूलको और भी इधर-उधर बिखेर दिया और फिर वायु उसे आकाशमें उड़ा ले गया ॥ १९ ॥

इतना ही नहीं, वरन् सुमेरुकी तलहटीसे उठी हुई वह सुनहली धूल, रथ खींचनेवाले बढ़िया घोड़ोंके खुरोंसे पिसकर, हरहराते हुए पवनके सहारे सभी दिशाओंमें फैलकर चमक उठी ॥२०॥ पवनके सहारेसे सेनाके ऊपर-नीचे, आगे-पीछे और चारों ओर फैली हुई वह सुनहली धूल ऐसी सुन्दर लगती थी कि निकलते हुए सूर्यकी सुनहरी धूप भी उसके आगे पानी भरती थी ॥ २१ ॥ सेनाके चलनेसे उड़ी हुई वह सुनहरी धूल सभी दिशाओं और आकाशमें भरकर ऐसी सुन्दर दिखाई पड़ने लगी मानो संध्या हुए विना ही सुनहले बादलोंके झुंडके झुंड उमड़कर आकाशमें छा गए हों ॥ २२ ॥ सेनाके साथ चलते हुए हाथियोंने वहाँकी सुनहरी धरतीमें अपनी परछाईं देखी तो वे समझे कि ये पातालसे निकले हुए बड़े-बड़े हाथी हैं और इसीलिये बहुत बिगड़कर वे उन परछाइयोंपर ही अपने बड़े-बड़े दाँतोंसे टक्कर मारने लगे ॥ २३ ॥ बढ़िया सिन्दूरकी बुकनीसे रँगे हुए और धीरे-धीरे चलनेवाले वे उन देवताओंकी सेनाके हाथियोंको सुमेरु गिरिकी चमकदार सोनेकी धरतीपर भी अपनी परछाईं ठीक-ठीक नहीं दिखलाई पड़ती थी, क्योंकि दोनोंका रंग एक-सा था ॥ २४ ॥ इस प्रकार युद्धके समुद्रमें तैरनेको उतारू देवराजकी सेना अपने हल्लेसे गुफाओंको गुँजाती हुई सुमेरु पर्वतसे बड़े वेगसे नीचे उतरी ॥ २५ ॥

देवताओंकी इस बड़ी भारी सेनाके रथोंकी घोर घरघराहट और बजते हुए घंटों और बड़े बड़े हाथियोंकी चिग्घाड़ोंकी इतनी ध्वनि होते हुए भी सुमेरु पर्वतकी लंबी-लंबी गुफाओंमें सोनेवाले सिंहोंने अपनी नींदके सपनोंका सुख नहीं छोड़ा, वे सोए ही पड़े रहे ॥२६॥

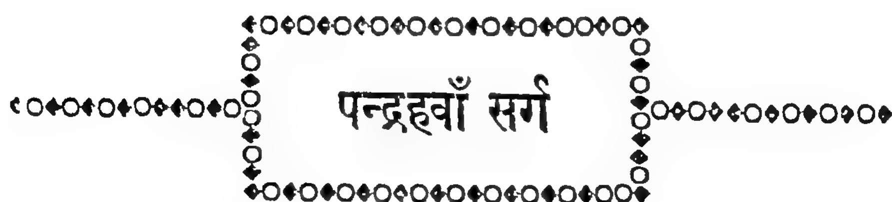
गुफाओंमें गूँजते हुए नगाड़ोंकी गंभीर और भयंकर ध्वनि और बड़े-बड़े रथोंके पहियोंकी घड़घड़ाहट गुफाओंसे टकराकर दूनी होकर गूँज रही थी, फिर भी वहाँके सिंह ज्योंके त्यों बैठे रहे और इस प्रकार उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि हम सचमुच मृगोंके राजा हैं ॥ २७ ॥ सुमेरुकी चोटियोंको फोड़नेवाली उस देवोंकी

महासेनाके चलनेसे जो हल्ला हो रहा था, उसे सुन-सुनकर वे सब सिंह और भी मतवाले हो उठे जो अपनी शक्तिके बलपर सब पशुओंके राजा बने हुए थे ॥ २८ ॥ वहाँ जितने हरिण थे वे सब तो इस डरसे चौकड़ी भरकर दूर भाग गए कि कहीं देवताओंकी सेना हमें मार न डाले, पर जितने सिंह थे, वे अपनी गुफाओंके बाहर निकल निकलकर खड़े हो गए ॥ २९ ॥ जब वे सैनिक उस ऊँचे सुमेरु पर्वतकी तलहटीमें उतरे, उस समय अमरावतीमें रहनेवाले स्त्री-पुरुष सब उन्हें बड़े चावसे देख रहे थे ॥ ३० ॥ सुमेरु पर्वतकी पीली, नीली, लाल और उजली चट्टानोंसे उड़ी हुई धूलसे भरा हुआ आकाश ऐसा लगने लगा मानो बिना परिश्रमके ही वह अनेक रत्नोंसे भरी गन्धर्वपुरी बन गया हो ॥ ३१ ॥ कानोंके परदोंको फाड़नेवाला देवसेनाका वह उमड़ा हुआ घोर शब्द हड़हड़ाते हुए समुद्रकी कोलाहलसे भी अधिक बढ़कर सारे ब्रह्माण्डमें गूँजने लगा ॥ ३२ ॥ यहाँतक कि मतवाले हाथियोंकी भारी चिग्घाड़, चारों ओर घोड़ोंकी हिनहिनाहट और चलते हुए रथोंकी घोर घरघराहटमें गम्भीर और कान फाड़नेवाली नगाड़ोंकी ध्वनि एकदम दब गई ॥ ३३ ॥ और क्षण-भरमें ही देवसेनाके चलनेसे उठी हुई वह धूल धीरे-धीरे दैत्योंकी स्त्रियोंके बालों, उनकी आँखों, अलकों और स्तनों पर बैठती हुई फिर उनकी पताकाओं, हाथियों, रथों और घोड़ों पर जाकर जमने लगी ॥ ३४ ॥ जब सेनाकी घनी धूल सूर्यको ढककर आकाशमें छा गई तो हंस समझे कि ये बादल हैं और बरसात आई जानकर वे मानसरोवरकी ओर उड़ चले और मोर मस्तीसे नाचने लगे ॥ ३५ ॥ सेनाके चलनेसे उड़ी हुई वह घनी धूल तो आकाशमें नये बादलोंकी पाँतों जैसी दिखाई देने लगी और सुनहली पताकाएं, चमकती हुई बिजलीकी लहरों-सी चमकने लगीं ॥ ३६ ॥ आकाश और पृथ्वीके ठीक बीचों बीच छाई हुई, उस धूलको देखकर लोग यही सोचते रह गए कि यह धूल, ऊपरसे नीचे उतर रही है या नीचेसे ऊपरको चढ़ रही है ॥ ३७ ॥ सेनाके चलनेसे उठी हुई धूल ऐसी छा गई थी कि सूईकी नोकके बराबर स्थान भी खुला न रह गया था इसलिये सबकी आँखोंके आगे ऐसा अँधेरा छा गया कि

किसीको भी नीचे ऊपर, आगे-पीछे, इधर-उधर कहीं कुछ भी नहीं दिखाई देता था ॥ ३८ ॥ सेनामें ऐसे बहुतसे बाजे निरंतर बज रहे थे जिनकी घोर ध्वनि सुनकर मतवाले हाथियोंका मद भी सूख जाता था और जिनकी ध्वनि विमानोंकी छतरियोंमें टकराकर और दूनी गूँज उठती थी। उन्हें सुन-सुनकर ऐसा लगता था मानो आकाश ही घनघोर गरज रहा हो ॥३९॥ देवताओंकी यह महा ना पहले तो धरतीमें भर गई, पर वहाँ न समा सकनेके कारण आकाशमें जा पहुँची और जब वहाँ भी वह न समा सकी तो मानो वह यह समझकर घबरा उठी कि अब यहाँसे कहाँ चला जाय ॥ ४० ॥ ऊँचे-ऊँचे मतवाले हाथियोंकी चिग्घाड़ोंसे, अत्यन्त ऊँचे घोड़ोंकी हिन-हिनाहटोंसे और चलनेवाले रथोंकी घड़घड़ाहटसे सब ऐसे घबड़ा उठे मानो साँस घुटी जा रही हो ॥४१॥ बड़े-बड़े हाथियोंकी घोर चिग्घाड़, उनके हिलते हुए युद्धके घंटोंकी टन-टन और मतवाले वीरोंकी ललकार चारों ओर फैली हुई ऐसी लगती थी मानो दसो दिशाएँ कोलाहल मचा रही हों ॥ ४२ ॥ बड़े-बड़े हाथियोंका इतना मद बहा कि सूखी हुई नदियोंमें तुरंत बाढ़ आ गई और फिर घोड़ोंके खुरोंकी खूँदसे उठी हुई धूल भर जानेसे उन नदियोंमें कीचड़ ही कीचड़ हो गया और फिर रथोंके पहियोंसे दबकर वहीं फिर ज्योंकी त्यों धरती निकल आई ॥ ४३ ॥ चलते हुए घोड़ोंके खुरोंसे रौंदी जानेपर और रथों और हाथियोंके चलनेसे दब जानेपर नीचे स्थान ऊँचे हो गए और ऊँचे स्थान नीचे हो गए ॥ ४४ ॥ बड़े-बड़े पहाड़ोंको फोड़ देनेवाली और समुद्रमें हलचल मचा देनेवाली वह नगाड़ेकी ध्वनि निकलकर आकाश और दिशाओंमें गूँजी तो उसकी और भी भयानक ध्वनि सुनकर सारा संसार घबरा उठा ॥ ४५ ॥ उस सेनाकी टनाटनाते हुए घुँघरुओंवाली लाखों झंडियाँ जो सारे आकाशमें भरकर सब मार्ग रोके हुए वायुके झोंकेमें फरफरा रही थीं वे भी उस सेनाके चलनेसे उड़ी हुई धूलके समुद्रमें डूब गईं ॥ ४६ ॥ मतवाले हाथियोंकी गूँजती हुई चिग्घाड़ और पल-पलमें भयकर होकर बढ़ती हुई घंटेकी ध्वनिके आगे सेनाके नगाड़ोंका शब्द सुनाई ही नहीं पड़ रहा था ॥ ४७ ॥

जैसे किसी हल्ला मचानेवाली नंगी रजस्वलाको देखकर सज्जन लोग आड़ कर लेते हैं वैसे ही सेनाके शब्दसे घोर कोलाहल करती हुई और आकाश रूपी वस्त्रको फाड़कर रजसे भरी हुई दिशा रूपी नायिकाको देखकर ही सूर्यने इस चारों ओर फैले हुए धूलके घने अँधेरेकी ओट करके अपनेको छिपा लिया है ॥ ४८ ॥ वहाँ जो नगाड़े बज रहे थे उनका शब्द ऐसा लग रहा था मानो आकाश रूपी नायक धूलसे भरी हुई अपनी दिशा रूपी रजस्वला नायिकापर सैनिकोंका इतना बड़ा धावा देखकर घोर ईर्ष्यासे गरज उठा हो ॥ ४९ ॥ बड़े-बड़े हाथी आकाशमें इस प्रकार इधर-उधर घूम रहे थे जैसे किसी बड़ी भारी आँधीसे पहाड़की चट्टानें ऊपर उछल रही हों। और भूमिपर रथ इस प्रकार चल रहे थे मानो बड़े-बड़े बादल चल रहे हों। इस युद्धमें ऐसा जान पड़ता था मानो पृथ्वीके पहाड़ तो आकाशमें उड़ने लगे हों और आकाशमें चलनेवाले बादल पृथ्वीपर चलने लगे हों ॥ ५० ॥ घोर कोलाहल मचाती हुई बड़े-बड़े राजाओं से भरी वह देवसेना भली प्रकार चारों ओर भरी होनेपर भी और अधिक बढ़ने लगी। इसे देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो बलवान् असुरों के इस महाप्रलयके समय घोर रूपसे गरजता हुआ महासागर उमड़ता चला आ रहा हो ॥५१॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए कुमारसंभव महाकाव्यमें देवसेनाका प्रस्थान नामका चौदहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।



पन्द्रहवाँ सर्ग

उधर जब दैत्यों के नगरमें यह हल्ला मचा कि शंकरजीके पुत्र कार्त्तिकेयको सेनापति बनाकर और देवताओंकी सेना साथ लेकर दैत्यों के शत्रु इन्द्र, युद्ध करनेके लिये चले आ रहे हैं तो दैत्यों में बड़ी खलबली मच गई ॥ १ ॥ और जब उन्होंने यह जान लिया कि जय-

लक्ष्मीके साथ देवताओंकी सेना लेकर विजयी कार्त्तिकेय सचमुच सेनापति बनकर आए हैं, तब तो दैत्योंके नगरके रहनेवाले बहुत देर तक ऐसे घबराए बैठे रहे मानो उन्हें काठ मार गया हो ॥२॥ दैत्योंके राजा तारककी नगरीमें रहनेवाले सब दैत्य मिलकर तारकके पास पहुँचे और उसके आगे सिर झुकाकर प्रणाम करके कहने लगे कि युद्ध करनेको उतारू कुमारको साथ लेकर इन्द्र आ पहुँचे हैं ॥३॥ यह सुनकर तारकने बड़े तानेके साथ हँसते हुए कहा—पिछले कई युद्धोंमें तो मुझ त्रैलोक्य-विजयीको इन्द्र जीत नहीं सका। अब कुमारके भरोसे मुझसे लड़ने चला है तो भले जीतेगा, हः हः हः ॥ ४ ॥ यह कहते ही खेल ही खेलमें तीनों लोकोंको जीतनेकी शक्ति रखनेवाले तारकके ओठ काँपने लगे और उसने अपने उन अखाड़िये सेनापतियोंको युद्धके लिये सजनेकी आज्ञा दी, जिन्हें अपने बाहुबलपर बड़ा घमंड था ॥ ५ ॥ तब अस्त्र-शस्त्र बाँधकर बड़े-बड़े दैत्य सेनापति तुरन्त तारकके उस भारी फाटकवाले आँगनमें आ खड़े हुए जहाँ बहुतसे आज्ञाकारी राजा पूँछ दबाए खड़े हुए थे ॥६॥ जो जो द्वारपर पहुँचकर प्रणाम करते जाते थे उन बड़ी-बड़ी भुजाओंवाले वीरोंको लेजा-लेजाकर द्वारपालने तारकासुरके सामने खड़ा कर दिया। दैत्यराजने देखा कि वे अनगिनत सेनापति महायुद्धके समुद्रमें हलचल मचानेमें एक से एक बढ़कर हैं ॥७॥ तब वह बलवान दैत्य भी स्वयं उस भयंकर रथपर चढ़कर चल पड़ा जो अकेला ही इन्द्रकी सेनाको तहस-नहस कर सकता था, जिसकी घरघराहट सुनकर दिग्गजोंका चिग्घाड़ना और मद बहाना बन्द हो जाता था और जो पर्वत और समुद्रमें कहीं भी बेरोक-टोक चला जा सकता था ॥८॥ पृथ्वीसे उड़ी हुई धूलसे सब दिशाओं और आकाशको ढकती हुई दैत्योंकी वह सेना भी अपने सेनापति तारकासुरके पीछे-पीछे चल पड़ी, जो प्रलयकालके हड़-हड़ाते हुए समुद्रके समान घोर हल्ला मचा रही थी और जिसमें इतनी पताकाएँ हिल रही थीं कि धूप भी रुक गई थी ॥९॥ जब देवताओंसे लड़नेके लिये महादैत्य तारककी सेना चली तो उसके चलनेसे उड़ी हुई धूल दिग्गजोंके उजले दाँतोंपर पड़कर उजली हो उठती थी और

जब उनके मद बहते हुए गालों पर पड़ती थी तब कीचड़ बन जाती थी ॥१०॥ उसकी सेनाके नगाड़ोंकी जो गंभीर ध्वनि पहाड़ोंकी कन्दराओंको भी फोड़ सकती थी उसे सुनकर समुद्र भी हिलोरें लेकर अपने तटसे छलक आया और आकाशगंगामें भी अचानक बाढ़ आ गई ॥११॥ उस दैत्यराजकी बड़ी भारी सेनाका भयकर हल्ला आकाशगंगामें गूँज उठा और उसमें से उछली हुई सुन्दर कमलोंसे भरी सैकड़ों लहरों ने वहाँके भवन धो डाले ॥१२॥ जब वह दैत्यराज लड़नेके लिये चला तो उसके आगे ऐसे बुरे-बुरे असगुन होने लगे जिनसे यह जान पड़ता था कि यह दैत्य किसी बड़ी भारी विपत्तिके समुद्रमें डूबनेवाला है ॥१३॥ उसी समय दैत्योंका मांस पानेकी टोह-में बहुतसे गिद्ध, कौए आदि भयंकर जीव-जन्तु पाँतें बाँध-बाँधकर दैत्योंकी सेनाके ऊपर ठीक इस प्रकार मँडराने लगे कि उनकी छाया भी नीचे नहीं पड़ती थी ॥१४॥ आकाशमें बार-बार ऐसी आँधियाँ उठने लगीं कि छत्र-चामर, पताकाएँ सब टूट-फूट गईं, धूल उड़-उड़ कर सबकी आँखों में भर गई और घोड़े, हाथी, रथ सबको उन आँधियों ने झकझोर डाला ॥१५॥ तुरन्त पारे हुए काजलसे टूटकर गिरे हुए टुकड़ेके समान काले और विष भरी आगकी ऊँची-ऊँची लपटें उगलनेवाले बड़े भयंकर डील-डौलवाले साँप सेनाका मार्ग काट-काट कर सामनेसे निकलने लगे ॥१६॥ और वैरके कारण ही मानो सूर्यने भयंकर साँपोंकी कुण्डलीके समान बड़ा-सा मंडल चारों ओर डाल लिया था जो यह बता रहा था कि देवताओंके शत्रु तारक असुरके दिन पूरे हो चले हैं ॥१७॥ युद्धमें तारक असुरका लहू पीनेके लिये उतावलीमें सियारिनियाँ सूर्य-मंडलके चारों ओर आ-आकर बड़े डरावने स्वरोंमें रोने लगीं ॥१८॥ दिनमें निकले हुए तारे उस सेनाके चारों ओर बड़े वेगसे टूट-टूटकर गिरने लगे और लोगोंको विश्वास हो गया कि ये सब उपद्रव तारकके नाशके लिये ही हो रहे हैं ॥१९॥ अपनी घोर और भयंकर तड़पसे हृदय फाड़ देनेवाली और अपनी जलती हुई चमकसे सारी दिशाओं और आकाशको चमका देनेवाली बिजली भी बिना बादलके ही आकाशसे टूट-टूटकर गिर रही थी ॥२०॥ आकाशमें धधकते हुए अंगारोंकी, लहूकी और

हड्डियोंकी घनघोर वर्षा हो रही थी और दसों दिशाएँ गधेके गलेके रङ्ग जैसा भूरा-भूरा धुआँ उगल रही थीं ॥२१॥ चारों ओर आकाश-में और दसों दिशाओं म ऐसा भयंकर हल्ला हो रहा था जो क्रोधमें भरे हुए कालकी गरजके समान कानों के पर्दे फाड़े डाल रहा था और जिसकी गूँजसे पहाड़की चोटियाँ भी फटी पड़ रही थीं ॥२२॥ इतनेमें ही ऐसा भूडोल आया कि समुद्र हिलोरें लेने लगे, पहाड़ोंमें दरारें पड़ गईं, तारकके सैनिक एक दूसरेको पकड़कर लिपट गए, बड़े-बड़े हाथी लड़खड़ाने लगे और घोड़े जहाँ-तहाँ पटपट गिरने लगे ॥२३॥ सूर्यकी ओर देखते हुए ऊपर मुँह उठाकर एक साथ बहुतसे कुत्ते,रोते हुए और बुरे ढंगसे भूँकते हुए तारकके सामने निकल आए ॥२४॥ इस प्रकारके बुरे-बुरे डरावने असगुन देखकर भी दुर्भाग्यके मारे उस दैत्यने क्रोधसे लड़ाईमें जानेसे मुँह नहीं मोड़ा ॥२५॥ ऐसे बड़े डरावने और बुरे असगुन देखकर विद्वानों ने उस महादैत्यको बहुत रोकना चाहा, पर वह आगे बढ़ता ही गया। जो लोग हठसे अन्धे हो जाते हैं, उन्हें बड़े-बूढ़ोंका उपदेश भी अच्छा नहीं लगता ॥२६॥ इतनेमें ही उल्टे बहते हुए वायुका ऐसा झोंका आया कि सुनहला राजछत्र भूमिमें औंधा जा गिरा और ऐसा लगने लगा मानो उसकी मृत्युने अपना व्रत तोड़नेके समय भोजन करनेके लिये यह सोनेका थाल ला रक्खा हो ॥२७॥ तारकके किरीटसे टूट-टूट-कर गिरते हुए मोती ऐसे लग रहे थे मानो तारकके सिर कटनेकी बात पहलेसे जाननेवाला वह समझदार मुकुट अपने मोतीके आँसू बारबार बरसाकर रो रहा हो ॥२८॥ उसके सिरपर मँडराते हुए गिद्धोंको उसके सेवक बारबार भगा रहे थे फिर भी वे गिद्ध व्याकुल-से होकर सिरपर ही गिरकर मानो यह बता रहे थे कि अब तुम्हारे दिन पूरे हो चले हैं ॥२९॥ इतनेमें लोगों ने देखा कि उसके झंडेपर तुरंत पारे हुए काजलके समान काला, अपने फणकी मणिकी किरणों के प्रकाशसे चमकते हुए फनोंवाला और भयानक विष भरी आगकी फुंकार छोड़नेवाला एक बड़ा भारी साँप आ लिपटा है ॥ ३० ॥ इतनेमें अचानक उसके रथके धुरेसे आगकी ऐसी भारी लपट उठी कि रथके घोड़ों के बाल,कान और चौरियाँ झुलस गईं और

और तारकके धनुष बाण और तूणीर भी जल उठे ॥३१॥ बार-बार ऐसे बुरे-बुरे असगुन होनेपर भी जब वह घमंडमें चूर दैत्य न लौटा, तब आकाशसे यह देववाणी सुनाई दी ॥ ३२ ॥

हे घमंडमें चूर दैत्य ! तू अपने भुजदंडों पर घमंड करके इन कार्त्तिकेयजीसे युद्ध करने न जा, जिनके साथ इन्द्र और दूसरे विजयी देवता चले आ रहे हैं ॥ ३३ ॥ हे मतवाले दैत्य ! छ दिनके बालक कुमारके आगे युद्धमें दैत्योंकी वही दुर्दशा होगी जो सूर्यके आगे रातके अँधेरेकी होती है । भला तुम क्या उनसे लड़ पाओगे ॥३४॥ हे तारक ! जिस क्रौञ्च पर्वतकी सैकड़ों चोटियाँ आकाश चूमती हैं और जो दसो दिशाओं में फैला हुआ है उसे भी जिसने बाणों से बेध डाला है, उनके साथ तुम क्या लड़ पाओगे ? ॥ ३५ ॥ जिन परशुरामजीने शंकरजीसे धनुर्विद्या सीखकर इक्कीस बार युद्धमें राजाओंके गाढ़े रक्तमें स्नान करके अपना क्रोध ठण्ढा किया है ऐसे क्षत्रियोंके नाशकी कालरात्रि बुलानेवाले परशुराम भी जिनसे लड़ने में घबराते हैं, उन त्रिभुवन प्रसिद्ध महायोद्धासे लड़नेका तुममें दम कहाँ है ? ॥ ३६-३७ ॥ अरे घमंडसे अंधे दैत्य ! तू अपना घमंड छोड़कर कुछ ऐसा उपाय कर कि जिससे तू कुमारकी शक्तिके आगे न आ सके । इस समय उन्हींकी शरणमें जानेसे ही तेरे प्राण बचे रहेंगे ॥ ३८ ॥

अपने क्रोधसे तीनों लोकोंको कँपानेवाला वह घमंडी दैत्य भी ऐसी आकाशवाणी सुनकर एक बार स्वय काँप उठा, पर फिर सँभल कर आकाशकी ओर मुँह करके गरजकर बोला— ॥ ३९ ॥ अरे कार्त्तिकेयकी बड़ाई करनेवाले आकाशमें घूमनेवाले देवताओ ! क्या आज तुम्हें मेरे बाणोंके घावोंकी पीड़ा भूल गई है जो इस प्रकार बक-बक कर रहे हो ॥ ४० ॥ अरे देवताओ ! कार्त्तिकके महीनेमें जैसे पागल कुत्ते भूँका करते हैं और रातको वनमें सियार, लोमड़ी आदि धूर्त्त पशु बोला करते हैं वैसे ही तुम लोग भी आकाशमें चढ़कर उस छः दिनके बच्चे कुमारके बलकी क्या रिरिया-रिरियाकर झूठी शान बघार रहे हो ॥ ४१ ॥ अरे देवताओ ! तुम लोगोंके साथ पड़नेसे यह बेचारा तपस्वी बालक कार्तिकेय भी तुम लोगोंके

साथ वैसे ही मेरे हाथ से मारा जायगा जैसे चोरका साथ करनेवाला भी दंड भोगता है ॥ ४२ ॥ यह कहकर उस महासुरने जो अपनी भारी और बड़ी भयावनी कृपाण उठाई तो आकाशमें खड़े हुए सब देवताओं में भगदड़ मच गई ॥ ४३ ॥ तब बड़े घमंडसे विकट हँसी हँसकर उसने म्यानसे अपनी करवाल बाहर निकाली और अपने सारथीसे कहा कि रथको बढ़ाकर झटपट इन्द्रके आगे पहुँचाओ ॥ ४४ ॥ मनसे भी अधिक वेग से चलनेवाले जिस रथको सारथी बढ़ाए लिए चला जा रहा था उसपर बैठा हुआ वह महादैत्य देवताओंकी उस सेनाके आगे जा पहुँचा जो अथाह समुद्रके समान भयंकर दिखाई दे रही थी ॥ ४५ ॥

देवताओंकी बड़ी भारी सेना सामने देखकर उस युद्धके लिये उतावले वीरके भारी भुजदंडों के रोएँ खड़े हो गए और उसके हृदयमें युद्धका उत्साह उमड़ उठा ॥ ४६ ॥

तब इन्द्रके बड़े-बड़े रणबाँकुरे और युद्धके लिये ललचाए हुए सैनिक मनसे भी अधिक वेगसे दैत्यकी सेनापर टूट पड़े। सच है, जो लड़ाईके प्यासे होते हैं वे अवसर आनेपर आगा-पीछा थोड़े ही देखते हैं ? ॥ ४७ ॥ और फिर दैत्य-सेनाके सैनिक भी आगे खड़ी हुई इन्द्रकी सेनाके समुद्रपर टूट पड़े और वे चारों ओर भुजाएँ उठा-उठाकर, ललकार-ललकारकर अपना-अपना नाम शत्रुओंको सुनाने लगे ॥ ४८ ॥ अपने आगे समुद्रके समान हिलारें लेती हुई उस दैत्य-सेनाको देखकर बड़े-बड़े देवताओं के भी छक्के छूट गए, पर उस सारी दैत्य सेनाको एक कनखीसे देखकर ही निडर कार्तिकेयने समझ लिया कि इस सेनामें कुछ धरा नहीं है ॥ ४९ ॥ दैत्योंकी सेनाके डरसे घबराई हुई देवसेनाकी ओर अपने आनन्दके अमृतसे धुले हुए नेत्रों से देखकर कुमारने संकेत किया कि डरो मत, युद्ध किए जाओ। जब देवताओं ने रणमें शक्तिशाली कार्तिकेयका दर्शन किया तो उनका उत्साह बढ़ गया और इन्द्र आदि सभी यह कहकर प्रसन्नतासे उछलने-कूदने लगे कि मैं शत्रुओंको युद्धमें जीत लूँगा। ठीक है, भले लोगोंका संग करनेसे किसका बल नहीं बढ़ता ॥ ५०-५१ ॥ अपने-अपने शस्त्र उठा-उठाकर

देवताओं और दैत्यों के सैनिक अपने-अपने चारणों के गाए हुए अपने नामवाले पराक्रमके गीत सुनते हुए विजयकी इच्छासे समरमें आ जुटे ॥ ५२ ॥ जैसे प्रलय करनेके लिये अपनी मर्यादा तोड़कर चारों ओर फैले हुए और सारे संसारको डुबोते-बहाते, कालका भोजन बनाते हुए दो समुद्र एक दूसरेसे टकराते हुए बढ़ चले हों वैसे ही ताड़के वृक्षोंवाले पहाड़की तलहटीको फाड़ देनेवाला यह देवताओं और दैत्योंकी सेनाओंके समुद्रोंका भारी कोलाहल, यमको न्यौता देता हुआ सारे ब्रह्माण्डमें भर गया ॥ ५३ ॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए कुमारसंभव महाकाव्यमें देवता और दैत्योंकी लड़ाई नामका पंद्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

सोलहवाँ सर्ग

तब इन्द्र और तारककी सेनाएँ एक दूसरेपर भयंकर अस्त्र-शस्त्र बरसा-बरसाकर घोर युद्ध करने लगीं ॥ १ ॥ पैदलसे पैदल जा भिड़े, रथवालों से रथवाले जा उलझे, घुड़सवारों से घुडसवार जा जूझे और हाथीसवार हाथीसवारों से भिड़ गए ॥ २ ॥ जो सैनिक निडर होकर वैरियोंपर चोट कर रहे थे उन्हें लड़नेको उभाड़नेके लिये दोनो ओरके चारण लोग उन वीरों को, कुलके उजागर बता-बताकर उनकी बड़ाई करते जा रहे थे ॥ ३ ॥ पर वे वीर युद्धमें ऐसे जी-जानसे लड़ते थे कि उन्हें इतना अवकाश ही कहाँ था कि चारणों के मुहँसे अपने पराक्रमके गीत सुन सकें इसलिये जब वे बीच-बीचमें कभी क्षणभर रुक जाते थे तो चारणों के गीत भी सुन लेते थे ॥४॥ उन्हें लड़ाईका ऐसा आनन्द आ रहा था कि उनके रोएँ-रोएँ उत्साहसे फरफरा उठे और जब,उनकी आपसमें भिड़न्त हो जाती थी तो उनके कवचों के टाँकेतक खुल

जाते थे ॥ ५ ॥ वहाँ सैनिक लोग इतनी कस-कसकर करवाल चला रहेथे कि कवचों के टूटनेसे उनके नीचे बँधी हुई रूई आकाश और दिशाओं में उड़-उड़कर ऐसी फैल गई कि सब दिशाएँ बूढ़ेके बालों जैसी धौली हो गईं ॥ ६ ॥ जहाँ-तहाँ सूर्यकी किरणें पड़नेसे वीरोंकी लहूसे रँगी करवालें बिजलीके समान चमक उठती थीं ॥ ७ ॥ क्रोधमें भर-भरकर वीरों ने जो आग उगलते हुए भयंकर साँपों के समान विषैले बाण छोड़े उनसे सारा आकाश छा गया ॥ ८ ॥ वे एक दूसरेपर दूरसे जो बाण चला रहे थे वे दूसरी ओरके धनुषधारियों के शरीरको ऐसी फुर्तीसे बेधते हुए पार निकलकर पृथ्वीमें जा धँसते थे कि उनमें लहूतक नहीं लग पाता था ॥ ९ ॥ उस युद्धके उत्सवमें जो बड़े-बड़े योद्धा जी खोलकर लड़ रहे थे वे हाथियों पर ऐसे करारे बाण चला रहे थे कि हाथियोंका सिर तो पहले कटकर गिर जाता था, बाण पीछे गिरता था ॥१०॥ जब आकाशमें जलती हुई लपटों वाले बाणोंकी घनी पाँतें भर गईं तो विमानोंपर चढ़े हुए देवता वहाँसे दूर हट गए कि कहीं हम न इनकी लपेटमें आ जायँ ॥ ११ ॥ धनुषधारी सैनिकों ने इतने बाण छोड़े कि आकाशकी छाती चलनी हो गई और इसीलिये वह भी पीड़ासे व्याकुल होकर बाज पक्षीके डरावने शब्दों में रोने लगा ॥ १२ ॥ लड़ाकू योद्धाओं ने अपने कानों तक खींच-खींचकर जो बाण छोड़ वे मानो रुधिर पीनेके लोभसे ही उतनी दूरतक दौड़े चले जा रहे हों ॥१३॥ संग्राममें वीरों के हाथोंकी नंगी करवालें मतवाली हो-होकर मानो अपनी धारकी चमकमें ही हँस रही हों ॥ १४ ॥ वीरोंके हाथों में नाचनेवाली लहूसे लथपथ करवालें, धूलसे पटे हुए उस दूरतक फैले हुए युद्ध-क्षेत्रमें बिजलीके समान चमक उठती थीं ॥१५॥ युद्धमें लड़नेवालों के चमकते हुए भयंकर भाले, यमराजकी लप-लपाती जीभजैसे दिखाई दे रहे थे ॥ १६ ॥ चकाचौंध करनेवाली चमकसे घिरे हुए और प्रचंड सूर्य-मण्डलके समान चमकवाले चक्र-धारी वीरों के चक्र, उस युद्ध रूपी आकाशमें चारों ओर चक्कर लगा रहे थे ॥ १७ ॥ जब कोई वीर सामने आकर गरजकर ललकार उठता था तो बहुतसे योद्धा तो उस ललकार को सुनकर ही घोड़ों से

नीचे गिर पड़ते थे और बहुतसे डरके मारे ही मूर्छित होकर गिर पड़ते थे ॥ १८ ॥ कोई-कोई वीर ऐसे थे कि जब कोई उन्हें मारनेके लिये सामने आता तो वे प्रसन्न हो उठते थे कि चलो इसीसे दो-दो हाथ हो जायँ, पर जब वह घबराकर लौट जाता था तब उन्हें इस बातका बड़ा दुःख होता कि हाय, लड़ न सके ॥ १९ ॥ और कुछ ऐसे भी रण-बाँकुरे थे जो बहुतोंके साथ लड़-भिड़कर और इधर-उधर घूम-घामकर उन वीरोंके पास पहुँच जाते थे, जिनसे लड़नेके लिये उन्होंने पहले ही सोच रक्खा था ॥२०॥ जब सच्चे योद्धाओंने देखा कि युद्धके लिये मतवाले और लड़नेके लिये फरफराती बाहोंवाले वीर चारों ओर आ गए हैं तो वे बड़े प्रसन्न हुए कि अब जी भरकर लड़ा तो जायगा ॥ २१ ॥ शस्त्रोंसे कटे हुए हाथियोंके मस्तकोंसे झड़े हुए मोती वहाँ बिखरे हुए ऐसे शोभा दे रहे थे जैसे रणके खेतमें बोए हुए यशके अंकुर फूट निकले हों ॥ २२ ॥ रणमें वीरोंकी भयानक ललकारोंसे भागे हुए हाथी, हाथीवानोंके अंकुश खा-खाकर जिधर-तिधर भाग निकलते थे ॥ २३ ॥ जिन हाथियोंके हाथीवान युद्धमें शत्रुओंके बाणोंसे मार डाले गए थे, वे हाथी मनमाना घूमते हुए लहूकी नदीमें लाल हो उठे ॥ २४ ॥ बड़े ऊँचे रथोंपर चढ़े हुए सैनिक, लहूकी नदीकी अपार धारामें डूबते रहनेपर भी क्रुद्ध होकर ललकारते हुए शत्रुके ऊपर बाण छोड़ रहे थे ॥ २५ ॥ बहुतसे ऐसे वीर भी थे कि शत्रुको करवालसे सिर कट जानेपर जब वे अपने घोड़ोंसे नीचे गिरते थे तो गिरते-गिरते भी अपनी करवालसे शत्रुका सिर काट लिया करते थे ॥ २६ ॥ शस्त्रोंसे कटकर गिरे हुए वीरोंके सिर, क्रोधसे दाँत पीसते हुए शत्रुकी ओर दौड़ रहे थे ॥२७॥ अर्धचन्द्र बाणोंने जो सिर काट दिए थे और जिन्हें बाज ऊपर अपने पंजोंमें उड़ा ले गए उन बड़े-बड़े वीरोंके सिरोंसे सारा आकाश भर उठा ॥२८॥ पैदल और घुड़सवार सैनिकोंने क्रोधसे पागल होकर सामने पड़नेवाले हाथियोंके दाँतोंपर चढ़-चढ़कर हाथी सवार सैनिकोंको भालोंसे छेद डाला ॥ २९ ॥ हाथी-सवारोंके मार डाले जानेपर उनके मनमाने घूमनेवाले हाथी ऐसे लग रहे थे जैसे प्रलयकी आँधीसे पहाड़ इधर-उधर उड़ रहे हों ॥ ३०॥ जब दो हाथी लड़ने-

के लिये भिड़ते थे तो उनपर बैठे हुए योद्धा आपसमें लड़कर बलपूर्वक एक दूसरेको मार डालते थे ॥ ३१ ॥ क्रोधसे परस्पर टक्करें लेनेवाले हाथियोंके दाँतोंकी चोटसे ऐसी आग उठती थी कि शत्रुके शस्त्रोंसे मारे हुए सैनिक अचानक जल उठते थे ॥ ३२ ॥ पैदल सैनिक ऐसे लड़ रहे थे कि यदि उन्हें अत्यन्त क्रुद्ध हाथी अपनी सूँडमें उठाकर उछाल भी देते थे तो वे अपने स्वामीके देखते-देखते उसकी सूँड अपनी करवालसे काट डालते थे ॥३३॥ जिन वीरोंको हाथियोंने उठाकर ऊपर उछाल दिया था, उनके प्राण तो स्वर्गमें चले गए और उन्हें दिव्य गति मिल गई, केवल उनके शरीर पृथ्वीपर आ गिरे ॥ ३४॥ यद्यपि योद्धा लोग अपनी उजली धारवाली करवालोंसे हाथियोंके सूँड ऐसे झटकेसे काट रहे थे कि उनकी करवालें पृथ्वीमें आ धँसती थीं, फिर भी उनका जी नहीं भर रहा था ॥ ३५ ॥ जिन वीरोंने हाथियोंकी सूँडोंसे उछाले जानेपर वीर गति पाई थी, उन स्वर्गमें पहुँचे हुए सैनिकोंको झटपट प्रेमसे अपना प्रेमी बनानेके लिये देवाङ्गनाएँ उतावली हो उठती थीं ॥ ३६ ॥ जब कोई घुड़सवार धनुषधारी सैनिक अपने बाणोंसे किसी हाथी-सवारको बाण मारकर मूर्छित कर देता था तब वह बहुत देरतक इस बाटमें खड़ा रह जाता था कि वह फिर उठे तो उससे युद्ध करें, क्योंकि जो मूर्छित हो जाता था उसे वे नहीं मारते थे ॥ ३७ ॥ एक बिगड़ैल हाथी एक पैदल सैनिकको अपने सूँड़में लपेटना चाहता था, इतनेमें उसने क्या किया कि पहले करवालका एक हाथ जमाकर उसकी सूँड़ काट डाली और फिर उसके दाँत उखाड़नेके लिये उसके लंबे-लंबे दाँतों पर चढ़कर बैठ गया ॥३८॥ एक दूसरा पैदल सैनिक, शत्रुकी सेनामें घुसा और अपनी करवालसे एक हाथीके दोनों दाँतोंको जड़तक काटकर झट अपनी सेनामें लौट आया ॥ ३९ ॥ क्रोधमें भरे हुए हाथीकी सूँड़में कसकर लिपट जानेपर भी एक वीर अपनी तलवारसे हाथीको मारकर जीता जागता निकल आया ॥ ४० ॥ एक घुड़सवार दूसरेकी छातीमें भाला मारकर ऐसा प्रसन्न हुआ कि जब उस घोड़ेसे गिरते हुए सैनिकने उलटकर उसपर जो भाला चलाया तो उसे यह भी पता न चला कि मुझे चोट लगी है ॥ ४१ ॥

मारनेके लिये हाथमें भारी भाला उठाकर घोड़ेकी पीठपर जम-कर बैठा हुआ एक सैनिक शत्रुके भालेसे मारे जानेपर भी ऐसा लग रहा था मानो वह अभी जीता जागता ही हो ॥ ४२ ॥ शस्त्रकी चोटसे जो घुड़सवार पृथ्वीपर मरा पड़ा था, उसका बड़ा सा घोड़ा डब-डबाई हुई आँखों से अपने स्वामीको देखता हुआ वहीं खड़ा रहा, हटा नहीं ॥ ४३ ॥ एक घुड़सवार शत्रुके तीखे भालेका घाव खाकर लड़खड़ाता हुआ भी क्रोधके मारे मूर्छित नहीं होता था और चाहता था कि शत्रु मिले तो उसे अभी मार डालूँ ॥ ४४ ॥ दो घुड़सवार आपसमे एक दूसरेके भालेकी चोट खाकर भूमिमें गिरे हुए भी क्रोधके मारे एक दूसरेके बाल पकड़कर गुत्थम गुत्था होकर छुरीसे लड़ रहे थे ॥४५॥ एक रथवाले योद्धाको दूसरे रथवालेने मार डाला था, फिर भी वह अपने टूटे हुए धनुषको खींचे हुए रथपर मरा हुआ ऐसा जमकर बैठा हुआ था मानो अभी जीता जागता हो ॥ ४६ ॥ एक रथसवार सैनिकने दूसरे रथीको शस्त्रसे मूर्छित करके उस पर वार न करके यह बाट जोहने लगा कि यह सचेत हो तो इससे लड़ा जाय ॥४७॥ दो रथसवार और श्रेष्ठ शस्त्रधारी योद्धा एक दूसरेको मारकर जब स्वर्ग में पहुँचे तब वे दोनों वहाँ एक अप्सराके लिये आपसमें लड़ाई करने लगे ॥ ४८ ॥ अर्द्धचन्द्र बाणों से एक दूसरेका सिर काटकर दो रथी स्वर्गमें जा पहुँचे और वहाँ से वे अपने उन धड़ों का खेल देखते रहे जो बहुत देरतक हाथमें तलवार लिये युद्ध-भूमिमें नाच रहे थे ॥ ४९ ॥

उस युद्धक्षेत्रमें जहाँ-तहाँ नगाड़े बज रहे थे और भूत-प्रेतोंकी स्त्रियाँ गीत गा रही थीं। वहाँ युद्धभूमिमें लहूके कीचड़से इतनी फिसलन हो गई थी कि बाण लिए हुए वीरोंके धड़ बड़ी कठिनाईसे नाच पा रहे थे ॥ ५० ॥ इस प्रकार जब देव-दानवों का युद्ध आरंभ हो गया और लहूकी नदीके तीरपर ही डूबने लगे तब वह देवताओंका शत्रु तारक, क्रोधके मारे भौंहें नचाकर और लाल-लाल आँखे करके युद्ध करनेके लिये तुरंत इन्द्र आदि दिग्पालों के आगे आ डटा ॥५१॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए कुमारसंभव महाकाव्यमें देवताओं और दैत्योंकी सेनाओं के युद्धका वर्णन नामका सोलहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

सत्रहवाँ सर्ग

जिस दैत्यराजके रोम-रोम लड़ाईके चावसे फरफरा रहे थे और जिसने धुआँधार बाण बरसाकर धरती-आकाश सबमें अँधेरा कर दिया था, उसे आता हुआ देखकर सब दिग्पाल, रणमें मतवाले होकर एक साथ उससे लोहा लेनेके लिये आ जुटे ॥१॥ जैसे सावन-भादोंकी घनी घटाएँ लगातार जल बरसाकर बड़े-बड़े पहाड़ोंको नीचेसे ऊपरतक भिगो देती हैं वैसे ही वह देवताओंका शत्रु तारक भी बड़ी डरावनी हँसी हँसता हुआ देवताओंपर भयंकर रूपसे धुआँधार बाण बरसाने लगा ॥ २ ॥ उस रण-क्षेत्रमें इन्द्र आदि दिग्पाल जो तीखे-तीखे बाण छोड़ते थे उन्हें चुन-चुनकर दैत्यराजके बाण वैसी ही फुर्तीसे काटते चले जा रहे थे जैसे बहुतसे गरुड़ मिलकर साँपोंके झुण्डको काटते चले जा रहे हों ॥ ३ ॥ देवताओंने उसपर जो बाणोंकी झड़ी लगाई उसे उसने अपने नाम खुदे हुए, आगके समान जलते हुए तीखे फलवाले और सब दिशाओं और आकाशको पाट देनेवाले बाणोंसे उसी प्रकार तहस-नहस कर डाला जैसे अपने ऊपर छाए हुए घास-फूसको धधकती हुई आग जला डालती है ॥४॥

क्रोधसे लाल उस भयंकर दैत्यराजने उस युद्धको कुछ न समझते हुए जो बाण छोड़े वे तुरंत साँपोंकी भाँति भयंकर बनकर इन्द्र आदि देवताओंके गलोंमें कसकर लिपट गए ॥ ५ ॥ उस दैत्यके बाणोंकी फाँसी गलेमें पड़ जानेपर सब देवताओंकी साँसें घुटने लगीं और वे लड़ना-भिड़ना छोड़-छोड़कर इस विपदासे छुटकारा पानेके लिये कार्त्तिकेयके पास दौड़े ॥ ६ ॥ कार्त्तिकेयने उनकी ओर आँख भर देख ही दिया कि इन्द्र आदि देवताओंके गलेमें कसे हुए घे नाग-फाँसके फन्दे अपने आप खुल गए और तब वे सब देवता उन कार्त्तिकेयके पास जा-जाकर उनकी बड़ाई करने लगे जो

दैत्यों को जीतनेके लिये कमर ही कसे हुए थे ॥७॥ जब उस बड़ी-बड़ी भुजाओंवाले तारकने यह सब देखा तब वह क्रोधसे जल मरा और उसने तुरन्त अपने सारथीको आज्ञा दी कि मैंने जिन इन्द्र आदि बड़े-बड़े देवताओंको फंदेमें बाँध लिया था, वे सब कार्त्तिकेयके देखने भरसे छुटकारा पा गए हैं इसलिये इन सब देवताओंको छोड़कर मैं पहले इसीको गिद्ध सियार आदिकी भेंट करता हूँ। तो तुम झटपट रथ बढ़ाकर उस शंकरजीके पुत्र के पास मुझे पहुँचाओ जिससे मैं भी तो देखूँ कि मुझसे लड़नेके लिये वह अपनी किन भुजाओं के बलपर इतना पैंठ रहा है ॥ ८-९ ॥

तत्काल सारथीने इस वेगसे रथ चलाया कि वह रथ प्रलयके उमड़े हुए बादलों के समान घड़घड़ाता हुआ भयंकर वेगसे चला। वहाँ इतने शत्रु सैनिक कटकर गिरे हुए थे कि उनके माँस, हड्डी और लहूके कीचड़में उस रथके पहिए तक छिप गए ॥ १० ॥ वह रथ चलता हुआ ऐसा लगता था मानो प्रलयकी आँधीमें हिमालय उड़ा चला जा रहा हो। उसके नीचे देवताओंकी सेनाके जो सैनिक पिसे जा रहे थे उनके हाहाकारसे वह और भी भयंकर हो गया था और जब वह रथ देवताओं के एकदम पास आ गया तब तो उसे देखकर देवताओंकी सेनाके प्राण ही सूख गए ॥ ११ ॥

उस देवताओंकी घबड़ाई हुई सेनाको देखते हुए और अपनी बड़ी भारी-भारी भुजाओं में धनुषकी लकड़ी पकड़े हुए तारक, उन कार्त्तिकेयके पास पहुँचा जो ऐसे लगते थे मानो लड़नेके लिये अधीर हो रहे हों। वहाँ पहुँचकर तारकने कार्त्तिकेयजीसे कहा– ॥ १२ ॥ हे तपस्वी शंकरके पुत्र ! तुम अपनी भुजाओं के बलपर मत पैंठो और छोड़ो इन देवताओंका साथ। बताओ कहाँ तो तुम्हारी ये छोटी-छोटी बचकानी कोमल भुजाएँ और कहाँ ये भारी-भारी शस्त्र। ये तुम्हारे हाथमें नहीं जँचते ॥ १३ ॥ तुम पार्वती और शंकरके इकलौते पुत्र होकर मेरे तीखे बाणों से बिधकर क्यों कालके गालमें जाना चाहते हो। जाओ, यहाँसे भागकर अपने प्राण बचाओ और झटसे जाकर अपने माता-पिताकी गोदमें छिप जाओ ॥ १४ ॥ हे कार्त्तिकेय! तुम स्वयं अपना भला-बुरा सोचकर इन्द्रका साथ छोड़कर अलग

हो जाओ क्योंकि जब मैं इसपर बाण बरसाऊँगा, तब पत्थरकी नावके समान यह तो अपने आप गहरे जलमें डूबेगा ही, साथ ही तुम्हें भी ले डुबावेगा ॥ १५ ॥

तारककी ऐसी बातें सुनकर कार्तिकेयके ओठ क्रोधसे काँपने लगे और खिले हुए लाल कमलके समान उनकी भयानक लाल-लाल आँखें क्रोधसे नाच उठीं। बड़े क्रोधसे अपने धनुषकी ओर देखते हुए और अपने बलको समझकर उन्हों ने तारकको यह मुँहतोड़ उत्तर दिया ॥ १६ ॥

हे दैत्यराज! घमंडमें चूर होकर तुमने जो कुछ कहा है वह तुम्हे कहनाही चाहिए था, पर आज मुझे भी तुम्हारी इन बड़ी-बड़ी भुजाओं के बलकी थाह लेनेका मन कर आया है। इसलिये उठाओ अपने शस्त्र और चढ़ाओ अपने धनुषकी डोरी ॥ १७ ॥

यह सुनकर तारकने क्रुद्ध होकर कार्त्तिकेयपर दाँत पीसकर और दाँतों से ओंठ चबाते हुए कहा—यदि तुम्हें युद्धके लिये अपनी इन प्रचण्ड भुजाओंका घमण्ड है तो आओ और शत्रुओं के पीठको चलनी बना देनेवाले मेरे बाणोंकी चोट चखो तो ॥ १८ ॥ जैसे साँप क्रोधसे पागल हो जाता है वैसे ही क्रुद्ध होकर कुमार अपने धनुषपर अपना जीतनेवाला भयङ्कर बाण चढ़ा ही रहे थे, इतनेमें तारकने ऐसी फुर्त्तीके साथ धनुष चढ़ाकर वह बाण रक्खा कि जिसकी ओर देखनेमें भी शत्रु घबराते थे ॥ १९ ॥ अपनी चमकसे आकाशको जगमगा देनेवाले और सब दिशाओंको चमका देनेवाले बाण अपने धनुष पर चढ़ा-चढ़ाकर और धनुषको कानतक तान-तानकर तारक बाण छोड़ने लगा ॥ २० ॥ उसके धनुषसे छूटे हुए चमचमानेवाले अनगिनत बाणोंकी भयंकर सनसनाहट देखकर सब सैनिक काँप उठे, सब देवताओं के आगे अँधेरा छा गया और स्वयं कार्त्तिकेयको भी थोड़ी देरतक कुछ न दिखाई दिया ॥ २१ ॥ तब कार्त्तिकेयजी ने भी पूरे बलके साथ धनुषकी डोरी कानतक खींच-खींचकर अपने तीखे और जीतनेवाले बाण बरसाकर तारकके बाणों के धुर्रे उड़ा दिए ॥ २२ ॥ सब देवताओंको दुःख देनेवाली, तारकके बाणोंकी घटा फट जानेपर शंकरजीके पुत्र कार्त्तिकेयजी अपने घने और अपार

तेजके कारण सूर्यके समान चमकते हुए शोभा देने लगे ॥ २३ ॥ युद्धमें कार्त्तिकेयका ऐसा प्रबल प्रताप बढ़ता हुआ देखकर छल-विद्यासे युद्ध करनेमें चतुर और बलवान तारकने तुरन्त मायाका युद्ध करना आरंभ कर दिया ॥ २४ ॥ जिस विजयी तारकने सारे संसारको मुट्ठीमें कर लिया था उसने जब यह समझ लिया कि और अस्त्र लेकर कुमारके साथ लड़नेमें मैं जीत न पाऊँगा तब उसने बड़े क्रोधके साथ किसीको कुछ न समझाते हुए अन्धड़ चलानेवाला वायव्य नामका बाण अपने धनुषपर चढ़ाया ॥ २५ ॥ उस बाणको धनुषपर चढ़ाते ही ऐसे वेगसे भयंकर घड़घड़ाती हुई आँधी चलने लगी कि लोग यह समझने लगे कि बस प्रलय आ गया। उसकी धूलसे सब आकाश और दिशाएँ भर गईं और प्रचण्ड किरणोंवाले सूर्य भी छिप गए ॥ २६ ॥ देवताओंके सैनिकोंके जो कुन्दके फूलके समान उजले छत्र थे उन्हें उस भयंकर अन्धड़ने ऐसा झकझोरकर उड़ा दिया कि वे धूलसे भरे हुए आकाशमें उड़ते हुए ऐसे दिखाई देने लगे मानो बादल छाये हुए आकाशमें राजहंस उड़े चले जा रहे हों ॥ २७ ॥ उस अन्धड़ने देवताओंकी सेनाकी सब ध्वजाओं और पताकाओंको नये खिले हुए चमेलीके फूलके समान तोड़-फोड़कर आकाशमें उड़ा दिया और वे आकाशमें उड़ती हुई उजले वस्त्रकी पताकाएँ ऐसी दिखाई देती थीं मानो उस अन्धड़ने आकाश-गंगाकी उछलती हुई सहस्रों लहरियाँ आकाशमें फैला दी हों ॥ २८ ॥ इस भयंकर अंधड़के झोंकेमें पड़ी हुई देवसेनाके जो बहुतसे बड़े-बड़े हाथी अपनी भूलें मसलते हुए देखते देखते लड़-खड़ाकर गिरते जा रहे थे वे ऐसे दिखाई पड़ते थे मानो इन्द्रके वज्रसे पंख कट जानेपर बहुतसे पहाड़ पृथ्वीपर लुढ़कते चले जा रहे हों ॥ २९ ॥ उस प्रचण्ड अन्धड़की लपेटमें आकर देव-सेनाके रथोंके अनगिनत घोड़े लड़-खड़ाकर गिरने लगे और सारथी भी इधर-उधर फेंका गए और उनके रथ भी उस युद्ध-भूमिमें इधर-उधर चक्कर लगा लगाकर उलट-उलट-कर गिरने लगे ॥ ३० ॥ उस भयंकर अन्धड़की झकोरें खाकर देव-सेनाके घुड़सवार इतने घबड़ा उठे कि वे अपने अस्त्र-शस्त्र वहीं

देवसेनापर फेंकने लगे और विना किसी शस्त्रसे चोट खाए ही अपने उन घोड़ोंकी पीठसे गिरने लगे जो अन्धड़की झोंकमें लुढ़कते चले जा रहे थे ॥ ३१ ॥ उस वायव्य अस्त्रसे देवसेनाके पैदल सैनिक भी इतने घबरा उठे कि सब अपने-अपने शस्त्र डालकर व्याकुल होकर रोने चिल्लाने लगे और ववण्डरकी भाँति घुमनी खाते हुए दूरतक आकाशमें उड़-उड़कर धरतीपर गिरने लगे ॥ ३२ ॥

दैत्यराज तारकने जो वायव्य अस्त्र चलाया था, उससे देवसेना-को इस प्रकार तहस-नहस होते देखकर स्वर्गकी राज-लक्ष्मीकी नावको चतुराईसे खेनेवाले कार्तिकेयने अपना अनोखा और बड़ा भारी कर-तब दिखाना आरम्भ कर दिया ॥ ३३ ॥ उन्होंने कुछ ऐसा जादू फेरा कि देवसेनापर छाया हुआ अन्धड़ दूर हो गया और सारी सेना हरी-भरी और नई-सी होकर फिर लड़ने लगी। यह देखकर तो तारकके शरीरमें आग लग गई और इस वार उसने अपना सधा हुआ आग वरसानेवाला अग्निवाण चलाया ॥३४॥

उसके चलाते ही बरसातके काले-काले वादलोंके समान और नीले कमलोंके झुण्डके समान काला-काला घना धुआँ चारों ओर ऐसा छा गया कि कहीं कुछ सुझाई नहीं पड़ता था ॥ ३५ ॥ जब उस घने बादलोंके समान काले-काले धुएँसे सारा आकाश भर गया तो राजहंसोंको यह भ्रम हुआ कि वरसात आ गई और वे प्रसन्न होकर मानसरोवरकी ओर चलनेकी तैयारी करने लगे ॥ ३६ ॥ इतनेमें ही देवसेनाके भीतर प्रलय कालकी आगके समान ऐसी भयानक आग भभक उठी कि उसकी लपटोंसे स्वच्छ आकाश और दिशाएँ भी पीली पड़ गईं ॥ ३७ ॥ बिना रुके हुए धधक-धधककर जलती हुई आगकी बड़ी-बड़ी लगातार उठती हुई लपटोंसे ऊपर फैले हुए काले-काले धुएँसे भरा हुआ आकाश ऐसा दिखाई पड़ता था मानो वह ऊँचे-ऊँचे बादलों और बिजलियोंसे भरा हुआ हो ॥ ३८ ॥ सब लोग आकाशमें फैली हुई इस धधकती आगकी झारमें झुलसकर इधर-उधर भागने लगे और बार-बार झुलसी हुई सारी देवसेना बहुत घबराकर फिर कार्त्तिकेयके पास जा पहुँची ॥३९॥ उस भयंकर आगसे झुलसी हुई सारी देवसेनाको देखकर कार्त्तिकेयने हँसते हुए

अपने धनुषपर वह वारुणास्त्र चढ़ाया जिससे पानी बरसता था ॥ ४० ॥ उसके चलाते ही भयंकर अँधेरा करती हुई प्रलयकी आगसे उठे हुए धुएँके समान काली-काली घटाएँ आकाशमें घिर पड़ीं जिसकी गरजसे पहाड़ोंकी चोटियों तकमें दरारें पड़ गईं ॥ ४१ ॥ इन बादलों में से बड़ी भयानक घड़घड़ाहटके साथ भयंकर बिजली तड़पी और उसकी चमकसे सब दिशाएँ पीली पड़ गईं। उस समय वह ऐसी लगती थी मानो प्रलयकालमें कालकी लपलपाती हुई भयंकर जीभ हो ॥ ४२ ॥ अपनी बिजलीकी चमकसे सब दिशाओं में चकाचौंध कर देनेवाली और भयंकर गर्जनसे भरी, अत्यन्त भयंकर प्रलयके बादलोंके समान अत्यन्त काली और जलसे भरी हुई घटाएँ ऊपर आकाशमें इस प्रकार अन्धेरा करके छा गईं कि आँखों से कुछ भी दिखाई नहीं देता था ॥ ४३ ॥

आकाशमें छाई हुई और लगातार गरज-गरजकर और लोगोंका जी कँपाती हुई वे घटाएँ चारों ओर मूसलाधार पानी बरसाने लगीं ॥ ४४ ॥ कार्त्तिकेयके चलाए हुए वारुणास्त्रसे अँधेरागुप करके आकाशको छिपा देनेवाले और अपनी कड़कसे दैत्योंको कँपा देनेवाले बादल छाए थे। उनकी वर्षासे संसारमें फैली हुई सब आग बुझ गई ॥ ४५ ॥ तब तारकने भी क्रोधसे लाल होकर कानतक खींच खींचकर पैने और चमचमाते हुए छुरोंवाले भयंकर बाण बरसाकर देवसेनाको डराकर तितर-बितर कर दिया और कार्त्तिकेयपर भी बड़ा गहरा प्रहार किया ॥ ४६ ॥ कार्त्तिकेयजीने भी तारकके धनुष और बाण एक-एक करके खेल खेलमें ही इस प्रकार काट कर गिरा दिए जैसे योगी लोग यम, नियम आदि साधकर अपने मनकी सब सांसारिक इच्छाएँ मिटा डालते हैं ॥४७॥ यह देखकर दैत्यराज तारकका क्रोध और भी भड़क उठा। अपनी तनी हुई भौंहोंके कारण और भी भयंकर दिखाई देनेवाला वह दैत्य रथ छोड़कर हाथमें लपलपाती हुई भयंकर तलवार लेकर कार्तिकेयपर टूट पड़ा ॥४८॥ जब कार्त्तिकेयने देखा कि ऐसे भयंकर रूपवाला तारक मुझपर झपट रहा है और देवताओं के सैनिकों से हराए नहीं हार रहा है तब उन्होंने हँसकर अपना प्रलयकी अग्निके समान

भयंकर भाला उसपर फेंक कर मारा ॥४९॥ अपनी चमकसे सब दिशाओंको चमकाती हुई वह शक्ति ठीक तारकके हृदयमें जाकर लगी और उसके लगते ही देवताओंकी आँखोंसे हर्षके आँसू और दैत्योंकी आँखोंसे दुःखके आँसू साथ-साथ वह चले ॥५०॥ उस भालेकी चोटसे मरकर गिरा हुआ तारक ऐसा जान पड़ता था मानो प्रलयकी आँधीसे टूटकर गिरी हुई पहाड़की चोटी हो। ज्योंही इन्द्र आदि देवताओंने उस तारक दैत्यको गिरा हुआ देखा कि वे सब हर्षसे उछल पड़े और उनके रोम-रोम फरफरा उठे ॥५१॥ जब वह दैत्यराज तारक प्रलयकालकी आँधीसे टूटकर गिरे हुए पहाड़के समान मरकर गिरा तो उसके भारी बोझसे चँपकर जो पृथ्वी नीचेको धँसी तो नागराज वासुकीने उसे अपने फणोंपर किसी प्रकार सँभाल लिया ॥५२॥ उस समय कार्तिकेयके सिर पर आकाश-गंगाकी जलके फुहारोंसे भरे हुए और गन्धके लोभी भौंरोंसे घिरे हुए कल्प तरुके फूल आकाशसे बरसने लगे ॥५३॥ आनंदके मारे देवताओंके मुँह खिल उठे और वे सुखसे इतने फूल उठे कि उनकी छातियोंपर कसे हुए कवच भी तड़ाक-तड़ाक टूटने लगे। इस प्रकार आनंदमें झूमते हुए इन्द्र आदि सब देवता पास आकर तारकको मारनेवाले कुमारकी भुजाओंके बलकी बड़ाई करने लगे॥५४॥

इस प्रकार विजयी कार्तिकेयने जब तीनों लोकोंके हृदयमें काँटेके समान खटकनेवाले उस तारक राक्षसको मार डाला तब इन्द्र फिर स्वर्गके स्वामी बन गए और उन्हें अपनेमें सबसे श्रेष्ठ समझकर सब देवता लोग अपने-अपने मुकुटकी मणियों सहित अपने सिर इनके चरणोंमें रखकर प्रणाम करने लगे ॥५५॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए कुमार-संभव महाकाव्यमें तारक राक्षसका वध नामका सत्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ।

॥ कुमारसंभव समाप्त हुआ ॥



॥ श्री ॥

मेघदूत

पूर्वमेघ

अलकापुरीमें एक यक्ष कुबेरके यहाँ कुछ काम किया करता था, पर उसका ध्यान दिन-रात अपनी स्त्रीमें ही लगा रहता था। इसी बेसुधीमें एक बार उसने अपने काममें कुछ ऐसी भूल कर दी कि कुबेरने झल्लाकर उसे यह कहकर देश-निकाला दे दिया कि अब एक वर्षतक तू अपनी पत्नीसे नहीं मिलने पायगा। इस शापसे उसका सारा राग-रंग जाता रहा और शापके दिन काटनेके लिये उसने रामगिरिके उन आश्रमोंमें जाकर डेरा डाला जहाँके कुंडों, तालों और बावड़ियोंका जल श्रीजानकीजीके स्नान करनेसे पवित्र हो गया था और जहाँ घनी छायावाले बहुतसे वृक्ष जहाँ-तहाँ लहलहा रहे थे ॥१॥ अपनी पत्नीके बिना जो एक क्षण नहीं रह पाता था, वही यक्ष अपनी पत्नीसे बिछुड़नेपर सूखकर काँटा हो गया। उसके हाथके सोनेके कंगन भी ढीले होकर निकल गए और इसी प्रकार रोते-कलपते उसने कुछ महीने तो उस पहाड़ीपर जैसे-तैसे काट दिए। पर असाढ़के पहले ही दिन वह देखता क्या है कि सामने पहाड़ीकी चोटीसे लिपटा हुआ बादल ऐसा लग रहा है मानो कोई हाथी अपने माथेकी टक्करसे मट्टीके टीलेको ढाहनेका खेल कर रहा हो ॥ २॥ मनमें प्रेम जगानेवाले उन बादलोंको देखकर महाराज कुबेरका

वह सेवक आँसू रोके ज्यौं त्यौं खड़ा हुआ बहुत देरतक सोचता ही रह गया, क्योंकि बादलोंको देखकर जब सुखी लोगोंका मन भी डोल जाता है तब उस वियोगीका तो कहना ही क्या, जो दूर देशमें पड़ा हुआ अपनी प्यारीके गले लगनेके लिये दिन-रात तडप रहा हो ॥ ३ ॥ बादलको देखते ही उसे ध्यान आया कि असाढ़ बीतते ही सावन भी आ जायगा और उस समय मेरी कोमल प्रिया अपनेकों सँभाल न पावेगी । इसलिये उसने सोचा कि अपनी प्रियतमाको ढाढ़स बँधानेके लिये और उसके प्राण बचानेके लिये क्यों न इन बादलोंके हाथ ही अपना कुशल-समाचार भेज दूँ ! यह ध्यान आते ही वह मगन हो उठा । उसने झट कुटजके खिले हुए फूल उतारकर पहले तो मेघकी पूजा की और फिर कुशल-मंगल पूछकर उसका स्वागत किया ॥४॥ भला बताइए, कहाँ तो धुएँ, अग्नि, जल और वायुके मेलसे बना हुआ बादल, और कहाँ सदेसेकी वे बातेँ, जिन्हें बडे चतुर लोग ही ला-पहुँचा सकते हैं। पर यक्षको अपने तन-मनकी तो सुध थी ही नहीं, फिर भला उसका ध्यान यहाँतक पहुँच कैसे पाता ! इसीलिये वह यक्ष अपना सँदेसा भेजनेके लिये बादलके आगे गिड़-गिड़ाने लगा। सच है, प्रेमियोंको यह जाननेकी सुध ही कहाँ रहती है कि कौन जड़ है और कौन चेतन ॥ ५ ॥ बादलकी बडाई करते हुए यक्ष कहने लगा – हे मेघ ! संसारमें पुष्कर और आवर्त्तक नामके जो बादलोंके दो प्रसिद्ध और ऊँचे कुल हैं, उन्हींमें तुमने जन्म लिया है । मैं यह भी जानता हूँ कि तुम इन्द्रके दूत हो और जैसा चाहो वैसा अपना रूप भी बना सकते हो, इसीलिये, अपनी प्यारीसे इतनी दूर लाकर पटका हुआ मैं अभागा, तुम्हारे ही आगे हाथ पसार रहा हूँ, क्योंकि गुणीके आगे हाथ फैलाकर रीते हाथ लौट आना अच्छा है, पर नीचसे मनचाहा फल पा जाना भी अच्छा नहीं ॥६॥ अकेले तुम्हीं तो संसारके तपे हुए प्राणियोंको ठंढक देनेवाले हो, इसलिये हे मेघ ! कुबेरके क्रोधसे निकाले हुए और अपनी प्यारीसे दूर पटके हुए मुझ बिछोहीका सँदेसा भी तुम्हीं मेरी प्यारीके पास पहुँचा आओ। देखो ! यह सँदेसा लेकर तुम्हें बडे ठाठ-बाटसे रहनेवाले यक्षोंकी अलका नामकी उस बस्तीको जाना होगा, जहाँके भवनोंमें, बस्तीके बाहरवाले

उद्यानमें बनी हुई शिवजीकी मूर्तिके सिरपर जड़ी हुई चन्द्रिकासे सदा उजाला रहा करता है ॥ ७ ॥ जब तुम वायुपर पैर रखकर ऊपर चढ़ोगे तब परदेसियोंकी स्त्रियाँ अपने बाल ऊपर उठाकर बड़े भरोसेसे ढाढ़स पाकर तुम्हारी ओर एकटक देखेंगी, क्योंकि मुझ जैसे पराधीनको छोडकर और कौन ऐसा निर्दयी होगा जो तुम्हें उमड़ा हुआ देखकर भी बिछोहमें तडपनेवाली अपनी पत्नीसे मिलनेको उतावला न हो उठे ॥८॥ हे मेघ ! ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ तुम्हारी पहुँच न हो, इसलिये तुम अपनी उस पतिव्रता भाभीको अवश्य ही पा जाओगे जो बैठी मेरे लौटनेके दिन गिन रही होगी। क्योंकि देखो, प्रेमियोंका फूल जैसा कोमल हृदय, बस मिलनेकी आशापर ही अटका रहता है। इसलिये स्त्रियोंके जो हृदय अपने प्रेमियोंसे बिछुड़नेपर एक क्षण नहीं टिके रह सकते, वे इसी आशाके भरोसे उन स्त्रियोंको जिलाए रखते हैं ॥९॥ देखो ! सगुन भी सब अच्छे हो रहे हैं। तुम्हारा साथी वायु धीरे-धीरे तुम्हें आगे बढा रहा है। इधर अपनी आनका पक्का यह चातक भी बाईं ओर अपनी मीठी बोली बोल रहा है। अभी थोड़ी ही देरमें तुम्हारा यह आँखोंको सुहानेवाला रूप देखकर बगुलियाँ भी समझ लेंगी कि हमारे गर्भ धारण करनेका समय आ गया है और वे पाँत बाँध-बाँधकर अपने पंखोंसे तुम्हें पखा झलनेके लिये अवश्य ही आकाशमें उडकर अभी आती होंगी ॥ १० ॥ तुम्हारे जिस गर्जनसे कुकुरमुत्ते निकल आते हैं और धरती उपजाऊ हो जाती है, वही कानोंको भला लगनेवाला तुम्हारा गरजना सुनकर, मानसरोवर जानेको उतावले राजहस अपनी चोंचोंमें कमलकी अगली डंठल लिए हुए कैलास पर्वततक तुम्हारे साथ-साथ आकाशमें उडते हुए जायेंगे ॥११॥ हे मेघ ! जिस पहाड़पर तुम लिपटे हुए हो, इसकी ढालोंपर भगवान रामचन्द्रजीके उन पैरोंकी छाप, जहाँ-तहाँ पडी है, जिन्हें सारा ससार पूजता है, और जब-जब तुम इससे मिलने आते हो, तब-तब यह भी बहुत दिनोंपर मिलनेके कारण तुम्हारे साथ अपने गरम-गरम आँसू बहाकर अपना प्रेम प्रकट करता है। इसलिये अपने इस प्यारे मित्र पहाडकी चोटीसे जी भर गले मिलकर इससे विदा ले लो ॥ १२ ॥ अच्छा, पहले मैं तुम्हें वह मार्ग समझा दूं, जिधरसे जानेमें तुम्हें कोई

कष्ट नहीं होगा। मार्ग समझा देनेपर मैं अपना प्यारा सँदेसा भी बता दूँगा। देखो! मार्गमें चलते हुए जब कभी थकने लगो, तो मार्गमें पड़ती हुई पर्वतकी चोटियोंपर ठहरते जाना, और जब-जब तुम पानीकी कमीसे दुबले पड़ने लगो तब-तब झरनोंका हल्का-हल्का जल पीते हुए जाना ॥१३॥ लहलही बेंतोंसे लदी हुई इस पहाड़ीसे जब तुम ऊपर उड़ोगे तब तुम्हारा उड़ना देखकर सिद्धोंकी भोली-भाली स्त्रियाँ आँखें फाड़-फाड़कर तुम्हारी ओर देखती हुई सोचेंगी कि कहीं पहाड़की चोटीको पवन तो नहीं उडाए लिए चला जा रहा है? इस प्रकार ठाटसे उड़ते हुए तुम दिग्गजोंकी मोटी सूँड़ोंकी फटकारोंको ढकेलते हुए उत्तरकी ओर घूम जाना ॥१४॥ देखो! यहाँ सामने बाँबीके ऊपर उठा हुआ इन्द्र-धनुषका एक टुकड़ा ऐसा सुन्दर दिखाई पड़ रहा है मानो बहुतसे रत्नोंकी चमक, एक साथ यहाँ लाकर इकट्ठी कर दी गई हो। इस इन्द्र-धनुषसे सजा हुआ तुम्हारा साँवला शरीर ऐसा सुन्दर लगने लगा है जैसे मोर-मुकुट पहनेहुए ग्वालेका वेश बनाए हुए श्रीकृष्णजी आकर खड़े हो गए हों ॥१५॥ देखो! खेतीका होना न होना भी सब तुम्हारे ही भरोसे है, इसलिये किसानोंकी वे भोली-भाली स्त्रियाँ भी तुम्हें बड़े प्रेम और आदरसे देखेंगी, जिन्हें भौं चलाकर रिझाना नहीं आता है। वहाँ तुम, माल देशके उन खेतोंपर बरस जाना जहाँ अभी जोते जानेके कारण सोंधी-सोंधी सुगन्ध निकल रही होगी। वहाँसे थोड़ा पच्छिमकी ओर घूमकर फिर झटपट उत्तरकी ओर बढ जाना ॥ १६ ॥ जब तुम मूसलाधार पानी बरसाकर आम्रकूट पहाडके जंगलोंकी आग बुझाओगे तो वह तुम्हारा उपकार मानकर और तुम्हें थका समझकर, बडे प्रेमसे तुम्हें मित्र बनाकर अपनी चोटीपर आदरके साथ ठहरावेगा, क्योंकि जब दरिद्र लोग भी आए हुए मित्रके उपकारका ध्यान करके उसका सत्कार करनेमें नहीं चूकते तब आम्रकूट जैसे ऊँचोंका तो कहना ही क्या ॥१७॥ देखो! पके हुए फलोंसे लदे आमके वृक्षोंसे घिरा हुआ आम्रकूट पर्वत पीला-सा हो गया होगा। उसकी चोटीपर जब तुम कोमल बालोंके जूडेके समान साँवला रंग लेकर चढोगे, तब वह पर्वत, देवताओंके दम्पतियोंको दूरसे ऐसा दिखाई देगा मानो वह पृथ्वीका उठा हुआ ऐसा स्तन हो, जिसके बीचमें काला हो और चारो ओर पीला

हो ॥१८॥ हे मेघ! जब तुम थककर आम्रकूट पर्वतपर पहुँचोगे, तब वह प्रशंसनीय आम्रकूट पर्वत तुम्हें अपनी ऊँची चोटीपर ठहरावेगा और तुम भी जल बरसाकर उसके जंगलोंमें लगी हुई गर्मीकी आग बुझा देना। क्योंकि यदि सच्चे मनसे बड़ोंपर उपकार किया जाय तो वे अपने ऊपर भलाई करनेवालेका आदर करनेमें देर नहीं लगाते ॥१९॥ उस आम्रकूटके जिन कुञ्जोंमें जंगली स्त्रियाँ घूमा करती हैं, वहाँ थोड़ी ही देर ठहरना और फिर डग बढ़ाकर चल देना, क्योंकि जल बरसा देनेसे तुम्हारी देहका भारीपन भी दूर हो जायगा और तुम्हारी चाल भी बढ़ जायगी। वहाँसे आगे चलनेपर तुम्हें विन्ध्याचलके ऊबड़-खाबड़ पठारपर बहुत-सी धाराओंमें फैली हुई रेवा नदी मिलेगी, जो तुम्हें ऊपरसे ऐसी दिखाई देगी मानो किसीने बड़ेसे हाथीका शरीर भभूतसे चीत दिया हो ॥ २० ॥ देखो! वहाँ जल बरसा चुको, तो जंगली हाथियोंके सुगन्धित मदमें बसा हुआ और जामुनकी कुञ्जोंमें बहता हुआ रेवाका जल पीकर तब आगे बढना। जल पीकर जब तुम भारी हो जाओगे तो वायु तुम्हें इधर-उधर झुला नहीं सकेगा। देखो! जिसके हाथ रीते होते हैं उसीको सब दुरदुराते हैं, और जो भरा-पूरा होता है, उसका सभी आदर करते हैं ॥२१॥ देखो! जिस समय तुम जल बरसाते चले जा रहे होगे उस समय अधपके हरे-पीले कदम्बके फूलोंपर मँडराते हुए भौंरें, दल-दलोंमें नई फूली हुई कन्दलीकी पत्तियोंको चरते हुए हरिण और जगली धरतीकी तीखी गन्ध सूँघते हुए हाथी, तुम्हें मार्ग बताते चलेंगे ॥२२॥ ऊपर ही ऊपर बूँदें घूँटते हुए चातकोंको देखनेवाले, और पाँत बाँधकर उडती हुई बगलियोंको एक-एक करके गिननेवाले सिद्धोंकी प्यारी स्त्रियाँ जब तुम्हारा गर्जन सुनकर झटसे घबराकर उनके गले लग जायँगी, तब वे सिद्ध लोग तुम्हारा बडा भला मनावेंगे ॥ २३ ॥ मित्र! यह तो मैं जानता हूँ कि तुम मेरे कामके लिये बिना रुके झटपट जाना चाहोगे, फिर भी मैं समझता हूँ कि कुटजके फूलोंसे लदे हुए उन सुगन्धित पहाडोंपर तुम्हें ठहरते ही जाना होगा, जहाँके मोर, नेत्रोंमें आनन्दके आँसू भरकर अपनी कूकसे तुम्हारा स्वागत कर रहे होंगे। पर मुझे आशा है कि तुम वहाँसे जैसे भी होगा झटपट चल

दोगे ॥२४॥ हे मेघ! जब तुम दशार्ण देशके पास पहुँचोगे तब वहाँके फूले हुए उपवनोंके बाड़, फूले हुए केवड़ोंके कारण उजले दिखाई देंगे, गाँवके मन्दिर, कौओं आदि पक्षियोंके घोंसलोंसे भरे मिलेंगे, वहाँके जंगल, पकी हुई काली जामुनोंसे लदे मिलेंगे और हंस भी वहाँ पर कुछ दिनोंके लिये आ बसे होंगे ॥ २५ ॥ दशार्ण देशकी विदिशा नामकी प्रसिद्ध राजधानीमें पहुँचते ही तुम्हें विलासकी सब सामग्री मिल जायगी। क्योंकि जब तुम वहाँकी सुहावनी, मनभावनी और नाचती हुई लहरोंवाली वेत्रवती नदीके तीरपर गर्जन करके उसका मीठा जल पीओगे तब तुम्हें ऐसा लगेगा मानो तुम किसी कटीली भौंहोंवाली कामिनीके ओठोंका रस पी रहे हो ॥ २६ ॥ वहाँ पहुँचकर तुम 'नीच'नामकी पहाड़ीपर थकावट मिटाने के लिये उतर जाना। वहाँपर फूले हुए कदबके वृक्षोंको देखकर ऐसा जान पड़ेगा मानो तुमसे भेंट करनेके कारण उनके रोम-रोम फरफरा उठे हों। उसी पहाड़ीकी गुफाओंमेंसे उन सुगधित पदार्थोंकी गध निकल रही होगी जो वहाँके छैले, वेश्याओंके साथ रति करनेके समय काममें लाते हैं। इससे तुम्हें यह भी पता चल जायगा कि वहाँके नागरिक कितनी खुल्लम खुल्ला जवानीका रस लेते हैं ॥२७॥ वहाँ थकावट मिटाकर, तुम जगली नदियोंके तीरोंपर उपवनोंमें खिली हुई जूहीकी कलियोंको अपने जलकी फुहारोंसे सींचते हुए और वहाँकी फूल उतारनेवाली उन मालिनोंके मुँहपर छाया करके थोडी-सी जान पहचान बढाते हुए आगे बढ़ जाना, जिनके कानोंमें लटके हुए कमलकी पखडियोंके कनफूल उनके गालोंपर बहते हुए पसीनेसे लग लगकर मैले हो गए होंगे ॥ २८ ॥ उत्तरकी ओर जानेमें यद्यपि उज्जयनीवाला मार्ग कुछ टेढा पडेगा, फिर भी तुम उस नगरके राज-भवनोंको देखना न भूलना। तुम्हारी बिजलीकी चमकसे डरकर वहाँकी स्त्रियाँ जो चचल चितवन चलावेंगी उनपर यदि तुम न रीझे, तो समझ लो कि तुम्हारा जन्म अकारथ ही हुआ ॥२९॥ उज्जयिनीकी ओर जाते हुए तुम उतरकर उस निर्विन्ध्या नदीका भी रस ले लेना जिसकी उछलती हुई लहरोंपर पक्षियोंकी चहचहाती हुई पाँतें ही करधनी-सी दिखाई देंगी और जो इस सुन्दर ढगसे रुक-

रुककर बह रही होगी कि उसमें पड़ी हुई भँवर तुम्हें उसकी नाभि जैसी दिखाई देगी, क्योंकि स्त्रियाँ चटक-मटक दिखाकर ही अपने प्रेमियोंको अपने प्रेमकी बात कह देती हैं ॥ ३० ॥ देखो ! निर्विन्ध्या नदीकी धारा तुम्हारे बिछोहमें चोटीके समान पतली हो गई होगी और तीरके वृक्षोंके पीले पत्ते झड-झडकर गिरनेसे उसका रग भी पीला पड़ गया होगा। इस प्रकार, हे बड़भागी मेघ ! अपनी यह वियोगकी दशा दिखाकर वह यही बता रही होगी कि मैं तुम्हारे वियोगमें सूखी जा रही हूँ। देखो ! तुम ऐसा उपाय करना कि उस बेचारीका दुबलापन दूर हो जाय अर्थात् जल बरसाकर उसे भर देना ॥३१॥ अवन्ति देशमें पहुँचकर तुम धन-धान्यसे भरी हुई उस विशाला नगरीकी ओर चले जाना जिसकी चर्चा मैं पहले ही कर चुका हूँ और जहाँ गाँवके बड़े-बूढ़े लोग, महाराजा उदयनकी कथा भली-प्रकार जानते-बूझते हैं। वह नगरी ऐसी लगती है मानो स्वर्गमें अपने पुण्योंका फल भोगनेवाले पुण्यात्मा लोग, पुण्य समाप्त होनेसे पहले ही, अपने बचे हुए पुण्यके बदले, स्वर्गका एक चमकीला भाग लेकर उसे अपने साथ धरतीपर उतार लाए हों ॥ ३२ ॥ उस नगरीमें, मतवाले सारसोंकी मीठी बोलीको दूर-दूरतक फैलाता हुआ, तड़के खिले हुए कमलोंकी गन्धमें बसा हुआ और शरीरको सुहानेवाला शिप्राका वायु, स्त्रियोंकी संभोगकी थकावटको उसी प्रकार दूर कर रहा है जैसे चतुर प्रेमी, मीठी-मीठी बातें बनाकर, फुलेल सुँघाकर और पंखा झलकर सभोगसे थकी हुई अपनी प्यारीकी थकावट दूर कर देता है ॥३३॥ उज्जयिनीकी हाटोंमें तुम्हें कहीं तो करोडों मोतियोंकी ऐसी मालाएँ सजी हुई दिखाई देंगी जिनके बीच-बीचमें बडे-बडे रत्न गुँथे हुए होंगे, कहीं करोडों शख और सीपियाँ रक्खी हुई होंगी और कहीं पर नई घासके समान नीले और चमकीले नीलम बिछे दिखाई देंगे। उन्हें देखकर यही जान पडेगा कि सब रत्न तो यहाँ निकालकर ला रक्खे हैं और समुद्रमें केवल पानी ही पानी बचा रह गया है ॥ ३४ ॥ वहाँके जानकार लोग, यह कथा सुना-सुनाकर बाहरसे आए हुए अपने सबन्धियोंका मन बहला रहे होंगे कि यहाँपर वत्स देशके राजा उदयनने उज्जयिनीके महाराज प्रद्योतकी प्यारी कन्या वासवदत्ताको

हरा था, यहीं उनका बनाया हुआ ताडके पेड़ोंका सुनहरा उपवन था और यहीं पर मदमें भरा हुआ नलगिरि नामका हाथी, खूँटा उपाडकर इधर-उधर पागल होकर घूमता-फिरता था ॥ ३५॥ वहाँकी स्त्रियोंके बालोंको सुगंधित करके, अगरकी धूपका जो धुआँ झरोखोंसे निकलता होगा उससे तुम्हारा शरीर बढेगा और तुम्हें अपना सगा समझकर, वहाँके पालतू मोर भी नाच-नाचकर तुम्हारा सत्कार करेंगे। तब तुम फूलोंकी गन्धसे महकते हुए वहाँके उन भवनोंकी सजावट देखकर अपनी थकावट दूर कर लेना जिनमें सुन्दरियोंके चरणोंमें लगी हुई महावरसे लाल-लाल पैरोंकी छाप बनी हुई होंगी ॥३६॥ वहाँसे तुम तीनों लोकोंके स्वामी और चंडीके पति महाकालके पवित्र मन्दिरकी ओर चले जाना। वहाँ शिवजीके गण, तुम्हें अपने स्वामी शिवजीके कंठके समान ही नीला देखकर, तुम्हें बडे आदरसे निहारेंगे। वहाँ जल-विहार करनेवाली युवतियोंके स्नान करनेसे महकती हुई और कमलकी गधमें बसी हुई गंधवती नदीकी ओरसे आनेवाला पवन, इस मन्दिरके उपवनको बार बार झुला रहा होगा ॥३७॥ हे मेघ ! यदि तुम महाकालके मन्दिरमें साँझ होनेसे पहले पहुँच जाओ तो वहाँ तबतक ठहर जाना जबतक सूर्य भली प्रकार आँखोंसे ओझल न हो जाय और जब महादेवजीकी साँझकी सुहावनी आरती होने लगे तब तुम भी अपने गर्जनका नगाडा बजाने लगना। तुम्हें अपने मंद गभीर गर्जनका पूरा-पूरा फल मिल जायगा ॥ ३८ ॥ सन्ध्याको नाचमें पैर चलाते हुए जिन वेश्याओंकी करधनीके घुँघरू बडे मीठे-मीठे बज रहे होंगे और जिनके हाथ, कंगनके नगोंकी चमकसे दमकते हुए डडोंवाले चँवर डुलाते डुलाते थक गए होंगे, उन वेश्याओंके नख-क्षतोंपर जब तुम्हारी ठढी-ठंढी बूँदें पडेंगी तब वे बडे प्रेमसे अपनी बडी-बड़ी, भौंरोंकी पाँतोंके समान चितवन तुमपर डालेंगी ॥३९॥ साँझकी पूजा हो चुकनेपर जब महाकाल ताण्डव नृत्य करने लगेँ, उस समय तुम साँझकी ललाई लेकर उन वृक्षोंपर छा जाना जो उनके ऊँचे उठे हुए बाँह जैसे खडे होंगे। ऐसा करनेसे शिवजीके मनमें जो हाथीकी खाल ओढनेकी इच्छा होगी वह भी पूरी हो जायगी। यह देखकर पहले तो पार्वतीजी डर जायँगी कि यह हाथीकी खाल

आ कहाँसे गईं, पर फिर तुम्हें पहचानकर उनका डर दूर हो जायगा और वे एकटक होकर शिवजीमें तुम्हारी इतनी भक्ति देखती रह जायँगी ॥४०॥ वहाँपर जो स्त्रियाँ अपने प्यारोंसे मिलनेके लिये ऐसी घनी अँधेरी रातमें निकली होंगी, उन्हें जब सड़कोंपर अँधेरेके मारे कुछ भी न सूझता होगा, तब तुम कसौटीमें सोनेके समान दमकनेवाली अपनी बिजली चमकाकर उन्हें ठीक ठीक मार्ग दिखा देना। पर देखो! तुम गरजना-बरसना मत! नहीं तो वे घबरा उठेंगी ॥ ४१ ॥ बहुत देरतक चमकते-चमकते थकी हुई अपनी प्यारी बिजलीको लेकर तुम किसी ऐसे मकानके छज्जेपर रात बिता देना जिसमें कबूतर सोए हुए हों, और फिर दिन निकलते ही वहाँसे चल देना, क्योंकि जो अपने मित्रोंका काम करनेका बीड़ा उठाता है, वह अलसेट नहीं किया करता ॥४२॥ देखो! उस समय बहुतसे प्रेमी लोग अपनी उन प्यारियोंके आँसू पोंछ रहे होंगे जिन्हें रातको अकेली छोड़कर वे कहीं दूसरी ठौरपर रमे होंगे। इसलिये उस समय तुम सूर्यको भी मत ढकना क्योंकि वे भी उस समय अपनी प्यारी कमलिनीके मुख-कमलपर पड़ी हुई ओसकी बूँदें पोंछनेके लिये आ गए होंगे। तुम उनके हाथ न रोक बैठना, नहीं तो वे बुरा मान जायँगे ॥४३॥ हे मेघ! तुम्हारे सहज-सलोने शरीरकी परछाईं, गभीरा नदीके उस जलमें अवश्य दिखाई देगी, जो चित्त जैसा निर्मल है। उसमें किलोलें करती हुई कुमुदके समान उजली मछलियोंको देखकर तुम यही समझना कि वह नदी तुम्हारी ओर अपनी प्रेम-भरी चचल चितवन चला रही है। कहीं तुम अपनी रुखाईसे उसके प्रेमका निरादर न कर बैठना ॥४४॥ जब तुम गभीरा नदीका जल पी लोगे तो उसका जल कम हो जायगा और उसके दोनों तट नीचेतक दिखाई देने लगेंगे। उस समय जलमें झुकी हुई बेंतकी लताओंको देखनेसे ऐसा जान पड़ेगा मानो गभीरा नदी, अपने तटके नितम्बोंपरसे अपने जलके वस्त्र खिसक जानेपर, लज्जासे अपनी बेंतकी लताओंके हाथोंसे अपने जलका वस्त्र थामे हुए है। यह सब देखकर भैया मेघ! उसपर झुके हुए तुम, वहाँसे जा न पाओगे, क्योंकि जवानीका रस ले चुकनेवाला ऐसा कौन रँगीला होगा जो कामिनीकी खुली हुई जाँघोंको देखकर उसका रस लिए

बिना ही वहाँसे चल दे ॥ ४५ ॥ वहाँसे चलकर जब तुम देवगिरि पहाड़की ओर जाओगे तब वहाँ धीरे-धीरे बहता हुआ वह शीतल पवन तुम्हारी सेवा करेगा जिसमें तुम्हारे बरसाए हुए जलसे आनन्दकी साँस लेती हुई धरतीकी गंध भरी रहेगी, जिसे चिग्घाड़ते हुए हाथी अपनी सूँड़ोंसे पी रहे होंगे और जिसके चलनेसे वनके गूलर पकने लग गए होंगे ॥ ४६ ॥ उसी देवगिरि पर्वतपर स्कन्द भगवान् भी सदा निवास करते हैं। इसलिये वहाँ पहुँचकर तुम फूल बरसानेवाले बादल बनकर उनपर आकाश गंगाके जलसे भीगे हुए फूल बरसाकर उन्हें स्नान-करा देना। देखो ! स्कन्द भगवान्को तुम ऐसा-वैसा देवता न समझना। इन्द्रकी सेनाओंको बचानेके लिये शिवजीने सूर्यसे भी बढ़कर जलता हुआ अपना जो तेज अग्निमें डालकर इकट्ठा किया था, उसी तेजसे स्कन्दका जन्म हुआ है ॥ ४७ ॥ वहाँ पहुँचनेपर तुम अपनी गरजसे पर्वतकी गुफाओंको गुँजा देना। उसे सुनकर स्वामी कार्त्तिकेयका वह मोर नाच उठेगा जिसके नेत्रोंके कोने, शिवजीके सिरपर धरे हुए चन्द्रमाकी चमकसे दमकते रहते हैं। उस मोर के झड़े हुए उन पखोंसे चमकीली किरणें निकल रही होंगी, जिन्हें पार्वतीजी, पुत्रपर प्रेम दिखलानेके लिये, अपने उन कानों-पर सजा लेती हैं, जिनपर वे कमलकी पंखड़ी सजाया करती थीं ॥४८॥ स्कन्द भगवान्की पूजा करके जब तुम आगे बढ़ोगे तो हाथोंमें वीणा लिए हुए अपनी स्त्रियोंके साथ वे सिद्ध लोग तुम्हें मिलेंगे जो अपनी वीणा भीगकर बिगड़ जानेके डरसे तुमसे दूर ही दूर रहेंगे। तब तुम कुछ दूर जाकर उस चर्मण्वती नदीका आदर करनेके लिये नीचे उतर जाना जो राजा रन्तिदेवके गवालंभ यज्ञ करनेकी कीर्त्तिके समान धरतीपर बह रही है ॥ ४९ ॥ हे मेघ ! जब तुम विष्णु भगवानका साँवला रूप चुराकर चर्मण्वतीका जल पीनेके लिये झुकोगे, उस समय आकाशमें विचरनेवाले सिद्ध, गन्धर्व आदिको, दूरसे पतली दिखाई देनेवाली उस नदीकी चौड़ी धाराके बीचमें तुम ऐसे दिखाई दोगे मानो पृथ्वीके गलेमें पड़े हुए एकलड़े हारके बीचमें एक बड़ी मोटी-सी इन्द्रनीलमणि पोह दी गई हो ॥ ५० ॥ चर्मण्वती नदी पार करके तुम दशपुरकी ओर बढ़ जाना और

अपना रूप दिखाकर वहाँकी उन रमणियोंको रिझाना, जो कटीली भौंहें चलानेमें बड़ी चतुर हैं। जब तुम्हें देखनेके लिये वे अपनी पलकें ऊपर उठावेंगी तब उनकी चमकीली काली-काली भौंहें ऐसी जान पड़ेंगी मानो उन्होंने कुन्दके फूलोंपर मँड़रानेवाली भौंरोंकी चमक चुरा ली हो ॥ ५१ ॥ वहाँसे चलकर ब्रह्मावर्त्त देशपर छाया करते हुए तुम उस कुरुक्षेत्रपर चले जाना जो कौरवों और पाण्डवोंकी घरेलू लड़ाईके कारण आजतक बदनाम है और जहाँ गाण्डीवधारी अर्जुनने अपने शत्रु राजाओंके मुखोंपर उसी प्रकार अनगिनत बाण बरसाए थे जैसे कमलोंपर तुम अपनी जलधारा बरसाते हो ॥५२॥ देखो ! कौरव और पाण्डव दोनोंपर एक-सा प्रेम करनेवाले जो बलरामजी, महाभारतके युद्धमें किसीकी ओरसे भी नहीं लड़े, वे अपनी प्यारी रेवतीके नेत्रोंकी छाया पड़ी हुई प्यारी मदिराको छोड़कर जिस सरस्वती नदीका जल पीते थे, वही जल यदि तुम भी पी लोगे तो बाहरसे काले होनेपर भी तुम्हारा मन उजला हो जायगा ॥ ५३ ॥ कुरुक्षेत्रसे चलकर तुम कनखल पहुँच जाना। वहाँ तुम्हें हिमालयकी घाटियोंसे उतरी हुई वे गंगाजी मिलेंगी, जिन्होंने सीढ़ी बनकर सगरके पुत्रोंको स्वर्ग पहुँचा दिया और जिनकी उजली फेन ऐसी लगती है मानो वे इस फेनकी हँसीसे खिल्ली उड़ाती हुई उन पार्वतीजीका निरादर कर रही हों जो सौतिया डाहसे गंगाजीपर भौंहें तरेरती हों, और इतना ही नहीं वरन् वे अपनी लहरोंके हाथ चन्द्रमापर टेककर शिवजीके केश पकड़कर पार्वतीजीको यह बता रही हों कि तुमसे बढ़कर शिवजी मेरी मुट्ठीमें हैं ॥ ५४ ॥ यदि वहाँ पहुँचकर तुम दिग्गजोंके समान अपना पिछला भाग ऊपर उठाकर और आगेका भाग झुकाकर, गंगाजीका स्फटिकके समान उजला जल तिरछे होकर पीना चाहोगे, तब तुम्हारी चलती हुई छाया, गंगाजीकी धारामें पड़कर ऐसी सुन्दर लगेगी मानो प्रयाग पहुँचनेके पहले ही गंगाजीसे यमुनाजी मिल गई हों ॥५५॥ वहाँसे चलकर जब तुम हिमालयकी उस हिमसे ढकी चोटीपर बैठकर थकावट मिटाओगे, जहाँसे गंगाजी निकली हैं और जिसकी शिलाएँ कस्तूरी हरिणोंके सदा बैठनेसे महकती रहती हैं, उस समय उस चोटी-

पर बैठे हुए तुम वैसे ही दिखलाई दोगे जैसे महादेवजीके उजले साँड़के सींगोंपर मट्टीके टीलोंपर टक्कर मारनेसे कीचड़ जम गया हो ॥५६॥ हे मेघ! अंधड़ चलनेपर देवदारके वृक्षों के आपसमें रगडनेसे जब जंगलमें आग लग जाय और उसके उड़ते हुए अंगारे, सुरागायों के लंबे-लंबे रोएँ जलाने लगें, तब तुम धुआँधार पानी बरसाकर उसे बुझा देना क्यों कि भले लोगों के पास जो कुछ भी होता है वह दीन दुखियों-का दुःख मिटानेके लिये ही तो होता है ॥ ५७ ॥ देखो! हिमालय-पर जब शरभ नामके हरिण तुम्हारे दूर होनेपर भी तुमपर बिगड़कर उछलनेके लिये मचलें और अपने हाथ-पैर तुड़वानेके लिये तुमपर सींग चलानेको झपटें, तब तुम उनके ऊपर धुआँधार ओले बरसाकर उन्हें तितर-बितरकर देना। क्यों कि जो बेकामका काम करने लगते हैं, उनको ऐसे ही ठीक करना चाहिए ॥ ५८ ॥ वहीं हिमालय पर्वतकी एक शिलापर तुम्हें शिवजीके पैरकी छाप बनी हुई मिलेगी जिसपर सिद्ध लोग बराबर पूजा चढाते हैं। तुम भी भक्ति-भावसे झुककर उसकी प्रदक्षिणा कर लेना क्योंकि श्रद्धा भरे लोगोंका पाप उसके दर्शनसे ही धुल जाता है और वे शरीर त्याग करनेपर सदाके लिये शिवजीके गण हो जाते हैं ॥५९॥ हे मेघ! वहाँके पोले बाँसोंमें जब वायु भरने लगता है तब उनमेंसे मीठे मीठे स्वर निकलने लगते हैं और किन्नरोंकी स्त्रियाँ भी स्वर मिलाकर त्रिपुर-विजयका गीत गाने लगती हैं। उस समय यदि तुम भी गरजकर पहाडकी खोहोंको गुँजाकर मृदंगके समान शब्द कर दोगे तो शिवजीके संगीतके सब अंग पूरे हो जायँगे ॥६०॥ हिमालय पर्वतके आस-पास जितने सुहावने स्थान हैं, उन सबको देखकर तुम उस क्रौञ्चरध्रमेंसे होते हुए उत्तरकी ओर जाना जिसमें से होकर हंस, मानसरोवरकी ओर जाते हैं और जिसे परशुराम-जी, अपने बाणसे छेदकर अपना नाम अमर कर गए हैं। उस सँकरे मार्गमें तुम वैसे ही लंबे और तिरछे होकर जाना जैसे बलिको छलनेके समय भगवान विष्णुका साँवला चरण हो गया था ॥ ६१ ॥ वहाँसे ऊपर उठकर तुम उस कैलास पर्वतपर पहुँच जाओगे जिसकी चोटियों के जोड़ जोड़ रावणके बाहुओं ने हिला डाले थे, जिसमें देवताओंकी स्त्रियाँ अपना मुँह देखा करती हैं और जिसकी कुमुद-

जैसी उजली चोटियाँ आकाशमें इस प्रकार फैली हुई हैं मानो वह दिन-दिन इकट्ठा किया हुआ शिवजीका अट्टहास हो ॥ ६२ ॥ हे मेघ ! तुम तो हो चिकने घुटे हुए आँजनके समान काले, और कैलास है तुरंत काटे हुए हाथी-दाँतके समान गोरा। इसलिये जब तुम कैलासके ऊपर पहुँचोगे उस समय तुम मेरी समझमें बलरामके कंधोंपर पड़े हुए चटकीले काले वस्त्रके समान ऐसे मनोहर लगोगे कि आँखें एकटक तुम्हें ही देखती रह जायँ ॥ ६३ ॥ उस कैलासपर जब पार्वतीजी उन महादेवजीके हाथमें हाथ डाले टहल रही हों, जिन्होंने पार्वतीजीके डरसे अपने साँपोंके कड़े हाथसे उतार दिए होंगे, और मणि-शिखरोंपर चढ़ रही हों, उस समय तुम बरसना मत, वरन् आगे बढ़कर सीढ़ीके समान बन जाना जिससे उन्हें ऊपर चढ़नेमें सुविधा हो ॥६४॥ हे मित्र ! उस पर्वतपर बहुत-सी अप्सराएँ अपने नग-जड़े कंगनोंकी नोक तुम्हारे शरीरमें चुभोकर तुम्हारे शरीरसे जल-धाराएँ निकाल लेंगी और तुम्हें फुहारेका घर बना डालेंगी। उस समय यदि वे अपने गर्म शरीरोंको ठंढक मिलनेके कारण तुम्हें न छोड़ें तो तुम उन खिलाड़ी देवांगनाओंसे छुटकारा पानेके लिये कान फाड़नेवाला अपना गर्जन करके उन्हें डरा देना ॥ ६५ ॥ देखो ! वहाँ पहुँचकर पहले तो तुम उस मानसरोवरका जल पीना जिसमें सुनहरे कमल खिला करते हैं। फिर ऐरावतके मुँहपर थोड़ी देर कपड़े-सा छाकर उसका मन बहला देना। फिर जाकर कल्पद्रुमके कोमल पत्तोंको महीन कपड़ेकी भाँति हिला देना। ऐसे ऐसे बहुत-से खेल करते हुए तुम कैलास पर्वतपर जी भर कर घूमना ॥६६॥ उसी कैलास पर्वतकी गोदमें अलकापुरी वैसे ही बसी हुई है जैसे अपने प्यारेकी गोदमें कोई कामिनी बैठी हो, और वहीं से निकली हुई गंगाजीकी धारा ऐसी लगती है मानो उस कामिनीके शरीरपरसे सरकी हुई उसकी साड़ी हो। यह नहीं हो सकता कि ऐसी अलकाको देखकर तुम पहचान न पाओ। ऊँचे-ऊँचे भवनोंवाली अलकापर वर्षाके दिनोंमें बरसते हुए बादल ऐसे छाए रहते हैं जैसे कामिनियोंके सिरपर मोती गुँथे हुए जूड़े ॥ ६७ ॥

॥ महाकवि श्रीकालिदासके बनाए हुए मेघदूत काव्यमें पूर्वमेघ समाप्त हुआ ॥

उत्तरमेघ

हे मेघ ! अलकापुरीके ऊँचे-ऊँचे भवन सब बातोंमें तुम्हारे जैसे ही हैं। यदि तुम्हारे साथ बिजली है तो उन भवनोंमें भी चटकीली नारियाँ हैं, यदि तुम्हारे पास इन्द्रधनुष है तो उन भवनोंमें भी रंग-बिरंगे चित्र लटके हुए हैं। यदि तुम मृदु गंभीर गर्जन कर सकते हो तो वहाँ भी संगीतके साथ मृदंग बजते हैं, यदि तुम्हारे भीतर नीला जल है तो उनकी धरती भी नीलमसे जड़ी हुई है और यदि तुम ऊँचेपर हो तो उनकी अटारियाँ भी आकाश चूमती हैं ॥ १ ॥ देखो ! वहाँकी कुलवधुएँ हाथोंमें कमलके आभूषण पहनती हैं, अपनी चोटियोंमें नये खिले हुए कुन्दके फूल गूँथती हैं अपने मुँहोंको लोधके फूलोंका पराग मलकर गोरा करती हैं, अपने जूड़ेमें नये कुरबकके फूल खोंसती हैं, अपने कानोंपर सिरसके फूल रखती हैं और वर्षामें फूल उठनेवाले कदंबके फूलोंसे अपनी माँग सजाया करती हैं ॥ २ ॥ वहाँ पर सदा फूलनेवाले ऐसे बहुत-से वृक्ष मिलेंगे, जिनपर मतवाले भौंरे गुनगुनाते होंगे। वहाँ बारहमासी कमल और कमलिनियोंको हंसोंकी पाँतें घेरे रहती हैं। वहाँ सदा चमकीले पंखोंवाले पालतू मोर ऊँचा सिर किए हुए रात-दिन बोलते रहते हैं और वहाँकी रातें सदा चाँदनी रहनेसे बड़ी उजली और मनभावनी होती हैं ॥ ३ ॥ वहाँ रहनेवाले यक्षोंकी आँखोंमें केवल आनन्दके ही आँसू आते हैं। प्यारेके मिलनेसे दूर हो जानेवाली विरहकी जलनको छोडकर और किसी प्रकारकी जलन वहाँ नहीं होती। प्रेममें रूठनेको छोडकर और कभी किसीका किसीसे बिछोह नहीं होता और जवानीकी अवस्थाको छोडकर दूसरी अवस्था वहाँ नहीं पाई जाती ॥ ४ ॥ वहाँके यक्ष अपनी अलबेली स्त्रियोंको लेकर स्फटिक मणिसे बने हुए अपने उन भवनोंपर बैठते हैं जिनकी गचपर पडी हुई तारोंकी छाया ऐसी जान पड़ती है मानो फूल टँके हुए हों। वहाँ बैठकर वे लोग कामदेवको

उभारनेवाला वह मधु पी रहे होंगे जो उन बाजोंके मन्द-मन्द बजनेपर कल्पवृक्षसे निकलता है और जो तुम्हारे गंभीर गर्जनके समान ही गूँजा करते हैं ॥५॥ वहाँकी कन्याएँ इतनी सुन्दर हैं कि देवता भी उन्हें पानेके लिये तरसते हैं। वे कन्याएँ, मंदाकिनीके जलकी फुहारोंसे ठढाए हुए पवनमें, तटपर खड़े हुए कल्पवृक्षोंकी छायामें अपनी तपन मिटाती हुईं, अपनी मुट्ठियोंमें रत्न लेकर उनको सुनहरे बालूमें डालकर छिपाने और ढूँढनेका खेल खेला करती हैं ॥६॥ वहाँके प्रेमी लोग संभोगके लिये अपने चंचल हाथोंसे अपनी प्यारियों-की कमरकी गाँठें खोलकर जब उनकी ढीली साड़ियोंको हटाने लगते हैं तब वे लाजसे इतनी सकुचा जाती हैं कि वे और कुछ न पाकर मुट्ठीमें गुलाल भरकर ही जगमगाते हुए रत्न-दीपोंपर फैंकने लगती हैं, पर उनका गुलाल फैंकना सब अकारथ ही जाता है ॥७॥ हे मेघ! तुम्हारे जैसे बहुतसे बादल, वायुके झोंकेके साथ वहाँके सत-खडे भवनोंके ऊपरी खडोंमें घुसकर भीतपर टँगे हुए चित्रोंको अपने जलकणोंसे भिगोकर मिटा देते हैं और फिर, वे धुएँका रूप बनानेमें चतुर बादल, डरके मारे झटसे झरोखोंकी जालियोंमेंसे छितरा-छितराकर निकल भागते हैं ॥८॥ वहाँ आधी रातके समय, खुली चाँदनीमें, झालरोंमें लटकी हुई चन्द्रकान्त मणियोंसे टपकता हुआ जल, उन स्त्रियोंकी थकावट दूर करता है जिनके शरीर प्रियतमकी भुजाओंमें कसे रहनेसे ढीले पड़ जाते हैं ॥९॥ वहाँ अथाह संपत्तिवाले कामी लोग, अप्सराओंके साथ बातें करते हुए और ऊँचे स्वरमें मीठे गलोंसे कुबेरका यश गानेवाले किन्नरोंके साथ बैठे हुए वैभ्राज नामके बाहरी उपवनमें रात-दिन विहार किया करते हैं ॥१०॥ वहाँ रातको, जब कामिनी स्त्रियाँ, अपने प्रेमियोंके पास जल्दी-जल्दी पैर बढाकर जाने लगती हैं, उस समय उनकी चोटियोंमें गुँथे हुए कल्पवृक्षके फूल और पत्ते खिसककर निकल जाते हैं, कानों पर धरे हुए सोनेके कमल गिर जाते हैं और हारोंसे टूटे हुए मोती भी इधर-उधर बिखर जाते हैं। जब दिन निकलता है तो इन वस्तुओंको मार्गमें बिखरा हुआ देखकर लोग समझ लेते हैं कि वे कामिनी स्त्रियाँ किधर-किधरसे होकर अपने प्रेमियोंके पास पहुँची थीं ॥११॥ वहाँ रग बिरंगे वस्त्र, नेत्रोंमें बाँकापन बढानेवाली मदिरा, कोमल

पत्ते और फूल, ढंग-ढगके आभूषण, पैरोंमें लगानेका महावर आदि स्त्रियोंके सिगारकी जितनी वस्तुएँ हैं सब अकेले कल्पवृक्षसे ही मिल जाती हैं ।।१२।। वहाँके, पत्ते जैसे साँवले घोड़े अपने रंग और चालमें सूर्यके घोड़ोंको भी कुछ नहीं समझते । वहाँके, पहाड जैसे ऊँचे-ऊँचे डील-डौलवाले हाथी वैसे ही मद बरसाते हैं जैसे तुम पानी बरसाते हो और वहाँके लड़ाके ऐसे हैं कि उन्होंने अपने सब आभूषण छोडकर बस उन घावोंके चिह्नोंको ही आभूषण समझ लिया है जो उन्होंने रावण-से लड़ते हुए उसकी चन्द्रहास नामकी करवालसे खाए थे ।। १३ ।। वहीं पर कुबेरके मित्र शिवजी भी रहा करते हैं इसीलिये डरके मारे कामदेव अपना भौरोंकी डोरीवाला धनुप वहाँ नहीं चढाता । वहाँकी छबीली चतुर स्त्रियाँ अपने प्रेमियोंकी ओर जो बाँकी चितवन चलाती हैं उसीसे कामदेव अपना काम निकाल लेता है ।। १४ ।। वहीं कुबेरके भवनसे उत्तरकी ओर इन्द्रधनुपके समान सुन्दर गोल फाटक-वाला हमारा घर तुम्हें दूरसे ही दिखाई पड़ेगा । उसीके-पास एक छोटा सा कल्पवृक्ष है जिसे मेरी स्त्रीने पुत्रके समान पाल रक्खा है । वह फूलोंके गुच्छोंसे इतना झुका हुआ होगा कि नीचे खड़े-खड़े ही उन गुच्छोंको हाथसे तोड़ा जा सकता है ।। १५ ।। भीतर घरमें जानेपर तुम्हें एक बावड़ी मिलेगी जिसकी सीढ़ियोंपर नीलम जडा हुआ है और जिसमें चिकने वैदूर्य मणिकी डण्ठलवाले बहुत-से सुनहरे कमल खिले हुए होंगे । उसके जलमें बसे हुए हंस इतने सुखी हैं कि मान-सरोवरके इतने पास होते हुए भी तुम्हें देखकर वे वहाँ नहीं जाना चाहेंगे ।। १६ ।। उस बावडीके तीरपर एक बनावटी पहाड है, जिसकी चोटी नीलमणिकी बनी हुई है और जो चारों ओरसे सोनेके केलोंसे घिरा होनेके कारण देखते ही बनता है । देखो मित्र ! वह पर्वत मेरी घरवालीको बडा प्यारा है इसलिये जब मैं तुम्हें बिजलीके साथ देखता हूँ तब मेरा मन अकेला होनेसे उदास हो जाता है और वह पहाड मेरी आँखोंके आगे नाचने लगता है ।। १७ ।। उस बनावटी पर्वतपर कुरबकके वृक्षोंसे घिरे हुए माधवी-मडपके पास ही एक तो चचल पत्तोंवाला लाल अशोकका वृक्ष खडा है और दूसरा मौलसिरीका पेड है । जैसे मैं तुम्हारी सखीके पैरकी ठोकर खानेके लिये तरस रहा हूँ

वैसे ही वह अशोक भी फूलनेका बहाना लेकर मेरी पत्नीके बाएँ पैरकी ठोकर खानेके लिये तरस रहा होगा और दूसरा मौलसिरीका पेड़ भी उसके मुँहसे निकले हुए मदिराके छींटे पाना चाहता होगा ॥ १८ ॥ उन दोनों वृक्षोंके बीचमें नये बाँसके समान चमकीले मणियोंसे बनी हुई एक चौकी है, जिसके ऊपर स्फटिककी एक चौकोर पटिया रक्खी हुई है। उस पटियापर जड़ी हुई एक सोनेकी छड़पर तुम्हारा मित्र मोर नित्य साँझको आकर बैठा करता है और मेरी स्त्री उसे अपने घुँघरूदार कड़े-वाले हाथोंसे तालियाँ बजा-बजाकर नचाया करती है ॥ १९ ॥ हे साधु ! यदि तुम मेरे बताए हुए ये चिह्न भली भाँति स्मरण रक्खोगे और मेरे द्वारपर शंख और पद्मके चित्र बने देख लोगे तो तुम मेरा घर अवश्य पहचान लोगे। मेरे बिना वह भवन बड़ा सूना-सूना सा और उदास सा दिखाई देता होगा क्योंकि सूर्यके छिप जानेपर तो कमल उदास हो ही जाता है ॥२०॥ देखो ! यदि तुम्हें मेरे घरमें झटसे पैठना हो तो चटसे हाथीके बच्चे जैसे छोटे बनकर क्रीड़ा पर्वतकी रमणीक चोटीपर जा बैठना और फिर अपनी बिजलीकी आँखें जुगनुओंके समान थोडी-थोड़ी सी चमकाकर मेरे घरके भीतर झाँकना ॥२१॥ वहाँ जो दुबली-पतली, नन्हें-नन्हें दाँतों वाली, पके हुए बिंबाफलके समान लाल ओठों वाली, पतली कमर वाली, डरी हुई हरिणीके समान आँखों वाली, गहरी नाभिवाली, नितम्बोंके बोझसे धीरे-धीरे चलनेवाली और स्तनोंके भारसे कुछ आगेको झुकी हुई युवती तुम्हें दिखाई दे वही मेरी पत्नी होगी। उसकी सुन्दरता देखकर यही जान पड़ेगा मानो ब्रह्माकी सबसे बढिया कारीगरी वही हो ॥ २२ ॥ अपने साथीसे बिछुड़ी हुई चकवीके समान अकेली रहनेवाली और कम बोलनेवाली उस सुन्दरीको देखकर ही तुम समझ लोगे कि वह मेरा दूसरा प्राण ही है। विरहके कठोर दिन बड़ी उतावलीसे बिताते-बिताते उसका रूप भी बदल गया होगा और उसे देखकर तुम्हें यह भ्रम हो सकता है कि यह कोई बाला है या पालेसे मारी हुई कोई कमलिनी है ॥२३॥ देखो मेघ ! मेरे बिछोहमें रोते-रोते मेरी प्यारीकी आँखें सूज गई होंगी, गर्म साँसोंसे उसके ओठोंका रंग फीका पड़ गया होगा, चिन्ताके कारण गालों पर हाथ धरनेसे और बालोंके मुँह पर आ जानेसे उसका

अधूरा दिखाई देनेवाला मुँह मेघसे ढके हुए चन्द्रमाके समान धुँधला और उदास दिखाई दे रहा होगा ।।२४।। देखो मेघ! वहाँ तुम्हें वह या तो देवताओंको पूजा चढ़ाती मिलेगी, या अपनी कल्पनासे मेरे इस विरह से दुबले शरीरका चित्र बनाती मिलेगी या पिँजड़ेमें बैठी हुई मिठबोली मैनासे यह पूछती मिलेगी कि हे मैना! तुम अपने जिस पतिकी प्यारी हो, उसे भी कभी स्मरण करती हो? ।।२५।। या भैया! वह मैले कपड़े पहने हुए, गोदमें वीणा लिए, ऊँचे स्वरसे मेरे नामके गीत गाती मिलेगी। उस समय वह अपनी आँखोंके आँसुओंसे भीगी हुई वीणाको तो जैसे-तैसे पोंछ लेगी पर मेरा स्मरण आ जानेसे वह ऐसी बेसुध हो जायेगी कि अपने सधे हुए स्वरोंके उतार-चढावको भी वह बारबार भूल रही होगी ।। २६ ।। या मेरे विरहके दिनसे ही वह देहलीपर जो फूल नित्य रखती चलती है उन्हें ही धरतीपर फैलाकर गिन रही होगी कि अब विरहके कितने महीने बच गए हैं। या फिर वह मेरे साथ किए हुए संभोगके आनन्दका मन ही मन रस लेती हुई बैठी होगी, क्योंकि अपने प्यारोंके विछोहमें स्त्रियाँ प्राय ऐसी ही बातों में अपने दिन काटती हैं ।।२७।। हे मित्र! तुम्हारी सखीके इन कामोंमें लगे रहनेके कारण दिनमें तो उसे मेरा विछोह कुछ नहीं सताता होगा पर मुझे डर है कि रातके लिये कुछ काम न होनेसे उसकी रात बड़े कष्टसे बीतती होगी। इसलिये मेरा संदेश सुनाकर उसे सुख देनेके लिये तुम आधी रातको मेरे भवनके झरोखोंपर बैठकर उसे देखना, क्योंकि उस समय वह तुम्हें धरतीपर उनींदी सी पड़ी मिलेगी ।।२८।। देखो! उसकी प्यारी सखियाँ, उस कोमल देहवालीको दिनमें कभी अकेली नहीं छोड़ेंगी, क्योंकि संसारमें सभी स्त्रियाँ अपनी सखियोंके दु खमें कभी उनका साथ नहीं छोडती। इसलिये तुम उसके पलँगके पासवाली खिड़कीपर बैठकर थोडी देर परखना और जब वे सखियाँ सो जायँ तब रातको मेरी जागती हुई प्यारीके पास पहुँच जाना ।।२९।। और वहाँ तुम मेरी प्यारी को ढूँढ लेना, जो वहीं कहीं धरतीपर एक करवट पडी होगी। उसके आस-पास मोतियोंके हारके टूटे हुए टुकड़ोंके समान आँसू बिखरे हुए होंगे और वह अपने बढ़े हुए नखोंवाले हाथसे अपनी उस इकहरी चोटीके उन रूखे और उलझे हुए

वालोंको अपने गालों परसे बार-बार हटा रही होगी जो अब शापके बीतनेपर ही सुलझाए जा सकेंगे ॥ ३० ॥ देखो ! जो प्यारी, मेरे साथ जी भरकर सभोग करके पूरी रात क्षण भरके समान बिता देती थी वही आज बिछोहकी चिन्तासे सूखी हुई और सूने पलँगपर एक करवट लेटी हुई पूरबके क्षितिजपर पहुँचे हुए एक कला भर बचे हुए चन्द्रमाके समान दुबली होकर अपनी रातें गर्म आँसू बहा-बहाकर बिता रही होगी ॥ ३१ ॥ जालियोंमेंसे छनकर जो चन्द्रमाकी किरणें आ रही होंगी उन्हें वह समझती होगी कि पहले सुखके दिनों में वे जैसी अमृतके समान ठण्ढी थीं वैसी ही अब भी होंगी, और यही समझकर वह उन किरणोंकी ओर मुँह करेगी, पर फिर विरहके कारण जब वे किरणें उसे जलाने लगेंगी तब वह अपनी आँसू-भरी आँखें पलकोंसे ढक लेगी। उस समय मेरी प्यारी ऐसी दिखाई देगी जैसे बदलीके दिन धरतीपर खिलनेवाली कोई अधखिली कमलिनी हो ॥ ३२ ॥ मेरे विरहमें वह कोरे जलसे ही नहाती होगी इसलिये उसके रूखे और बिना सँवारे हुए बाल, उसके गालोंपर लटककर उसके पतले ओठोंको तपानेवाली साँसोंसे हिल रहे होंगे। वह बारबार यह सोचकर अपनी आँखों में नींद बुला रही होगी कि किसी प्रकार स्वप्नमें ही प्यारेसे संभोग हो जाय पर आँखोंसे लगातार बहते हुए आँसू, उसकी आँखें भी नहीं लगने देते होंगे ॥३३॥ बिछुडनेके दिनसे ही उसने अपने जूडेकी माला खोलकर जो वह इकहरी चोटी बाँध ली थी जिसे छूनेमें भी उसे पीडा होती है और जिसे शाप बीतनेपर मैं ही सुखसे खोलकर बाँधूँगा, उसी उलझी और बिखरी हुई रूखी चोटीको वह अपने बढ़े हुए नखोंवाले हाथोंसे अपने भरे हुए गालों परसे बार-बार हटा रही होगी ॥ ३४ ॥ जब तुम देखोगे कि वह बेचारी बार-बार दुःखसे पछाड खा-खाकर पलँगके पास पडी हुई, किसी-किसी प्रकार अपने बिना आभूषणोंवाले कोमल शरीरको सँभाले हुए है तब तुम भी उसकी दशापर अपने नये जलके आँसू बहाए बिना न रह सकोगे क्योंकि दूसरोंका दुःख देखकर कौन ऐसा कोमल हृदयवाला है जो पसीज न जाय ॥ ३५ ॥ मैं जानता हूँ कि तुम्हारी सखी मुझे जी भरकर प्यार करती है इसीलिये मैं सोचता हूँ कि वह इस पहले पहलके बिछोहसे दुबली हो गई होगी। यह न समझो कि ऐसी

पतिव्रता स्त्रीका पति होनेके सौभाग्यसे मैं इतना बढ़-चढ़कर बोल रहा हूँ वरन् भैया ! मैंने जो कुछ कहा है वह सब तुम्हारी आँखों के सामने ही आ जायगा ।। ३६ ।। जब तुम उसके पास पहुँचोगे तब उस मृगनयनीकी वह बाईं आँख फड़क उठेगी जिसपर बाल फैले हुए होंगे, जो आँजन न लगनेसे रूखी हो गई होगी और जो बहुत दिनों से मदिरा न पीनेके कारण भौंहें चलाना भी भूल गई होगी । उस समय फड़कती हुई वह बाईं आँख उस नीले कमल जैसी सुन्दर दिखाई देगी जो मछलियों-के इधर-उधर आने-जानेसे काँप उठा करता है ।।३७।। तुम्हारे पहुँचते ही, नये केलेके खंभेके समान उसकी वह गोरी-गोरी बाईं जाँघ भी फड़क उठेगी जिसे मैं संभोग कर चुकनेपर अपने हाथसे दबाया करता था। उस जाँघपर न तो तुम्हें मेरे हाथके नख चिह्न ही बने मिलेंगे और दुर्भाग्यवश उसपर वह मोतियोंकी करधनी भी नहीं पड़ी मिलेगी जिसे वह बहुत दिनों से पहनती चली आ रही थी ।। ३८ ।। हे मेघ ! तुम्हारे पहुँचनेपर यदि उसे कुछ नींद आने लगे तो तुम उसके पीछे चुपचाप एक पहर ठहरे रहना जिससे यदि मेरी प्यारी कहीं स्वप्नमें मुझसे कसकर लिपटी हुई हो तो मेरे कंठमें पड़ी हुई उसकी भुजाएँ अचानक नींद टूटनेसे छूट न पड़ें ।। ३९ ।। एक पहर ठहरनेपर भी वह आँखें न खोले तो तुम, मालतीके नये फूलों के समान कोमल मेरी प्यारीको, अपने जलकी फुहारों से ठण्ढा किया हुआ वायु चलाकर जगा देना ! आँखें खोलनेपर जब वह झरोखेसे तुम्हारी ओर एकटक होकर देखे तो तुम अपनी बिजलीको छिपा लेना और अपने धीमे गर्जनके शब्दों में उस मानिनी से बात-चीत चला देना ।।४०।। उससे कहना—हे सौभाग्यवती ! मैं तुम्हें यह बता दूँ कि मैं तुम्हारे पतिका प्रिय मित्र मेघ, तुम्हारे पास उनका सदेश लेकर आया हूँ । मैं अपनी धीमी और मीठी गरजसे उन थके हुए बटोहियों के मनमें भी घर लौटनेकी हड़बड़ी मचा देता हूँ जो अपनी स्त्रियों की इकहरी चोटियाँ खोलनेके लिये उतावले रहते हैं ।।४१।। यह सुनकर मेरी प्यारी तुम्हारी ओर मुँह करके बड़े चावसे, बड़े खिले हुए जीसे और बड़े आदरसे कान लगाकर तुम्हारा सब सदेश उसी प्रकार सुनेगी जैसे सीताजीने हनुमानजीकी बातें सुनी

थीं। हे भैया! मित्रके मुँहसे पतिका संदेश पाकर स्त्रियोंको अपने प्रियके मिलनसे कुछ कम सुख थोड़े ही मिलता है? ॥४२॥ हे आयुष्मन्! तुम मेरे कहनेसे और दूसरेकी भलाई करनेका पुण्य लेनेके लिये उससे जाकर कहना—हे अबला! तुम्हारा बिछुड़ा हुआ साथी रामगिरिके आश्रममें कुशलसे है और तुम्हारी कुशल जानना चाहता है क्योंकि देखो! जिन लोगोंपर अचानक विपत्ति आ गई हो, उनसे पहले-पहल यही पूछना ठीक होता है॥ ४३॥ उससे कहना—तुम्हारे दूर बैठे हुए प्यारे साथीका मार्ग तो बैरी ब्रह्मा रोके बैठा है, इसलिये वह तुमसे मिल भले ही न सके, फिर भी वह अपने दुबलेपन, तपन, लगातार बहते हुए आँसू, मिलनेका चाव, और गर्म उसाँसोंको देख-देखकर ही मनमें यह समझ लेता है कि तुम भी वैसे ही बिछोहमें दुबली हो गई होगी, विरहसे तप रही होगी, आँखोंसे झर-झर आँसू बहा रही होगी, मिलनेको उतावली होगी और दिन रात लंबी-लंबी गर्म उसाँसें ले रही होगी॥ ४४॥ हे अबला! तुम्हारे प्यारेको जब तुमसे कोई ऐसी भी बात कहनी होती थी जो तुम्हारी सखियोंके आगे ऊँचे स्वरसे कही जा सकती थी तब भी वह तुम्हारा मुँह चूमनेके लोभसे तुम्हारे कानमें ही कहनेको तुला रहता था। अब तुम अपने उस प्यारेकी न तो बातचीत ही सुन सकती हो और न उसे आँख भर देख ही सकती हो, इसीलिये उसने बड़े चावसे मेरे मुँहसे यह कहला भेजा है॥ ४५॥ कि—हे प्यारी! मैं यहाँ बैठा, प्रियंगुकी लतामें तुम्हारा शरीर, डरी हुई हरिणीकी आँखोंमें तुम्हारी चितवन, चन्द्रमामें तुम्हारा मुख, मोरोंके पंखोंमें तुम्हारे बाल, और नदीकी छोटी-छोटी लहरियोंमें तुम्हारी कटीली भौंहें देखा करता हूँ। तो भी हे चण्डी! मुझे दुःख है कि इनमेंसे कोई एक भी पूरे ढंगसे तुम्हारी बराबरी नहीं कर पाता॥ ४६॥ जब मैं पत्थरकी सिल्लीपर गेरूसे तुम्हारी रूठी हुई मूर्तिका चित्र खींचकर यह बनाना चाहता हूँ कि तुम्हें मनानेके लिये मैं तुम्हारे पैरों पड़ा हुआ हूँ उस समय आँसू ऐसे उमड़े पड़ते हैं कि भर आँख देखने भी नहीं देते। निर्दयी कालको हमारा चित्रमें मिलना भी नहीं सुहाता॥४७॥ हे बाला! एक तो मैं यों ही तुम्हारे उस मुखसे दूर

रहनेके कारण सूखा जा रहा हूँ जिसमेंसे ऐसी सोंधी गंध आती है जैसे पानी पडनेपर धरतीमेंसे आती है, उसपर यह पाँच बाणोंवाला कामदेव मुझे और भी सताए जा रहा है। अब तुम्हीं सोच लो कि गर्मीके बीतनेपर जब चारों ओर उमड़ी हुई घने बादलोंकी घटा सूर्यपर छा जायगी उस समय मैं किसके सहारे अपने दिन काट पाऊँगा ॥४८॥ जब कभी मैं स्वप्नमें तुम्हें देखकर कसकर छातीसे लगानेके लिये अपने हाथ ऊपर फैलाता हूँ, उस समय वनके देवता भी मेरी दशापर तरस खाकर अपने मोतीके समान बड़े-बड़े आँसू वृक्षोंके कोमल पत्तोंपर बहुधा ढुलकाया करते हैं ॥४९॥ हे गुणवती! देवदारके कोमल पत्तोंको अपने झोंकोंसे तत्काल तोड़कर और उसके रसकी गंध लेकर हिमालयके जो पवन दक्षिणकी ओर चले आ रहे हैं उन्हें मैं यही समझकर अपने हृदयसे लगा रहा हूँ कि ये उधरसे तुम्हारा शरीर छूकर आ रहे होंगे ॥५०॥ हे चचल नैनों-वाली! मैं मनसे यही मनाया करता हूँ कि किसी प्रकार रातके लबे-लबे तीन पहर क्षण भरके समान छोटे हो जायँ और दिनकी तपन भी किसी प्रकार सदाके लिये जाती रहे। पर मेरी यह दुर्लभ प्रार्थना बेकार ही जाती है। उसपर इस तिल तिल जलानेवाली बिछोहकी जलनसे तो मेरा जी बैठा जा रहा है ॥५१॥ पर हे कल्याणी! बहुत कुछ सोच विचारकर मैं अपने मनको अपनेसे ही ढाढस बँधा लेता हूँ, इसलिये तुम भी बहुत दुखी मत होना। देखो! दुःख या सुख किसी पर सदा नहीं रहा करते। ये तो पहिएके चक्करके समान कभी नीचे कभी ऊपर यों ही आया-जाया करते हैं ॥५२॥ देखो! अगली देवउठनी एकादशीको जब विष्णु भगवान शेषनागकी शैयासे उठेंगे उसी दिन मेरा शाप भी बीत जायगा। इसलिये इन बचे हुए चार महीनोंको भी किसी प्रकार आँख मूँदकर बिता डालो। फिर तो हम दोनों, बिछोहके दिनोंमें सोची हुई अपने मनकी सब साधें शरद्‌की सुहावनी चाँदनी रातमें पूरी कर ही डालेंगे ॥५३॥ हे अबला! तुम्हारे प्यारेने यह भी कहलाया है कि एक बार जब तुम मेरे गलेसे लगी हुई मेरे पलँगपर सो रही थी, उस समय तुम अचानक चिल्लाकर रोती हुई जाग पडी थी और जब मैंने बार बार तुमसे

रोनेका कारण पूछा तब तुमने मीठी मुसकानके साथ उत्तर दिया था कि हे छली ! मैंने स्वप्नमें देखा कि तुम किसी दूसरी स्त्रीके साथ रमण कर रहे हो, इसीलिये मैं रो पड़ी थी ॥५४॥ हे काली काली आँखों वाली ! इस पहचानसे ही तुम समझ लेना कि मैं कुशलसे हूँ। लोगोंके कहनेसे तुम मेरे प्रेममें संदेह न कर बैठना। न जाने लोग यह क्यों कहा करते हैं कि विरहमें प्रेम कम हो जाता है। सच्ची बात तो यह है कि जब चाही हुई वस्तुएँ नहीं मिलतीं तभी उन्हें पानेके लिये प्यास बढ जाती है और ढेरका ढेर प्रेम आकर इकट्ठा जाता है ॥५५॥ देखो मेघ ! इस पहली बारके बिछोहसे दुखी अपनी भाभीको इस प्रकार ढाढ़स बँधाकर, उससे कुशल-समाचार पाकर और पहचान लेकर तुम मेरे पास जल्दी ही उस कैलास पर्वतसे लौट आना जिसकी चोटियाँ महादेवजीके साँड़ने उखाड़ दी हैं। और फिर यहाँ आकर प्रातःकाल खिले हुए कुन्दके फूलके समान चू पड़नेवाले मेरे प्राणोंकी रक्षा करना ॥५६॥ क्यों भैया ! तुमने मेरा यह प्यारा काम करनेकी ठान ली है या नहीं ? इस पूछनेसे यह न समझ बैठना कि मैं तुमसे हुँकारी भरवानेपर ही तुम्हें इस कामके योग्य समझूँगा। तुम्हें मैं जानता हूँ कि जब पपीहे तुमसे जल माँगते हैं, तब तुम बिना उत्तर दिए उन्हें जल दे देते हो। सज्जनोंकी रीति ही यह है कि जब कोई उनसे कुछ माँगे तो वे मुँहसे कुछ न कहकर, काम पूरा करके ही उत्तर दे डालते हैं ॥५७॥ हे मेघ ! मैंने जो तुमसे काम बताया है वह तुमसे कराना बड़ी ढिठाई होगी, पर चाहे मित्रताके नाते, चाहे मुझ बिछोहीपर तरस खाकर, तुम पहले मेरा प्यारा काम कर देना और फिर अपना बरसाती रूप लेकर जहाँ मन चाहे वहाँ घूमना। मैं यही मनाता हूँ कि प्यारी बिजलीसे एक क्षणके लिये भी तुम्हारा वैसा वियोग न हो, जैसा मैं भोग रहा हूँ ॥५८॥ यक्षकी ये बातें सुनकर मनचाहा रूप धारण करनेवाला वह बादल, रामगिरिसे चलकर अलका पहुँच गया और बताए हुए चिह्नोंको देखकर उसने यक्षका वह भवन पहचान लिया जिसकी सब शोभा फीकी पड़ गई थी। वहाँ उसने यक्षकी प्यारीसे वह प्यार-भरा मधुर संदेश सुनाया, जिसे यक्षने बड़े जतनसे भेजा था ॥५९॥ वहाँ पहुँचकर सबका भला करनेवाले उस भले मेघने देवी

शब्दों में यक्षकी स्त्रीके प्राण बचानेके लिये सब संदेश सुना डाला। यक्षकी स्त्री भी, अपने प्यारेका कुशल-समाचार पाकर फूली न समाई। सच है, अच्छे लोगों से कोई काम करने को कहा जाय तो वह अवश्य पूरा होता ही है॥६०॥ जब कुवेरने यह बात सुनी कि बादलने यक्षकी स्त्रीको ऐसा संदेश दिया है तब उनके मनमें बड़ी दया आई, उनका क्रोध उतर गया और उन्होंने अपना शाप लौटाकर उन दोनों पति-पत्नीको फिर मिला दिया। इस मिलनेसे उनका सब दुःख जाता रहा और वे फिर बड़े प्रसन्न हो गए। कुवेरने उन दोनों के लिये ऐसे सुख लूटनेका प्रबन्ध कर दिया कि उन्हें फिर कभी दुःख मिला ही नहीं ॥६१॥ यह सुनकर बादल वहाँसे चल दिया और कभी पहाड़ियों पर, कभी नदियों के पास और कभी नगरमें ठहरता हुआ थोड़े ही दिनों में कुवेरकी राजधानी, अलकामें पहुँच गया। वहाँ अपने मित्रके बताए हुए चिह्नों से उसने वियोगी यक्षका, सोनेके समान चमकता हुआ भवन पहचान लिया और उसने वहाँ देखा कि यक्षकी स्त्री बेचारी उस भवनमें धरतीपर पड़ी हुई है॥६२॥ कवि कालिदासने आर्या देवी कालीके चरण-कमलों में प्रणाम करके सुन्दरतासे सजाए हुए शब्दों में यह ऊपर कही हुई मेघदूत नामकी कविता रची है। यह कविता वियोगके समय उन लोगोंका भी मन बहलावेगी जिन्हें विलास मिला ही नहीं, साथ ही इसमें मेघकी अत्यन्त चतुराईका और कवियोंकी कल्पनाका परिचय भी मिल जायगा॥६४॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए मेघदूत काव्यमें उत्तरमेघ समाप्त हुआ।

॥ मेघदूत समाप्त ॥



ऋतुसंहार

पहला सर्ग

गर्मीका वर्णन

प्रिये ! गरमीके दिन आ गए हैं। धूप बडी कड़ी हो गई है और चन्द्रमा वडा सुहावना लगता है। कोई चाहे तो आजकज दिन-रात गहरे जलमें स्नान कर सकता है। इन दिनों साँझ बड़ी लुभावनी होती है और कामदेव तो एक-दम ठंढा पड़ गया है ॥१॥ देखो प्यारी ! आजकल तो लोग यह चाहते हैं कि चारों ओर खिले हुए चन्द्रमाकी चाँदनी छिटकी हुई हो, रंग-विरंगे फव्वारोंके तले हम लोग बैठे हुए हों, इधर-उधर ढग-ढगके रत्न विखरे पडे हों और सुगन्धित चन्दन चारों ओर छिडका हुआ हो ॥२॥ और प्रेमियोंको भी इन दिनों मन वहलानेके लिये ऐसी-ऐसी कामको उभारनेवाली वस्तुएँ चाहिएँ जैसे सुन्दर सुगंधित जलसे धुला हुआ भवनका तल, प्यारीके मुँहकी भापसे उफनाती हुई मदिरा और सुन्दर वीणाके साथ गाए हुए गीत ॥३॥ इन दिनों सब प्रेमिकाएँ अपने गर्मीसे सताए हुए प्रेमियोंकी तपन मिटानेके लिये उन्हें अपने उन नितम्बोंपर लिटाती हैं जिनपर रेशमी वस्त्र और करधनी पड़ी होती है, अपने उन चन्दन पुते हुए ठंढे स्तनोंसे लिपटाती हैं जिनपर हार और दूसरे गहने पडे होते हैं और अपने उन जूड़ोंकी गन्ध सुँघाती हैं जो उन्होंने स्नानके समय सुगन्धित फुलेलोंमें वसा लिए थे ॥४॥ आजकल स्त्रियोंके उन महावरसे रंगे पैरोंको देखकर लोगोंका जी मचल उठता है जिनमें हंसोंके समान रुनझुन करनेवाले बिछुए वजा करते हैं ॥५॥ इन दिनों स्त्रियोंके हिमके

समान उजले और अनूठे हारसे सजे हुए चन्दन पुते स्तन देखकर और सुनहरी करधनीसे बँधे हुए नितम्ब देखकर भला किसका मन नहीं ललच उठेगा ॥६॥ ऊँचे-ऊँचे स्तनोंवाली जिन युवतियोंके अगोंके जोड़-जोड़से गर्मीके मारे पसीना छूटा करता है वे भी इस गर्मी में अपने मोटे वस्त्र उतारकर पतले-पतले कपड़े पहनने लगी हैं ॥७॥ आज-कल लोग कामदेवको उसी प्रकार जगाया करते हैं जैसे कोई स्त्री, अपने सोए हुए प्रेमीको चन्दनमें बसे हुए ठंढे जलसे भींगे हुए पंखोंकी ठंढी बयार झलकर या मोतियोंके हारोंकी लटकती हुई झालरोंसे सजे हुए अपने गोल-गोल स्तन प्रेमीकी छातीपर रखकर, या वीणाके साथ अपने मीठे गलेसे गीत गा-गाकर जगाया करती है ॥८॥ रातके समय उजले भवनमें सुखसे सोई हुई युवतीका मुख निहारनेको उतावला रहनेवाला चन्द्रमा जब बहुत देरतक उनका मुँह देख चुकता है तो लाजके मारे वह रातके पिछले पहरमें उदास हो जाता है ॥९॥ परदेसमें गए हुए जिन प्रेमियोंका हृदय अपनी प्रेमिकाओंके बिछोहकी तपनसे झुलस गया है, वे आँधीके झोंकोंसे उठी हुई धूलके बवंडरोंवाली और कड़ी धूपकी लपटोंसे तपी हुई धरतीकी ओर देखते हैं तो उनसे देखा नहीं जाता ॥१०॥ जलते हुए सूर्यकी किरणोंसे झुलसे हुए जिन जंगली पशुओंकी जीभ प्याससे बहुत सूख गई है वे धोखेमें उन जंगलोंकी ओर दौडे जा रहे हैं जहाँके आँजनके समान नीले आकाशको ही वे पानी समझ बैठे हैं ॥११॥ चमकते हुए चन्द्रमा-वाली साँझके समान जो सुन्दरियाँ चन्द्रमाके समान उजले चन्द्रहार आदि आभूषणोंसे सजी हुई बड़ी प्यारी लग रही हैं वे बड़ी चटक-मटक और मुस्कुराहटके साथ अपनी चितवन चलाकर परदेसियोंके मनमें झटसे कामदेव जगा देती हैं ॥१२॥ देखो ! धूपसे एकदम तपा हुआ और पैंडेकी गर्म धूलसे झुलसा हुआ यह सर्प अपना मुँह नीचे छिपाकर बार-बार फुफकारता हुआ मोरकी छायामें कुंडल मारे बैठा हुआ है पर मोर भी गर्मीके मारे उसे कुछ कह नहीं रहा है ॥१३॥ देखो ! हाथियोंके पास होने पर भी यह सिंह उन्हें मार नहीं रहा है क्योंकि गर्मी इतनी पड़ रही है कि बहुत प्यासके मारे इसका सब साहस ठंढा पड़ गया है, अपना पूरा मुँह खोलकर यह

बार-बार हाँफ रहा है, अपनी जीभसे अपने ओठ चाटता जा रहा है और हाँफनेसे इसके कंधेके बाल हिलते जा रहे हैं ॥१४॥ जो हाथी धूप और प्यासरो बेचैन होकर अपने सूखे मुँहसे झाग फेंकते हुए पानीकी खोजमें इधर-उधर घूम रहे हैं वे इस समय सिंहसे भी नहीं डर रहे हैं ॥१५॥ हवनकी अग्निके समान जलते हुए सूर्यकी किरणोंसे जिन मोरोंके शरीर और मन दोनों सुस्त पड़ गए हैं, वे अपने पास कुंडल मारकर बैठे हुए साँपोंको भी नहीं मारते वरन् उल्टे धूपसे अपना मुँह बचानेके लिये अपना गला उनकी पूँछकी कुडलमें डाले चुप चाप बैठे हुए हैं ॥१६॥ धूपसे एकदम झुलसा हुआ यह जगली सूअरोंका झुंड अपने लंबे-लंबे थुथनोंसे नागरमोथेसे भरे हुए बिना कीचडवाले गड्ढेको खोदता हुआ ऐसा लगता है मानो धरतीमें घुसा जा रहा हो ॥१७॥ धूपसे तपे हुए मेंढक, गँदले जलवाले पोखरेसे बाहर निकल-निकलकर प्यासे साँपोंके फनकी छतरीके नीचे आ-आकर बैठ रहे हैं ॥१८॥ यह देखो, यहाँ पर हाथियोंने इकट्ठे होकर आपसमें लड़-भिडकर इस तालके सब कमल उखाड़ डाले, मछलियोंको रौंद डाला और सब सारसोंको डराकर भगा दिया है ॥१९॥ जिस प्यासे साँपकी मणि सूर्यकी चमकसे और भी चमक उठी है वह अपनी लपलपाती हुई दोनों जीभोंसे पवन पीता जा रहा है और धूपकी लपटों और अपने विपकी झारसे जलनेके कारण मेढकोंको नहीं मार रहा है ॥२०॥ जुगाली करनेसे जिन भैंसोंके मुँहसे झाग निकल रही है और लार बह रही है वे अपना मुँह खोलकर अपनी लाल-लाल जीभें बाहर निकाले हुए प्यासके मारे ऊपर मुँह उठाए पहाड़की गुफासे निकल-निकलकर जलकी ओर लपकी चली जा रही हैं ॥२१॥ आजकल वन तो और भी डरावने लगने लगे हैं क्योंकि वहाँ जंगलकी आगकी बड़ी-बड़ी लपटोंसे सब वृक्षोंकी टहनियाँ झुलस गई हैं, अंधड़में पड़कर सूखे हुए पत्ते ऊपर उडे जा रहे हैं और सूर्यकी गर्मीसे चारों ओरका जल सूख गया है ॥ २२ ॥ जिन वृक्षोंके पत्ते झड़ गए हैं उनपर बैठी हुई सभी चिडियाँ हाँफ रही हैं, उदास बंदरोंके झुंड पहाडकी गुफाओंमें घुसे जा रहे हैं, पशुओंके झुंड चारों ओर पानीकी खोजमें घूम रहे हैं और आठ पैरोंवाले शरभोंका झुंड एक कुएँमें

गटागट पानी पीता जा रहा है ॥२३॥ पूरे खिले हुए नये कुसुम्भी फूलके समान और स्वच्छ सिन्दूरके समान लाल लाल चमकनेवाली, आँधीसे और भी धधक उठनेवाली और तीरपर खड़े हुए वृक्षों और लताओंकी फुनगियोंको चूमती जानेवाली जंगलकी आगसे जहाँ-तहाँ धरती जल गई है ॥ २४ ॥ वनके बाड़ेसे उठती हुई और वायुसे और भी भडकी हुई अग्निकी लपट, पहाड़की घाटियोंमें फैलती हुई सभी पशुओंको जलाए डाल रही है, सूखे बाँसोंकी झाडियोंमें चटचटा रही है और क्षण भरमें आगे बढ़कर घास पकड़ ले रही है॥ २५॥ पवनसे भडकाई हुई और सेमरके वृक्षोंके कुंजोंमें फैली हुई आग वृक्षके खोखलोंमें अपना सुनहला पीला प्रकाश चमकाती हुई और उन ऊँचे वृक्षोंपर उछलती हुई वनमें चारों ओर घूम रही है जिनकी डालियोंके पत्ते बहुत गर्मी पडनेसे पक पककर झडते जा रहे हैं॥ २६ ॥ आगसे घबराए हुए और झुलसे हुए हाथी, बैल और सिंह, आज मित्र बनकर साथ-साथ इकट्ठे होकर घासके जंगलसे झटपट निकल आए हैं और नदीके चौड़े और बलुए तीरपर आकर विश्राम कर रहे हैं ॥ २७ ॥ जिस गर्मीकी ऋतुमें कमलोंसे भरे हुए और खिले हुए पाटलकी गंधमें बसे हुए जलमें स्नान करना बहुत सुहाता है और जिन दिनों चन्द्रमाकी चाँदनी और मोतीके हार बहुत सुख देते हैं, वह ऋतु आपकी ऐसी बीते कि रातको आप अपने घरकी छतपर लेटे हों, सुन्दरियाँ आपको घेरे बैठी हों और मनोहर संगीत छिड़ा हुआ हो ॥ २८ ॥

श्रीमहाकवि कालिदासके रचे हुए ऋतुसंहार नामके काव्यमें गर्मीका वर्णन नामका पहला सर्ग समाप्त हुआ ।



दूसरा सर्ग

वर्षाका वर्णन

देखो प्यारी ! जलकी फुहारोंसे भरे हुए बादलोंके मतवाले हाथी पर चढा हुआ, चमकती हुई बिजलियोंकी झडियोंको फहराता हुआ और बादलोंकी गरजके नगाड़े बजाता हुआ यह कामियोंका प्यारा पावस राजाओंका सा ठाठ-बाट बनाकर आ पहुँचा है ॥ १ ॥ कहीं तो अत्यन्त नीले कमलकी पखडी जैसे नीले, कहीं गर्भिणीके स्तनोंके समान पीले और कहीं घुटे हुए आँजनकी ढेरीके समान काले-काले बादल आकाशमें इधर-उधर छाए हुए हैं ॥२॥ देखो ! जिन बादलोंसे पपीहे पिउ-पिउ करके पानी माँग रहे हैं, ऐसे पानीके भारसे नीचे झुके हुए, धुआँधार पानी बरसानेवाले और कानोंको भली लगनेवाली गड़-गडाहट करते हुए बादल धीरे-धीरे घिरते चले जा रहे हैं ॥ ३ ॥ मृदगके समान गडगडाते हुए, बिजलीकी डोरीवाला इन्द्रधनुष चढ़ाए हुए ये बादल अपनी तीखी धारोंके पैने बाण बरसाकर परदेसमें पहुँचे हुए लोगोंका मन कसमसा रहे हैं ॥ ४ ॥ छितराई हुई वैदूर्यमणिके समान दिखाई देनेवाली घासके कोमल अँकुवोंसे भरी हुई, ऊपर निकले हुए कन्दलीके पत्तोंसे लदी हुई और वीरबहूटियोंसे छाई हुई धरती उस नायिका जैसी दिखाई दे रही है जो धौले रत्नको छोड़कर और सभी रगके रत्नोंवाले आभूषणोंसे सजी हुई हो ॥ ५ ॥ देखो ! सदा मीठी बोली बोलनेवाले, गरजते हुए बादलोंकी शोभापर रीझकर मगन हो उठनेवाले और अपने पख खोलकर फैलानेसे सुहावने लगनेवाले ये मोरोंके झुण्ड, झटपट अपनी प्यारी मोरनियोंको गले लगाते हुए और चूमते हुए आज नाच उठे हैं ॥ ६ ॥ जैसे कुलटा स्त्रियाँ प्रेममें अन्धी होकर बिना सोचे-विचारे अपनेको खो बैठती हैं, वैसे ही ये नदियाँ भी अपने मटमैले पानीकी बाटसे जहाँ-तहाँ अपने किनारेके

वृक्षोंको ढहाती हुई वेगसे दौड़ी हुई समुद्रकी ओर चली जा रही हैं ॥ ७॥ हरिणियोंके मुँहकी कुतरी हुई हरी-हरी घासों और नई कोपलोंवाले वृक्षोंसे छाए हुए विन्ध्याचलके जंगल किसका मन नहीं लुभा लेते ॥ ८॥ कमलके समान सुहावनी चंचल आँखोंके कारण सुन्दर मुखवाले डरे हुए हरिणोंसे भरा हुआ रेतीला जंगल हृदयको बरबस खींचे लिए जा रहा है ॥ ९ ॥ देखो ! लुक-छिपकर अपने प्यारेके पास प्रेमसे जानेवाली कामिनियाँ, गरजते हुए बादलोंसे घिरी हुई इस घनी अँधेरी रातमें भी बिजलीकी चमकसे आगेका मार्ग देखती हुई चली जा रही हैं ॥ १० ॥ बादलोंकी घोर कड़क सुनकर और बिजलीकी तड़पनसे चौंकी हुई स्त्रियाँ सोते समय अपने दोषी प्रेमियोंसे भी लिपटी जाती हैं ॥ ११ ॥ परदेसमें गए हुए लोगोंकी स्त्रियाँ अपने बिंबाफल जैसे लाल और नई कोपलों जैसे कोमल होठोंपर अपनी कमल जैसी आँखोंसे आँसू बरसाती हुई, अपनी माला, आभूषण, तेल, फुलेल, उबटन आदि सब कुछ छोड़कर गालपर हाथ धरे बैठी हैं ॥ १२ ॥ छोटे-छोटे कीड़े, धूल और घासको बहाता हुआ, मटमैला बरसाती पानी, साँपके समान टेढ़ा-मेढ़ा घूमता हुआ, ढालसे बहा आ रहा है और बेचारे मेंढक उसे साँप समझकर देख-देखकर डरे जा रहे हैं ॥१३॥ कानोंको सुहानेवाली मीठी तानें लेकर गूँजते हुए भौंरे, उस कमलको छोड़-छोड़कर चले जा रहे हैं जिसके पत्ते और फूल झड़ गए हैं। वे भौंरे, हड़बड़ीमें भूलसे, नाचते हुए मोरोंके खुले पंखोंको नये कमल समझकर उन्हींपर टूटे पड़ रहे हैं ॥ १४ ॥ नये-नये बादलोंके गरजनेसे जब बनैले हाथी मस्त हो जाते हैं और उनके माथेसे बहते हुए मदपर भौंरे आकर लिपट जाते हैं, उस समय उन हाथियोंके माथे स्वच्छ नीले कमल जैसे दिखाई देने लगते हैं ॥ १५ ॥ धौले कमलके समान उजले बादल जिन पहाड़ी चट्टानोंको चूमते चलते हैं और जिनपर मोर नाच रहे हैं उन चट्टानों परसे बहनेवाले सैकड़ों झरनोंको देखकर प्रेमियोंके मनमें हलचल मच जाती है ॥ १६ ॥ कदम्ब, सर्ज, अर्जुन और केतकीसे भरे हुए जंगलको कँपाता हुआ और उन वृक्षोंके फूलोंकी सुगन्धमें बसा हुआ और चन्द्रमाकी किरणोंसे तथा बादलोंसे ठंढा होकर बहनेवाला वायु किसे मस्त नहीं कर देता ? ॥१७॥ आजकल स्त्रियाँ, अपने भारी-भारी नितम्बोंपर

केश लटकाकर, अपने कानोंमें सुगंधित फूलोंके कनफूल पहनकर, छातीपर माला डालकर और मदिरा पीकर अपने प्रेमियोंके मनमें प्रेम उकसा रही हैं ॥ १८ ॥ बरसातमें नदियाँ बहती हैं, बादल बरसते हैं, मस्त हाथी चिग्घाडते हैं, जंगल हरे-भरे हो जाते हैं, अपने प्यारोंसे बिछुडी हुई स्त्रियाँ रोती-कलपती हैं, मोर नाचते हैं और बन्दर चुप मारकर गुफाओंमें जा छिपते हैं ॥ १९ ॥ एक ओर तो इन्द्रधनुष और बिजलीके चमकते हुए पतले धागोंसे सजी हुई और पानीके भारसे झुकी हुई काली-काली घटाएँ और दूसरी ओर करधनी तथा रत्न-जड़े कुण्डलोंसे सजी हुई स्त्रियाँ, ये दोनों ही परदेसमें बैठे हुए लोगोंका मन एक साथ हर लेती हैं ॥ २० ॥ इन दिनों नई केसर, केतकी और कदम्बके नये फूलोंकी मालाएँ गूँथकर स्त्रियाँ अपने जूडोंमें बाँधती हैं, और ककुभके फूलोंके मनचाहे ढंगसे बनाए हुए कर्णफूल अपने कानोंमें पहनती हैं ॥ २१ ॥ जिन स्त्रियोंके अंगोंपर अगर-मिला चन्दन लगा हुआ है, जिनके बाल फूलोंके गुच्छोंसे मँहक रहे हैं, वे बादलोंकी गडगडाहट सुनकर झट अपने घरके बड़े-बूढोंके पाससे उठकर सही साँझको ही अपने शयनघरमें घुस जाती हैं ॥ २२ ॥ कमलके पत्तोंके समान साँवले, पानीके भारसे झुक जानेके कारण बहुत थोडी ऊँचाईपर ही छाए हुए और धीमे-धीमे पवनके सहारे धीरे-धीरे चलनेवाले जिन बादलोंमें इन्द्रधनुप निकल आया है उन्होंने परदेसमें गए हुए लोगोंकी उन स्त्रियोंकी सब सुध-बुध हर ली है जो अपने प्यारों-के बिछोहमें व्याकुल हुई बैठी हैं ॥ २३ ॥ बनमें चारों ओर खिले हुए कदम्बके फूल ऐसे लग रहे हैं मानों वर्षाके नये जलसे गर्मी दूर हो जाने-पर जगल मगन हो उठा हो। पवनसे झूमती हुई शाखाओंको देखकर ऐसा लगता है मानों पूराका पूरा जगल अपने हाथ मटका-मटकाकर नाच रहा हो। और केतकीकी उजली कलियोंको देखकर ऐसा लगता है मानो जगल खिलखिलाकर हँस रहा हो ॥ २४ ॥ जैसे कोई प्रेमी अपनी प्यारीके लिये ढंग ढगके फूलोंके आभूषण बनावे वैसे ही वर्षा काल भी ऐसा लगता है मानो वह अपनी प्रेमिकाके लिये जूहीकी नई-नई कलियाँ तथा मालती और मौलसिरीके फूलोंकी माला गूँथ रहा हो और उनके कानोंके लिये खिले हुए नये कदम्बके फूलोंके कर्णफूल बना

रहा हो ॥ २५ ॥ इन दिनों स्त्रियाँ, अपने बड़े-बड़े गोल-गोल उठे हुए सुन्दर स्तनोंपर मोतीकी मालाएँ पहनती हैं और अपने भारी-भारी गोल-गोल नितम्बोंपर महीन उजली रेशमी साड़ी पहनती हैं। उनके पेटपर दिखाई पडनेवाली सुन्दर तिहरी सिकुडनोंपर जब वर्षाकी नई फुहार पड़ती है तो वहाँके नन्हें-नन्हें रोएँ खड़े हो जाते हैं ॥ २६ ॥ वर्षाके नये जलकी फुहारोंसे ठंढा बना हुआ पवन, फूलोंके बोझसे झुके हुए पेड़ोंको नचा रहा है, केतकीके फूलोंका पराग लेकर चारों ओर मनभावनी सुगंध फैला रहा है और परदेस गए हुए प्रेमियोंके मन चुरा रहा है ॥ २७ ॥ ये पानीके बोझसे झुके हुए बादल, गरमीकी आगकी लपटोंसे झुलसे हुए विन्ध्याचलकी तपन अपने ठंढे जलकी फुहारसे मानो यह समझकर बुझा रहे हैं कि जब हम पानीके बोझसे लदकर आते हैं तो यही हमें सहारा देता है ॥ २८ ॥ अपने बहुतसे सुन्दर गुणोंसे सुहावनी लगनेवाली, स्त्रियोंका जी खिलानेवाली, पेड़ोंकी टहनियों और बेलोंकी सच्ची सखी तथा सभी जीवोंका प्राण बनी हुई यह वर्षा ऋतु आपके मनकी सब साधें पूरी करे ॥ २९ ॥

महाकवि कालिदासके रचे हुए ऋतुसंहार नामके काव्यका दूसरा सर्ग समाप्त हुआ।



तीसरा सर्ग

शरदका वर्णन

फूले हुए काँसके कपड़े पहने, मस्त हंसोंकी बोलीके सुहावने बिछुए पहने, पके हुए धानके मनोहर शरीरवाली और खिले हुए कमलके समान सुन्दर मुखवाली शरद ऋतु, नई ब्याही हुई रूपवती बहूके समान अब आ पहुँची है ॥ १ ॥ काँसकी झाड़ियोंने धरतीको, चन्द्रमाने रातोंको हंसोंने नदियोंके जलको, कमलोंने तालाबोंको, फूलोंके बोझसे

झुके हुए छतिवनके वृक्षोंने जंगलको और मालतीके फूलोंने फुलवारियोंको उजला बना डाला है ॥ २ ॥ इस ऋतुमें नदियाँ भी उसी प्रकार धीरे धीरे बही जा रही हैं जैसे करधनी और माला पहने हुए बड़े-बडे नितम्बोंवाली कामिनियाँ चली जा रही हों, क्योंकि उछलती हुई सुन्दर मछलियाँ ही उन नदियोंकी करधनी हैं, तीरपर बैठी हुई उजली चिडियोंकी पाँतें ही उनकी मालाएँ हैं और ऊँचे-ऊँचे रेतीले टीले ही उनके गोल नितम्ब हैं ॥ ३ ॥ चाँदी, शंख और कमलके समान उजले जो सहस्रों बादल पानी बरसनेसे हलके होकर, पवनके सहारे इधर-उधर घूम रहे हैं, उनसे भरा हुआ आकाश कहीँ-कहीँ ऐसा लगने लगा है मानो किसी राजापर सैकड़ों चँवर डुलाए जा रहे हों ॥४॥ घुटे हुए आँजनकी पिंडी जैसा नीला सुन्दर आकाश, दुपहरियाके फूलोंसे लाल बनी हुई धरती और पके हुए धानसे लदे हुए सुन्दर खेत, इस संसारमें किस युवकका मन डाँवाडोल नहीं कर देते ॥ ५ ॥ जिसकी शाखाओंकी सुन्दर फुनगियोंको धीमा-धीमा पवन झुला रहा है, जिस पर बहुतसे फूल खिले हुए हैं, जिसकी पत्तियाँ बडी कोमल हैं और जिसमें से बहते हुए मधुकी धारको मस्त भौंरे धीरे-धीरे चूस रहे हैं, ऐसा कोविदारका वृक्ष किसका हृदय टुकडे-टुकड़े नहीं कर देता ? ॥६॥ बादल हटे हुए चन्द्रमाके मुँहवाली आजकलकी रात, तारोंके सुहावने गहने पहने हुए और चाँदनीकी उजली साडी पहने हुए अलबेली छोकरीके समान दिन-दिन बढती चली जा रही है ॥ ७ ॥ जिन नदियोंका जल कमलके परागसे लाल हो गया है, जिनपर हंस कूज रहे हैं, जिनकी लहरें जल-पक्षियोंकी चोंचोंसे टकराती जा रही हैं और जिनके तीरपर कदम्ब और सारस पक्षियोंके झुण्ड घूम रहे हैं, वे नदियाँ लोगोंको बडी सुहावनी लगती हैं ॥ ८ ॥ मृगकी आँखोंको भला लगनेवाले जिस चन्द्रमाकी किरणें मनको बरबस अपनी ओर खींच लेती हैं, वही सुहावना और ठण्डी फुहार बरसानेवाला चन्द्रमा, उन स्त्रियोंके अंग बहुत भूने डाल रहा है जो अपने पतियोंके बिछोहके विष बुझे बाणोंसे घायल हुई घरोंमें पडी पडी कलप रही हैं ॥ ९ ॥ अन्न भरी हुई बालियोंसे झुके धानके पौधोंको कँपाता हुआ, फूलोंसे लदे हुए सुन्दर वृक्षोंको नचाता हुआ और खिले हुए कमलोंसे भरे

तालोंकी कमलिनियोंको हिलाता हुआ शीतल वायु, युवकोंका मन झकझोरे डाल रहा है ॥ १० ॥ जिन तालोंके तीरपर मस्त हंसोंके जोड़े घूम रहे हैं, जिनमें स्वच्छ खिले हुए उजले और नीले कमल शोभा दे रहे हैं और जिनमें प्रात.कालके धीमे-धीमे पवनसे लहरें उठ रही हैं, वे ताल, अचानक हृदयको मस्त बनाए डाल रहे हैं ॥ ११ ॥ आजकल न तो बादलोंमें इन्द्रधनुष रह गए हैं, न बगले ही अपने पंख हिला-हिला कर आकाशको पंखा कर रहे हैं और न मोरोंके झुण्ड ही मुँह उठाकर आकाशकी ओर देख रहे हैं ॥ १२ ॥ जिन मोरोंने नाचना छोड दिया है उन्हें छोडकर अब कामदेव उन हंसोंके पास पहुँच गया है जो बडी मीठी बोलीमें रुनझुन-रुनझुन कर रहे हैं और फूलोंकी सुन्दरता भी कदम्ब, कुटज, अर्जुन, सर्ज और अशोकके वृक्षोंको छोड़कर छछिवनके पेडपर जा बसी है ॥ १३ ॥ जिन उपवनोंमें शेफालिकाके फूलोंकी मनभावनी सुगन्ध फैली हुई है, जिसमें निश्चिन्त बैठी हुई चिड़ियोंकी चहचहाहट चारों ओर गूँज रही है, जिनमें कमल जैसी आँखोंवाली हरिणियाँ जहाँ-तहाँ बैठी पगुरा रही हैं, उन्हें देखकर लोगोंके मन हाथसे निकल जाते हैं ॥ १४ ॥ प्रात काल पत्तोंपर पडी हुई ओसकी बूँदें गिराता हुआ और कोकाबेल, कमल तथा कुमुदसे छू-छूकर ठढक लेता हुआ जो पवन धीमे-धीमे बह रहा है वह किसे मस्त नहीं बना देता ॥ १५ ॥ जहाँके खेतोंमें भरपूर धानके पौधे लहलहा रहे हैं, जहाँ घासके मैदानमें बहुत सी गौएँ चर रही हैं, जहाँ बहुतसे सारस और हंसोंके जोडे अपनी मीठी बोली बोल रहे हैं ऐसे स्थान लोगोंको बडे अच्छे लगते हैं ॥ १६ ॥ इन दिनों हंसोंने सुन्दरियोंकी मनभावनी चालको, कमलिनियोंने उनके चन्द्रमुखकी चमकको, नीले कमलोंने उनकी मदभरी आँखोंको और छोटी लहरियोंने उनकी भौंहोंकी सुन्दर मटकको हरा दिया है ॥ १७ ॥ जिन हरी बेलोंकी टहनियाँ फूलोंके बोझसे झुक गई हैं, उनकी सुन्दरताने स्त्रियोंकी गहनोंसे सजी हुई बाहोंकी सुन्दरता छीन ली है और कंकेलि तथा नई मालतीके सुन्दर फूलोंने दाँतोंकी चमकसे खिल उठनेवाली स्त्रियोंकी मुस्कराहटकी चमकको लजा दिया है ॥ १८ ॥ स्त्रियाँ अपनी घनी घुँघराली काली लटोंमें नये मालतीके फूल गूँथ रही हैं और अपने जिन कानोंमें वे सोनेके बढिया कुण्डल

पहना करती थीं, उनमें उन्हों ने अनेक प्रकारके नीले कमल लटका लिए हैं ॥ १९ ॥ आजकल स्त्रियाँ बड़ी उमंगसे अपने स्तनोंपर मोतियों के हार पहनती और चन्दन पोतती हैं, अपने भारी-भारी नितम्बोंपर करधनी बाँधती हैं और अपने कमल जैसे कोमल सुन्दर पैरों में छम-छम बजनेवाले बिछुए पहनती हैं ॥ २० ॥ खिले हुए चन्द्रमा और छिटके हुए तारों से भरा हुआ आजकलका खुला आकाश उन तालों के समान दिखाई पड रहा है जिनमें नीलमके समान चमकता हुआ जल भरा हुआ हो, जिनमें एक-एक राज हंस बैठा हुआ हो और जिनमें यहाँ-वहाँ बहुतसे कुमुद खिले हुए हों ॥ २१ ॥ आजकल कमलोंको छूता हुआ शीतल पवन बह रहा है, बादलों के उड जानेसे चारों ओर सब सुहावना दिखाई दे रहा है, पानीका गँदलापन दूर हो गया है, धरतीपरका सारा कीचड सूख गया है और आकाशमें स्वच्छ किरणोंवाला चन्द्रमा और तारे निकल आए हैं ॥ २२ ॥ चन्द्रमासे भी अधिक सुन्दर मुखवाली युवतियाँ अपना सब गाना-बजाना छोडकर अत्यन्त कामातुर होकर अपने सुन्दर कमल जैसे हाथ अपने प्रेमीके हाथों में डालकर उन घरों में चली जा रही हैं जिनमें सुगधित फूलोंकी सेज बिछी हुई है ॥ २३ ॥ शरद्‌में संभोगका रस लेनेवाली और अनूठे प्रकारसे मुँह रँगनेवाली युवतियाँ जब अपनी सखियों के साथ बैठती हैं तो आपसमें एक दूसरीको सब बातें बता डालती हैं कि रातमें कैसे-कैसे आनन्द लूटा गया ॥२४॥ प्रात काल जब सूर्य अपने करों से कमलको जगाता है तब वह कमल सुन्दरी युवतीके मुखके समान खिल उठता है और जैसे प्रियके परदेस चले जानेपर स्त्रियोंकी मुस्कराहट जाती रहती है, वैसे ही चन्द्रमा-के छिप जानेपर कोँई सकुचा जाती है ॥ २५ ॥ जब परदेसमें गए हुए लोग नीले कमलों में अपनी प्रियतमाकी काली आँखोंकी सुन्दरता देखते हैं, मस्त हसोंकी ध्वनिमें उनकी सुनहली करधनीकी रुनझुन सुनते हैं और बन्धुजीवके फूलों में उनके निचले ओठोंकी चमकती हुई सुन्दरताकी चमक पाते हैं, तब तो वे बेचारे सब सुध-बुध भूलकर रोने लग जाते हैं ॥ २६ ॥ शरद्‌की सुन्दर शोभा, कहीं तो चन्द्रमाकी चमकको छोडकर स्त्रियों के मुँहमें पहुँच गई है, कहीं हसोंकी मीठी बोली छोडकर उनके रतन-जडे बिछुओं में चली गई है और कहीं बन्धूक फूलोंकी

लालीको छोडकर उनके निचले ओठोंमें जा चढी है ॥ २७ ॥ भगवान् करें, यह खिले हुए उजले कमलके मुखवाली, फूले हुए नीले कमलकी आँखोंवाली, सुन्दर काँईके शरीरवाली और फूले हुए काँसकी साडी पहननेवाली जो कामिनीके समान मस्त शरद् ऋतु आई है वह आप लोगोंके मनमें नई-नई उमंगें भरे ॥ २८ ॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए ऋतुसंहार काव्यमें शरद्का वर्णन नामका तीसरा सर्ग समाप्त हुआ ।

चौथा सर्ग

हेमन्तका वर्णन

देखो ! यह पाला गिराती हुई हेमन्त ऋतु आ गई है, जिसमें गेहूँ, जौ आदिके नये-नये अंकुरोंके निकल आनेसे चारों ओर सुहावना दिखलाई देने लगा है, लोधके पेड फूलोंसे लद गए हैं, धान पक चला है और कमल दिखाई नहीं देते ॥ १ ॥ इन दिनों अलबेली स्त्रियाँ अपने बड़े-बडे गोल-गोल स्तनोंपर हिम, कॉई और चन्द्रमाके समान उजले और कुकुमके रग में रँगे हुए मनोहर हार नहीं पहनती हैं ॥ २ ॥ आजकल न तो ये कामिनियाँ अपनी दोनों भुजाओंपर कंगन और भुजबन्ध ही पहनती हैं, न अपने गोल गोल नितम्बोंपर नये रेशमी वस्त्र ही लपेटती हैं और न अपने मोटे-मोटे स्तनोंपर महीन कपडे ही बाँधती हैं ॥ ३ ॥ और न वे अपने नितम्बोंपर सोने और रत्नोंसे जडी हुई करधनी पहनती हैं, न अपने कमल जैसे सुन्दर पैरोंमें हसके समान ध्वनि करनेवाले बिछुए ही डालती हैं ॥ ४ ॥ आजकल अपने पतिसे संभोगकी तैयारीमें युवतियाँ अपने शरीरपर चन्दन मलती हैं, अपने कमल जैसे मुँहपर अनेक प्रकारके बेल बूटे बनाती हैं और कालागुरुकी धूप देकर अपने केश सुगन्धित करती हैं ॥ ५ ॥ सभोगकी थकानसे

पीले और मुरझाए हुए मुखोंवाली युवतियाँ हँसनेकी बातपर भी यह समझकर मुँह खोलकर नहीं हँसती कि कहीं प्यारेके पैने दाँतों से काटे हुए ओठ दुखने न लगें ॥६॥ प्रात काल घासपर फैली हुई ओसकी बूँदों-को देखकर ऐसा लगता है मानो युवतियोंके मोटे-मोटे स्तनोंको उनकी छातियोंपर देखकर सुखपानेवाला हेमन्त, उन स्तनोंको प्रेमियों के हाथोंसे मले जाते देखकर दुखी होकर आँसू बहा रहा हो ॥ ७ ॥ गाँवके बाहर जिन खेतों में भरपूर धान लहलहा रहा है, हरिणियों के झुंडके झुंड चौकड़ियाँ भर रहे हैं और सारस बोल रहे हैं, उन खेतोंको देखकर मन हाथसे निकल जाता है ॥ ८ ॥ जिन तालों में खिले हुए नीले कमल फैले हुए हैं मस्त कलहंस इधर-उधर तैर रहे हैं और ठंढा निर्मल जल भरा हुआ है उन्हें देखकर लोगोंका जी खिल उठता है ॥ ९ ॥ जिनके पति परदेस चले गए हैं, वे मृगनयनी स्त्रियाँ जब सूखे हुए मार्गको देखती हैं तो परदेसमें पड़े हुए अपने दुखी पतियों के आनेकी बाट जोहती हुई यह सोचती हैं कि जब हमारे पति आवेंगे, तब हम यों मिलेंगी, यों बातें करेंगी और यों रूठेंगी ॥ १० ॥ हे प्यारी ! पालेसे भरी ठंढी वायुसे हिलती हुई यह पकी हुई प्रियङ्गुकी लता, वैसी ही पीली पड गई है जैसे अपने पतिसे अलग होनेपर युवती पीली पड़ जाती है ॥११॥ फूलोंके गंधकी भीनी और मीठी सुगंधवाले मुँहसे मुँह लगा-कर और साँसों से सुगन्धित अंगोंसे अंग मिलाकर सब स्त्री-पुरुष एक दूसरेसे लिपटकर सभोग करते हुए सोते हैं ॥ १२ ॥ इस समय नव-युवतियाँ इतने जी-जानसे जो सभोग कर रही हैं, उससे पता चल रहा है कि उनके प्यारों ने उनके ओठोंपर दाँतसे घाव कर दिए हैं और उनके स्तनोंपर अपने नखों से चिह्न बना दिए हैं ॥ १३ ॥ देखो ! एक स्त्री, हाथमें दर्पण लिए हुए प्रात कालकी धूपमें बैठी अपने कमल जैसे मुँहका सिंगार कर रही है और अपने जिन ओठोंका प्यारेने रस पी लिया है और जिनपर प्यारेके दाँतों के घाव बने हुए हैं, उन ओठोंको खींच-खींचकर देख रही है ॥१४॥ अत्यन्त सभोगसे थक जानेके कारण एक दूसरी स्त्रीकी कमल जैसी आँखें रातभर जागनेसे लाल हो गई हैं, उसके कंधे झूल गए हैं, उसके बाल इधर-इधर बिखर गए हैं और वह प्रात कालके सूर्यकी कोमल किरणों में धूप खाती हुई सो गई है ॥ १५ ॥

लम्बे, काले और घने केशोंवाली जिन स्त्रियों के शरीर, मोटे और ऊँचे स्तनों के कारण झुक गए हैं, वे अपने सिरसे वह मुरझाई हुई माला उतार रही हैं जिसकी मधुर सुगन्धका आनन्द वे रातमें ले चुकी हैं और फिरसे अपने बालोंको सँवार रही हैं ॥ १६ ॥ नखों के घावों से भरे हुए अंगोंवाली और लटकती हुई सुन्दर अलकों से ढकी हुई आखों वाली एक दूसरी स्त्री, अपने प्यारेसे उपभोग किए हुए शरीरको देख-देखकर बड़ी मगन होती हुई अपने अधरोंको फिर पहलेकी नाईं सुन्दर बनाकर अपनी चोली पहनने लगी है ॥ १७ ॥ इसी प्रकार बहुत देरतक संभोग करते-करते जो युवतियाँ थक गई हैं, जिनके कोमल और लचकीले शरीर ढीले पड़ गए हैं और जिनकी जाँघों और स्तनोंपर रोमाञ्च हो गया है, वे युवतियाँ बैठी अपने शरीरपर तेल मलवा रही हैं ॥ १८ ॥ भगवान् करे यह हेमन्त ऋतु आपको सुख दे जो अपने अनेक गुणों से मनको मुग्ध करनेवाली और स्त्रियों के चित्तको लुभानेवाली है, जिसमें गाँवों के आस-पास पके हुए धानों के खेत लहलहाते हैं, पाला गिरता है और सारस बोलते हैं ॥ १९ ॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए ऋतुसंहार काव्यमें हेमन्त वर्णन
नामका चौथा सर्ग समाप्त हुआ।



पाँचवाँ सर्ग

शिशिरका वर्णन

हे सुन्दर जाँघोंवाली ! सुनो, जिस ऋतुमें धान और ईखके खेत भर जाते हैं, जिसमें कभी-कभी सारसकी बोली भी गूँज जाती है और काम भी बहुत बढ जाता है, वह स्त्रियोंकी प्यारी शिशिर ऋतु आ पहुँची है ॥ १ ॥ आजकल लोग अपने घरों के भीतर खिड़कियाँ बन्द करके, आग तापकर, धूप खाकर, मोटे-मोटे कपड़े

पहनकर और युवती स्त्रियोंसे लिपटकर दिन बिताते हैं ॥ २ ॥ इन दिनों न किसीको चन्द्रमाकी किरणोंमें ठढाया हुआ चन्दन ही अच्छा लगता है न शरद्के चन्द्रमाके समान निर्मल छतें सुहाती हैं, न घनी ओससे ठढा बना हुआ वायु ही मनको भाता है ॥ ३ ॥ इन दिनों घने पालेसे कडकडाते जाडोंवाली, चन्द्रमाकी किरणोंसे और भी ठंढी बनी हुई और पीले-पीले तारोंवाली रातोंमें कोई भी बाहर नहीं निकलता ॥ ४ ॥ फूलोंके आसव पीनेसे जिनका कमल जैसा मुँह सुगन्धित हो गया है वे स्त्रियाँ पान खाकर, फुलेल लगाकर और मालाएँ पहनकर, काले अगरके धूएँसे महकनेवाले अपने शयन-घरोंमें बड़े चावसे चली जा रही हैं ॥ ५ ॥ मदमाती स्त्रियोंने अपने जिन पतियोंको अपराध करने पर डाँटा-फटकारा था। वे जब काँपते हुए और डरसे घबराए हुए उनके पास संभोग करनेके लिये आते हैं तो उनको देखते ही वे स्त्रियाँ उनका सब अपराध भूलकर उनसे संभोग करने लगती हैं ॥ ६ ॥ जिन नव-युवतियोंने युवकोंके साथ आजकलकी लम्बी रातोंमें बहुत देरतक जी भरकर और कसकर सभोगका आनन्द लूटा है, वे स्त्रियाँ, रातके परिश्रमसे दुखती हुई जाँघोंके कारण प्रात काल बडे धीरे-धीरे चल रही हैं ॥ ७ ॥ सुन्दर चोलियोंसे अपने स्तन कसे हुए, जाँघोंपर रेशमी कपडे पहने हुए और बालोंमें फूल गूँथे हुए स्त्रियाँ ऐसी लग रही हैं मानो जाडेके स्वागतका उत्सव मनानेके लिये सिंगार कर रही हों ॥ ८ ॥ इन दिनों प्रेमी लोग केसरसे रँगे हुए लाल स्तनोंवाली और सुखसे लूटी जानेवाली जवानीकी गर्मीसे भरी हुई कामिनियोंको कसकर छातीसे लिपटाए हुए जाडा भगाकर सोते हैं ॥ ९ ॥ इन दिनों स्त्रियाँ बड़े हर्षसे अपने प्रेमियोंके साथ रातको, रुचिकर, बढिया, मद बहानेवाली और काम-वासना जगानेवाली वह मदिरा पीती हैं, जिसमें पडे हुए कमल, उन कामिनियोंकी सुगंधित साँससे बराबर हिलते रहते हैं ॥ १० ॥ देखो! प्रात काल होनेपर एक स्त्री अपने प्रियतमसे उपभोग किए हुए अपने शरीरको देखती हुई अपने शयन-घरसे दूसरे घरमें चली जा रही है। इस समय इसके मुखपर मदकी लाली भी नहीं रह गई है और पतिकी छातीसे लगे रहनेके कारण इसके स्तनोंकी घुण्डियाँ भी कडी हो गई हैं ॥ ११ ॥ एक दूसरी भारी नितम्बोंवाली, गहरी नाभिवाली, लचकदार

कमरवाली और मनभावनी सुन्दरतावाली स्त्री अगरके धुएँमें वसी हुई अपनी विना मालावाली घनी घुँघराली लटोंको थामे प्रातःकाल पलँग छोड़कर उठ रही है ॥ १२ ॥ इन दिनों प्रातःकालके समय स्त्रियोंके सुन्दर लाल लाल ओठोंवाले, लाल कोरोंसे सजी हुई बड़ी-बड़ी आँखोंवाले, कंधोंपर फैले हुए बालोंवाले और सुनहले कमलके समान चमकनेवाले गोल-गोल मुखोंको देखकर ऐसा लगता है मानो घर घरमें लक्ष्मी आ वसी हों ॥ १३ ॥ अपने मोटे नितम्बों के बोझसे दुखी अपने स्तनों के बोझसे झुकी हुई कमरवाली और थकनेके कारण बहुत धीरे-धीरे चलनेवाली बहुत-सी स्त्रियाँ रातके संभोगवाले वस्त्र उतार-उतारकर दिनमें पहननेवाले कपड़े पहन रही हैं ॥ १४ ॥ अपने प्यारेके नखोंके घावों से भरी अपनी छाती देखती हुई प्यारेके दाँतोंसे काटे हुए अपने कोंपलोंके समान कोमल अधरोंको छूती हुई और इस प्रकार अपने मनचाहे संभोगके वेशपर खिलखिलाती हुई स्त्रियाँ प्रातःकाल अपने मुँह सजा रही हैं ॥ १५ ॥ जिस शिशिर ऋतुमें मिठाइयाँ बहुतायतसे मिलती हैं, स्वाद लगनेवाले चावल और ईख चारों ओर सुहाते हैं, लोग बहुत संभोग करते हैं, कामदेव भी पूरे वेगसे बढ़ जाता है और प्यारोंके विना अकेले दिन काटनेवाले लोग मन मसोसकर रह जाते हैं, वह शिशिर ऋतु आप लोगोंका भला करे ॥ १६ ॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए ऋतुसंहार काव्यमें शिशिर ऋतुका वर्णन नामका पाँचवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।



❁ छठा सर्ग ❁

वसन्तका वर्णन

लो प्यारी! फूले हुए आमकी मञ्जरियोंके पैने बाण लेकर और अपने धनुषपर भौंरोंकी पाँतोंकी डोरी चढ़ाकर वीर वसन्त संभोग करनेवाले रसिकोंको बेधने आ पहुँचा है ॥१॥ देखो प्यारी! वसन्तके आते ही सब वृक्ष फूलोंसे लद गए हैं, जलमें कमल खिल गए हैं, स्त्रियाँ मतवाली हो गई हैं, वायुमें सुगन्ध आने लगी है, साँझें सुहावनी हो चली हैं और दिन लुभावने हो गए हैं। सचमुच सुन्दर वसन्तमें सब कुछ सुहावना लगने ही लगता है ॥२॥ वसन्तमें घरोंकी छतोंपर ठंढी ओस छा गई है, चम्पेके फूलोंसे सबके जूड़े महकने लगे हैं और स्त्रियाँ भी अपने स्तनोंपर मनोहर फूलोंकी मालाएँ पहनने लगी हैं ॥३॥ वसन्तके आनेसे बावड़ियोंके जल, मणियोंसे जड़ी करधनियाँ, चाँदनी, स्त्रियाँ और मञ्जरीसे लदी आमोंकी डालें सब और भी सुहावने लगने लगी हैं ॥४॥ कामिनियोंने अपने गोल-गोल नितम्बोंपर कुसुमके लाल फूलोंसे रंगी रेशमी साड़ी पहन ली है और स्तनोंपर केशरमें रँगी हुई महीन कपड़ेकी चोली पहन ली है ॥५॥ स्त्रियोंके कानोंमें लटके हुए सजीले कनैरके फूल बड़े सुहावने दिखाई पड़ रहे हैं और उनकी चंचल, काली, घुँघराली लटोंमें अशोकके फूल और नव मल्लिकाकी खिली हुई कलियाँ बड़ी सुहावनी लगने लगी हैं ॥६॥ अपने प्रेमीसे संभोग करनेको उतावली नारियोंने अपने स्तनोंपर धौले चन्दनसे भीगे हुए मोतीके हार पहन लिए हैं, हाथोंमें भुजबन्ध और कंगन डाल लिए हैं और अपने नितम्बोंपर करधनी बाँध ली है ॥७॥ सुनहरे कमलके समान सुहावने और बेलबूटे चीते हुए स्त्रियोंके मुखोंपर फैली हुई पसीनेकी बूँदें ऐसी दिखाई पड़ती हैं मानो अनेक प्रकारके रत्नोंके बीच बहुतसे मोती जड़ दिए गए हों ॥८॥ काम-वासनासे पीडित स्त्रियाँ अपने प्रेमियोंके सामने अपने अंग उघाड़ती हुई उन्हें ललचा भी रही हैं और अपनी अधीरता भी दिखा रही हैं ॥९॥ इन दिनों स्त्रियोंमें इतनी काम-वासना भर आती है कि उनके अंग दुबले और पीले पड़ जाते हैं, वे मदसे आलसाई-सी हो जाती हैं बार-बार जंभाइयाँ लेती हैं और उनके सारे शरीरमें कुछ अनोखा ही रसीलापन आ जाता है ॥१०॥ इन दिनों लोग दिनमें तो वृक्षोंकी शीतल छायामें रहना चाहते हैं और रातमें चन्द्रमाकी किरणोंका आनन्द लेना

चाहते हैं। सोनेके लिये सुहावनी ठंढी कोठीमें पहुँच जाते हैं और थोड़ी-थोडी ठंढ पडनेके कारण अपनी प्यारियोंको कसकर छातीसे लिपटाए रहते हैं ॥११॥ इन दिनों कामदेव भी स्त्रियोंकी मदमाती आँखों में चञ्चलता बनकर, उनके गालों में पीलापन बनकर, स्तनों में कठोरता बनकर, कमरमें गहरापन बनकर, और नितम्बों में मोटापा बनकर आ बैठता है ॥१२॥ कामसे स्त्रियाँ अलसा जाती हैं, मदसे उनका चलना-बोलना भी कठिन हो जाता है और टेढी भौहों से उनकी चितवन बड़ी कटीली लगती है ॥१३॥ मदसे अलसाई हुई रसीली स्त्रियाँ प्रियङ्गु, कालीयक और केसरके घोलमें कस्तूरी मिलाकर अपने गोरे गोरे स्तनों पर चन्दनका लेप कर रही हैं ॥१४॥ इन दिनों, कामदेवके मदमें अलसाई हुई स्त्रियाँ अपने मोटे वस्त्र उतारकर महावरसे रँगे हुए और कालागुरुके धुएँसे सुगन्धित किए हुए महीन कपड़े पहनती हैं ॥१५॥ देखो ! यह नर कोयल आमकी मञ्जरियों के रसमें मद मस्त होकर अपनी प्यारीको बड़े प्रेमसे प्रसन्न होकर चूम रहा है। कमलपर बैठकर गुनगुनाता हुआ यह भौंरा भी अपनी प्यारीका मनचाहा काम कर रहा है ॥१६॥ लाल-लाल कोपलों के गुच्छों से झुके हुए और सुन्दर मञ्जरियों से लदी हुई शाखाओंवाले आमके पेड जब पवनके झोंकेमें हिलने लगते हैं तो उन्हें देख-देखकर स्त्रियों के मन उछलने लगते हैं ॥ १७ ॥ अशोकके जिन वृक्षों में कोंपलें फूट निकली हैं और जिनमें मूँगे जैसे लाल-लाल फूल नीचेसे ऊपरतक खिल आए हैं उन अशोकके वृक्षोंको देखते ही नवयुवतियों के हृदयमें शोक होने लगता है ॥ १८ ॥ जिन छोटी छोटी अतिमुक्त लताओं के फूलोंको मतवाले भौंरे चूम रहे हैं और जिनके नये कोमल पत्ते मन्द-मन्द पवनमें झूल रहे हैं, उन्हें देख-देखकर कामियोंका मन अचानक डाँवाडोल हो जाता है ॥ १९ ॥ हे प्यारी ! अभी खिले हुए और स्त्रियों के मुखके समान सुन्दर लगनेवाले कुरबकके फूलोंकी अनोखी शोभा देखकर किस रसिकका मन कामदेवके बाणसे घायल नहीं हो जाता ॥ २० ॥ वसन्तके दिनों में पवनके झोंकेसे हिलती हुई जिन परासके वृक्षोंकी फूली हुई शाखाएँ जलती हुई आगकी लपटों के समान दिखाई देती हैं, ऐसे परासके जगलों से ढकी हुई पृथ्वी ऐसी लग रही है मानो लाल साडी पहने हुए कोई नई दुलहिन हो ॥ २१ ॥ अपनी प्यारियों के मुखडोंपर रीझे हुए प्रेमियों के हृदयको

सुग्गेकी ठोरके समान लाल टेसूके फूलों ने ही कुछ कम टूक-टूक कर रक्खा था या कनैरके फूलों ने कुछ कम जला रखा था कि यह कोयल भी अपनी मीठी कूक सुना-सुनाकर उन्हें और मार डालनेपर उतारू हो रही है ॥ २२ ॥ मगन होकर मीठे स्वरमें कूकनेवाले नर कोयलों ने और मस्तीसे गूँजते हुए भौंरों ने सती स्त्रियों के, लाज और मर्यादा भरे हृदयोंको भी थोड़ी देरके लिये अधीर कर दिया है ॥ २३ ॥ वसन्तमें पाला तो पडता नहीं है, इसलिये आजकल मञ्जरियों से लदी आमकी डालोंको हिलानेवाला और कोयलके संदेशोंको चारों ओर फैलानेवाला सुन्दर वसन्ती पवन लोगोंका मन हरता हुआ बह रहा है ॥ २४ ॥ कामनियोंकी मस्तानी हँसीके समान उजले कुन्दके फूलों से चमकते हुए मनोहर उपवन जब मोह-मायासे दूर रहनेवाले मुनियों तकका मन हर लेते हैं फिर नवयुवकों के प्रेमी हृदयकी तो बात ही क्या ? ॥ २५ ॥ चैतमें जब कोयल कूकने लगती है, भौंरे गूँजने लगते हैं, उस समय कमरमें सोनेकी करधनी बाँधे, स्तनोंपर मोतीके हार लटकाए और कामकी उत्तेजनासे ढीले शरीरवाली स्त्रियाँ बलपूर्वक लोगोंका मन अपनी ओर खींच लेती हैं ॥ २६ ॥ जिन पर्वतोंकी चोटियों के ओर-छोरपर सुन्दर फूलों के पेड खड़े हैं, जिनपर कोयलोंकी कूक और भौंरोंकी गूँज सुनाई दे रही है और जिनपर चट्टानें फैली हुई हैं, उन पथरीले पहाडोंको देख देखकर सबको आनन्द मिलता है ॥२७॥ अपनी स्त्रियों से दूर रहनेके कारण जिसका जी बेचैन हो रहा है वे यात्री जब मञ्जरियों से लदे हुए आमके पेडोंको देखते हैं तो अपनी आँख बन्द करके रोते हैं, पछताते हैं, अपनी नाक बन्द कर लेते हैं कि कहीं मञ्जरियोंकी भीनी-भीनी महक नाकमें पहुँचकर स्त्रीकी याद न दिला दे और फूट-फूटकर रोने लगते हैं ॥ २८ ॥ कोयल और मदमाते भौंरों के स्वरों से गूँजते हुए बौरे हुए आमके पेडों से भरा हुआ और मनोहर कनैरके फूलों वाले अपने पैने बाणों से यह वसन्त मानिनी स्त्रियों के मन इसलिये बींध रहा है कि उनमें प्रेम जग जाय ॥ २९ ॥ परदेसमें पडा हुआ यात्री एक तो यों ही बिछोहसे दुबला-पतला हुआ रहता है तिसपर जब वह मन्द-मन्द बहनेवाले पवनके झोंकेसे हिलते हुए और सुन्दर सुनहले बौर गिरानेवाले, बौरे हुए आमके वृक्षोंको अपने सामने मार्गमें देखता है तो वह कामदेवके बाणोंकी चोट खाकर मूर्छित होकर गिर पडता

है ॥ ३० ॥ इस समय जी हुलसानेवाले कोकिलके गीत सुना-सुनाकर यह वसन्त, सुन्दरियोंकी रसभरी बातोंकी खिल्ली उड़ा रहा है। अपने कुन्दके फूलोंकी चमक दिखाकर यह वसन्त स्त्रियोंकी मुसकानपर चमक उठनेवाले दाँतोंको दमककी हँसी उड़ा रहा है और मूँगे जैसी लाल-लाल कोमल पत्तोंकी ललाई दिखाकर उन कामिनियोंकी कोंपलों जैसी कोमल और लाल हथेलियोंको लजा रहा है ॥ ३१ ॥ स्तनोंके बोझसे झुकी हुई स्त्रियाँ अपने स्वर्ण कमलके समान सुनहरे गालोंवाले मुँहसे, गीले चन्दनसे पुते और मोतियोंके हार पड़े हुए स्तनसे और मतवाली चंचलता भरी चितवनसे, शान्त चित्तवाले तपस्वियोंका मन भी डिगा देती हैं ॥ ३२ ॥ आसवसे महकता हुआ स्त्रियोंका कमलके समान मुख, उनकी लोध जैसी लाल-लाल आँखें, नए कुरबकके फूलोंसे सजे हुए उनके सुन्दर जूड़े, उनके बड़े-बड़े गोल-गोल स्तन और वैसे ही बड़े बड़े गोल-गोल नितम्ब क्या लोगोंके मनमें कामदेवको नहीं जगा रहे हैं ॥ ३३ ॥ बौरे हुए आमके पेड़ोंमें बसे हुए पवनसे मदमस्त होनेवाले कोकिलकी कूकसे और भौंरोंकी मनभावनी गुंजारोंसे मनस्विनी स्त्रियोंके मन भी डिग जाते हैं ॥ ३४ ॥ लुभावनी साँझ, छिटकी चाँदनी, कोयलकी कूक, सुगन्धित पवन, मतवाले भौंरोंकी गुंजार और रातमें आसव पीना, ये सब कामदेवको जगाए रखनेवाले रसायन ही हैं ॥३५॥ अमृत भरे अधरोंके समान लाल अशोकसे मतवाले भौंरोंकी गूँजसे, दाँतोंकी चमकती हुई पाँतों जैसे उजले कुन्दके हारोंसे, भलीभाँति खिले हुए कमलके समान मुखोंसे और आमके बौरोंकी सुगन्धमें बसे हुए मन्द-मन्द पवनसे यह शृंगारकी शिक्षा देनेवाला और कामका मित्र वसन्त आप लोगोंको सदा प्रसन्न रक्खे ॥३६॥ मलय के वायुवाला, कोकिलकी कूकसे जी लुभानेवाला, सदा सुगन्धित मधु बरसानेवाला और चारों ओर भौंरोंसे घिरा हुआ वसन्त आपको सुखी और प्रसन्न रक्खे ॥३७॥ जिसके आमके बौर ही बाण हैं, टेसू ही धनुष हैं, भौंरोंकी पाँत ही डोरी है, मलयाचलसे आया हुआ पवन ही मतवाला हाथी है कोयल ही गायक हैं और शरीर न रहते हुए भी जिसने संसारको जीत लिया है वह कामदेव वसन्तके साथ आपका कल्याण करे ॥ ३८ ॥

॥ ऋतुसंहार समाप्त हुआ ॥

****

९८३
२८३

द्वितीयं खण्डम्

महाकविश्रीकालिदासस्य

नाटकानि

पात्र-परिचयः

पुरुषाः

सूत्रधारः—नाटकस्य प्रबन्धकर्त्ता ।
दुष्यन्तः—हस्तिनापुरस्य सम्राट् ।
भद्रसेनः—सेनापतिः ।
माधव्यः—विदूषक ।
सर्वदमनः—दुष्यन्तस्य पुत्रः (भरत·) ।
सोमरातः—राज्ञ· धर्मगुरुः ।
रैवतकः—दौवारिकः ।
करभकः—राजसेवकः ।
पार्वतायनः—कञ्चुकी ।
वैतालिकौ—राजचारणौ ।
वैखानसः, शार्ङ्गरवः, शारद्वत
हारीतः, गौतमः—कण्व शिष्याः ।
श्यालः—दुष्यन्तस्य श्याल·, प्रधान राजपुरुष· ।
धीवरः—मत्स्यग्राही ।
सूचक·, जानुकः—राजपुरुषौ ।
मातलि—इन्द्रस्य सारथि ।
मारीचः—(कश्यपः) प्रजापति· ।
दुर्वासा—ऋषि ।

स्त्रियः

नटी—सूत्रधारस्य पत्नी ।
शकुन्तला—कण्वस्य पालिता कन्या ।
अनसूया, प्रियंवदा—शकुन्तलायाः सख्यौ ।
गौतमी—एका तपस्विनी ।
चतुरिका, परभृतिका, मधुकारिका—राजसेविका· ।
प्रतिहारी, यवनी—परिचारिके ।
सानुमती—एका अप्सरा ।
अदिति—कश्यपस्य पत्नी ।

॥ श्रीः ॥

अभिज्ञानशाकुन्तलम्

प्रथमोऽङ्कः

या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम् ।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः ॥ १ ॥

[नान्द्यन्ते]

सूत्रधार —अलमतिविस्तरेण । (नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) आर्ये यदि नेपथ्यविधानमवसितम् इतस्तावदागम्यताम् ।

[प्रविश्य]

नटी—अज्जउत्त इअं म्हि । आणवेदु अज्जो को णिओओ अणुचिट्ठिअदुत्ति ।

(आर्यपुत्र इयमस्मि । आज्ञापयतु आर्य. को नियोगोऽनुष्ठीयतामिति ।)

सूत्रधार —आर्ये इयं हि रसभावविशेषदीक्षागुरोर्विक्रमादित्यस्याभिरूपभूयिष्ठा परिषत् । अस्याञ्च कालिदासग्रथितवस्तुनाऽभिज्ञानशाकुन्तलनामधेयेन नवेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः । तत्प्रतिपात्रमाधीयतां यतः ।

नटी—सुविहिदप्पओअदाए अज्जस्स ण किं वि परिहाइस्सदि ।

(सुविहितप्रयोगतयाऽऽर्यस्य न किमपि परिहापयिष्यते ।)

सूत्रधार —[सस्मितम्] आर्ये कथयामि ते भूतार्थम्—

आ परितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः ॥ २ ॥

नटी—[सविनयम्] अज्ज एवं एदम्। अणन्तरकरणिज्जं दाव अज्जो आणवेदु।

(आर्य एवमेतत्। अनन्तरकरणीय तावदार्य आज्ञापयतु।)

सूत्रधार—आर्ये किमन्यदस्याः परिषदः श्रुतिप्रमोदहेतोर्गीतात्करणीयमस्ति।

नटी—अध कदमं उण उदुं अधिकरिअ गाइस्सम्।

(अथ कतम पुनर्ऋतुं अधिकृत्य गास्यामि।)

सूत्रधार—आर्ये नन्विममेव तावदचिरप्रवृत्तमुपभोगक्षमं ग्रीष्मसमयमधिकृत्य गीयताम्। सम्प्रति हि—

सुभगसलिलावगाहाः पाटलसंसर्गिसुरभिवनवाताः।
प्रच्छायसुलभनिद्रा दिवसाः परिणामरमणीयाः ॥ ३ ॥

नटी—तह। (तथा) [इति गायति]

ईसीसिचुंबिआइं भमरेहिं सुउमारदरकेसरसिहाइं।
ओदंसअंति दअमाणा पमदाओ सिरीसकुसुमाइं ॥ ४ ॥

(ईषदीषच्चुम्बितानि भ्रमरैः सुकुमारतरकेसरशिखानि।
अवतंसयन्ति दयमाना प्रमदाः शिरीषकुसुमानि ॥)

सूत्रधार—आर्ये साधु गीतम्। अहो रागनिविष्टचित्तवृत्तिरालिखित इव सर्वतो रङ्गः। तदिदानीं कतमं प्रयोगमाश्रित्यैनमाराधयामः।

नटी—णं अज्जमिस्सेहिं पढमं एव्व आणत्तं अहिण्णाणसाउन्दलं णाम अपुव्वं णाडअं पओए अधिकरीअदुत्ति।

(नन्वार्यमिश्रैः प्रथममेवाज्ञप्तमभिज्ञानशाकुन्तलं नामापूर्वं नाटक प्रयोगेऽधिक्रियतामिति।)

सूत्रधार—आर्ये सम्यगनुबोधितोऽस्मि। ननु अस्मिन्क्षणे विस्मृतं खलु मया। कुतः—

तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः।

[कर्णं दत्त्वा]

एष राजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरंहसा ॥ ५ ॥

[इति निष्क्रान्तौ]

॥ प्रस्तावना ॥

[ततः प्रविशति मृगानुसारी सशरचापहस्तो राजा रथेन सूतश्च ।]

सूत —[राजानं मृगं चावलोक्य] आयुष्मन्

कृष्णसारे ददच्चक्षुस्त्वयि चाधिज्यकार्मुके ।
मृगानुसारिणं साक्षात्पश्यामीव पिनाकिनम् ॥ ६ ॥

राजा—सूत दूरममुना सारङ्गेण वयमाकृष्टाः । अयं पुनरिदानीमपि—

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद्भूयसा पूर्वकायम् ।
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ॥७॥

[सविस्मयम्] तदेव कथमनुपतत एव मे प्रयत्नप्रेक्षणीयः संवृत्तः ।

सूत —आयुष्मन् उद्घातिनी भूमिरिति मया रश्मिसंयमनाद्रथस्य मन्दीकृतो वेगः । तेन मृग एष विप्रकृष्टान्तरः संवृत्तः । संप्रति समदेशवर्तिनस्ते न दुरासदो भविष्यति ।

राजा—तेन हि मुच्यन्तामभीषवः ।

सूत —यदाज्ञापयत्यायुष्मान् । [रथवेगं निरूप्य] आयुष्मन् पश्य पश्य ।

मुक्तेषु रश्मिषु निरायतपूर्वकाया
निष्कम्पचामरशिखा निभृतोर्ध्वकर्णाः ।
आत्मोद्धतैरपि रजोभिरलङ्घनीया
धावन्त्यमी मृगजवाक्षमयेव रथ्याः ॥८॥

राजा—[सहर्षम्] नूनमतीत्य हरितो हरींश्च वर्तन्ते वाजिनः । तथा हि —

यदालोके सूक्ष्मं व्रजति सहसा तद्विपुलतां
यदर्धे विच्छिन्नं भवति कृतसंधानमिव तत् ।
प्रकृत्या यद्वक्रं तदपि समरेखं नयनयो-
र्न मे दूरे किंचित्क्षणमपि न पार्श्वे रथजवात् ॥९॥

सूत पश्यैनं व्यापाद्यमानम् । [इति शरसंधानं नाटयति ।]

[नेपथ्ये]

भो भो राजन् आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः ।

सूतः--[आकर्ण्यावलोक्य च] आयुष्मन् अस्य खलु ते बाणपातवर्तिनः कृष्णसारस्यान्तरे तपस्विन उपस्थिताः ।

राजा--[ससम्भ्रमम्] तेन हि प्रगृह्यन्तां वाजिनः ।

सूत.--तथा । [इति रथं स्थापयति ।]

[ततः प्रविशत्यात्मना तृतीयो वैखानसः ।]

वैखानस --[हस्तमुद्यम्य] राजन् आश्रयमृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः ।

न खलु न खलु बाणः सन्निपात्योऽयमस्मिन्
मृदुनि मृगशरीरे तूलराशाविवाग्निः ।
क्व बत हरिणकानां जीवितञ्चातिलोलं
क्व च निशितनिपाता वज्रसाराः शरास्ते ॥१०॥

तत्साधुकृतसंधानं प्रतिसंहर सायकम् ।
आर्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि ॥ ११ ॥

राजा--एष प्रतिसंहृतः । [इति यथोक्त करोति ।]

वैखानस --सदृशमेतत्पुरुवंशप्रदीपस्य भवतः ।

जन्म यस्य पुरोर्वंशे युक्तरूपमिदं तव ।
पुत्रमेवंगुणोपेतं चक्रवर्तिनमाप्नुहि ॥ १२ ॥

इतरौ--[हस्तमुद्यम्य] सर्वथा चक्रवर्तिनं पुत्रमाप्नुहि ।

राजा--[सप्रमाणम्] प्रतिगृहीतम् ।

वैखानस—राजन् समिदाहरणाय प्रस्थिता वयम्। एष खलु कण्वस्य कुलपतेरनुमालिनीतीरमाश्रमो दृश्यते। न चेदन्यकार्यातिपातः तत्प्रविश्य प्रतिगृह्यतामातिथेयः सत्कारः। अपि च—

रम्यास्तपोधनानां प्रतिहतविघ्नाः क्रियाः समवलोक्य।
ज्ञास्यसि कियद्भुजो मे रक्षति मौर्वीकिणाङ्क इति ॥१३॥

राजा—अपि संनिहितोऽत्र कुलपतिः।

वैखानस—इदानीमेव दुहितरं शकुन्तलामतिथिसत्काराय नियुज्य दैवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः।

राजा—भवतु तामेव द्रक्ष्यामि। सा खलु विदितभक्तिं मां महर्षेः करिष्यति।

वैखानस—साधयामस्तावत्। [इति सशिष्यो निष्क्रान्तः।]

राजा—सूत तूर्णं चोदयाश्वान्। पुण्याश्रमदर्शनेन तावदात्मानं पुनीमहे।

सूत—यदाज्ञापयत्यायुष्मान्। [इति भूयो रथवेगं निरूपयति।]

राजा—[समन्तादवलोक्य] सूत अकथितोऽपि ज्ञायत एव यथाऽयमाश्रमाभोगस्तपोवनस्येति।

सूत—कथमिव।

राजा—किं न पश्यति भवान्। इह हि—

नीवाराः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः
प्रस्निग्धाः क्वचिदिङ्गुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः।
विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगा-
स्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यन्दरेखाङ्किताः ॥१४॥

अपि च

कुल्याम्भोभिः प्रसृतिचपलैः शाखिनो धौतमूलाः
भिन्नोरागः किसलयरुचामाज्यधूमोद्गमेन।
एते चार्वागुपवनभुवि च्छिन्नदर्भाङ्कुरायां
नष्टाशङ्का हरिणशिशवो मन्दमन्दं चरन्ति ॥१५॥

सूत—सर्वमुपपन्नम्।

राजा—[स्तोकमन्तरं गत्वा] तपोवननिवासिनामुपरोधो माभूत्। एतावत्येव रथं स्थापय यावदवतरामि।

सूत—धृताः प्रग्रहाः। अवतरत्वायुष्मान्।

राजा—[अवतीर्य] सूत विनीतवेषेण प्रवेष्टव्यानि तपोवनानि नाम। इदं तावद्गृह्यताम्। [इति सूतस्याभरणानि धनुश्चोपनीयार्पयति।] सूत यावदाश्रमवासिनः प्रत्यवेक्ष्याहमुपावर्ते तावदार्द्रपृष्ठाः क्रियन्तां वाजिनः।

सूत—तथा। [इति निष्क्रान्तः।]

राजा—[परिक्रम्यावलोक्य च] इदमाश्रमद्वारम्। यावत्प्रविशामि।

[प्रविश्य निमित्तं सूचयन्]

शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य।
अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र ॥१६॥

[नेपथ्ये] इदो इदो सहीओ।

(इत इतः सख्यौ)

राजा—[कर्णं दत्त्वा] अये दक्षिणेन वृक्षवाटिकामालाप इव श्रूयते। यावदत्र गच्छामि। [परिक्रम्यावलोक्य च] अये एतास्तपस्विकन्यकाः स्वप्रमाणानुरूपैः सेचनघटैर्बालपादपेभ्यः पयो दातुमित एवाभिवर्तन्ते। [निपुणं निरूप्य] अहो मधुरमासां दर्शनम्

शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य।
दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः ॥१७॥

यावदिमां छायामाश्रित्य प्रतिपालयामि। [इति विलोकयन्स्थितः।]

[ततः प्रविशति यथोक्तव्यापारा सह सखीभ्यां शकुन्तला।]

शकुन्तला—इदो इदो सहीओ।

[इत इतः सख्यौ]

अनसूया—हला सउन्दले तुवत्तो वि तादकस्सवस्स अस्समरुक्खआ पिअदरेत्ति तक्केमि। जेण णोमालिआकुसुमपेलवा तुमं वि एदाणं आलवालपूरणे णिउत्ता।

(हला शकुन्तले त्वत्तोऽपि तातकाश्यपस्याश्रमवृक्षकाः प्रियतरा इति तर्कयामि। येन नवमालिकाकुसुमपेलवा त्वमप्येतेषामालवालपूरणे नियुक्ता।)

शकुन्तला—ण केवलं तादणिओओ एव्व। अत्थि मे सोदरसणेहो वि एदेसु।

(न केवलं तातनियोग एव। अस्ति मे सोदरस्नेहोऽप्येतेषु।)

[इति वृक्षसेचनं रूपयति।]

राजा—कथमियं सा कण्वदुहिता असाधुदर्शी खलु तत्रभवान् कण्वः य इमामाश्रमधर्मे नियुङ्क्ते।

इदं किलाव्याजमनोहरं वपुस्तपःक्षमं साधयितुं य इच्छति।
ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया समीलतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति ॥१८॥

भवतु। पादपान्तर्हित एव विश्रब्धं तावदेनां पश्यामि। [इति तथा करोति।]

शकुन्तला—सहि अणसूए अदिपिणद्धेण वक्कलेण पिअंवदाए णिअन्तिद ह्मि। सिढिलेहि दाव णं।

(सखि अनसूये अतिपिनद्धेन वल्कलेन प्रियंवदया नियन्त्रिताऽस्मि। शिथिलय तावदेतत्।)

अनसूया—तह। (तथा।) [इति शिथिलयति।]

प्रियंवदा—[सहासम्] एत्थ पओहरवित्थारइत्तअं अत्तणो जोव्वणं उवालह। मं किं उवालंभेसि। (अत्र पयोधरविस्तारयितृ आत्मनो यौवनमुपालभस्व। मा किमुपालभसे।)

राजा—काममननुरूपमस्या वपुषो वल्कलं न पुनरलंकारश्रियं न पुष्यति। कुतः।

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥१९॥

शकुन्तला—[अग्रतोऽवलोक्य] एसो वादेरिदपल्लवाङ्गुलीहिं तुवरेदि विअ मं केसररुक्खओ। जाव णं संभावेमि। (एष वातेरितपल्लवाङ्गुलीभिस्त्वरयतीव मां केसरवृक्षकः। यावदेनं संभावयामि। [इति परिक्रामति।]

प्रियंवदा—हला सउन्दले एत्थ एव्व दाव मुहुत्तअं चिट्ठ जाव तुए उवगदाए लदासणाहो विअ अअं केसररुक्खओ पडिभादि।

(हला शकुन्तले अत्रैव तावन्मुहूर्तं तिष्ठ यावत्त्वयोपगतया लतासनाथ इवायं केसरवृक्षक प्रतिभाति।)

शकुन्तला—अदो क्खु पिअंवदा सि तुमं। (अतः खलु प्रियंवदाऽसि त्वम्।)

राजा—प्रियमपि तथ्यमाह शकुन्तलां प्रियंवदा। अस्याः खलु—

अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु संनद्धम् ॥२०॥

अनसूया—हला सउन्दले इअं सअंवरवहू बालसहआरस्स तुए किदणमहेआ वणजोसिणित्ति णोमालिआ। णं विसुमरिदा सि।

(हला शकुन्तले इयं स्वयंवरवधू बालसहकारस्य त्वया कृतनामधेया वनज्योत्स्नेति नवमालिका। एनां विस्मृतासि।)

शकुन्तला—तदा अत्ताणं वि विसुमरिस्सं। [लतामुपेत्यावलोक्य च] हला रमणीए क्खु काले इमस्स लदापाअवमिहुणस्स वइअरो संवुत्तो। णवकुसुमजोव्वणा वणजोसिणी बद्धफलदाए उवभोअक्खमो सहआरो।

(तदा आत्मानमपि विस्मरिष्यामि। हला रमणीये खलु काले एतस्य लतापादपमिथुनस्य व्यतिकरः संवृत्तः। नवकुसुमयौवना वनज्योत्स्ना बद्धफलतयोपभोगक्षमः सहकारः।) [इति पश्यन्ती तिष्ठति।]

प्रियंवदा—[सस्मितम्] अणसूए जाणासि किं णिमित्तं सउन्दला वणजोसिणीं अदिमेत्तं पेक्खदित्ति।

(अनसूये जानासि किं निमित्तं शकुन्तला वनज्योत्स्नामतिमात्रं प्रेक्षते इति।)

अनसूया—ण क्खु विभावेमि कहेहि। (न खलु विभावयामि कथय।)

प्रियंवदा—जह वणजोसिणी अणुरूवेण पाअवेण संगदा अवि णाम एव्वं अहं वि अत्तणो अणुरूवं वरं लहेअंत्ति। (यथा वनज्योत्स्ना अनुरूपेण पादपेन संगता अपि नामैवमहमप्यात्मनोऽनुरूपं वरं लभेयेति।)

शकुन्तला—एसो णूणं तुह अत्तगदो मणोरहो। (एष नूनं तवात्मगतो मनोरथ) [इति कलशमावर्जयति।]

राजा—अपि नाम कुलपतेरियमसवर्णक्षेत्रसंभवा स्यात् अथवा कृतं संदेहेन।

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः।
सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥२१॥

तथापि तत्त्वत एनामुपलप्स्ये।

शकुन्तला—[ससंभ्रमम्] अम्मो सलिलसेअसंभमुग्गदो णोमालिअं उज्झिअ वअणं मे महुअरो अहिवट्टइ। (अम्मो सलिलसेकसभ्रमोद्गतो नवमालिकामुज्झित्वा वदनं मे मधुकरोऽभिवर्तते।) [इति भ्रमरबाधां रूपयति।]

राजा—[सस्पृहम्]—

चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।
करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती ॥२२॥

शकुन्तला—ण एसो दुट्ठो विरमदि। अण्णदो गमिस्सं। [पदान्तरे स्थित्वा सदृष्टिक्षेपम्] कहं इदो वि आअच्छदि। हला परित्ताअह मं इमिणा दुव्विणीदेण महुअरेण अहिहूअमाणं।

(न एष दुष्टो विरमति अन्यतो गमिष्यामि। कथमितोऽप्यागच्छति हला परित्रायेथा मामनेन दुर्विनीतेन मधुकरेण अभिभूयमानाम्।)

उभे—[सस्मितम्] का वअं परित्तादुं। दुस्सन्दं एव्व अक्कन्द। राअरक्खिदव्वाइं तवोवणाइं णाम।

(के आवा परित्रातुम्। दुष्यन्तमेवाक्रन्द। राजरक्षितव्यानि तपोवनानि नाम।)

राजा—अवसरोऽयमात्मानं प्रकाशयितुम्। न भेतव्यं न भेतव्यम्—(इत्यर्धोक्ते स्वगतम्) राजभावस्त्वभिज्ञातो भवेत् भवतु एवं तावदभिधास्ये।

शकुन्तला—[पदान्तरे स्थित्वा सदृष्टिक्षेपम्] कहं इदो वि मं अणुसरदि।

(कथमितोऽपि मामनुसरति)

राजा—(सत्वरमुपसृत्य) आ ।

कः पौरवे वसुमतीं शासति शासितरि दुर्विनीतानाम् ।
अयमाचरत्यविनयं मुग्धासु तपस्विकन्यकासु ॥२३॥

[सर्वा राजानं दृष्ट्वा किंचिदिव सम्भ्रान्ता ।]

अनसूया—अज्ज ण क्खु किंवि अच्चाहिदं । इअं णो पिअसही दुट्ठ महुअरेण अहिहूअमाणा कादरीभूदा । (आर्य न खलु किमप्यत्याहितम् । इयं नौ प्रियसखी दुष्ट मधुकरेणाभिभूयमाना कातरीभूता ।) [इति शकुन्तलां दर्शयति ।]

राजा—[शकुन्तलाभिमुखो भूत्वा] अपि तपो वर्द्धते ।

(शकुन्तला साध्वसावनतमुखी तिष्ठति ।)

अनसूया—दाणिं अदिहिविसेसलाहेण । हला सउन्दले गच्छ उडअं फलमिस्सं अग्घं उवहर इदं पादोदअं भविस्सदि ।

(इदानीमतिथिविशेषलाभेन । हला शकुन्तले गच्छोटजम् फलमिश्रमर्घमुपहर । इदं पादोदकं भविष्यति ।)

राजा—भवतीनां सूनृतयैव गिरा कृतमातिथ्यम् ।

प्रियंवदा—तेण हि इमस्सिं दाव पच्छाअसीअलाए सत्तवण्णवेदिआए मुहुत्तअं उवविसिअ परिस्समविणोदं करेदु अज्जो ।

(तेन ह्यस्यां तावत् प्रच्छायशीतलायां सप्तपर्णवेदिकायां मुहूर्तमुपविश्य परिश्रमविनोदं करोत्वार्यः ।)

राजा—नूनं यूयमप्यनेन कर्मणा परिश्रान्ताः ।

अनसूया—हला सउन्दले उइदं णो पज्जुवासणं अदिहीणं । ता एहि एत्थ उवविसम्ह । (हला शकुन्तले उचितं नः पर्युपासनमतिथीनाम् तदेहि अत्रोपविशाम ।) [इति सर्वे उपविशन्ति ।]

शकुन्तला—[आत्मगतम्] किं णु क्खु इमं जणं पेक्खिअ तवोवणविरोहिणो विआरस्स गमणीअम्हि संवुत्ता । (किं नु खल्विमं जनं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिना विकारस्य गमनीयाऽस्मि संवृत्ता ।)

राजा—[सर्वा विलोक्य] अहो समवयोरूपरमणीयं भवतीनां सौहार्दम् ।

प्रियंवदा—[जनान्तिकम्] अणसूए को णु क्खु एसो चउरगम्भीराकिदी महुरं पिअं आलवन्तो पहाववन्दो विअ लक्खीअदि । (अनसूये को नु खल्वेष चतुरगम्भीराकृतिर्मधुरं प्रियमालपन्प्रभाववानिव लक्ष्यते)

अनसूया—सहि मम वि अत्थि कोदूहलं। पुच्छिस्सं दाव णं। [प्रकाशम्] अज्जस्स महुरालावजणिदो वीसम्भो मं मन्तावेदि कदमो अज्जेण राएसिणो वंसो अलंकरीअदि कदमो वा विरहपज्जुस्सुअजणो किदो देसो। किंणिमित्तं वा सुउमारदरो वि तवोवणगमणपरिस्समस्स अत्ता पदं उवणादो।

(सखि ममाप्यस्ति कौतूहलम्। पृच्छामि तावदेनम्। आर्यस्य मधुरालापजनितो विश्रम्भो मां मन्त्रयते कतम आर्येण राजर्षेर्वंशोऽलंक्रियते कतमो वा विरहपर्युत्सुकजनः कृतो देशः किंनिमित्तं वा सुकुमारतरोऽपि तपोवनगमनपरिश्रमस्यात्मा पदमुपनीत ।)

शकुन्तला—[आत्मगतम्] हिअअ मा उत्तम्म। एसा तुए चिन्तिदाइं अणसूया मन्तेदि। (हृदय मा उत्ताम्य। एषा त्वया चिन्तितान्यनसूया मन्त्रयते।)

राजा—[आत्मगतम्] कथमिदानीमात्मानं निवेदयामि कथं वा आत्मापहारं करोमि। भवतु एवं तावदेनां वक्ष्ये—[प्रकाशम्] भवति यः पौरवेण राज्ञा धर्माधिकारे नियुक्तः सोऽहमाश्रमिणामविघ्नक्रियोपलम्भाय धर्मारण्यमिदमायातः।

अनसूया—सणाहा दाणिं धम्मआरिणो। (सनाथा इदानीं धर्मचारिणः।) [शकुन्तला शृङ्गारलज्जां रूपयति]

सख्यौ—[उभयोराकारं विदित्वा जनान्तिकम्] हला सउन्दले जइ एत्थ अज्ज तादो सण्णिहिदो भवे। (हला शकुन्तले यद्यत्राद्य तातः सनिहितो भवेत्।)

शकुन्तला—तदो किं भवे। (ततः किं भवेत्।)

सख्यौ—इमं जीविदसव्वस्सेण वि अदिहिविसेसं किदत्थं करिस्सदि। (इमं जीवितसर्वस्वेनाप्यतिथिविशेषं कृतार्थं करिष्यति।)

शकुन्तला—तुम्हे अवेध। किं वि हिअए करिअ मन्तेध। ण वो वअणं सुणिस्सं। (युवामपेतम्। किमपि हृदये कृत्वा मन्त्रयेथे न युवयोर्वचनं श्रोष्यामि।)

राजा—वयमपि तावद्भवत्योः सखीगतं किञ्चित् पृच्छामः ।

सख्यौ—अज्ज अनुग्गहो विअ इअं अब्भत्थणा । (आर्य अनुग्रह इवेयमभ्यर्थना ।)

राजा—भगवान्कण्वः शाश्वते ब्रह्मणि स्थित इति प्रकाशः । इयं च वः सखी तदात्मजेति कथमेतत् ।

अनसूया—सुणादु अज्जो । अत्थि को वि कोसिओत्ति गोत्तणामहेओ महाप्पहावो राएसी । (शृणोत्वार्यः । अस्ति कोऽपि कौशिक इति गोत्रनामधेयो महाप्रभावो राजर्षिः ।)

राजा—अस्ति श्रूयते ।

अनसूया—तं णो पिअसहीए पहवं अवगच्छ । उज्झिआए सरीरसंवड्ढणादिहिं तादकण्णो से पिदा । (तमावयो प्रियसख्याः प्रभवमवगच्छ । उज्झिताया शरीरसवर्धनादिभिस्तातकण्वोऽस्या पिता ।)

राजा—उज्झितशब्देन जनितं मे कौतूहलम् । आ मूलाच्छ्रोतुमिच्छामि ।

अनसूया—सुणादु अज्जो । गोदमीतीरे पुरा किल तस्स राएसिणो उग्गे तवसि वट्टमाणस्स किवि जादसङ्केहिं देवेहिं मेणआ णाम अच्छरा पेसिदा णिअमाविग्घकालिणी । (शृणोत्वार्यः । गौतमीतीरे पुरा किल तस्य राजर्षेरुग्रे तपसि वर्तमानस्य किमपि जातशङ्कैर्देवैर्मेनका नाम अप्सरा प्रेषिता नियमविघ्नकारिणी ।)

राजा—अस्त्येतदन्यसमाधिभीरुत्वं देवानाम् ।

अनसूया—तदो वसन्तोदारसमए से उम्मादइत्तअं रूवं पेक्खिअ—(ततो वसन्तोदारसमये तस्या उन्मादयितृ रूपं प्रेक्ष्य—) [इत्यर्धोक्ते लज्जया विरमति ।]

राजा—परस्ताज्ज्ञायत एव सर्वथा अप्सरःसंभवैषा ।

अनसूया—अह इं । (अथकिम् ।)

राजा—उपपद्यते

मानुषीषु कथं वा स्यादस्य रूपस्य संभवः ।
न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात् ॥ २४ ॥

(शकुन्तला अधोमुखी तिष्ठति ।)

राजा—[आत्मगतम्] हन्त लब्धावकाशो मे मनोरथः। किंतु सख्याः परिहासोदाहृतां वरप्रार्थनां श्रुत्वा धृतद्वैधीभावकातरं मे मनः।

प्रियंवदा—[सस्मितं शकुन्तलां विलोक्य नायकाभिमुखी भूत्वा] पुणो वि वत्तुकामो विअ अज्जो । (पुनरपि वक्तुकाम इवार्यः ।)

[शकुन्तला सखीमङ्गुल्या तर्जयति ।]

राजा—सम्यगुपलक्षितं भवत्या। अस्ति नः सच्चरितश्रवणलोभादन्यदपि प्रष्टव्यम्।

प्रियंवदा—अलं विआरिअ। अणिअन्तणाणुओओ तवस्सिअणो णाम। (अलं विचार्य। अनियन्त्रणानुयोगस्तपस्विजनो नाम।)

राजा—इति सखीं ते ज्ञातुमिच्छामि—

वैखानसं किमनया व्रतमाप्रदाना—
व्यापाररोधि मदनस्य निषेवितव्यम्।
अत्यन्तमेव मदिरेक्षणवल्लभाभि-
राहो निवत्स्यति समं हरिणाङ्गनाभिः ॥ २५ ॥

प्रियंवदा—अज्ज धम्मचरणे वि परवसो अअं जणो। गुरुणो उण से अणुरूववरप्पदाणे संकप्पो। (आर्य धर्मचरणेऽपि परवशोऽयं जन। गुरो पुनरस्या अनुरूपवरप्रदाने संकल्प।)

राजा—[आत्मगतम्] न दुरवापेयं खलु प्रार्थना।

भव हृदय साभिलाषं संप्रति संदेहनिर्णयो जातः।
आशङ्कसे यदग्निं तदिदं स्पर्शक्षमं रत्नम् ॥२६॥

शकुन्तला-[सरोषमिव]अणसूए गमिस्सं अहं।(अनसूये गमिष्याम्यहम्।)

अनसूया—किं णिमित्तं। (किं निमित्तम्।)

शकुन्तला—इमं असंबद्धप्पलाविणिं पिअंवदं अज्जाए गोदमीए णिवेदइस्सं।

(इमामसंबद्धप्रलापिनीं प्रियंवदामार्यायै गौतम्यै निवेदयिष्यामि।)

अनसूया—सहि ण जुत्तं अस्समवासिणो अकिदसक्कारं अदिहिविसेसं विसज्जिअ सच्छन्ददो गमणं। (सखि न युक्तमकृतसत्कारमतिथिविशेषं विसृज्य स्वच्छन्दतो गमनम्।)

[शकुन्तला न किंचिदुक्त्वा प्रस्थितैव ।]

राजा—[स्वगतम्] आः कथं गच्छति [ग्रहीतुमिच्छन्निगृह्यात्मानम्]

अनुयास्यन्मुनितनयां सहसा विनयेन वारितप्रसरः ।
स्थानादनुच्चलन्नपि गत्वेव पुनः प्रतिनिवृत्तः ॥२७॥

प्रियंवदा—[शकुन्तलां निरुध्य] हला ण दे जुत्तं गन्तुं । (हला न ते युक्तं गन्तुम् ।)

शकुन्तला—[सभ्रूभङ्गम्] किंणिमित्तं । (किं निमित्तम् ।)

प्रियंवदा—रुक्खसेअणे दुवे धारेसि मे । एहि जाव अत्ताणं मोचिअ तदो गमिस्ससि । (वृक्षसेचने द्वे धारयसि मे । एहि तावत् आत्मानं मोचयित्वा ततो गमिष्यसि ।) [इति बलादेनां निवर्तयति]

राजा—भद्रे वृक्षसेचनादेव परिश्रान्तामत्रभवतीं लक्षये । तथा ह्यस्याः—

स्रस्तांसावतिमात्रलोहिततलौ बाहू घटोत्क्षेपणा-
दद्यापि स्तनवेपथुं जनयति श्वासः प्रमाणाधिकः ।
बद्धं कर्णशिरीषरोधि वदने घर्माम्भसां जालकं ।
बन्धे स्रंसिनि चैकहस्तयमिताः पर्याकुला मूर्धजाः ॥२८॥

तदहमेनामनृणां करोमि । [इत्यङ्गुलीयं दातुमिच्छति ।]

[उभे नाममुद्राक्षराण्यनुवाच्य परस्परमवलोकयतः ।]

राजा—अलमस्मानन्यथा संभाव्य । राज्ञः परिग्रहोऽयमिति राजपुरुषं मामवगच्छथ ।

प्रियंवदा—तेण हि णारिहदि एदं अङ्गुलीअअं अङ्गुलिविओअं । अज्जस्स वअणेण अणिरिणा दाणिं एसा । [किंचिद्विहस्य] हला सउन्दले मोइदासि अणुअम्पिणा अज्जेण अहवा महाराएण । गच्छ दाणिं । (तेन हि नार्हत्येतदङ्गुलीयकमङ्गुलिवियोगम् । आर्यस्य वचनेनानृणा इदानीमेषा । हला शकुन्तले मोचितास्यनुकम्पिना आर्येण अथवा महाराजेन । गच्छेदानीम् ।

शकुन्तला—[आत्मगतम्] जइ अत्तणो पहविस्सं । [प्रकाशम्] का तुमं विसज्जिदव्वस्स रुन्धिदव्वस्स वा । (यद्यात्मनः प्रभविष्यामि ।

का त्वं विसर्जितव्यस्य रोद्धव्यस्य वा ।)

राजा—[शकुन्तलां विलोक्य आत्मगतम्] किं नु खलु यथा वयमस्यामेवमियमप्यस्मान्प्रति स्यात् । अथवा लब्धावकाशा मे प्रार्थना । कुतः ।

वाचं न मिश्रयति यद्यपि मद्वचोभिः
कर्णं ददात्यभिमुखं मयि भाषमाणे ।
कामं न तिष्ठति मदाननसंमुखीना
भूयिष्ठमन्यविषया न तु दृष्टिरस्याः ॥ २९ ॥

[नेपथ्ये]

भो भोस्तपस्विनः संनिहितास्तपोवनसत्त्वरक्षायै भवत । प्रत्यासन्नः किल मृगयाविहारी पार्थिवो दुष्यन्तः ।

तुरगखुरहतस्तथा हि रेणुर्विटपविषक्तजलार्द्रवल्कलेषु ।
पतति परिणतारुणप्रकाशः शलभसमूह इवाश्रमद्रुमेषु ॥३०॥

अपि च—

तीव्राघातप्रतिहततरुः स्कन्धलग्नैकदन्तः
पादाकृष्टव्रततिवलयासङ्गसंजातपाशः ।
मूर्तो विघ्नस्तपस इव नो भिन्न सारङ्गयूथो
धर्मारण्यं प्रविशति गजः स्यन्दनालोकभीतः ॥३०॥

[सर्वाः कर्णं दत्त्वा किंचिदिव सम्भ्रान्ता ।]

राजा—[आत्मगतम्] अहो धिक् । सैनिका अस्मदन्वेषिणस्तपोवनमुपरुन्धन्ति । भवतु । प्रतिगमिष्यामस्तावत् ।

सख्यौ—अज्ज इमिणा अरण्णअवुत्तन्तेण पज्जाउल म्ह । अणुजाणीहि णो उडअगमणस्स। (आर्य अनेनारण्यकवृत्तान्तेन पर्याकुला. स्म । अनुजानीहि न उटजगमनाय ।)

राजा—[ससम्भ्रमम्] गच्छन्तु भवत्यः । वयमप्याश्रमपीडा यथा न भवति तथा प्रयतिष्यामहे ।

[सर्वे उत्तिष्ठन्ति ।]

सख्यौ—अज्ज असंभवाविदअदिहिसक्कारं भूओ वि पेक्खणणिमित्तं लज्जेमो अज्जं विण्णविदुं ।

(आर्य असंभावितातिथिसत्कारं भूयोऽपि प्रेक्षणनिमित्तं लज्जावहे आर्य विज्ञापयितुम् ।)

राजा—मा मैवम् । दर्शनेनैव भवतीनां पुरस्कृतोऽस्मि ।

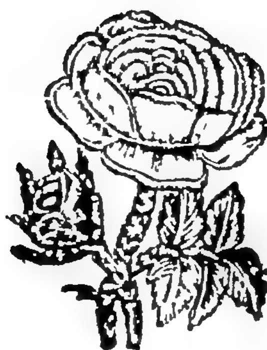
[शकुन्तला राजानमवलोकयन्ती सव्याज विलम्ब्य सह सखीभ्यां निष्क्रान्ता ।]

राजा—मन्दौत्सुक्योऽस्मि नगरगमनं प्रति यावदनुयात्रिकान्समेत्य नातिदूरे तपोवनस्य निवेशयेयम् । न खलु शक्नोमि शकुन्तलाव्यापारादात्मानं निवर्तयितुम् । मम हि—

गच्छति पुरः शरीरं धावति पश्चादसंस्तुतं चेतः ।
चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य ॥ ३२ ॥

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।]

इति प्रथमोऽङ्कः ।



द्वितीयोऽङ्कः

[ततः प्रविशति विषण्णो विदूषकः ।]

विदूषकः—[निःश्वस्य] भो दिट्ठं । एदस्स मअआसीलस्स रण्णो वअस्सभावेण णिव्विण्णो म्हि । अअं मओ अअं वराहो अअं सद्दूलो त्ति मज्झण्णे वि गिम्हविरअपाअवच्छाआसु वणराईसु आहिण्डीअदि अडवीदो अडवी । पत्तसंकरकसाआइं कडुआइं गिरिणईजलाइं पीअन्ति अणिअदवेलं सुल्लमंसभूइट्ठो आहारो । अण्हीअदि तुरगाणुधावणकण्डिदसंधिणो रत्तिम्मि वि णिकामं सइदव्वं णत्थि । तदो महन्ते एव्व पच्चूसे दासीएपुत्तेहिं सउणिलुद्धएहिं वणग्गहणकोलाहलेण पडिबोधिदो म्हि । एत्तएण दाणिं वि पीडा ण णिक्कमदि । तदो गण्डस्स उवरि पिण्डआ संवुत्तो । हिओ किल अम्हेसु ओहीणेसु तत्तहोदो मआणुसारेण अस्समपदं पविट्ठस्स तावसकण्णआ सउन्दला मम अधण्णदाए दंसिदा । संपदं णअरगमणस्स मणं कहं वि ण करेदि । अज्ज वि से तं एव्व चिन्तअन्तस्स अक्खीसु पभादं आसि । का गदी । जाव णं किदाचारपरिक्कमं पेक्खामि । [इति परिक्रम्यावलोक्य च] एसो बाणासणहत्थाहिं जवणीहिं वणपुप्फमालाधारिणीहिं पडिवुदो इदो एव्व आअच्छदि पिअवअस्सो । होदु । अङ्गभङ्गविअलो विअ भविअ चिट्ठिस्सं । जइ एव्वं वि णाम विस्समं लहेअं ।

(भो दृष्टम् । एतस्य मृगयाशीलस्य राज्ञो वयस्यभावेन निर्विण्णोऽस्मि । अयं मृगोऽयं वराहोऽयं शार्दूल इति मध्याह्नेऽपि ग्रीष्मविरलपादपच्छायासु वनराजी-

ध्वाहिण्ड्यतेऽटवीतोऽटवी पत्र मरुकषायाणि कटूनि गिरिनदीजलानि पीयन्ते। अनियतवेलं शूल्यमांसभूयिष्ठ आहारो भुज्यते तुरगानुधावनकण्डितसंधे रात्रावपि निकाम शयितव्यं नास्ति। ततो महत्येव प्रत्यूषे दास्या पुत्रैः शकुनिलुब्धकैर्वन-ग्रहणकोलाहलेन प्रतिबोधितोऽस्मि। इयतेदानीमपि पीडा न निष्क्रामति। ततो गण्डस्योपरि पिण्डक संवृत्त। ह्य किलास्मास्ववहीनेषु तत्रभवतो मृगानुसारेणा-श्रमपदं प्रविष्टस्य तापसकन्यका शकुन्तला ममाधन्यतया दर्शिता। साम्प्रत नगर-गमनस्य मनः कथमपि न करोति। अद्यापि तस्य तामेव चिन्तयतोऽक्ष्णो. प्रभात मासीत्। का गति यावत्त कृताचारपरिक्रम पश्यामि। एष बाणासनहस्ताभि-र्यवनीभिर्वनपुष्पमालाधारिणीभि परिवृत इत एवागच्छति प्रियवयस्य'। भवतु। अङ्गभङ्गविकल इव भूत्वा स्थास्यामि। यद्येवमपि नाम विश्रम लभेय।)

[इति दण्डकाष्ठमवलम्ब्य स्थित ।]

[ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टपरिवारो राजा।]

राजा—कामं प्रिया न सुलभा मनस्तु तद्भावदर्शनाश्वासि।
अकृतार्थेऽपि मनसिजे रतिमुभयप्रार्थना कुरुते॥ १॥

[स्मितं कृत्वा] एवमात्माभिप्रायसंभावितेष्टजनचित्तवृत्तिप्रार्थयिता विडम्ब्यते। तथा हि—

स्निग्धं वीक्षितमन्यतोऽपि नयने यत्प्रेरयन्त्या तया
यातं यच्च नितम्बयोर्गुरुतया मन्दं विलासादिव।
मा गा इत्युपरुद्धया यदपि सा सासूयमुक्ता सखी
सर्वं तत्किल मत्परायणमहो कामी स्वतां पश्यति॥ २॥

विदूषक—[तथास्थित एव] भो वअस्स ण मे हत्थपाआ पसरन्ति। ता वाआमेत्तएण जईं करीयसि। जेदु जेदु भवं (भो वयस्य न मे हस्तपादा प्रसरन्ति। तद् वाचामात्रेण जयीक्रियसे। जयतु जयतु भवान्)

राजा—कुतोऽयं गात्रोपघातः।

विदूषक—कुदो किल अअं अच्छी आउलीकरिअ अस्सुकारणं पुच्छेसि। (कुत. किल स्वयमक्ष्याकुलीकृत्याश्रुकारणं पृच्छसि।)

राजा—न खल्ववगच्छामि।

विदूषक—भो वअस्स ज वेदसो कुज्जलीलं विडंवेदि तं किं अत्तणो

पहावेण उद णईवेअस्स। (भो वयस्य यद्वेतसः कुब्जलीलां विडम्बयति तत्किमात्मनः प्रभावेण उत नदीवेगस्य।)

राजा—नदीवेगस्तत्र कारणम्।

विदूषकः—मम वि भवं। (ममापि भवान्।)

राजा—कथमिव।

विदूषकः—एव्वं राअकज्जाणि उज्झिअ तारिसे आउलप्पदेसे वणचरवुत्तिणा तुए होदव्वं। जं सच्चं पच्चहं सावदसमुच्छारणेहिं संखोहिअसंधिबन्धाणं मम गत्ताणं अणीसो म्हि संवुत्तो। ता पसादइस्सं विसज्जिदु मं एक्काहं वि दाव विस्समिदुं। (एवं राजकार्याण्युज्झित्वा तादृशे आकुलप्रदेशे वनचरवृत्तिना त्वया भवितव्यम्। यत्सत्यं प्रत्यहं श्वापदसमुत्सारणैः संक्षोभितसंधिबन्धानां मम गात्राणामनीशोऽस्मि संवृत्तः। तत्प्रसादयिष्यामि विसर्जितुं मामेकाहमपि तावद्विश्रमितुम्।)

राजा—[स्वगतम्] अयं चैवमाह। ममापि कण्वसुतामनुस्मृत्य मृगयाविक्लवं चेतः। कुतः।

न नमयितुमधिज्यमस्मि शक्तो धनुरिदमाहितसायकं मृगेषु।
सहवसतिमुपेत्य यैः प्रियायाः कृत इव मुग्धविलोकितोपदेशः॥ ३॥

विदूषकः—[राज्ञो मुखं विलोक्य] अत्तभवं किं वि हिअए करिअ मन्तेदि। अरण्णे मए रुदिअं आसि। (अत्रभवान्किमपि हृदये कृत्वा मन्त्रयते। अरण्ये मया रुदितमासीत्।)

राजा—[सस्मितम्] किमन्यत्। अनतिक्रमणीयं मे सुहृद्वाक्यमिति स्थितोऽस्मि।

विदूषकः—चिरं जीअ। (चिरं जीव।) [इति गन्तुमिच्छति।]

राजा—वयस्य तिष्ठ। सावशेषं मे वचः।

विदूषकः—आणवेदु भवं। (आज्ञापयतु भवान्।)

राजा—विश्रान्तेन भवता ममाप्यनायासे कर्मणि सहायेन भवितव्यम्।

विदूषकः—किं मोदअखण्डिआए। तेण हि अअं सुगहीदो खणो। (किं मोदकखण्डिकायाम्। तेन ह्ययं सुगृहीतः क्षणः।)

राजा—यत्र वक्ष्यामि। कः कोऽत्र भोः।

[प्रविश्य]

दौवारिक —(प्रणम्य) आणवेदु भट्टा। (आज्ञापयतु भर्ता।)

राजा—रैवतक सेनापतिस्तावदाहूयताम्।

दौवारिक —तह। (इति निष्क्रम्य सेनापतिना सह पुन प्रविश्य) एसो अणणावअणुक्कण्ठो भट्टा इदो दिण्णदिट्ठी एव्व चिट्ठदि। उवसप्पदु अज्जो। (तथा। एप आज्ञावचनोत्कण्ठो भर्ता इतो दत्तदृष्टिरेव तिष्ठति। उपसर्पत्वार्य।)

सेनापति —[राजानमवलोक्य स्वगतम्] दृष्टदोषाऽपि स्वामिनि मृगया केवलं गुण एव संवृत्ता। तथा हि देवः —

अनवरतधनुर्ज्यास्फालनक्रूरपूर्वं

रविकिरणसहिष्णु स्वेदलेशैरभिन्नम्।

अपचितमपि गात्रं व्यायतत्वादलक्ष्यं

गिरिचर इव नागः प्राणसारं बिभर्ति ॥४॥

[उपेत्य] जयतु जयतु स्वामी। गृहीतश्वापदमरण्यम्। किमद्याप्यवस्थीयते।

राजा—मन्दोत्साहः कृतोऽस्मि मृगयापवादिना माधव्येन।

सेनापति—[जनान्तिकम्] सखे स्थिरप्रतिबन्धो भव। अहं तावत्स्वामिनश्चित्तवृत्तिमनुवर्तिष्ये। [प्रकाशम्] प्रलपत्वेष वैधेयः। ननु प्रभुरेव निदर्शनम्।

मेदश्छेदकृशोदरं लघु भवत्युत्थानयोग्यं वपुः

सत्त्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयोः।

उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिध्यन्ति लक्ष्ये चले

मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग्विनोदः कुतः ॥५॥

विदूषक —अवेहि रे उत्साह हेतुअ अत्तभवं पकिदिं आपण्णो। तुमं दाव अडवीदो अडवीं आहिण्डन्तो णरणासिआलोलुवस्स जिण्णरिच्छस्स कस्स वि मुहे पडिस्ससि। (अपेहि रे उत्साह हेतुक अत्रभवान्प्रकृतिमापन्न.। त्वं तावदटवीतोऽटवीमाहिण्डमानो नरनासिकालोलुपस्य जीर्णर्क्षस्य कस्यापि मुखे पतिष्यसि।)

राजा—भद्र सेनापते आश्रमसंनिकृष्टे स्थिताः स्मः। अतस्ते वचो नाभिनन्दामि। अद्य तावत्—

गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु।
विश्रब्धं क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले
विश्रामं लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः॥६॥

सेनापतिः—यत्प्रभविष्णवे रोचते।

राजा—तेन हि निवर्तय पूर्वगतान्वनग्राहिणः। यथा न मे सैनिकास्तपोवनमुपरुन्धन्ति तथा निषेद्धव्याः। पश्य—

शमप्रधानेषु तपोधनेषु गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेजः।
स्पर्शानुकूला इव सूर्यकान्तास्तदन्यतेजोऽभिभवाद्वमन्ति॥७॥

सेनापतिः—यदाज्ञापयति स्वामी।

विदूषकः—धंसदु दे उच्छाहवुत्तन्तो। (ध्वंसतां ते उत्साहवृत्तान्तः।)

[निष्क्रान्तः सेनापतिः।]

राजा—[परिजनं विलोक्य] अपनयन्तु भवन्तो मृगयावेषम्। रैवतक त्वमपि स्वं नियोगमशून्यं कुरु।

परिजनः—जं देवो आणवेदि। (यद्देव आज्ञापयति)। [इति निष्क्रान्तः।]

विदूषकः—किदं भवदा णिम्मच्छिअं संपदं एदस्सिं पादवच्छाआए विरइदलदाविदाणदंसणीए आसणे णिसीददु भवं जाव अहं वि सुहासीणो होमि। (कृतं भवता निर्मक्षिकम्। साम्प्रतमेतस्यां पादपच्छायायां विरचितलतावितानदर्शनीयायामासने निषीदतु भवान् यावदहमपि सुखासीनो भवामि।)

राजा—गच्छाग्रतः।

विदूषकः—एदु भवं। (एतु भवान्।)

[इत्युभौ परिक्रम्योपविष्टौ।]

राजा—माधव्य अनवाप्तचक्षुःफलोऽसि येन त्वया दर्शनीयं न दृष्टम्।

विदूषकः—णं भवं अग्गदो मे वट्टदि। (ननु भवानग्रतो मे वर्तते।)

राजा—सर्वः खलु कान्तमात्मानं पश्यति । अहं तु तामाश्रमललामभूतां शकुन्तलामधिकृत्य ब्रवीमि ।

विदूषकः—[स्वगतम्] होदु से अवसरं ण दाइस्सं । [प्रकाशम्] भो वअस्स ते तावसकण्णआ अब्भत्थणीआ दीसदि । (भवतु अस्यावसरं न दास्ये । भो वयस्य ते तापसकन्यकाऽभ्यर्थनीया दृश्यते ।)

राजा—सखे न परिहार्ये वस्तुनि पौरवाणां मनः प्रवर्तते ।

सुरयुवतिसंभवं किल मुनेरपत्यं तदुज्झिताधिगतम् ।
अर्कस्योपरि शिथिलं च्युतमिव नवमालिकाकुसुमम् ॥ ८ ॥

विदूषकः—[विहस्य] जह कस्स वि पिण्डखज्जूरेहिं उव्वेजिदस्स तिन्तिणीए अहिलासो भवे तह इत्थिआरअणपरिभाविणो भवदो इअ अब्भत्थणा । (यथा कस्यापि पिण्डखर्जूरैरुद्वेजितस्य तिन्तिण्यामभिलाषो भवेत् तथा स्त्रीरत्नपरिभाविनो भवत इयमभ्यर्थना ।)

राजा—न तावदेनां पश्यसि येनैवमवादीः ।

विदूषकः—तं क्खु रमणिज्जं जं भवदो विम्हअं उप्पादेदि । (तत्खलु रमणीयं यद्भवतोऽपि विस्मयमुत्पादयति ।)

राजा—वयस्य किं बहुना ।

चित्रे निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगा
रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु ।
स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे
धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः ॥ ९ ॥

विदूषकः—जइ एव्वं पच्चादेसो दाणिं रूववदीणं ।
(यद्येवम् प्रत्यादेश इदानीं रूपवतीनाम् ।)

राजा—इदं च मे मनसि वर्तते—

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै-
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम् ।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः ॥१०॥

विदूषक—तेण हि लहु परित्ताअदु णं भवं। मा कस्सवि तवस्सिणो इङ्गुदीतेल्लमिस्सचिक्कणसीस्सस्स आरण्णअस्स हत्थे पडिस्सदि। (तेन हि लघु परित्रायतामेनां भवान्। मा कस्यापि तपस्विन इङ्गुदीतैलमिश्रचिक्कणशीर्षस्य हस्ते पतिष्यति।)

राजा—परवती खलु तत्रभवती। न च संनिहितोऽत्र गुरुजनः।

विदूषक—अत्तभवन्तं अन्तरेण कीदिसो से दिट्ठिराओ। (अत्रभवन्तमन्तरेण कीदृशस्तस्या दृष्टिराग।)

राजा—वयस्य। निसर्गादेवाप्रगल्भस्तपस्विकन्याजन। तथापि तु—

अभिमुखे मयि संहृतमीक्षितं हसितमन्यनिमित्तकृतोदयम्।
विनयवारितवृत्तिरतस्तया न विवृतो मदनो न च संवृतः ॥११॥

विदूषक—[विहस्य] णंक्खु दिट्ठमेत्तस्स तुह अङ्कं समारोहदि। (न खलु दृष्टमात्रस्य तवाङ्कं समारोहति।)

राजा—मिथः प्रस्थाने पुनः शालीनतयाऽपि काममाविष्कृतो भावस्तत्रभवत्या। तथा हि—

दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे
तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा।
आसीद्विवृत्तवदना च विमोचयन्ती
शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम् ॥१२॥

विदूषक—तेण हि गहीदपाहेओ होहि। किदं तुए उववणं तवोवणं त्ति पेक्खामि। (तेन हि गृहीतपाथेयो भव। कृतं त्वयोपवनं तपोवनमिति पश्यामि।)

राजा—सखे तपस्विभिः कैश्चित्परिज्ञातोऽस्मि। चिन्तय तावत्केनापदेशेन सकृदप्याश्रमे वसामः।

विदूषक—को अवरो अवदेसो तुह रण्णो। णीवारच्छट्ठभाअं अह्माणं उवहरन्तु त्ति। (कोऽपरोऽपदेशस्तव राज्ञः। नीवारषष्ठभागमस्माकमुपहरन्त्विति।)

राजा—मूर्ख अन्यद्भागधेयमेतेषां रक्षणे निपतति यद्रत्नराशीनपि विहायाभिनन्द्यम्। पश्य—

यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां क्षयि तत्फलम् ।
तपःषड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि नः ॥१३॥

[नेपथ्ये]

हन्त सिद्धार्थौ स्वः ।

राजा—[कर्णं दत्वा] अये धीरप्रशान्तस्वरैस्तपस्विभिर्भवितव्यम् ।

[प्रविश्य]

दौवारिकः—जेदु जेदु भट्टा । एदे दुवे इसिकुमारआ पडिहारभूमिं उवट्ठिदा । (जयतु जयतु भर्ता । एतौ द्वौ ऋषिकुमारौ प्रतीहारभूमिमुपस्थितौ ।)

राजा—तेन ह्यविलम्बितं प्रवेशय तौ ।

दौवारिक—एसो पवेसेमि । [इति निष्क्रम्य, ऋषिकुमाराभ्यां सह प्रविश्य] इदो इदो भवन्तो । (एप प्रवेशयामि । इत इतो भवन्तौ ।)

[उभौ राजान विलोकयतः ।]

प्रथम —अहो दीप्तिमतोऽपि विश्वसनीयताऽस्य वपुषः । अथवोपपन्नमेतदृषिभ्यो नातिभिन्ने राजनि । कुतः ।

अध्याक्रान्ता वसतिरमुनाऽप्याश्रमे सर्वभोग्ये ।
रक्षायोगादयमपि तपः प्रत्यहं संचिनोति ।
अस्यापि द्यां स्पृशति वशिनश्चारणद्वन्द्वगीतः
पुण्यः शब्दो मुनिरिति मुहुः केवलं राजपूर्वः॥१४॥

द्वितीय —गौतम अयं स बलभित्सखो दुष्यन्तः ।

प्रथम'—अथ किम् ।

द्वितीय —तेन हि—

नैतच्चित्रं यदयमुदधिश्यामसीमां धरित्री-
मेकः कृत्स्नां नगरपरिघप्रांशुबाहुर्भुनक्ति ।
आशंसन्ते सुरयुवतयो बद्धवैरा हि दैत्यै-
रस्याधिज्ये धनुषि विजयं पौरुहूते च वज्रे ॥१५॥

उभौ—[उपगम्य] विजयस्व राजन् ।

राजा—[आसनादुत्थाय] अभिवादये भवन्तौ ।

उभौ—स्वस्ति भवते। [इति फलान्युपहरत.।]

राजा—[सप्रणामं परिगृह्य] आज्ञापयितुमिच्छामि।

उभौ—विदितो भवानाश्रमसदामिहस्थः। तेन भवन्तं प्रार्थयन्ते।

राजा—किमाज्ञापयन्ति।

उभौ—तत्रभवतः कण्वस्य महर्षेरसांनिध्याद्रक्षांसि न इष्टिविघ्नमुत्पादयन्ति। तत्कतिपयरात्रं सारथिद्वितीयेन भवता सनाथीक्रियतामाश्रम इति।

राजा—अनुगृहीतोऽस्मि।

विदूषक—[अपवार्य] एसा दाणिं अणुऊला ते अब्भत्थणा। (एषेदानीमनुकूला तेऽभ्यर्थना।)

राजा—[स्मितं कृत्वा] रैवतक मद्वचनादुच्यतां सारथिः। सबाणासनं रथमुपस्थापयेति।

दौवारिक—जं देवो आणवेदि। (यद्देव आज्ञापयति) [इति निष्क्रान्तः।]

उभौ—[सहर्षम्]—

अनुकारिणि पूर्वेषां युक्तरूपमिदं त्वयि।
आपन्नाभयसत्रेषु दीक्षिताः खलु पौरवाः ॥१६॥

राजा—[सप्रणामम्] गच्छतां पुरो भवन्तौ। अहमप्यनुपदमागत एव।

उभौ—विजयस्व। [इति निष्क्रान्तौ]

राजा—माधव्य अप्यस्ति शकुन्तलादर्शने कुतूहलम्।

विदूषक—पढमं सपरीवाहं आसि। दाणिं रक्खसवुत्तन्तेण विन्दू वि णावसेसिदो। (प्रथमं सपरीवाहमासीत्। इदानीं राक्षसवृत्तान्तेन बिन्दुरपि नावशेषितः।)

राजा—मा भैषीः। ननु मत्समीपे वर्तिष्यसे।

विदूषक—एस रक्खसादो रक्खिदो म्हि। (एष राक्षसाद्रक्षितोऽस्मि।)

[प्रविश्य]

दौवारिक—सज्जो रधो भट्टिणो विजअप्पत्थाणं अवेक्खदि। एस उण णअरादो देवीणं आणत्तिहरओ करभओ आअदो। (सज्जो रथो भर्तुर्विजयप्रस्थानमपेक्षते। एष पुनर्नगराद्देवीनामाज्ञप्तिहरः करभक आगतः।)

राजा—[सादरम्] किमम्बाभिः प्रेषितः ।

दौवारिक —अह इं । (अथ किम् ।)

राजा—ननु प्रवेश्यताम् ।

दौवारिक.—तह । [इति निष्क्रम्य करभकेण सह प्रविश्य] एसो भट्टा । उवसप्प । (तथा । एष भर्ता । उपसर्प ।)

करभक —जेदु भट्टा । देवी आणवेदि—आग्रामिणि चउत्थदिअहे पउत्तपारणो मे उववासो भविस्सदि । तहिं दीहाउणा अवस्सं संभाविदव्वा त्ति । (जयतु भर्ता । देव्याज्ञापयति—आगामिनि चतुर्थदिवसे प्रवृत्तपारणो मे उपवासो भविष्यति । तत्र दीर्घायुषाऽवश्यं सभावितव्येति ।)

राजा—इतस्तपस्विकार्यम् इतो गुरुजनाज्ञा । द्वयमप्यनतिक्रमणीयम् । किमत्र प्रतिविधेयम् ।

विदूषक —तिसङ्कु विअ अन्तराले चिट्ठ । (त्रिशङ्कुरिवान्तराले तिष्ठ ।)

राजा—सत्यमाकुलीभूतोऽस्मि ।

कृत्ययोर्भिन्नदेशत्वाद्द्वैधीभवति मे मनः ।
पुरः प्रतिहतं शैले स्रोतः स्रोतोवहो यथा ॥१७॥

[विचिन्त्य] सखे त्वमम्बया पुत्र इति प्रतिगृहीतः । अतो भवानितः प्रतिनिवृत्य तपस्विकार्यव्यग्रमानसं मामावेद्य तत्रभवतीनां पुत्रकृत्यमनुष्ठातुमर्हति ।

विदूषक —ण क्खु मं रक्खोभीरुअं गणेसि । (न खलु मा रक्षोभीरुकं गणयसि ।)

राजा—[सस्मितम्] कथमेतद्भवति संभाव्यते ।

विदूषक—जह राआणुएण गन्तव्वं तह गच्छामि । (यथा राजानुजेन गन्तव्यम् तथा गच्छामि ।)

राजा—ननु तपोवनोपरोधः परिहरणीय इति सर्वानानुयात्रिकाँस्त्वयैव सह प्रस्थापयामि ।

विदूषक —[सगर्वम्] तेण हि जुवराओ म्हि दाणिं संवुत्तो । (तेन हि युवराजोऽस्मीदानीं संवृत्त. ।)

राजा—[स्वगतम्] चपलोऽयं बटुः । कदाचिदस्मत्प्रार्थनामन्तःपुरेभ्यः कथयेत् । भवतु । एनमेवं वक्ष्ये—[विदूषक हस्ते गृहीत्वा प्रकाशम्]

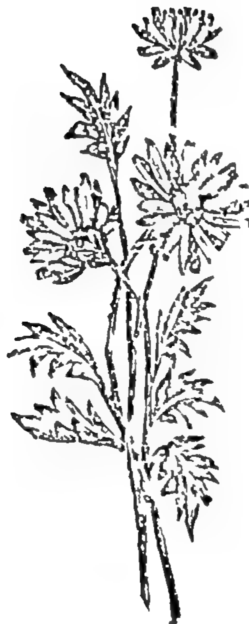
वयस्य ऋषिगौरवादाश्रमं गच्छामि। न खलु सत्यमेव तापसकन्यकायां ममाभिलाषः। पश्य—

क्व वयं क्व परोक्षमन्मथो मृगशावैः सममेधितो जनः।
परिहासविजल्पितं सखे परमार्थेन न गृह्यतां वचः ॥१८॥

विदूषक —अह इं। (अथ किम्।)

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे।]

इति द्वितीयोऽङ्कः।



तृतीयोऽङ्कः

[ततः प्रविशति कुशानादाय यजमानशिष्य ।]

शिष्य —अहो महानुभावः पार्थिवो दुष्यन्तः प्रविष्टमात्रे एवाश्रमं तत्रभवति राजनि निरुपद्रवाणि नः कर्माणि प्रवृत्तानि भवन्ति ।

का कथा बाणसंधाने ज्याशब्देनैव दूरतः ।
हुंकारेणेव धनुषः स हि विघ्नानपोहति ॥ १ ॥

यावदिमान्वेदिसंस्तरणार्थं दर्भान्नृत्विग्भ्य उपनयामि [परिक्रम्यावलोक्य च आकाशे] प्रियंवदे कस्येदमुशीरानुलेपनं मृणालवन्ति च नलिनीपत्राणि नीयन्ते । [आकर्ण्य] किं ब्रवीषि । आतपलङ्घनाद्बलवदस्वस्था शकुन्तला तस्याः शरीरनिर्वापणायेति । तर्हि त्वरितं गम्यताम् । सा खलु भगवतः कण्वस्य कुलपतेरुच्छ्वसितम् । अहमपि तावद्वैतानिकं शान्त्युदकमस्यै गौतमीहस्ते विसर्जयिष्यामि । [इति निष्क्रान्त ।]

विष्कम्भकः ।

[तत प्रविशति कामयमानावस्थो राजा ।]

राजा—[सचिन्तं नि श्वस्य]

जाने तपसो वीर्यं सा बाला परवतीति मे विदितम् ।
अलमस्मि ततो हृदयं तथापि नेदं निवर्तयितुम् ॥ २ ॥

[मदनबाधां निरूप्य] भगवन्कुसुमायुध त्वया चन्द्रमसा च विश्वसनीयाभ्यामतिसंधीयते कामिजनसार्थः । कुत —

तव कुसुमशरत्वं शीतरश्मित्वमिन्दो-
र्द्वयमिदमयथार्थं दृश्यते मद्विधेषु ।
विसृजति हिमगर्भैरग्निमिन्दुर्मयूखै-
स्त्वमपि कुसुमबाणान्वज्रसारीकरोषि ॥ ३ ॥

अथवा ।

अनिशमपि मकरकेतुर्मनसो रुजमावहन्नभिमतो मे ।
यदि मदिरायत नयनां तामधिकृत्य प्रहरतीति ॥ ४ ॥

[सखेद परिक्रम्य] क्व नु खलु संस्थिते कर्मणि सदस्यैरनुज्ञातः श्रमक्लान्तमात्मानं विनोदयामि । [निःश्वस्य] किं नु खलु मे प्रियादर्शनादृते शरणमन्यत् । यावदेनामन्विष्यामि । [सूर्यमवलोक्य] इमामुग्रातपवेलां प्रायेण लतावलयवत्सु मालिनीतीरेषु ससखीजना शकुन्तला गमयति । तत्रैव तावद्गच्छामि । [परिक्रम्य संस्पर्शं रूपयित्वा] अहो प्रवातसुभगोऽयमुद्देशः ।

शक्यमरविन्दसुरभिः कणवाही मालिनीतरङ्गाणाम् ।
अङ्गैरनङ्गतप्तैरविरलमालिङ्गितुं पवनः ॥५॥

[परिक्रम्यावलोक्य च] अस्मिन्वेतसपरिक्षिप्ते लतामण्डपे संनिहितया शकुन्तलया भवितव्यम् । तथा [अधो विलोक्य]—

अभ्युन्नता पुरस्तादवगाढा जघनगौरवात्पश्चात् ।
द्वारेऽस्य पाण्डुसिकते पदपङ्क्तिर्दृश्यतेऽभिनवा ॥६॥

यावद्विटपान्तरेणावलोकयामि । [परिक्रम्य तथा कृत्वा । सहर्षम्] अये लब्धं नेत्रनिर्वाणम् । एषा मे मनोरथप्रियतमा सकुसुमास्तरणं शिलापट्टमधिशयाना सखीभ्यामन्वास्यते । भवतु । श्रोष्याम्यासां विस्रम्भकथितानि । [इति विलोकयन् स्थितः ।]

[ततः प्रविशति यथोक्तव्यापारा सह सखीभ्यां शकुन्तला ।]

सख्यौ—[उपवीज्य सस्नेहम्] हला सउन्दले अवि सुहेदि दे णलिणीपत्तवादो । (हला शकुन्तले अपि सुखयति ते नलिनीपत्रवात ।)

शकुन्तला—किं वीअअन्ति मं सहीओ । (किं वीजयतो मां सख्यौ ।)

[सख्यौ विषाद नाटयित्वा परस्परमवलोकयत' ।]

राजा—वलवदस्वस्थशरीरा शकुन्तला दृश्यते । [सवितर्कम्] तत्किमयमातपदोषः स्यात् उत यथा मे मनसि वर्तते । [साभिलाप निर्वर्ण्य] अथवा कृतं संदेहेन ।

स्तनन्यस्तोशीरं शिथिलितमृणालैकवलयं
प्रियायाः सावाधं किमपि कमनीयं वपुरिदम् ।
समस्तापः कामं मनसिजनिदाघप्रसरयो-
र्न तु ग्रीष्मस्यैवं सुभगमपराद्धं युवतिषु ॥ ७ ॥

प्रियंवदा—[जनान्तिकम्] अणसूए तस्स राएसिणो पढमदंसणादो आरहिअ पज्जुस्सुआ विअ सउन्दला । किं णु क्खु से तण्णिमित्तो अअं आतङ्को भवे । (अनसूये तस्य राजर्षे प्रथमदर्शनादारभ्य पर्युत्सुकेव शकुन्तला । किं न खलु तस्यास्तन्निमित्तोऽयमातङ्को भवेत ।)

अनसूया—सहि मम वि ईदिसी आसङ्का हिअअस्स । होदु । पुच्छिस्सं दाव णं । [प्रकाशम्] सहि पुच्छिदव्वासि किं पि । बलवं क्खु दे संदावो । (सखि ममापीदृश्याशङ्का हृदयस्य । भवतु । प्रक्ष्यामि तावदेनाम् । सखि प्रष्टव्याऽसि किमपि । बलवान्खलु ते संताप ।)

शकुन्तला—[पूर्वार्धेन शयनादुत्थाय] हला किं वत्तुकामासि । (हला किं वक्तुकामासि ।)

अनसूया—हला सउन्दले अणब्भन्तरा क्खु अम्हे मदणगदस्स वुत्तन्तस्स । किंदु जादिसी इदिहासणिबन्धेसु कामअमाणाणं अवत्था सुणीअदि तादिसीं दे पेक्खामि । कहेहि किंणिमित्तं दे संदावो । विआरं क्खु परमत्थदो अजाणिअ अणारम्भो पडिआरस्स । (हला शकुन्तले अनभ्यन्तरे खल्वावां मदनगतस्य वृत्तान्तस्य किंतु यादृशी इतिहासनिबन्धेषु कामयमानानामवस्था श्रूयते तादृशीं ते पश्यामि । कथय किंनिमित्तं ते संताप. । विकारं खलु परमार्थत. अज्ञात्वाऽनारम्भः प्रतीकारस्य ।)

राजा—अनसूयामप्यनुगतो मदीयस्तर्कः । न हि स्वाभिप्रायेण मे दर्शनम् ।

शकुन्तला—[आत्मगतम्] बलवं क्खु मे अहिणिवेसो । दाणिं वि सहसा एदाण ण सक्कणोमि णिवेदिदुं । (बलवान्खलु मेऽभिनिवेशः । इदानीमपि सहसैतयोर्न शक्नोमि निवेदयितुम् ।)

प्रियंवदा—सहि सउन्दले सुट्ठु एसा भणादि किं अत्तणो आतङ्कं उवेक्खसि । अणुदिअहं क्खु परिहिअसि अङ्गेहिं । केवलं लावण्णमई छाआ तुमं ण मुञ्चदि । (सखि शकुन्तले सुष्ठु एषा भणति । किमात्मन आतङ्कमुपेक्षसे । अनुदिवसं खलु परिहीयसेऽङ्गैः । केवलं लावण्यमयी छाया त्वां न मुञ्चति ।)

राजा—अवितथमाह प्रियंवदा । तथा हि—

क्षामक्षामकपोलमाननमुरः काठिन्यमुक्तस्तनं
मध्यः क्लान्ततरः प्रकामविनतावंसौ छविः पाण्डुरा ।
शोच्या च प्रियदर्शना च मदनक्लिष्टेयमालक्ष्यते
पत्राणामिव शोषणेन मरुता स्पृष्टा लता माधवी ॥ ८ ॥

शकुन्तला—सहि कस्स वा अण्णस्स कहइस्सं । आआसइत्तिआ दाणिं वो भविस्सं । (सखि कस्य वाऽन्यस्य कथयिष्यामि । आयासयित्रीदानीं वो भविष्यामि ।)

उभे—अदो एव्व क्खु णिव्वन्धो । सिणिद्धजणसंविभत्तं हि दुक्खं सज्झवेदणं होदि । (अत एव खलु निर्बन्धः । स्निग्धजनसंविभक्तं हि दुःखं सह्यवेदनं भवति ।)

राजा—

पृष्टा जनेन समदुःखसुखेन बाला
नेयं न वक्ष्यति मनोगतमाधिहेतुम् ।
दृष्टो विवृत्य बहुशोऽप्यनया सतृष्ण-
मत्रान्तरे श्रवणकातरतां गतोऽस्मि ॥ ९ ॥

शकुन्तला—सहि जदो पहुदि मम दंसणपहं आअदो सो तवोवण-

५

रक्खिदा राएसी तदो आरहिअ तग्गदेण अहिलासेण एतदवत्थम्हि संवुत्ता। (सखि यत. प्रभृति मम दर्शनपथमागत' स तपोवनरक्षिता राजर्षिः तत आरभ्य तद्गतेनाभिलाषेणैतदवस्थाऽस्मि सवृत्ता ।)

राजा—[सहर्षम्] श्रुतं श्रोतव्यम् ।

स्मर एव तापहेतुर्निर्वापयिता स एव मे जातः ।
दिवस इवार्धश्यामस्तपात्यये जीवलोकस्य ॥ १० ॥

शकुन्तला—तं जइ वो अणुमदं । ता तह वट्टह । जह तस्स राएसिणो अणुकम्पणिज्जा होमि । अण्णहा अवस्सं सिञ्चध मे तिलोदअं । (तद्यदि वामनुमतम् तदा तथा वर्तेथाम् यथा तस्य राजर्षेरनुकम्पनीया भवामि । अन्यथा अवश्य सिञ्चत मे तिलोदकम् ।)

राजा—संशयच्छेदि वचनम् ।

प्रियंवदा—[जनान्तिकम्] अणसूए दूरगअमन्महा अक्खमा इअं कालहरणस्स । जस्सिं वद्धभावा एसा सो ललामभूदो पोरवाणं। ता जुत्तं से अहिलासो अहिणन्दिदुं। (अनसूये दूरगतमन्मथा अक्षमेय कालहरणस्य । यस्मिन् बद्धभावैषा स ललामभूत पौरवाणाम् । तद्युक्तमस्या अभिलाषोऽभिनन्दितुम्)

अनसूया——तह जह भणसि । (तथा यथा भणसि ।)

प्रियंवदा—[प्रकाशम्] सहि दिट्ठिआ अणुरूवो दे अहिणिवेसो। साअरं उज्झिअ कहिं वा महाणई ओदरइ को दाणिं सहआरं अन्तरेण अदिमुत्तलदं पल्लविदं सहेदि । (सखि दिष्ट्याऽनुरूपस्तेऽभिनिवेश. । सागरमुज्झित्वा कुत्र वा महानद्यवतरति क इदानीं सहकारमन्तरेणातिमुक्तलता पल्लवितां सहते ।)

राजा—किमत्र चित्रं यदि विशाखे शशाङ्कलेखामनुवर्तेते ।

अनसूया—को उण उवाओ भवे जेण अविलम्बिअं णिहुअ अ सहीए मनोरहं संपादेम्ह । (क पुनरुपायो भवेद्येनाविलम्बित निभृत च सख्या मनोरथ संपादयावः ।)

प्रियंवदा—णिहुअं त्ति चिन्तणिज्जं भवे । सिग्घं त्ति सुअरं। निभृतमिति चिन्तनीयं भवेत् । शीघ्रमिति सुकरम् ।)

अनसूया—कहं विअ । (कथमिव ।)

प्रियंवदा—णं सो राएसी इमस्सिं सिणिद्धदिट्ठीए सूइदाहिलासो इमाइं दिअहाइं पजाअरकिसो लक्खीअदि। (ननु स राजर्षिरेतस्यां स्निग्धदृष्ट्या सूचिताभिलाष एतान्दिवसान् प्रजागरकृशो लक्ष्यते।)

राजा—सत्यमित्थंभूत एवास्मि। तथा हि—

इदमशिशिरैरन्तस्तापाद्विवर्णमणीकृतं
निशि निशि भुजन्यस्तापाङ्गप्रसारिभिरश्रुभिः।
अनभिलुलितज्याघाताङ्कं मुहुर्मणिबन्धना-
त्कनकवलयं स्रस्तं स्रस्तं मया प्रतिसार्यते ॥११॥

प्रियंवदा—[विचिन्त्य] हला मअणलेहो से करीअदु। इमं देवप्पसादस्सावदेसेण सुमणोगोविदं करिअ से हत्थअं पावइस्सं। (हला मदनलेखोऽस्य क्रियताम्। इम देवप्रसादस्यापदेशेन सुमनोगोपितं कृत्वा तस्य हस्तं प्रापयिष्यामि।)

अनसूया—रोअइ मे सुउमारो पओओ। किं वा सउन्दला भणादि। (रोचते मे सुकुमारः प्रयोग.। कि वा शकुन्तला भणति।)

शकुन्तला—को णिओओ विकप्पीअदि। (को नियोगो विकल्प्यते।)

प्रियंवदा—तेण हि अत्तणो उवण्णासपुव्वं चिन्तेहि दाव ललिअपदवन्धणं। (तेन ह्यात्मन उपन्यासपूर्वं चिन्तय तावल्ललितपदबन्धनम्।)

शकुन्तला—हला चिन्तेमि अहं। अवहीरणभीरुअं पुणो वेवइ मे हिअअं। (हला चिन्तयाम्यहम्। अवधीरणभीरु कं पुनर्वेपते मे हृदयम्।)

राजा—[सहर्षम्]—

अयं स ते तिष्ठति संगमोत्सुको विशङ्कसे भीरु यतोऽवधीरणाम्।
लभेत वा प्रार्थयिता न वा श्रियं श्रिया दुरापः कथमीप्सितो भवेत् १२॥

सख्यौ—अत्तगुणावमाणिणि को दाणिं सरीरणिव्वावत्तिअं सारदिअं जोसिणिं। पडन्तेण वारेदि। (आत्मगुणावमानिनि क इदानी शरीरनिर्वापयित्री शारदीं ज्योत्स्नां पटान्तेन वारयति।)

शकुन्तला—[सस्मितम्] णिओइआ दाणिं म्हि। (नियोजितेदानीमस्मि।) [इत्युपविष्टा चिन्तयति।]

राजा--स्थाने खलु विस्मृतनिमेषेण चक्षुषा प्रियामवलोकयामि। यतः --

उन्नमितैकभ्रूलतमाननमस्याः पदानि रचयन्त्याः ।
कण्टकितेन प्रथयति मय्यनुरागं कपोलेन ॥ १३ ॥

शकुन्तला—हला चिन्तिद मए गीदवत्थु। ण क्खु सण्णिहिदाणि उण लेहणसाहणाणि । (हला चिन्तित मया गीतवस्तु । न खलु सनिहितानि पुनर्लेखनसाधनानि ।

प्रियंवदा—ईमस्सिं सुओदरसुउमारे णलिणीपत्ते णहेहिं णिक्खित्तवण्णं करेहि । (एतस्मिन्शुकोदरसुकुमारे नलिनीपत्रे नखैर्निक्षिप्तवर्णं कुरु ।)

शकुन्तला--[यथोक्तं रूपयित्वा] हला सुणुह दाणिं संगदत्थं ण वेति । (हला श्रृणुतमिदानीं संगतार्थं न वेति ।)

उभे---अवहिद म्ह । (अवहिते स्व ।)

शकुन्तला—[वाचयति]--

तुज्झ ण आणे हिअअं मम उण कामो दिवावि रत्तिम्मि ।
णिग्घिण तवइ वलीअं तुइ वुत्तमणोरहाइं अङ्गाइं ॥१४॥

(तव न जाने हृदय मम पुन कामो दिवाऽपि रात्रिमपि ।
निर्घृण तपति वलीयस्त्वयि वृत्तमनोरथान्यङ्गानि ॥)

राजा—[सहसोपसृत्य]

तपति तनुगात्रि मदनस्त्वामनिशं मां पुनर्दहत्येव ।
ग्लपयति यथा शशाङ्कं न तथा हि कुमुद्वतीं दिवसः ॥१५॥

सख्यौ—[सहर्षम्] साअदं अविलम्बिणो मणोरहस्स । (स्वागतमविलम्बिनो मनोरथस्य ।)

[शकुन्तलाऽभ्युत्थातुमिच्छति ।]

राजा—अलमलमायासेन ।

संदष्टकुसुम शयनान्याशुक्लान्तविसभङ्गसुरभीणि ।
गुरुपरितापानि न ते गात्राण्युपचारमर्हन्ति ॥ १६ ॥

अनसूया—इदो सिलातलेक्कदेसं अलंकरेदु वअस्सो । (इत शिलातलैकदेशमलंकरोतु वयस्य ।)

[राजोपविशति । शकुन्तला सलज्जा तिष्ठति]

प्रियंवदा—दुवेणं ण वो अण्णोण्णाणुराओ पच्चक्खो । सहीसिणेहो मं पुणरुत्तवादिणिं करेदि । (द्वयोर्नन्तु युवयोरन्योन्यानुराग प्रत्यक्ष । सखीस्नेहो मां पुनरुक्तवादिनीं करोति ।)

राजा—भद्रे नैतत्परिहार्यम् । विवक्षितं ह्यनुक्तमनुतापं जनयति ।

प्रियंवदा—आवण्णस्स विसअणि वासिणो जणस्स अत्तिहरेण रण्णा होदव्वं त्ति एसो वो धम्मो । (आपन्नस्य विषयनिवासिनो जनस्यार्तिहरेण राज्ञा भवितव्यमित्येष युष्माकं धर्म. ।)

राजा—नास्मात्परम् ।

प्रियंवदा—तेण हि इअं णो पिअसही तुमं उद्दिसिअ इमं अवत्थन्तरं भअवता मअणेण आरोविदा । ता अरुहसि अब्भुववत्तीए जीविदं से अवलम्बिदुं । (तेन हीय नो प्रियसखी त्वामुद्दिश्येदमवस्थान्तर भगवता मदनेनारोपिता । तदर्हस्यभ्युपपत्त्या जीवित तस्या अवलम्बितुम् ।)

राजा—भद्रे साधारणोऽयं प्रणयः । सर्वथाऽनुगृहीतोऽस्मि ।

शकुन्तला—[प्रियंवदामवलोक्य] हला किं अन्तेउरविरहपज्जुस्सुअस्स राएसिणो उवरोहेण । (हला किमन्त पुरविरहपर्युत्सुकस्य राजर्षेरुपरोधेन ।)

राजा—सुन्दरि ।

इदमनन्यपरायणमन्यथा हृदयसंनिहिते हृदयं मम ।
यदि समर्थयसे मदिरेक्षणे मदनबाणहतोऽस्मि हतः पुनः ॥१७॥

अनसूया—वअस्स बहुवल्लहा राआणो सुणीअन्ति । जह णो पिअसही बन्धुअणसोअणिज्जा ण होइ तह णिव्वत्तेहि । (वयस्य बहुवल्लभा राजान श्रूयन्ते । यथा नौ प्रियसखी बन्धुजनशोचनीया न भवति तथा निर्वर्तय ।)

राजा—भद्रे किं बहुना ।

परिग्रहबहुत्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य मे ।
समुद्रवसना चोर्वी सखी च युवयोरियम् ॥ १७ ॥

उभे—णिव्वुद म्ह । (निर्वृते स्व ।)

प्रियंवदा— [सदृष्टिक्षेपम्] अणसूए जह एसो इदो दिण्णदिट्ठी उत्सुओ मिअपोदओ मादरं अण्णेसदि एहि । संजोएम णं । (अनसूये यथैष इतो दत्तदृष्टिरुत्सुको मृगपोतको मातरमन्विष्यति एहि संयोजयाव एनम् ।) [इत्युभे प्रस्थिते ।]

शकुन्तला—हला असरण म्हि । अण्णदरा वो आअच्छदु । (हला अशरणाऽस्मि । अन्यतरा युवयोरागच्छतु ।)

उभे—पुहवीए जो सरणं सो तुह समीवे वट्टइ । (पृथिव्या यः शरणं स तव समीपे वर्तते ।) [इति निष्क्रान्ते ।]

शकुन्तला—कहं गदाओ एव्व । (कथं गते एव ।)

राजा—अलमावेगेन । नन्वयमाराधयिता जनस्तव समीपे वर्तते ।

किं शीतलैः क्लमविनोदिभिरार्द्रवाता-
न्संचारयामि नलिनीदलतालवृन्तैः ।
अङ्के निधाय करभोरु यथासुखं ते
संवाहयामि चरणावुत पद्मताम्रौ ॥ १८ ॥

शकुन्तला—ण माणणीएसु अत्ताणं अवराहइस्सं । (न माननीये-ष्वात्मानमपराधयिष्ये ।) [इत्युत्थाय गन्तुमिच्छति ।]

राजा—सुन्दरि अनिर्वाणो दिवसः इयं च ते शरीरावस्था ।

उत्सृज्य कुसुमशयनं नलिनीदलकल्पितस्तनावरणम् ।
कथमातपे गमिष्यसि परिबाधापेलवैरङ्गैः ॥१९॥

[इति बलादेनां निवर्तयति]

शकुन्तला—पोरव रक्ख अविणअं । मअणसंतत्ता वि ण हु अत्तणो पहवामि । (पौरव रक्षाविनयम् । मदनसंतप्ताऽपि न खल्वात्मनः प्रभवामि ।)

राजा—भीरु अलं गुरुजनभयेन । दृष्ट्वा ते विदितधर्मा तत्रभवान्नात्र दोषं ग्रहीष्यति कुलपतिः । पश्य—

गान्धर्वेण विवाहेन बह्व्यो राजर्षिकन्यकाः ।
श्रूयन्ते परिणीतास्ताः पितृभिश्चाभिनन्दिताः ॥२०॥

शकुन्तला—मुञ्च दाव मं । भूओ वि सहिजणं अणुमाणइस्सं । (मुञ्च तावन्माम् । भूयोऽपि सखीजनमनुमानयिष्ये ।)

राजा—भवतु मोदयामि।

शकुन्तला—कदा। (कदा)

राजा—

अपरिक्षतकोमलस्य यावत्कुसुमस्येव नवस्य षट्पदेन।
अधरस्य पिपासता मया ते सदयं सुन्दरि गृह्यते रसोऽस्य॥२१॥

[इति मुखमस्याः समुन्नमयितुमिच्छति। शकुन्तला परिहरति नाट्येन।]

[नेपथ्ये]

चक्कवाकवहुए आमन्तेहि सहअरं। उवट्ठिआ रअणी। (चक्रवाकवधुके आमन्त्रयस्व सहचरम्। उपस्थिता रजनी।)

शकुन्तला—[ससम्भ्रमम्] पोरव असंसअं मम सरीरवुत्तन्तोवलम्भस्स अज्जा गोदमी इदो एव्व आअच्छदि ता विडवन्तरिदो होहि। (पौरव असंशयं मम शरीरवृत्तान्तोपलम्भायार्या गौतमीत एवागच्छति तद्विटपान्तरितो भव।)

राजा—तथा। [इत्यात्मानमावृत्य तिष्ठति]

[ततः प्रविशति पात्रहस्ता गौतमी सख्यौ च।]

सख्यौ—इदो इदो अज्जा गोदमी। (इत इत आर्या गौतमी।)

गौतमी—[शकुन्तलामुपेत्य] जादे अवि लहुसंदावाइं दे अङ्गाइं। (जाते अपि लघुसंतापानि तेऽङ्गानि।)

शकुन्तला—अज्जे अत्थि मे विसेसो। (आर्ये अस्ति मे विशेषः।)

गौतमी—इमिणा दब्भोदएण णिराबाधं एव्व दे सरीरं भविस्सदि। [शिरसि शकुन्तलामभ्युक्ष्य] वच्छे परिणदो दिअहो। एहि। उडजं एव्व गच्छम्ह। (अनेन दर्भोदकेन निराबाधमेव ते शरीरं भविष्यति। वत्से परिणतो दिवसः। एहि। उटजमेव गच्छामः।)

[इति प्रस्थिताः]

शकुन्तला—[आत्मगतम्] हिअअ पढमं एव्व सुहोवणदे मणोरहे कादरभावं ण मुञ्चसि। साणुसअविहडिअस्स कहं दे संपदं संदावो [पदान्तरे स्थित्वा प्रकाशम्] लदावलअ संदावहारअ आमन्तेमि तुमं भूओ वि परिभोअस्स। (हृदय प्रथममेव सुखोपनते मनोरथे कातरभावं न मुञ्चसि। सानुशयविघटितस्य कथं ते सांप्रतं संतापः। लतावलय संतापहारक

आमन्त्रये त्वां भूयोऽपि परिभोगाय) [इति दुःखेन निष्क्रान्ता शकुन्तला सहेतराभिः ।]

राजा--[पूर्वस्थानमुपेत्य सनिःश्वासम्] अहो विघ्नवत्यः प्रार्थितार्थसिद्धय । मया हि—

मुहुरङ्गुलिसंवृताधरोष्ठं प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम् ।
मुखमंसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु॥२३॥

क्व न खलु संप्रति गच्छामि । अथवा इहैव प्रियापरिभुक्तमुक्ते लतावलये मुहूर्तं स्थास्यामि । [सर्वतोऽवलोक्य]—

तस्याः पुष्पमयी शरीरलुलिता शय्या शिलायामियं
क्लान्तो मन्मथलेख एष नलिनीपत्रे नखैरर्पितः ।
हस्ताद्भ्रष्टमिदं बिसाभरणमित्यासज्यमानेक्षणो
निर्गन्तुं सहसा न वेतसगृहाच्छक्नोमि शून्यादपि ॥२४॥

[आकाशे]

राजन्

सायंतने सवनकर्मणि संप्रवृत्ते
वेदीं हुताशनवतीं परितः प्रयस्ताः ।
छायाश्चरन्ति बहुधा भयमादधानाः
संध्यापयोदकपिशाः पिशिताशनानाम् ॥२५॥

राजा—अयमयमागच्छामि । [इति निष्क्रान्त ।]

इति तृतीयोऽङ्कः ।



चतुर्थोऽङ्कः

[ततः प्रविशतः कुसुमावचयं नाटयन्त्यौ सख्यौ ।]

अनसूया—पिअंवदे जइ वि गन्धव्वेण विहिणा णिव्वुत्तकल्लाणा सउन्दला अणुरूवभत्तुगामिणी संवुत्तेति णिव्वुदं मे हिअअं तह वि पत्तिअं चिन्तणिज्जं । (प्रियंवदे यद्यपि गान्धर्वेण विधिना निर्वृत्तकल्याणा शकुन्तलाऽनुरूपभर्तृगामिनी संवृत्तेति निर्वृतं मे हृदयम् तथाप्येतावच्चिन्तनीयम् ।)

प्रियंवदा—कहं विअ । (कथमिव ।)

अनसूया—अज्ज सो राएसी इट्ठिं परिसमाविअ इसीहिं विसज्जिओ अत्तणो णअरं पविसिअ अन्तेउरसमागदो इदोगदं वुत्तन्तं सुमरदि वा ण वेत्ति । (अद्य स राजर्षिरिष्टिं परिसमाप्य ऋषिभिर्विसर्जित आत्मनो नगरं प्रविश्यान्तःपुरसमागत इतोगतं वृत्तान्तं स्मरति वा न वेति ।)

प्रियंवदा—वीसद्धा होहि । ण तादिसा आकिदिविसेसा गुणविरोहिणो होन्ति । तादो दाणिं इमं वुत्तन्तं सुणिअ ण जाणे किं पडिवज्जिस्सदि त्ति । (विस्रब्धा भव । न तादृशा आकृतिविशेषा गुणविरोधिनो भवन्ति । तात इदानीमिमं वृत्तान्तं श्रुत्वा न जाने किं प्रतिपत्स्यत इति ।)

अनसूया—जह अहं देक्खामि तह तस्स अणुमदं भवे । (यथाऽहं पश्यामि तथा तस्यानुमतं भवेत् ।)

प्रियंवदा—कहं विअ । (कथमिव ।)

अनसूया—गुणवदे कण्णआ पडिवादणिज्जेत्ति अअं दाव पढमो

आमन्त्रये त्वा भूयोऽपि परिभोगाय) [इति दुःखेन निष्क्रान्ता शकुन्तला सहेतराभिः ।]

राजा--[पूर्वस्थानमुपेत्य सनिःश्वासम्] अहो विघ्नवत्यः प्रार्थितार्थसिद्धयः । मया हि—

मुहुरङ्गुलिसंवृताधरोष्ठं प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम् ।
मुखमंसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु ॥२३॥

क्व नु खलु संप्रति गच्छामि । अथवा इहैव प्रियापरिभुक्तमुक्ते लतावलये मुहूर्तं स्थास्यामि । [सर्वतोऽवलोक्य]--

तस्याः पुष्पमयी शरीरलुलिता शय्या शिलायामियं
क्लान्तो मन्मथलेख एष नलिनीपत्रे नखैरर्पितः ।
हस्ताद्भ्रष्टमिदं बिसाभरणमित्यासज्यमानेक्षणो
निर्गन्तुं सहसा न वेतसगृहाच्छक्नोमि शून्यादपि ॥२४॥

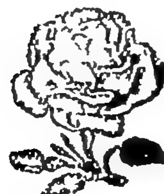
[आकाशे]

राजन्

सायंतने सवनकर्मणि संप्रवृत्ते
वेदीं हुताशनवतीं परितः प्रयस्ताः ।
छायाश्चरन्ति बहुधा भयमादधानाः
संध्यापयोदकपिशाः पिशिताशनानाम् ॥२५॥

राजा—अयमयमागच्छामि । [इति निष्क्रान्तः ।]

इति तृतीयोऽङ्कः ।



चतुर्थोऽङ्कः

[ततः प्रविशतः कुसुमावचयं नाटयन्त्यौ सख्यौ ।]

अनसूया—पिअंवदे जइ वि गन्धव्वेण विहिणा णिव्वुत्तकल्लाणा सउन्दला अणुरूवभत्तुगामिणी संवुत्तेति णिव्वुदं मे हिअअ तह वि पत्तिअं चिन्तणिज्जं । (प्रियंवदे यद्यपि गान्धर्वेण विधिना निर्वृत्तकल्याणा शकुन्तलाऽनुरूपभर्तृगामिनी संवृत्तेति निर्वृतं मे हृदयम् तथाप्येतावच्चिन्तनीयम् ।)

प्रियंवदा—कहं विअ । (कथमिव ।)

अनसूया—अज्ज सो राएसी इट्ठिं परिसमाविअ इसीहिं विसज्जिओ अत्तणो णअरं पविसिअ अन्तेउरसमागदो इदोगदं वुत्तन्तं सुमरदि वा ण वेत्ति । (अद्य स राजर्षिरिष्टिं परिसमाप्य ऋषिभिर्विसर्जित आत्मनो नगरं प्रविश्यान्तःपुरसमागत इतोगतं वृत्तान्तं स्मरति वा न वेति ।)

प्रियंवदा—वीसद्धा होहि । ण तादिसा आकिदिविसेसा गुणविरोहिणो होन्ति । तादो दाणिं इमं वुत्तन्तं सुणिअ ण जाणे किं पडिवज्जिस्सदि त्ति । (विस्रब्धा भव । न तादृशा आकृतिविशेषा गुणविरोधिनो भवन्ति । तात इदानीमिमं वृत्तान्तं श्रुत्वा न जाने किं प्रतिपत्स्यत इति ।)

अनसूया—जह अहं देक्खामि तह तस्स अणुमदं भवे । (यथाऽहं पश्यामि तथा तस्यानुमतं भवेत् ।)

प्रियंवदा—कहं विअ । (कथमिव ।)

अनसूया—गुणवदे कण्णआ पडिवादणिज्जेत्ति अअं दाव पढमो

संकप्पो । न जइ देव्वं एव्व सपादेदि णं अप्पप्पयासेण किदत्थो गुरुअणो । (गुणवते कन्यका प्रतिपादनीयेत्ययं तावत्प्रथमः संकल्पः । न यदि दैवमेव सपादयति नन्वप्रयासेन कृतार्थो गुरुजनः ।)

प्रियंवदा—[पुष्पभाजनं विलोक्य] सहि अवइदाइं बलिकम्मपज्जत्ताइँ कुसुमाइँ । (सखि अवचितानि बलिकर्मपर्याप्तानि कुसुमानि ।)

अनसूया—णं सहीए सउन्दलाए सोहग्गदेवआ अच्चणीआ । (ननु सख्याः शकुन्तलायाः सौभाग्यदेवताऽर्चनीया ।)

प्रियंवदा—जुज्जदि । (युज्यते ।) [इति तदेव कर्मारभते ।]

[नेपथ्ये]

अयमहं भोः ।

अनसूया—[कर्णं दत्वा] सहि अदिधीणं विअ णिवेदिदं । (सखि अतिथीनामिव निवेदितम् ।)

प्रियंवदा—णं उडजसंणिहिदा सउन्दला । [आत्मगतम्] अज्ज उण हिअएण असंणिहिदा । (ननूटजसंनिहिता शकुन्तला । अद्य पुनर्हृदयेनासंनिहिता ।)

अनसूया—होदु । अलं एत्तिएहि कुसुमेहि । (भवतु । अलमेतावद्भिः कुसुमैः ।)

[इति प्रस्थिते ।]

[नेपथ्ये]

आः अतिथिपरिभाविनि ।

विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम् ।
स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन्कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव ॥१॥

प्रियंवदा—हद्धी हद्धी । अप्पिअं एव्व संवुत्तं । कस्सिं पि पूआरुहे अवरद्धा सुण्णहिअआ सउन्दला । [पुरोऽवलोक्य] ण हु जस्सिं कस्सिं पि । एसो दुव्वासो सुलहकोवो महेसी तह सविअ वेअवलुप्फुल्लाए दुव्वाराए गईए पडिणिवुत्तो । को अण्णो हुदवहादो दहिदुं पहवदि । (हा धिक् हा धिक् । अप्रियमेव संवृत्तम् । कस्मिन्नपि पूजार्हेऽपराद्धा शून्यहृदया शकुन्तला । न खलु यस्मिन्कस्मिन्नपि । एष दुर्वासा सुलभकोपो महर्षिस्तथा शप्त्वा वेगबलोत्फुल्लया दुर्वारया गत्या प्रतिनिवृत्तः । कोऽन्यो हुतवहाद्दग्धुं प्रभवति ।)

अनसूया--गच्छ पादेसु पणमिअ णिवत्तेहि णं जाव अहं अग्घोदअं उवकप्पेमि। (गच्छ पादयो प्रणम्य निवर्तयैनम्। यावदहमर्घोदकमुपकल्पयामि।)

प्रियंवदा--तह। (तथा) [इति निष्क्रान्ता।]

अनसूया--[पदान्तरे स्खलितं निरूप्य] अव्वो आवेअक्खिलिदाए गईए पब्भट्टं मे अग्गहत्थादो पुप्फभाअणं। (अहो आवेगस्खलितया गत्या प्रभ्रष्टं ममाग्रहस्तात्पुष्पभाजनम्।) [इति पुष्पोच्चयं रूपयति।]

[प्रविश्य]

प्रियंवदा--सहि पकिदिवक्को सो कस्स अणुणअं पडिगेण्हदि। किं वि उण साणुक्कोसो किदो। (सखि प्रकृतिवक्र स कस्यानुनयं प्रतिगृह्णाति। किमपि पुन सानुक्रोश कृत।)

अनसूया--[सस्मितम्] तस्सिं बहु एदं पि। कहेहि। (तस्मिन्बह्वे-तदपि। कथय।)

प्रियंवदा--जदा णिवत्तिदुं ण इच्छदि तदा विण्णविदो मए। भअवं पढमं त्ति पेक्खिअ अविण्णादतवप्पहावस्स दुहिदुजणस्स भअवदा एक्को अवराहो मरिसिदव्वो त्ति। (यदा निवर्तितु नेच्छति तदा विज्ञापितो मया। भगवन् प्रथम इति प्रेक्ष्य अविज्ञाततप प्रभावस्य दुहितृजनस्य भगवतैकोऽपराधो मर्षयितव्य इति।)

अनसूया--तदो तदो। (ततस्तत)

प्रियंवदा--तदो ण मे वअणं अण्णहाभविदुं अरिहदि किंदु अहिण्णाणाभरणदंसणेण सावो णिवत्तिस्सदि त्ति मन्तअन्तो सअं अन्तरिहिदो। (ततो न मे वचनमन्यथाभवितुमर्हति किंत्वभिज्ञानाभरणदर्शनेन शापो निवर्तिष्यते इति मन्त्रयन्स्वयमन्तर्हित।)

अनसूया--सक्कं दाणिं अस्ससिदुं। अत्थी तेण राएसिणा सपत्थिदेण सणामहेअङ्किअं अङ्गुलीअअं सुमरणीअं त्ति सअं पिणद्धं। तस्सिं साहीणोवाआ सउन्दला भविस्सदि। (शक्यमिदानीमाश्वसितुम्। अस्ति तेन राजर्षिणा सप्रस्थितेन स्वनामधेयाङ्कितमङ्गुलीयक स्मरणीयमिति स्वय पिनद्धम्। तस्मिन्स्वाधीनोपाया शकुन्तला भविष्यति।)

प्रियंवदा--सहि एहि देवकज्जं दाव से णिव्वत्तेम्ह। (सखि एहि देवकार्यं तावदस्या निर्वर्तयाव।)

[इति परिक्रामत।]

संकप्पो। तं जइ देव्वं एव्व संपादेदि णं अप्पआसेण किदत्थो गुरुअणो। (गुणवते कन्यका प्रतिपादिनीयेत्ययं तावत्प्रथमः संकल्पः। तं यदि दैवमेव संपादयति नन्वप्रयासेन कृतार्थो गुरुजनः।)

प्रियंवदा—[पुष्पभाजनं विलोक्य] सहि अवइदाइँ वलिकम्मपज्जत्ताइँ कुसुमाइँ। (सखि अवचितानि वलिकर्मपर्याप्तानि कुसुमानि।)

अनसूया—णं सहीए सउन्दलाए सोहग्गदेवआ अच्चणीआ। (ननु सख्याः शकुन्तलायाः सौभाग्यदेवताऽर्चनीया।)

प्रियंवदा—जुज्जदि। (युज्यते।) [इति तदेव कर्मारभते।]

[नेपथ्ये]

अयमहं भोः।

अनसूया—[कर्णं दत्वा] सहि अदिधीणं विअ णिवेदिदं। (सखि अतिथीनामिव निवेदितम्।)

प्रियंवदा—णं उडजसंणिहिदा सउन्दला। [आत्मगतम्] अज्ज उण हिअएण असंणिहिदा। (ननूटजसंनिहिता शकुन्तला। अद्य पुनर्हृदयेनासंनिहिता।)

अनसूया—होदु। अलं एत्तिएहिँ कुसुमेहिं। (भवतु। अलमेतावद्भिः कुसुमैः।)

[इति प्रस्थिते।]

[नेपथ्ये]

आः अतिथिपरिभाविनि।

विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम्।
स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन्कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव॥१॥

प्रियंवदा—हद्धी हद्धी। अप्पिअं एव्व संवुत्तं। कस्सिं पि पूआरुहे अवरद्धा सुण्णहिअआ सउन्दला। [पुरोऽवलोक्य] ण हु जस्सिं कस्सिं पि। एसो दुव्वासो सुलहकोवो महेसी तह सविअ वेअवलुप्फुल्लाए दुव्वाराए गईए पडिणिवुत्तो। को अण्णो हुदवहादो दहिदुं पहवदि। (हा धिक् हा धिक्। अप्रियमेव संवृत्तम्। कस्मिन्नपि पूजार्हेऽपराद्धा शून्यहृदया शकुन्तला। न खलु यस्मिन्कस्मिन्नपि। एष दुर्वासाः सुलभकोपो महर्षिस्तथा शप्त्वा वेगबलोत्फुल्लया दुर्वारया गत्या प्रतिनिवृत्तः। कोऽन्यो हुतवहाद्दग्धुं प्रभवति।)

अनसूया--गच्छ पादेसु पणमिअ णिवत्तेहि णं जाव अहं अग्घोदअं उवकप्पेमि। (गच्छ पादयो प्रणम्य निवर्तयैनम्। यावदहमर्घोदकमुपकल्पयामि।)

प्रियंवदा--तह। (तथा) [इति निष्क्रान्ता।]

अनसूया--[पदान्तरे स्खलितं निरूप्य] अव्वो आवेअक्खिलिदाए गईए पब्भट्टं मे अग्गहत्थादो पुप्फभाअणं। (अहो आवेगस्खलितया गत्या प्रभ्रष्टं ममाग्रहस्तात्पुष्पभाजनम्।) [इति पुष्पोच्चय रूपयति।]

[प्रविश्य]

प्रियंवदा--सहि पकिदिवक्को सो कस्स अणुणअं पडिगेण्हदि। किं वि उण साणुक्कोसो किदो। (सखि प्रकृतिवक्र· स कस्यानुनयं प्रतिगृह्णाति। किमपि पुन सानुक्रोश कृत·।)

अनसूया--[सस्मितम्] तस्सिं बहु एदं पि। कहेहि। (तस्मिन्बह्वे-तदपि। कथय।)

प्रियंवदा--जदा णिवत्तिदुं ण इच्छदि तदा विण्णविदो मए। भअवं पढमं त्ति पेक्खिअ अविण्णादतवप्पहावस्स दुहिदुजणस्स भअवदा एक्को अवराहो मरिसिदव्वो त्ति। (यदा निवर्तितु नेच्छति तदा विज्ञापितो मया। भगवन् प्रथम इति प्रेक्ष्य अविज्ञाततप प्रभावस्य दुहितृजनस्य भगवतैकोऽपराधो मर्षयितव्य इति।)

अनसूया--तदो तदो। (ततस्तत)

प्रियंवदा--तदो ण मे वअणं अण्णहाभविदुं अरिहदि किंदु अहिण्णाणाभरणदंसणेण सावो णिवत्तिस्सदि त्ति मन्तअन्तो सअं अन्तरिहिदो। (ततो न मे वचनमन्यथाभवितुमर्हति किंत्वभिज्ञानाभरणदर्शनेन शापो निवर्तिष्यते इति मन्त्रयन्स्वयमन्तर्हित।)

अनसूया--सक्कं दाणिं अस्ससिदुं। अत्थी तेण राएसिणा सपत्थिदेण सणामहेअङ्किअं अङ्गुलीअअं सुमरणीअं त्ति सअं पिणद्धं। तस्सिं साहीणोवाआ सउन्दला भविस्सदि। (शक्यमिदानीमाश्वसितुम्। अस्ति तेन राजर्षिणा सप्रस्थितेन स्वनामधेयाङ्कितमङ्गुलीयकं स्मरणीयमिति स्वयं पिनद्धम्। तस्मिन्स्वाधीनोपाया शकुन्तला भविष्यति।)

प्रियंवदा--सहि एहि देवकज्जं दाव से णिव्वत्तेम्ह। (सखि एहि देवकार्यं तावदस्या निर्वर्तयाव।)

[इति परिक्रामत।]

प्रियंवदा--[विलोक्य] अणसूए पेक्ख दाव। वामहत्थोवहिदवअणा आलिहिदा विअ पिअसही। भत्तुगदाए चिन्ताए अत्ताणं पि ण एसा विभावेदि किं उण आअन्तुअं। (अनसूये पश्य तावत्। वामहस्तोपहितवदनाऽऽलिखितेव प्रियसखी। भर्तृगतया चिन्तयाऽऽत्मानमपि नैषा विभावयति किं पुनरागन्तुकम्।)

अनसूया--पिअंवदे दुवेणं एव्व णं णो मुहे एसो वुत्तन्तो चिट्ठदु। रक्खिदव्वा क्खु पकिदिपेलवा पिअसही। (प्रियंवदे द्वयोरेव ननु नौ मुख एष वृत्तान्तस्तिष्ठतु। रक्षितव्या खलु प्रकृतिपेलवा प्रियसखी।)

प्रियंवदा--को णाम उण्होदएण णोमालिअं सिञ्चेदि। (को नामोष्णोदकेन नवमालिकां सिञ्चति।)

[इत्युभे निष्क्रान्ते]

॥ विष्कम्भकः ॥

[ततः प्रविशति सुप्तोत्थितः शिष्यः।]

शिष्यः--वेलोपलक्षणार्थमादिष्टोऽस्मि तत्रभवता प्रवासादुपावृत्तेन कण्वेन। प्रकाशं निर्गतस्तावदवलोकयामि कियदवशिष्टं रजन्या इति। [परिक्रम्यावलोक्य च] हन्त प्रभातम्। तथा हि—

यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीना-
माविष्कृतोऽरुणपुरःसर एकतोऽर्कः।
तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्यां
लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु ॥ २ ॥

अपि च—

अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वती मे
दृष्टिं न नन्दयति संस्मरणीयशोभा।
इष्टप्रवासजनितान्यबलाजनस्य
दुःखानि नूनमतिमात्रसुदुःसहानि ॥ ३ ॥

[प्रविश्यापटीक्षेपेण]

अनसूया--जइ वि णाम विसअपरम्मुहस्स वि जणस्स एदं ण विदिअं तह वि तेण रण्णा सउन्दलाए अणज्जं आअरिदं। (यद्यपि

नाम विषयपराङ्मुखस्यापि जनस्यैतन्न विदितं तथापि तेन राज्ञा शकुन्तलाया मनार्यमाचरितम्।)

शिष्य -यावदुपस्थितां होमवेलां गुरवे निवेदयामि। [इति निष्क्रान्तः]

अनसूया--पडिवुद्धा वि किं करिस्सं। ण मे उइदेसु वि णिअकरणिज्जेसु हत्थपाआ पसरन्ति। कामो दाणिं सकामो होदु जेण असच्चसंधे जणे अणण्णहिअआ सही पदं कारिदा। अहवा दुव्वाससो कोवो एसो विआरेदि। अण्णहा कहं सो राएसी तारिसाणि मन्तिअ एत्तिअस्स कालस्स लेहमेत्तं पि ण विसज्जेदि ता इदो अहिण्णाणं अङ्गुलीअअं से विसज्जेम। दुक्खसीले तवस्सिजणे को अब्भत्थीअदु। णं सहीगामी दोसो त्ति व्ववसिदा वि ण पारेमि पवासपडिणिउत्तस्स तादकण्णस्स दुस्सन्तपरिणीदं आवण्णसत्तं सउन्दलं णिवेदिदं। इत्थंगए अम्हेहिं किं करणिज्जं। (प्रतिबुद्धाऽपि कि करिष्ये। न मे उचितेष्वपि निजकार्येषु हस्तपाद प्रसरति। काम इदानीं सकामो भवतु येनासत्यसंधे जने अनन्यहृदया सखी पद कारिता। अथवा दुर्वासस कोप एष विकारयति। अन्यथा कथ स राजर्षिस्तादृशानि मन्त्रयित्वैतावत्कालस्य लेखमात्रमपि न विसृजति। तदितोऽभिज्ञानमङ्गुलीयकं तस्य विसृजाव। दु खशीले तपस्विजने कोऽभ्यर्थ्यताम्। ननु सखीगामी दोष इति व्यवसिताऽपि न पारयामि प्रवासप्रतिनिवृत्तस्य तातकण्वस्य दुष्यन्तपरिणीतामापन्नसत्वां शकुन्तला निवेदयितुम्। इत्थगतेऽस्माभि किं करणीयम्।)

[प्रविश्य]

प्रियंवदा--[सहर्षम्] सहि तुवर तुवर सउन्दलाए पत्थाणकोदुअं णिव्वत्तिदुं। (सखि त्वरस्व त्वरस्व शकुन्तलाया प्रस्थानकौतुक निर्वर्तयितुम्।)

अनसूया--सहि कहं एदं। (सखि कथमेतत्।)

प्रियंवदा--सुणाहि। दाणिं सुहसइदपुच्छिआ सउन्दलासआसं गदम्हि। (शृणु। इदानीं सुखशयनपृच्छिका शकुन्तलासकाश गताऽस्मि।),

अनसूया—तदो तदो। (ततस्तत ।)

प्रियंवदा—तदो जाव एणं लज्जावणदमुहिं परिस्सजिअ तादकण्णेण एव्वं अहिणन्दिदं—दिट्ठिआ धूमाउलिददिट्ठिणो वि जअमाणस्स पावए एव्व आहुदी पडिदा। वच्छे सुसिस्सपरिदिण्णा विज्जा विअ असोअणिज्जा संवुत्ता। अज्ज एव्व इसिरक्खिदं तुमं भत्तुणो सआस

विसज्जेमि त्ति । (ततो यावदेनां लज्जावनतमुखीं परिष्वज्य तातकण्वेनैवमभिनन्दितम् – दिष्ट्या धूमाकुलितदृष्टेरपि यजमानस्य पावक एवाहुति पतिता। वत्से सुशिष्यपरिदत्ता विद्येवाशोचनीया संवृत्ता । अद्यैव ऋषिरक्षितां त्वां भर्तुं सकाशं विसर्जयामीति ।)

अनसूया--अह केण सूइदो तादकण्णस्स वुत्तन्तो। (अथ केन सूचितस्तातकण्वस्य वृत्तान्त. ।)

प्रियंवदा--अग्गिसरणं पविट्ठस्स सरीरं विणा छन्दोमईए वाणिआए । (अग्निशरण प्रविष्टस्य शरीरं विना छन्दोमय्या वाण्या ।)

अनसूया—[सविस्मयम्] कहं विअ । (कथमिव ।)

प्रियंवदा—[संस्कृतमाश्रित्य]

दुष्यन्तेनाहितं तेजो दधानां भूतये भुवः ।
अवेहि तनयां ब्रह्मन्नग्निगर्भां शमीमिव ॥ ४ ॥

अनसूया--[प्रियंवदामाश्लिष्य] सहि पिअं मे। किंदु अज्ज एव्व सउन्दला णीअदि त्ति उक्कण्ठासाहारणं परितोसं अणुहोमि। (सखि प्रिय मे। किं त्वद्यैव शकुन्तला नीयत इत्युत्कण्ठासाधारण परितोषमनुभवामि ।)

प्रियंवदा--सहि वअं दाव उक्कण्ठं विणोदइस्सामो। सा तवस्सिणी णिव्वुदा होदु। (सखि आवा तावदुत्कण्ठा विनोदयिष्याव । सा तपस्विनी निर्वृता भवतु ।)

अनसूया—तेण हि एदस्सिं चूदसाहावलम्बिदे णारिएरसमुग्गए एतण्णिमित्तं एव्व कालन्तरक्खमा णिक्खित्ता मए केसरमालिआ। ता इमं हत्थसंणिहिदं करेहि जाव अहं पि से मअलोअणं तित्थमित्तिअं दुव्वाकिसलआणि त्ति मङ्गलसमालम्भणाणि विरएमि। (तेन ह्येतस्मिँश्चूतशाखावलम्बिते नारिकेलसमुद्गके एतन्निमित्तमेव कालान्तरक्षमा निक्षिप्ता मया केसरमालिका । तदिमां हस्तसंनिहितां कुरु यावदहमपि तस्यै मृगरोचनां तीर्थमृत्तिकां दूर्वाकिसलयानीति मङ्गलसमालम्भनानि विरचयामि ।)

प्रियंवदा—तह करीअदु। (तथा क्रियताम्।)

[अनसूया निष्क्रान्ता । प्रियंवदा नाट्येन सुमनसो गृह्णाति ।]

[नेपथ्ये]

गौतमि आदिश्यन्तां शार्ङ्गरवमिश्राः शकुन्तलानयनाय ।

प्रियंवदा—[कर्णं दत्त्वा] अणसूए तुवर तुवर। एदे क्खु हत्थिणाउरगामिणो इसीओ सद्दावीअन्ति। (अनसूये त्वरस्व त्वरस्व। एते खलु हस्तिनापुरगामिन ऋषय शब्दायन्ते।)

[प्रविश्य समालम्भनहस्ता]

अनसूया—सहि एहि गच्छम्ह। (सखि एहि गच्छाव.।)

[इति परिक्रामत.।]

प्रियंवदा—[विलोक्य] एसा सुज्जोदए एव्व सिहामज्जिदा पडिच्छिदणीवारहत्थाहि सोत्थिवाअणकाहिँ तावसीहिँ अहिणन्दीअमाणा सउन्दला चिट्ठइ। उवसप्पम्ह णं। (एषा सूर्योदय एव शिखामज्जिता प्रतिच्छितनीवारहस्ताभि' स्वस्तिवाचनिकाभिस्तापसीभिरभिनन्द्यमाना शकुन्तला तिष्ठति। उपसर्पाव एनाम्।)

[इत्युपसर्पत.।]

[तत प्रविशति यथोद्दिष्टव्यापाराऽऽसनस्था शकुन्तला।]

तापसीनामन्यतमा—[शकुन्तला प्रति] जादे भत्तुणो बहुमाणसूअअं महादेईसद्दं लहेहि। (जाते भर्तुर्बहुमानसूचक महादेवीशब्द लभस्व।)

द्वितीया—वच्छे वीरप्पसविणी होहि। (वत्से वीरप्रसविनी भव।)

तृतीया—वच्छे भत्तुणा बहुमदा होहि। (वत्से भर्तुर्बहुमता भव।)

[इत्याशिषो दत्त्वा गौतमीवर्जं निष्क्रान्ता।]

सख्यौ—[उपसृत्य] सहि सुहमज्जणं दे होदु। (सखि सुखमज्जन ते भवतु।)

शकुन्तला—साअदं मे सहीणं। इदो णिसीदह। (स्वागत मे सख्यो। इतो निषीदतम्।)

उभे—[मङ्गलपात्राण्यादाय उपविश्य] हला सज्जा होहि जाव दे मङ्गलसमालम्भणं विरएम। (हला सज्या भव यावत्ते मङ्गलसमालम्भनं विरचयाव।)

शकुन्तला—इदं पि बहु मन्तव्वं दुल्लहं दाणिं मे सहीमण्डणं भविस्सदि त्ति। (इदमपि बहु मन्तव्य दुर्लभमिदानीं मे सखीमण्डन भविष्यतीति।) [इति बाष्प विसृजति।]

उभे—सहि उइअं ण दे मङ्गलकाले रोदिदुं। (सखि उचित न ते मङ्गलकाले रोदितुम्) [इत्यश्रूणि प्रमृज्य नाट्येन प्रसाधयत।]

प्रियंवदा—आहरणोइदं रूवं अस्समसुलहेहिं पसाहणेहिं विप्पआरीअदि। (आभरणोचित रूपमाश्रमसुलभैं प्रसाधनैर्विप्रकार्यते।)

[प्रविश्योपायनहस्तावृषिकुमारकौ।]

उभौ—इदमलंकरणम्। अलक्रियतामत्रभवती।

[सर्वा विलोक्य विस्मिता।]

गौतमी—वच्छ णारअ कुदो एदं। (वत्स नारद कुत एतत्।)

प्रथम —तातकण्वप्रभावात्।

गौतमी—किं माणसी सिद्धी। (कि मानसी सिद्धि।)

द्वितीय —न खलु। श्रूयताम्। तत्रभवता वयमाज्ञप्ताः शकुन्तलाहेतोर्वनस्पतिभ्यः कुसुमान्याहरतेति। तत इदानीं—

क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डु तरुणा माङ्गल्यमाविष्कृतं
निष्ठ्यूतश्चरणोपभोगसुलभो लाक्षारसः केनचित्।
अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितै-
र्दत्तान्याभरणानि तत्किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः ॥५॥

प्रियंवदा—[शकुन्तलां विलोक्य] हला! इमाए अब्भुववत्तीए सूइआ दे भत्तुणो गेहे अणुहोदव्वा राअलच्छित्ति। (हला अनयाऽभ्युपपत्त्या सूचिता ते भर्तुर्गेहेऽनुभवितव्या राजलक्ष्मीरिति।)

[शकुन्तला व्रीडां रूपयति।]

प्रथम—गौतम एह्येहि अभिषेकोत्तीर्णाय कण्वाय वनस्पतिसेवां निवेदयाव।

द्वितीय —तथा।

[इति निष्क्रान्तौ]

सख्यौ—अए अणुवजुत्तभूसणो अअं जणो। चित्तकम्मपरिअएण अङ्गेसु दे आहरणविणिओअं करेम्ह। (अये अनुपयुक्तभूषणोऽयं जन। चित्रकर्मपरिचयेनाङ्गेषु ते आभरणविनियोगं कुर्व।)

शकुन्तला—जाणे वो णेउणं। (जाने वा नैपुणम्।)

[उभे नाट्येनालंकुरुत।]

[ततः प्रविशति स्नानोत्तीर्णः कण्वः।]

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
कण्ठः स्तम्भितबाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम् ।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः ॥ ६ ॥

[इति परिक्रामति ।]

सख्यौ—हला सउन्दले अवसिदमण्डणासि । परिधेहि संपदं खोमजुअलं । (हला शकुन्तले अवसितमण्डनासि । परिधत्स्व सांप्रतं क्षौमयुगलम् ।)

[शकुन्तलोत्थायपरिधत्ते]

गौतमी—जादे एसो दे आणन्दपरिवाहिणा चक्खुणा परिस्सजन्तो विअ गुरू उवट्ठिदो । आआरं दाव पडिवज्जस्स । (जाते एष ते आनन्दपरिवाहिणा चक्षुषा परिष्वजमान इव गुरुरुपस्थितः । आचारं तावत्प्रतिपद्यस्व ।)

शकुन्तला—[सव्रीडम्] ताद वन्दामि । (तात वन्दे ।)

कण्व—वत्से ।

ययातेरिव शर्मिष्ठा भर्तुर्बहुमता भव ।
सुतं त्वमपि सम्राजं सेव पूरुमवाप्नुहि ॥ ७ ॥

गौतमी—भअवं वरो क्खु एसो ण आसिसा । (भगवन् वरः खल्वेष । नाशीः ।)

कण्व—वत्से इतः सद्योहुताग्नीन्प्रदक्षिणीकुरुष्व ।

[सर्वे परिक्रामन्ति ।]

कण्व—[ऋक्छन्दसाऽऽशास्ते ।]—

अमी वेदिं परितः क्लृप्तधिष्ण्याः समिद्वन्तः प्रान्तसंस्तीर्णदर्भाः ।
अपघ्नन्तो दुरितं हव्यगन्धैर्वैतानास्त्वां वह्नयः पावयन्तु ॥८॥

प्रतिष्ठस्वेदानीम् । [सदृष्टिक्षेपम्] क्व ते शार्ङ्गरवमिश्राः ।

[प्रविश्य]

शिष्य—भगवन् इमे स्मः ।

कण्व—भगिन्यास्ते मार्गमादेशय ।

शार्ङ्गरव—इत इतो भवती ।

[सर्वे परिक्रामन्ति ।]

कण्व —भो भोः संनिहितदेवतास्तपोवनतरवः ।

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनाऽपि भवतां स्नेहेन या पल्लवम् ।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम् ॥९॥

[कोकिलरवं सूचयित्वा]

अनुमतगमना शकुन्तला तरुभिरियं वनवासबन्धुभिः ।
परभृतविरुतं कलं यथा प्रतिवचनीकृतमेभिरीदृशम् ॥१०॥

[आकाशे]

रम्यान्तरः कमलिनीहरितैः सरोभि-
श्छायाद्रुमैर्नियमितार्कमयूखतापः ।
भूयात्कुशेशयरजोमृदुरेणुरस्याः
शान्तानुकूलपवनश्च शिवश्च पन्थाः ॥११॥

[सर्वे सविस्मयमाकर्णयन्ति ।]

गौतमी—जादे एणादिजणसिणिद्धाहिँ अणुएणादगमणासि तवोवणदेवदाहिँ । पणम भअवदीणं । (जाते ज्ञातिजनस्निग्धाभिरनुज्ञातगमनाऽसि तपोवनदेवताभि । प्रणम भगवतीः ।)

शकुन्तला—[सप्रणाम परिक्रम्य जनान्तिकम्] हला पिअंवदे णं अज्जउत्तदंसणुस्सुआए वि अस्समपदं परिच्चअन्तीए दुक्खेण मे चलणा पुरदो पवट्टन्ति । (हला प्रियंवदे नन्वार्यपुत्रदर्शनोत्सुकाया अप्याश्रमपद परित्यजन्त्या दुःखेन मे चरणौ पुरत. प्रवर्तेते ।)

प्रियंवदा—ण केवलं तवोवणविरहकादरा सही एव्व तुए उवट्ठिदविओअस्स तवोवणस्स वि दाव समवत्था दीसइ ।

उग्गलिअदब्भकवला मिआ परिच्चत्तणच्चणा मोरा ।
ओसरिअपण्डुपत्ता मुअन्ति अस्सू विअ लदाओ ॥१२॥

(न केवल तपोवनविरहकातरा सख्येव त्वयोपस्थितवियोगस्य तपोवनस्यापि तावत्समवस्था दृश्यते ।

उद्गलितदर्भकवला मृग्यः परित्यक्तनर्तना मयूराः ।
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः ॥)

शकुन्तला—[स्मृत्वा] ताद लदावहिणिअं वणजोसिणिं दाव आमन्तइस्सं । (तात लताभगिनीं वनज्योत्स्नां तावदामन्त्रयिष्ये ।)

कण्व —अवैमि ते तस्यां सोदर्यस्नेहम् । इयं तावद्दक्षिणेन ।

शकुन्तला—[उपेत्य लतामालिङ्ग्य] वणजोसिणि चूदसंगदा वि मं पच्चालिङ्ग । इदोगदाहिं साहाबाहाहिं । अज्जप्पहुदि दूरपरिवत्तिणी दे क्खु भविस्सं । (वनज्योत्स्ने चूतसंगताऽपि मां प्रत्यालिङ्ग । इतोगताभिः शाखाबाहाभिः । अद्यप्रभृति दूरपरिवर्तिनी ते खलु भविष्यामि ।)

कण्व —

संकल्पितं प्रथममेव मया तवार्थे
भर्तारमात्मसदृशं सुकृतैर्गता त्वम् ।
चूतेन संश्रितवती नवमालिकेय-
मस्यामहं त्वयि च संप्रति वीतचिन्तः ॥१३॥

इतः पन्थानं प्रतिपद्यस्व ।

शकुन्तला—[सख्यौ प्रति] हला एसा दुवेणं वो हत्थे णिक्खेवो । (हला एषा द्वयोर्युवयोर्हस्ते निक्षेपः ।)

सख्यौ—अअं जणो कस्स हत्थे समप्पिदो । (अयं जनः कस्य हस्ते समर्पितः ।) [इति बाष्पं विसृजतः ।]

कण्व —अनसूये अलं रुदित्वा । ननु भवतीभ्यामेव स्थिरीकर्तव्या शकुन्तला ।

[सर्वे परिक्रामन्ति ।]

शकुन्तला—ताद एसा उडजपज्जन्तचारिणी गब्भमन्थरा मअवहू जदा अणघप्पसवा होइ तदा मे कंपि पिअणिवेदइत्तअं विसज्जइस्सह । (तात एषोटजपर्यन्तचारिणी गर्भमन्थरा मृगवधूर्यदाऽनघप्रसवा भवति तदा मह्यं कमपि प्रियनिवेदयितृकं विसर्जयिष्यथ ।)

कण्व —नेदं विस्मरिष्यामः ।

शकुन्तला—[गतिभङ्गं रूपयित्वा] को णु क्खु एसो णिवसणे मे सज्जइ । (को नु खल्वेष निवसने मे सज्जते ।) [इति परावर्तते ।]

कण्व —वत्से ।

यस्य त्वया व्रणविरोपणमिङ्गुदीनां
तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे ।
श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितको जहाति
सोऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते ॥१४॥

शकुन्तला—वच्छ किं सहवासपरिच्चाइणिं मं अणुसरसि । अचिरप्पसूदाए जणणीए विणा वड्ढिदो एव्व । दाणिं पि मए विरहिदं तुमं तादो चिन्तइस्सदि । णिवत्तेहि दाव । (वत्स किं सहवासपरित्यागिनीं मामनुसरसि । अचिरप्रसूतया जनन्या विना वर्धित एव । इदानीमपि मया विरहितं त्वां तातश्चिन्तयिष्यति । निवर्तस्व तावत् ।) [इति रुदती प्रस्थिता ।]

कण्व —

उत्पक्ष्मणोर्नयनयोरुपरुद्धवृत्तिं
बाष्पं कुरु स्थिरतया विहतानुबन्धम् ।
अस्मिन्नलक्षितनतोन्नतभूमिभागे
मार्गे पदानि खलु ते विषमीभवन्ति ॥१५॥

शार्ङ्गरव—भगवन् ओदकान्तं स्निग्धो जनोऽनुगन्तव्य इति श्रूयते । तदिदं सरस्तीरम् । अत्र संदिश्य प्रतिगन्तुमर्हसि ।

कण्वः—तेन हीमां क्षीरवृक्षच्छायामाश्रयामः ।

[सर्वे परिक्रम्य स्थिताः ।]

कण्व —[आत्मगतम्] किं नु खलु तत्रभवतो दुष्यन्तस्य युक्तरूपमस्माभिः संदेष्टव्यम् । [इति चिन्तयति ।]

शकुन्तला—[जनान्तिकम्] हला पेक्ख । णलिणीपत्तन्तरिदं वि सहअरं अदेक्खन्ती आदुरा चक्कवाई आरडदि दुक्करं अहं करेमित्ति तक्केमि । (हला पश्य । नलिनीपत्रान्तरितमपि सहचरमपश्यन्त्यातुरा चक्रवाक्यारटति दुष्करमहं करोमीति तर्कयामि ।)

अनसूया—सहि मा एव्वं मन्तेहि ।

एसा वि पिएण विणा गमेइ रअणिं विसाअदीहअरं ।
गरुअं पि विरहदुक्खं आसाबन्धो सहावेदि ॥१६॥

(सखि मैवं मन्त्रयस्व ।

एषाऽपि प्रियेण विना गमयति रजनी विषाददीर्घतराम् ।
गुर्वपि विरहदुःखमाशाबन्धः साहयति ॥)

कण्व —शार्ङ्गरव इति त्वया मद्वचनात्स राजा शकुन्तलां पुरस्कृत्य वक्तव्यः ।

शार्ङ्गरव —आज्ञापयतु भवान् ।

कण्व —

अस्मान्साधु विचिन्त्य संयमधनानुच्चैः कुलं चात्मन-
स्त्वय्यस्याः कथमप्यबान्धवकृतां स्नेहप्रवृत्तिं च ताम् ।
सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकमियं दारेषु दृश्या त्वया
भाग्यायत्तमतः परं न खलु तद्वाच्यं वधूबन्धुभिः ॥१७॥

शार्ङ्गरव —गृहीतः संदेशः ।

कण्व —वत्से त्वमिदानीमनुशासनीयाऽसि । वनौकसोऽपि सन्तो लौकिकज्ञा वयम् ।

शार्ङ्गरव —न खलु धीमतां कश्चिदविषयो नाम ।

कण्व —सा त्वमितः पतिकुलं प्राप्य—

शुश्रूषस्व गुरून्कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
पत्युर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः ।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः ॥१८॥

कथं वा गौतमी मन्यते ।

गौतमी—एत्तिओ वहूजणस्स उवदेसो जादे एदं क्खु सव्वं ओधारेहि । (एतावान्वधूजनस्योपदेशः । जाते एतत्खलु सर्वमवधारय ।)

कण्व —वत्से परिष्वजस्व मां सखीजनं च ।

शकुन्तला—ताद इदो एव्व किं पिअंवदाअणसूआओ सहीओ णिवत्तिस्सन्ति । (तात इत एव किं प्रियंवदानसूये सख्यौ निवर्तिष्येते ।)

कण्व —वत्से इमे अपि प्रदेये । न युक्तमनयोस्तत्र गन्तुम् । त्वया सह गौतमी यास्यति ।

शकुन्तला—[पितरमाश्लिष्य] कहं दाणिं तादस्स अङ्कादो परिब्भट्टा मलअतरुन्मूलिआ चन्दणलदा विअ देसन्तरे जीविअं धारइस्सं। (कथमिदानीं तातस्याङ्कात्परिभ्रष्टा मलयतरून्मूलिता चन्दनलतेव देशान्तरे जीवितं धारयिष्यामि ।)

कण्व —वत्से किमेवं कातरासि ।

अभिजनवतो भर्तुः श्लाघ्ये स्थिता गृहिणीपदे
विभवगुरुभिः कृत्यैस्तस्य प्रतिक्षणमाकुला ।
तनयमचिरात्प्राचीवार्कं प्रसूय च पावनं
मम विरहजां न त्वं वत्से शुचं गणयिष्यसि ॥१६॥

[शकुन्तला पितुः पादयोः पतति ।]

कण्व —यदिच्छामि ते तदस्तु ।

शकुन्तला—[सख्यावुपेत्य] हला दुवे वि मं समं एव्व परिस्सजह । (हला द्वे अपि मां सममेव परिष्वजेथाम् ।)

सख्यौ—[तथा कृत्वा] सहि जइ णाम सो राआ पच्चहिण्णाणमन्थरो भवे तदो से इमं अत्तणामहेअअङ्किअं अङ्गुलिअअं दंसेहि । (सखि यदि नाम स राजा प्रत्यभिज्ञानमन्थरो भवेत्ततस्तस्येदमात्मनामधेयाङ्कितमङ्गुलीयकं दर्शय ।)

शकुन्तला—इमिणा संदेहेण वो आकम्पिदम्हि । (अनेन सन्देहेन वामाकम्पितास्मि ।)

सख्यौ—मा भाआहि सिणेहो पावसङ्की । (मा भैषीः स्नेहः पापशङ्की ।)

शार्ङ्गरव —युगान्तरमारूढः सविता । त्वरतामत्रभवती ।

शकुन्तला—[आश्रमाभिमुखी स्थित्वा] ताद कदा णु भूओ तवोवणं पेक्खिस्सं । (तात कदा नु भूयस्तपोवनं प्रेक्षिष्ये ।)

कण्व —श्रूयताम्—

भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी
दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य ।
भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण सार्धं
शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन् ॥२०॥

गौतमी—जादे परिहीअदि गमणवेला। णिवत्तेहि पिदरं। अहवा चिरेण वि पुणो पुणो एसा एव्वं मन्तइस्सदि णिवत्तदु भवं। (जाते परिहीयते गमनवेला। निवर्तय पितरम्। अथवा चिरेणापि पुन. पुनरेषैवं मन्त्रयिष्यते निवर्ततां भवान्।)

कण्व—वत्से उपरुध्यते तपोऽनुष्ठानम्।

शकुन्तला—[भूय: पितरमाश्लिष्य] तवच्चरणपीडिदं तादसरीरं ता मा अदिमेत्तं मम किदे उक्कण्ठिदुम्। (तपश्चरणपीडितं तातशरीरम् तन्माऽतिमात्र मम कृत उत्कण्ठितुम्।)

कण्व—[सनि श्वासम्]—

शममेष्यति मम शोकः कथं नु वत्से त्वया रचितपूर्वम्।
उटजद्वारविरूढं नीवारबलिं विलोकयतः॥ २१ ॥

गच्छ शिवास्ते पन्थानः सन्तु।

[निष्क्रान्ता शकुन्तला सहयायिनश्च।]

सख्यौ—[शकुन्तला विलोक्य] हद्धी हद्धी अन्तलिहिदा सउन्दला वणराईए। (हा धिक् हा धिक् अन्तर्हिता शकुन्तला वनराज्या।)

कण्व—[सनि श्वासम्] अनसूये गतवती वां सहधर्मचारिणी। निगृह्य शोकमनुगच्छतं मां प्रस्थितम्।

उभे—ताद सउन्दलाविरहिदं सुण्णं विअ तवोवणं कहं पविसावो। (तात शकुन्तलाविरहित शून्यमिव तपोवन कथं प्रविशाव.।)

कण्व—स्नेहप्रवृत्तिरेवंदर्शिनी। [सविमर्शं परिक्रम्य] हन्त भोः शकुन्तलां पतिकुलं विसृज्य लब्धमिदानीं स्वास्थ्यम्। कुतः।

अर्थो हि कन्या परकीय एव तामद्य संप्रेष्य परिग्रहीतुः।
जातो ममायं विशदः प्रकामं प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा॥ २२॥

[इति निष्क्रान्ता सर्वे।]

॥ इति चतुर्थोऽङ्कः ॥

पञ्चमोऽङ्कः

[ततः प्रविशत्यासनस्थो राजा विदूषकश्च]

विदूषक—[कर्णं दत्त्वा] भो वअस्स संगीतसालन्तरे अवधाणं देहि। कलविसुद्धाए गीदीए सरसंजोओ सुणीअदि। जाणे तत्तहोदी हंसवदिआ वण्णपरिअअं करेदित्ति। (भो वयस्य संगीतशालान्तरेऽवधानं देहि। कलविशुद्धाया गीतेः स्वरसंयोगः श्रूयते। जाने तत्रभवती हंसपदिका वर्णपरिचयं करोतीति।)

राजा—तूष्णीं भव यावदाकर्णयामि।

[आकाशे गीयते।]

अहिणवमहुलोलुवो भवं तह परिचुम्बिअ चूअमञ्जरिं।
कमलवसइमेत्तणिव्वुदो महुअर विह्मरिओ सि णं कहं॥ १॥

(अभिनवमधुलोलुपो भवांस्तथा परिचुम्ब्य चूतमञ्जरीम्।
कमलवसतिमात्रनिर्वृतो मधुकर विस्मृतोऽस्येनां कथम्॥)

राजा—अहो रागपरिवाहिनी गीतिः।

विदूषक—किं दाव गीदीए अवगओ अक्खरत्थो (किं तावद्गीत्या अवगतोऽक्षरार्थः।)

राजा—[स्मितं कृत्वा] सकृत्कृतप्रणयोऽयं जनः। तदस्या देवीं वसुमतीमन्तरेण मदुपालम्भमवगतोऽस्मि। सखे माधव्य मद्वचनादुच्यतां हंसपदिका—निपुणमुपालब्धाऽस्मीति।

विदूषक—जं भवं आणवेदि। [उत्थाय] भो वअस्स गहीदस्स

ताए परकीएहिं हत्थेहिं सिहण्डए ताडीअमाणस्स अच्छराए वीदराअस्स विअ णत्थि दाणिं मे मोक्खो। (यद्भवानाज्ञापयति। भो वयस्य गृहीतस्य तया परकीयैर्हस्तैः शिखण्डके ताड्यमानस्याप्सरसा वीतरागस्येव नास्तीदानीं मे मोक्षः।)

राजा—गच्छ। नागरिकवृत्त्या संज्ञापयैनाम्।

विदूषक—का गई। (का गतिः।) [इति निष्क्रान्तः।]

राजा—[आत्मगतम्] किं नु खलु गीतार्थमाकर्ण्येष्टजनविरहादृतेऽपि बलवदुत्कण्ठितोऽस्मि। अथवा—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दा-
न्पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥ २ ॥

[इति पर्याकुलस्तिष्ठति।]

[ततः प्रविशति कञ्चुकी।]

कञ्चुकी—अहो नु खल्वीदृशीमवस्थां प्रतिपन्नोऽस्मि।

आचार इत्यवहितेन मया गृहीता
या वेत्रयष्टिरवरोधगृहेषु राज्ञः।
काले गते बहुतिथे मम सैव जाता
प्रस्थानविक्लवगतेरवलम्बनार्था ॥ ३ ॥

भोः कामं धर्मकार्यमनतिपात्यं देवस्य। तथापीदानीमेव धर्मासनादुत्थिताय पुनरुपरोधकारि कण्वशिष्यागमनमस्मै नोत्सहे निवेदितुम्। अथवाऽविश्रमोऽयं लोकतन्त्राधिकारः। कुतः।

भानुः सकृद्युक्ततुरङ्ग एव रात्रिंदिवं गन्धवहः प्रयाति।
शेषः सदैवाहितभूमिभारः षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः ॥ ४ ॥

यावन्नियोगमनुतिष्ठामि। [परिक्रम्यावलोक्य च] एष देवः

प्रजाः प्रजाः स्वा इव तन्त्रयित्वा निषेवते शान्तमना विविक्तम्।
यूथानि संचार्य रविप्रतप्तः शीतं दिवा स्थानमिव द्विपेन्द्रः ॥ ५ ॥

[उपगम्य] जयतु जयतु देवः। एते खलु हिमगिरेरुपत्यकारण्यवासिनः कण्वसंदेशमादाय सस्त्रीकास्तपस्विनः संप्राप्ताः। श्रुत्वा देवः प्रमाणम्।

राजा—[सादरम्] किं कण्वसंदेशहारिणः।

कञ्चुकी—अथ किम्।

राजा—तेन हि मद्वचनाद्विज्ञाप्यतामुपाध्यायः सोमरातः। अमूनाश्रमवासिनः श्रौतेन विधिना सत्कृत्य स्वयमेव प्रवेशयितुमर्हतीति। अहमप्येतांस्तपस्विदर्शनोचिते प्रदेशे स्थितः प्रतिपालयामि।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देव.। [इति निष्क्रान्त'।]

राजा—[उत्थाय] वेत्रवति अग्निशरणमार्गमादेशय।

प्रतीहारी—इदो इदो देवो। (इत इतो देव ।)

राजा—[परिक्रामति। अधिकारखेद निरूप्य] सर्वः प्रार्थितमर्थमधिगम्य सुखी संपद्यते जन्तुः। राज्ञां तु चरितार्थता दुःखान्तरैव।

औत्सुक्यमात्रमवसाययति प्रतिष्ठा
क्लिश्नाति लब्धपरिपालनवृत्तिरेव।
नातिश्रमापनयनाय न च श्रमाय
राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम् ॥ ६ ॥

[नेपथ्ये]

वैतालिकौ—विजयतां देवः।

प्रथम —

स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः
प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवंविधैव।
अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं
शमयति परितापं छायया संश्रितानाम् ॥७॥

द्वितीयः—

नियमयसि विमार्गप्रस्थितानात्तदण्डः
प्रशमयसि विवादं कल्पसे रक्षणाय।

अतनुषु विभवेषु ज्ञातयः सन्तु नाम
त्वयि तु परिसमाप्तं बन्धुकृत्यं प्रजानाम् ॥८॥

राजा—एते क्लान्तमनसः पुनर्नवीकृताः स्म. । [इति परिक्रामति ।]

प्रतीहारी—एसो अहिणवसम्मज्जणसस्सिरीओ सण्णिहिदहोमधेणू अग्गिसरणालिन्दो । आरोहदु देवो । (एष अभिनवसंमार्जनसश्रीकः संनिहितहोमधेनुरग्निशरणालिन्द. । आरोहतु देव. ।)

राजा—[आरुह्य परिजनांसावलम्बी तिष्ठति ।] वेत्रवति किमुद्दिश्य भगवता कण्वेन मत्सकाशमृषयः प्रेषिताः स्यु ।

किं तावद्व्रतिनामुपोढतपसां विघ्नैस्तपो दूषितं
धर्मारण्यचरेषु केनचिदुत प्राणिष्वसच्चेष्टितम् ।
आहोस्वित्प्रसवो ममापचरितैर्विष्टम्भितो वीरुधा-
मित्यारूढबहुप्रतर्कमपरिच्छेदाकुलं मे मनः ॥९॥

प्रतीहारी—सुचरिदणंदिणो इसीओ देवं सभाजइदुं आअदेत्ति तक्केमि । (सुचरितनन्दिन ऋषयो देवं सभाजयितुमागता इति तर्कयामि ।)

[तत प्रविशन्ति गौतमीसहिता. शकुन्तला पुरस्कृत्य मुनय । पुरश्चैषां कञ्चुकी पुरोहितश्च ।]

कञ्चुकी—इत इतो भवन्त ।

शार्ङ्गरव'—शारद्वत

महाभागः कामं नरपतिरभिन्नस्थितिरसौ
न कश्चिद्वर्णानामपथमपकृष्टोऽपि भजते ।
तथापीदं शश्वत्परिचितविविक्तेन मनसा
जनाकीर्णं मन्ये हुतवहपरीतं गृहमिव ॥१०॥

शारद्वत—स्थाने भवान्पुरप्रवेशादित्थंभूत. संवृत्तः । अहमपि—

अभ्यक्तमिव स्नातः शुचिरशुचिमिव प्रबुद्ध इव सुप्तम् ।
बद्धमिव स्वैरगतिर्जनमिह सुखसङ्गिनमवैमि ॥११॥

शकुन्तला—[निमित्तं सूचयित्वा] अम्महे किं मे वामेदरं णअणं विप्फुरदि । (अहो किं मे वामेतर नयन विस्फुरति ।)

गौतमी—जादे पडिहदं अमङ्गलं । सुहाइँ दे भत्तुकुलदेवदाओ वितरन्दु । (जाते प्रतिहतममङ्गलम् । सुखानि ते भर्तृकुलदेवता वितरन्तु ।)

[इति परिक्रामति ।]

पुरोहित —[राजान निर्दिश्य] भो भोस्तपस्विनः असावत्रभवान्वर्णाश्रमाणां रक्षिता प्रागेव मुक्तासनो वः प्रतिपालयति । पश्यतैनम् ।

शार्ङ्गरव —भो महाब्राह्मण काममेतदभिनन्दनीयं तथापि वयमत्र मध्यस्थाः । कुतः ।

भवन्ति नम्रास्तरवः फलागमैर्नवाम्बुभिर्दूरविलम्बिनो घनाः ।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ।१२।

प्रतीहारी—देव पसण्णमुहवण्णा दीसन्ति । जाणामि विसद्धकज्जा इसीओ । (देव प्रसन्नमुखवर्णा दृश्यन्ते । जानामि विश्रब्धकार्या ऋषय. ।)

राजा— [शकुन्तलां दृष्ट्वा] अथात्रभवती—

का स्विदवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या ।
मध्ये तपोधनानां किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम् ॥ १३ ॥

प्रतीहारी—देव कुतूहलगब्भोपहिदो ण मे तक्को पसरदि । णं दंसणीआ उण से आकिदी लक्खीअदि । (देव कुतूहलगर्भोपहितो न मे तर्कः प्रसरति । ननु दर्शनीया पुनरस्या आकृतिर्लक्ष्यते ।)

राजा—भवतु अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम् ।

शकुन्तला—[हस्तमुरसि कृत्वा आत्मगतम्] हिअअ किं एव्वं वेवसि । अज्जउत्तस्स भाव ओहारिअ धीरं दाव होहि । (हृदय किमेवं वेपसे । आर्यपुत्रस्य भावमवधार्य धीर तावद्भव ।)

पुरोहित.—[पुरो गत्वा] एते विधिवदर्चितास्तपस्विनः । कश्चिदेषामुपाध्यायसंदेश । तं देवः श्रोतुमर्हति ।

राजा—अवहितोऽस्मि ।

ऋषय —[हस्तानुद्यम्य] विजयस्व राजन् ।

राजा—सर्वानभिवादये ।

ऋषय —इष्टेन युज्यस्व ।

राजा—अपि निर्विघ्नतपसो मुनयः ।

ऋषयः—

कुतो धर्मक्रियाविघ्नः सतां रक्षितरि त्वयि ।
तमस्तपति घर्मांशौ कथमाविर्भविष्यति ॥ १४ ॥

राजा—अर्थवान्खलु मे राजशब्दः । अथ भगवाँल्लोकानुग्रहाय कुशली कण्वः ।

ऋषयः—स्वाधीनकुशलाः सिद्धिमन्तः । स भवन्तमनामयप्रश्नपूर्वकमिदमाह ।

राजा—किमाज्ञापयति भगवान् ।

शार्ङ्गरव—यन्मिथः समयादिमां मदीयां दुहितरं भवानुपायँस्त तन्मया प्रीतिमता युवयोरनुज्ञातम् । कुतः ।

त्वमर्हतां प्राग्रसरः स्मृतोऽसि नः शकुन्तला मूर्तिमती च सत्क्रिया ।
समानयँस्तुल्यगुणं वधूवरं चिरस्य वाच्यं न गतः प्रजापतिः॥१५॥

तदिदानीमापन्नसत्वेयं प्रतिगृह्यतां सहधर्मचरणायेति ।

गौतमी—अज्ज किंपि वत्तुकामम्हि ण मे वअणावसरो अत्थि । कहंत्ति ।

णावेक्खिओ गुरुअणो इमाए तुए पुच्छिदो ण वन्धुअणो ।
एक्ककमेव्व चरिए भणामि किं एक्कमेक्कस्स ॥ १६ ॥

(आर्य किमपि वक्तुकामाऽस्मि । न मे वचनावसरोऽस्ति । कथमिति ।
नापेक्षितो गुरुजनोऽनया त्वया पृष्टो न वन्धुजनः ।
एकैकमेव चरिते भणामि किमेकमेकस्य ॥)

शकुन्तला—[आत्मगतम्] किं णु क्खु अज्जउत्तो भणादि । (किं नु खल्वार्यपुत्रो भणति ।)

राजा—किमिदमुपन्यस्तम् ।

शकुन्तला—[आत्मगतम्] पावओ क्खु वअणोवण्णासो । (पावकः खलु वचनोपन्यासः ।)

शार्ङ्गरव—कथमिदं नाम भवन्त एव सुतरां लोकवृत्तान्तनिष्णाताः ।

सतीमपि ज्ञातिकुलैकसंश्रयां जनोऽन्यथा भर्तृमतीं विशङ्कते ।
अतः समीपे परिणेतुरिष्यते प्रियाप्रिया वा प्रमदा स्वबन्धुभिः १७

राजा—किं चात्रभवती मया परिणीतपूर्वा।

शकुन्तला—[सविषादम् । आत्मगतम्] हिअअ संपदं दे आसङ्का। (हृदय सांप्रतं ते आशङ्का।)

शार्ङ्गरव —

किं कृतकार्यद्वेषो धर्मं प्रति विमुखता कृतावज्ञा।

राजा—कुतोऽयमसत्कल्पनाप्रश्नः।

शार्ङ्गरव —

मूर्च्छन्त्यमी विकाराः प्रायेणैश्वर्यमत्तेषु ॥ १८ ॥

राजा—विशेषेणाधिक्षिप्तोऽस्मि।

गौतमी—जादे मुहुत्तअं मा लज्ज। अवणइस्सं दाव दे ओउण्ठणं। तदो तुमं भट्टा अहिजाणिस्सदि। (जाते मुहूर्तं मा लज्जस्व। अपनेष्यामि तावत्तेऽवगुण्ठनम्। तस्त्वां भर्ताऽभिज्ञास्यति।) [इति यथोक्तं करोति।]

राजा—[शकुन्तलां निर्वर्ण्य आत्मगतम्]

इदमुपनतमेवं रूपमक्लिष्टकान्ति
प्रथमपरिगृहीतं स्यान्न वेत्यव्यवस्यन्।
भ्रमर इव विभाते कुन्दमन्तस्तुषारं
न च खलु परिभोक्तुं नैव शक्नोमि हातुम् ॥ १९ ॥

(इति विचारयन्स्थितः।)

प्रतीहारी—[स्वगतम्] अहो धम्मावेक्खिआ भट्टिणो। ईदिसं णाम सुहोवणदं रूवं देक्खिअ को अण्णो विआरेदि। (अहो धर्मावेक्षिता भर्तुः। ईदृशं नाम सुखोपनतं रूपं दृष्ट्वा कोऽन्यो विचारयति।)

शार्ङ्गरव—भो राजन् किमिति जोषमास्यते।

राजा—भोस्तपोधनाः चिन्तयन्नपि न खलु स्वीकरणमत्रभवत्याः स्मरामि। तत्कथमिमामभिव्यक्तसत्त्वलक्षणां प्रत्यात्मानं क्षेत्रिणमाशङ्कमानः प्रतिपत्स्ये।

शकुन्तला—[अपवार्य] अज्जस्स परिणए एव्व संदेहो। कुदो दाणिं मे दूराहिरोहिणी आसा। (आर्यस्य परिणय एव संदेहः। कुत इदानीं मे दूराधिरोहिण्याशा।)

शार्ङ्गरव—मा तावत्—

कृताभिमर्शामनुमन्यमानः सुतां त्वया नाम मुनिर्विमान्यः ।
मुष्टं प्रतिग्राहयता स्वमर्थं पात्रीकृतो दस्युरिवासि येन ॥२०॥

शारद्वत—शार्ङ्गरव विरम त्वमिदानीम् । शकुन्तले वक्तव्यमुक्तमस्माभिः । सोऽयमत्रभवानेवमाह । दीयतामस्मै प्रत्ययप्रतिवचनम् ।

शकुन्तला—[अपवार्य] इमं अवत्थन्तरं गदे तारिसे अणुराए किं वा सुमराविदेण । अत्ता दाणिं मे सोअणीओ त्ति ववसिदं एदं । [प्रकाशम्] अज्जउत्त [इत्यर्धोक्ते] संसइदे दाणिं ण एसो समुदाआरो । पोरव ण जुत्तं णाम दे तह पुरा अस्समपदे सहावुत्ताणहिअअं इमं जणं समअपुव्वं पतारिअ ईदिसेहिं अक्खरेहिं पच्चाचक्खिदुं । (इदमवस्थान्तरं गते तादृशेऽनुरागे किं वा स्मारितेन । आत्मेदानीं मे शोचनीय इति व्यवसितमेतत् । आर्यपुत्र संशयित इदानीं नैष समुदाचारः । पौरव न युक्तं नाम ते तथा पुराऽऽश्रमपदे स्वभावोत्तानहृदयमिमं जनं समयपूर्वं प्रतार्येदृशैरक्षरैः प्रत्याख्यातुम् ।)

राजा—[कर्णौ पिधाय] शान्तं पापम् ।

व्यपदेशमाविलयितुं किमीहसे जनमिमं च पातयितुम् ।
कूलंकषेव सिन्धुः प्रसन्नमम्भस्तटतरुं च ॥२१॥

शकुन्तला—होदु जइ परमत्थतो परपरिग्गहसङ्किणा तुए एव्वं वत्तुं पउत्तं ता अहिण्णाणेन इमिणा तुह आसङ्कं अवणइस्सं । (भवतु यदि परमार्थतः परपरिग्रहशङ्किना त्वयैव वक्तुं प्रवृत्तं तदभिज्ञानेनानेन तवाशङ्कामपनेष्यामि ।

राजा—उदारः कल्पः ।

शकुन्तला—[मुद्रास्थानं परामृश्य ।] हद्धी हद्धी अङ्गुलीअअसुण्णा मे अङ्गुली । (हा धिक् हा धिक् अङ्गुलीयकशून्या मेऽङ्गुलिः ।) [इति सविषादं गौतमीमवेक्षते ।]

गौतमी—णूणं दे सक्कावदारब्भन्तरे सचीतित्थसलिलं वन्दमाणाए पब्भट्टं अङ्गुलीअअं । (नूनं ते शक्रावताराभ्यन्तरे शचीतीर्थसलिलं वन्दमानायाः प्रभ्रष्टमङ्गुलीयकम् ।)

राजा—[सस्मितम्] इदं तत्प्रत्युत्पन्नमति स्त्रैणमिति यदुच्यते ।

शकुन्तला—एत्थ दाव विहिणा दंसिदं पहुत्तणं। अवरं दे काहस्स। (अत्र तावद्विधिना दर्शितं प्रभुत्वम्। अपरं ते कथयिष्यामि।)

राजा—श्रोतव्यमिदानीं संवृत्तम्।

शकुन्तला—णं एक्कस्सिं दिअहे णोमालिआमण्डवे णलिणीपत्तभाअणगअं उअअं तुह हत्थे संणिहिदं आसि। (नन्वेकस्मिन्दिवसे नवमालिकामण्डपे नलिनीपत्रभाजनगतमुदकं तव हस्ते सनिहितमासीत्।)

राजा—शृणुमस्तावत्।

शकुन्तला—तक्खणं सो मे पुत्तकिदओ दीहापङ्गो णाम मिअपोदओ उवट्ठिओ। तुए अअं दाव पढमं पिअउ त्ति अणुअम्पिणा उवच्छन्दिदो उअएण। ण उण दे अपरिचआदो हत्थब्भासं उवगदो। पच्छा तस्सिं एव्व मए गहिदे सलिले णेण किदो पणओ। तदा तुमं इत्थं पहसिदो सि। सव्वो सगन्धेसु विस्ससिदि। दुवेवि एत्थ आरण्णआ त्ति। (तत्क्षणं स मे पुत्रकृतको दीर्घापाङ्गो नाम मृगपोतक उपस्थितः। त्वया अयं तावत्प्रथमं पिबत्वित्यनुकम्पिनोपच्छन्दित उदकेन। न पुनस्ते अपरिचयाद्धस्ताभ्यासमुपगतः। पश्चात्तस्मिन्नेव मया गृहीते सलिलेऽनेन कृतः प्रणयः। तदा त्वमित्थ प्रहसितोऽसि। सर्वः सगन्धेषु विश्वसिति। द्वावप्यत्रारण्यकाविति।)

राजा—एवमादिभिरात्मकार्यनिर्वर्तिनीनामनृतमयवाङ्मधुभिराकृष्यन्ते विषयिणः।

गौतमी—महाभाअ ण अरुहसि एव्वं मन्तिदुं। तवोवणसंवड्ढिदो अणभिण्णो अअं जणो कइदवस्स। (महाभाग नार्हस्येवं मन्त्रयितुम्। तपोवनसंवर्धितोऽनभिज्ञोऽयं जनः कैतवस्य।)

राजा—तापसवृद्धे।

स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वममानुषीषु
संदृश्यते किमुत याः प्रतिबोधवत्यः।
प्रागन्तरिक्षगमनात्स्वमपत्यजात-
मन्यैर्द्विजैः परभृताः खलु पोषयन्ति ॥२२॥

शकुन्तला—[सरोषम्] अणज्ज अत्तणो हिअआणुमाणेण पेक्खसि। को दाणिं अण्णो धम्मकञ्चुअप्पवेसिणो तिणच्छण्णकूवोवमस्स तव अणुकिदिं पडिवदिस्सदि। (अनार्य आत्मनो हृदयानुमानेन प्रेक्षसे। क

इदानीमन्यो धर्मकञ्चुकप्रवेशिनस्तृणच्छन्नकूपोपमस्य तवानुकृतिं प्रतिपत्स्यते ।)

राजा—[आत्मगतम्] संदिग्धबुद्धिं मां कुर्वन्नकैतव इवास्याः कोपो लक्ष्यते । तथा ह्यनया—

मय्येव विस्मरणदारुणचित्तवृत्तौ
वृत्तं रहः प्रणयमप्रतिपद्यमाने ।
भेदाद्भ्रुवोः कुटिलयोरतिलोहिताक्ष्या
भग्नं शरासनमिवातिरुषा स्मरस्य ॥ २३ ॥

[प्रकाशम्] भद्रे प्रथितं दुष्यन्तस्य चरितम् । तथापीदं न लक्षये ।

शकुन्तला—सुट्ठु दाव अत्त सच्छन्दचारिणी किदम्हि जा अहं इमस्स पुरुवंसप्पच्चएण मुहमहुणो हिअअट्ठिअविसस्स हत्थब्भास उवगदा । (सुष्ठु तावदत्र स्वच्छन्दचारिणी कृताऽस्मि याऽहमस्य पुरुवंशप्रत्ययेन मुखमधोर्हृदयस्थितविषस्य हस्ताभ्याशमुपगता । [इति पटान्तेन मुखमावृत्य रोदिति ।]

शार्ङ्गरव —इत्थमात्मकृतं प्रतिहतं चापलं दहति ।

अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात्संगतं रहः ।
अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरीभवति सौहृदम् ॥ २४ ॥

राजा—अयि भोः किमत्रभवतीप्रत्ययादेवास्मान्संवृतदोषाक्षरेण क्षिणुथ ।

शार्ङ्गरव —[सासूयम्] श्रुतं भवद्भिरधरोत्तरम् ।

आजन्मनः शाठ्यमशिक्षितो यस्तस्याप्रमाणं वचनं जनस्य ।
परातिसंधानमधीयते यैर्विद्येति ते सन्तु किलाप्तवाचः ॥ २५ ॥

राजा—भोः सत्यवादिन् अभ्युपगतं तावदस्माभिरेवम् । किं पुनरिमामतिसंधाय लभ्यते ।

शार्ङ्गरव —विनिपातः ।

राजा—विनिपातः पौरवैः प्रार्थ्यत इति न श्रद्धेयम् ।

शारद्वत —शार्ङ्गरव । किमुत्तरेण । अनुष्ठितो गुरोः संदेशः । प्रतिनिवर्तामहे वयम् । [राजानं प्रति]—

तदेषा भवतः कान्ता त्यज वैनां गृहाण वा ।
उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी ॥ २६ ॥

गौतमि गच्छाग्रतः ।

[इति प्रस्थिताः ।]

शकुन्तला—कहं इमिणा किदवेण विप्पलद्ध म्हि । तुम्हे वि मं परिच्चअह । (कथमनेन कितवेन विप्रलब्धाऽस्मि । यूयमपि मा परित्यजथ । [इत्यनुप्रतिष्ठते ।]

गौतमी—[स्थित्वा] वच्छ सङ्गरव । अणुगच्छदि इअं क्खु णो करुणपरिदेविणी सउन्दला । पच्चादेसपरुसे भत्तुणि किं वा मे पुत्तिआ करेदु । [वत्स शार्ङ्गरव अनुगच्छतीय खलु न करुणपरिदेविनी शकुन्तला । प्रत्यादेशपरुषे भर्तरि किं वा मे पुत्रिका करोतु ।)

शार्ङ्गरव —[सरोष निवृत्य] किं पुरोभागे स्वातन्त्र्यमवलम्बसे ।

[शकुन्तला भीता वेपते ।]

शार्ङ्गरव —शकुन्तले ।

यदि यथा वदति क्षितिपस्तथा त्वमसि किं पितुरुत्कुलया त्वया ।
अथ तु वेत्सि शुचि व्रतमात्मनः पतिकुले तव दास्यमपि क्षमम् ॥२७॥

तिष्ठ । साधयामो वयम् ।

राजा—भोस्तपस्विन् किमत्रभवती विप्रलभसे ।

कुमुदान्येव शशाङ्कः सविता बोधयति पङ्कजान्येव ।
वशिनां हि परपरिग्रहसंश्लेषपराङ्मुखी वृत्तिः ॥२८॥

शार्ङ्गरव —यदा तु पूर्ववृत्तमन्यसङ्गाद्विस्मृतो भवाँस्तदा कथमधर्मभीरु ।

राजा—भवन्तमेवात्र गुरुलाघवं पृच्छामि ।

मूढः स्यामहमेषा वा वदेन्मिथ्येति संशये ।
दारत्यागी भवाम्याहो परस्त्रीस्पर्शपांसुलः ॥ २९ ॥

पुरोहित —[विचार्य] यदि तावदेवं क्रियताम् ।

राजा—अनुशास्तु मां भवान् ।

पुरोहित —अत्रभवती तावदाप्रसवादस्मद्गृहे तिष्ठतु । कुत इदमुच्यत इति चेत् । त्वं साधुभिरुद्दिष्टः प्रथममेव चक्रवर्तिनं पुत्रं जनयिष्य-

सीति । स चेन्मुनिदौहित्रस्तल्लक्षणोपपन्नो भविष्यति अभिनन्द्य शुद्धान्तमेनां प्रवेशयिष्यसि। विपर्यये तु पितुरस्याः समीपनयनमवस्थितमेव ।

राजा—यथा गुरुभ्यो रोचते ।

पुरोहित —वत्से अनुगच्छ माम् ।

शकुन्तला—भअवदि वसुहे देहि मे विवरं। (भगवति वसुधे देहि मे विवरम्) [इति रुदती प्रस्थिता । निष्क्रान्ता सह पुरोधसा तपस्विभिश्च ।]

[राजा शापव्यवहितस्मृति शकुन्तलागतमेव चिन्तयति ।]

[नेपथ्ये]

आश्चर्यम् । आश्चर्यम् ।

राजा—[आकर्ण्य] किं नु खलु स्यात् ।

[प्रविश्य]

पुरोहित —[सविस्मयम्] देव अद्भुतं खलु संवृत्तम् ।

राजा—किमिव ।

पुरोहित —देव । परावृत्तेषु कण्वशिष्येषु—

सा निन्दन्ती स्वानि भाग्यानि बाला बाहुत्क्षेपं क्रन्दितुं च प्रवृत्ता।

राजा—किं च ।

पुरोहित —

स्त्रीसंस्थानं चाप्सरस्तीर्थमारादुत्क्षिप्यैनां ज्योतिरेकं जगाम ॥३०॥

[सर्वे विस्मयं रूपयन्ति ।]

राजा—भगवन् प्रागपि सोऽस्माभिरर्थः प्रत्यादिष्ट एव। किं वृथा तर्केणान्विष्यते । विश्राम्यतु भवान् ।

पुरोहित—[विलोक्य] विजयस्व । [इति निष्क्रान्त ।]

राजा—वेत्रवति पर्याकुलोऽस्मि । शयनभूमिमार्गमादेशय ।

प्रतीहारी—इदो इदो देवो। (इत इतो देव'।) [इति प्रस्थिता ।]

राजा—

कामं प्रत्यादिष्टां स्मरामि न परिग्रहं मुनेस्तनयाम् ।
बलवत्तु दूयमानं प्रत्याययतीव मे हृदयम् ॥३१॥

[इति निष्क्रान्ता सर्वे ।]

इति पञ्चमोऽङ्क ।

षष्ठोऽङ्कः

[ततः प्रविशति नागरिकः श्यालः पश्चाद्बद्धपुरुषमादाय रक्षिणौ च ।]

रक्षिणौ—[ताडयित्वा] अले कुम्भीलआ कहेहि कहिं तुए एशे मणिबन्धणुक्किण्णणामहेए लाअकीए अंगुलीअए शमाशादिए। (अरे कुम्भीरक कथय कुत्र त्वयैतन्मणिबन्धनोत्कीर्णनामधेयं राजकीयमङ्गुलीयकं समासादितम् ।)

पुरुषः—[भीतिनाटितकेन] पशीदन्तु भावमिश्शे । हगे ण ईदिशकम्मकाली । (प्रसीदन्तु भावमिश्राः । अहं नेदृशकर्मकारी ।)

प्रथमः—किं सोहणे बम्हणेत्ति कलिअ रञ्ञा पडिग्गहे दिण्णे। किं शोभनो ब्राह्मण इति कलयित्वा राज्ञा प्रतिग्रहो दत्तः ।)

पुरुषः—सुणुध दाणिं । हगे शक्कावदालब्भन्तरालवाशी धीवले। (शृणुतेदानीम् । अह शक्रावताराभ्यन्तरालवासी धीवरः ।)

द्वितीयः—पाडच्चला किं अम्हहि जादी पुच्छिदा । (पाटच्चर किमस्माभिर्जातिः पृष्टा ।)

श्यालः—सूअअ कहेदु शव्वं अणुक्कमेण । मा णं अन्तरा पडिवन्धह । (सूचक कथयतु सर्वमनुक्रमेण । मैनमन्तरा प्रतिबन्धय ।)

उभौ—जं आवुत्ते आणवेदि । कहेहि । (यदावुत्त आज्ञापयति । कथय ।)

पुरुषः—अहके जालुग्गालादिहिं मच्छबन्धणोवाएहिं कुडुम्बभलणं कलेमि । (अहं जालोद्गालादिभिर्मत्स्यबन्धनोपायैः कुटुम्बभरणं करोमि ।)

श्याल.—[विहस्य] विसुद्धो दाणिं आजीवो । (विशुद्ध इदानीमाजीव ।)

पुरुष —भट्टा मा एव्वं भण ।

शहजे किल जे विणिन्दिए ण हु दे कम्म विवज्जणीअए ।
पशुमालणकम्मदालुणे अणुकम्पामिदुएव्व शोत्तिए ॥१॥

(भर्त मैवम् भण ।

सहजं किल यद्विनिन्दितं न खलु तत्कर्म विवर्जनीयम् ।
पशुमारणकर्मदारुणोऽनुकम्पामृदुरेव श्रोत्रिय ॥

श्यालः—तदो तदो । (ततस्तत ।)

पुरुष —एक्कर्शिश दिअशे खण्डशो लोहिअमच्छे मए कप्पिदे । जाव तश्श उदलब्भन्तले पदं लदणभाशुलं अंगुलीअअं देक्खिअम् । पच्छा अहके शे विक्कआअ दंशअन्ते गहिदे भावमिश्शेहिं । मालेह वा मुञ्जेह वा । अअं शे आअमवुत्तन्ते । (एकस्मिन्दिवसे खण्डशो रोहितमत्स्यो मया कल्पितो यावत् तस्योदराभ्यन्तर इद रत्नभासुरमङ्गुलीयक दृष्ट्वा पश्चादहं तस्य विक्रयाय दर्शयन्गृहीतो भावमिश्रै । मारयत वा मुञ्चत वा । अयमस्यागमवृत्तान्त ।)

श्याल —जाणुअ विस्सगन्धी गोहादी मच्छबन्धो एव्व णिस्संसअं । अंगुलीअअदंसणं शे विमरिसिदव्वं । राअउलं एव्व गच्छामो । (जानुक विस्रगन्धी गोधादी मत्स्यबन्ध एव नि संशयम् । अङ्गुलीयकदर्शनमस्य विमर्शयितव्यम् । राजकुलमेव गच्छाम ।)

रक्षिणौ—तह । गच्छ अले गण्डभेदअ । (तथा । गच्छ अरे गण्डभेदक ।)

[सर्वे परिक्रामन्ति ।]

श्याल —सूअअ इमं गोपुरदुआरे अप्पमत्ता पडिवालह जाव इमं अंगुलीअअं जहागमण भट्टिणो णिवेदिअ तदो सासणं पडिच्छिअ णिक्कमामि । (सूचक इमं गोपुरद्वारेऽप्रमत्तौ प्रतिपालयतं यावदिदमङ्गुलीयकं यथाऽऽगमन भर्तुर्निवेद्य तत शासन प्रतीक्ष्य निष्क्रामामि ।)

उभौ—पविशदु आवुत्ते शामिपशादश्श । (प्रविशत्वावुत्त स्वामिप्रसादाय ।)

[इति निष्क्रान्त श्याल ।]

प्रथम'—जाणुअ चिलाअदि क्खु आवुत्ते। (जानुक चिरायते खल्वावुत्तः।)

द्वितीय —णं अवशलोवशप्पणीआ लाआणो। (नन्ववसरोपसर्पणीया राजानः।)

प्रथम.—जाणुअ फुल्लन्ति मे हत्था इमश्श वहस्स शुमणा पिणद्धुं। (जानुक प्रस्फुरतो मम हस्तावस्य वधस्य सुमनस पिनद्धुम्। [इति पुरुषं निर्दिशति।]

पुरुषः—ण अलुहदि भावे अकालणमालणं भविदुं। (नार्हति भावोऽकारणमारणो भवितुम्।)

द्वितीय —[विलोक्य] एशे अम्हाणं शामी पत्तहत्थे लाअशाशणं पडिच्छिअ इदोमुहे देक्खीअदि। गिद्धवली भविश्शशि, शुणो मुहं वा देक्खिश्शशि। (एष नौ स्वामी पत्रहस्तो राजशासनं प्रतीष्येतोमुखो दृश्यते। गृध्रबलिर्भविष्यसि शुनो मुखं वा द्रक्ष्यसि।)

[प्रविश्य]

श्याल'—सूअअ मुञ्चेदु एसो जालोअजीवी। उववण्णो क्खु अंगुलीअअस्स आअमो। (सूचक मुच्यतामेष जालोपजीवी। उपपन्न खल्वङ्गुलीयकस्यागम.।)

सूचक —जह आवुत्ते भणादि। (यथाऽऽवुत्तो भणति।)

द्वितीय'—एशे जमशदणं पविशिअ पडिणिवुत्ते। (एष यमसदनं प्रविश्य प्रतिनिवृत्त।) [इति पुरुषं परिमुक्तबन्धनं करोति।]

पुरुष —[श्यालं प्रणम्य] भट्टा अह कीलिशे मे आजीवे। (भर्तः अथ कीदृशो म आजीव'।)

श्याल —एसो भट्टिणा अंगुलीअअमुल्लसम्मिदो पसादो वि दाविदो। (एष भर्त्राङ्गुलीयकमूल्यसंमित प्रसादोऽपि दापित.।) [इति पुरुषाय स्वं प्रयच्छति।]

पुरुष —[सप्रणाम प्रतिगृह्य] भट्टा अणुग्गहीदाम्हि। (भर्त अनुगृहीतोऽस्मि।)

सूचक —एशे णाम अनुग्गहे जे शूलादो अवदालिअ हत्थिक्कन्धे पडिट्ठाविदे। (एष नामानुग्रहो यच्छूलादवतार्य हस्तिस्कन्धे प्रतिष्ठापितः।)

जानुक —आवुत्त पलिदोशं कहेहि तेण अंगुलीअएण भट्टिणो

शम्मदेण होदव्वं। (आवुत्त परितोषं कथय तेनाङ्गुलीयकेन भर्तुः संमतेन भवितव्यम्।)

श्याल —ण तस्सिं महारुहं रदणं भट्टिणो वहुमदं त्ति तक्केमि। तस्स दंसणेण भट्टिणो अभिमदो जणो सुमराविदो। मुहुत्तअं पकिदि-गम्भीरो वि पज्जुस्सुअणअणो आसि। (न तस्मिन्महार्हं रत्नं भर्तुर्बहुमतमिति तर्कयामि। तस्य दर्शनेन भर्तुरभिमतो जनः स्मारितः। मुहूर्तं प्रकृतिगम्भीरोऽपि पर्युत्सुकनयन आसीत्।)

सूचक —शेविदं णाम आवुत्तेण। (सेवितं नामावुत्तेन।)

जानुक —णं भणाहि इमश्श कए मच्छिआभत्तुणोत्ति। (ननु भण अस्य कृते मात्स्यिकभर्तुरिति।) [इति पुरुषमसूयया पश्यति।]

पुरुष —भट्टालक इदो अद्धं तुह्माणं शुमणोमुल्लं होदु। (भट्टारक इतोऽर्धं युष्माकं सुमनोमूल्यं भवतु।)

जानुक —एत्तके जुज्जइ। (एतावद्युज्यते।)

श्याल —धीवर महत्तरो तुमं पिअवअस्सओ दाणिं मे संवुत्तो। कादम्बरीसक्खिअं अम्हाणं पढमसोहिदं इच्छीअदि। ता सोण्डिआपणं एव्व गच्छामो। (धीवर महत्तरस्त्वं प्रियवयस्यक इदानीं मे संवृत्तः। कादम्बरीसाक्षिकमस्माकं प्रथमसौहृदमिष्यते। तच्छौण्डिकापणमेव गच्छामः।)

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे।]

॥ प्रवेशकः ॥

[ततः प्रविशत्याकाशयानेन सानुमती नामाप्सराः।]

सानुमती—णिव्वट्टिदं मए पज्जाअणिव्वत्तणिज्जं अच्छरातित्थसण्णिज्झं जाव साहुजणस्स अभिसेअकालो त्ति। संपदं इमस्स राएसिणो उदन्तं पच्चक्खीकरिस्सं। मेणआसंबन्धेण सरीरभूदा मे सउन्दला। ताए अ दुहिदुणिमित्तं आदिट्ठपुव्वम्हि। [समन्तादवलोक्य] किं णु क्खु उदुच्छवे वि णिरुच्छवारम्भं विअ राअउलं दीसइ। अत्थि मे विहवो पणिधाणेण सव्वं परिण्णादुं। किं दु सहीए आदरो मए माणइदव्वो। होदु। इमाणं एव्व उज्जाणपालिआणं तिरक्खरिणीपडिच्छण्णा पस्सवत्तिणी भविअ उवलहिस्सं। (निर्वर्तित मया पर्यायनिर्वर्तनीयमप्सरस्तीर्थसांनिध्यं यावत्साधुजनस्याभिषेककाल इति। साम्प्रतमस्य राजर्षेरुदन्तं प्रत्यक्षीकरिष्यामि। मेनकासम्बन्धेन शरीरभूता मे शकुन्तला। तया

च दुहितृनिमित्तमादिष्टपूर्वाऽस्मि। किं नु खलु ऋतूत्सवेऽपि निरुत्सवारम्भमिव राजकुलं दृश्यते। अस्ति मे विभवः प्रणिधानेन सर्वं परिज्ञातुम्। किं तु सख्या आदरो मया मानयितव्यः। भवतु। अनयोरेवोद्यानपालिकयोस्तिरस्करिणीप्रतिच्छन्ना पार्श्ववर्तिनी भूत्वोपलप्स्ये।) [इति नाट्येनावतीर्यस्थिता।]

[ततः प्रविशति चूताङ्कुरमवलोकयन्ती चेटी। अपरा च पृष्ठतस्तस्याः।]

प्रथमा—

आतम्महरिअपण्डुर जीविदसव्वं वसन्तमासस्स।
दिट्ठो सि चूदकोरअ उदुमङ्गल तुमं पसाएमि॥ २॥

(आताम्रहरितपाण्डुर जीवितसर्वं वसन्तमासस्य।
दृष्टोऽसि चूतकोरक ऋतुमङ्गल त्वा प्रसादयामि॥)

द्वितीया—परहुदिए किं एआइणी मन्तेसि। (परभृतिके किमेकाकिनी मन्त्रयसे।)

प्रथमा—महुअरिए चूदकलिअं देक्खिअ उम्मत्तिआ परहुदिआ होदि। (मधुकरिके चूतकलिकां दृष्ट्वोन्मत्ता परभृतिका भवति।)

द्वितीया—[सहर्षं त्वरयोपगम्य] कह उवट्ठिदो महुमासो। (कथमुपस्थितो मधुमासः।)

प्रथमा—महुअरिए तव दाणिं कालो एसो मदविब्भमगीदाणं। (मधुकरिके तवेदानीं काल एष मदविभ्रमगीतानाम्।)

द्वितीया—सहि अवलम्ब मं जाव अग्गपादट्ठिआ भविअ चूदकलिअं गेण्हिअ कामदेवच्चणं करेमि। (सखि अवलम्बस्व मां यावदग्रपादस्थिता भूत्वा चूतकलिकां गृहीत्वा कामदेवार्चनं करोमि।)

प्रथमा—जइ मम वि क्खु अद्धं अच्चणफलस्स। (यदि ममापि खल्वर्धमर्चनफलस्य।)

द्वितीया—अकहिदे वि एदं संपज्जइ जदो एक्कं एव्व णो जीविदं दुधाट्ठिदं सरीरं। [सखीमवलम्ब्य स्थिता चूताङ्कुरं गृह्णाति।] अए अप्पडिवुद्धो वि चूदप्पसवो एत्थ बन्धणभङ्गसुरभी होदि। [इति कपोतहस्तकं कृत्वा]—

तुमं सि मए चूदङ्कुर दिण्णो कामस्स गहिदधणुअस्स।
पहिअजणजुवइलक्खो पञ्चब्भहिओ सरो होहि॥ ३॥

(अकथितेऽप्येतत्संपद्यते यत एकमेव नौ जीवितम् द्विधा स्थितं शरीरम् । अये अप्रतिबुद्धोऽपि चूतप्रसवोऽत्र बन्धनभङ्गसुरभिर्भवति ।

त्वमसि मया चूताङ्कुर दत्तः कामाय गृहीतधनुषे ।
पथिकजनयुवतिलक्ष्य पञ्चाभ्यधिक. शरो भव ॥)

[इति चूताङ्कुर क्षिपति ।]

[प्रविश्यापटीक्षेपेण कुपित.]

कञ्चुकी—मा तावत् । अनात्मज्ञे देवेन प्रतिषिद्धे वसन्तोत्सवे त्वमाम्रकलिकाभङ्गं किमारभसे ।

उभे—[भीते] पसीददु अज्जो । अग्गहीदत्थाओ वअं । (प्रसीदत्वार्य । अगृहीतार्थे आवाम् ।)

कञ्चुकी—न किल श्रुतं युवाभ्यां यद्वासन्तिकैस्तरुभिरपि देवस्य शासनं प्रमाणीकृतं तदाश्रयिभिः पत्रिभिश्च । तथा हि—

चूतानां चिरनिर्गताऽपि कलिका बध्नाति न स्वं रजः
संनद्धं यदपि स्थितं कुरबकं तत्कोरकावस्थया ।
कण्ठेषु स्खलितं गतेऽपि शिशिरे पुंस्कोकिलानां रुतं
शङ्के संहरति स्मरोऽपि चकितस्तूणार्धकृष्टं शरम् ॥ ४ ॥

सानुमती—णत्थि संदेहो । महाप्पहाओ राएसी । (नास्ति सन्देह । महाप्रभावो राजर्षि ।)

प्रथमा—अज्ज कति दिअहाइं अम्हाणं मित्तावसुणा रट्ठिएण भट्टिणीपाअमूलं पेसिदाणं । एत्थ अ णो पमदवणस्स पालणकम्म समप्पिदं । ता आअन्तुअदाए अस्सुदपुव्वो अम्हेहिं एसो वुत्तन्तो । (आर्य कति दिवसान्यावयोर्मित्रावसुना राष्ट्रियेण भट्टिनीपादमूलंप्रेषितयो । अत्र च नौ प्रमदवनस्य पालनकर्म समर्पितम् । तदागन्तुकतयाऽश्रुतपूर्व आवाभ्यामेष वृत्तान्त ।)

कञ्चुकी—भवतु । न पुनरेवं प्रवर्तितव्यम् ।

उभे—अज्ज कोदूहलं णो । जइ इमिणा जणेण सोदव्वं कहेदु अज्जो किंणिमित्तं भट्टिणा वसन्तुस्सवो पडिसिद्धो । (आर्य कौतूहल नौ । यद्यनेन जनेन श्रोतव्य कथयत्वार्य किं निमित्त भर्त्रा वसन्तोत्सव प्रतिषिद्ध')

सानुमती—उस्सवप्पिआ क्खु मणुस्सा। गुरुणा कारणेण होदव्वं।
(उत्सवप्रिया: खलु मनुष्या:। गुरुणा कारणेन भवितव्यम्।)

कञ्चुकी—बहुलीभूतमेतत्कि न कथ्यते। किमत्रभवत्योः कर्णपथं नायातं शकुन्तलाप्रत्यादेशकौलीनम्।

उभे—सुदं रट्ठिअमुहादो जाव अंगुलीअअदंसणं। (श्रुत राष्ट्रियमुखाद्यावदङ्गुलीयकदर्शनम्।)

कञ्चुकी—तेन ह्यल्पं कथयितव्यम। यदैव खलु स्वाङ्गुलीयकदर्शनादनुस्मृतं देवेन सत्यमूढपूर्वा मे तत्रभवती रहसि शकुन्तला मोहात्प्रत्यादिष्टेति तदा प्रभृत्येव पश्चात्तापमुपगतो देवः। तथा हि—

रम्यं द्वेष्टि यथा पुरा प्रकृतिभिर्न प्रत्यहं सेव्यते
शय्याप्रान्तविवर्तनैर्विगमयत्युन्निद्र एव क्षपाः।
दाक्षिण्येन ददाति वाचमुचितामन्तःपुरेभ्यो यदा
गोत्रेषु स्खलितस्तदा भवति च व्रीडाविलक्षश्चिरम्॥५॥

सानुमती—पिअं मे। (प्रिय मे।)

कञ्चुकी—अस्मात्प्रभवतो वैमनस्यादुत्सव प्रत्याख्यात।

उभे—जुज्जइ। (युज्यते।)

[नेपथ्ये]

एदु एदु भवं (एतु एतु भवान्।)

कञ्चुकी—[कर्णं दत्वा] अये। इत एवाभिवर्तते देवः। स्वकर्मानुष्ठीयताम्।

उभे—तह। (तथा।) [इति निष्क्रान्ते]।

[तत' प्रविशति पश्चात्तापसदृशवेषो राजा विदूषक प्रतीहारी च।]

कञ्चुकी—[राजानमवलोक्य] अहो सर्वास्ववस्थासु रमणीयत्वमाकृतिविशेषाणाम्। एवमुत्सुकोऽपि प्रियदर्शनो देव। तथा हि—

प्रत्यादिष्टविशेषमण्डनविधिर्वामप्रकोष्ठार्पितं
बिभ्रत्काञ्चनमेकमेव वलयं श्वासोपरक्ताधरः।
चिन्ताजागरणप्रतान्तनयनस्तेजोगुणादात्मनः
सँस्कारोल्लिखितोमहामणिरिव क्षीणोऽपि नालक्ष्यते॥६॥

सानुमती—[राजानं दृष्ट्वा] ठाणे क्खु पच्चादेसविमाणिदा वि इमस्स किदे सउन्दला किलम्मदि त्ति। (स्थाने खलु प्रत्यादेशविमानिताऽप्यस्य कृते शकुन्तला क्लाम्यतीति।)

राजा—[ध्यानमन्दं परिक्रम्य]—

प्रथमं सारङ्गाक्ष्या प्रियया प्रतिबोध्यमानमपि सुप्तम्।
अनुशयदुःखायेदं हतहृदयं संप्रति विबुद्धम् ॥ ७ ॥

सानुमती—णं ईदिसाणि तवस्सिणीए भाअहेआणि। (नन्वीदृशानि तपस्विन्या भागधेयानि।)

विदूषक—[अपवार्य] लंघिदो एसो भूओ वि सउन्दलावाहिणा। ण आणे कहं चिकिच्छिदव्वो भविस्सदि त्ति। (लङ्घित एष भूयोऽपि शकुन्तलाव्याधिना। न जाने कथं चिकित्सितव्यो भविष्यतीति।)

कञ्चुकी—[उपगम्य] जयतु जयतु देवः। महाराज प्रत्यवेक्षिताः प्रमदवनभूमयः। यथाकाममध्यास्तां विनोदस्थानानि महाराजः।

राजा—वेत्रवति मद्वचनादमात्यमार्यपिशुनं ब्रूहि। चिरप्रबोधनान्न संभावितमस्माभिरद्य धर्मासनमध्यासितुम्। यत्प्रत्यवेक्षितं पौरकार्यमार्येण तत्पत्रमारोप्य दीयतामिति।

प्रतीहारी—जं देवो आणवेदि। (यद्देव आज्ञापयति।) [इति निष्क्रान्तः।]

राजा—वातायन त्वमपि स्वं नियोगमशून्यं कुरु।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः। [इति निष्क्रान्तः।]

विदूषक—किदं भवदा णिम्मच्छिअं। संपदं सिसिरातवच्छेअरमणीए इमस्सिं पमदवणुद्देसे अत्ताणं रमइस्ससि। (कृतं भवता निर्मक्षिकम्। सांप्रतं शिशिरातपच्छेदरमणीयेऽस्मिन्प्रमदवनोद्देशे आत्मानं रमयिष्यसि।)

राजा—वयस्य यदुच्यते रन्ध्रोपनिपातिनोऽनर्था इति तदव्यभिचारि वचः। कुतः।

मुनिसुताप्रणयस्मृतिरोधिना मम च मुक्तमिदं तमसा मनः।
मनसिजेन सखे प्रहरिष्यता धनुषि चूतशरश्च निवेशितः ॥ ८ ॥

विदूषकः—चिट्ठ दाव । इमिणा दण्डकट्ठेण कन्दप्पवाणं णासइस्सं । (तिष्ठ तावत् । अनेन दण्डकाष्ठेन कन्दर्पबाणं नाशयिष्यामि ।) [इति दण्डकाष्ठमुद्यम्य चूताङ्कुरं पातयितुमिच्छति ।]

राजा—[सस्मितम्] भवतु दृष्टं ब्रह्मवर्चसम् । सखे क्वोपविष्टः प्रियायाः किंचिदनुकारिणीषु लतासु दृष्टिं विलोभयामि ।

विदूषक—णं आसण्णपरिआरिआ चदुरिआ भवदा संदिट्ठा माहवीमण्डवे इमं वेलं अदिवाहिस्सं । तहिं मे चित्तफलअगदं सहत्थलिहिदं तत्तहोदीए सउन्दलाए पडिकिर्दिं आणेहि त्ति । (नन्वासन्नपरिचारिका चतुरिका भवता संदिष्टा माधवीमण्डप इमां वेलामतिवाहयिष्ये । तत्र मे चित्रफलकगतां स्वहस्तलिखितां तत्रभवत्याः शकुन्तलायाः प्रतिकृतिमानयेति ।)

राजा—ईदृशं हृदयविनोदनस्थानम् । तत्तमेव मार्गमादेशय ।

विदूषक—इदो इदो भवं । (इत इतो भवान् ।)

[उभौ परिक्रामतः । सानुमत्यनुगच्छति ।]

विदूषक—एसो मणिसिलापट्टअसणाहो माहवीमण्डवो उवआररमणिज्जदाए णिस्संसअं साअदेण विअ णो पडिच्छदि । ता पविसिअ णिसीददु भवं । (एष मणिशिलापट्टकसनाथो माधवीमण्डप उपचाररमणीयतया निःसंशयं स्वागतेनेव नौ प्रतीच्छति । तत्प्रविश्य निषीदतु भवान् ।)

[उभौ प्रवेशं कृत्वोपविष्टौ ।]

सानुमती—लदासंस्सिदा देक्खिस्सं दाव सहीए पडिकिर्दिं । तदो से भत्तुणो बहुमुहं अणुराअं णिवेदइस्सं । (लतासंश्रिता द्रक्ष्यामि तावत्सख्याः प्रतिकृतिम् । ततोऽस्या भर्तुर्बहुमुखमनुरागं निवेदयिष्यामि ।) [इति तथा कृत्वा स्थिता ।]

राजा—सखे सर्वमिदानीं स्मरामि शकुन्तलायाः प्रथमवृत्तान्तम् । कथितवानस्मि भवते च । स भवान्प्रत्यादेशवेलायां मत्समीपगतो नासीत् । पूर्वमपि न त्वया कदाचित्संकीर्तितं तत्रभवत्या नाम । कच्चिदहमिव विस्मृतवानसि त्वम् ।

विदूषक—ण विसुमरामि । किंतु सव्वं कहिअ अवसाणे उण तुए परिहासविअप्पओ एसो ण भूदत्थो त्ति आचक्खिदं । मए वि मिप्पिण्डबुद्धिणा तह एव्व गहीदं । अहवा भविदव्वदा क्खु बलवदी । (न विस्मरामि । किंतु सर्वं कथयित्वाऽवसाने पुनस्त्वया परिहासविजल्प एष न भूतार्थ

इत्याख्यातम् । मयापि मृत्पिण्डबुद्धिना तथैव गृहीतम् । अथवा भवितव्यता खलु बलवती ।)

सानुमती—एव्वं णेदं । (एवं नु एतत् ।)

राजा—[ध्यात्वा] सखे त्रायस्व माम् ।

विदूषक—भो किं एदं । अणुववण्णं क्खु ईदिसं तुइ । कदा वि सप्पुरिसा सोअवत्तव्वा ण होन्ति । णं पवादे वि णिक्कम्पा गिरीओ । (भोः किमेतत् । अनुपपन्नं खल्वीदृशं त्वयि । कदाऽपि सत्पुरुषाः शोकवक्तव्या न भवन्ति । ननु प्रवातेऽपि निष्कम्पा गिरयः ।)

राजा—वयस्य । निराकरणविक्लवायाः प्रियायाः समवस्थामनुस्मृत्य बलवदशरणोऽस्मि ।

सा हि—

इतः प्रत्यादेशात्स्वजनमनुगन्तुं व्यवसिता
स्थिता तिष्ठेत्युच्चैर्वदति गुरुशिष्ये गुरुसमे ।
पुनर्दृष्टिं बाष्पप्रसरकलुषामर्पितवती
मयि क्रूरे यत्तत्सविषमिव शल्यं दहति माम् ॥ ९ ॥

सानुमती—अम्महे । ईदिसी स्वकज्जपरदा । इमस्स संदावेण अहं रमामि । (अहो । ईदृशी स्वकार्यपरता । अस्य सतापेनाहं रमो)

विदूषक—भो अत्थि मे तक्को केण वि तत्तहोदी आआसचारिणा णादे त्ति । (भो अस्ति मे तर्क केनापि तत्रभवती आकाशचारिणा नीतेति ।)

राजा—कः पतिदेवतामन्यः परामर्ष्टुमुत्सहेत । मेनका किल सख्यास्ते जन्मप्रतिष्ठेति श्रुतवानस्मि । तत्सहचारिणीभिः सखी ते हृतेति मे हृदयमाशङ्कते ।

सानुमती—संमोहो क्खु विम्हअणिज्जो ण पडिबोहो । (समोहः खलु विस्मयनीयो न प्रतिबोध ।)

विदूषक—जइ एव्वं अत्थि क्खु समाअमो कालेण तत्तहोदीए । (यद्येवम् अस्ति खलु समागम कालेन तत्रभवत्या ।)

राजा—कथमिव ।

विदूषक—ण क्खु मादापिदरा भत्तुविओअदुक्खिअं दुहिदरं चिरं देक्खिदुं पारेन्ति । (न खलु मातापितरौ भर्तृवियोगदुःखितां दुहितरं चिरं द्रष्टुं पारयतः ।)

राजा—वयस्य ।

स्वप्नो नु माया नु मतिभ्रमो नु क्लिष्टं नु तावत्फलमेव पुण्यम् ।
असंनिवृत्त्यै तदतीतमेते मनोरथानामतटप्रपाताः ॥१०॥

विदूषक—मा एव्वं । णं अंगुलीअअं एव्व णिदंसणं अवस्संभावी अचिन्तणिज्जो समाअमो होदि त्ति । (मैवम् । नन्वङ्गुलीयकमेव निदर्शनमवश्यंभाव्यचिन्तनीयः समागमो भवतीति ।)

राजा—[अंगुलीयकं विलोक्य] अये इदं तावदसुलभस्थानभ्रंशि शोचनीयम् ।

तव सुचरितमङ्गुलीय नूनं प्रतनु ममेव विभाव्यते फलेन ।
अरुणनखमनोहरासु तस्याश्च्युतमसि लब्धपदं यदङ्गुलीषु ॥११॥

सानुमती—जइ अण्णहत्थगदं भवे सच्चं एव्व सोअणिज्जं भवे । (यद्यन्यहस्तगतं भवेत् सत्यमेव शोचनीयं भवेत् ।)

विदूषक—भो इअं णाममुद्दा केण उग्घादेण तत्तहोदीए हत्थाब्भासं पाविदा । (भो इयं नाममुद्रा केनोद्घातेन तत्रभवत्या हस्ताभ्याशं प्रापिता ।)

सानुमती—मम वि कोदूहलेण आआरिदो एसो । (ममापि कौतूहलेनाकारित एषः ।)

राजा—श्रूयताम् स्वनगराय प्रस्थितं मां प्रिया सबाष्पमाह—कियच्चिरेणार्यपुत्रः प्रतिपत्तिं दास्यतीति ।

विदूषक—तदो तदो । (ततस्ततः ।)

राजा—पश्चादिमां मुद्रां तदङ्गुलौ निवेशयता मया प्रत्यभिहिता—

एकैकमत्र दिवसे दिवसे मदीयं
नामाक्षरं गणय गच्छति यावदन्तम् ।
तावत्प्रिये मदवरोधगृहप्रवेशं
नेता जनस्तव समीपमुपैष्यतीति ॥ १२ ॥

तच्च दारुणात्मना मया मोहान्नानुष्ठितम् ।

सानुमती—रमणीओ क्खु अवही विहिणा विसंवादिदो । (रमणीयः खल्ववधिर्विधिना विसंवादितः ।)

विदूषक —अध कहं धीवलकप्पिअस्सलोहि अमच्छस्स उदलब्भन्तले आसि। (अथ कथं धीवरकल्पितस्य रोहितमत्स्यस्योदराभ्यन्तर आसीत्।)

राजा—शचीतीर्थं वन्दमानायाः सख्यास्ते हस्ताद्गङ्गास्रोतसि परिभ्रष्टम्।

विदूषक —जुज्जइ। (युज्यते।)

सानुमती—अदो एव्व तवस्सिणीए सउन्दलाए अधम्मभीरुणो इमस्स राएसिणो परिणए संदेहो आसि। अहवा ईदिसो अणुराओ अहिण्णाणं अवेक्खदि कहं विअ एदं। (अत एव तपस्विन्याः शकुन्तलाया अधर्मभीरोरस्य राजर्षेः परिणये सन्देह आसीत्। अथवेदृशोऽनुरागोऽभिज्ञानमपेक्षते। कथमिवैतत्।)

राजा—उपालप्स्ये तावदिदङ्गुलीयकम्।

विदूषक —[आत्मगतम्] गहीदो णेण पन्था उम्मत्तआणम्। (गृहीतोऽनेन पन्था उन्मत्तानाम्।)

राजा—

कथं नु तं वन्धुरकोमलाङ्गुलिं करं विहायासि निमग्नमम्भसि।

अथवा—

अचेतनं नाम गुणं न लक्षयेन्मयैव कस्मादवधीरिता प्रिया ॥१३॥

विदूषक —[आत्मगतम्] अहं क्खु बुभुक्खाए खादिदव्वत्ति। (अहं खलु बुभुक्षया खादितव्य इति।)

राजा—अकारणपरित्यागानुशयतप्तहृदयस्तावदनुकम्प्यतामयं जनः पुनर्दर्शनेन।

[प्रविश्यापटीक्षेपेण चित्रफलकहस्ता]

चतुरिका—इअं चित्तगदा भट्टिणी। (इयं चित्रगता भट्टिनी।)

[इति चित्रफलकं दर्शयति।]

विदूषक —साहु वअस्स। महुरावत्थाणदंसणिज्जो भावाणुप्पवेसो। खलदि विअ मे दिट्ठी णिण्णुण्णअप्पदेसेसु। (साधु वयस्य। मधुरावस्थानदर्शनीयो भावानुप्रवेशः। स्खलतीव मे दृष्टिर्निम्नोन्नतप्रदेशेषु।)

सानुमती—अम्मो एसा राएसिणो णिउणदा। जाणे सही अग्गदो मे वट्टदि त्ति। (अहो एषा राजर्षेर्निपुणता। जाने सख्यग्रतो मे वर्तत इति।)

राजा—

यद्यत्साधु न चित्रे स्यात्क्रियते तत्तदन्यथा ।
तथापि तस्या लावण्यं रेखया किंचिदन्वितम् ॥१४॥

सानुमती—सरिसं एदं पच्छादावगुरुणो सिणेहस्स अणवलेवस्स अ। (सदृशमेतत्पश्चात्तापगुरोः स्नेहस्यानवलेपस्य च।)

विदूषक—भो दाणिं तिण्णिओ तत्तहोदीओ दीसन्ति। सव्वाओ अ दंसणीआओ। कदमा एत्थ तत्तहोदी सउन्दला। (भो. इदानीं तिस्रस्तत्रभवत्यो दृश्यन्ते। सर्वाश्च दर्शनीयाः। कतमाऽत्र तत्रभवती शकुन्तला।)

सानुमती—अणभिण्णो क्खु ईदिसस्स रूवस्स मोहदिट्ठी अअं जणो। (अनभिज्ञः खल्वीदृशस्य रूपस्य मोघदृष्टिरयं जनः।)

राजा—त्वं तावत्कतमां तर्कयसि।

विदूषक—तक्केमि जा एसा सिढिलकेसबन्धणुव्वन्तकुसुमेण केसन्तेण उब्भिण्णस्सेअबिन्दुणा वअणेण विसेसदो ओसरिआहिं बाहाहिं अवसेअसिणिद्धतरुणपल्लवस्स चूअपाअवस्स पासे इसिपरिस्सन्ता विअ आलिहिदा सा सउन्दला। इदराओ सहीओ त्ति। (तर्कयामि यैषा शिथिलकेशबन्धनोद्वान्तकुसुमेन केशान्तेनोद्भिन्नस्वेदबिन्दुना वदनेन विशेषतोऽपसृताभ्यां बाहुभ्यामवसेकस्निग्धतरुणपल्लवस्य चूतपादपस्य पार्श्वे ईषत्परिश्रान्तेवालिखिता सा शकुन्तला। इतरे सख्याविति।)

राजा—निपुणो भवान्। अस्त्यत्र मे भावचिह्नम्।

स्विन्नाङ्गुलिविनिवेशो रेखाप्रान्तेषु दृश्यते मलिनः।
अश्रु च कपोलपतितं दृश्यमिदं वर्तिकोच्छ्वासात् ॥ १५ ॥

चतुरिके अर्धलिखितमेतद्विनोदस्थानम्। गच्छ। वर्तिकां तावदानय।

चतुरिका—अज्ज माढव्व अवलम्ब चित्तफलअं जाव आअच्छामि। (आर्य माधव्य अवलम्बस्व चित्रफलकम् यावदागच्छामि।)

राजा—अहमेवैतदवलम्बे। [इति यथोक्तं करोति।]

[निष्क्रान्ता चेटी।]

राजा—[निःश्वस्य] अहं हि—

साक्षात्प्रियामुपगतामपहाय पूर्वं
चित्रार्पितां पुनरिमां बहुमन्यमानः ।
स्रोतोवहां पथि निकामजलामतीत्य
जातः सखे प्रणयवान्मृगतृष्णिकायाम् ॥१६॥

विदूषक—[आत्मगतम्] एसो अत्तभवं णदिं अदिक्कमिअ मिअतिण्हिआं संकन्तो । [प्रकाशम्] भो अवरं किं एत्थ लिहिदव्वं । (एषोऽत्रभवान्नदीमतिक्रम्य मृगतृष्णिकां सक्रान्त । भो. अपर किमत्र लिखितव्यम् ।)

सानुमती—जो जो पदेसो सहीए मे अहिरूवो तं तं आलिहिदुकामो भवे । (यो य प्रदेशः सख्या मेऽभिरूपस्त तमालिखितुकामो भवेत् ।)

राजा—श्रूयताम्—

कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः ।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः
शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम् ॥१७॥

विदूषक—[आत्मगतम्] जह अहं देक्खामि पूरिदव्वं णेण चित्तफलअं लम्बकुच्चाणं तावसाणं कदम्बेहिं । (यथाऽहं पश्यामि पूरितव्यमनेन चित्रफलक लम्बकूर्चाना तापसाना कदम्बै ।)

राजा–वयस्य अन्यच्च । शकुन्तलाया प्रसाधनमभिप्रेतमत्रविस्मृतमस्माभिः ।

विदूषक—किं विअ । (किमिव ।)

सानुमती—वणवासस्स सोउमारस्स अ जं सरिसं भविस्सदि । (वनवासस्य सौकुमार्यस्य च यत्सदृश भविष्यति ।)

राजा—

कृतं न कर्णार्पितबन्धनं सखे शिरीषमागण्डविलम्बिकेसरम् ।
न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे ॥१८॥

विदूषक—भो किं णु तत्तहोदी रत्तकुवलअपल्लवसोहिणा अग्गहत्थेण मुहं ओवारिअ चइदचइदा विअ ट्ठिआ । [सावधान निरूप्य दृष्ट्वा]

आ एसो दासीएपुत्तो कुसुमरसपाडच्चरो तत्तहोदीए वअणं अहिलङ्घेदि महुअरो। (भो किं नु तत्रभवती रक्तकुवलयपल्लवशोभिनाऽग्रहस्तेन मुखमपवार्य चकितचकितेव स्थिता। आ एष दास्या पुत्रः कुसुमरसपाटच्चरस्तत्रभवत्या वदनमभिलङ्घति मधुकरः।)

राजा—ननु वार्यतामेष धृष्टः।

विदूषकः—भवं एव्व अविणीदाणं सासिदा इमस्स वारणे पहविस्सदि। (भवानेवाविनीतानां शासिताऽस्य वारणे प्रभविष्यति।)

राजा—युज्यते। अयि भोः कुसुमलताप्रियातिथे। किमत्र परिपतनखेदमनुभवसि।

एषा कुसुमनिषण्णा तृषिताऽपि सती भवन्तमनुरक्ता।
प्रतिपालयति मधुकरी न खलु मधु विना त्वया पिबति ॥१९॥

सानुमती—अज्ज वि अभिजादं क्खु एसो वारिदो। (अद्याप्यभिजातं खल्वेष वारितः।)

विदूषकः—पडिसिद्धा वि वामा एसा जादी। (प्रतिषिद्धाऽपि वामैषा जातिः।)

राजा—एवं भो न मे शासने तिष्ठसि। श्रूयतां तर्हि संप्रति—

अक्लिष्टबालतरुपल्लवलोभनीयं
पीतं मया सदयमेव रतोत्सवेषु।
बिम्बाधरं स्पृशसि चेद्भ्रमर प्रियाया-
स्त्वां कारयामि कमलोदरबन्धनस्थम् ॥२०॥

विदूषकः—एव्वं तिक्खणदण्डस्स किं ण भाइस्सदि। [प्रहस्य आत्मगतम्] एसो दाव उम्मत्तो। अहं पि एदस्स संगेण ईदिसवण्णो विअ संवुत्तो। [प्रकाशम्] भो चित्तं क्खु एदं। (एवं तीक्ष्णदण्डस्य किं न भेष्यति। एष तावदुन्मत्तः। अहमप्येतस्य सङ्गेनेदृशवर्ण इव संवृत्तः। भो चित्रं खल्वेतत्।)

राजा—कथं चित्रम्।

सानुमती—अहं पि दाणिं अवगदत्था। किं उण जहालिहिदाणुभावी एसो। (अहमपीदानीमवगतार्था। किं पुनर्यथालिखितानुभाव्येषः।)

राजा—वयस्य किमिदमनुष्ठितं पौरोभाग्यम्।

दर्शनसुखमनुभवतः साक्षादिव तन्मयेन हृदयेन।
स्मृतिकारिणा त्वया मे पुनरपि चित्रीकृता कान्ता ॥२१॥

[इति बाष्पं विहरति।]

सानुमती—पुव्वावरविरोही अपुव्वो एसो विरहमग्गो। (पूर्वापर-विरोध्यपूर्व एष विरहमार्गः।)

राजा—वयस्य। कथमेवमविश्रान्तदुःखमनुभवामि।

प्रजागरात्खिलीभूतस्तस्याः स्वप्ने समागमः।
बाष्पस्तु न ददात्येनां द्रष्टुं चित्रगतामपि ॥२२॥

सानुमती—सव्वहा पमज्जिदं तुए पच्चादेसदुक्खं सउन्दलाए। (सर्वथा प्रमार्जितं त्वया प्रत्यादेशदुःखं शकुन्तलायाः।)

[प्रविश्य]

चतुरिका—जेदु जेदु भट्टा। वट्टिआकरण्डअं गेण्हिअ इदोमुहं पत्थिद म्हि। (जयतु जयतु भर्ता। वर्तिकाकरण्डकं गृहीत्वेतोमुखं प्रस्थिताऽस्मि।)

राजा—किं च।

चतुरिका—सो मे हत्थादो अन्तरा तरलिआदुदीआए देवीए वसुमदीए अहं एव्व अज्जउत्तस्स उवणइस्सं त्ति सबलक्कारं गहीदो। (स मे हस्तादन्तरा तरलिकाद्वितीयया देव्या वसुमत्याऽहमेवार्यपुत्रस्योपनेष्यामीति सबलात्कारं गृहीतः।)

विदूषकः—दिट्ठिआ तुमं मुक्का। (दिष्ट्या त्वं मुक्ता।)

चतुरिका—जाव देवीए विडवलग्गं उत्तरीअं तरलिआ मोचेदि ताव मए णिव्वाहिदो अत्ता। (यावद्देव्या विटपलग्नमुत्तरीयं तरलिका मोचयति तावन्मया निर्वाहित आत्मा।)

राजा—वयस्य उपस्थिता देवी बहुमानगर्विता च। भवानिमां प्रतिकृतिं रक्षतु।

विदूषकः—अत्ताणं त्ति भणाहि। [चित्रफलकमादायोत्थाय च] जइ भवं अन्तेउरकालकूडादो मुच्चीअदि तदो मं मेहप्पडिच्छन्दे पासादे सद्दावेहि। (आत्मानमिति भण। यदि भवानन्तःपुरकालकूटान्मोच्यते तदा मां मेघप्रतिच्छन्दे प्रासादे शब्दापय)। [इति द्रुतपदं निष्क्रान्तः।]

राजा—वयस्य किमिदमनुष्ठितं पौरोभाग्यम् ।

दर्शनसुखमनुभवतः साक्षादिव तन्मयेन हृदयेन ।
स्मृतिकारिणा त्वया मे पुनरपि चित्रीकृता कान्ता ॥२१॥

[इति बाष्प विहरति ।]

सानुमती—पुव्वावरविरोही अपुव्वो एसो विरहमग्गो । (पूर्वापरविरोध्यपूर्व एष विरहमार्गः ।)

राजा—वयस्य । कथमेवमविश्रान्तदु:खमनुभवामि ।

प्रजागरात्खिलीभूतस्तस्याः स्वप्ने समागमः ।
बाष्पस्तु न ददात्येनां द्रष्टुं चित्रगतामपि ॥२२॥

सानुमती—सव्वहा पमज्जिदं तुए पच्चादेसदुक्खं सउन्दलाए । (सर्वथा प्रमार्जित त्वया प्रत्यादेशदु:खं शकुन्तलाया ।)

[प्रविश्य]

चतुरिका—जेदु जेदु भट्टा । वट्टिआकरण्डअं गेण्हिअ इदोमुहं पत्थिद म्हि । (जयतु जयतु भर्ता । वर्तिकाकरण्डक गृहीत्वेतोमुखं प्रस्थिताऽस्मि ।)

राजा—किं च ।

चतुरिका—सो मे हत्थादो अन्तरा तरलिआदुदीआए देवीए वसुमदीए अहं एव्व अज्जउत्तस्स उवणइस्सं त्ति सबलक्कारं गहीदो । (स मे हस्तादन्तरा तरलिकाद्वितीयया देव्या वसुमत्याऽहमेवार्यपुत्रस्योपनेष्यामीति सबलात्कार गृहीत. ।)

विदूषक —दिट्ठिआ तुमं मुक्का । (दिष्ट्या त्व मुक्ता ।)

चतुरिका—जाव देवीए विडवलग्गं उत्तरीअं तरलिआ मोचेदि ताव मए णिव्वाहिदो अत्ता । (यावद्देव्या विटपलग्नमुत्तरीय तरलिका मोचयति तावन्मया निर्वाहित आत्मा ।)

राजा—वयस्य उपस्थिता देवी बहुमानगर्विता च । भवानिमां प्रतिकृतिं रक्षतु ।

विदूषक —अत्ताणं त्ति भणाहि । [चित्रफलकमादायोत्थाय च] जइ भवं अन्तेउरकालकूडादो मुञ्चीअदि तदो म मेहप्पडिच्छन्दे पासादे सद्दावेहि । (आत्मानमिति भण । यदि भवानन्त पुरकालकूटान्मोच्यते तदा मा मेघप्रतिच्छन्दे प्रासादे शब्दापय) । [इति द्रुतपद निष्क्रान्त ।]

आ एसो दासीएपुत्तो कुसुमरसपाडच्चरो तत्तहोदीए नअणं अहिलङ्घेदि महुअरो। (भो किं नु तत्रभवती रक्तकुवलयपल्लवशोभिनाऽग्रहस्तेन मुखमपवार्य चकितचकितेव स्थिता। आ एष दास्याः पुत्रः कुसुमरसपाटच्चरस्तत्रभवत्या वदनमभिलङ्घति मधुकरः।)

राजा—ननु वार्यतामेष धृष्टः।

विदूषक—भवं ज्जेव्व अविणीदाणं सासिदा इमस्स वारणे पहविस्सदि। (भवानेवाविनीतानां शासिताऽस्य वारणे प्रभविष्यति।)

राजा—युज्यते। अयि भोः कुसुमलताप्रियातिथे। किमत्र परिपतनखेदमनुभवसि।

एषा कुसुमनिषण्णा तृषिताऽपि सती भवन्तमनुरक्ता।
प्रतिपालयति मधुकरी न खलु मधु विना त्वया पिबति ॥१९॥

सानुमती—अज्ज वि अभिजादं क्खु एसो वारिदो। (अद्याप्यभिजातः खल्वेष वारितः।)

विदूषक—पडिसिद्धा वि वामा एसा जादी। (प्रतिषिद्धाऽपि वामैषा जातिः।)

राजा—एवं भो न मे शासने तिष्ठसि। श्रूयतां तर्हि संप्रति—

अक्लिष्टबालतरुपल्लवलोभनीयं
पीतं मया सदयमेव रतोत्सवेषु।
बिम्बाधरं स्पृशसि चेद्भ्रमर प्रियाया-
स्त्वां कारयामि कमलोदरबन्धनस्थम् ॥२०॥

विदूषक—एव्वं तिक्खणदण्डस्स किं ण भाइस्सदि। [प्रहस्य आत्मगतम्] एसो दाव उम्मत्तो। अहं पि एदस्स संगेण ईदिसवण्णो विअ संवुत्तो। [प्रकाशम्] भो चित्तं क्खु एदं। (एवं तीक्ष्णदण्डस्य किं न भेष्यति। एष तावदुन्मत्तः। अहमप्येतस्य सङ्गेनेदृशवर्ण इव संवृत्तः। भोः चित्रं खल्वेतत्।)

राजा—कथं चित्रम्।

सानुमती—अहं पि दाणिं अवगदत्था। किं उण जहालिहिदाणुभावी एसो। (अहमपीदानीमवगतार्था। किं पुनर्यथालिखितानुभाव्येषः।)

आ एसो दासीएपुत्तो कुसुमरसपाडच्चरो तत्तहोदीए वअणं अहिलंघेदि महुअरो। (भो किं नु तत्रभवती रक्तकुवलयपल्लवशोभिनाऽग्रहस्तेन मुखमपवार्य चकितचकितेव स्थिता। आ एष दास्याःपुत्रः कुसुमरसपाटच्चरस्तत्रभवत्या वदनमभिलङ्घति मधुकरः।)

राजा—ननु वार्यतामेष धृष्टः।

विदूषक—भवं एव्व अविणीदाणं सासिदा इमस्स वारणे पहविस्सदि। (भवानेवाविनीतानां शासिताऽस्य वारणे प्रभविष्यति।)

राजा—युज्यते। अयि भोः कुसुमलताप्रियातिथे। किमत्र परिपतनखेदमनुभवसि।

एषा कुसुमनिषण्णा तृषिताऽपि सती भवन्तमनुरक्ता।
प्रतिपालयति मधुकरी न खलु मधु विना त्वया पिबति ॥१९॥

सानुमती—अज्ज वि अभिजादं क्खु एसो वारिदो। (अद्याप्यभिजातं खल्वेष वारितः।)

विदूषक—पडिसिद्धा वि वामा एसा जादी। (प्रतिषिद्धाऽपि वामैषा जातिः।)

राजा—एवं भो न मे शासने तिष्ठसि। श्रूयतां तर्हि संप्रति—

अक्लिष्टबालतरुपल्लवलोभनीयं
पीतं मया सदयमेव रतोत्सवेषु।
बिम्बाधरं स्पृशसि चेद्भ्रमर प्रियाया-
स्त्वां कारयामि कमलोदरबन्धनस्थम् ॥२०॥

विदूषक—एव्वं तिक्खणदण्डस्स किं ण भाइस्सदि। [प्रहस्य आत्मगतम्] एसो दाव उम्मत्तो। अहं पि एदस्स संगेण ईदिसवण्णो विअ संवुत्तो। [प्रकाशम्] भो चित्तं क्खु एदं। (एवं तीक्ष्णदण्डस्य किं न भेष्यति। एष तावदुन्मत्तः। अहमप्येतस्य सङ्गेनेदृशवर्ण इव संवृत्तः। भोः चित्रं खल्वेतत्।)

राजा—कथं चित्रम्।

सानुमती—अहं पि दाणिं अवगदत्था। किं उण जहालिहिदाणुभावी एसो। (अहमपीदानीमवगतार्था। किं पुनर्यथालिखितानुभाव्येष।)

राजा—वयस्य किमिदमनुष्ठितं पौरोभाग्यम् ।

दर्शनसुखमनुभवतः साक्षादिव तन्मयेन हृदयेन ।
स्मृतिकारिणा त्वया मे पुनरपि चित्रीकृता कान्ता ॥२१॥

[इति बाष्पं विहरति ।]

सानुमती—पुव्वावरविरोही अपुव्वो एसो विरहमग्गो । (पूर्वापरविरोध्यपूर्व एष विरहमार्ग. ।)

राजा—वयस्य । कथमेवमविश्रान्तदुःखमनुभवामि ।

प्रजागरात्खिलीभूतस्तस्याः स्वप्ने समागमः ।
बाष्पस्तु न ददात्येनां द्रष्टुं चित्रगतामपि ॥२२॥

सानुमती—सव्वहा पमज्जिदं तुए पच्चादेसदुक्खं सउन्दलाए । (सर्वथा प्रमार्जित त्वया प्रत्यादेशदुःखं शकुन्तलायाः ।)

[प्रविश्य]

चतुरिका—जेदु जेदु भट्टा । वट्टिआकरण्डअं गेण्हिअ इदोमुहं पत्थिद म्हि । (जयतु जयतु भर्ता । वर्तिकाकरण्डक गृहीत्वेतोमुखं प्रस्थिताऽस्मि ।)

राजा—किं च ।

चतुरिका—सो मे हत्थादो अन्तरा तरलिआदुदीआए देवीए वसुमदीए अहं एव्व अज्जउत्तस्स उवणइस्सं त्ति सवलक्कारं गहीदो । (स मे हस्तादन्तरा तरलिकाद्वितीयया देव्या वसुमत्याऽहमेवार्यपुत्रस्योपनेष्यामीति सबलात्कार गृहीत ।)

विदूषक —दिट्ठिआ तुमं मुक्का । (दिष्ट्या त्व मुक्ता ।)

चतुरिका—जाव देवीए विडवलग्गं उत्तरीअं तरलिआ मोचेदि ताव मए णिव्वाहिदो अत्ता । (यावद्देव्या विटपलग्नमुत्तरीय तरलिका मोचयति तावन्मया निर्वाहित आत्मा ।)

राजा—वयस्य उपस्थिता देवी बहुमानगर्विता च । भवानिमां प्रतिकृतिं रक्षतु ।

विदूषक —अत्ताणं त्ति भणाहि । [चित्रफलकमादायोत्थाय च] जइ भवं अन्तेउरकालकूडादो मुच्चीअदि तदो मं मेहप्पडिच्छन्दे पासादे सद्दावेहि । (आत्मानमिति भण । यदि भवानन्त पुरकालकूटान्मोच्यते तदा मा मेघप्रतिच्छन्दे प्रासादे शब्दापय) । [इति द्रुतपद निष्क्रान्त ।]

आ एसो दासीएपुत्तो कुसुमरसपाडच्चरो तत्तहोदीए वअणं अहिलङ्घेदि महुअरो। (भो. किं नु तत्रभवती रक्तकुवलयपल्लवशोभिनाऽग्रहस्तेन मुखमपवार्य चकितचकितेव स्थिता। आ एष दास्याः पुत्रः कुसुमरसपाटच्चरस्तत्रभवत्या वदनमभिलङ्घति मधुकरः।)

राजा—ननु वार्यतामेष धृष्टः।

विदूषक—भवं एव्व अविणीदाणं सासिदा इमस्स वारणे पहविस्सदि। (भवानेवाविनीतानां शासिताऽस्य वारणे प्रभविष्यति।)

राजा—युज्यते। अयि भोः कुसुमलताप्रियातिथे। किमत्र परिपतनखेदमनुभवसि।

एषा कुसुमनिषण्णा तृषिताऽपि सती भवन्तमनुरक्ता।
प्रतिपालयति मधुकरी न खलु मधु विना त्वया पिबति ॥१९॥

सानुमती—अज्ज वि अभिजादं क्खु एसो वारिदो। (अद्याप्यभिजातं खल्वेष वारितः।)

विदूषक—पडिसिद्धा वि वामा एसा जादी। (प्रतिषिद्धाऽपि वामैषा जातिः।)

राजा—एवं भो न मे शासने तिष्ठसि। श्रूयतां तर्हि संप्रति—

अक्लिष्टबालतरुपल्लवलोभनीयं
पीतं मया सदयमेव रतोत्सवेषु।
बिम्बाधरं स्पृशसि चेद्भ्रमर प्रियाया-
स्त्वां कारयामि कमलोदरबन्धनस्थम् ॥२०॥

विदूषक—एव्वं तिक्खणदण्डस्स किं ण भाइस्सदि। [प्रहस्य आत्मगतम्] एसो दाव उम्मत्तो। अहं पि एदस्स संगेण ईदिसवण्णो विअ संवुत्तो। [प्रकाशम्] भो चित्तं क्खु एदं। (एवं तीक्ष्णदण्डस्य किं न भेष्यति। एष तावदुन्मत्तः। अहमप्येतस्य सङ्गेनेदृशवर्ण इव संवृत्तः। भोः चित्रं खल्वेतत्।)

राजा—कथं चित्रम्।

सानुमती—अहं पि दाणिं अवगदत्था। किं उण जहालिहिदाणुभावी एसो। (अहमपीदानीमवगतार्था। किं पुनर्यथालिखितानुभाव्येष।)

राजा—वयस्य किमिदमनुष्ठितं पौरोभाग्यम्।

दर्शनसुखमनुभवतः साक्षादिव तन्मयेन हृदयेन।
स्मृतिकारिणा त्वया मे पुनरपि चित्रीकृता कान्ता ॥२१॥

[इति बाष्पं विहरति।]

सानुमती—पुव्वावरविरोही अपुव्वो एसो विरहमग्गो। (पूर्वापरविरोध्यपूर्व एष विरहमार्गः।)

राजा—वयस्य। कथमेवमविश्रान्तदुःखमनुभवामि।

प्रजागरात्खिलीभूतस्तस्याः स्वप्ने समागमः।
बाष्पस्तु न ददात्येनां द्रष्टुं चित्रगतामपि ॥२२॥

सानुमती—सव्वहा पमज्जिदं तुए पच्चादेसदुक्खं सउन्दलाए। (सर्वथा प्रमार्जितं त्वया प्रत्यादेशदुःखं शकुन्तलायाः।)

[प्रविश्य]

चतुरिका—जेदु जेदु भट्टा। वट्टिआकरण्डअं गेण्हिअ इदोमुहं पत्थिद म्हि। (जयतु जयतु भर्ता। वर्तिकाकरण्डकं गृहीत्वेतोमुखं प्रस्थिताऽस्मि।)

राजा—किं च।

चतुरिका—सो मे हत्थादो अन्तरा तरलिआदुदीआए देवीए वसुमदीए अहं एव्व अज्जउत्तस्स उवणइस्सं त्ति सबलक्कारं गहीदो। (स मे हस्तादन्तरा तरलिकाद्वितीयया देव्या वसुमत्याऽहमेवार्यपुत्रस्योपनेष्यामीति सबलात्कारं गृहीतः।)

विदूषकः—दिट्ठिआ तुमं मुक्का। (दिष्ट्या त्वं मुक्ता।)

चतुरिका—जाव देवीए विडवलग्गं उत्तरीअं तरलिआ मोचेदि ताव मए णिव्वाहिदो अत्ता। (यावद्देव्या विटपलग्नमुत्तरीयं तरलिका मोचयति तावन्मया निर्वाहित आत्मा।)

राजा—वयस्य उपस्थिता देवी बहुमानगर्विता च। भवानिमां प्रतिकृतिं रक्षतु।

विदूषकः—अत्ताणं त्ति भणाहि। [चित्रफलकमादायोत्थाय च] जइ भवं अन्तेउरकालकूडादो मुच्चीअदि तदो मं मेहप्पडिच्छन्दे पासादे सद्दावेहि। (आत्मानमिति भण। यदि भवानन्तःपुरकालकूटान्मोच्यते तदा मां मेघप्रतिच्छन्दे प्रासादे शब्दापय)। [इति द्रुतपदं निष्क्रान्तः।]

सानुमती—अण्णसंकन्तहिअओ वि पढमसंभावणं अवेक्खदि। अदिसिढिलसोहदो दाणिं एसो। (अन्यसंक्रान्तहृदयोऽपि प्रथमसंभावनामपेक्षते। अतिशिथिलसौहार्द इदानीमेष।)

[प्रविश्य पत्रहस्ता]

प्रतीहारी—जेदु जेदु देवो। (जयतु जयतु देव।)

राजा—वेत्रवति न खल्वन्तरा दृष्टा त्वया देवी।

प्रतीहारी—अह इं। पत्तहत्थं मं देक्खिअ पडिणिउत्ता। (अथ किम्। पत्रहस्तां मां प्रेक्ष्य प्रतिनिवृत्ता।]

राजा—कार्यज्ञा कार्योपरोधं मे परिहरति।

प्रतीहारी—देव अमच्चो विण्णवेदि—अत्थजादस्स गणणावहुलदाए एक्कं एव्व पोरकज्जं अवेक्खिदं तं देवो पत्तारूढं पच्चक्खीकरेदु त्ति। (देव अमात्यो विज्ञापयति—अर्थजातस्य गणनाबहुलतयैकमेव पौरकार्यमवेक्षित तद्देवः पत्रारूढ प्रत्यक्षीकरोत्विति।)

राजा—इतः पत्रिकां दर्शय। [प्रतिहार्युपनयति।]

राजा—[अनुवाच्य] कथम्। समुद्रव्यवहारी सार्थवाहो धनमित्रो नाम नौव्यसने विपन्न। अनपत्यश्च किल तपस्वी। राजगामी तस्यार्थसंचय इत्येतदमात्येन लिखितम्। कष्टं खल्वनपत्यता। वेत्रवति बहुधनत्वाद्बहुपत्नीकेन तत्रभवता भवितव्यम्। विचीयतां यदि काचिदापन्नसत्त्वा तस्य भार्यासु स्यात्।

प्रतीहारी—देव दाणिं एव्व साकेदअस्स सेट्ठिणो दुहिआ णिव्वुत्त पुंसवणा जाआ से सुणीअदि। (देव इदानीमेव साकेतस्य श्रेष्ठिनो दुहिता निर्वृत्तपुंसवना जायाऽस्य श्रूयते।)

राजा—ननु गर्भ पित्र्यं रिक्थमर्हति। गच्छ। एवममात्य ब्रूहि।

प्रतीहारी—जं देवो आणवेदि (यद्देव आज्ञापयति।) [इति प्रस्थिता।]

राजा—एहि तावत्।

प्रतीहारी—इअम्हि। (इयमस्मि।)

राजा—किमनेन संततिरस्ति नास्तीति।

येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना।
स स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम्॥ २३॥

प्रतीहारी—एव्वं णाम घोसइदव्वं। [निष्क्रम्य पुन प्रविश्य] काले पवुट्ठं विअ अहिणन्दिदं देवस्स सासणम्। (एवं नाम घोपयितव्यम्। काले प्रवृष्टमिवाभिनन्दितं देवस्य शासनम्।)

राजा—[दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य] एवं भो संततिच्छेदनिरवलम्बानां कुलानां मूलपुरुषावसाने संपदः परमुपतिष्ठन्ति। ममाप्यन्ते पुरुवंशश्रिय एप एव वृत्तान्तः।

प्रतीहारी—पडिहदं अमंगलम्। (प्रतिहतममङ्गलम्।)

राजा—धिङ्मामुपस्थितश्रेयोऽवमानिनम्।

सानुमती—असंअं सहिं एव्व हिअए करिअ णिन्दिदो णेण अप्पा। (असशय सखीमेव हृदये कृत्वा निन्दितोऽनेनात्मा।)

राजा—

संरोपितेऽप्यात्मनि धर्मपत्नी त्यक्ता मया नाम कुलप्रतिष्ठा।
कल्पिष्यमाणा महते फलाय वसुन्धरा काल इवोप्तबीजा ॥२४॥

सानुमती—अपरिच्छिण्णा दाणिं दे संददी भविस्सदि। (अपरिच्छिन्नेदानीं ते सन्ततिर्भविष्यति।)

चतुरिका—[जनान्तिकम्] अए इमिणा सत्थवाहवुत्तन्तेण दिउणुव्वेओ भट्टा। णं अस्सासिदुं मेहप्पडिच्छन्दादो अज्जं माढव्वं गेण्हिअ आअच्छेहि। (अयि अनेन सार्थवाहवृत्तान्तेन द्विगुणोद्वेगो भर्ता। एनमाश्वासयितु मेघप्रतिच्छन्दादार्य माधव्य गृहीत्वागच्छ।)

प्रतीहारी—सुट्ठु भणासि। (सुष्ठु भणसि।) [इति निष्क्रान्ता।]

राजा—अहो दुष्यन्तस्य संशयमारूढाः पिण्डभाजः। कुतः।

अस्मात्परं वत यथाश्रुति संभृतानि
को नः कुले निवपनानि करिष्यतीति।
नूनं प्रसूतिविकलेन मया प्रसिक्तं
धौताश्रुशेपमुदकं पितरः पिबन्ति ॥ २५ ॥

[इति मोहमुपगत]

चतुरिका—[ससम्भ्रममवलोक्य] समस्ससदु समस्ससदु भट्टा। (समाश्वसितु समाश्वसितु भर्ता।)

सानुमती—हद्धी हद्धी। सदि क्खु दीवे ववधाणदोसेण एसो अन्धआरदोसं अणुहोदि। अहं दाणिं एव्व णिव्वुदं करेमि। अहवा सुदं मए सउन्दलं समस्सासअन्तीए महेन्दजणणीए मुहादो—जण्णभावोस्सुआ देवा एव्व तह अणुचिट्ठिस्सन्ति जइ अइरेण धम्मपदिणिं भट्टा अहिणन्दिस्सदि त्ति। ता ण जुत्तं एदं कालं पडिपालिदुं। जाव इमिणा वुत्तन्तेण पिअसहिं समस्सासेमि। (हा धिक्। हा धिक्। सति खलु दीपे व्यवधानदोषेणैषोऽन्धकारदोषमनुभवति। अहमिदानीमेव निर्वृतं करोमि। अथवा श्रुतं मया शकुन्तलां समाश्वासयन्त्या महेन्द्रजनन्या मुखात्—यज्ञभागोत्सुका देवा एव तथानुष्ठास्यन्ति यथाऽचिरेण धर्मपत्नीं भर्ताऽभिनन्दिष्यतीति। तन्न युक्तं कालं प्रतिपालयितुम्। यावदनेन वृत्तान्तेन प्रियसखीं समाश्वासयामि।)
[इत्युद्भ्रान्तकेन निष्क्रान्ता।]

[नेपथ्ये]

अव्वम्हण्णम्। (अब्रह्मण्यम्।)

राजा—[प्रत्यागतः कर्णं दत्त्वा] अये माधव्यस्येवार्तस्वरः। कः कोऽत्र भोः।

[प्रविश्य]

प्रतीहारी—[ससम्भ्रमम्] परित्ताअदु देवो संसअगदं वअस्सम्। (परित्रायतां देवः संशयगतं वयस्यम्।)

राजा—केनात्तगन्धो माणवकः।

प्रतीहारी—अदिट्ठरूवेण केण वि सत्तेण अदिक्कमिअ मेहप्पडिच्छन्दस्स पासादस्स अग्गभूमिं आरोविदो। (अदृष्टरूपेण केनापि सत्त्वेनातिक्रम्य मेघप्रतिच्छन्दस्याग्रभूमिमारोपितः।)

राजा—[उत्थाय] मा तावत्। ममापि सत्त्वैरभिभूयन्ते गृहाः। अथवा—

अहन्यहन्यात्मन एव तावज्ज्ञातुं प्रमादस्खलितं न शक्यम्।
प्रजासु कः केन पथा प्रयातीत्यशेषतो वेदितुमस्ति शक्तिः ॥२६॥

[नेपथ्ये]

भो वअस्स अविहा अविहा। (भो वयस्य अविहा अविहा।)

राजा—[गतिभेदेन परिक्रामन्] सखे न भेतव्यं न भेतव्यम्।

[नेपथ्ये]

[पुनस्तदेव पठित्वा] कहं ण भाइस्सं। एस मं को वि पच्चवणदसिरोहरं इक्खुं विअ तिण्णभंगं करेदि। (कथं न भेष्यामि। एष मां कोऽपि प्रत्यवनतशिरोधरमिक्षुमिव त्रिभङ्गं करोति।)

राजा—[सदृष्टिक्षेपम्] धनुस्तावत्।

[प्रविश्य शार्ङ्गहस्ता]

यवनी—भट्टा एदं हत्थावावसहिदं सरासणं। (भर्तः एतद्धस्तावापसहितं शरासनम्।)

[राजा सशरं धनुरादत्ते।]

[नेपथ्ये]

एष त्वामभिनवकण्ठशोणितार्थी
शार्दूलः पशुमिव हन्मि चेष्टमानम्।
आर्तानां भयमपनेतुमात्तधन्वा
दुष्यन्तस्तव शरणं भवत्विदानीम् ॥२७॥

राजा—[सरोषम्] कथं मामेवोद्दिशति। तिष्ठ कुणपाशन। त्वमिदानीं न भविष्यसि। [शार्ङ्गमारोप्य] वेत्रवति। सोपानमार्गमादेशय।

प्रतीहारी—इदो इदो देवो। (इत इतो देवः।)

[सर्वे सत्वरमुपसर्पन्ति।]

राजा—[समन्ताद्विलोक्य] शून्यं खल्विदम्।

[नेपथ्ये]

अविहा अविहा। अहं अत्त भवन्तं पेक्खामि। तुमं मं ण पेक्खसि। विडालग्गहीदो मूसओ विअ णिरासो म्हि जीविदे संवुत्तो। (अविहा अविहा। अहमत्रभवन्तं पश्यामि। त्वं मां न पश्यसि। विडालगृहीतो मूषक इव निराशोऽस्मि जीविते संवृत्तः।)

राजा—भोस्तिरस्करिणीगर्वित। मदीयमस्त्रं त्वां द्रक्ष्यति। एष तमिषुं संदधे।

यो हनिष्यति वध्यं त्वां रक्ष्यं रक्षिष्यति द्विजम्।
हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रा वर्जयत्यपः ॥२८॥

[इत्यस्त्रं सधत्ते]

[ततः प्रविशति विदूषकमुत्सृज्य मातलि ।]

मातलि —

कृताः शरव्यं हरिणा तवासुराः शरासनं तेषु विकृष्यतामिदम् ।
प्रसादसौम्यानि सतां सुहृज्जने पतन्ति चक्षूंषि न दारुणाः शराः ॥२९॥

राजा—[ससम्भ्रममस्त्रमुपसंहरन्] अये मातलिः । स्वागतं महेन्द्रसारथे ।

[प्रविश्य]

विदूषक —अहं जेण इट्ठिपसुमारं मारिदो सो इमिणा साअदेण अहिणन्दीअदि । (अहं येनेष्टिपशुमारं मारित्. सोऽनेन स्वागतेनाभिनन्द्यते ।)

मातलि —[सस्मितम्] आयुष्मन् श्रूयतां यदर्थमस्मि हरिणा भवत्सकाशं प्रेपितः ।

राजा—अवहितोऽस्मि ।

मातलि —अस्ति कालनेमिप्रसूतिर्दुर्जयो नाम दानवगणः ।

राजा—अस्ति । श्रुतपूर्वं मया नारदात् ।

मातलि —

सख्युस्ते स किल शतक्रतोरजय्य-
स्तस्य त्वं रणशिरसि स्मृतो निहन्ता ।
उच्छेत्तुं प्रभवति यन्न सप्तसप्ति-
स्तन्नैशं तिमिरमपाकरोति चन्द्रः ॥ ३० ॥

स भवानात्तशस्त्र एव इदानीं तमैन्द्ररथमारुह्य विजयाय प्रतिष्ठताम् ।

राजा—अनुगृहीतोऽहमनया मघवतः संभावनया । अथ माधव्यं प्रति भवता किमेवं प्रयुक्तम् ।

मातलि —तदपि कथ्यते । किंचिन्निमित्तादपि मनःसंतापादायुष्मान्मया विक्लवो दृष्टः । पश्चात्कोपयितुमायुष्मन्तं तथा कृतवानस्मि । कुतः ।

ज्वलति चलितेन्धनोऽग्निर्विप्रकृतः पन्नगः फणां कुरुते ।
प्रायः स्वं महिमानं क्षोभात्प्रतिपद्यते हि जनः ॥३१॥

राजा—[जनान्तिकम्] वयस्य अनतिक्रमणीया दिवस्पतेराज्ञा। तदत्र परिगतार्थं कृत्वा मद्वचनादमात्यपिशुनं ब्रूहि—

त्वन्मतिः केवला तावत्परिपालयतु प्रजाः।
अधिज्यमिदमन्यस्मिन्कर्मणि व्यापृतं धनुः ॥ ३२ ॥

इति

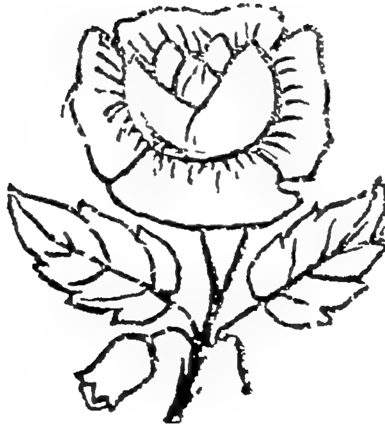
विदूषक—जं भवं आणवेदि। (यद्भवानाज्ञापयति।) [इति निष्क्रान्तः।]

मातलि—आयुष्मान् रथमारोहतु।

[राजा रथाधिरोहणं नाटयति।]

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे।]

॥ इति षष्ठोऽङ्कः ॥



सप्तमोऽङ्कः

[तत प्रविशत्याकाशयानेन रथाधिरूढो राजा मातलिश्च ।]

राजा—मातले । अनुष्ठितनिदेशोऽपि मघवतः सत्क्रियाविशेषादनुपयुक्तमिवात्मानं समर्थये ।

मातलि —[सस्मितम्] आयुष्मन् । उभयमप्यपरितोषं समर्थये ।

प्रथमोपकृतं मरुत्वतः प्रतिपत्त्या लघु मन्यते भवान् ।
गणयत्यवदानविस्मितो भवतः सोऽपि न सत्क्रियागुणान् ॥१॥

राजा—मातले मा मैवम् । स खलु मनोरथानामप्यभूमिर्विसर्जनावसरसत्कारः । मम हि दिवौकसां समक्षमर्धासनोपवेशितस्य—

अन्तर्गतप्रार्थनमन्तिकस्थं जयन्तमुद्वीक्ष्य कृतस्मितेन ।
आमृष्टवक्षोहरिचन्दनाङ्का मन्दारमाला हरिणा पिनद्धा ॥२॥

मातलि —किमिव नामायुष्मानमरेश्वरान्नार्हति । पश्य—

सुखपरस्य हरेरुभयैः कृतं त्रिदिवमुद्धृतदानवकण्टकम् ।
तव शरैरधुना नतपर्वभिः पुरुषकेसरिणश्च पुरा नखैः ॥ ३ ॥

राजा—अत्र खलु शतक्रतोरेव महिमा स्तुत्यः ।

सिध्यन्ति कर्मसु महत्स्वपि यन्नियोज्याः
संभावनागुणमवेहि तमीश्वराणाम् ।

किं वाऽभविष्यदरुणस्तमसां विभेत्ता
तं चेत्सहस्रकिरणो धुरि नाकरिष्यत् ॥ ४ ॥

मातलि —सदृशमेवैतत् । [स्तोकमन्तरमतीत्य] इतः पश्य नाकपृष्ठ प्रतिष्ठितस्य सौभाग्यमात्मयशसः ।

विच्छित्तिशेषैः सुरसुन्दरीणां वर्णैरमी कल्पलतांऽशुकेषु ।
विचिन्त्य गीतक्षममर्थजातं दिवौकसस्त्वच्चरितं लिखन्ति ॥५॥

राजा—मातले असुरसंप्रहारोत्सुकेन पूर्वेद्युर्दिवमधिरोहता मया न लक्षितः स्वर्गमार्गः । कतमस्मिन्मरुतां पथि वर्तामहे ।

मातलि —

त्रिस्रोतसं वहति यो गगनप्रतिष्ठां
ज्योतींषि वर्तयति च प्रविभक्तरश्मिः ।
तस्य द्वितीयहरिविक्रमनिस्तमस्कं
वायोरिमं परिवहस्य वदन्ति मार्गम् ॥ ६ ॥

राजा—मातले अतः खलु सबाह्यान्तःकरणो ममान्तरात्मा प्रसीदति । [रथाङ्गमवलोक्य] मेघपदवीमवतीर्णौ स्व ।

मातलि —कथमवगम्यते ।

राजा —

अयमरविवरेभ्यश्चातकैर्निष्पतद्भि-
र्हरिभिरचिरभासां तेजसा चानुलिप्तैः ।
गतमुपरि घनानां वारिगर्भोदराणां
पिशुनयति रथस्ते शीकरक्लिन्ननेमिः ॥ ७ ॥

मातलि —क्षणादायुष्मान्स्वाधिकारभूमौ वर्तिष्यते ।

राजा—[अधोऽवलोक्य] मातले वेगावतरणादाश्चर्यदर्शनः संलक्ष्यते मनुष्यलोकः । तथा हि—

शैलानामवरोहतीव शिखरादुन्मज्जतां मेदिनी
पर्णस्वान्तरलीनतां विजहति स्कन्धोदयात्पादपाः ।

संतानैस्तनुभावनष्टसलिला व्यक्तिं भजन्त्यापगाः
केनाप्युत्क्षिपतेव पश्य भुवनं मत्पार्श्वमानीयते ॥ ८ ॥

मातलि—साधु दृष्टम्। [सबहुमानमवलोक्य] अहो उदाररमणीया पृथिवी।

राजा—मातले कतमोऽयं पूर्वापरसमुद्रावगाढः कनकरसनिष्यन्दी सांध्य इव मेघपरिघः सानुमानालोक्यते।

मातलि—आयुष्मन् एष खलु हेमकूटो नाम किंपुरुषपर्वतस्तपः संसिद्धिक्षेत्रम्। पश्य—

स्वायंभुवान्मरीचेर्यः प्रबभूव प्रजापतिः।
सुरासुरगुरुः सोऽत्र सपत्नीकस्तपस्यति ॥ ९ ॥

राजा—तेन ह्यनतिक्रमणीयानि श्रेयांसि। प्रदक्षिणीकृत्य भगवन्तं गन्तुमिच्छामि।

मातलि—प्रथमः कल्पः।

[नाट्येनावतीर्णौ]

राजा—[सविस्मयम्]—

उपोढशब्दा न रथाङ्गनेमयः प्रवर्तमानं न च दृश्यते रजः।
अभूतलस्पर्शतयानिरुन्धतस्तवावतीर्णोऽपि रथो न लक्ष्यते ॥१०॥

मातलि—एतावानेव शतक्रतोरायुष्मतश्च विशेषः।

राजा—मातले कतस्मिन्प्रदेशे मारीचाश्रमः।

मातलि—[हस्तेन दर्शयन्]—

वल्मीकार्धनिमग्नमूर्तिरुरसा संदष्टसर्पत्वचा
कण्ठे जीर्णलताप्रतानवलयेनात्यर्थसंपीडितः।
अंसव्यापि शकुन्तनीडनिचितं बिभ्रज्जटामण्डलं
यत्र स्थाणुरिवाचलो मुनिरसावभ्यर्कबिम्बं स्थितः ॥११॥

राजा—नमोऽस्मै कष्टतपसे।

मातलि—[संयतप्रग्रहं रथं कृत्वा] महाराज एतावदितिपरिवर्धितमन्दारवृक्षं प्रजापतेराश्रमं प्रविष्टौ स्वः।

राजा—स्वर्गादधिकतरं निर्वृतिस्थानम् । अमृतह्रदमिवावगाढोऽस्मि ।

मातलि—[रथं स्थापयित्वा] अवतरत्वायुष्मान् ।

राजा—[अवतीर्य] मातले । भवान्कथमिदानीम् ।

मातलि—संयन्त्रितो मया रथः वयमप्यवतरामः । [तथा कृत्वा] इत आयुष्मन् [परिक्रम्य] दृश्यन्तामत्रभवतामृषीणां तपोवनभूमयः ।

राजा—ननु विस्मयादवलोकयामि ।

प्राणानामनिलेन वृत्तिरुचिता सत्कल्पवृक्षे वने
तोये काञ्चनपद्मरेणुकपिशे धर्माभिषेकक्रिया ।
ध्यानं रत्नशिलातलेषु विबुधस्त्रीसंनिधौ संयमो
यत्काङ्क्षन्ति तपोभिरन्यमुनयस्तस्मिंस्तपस्यन्त्यमी ॥१२॥

मातलि—उत्सर्पिणी खलु महतां प्रार्थना [परिक्रम्य आकाशे] अये वृद्धशाकल्य । किमनुतिष्ठति भगवान्मारीचः । किं ब्रवीपि । दाक्षायण्या पतिव्रताधर्ममधिकृत्य पृष्टस्तस्यै महर्षिपत्नीसहितायै कथयतीति ।

राजा—[कर्णं दत्वा] अये प्रतिपाल्यावसरः खलु प्रस्तावः ।

मातलि—[राजानमवलोक्य] अस्मिन्नशोकवृक्षमूले तावदास्तामायुष्मान् यावत्त्वामिन्द्रगुरवे निवेदयितुमन्तरान्वेषी भवामि ।

राजा—यथा भवान्मन्यते । [इति स्थितः ।]

मातलिः—आयुष्मन् साधयाम्यहम् । [इति निष्क्रान्तः ।]

राजा—[निमित्तं सूचयित्वा]—

मनोरथाय नाशंसे किं बाहो स्पन्दसे वृथा ।
पूर्वावधीरितं श्रेयो दुःखं हि परिवर्तते ॥ १३ ॥

[नेपथ्ये]

मा क्खु चावलं करेहि । कहं गदो जेव अत्तणो पकिदिं । (मा खलु चापलं कुरु । कथं गत एवात्मनः प्रकृतिम् ।)

राजा—[कर्णं दत्वा] अभूमिरियमविनयस्य । को नु खल्वेष निषिध्यते । [शब्दानुसारेणावलोक्य सविस्मयम्] अये को नु खल्वयमनुबध्यमानस्तपस्विनीभ्यामबालसत्वो बालः ।

अर्धपीतस्तनं मातुरामर्दक्लिष्टकेसरम् ।
प्रक्रीडितुं सिंहशिशुं बलात्कारेण कर्षति ॥ १४ ॥

[ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टकर्मा तपस्विनीभ्यां बालः ।]

बालः—जिम्भ सिङ्घ दन्ताइँ दे गणइस्सं । (जृम्भस्व सिंह दन्तास्ते गणयिष्ये ।)

प्रथमा—अविणीद किं णो अपच्चणिव्विसेसाणि सत्ताणि विप्पअरेसि । हन्त । वड्ढइ दे संरम्भो । ठाणे क्खु इसिजणेण सव्वदमणो त्ति किदणामहेओ सि । (अविनीत किं नोऽपत्यनिर्विशेषाणि सत्त्वानि विप्रकरोषि । हन्त । वर्धते तव संरम्भः । स्थाने खलु ऋषिजनेन सर्वदमन इति कृतनामधेयोऽसि ।)

राजा—किं नु खलु बालेऽस्मिन्नौरस इव पुत्रे स्निह्यति मे मनः । नूनमनपत्यता मां वत्सलयति ।

द्वितीया—एसा क्खु केसरिणी तुमं लङ्घेदि जइ से पुत्तअं ण मुञ्चेसि । (एषा खलु केसरिणी त्वां लङ्घयिष्यति यदि तस्याः पुत्रकं न मुञ्चसि ।)

बालः—[सस्मितम्] अम्हहे बलिअं क्खु भीदो म्हि । (अहो बलीयः खलु भीतोऽस्मि ।) [इत्यधरं दर्शयति ।]

राजा—

महतस्तेजसो बीजं बालोऽयं प्रतिभाति मे ।
स्फुलिङ्गावस्थया वह्निरेधापेक्ष इव स्थितः ॥ १५ ॥

प्रथमा—वच्छ एदं बालमिइन्दअं मुञ्च । अवरं दे कीलणअं दाइस्सं । (वत्स एनं बालमृगेन्द्रं मुञ्च । अपरं ते क्रीडनकं दास्यामि ।)

बालः—कहिं । देहि णं । (कुत्र । देह्येतत् ।) [इति हस्तं प्रसारयति ।]

राजा—कथम् । चक्रवर्तिलक्षणमप्यनेन धार्यते । तथा ह्यस्य—

प्रलोभ्यवस्तुप्रणयप्रसारितो विभाति जालग्रथिताङ्गुलिः करः ।
अलक्ष्यपत्रान्तरमिद्धरागया नवोषसा भिन्नमिवैकपङ्कजम् ॥१६॥

द्वितीया—सुव्वदे । ण सक्को एसो वाआमेत्तेण विरमयिदुं । गच्छ तुमं । ममकेरए उडए मक्कण्डेअस्स इसिकुमारअस्स वण्णचित्तिदो

मित्तिआमोरओ चिट्ठदि । तं से उवहर । (सुव्रते न शक्य एप वाचामात्रेण विरमयितुम् । गच्छ त्वम् । मदीये उटजे मार्कण्डेयस्यर्षिकुमारस्य वर्णचित्रितो मृत्तिकामयूरस्तिष्ठति । तमस्योपहर ।)

प्रथमा—तह । (तथा) [इति निष्क्रान्ता ।]

वाल —इमिणा एव्व दाव कीलिस्सं । (अनेनैव तावत्क्रीडिष्यामि ।) [इति तापसीं विलोक्य हसति ।]

राजा—स्पृहयामि खलु दुर्ललितायास्मै ।

आलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासै-
रव्यक्तवर्णरमणीयवचःप्रवृत्तीन् ।
अङ्काश्रयप्रणयिनस्तनयान्वहन्तो
धन्यास्तदङ्गरजसा मलिनीभवन्ति ॥ १७ ॥

तापसी—होदु । ण मं अअं गणेदि । [पार्श्वमवलोकयति] को एत्थ इसिकुमाराणं । [राजानमवलोक्य] भद्दमुह । एहि दाव । मोएहि इमिणा दुम्मोअहत्थग्गहेण डिम्भलीलाए वाहीअमाणं वालमिइन्दअं । (भवतु । न मामयं गणयति । कोऽत्र ऋषिकुमाराणाम् । भद्रमुख एहि तावत् । मोचयानेन दुर्मोकहस्तग्रहेण डिम्भलीलया वाध्यमानं वालमृगेन्द्रम् ।)

राजा—[उपगम्य । सस्मितम्] अयि भो महर्षिपुत्र ।

एवमाश्रमविरुद्धवृत्तिना संयमः किमिति जन्मतस्त्वया ।
सत्त्वसंश्रयसुखोऽपि दूष्यते कृष्णसर्पशिशुनेव चन्दनः ॥ १८ ॥

तापसि—भद्दमुह ण क्खु अअं इसिकुमारओ । (भद्रमुख न खल्वयमृषिकुमार ।)

राजा—आकारसदृशं चेष्टितमेवास्य कथयति । स्थानप्रत्ययात्तु वयमेवंतर्किण । [यथाऽभ्यर्थितमनुतिष्ठन्वालस्पर्शमुपलभ्य, आत्मगतम्]

अनेन कस्यापि कुलाङ्कुरेण स्पृष्टस्य गात्रेषु सुखं ममैवम् ।
कां निर्वृतिं चेतसि तस्य कुर्याद्यस्यायमङ्गात्कृतिनः प्ररूढः ॥ १९ ॥

तापसी—[उभौ निर्वर्ण्य] अच्छरिअं । अच्छरिअं । (आश्चर्यम् । आश्चर्यम् ।)

राजा—आर्ये किमिव ।

तापसी—इमस्स बालअस्स दे वि संवादिणी आकिदी त्ति विम्हाविदम्हि। अपरिइदस्स वि दे अप्पडिलोमो संवुत्तो त्ति। (अस्य बालकस्य तेऽपि संवादिन्याकृतिरिति विस्मापिताऽस्मि। अपरिचितस्यापि तेऽप्रतिलोमः संवृत्त इति।)

राजा—[बालकमुपलालयन्] न चेन्मुनिकुमारोऽयमथ कोऽस्य व्यपदेशः।

तापसी—पुरुवंसो। (पुरुवंशः।)

राजा—[आत्मगतम्] कथमेकान्वयो मम। अतः खलु मदनुकारिणमेनमत्रभवती मन्यते। अस्त्येतत्पौरवाणामन्त्यं कुलव्रतम्।

भवनेषु रसाधिकेषु पूर्वं क्षितिरक्षार्थमुशन्ति ये निवासम्।
नियतैकपतिव्रतानि पश्चात्तरुमूलानि गृहीभवन्ति तेषाम् ॥२०॥

[प्रकाशम्] न पुनरात्मगत्या मानुषाणामेष विषयः।

तापसी—जह भद्दमुहो भणादि। अच्छरासंबन्धेण इमस्स जणणी एत्थ देवगुरुणो तवोवणे पसूदा। (यथा भद्रमुखो भणति। अप्सरःसंबन्धेनास्य जनन्यत्र देवगुरोस्तपोवने प्रसूता।)

राजा—[अपवार्य] हन्त द्वितीयमिदमाशाजननम्। [प्रकाशम्] अथ सा तत्रभवती किमाख्यस्य राजर्षेः पत्नी।

तापसी—को तस्स धम्मदारपरिच्चाइणो णाम संकीत्तिदुं चिन्तिस्सदि। (कस्तस्य धर्मदारपरित्यागिनो नाम संकीर्तयितुं चिन्तयिष्यति।)

राजा—[स्वगतम्] इयं खलु कथा मामेव लक्ष्यीकरोति। यदि तावदस्य शिशोर्मातरं नामतः पृच्छामि। अथवाऽनार्यः परदारव्यवहारः।

[प्रविश्य मृण्मयूरहस्ता]

तापसी—सव्वदमण सउन्दलावण्णं पेक्ख। (सर्वदमन शकुन्तलावण्यं प्रेक्षस्व)।

बालः—[सदृष्टिक्षेपम्] कहिं वा मे अज्जू। (कुत्र वा मम माता।)

उभे—णामसारिस्सेण वञ्चिदो माउवच्छलो। (नामसादृश्येन वञ्चितो मातृवत्सलः।)

द्वितीया—वच्छ इमस्स मित्तिआमोरअस्स रम्मत्तणं देक्खत्ति भणिदो सि। (वत्स अस्य मृत्तिकामयूरस्य रम्यत्वं पश्येति भणितोऽसि।)

राजा—[आत्मगतम्] किं वा शकुन्तलेत्यस्य मातुराख्या। सन्ति पुनर्नामधेयसादृश्यानि। अपि नाम मृगतृष्णिकेव नाममात्रप्रस्तावो मे विषादाय कल्पते।

बाल.—अज्जुए। रोअदि मे एसो भद्दमोरओ। (मातः रोचते म एष भद्रमयूरः।) [इति क्रीडनकमादत्ते।]

प्रथमा—[विलोक्य सोद्वेगम्] अम्हहे रक्खाकरण्डअं से मणिबन्धे ण दीसदि। (अहो रक्षाकरण्डकमस्य मणिबन्धे न दृश्यते।)

राजा—अलमलमावेगेन। नन्विदमस्य सिंहशावविमर्दात्परिभ्रष्टम्। [इत्यादातुमिच्छति।]

उभे—मा क्खु एदं अवलम्बिअ। कहं गहीदं णेण। (मा खल्विदमवलम्ब्य। कथम् गृहीतमनेन।) [इति विस्मयादुरोनिहितहस्ते परस्परमवलोकयत।]

राजा—किमर्थं प्रतिषिद्धाः स्मः।

प्रथमा—सुणादु महाराओ। एसा अवराजिदा णाम ओसही इमस्स जातकम्मसमए भअवदा मारीएण दिण्णा। एदं किल मादापिदरो अप्पाणं च वज्जिअ अवरो भूमिपडिदं ण गेण्हादि। (शृणोतु महाराजः। एषाऽपराजिता नामौषधिरस्य जातकर्मसमये भगवता मारीचेन दत्ता। एता किल मातापितरावात्मानं च वर्जयित्वाऽपरो भूमिपतिता न गृह्णाति।)

राजा—अथ गृह्णाति।

प्रथमा—तदो तं सप्पो भविअ दंसइ। (ततस्त सर्पो भूत्वा दशति।)

राजा—भवतीभ्यां कदाचिदस्याः प्रत्यक्षीकृता विक्रिया।

उभे—अणेअसो। (अनेकशः।)

राजा—[सहर्षम्। आत्मगतम्] कथमिव संपूर्णमपि मे मनोरथं नाभिनन्दामि। [इति बालं परिष्वजते।]

द्वितीया—सुव्वदे एहि। इमं वुत्तन्तं णिअमव्वावुडाए सउन्दलाए णिवेदम्ह। (सुव्रते एहि। इमं वृत्तान्तं नियमव्यापृतायै शकुन्तलायै निवेदयाव।)

[इति निष्क्रान्ते]

बाल.—मुञ्च मं । जाव अज्जुए सआसं गमिस्सं । (मुञ्च माम् यावन्मातुः सकाशं गमिष्यामि ।)

राजा—पुत्रक मया सहैव मातरमभिनन्दिष्यसि ।

बाल.—मम क्खु तादो दुस्सन्दो । ण तुमं । (मम खलु तातो दुष्यन्तः न त्वम् ।)

राजा—[सस्मितम्] एष विवाद एव प्रत्याययति ।

[ततः प्रविशत्येकवेणीधरा शकुन्तला]

शकुन्तला—विआरकाले वि पकिदित्थं सव्वदमणस्स ओसहिं सुणिअ ण मे आसा आसि अत्तणो भाअहेएसु । अहवा जह साणुमदीए आचक्खिदं तह संभावीअदि एदं । (विकारकालेऽपि प्रकृतिस्था सर्वदमनस्यौषधिं श्रुत्वा न म आशाऽऽसीदात्मनो भागधेयेषु । अथवा यथा सानुमत्याऽऽख्यातं तथा संभाव्यत एतत् ।)

राजा—[शकुन्तलां विलोक्य] अये सेयमत्रभवती शकुन्तला । यैषा—

वसनेपरिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः ।
अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला मम दीर्घं विरहव्रतं बिभर्ति ॥२१॥

शकुन्तला—[पश्चात्तापविवर्णं राजानं दृष्ट्वा] ण क्खु अज्जउत्तो विअ । तदो को एसो दाणिं किदरक्खामङ्गलं दारअं मे गत्तसंसग्गेण दूसेदि । (न खल्वार्यपुत्र इव । ततः क एष इदानीं कृतरक्षामङ्गलं दारकं मे गात्रसंसर्गेण दूषयति ।)

बाल.—[मातरमुपेत्य] अज्जुए एसो कोवि पुरिसो मं पुत्त त्ति आलिङ्गदि । (मातः एष कोऽपि पुरुषो मां पुत्र इत्यालिङ्गति ।)

राजा—प्रिये क्रौर्यमपि मे त्वयि प्रयुक्तमनुकूलपरिणामं संवृत्तं यदहमिदानीं त्वयाऽप्रत्यभिज्ञातमात्मानं पश्यामि ।

शकुन्तला—[आत्मगतम्] हिअअ समस्सस समस्सस । परिच्चत्तमच्छरेण अणुअम्पिअ म्हि देव्वेण । अज्जउत्तो क्खु एसो । (हृदय समाश्वसिहि समाश्वसिहि । परित्यक्तमत्सरेणानुकम्पिताऽस्मि दैवेन । आर्यपुत्रः खल्वेषः ।)

राजा—प्रिये ।

स्मृतिभिन्नमोहतमसो दिष्ट्या प्रमुखे स्थिताऽसि मे सुमुखि ।
उपरागान्ते शशिनः समुपगता रोहिणी योगम् ॥२२॥

शकुन्तला—जेदु जेदु अज्जउत्तो...। (जयतु जयत्वार्यपुत्र....) [इत्यर्धोक्ते बाष्पकण्ठी विरमति ।]

राजा—सुन्दरि ।

बाष्पेण प्रतिषिद्धेऽपि जयशब्दे जितं मया ।
यत्ते दृष्टमसंस्कारपाटलोष्ठपुटं मुखम् ॥२३॥

बाल —अज्जुए को एसो । (मातः क एष ।)

शकुन्तला—वच्छ दे भाअहेआइँ पुच्छेहि । (वत्स ते भागधेयानि पृच्छ ।)

राजा—[शकुन्तलायाः पादयोः प्रणिपत्य]—

सुतनु हृदयात्प्रत्यादेशव्यलीकमपैतु ते
किमपि मनसः संमोहो मे तदा बलवानभूत् ।
प्रबलतमसामेवंप्रायाः शुभेषु हि वृत्तयः
स्रजमपि शिरस्यन्धः क्षिप्तां धुनोत्यहिशङ्कया ॥२४॥

शकुन्तला—उट्ठेदु अज्जउत्तो । णूणं मे सुअरिअप्पडिबन्धअं पुराकिदं तेसु दिअहेसु परिणाममुहं आसि जेण साणुक्कोसो वि अज्जउत्तो मइ विरसो संवुत्तो । (उत्तिष्ठत्वार्यपुत्र । नूनं मे सुचरितप्रतिबन्धकं पुराकृतं तेषु दिवसेषु परिणाममुखमासीद्येन सानुक्रोशोऽप्यार्यपुत्रो मयि विरसः संवृत्तः ।)

[राजोत्तिष्ठति ।]

शकुन्तला—अह कहं अज्जउत्तेण सुमरिदो दुक्खभाई अअं जणो । (अथ कथमार्यपुत्रेण स्मृतो दुःखभाग्ययं जनः ।)

राजा—उद्धृतविषादशल्यः कथयिष्यामि ।

मोहान्मया सुतनु पूर्वमुपेक्षितस्ते
यो बाष्पबिन्दुरधरं परिबाधमानः ।
तं तावदाकुटिलपक्ष्मविलग्नमद्य
बाष्पं प्रमृज्य विगतानुशयो भवेयम् ॥२५॥

[इति यथोक्तमनुतिष्ठति ।]

शकुन्तला—[नाममुद्रां दृष्ट्वा] अज्ज उत्त एदं ते अंगुलीअअं । (आर्य पुत्र इदं तेऽङ्गुलीयकम् ।)

राजा—अस्मादंगुलीयोपलम्भात्खलु स्मृतिरुपलब्धा ।

शकुन्तला—विसमं किदं णेण जं तदा अज्जउत्तस्स पच्चअकाले दुल्लहं आसि । (विषमं कृतमनेन यत्तदाऽऽर्यपुत्रस्य प्रत्ययकाले दुर्लभमासीत् ।)

राजा—तेन हि ऋतुसमवायचिह्नं प्रतिपद्यतां लता कुसुमम् ।

शकुन्तला—ण से विस्ससामि । अज्ज उत्तो एव्व णं धारेदु । (नास्य विश्वसिमि । आर्यपुत्र एवैतद्धारयतु ।)

[ततः प्रविशति मातलि ।]

मातलि—दिष्ट्या धर्मपत्नीसमागमेन पुत्रमुखदर्शनेन चायुष्मान्वर्धते ।

राजा—अभूत्संपादितस्वादुफलो मे मनोरथः । मातले न खलु विदितोऽयमाखण्डलेन वृत्तान्तः स्यात् ।

मातलि—[सस्मितम्] किमीश्वराणां परोक्षम् । एत्वायुष्मान् भगवान्मारीचस्ते दर्शनं वितरति ।

राजा—शकुन्तले अवलम्ब्यतां पुत्रः । त्वां पुरस्कृत्य भगवन्तं द्रष्टुमिच्छामि ।

शकुन्तला—हिरिआमि अज्जउत्तेण सह गुरुसमीवं गन्तुं । (जिह्रेम्यार्यपुत्रेण सह गुरुसमीपं गन्तुम् ।

राजा—अप्याचरितव्यमभ्युदयकालेषु । एह्येहि ।

[सर्वे परिक्रामन्ति ।]

[ततः प्रविशत्यदित्या सार्धमासनस्थो मारीचः ।]

मारीचः—[राजानमवलोक्य] दाक्षायणि ।

पुत्रस्य ते रणशिरस्ययमग्रयायी
दुष्यन्त इत्यभिहितो भुवनस्य भर्ता ।
चापेन यस्य विनिवर्तितकर्म जातं
तत्कोटिमत्कुलिशमाभरणं मघोनः ॥ २६ ॥

अदिति—संभावणीआणुभावा से आकिदी। (संभावनीयानुभावाऽस्याकृतिः।)

मातलि—आयुष्मन् एतौ पुत्रप्रीतिपिशुनेन चक्षुषा दिवौकसां पितरावायुष्मन्तमवलोकयतः। तावुपसर्प।

राजा—मातले एतौ—

प्राहुर्द्वादशधा स्थितस्य मुनयो यत्तेजसः कारणं
भर्तारं भुवनत्रयस्य सुषुवे यद्यज्ञभागेश्वरम्।
यस्मिन्नात्मभुवः परोऽपि पुरुषश्चक्रे भवायास्पदं
द्वन्द्वं दक्षमरीचिसंभवमिदं तत्स्रष्टुरेकान्तरम् ॥२७॥

मातलि—अथकिम्।

राजा—[उपगम्य] उभाभ्यामपि वासवनियोज्यो दुष्यन्तः प्रणमति।

मारीच—वत्स चिरंजीव। पृथिवीं पालय।

अदितिः—वच्छ अप्पडिरहो होहि। (वत्स अप्रतिरथो भव।)

शकुन्तला—दारअसहिदा वो पादवन्दणं करेमि। (दारकसहिता वां पादवन्दनं करोमि।)

मारीच—वत्से।

आखण्डलसमो भर्ता जयन्तप्रतिमः सुतः।
आशीरन्या न ते योग्या पौलोमीसदृशी भव ॥२८॥

अदिति—जादे भत्तुणो अभिमदा होहि। अवस्सं दीहाऊ वच्छओ उहअकुलणन्दणो होदु। उवविसह। (जाते भर्तुरभिमता भव। अवश्यं दीर्घायुर्वत्सक उभयकुलनन्दनो भवतु। उपविशत।)

[सर्वे प्रजापतिमभित उपविशन्ति।]

मारीच—[एकैकं निर्दिशन्]—

दिष्ट्या शकुन्तला साध्वी सदपत्यमिदं भवान्।
श्रद्धा वित्तं विधिश्चेति त्रितयं तत्समागतम् ॥२९॥

राजा—भगवन्। प्रागभिप्रेतसिद्धिः। पश्चाद्दर्शनम्। अतोऽपूर्वः खलु वोऽनुग्रहः। कुतः।

उदेति पूर्वं कुसुमं ततः फलं घनोदयः प्राक्तदनन्तरं पयः ।
निमित्तनैमित्तिकयोरयं क्रमस्तव प्रसादस्य पुरस्तु संपदः ॥३०॥

मातलिः—एवं विधातारः प्रसीदन्ति ।

राजा—भगवन् इमामाज्ञाकरीं वो गान्धर्वेण विवाहविधिनोपयम्य कस्यचित्कालस्य बन्धुभिरानीतां स्मृतिशैथिल्यात्प्रत्यादिशन्नपराद्धोऽस्मि तत्रभवतो युष्मत्सगोत्रस्य कण्वस्य । पश्चादङ्गुलीयकदर्शनादूढपूर्वां तद्दुहितरमवगतोऽहम् । तच्चित्रमिव मे प्रतिभाति ।

यथा गजो नेति समक्षरूपे तस्मिन्नपक्रामति संशयः स्यात् ।
पदानि दृष्ट्वा तु भवेत्प्रतीतिस्तथाविधो मे मनसो विकारः ॥३१॥

मारीचः—वत्स अलमात्मापराधशङ्कया । संमोहोऽपि त्वय्युपपन्नः । श्रूयताम् ।

राजा—अवहितोऽस्मि ।

मारीचः—यदैवाप्सरस्तीर्थावतरणात्प्रत्यक्षवैक्लव्यां शकुन्तलामादाय मेनका दाक्षायणीमुपगता तदैव ध्यानादवगतोऽस्मि दुर्वाससः शापादियं तपस्विनी सहधर्मचारिणी त्वया प्रत्यादिष्टा नान्यथेति । स चायमङ्गुलीयकदर्शनावसानः ।

राजा—[सोच्छ्वासम्] एष वचनीयान्मुक्तोऽस्मि ।

शकुन्तला—[स्वगतम्] दिट्ठिआ अकारणपच्चादेसी ण अज्जउत्तो । ण हु सत्तं अत्ताणं सुमरेमि अहवा पत्तो मए स हि सावो विरहसुण्णहिअआए ण विदिदो । अदो सहीहिं संदिट्ठम्हि भत्तुणो अंगुलीअअं दंसइदव्वं त्ति । (दिष्ट्याऽकारणप्रत्यादेशी नार्यपुत्र । न खलु शप्तमात्मानं स्मरामि । अथवा प्राप्तो मया स हि शापो विरहशून्यहृदयया न विदितः । अतः सखीभ्यां संदिष्टाऽस्मि भर्तुरङ्गुलीयकं दर्शयितव्यमिति ।)

मारीच—वत्से विदितार्थाऽसि । तदिदानीं सहधर्मचारिणं प्रति न त्वया मन्युः कार्यः । पश्य ।

शापादसि प्रतिहता स्मृतिरोधरूक्षे
भर्तर्यपेततमसि प्रभुता तवैव ।

छाया न मूर्च्छति मलोपहतप्रसादे
शुद्धे तु दर्पणतले सुलभावकाशा ॥२२॥

राजा—यथाऽऽह भगवान्।

मारीच —वत्स कच्चिदभिनन्दितस्त्वया विधिवदस्माभिरनुष्ठितजात-कर्मा पुत्र एष शाकुन्तलेय ।

राजा—भगवन् अत्र खलु मे वंशप्रतिष्ठा । [इति बालं हस्तेन गृह्णाति ।]

मारीच —तथा भाविनमेनं चक्रवर्तिनमवगच्छतु भवान् । पश्य,

रथेनानुद्धातस्तिमितगतिना तीर्णजलधिः
पुरा सप्तद्वीपां जयति वसुधामप्रतिरथः ।
इहायं सत्त्वानां प्रसभदमनात्सर्वदमनः
पुनर्यास्यत्याख्यां भरत इति लोकस्य भरणात् ॥२३॥

राजा—भगवता कृतसंस्कारे सर्वमस्मिन्वयमाशास्महे ।

अदिति —भअवं इमाए दुहिदुमणोरहसंपत्तीए कण्णो वि दाव सुद-वित्थारो करीअदु । दुहिदुवच्छला मेणआ इह एव्व उपचरन्ती चिट्ठदि । (भगवन् अनया दुहितृमनोरथसपत्त्या कण्वोऽपि तावच्छ्रुतविस्तारः क्रियताम् । दुहितृवत्सला मेनकेहैवोपचरन्ती तिष्ठति ।)

शकुन्तला—[आत्मगतम्] मणारहो क्खु मे भणिदो भअवदीए । (मनोरथः खलु मे भणितो भगवत्या ।)

मारीच —तपःप्रभावात्प्रत्यक्षं सर्वमेव तत्रभवतः ।

राजा—अतः खलु मम नातिक्रुद्धो मुनिः ।

मारीच —तथाप्यसौ प्रियमस्माभिः प्रष्टव्यः । कः कोऽत्र भोः ।

[प्रविश्य]

शिष्य —भगवन् अयमस्मि ।

मारीच —गालव इदानीमेव विहायसा गत्वा मम वचनात्तत्रभवते कण्वाय प्रियमावेदय यथा पुत्रवती शकुन्तला तच्छापनिवृत्तौ स्मृति-मता दुष्यन्तेन प्रतिगृहीतेति ।

शिष्य —यदाज्ञापयति भगवान् । [इति निष्क्रान्तः ।]

मारीच —वत्स त्वमपि स्वापत्यदारसहितः सख्युराखण्डलस्य रथमारुह्य ते राजधानीं प्रतिष्ठस्व ।

राजा—यदाज्ञापयति भगवान् ।

मारीचः—अपि च ।

भवतु तव विडौजाः प्राज्यवृष्टिः प्रजासु
त्वमपि विततयज्ञो वज्रिणं भावयेथाः ।
गणशतपरिवर्तैरेवमन्योन्यकृत्यै-
र्नियतमुभयलोकानुग्रहश्लाघनीयैः ॥ ३४ ॥

राजा—भगवन् यथाशक्ति श्रेयसे यतिष्ये ।

मारीचः—वत्स किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि ।

राजा—अतः परमपि प्रियमस्ति । यदिह भगवान्प्रियं कर्तुमिच्छति तर्हीदमस्तु । [भरतवाक्यम्] ।

प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः
सरस्वती श्रुतिमहती महीयताम् ।
ममापि च क्षपयतु नीललोहितः
पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः ॥ ३५ ॥

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।]

॥ इति सप्तमोऽङ्कः ॥

॥ समाप्तमिदमभिज्ञानशाकुन्तलं नाम नाटकम् ॥



विक्रमोर्वशीयम्

पात्र-परिचयः

पुरुषाः

सूत्रधारः—नाटकस्य प्रबन्धकर्त्ता ।

पारिपार्श्वकः—सूत्रधारस्य सहचर ।

पुरूरवस्—प्रतिष्ठानदेशस्य राजा, नाटकस्य नायकः ।

माणवक —विदूषकः ।

आयुस्—पुरूरवसः पुत्रः ।

नारदः—देवर्षि. ।

चित्ररथः—गन्धर्वेश्वरः ।

कञ्चुकी—राजपरिचारक. ।

पल्लवः गालवश्च—भरतमुने. शिष्यौ ।

स्त्रियः

उर्वशी—एका अप्सरा । नाटकस्य नायिका ।

चित्रलेखा—द्वितीया अप्सरा । उर्वश्याः सखी ।

सहजन्या , रम्भा, मेनका—अप्सरस ।

देवी—राज्ञी । काशिराजस्य कन्या ।

निपुणिका—राज्ञ्या परिचारिका ।

तापसी—तपस्विनी ।

परिजनः—राज्ञ्या परिचारिका ।

यवनी—राज्ञ. परिचारिका ।



|| श्रीः ||

विक्रमोर्वशीयम्

प्रथमोऽङ्कः

वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी
यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थाक्षरः ।
अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते
स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायास्तु वः ॥१॥

[नान्द्यन्ते]

सूत्रधार —अलमतिविस्तरेण । [नेपथ्याभिमुखमवलोक्य ।] मारिष, इतस्तावत् ।

[प्रविश्य]

पारिपार्श्वक —भाव । अयमस्मि ।

सूत्रधार —मारिष । परिषदेषा पूर्वेषां कवीनां दृष्टरसप्रबन्धा । अहमस्यां कालिदासग्रथितवस्तुना नवेन त्रोटकेनोपस्थास्ये । तदुच्यतां पात्रवर्गः स्वेषु स्वेषु पाठेष्ववहितैर्भवितव्यमिति ।

पारिपार्श्वक —यथाज्ञापयति भावः । [इति निष्क्रान्तः ।]

सूत्रधार —यावदिदानीमार्यविदग्धमिश्रान्विज्ञापयामि । [प्रणिपत्य]

प्रणयिषु वा दाक्षिण्यादथवा सद्वस्तुपुरुषबहुमानात् ।
शृणुत जना अवधानात्क्रियामिमां कालिदासस्य ॥२॥

[नेपथ्ये]

अज्जा परित्ताअध परित्ताअध। जो सुरपक्खवादी जस्स वा अम्बरअले गई अत्थि। (आर्याः परित्रायध्वं परित्रायध्वम्। यः सुरपक्षपाती यस्य वाम्बरतले गतिरस्ति।)

सूत्रधार —[कर्णं दत्वा] अये किं नु खलु मद्विज्ञापनानन्तरमार्तानां कुररीणामिवाकाशे शब्दः श्रूयते।

मत्तानां कुसुमरसेन षट्पदानां
शब्दोऽयं परभृतनाद एष धीरः।
आकाशे सुरगणसेविते समन्ता-
त्किं नार्यः कलमधुराक्षरं प्रगीताः॥ ३॥

[विचिन्त्य] भवतु। ज्ञातम्।

ऊरूद्भवा नरसखस्य मुनेः सुरस्त्री
कैलासनाथमनुसृत्य निवर्तमाना।
बन्दीकृता विबुधशत्रुभिरर्धमार्गे
क्रन्दत्यतः करुणमप्सरसां गणोऽयम्॥ ४॥

[इति निष्क्रान्तः]

॥ प्रस्तावना॥

[ततः प्रविशन्त्यप्सरसः।]

अप्सरसः —अज्जा परित्ताअध परित्ताअध। जो सुरपक्खवादी जस्स वा अम्बरअले गई अत्थि। (आर्याः परित्रायध्वं परित्रायध्वम्। यः सुरपक्षपाती यस्य वाम्बरतले गतिरस्ति।)

[ततः प्रविशत्यपटीक्षेपेण राजा पुरूरवा रथेन सूतश्च।]

राजा—अलमाक्रन्दितेन। सूर्योपस्थाननिवृत्तं पुरूरवसं मामेत्य कथ्यतां कुतो भवत्यः परित्रातव्या इति।

रम्भा—असुरावलेपादो। (असुरावलेपात्।)

राजा—किं पुनरसुरावलेपेन भवतीनामपराद्धम्।

रम्भा—सुणादु महाराओ। जा तवोविसेससङ्किदस्स सुउमारं पहरणं महेन्दस्स पच्चादेसो रूवगव्विदाए सिरिगोरिए अलंकारो सग्ग-

स्स, सा णो पिअसही उव्वसी कुवेरभवणादो णिवत्तमाणा केणावि दाणवेण चित्तलेहादुदीआ अद्धपथ ज्जेव वन्दिग्गाहं गिहीदा। (शृणोतु महाराजः। या. तपोविशेषशङ्कितस्य सुकुमारं प्रहरणं महेन्द्रस्य प्रत्यादेशो रूपगर्वितायाः श्रीगौर्याः अलंकारः सर्गस्य सा नः प्रियसख्युर्वशी कुबेरभवनान्नि वर्तमाना केनापि दानवेन चित्रलेखा द्वितीया अर्धपथ एव वन्दिग्राहं गृहीता।)

राजा—अपि ज्ञायते कतमेन दिग्विभागेन गतः स जाल्मः।

अप्सरस—ईसाणीए दिसाए। (ऐशान्या दिशा।)

राजा—तेन हि मुच्यतां विषादः। यतिष्ये वः सखीप्रत्यानयनाय।

अप्सरसः—सरिसं पदं सोमवंससंभवस्स। (सदृशमेतत्सोमवंशसंभवस्य।)

राजा—क्व पुनर्मां भवत्यः प्रतिपालयिष्यन्ति।

अप्सरस—एदस्सिं हेमकूडसिहरे। (एतस्मिन्हेमकूटशिखरे।)

राजा—सूत ऐशानीं दिशं प्रति चोदयाश्वानाशुगमनाय।

सूत—यदाज्ञापयत्यायुष्मान्। (इति यथोक्तं करोति।)

राजा—[रथवेगं रूपयित्वा।] साधु साधु। अनेन रथवेगेन पूर्वप्रस्थितं वैनतेयमप्यासादयेयम्। किं पुनस्तमपकारिणं मघोनः। मम—

अग्रे यान्ति रथस्य रेणुपदवीं चूर्णीभवन्तो घना-
श्चक्रभ्रान्तिररान्तरेषु वितनोत्यन्यामिवारावलीम्।
चित्रारम्भविनिश्चलं हरिशिरस्यायामवच्चामरं
यन्मध्ये मनवस्थितो ध्वजपटः प्रान्ते च वेगानिलात् ॥५॥

[निष्क्रान्तो रथेन राजा सूतश्च।]

सहजन्या—हला गदो राएसी। ता अम्हे वि जधासंदिट्ठं पदेसं गच्छम्ह। (हला गतो राजर्षिः। तद्वयमपि यथासदिष्ट प्रदेशं गच्छाम।)

मेनका—सहि एव्वं करेम्ह। (सखि एव कुर्मः।)

[इति हेमकूटशिखरे नाट्येनाधिरोहन्ति।]

रम्भा—अवि णाम सो राएसी उद्धरदि णो हिअअसल्लम्। (अपि नाम स राजर्षिरुद्धरति नो हृदयशल्यम्।)

मेनका—सहि मा दे संसओ भोदु। (सखि मा ते सशयो भवतु।)

रम्भा—णं दुज्जआ दाणवा। (ननु दुर्जया दानवा।)

मेनका—उवट्ठिदसंपराओ महिन्दो वि मज्झमलोआदो सवहुमाणं आणाविअ तं एव्व विवुधविजआअ सेणामुहे णिओजेदि। (उपस्थितसपरायो महेन्द्रोऽपि मध्यमलोकात्सबहुमानमानाय्य तमेव विबुधविजयाय सेनामुखे नियुङ्क्ते ।)

रम्भा—सव्वहा विअई भोदु । (सर्वथा विजयी भवतु ।)

मेनका—(क्षणमात्रं स्थित्वा ।) हला समस्ससध समस्ससध । एस उल्लसिदहरिणकेदणो तस्स राएसिणो सोमदत्तो रहो दीसदि । ण एसो अकिदत्थो पडिणिउत्तिस्सदि त्ति तक्केमि । (सख्यः समाश्वसित समाश्वसित । एष उल्लसितहरिणकेतनस्तस्य राजर्षेः सोमदत्तो रथो दृश्यते । नैषोऽकृतार्थः प्रतिनिवर्तिष्यत इति तर्कयामि ।)

[निमित्तं सूचयित्वावलोकन्त्यः स्थिताः ।]

[ततः प्रविशति रथारूढो राजा सूतश्च । भयनिमीलिताक्षी चित्रलेखा दक्षिणहस्तावलम्बिता उर्वशी च ।]

चित्रलेखा—सहि समस्सस समस्सस । (सखि समाश्वसिहि समाश्वसिहि ।)

राजा—सुन्दरि समाश्वसिहि ।

गतं भयं भीरु सुरारिसंभवं त्रिलोकरक्षी महिमा हि वज्रिणः ।
तदेतदुन्मीलय चक्षुरायतं निशावसाने नलिनीव पङ्कजम् ॥६॥

चित्रलेखा—अम्महे कहं उस्ससिदमेत्तसंभाविदजीविदा अज्ज वि एसा सण्णं ण पडिवज्जदि । (अहो कथमुच्छ्वसितमात्रसंभावितजीविता अद्याप्येषा संज्ञां न प्रतिपद्यते ।)

राजा—बलवदत्र भवती परित्रस्ता । तथाहि ।

मन्दारकुसुमदाम्ना गुरुरस्याः सूच्यते हृदयकम्पः ।
मुहुरुच्छ्वसता मध्ये परिणाहवतोः पयोधरयोः ॥ ७ ॥

चित्रलेखा—[सकरुणम्] हला उव्वसि पज्जवत्थावेहि अत्ताणम् । अणच्छरा विअ पडिभासि । (सखि उर्वशि पर्यवस्थापयात्मानम् । अनप्सरेव प्रतिभासि ।)

राजा—

मुञ्चति न तावदस्या भयकम्पः कुसुमकोमलं हृदयम्।
सिचयान्तेन कथंचिन्स्तनमध्योच्छ्वासिना कथितः॥ ८॥

(उर्वशी प्रत्यागच्छति।)

राजा—[सहर्षम्।] चित्रलेखे दिष्ट्या वर्धसे। प्रकृतिमापन्ना ते प्रियसखी। पश्य।

आविर्भूते शशिनि तमसा मुच्यमानेव रात्रि-
नैंशस्यार्चिर्हुतभुज इव च्छिन्नभूयिष्ठधूमा।
मोहेनान्तर्वरतनुरियं लक्ष्यते मुक्तकल्पा
गङ्गा रोधःपतनकलुषा गच्छतीव प्रसादम्॥९॥

चित्रलेखा—सहि उव्वसि वीसद्धा भव। आवण्णाणुकम्पिणा महाराएण पडिहदा क्खु दे तिदसपरिपन्थिणो हदासा दाणवा। (सखि उर्वशि विस्रब्धा भव। आपन्नानुकम्पिना महाराजेन प्रतिहता खलु ते त्रिदशपरिपन्थिनो हताशा दानवाः।)

उर्वशी—[चक्षुषी उन्मील्य।] किं पहावदंसिणा महिन्देण अब्भुववण्णम्हि। (किं प्रभावदर्शिना महेन्द्रेणाभ्युपपन्नास्मि।)

चित्रलेखा—ण महिन्देण। महिन्दसरिसाणुभावेण राएसिणा पुरूरवसेण। (न महेन्द्रेण। महेन्द्रसदृशानुभावेन राजर्षिणा पुरूरवसा।)

उर्वशी—[राजानमवलोक्य। आत्मगतम्।] उवकिदं क्खु दाणवेन्दसंरम्भेण। (उपकृतं खलु दानवेन्द्रसंरम्भेण।)

राजा—[उर्वशीं विलोक्य। आत्मगतम्।] स्थाने खलु नारायणमृषिं विलोभयन्त्यस्तदूरुसंभवामिमां विलोक्य व्रीडिताः सर्वा अप्सरस इति। अथवा नेयं तपस्विनः सृष्टिरित्यवैमि। कुतः।

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः॥ १०॥

उर्वशी—हला चित्तलेहे सहीअणो कहिं क्खु भवे। (सखि चित्रलेखे सखीजनः कुत्र खलु भवेत्।)

चित्रलेखा—सहि अभअप्पदाई महाराओ जाणादि। (सखि अभयप्रदायी महाराजो जानाति।)

राजा—[उर्वशीं विलोक्य।] महति विषादे वर्तते सखीजनः। पश्यतु भवती।

यदृच्छया त्वं सकृदप्यवन्ध्ययोः
पथि स्थिता सुंदरि यस्य नेत्रयोः।
त्वया विना सोऽपि समुत्सुको भवे-
त्सखीजनस्ते किमुतार्द्रसौहृदः॥ ११॥

उर्वशी—[आत्मगतम्।] अमिअं क्खु दे वअणम्। अहवा चन्दादो अमिअं त्ति किं अच्चरिअम्। [प्रकाशम्।] अदो एव्व मे पेक्खिदुं तुवरदि हिअअम्। (अमृतं खलु ते वचनम्। अथवा चन्द्रादमृतमिति किमाश्चर्यम्। अत एव मे प्रेक्षितुं त्वरते हृदयम्।)

राजा—[हस्तेन दर्शयन्।]

एताः सुतनु मुखं ते सख्यः पश्यन्ति हेमकूटगताः।
उत्सुकनयना लोकाश्चन्द्रमिवोपप्लवान्मुक्तम्॥ १२॥

[उर्वशी साभिलाषं पश्यति।]

चित्रलेखा—हला किं पेक्खसि। (सखि किं प्रेक्षसे।)

उर्वशी—णं समदुक्खगदो पिवीअदि लोअणेहिं। (ननु समदुःखगतः पीयते लोचनाभ्याम्।)

चित्रलेखा—[सस्मितम्] अइ को। (अयि कः।)

उर्वशी—णं पणइअणो। (ननु प्रणयिजन।)

रम्भा—[सहर्षमवलोक्य] हला चित्तलेहादुदीअं पिअसहीं उव्वसीं गेण्हिअ विसाहासहिदो विअ भअवं सोमो समुवट्ठिदो राएसी। (सखि चित्रलेखाद्वितीयां प्रियसखीमुर्वशीं गृहीत्वा विशाखासहित इव भगवान्सोमः समुपस्थितो राजर्षिः।)

मेनका—[निर्वर्ण्य] हला दुवे वि णो एत्थ पिआ उवणदा। इअं पच्चाणीदा पिअसही। अअं च अपरिक्खदसरीरो राएसी दीसदि।

(सखि द्वे अपि नोऽत्र प्रिये उपनते । इयं प्रत्यानीता प्रियसखी। अयं चापरिक्षत-शरीरो राजर्षिः ।)

सहजन्या—सहि जुत्तं भणासि दुज्जओ दाणओ त्ति । (सखि युक्तं भणसि दुर्जयो दानव इति ।)

राजा—सूत इदं तच्छैलशिखरम् । अवतारय रथम् ।

सूतः—यदाज्ञापयत्यायुष्मान् । [इति तथा करोति ।]

[उर्वशी रथावतारक्षोभं नाटयन्ती सत्रासं राजानमवलम्बते ।]

राजा—[स्वगतम् ।] हन्त सफलो मे विषयावतार ।

यदिदं रथसंक्षोभादङ्गेनाङ्गं ममायतेक्षणया ।
स्पृष्टं सरोमकण्टकमङ्कुरितं मनसिजेनेव ॥१३॥

उर्वशी—हला किं वि परदो ओसर । (सखि किमपि परतोऽपसर ।)

चित्रलेखा—णाहं सक्केमि । (नाह शक्नोमि ।)

रम्भा—एत्थ पिअआरिणं संभावेम्ह रापसिम् । (अत्र प्रियकारिणं सभावयामो राजर्षिम् ।)

[सर्वा उपसर्पन्ति ।]

राजा—सूत उपश्लेषय रथम् ।

यावत्पुनरियं सुभ्रूरुत्सुकाभिः समुत्सुका ।
सखीभिर्याति संपर्कं लताभिः श्रीरिवार्तवी ॥१४॥

[सूतो रथं स्थापयति ।]

अप्सरस—दिट्ठिआ महाराओ विजएण वड्ढदि । (दिष्ट्या महाराजो विजयेन वर्धते ।)

राजा—भवत्यश्च सखीसमागमेन ।

उर्वशी—[चित्रलेखादत्तहस्तावलम्बा रथादवतीर्य ।] हला अधिअं परिस्सजह । ण क्खु मे आसी आसासो जधा पुणो वि सहीअणं पेक्खिस्सं त्ति । (सख्य अधिकं परिष्वजथ । न खलु मे आसीदाश्वासो यथा पुनरपि सखीजन प्रेक्षिष्य इति ।)

[सख्य. परिष्वजन्ते ।]

मेनका—[साशसम् ।] सव्वहा कप्पसदं महाराओ पुहविं पालअन्तो होदु । (सर्वथा कल्पशत महाराजः पृथिवीं पालयन्भवन्तु ।)

सूत —आयुष्मन् पूर्वस्यां दिशि महता रथवेगेनोपदर्शितः शब्दः ।

अयं च गगनात्कोऽपि तप्तचामीकराङ्गदः ।
अधिरोहति शैलाग्रं तडित्वानिव तोयदः ॥ १५ ॥

अप्सरस —[पश्यन्त्य. ।] अम्मो चित्तरहो । (अहो चित्ररथ ।)

[तत- प्रविशति चित्ररथ ।]

चित्ररथ —[राजानं दृष्ट्वा सबहुमानम् ।] दिष्ट्या महेन्द्रोपकारपर्याप्तेन विक्रममहिम्ना वर्धते भवान् ।

राजा—अये गन्धर्वराजः । [रथादवतीर्य ।] स्वागतं प्रियसुहृदे ।

(परस्परं हस्तौ स्पृशतः ।)

चित्ररथ —वयस्य केशिना हृतामुर्वशीं नारदादुपश्रुत्य प्रत्याहरणार्थमस्याः शतक्रतुना गन्धर्वसेना समादिष्टा । ततो वयमन्तरा चारणेभ्यस्त्वदीयं जयादाहरणं श्रुत्वा त्वामिहस्थमुपागताः । स भवानिमां पुरस्कृत्य सहास्माभिर्मघवन्तं द्रष्टुमर्हति । महत्खलु तत्रभवतो मघोनः प्रियमनुष्ठितं भवता । पश्य ।

पुरा नारायणेनेयमतिसृष्टा मरुत्वते ।
दैत्यहस्तादपाच्छिद्य सुहृदा संप्रति त्वया ॥ १६ ॥

राजा—सखे मैवम् ।

ननु वज्रिण एव वीर्यमेतद्विजयन्ते द्विषतो यदस्य पक्ष्याः ।
वसुधाधरकंदराविसर्पी प्रतिशब्दो हि हरेर्हिनस्ति नागान् ॥१७॥

चित्ररथः—युक्तमेतत् । अनुत्सेकः खलु विक्रमालंकारः ।

राजा—सखे नायमवसरो मम शतक्रतुं द्रष्टुम् । अतस्त्वमेवात्रभवतीं प्रभोरन्तिकं प्रापय ।

चित्ररथ —यथा भवान्मन्यते । इत इतो भवत्य॰ ।

[सर्वा प्रस्थिता ।]

उर्वशी—[सनाभिरस्रम् ।] हला चित्तलेहे, उवआरिणं राएसिं ण सक्कणो मि आमन्तेदुम् । ता तुमं एव्व मे मुहं होहि । (सखि चित्रलेखे । उपकारिणं राजर्षिं न शक्नोम्यामन्त्रयितुम् । तदत्वमेव मे मुखं भव ।)

चित्रलेखा—[राजानमुपेत्य ।] महाराअ उव्वसी विण्णवेदि—महाराएण अब्भणुण्णादा इच्छामि पिअसहि विअ महाराअस्स किंत्ति सुरलोअं णेदुं । (महाराज उर्वशी विज्ञापयति—महाराजेनाभ्यनुज्ञातेच्छामि प्रिय सखीमिव महाराजस्य कीर्ति सुरलोक नेतुम् ।)

राजा—गम्यतां पुनर्दर्शनाय ।

[सर्वा. सगन्धर्वा आकाशोत्पतनं रूपयन्ति ।]

उर्वशी—[उत्पतनभङ्गं रूपयित्वा ।] अम्मो लदाविडवे एसा एआवली वैअअन्तिआ मे लग्गा । [सव्याजमुपसृत्य राजानं पश्यन्ती ।] सहि चित्तलेहे मोआवेहि दाव णं । (अहो लताविटप एषैकावली वैजयन्तिका मे लग्ना । सखि चित्रलेखे मोचय तावदेनाम् ।)

चित्रलेखा—[विलोक्य विहस्य च ।] आं दिढं क्खु लग्गा सा । असका मोआविदुं । (आम् दृढं खलु लग्ना सा । अशक्या मोचयितुम् ।)

उर्वशी—अलं पडिहासेन । मोआवेहि दाव णं । (अल परिहासेन । मोचय तावदेनाम् ।)

चित्रलेखा—आं दुम्मोआ विअ मे पडिहादि । तहा वि मोआकस्सं दाव । (आम् दुर्मोच्येव मे प्रतिभाति । तथापि मोचयिष्ये तावत् ।)

उर्वशी—[स्मित कृत्वा] पिअसहि सुमरेहि क्खु एदं अत्तणो वअणम् । (प्रियसखि स्मरस्व खल्वेतदात्मनो वचनम् ।)

राजा—[स्वगतम् ।]

प्रियमाचरितं लते त्वया मे गमनेऽस्याः क्षणविघ्नमाचरन्त्या ।
यदियं पुनरप्यपाङ्गनेत्रा परिवृत्तार्धमुखी मया हि दृष्टा ॥१८॥

[चित्रलेखा मोचयति । उर्वशी राजानमालोकयन्ती सनि श्वास सखीजनमुत्पतन्तं पश्यति ।]

सूत —आयुष्मन्

अदः सुरेन्द्रस्य कृतापराधान्प्रक्षिप्य दैत्यॉल्लवणाम्बुराशौ ।
वायव्यमस्त्रं शरधिं पुनस्ते महोरगः श्वभ्रमिव प्रविष्टम् ॥१९॥

राजा—तेन ह्युपश्लेषय रथम् । यावदारोहामि । [सूतस्तथा करोति । राजा नाट्येन रथमारोहति ।]

उर्वशी—[सस्पृहं राजानमवलोकयन्ती ।] अवि णाम पुणो वि उअ-आरिणं एदं पेक्खिस्सं । (अपि नाम पुनरप्युपकारिणमेतं प्रेक्षिष्ये ।)

[इति सगन्धर्वा सह सखीभिर्निष्क्रान्ता ।]

राजा—[उर्वशीवर्त्मोन्मुखः ।] अहो दुर्लभाभिलाषी मदनः ।

एषा मनो मे प्रसभं शरीरात्पितुः पदं मध्यममुत्पतन्ती ।
सुराङ्गना कर्षति खण्डिताग्रात्सूत्रं मृणालादिव राजहंसी ॥२०॥

[इति निष्क्रान्तौ ।]

॥ इति प्रथमोऽङ्कः ॥



द्वितीयोऽङ्कः

[ततः प्रविशति विदूषकः ।]

विदूषक—ही ही भोः णिमन्तणिओ परमण्णेण विअ राअरहस्सेण फुट्टमाणो ण सक्कणोमि जणाइण्णे अइण्णणेण अत्तणो जीहं धारिदुम् । ता जाव सो राआ धम्मासणगदो इदो आअच्छइ दाव इमस्सिं विरलजणसंवादे देवच्छन्दअप्पासादे आरुहिअ चिट्ठिस्सम् । [परिक्रम्योपविश्य पाणिभ्यां मुखं पिधाय स्थितः ।] ही ही भोः निमन्त्रितः परमान्नेनेव राजरहस्येन स्फुटन्न शक्नोमि जनाकीर्णेऽकीर्तनेनात्मनो जिह्वां धारयितुम् । तद्यावत्स राजा धर्मासनगत इव आयाति तावदेतस्मिन्विरलजनसंपाते देवच्छन्दकप्रासाद आरुह्य स्थास्ये ।)

[ततः प्रविशति चेटी]

चेटी—आणत्तम्हि देवीए कासिराअदुहिदाए जधा—हञ्जे णिउणिए जदो पहुदि भअवदो सुज्जस्स उअत्थाणं कदुअ पडिणिउत्तो महाराओ तदो पहुदि सुण्णाहिअओ विअ लक्खीअदि । ता तुमं वि दाव अज्जमाणवआदो जाणाहि से उक्कण्ठाकालणं त्ति । ता कहं सो बम्हबन्धु अदिसंधादव्वो । अहवा तणग्गलग्गं विअ अवस्साअसलिलं ण तस्सिं राअरहस्सं चिरं चिट्ठदि त्ति तक्केमि । ता जाव णं अण्णेसामि । [परिक्रम्यावलोक्य च ।] अम्मो आलेक्खवाणरो विअ किंपि मन्तअन्तो णिहुदो अज्जमाणअओ चिट्ठदि । ता जाव णं उवसप्पामि । [उपसृत्य ।] अज्ज वन्दामि । (आज्ञप्तास्मि देव्या काशिराजदुहित्रा यथा—

हन्जे निपुणिके यतः प्रभृति भगवतः सूर्यस्योपस्थानं कृत्वा प्रतिनिवृत्तो महाराजस्ततः प्रभृति शून्य हृदय इव लक्ष्यते। तत्त्वमपि तावदार्यमाणवकाज्जानीह्यस्योत्कण्ठाकारणमिति। तत्कथं स ब्रह्मबन्धुरतिसंधातव्यः। अथवा तृणाग्रलग्नमिवावश्यायसलिल न तस्मिन्राजरहस्यं चिर तिष्ठतीति तर्कयामि। तद्यावदेन मन्वेषयामि। अहो आलेख्यवानर इव किमपि मन्त्रयन्निभृत आर्यमाणवकस्तिष्ठति। तद्यावदेनमुपसर्पामि। आर्य वन्दे।)

विदूषक—सत्थि भोदीए। [आत्मगतम्] एदं दुट्ठचेडिअं पेक्खिअ तं राअरहस्सं हिअअं भिन्दिअ णिक्कमदि विअ। [किंचिन्मुखं संवृत्य। प्रकाशम्।] भोदि णिउणिए संगीदवावारं उज्झिअ कहिं पत्थिदासि। (स्वस्ति भवत्यै। एतां दुष्टचेटिकां प्रेक्ष्य तद्राजरहस्यं हृदयं भित्त्वा निष्क्रामतीव। भवति निपुणिके सगीतव्यापारमुज्झित्वा कुत्र प्रस्थितासि।)

चेटी—देवीए वअणेण अज्जं एव्व पेक्खिदुम्। (देव्या वचनेनार्यमेव प्रेक्षितुम्।)

विदूषक—किं तत्तभोदी आणवेदि। (किं तत्रभवत्याज्ञापयति।)

चेटी—देवी भणादि जधा—अज्जस्स मम उअरि अदक्खिण्णम्। ण मं अणुइदवेअणं दुक्खिदं अवलोअदि त्ति। (देवी भणति यथा—आर्यस्य ममोपरि अदाक्षिण्यम्। न मामनुचितवेदनां दुःखितामवलोकयतीति।)

विदूषक—णिउणिए किं वा पिअवअस्सेण तत्तभोदीए पडिऊलं किंवि समाचरिदम्। (निपुणिके किं वा प्रियवयस्येन तत्रभवत्याः प्रतिकूल किमपि समाचरितम्।)

चेटी—जं णिमित्तं उण भट्टा उक्कण्ठिदो ताए इत्थिआए णामेण भट्टिणा देवी आलविदा। (यन्निमित्त पुनर्भर्ता उत्कण्ठित तस्या स्त्रिया नाम्ना भर्त्रा देवी आलपिता।)

विदूषक—[स्वगतम्।] कहं सअं एव्व तत्तभोदा वअस्सेण रहस्सभेदो किदो। किं दाणिं अहं बम्हणो जीहं रक्खिदुं समत्थोम्हि। [प्रकाशम्।] किं तत्तभोदा उव्वसीणामधेएण आमन्तिदा। (कथं स्वयमेव तत्रभवता वयस्येन रहस्यभेद कृत। किमिदानीमहं ब्राह्मणो जिह्वां रक्षितुं समर्थोऽस्मि। किं तत्रभवता उर्वशीनामधेयेनामन्त्रिता।)

चेटी—अज्ज का सा उव्वसी। (आर्य का सा उर्वशी।)

विदूषकः—अत्थि उव्वसि त्ति अच्छरा। ताए दंसणेण उम्मादिदो ण केवलं तं आआसेदि मं वि बम्हणं असिदव्वविमुहं दिढं पीडेदि। (अस्त्युर्वशीत्यप्सराः। तस्या दर्शनेनोन्मादितो न केवलं तामायासयति मामपि ब्राह्मणमशितव्यविमुखं दृढं पीडयति।)

चेटी—[स्वगतम्।] उग्घाडिदो मए भेओ भट्टिणो रहस्सदुग्गस्स। ता गदुअ देवीए एदं णिवेदेमि। (उत्पाटितो मया भेदो भर्तू रहस्यदुर्गस्य। तद्गत्वा देव्यै एतन्निवेदयामि।) [इति प्रस्थिता।]

विदूषकः—णिउणिए विण्णावेहि मम वअणेण कासिराअदुहिदरम्—परिस्सन्तम्हि इमाए मिअतिण्हिआए वअस्सं णिअत्तावेदुम्। जई भोदीए मुहकमलं पेक्खिस्सदि तदो णिअत्तिस्सदि त्ति। (निपुणिके विज्ञापय मम वचनेन काशिराजदुहितरम्—परिश्रान्तोऽस्म्येतस्या मृगतृष्णिकाया वयस्यं निवर्तयितुम्। यदि भवत्या मुखकमलं प्रेक्षिष्यते ततो निवर्तिष्यत इति।)

चेटी—जं अज्जो आणवेदि। (यदार्य आज्ञापयति) [इति निष्क्रान्ता।]

[नेपथ्ये वैतालिकः।]

जयतु जयतु देव।

आ लोकान्तात्प्रतिहततमोवृत्तिरासां प्रजानां
तुल्योद्योगस्तव च सवितुश्चाधिकारो मतो नः।
तिष्ठत्येकः क्षणमधिपतिर्ज्योतिषां व्योममध्ये
षष्ठे काले त्वमपि लभसे देव विश्रान्तिमह्नः॥ १॥

विदूषकः—[कर्णं दत्वा] एसो उण पिअवअस्सो धम्मासणसमुत्थिदो इदो एव्व आअच्छदि। ता जाव पासपडिवत्ती होमि। [इति निष्क्रान्तः।] (एष पुनः प्रियवयस्यो धर्मासनसमुत्थित इत एवागच्छति। तद्यावत्पार्श्वपरिवर्ती भवामि।

॥ प्रवेशकः॥

[ततः प्रविशत्युत्कण्ठितो राजा विदूषकश्च।]

राजा—

आ दर्शनात्प्रविष्टा सा मे सुरलोकसुन्दरी हृदयम्।
बाणेन मकरकेतोः कृतमार्गमवन्ध्यपातेन॥ २॥

विदूषक—सपीडा क्खु जादा तत्तभोदी कासिराअदुहिदा। (सपीडा खलु जाता तत्रभवती काशिराजदुहिता।)

राजा—[निरीक्ष्य] अपि रक्ष्यते भवता रहस्यनिक्षेपः।

विदूषक—[आत्मगतम्] वञ्चिदोम्हि दुट्ठ दासीए णिउणिआए। अण्णधा कधं एव्वं पुच्छदि वअस्सो। (हा धिक् हा धिक् वञ्चितोऽस्मि दुष्ट दास्या निपुणिकया। अन्यथा कथमेवं पृच्छति वयस्य.।)

राजा—किं भवाँस्तूष्णीमास्ते।

विदूषक—भो एव्वं मए जीहा संजन्तिदा जेण भवदो वि णत्थि पडिवअणम्। (भो· एवं मया जिह्वा सयन्त्रिता येन भवतोऽपि नास्ति प्रतिवचनम्।)

राजा—युक्तम्। अथ केनेदानीमात्मानं विनोदयामि।

विदूषक—भो महाणसं गच्छम्ह। (भो महानसं गच्छावः।)

राजा—किं तत्र।

विदूषक—तहिं पंजविहस्स अब्भवहारस्स उवणदसंभारस्स जोअणां पेक्खमाणेहि सक्कं उक्कण्ठां विणोदेदुम्। (तत्र पञ्चविधस्याभ्यवहारस्योपनतसंभारस्य योजना प्रेक्षमाणाभ्या शक्यमुत्कण्ठा विनोदयितुम्।)

राजा—तत्रेप्सितसंनिधानाद्भवान् रंस्यते। मया खलु दुर्लभप्रार्थनः कथमात्मा विनोदयितव्यः।

विदूषक—णं भव वि तत्तभोदीए उव्वसीए दंसणपहं गदो। (ननु भवानपि तत्रभवत्या उर्वश्या दर्शनपथ गत।)

राजा—तत किम्।

विदूषक—ण क्खु दे दुल्लह त्ति तक्केमि।(न खलु ते दुर्लभेति तर्कयामि।)

राजा—पक्षपातोऽपि तस्यां सद्रूपस्यालौकिक एव।

विदूषक—एव्वं मन्तअन्तेण मे वड्ढिदं कोदूहलम्। किं तत्तभोदी उव्वसी अदुदीआ रूवेण अहं विअ विरूवदाए। (एव मन्त्रयता मम वर्धित कौतूहलम्। कि तत्रभवत्युर्वश्यद्वितीया रूपेण अहमिव विरूपतया।)

राजा—माणवक प्रत्यवयवमनिर्देश्यवर्णनां तामवेहि। तेन हि समासत श्रूयताम्।

विदूषक—भो अवहिदोम्हि। (भो अवहितोऽस्मि।)

राजा—

आभरणस्याभरणं प्रसाधनविधेः प्रसाधनविशेषः ।
उपमानस्यापि सखे प्रत्युपमानं वपुस्तस्याः ॥ ३ ॥

विदूषक —अदो दाव तुए दिव्वरसाहिलासिणा चादअव्वदं गहिदम् । ता दाव तुमं कहिं पत्थिदो । (अतस्तावत्त्वया दिव्यरसाभिलाषिणा चातकव्रत गृहीतम् । तत्तावत्त्व कुत्र प्रस्थित ।)

राजा—विविक्तादृते नान्यदुत्सुकस्य शरणमस्ति । तद्भवान्प्रमदवनमार्गमादेशयतु ।

विदूषक —[आत्मगतम्] का गदी । [प्रकाशम्] इदो इदो भवं । (का गतिः । इत इतो भवान् ।)

(इति परिक्रामतः ।)

विदूषक —एसो पमदवणपरिसरो । आणमिअ पच्चुवगदो भवं आअन्तुओ दक्खिणमारुदेण । (एप प्रमदवनपरिसर । आनम्य प्रत्युपगतो भगवानागन्तुको दक्षिणमारुतेन ।

राजा—[विलोक्य] उपपन्नं विशेषणमस्य वायो । अयं हि ।

निषिञ्चन्माधवीं लक्ष्मीं लतां कौन्दीं च लासयन् ।
स्नेहदाक्षिण्ययोर्योगात्कामीव प्रतिभाति मे ॥ ४ ॥

विदूषक —सरिसो एव्व से अहिणिवेसो । [इति परिक्रामन् ।] एदं पमदवणम् । पविसदु भवम् । (सदृश एवास्याभिनिवेशः । एतत्प्रमदवनम् । प्रविशतु भवान् ।)

राजा—वयस्य प्रविशाग्रतः ।

[उभौ प्रवेशं नाटयतः ।]

राजा—[त्रासं रूपयित्वा ।] वयस्य साधु मनसा समर्थित आपत्प्रतीकारः किल ममोद्यानप्रवेशः । तच्चान्यथैवोपपन्नम् ।

विविक्षोर्यदिदं नूनमुद्यानं तापशान्तये ।
स्रोतसेवोह्यमानस्य प्रतीपतरणं महत् ॥ ५ ॥

विदूषक —कहं विअ । (कथमिव ।)

राजा—

इदमसुलभवस्तुप्रार्थनादुर्निवारं
प्रथममपि मनो मे पञ्चबाणः क्षिणोति ।
किमुत मलयवातोन्मूलिता पाण्डुपत्रैः
उपवनसहकारैर्दर्शितेष्वङ्कुरेषु ॥ ६ ॥

विदूषक—अलं परिदेविदेण । अइरेण दे इट्ठसंपादरोण अणंगो एव्व दे सहाओ भविस्सदि । (अलं परिदेवितेन । अचिरेण तवेष्टसम्पादनेनानङ्ग एव ते सहायो भविष्यति ।)

राजा—प्रतिगृहीतं ब्राह्मणवचनम् ।

[इति परिक्रामत]

विदूषक—पेक्खदु भवं वसंतावदार सूअअं अहिरामत्तणं पमदवणस्स । (प्रेक्षता भवान्वसन्तावतार सूचकमभिरामत्वं प्रमदवनस्य ।)

राजा—ननु प्रदिपाटपमेवावलोकयामि । अत्र हि ।

अग्रे स्त्रीनखपाटलं कुरवकं श्यामं द्वयोर्भागयोः
रक्ताशोकमुपोढरागसुभगं भेदोन्मुखं तिष्ठति ।
ईषद्बद्धरजःकणाग्रकपिशा चूते नवा मञ्जरी
मुग्धत्वस्य च यौवनस्य च सखे मध्ये मधुश्री स्थिता ॥७॥

विदूषक—भो एसो क्खु मणिसिलापट्टअसणाहो अदिमुत्तलदामटवो भमरसंघट्टपाडिदेहिं कुसुमेहिं सअं विअ किदोवआरो भवंतं पडिच्छदि । ता अणुगेण्हअदु दाव एसो । (भो एष खलु मणिशिलापट्टकसनाथोऽतिमुक्तलतामण्टपो भ्रमरसङ्घट्टपतितैं कुसुमैं स्वयमिव कृतोपचारो भवन्त प्रतीच्छति । तदनुगृह्यता तावदेष ।)

राजा—यथा भवते रोचते ।

[परिक्रम्योपविशत ।]

विदूषक—दाणिं इह सुहासीणो भवं ललिदलदाविलोहीअमाणमाणसो उववणोगदं उघाड विणोदेदु । (इदानीमिह सुखासीनो भवाँल्ललितलताविलोभ्यमाननयन उपवनगतासुल्वरश्च विनोदयतु ।)

राजा—[निःश्वस्य]

मम कुसुमितास्वपि सखे नोपवनलतासुनम्रविटपासु ।
चक्षुर्बध्नाति धृतिं तद्रूपालोकदुर्ललितम् ॥ ८ ॥

तदुपायश्चिन्त्यतां यथा सफलप्रार्थनो भवेयम् ।

विदूषक —[विहस्य] भो अहल्लाकामुअस्स महिंदस्स वेज्जो सचिवो उव्वसीपज्जुच्छुअस्स अ भवदो अहं दुवेत्ति एत्थ उम्मत्तआ। (भो. अहल्याकामुकस्य महेन्द्रस्य वैद्य' सचिव उर्वशीपर्युत्सुकस्य च भव· तोऽहं द्वावप्यत्रोन्मत्तौ ।)

राजा—मा मैवम् । अतिस्नेह· खलु कार्यदर्शी । तदुपाय· श्चिन्त्यताम् ।

विदूषक —एसो चिंतेमि । मा उण परिदेविदेण मम समाधिं भिंधि । (एष चिन्तयामि । मा पुन परिदेवितेन मम समाधिं भिन्धि ।) [इति चिन्ता नाटयति ।]

राजा—[निमित्तं सूचयित्वा । स्वगतम् ।]

न सुलभासकलेन्दुमुखी च सा किमपि चेदमनङ्गविचेष्टितम् ।
अभिमुखीष्विवकाङ्क्षितसिद्धिषु व्रजति निर्वृतिमेकपदे मनः ॥९॥

[इति जाताशस्तिष्ठति]

[तत प्रविशत्याकाशयानेनोर्वशी चित्रलेखा च ।]

चित्रलेखा—हला कहिं दाणिं अणिद्दिट्ठकालणं गच्छीअदि । (हला क्वेदानीमनिर्दिष्टकारण गम्यते ।)

उर्वशी—[मदनवेदनामभिनीय सलज्जम्] सहि तदा हेमऊडसिहरे लदाविडवेण खणविग्घिदआआसगमणं मं ओहसिअ किं दाणिं पुच्छसि कहिं गच्छीअदि त्ति । (सखि तदा हेमकूटशिखरे लताविटपेन क्षणविघ्निताकाशगमनां मामुपहस्य किमिदानीं पृच्छसि क्व गम्यते इति ।)

चित्रलेखा—किं णु क्खु तस्स राएसिणो पुरूरवस्स सआसं पत्थिदासि। (किं नु खलु तस्य राजर्षे पुरूरवस· सकाशं प्रस्थितासि ।)

उर्वशी—अह इं। अअं मे अवहत्थिदलज्जो ववसाओ। (अथ किम् । अयं मेऽपहस्तितलज्जो व्यवसाय ।)

चित्रलेखा—को उण सहीए तहिं पुढमं पेसिदो। (कः पुनः सख्या तत्र पुरतः प्रेषितः।)

उर्वसी—णं हिअअं। (ननु हृदयम्।)

चित्रलेखा—तधा वि सअं एव्व साहु संपधारिअदु दाव। (तथापि स्वयमेव साधु सम्प्रधार्यतां तावत्।)

उर्वशी—सहि मअणो क्खु मं णिओएदि। किं एत्थ संपधारीअदि। (सखि मदनः खलु मां नियोजयति। किमत्र सम्प्रधार्यते।)

चित्रलेखा—अदोवरं णत्थि मे वअणम्। (अतः परं नास्ति मे वचनम्।)

उर्वशी—तेण हि आदिसीअदु मग्गो जेण तहिं गच्छन्तीणं अंतराओ ण भवे। (तेन ह्यादिश्यतां मार्गो येन तत्र गच्छन्त्योरन्तरायो न भवेत्।)

चित्रलेखा—सहि विस्सद्धा होहि। णं भअवदा देवगुरुणा अवराइदं णाम सिहाबंधणविज्जं उवदिसंतेण तिदसपडिवक्खस्स अलंघणिज्जा कदम्ह। (सखि विस्रब्धा भव। ननु भगवता देवगुरुणा अपराजितां नाम शिखाबन्धनविद्यामुपदिशता त्रिदशप्रतिपक्षस्यालङ्घनीये कृते स्वः।)

उर्वशी—[सलज्जम्] अहो विसुमरिदं मे हिअअं। (अहो विस्मृतं मे हृदयम्।)

[उभे भ्रमणं रूपयतः।]

चित्रलेखा—सहि पेक्ख पेक्ख। एदं भअवदीए भाईरहीए जमुणासंगमविसेसपावणेसु सलिलेसु अत्ताणअं ओलोअंतस्स विअ पट्ठाणस्स सिहाभरणभूदं तस्स राएसिणो भवणं उवट्ठिदम्ह। (सखि प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व। एतद्भगवत्या भागीरथ्याः यमुनासङ्गमविशेषपावनेषु सलिलेष्वात्मानमवलोकयत इव प्रतिष्ठानस्य शिखाभरणभूतं तस्य राजर्षेर्भवनमुपस्थिते स्वः।)

उर्वशी—[सस्पृहमवलोक्य] णं वत्तव्वं ठाणंतरगदो सग्गो त्ति। [विमृश्य] सहि कहिं णु क्खु सो आवण्णाणुकंपी भवे। (ननु वक्तव्यं स्थानान्तरगतः स्वर्ग इति। सखि क्व नु खलु स आपन्नानुकम्पी भवेत्।)

चित्रलेखा—हला एदस्सिं णंदणवणेक्कदेसे विअ पमदवणे अवदरिअ जाणिस्सामो। (हला एतस्मिन्नन्दनवनैकदेश इव प्रमदवने अवतीर्य ज्ञास्यावः।)

[उभे अवतरतः।]

चित्रलेखा—[राजानं दृष्ट्वा सहर्षम्] सहि एसो क्खु पढमोदिदो विश्र चंदो कोमुदिं विश्र तुमं पडिच्छदि । (सखि एष खलु प्रथमोदित इव चन्द्र कौमुदीमिव त्वा प्रतीच्छति ।)

उर्वशी—[विलोक्य] हला दाणिं पढमदंसणादो सविसेसं पिअदंसणो महाराओ पडिहादि । (हला इदानीं प्रथमदर्शनात्सविशेष प्रियदर्शनो महाराजः प्रतिभाति ।)

चित्रलेखा—जुज्जदि । ता एहि उवसप्पम्ह (युज्यते । तदेहि उपसर्पावः)

उर्वशी—ण दाव उवसप्पिस्सं। तिरक्खरिणीपडिच्छण्णा पासगदा से भविअ सुणिस्सं दाव पासवत्तिणा वअस्सेण सह विअणे किं मत अंतो चिट्ठदि त्ति । (न तावदुपसर्पिष्ये । तिरस्करिणीप्रतिच्छन्ना पार्श्वगतास्य भूत्वा श्रोष्यामि तावत् पार्श्ववर्तिना वयस्येन सह विजने किं मन्त्रयमाणस्तिष्ठतीति ।)

चित्रलेखा—जं दे रोअदि । (यत्ते रोचते ।)

[उभे यथोक्तमनुतिष्ठत]

विदूषक —भो चिंतिदो मए दुल्लहप्पणइणीसमाअमोवाओ । (भो चिन्तितो मया दुर्लभप्रणयिनीसमागमोपाय ।)

[राजा तूष्णीमास्ते ।]

उर्वशी—[सेर्ष्यम्] का णु क्खु धण्णा इत्थिआ जा इमिणा पत्थिअमाणा अत्ताणअं किदत्थेइ । (का नु खलु धन्या स्त्री या अनेन प्रार्थ्यमानात्मानकृतार्थयति ।)

चित्रलेखा—किं उण माणुस्सअं विडंबीअदि । (कि पुनर्मानुष्य विडम्ब्यते ।)

उर्वशी—सहि भीआमि सहसापभावादो विण्णादुं । (सखि बिभेमि सहसाप्रभावाद्विज्ञातुम् ।)

विदूषक—भो णं भणामि चिंतिदो मए उवाओ त्ति । (भो ननु भणामि चिन्तितो मया उपाय इति ।)

राजा—तेन हि कथ्यताम् ।

विदूषक —सिविणअसमाअमआरिणिं णिद्दं सेविदु भवं। अहवा तत्तभोदीए उव्वसीए पडिकिदिं चित्तफलए आलिहिअ ओलोअंतो चिट्ठदु। (स्वप्नसमागमकारिणीं निद्रा सेवता भवान् । अथवा तत्रभवत्या उर्वश्या. प्रतिकृतिं चित्रफलक आलिख्यावलोकयँस्तिष्ठतु ।)

उर्वशी—[सहर्षमात्मगतम्] हीणसत्त हिअअ समस्सस समस्सस।
(हीनसत्त्व हृदय समाश्वसिहि समाश्वासिहि।)

राजा—उभयमप्यनुपपन्नम्। पश्य।

हृदयमिषुभिः कामस्यान्तः सशल्यमिदं सदा
कथमुपलभे निद्रां स्वप्ने समागमकारिणीम्।
न च सुवदनामालेख्येऽपि प्रियामसमाप्य तां
मम नयनयोरुद्बाष्पत्वं सखे न भविष्यति ॥१०॥

चित्रलेखा—सुदं तुए वअणं। (श्रुतं त्वया वचनम्!)

उर्वशी—सहि सुदं। ण उण पज्जत्तं हिअअस्स। (सखि श्रुतं। न पुनः पर्याप्तं हृदयस्य।)

विदूषक—एत्तिओ एव्व मे मदिविहवो। (एतावानेव मे मतिविभवः।)

राजा—[निःश्वस्य]

नितान्तकठिनां रुजं मम न वेद सा मानसीं
प्रभावविदितानुरागमवमन्यते वापि माम्।
अलब्धफलनीरसं मम विधाय तस्मिञ्जने
समागममनोरथं भवतु पञ्चबाणः कृती ॥११॥

चित्रलेखा—सहि सुदं तुए। (सखि श्रुतं त्वया।)

उर्वशी—हद्धी हद्धी। मं एव्वं अवगच्छदि। [सखीमवलोक्य] सहि असमत्थम्हि अग्गदो भविअ से पडिवअणस्स। ता पहावणिम्मिदेण भुज्जवत्तेण संपादिदउत्तरा होदुं इच्छामि। (हा धिक् हा धिक्। मामेवमवगच्छति। सखि असमर्थास्म्यग्रतो भूत्वास्य प्रतिवचनस्य। तत्प्रभावनिर्मितेन भूर्जपत्रेण संपादितोत्तरा भवितुमिच्छामि।)

चित्रलेखा—हला अणुमदं मे। (हला अनुमतं मे।)

[उर्वशी नाट्येन ससम्भ्रममभिलिख्यान्तरा क्षिपति।]

विदूषक—[दृष्ट्वा ससम्भ्रमम्] अविहा अविहा। भो किं णु क्खु एदं भुअंगणिम्मोअं किं मं खादिदुं णिवडिदम्। (अविधा अविधा। भोः किं नु खल्वेतत्। भुजङ्गनिर्मोकं किं मां खादितुं निपतितम्।)

राजा—[विभाव्य विहस्य च ।] वयस्य नायं भुजङ्गनिर्मोकः। भूर्जपत्रगतोऽयमक्षरविन्यासः।

विदूषक —णं अदिट्ठाए उव्वसीए भवदो परिदेविदं सुणिअ समाणाणुराअसूअआइँ अक्खराइँ विसज्जिआइँहोन्ति। (ननु अदृष्टयोर्वश्या भवतः परिदेवितं श्रुत्वा समानानुरागसूचकान्यक्षराणि विसृष्टानि स्युः।)

राजा—नास्त्यगतिर्मनोरथानाम्। [गृहीत्वानुवाच्य च सहर्षम्] सखे प्रसन्नस्ते तर्कः।

विदूषक —ही ही भो। किं बम्हणवअणाणि अण्णधा होन्ति। दाणिं पसीददु भवं। जं एत्थ लिहिदं तं सुणिदुं इच्छामि। (ही ही भोः। किं ब्राह्मणवचनान्यन्यथा भवन्ति। तदिदानीं प्रसीदतु भवान्। यदत्र लिखितं तच्छ्रोतुमिच्छामि।)

उर्वशी—साहु। अज्ज णाअरिओसि। (साधु। आर्य नागरिकोऽसि।)

राजा—वयस्य श्रूयताम्।

विदूषक —अवहिदो म्हि। (अवहितोऽस्मि।)

राजा—श्रूयताम् [वाचयति]

सामिअ संभाविआ जह अहं तुए अणुमिआ
तह अणुरत्तस्स जइ णाम तुह उवरि।
किं मे ललिअपारिजाअसअणिज्जयम्मि होन्ति।
णंदणवणवादा वि अच्चुण्हआ सरीरए ॥१२॥

(स्वामिन्संभाविता यथाहं त्वयाऽज्ञाता तथानुरक्तस्य यदि नाम तवोपरि। किं मे ललितपारिजातशयनीये भवन्ति नन्दनवनवाता अप्यत्युष्णकाः शरीरके।)

उर्वशी—किं णु क्खु संपदं भणिस्सदि। (किं नु खलु साम्प्रतं भणिष्यति।)

चित्रलेखा—णं भणिदं एव्व मिलाणकमलणाला अमाणेहिँ अंगेहिँ। (ननु भणितमेव म्लानकमलनालाय मानैरङ्गैः।)

विदूषक —दिट्ठिआ मए बुभुक्खिदेण सोत्थिवाअणं विअ उवलद्धं भवदा उक्कंठिदेण समास्सासणं। (दिष्ट्या मया बुभुक्षितेन स्वस्तिवायनमिवोपलब्धं भवतोत्कण्ठितेन समाश्वासनम्।)

राजा—समाश्वासनमिति किमुच्यते ।

तुल्यानुरागपिशुनं ललितार्थबन्धं
पत्रे निवेशितमुदाहरणं प्रियायाः ।
उत्पक्ष्मणा मम सखे मदिरेक्षणायाः
तस्याः समागतमिवाननमाननेन ॥ १३ ॥

उर्वशी—एत्थ णो समविभाआ पीदी । (अत्रावयोः समविभागा प्रीतिः ।)

राजा—वयस्य अङ्गुलिस्वेदेन दूष्येरन्नक्षराणि । धार्यतामयं मम प्रियायाः स्वहस्तः ।

विदूषक—[गृहीत्वा] किं दाणिं तत्तभोदी उव्वसी भवदो मणोरहाणं कुसुमं दंसिअ फले विसंवदेदि । (किमिदानीं तत्रभवत्युर्वशी भवतो मनोरथानां कुसुमं दर्शयित्वा फले विसंवदति ।)

उर्वशी—सहि जाव उवगमणकादरं हिअअं पज्जवत्थावेमि दाव तुमं से अत्ताणं दंसिअ जं मे खमं तं भणाहि । (सखि यावदुपगमनकातरं हृदयं पर्यवस्थापयामि तावत्त्वमस्यात्मानं दर्शयित्वा यन्मम क्षमं तद्भण ।)

चित्रलेखा—तह । (तथा) [तिरस्करिणीमपनीय राजानमुपेत्य] जेदु जेदु महाराओ । (जयतु जयतु महाराजः ।)

राजा—[दृष्ट्वा सहर्षम्] स्वागतं भवत्यै [पार्श्वमवलोक्य] भद्रे ।

न तथा नन्दयसि मां सख्या विरहिता तया ।
सङ्गमे दृष्टपूर्वेव यमुना गङ्गया विना ॥१४॥

चित्रलेखा—णं पढमं मेहराई दीसदि पच्छा विज्जुलदा । (ननु प्रथमं मेघराजिर्दृश्यते पश्चाद्विद्युल्लता ।)

विदूषक—[अपवार्य] कहं ण एसा उव्वसी । ताए तत्तहोदीए अहिमदा सहअरी । (कथं नैषोर्वशी । तस्यास्तत्रभवत्या अभिमता सहचरी ।)

राजा—एतदासनमास्यताम् ।

चित्रलेखा—उव्वसी महाराअं सिरसा पणमिअ विण्णवेदि । (उर्वशी महाराजं शिरसा प्रणम्य विज्ञापयति ।)

राजा—किमाज्ञापयति ।

चित्रलेखा—तस्सिं सुरारिसंभवे दुज्जादे महाराओ एव्व सरणं आसि। सा अहं संपदं तुह दंसणसमुत्थेण मअणेण बलिअं बाहीअ माणा भूओवि महाराएण अणुकंपणीअत्ति। (तस्मिन्सुरारिसम्भवे दुर्जाते महाराज एव मम शरणमासीत्। साहं साम्प्रत तव दर्शनसमुत्थेन मदनेन बलवद्बाध्यमाना भूयोऽपि महाराजस्यानुकम्पनीया भवामि इति।)

राजा—अयि भद्रमुखि।

पर्युत्सुकां कथयसि प्रियदर्शनां तां
आर्तं न पश्यसि पुरूरवसं तदर्थे।
साधारणोऽयमुभयोः प्रणयः स्मरस्य
तप्तेन तप्तमयसा घटनाय योग्यम् ॥१५॥

चित्रलेखा—[उर्वशीमुपेत्य] एहि एहि। तुवत्तोवि णिद्दअदरं मअणं पेक्खिअ पिअअमस्स दे दूदिम्हि संवुत्ता। (सखि एहि। त्वत्तोऽपि निर्दयतरं मदनं प्रेक्ष्य प्रियतमस्य ते दूत्यस्मि सवृत्ता।)

उर्वशी—[तिरस्करिणीमपनीय] अम्महे लहुअं तुए अणवेक्खिद उज्झिदम्हि। (अहो लघु त्वयानवेक्षितमुज्झितास्मि।)

चित्रलेखा—[सस्मितम्] सहि इदो मुहुत्तादो जाणिस्सं का क उज्झिस्सदि। आआरं दाव पडिवज्ज। (सखि इतो मुहूर्तादेव ज्ञास्यामि का कामुज्झिष्यतीति। आचारं तावत्प्रतिपद्यस्व।)

उर्वशी—[ससाध्वस राजानमुपेत्य प्रणम्य च सव्रीडम्] जेदु जेदु महाराओ। (जयतु जयतु महाराजः।)

राजा—[सहर्षम्] सुन्दरि।

मया नाम जितं यस्य त्वयायं समुदीर्यते।
जयशब्दः सहस्राक्षादागतः पुरुषान्तरम् ॥ १६ ॥

[हस्ते गृहीत्वैनामुपवेशयति।]

विदूषक—भोदि रण्णो पिअवअस्सो बम्हणो किं ण वन्दीअदि। (भवति राज्ञ प्रियवयस्यो ब्राह्मण किं न वन्द्यते।)

[उर्वशी सस्मित प्रणमति।]

विदूषक —सत्थि भोदीए। (स्वस्ति भवत्यै।)

[नेपथ्ये देवदूतः]

चित्रलेखे। त्वरय त्वरयोर्वशीम्।

मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयो नियुक्तः।

ललिताभिनयं तमद्य भर्ता मरुतां द्रष्टुमनाः सलोकपालः ॥१७॥

[सर्वे कर्णं ददति। उर्वशी विषादं रूपयति]

चित्रलेखा—सुदं पिअसहीए देवदूदस्स वअणं। ता अणुमाणीअदु महाराओ (श्रुतं प्रियसख्या देवदूतस्य वचनम्। तदनुमान्यतां महाराजः।)

उर्वशी—णत्थि मे वाआ। (नास्ति मे वाचा)।

चित्रलेखा—महाराअ उव्वसी विण्णवेदि—परवसो अअं जणो। ता महाराएण अब्भणुण्णादा इच्छामि देवेसु अणवरद्धं अत्ताणअं कादुं—त्ति। (महाराज उर्वशी विज्ञापयति—परवशोऽयं जनः। तन्महाराजेनाभ्यनुज्ञाता इच्छामि देवेष्वनपराद्धमात्मानं कर्तुम्—इति।)

राजा—[कथं कथमपि वाचं व्यवस्थाप्य।] नास्मि भवत्योरीश्वरनियोगप्रत्यर्थी। स्मर्तव्यस्त्वयं जनः। (उर्वशीवियोगदुःखं रूपयित्वा राजानं पश्यन्ती सह सख्या निष्क्रान्ता]

राजा—[निःश्वस्य] सखे वैयर्थ्यमिव मे चक्षुषो संप्रति।

विदूषक —[पत्रं दर्शयितु कामः] णं पदं [इति अर्धोक्ते सविषादमात्मगतम्।] हद्धी हद्धी उव्वसीदंसणविम्हिदेण मए तं भुज्जवत्तअं पब्भट्टं वि हत्थादो पमादेण ण विण्णादं। (ननु एतत् हा धिक् हा धिक् उर्वशीदर्शनविस्मितेन मया तद्भूर्जपत्रं प्रभ्रष्टमपि हस्तात्प्रमादेन न विज्ञातम्।

राजा—भद्र किमसि वक्तुकाम इव।

विदूषक —एव्वं वत्तुकामोम्हि—मा भवं अंगाइं मुंचदु दिढं क्खु तुए बद्धभावा उव्वसी ण सा इदोगदं अणुराअं सिढिलेदि त्ति। (एवं वक्तुकामोऽस्मि मा भवानङ्गानि मुञ्चतु दृढं खलु त्वयि बद्धभावा उर्वशी न सा इतोगतमनुरागं शिथिलयति—इति।)

राजा—ममाप्येतदाशंसि मनः। तया खलु प्रस्थाने।

अनीशया शरीरस्य स्ववशं हृदयं मयि।

स्तनकम्पक्रियालक्ष्यैर्न्यस्तं निःश्वसितैरिव ॥१८॥

चित्रलेखा—तस्सिं सुरारिसंभवे दुज्जादे महाराओ एव्व सरणं आसि। सा अहं संपदं तुह दंसणसमुत्थेण मअणेण वलिअं बाहीअमाणा भूओवि महाराएण अणुकंपणीअत्ति। (तस्मिन्सुरारिसम्भवे दुर्जाते महाराज एव मम शरणमासीत्। साह साम्प्रत तव दर्शनसमुत्थेन मदनेन बलवद्बाध्यमाना भूयोऽपि महाराजस्यानुकम्पनीया भवामि इति।)

राजा—अयि भद्रमुखि।

पर्युत्सुकां कथयसि प्रियदर्शनां तां
आर्तं न पश्यसि पुरूरवसं तदर्थे।
साधारणोऽयमुभयोः प्रणयः स्मरस्य
तप्तेन तप्तमयसा घटनाय योग्यम् ॥१५॥

चित्रलेखा—[उर्वशीमुपेत्य] एहि एहि। तुवत्तोवि णिद्दअदरं मअणं पेक्खिअ पिअअमस्स दे दूदिम्हि संवुत्ता। (सखि एहि। त्वत्तोऽपि निर्दयतरं मदनं प्रेक्ष्य प्रियतमस्य ते दूत्यस्मि संवृत्ता।)

उर्वशी—[तिरस्करिणीमपनीय] अम्महे लहुअं तुए अणवेक्खिद उज्झिदम्हि। (अहो लघु त्वयानवेक्षितमुज्झितास्मि।)

चित्रलेखा—[सस्मितम्] सहि इदो मुहुत्तादो जाणिस्सं का क उज्झिस्सदि। आआरं दाव पडिवज्ज। (सखि इतो मुहूर्तादेव ज्ञास्यामि का कामुज्झिष्यतीति। आचारं तावत्प्रतिपद्यस्व।)

उर्वशी—[ससाध्वस राजानमुपेत्य प्रणम्य च सव्रीडम्] जेदु जेदु महाराओ। (जयतु जयतु महाराजः।)

राजा—[सहर्षम्] सुन्दरि।

मया नाम जितं यस्य त्वयायं समुदीर्यते।
जयशब्द सहस्राक्षादगतः पुरुषान्तरम् ॥ १६ ॥

[हस्ते गृहीत्वैनामुपवेशयति।]

विदूषक—भोदि रण्णो पिअवअस्सो बम्हणो किं ण वन्दीअदि। (भवति राज्ञ प्रियवयस्यो ब्राह्मण किं न वन्द्यते।).

[उर्वशी सस्मित प्रणमति।]

विदूषक—सत्थि भोदीए। (स्वस्ति भवत्यै।)

[नेपथ्ये देवदूतः]

चित्रलेखे। त्वरय त्वरयोर्वशीम्।

मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयो नियुक्तः।
ललिताभिनयं तमद्य भर्ता मरुतां द्रष्टुमनाः सलोकपालः ॥१७॥

[सर्वे कर्णं ददति। उर्वशी विषाद रूपयति]

चित्रलेखा—सुदं पिअसहीए देवदूदस्स वअणं। ता अणुमाणीअदु महाराओ (श्रुतं प्रियसख्या देवदूतस्य वचनम्। तदनुमान्यतां महाराजः।)

उर्वशी—णत्थि मे वाआ। (नास्ति मे वाचा)।

चित्रलेखा—महाराअ उव्वसी विण्णवेदि—परवसो अअं जणो। ता महाराएण अब्भणुण्णादा इच्छामि देवेसु अणवरद्धं अत्ताणअं कादुं—त्ति। (महाराज उर्वशी विज्ञापयति—परवशोऽयं जनः। तन्महाराजेनाभ्यनुज्ञाता इच्छामि देवेष्वनपराद्धमात्मानं कर्तुम्—इति।)

राजा—[कथं कथमपि वाचं व्यवस्थाप्य।] नास्मि भवत्योरीश्वरनियोगप्रत्यर्थी। स्मर्तव्यस्त्वयं जनः। (उर्वशीवियोगदुःखं रूपयित्वा राजानं पश्यन्ती सह सख्या निष्क्रान्ता]

राजा—[निःश्वस्य] सखे वैयर्थ्यमिव मे चक्षुषोः संप्रति।

विदूषक—[पत्रं दर्शयितुकामः] णं पदं [इति अर्धोक्ते सविषादमात्मगतम्।] हद्धी हद्धी उव्वसीदंसणविम्हिदेण मए तं भुज्जवत्तअं पब्भट्टं वि हत्थादो पमादेण ण विण्णादं। (ननु एतत् हा धिक् हा धिक् उर्वशीदर्शनविस्मितेन मया तद्भूर्जपत्रं प्रभ्रष्टमपि हस्तात्प्रमादेन न विज्ञातम्।

राजा—भद्र किमसि वक्तुकाम इव।

विदूषक—एव्वं वत्तुकामोम्हि—मा भवं अंगाइं मुंचदु दिढं क्खु तुइ बद्धभावा उव्वसी ण सा इदोगदं अणुराअं सिढिलेदि त्ति। (एवं वक्तुकामोऽस्मि मा भवानङ्गानि मुञ्चतु दृढं खलु त्वयि बद्धभावा उर्वशी न सा इतोगतमनुरागं शिथिलयति—इति।)

राजा—ममाप्येतदाशंसि मनः। तया खलु प्रस्थाने।

अनीशया शरीरस्य स्ववशं हृदयं मयि।
स्तनकम्पक्रियालक्ष्यैर्न्यस्तं निःश्वसितैरिव ॥१८॥

५७

चित्रलेखा—तस्सिं सुरारिसंभवे दुज्जादे महाराश्रो एव्व सरणं आसि। सा अहं संपदं तुह दंसणसमुत्थेण मअणेण वलिअं वाहीअमाणा भूओवि महाराएण अणुकंपणीअत्ति। (तस्मिन्सुरारिसम्भवे दुर्जाते महाराज एव मम शरणमासीत्। साहं साम्प्रतं तव दर्शनसमुत्थेन मदनेन बलवद्बाध्यमाना भूयोऽपि महाराजस्यानुकम्पनीया भवामि इति।)

राजा—अयि भद्रमुखि।

पर्युत्सुकां कथयसि प्रियदर्शनां तां
आर्तं न पश्यसि पुरूरवसं तदर्थे।
साधारणोऽयमुभयोः प्रणयः स्मरस्य
तप्तेन तप्तमयसा घटनाय योग्यम् ॥१५॥

चित्रलेखा—[उर्वशीमुपेत्य] एहि एहि। तुवत्तोवि णिद्दअदरं मअणं पेक्खिअ पिअअमस्स दे दूदिम्हि संवुत्ता। (सखि एहि। त्वत्तोऽपि निर्दयतरं मदनं प्रेक्ष्य प्रियतमस्य ते दूत्यस्मि संवृत्ता।)

उर्वशी—[तिरस्करिणीमपनीय] अम्महे लहुअं तुए अणवेक्खिदं उज्झिदम्हि। (अहो लघु त्वयानवेक्षितमुज्झितास्मि।)

चित्रलेखा—[सस्मितम्] सहि इदो मुहुत्तादो जाणिस्सं का कं उज्झिस्सदि। आआरं दाव पडिवज्ज। (सखि इतो मुहूर्तादेव ज्ञास्यामि का कामुज्झिष्यतीति। आचारं तावत्प्रतिपद्यस्व।)

उर्वशी—[ससाध्वसं राजानमुपेत्य प्रणम्य च सव्रीडम्] जेदु जेदु महाराओ। (जयतु जयतु महाराजः।)

राजा—[सहर्षम्] सुन्दरि।

मया नाम जितं यस्य त्वयायं समुदीर्यते।
जयशब्दः सहस्राक्षादागतः पुरुषान्तरम् ॥ १६ ॥

[हस्ते गृहीत्वैनामुपवेशयति।]

विदूषकः—भोदि रण्णो पिअवअस्सो बम्हणो किं ण वन्दीअदि। (भवति राज्ञः प्रियवयस्यो ब्राह्मणः किं न वन्द्यते।)

[उर्वशी सस्मितं प्रणमति।]

विदूषक—सत्थि भोदीए। (स्वस्ति भवत्यै।)

[नेपथ्ये देवदूतः]

चित्रलेखे। त्वरय त्वरयोर्वशीम्।

मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयो नियुक्तः।
ललिताभिनयं तमद्य भर्ता मरुतां द्रष्टुमनाः सलोकपालः ॥१७॥

[सर्वे कर्णं ददति। उर्वशी विषाद रूपयति]

चित्रलेखा—सुदं पिअसहीए देवदूदस्स वअणं। ता अणुमाणीअदु महाराओ (श्रुतं प्रियसख्या देवदूतस्य वचनम्। तदनुमान्यता महाराज॰।)

उर्वशी—णत्थि मे वाआ। (नास्ति मे वाचा)।

चित्रलेखा—महाराअ उव्वसी विण्णवेदि—परवसो अअं जणो। ता महाराएण अब्भणुण्णादा इच्छामि देवेसु अणवरद्धं अत्ताणअं कादुं—त्ति। (महाराज उर्वशी विज्ञापयति—परवशोऽयं जन। तन्महाराजेनाभ्यनुज्ञाता इच्छामि देवेष्वनपराद्धमात्मान कर्तुम्—इति।)

राजा—[कथ कथमपि वाचं व्यवस्थाप्य।] नास्मि भवत्योरीश्वरनियोगप्रत्यर्थी। स्मर्तव्यस्त्वयं जनः। (उर्वशीवियोगदुखं रूपयित्वा राजान पश्यन्ती सह सख्या निष्क्रान्ता]

राजा—[नि श्वस्य] सखे वैयर्थ्यमिव मे चक्षुषो संप्रति।

विदूषक—[पत्र दर्शयितु काम॰] णं पदं [इति अर्धोक्ते सविपादमात्मगतम्।] हद्धी हद्धी उव्वसीदंसणविम्हिदेण मए तं भुज्जवत्तअं पब्भट्टं वि हत्थादो पमादेण ण विण्णादं। (ननु एतत् हा धिक् हा धिक् उर्वशीदर्शनविस्मितेन मया तद्भूर्जपत्र प्रभ्रष्टमपि हस्तात्प्रमादेन न विज्ञातम्।

राजा—भद्र किमसि वक्तुकाम इव।

विदूषक—एव्वं वत्तुकामोम्हि—मा भवं अंगाइं मुंचदु दिढं क्खु तुइ बद्धभावा उव्वसी ण सा इदोगदं अणुराअं सिढिलेदि त्ति। (एव वक्तुकामोऽस्मि मा भवानङ्गानि मुञ्चतु दृढ खलु त्वयि बद्धभावा उर्वशी न सा इतोगतमनुराग शिथिलयति—इति।)

राजा—ममाप्येतदाशंसि मन॰। तया खलु प्रस्थाने।

अनीशया शरीरस्य स्ववशं हृदयं मयि।
स्तनकम्पक्रियालक्ष्यैर्न्यस्तं निःश्वसितैरिव ॥१८॥

विदूषक —[स्वगतम्] वेवदि मे हिअअं इमं वेलं अत्तभवदा तस्स भुज्जवत्तस्स णाम गेरिहदव्वं त्ति। (वेपते मे हृदयमिमां वेलामत्रभवता तस्य भूर्जपत्रस्य नाम ग्रहीतव्यमिति।)

राजा—वयस्य केनेदानीं दृष्टिं विलोभयामि। [स्मृत्वा] आः उपनयतु भवान्भूर्जपत्रम्।

विदूषक —[सर्वतो दृष्ट्वा विषाद नाटयति] हंत ण दिस्सदि। भो दिव्वं क्खु तं भुज्जवत्तं गदं उव्वसीए मग्गेण। (हन्त न दृश्यते। भो॰ दिव्यं खलु तद्भूर्जपत्रं गतमुर्वश्या मार्गेण।)

राजा—[सासूयम्] अहो सर्वत्र प्रमादी वैधेयः। ननु विचिनोतु भवान्।

विदूषक —[उत्थाय] णं इदो भवे। इह वा भवे। इह वा भवे। (ननु इतो भवेत्। इह वा भवेत्। इह वा भवेत्।) [इति विचेतव्यं नाटयति]

[ततः प्रविशति सपरिवारा काशिराजपुत्री देवी चेटी च]

देवी—हंजे णिउणिए सच्चं तुए भणिदं इमं लदागेहं पविसंतो अज्जमाणवअसहाओ अज्जउत्तो दिट्ठो त्ति। (हञ्जे निपुणिके सत्यं त्वया भणितमिदं लतागेहं प्रविशन्नार्यमाणवकसहाय आर्यपुत्रो दृष्ट इति।)

निपुणिका—किं अण्णहा भट्टिणी मए कदावि विण्णविदपुव्वा। (किमन्यथा भट्टिनी मया कदापि विज्ञापितपूर्वा।)

देवी—तेण हि तदाविडवंतरिदा सुणिस्सं दावसे विसद्धामंतिदाणि जं तुए कहिदं तं सच्चं ण वत्ति। (तेन हि लताविटपान्तरिता श्रोष्यामि तावदस्य विश्रब्धा मन्त्रितानि यत्त्वया कथित तत्सत्यं न वेति।)

निपुणिका—जं भट्टिणीए रुच्चदि। (यद्भट्टिन्यै रोचते।)

देवी—[परिक्रम्य पुरस्तादवलोक्य च] हंजे णिउणिए किं णु क्खु एदं जिण्णचीअरं विअ इदोमुह दक्खिण मारुदेण आणीअदि। (हञ्जे निपुणिके किं नु खल्वेतज्जीर्णचीवरमिवेतोमुखं दक्षिणमारुतेनानीयते।)

निपुणिका—[विभाव्य] भट्टिणी पडिवत्तणविभाविदक्खरं भुज्जवत्तं क्खु एदं। हंत भट्टिणीए एव्व णेउरकोडीए लग्गं। [गृहीत्वा] णं वाईअदु एदम्। (भट्टिनि परिवर्त्तनविभावितात्तर भूर्जपत्रं खल्वेतत्। हन्त भट्टिन्या एव नूपुरकोट्या लग्नम्। ननु वाच्यतामेतत्।)

देवी—अणुवाएहि दाव एदं। जदि अविरुद्धं तदो सुणिस्स। (अनु वाचय तावदेतत्। यद्यविरुद्ध तत. श्रोष्यामि।)

निपुणिका—[तथा कृत्वा] भट्टिणी तं एव्व कोलीणं विअ पडिहादि। भट्टारअं उद्दिसिअ उव्वसीए कव्ववंधो त्ति तक्केमि। अज्जमाणव-अपमादेण अ अम्हाणं हत्थं आगदो त्ति। (भट्टिनि तदेव कौलीनमिव प्रतिभाति। भट्टारकमुद्दिश्योर्वश्या काव्यबन्ध इति तर्कयामि। आर्यमाणवक प्रमादेन चावयोर्हस्तमागत इति।)

देवी—तेण हि से गहीदत्था होमि। (तेन ह्यस्य गृहीतार्था भवामि।)

[निपुणिका वाचयति]

देवी—[श्रुत्वा] एत्थ इमिणा एव्व उवाअणेण दं अच्छराकामुअं पेक्खामि। (अत्रानेनैवोपायनेन तमप्सर. कामुकं प्रेक्षे।)

निपुणिका—तह। (तथा।)

[इति परिजनसहिते लतागृहं परिक्रामत.]

विदूषक —[विलोक्य] भो वअस्स किं एदं पवणवसगामि पमदव-णसमीवगदकीलापव्वदपज्जंते दीसदि। (भो वयस्य किमेतत्पवनवशा-गामि प्रमदवनसमीपगतक्रीडापर्वतपर्यन्ते दृश्यते।)

राजा—[उत्थाय] भगवन्वसन्त प्रिय दक्षिणवायो।

वासार्थं हर संभृतं सुरभिणा पौष्पं रजो वीरुधां
किं कार्यं भवतो हृतेन दयितास्नेहस्वहस्तेन मे।
जानीते हि मनोविनोदनशतैरेवंविधैर्धारितं।
कामार्तं जनमङ्गनां प्रति भवानालक्षितप्रार्थना ॥१६॥

निपुणिका—भट्टिणि पेक्ख पेक्ख। एदस्स एव्व आण्णेसणा वट्टदि। भट्टिनि प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व। एतस्यैवान्वेषणा वर्तते।)

देवी—णं पेक्खामि दाव। तुण्हिं चिट्ठ। (ननु पश्यामि तावत्। तूष्णीं तिष्ठ।)

विदूषक —[सविषादम्।] हद्धी हद्धी भो मिलाअमाणकेसरच्छ-विणा मोरपिच्छेण विप्पलद्धो म्हि। [हा धिक् हा धिक् भो म्लायमान-केसरच्छविना मयूरपिच्छेन विप्रलब्धोऽस्मि।]

राजा—सर्वथा हतोऽस्मि।

देवी—[सहसोपसृत्य।] अज्जउत्त अलं आवेएण। एदं तं भुज्जवत्तं। (आर्यपुत्र अलमावेगेन। एतत्तद्भूर्जपत्रम्)

राजा—[ससंभ्रमम्] अये देवी । स्वागतं देव्यै ।

विदूषक —[अपवार्य] दुरागदं दाणिं संवुत्तं । [दुरागतमिदानीं संवृत्तम्]

राजा—[जनान्तिकम्] वयस्य किमत्र प्रतिविधेयम् ।

विदूषक —(अपवार्य) लोत्थेण गहीदस्स कुंभीलअस्स अत्थि वा पडिवअणं । (लोप्त्रेण गृहीतस्य कुम्भीरकस्यास्ति वा प्रतिवचनम् ।)

राजा—[जनान्तिकम्] मूढ नायं परिहासकालः । [प्रकाशम्] देवि नेदं मया मृग्यते । अयं खलु परान्वेषणार्थमारम्भः ।

देवी—जुज्जदि अत्तणो सोहग्गं पच्छादेदुं । (युज्यते आत्मनः सौभाग्यं प्रच्छादयितुम् ।)

विदूषक —भोदि तुवेरेहि से भोअणं जं पित्तोवसमणसमत्थं होदि । (भवति त्वरयास्य भोजनं यत्पित्तोपशमनसमर्थं भवति ।)

देवी—णिउणिए सोहणं क्खु वम्हणेण आसासिदो वअस्सो । (निपुणिके शोभनं खलु ब्राह्मणेनाश्वसितो वयस्यः)

विदूषक —भोदि णं पेक्ख आसासिदो पिसाचोवि भोअणेण । (भवति ननु पश्य आश्वासितः पिशाचोऽपि भोजनेन ।)

राजा—मूर्ख वलादपराधिनं मां प्रतिपादयसि ।

देवी—णत्थि क्खु भवदो अवराहो । अहं एव्व एत्थ अवरद्धा जा पडिऊलदंसणा भविअ अग्गदो दे चिट्ठामि । इदो अहं गमिस्सं । णिउणिए, एहि गच्छम्ह । (नास्ति खलु भवतोऽपराधः । अहमेवात्रापराद्धा या प्रतिकूलदर्शना भूत्वाग्रतस्ते तिष्ठामि । इतोऽहं गमिष्यामि । निपुणिके एहि गच्छामः ।) [इति कोपं नाटयित्वा प्रस्थिता ।]

राजा—[अनुसृत्य ।]

अपराधी नामाहं प्रसीद रंभोरु विरम संरम्भात् ।
सेव्यो जनश्च कुपितः कथं नु दासो निरपराधः ॥२०॥

[इति पादयोः पतति ।]

देवी—[स्वगतम्] मा क्खु लहुहिअआ अहं अणुणअं वहु मण्णे । किं दु अदक्खिण्णकिदस्स पच्छादावस्स भाएमि । (मा खलु लघुहृदयाहमनुनयं वहु मन्ये । किंत्वदाक्षिण्यकृतात्पश्चात्तापाद्बिभेमि ।)

[इति राजानमपहाय सपरिवारा निष्क्रान्ता]

विदूषक—पाउसणदी विश्र अप्पसण्णा गदा देवी। ता उट्ठेहि उट्ठेहि। (प्रावृण्नदीवाप्रसन्ना गता देवी। तदुत्तिष्ठ उत्तिष्ठ।)

राजा—[उत्थाय] वयस्य, नेदमनुपपन्नम्। पश्य,

प्रियवचनकृतोऽपि योषितां दयितजनानुनयो रसादृते।
प्रविशति हृदयं न तद्विदां मणिरिव कृत्रिमरागयोजितः ॥२१॥

विदूषक—अणुऊलं एव्व एत्थभवदो एदं। ण क्खु अक्खिदुक्खिदो अहिमुवे दीवसिहं सहेदि। (अनुकूलमेवात्रभवत एतत्। न खल्वक्षिदुःखितोऽभिमुखे दीपशिखां सहते।)

राजा—मा मैवम्। उर्वशीगतमनसोऽपि मे स एव देव्यां बहुमानः। किन्तु प्रणिपातलङ्घनादहमस्यां धैर्यमवलम्बिष्ये।

विदूषक—भो चिट्ठदु दाव भवदो धीरदा। वुभुक्खिदस्स बम्हणस्स जीविदं अवलंबदु भवं। समओ क्खु ण्हाणभोअणं सेविदुं। (भोः तिष्ठतु तावद्भवतो धीरता। बुभुक्षितस्य ब्राह्मणस्य जीवितमवलम्बतां भवान्। समयः खलु स्नानभोजनं सेवितुम्।)

राजा—[ऊर्ध्वमवलोक्य] गतमर्धं दिवसस्य। अतः खलु।

उष्णालुः शिशिरे निषीदति तरोर्मूलालवाले शिखी
निर्भिद्योपरि कर्णिकारमुकुलान्यालीयते षट्पदः।
तप्तं वारि विहाय तीरनलिनीं कारण्डवः सेवते
क्रीडावेश्मनि चैष पञ्जरशुकः क्लान्तो जलं याचते ॥२२॥

[इति निष्क्रान्तौ]

इति द्वितीयोऽङ्कः।



तृतीयोऽङ्कः

[ततः प्रविशतो भरतशिष्यौ]

गालव —सखे पेलव। महेन्द्रभवनं गच्छता भगवतोपाध्यायेन त्वमासनं प्रतिग्राहितः। अग्निशरणसंरक्षणाय स्थापितोऽहम्। अतः खलु पृच्छामि—अपि गुरोः प्रयोगेण दिव्या परिषदाराधिता।

पेलव —गालव। ण जाणे आराहिदा ण वत्ति। तस्सिं उण सरस्सईकिदकव्वबंधे लच्छीसअंवरे तेसु तेसु रसंतरेसु तम्मई आसि। किंतु—। (गालव। न जाने आराधिता न वा इति। तस्मिन्पुनः सरस्वतीकृतकाव्यबन्धे लक्ष्मीस्वयंवरे तेषु तेषु रसान्तरेषु तन्मयी आसीत्। किन्तु ")

गालव —सदोषावकाश इव ते वाक्यशेष।

पेलव —आम् तस्सिं उव्वसीए वअणं पमादक्खलिदं आसि। (आम् तस्मिन्नुर्वश्या वचनं प्रमादस्खलितमासीत्।)

गालव —कथमिव।

पेलव —लच्छीभूमिआए वट्टमाणा उव्वसी वारुणीभूमिआए वट्टमाणाए मेणआए पुच्छिदा—सहि समागदा एदे तेलोक्कसुपुरिसा सकेशवा अ लोअवाला। कदमस्सिं दे भावाहिणिवेसोत्ति। (लक्ष्मीभूमिकाया वर्त्तमानोर्वशी वारुणीभूमिकायां वर्त्तमानया मेनकया पृष्टा—सखि समागता एते त्रैलोक्यसुपुरुषाः सकेशवाश्च लोकपालाः। कतमस्मिंस्ते भावाभिनिवेश इति।)

गालवः—ततस्ततः ।

पेलव—तदो ताए पुरुसत्तमे त्ति भणिदव्वे पुरूरवसि त्ति ताए णिग्गद वाणी । (ततस्तथा पुरुषोत्तमे इति भणितव्ये पुरूरवसीति तस्या निर्गता वाणी ।)

गालव—भवितव्यतानुविधायीनि इन्द्रियाणि । न खलु तामभिक्रुद्धो गुरुः ।

पेलव—सा क्खु सत्ता उवज्झाएण । महिंदेण उण अणुगहीदा । [सा खलु शप्तोपाध्यायेन । महेन्द्रेण पुनरनुगृहीता ।]

गालव—कथमिव ।

पेलव—जेण मम उवदेसो तुए लंघिदो तेण ण दे दिव्वं ठाणं हविस्सदि त्ति उवज्झाअस्स सावो । महिंदेण उण पेक्खणावसाणे लज्जावणदमुही सा एव्वं भणिदा—जस्सिं तुमं बद्धभावा सि तस्स मे रणसहाअस्स राएसिणो पिअं एत्थ करणिज्जं । ता दाव तुमं जहाकामं पुरूरवसं उवचिट्ठ जाव सो तुइ दिट्ठसंताणो भोदि त्ति । (येन ममोपदेशस्त्वया लङ्घितस्तेन न ते दिव्यं स्थानं भविष्यति इति उपाध्यायस्य शापः। महेन्द्रेण पुनः प्रेक्षणावसाने लज्जावनतमुखी सा एवं भणिता—यस्मिंस्त्वं बद्धभावासि तस्य मे रणसहायस्य राजर्षेः प्रियमत्र करणीयम् । तत्तावत्त्वं यथाकामं पुरूरवसमुपतिष्ठस्व यावत्स त्वयि दृष्टसन्तानो भवेदिति)

गालव—सदृशमेतत्पुरुषान्तरविदो महेन्द्रस्य ।

पेलवः—[सूर्यमवलोक्य] कधा पसंगेण अम्हेहिं अवरद्धा अहिसेअवेला क्खु उवज्झाअस्स । ता एहि । से पासवत्तिणो होम । (कथाप्रसङ्गेनास्माभिरपराद्धाभिषेकवेला खलु उपाध्यायस्य । तदेहि । अस्य पार्श्ववर्तिनौ भवाव. ।)

गालव—तथा

[इति निष्क्रान्तौ]

॥ मिश्रविष्कम्भकः ॥

[ततः प्रविशति कञ्चुकी]

कञ्चुकी—[विनिःश्वस्य]

सर्वः कल्ये वयसि यतते लब्धुमर्थान्कुटुम्बी
पश्चात्पुत्रैरपहृतभरः कल्पते विश्रमाय ।
अस्माकं तु प्रतिदिनमियं साधयन्ती प्रतिष्ठां
सेवाकारा परिणतिरभूत्स्त्रीषु कष्टोऽधिकार ॥ १ ॥

[परिक्रम्य] आदिष्टोऽस्मि सनियमया काशिराजपुत्र्या—व्रत सम्पादनार्थं मया मानमुत्सृज्य निपुणिकामुखेन पूर्वं याचितो महाराज । तदेव त्वं मद्वचनाद्विज्ञापय इति । यावदहमिदानीमवसितसन्ध्याजाप्यं महाराजं पश्यामि । [परिक्रम्यावलोक्य च] रमणीयः खलु दिवसावसानवृत्तान्तो राजवेश्मनः । इह हि ।

उत्कीर्णा इव वासयष्टिषु निशानिद्रालसा बर्हिणो ।
धूपैर्जालविनिःसृतैर्वलभयः संदिग्धपारावताः ।
आचारप्रयतः सपुष्पबलिषु स्थानेषु चार्चिष्मतीः ।
सन्ध्यामङ्गलदीपिका विभजते शुद्धान्तवृद्धो जनः ॥२॥

[नेपथ्याभिमुखमवलोक्य] अये इत एव प्रस्थितो देवः ।

परिजनवनिताकरार्पिताभिः
परिवृत एष विभाति दीपिकाभिः ।
गिरिरिव गतिमानपक्षलोपात्
अनुतटपुष्पितकर्णिकारयष्टिः ॥ ३ ॥

यावदेनमवलोकनमार्गे स्थित प्रतिपालयामि । [परिक्रम्य स्थित ।]

[तत प्रविशति यथानिर्दिष्टो राजा विदूषकश्च]

राजा—[स्वगतम्] आः ।

कार्यान्तरितोत्कण्ठं दिनं मया नीतमनतिकृच्छ्रेण ।
अविनोददीर्घयामा कथं नु रात्रिर्गमयितव्या ॥४॥

कञ्चुकी—[उपसृत्य] जयतु जयतु देवः। देव देवी विज्ञापयति—मणिहर्म्यपृष्ठे सुदर्शनश्चन्द्रः। तत्र संनिहितेन देवेन प्रतिपालयितुमिच्छामि यावद्रोहिणीसंयोगः इति।

राजा—आर्य लातव्य विज्ञाप्यतां देवी यस्ते छंद इति।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देव। [इति निष्क्रान्तः।]

राजा—वयस्य किं परमार्थत एव देव्या व्रतनिमित्तोऽयमारम्भः स्यात्।

विदूषकः—भो तक्केमि संजादपच्छादावा तत्तभोदी वदावदेसेण भवदो पणिपादलंघणं पमज्जिदुकाम त्ति। (भो तर्कयामि सञ्जातपश्चात्तापा तत्रभवती व्रतापदेशेन भवतः प्रणिपातलङ्घनं प्रमाष्टुंकामेति।)

राजा—उपपन्नं भवानाह।

अवधूतप्रणिपाताः पश्चात्संतप्यमानमनसो हि।
विविधैरनुतप्यन्ते दयितानुनयैर्मनस्विन्यः॥ ५॥

तदादेशय मणिहर्म्यपृष्ठमार्गम्।

विदूषक—इदो इदो भवं। इमिणा गंगातरंगसस्सिरीएण फलिअमणिसोवाणेण आरोहदु भवं पदोसावसररमणिज्जं मणिहम्मिअ पिट्ठं। (इतो इतो भवान्। एतेन गङ्गातरङ्गसश्रीकेण स्फटिकमणिसोपानेनारोहतु भवान्प्रदोषावसररमणीय मणिहर्म्यपृष्ठम्।

राजा—आरोहाग्रतः।

[सर्वे सोपानारोहण नाटयन्ति।]

विदूषक—[निरूप्य] भो पच्चासण्णेण चंदोदएण होदव्वं जह तिमिररेइज्जमाणं पुव्वदिसामुहं आलोअसुहअं दीसदि। (भोः प्रत्यासन्नेन चन्द्रोदयेन भवितव्यम् यथा तिमिररिच्यमानं पूर्वदिशामुखमालोकसुभगं दृश्यते।)

राजा—सम्यग्भवान्मन्यते।

उदयगूढशशाङ्कमरीचिभिः तमसि दूरतरं प्रतिसारिते।
अलकसंयमनादिव लोचने हरति मे हरिवाहनदिङ्मुखम्॥ ६॥

विदूषक—[विलोक्य।] ही ही भो एसो क्खु खंडमोदअसस्सिरीओ उदिदो राआ दुआदीणं। (ही ही भो. एष खलु खण्टमोदकसश्रीक उदितो राजा द्विजातीनाम्।)

राजा—[सस्मितम्] सर्वत्रौदरिकस्याभ्यवहार्यमेव विषयः। [प्राञ्जलिः प्रणम्य।] भगवन् क्षपानाथ।

रविमावसते सतां क्रियायै सुधया तर्पयते सुरान्पितॄंश्च।
तमसां निशि मूर्छतां निहन्त्रे हरचूडानिहितात्मने नमस्ते ॥७॥

[इति उपतिष्ठते]

विदूषक—भो वम्हणसंकामिदक्खरेण दे पिदामहेण अब्भणुण्णादो सि। ता आसणट्ठिदो होहि जाव अहं वि सुहासीणो होमि। (भोः ब्राह्मणसंक्रामिताक्षरेण ते पितामहेनाभ्यनुज्ञातोऽसि। तदासनस्थितो भव यावदहमपि सुखासीनो भवामि।)

राजा—[विदूषकवचनं परिगृह्योपविष्ट परिजन विलोक्य।] अभिव्यक्तायां चन्द्रिकायां किं दीपिकापौनरुक्त्येन। तद्विश्राम्यन्तु भवत्यः।

परिजन—जं देवो आणवेदि। (यद्देव आज्ञापयति।)[इति निष्क्रान्तः।]

राजा—[चन्द्रमसमवलोक्य विदूषकं प्रति] वयस्य परं मुहूर्तादागमनं देव्या। तद्विविक्ते कथयिष्यामि स्वामवस्थाम्।

विदूषक—णं दीसदि एव्व सा। किंदु तारिसं अणुराअं पेक्खिअ सक्कं क्खु आसावंधेण अत्ताणं धारेदुं। (ननु दृश्यत एव सा। किन्तु तादृशमनुरागं प्रेक्ष्य शक्यं खल्वाशाबन्धेनात्मानं धारयितुम्।)

राजा—एवमेतत्। वलवान्पुनर्मे मनसोऽभिताप।

नद्या इव प्रवाहो विषमशिलासङ्कटस्खलितवेगः।
विघ्नितसमागमसुखो मनसिशयः शतगुणी भवति ॥ ८ ॥

विदूषक—भो जहा परिहीअमाणेहिं अंगेहिं अहिअं सोहसि तहा अदूरे पिआसमागमं दे पेक्खामि। (भो. यथा परिहीयमाणैरङ्गैरधिकं शोभसे तथाऽदूरे प्रियासमागमं ते प्रेक्षे।)

राजा—[निमित्त सूचयन्।] वयस्य।

वचोभिराशाजननैर्भवानिव गुरुव्यथम्।
अयं मां स्पन्दितैर्बाहुराश्वासयति दक्षिणः ॥ ९ ॥

विदूषक—ण क्खु अण्णहा वम्हणस्स वअणं। (न खल्वन्यथा ब्राह्मणस्य वचनम्।)

णयिणी ताए सह मए पीदिबंधेण वत्तिदव्व त्ति । (एषाहं देवतामिथुनं रोहिणीमृगलाञ्छन साक्षीकृत्यार्यपुत्रमनुप्रसादयामि—अद्यप्रभृति यां स्त्रियमार्यपुत्र प्रार्थयते या चार्यपुत्रस्य समागमप्रणयिनी तया सह मया प्रीतिबन्धेन वर्तितव्यम् इति ।)

उर्वशी—अम्महे ण आणे किंपरं से वअणं त्ति । मम उण विस्सासविसदं हिअअं संवुत्तं । (अहो न जाने किंपरमस्या वचनमिति । मम पुनर्विश्वासविशदं हृदयं संवृत्तम् ।)

चित्रलेखा—सहि महाणुभावाए पदिव्वदाए अब्भणुण्णादो अणंतराओ दे पिअसमाअमो हविस्सदि । (सखि महानुभावया पतिव्रतयाभ्यनुज्ञातः अनन्तरायस्ते प्रियसमागमो भविष्यति ।)

विदूषक—[अपवार्य ।] भिण्णहत्थे मच्छे पलायिदे णिव्विण्णो धीवरो भणादि—गच्छ धम्मो मे हविस्सदि त्ति । भोदि किं तारिसो दे पिओ तत्तभवं । (भिन्नहस्ते मत्स्ये पलायिते निर्विण्णो धीवरो भणति—गच्छ धर्मो मे भविष्यतीति । [प्रकाशम्] भवति किं तादृशस्ते प्रियस्तत्रभवान् ।)

देवी—मूढ अहं क्खु अत्तणो सुहावसाणेण अज्जउत्तं णिव्वुदसरीरं कादुं इच्छामि । एत्तिएण चिंतेहि दाव पिओ ण वत्ति । (मूढ अहं खलु आत्मनः सुखावसानेनार्यपुत्रं निर्वृतशरीरं कर्तुमिच्छामि । एतावता चिंतय तावत्प्रियो न वेति ।)

राजा—

दातुं वा प्रभवसि मामन्यस्मै कर्तुमेव वा दासम् ।
नाहं पुनस्तथा त्वयि यथा हि मां शंकसे भीरु ॥ १४ ॥

देवी—होदि वा मा वा । जधाणिद्दिट्ठं संपादिदं मए पिआणुप्पसादणं णाम वदं । दारिआओ एध गच्छह्म । (भव वा मा वा । यथानिर्दिष्टं संपादितं मया प्रियानुप्रसादनं नाम व्रतम् । दारिकाः एत गच्छामः ।

[इति प्रस्थिता]

राजा—प्रिये न खलु प्रसादितोऽस्मि यदि संप्रति विहाय गम्यते ।

देवी—अज्जउत्त अलंघिदपुव्वो मए णिअमो । (आर्यपुत्र अलंघितपूर्वो मया नियमः । [इति सपरिवारा निष्क्रान्ता ।]

उर्वशी—सहि पिअकलत्तो राएसी। ण उण हिअअं णिवत्तेदुं सक्केमि। (सखि प्रियकलत्रो राजर्षि । न पुनर्हृदय निवर्तयितु शक्नोमि।)

चित्रलेखा—किं उण तुए णिरासाए णिवत्तीअदि। (किं पुनस्त्वया निराशया निवर्त्यते।)

राजा—[आसनमुपेत्य] वयस्य न खलु दूरं गता देवी।

विदूषक—भण विस्सद्धं जं सि वत्तुकामो। असज्भो त्ति वेज्जेण आदुरो विअ सेरं मुत्तो भव तत्तहोदीए। (भण विश्रब्धं यदसि वक्तुकाम.। असाध्य इति वैद्येनातुर इव स्वैरं मुक्तो भवाँस्तत्रभवत्या।)

राजा—अपि नामोर्वशी।

उर्वशी—अज्ज किदत्था भवे। (अद्य कृतार्था भवेत।)

राजा—

गूढा नूपुरशब्दमात्रमपि मे कान्तं श्रुतौ पातयेत्

पश्चादेत्य शनैः कराम्बुजवृते कुर्वीत वा लोचने।

हर्म्येऽस्मिन्नवतीर्य साध्वसवशान्मन्दायमाना वलात्

आनीयेत पदात्पदं चतुरया सख्या ममोपान्तिकम् ॥१५॥

चित्रलेखा—सहि उव्वसि इमं दाव से मणोरहं संपादेहि। (सखि उर्वशि इम तावदस्य मनोरथ सम्पादय।)

उर्वशी—[ससाध्वसम्] भोदु। कीलिस्सं दाव। (भवतु क्रीडिष्यामि तावत्।) [इति तिरस्करणीमपनीय पृष्ठतो गत्वा राज्ञो नयने सवृणोति।]

[चित्रलेखा तिरस्करिणीमपनीय विदूषकं सज्ञापयति।]

विदूषक—भो वअस्स का उण एसा। (भो वयस्य का पुन एषा।)

राजा—[स्पर्शं रूपयित्वा] सखे नारायणोरुसंभवा सेयं वरोरू.।

विदूषक—कहं भवं अवगच्छदि। (कथ भवानवगच्छति।)

राजा—किमत्र ज्ञेयम्।

अङ्गमनङ्गक्लिष्टं सुखयेदन्या न मे करस्पर्शात्।

नोच्छ्वसिति तपनकिरणैश्चन्द्रस्यैवांशुभिः कुमुदम् ॥१६॥

उर्वशी—[हस्तौ अपनीय उत्तिष्ठति। किञ्चिदपसृत्य] जेदु जेदु महाराओ। (जयतु जयतु महाराज।)

राजा—सुंदरि स्वागतम्। [इत्येकासन उपवेशयति ।]

चित्रलेखा—अवि सुहं वअस्सस्स । (अपि सुखं वयस्यस्य ।)

राजा—नन्वेतदुपपन्नम् ।

उर्वशी—हला देवीए दिएणो महाराओ। अदो से पणअवदी विअ सरीरसंपक्कं गदम्हि। मा क्खु मं पुरोभाइणिं समत्थेहि। (हला देव्या दत्तो महाराज.। अतोऽस्य प्रणयवतीव शरीरसम्पर्कं गतास्मि। मा खलु मां पुरोभागिनीं समर्थयस्व।)

विदूषक.—कहं इह ज्जेव तुम्हाणं अत्थमिदो सुज्जो। (कथ इहैव युवयोरस्तमित' सूर्य ।)

राजा—[उर्वशीमवलोकयन्]

देव्या दत्त इति यदि व्यापारं व्रजसि मे शरीरेऽस्मिन् ।
प्रथमं कस्यानुमते चोरितमयि मे त्वया हृदयम् ॥ १७ ॥

चित्रलेखा—वअस्स णिरुत्तरा एसा। संपदं मह विएणवणा सुणीअदु। (वयस्य निरुत्तरा एषा। साम्प्रत मम विज्ञापना श्रूयताम्।)

राजा—अवहितोऽस्मि ।

चित्रलेखा—वसंताणंतरं उएहसमए भअव सुज्जो मए उवचरिदव्वो ता जहा इअं मे पिअसही सग्गस्स ण उक्कंठेदि तहा वअस्सेण कादव्वं। (वसन्तानन्तरमुष्णसमये भगवान्सूर्यो मयोपचरितव्य । तद्यथेयं मे प्रियसखी स्वर्गाय नोत्कण्ठते तथा वयस्येन कर्तव्यम्।)

विदूषकः—किं वा सग्गे सुमरिदव्व। ण वा तत्थ असीअदि ण वा पीअदि। केवलं अणिमिसेहिं णअणेहिं मीणा विडंबीअंति। (किं वा स्वर्गे स्मर्तव्यम्। न वा तत्राश्यते न वा पीयते। केवलमनिमिषैर्नयनैर्मीना विडम्ब्यन्ते।)

राजा—भद्रे ।

अनिर्देश्यसुखः स्वर्गः कस्तं विस्मारयिष्यति ।
अनन्यनारीसामान्यो दासस्त्वस्याः पुरूरवाः ॥१८॥

चित्रलेखा—अणुगहीदम्हि। हला उव्वसि अकादरा भविअ विसज्जेहि मं। (अनुगृहीतास्मि। हला उर्वशि अकातरा भूत्वा विसर्जय माम्।)

उर्वशी—[चित्रलेखा परिष्वज्य सकरुणम्] सहि मा क्खु मं विसुमरेहि। (सखि मा खलु मां विस्मर ।)

चित्रलेखा—[सस्मितम्] वअस्सेण संगदा तुमं एव्व एदं मए जाचिदव्वा । (वयस्येन सङ्गता त्वमेवैतन्मया याचितव्या ।) [इति राजानं प्रणम्य निष्क्रान्ता ।]

विदूषक.—दिट्ठिआमणोरहसंपदीए वड्ढदि भवं । (दिष्ट्या मनोरथ-सम्पत्या वर्धते भवान् ।)

राजा—इयं तावद्वृद्धिर्मम । पश्य—

सामन्तमौलिमणिरञ्जितपादपीठं
एकातपत्रमवनेर्न तथा प्रभुत्वम् ।
अस्याः सखे चरणयोरहमद्य कान्तं
आज्ञाकरत्वमधिगम्य यथा कृतार्थः ॥ १६ ॥

उर्वशी—णत्थि मे वाआविहवो अदो पिअदरं मंतिदुं। (नास्ति मे वाग्विभवोऽतः प्रियतरं मन्त्रयितुम्।)

राजा—[उर्वशीं हस्तेनावलम्ब्य] अहो विरुद्धसंवर्धन ईप्सितलाभो नाम । यतः

पादास्त एव शशिनः सुखयन्ति गात्रं
बाणास्त एव मदनस्य मनोनुकूलाः ।
संरम्भरूक्षमिव सुन्दरि यद्यदासीत्
त्वत्सङ्गमेन मम तत्तदिवानुनीतम् ॥ २० ॥

उर्वशी—अवरद्धम्हि चिरकारिआ अज्जउत्तस्स । (अपराद्धास्मि चिरकारिकार्यपुत्रस्य ।)

राजा—सुन्दरि मा मैवम् ।

यदेवोपनतं दुःखात्सुखं तद्रसवत्तरं ।
निर्वाणाय तरुच्छाया तप्तस्य हि विशेषतः ॥२१॥

विदूषकः—भो सेविदा पदोसरमणीआ चंदपादा । समओ क्खु दे वासघरपवेसस्स । (भो सेविता प्रदोषरमणीयाश्चन्द्रपादा । समयः खलु ते वासगृहप्रवेशस्य ।)

राजा—तेन हि सख्यास्ते मार्गमादेशय ।

विदूषकः—इदो इदो भवदी । (इत इतो भवती ।)

[इति सर्वे परिक्रामन्ति ।]

राजा—सुन्दरि इयमिदानीं मेऽभ्यर्थना ।

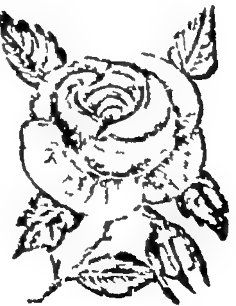
उर्वशी—कीरिसी सा (कीदृशी सा ।)

राजा—

अनुपनतमनोरथस्य पूर्वं शतगुणितेव गता मम त्रियामा ।
यदि तु तव समागमे तथैव प्रसरति सुभ्रु ततः कृती भवेयम् ॥२२॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

॥ इति तृतीयोऽङ्कः ॥



चतुर्थोऽङ्कः

पिअसहिविओअविमणा सहिं हंसी वाउला समुल्लवइ ।
सूरकरफंसविअसिअतामरसे सरवरुसंगे ॥ १ ॥

(प्रियसखीवियोगविमना सखी हसी व्याकुला समुल्लपति
सूर्यकरस्पर्शविकसिततामरसे सरोवरोत्सङ्गे ॥)

[ततः प्रविशति विमनस्का चित्रलेखा सहजन्या च]

सहअरि दुक्खालिद्धअं सरवरअम्मि सिणिद्धअं ।
वाहोवग्गिअणअणअं तम्मइ हंसीजुअलअं ॥२॥

(सहचरी दु खालीढ सरोवरे स्निग्धम् ।
वाष्पाववल्गितनयन ताम्यति हसीयुगलम् ॥)

सहजन्या—[चित्रलेखां विलोक्य सखेदम्] सहि चित्तलेहे मिलाअमाणसदवत्तस्स विअ दे मुहस्स छाआ हिअअस्स अस्सत्थदं सूएदि । ता कहेहि मे णिव्वेदकारणं । दे समदुक्खा भविदुं इच्छामि । (सखि चित्रलेखे म्लायमान शतपत्रस्येव ते मुखस्य छाया हृदयस्यास्वस्थता सूचयति । तत्कथय मे निर्वेदकारणम् । ते समदु खा भवितुमिच्छामि ।)

चित्रलेखा—[सकरुणम्] सहि अच्छरावारपज्जाएण इह भअवदो सुज्जस्स पादमूलोवट्ठाणे वट्टदि त्ति वलिअं क्खु उव्वसीए उक्कंठिदम्हि । (सखि अप्सरोवारपर्यायेणेह भगवत सूर्यस्य पादमूलोपस्थाने वर्तत इति बलवत्खलु उर्वश्यायुत्कण्ठितास्मि ।)

सहजन्या—सहि जाणे वो अण्णोण्णसिणेहं। तदो तदो। (सखि जाने युवयोरन्योन्यस्नेहम्। ततस्ततः।)

चित्रलेखा—तदो इमाइँ दिवसाइँ को णु क्खु वुत्तंतो त्ति पणिधाणट्ठिदाए मए अच्चाहिदं उवलद्धं। (ततः एतेषु दिवसेषु को नु खलु वृत्तान्त इति प्रणिधानस्थितया मयात्याहितमुपलब्धम्।)

सहजन्या—[सावेगम्] सहि कीरिसं तं। (सखि कीदृग तत्।)

चित्रलेखा—[सकरुणम्] उव्वसी किल तं रदिसहाअं राएसिं अमच्चेसु णिवेसिदरज्ज धुरं गेण्हिअ गंधमादणवणं विहरिदुं गदा। (उर्वशी किल तं रतिसहायं राजर्षिममात्येषु निवेशितराज्यधुरं गृहीत्वा गन्धमादनवनं विहर्तुं गता।)

सहजन्या—[सश्लाघम्] सो णाम संभोओ जो तारिसेसु पदेसेसु। तदो तदो। (स नाम सभोगो यस्तादृशेषु प्रदेशेषु। ततस्ततः।)

चित्रलेखा—तहिँ क्खु मंदाइणीए पुलिणेसु गदा सिअदापव्वद केलीहिँ कीलमाणा विज्जाधरदारिआ उदयवदी णाम देण राएसिणा णिज्झाइद त्ति कुविदा उव्वसी। (तत्र खलु मन्दाकिन्या पुलिनेषु गता सिकतापर्वतकेलीभि. क्रीडन्ती विद्याधरदारिकोदयवती नाम तेन राजर्षिणा निध्यातेति कुपिता उर्वशी।)

सहजन्या—होदव्वं। दूरारुढो क्खु पणओ असहणो। तदो तदो। (भवितव्यम्। दूरारूढ खलु प्रणयोऽसहन। ततस्तत।)

चित्रलेखा—तदो सा भट्टिणो अणुणअं अप्पडिवज्जमाणा गुरुसाव संमूढहिअआ विसुमरिददेवदाणिअमा इत्थिआजणपरिहरणिज्जं कुमारवणं पविट्ठा। पवेसाणंतरं अ काणणोवतवत्तिलदाभावेण परिणदं से रूवम्। (तत सा भर्तुरनुनयमप्रतिपद्यमाना गुरुशापसमूढहृदया विस्मृतदेवतानियमा स्त्रीजनपरिहरणीय कुमारवन प्रविष्टा। प्रवेशानन्तर च काननोपान्तवर्तिलताभावेन परिणतमस्या रूपम्।)

सहजन्या—[सशोकम्] सव्वधा णत्थि विहिणो अलंघणिज्जं णाम। जेण तारिसस्स अणुराअस्स अअं पव्व पक्कदे अण्णारिसो परिणामो संवुत्तो। अह किमवत्थो सो राएसी। (सर्वथा नास्ति विधेरलङ्घनीय नाम। येन तादृशस्यानुरागस्यायमेवैकपदेऽन्यादृश. परिणाम सवृत्त अथ किमवस्थ स राजर्षि।)

चित्रलेखा—सो वि तस्सिं एव्व काणणे पिअदमं विचिणन्तो अहो रत्ते अदिवाहेदि। [नमोवलोक्य] इमिणा उण सिन्दुराणं वि उक्कंठाकारिणा मेहोदएण अणत्थाहीणो हविस्सदि।

सहअरिदुक्खालिद्धअं सरवरअंमिसिणिद्धअं।
अविरलवाहजलोल्लअं तम्मइ हंसी जुअलअं ॥३॥

(सोऽपि तस्मिन्नेव कानने प्रियतमां विचिन्वन्नहोरात्रानतिवाहयति। एतेन पुनर्निर्वृतानामप्युत्कण्ठाकारिणा मेघोदयेनानर्थाधीनो भविष्यति।

सहचरीदुःखालीढं सरोवरे स्निग्धम्।
अविरलबाष्पजलार्द्रं ताम्यति हंसीयुगलम् ॥)

सहजन्या—सहि ण क्खु तारिसा आकिदिविसेसा चिरं दुक्खभाइणो होन्ति। ता अवस्सं किंपि अणुग्गहणिमित्तं भूवोवि समाअमकारणं हविस्सदि। [प्राची दिशं विलोक्य] ता एहि। उदअंमुहस्स भअवदो सुज्जस्स उवट्ठाणं करेम्ह।

चिंतादुम्मिअमाणसिआ सहअरिदंसण लालसिआ।
विअसिअ कमलमणोहरए विहरइ हंसी सरवरए ॥४॥

(सखि न खलु तादृशा आकृतिविशेषाश्चिरं दुःखभागिनो भवन्ति। तदवश्यं किमप्यनुग्रहनिमित्तं भूयोऽपि समागमकारणं भविष्यति। तदेहि। उदयोन्मुखस्य भगवतः सूर्यस्योपस्थानं कुर्वः।

चिन्तादूनमानसिका सहचरीदर्शनलालसिका।
विकसितकमलमनोहरे विहरति हंसी सरोवरे।)

[इति निष्क्रान्ते]

॥ प्रवेशकः ॥

गहणं गइंदणाहो पिअविरहुम्माअपअलिअविआरो।
विसइ तरुकुसुमकिसलअभूसिअणिअदेहपब्भारो॥

(गहनं गजेन्द्रनाथः प्रियाविरहोन्मादप्रकटितविकारः।
विशति तरुकुसुमकिसलयभूषितनिजदेहप्राग्भारः॥
[ततः प्रविशति आकाशबद्धलक्ष्यः

राजा—[सक्रोधम्] आः दुरात्मन् रक्षः । तिष्ठ तिष्ठ । मे प्रियतमामादाय गच्छसि । [विलोक्य] हन्त शैलशिखराद्गगनमुत्पत्य बाणैर्माम-भिवर्षति ।

हिअआहि अपिअ दुक्खओ सरवरए धुदपक्खओ ।
वाहोग्गअ णअणओ तम्मइ हंसजुआणओ ॥६॥

(हृदयाहित प्रियादुःख सरोवरे धुतपक्षः ।
वाष्पावगलितनयनस्ताम्यति हंसयुवा ।)

[लोष्टं गृहीत्वा हन्तुं धावन् विभाव्य सकरुणम्]

कथम् ।

नवजलधरः संनद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः
सुरधनुरिदं दूराकृष्टं न नाम शरासनम् ।
अयमपि पटुर्धारासारो न बाणपरंपरा
कनकनिकषस्निग्धा विद्युत्प्रिया न ममोर्वशी ॥७॥

मइँ जाणिअँ मिअलोअणी णिसअरु कोइ हरेइ ।
जाव णु णवतलिसामल धाराहरु वरिसेइ ॥८॥

(मया ज्ञातं मृगलोचना निशाचरः कोऽपि हरति ।
यावन्नु नवतडिच्छ्यामलो धाराधरो वर्षति ॥)

[विचिन्त्य सकरुणम्] क नु खलु सा रम्भोरूर्गता स्यात् ।

तिष्ठेत्कोपवशात्प्रभावपिहिता दीर्घं न सा कुप्यति ।
स्वर्गायोत्पतिता भवेन्मयि पुनर्भावार्द्रमस्या मनः ।
तां हर्तुं विबुधद्विषोऽपि न च मे शक्ताः पुरोवर्तिनीं
सा चात्यन्तमदर्शनं नयनयोर्यातेति कोऽयं विधिः ॥९॥

[इति दिशोऽवलोक्य सनिश्वासम् ।] अये पराङ्मुखभागधेयानां दुःखं दुःखानुबन्धि । कुतः—

अयमेकपदे तया वियोगः प्रियया चोपनतः सुदुःसहो मे ।
नववारिधरोदयादहोभिर्भवितव्यं च निरातपत्वरम्यैः ॥१०॥

जलहर संहर एहु कोपइँ आढत्तओ
अविरलधारासारदिसामुहकंतओ ।
ए मइँ पुहविँ भमंतो जइ पिअ पेक्खिमि
तव्वे जं जु करीहिसि तं तु सहीहिमि ॥ ११ ॥

(जलधर संहरैत कोपमाज्ञप्तः अविरलधारासारदिशामुखकान्त ।
ए अह पृथ्वीं भ्रमन्यदि प्रिया प्रेक्षे तदा यद्यत्करिष्यसि तत्तत्सहिष्ये)

[विहस्य] मुधैव खलु मया मनसः परितापवृद्धिरुपेदयते । यथा मुनयोऽपि व्याहरन्ति—राजा कालस्य कारणमिति । तत्किमहं जलदसमय न प्रत्यादिशामि ।

गंधुमाइअ महुअरगीएहिँ
वज्जंतेहिँ परहुअ तूरेहिँ
पसरिअपवणुव्वेलिअपल्लवणिअरु ।
सुललिअविविहपआरं णच्चइ कप्पअरु ॥ १२ ॥

(गन्धोन्मादितमधुकरगीतै —वाद्यमाने परभृततूर्ये ।
प्रसृतपवनोद्वेल्लितपल्लवनिकरः । सुललितविविधप्रकारं नृत्यति कल्पतरु ॥)

अथवा न प्रत्यादिशामि जलदसमयं यत्प्रावृषेण्यैरेव लिङ्गैर्मम राजोपचारः सम्प्रति । कथमिव ।

विद्युल्लेखा कनकरुचिरं श्रीवितानं ममाभ्रं
व्याधूयन्ते निचुलतरुभिर्मञ्जरीचामराणि ।
घर्मच्छेदात्पटुतरगिरो वन्दिनो नीलकण्ठाः
धाराहारोपनयनपरा नैगमाः सानुमन्तः ॥१३॥

भवतु । किमेवं परिच्छदश्लाघया । यावदस्मिन्कानने तां प्रियामन्वेषयामि ।

दइआरहिओ अहिअं दुहिओ विरहाणुगओ परिमंथरओ ।
गिरिकाणणए कुसुमुज्जलए गजजहवई वहुझीणगई ॥१४॥

(दयितारहितोऽधिकं दु खितो विरहानुगत परिमन्थर ।
गिरिकानने कुसुमोज्ज्वले गजयूथपतिर्वहुचीर्णगति ॥)

[परिक्रम्यावलोक्य च] हन्त हन्त । व्यवसितस्य मे संदीपनमिव संवृत्तम् । कुतः—

आरक्तराजिभिरियं कुसुमैर्नवकन्दलीसलिलगर्भैः ।
कोपादन्तर्बाष्पे स्मरयति मां लोचने तस्याः ॥ १५ ॥

इतो गतेति कथं नु तत्रभवती मया सूचयितव्या । यतः—

पद्भ्यां स्पृशेद्वसुमतीं यदि सा सुगात्री
मेघाभिवृष्टसिकतासु वनस्थलीषु ।
पश्चान्नता गुरुनितम्बतया ततोऽस्याः
दृश्येत चारुपद पङ्क्तिरलक्तकाङ्का ॥ १६ ॥

[परिक्रम्यावलोक्य च सहर्षम्] उपलब्धमुपलक्षणं येन तस्याः कोपनाया मार्गोऽनुमीयते ।

हृतोष्ठरागैर्नयनोदबिन्दुभिः निमग्ननाभेर्निपतद्भिरङ्कितम् ।
च्युतं रुषाभिन्नगतेरसंशयं शुकोदरश्याममिदं स्तनांशुकम् ॥१७॥

भवतु । आदास्ये तावत् । [परिक्रम्य विभाव्य च सास्रम्] कथं सेन्द्रगोपं नवशाद्वलमिदम् । कुतो नु खलु निर्जने वने प्रिया प्रवृत्तिरवगमयितव्या । [शिखिन दृष्ट्वा] अये अयमासारोच्छ्वसितशैलेयस्थलीपाषाणमारूढ.—

आलोकयति पयोदान्प्रबलपुरोवातताडितशिखण्डः ।
केका गर्भेण शिखी दूरोन्नमितेन कण्ठेन ॥१८॥

[उपेत्य] भवतु । यावेदनं पृच्छामि ।

संपत्तविसूरणओ तुरिअं परवारणओ ।
पिअदम-दंसण-लालसओ गजवरुविम्हिअ-माणसओ ॥१९॥

(सम्प्राप्त विसूरणः त्वरितं परवारण. ।
प्रियतमादर्शनलालसो गजवरो विस्मितमानस. ॥)

[अञ्जलिं बद्ध्वा]

वंहिण पइँ इअ अब्भत्थिअमि आअक्खहि मं ता
एत्थ वणे भम्मंते जइ पइँ दिट्ठी सा महु कंता ।
णिसमाहि मिअंकसरिसवअणा हंसगई
ए चिण्हे जाणीहिसि आअक्खिउ तुज्झ मइँ ॥२०॥

(वर्हिण त्वामित्यभ्यर्थये आचक्ष्व मे तत्
अत्र वने भ्रमता यदि त्वया दृष्टा सा मम कान्ता ।
निशामय मृगाङ्कसदृशवदना हंसगति .
अनेन चिह्नेन ज्ञास्यस्याख्यात तव मया ॥)

नीलकण्ठ ममोत्कण्ठा वनेऽस्मिन्वनिता त्वया ।
दीर्घापाङ्गा सितापाङ्गदृष्टा दृष्टिक्षमा भवेत् ॥ २१ ॥

[विलोक्य] कथमदत्त्वैव प्रतिवचनं नर्तितुं प्रवृत्तः । किं नु खलु हर्षकारणमस्य । [विचिन्त्य] आं ज्ञातम्—

मृदुपवनविभिन्नो मत्प्रियाया विनाशात्
घनरुचिरकलापो निःसपत्नोऽस्य जातः ।
रतिविगलितबन्धे केशपाशे सुकेश्याः
सति कुसुमसनाथे कं हरेदेष वर्ही ॥२२॥

भवतु । परव्यसननिर्वृतं न खलु एनं पृच्छामि [परिक्रम्यावलोक्य च] अये इयमातपान्त संधुक्षितमदा जम्बूविटपमध्यास्ते परभृता विहङ्गमेषु पण्डिता जातिरेषा । यावदेनामभ्यर्थये ।

विज्जज्झरकाणणलीणओ दुक्खविणिग्गअवाहुप्पीडओ ।
दूरो सारिअ हिअ आणंदओ अंवरमाणे भमइ गइंदओ ॥२३॥

(विद्याधरकाननलीनो दुःखविनिर्गतवाष्पोत्पीडः ।
दूरोत्सारितहृदयानन्दोऽम्बरमानेन भ्रमति गजेन्द्र ॥)

[इति नर्तित्वा जानुभ्या च स्थित्वा] हले हले ।

परहुअ महुरपलाविणि कंती णंदणवण सच्छंद भमंती ।
जइ पइँ पिअअम सा महु दिट्ठी ता आअक्खहि महु परपुट्ठी ॥२४॥

(परभृते मधुरप्रलापिनि कान्ते नन्दनवने स्वच्छन्द भ्रमन्ती ।
यदि त्वया प्रियतमा सा मम दृष्टा तदाचक्ष्व मे परपुष्टे ॥)

भवति ।

त्वां कामिनो मदनदूतिमुदाहरन्ति
मानावभङ्गनिपुणं त्वममोघमस्त्रम् ।
तामानय प्रियतमां मम वा समीपं
मां वा नयाशु कलभाषिणि यत्र कान्ता ॥२५॥

किमाह भवती । कथं त्वामेवमनुरक्तं विहायगता इति [अग्रतोऽवलोक्य] शृणोतु भवती ।

कुपिता न तु कोपकारणं सकृदप्यात्मगतंस्मराम्यहम् ।
प्रभुता रमणेषु योषितां नहि भावस्खलितान्यपेक्षते ॥२६॥

[ससम्भ्रममुपविश्य अनन्तरं जानुभ्या स्थित्वा कुपिता इति पुन पठित्वा उत्थाय विलोक्य च ।) कथं कथाविच्छेदकारिणी स्वकार्यं एव व्यासक्ता ।

अथवा ।

महदपि परदुःखं शीतलं सम्यगाहुः
प्रणयमगणयित्वा यन्ममापद्गतस्य ।
अधरमिव मदान्धा पातुमेषा प्रवृत्ता
फलमभिमुखपाकं राजजम्बूद्रुमस्य ॥२७॥

एवंगतेऽपि प्रियेव मे मञ्जुस्वनेति न मे कोपोऽस्याम् । सुखमास्तां भवती । इतो वय साधयामस्तावत् [परिक्रम्य कर्णं दत्वा ।] अये दक्षिणेन वनधारां प्रियाचरणनिक्षेपशंसी नूपुररवः श्रूयते यावदेनमनुगच्छामि [परिक्रम्य]

पिअअमविरहकिलामिअवअणओ
अविरलवाहजलाउलणअणओ

दूसहदुक्खविसंठुलगमणओ
पसरिअउरुतावदीविअअंगओ
अहिअं दुम्मिअ माणसओ
काणणॅ भमइ गइंदओ ॥२८॥

(प्रियतमा विरहक्लान्तवदनोऽविरलबाष्पजलाकुलनयन. ।
दु:सह दुःखविसंष्ठुलगमन प्रसृतगुरुतापदीप्ताङ्ग. ।
अधिक दूनमानस. कानने भ्रमति गजेन्द्र ॥)

[अनन्तरे द्विपदिकया दिशोऽवलोक्य]

पिअकारिणी विच्छोइओ गुरुसोआणल दीविओ ।
वाहजलाउललोअणओ करिवरु भमइ समाउलओ ॥२९॥

(प्रियकरिणीवियुक्तो गुरुशोकानलदीप्त. ।
वाष्प जलाकुल लोचन करिवरो भ्रमति समाकुल. ॥)

[सकरुणम्] हा धिक् कष्टम् ।

मेघश्यामा दिशो दृष्ट्वा मानसोत्सुकचेतसाम् ।
कूजितं राजहंसानां नेदं नूपुरशिञ्जितम् ॥३०॥

भवतु । यावदेते मानसोत्सुका पतत्रिणः सरसोऽस्मान्नोत्पतन्ति तावदेतेभ्य प्रियाप्रवृत्तिरवगमयितव्या । [उपसृत्य] भो भो जलविहङ्गमराज ।

पश्चात्सरः प्रतिगमिष्यसि मानसं तत्
पाथेयमुत्सृज बिसं ग्रहणाय भूयः ।
मां तावदुद्धर शुचो दयिताप्रवृत्त्या
स्वार्थात्सतां गुरुतरा प्रणयिक्रियैव ॥३१॥

अये यथोन्मुखो विलोकयति तथा मानसोत्सुकेन मया न लक्षितेत्येव वचनमाह ।

रे रे हंसा किं गोइज्जइ गइअणुमारॅ मइँ लक्खिज्जइ ।
कइँ पइँ सिक्खिउ ए गइ लालस सा पइँ दिट्ठी जहणभरालस ॥३२॥

(रे रे हंस किं गोप्यते गत्यनुसारेण मया लक्ष्यते ।
केन तव शिक्षिता एषा गतिर्लालसा सा त्वया दृष्टा जघनभरालसा ॥)

यदि हंस गता न ते नतभ्रूः सरसो रोधसि दर्शनं प्रिया मे ।
मदखेलपदं कथं नु तस्याः सकलं चोर गतं त्वया गृहीतम् ॥३३॥

अतश्च [इति अञ्जलिं बद्ध्वा]

हंस प्रयच्छ मे कान्तां गतिरस्यास्त्वया हृता ।
विभावितैकदेशेन देयं यदभियुज्यते ॥३४॥

[विहस्य] एष चोरानुशासी राजेति भयादुत्पतितः । यावदन्यमवकाशमवगाहिष्ये । [परिक्रम्यावलोक्य च] अयमिदानीं प्रियासहायश्चक्रवाकः । तावदेनं पृच्छामि ।

मंमररणिअमणोहरए कुसुमिअतरुवरपल्लवए ।
दइआविरहुंमाइअओ काणए भमइ गइंदओ ॥३५॥

(मर्मररणितमनोहरे कुसुमिततरुवरपल्लवे ।
दयिता विरहोन्मादित कानने भ्रमति गजेन्द्रः ॥)

गोरोअणा कुंकुमवण्णा चक्का भणइ मइं ।
महुवासर कीलंती धणिआ ण दिट्ठी पइं ॥३६॥

(गोरोचनाकुङ्कुमवर्ण चक्र भण माम् ।
मधुवासरे क्रीडन्ती धन्या न दृष्टा त्वया ॥)

रथाङ्गनामन् वियुतो तथाङ्गश्रोणिबिम्बया ।
अयं त्वां पृच्छति रथी मनोरथशतैर्वृतः ॥३७॥

कथं कः क इत्याह माम् । मा तावत् । न खलु विदितोऽहमस्य ।

सूर्याश्चन्द्रमसौ यस्य मातामहपितामहौ ।
स्वयं वृतः पतिर्द्वाभ्यामुर्वश्या च भुवा च यः ॥३८॥

कथं तूष्णीं स्थित । भवतु । उपालभे तावदेनम् ।

सरसि नलिनीपत्रेणापि त्वमावृतविग्रहाम्
ननु सहचरीं दूरे मत्वा विरौषि समुत्सुकः ।

इति च भवतो जाया स्नेहात्पृथक्स्थितिभीरुता

मयि च विधुरे भावः कान्ताप्रवृत्तिपराङ्मुखः ॥३९॥

सर्वथा मदीयानां भागधेयानां विपर्यायेण प्रभावप्रकाशः। यावदन्यमवकाशमवगाहिष्ये। [पदान्तरे स्थित्वा] भवतु न तावद्गच्छामि। [परिक्रम्यावलोक्य च]

इदं रुणद्धि मां पद्ममन्तःकूजितषट्पदम्।

मया दष्टाधरं तस्याः ससीत्कारमिवाननम् ॥४०॥

भवतु। इतो गतस्य मेऽनुशयो मा भूदित्यस्मिन्नपि कमलसेविनि मधुकरे प्रणयित्वं करिष्ये।

एक्ककमवड्ढिअगुरुअरपेम्मरसें।

सरे हंसजुआणओ कीलइ कामरसें ॥४१॥

(एकक्रमवर्धितगुरुतर प्रेमरसेन।

सरसि हसयुवा क्रीडति कामरसेन ॥)

मधुकर मदिराक्ष्याः शंस तस्याः प्रवृत्तिं

[विभाव्य]

वरतनुरथवासौ नैव दृष्टा त्वया मे।

यदि सुरभिमवाप्स्यस्तन्मुखोच्छ्वासगन्धं

तव रतिरभविष्यत्पुण्डरीके किमस्मिन् ॥ ४२ ॥

साधयामस्तावत्। [इति परिक्रम्यावलोक्य च] अये एष नीपस्कंधनिषण्णहस्तः करिणीसहायो नागराजस्तिष्ठति। अस्मात्प्रियोदन्तमुपलप्स्ये। यावदेनमुपसर्पामि।

करिणीविरहसंताविअओ।

काणणे गंधुद्धुअमहुअरु ॥ ४३ ॥

(करिणीविरहसतापित.)

कानने गन्धोद्धतमधुकर।

[विलोक्य] अथवा न त्वरा कार्या। न तावदयमुपसर्पणकाल।

अयमचिरोद्गत पल्लवमुपनीतं प्रियकरेणुहस्तेन ।
अभिलषतु तावदासवसुरभिरसंशल्लकीभङ्गम् ॥४४॥

[क्षणमात्र स्थित्वा । अवलोक्य] हन्त कृताह्निकः संवृत्त । भवतु । समीपमस्य गत्वा पृच्छामि ।

हउँ पइँ पुच्छिमि आअक्खहि गअवरु ललिअपहारेँ णासिअतरुवरु ।
दूरविणिज्जिअ ससहरुकंती दिट्ठी पिअ पइँ सम्मुह जंती ॥४५॥
(अहं त्वां पृच्छामि आचक्ष्व गजवर ललितप्रहारेण नाशिततरुवर ।
दूरविनिर्जितशशधरकान्तिर्दृष्टा प्रिया त्वया सम्मुख यान्ती ॥)

[पदद्वये पुरत उपसृत्य]

मदकल युवतिशशिकला गजयूथप यूथिकाशबलकेशी ।
स्थिरयौवना स्थिता ते दूरालोके सुखालोका ॥४६॥

[आकर्ण्य सहर्षम्] अहह अनेन भवतः स्निग्धमन्द्रेण गर्जितेन प्रियोपलम्भशंसिना समाश्वासितोऽस्मि । साधर्म्याच्च त्वयि मे भूयसी प्रीतिः ।

मामाहुः पृथिवीभृतामधिपतिं नागाधिराजो भवान्
अव्युच्छिन्न पृथुप्रवृत्ति भवतो दानं ममाप्यर्थिषु ।
स्त्रीरत्नेषु ममोर्वशी प्रियतमा यूथेतवेयंवशा
सर्वं मामनु ते प्रियाविरहजां त्वं तु व्यथां मानुभूः ॥४७॥

सुखमास्तां भवान् । साधयामस्तावत् । [परिक्रम्य । पार्श्वतो दृष्टि दत्त्वा ।] अये । अयमसौ सुरभिकन्दरोनाम विशेषरमणीय. सानुमानालोक्यते । प्रियश्चायमप्सरसाम् । अपि नाम सा सुतनुरस्योपत्यकायामुपलभ्येत । [परिक्रम्यावलोक्य च ।] कथमन्धकार । भवतु विद्युत्प्रकाशेनावलोकयामि । हन्त मदीयैर्दुरितपरिणामैर्मेघोऽपि शतह्रदाशून्यः संवृत्त तथापि शिलोच्चयमेनमपृष्ट्वा न निवर्तिष्ये ।

परिसरिअखरखुरदारिअमेइणि वणगहणे अविचल्लु ।
परिसप्पइ पेच्छह लीणो णिअकज्जुज्जुअ कोलु ॥४८॥

(प्रसृतखरखुरदारितमेदिनिर्वनगहनेऽविचल. ।
परिसर्पति पश्यत लीनो निजकार्योद्युक्त. कोलः ॥)

अपि वनान्तरमल्पकुचान्तरा श्रयति पर्वत पर्वसु संनता ।
इदमनङ्गपरिग्रहमङ्गना पृथुनितम्ब नितम्बवती तव ॥४९॥

कथं तूष्णीमेवास्ते। शङ्के विप्रकर्षान्न शृणोतीति । भवतु। समापेऽस्यगत्वा पुनरेनं पृच्छामि ।

फलिहसिलाहअणिम्मलणिज्झरु
बहुविहकुसुमें विरइअसेहरु ।
किंणरमहुरुग्गीअमणोहरु
देक्खावहि महु पिअअम महिहरु ॥५०॥

(स्फटिकशिलातलनिर्मलनिर्झर बहुविधकुसुमैर्विरचितशेखर ।
किंनरमधुरोद्गीतमनोहर दर्शय मम प्रियतमा महीधर ॥)

[इति परिक्रम्य अञ्जलिं बद्ध्वा ।]

सर्वक्षितिभृतां नाथ दृष्टा सर्वाङ्गसुन्दरी ।
रामा रम्ये वनान्तेऽस्मिन्मया विरहिता त्वया ॥५१॥

[नेपथ्ये तदेवाकर्ण्य सहर्षम्] कथं यथाक्रमं दृष्टा इत्याह । भवानपि अत प्रियतरं शृणोतु। क तर्हि मे प्रियतमा। [पुनरेव सर्वक्षितिभृतानाथ इति पठति। नेपथ्ये तदेव आकर्ण्य विभाव्य च।] हा धिक्। ममैवायं कन्दरमुखविसर्पी प्रतिशब्दः। [इति मूर्च्छति। उत्थाय सविषादम्।] अहह श्रान्तोऽस्मि। अस्यास्तावद्गिरिनद्यास्तीरे स्थितस्तरङ्ग वातमासेविष्ये। [परिक्रम्यावलोक्य च।] इमां नवाम्बुकलुषामपि स्रोतोवहां पश्यतो मे रमते मनः। कुत —

तरङ्गभ्रूभङ्गा क्षुभितविहगश्रेणिरशना
विकर्षन्ती फेनं वसनमिव संरम्भशिथिलम् ।
यथाविद्धं याति स्खलितमभिसन्धाय बहुशो
नदीभावेनेयं ध्रुवमसहना सा परिणता ॥५२॥

भवतु । प्रसादयामि तावदेनाम् । [अञ्जलिं बद्ध्वा ।]

पसीअ पिअअम सुंदरिए णए खुहिआकरुणाविहंगमए णए ।
सुरसरितीरसमूसुअए णए अलिउलझंकारिअए णए ॥५३॥

(प्रसीद प्रियतमे सुन्दरि नदि क्षुभिताकरुणविहङ्गमे नदि ।
सुरसरित्तीरसमुत्सुके नदि अलिकुलझङ्कारिते नदि ॥)

पुव्वदिसापवणाहअकल्लोलुग्गअबाहओ
मेहअअंगे णच्चइ सललिअ जलणिहिणाहओ ।
हंसविहंगमकुंकुमसंखकआभरणु
करिमअराउलकसणकमलकआवरणु ।
वेलासलिलुवेल्लिअहत्थदिण्णतालु
ओत्थरइ दस दिस रुंधेविणु णवमेहआलु ॥५४॥

(पूर्वदिक्पवनाहतकल्लोलोद्गतबाहुः मेघाङ्गैर्नृत्यति सललित जलनिधिनाथः ।
हंसविहङ्गमकुङ्कुमशङ्खकृताभरणः करिमकराकुलकृष्णकमलकृतावरण ।
वेला सलिलोद्वेल्लितदत्तहस्ततालोऽवस्तृणाति दशदिशो रुद्ध्वा नवमेघकालः ॥)

त्वयि निबद्धरतौ प्रियवादिनि प्रणयभङ्गपराङ्मुखचेतसि ।
कमपराधलवं मयि पश्यसि त्यजसि मानिनि दासजनं यतः ॥५५॥

कथं तूष्णीमेवास्ते [विचिन्त्य] अथवा परमार्थसरिदेवैषा । न खलूर्वशी पुरूरवसमपहाय समुद्राभिसारिणी भविष्यति । भवतु । अनिर्वेदप्राप्याणि श्रेयांसि । यावत्तमेव प्रदेशं गच्छामि यत्र मे नयनयोः सा सुनयना तिरोहिता । [परिक्रम्य विलोक्य च] इमं तावत्प्रियाप्रवृत्तये सारङ्गमासीनमभ्यर्थये ।

अभिनवकुसुमस्तबकिततरुवरस्य परिसरे
मदकलकोकिलकूजितरवझङ्कारमनोहरे ।
नन्दनविपिने निजकरिणीविरहानलेन संतप्तो
विचरति गजाधिपतिरैरावतनामा ॥५६॥

कृष्णसारच्छविर्योऽसौ दृश्यते काननश्रिया ।
नवशष्पावलोकाय कटाक्ष इव पातितः ॥५७॥

[विलोक्य] किं नु खलु मामवधीरयन्निवान्यतो मुख संवृत्तः। [दृष्ट्वा]

अस्यान्तिकमायान्ती शिशुना स्तनपायिना मृगी रुद्धा ।
तामयमनन्यदृष्टिर्भुग्नग्रीवो विलोकयति ॥५८॥

सुरसुंदरि जहणभरालस पीणुत्तुंगघणत्थणी
थिरजोव्वण तणुसरीरि हंसगई ।
गअणुज्जलकाणणे मिअलोअणि भमंती ।
दिट्ठी पइँ तह विरह समुद्दंतरें उत्तारहि मइँ ॥ ५९ ॥

(सुरसुन्दरी जघनभरालसा पीनोत्तुङ्गघनस्तनी
स्थिरयौवना तनुशरीरा हंसगतिः ।
गगनोज्ज्वलकानने मृगलोचना भ्रमन्ती
दृष्टा त्वया तर्हि विरहसमुद्रान्तरादुत्तारय माम् ॥)

[उपसृत्य अञ्जलिं बद्ध्वा] हंहो हरिणीपते ।

अपि दृष्टवानसि मम प्रियां वने कथयामि ते तदुपलक्षणं शृणु ।
पृथुलोचना सहचरी यथैव ते सुभगं तथैव खलु सापि वीक्षते ॥६०॥

कथमनादृत्य मद्वचनं कलत्राभिमुखं स्थितः । उपपद्यते परिभवास्पदं दशाविपर्ययः । यावदितोऽहमन्यमवकाशमवगाहिष्ये [परिक्रम्यावलोक्य च ।] हन्त दृष्टमुपलक्षणं तस्या मार्गस्य ।

रक्तकदम्ब सोऽयं प्रियया घर्मान्तशंसि यस्यैकम् ।
कुसुममसमग्रकेसरविषममपि कृतं शिखाभरणम् ॥६१॥

[परिक्रम्याशोकमवलोक्य च]

रक्ताशोक कृशोदरी क्व नु गता त्यक्त्वानुरक्तं जनं…

[पवनधूयमानमूर्धानमवलोक्य सक्रोधम्]

नो दृष्टेति मुधैव चालयसि किं वाताभिभूतं शिरः ।

उत्कण्ठाघटमानषट्पदघटासङ्घट्टदष्टच्छदः

तत्पादाहतिमन्तरेण भवतः पुष्पोद्गमोऽयं कुतः ॥६२॥

भवतु। सुखमास्तां भवान्। [परिक्रम्यावलोक्य च] किं नु खलु एतच्छिलाभेदान्तरगतं नितान्तरक्तमवलोक्यते।

अभालेपी नायं हरिहतगजस्यामिषलवः

स्फुलिङ्गो वा नाग्नेर्गहनमभिवृष्टं यत इदम्।

[विभाव्य]

अये रक्ताशोकप्रसवसमरागो मणिरयं

यमुद्धर्तुं पूषा व्यवसित इवालम्बितकरः ॥६३॥

अहो अयं हरति मे मनः। भवतु। आदास्ये तावदेनम्।

पणयिणिवद्धासाइओ वाहाउलणिअणअणओ।

गअवइ गहणे दूहिओ भमइ क्खामिअवअणओ ॥ ६४ ॥

(प्रणयिनीवद्धाशाको बाष्पाकुलनिजनयनः।

गजपतिर्गहने दुःखितः भ्रमति क्षामितवदनः ॥)

[ग्रहणं नाटयति। गृहीत्वा] अथवा

मन्दारपुष्पैरधिवासितायां यस्याः शिखायामयमर्पणीयः।

सैव प्रिया सम्प्रति दुर्लभा मे किमेनमस्रोपहतं करोमि ॥६५॥

[इत्युत्सृजति।]

[नेपथ्ये]

वत्स गृह्यतां गृह्यताम्।

सङ्गमनीय इति मणिः शैलसुता चरणरागयोनिरयम्।

आवहति धार्यमाणः सङ्गममचिरात्प्रियजनेन ॥६६॥

राजा—[कर्णं दत्त्वा] को न खलु मामेवमनुशास्ति। [अवलोक्य] अये अनुकम्पते मां कश्चिन्मृगचारी मुनिर्भगवान्। भगवन् अनुगृहीतोऽस्मि अहमुपदेशाद्भवतः [मणिमादाय] हंहो सङ्गमनीय।

तया वियुक्तस्य विलग्नमध्यया भविष्यसि त्वं यदि सङ्गमाय मे ।
ततः करिष्यामि भवन्तमात्मनः शिखामणिं बालमिवेन्दुमीश्वरः ।६७।

[परिक्रम्यावलोक्य च ।] अये किं नु खलु कुसुमरहितामपि लतामिमां पश्यतो मे मनो रमते । अथवा स्थाने मनोरमा ममेयम् । इयं हि ।

तन्वी मेघजलार्द्रपल्लवतया धौताधरेवाश्रुभिः
शून्येवाभरणैः स्वकालविरहाद्विश्रान्तपुष्पोद्गमा ।
चिन्तामौनमिवास्थिता मधुलिहां शब्दैर्विना लक्ष्यते
चण्डीमामवधूय पादपतितं जातानुतापेव सा ॥ ६८ ॥

यावदस्यां प्रियानुकारिण्यां परिष्वङ्गप्रणयी भवामि ।

लए पेक्ख विणु हिअएँ भमामि
जइ विहिजोएँ पुणि तहिँ पाविमि ।
ता रएणेँ विणु करमि णिभंतीँ
पुण णइ मेल्लुइँ ताह कअन्ती ॥ ६९ ॥

(लते प्रेक्षस्व विना हृदयेन भ्रमामि यदि विधियोगेन पुनस्तां प्राप्नोमि । तदारण्येन विना करोमि निर्भ्रान्ति पुनर्न प्रवेशयामि तां कृतान्ताम् ॥)

[इति उपसृत्य लतां आलिङ्गति । ततः प्रविशति तत्स्थान एव उर्वशी ।]

राजा—[निमीलिताक्ष एव स्पर्शं रूपयित्वा ।] अये उर्वशीगात्रसंस्पर्शादिव निर्वृतं मे शरीरम् । तथापि नास्ति विश्वासः । कुतः—

समर्थये यत्प्रथमं प्रियां प्रति क्षणेन तन्मे परिवर्ततेऽन्यथा ।
अतो विनिद्रे सहसा विलोचने करोमि न स्पर्शविभावितप्रियः ॥७०॥

[शनैश्चक्षुष्युन्मील्य] कथं सत्यमेव प्रियतमा । [इति मूर्च्छितः पतति ।]

उर्वशी—[बाष्पं विसृज्य] समस्ससदु समस्ससदु महाराओ ।
(समाश्वसितु समाश्वसितु महाराज ।)

राजा—[संज्ञां लब्ध्वा] प्रिये अद्य जीवितम्।

त्वद्वियोगोद्भवे तन्वि मया तमसि मज्जता।
दिष्ट्या प्रत्युपलब्धासि चेतनेव गतासुना ॥७१॥

उर्वशी—अब्भंतरकरणाए मए पच्चक्खीकिदवुत्तन्तो क्खु महाराओ। (अभ्यन्तरकरणया मया प्रत्यक्षीकृतवृत्तान्तः खलु महाराजः।)

राजा—अभ्यन्तरकरणयेति न खलु ते वचनार्थमवैमि।

उर्वशी—कहइस्सं। इदं दाव पसीददु महाराओ जं मए कोववसं गदाए एदं अवत्थन्तरं पाविदो महाराओ। (कथयिष्यामि। एतत्तावत्प्रसीदतु महाराजो यन्मया कोपवशं गतया एतदवस्थान्तरं प्रापितो महाराजः।)

राजा—कल्याणि न तावदहं प्रसादयितव्य। त्वद्दर्शनादेवप्रसन्नबाह्यान्तःकरणोऽन्तरात्मा। तत्कथय कथमियन्तं कालमवस्थिता मया विना भवती।

मोरा परहुअ हंस रहंग अलि गअ पव्वअ सरिअ कुरंगम।
तुज्झह कारण रण्णभमन्ते को णहु पुच्छिअ मइँ रोअंते ॥७२॥

(मयूर· परभृता 'सो रथाङ्ग' अलिगंज पर्वत सरित्कुरङ्गम·।
तव कारणेनारण्ये भ्रमता को न खलु पृष्टो मया रुदता ॥)

उर्वशी—एव्वं अंतक्करणपच्चक्खीकिद वुत्तंतो महाराओ। (एवमन्तःकरणप्रत्यक्षीकृतवृत्तान्तो महाराजः।)

राजा—प्रिये। अन्तःकरणमिति न खल्ववगच्छामि।

उर्वशी—सुणादु महाराओ। पुरा भअवदा कुमारेण सासदे कुमारवदं गेण्हिअ अकलुसो णाम गंधमादणकच्छो अज्झासिदो। किदो अ एस विही। (श्रृणोतु महाराजः। पुरा भगवता कुमारेण शाश्वतं कुमारव्रत गृहीत्वाकलुषो नाम गधमादनकच्छोऽध्यासित·। कृतश्चैष विधि.।)

राजा—क इव।

उर्वशी—जा किल इत्थिआ इमं पदेसं पविसदि सा लदाभावेण परिणमिस्सदि त्ति। किदो अ अअं सावान्तो गोरीचरणराअसंभवं मणिं विणा नदो ण मुच्चिस्सदि त्ति। तदो अहं गुरुसावसंमूढहिअआ

देवदासमअ विसुमरिअ अगहिदाणुणआ इत्थिआजणपरिहरणीयं कुमारवणं पविट्ठा। पवेसानन्तरं एव्व अकाणणोवंतवत्तिवासंतीलदाभाएण परिणदं मे रूवम्। (या किल स्त्री इम प्रदेश प्रविशति सा लताभावेन परिणस्यतीति। कृतश्चायं शापान्त. गौरीचरणरागसंभवं मणिं विना ततो न मोच्यत इति। ततोऽहं गुरुशापसमूढहृदया देवतासमय विस्मृत्या-गृहीतानुनया स्त्रीजनपरिहरणीय कुमारवनं प्रविष्टा। प्रवेशानन्तरमेव च काननोपान्तवर्तिवासन्तीलताभावेन परिणत मे रूपम्।)

राजा—प्रिये सर्वमुपपन्नम्।

श्रमखेदसुप्तमपि मां शयने या मन्यसे प्रवासगतम्।
सा त्वं प्रिये सहेथाः कथं मदीयं चिरवियोगम्॥ ७३॥

इद तद्यथाकथितं त्वत्सङ्गमनिमित्तं मुनेरुपलभ्य मणिप्रभावादासादिता त्वमस्माभि'। [इति मणि दर्शयति।]

उर्वशी—अमो संगमणीओ अअं मणी। अदो क्खु महाराएण आलिंगिदमेत्त ज्जेव्व पकिदित्थ म्हि संवुत्ता। (अहो सङ्गमनीयोऽय मणिः। अत खलु महाराजेनालिङ्गितमात्रैव प्रकृतिस्थास्मि सवृत्ता। [मणिमादाय मूर्धनि वहति।]

राजा—एवमेव सुन्दरि क्षणमात्रं स्थीयताम्।

स्फुरता विच्छुरितमिदं रागेण मणेर्ललाटनिहितस्य।
श्रियमुद्वहति मुखं ते बालातपरक्तकमलस्य॥ ७४॥

उर्वशी—पिअंवद महंतो क्खु कालो तुए पइट्ठाणदो णिग्गदस्स। कदाइ असूइस्संति मं पकिदीओ। ता एहि णिवुत्तम्ह। (प्रियवद महान्खलु कालस्तव प्रतिष्ठानान्निर्गतस्य। कदाचिदसूयिष्यन्ति मह्यं प्रकृतय.। तदेहि निवर्तावहे।)

राजा—यदाह भवती।

[इति उत्तिष्ठतः।]

उर्वशी—अध कधं महाराओ गंतुं इच्छदि। (अथ कथ, महाराजो गन्तुमिच्छति।)

राजा—

अचिरप्रभाविलसितैः पताकिना
सुरकार्मुकाभिनवचित्रशोभिना ।
गमितेन खेलगमने विमानतां
नय मां नवेन वसतिं पयोमुचा ॥ ७५ ॥

पाविअसहअरिसंगमओ पुलअपसाहिअंगओ ।
सेच्छापत्तविमाणओ विहरइ हंसयुवाणओ ॥ ७६ ॥

(प्राप्तसहचरीसङ्गम पुलकप्रसाधिताङ्ग ।
स्वेच्छाप्राप्तविमानो विहरति हंसयुवा ॥)

[इति निष्क्रान्तौ]

॥ इति चतुर्थोऽङ्क ॥



पञ्चमोऽङ्कः

[तत प्रविशति हृष्टो विदूषकः ।]

विदूषक —ही हीं भो दिट्ठिआ चिरस्स कालस्स उव्वसी सहाओ णंदणवणप्पमुहेसु देवदारण्णेसु विहरिअ पडिणिवुत्तो पिअवअस्सो। पविसिअ णअरं दाणिं ससक्कारोवआरेहिं पकिदीहिं अणुरज्जंतो रज्जं करेदि। संताणत्तणं वज्जिअ ण किंवि से हीणं। अज्ज तिहि विसेसो त्ति भअवदीणं गंगाजउणाणं संगमे देवीहिं सह किदाहिसेओ सपद उवआरिअं पविट्ठो। ता जाव तत्तभवदो अलंकरीअमाणस्स अणुलेवणमल्ले अग्गभागी होमि। (ही ही भो. दिष्ट्या चिरस्य कालस्योर्वशी सहायो नन्दनवनप्रमुखेषु देवतारण्येषु विहृत्य प्रतिनिवृत्त प्रियवयस्य । प्रविश्य नगरमिदानीं ससत्कारोपचारै प्रकृतिभिरनुरज्यमानो राज्य करोति। सन्तानत्व वर्जयित्वा न किमप्यस्य हीनम्। अद्य तिथिविशेष इति भगवत्योर्गङ्गायमुनयो सङ्गमे देवीभि सह कृताभिषेक. साम्प्रतमुपकार्यां प्रविष्ट । तद्यावत्तत्रभवतोऽलंक्रियमाणस्यानुलेपनमाल्येऽग्रभागी भवामि।) [इति परिक्रामति]

[नेपथ्ये]

हद्धी हद्धी। दुऊलुत्तरच्छदे तालवेंटाधारे णिक्खिविअ णीअमाणो मए भट्टिणो अब्भंतरविलासिणीमालिरअणजोग्गो मणी आमिससंकिणा गिद्धेण अपिखत्तो। (हा धिक् हा धिक् दुकूलोत्तरच्छदे ताल-वृन्ताधारे निक्षिप्य नीयमानो मया भर्तुरभ्यन्तरविलासिनीमौलिरत्नयोग्यो मणिरामिषशङ्किना गृध्रेणाक्षिप्त.।)

विदूषक —[कर्णं दत्वा] अच्चाहिदं अच्चाहिदं । परमवहुमदो क्खु सो वअस्सस्स संगमणीओ णाम चूडामणी । अदो क्खु असमत्तणेवच्छो एव्व तत्तभवं आसणादो उट्ठिअ इदो आअच्छदि । जाव णं उवसप्पामि। (अत्याहितमत्याहितम् । परमवहुमतः खलु स वयस्यस्य सङ्गमनीयो नाम चूडामणि. । अत. खल्वसमाप्त नेपथ्य एव तत्र भवानासनादुत्थायेत आगच्छति। यावदेनमुपसर्पामि ।) [इति निष्क्रान्तः ।]

॥ प्रवेशकः ॥

[तत प्रविशति सावेगपरिजनो राजा ।]

राजा—वेधक वेधक

आत्मनो वधमाहर्ता क्वासौ विहगतस्करः ।
येन तत्प्रथमं स्तेयं गोप्तुरेव गृहे कृतम् ॥ १ ॥

किरात —एसो एसो क्खु मुहकोडिलग्गहेमसुत्तेण मणिणा आलिहंतो विअ आआसं पडिब्भमदि । (एष एष खलु मुखकोटिलग्नहेमसूत्रेण मणिनालिखन्निवाकाश परिभ्रमति ।)

राजा—पश्याम्येनम्।

असौ मुखालंबितहेमसूत्रं बिभ्रन्मणिं मंडलचारशीघ्र ।
अलातचक्रप्रतिमं विहंगस्तद्राग लेखावलयं तनोति ॥२॥

किं नु खल्वत्र कर्तव्यम् ।

विदूषक —[उपेत्य] भो अलं एत्थ घिणाए । अवराही सासणीओ । (भोः । अलमत्र घृणया । अपराधी शासनीय ।)

राजा—सम्यगाह भवान् । धनुर्धनुस्तावत् ।

यवनी—एसा आणीयस्सं । (एषाऽनेष्यामि ।) [इति निष्क्रान्ता. ।]

राजा—वयस्य न दृश्यते स विहगाधमः । क्व नु खलु गतः ।

विदूषक —भो । इदो दक्खिणंतेण अवगदो सो सासणीओ कुणवभोअणो । (भोः । इतो दक्षिणान्तेनापगतः स शासनीय. कुणपभोजनः ।)

राजा—[परिवृत्यावलोक्य च ।] दृष्ट इदानीम् ।

प्रभापल्लवितेनासौ करोति मणिना खगः ।
अशोकस्तवकेनेव दिङ्मुखस्यावतंसकम् ॥ ३ ॥

यवनी—[चापहस्ता प्रविश्य ।] भट्टा एदं हत्थावावसहिदं सरासणं । (भर्तः । एतद्धस्तावापसहित शरासनम् ।)

राजा—किमिदानी शरासनेन । बाणपथमतीत· स क्रव्यभोजनः । तथा हि ।

आभाति मणिविशेषो दूरमिदानीं पतत्रिणा नीतः ।
नक्तमिव लोहिताङ्गः परुषघनच्छेदसंयुक्तः ॥ ४ ॥

(कञ्चुकिनं विलोक्य ।) आर्य लातव्य ।

कञ्चुकी—आज्ञापयतु देवः ।

राजा—मद्वचनादुच्यतां नागरिक· । सायं निवासवृक्षाश्रयी विचीयतां स विहगदस्युरिति ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देव । [इति निष्क्रान्त ।]

विदूषक –भो । उवविसदु भवं संपदं । कहिं गदो सो रअणकुम्भरीलओ भवदो सासणादो मुच्चिस्सादि । (भो । उपविशतु भवान् साम्प्रतम् । क्व गतः स रत्नकुम्भीरको भवत शासनान्मोदयते ।)

राजा—[विदूषकेण सहोपविश्य] वयस्य ।

रत्नमिति न मे तस्मिन्मणौ प्रियत्वं विहङ्गमाक्षिप्ते ।
प्रियया तेनास्मि सखे सङ्गमनीयेन सङ्गमितः ॥ ५ ॥

विदूषक —णं परिगदत्थो म्हि किदो भवदा । (ननु परिगतार्थोऽस्मि कृतो भवता ।) [ततः प्रविशति सशर मणिमादाय कञ्चुकी ।]

कञ्चुकी—जयतु जयतु देवः ।

अनेन निर्भिन्नतनुः स वध्यो रोषेण ते मार्गणतां गतेन ।
आज्ञापराधोचितमन्तरिक्षात्समौलिरत्नः पतितः पतत्री ॥ ६ ॥

[सर्वे विस्मय रुपयन्ति ।]

कञ्चुकी—अद्भि· प्रक्षालितोऽयं मणि कस्मै प्रदीयताम् ।

राजा—वेधक गच्छ । अग्निशुद्धमेनं कृत्वा पेटक प्रवेशय ।

किरात —जं भट्टा आणवेदि । (यद्भर्ताज्ञापयति ।) [इति मणिं गृहीत्वा निष्क्रान्त ।]

राजा—आर्य लातव्य। जानीते भवान् कस्यायं बाण इति।

कञ्चुकी—नामाङ्कितोऽयं दृश्यते। न तु मे वर्णविचारक्षमा दृष्टिः।

राजा—तेन हि उपनय शरं यावदहं निरूपयामि। [कञ्चुकी तथा करोति। राजा नामाक्षराण्यनुवाच्य विचारयति।]

कञ्चुकी—यावदहं नियोगमशून्यं करोमि। [इति निष्क्रान्त ।]

विदूषक—किं भवं विआरेदि। (किं भवान्विचारयति।)

राजा—शृणु तावत्प्रहर्तुर्नामाक्षराणि।

विदूषक—अवहिदो म्हि। (अवहितोऽस्मि।)

राजा—श्रूयताम्। [इति वाचयति।]—

उर्वशीसंभवस्यायमैलसूनोर्धनुष्मतः ।
कुमारस्यायुषो बाणः प्रहर्तुर्द्विषदायुषाम् ॥ ७ ॥

विदूषक—[सपरितोषम्।] दिट्ठिआ संताणेण वड्ढदि भवं। (दिष्ट्या सन्तानेन वर्धते भवान्।)

राजा—सखे कथमेतत्। अन्यत्र नैमिषेयसत्रादवियुक्तोऽहमुर्वश्या। न च मया कदाचिदपि गर्भव्यक्तिरालक्षिता कुत एव प्रसूतिः। किंतु—

आविलपयोधराग्रं लवलीदलपाण्डुराननच्छायम्।
कानि दिनानि वपुरभूत्केवलमलसेक्षणं तस्याः ॥ ८ ॥

विदूषक—मा भवं सव्वं माणुसीधम्मं दिव्वासु संभावेदु। पहावणिगूढाइँ ताणं चरिदाइँ। (मा भवान् सर्वं मानुषीधर्मं दिव्यासु संभावयतु। प्रभावनिगूढानि तासां चरितानि।)

राजा—अस्तु तावदेवं यथा भवानाह। पुत्रसंवरणे तु किमिव कारणं तत्र भवत्याः।

विदूषक—मा वुड्ढि मं राआ परिहरिस्सदित्ति। (मा वृद्धां मां राजा परिहरिष्यतीति।)

राजा—कृतं परिहासेन। चिन्त्यताम्।

विदूषक—को देवदारहस्साइँ तक्कइस्सदि। (को देवतारहस्यानि तर्कयिष्यति।)

[प्रविश्य कञ्चुकी]

कञ्चुकी—जयतु जयतु देवः। देव च्यवनाश्रमात्कुमारं गृहीत्वा सम्प्राप्ता तापसी देवं द्रष्टुमिच्छति।

राजा—उभयमप्यविलम्बितं प्रवेशय।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देव। [इति निर्गम्य चापहस्तेन कुमारेण तापस्या च सह प्रविष्ट।]

कञ्चुकी—इत इतो भगवती। [सर्वे परिक्रामन्ति।]

विदूषक.—[विलोक्य] किं णु क्खु सो एसो तत्तभवं खत्तिअ-कुमारओ जस्स णामे किदो गिद्धलक्खवेधी अद्धणाराओ। तह हि वहुअरं भवदो अणुकरेदि। (किं नु खलु स एष तत्रभवान्क्षत्रियकुमारको यस्य नामाङ्कितो गृध्रलक्ष्यवेध्यर्धनाराच.। तथा हि वहुतर भवतोऽनुकरोति।)

राजा—स्यादेवम्। अतः खलु।

वाष्पायते निपतिता मम दृष्टिरस्मिन्
वात्सल्यबन्धि हृदयं मनसः प्रसादः।
संजातवेपथुभिरुज्भित धैर्यवृत्तिः
इच्छामि चैनमदयं परिरब्धुमङ्गैः ॥९॥

कञ्चुकी—भगवति। एवं स्थीयताम्।

[तापसीकुमारौ स्थितौ।]

राजा—अम्ब। अभिवादये।

तापसी—महाभाग। सोमवंसवित्थारइत्तओ होहि। [आत्मगतम्] अम्हो अणाचक्खिदोवि विण्णादो एव्व इमस्स राएसिणो आउसो ओरसो संबंधो। [प्रकाशम्] जाद पणाम दे गुरुं। (महाभाग। सोमवंशविस्तारयिता भव। अहो अनाख्यातोऽपि विज्ञात एवास्य राजर्षेरायुष औरस सम्बन्ध। जात प्रणम ते गुरुम्।)

[कुमारश्चापगर्भमञ्जलिं बद्ध्वा प्रणमति।]

राजा—वत्स। आयुष्मान् भव।

कुमार.—[स्वगतम्]

यदि हार्दमिदं श्रुत्वा पिता ममायं सुतोऽहमस्येति ।
उत्सङ्गवर्धितानां गुरुषु भवेत्कीदृशः स्नेहः ॥१०॥

राजा—भगवति । किमागमनप्रयोजनम् ।

तापसी—सुणादु महाराओ । एसो दीहाऊ आउजादमेत्तो एव्व उव्वसीए । किंवि णिमित्तं अवेक्खिअ मम हत्थे णासीकिदो । जं खत्तिअकुमारअस्स जादकम्मादि विहाणं तं से भअवदा चवणेण असेसं अणुचिट्ठिदं । गहीदविज्जो धणुव्वेदे अहिविणीदो । (शृणोतु महाराज. । एष दीर्घायुरायुर्जातमात्र एव उर्वश्या किमपि निमित्तमवेक्ष्य मम हस्ते न्यासीकृतः । यत्क्षत्रियकुमारस्य जातकर्मादि विधानं तदस्य भगवता च्यवनेनाशेषमनुष्ठितम् । गृहीतविद्यो धनुर्वेदेऽभिविनीतः ।)

राजा—सनाथः खलु संवृत्त ।

तापसी—अज्ज पुप्फसमिधकुसणिमित्तं इसिकुमारएहिं सहगदेण इमिणा अस्समविरुद्धं आअरिदं । (अद्य पुष्पसमित्कुशनिमित्तं ऋषि-कुमारकैः सहगतेनानेनाश्रमविरुद्धमाचरितम् ।)

विदूषक —[सावेगम्] किं विअ । (किमिव ।)

तापसी—गहीदामिसो किल गिद्धो पादवसिहरे णिलीअमाणो अणेण लक्खीकिदो वाणस्स । (गृहीतामिष. किल गृध्र' पादपशिखरे निलीयमानोऽनेन लक्ष्यीकृतो बाणस्य ।)

[विदूषको राजानमवलोकयति ।]

राजा—ततस्ततः ।

तापसी—तदो उवलद्धउत्तंतेण भअवदा चवणेण अहं समादिट्ठा—णिज्जादेहि एदं उव्वसीहत्थे णासं त्ति । ता इच्छामि देविं उव्वसिं पेक्खिदुं । (तत उपलब्धवृत्तान्तेन भगवता च्यवनेनाह समादिष्टा—निर्यातयैन-मुर्वशीहस्ते न्यासमिति । तदिच्छामि देवीमुर्वशीं प्रेक्षितुम् ।)

राजा—तेन ह्यासनमनुगृह्णातु भगवती ।

[तापसी उपनीत आसन उपविशति ।]

राजा—आर्य लातव्य । आहूयतामुर्वशी ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः । [इति निष्कान्त ।]

राजा—[कुमारमवलोक्य ।] एहि एहि वत्स ।

सर्वाङ्गीणः स्पर्शः सुतस्य किल तेनमामुपगतेन ।
आह्लादयस्व तावच्चन्द्रकरश्चन्द्रकान्तमिव ॥११॥

तापसी—जाद णंदेहि पिदरम् । (जात नन्दय पितरम् ।)

[कुमारो राजानमुपगम्य पादग्रहणं करोति ।]

राजा—[कुमारमालिङ्ग्य पादपीठेचोपवेश्य ।] वत्स इतस्तव पितु प्रियसखं ब्राह्मणमशङ्कितो वन्दस्व ।

विदूषकः—किंति संकिस्सदि । णं अस्समवासपरिचिदो एव्व साहामिओ । (किमिति शङ्किष्यते । नन्वाश्रमवासपरिचित एव शाखामृग. ।)

कुमारः—[सस्मितम्] तात वंदे ।

विदूषक—सत्थि भवदो । वड्ढदु भवं । (स्वस्ति भवते । वर्धता भवान् ।)

[तत प्रविशत्युर्वशी कञ्चुकी च ।]

कञ्चुकी—इत इतो देवी ।

उर्वशी—[कुमारमवलोक्य] को णु क्खु एसो सवाणासणो पादपीठे सअं महाराएण संजमीअमाणसिहण्डओ चिट्ठदि । [तापसीं दृष्ट्वा ।] अम्मो सच्चवदीसूइदो अअं मे पुत्तओ आऊ । महंतो क्खु संवुत्तो । (को नु खल्वेष सवाणासन. पादपीठे स्वय महाराजेन सयम्यमानशिखण्ड-कस्तिष्ठति । अहो सत्यवतीसूचितोऽयं मे पुत्रक आयु । महान् खलु सवृत्त ।)

[इति सहर्ष परिक्रामति ।]

राजा—[उर्वशीं दृष्ट्वा ।] वत्स—

इयं ते जननी प्राप्ता त्वदालोकनतत्परा ।
स्नेहप्रस्नवनिर्भिन्नमुद्वहन्ती स्तनांशुकम् ॥१२॥

तापसी—जाद एहि । पच्चुग्गच्छ मादरं । (जात एहि । प्रत्युद्गच्छ मातरम् ।) [इति कुमारेण सह उर्वशीमुपसर्पति ।]

उर्वशी—अंब पादवंदणं करेमि । (अम्ब-पादवन्दन करोमि ।)

तापसी—वच्छे भत्तुणो बहुमदा होहि । (वत्से भर्तुर्बहुमता भव ।)

कुमार —अम्ब अभिवादये ।

उर्वशी—[कुमारमुन्नमितमुखं परिष्वज्य ।] वच्छ पिदरं आराधइत्तओ

होहि । [राजानमुपेत्य ।] जेदु जेदु महाराश्रो । (वत्स पितरमाराधयिता भव । जयतु जयतु महाराज ।)

राजा—स्वागतं पुत्रवत्यै । इत आस्यताम् । [इत्यर्धासनं ददाति ।]

[उर्वशी उपविशति । सर्वे यथोचितमुपविशन्ति ।]

तापसी—वच्छे । एसो गहीदविज्जो आऊ संपदं कवअहरो संवुत्तो । ता पदस्स दे भत्तुणो समक्खं णिज्जादिदो हत्थणिक्खेवो । ता विसज्जेदुं इच्छामि । उवरुज्झइ मह अस्समधम्मो । (वत्से । एष गृहीतविद्य आयुः साम्प्रतं कवचहरः संवृत्तः । तदेतस्य ते भर्तुः समक्षं निर्यातितो हस्तनिक्षेपः । तद्विसर्जयितुमिच्छामि । उपरुध्यते ममाश्रमधर्मः ।)

उर्वशी—चिरस्स अज्जं देक्खिअ अहिअदरं अवितिण्हम्हि । ण सक्कणोमि विसज्जिदुं । अणण्णं उण उवरोहिदुं । ता गच्छदु अज्जा पुणो दंसणाअ । (चिरस्यार्यां दृष्ट्वाऽधिकतरमवितृष्णास्मि । न शक्नोमि विसृष्टुम् । अन्याय्यं पुनरुपरोद्धुम् । तद्गच्छत्वार्या पुनर्दर्शनाय ।)

राजा—अम्ब भगवते च्यवनाय मां प्रणिपातय ।

तापसी—एव्वं भोदु । (एवं भवतु ।)

कुमार—आर्ये सत्यं यदि निवर्तसे मामप्याश्रमं नेतुमर्हसि ।

राजा—अयि वत्स उषितं त्वया पूर्वस्मिन्नाश्रमे । द्वितीयमध्यासितुं तव समयः ।

तापसी—जाद । गुरुणो वअणं अणुचिट्ठ । (जात । गुरोर्वचनमनुतिष्ठ ।)

कुमार—तेन हि ।

यः सुप्तवान्मदङ्के शिखण्डकण्डूयनोपलब्धसुखः ।
तं मे जातकलापं प्रेषय मणिकण्ठकं शिखिनम् ॥ १३ ॥

तापसी—[विहस्य ।] एव्वं करेमि । (एवं करोमि ।)

उर्वशी—भअवदि पादवंदणं करेमि । (भगवति पादवन्दनं करोमि ।)

राजा—भगवति प्रणमामि ।

तापसी—सोत्थि भोदु तुम्हाणम् । (स्वस्ति भवतु युष्मभ्यम् ।)

[इति निष्क्रान्ता ।]

राजा—[उर्वशीं प्रति] कल्याणि ।

अद्याहं पुत्रिणामग्र्यः सत्पुत्रेणामुना तव ।
पौलोमीसंभवेनेव जयन्तेन पुरन्दरः ॥ १४ ॥

[उर्वशी स्मृत्वा रोदिति ।]

विदूषक —[विलोक्य सावेगम् ।] भो किं णु क्खु सम्पदं अत्तहोदी एक्कवदे अस्सुमुही संवुत्ता । (भोः किं नु खलु साम्प्रतमत्रभवती एकपदे अश्रुमुखी सवृत्ता ।)

राजा—[सावेगम् ।]

किं सुन्दरि प्ररुदितासि ममोपनीते
वंशस्थितेरधिगमान्महति प्रमोदे ।
पीनस्तनोपरिनिपातिभिरानयन्ती
मुक्तावलीविरचनां पुनरुक्तिमस्रैः ॥ १५ ॥

[इति अस्या वाष्पं प्रमार्ष्टि ।]

उर्वशी—सुणादु महाराओ । पढमं उण पुत्तदंसणसमुत्थेण आणंदेण विसुमरिद म्हि । दाणिं महिंदसंकित्तणेण सुमरिओ समओ मह हिअअं आआसेदि । (शृणोतु महाराजः । प्रथमं पुन पुत्रदर्शनसमुत्थेनानन्देन विस्मृतास्मि । इदानी महेन्द्रसकीर्तनेन स्मृतः समयो मम हृदमायासयति ।)

राजा—कथ्यतां समय· ।

उर्वशी—अहं पुरा महाराअगहिदहिअआ गुरुसावसमूढा महिंदेण आणत्ता । (अह पुरा महाराजगृहीतहृदया गुरुशापसमूढा महेन्द्रेण आज्ञापिता ।)

राजा—किमिति ।

उर्वशी—जदा सो मे पिअसहो राएसी तुइ समुप्पण्णस्स वंसकरस्स मुहं पेक्खिस्सदि तदा तुए भूओ वि मम समीवं आअंतव्वं त्ति । तदो मए महाराअविओअभीरुदाए जादमेत्तो एव्व विज्जागमणिमित्तं भअवदो चवणस्स अस्समे एसो पुत्तओ अज्जाए सच्चवदीए हत्थे अप्पआसं णिक्खित्तो । अज्ज पिदुणो आराहणसमत्थो संवुत्तो त्ति कलअंतीए ताए णिज्जादिदो एसो मे दीहाऊ आऊ । ता एत्तिओ मे महा

राएण सह संवासो। (यदा स मे प्रियसखो राजर्षिस्त्वयि समुत्पन्नस्य वशकरस्य मुखं प्रेक्षिष्यते तदा त्वया भूयोऽपि मम समीपमागन्तव्यमिति। ततो मया महाराजवियोगभीरुतया जातमात्र एव विद्यागमनिमित्तं भगवतश्च्यवनस्याश्रमे एष पुत्रक आर्याया सत्यवत्या हस्तेऽप्रकाशं निक्षिप्त.। अद्य पितुराराधनसमर्थ सवृत्त इति कलयन्त्या तया निर्यातित एष मे दीर्घायुरायुः। तदेतावान्मे महाराजेन सह संवास॰।)

[सर्वे विषादं नाटयन्ति। राजा मोहमुपगच्छति।]

विदूषकः—अव्वम्हएणं अव्वम्हएणं। (अब्रह्मण्यमब्रह्मण्यम्।)

कञ्चुकी—समाश्वसितु समाश्वसितु महाराजः।

राजा—[समाश्वस्य सनि.श्वासम्।] अहो सुखप्रत्यर्थिता दैवस्य।

आश्वासितस्य मम नाम सुतोपलब्ध्या
सद्यस्त्वया सह कृशोदरि विप्रयोगः।
व्यावर्तितातपरुजः प्रथमाभ्रवृष्ट्या
वृक्षस्य वैद्युत इवाग्निरुपस्थितोऽयम् ॥ १६ ॥

विदूषक —अअं सो अत्थो अणत्थाणुबंधो। संवुत्तो संपद तक्केमि अत्तभवदा वक्कलं गेण्हिअ तवोवणं गंदव्वं त्ति। (अयं सोऽर्थोऽनर्थानुबन्धः सवृत्तः। साम्प्रत तर्कयाम्यत्र भवता वल्कलं गृहीत्वा तपोवन गन्तव्यमिति।)

उर्वशी—मं वि मदभाइणिं किदविणअस्स पुत्तस्स लाभाणंतरं सग्गारोहणेण अवसिदकज्जं विप्पओअमुहीं महाराओ समत्थइस्सदि। (मामपि मन्दभागिनीं कृतविनयस्य पुत्रस्य लाभानन्तरं स्वर्गारोहणेनावसितकार्यां विप्रयोगमुखीं महाराज॰ समर्थयिष्यति।)

राजा—सुन्दरि मा मैवम्।

न हि सुलभवियोगा कर्तुमात्मप्रियाणि
प्रभवति परवत्ता शासने तिष्ठ भर्तुः।
अहमपि तव सूनावद्य विन्यस्य राज्यं
विचरितमृगयूथान्याश्रयिष्ये वनानि ॥ १७॥

कुमार—नार्हति तात पुङ्गवधारितायां धुरि दम्यं नियोजयितुम्।

राजा—अयि वत्स। मा मैवम्।

शमयति गजानन्यान्गन्धद्विपः कलभोऽपि सन्
भवति सुतरां वेगोदग्रं भुजङ्गशिशोर्विषम्।
भुवमधिपतिर्बालावस्थोऽप्यलं परिरक्षितुं
न खलु वयसा जात्यैवायं स्वकार्यसहो भरः ॥१८॥

आर्य लातव्य।

कञ्चुकी—आज्ञापयतु देवः।

राजा—मद्वचनादमात्यपरिषदं ब्रूहि संभ्रियतामायुषो राज्याभिषेक इति।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः। [इति दुःखितो निष्क्रान्तः।]

[सर्वे दृष्टिविघात रूपयन्ति।]

राजा—[आकाशमवलोक्य।] किं नु खलु निरभ्रे विद्युत्संपातः।

उर्वशी—[विलोक्य।] अम्मो भअवं णारदो। (अहो भगवान् नारदः।)

राजा—[निपुणमवलोक्य।] अये भगवान् नारदः। य एषः—

गोरोचनानिकषपिङ्गजटाकलापः
संलक्ष्यते शशिकलामलवीतसूत्रः।
मुक्तागुणातिशयसंभृतमण्डनश्रीः
हेमप्ररोह इव जङ्गमकल्पवृक्षः ॥ १९ ॥

अर्घ्यं तावदस्मै।

उर्वशी—[यथोक्तमादाय।] इअं भअवदे अरिहणा। (इयं भगवतेऽर्हणा।)

[ततः प्रविशति नारदः। सर्वे उत्तिष्ठन्ति।]

नारदः—विजयतां विजयतां मध्यमलोकपालः।

राजा—[उर्वशी हस्तादर्घ्यमादायावर्ज्य च।] भगवन्नभिवादये।

उर्वशी—भअवं पणमामि। (भगवन् प्रणमामि।)

नारदः—अविरहितौ दम्पती भूयास्ताम्।

राजा—[आत्मगतम्।] अपि नामैवं स्यात्। [कुमारमाश्लिष्य प्रकाशम्।] वत्स भगवन्तमभिवादयस्व।

कुमारः—भगवन्। और्वशेय आयुः प्रणमति।

नारद —आयुष्मानेधि।

राजा—अयं विग्रहोऽनुगृह्यताम्।

नारद —तथा। [इत्युपविष्ट ।]

[सर्वे नारदमनूपविशन्ति।]

राजा—[सविनयम्] भगवन् किमागमनप्रयोजनम्।

नारद —राजन्। श्रूयतां महेन्द्रसन्देश।

राजा—अवहितोऽस्मि।

नारद —प्रभावदर्शी मघवा वनगमनाय कृतबुद्धि भवन्तमनुशास्ति।

राजा—किमाज्ञापयति।

नारद —त्रिकालदर्शिभिर्मुनिभिरादिष्टो महान्सुरासुरसंगरो भावी। भवाँश्च सांयुगीनः सहायो नः। तेन न त्वया शस्त्रं संन्यस्तव्यम्। इयं चोर्वशी यावदायुस्तव सहधर्मचारिणी भवत्विति।

उर्वशी—[अपवार्य।] अम्महे सल्लं विअ मे हिअआदो अवणीदं। (अहो शल्यमिव मे हृदयादपनीतम्।)

राजा—परवानस्मि देवेश्वरेण।

नारद —युक्तम्।

त्वत्कार्यं वासवः कुर्यात्त्वं च तस्येष्टमाचरेः।
सूर्यः समेधयत्यग्निमग्निः सूर्यं च तेजसा ॥२०॥

[आकाशमवलोक्य।] रम्भे। उपनीयतां स्वयं महेन्द्रेण सभृतः कुमारस्यायुषो यौवराज्याभिषेकः।

[प्रविष्टा यथोक्तहस्ताऽप्सरस]

अप्सरस —भअवं इमे अभिसेअसंभारा। (भगवन्नेतेऽभिषेकसंभाराः।)

नारद—उपवेशयतामयमायुष्मान्भद्रपीठे।

रम्भा—इदो वच्छ। (इतो वत्स।) [इति कुमारं भद्रपीठ उपवेशयति।]

नारद —[कुमारस्य शिरसि कलशमावर्ज्य ।] रम्भे । निर्वर्त्यतां शेषो विधिः ।

रम्भा—[यथोक्तं निर्वर्त्य ।] वच्छ पणम भअवंतं पिदरो अ । (वत्स प्रणम भगवन्त पितरौ च ।)

[कुमारो यथाक्रमं प्रणमति ।]

नारद —स्वस्ति भवते ।

राजा—कुलधुरधरो भव ।

उर्वशी—पिदुरो आराहओ होहि । (पितुराराधको भव ।)

[नेपथ्ये वैतालिकद्वयम् ।]

वैतालिकौ—विजयतां युवराजः ।

प्रथमः—

अमरमुनिरिवात्रिर्ब्रह्मणोऽत्रेरिवेन्दुः
बुध इव शिशिरांशोर्बोधनस्येव देवः ।
भव पितुरनुरूपस्त्वं गुणैर्लोककान्तैः
अतिशयिनि समस्ता वंश एवाशिपस्ते ॥२१॥

द्वितीय —

तव पितरि पुरस्तादुन्नतानां स्थितेऽस्मिन्
स्थितिमति च विभक्ता त्वय्यनाकम्पधैर्ये ।
अधिकतरमिदानी राजते राजलक्ष्मीः
हिमवति जलधौ च व्यस्ततोयेव गङ्गा ॥२२॥

अप्सरस —[उर्वशीमुपेत्य ।] दिट्ठिआ पिअसही पुत्तस्स जुवराअसिरीए भत्तुणो अविरहेण अ वड्ढदि । (दिष्ट्या प्रियसखी पुत्रस्य युवराजश्रिया भर्तुरविरहेण च वर्धते ।)

उर्वशी—णं साहारणो एसो अब्भुदओ । [कुमार हस्ते गृहीत्वा ।] एहि वच्छ । जेट्ठमादरं अभिवंदेहि । (ननु साधारण एषोऽभ्युदय. । एहि वत्स । ज्येष्ठमातरमभिवन्दस्व ।)

[कुमार प्रतिष्ठते ।]

राजा—तिष्ठ। सममेव तत्र भवत्या समीपं यास्यामस्तावत्।

नारदः—

आयुषो यौवराज्यश्रीः स्मारयत्यात्मजस्य ते।
अभिषिक्तं महासेनं सैनापत्ये मरुत्वता ॥ २३ ॥

राजा—अनुगृहीतोऽस्मि मघवता।

नारदः—भो राजन्। किं ते भूयः प्रियमुपकरोतु पाकशासनः।

राजा—यदि मे मघवा प्रसन्नः किमतः परमिच्छामि। तथापि—इदमस्तु।

[भरतवाक्यम्]

परस्परविरोधिन्योरेकसंश्रयदुर्लभम्।
सङ्गतं श्रीसरस्वत्योर्भूतयेऽस्तु सदा सताम् ॥ २४ ॥

अपि च।

सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु।
सर्वः कामानवाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु ॥ २५ ॥

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे।]

इति पञ्चमोऽङ्कः।

समाप्तमिदं श्रीकालिदासकृतं विक्रमोर्वशीयं नाम त्रोटकम्।



मालविकाग्निमित्रम्

पात्र-परिचयः

पुरुषाः

सूत्रधार —नाटकस्य प्रबन्धकर्त्ता ।
पारिपार्श्वकः—सूत्रधारस्य सहचरः ।
राजा—अग्निमित्राख्यो विदिशाधीशः ।
वाहतकः—प्राचीनमन्त्री ।
विदूषकः—राज्ञो मित्रम् ।
कञ्चुकी—अन्त.पुराध्यक्षो वृद्धब्राह्मण. ।
गणदासः हरदत्तश्च—नाट्याचार्यौ ।
सारसः—कुब्ज. । किङ्करविशेप' ।
वैतालिकः—स्तुतिपाठक. ।

स्त्रियः

मालविका—मालवाधीशमाधवसेनस्य भगिनी ।
धारिणी—अग्निमित्रस्य प्रधाना महिपी ।
इरावती—अग्निमित्रस्य द्वितीया पत्नी ।
परिव्राजिका—कौशिकी नाम्नी माधवसेनसचिवस्य सुमते-
विधवा भगिनी ।
वकुलावलिका—धारिण्या परिचारिका। मालविकाया. सखी ।
मधुकरिका—उद्यानपालिका ।
कौमुदिका—दासी ।
समाहितिका—परिव्राजिकाया परिचारिका ।
निपुणिका – इरावत्या परिचारिका ।
जयसेना—प्रतीहारी ।
चेटी—अपरा दासी ।
मदनिका ज्योत्स्निका च—विदर्भदेशीय शिल्पिकन्याद्वयम् ।

॥ श्रीः ॥

मालविकाग्निमित्रम्

प्रथमोऽङ्कः

एकैश्वर्ये स्थितोऽपि प्रणतबहुफले यः स्वयं कृत्तिवासाः
कान्तासंमिश्रदेहोऽप्यविषयमनसां यः परस्ताद्यतीनाम् ।
अष्टाभिर्यस्य कृत्स्नं जगदपि तनुभिर्बिभ्रतो नाभिमानः
सन्मार्गालोकनाय व्यपनयतु स वस्तामसीं वृत्तिमीशः ॥१॥

[नान्द्यन्ते ।]

सूत्रधार—अलमतिविस्तरेण [नेपथ्याभिमुखमवलोक्य ।] मारिष । इतस्तावत् ।

[प्रविश्य ।]

पारिपार्श्वक—भाव । अयमस्मि ।

सूत्रधार—अभिहितोऽस्मि विद्वत्परिषदा कालिदासग्रथितवस्तु-मालविकाग्निमित्रं नाम नाटकमस्मिन्वसन्तोत्सवे प्रयोक्तव्यमिति । तदारभ्यतां संगीतम् ।

पारिपार्श्वक—मा तावत् । प्रथितयशसां भाससौमिल्लककविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमानकवेः कालिदासस्य क्रियायां कथं बहुमानः ।

सूत्रधार—अयि । विवेकविश्रान्तमभिहितम् । पश्य ।

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम् ।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥ २ ॥

पारिपार्श्वकः—आर्यमिश्राः प्रमाणम् ।

सूत्रधार —तेन हि त्वरतां भवान् ।

शिरसा प्रथमगृहीतामाज्ञामिच्छामि परिषदः कर्तुम् ।
देव्या इव धारिण्याः सेवादक्षः परिजनोऽयम् ॥ ३ ॥

[इति निष्क्रान्तौ ।]

॥ इति प्रस्तावना ॥

[ततः प्रविशति वकुलावलिका ।]

वकुलावलिका—आणत्तम्हि देवीए धारणीए । अइरप्पउत्तोवदेसं छलिअं णाम णट्टअं अन्तरेण कीरिसी मालविअत्ति णट्टाअरिअं अज्जगणदासं पुच्छिदुं । ता दाव संगीदसालं गच्छम्हि । (आज्ञप्तास्मि देव्या धारिण्या । अचिरप्रवृत्तोपदेशं छलिकं नाम नाट्यमन्तरेण कीदृशी मालविकेति नाट्याचार्यमार्यगणदासं प्रष्टुम् । तत्तावत्संगीतशालां गच्छामि । [इति परिक्रामति]

[ततः प्रविशत्याभरणहस्ता कुमुदिनी]

वकुलावलिका—[कुमुदिनीं दृष्ट्वा ।] हला कोमुदीए । कुदो दे दाणिं इअं धीरदा । जं समीवेण वि अदिक्कमन्ती इदो दिट्ठिं ण देसि । (सखि कौमुदिके । कुतस्त इदानीमियं धीरता । यत्समीपेनाप्यतिक्रामन्तीतो दृष्टिं न ददासि ।)

कुमुदिनी—अम्हो वउलावलिआ । सहि देवीए इदं सिप्पिसआसादो आणीदं णागमुद्दासणाहं अङ्गुलीअअं सिणिद्धं णिज्झाअन्ती तुह उवालम्भे पडिदम्हि । (अहो वकुलावलिका । सखि देव्या इद शिल्पिसकाशादानीत नाममुद्रासनाथमङ्गुलीयक स्निग्धं निध्यायन्ती तवोपालम्भे पतितास्मि ।)

वकुलावलिका—[विलोक्य ।] ठाणे सज्जदि दिट्ठी । इमिणा अङ्गुलीअएण उब्भिण्णकिरणकेसरेण कुसुमिदो विअ दे अग्गहत्थो पडिभादि । (स्थाने सजति दृष्टिः । अनेनाङ्गुलीयकेनोद्भिन्नकिरणकेसरेण कुसुमित इव तेऽग्रहस्तः प्रतिभाति ।)

कुमुदिनी—हला कहिं पत्थिदासि । (सखि कुत्र प्रस्थितासि ।)

वकुलावलिका—देवीए एव्व वअणेण णट्टाआरिअं अज्जगणदासं पुच्छिदु उवदेसग्गहणे कीरिसी मालविएत्ति । (देव्या एव वचनेन नाट्याचार्यमार्यगणदासं प्रष्टुमुपदेशग्रहणे कीदृशी मालविकेति ।)

कुमुदिनी—सहि ईरिसेण वावारेण असरिणहिदा वि सा कहं भट्टिणा दिट्ठा। (सखि। ईदृशेन व्यापारेणासनिहितापि सा कथं भर्त्रा दृष्टा।)

वकुलावलिका—आम्। सो जणो देवीए पास्सगदो चित्ते दिट्ठो। (श्राम्। स जनो देव्या पार्श्वगतश्चित्रे दृष्टः।)

कुमुदिनी—कहं विअ। (कथमिव।)

वकुलावलिका—सुणु। चित्तसाल गदा देवी जदा पच्चग्गवण्णराअं चित्तलेहं आआरिअस्स आलोअन्ती चिट्ठदि। भट्टा अ उवट्ठिदो। (श्रृणु। चित्रशालां गता देवी यदा प्रत्यग्रवर्णरागां चित्रलेखामाचार्यस्यालोकयन्ती तिष्ठति। भर्ता चोपस्थित।)

कुमुदिनी—तदो तदो। (ततस्तत.।)

वकुलावलिका—उवआराणन्तरं एक्कासणोवविट्ठेण भट्टिणा चित्तगदाए देवीए परिअणमज्झगदं आसण्णदारिअं देक्खिअ देवी पुच्छिदा। (उपचारानन्तरमेकासनोपविष्टेन भर्त्रा चित्रगताया देव्या. परिजनमध्यगतामासन्नदारिकां दृष्ट्वा देवी पृष्टा।)

कुमुदिनी—किं ति। (किमिति।)

वकुलावलिका—अपुव्वा इअं दारिआ देवीए आसण्णा आलिहिदा किंणामहेएत्ति। (अपूर्वेयं दारिका देव्या आसन्ना आलिखिता कि नामधेयेति।)

कुमुदिनी—आकिदिविसेसेसु आअरो पदं करेति। तदो तदो। (आकृतिविशेषेष्वादरः पदं करोति। ततस्तत'।)

वकुलावलिका—तदो अवहीरिअवअणो भट्टा संकिदो देवीं पुणोवि अणुवन्धिदुं। तदो कुमारिए वसुलच्छीए आअक्खिदम्। अज्ज एसा मालविएत्ति। (ततोऽवधीरितवचनो भर्ता शङ्कितो देवीं पुनरप्यनुबन्धुम्। तत कुमार्या वसुलक्ष्म्याख्यातम्। आर्य एषा मालविकेति।)

कुमुदिनी—[सस्मितम्।] सरिसं क्खु वालभाअस्स। अदो अवरं कहेहि। (सदृश खलु वालभावस्य। अतोऽपरं कथय।)

वकुलावलिका—किं अण्णं। संपदं मालविआ सविसेसं भट्टिणो दंसणपहादो रक्खीअदि। (किमन्यत्। साम्प्रत मालविका सविशेष भर्तुर्दर्शनपथाद्रक्ष्यते।)

कुमुदिनी—हला अणुचिट्ठ अत्तणो णिओअं। अहं वि एदं अङ्गुली-

अग्रं देवीए उवणइस्सं। (सखि अनुतिष्ठात्मनो नियोगम्। अहमप्येतद-ङ्गुलीयकं देव्यायुपनेष्यामि।) [इति निष्क्रान्ता।]

वकुलावलिका—[परिक्रम्यावलोक्य।] एसो णट्टाअरिओ संगीदसालादो णिग्गच्छदि। जाव से अत्ताणं दंसेमि। (एष नाट्याचार्य सगीतशालातो निर्गच्छति। यावदस्मा आत्मानं दर्शयामि।) [इति परिक्रामति।]

[प्रविश्य।]

गणदास—कामं खलु सर्वस्यापि कुलविद्या बहुमता। न पुनरस्माकं नाट्यं प्रति मिथ्यागौरवम्। तथाहि।

देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषं
रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधकम्॥ ४॥

वकुलावलिका—[उपेत्य।] अज्ज वन्दामि। (आर्य वन्दे।)

गणदासः—भद्रे चिरञ्जीव।

वकुलावलिका—अज्ज देवी पुच्छदि अवि उवदेसग्गहणे णादिकीलिस्सदि वो सिस्सा मालविएत्ति। (आर्य देवी पृच्छत्यप्युपदेशग्रहणे नातिक्लिश्नाति व शिष्या मालविकेति।)

गणदास—भद्रे विज्ञाप्यतां देवी परमनिपुणा मेधाविनी चेति। किं बहुना।

यद्यत्प्रयोगविषये भाविकमुपदिश्यते मया तस्यै।
तत्तद्विशेषकरणात्प्रत्युपदिशतीव मे बाला॥ ५॥

वकुलावलिका—[आत्मगतम्।] अदिक्कमंती विअ इरावदिं पेक्खामि। [प्रकाशम्] किदत्था दाणिं वो सिस्सा। जाए गुरुअणो एवं तुस्सदि। (अतिक्रामन्तीमिवेरावतीं पश्यामि। कृतार्थेदानीं व शिष्या। यस्या गुरुजन एवं तुष्यति।)

गणदास—भद्रे तद्विधासुलभत्वात्पृच्छामि। कुतो देव्या तत्पात्रमानीतम्।

वकुलावलिका—अत्थि देवीए वण्णावरो भादा वीरसेणो णाम। सो भट्टिणा णम्मदातीरे अन्तवालदुग्गे ठाविदो। तेण सिप्पाहिआरे जोग्गा इअं दारिएत्ति भणिअ भइणीए देवीए उवाअणं पेसिदा। (अस्ति देव्या वर्णावरो भ्राता वीरसेनो नाम। स भर्त्रा नर्मदातीरेऽन्तपालदुर्गे स्थापितः। तेन शिल्पाधिकारे योग्येय दारिकेति भणित्वा भगिन्या देव्या उपायन प्रेपिता।)

गणदास —[स्वगतम्] आकृतिविशेपप्रत्ययादेनामनूनवस्तुकां संभावयामि। [प्रकाशम्] भद्रे मया प यशस्विना भवितव्यम्। यत ।

पात्रविशेपे न्यस्तं गुणान्तरं व्रजति शिल्पमाधातुः।
जलमिव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलतां पयोदस्य ॥ ६ ॥

वकुलावलिका—अज्ज कहिं दाणिं वो सिस्सा। (आर्य कुत्रेदानीं वः शिष्या।)

गणदास —इदानीमेव पञ्चाङ्गादिकमभिनयमुपदिश्य मया विश्रम्यतामित्यभिहिता दीर्घिकावलोकनगवाक्षगता प्रवातमासेवमाना तिष्ठति।

वकुलावलिका—तेण हि पुणो अणुजाणादु मं अज्जो। जाव से अज्जस्स परितोसणिवेदणेण उस्साहं वड्ढेमि। (तेन हि पुनरनुजानातु मामार्यः। यावदस्या आर्यस्य परितोपनिवेदनेनोत्साहं वर्धयामि।)

गणदास —दृश्यतां सखी। अहमपि लब्धक्षणः स्वगृहं गच्छामि।

[इति निष्क्रान्तौ।]

॥ मिश्रविष्कम्भकः ॥

[ततः प्रविशत्येकान्तस्थितपरिजनो मन्त्रिणा लेखहस्तेनान्वास्यमानो राजा।]

राजा—[अनुवाचितलेखममात्य विलोक्य।] वाहतक किं प्रतिपद्यते वैदर्भः।

अमात्य —देव आत्मविनाशम्।

राजा—सदेशमिदानीं श्रोतुमिच्छामि।

अमात्य.—इदमिदानीमनेन प्रतिलिखितम्। पूज्येनाहमादिष्टः। भवतः पितृव्यपुत्रः कुमारो माधवसेनः प्रतिश्रुतसबन्धो ममोपान्तिक-

मुपसर्पन्नन्तरा त्वदीयेनान्तपालेनावस्कन्ध गृहीतः। स त्वया मदपेक्षया सकलत्रसोदर्यो मोक्तव्य इति। एतन्ननु वो विदितम्। यत्तुल्याभिजनेषु राज्ञां वृत्तिः। अतोऽत्र मध्यस्थ पूज्यो भवितुमर्हति। सोदरा पुनरस्य ग्रहणविप्लवे विनष्टा। तदन्वेषणाय प्रयतिष्ये। अथवा अवश्यमेव माधवसेनो मया पूज्येन मोचयितव्य श्रूयतामभिसंधि।

मौर्यसचिवं विमुञ्चति यदि पूज्यः संयतं मम श्यालम्।
मोक्ता माधवसेनस्ततो मया बन्धनात्सद्यः ॥७॥

इति।

राजा—[सरोषम्।] कथं कार्यविनिमयेन मयि व्यवहरत्यनात्मज्ञः। वाहतक प्रकृत्यमित्रः प्रतिकूलकारी च मे वैदर्भः। तद्यातव्यपक्षे स्थितस्य पूर्वसंकल्पितसमुन्मूलनाय वीरसेनमुखं दण्डचक्रमाज्ञापय।

अमात्य—यदाज्ञापयति देवः।

राजा—अथवा किं भवान्मन्यते।

अमात्य—शास्त्रदृष्टमाह देवः।

अचिराधिष्ठितराज्यः शत्रुः प्रकृतिष्वरूढमूलत्वात्।
नवसंरोपणशिथिलस्तरुरिव सुकरः समुद्धर्तुम् ॥८॥

राजा—तेन ह्यवितथं तन्त्रकारवचनम्। इदमेव वचनं निमित्तमुपादाय समुद्योज्यतां सेनाधिपतिः।

अमात्य—तथा। [इति निष्क्रान्तः]

[परिजनो यथाव्यापारं राजानमभितः स्थितः।]

[प्रविश्य।]

विदूषकः—आणत्तोम्हि तत्तभवदा रण्णा। गोदम चिन्तेहि दाव उवाअं। जह मे जदिच्छादिट्ठप्पदिकिदी मालविआ पच्चक्खदंसणा होदित्ति। मए अ तं तहा किदं दाव से णिवेदेमि। (आज्ञप्तोऽस्मि तत्रभवता राज्ञा। गौतम चिन्तय तावदुपायम्। यथा मे यदृच्छादृष्टप्रतिकृतिर्मालविका प्रत्यक्षदर्शना भवतीति। मया च तत्तथा कृतं तावदस्मै निवेदयामि।) [इतिपरिक्रामति।]

राजा—[विदूषकं दृष्ट्वा।] अयमपरः कार्यान्तरसचिवोऽस्मानुपस्थितः

विदूषक—[उपगम्य ।] वड्ढदु भवं । (वर्धतां भवान् ।)

राजा—[सशिरःकम्पम् ।] इत आस्यताम् ।

[विदूषकः उपविष्टः ।]

राजा—अपि कच्चिदुपेयोपायदर्शने व्यापृतं ते प्रज्ञाचक्षुः ।

विदूषक—पओअसिद्धिं पुच्छ । (प्रयोगसिद्धिं पृच्छ ।)

राजा—कथमिव ।

विदूषकः—[कर्णे] एव्वमिव । (एवमिव ।)

राजा—साधु वयस्य निपुणमुपक्रान्तम् । इदानीं दुरधिगमसिद्धावप्यस्मिन्नारम्भे वयमाशंसामहे । कुतः—

अर्थं सप्रतिबन्धं प्रभुरधिगन्तुं सहायवानेव ।
दृश्यं तमसि न पश्यति दीपेन विना सचक्षुरपि ॥९॥

[नेपथ्ये ।]

अलं बहु विकत्थ्य । राज्ञः समक्षमेवावयोरधरोत्तरयोर्व्यक्तिर्भविष्यति ।

राजा—[आकर्ण्य ।] सखे त्वत्सुनीतिपादपस्य पुष्पमुद्भिन्नम् ।

विदूषक—फलं वि अइरेण दक्खिस्ससि । (फलमप्यचिरेण द्रक्ष्यसि ।)

[ततः प्रविशति कञ्चुकी ।]

कञ्चुकी—देव देव अमात्यो विज्ञापयति । अनुष्ठिता प्रभोराज्ञा । एतौ पुनर्हरदत्तगणदासौ ।

उभावभिनयाचार्यौ परस्परजयैषिणौ ।
त्वां द्रष्टुमुद्यतौ साक्षाद्भावाविव शरीरिणौ ॥१०॥

राजा—प्रवेशय तौ ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः । [इति निष्क्रम्य ताभ्यां सह प्रविश्य ।] इत इतो भवन्तौ ।

गणदास—[राजानं विलोक्य ।] अहो दुरासदो राजमहिमा ।

न च न परिचितो न चाप्यरम्यश्चकितमुपैमि तथापि पार्श्वमस्य ।
सलिलनिधिरिव प्रतिक्षणं मे भवति स एव नवो नवोऽयमक्ष्णोः ॥११॥

हरदत्त—महत्खलु पुरुषाकारमिदं ज्योतिः। तथाहि।

द्वारे नियुक्तपुरुषाभिमतप्रवेशः
सिंहासनान्तिकचरेण सहोपसर्पन्।
तेजोभिरस्य विनिवर्तितदृष्टिपातै-
र्वाक्यादृते पुनरिव प्रतिवारितोऽस्मि ॥१२॥

कञ्चुकी—एष देवः। उपसर्पतां भवन्तौ।

उभौ—[उपेत्य] विजयतां देवः।

राजा—स्वागतं भवद्भ्याम्। [परिजनं विलोक्य।] आसने तावदत्र भवतोः।

[उभौ परिजनोपनीतयोरासनयोरुपविष्टौ।]

राजा—किमिदं शिष्योपदेशकाले युगपदाचार्याभ्यामत्रोपस्थानम्।

गणदास—देव श्रूयताम्। मया सुतीर्थादभिनयविद्या सुशिक्षिता। दत्तप्रयोगश्चास्मि। देवेन देव्या च परिगृहीतः।

राजा—बाढं जाने। ततः किम्।

गणदास—सोऽहममुना हरदत्तेन प्रधानपुरुषसमक्षमथ मे न पादरजसापि तुल्य इत्यधिक्षिप्तः।

हरदत्त—देव अयमेव प्रथमं परिवादकरः। अत्रभवतः किल मम च समुद्रपल्वलयोरिवान्तरमिति तत्रभवानिमं मां च शास्त्रे प्रयोगे च विमृशतु। देव एव नौ विशेषज्ञः प्राश्निकः।

विदूषक—समत्थं पइण्णादं। (समर्थं प्रतिज्ञातम्।)

गणदास—प्रथमः कल्प। अवहितो देवः श्रोतुमर्हति।

राजा—तिष्ठ यावत्। पक्षपातमत्र देवी मन्यते। तदस्याः पण्डितकौशिकीसहिताया समक्षमेव न्याय्यो व्यवहारः।

विदूषक—सुट्ठु भवं भणादि। (सुष्ठु भवान्भणति।)

आचार्यौ—यद्देवाय रोचते।

राजा—मौद्गल्य अमुं प्रस्तावं निवेद्य पण्डितकौशिक्या सार्धमाहूयतां देवी।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः। [इति निष्क्रम्य सपरिव्राजिकया देव्या सह प्रविष्टः।] इत इतो भवती।

धारिणी—[परिव्राजिकां विलोक्य।] भअवदि हरदत्तस्स गणदासस्स अ संरम्भे कहं पेक्खसि। (भगवति हरदत्तस्य गणदासस्य च संरम्भे कथं पश्यसि।)

परिव्राजिका—अलं स्वपक्षावसादशङ्कया। न परिहीयते प्रतिवादिनो गणदासः।

धारिणी—जइ वि एवं तह वि राअपरिग्गहो पहाणत्तणं उवहरदि। (यद्यप्येवं तथापि राजपरिग्रह प्रधानत्वमुपहरति।)

परिव्राजिका—अयि राज्ञीशब्दभाजनमात्मानमपि चिन्तयतु भवती। पश्य।

अतिमात्रभासुरत्वं पुष्यति भानोः परिग्रहादनलः।
अधिगच्छति महिमानं चन्द्रोऽपि निशापरिगृहीतः ॥१३॥

विदूषकः—अइ उअट्ठिदा देवी पीठमद्दिअं पण्डिअकोसिइं पुरोकरिअ तत्तभोदी धारिणी। (अयि उपस्थिता देवी पीठमर्दिकां पण्डितकौशिकीं पुरस्कृत्य तत्रभवती धारिणी।)

राजा—पश्याम्येनाम्। यैषा—

मङ्गलालंकृता भाति कौशिक्या यतिवेषया।
त्रयी विग्रहवत्येव सममध्यात्म विद्यया ॥ १४ ॥

परिव्राजिका—[उपेत्य] विजयतां देवः।

राजा—भगवति अभिवादये।

परिव्राजिका—

महासारप्रसवयोः सदृशक्षमयोर्द्वयोः।
धारिणीभूतधारिण्योर्भव भर्ता शरच्छतम् ॥१५॥

धारिणी—जेदु जेदु अज्जउत्तो। (जयतु जयत्वार्यपुत्र.।)

राजा—स्वागतं देव्यै। [परिव्राजिकां विलोक्य।] भगवति क्रियतामासनपरिग्रह।

[सर्वे उपविशन्ति ।]

राजा—भगवत्यत्रभवतोर्हरदत्तगणदासयोः परस्परं विज्ञानसङ्घर्षिणोर्भगवत्या प्राश्निकपदमध्यासितव्यम् ।

परिव्राजिका—[सस्मितम्] अलमुपालम्भेन । पत्तने सति ग्रामे रत्नपरीक्षा ।

राजा—नैतदेवम् । पण्डितकौशिकी खलु भगवती पक्षपातिनावहं देवी च ।

आचार्यौ—सम्यगाह देवः । मध्यस्था भगवती नौ गुणदोषतः परिच्छेत्तुमर्हति ।

राजा—तेन हि प्रस्तूयतां विवादः ।

परिव्राजिका—देव प्रयोगप्रधानं हि नाट्यशास्त्रम् । किमत्र वाग्व्यवहारेण । कथं वा देवी मन्यते ।

देवी—जइ मं पुच्छसि तदा एदाणं विवादो एव्व ण मे रोअदि । (यदि मां पृच्छसि तदैतयोर्विवाद एव न मे रोचते ।)

गणदास—देवि न मां समानविद्यया परिभवनीयमवगन्तुमर्हसि ।

विदूषक—भोदि पेक्खामो उअरंभरिसंवादं । किं मुहा वेअणदाणेण एदेणं । (भवति पश्याम उदरंभरिसंवादम् । किं मुधा वेतनदानेनैतेषाम् ।)

देवी—णं कलहप्पिओसि । (ननु कलहप्रियोऽसि ।)

विदूषक—मा एव्वं । चण्डि अण्णोण्णकलहप्पिआणं मत्तहत्थीणं एक्कदरस्सिं अणिज्जिदे कुदो उवसमो । (मैवम् । चण्डि अन्योन्यकलहप्रिययोर्मत्तहस्तिनोरेकतरस्मिन्ननिर्जिते कुत उपशमः ।)

राजा—ननु स्वाङ्गसौष्ठवातिशयमुभयोर्दृष्टवती भगवती ।

परिव्राजिका—अथ किम् ।

राजा—तदिदानीमतः परं किमाभ्यां प्रत्याययितव्यम् ।

परिव्राजिका—तदेववक्तुकामास्मि ।

शिलष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता ।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव ॥१६॥

विदूषक—सुदं अज्जेहिं भअवदीए वअणं । एसो पिण्डितत्थो उव-

देसदंसणादो णिण्णओ त्ति। (श्रुतमार्याभ्यां भगवत्या वचनम्। एष पिण्डितार्थ उपदेशदर्शनान्निर्णय इति।)

हरदत्त—परमभिमतं नः।

गणदास—देवि। एवं स्थितम्।

देवी—जदा उण मन्दमेधा सिस्सा उवदेसं मलिणेन्ति तदा आअरिअस्स ण दोसो। (यदा पुनर्मन्दमेधा शिष्या उपदेशं मलिनयन्ति तदाऽचार्यस्य न दोषः।)

राजा—देवि। एवमापद्यते। विनेतुरद्रव्यपरिग्रहोऽपि बुद्धिलाघवं प्रकाशयतीति।

देवी—[जनान्तिकम्।] कहं दाणिं। [गणदासं विलोक्य प्रकाशम्।] अलं अज्जउत्तस्स ऊसाहकारणं मणोरहं पूरिअ। विरम णिरत्थआदो आरम्भादो। (कथमिदानीम्। अलमार्यपुत्रस्योत्साहकारणं मनोरथं पूरयित्वा। विरम निरर्थकादारम्भात्।)

विदूषक—सुट्ठु भोदी भणादि। भो गणदास संगीदपदं लम्भिअ सरस्सईए उवाअणमोदआणं खादमाणस्स किं दे मुहणिग्घेण विवादेण। (सुष्ठु भवती भणति। भो गणदास संगीतपदं लब्ध्वा सरस्वत्युपायनमोदकान्खादतः किं ते मुखनिग्रहेण विवादेन।)

गणदास—सत्यसमयमेवार्थो देवीवाक्यस्य। श्रूयतामवसरप्राप्तमिदानीम्।

लब्धास्पदोऽस्मीति विवादभीरोस्तितिक्षमाणस्य परेण निन्दाम्।
यस्यागमः केवलजीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति ॥१७॥

देवी—अइरोवणीदाए सिस्साए। अवरिणिट्ठिदस्स उवदेसस्स उण अण्णाय्यं पआसणं। (अचिरोपनीताया शिष्याया पुनः प्रतिष्ठितस्योपदेशस्य पुनरन्याय्य प्रकाशनम्।)

गणदास—अत एव मे निर्बन्धः।

देवी—तेण हि दुवेवि भअवदीए उवदेसं दंसेध। (तेन हि द्वावपि भगवत्यायुपदेशं दर्शयतम्।)

परिव्राजिका—देवि नैतन्न्याय्यम्। सर्वज्ञस्याप्येकाकिनो निर्णयाभ्युपगमो दोषाय।

देवी—[जनान्तिकम् ।] मूढे परिव्वाजिए मं जाग्गर्तिपि सुत्तं विअ करेसि । (मूढे परिव्राजिके मां जाग्रतीमपि सुप्तामिव करोपि ।) [इति सासूयं परावर्तते ।]

[राजा देवीं परिव्राजिकायै दर्शयति ।]

परिव्राजिका—

अनिमित्तमिन्दुवदने किमत्र भवतः पराङ्मुखी भवसि ।
प्रभवन्त्योऽपि हि भर्तृषु कारणकोपाः कुटुम्बिन्यः ॥१८॥

विदूषक —णं सकारणं एव्व। अत्तणो पक्खो रक्खिदव्वो । [गणदासं विलोक्य ।] दिट्ठिआ कोवव्वाजेण देवीए परित्तादो भवं । सुसिक्खिदो वि सव्वो उवदेसदंसणेण णिण्हादो होदि। (ननु सकारणमेव। आत्मन. पक्षो रक्षितव्य । दिष्ट्या कोपव्याजेन देव्या परित्रातो भवान् । सुशिक्षितोऽपि सर्व उपदेशदर्शनेन निष्णातो भवति ।)

गणदासः—देवि श्रूयताम् । एवं जनो गृह्णाति । तदिदानीम् ।

विवादे दर्शयिष्यामि क्रियासंक्रान्तिमात्मनः ।
यदि मां नानुजानासि परित्यक्तोऽस्म्यहं त्वया ॥१९॥

[इत्यासनादुत्थातुमिच्छति ।]

देवी—[स्वगतम्] का गई । [प्रकाशम् ।] पहवदि आआरिओ सिस्सजणस्स । (का गति । प्रभवत्याचार्य. शिष्यजनस्य ।)

गणदास —विरमपदेशशङ्कितोऽस्मि । [राजानमवलोक्य ।] अनुज्ञातं देव्या । तदाज्ञापयतु देव कस्मिन्नभिनयवस्तुनि प्रयोगं दर्शयिष्यामि ।

राजा—यदादिशति भगवती ।

परिव्राजिका—किमपि देव्या मनसि वर्तते ततः शङ्कितास्मि ।

देवी—भण वीसद्धं । पहवदि प्पहू अत्तणा परिअणस्स । (भण विस्रब्धम् । प्रभवति प्रभुरात्मन. परिजनस्य ।)

राजा—मम चेति ब्रूहि ।

देवी—भअवदि भणेदाणीम् । (भगवति भणेदानीम् ।)

परिव्राजिका—देव शर्मिष्ठाया. कृतिं चतुष्पादोत्थं छलिकं दुष्प्रयोज्यमुदाहरन्ति । तत्रैकार्थसंश्रयमुभयोः प्रयोगं पश्याम. । तावता ज्ञायत एवात्रभवतोरुपदेशान्तरम् ।

आचार्यौ—यदाज्ञापयति भगवती ।

विदूषक—तेण हि दुवे वि वग्गा पेक्खाघरे संगीदरअणं करिअ तत्तभवदो दूदं पेसअह । अहवा मुदङ्गसद्दो एव्व णो उत्थावइस्सदि । (तेन हि द्वावपि वर्गौ प्रेक्षागृहे संगीतरचनां कृत्वा तत्रभवतो दूतं प्रेषयतम् । अथवा मृदङ्गशब्द एव न उत्थापयिष्यति ।)

हरदत्त—तथा । [इत्युत्तिष्ठति ।]

[गणदासो धारिणीमवलोकयति ।]

देवी—[गणदासं विलोक्य ।] विअई भोदु अज्जो । णं विजअब्भत्थिणी अहं अज्जस्स । (विजयी भवत्वार्य. । ननु विजयाभ्यर्थिन्यहमार्यस्य ।)

[आचार्यौ प्रस्थितौ ।]

परिव्राजिका—इतस्तावत् ।

आचार्यौ—[परिवृत्य ।] इमौ स्वः ।

परिव्राजिका—निर्णयाधिकारे ब्रवीमि । सर्वाङ्गसौष्ठवाभिव्यक्तये विगतनेपथ्ययोः पात्रयोः प्रवेशोऽस्तु ।

आचार्यौ—नेदमावयोरुपदेश्यम् । [इति निष्क्रान्तौ ।]

देवी—[राजानमवलोक्य ।] जइ राअकज्जेसु ईरिसी उवाअणिउणदा अज्जउत्तस्स तदो सोहणं भवे । (यदि राजकार्येष्वीदृश्युपायनिपुणतार्यपुत्रस्य ततः शोभनं भवेत् ।)

राजा—

अलमन्यथा गृहीत्वा न खलु मनस्विनि मया प्रयुक्तमिदम् ।
प्रायः समानविद्याः परस्परयशः पुरोभागाः ॥ २० ॥

[नेपथ्ये मृदङ्गध्वनिः । सर्वे कर्णं ददति ।]

परिव्राजिका—हन्त । प्रवृत्तं संगीतम् । तथा ह्येषा—

जीमूतस्तनितविशङ्किभिर्मयूरैरुद्ग्रीवैरनुरसितस्य पुष्करस्य ।
निर्ह्रादिन्युपहितमध्यमस्वरोत्था मायूरी मदयति मार्जना मनांसि ॥ २१ ॥

राजा—देवि तस्याः सामाजिका भवामः ।

देवी—[स्वगतम् ।] अहो अविणओ अज्जउत्तस्स । (अहो अविनय आर्यपुत्रस्य ।)

[सर्वं उत्तिष्ठन्ति ।]

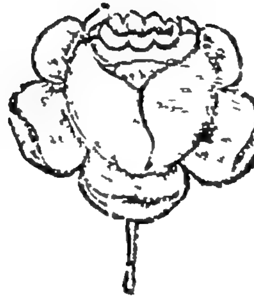
विदूषक —[अपवार्य ।] भो धीरं गच्छ । तत्तभोदी धारिणी विसं-वादइस्सदि । (भो. धीरं गच्छ । तत्रभवती धारिणी विसंवादयिष्यति ।)

राजा—

धैर्यावलम्बिनमपि त्वरयति मां मुरजवाद्यरागोऽयम् ।
अवतरतः सिद्धिपथं शब्दः स्वमनोरथस्येव ॥ २२ ॥

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।]

॥ इति प्रथमोऽङ्कः ॥



द्वितीयोऽङ्कः

[ततः प्रविशति संगीतरचनायां कृतायामासनस्थो राजा सवयस्यो धारिणी परिव्राजिका विभवतश्च परिवारः ।]

राजा—भगवत्यत्रभवतोराचार्ययोः प्रथमं कतरस्योपदेशं द्रक्ष्यामः ।

परिव्राजिका—ननु समानेऽपि ज्ञानवृद्धभावे वयोवृद्धत्वाद्गणदास· पुरस्कारमर्हति ।

राजा—तेन हि मौद्गल्य । एवमत्रभवतोरावेद्य नियोगमशून्यं कुरु ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः । [इति निष्क्रान्तः ।]

[प्रविश्य]

गणदास —देव शर्मिष्ठायाः कृतिर्लयमध्या चतुष्पदास्ति । तस्यास्तु छलिकप्रयोगमेकमनाः श्रोतुमर्हति देवः ।

राजा—आचार्य । बहुमानादवहितोऽस्मि ।

[निष्क्रान्तो गणदास ।]

राजा—[जनान्तिकम् ।] वयस्य ।

नेपथ्यपरिगतायाश्चक्षुर्दर्शनसमुत्सुकं तस्याः ।
संहर्तुमधीरतया व्यवसितमिव मे तिरस्करिणीम् ॥ १ ॥

विदूषक —[अपवार्य ।] उवट्ठिदं णअणमहु संणिहिदमक्खिअं च । ता अप्पमत्तो दाणिं पेक्ख । [उपस्थित नयनमधु सनिहितमक्षिकं च । तद-प्रमत्त इदानीं पश्य ।)

[ततः प्रविशत्याचार्यावेद्यमाणाङ्गसौष्ठवा मालविका ।]

विदूषक.--[जनान्तिकम् ।] पेक्खदु भवं ण क्खु से पडिच्छन्दादो परिहीअदि महुरदा । (पश्यतु भवान् । न खल्वस्याः प्रतिच्छन्दात्परिहीयते मधुरता ।)

राजा—[अपवार्य ।] वयस्य ।

चित्रगतायामस्यां कान्तिविसंवादशङ्कि मे हृदयम् ।
संप्रति शिथिलसमाधिं मन्ये येनेयमालिखिता ॥ २ ॥

गणदासः—वत्से मुक्तसाध्वसा सत्त्वस्था भव ।

राजा—[आत्मगतम् ।] अहो सर्वस्थानानवद्यता रूपविशेषस्य । तथाहि ।

दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्ति वदनं बाहू नतावंसयोः
संक्षिप्तं निबिडोन्नतस्तनमुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव ।
मध्यः पाणिमितो नितम्बि जघनं पादावरालाङ्गुली
छन्दो नर्तयितुर्यथैव मनसि श्लिष्टं तथास्या वपुः ॥३॥

मालविका—[उपगान कृत्वा चतुष्पदवस्तु गायति ।]

दुल्लहो पिओ मे तस्सिं भव हिअअ णिरासं
अम्हो अपङ्गओ मे परिप्फुरइ किं वि वामओ ।
एसो सो चिरदिट्ठो कहँ उण उवणइदव्वो
णाह मं पराहीणं तुइ परिगणअ सतिण्हम् ॥ ४ ॥

(दुर्लभ. प्रियो मे तस्मिन्भव हृदय निराश-
महो अपाङ्गो मे परिस्फुरति किमपि वाम. ।
एप स चिरदृष्ट कथ पुनरुपनेतव्यो
नाथ मा पराधीना त्वयि परिगणय सतृष्णाम् ॥)

[ततो यथारसमभिनयति ।]

विदूषक —[जनान्तिकम् ।] भो वअस्स । चउप्पवत्थुअं दुवारीकरिअ तुइ उवट्ठाविदो अप्पा तत्तहोदीए । (भो वयस्य । चतुष्पदवस्तुकं द्वारीकृत्य त्वय्युपस्थापित आत्मा तत्रभवत्या ।)

राजा—सखे एवमेव ममापि हृदयम्। अनया खलु।

जनमिममनुरक्तं विद्धि नाथेति गेये
वचनमभिनयन्त्याः स्वाङ्गनिर्देशपूर्वम्।
प्रणयगतिमदृष्ट्वा धारिणीसंनिकर्षा-
दहमिव सुकुमारप्रार्थनाव्याजमुक्तः ॥ ५ ॥

[मालविका गीतान्ते निष्क्रमितुमारब्धा।]

विदूषक.—भोदि चिट्ठ। किंवि वो विसुमरिदो कम्मभेदो। तं दाव पुच्छिस्सम्। (भवति तिष्ठ। किमपि वो विस्मृत कर्मभेद.। त तावत्प्रक्ष्यामि।

गणदास.—वत्से। क्षणमात्रं स्थित्वोपदेशविशुद्धा यास्यसि।

[मालविका निवृत्य स्थिता।]

राजा—[आत्मगतम्।] अहो सर्वास्ववस्थासु चारुता शोभान्तरं पुष्यति तथा हि—

वामं संधिस्तिमितवलयं न्यस्य हस्तं नितम्बे
कृत्वा श्यामाविटपसदृशं स्रस्तमुक्तं द्वितीयम्।
पादाङ्गुष्ठालुलितकुसुमे कुट्टिमे पातिताक्षं
नृत्तादस्याः स्थितमतितरां कान्तमृज्वायतार्धम् ॥६॥

देवी—णं गोदमवअणं वि अज्जो हिअए करेदि। (ननु गौतमवचनमप्यार्यो हृदये करोति।)

गणदास —देवि। मा मैवम्। देवप्रत्ययात्संभाव्यते सूक्ष्मदर्शिता गौतमस्य। पश्य।

मन्दोऽप्यमन्दतामेति संसर्गेण विपश्चितः।
पङ्कच्छिदः फलस्येव निकषेणाविलं पयः ॥ ७ ॥

[विदूषकं विलोक्य।] तच्छृणुमो वयं विवक्षितमार्यस्य।

विदूषक.—[गणदासं विलोक्य।] कोसिइं दाव पुच्छ। पच्छा जो मए कम्मभेदो दिट्ठो तं भणिस्सं। (कौशिकीं तावत्पृच्छ। पश्चाद्यो मया कर्मभेदो दृष्टस्तं भणिष्यामि।)

गणदास —भगवति यथादृष्टमभिधीयतां गुणो वा दोषो वेति।

परिव्राजिका—यथादृष्टं सर्वमनवद्यम् । कुतः—

अङ्गैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः
पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु ।
शाखायोनिर्मृदुरभिनयस्तद्विकल्पानुवृत्तौ
भावो भावं नुदति विषयाद्रागबन्धः स एव ॥८॥

गणदास —देव कथं वा मन्यते ।

राजा—वयं स्वपक्षशिथिलाभिमाना संवृत्ता ।

गणदास.—अद्य नर्तयितास्मि । कुतः—

उपदेशं विदुः शुद्धं सन्तस्तमुपदेशिनः ।
श्यामायते न युष्मासु यः काञ्चनमिवाग्निषु ॥ ९ ॥

देवी—दिट्ठिआ अपरिक्खदाराहणेण अज्जो वड्ढइ । (दिष्ट्याऽपरिक्षताराधनेनार्यो वर्धते ।)

गणदास —देवीपरिग्रह एव मे वृद्धिहेतुः । [विदूषक विलोक्य] गौतम वदेदानीं यत्ते मनसि वर्तते ।

विदूषकः—पढमोवदेसदंसणे पढमं वम्हणस्स पूजा कादव्वा। सा णं वो विसुमरिदा । (प्रथमोपदेशदर्शने प्रथम ब्राह्मणस्य पूजा कर्तव्या । सा ननु वो विस्मृता ।)

परिव्राजिका—अहो प्रयोगाभ्यन्तरः प्रश्नः ।

[सर्वे प्रहसिता. । मालविका स्मितं करोति ।]

राजा—[आत्मगतम्] उपात्तसारश्चक्षुषा मे स्वविषयः । यदनेन—

स्मयमानमायताक्ष्याः किञ्चिदभिव्यक्तदशनशोभि मुखम् ।
असमग्रलक्ष्यकेसरमुच्छ्वसदिव पङ्कजं दृष्टम् ॥ १० ॥

गणदास.—महाब्राह्मण । न खलु प्रथमं नेपथ्यदर्शनमिदम् । अन्यथा कथं त्वां दक्षिणीयं नार्चयिष्याम. ।

विदूषक —मए णाम सुक्खघणगज्जिदे अन्तरिक्खे जलपाणं इच्छिदा चादआइदम् । अहवा पण्डितसंतोसपच्चआ ण मूढा जादी । जदि

अत्तहोदीए सोहणं भणिद तदो इमं से पारितोसिश्रं पअच्छामि । (मया नाम शुष्कघनगर्जितेऽन्तरिक्षे जलपानमिच्छता चातकायितम् । अथवा पण्डित-सन्तोषप्रत्यया ननु मूढजाति । यतोऽत्रभवत्या शोभन भणित तत इद ते पारि-तोषिकं प्रयच्छामि ।) [इति राज्ञो हस्तात्कटकमाकर्षति ।]

देवी—चिट्ठ दाव । गुणन्तरं अजाणन्तो किंणिमित्तं तुमं आहरण देसि । (तिष्ठ तावत् । गुणान्तरमजानन्किंनिमित्त त्वमाभरण ददासि ।)

विदूषक —परकेरअंति करिअ । (परकीयमिति कृत्वा ।)

देवी—[आचार्यं विलोक्य] अज्ज गणदास णं दंसिदोवदेसा दे सिस्सा । (आर्य गणदास ननु दर्शितोपदेशा ते शिष्या ।)

गणदास —वत्से एहि गच्छावेदानीम् ।

[सहाचार्येण निष्क्रान्ता मालविका ।]

विदूषक —[जनान्तिकम्] एत्तिओ मे मदिविहवो भवन्तं सेविदुं । (एतावान्मे मतिविभवो भवन्त सेवितुम् ।)

राजा—अलमलं परिच्छेदेन । अहं हि—

भाग्यास्तमयमिवाक्ष्णोर्हृदयस्य महोत्सवावसानमिव ।
द्वारपिधानमिव धृतेर्मन्ये तस्यास्तिरस्करिणीम् ॥११॥

विदूषक —[जनान्तिकम्] दलिद्दो विअ आदुरो वेज्जेण ओसद दीअमाण इच्छसि । (दरिद्र इवातुरो वैद्येनौषध दीयमानमिच्छसि ।)

[प्रविश्य]

हरदत्त —देव मदीयमिदानीं प्रयोगमवलोकयितुं क्रियता प्रसादः ।

राजा—[आत्मगतम्] अवसितो दर्शनार्थ । [दाक्षिण्यमवलम्ब्य प्रकाशम् ।] ननु पर्युत्सुका एव वयम् ।

हरदत्त —अनुगृहीतोऽस्मि ।

[नेपथ्ये]

वैतालिक — जयतु जयतु देवः । उपारूढो मध्याह्नः । तथा हि—

पत्रच्छायासु हंसा मुकुलितनयना दीर्घिकापद्मिनीनां
सौधान्यत्यर्थतापाद्वलभिपरिचयद्वेपिपारावतानि ।

विन्दुत्क्षेपान्पिपासुः परिसरति शिखी भ्रान्तिमद्वारियन्त्रं
सर्वैरुस्रैः समग्रैस्त्वमिव नृपगुणैर्दीप्यते सप्तसप्तिः ॥१२॥

विदूषक—अविहा अविहा। अम्हाणं उण भोअणवेला उवट्ठिदा। अत्तभवदो उइदवेलादिक्कमे चिइच्छआ दोस उदाहरन्ति। [हरदत्त विलोक्य] हरदत्त किं दाणिं भणासि। (अविध अविध। अस्माकं पुनर्भोजनवेलोपस्थिता। अत्रभवत उचितवेलातिक्रमे चिकित्सका दोषमुदाहरन्ति। हरदत्त किमिदानीं भणसि।)

हरदत्त—अस्ति वचनस्यान्यस्यावकाशोऽत्र।

राजा—तेन हि त्वदीयमुपदेशं श्वो वयं द्रक्ष्याम। विरमतु भवान्।

हरदत्त—यदाज्ञापयति देव। [इति निष्क्रान्त।]

देवी—णिव्वट्टेदु अज्जउत्तो मज्जणविहिम्। (निर्वर्तयत्वार्यपुत्रो मज्जनविधिम्।)

विदूषक—भोदि विसेसेण पाणभोअणं तुवरावेहि। (भवति विशेषेण पानभोजनं त्वरय।)

परिव्राजिका—[उत्थाय] स्वस्ति भवते। [इति सपरिजनया देव्या सह निष्क्रान्ता।]

विदूषक—भो वअस्स ण केवलं रूवे सिप्पे वि अदुदीआ मालविआ। (भो वयस्य न केवलं रूपे शिल्पेऽप्यद्वितीया मालविका।)

राजा—वयस्य।

अव्याजसुन्दरीं तां विज्ञानेन ललितेन योजयता।
परिकल्पितो विधात्रा बाणः कामस्य विषदिग्धः ॥ १३ ॥

किं बहुना। सखे चिन्तयितव्योऽस्मि।

विदूषक—भवदा वि अहं। दिढं विपणिकन्दू विअ मे उअरब्भन्तरं दज्झइ। (भवताप्यहम्। दृढं विपणिकन्दुरिव मे उदराभ्यन्तरं दह्यते।)

राजा—एवमेव भवान्सुहृदर्थेऽपि त्वरताम्।

विदूषक—गहीदक्खिणोम्हि। किं तु मेहावलीणिरुद्धा जोण्हा विअ पराहीणदंसणा तत्तहोदी मालविआ। तुवं वि सूणापरिसरचरो

विश्र विअगिद्धो आमिसलोलुओ भीरुओ अ। अच्चंतादुरो विअ कज्ज-सिद्धिं पत्थन्तो मे रोअसि। (गृहीतदक्षिणोऽस्मि। किं तु मेघावलीनिरुद्धा ज्योत्स्नेव पराधीनदर्शना तत्रभवती मालविका। भवानपि सूनापरिसरचर इव गृध्र आमिषलोलुपो भीरुकश्च। अत्यन्तातुर इव कार्यसिद्धिं प्रार्थयमानो मे रोचसे।

राजा—कथमनातुरो भविष्यामि।

सर्वान्तःपुरवनिताव्यापारप्रतिनिवृत्तहृदयस्य।
सा वामलोचना मे स्नेहस्यैकायनीभूता ॥ १४ ॥

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे।]

॥ इति द्वितीयोऽङ्कः ॥

तृतीयोऽङ्कः

[ततः प्रविशति परिव्राजिकाया परिचारिका समाहितिका ।]

समाहितिका—आणत्तम्हि भअवदीए—समाहिदिए देवस्स उवावणत्थं वीअऊरअ गेण्हिअ आअच्छत्ति। ता जाव पमदवणपालिअं महुअरिअं अण्णेसामि । [परिक्रम्यावलोक्य] एसा तवणीआसोअं ओलाअन्ता महुरिआ चिट्ठदि । ता जाव णं उवसप्पामि । (आज्ञप्तास्मि भगवत्या—समाहितिके देवस्योपवनस्थ बीजपूरकं गृहीत्वागच्छेति । तद्यावत्प्रमदवन पालिका मधुकरिकामन्विष्यामि । एषा तपनीयाशोकमवलोकयन्ती मधुकरिका तिष्ठति । तद्यावदेनामुपसर्पामि ।)

[तत प्रविशत्युद्यानपालिका ।]

समाहितिका—[उपसृत्य] महुअरिए । अवि सुहो दे उज्जाणव्वावारो । (मधुकरिके । अपि सुखस्त उद्यानव्यापार. ।)

मधुकरिका—अम्हो समाहिदिआ । सहि साअदं दे । (अहो समाहितिका । सखि स्वागत ते ।)

समाहितिका—हला भअवदी आणवेदि । अरित्तपाणिणा अम्हारिसजणेण तत्तहोदी देवी देक्खिदव्वा । ता वीअपूरएण सुस्सूसिदुं इच्छामित्ति। (सखि भगवत्याज्ञापयति । अरिक्तपाणिनास्मादृशजनेन तत्रभवती देवी द्रष्टव्या । तद्बीजपूरकेण शुश्रूषितुमिच्छामीति ।)

मधुअरिआ—ण सण्णिहिद वीजपूरअं । कहेहि दाव अण्णोण्णसवरिसिदाण णट्टाअरिआणं उवदेसं देक्खिअ कदरो भअवदीए पसंसिदो ।

(ननु संनिहितं बीजपूरकम्। कथय तावदन्योन्यमघर्षितयोर्नाट्याचार्ययोरुपदेश दृष्ट्वा कतरो भगवत्या प्रशसित'।)

समाहितिका—दुवे वि किल आगमिणा पओअणिउणा अ। किंतु सिस्साए मालविआए गुणविसेसेण गणदासस्स उवदेसो पसंसिदो। (द्वावपि किलागमिनौ प्रयोगनिपुणौ च। किंतु शिष्याया मालविकाया गुण विशेषेण गणदासस्योपदेश प्रशसित ।)

मधुकरिका—अह मालविआगदं कौलीणं कीरिसं सुणीअदि। (अथ मालविकागतं कौलीन कीदृशं श्रूयते।)

समाहितिका—वाढं किल तस्सिं साहिलासो भट्टा। किंतु केवलं देवीए धारिणीए चित्तं रक्खन्तो अत्तणो पहुत्तणं दंसेदि। मालविआ वि इमेसु दिअसेसु अणुहूदमुत्ता विअ मालदीमाला मिलाणा लक्खीअदि। अदो अवर ण जाणे। विसज्जेहि मं। (बाढं किल तस्या साभिलाषो भर्ता। किन्तु केवल देव्या धारिण्याश्चित्त रक्षन्नात्मन प्रभुत्व दर्शयति। मालविकाप्येषु दिवसेष्वनुभूतमुक्तेव मालतीमाला म्लाना लक्ष्यते। अत पर न जाने। विसृज माम्।)

मधुकरिका—एदं साहावलम्बिदं बीअपूरअं गेण्ह। (एतच्छाखावलम्बित बीजपूरकं गृहाण।)

समाहितिका—तह। [इति नाट्येन बीजपूरक गृहीत्वा] हला तुमं वि अदो पेसलदरं साहुजणसुस्सूसाए फलं पावेहि। (तथा। सखि त्वमप्यतः पेशलतर साधुजनशुश्रूषाया फल प्राप्नुहि।) [इति प्रस्थिता।]

मधुकरिका—हला सम जेव्व गच्छम्ह। अहं वि इमस्स चिराअमाणकुसुमोग्गमस्स तवणीआसोअस्स दोहलणिमित्तं देवीए णिवेदेमि। (सखि सममेव गच्छाव। अहमप्यस्य चिरायमाणकुसुमोद्गमस्य तपनीयाशोकस्य दोहदनिमित्तं देव्यै निवेदयामि।)

समाहितिका—जुज्जइ। अहिआरो क्खु तुह। (युज्यते। अधिकार खलु तव।)

[इति निष्क्रान्ते।]

॥ इति प्रवेशकः ॥

तृतीयोऽङ्कः

[तत प्रविशति कामयमानावस्थो राजा विदूषकश्च ।]

राजा—[आत्मान विलोक्य ।]

शरीरं क्षामं स्यादसति दयितालिङ्गनसुखे
भवेत्सास्रं चक्षुः क्षणमपि न सा दृश्यत इति ।
तया सारङ्गाक्ष्या त्वमसि न कदाचिद्विरहितं
प्रसक्ते निर्वाणे हृदय परितापं व्रजसि किम् ॥ १ ॥

विदूषक —अलं भवदो धीरं उज्झिअ परिदेविदेण । दिट्ठा मए तत्तहोदीए मालविआए पिअसही वउलावलिआ । सुणाविदा अ अत्थं जो भवदा संदिट्ठो । (अल भवतो धीरतामुज्झित्वा परिदेवितेन । दृष्टा मया तत्रभवत्या मालविकाया प्रियसखी वकुलावलिका । श्राविता चार्थं यो भवता सदिष्ट ।)

राजा—तत किमुक्तवती ।

विदूषक —विण्णावेहि भट्टारअम् । अणुगहीदम्हि इमिणा णिओएण । किंदु सा तवस्सिणी देवीए अहिअं रक्खन्तीए णाअरक्खिदो विअ णिही ण सुहं समासादइदव्वा । तहवि जइस्सं । (विज्ञापय भट्टारकम् । अनुगृहीतास्म्यनेन नियोगेन । किंतु सा तपस्विनी देव्याधिक रक्षन्त्या नागरक्षित इव निधिर्न सुख समासादयितव्या । तथापि यतिष्ये ।)

राजा—भगवन् संकल्पयोने । प्रतिबन्धवत्स्वपि विषयेष्वभिनिवेश्य किं तथा प्रहरसि यथा जनोऽयं न कालान्तरक्षमो भवति । [सविस्मयम् ।]

क्व रुजा हृदयप्रमाथिनी क्व च ते विश्वसनीयमायुधम् ।
मृदु तीक्ष्णतरं यदुच्यते तदिदं मन्मथ दृश्यते त्वयि ॥ २ ॥

विदूषक —ण भणामि तस्सिं साहणिज्जे कज्जे किदो मए उवाओववक्खेओ । ता पज्जवत्थावेदु भवं अप्पाणं । (ननु भणामि तस्मिन्साधनीये कार्ये कृतो मयोपायोपक्षेप । तत्पर्यवस्थापयतु भवानात्मानम् ।)

राजा—अथेमं दिवसशेषमुचितव्यापारविमुखेन चेतसा क्व नु खलु यापयामि ।

[ततः प्रविशति कामयमानावस्थो राजा विदूषकश्च ।]

राजा—[आत्मानं विलोक्य ।]

शरीरं क्षामं स्यादसति दयितालिङ्गनसुखे
भवेत्सास्रं चक्षुः क्षणमपि न सा दृश्यत इति ।
तया सारङ्गाक्ष्या त्वमसि न कदाचिद्विरहितं
प्रसक्ते निर्वाणे हृदय परितापं व्रजसि किम् ॥ १ ॥

विदूषकः—अलं भवदो धीरं उज्झिअ परिदेविदेण । दिट्ठा मए तत्तहोदीए मालविआए पिअसही वउलावलिआ । सुणाविदा अ अत्थं जो भवदा संदिट्ठो । (अलं भवतो धीरतामुज्झित्वा परिदेवितेन । दृष्टा मया तत्रभवत्या मालविकायाः प्रियसखी बकुलावलिका । श्राविता चार्थं यो भवता संदिष्टः ।)

राजा—ततः किमुक्तवती ।

विदूषकः—विण्णावेहि भट्टारअम् । अणुगहीदम्हि इमिणा णिओएण । किंदु सा तवस्सिणी देवीए अहिअं रक्खन्तीए णाअरक्खिदो विअ णिही ण सुहं समासादइदव्वा । तहवि जइस्सं । (विज्ञापय भट्टारकम् । अनुगृहीतास्म्यनेन नियोगेन । किंतु सा तपस्विनी देव्याधिकं रक्षन्त्या नागरक्षित इव निधिर्न सुखं समासादयितव्या । तथापि यतिष्ये ।)

राजा—भगवन् संकल्पयोने । प्रतिबन्धवत्स्वपि विषयेष्वभिनिवेश्य किं तथा प्रहरसि यथा जनोऽयं न कालान्तरक्षमो भवति । [सविस्मयम् ।]

क्व रुजा हृदयप्रमाथिनी क्व च ते विश्वसनीयमायुधम् ।
मृदु तीक्ष्णतरं यदुच्यते तदिदं मन्मथ दृश्यते त्वयि ॥ २ ॥

विदूषकः—णं भणामि तस्सिं साहणिज्जे कज्जे किदो मए उवाओवक्खेवो । ता पज्जवत्थावेदु भवं अप्पाणं । (ननु भणामि तस्मिन्साधनीये कार्ये कृतो मयोपायोपक्षेपः । तत्पर्यवस्थापयतु भवानात्मानम् ।)

राजा—अथेमं दिवसशेषमुचितव्यापारविमुखेन चेतसा क्व नु खलु यापयामि ।

(ननु संनिहित बीजपूरकम् । कथय तावदन्योन्यमघर्षितयोर्नाट्याचार्ययोरुपदेश दृष्ट्वा कतरो भगवत्या प्रशसित ।)

समाहितिका—दुवे वि किल आगमिणा पओअणिउणा अ । किंतु सिस्साए मालविआए गुणविसेसेण गणदासस्स उवदेसो पसंसिदो । (द्वावपि किलागमिनौ प्रयोगनिपुणौ च । किंतु शिष्याया मालविकाया गुण विशेषेण गणदासस्योपदेश. प्रशसित ।)

मधुकरिका—अह मालविआगदं कौलीणं कीरिसं सुणीअदि । (अथ मालविकागतं कौलीन कीदृश श्रूयते ।)

समाहितिका—बाढं किल तस्सिं साहिलासो भट्टा । किंतु केवलं देवीए धारिणीए चित्तं रक्खन्तो अत्तणो पहुत्तणं दंसेदि । मालविआ वि इमेसु दिअसेसु अणुहूदमुत्ता विअ मालदीमाला मिलाणा लक्खीअदि । अदो अवरं ण जाणे । विसज्जेहि मं । (बाढ किल तस्यां साभिलाषो भर्ता । किन्तु केवलं देव्या धारिण्याश्चित्त रक्षन्नात्मन प्रभुत्वं दर्शयति । मालविकाप्येषु दिवसेष्वनुभूतमुक्तेव मालतीमाला म्लाना लक्ष्यते । अत पर न जाने । विसृज माम् ।)

मधुकरिका—एदं साहावलम्बिदं बीअपूरअं गेण्ह । (एतच्छाखावलम्बित बीजपूरकं गृहाण ।)

समाहितिका—तह । [इति नाट्येन बीजपूरक गृहीत्वा] हला तुमं वि अदो पेसलदरं साहुजणसुस्सूसाए फलं पावेहि । (तथा । सखि त्वमप्यतः पेशलतर साधुजनशुश्रूषाया. फल प्राप्नुहि ।) [इति प्रस्थिता ।]

मधुकरिका—हला सम जेव्व गच्छम्ह । अहं वि इमस्स चिराअमाणकुसुमोग्गमस्स तवणीआसोअस्स दोहलणिमित्तं देवीए णिवेदेमि । (सखि सममेव गच्छाव । अहमप्यस्य चिरायमाणकुसुमोद्गमस्य तपनीयाशोकस्य दोहदनिमित्तं देव्यै निवेदयामि ।)

समाहितिका—जुज्जइ । अहिआरो क्खु तुह । (युज्यते । अधिकार खलु तव ।)

[इति निष्क्रान्ते ।]

॥ इति प्रवेशकः ॥

[ततः प्रविशति कामयमानावस्थो राजा विदूषकश्च ।]

राजा—[आत्मानं विलोक्य ।]

शरीरं क्षामं स्यादसति दयितालिङ्गनसुखे
भवेत्सास्रं चक्षुः क्षणमपि न सा दृश्यत इति ।
तया सारङ्गाक्ष्या त्वमसि न कदाचिद्विरहितं
प्रसक्ते निर्वाणे हृदय परितापं व्रजसि किम् ॥ १ ॥

विदूषकः—अलं भवदो धीरं उज्झिअ परिदेविदेण । दिट्ठा मए तत्तहोदीए मालविआए पिअसही वउलावलिआ । सुणाविदा अ अत्थं जो भवदा संदिट्ठो । (अलं भवतो धीरतामुज्झित्वा परिदेवितेन । दृष्टा मया तत्रभवत्या मालविकाया प्रियसखी वकुलावलिका । श्राविता चार्थं यो भवता संदिष्टः ।)

राजा—ततः किमुक्तवती ।

विदूषकः—विण्णावेहि भट्टारअम् । अणुगहीदम्हि इमिणा णिओएण । किंदु सा तवस्सिणी देवीए अहिअं रक्खन्तीए णाअरक्खिदो विअ णिही ण सुहं समासादइदव्वा । तहवि जइस्सं । (विज्ञापय भट्टारकम् । अनुगृहीतास्म्यनेन नियोगेन । किंतु सा तपस्विनी देव्याधिकं रक्षन्त्या नागरक्षित इव निधिर्न सुखं समासादयितव्या । तथापि यतिष्ये ।)

राजा—भगवन् संकल्पयोने । प्रतिबन्धवत्स्वपि विषयेष्वभिनिवेश्य किं तथा प्रहरसि यथा जनोऽयं न कालान्तरक्षमो भवति । [सविस्मयम् ।]

क्व रुजा हृदयप्रमाथिनी क्व च ते विश्वसनीयमायुधम् ।
मृदु तीक्ष्णतरं यदुच्यते तदिदं मन्मथ दृश्यते त्वयि ॥ २ ॥

विदूषकः—णं भणामि तस्सिं साहणिज्जे कज्जे किदो मए उवाओवक्खेवो । ता पज्जवत्थावेदु भवं अप्पाणं । (ननु भणामि तस्मिन्साधनीये कार्ये कृतो मयोपायोपक्षेपः । तत्पर्यवस्थापयतु भवानात्मानम् ।)

राजा—अथेमं दिवसशेषमुचितव्यापारविमुखेन चेतसा क्व नु खलु यापयामि ।

विदूषकः—अज्ज एव्व पढमादारसुहआणि रत्तकुरवआणि उवाअणं पेसिअ णववसन्तावदारव्वदेसेण इरावदीए णिउणिआमुहेण पत्थिदो भवं—इच्छामि अज्जउत्तेण सह दोलाहिरोहणं अणुहविदुं त्ति । भवदा वि से पडिण्णादं । ता पमदवणं एव्व गच्छम्ह । (अद्यैव प्रथमावतार-सुभगानि रक्तकुरवकाण्युपायनं प्रेष्य नववसन्तावतारव्यपदेशेनेरावत्या निपुणिका-मुखेन प्रार्थितो भवान्—इच्छाम्यार्यपुत्रेण सह दोलाधिरोहणमनुभवितुमिति । भवताप्यस्यै प्रतिज्ञातम् । तत्प्रमदवनमेव गच्छाव. ।)

राजा—न क्षममिदम् ।

विदूषकः—कहं विअ । (कथमिव ।)

राजा—वयस्य निसर्गनिपुणाः स्त्रियः । कथमन्यसंक्रान्तहृदयमुप लालयन्तमपि ते सखी न मां लक्षयिष्यति । अतः पश्यामि ।

उचितः प्रणयो वरं विहन्तुं बहवः खण्डनहेतवो हि दृष्टाः ।
उपचारविधिर्मनस्विनीनां न तु पूर्वाभ्यधिकोऽपि भावशून्यः ॥ ३ ॥

विदूषक—णारिहदि भवं अन्तेउरट्ठिदं दक्खिण्णं एक्कपदे पिट्ठदो कादुम् । (नार्हति भवानन्त पुरस्थित दाक्षिण्यमेकपदे पृष्ठत. कर्तुम् ।)

राजा—[विचिन्त्य ।] तेन हि प्रमदवनमार्गमादेशय ।

विदूषक—इदो इदो भवं । (इत इतो भवान् ।)

[उभौ परिक्रामत ।]

विदूषक—णं एदं पमदवणं पवणवलचलाहि पल्लवङ्गुलीहि तुवरेदि विअ भवन्तं पवेसिदुं । (नन्वेतत्प्रमदवन पवनबलचलाभि पल्लवाङ्गुलीभि-स्त्वरयतीव भवन्त प्रवेष्टुम् ।)

राजा—[स्पर्शं रूपयित्वा] अभिजातः खलु वसन्तः । सखे पश्य—

उन्मत्तानां श्रवणसुभगैः कूजितैः कोकिलानां
सानुक्रोशं मनसिजरुजः सह्यतां पृच्छतेव ।
अङ्गे चूतप्रसवसुरभिर्दक्षिणो मारुतो मे
सान्द्रस्पर्शः करतल इव व्यापृतो माधवेन ॥४॥

विदूषक—पविस णिव्वुदिलाहाअ । (प्रविश निर्वृतिलाभाय ।)

[उभौ प्रविशत ।]

विदूषक—अवहाणेण दिट्ठिं देहि। एदं क्खु भवन्तं विअ विलोहइदुकामाए पमदवणलच्छीए जुवदीवेसलज्जावइत्तिअं वसन्तकुसुमणेवत्थं गहीदं। (अवधानेन दृष्टिं देहि। एतत्खलु भवन्तमिव विलोभयितुकामया प्रमदवनलक्ष्म्या युवतिवेषलज्जापयितृकं वसन्तकुसुमनेपथ्यं गृहीतम्।)

राजा—ननु विस्मयादवलोकयामि।

रक्ताशोकरुचा विशेषितगुणो बिम्बाधरालक्तकः
प्रत्याख्यातविशेषकं कुरबकं श्यामावदातारुणम्।
आक्रान्ता तिलकक्रिया च तिलकैर्लग्नद्विरेफाञ्जनैः
सावज्ञेव मुखप्रसाधनविधौ श्रीर्माधवी योषिताम् ॥५॥

[उभौ नाट्येनोद्यानशोभां निर्वर्णयत. ।]
[ततः प्रविशति पर्युत्सुका मालविका ।]

मालविका—अविण्णादहिअअं भट्टारअं अहिलसन्दी अप्पणो वि दाव लज्जेमि। कुदो विहवो सिणिद्धस्स सहीजणस्स इमं वुत्तन्तं आचक्खिदुं। ण जाणे अप्पडिआरगरुअं वेअणं केत्तिअं कालं मअणो मं णइस्सदि त्ति। [इति कतिचित्पदानि गत्वा] आ कहिं क्खु पत्थिदम्हि। [इति स्मृतिमभिनीय] आदिट्ठम्हि देवीए—मालविए गोदमचापलादो दोलापरिब्भट्ठाए सरुजो मह चलणो। तुमं दाव गदुअ तवणीआसोअस्स दोहलं णिवट्टेहि त्ति। जइ सो पञ्चरत्तब्भन्तरे कुसुमं दंसेदि तदो अहं अहिलासपूरइत्तअं पसादं दावइस्सं त्ति। ता जाव णिओअभूमिं पढमं गदा होमि दाव अणुपदं मह चलणालंकारहत्थाए वउलावलिआए आअन्दव्वं ता परिदेवइस्सं ताव वीसद्धं मुहुत्तअं। (अविज्ञातहृदयं भर्तारमभिलपन्त्यात्मनोऽपि तावल्लज्जे। कुतो विभवः स्निग्धस्य सखीजनस्येमं वृत्तान्तमाख्यातुम्। न जानेऽप्रतिकारगुरुकां वेदनां कियन्तं कालं मदनो मां नेष्यतीति। आ कुत्र खलु प्रस्थितास्मि। आदिष्टास्मि देव्या—मालविके गौतमचापलाद्दोलापरिभ्रष्टाया सरुजो मम चरणौ। त्वं तावद्गत्वा तपनीयाशोकस्य दोहदं निर्वर्तयेति। यद्यसौ पञ्चरात्राभ्यन्तरे कुसुमं दर्शयति ततोऽहमभिलाषपूरयितृकं प्रसादं दापयिष्यामीति। तद्यावन्नियोगभूमिं प्रथमं गता भवामि तावदनुपदं मम चरणालंकारहस्तया बकुलावलिकयाऽऽगन्तव्यम्। तत्परिदेवयिष्ये तावद्विस्रब्धं मुहूर्तकम्।)

[इति परिक्रामति।]

विदूषक—अज्ज एव्व पढमावदारसुहआणि रत्तकुरवआणि उवाअणं पेसिअ णववसन्तावदारव्वदेसेण इरावदीए णिउणिआमुहेण पत्थिदो भवं—इच्छामि अज्जउत्तेण सह दोलाहिरोहणं अणुहविदुं त्ति। भवदा वि से पडिण्णादं। ता पमदवणं एव्व गच्छम्ह। (अद्यैव प्रथमावतार-सुभगानि रक्तकुरवकाण्युपायनं प्रेष्य नववसन्तावतारव्यपदेशेनेरावत्या निपुणिका-मुखेन प्रार्थितो भवान्—इच्छाम्यार्यपुत्रेण सह दोलाधिरोहणमनुभवितुमिति। भवताप्यस्यै प्रतिज्ञातम्। तत्प्रमदवनमेव गच्छाव।)

राजा—न क्षममिदम्।

विदूषकः—कहं विअ। (कथमिव।)

राजा—वयस्य निसर्गनिपुणाः स्त्रियः। कथमन्यसंक्रान्तहृदयमुप-लालयन्तमपि ते सखी न मां लक्षयिष्यति। अतः पश्यामि।

उचितः प्रणयो वरं विहन्तुं बहवः खण्डनहेतवो हि दृष्टाः।
उपचारविधिर्मनस्विनीनां न तु पूर्वाभ्यधिकोऽपि भावशून्यः॥ ३॥

विदूषक—णारिहदि भवं अन्तेउरट्ठिदं दक्खिण्णं एक्कपदे पिट्ठदो कादुम्। (नार्हति भवानन्तःपुरस्थितं दाक्षिण्यमेकपदे पृष्ठतः कर्तुम्।)

राजा—[विचिन्त्य।] तेन हि प्रमदवनमार्गमादेशय।

विदूषक—इदो इदो भवं। (इत इतो भवान्।)

[उभौ परिक्रामतः।]

विदूषक—णं एदं पमदवणं पवणवलचलाहिं पल्लवङ्गुलीहिं तुवरेदि विअ भवन्तं पवेसिदुं। (नन्वेतत्प्रमदवनं पवनबलचलाभिः पल्लवाङ्गुलीभि-स्त्वरयतीव भवन्तं प्रवेष्टुम्।)

राजा—[स्पर्शं रूपयित्वा] अभिजातः खलु वसन्तः। सखे पश्य—

उन्मत्तानां श्रवणसुभगैः कूजितैः कोकिलानां
सानुक्रोशं मनसिजरुजः सह्यतां पृच्छतेव।
अङ्गे चूतप्रसवसुरभिर्दक्षिणो मारुतो मे
सान्द्रस्पर्शः करतल इव व्यापृतो माधवेन॥४॥

विदूषक—पविस णिव्वुदिलाहाअ। (प्रविश निर्वृतिलाभाय।)

[उभौ प्रविशतः।]

विदूषक—अवहाणेण दिट्ठिं देहि। एदं क्खु भवन्तं विअ विलोहइदुकामाए पमदवणलच्छीए जुवदीवेसलज्जावइत्तिअं वसन्तकुसुमणेवत्थं गहीदं। (अवधानेन दृष्टिं देहि। एतत्खलु भवन्तमिव विलोभयितुकामया प्रमदवनलक्ष्म्या युवतिवेषलज्जापयितृकं वसन्तकुसुमनेपथ्यं गृहीतम्।)

राजा—ननु विस्मयादवलोकयामि।

रक्ताशोकरुचा विशेषितगुणो बिम्बाधरालक्तकः
प्रत्याख्यातविशेषकं कुरवकं श्यामावदातारुणम्।
आक्रान्ता तिलकक्रिया च तिलकैर्लग्नद्विरेफाञ्जनैः
सावज्ञेव मुखप्रसाधनविधौ श्रीर्माधवी योषिताम्॥५॥

[उभौ नाट्येनोद्यानशोभां निर्वर्णयतः।]
[ततः प्रविशति पर्युत्सुका मालविका।]

मालविका—अविण्णादहिअअं भट्टारअं अहिलसन्दी अप्पणो वि दाव लज्जेमि। कुदो विहवो सिणिद्धस्स सहीजणस्स इमं वुत्तन्तं आचक्खिदुं। ण जाणे अप्पडिआरगरुअं वेअणं केत्तिअं कालं मअणो मं णइस्सदि त्ति। [इति कतिचित्पदानि गत्वा] आ कहिं क्खु पत्थिदम्हि। [इति स्मृतिमभिनीय] आदिट्ठम्हि देवीए—मालविए गोदमचापलादो दोलापरिब्भट्ठाए सरुजो मह चलणो। तुमं दाव गदुअ तवणीआसोअस्स दोहलं णिवट्टेहि त्ति। जइ सो पञ्चरत्तब्भन्तरे कुसुमं दंसेदि तदो अहं अहिलासपूरइत्तअं पसादं दावइस्सं त्ति। ता जाव णिओअभूमिं पढमं गदा होमि दाव अणुपदं मह चलणालंकारहत्थाए वउलावलिआए आअन्दव्वं ता परिदेवइस्सं ताव वीसद्धं मुहुत्तअं। (अविज्ञातहृदयं भर्तारमभिलषन्त्यात्मनोऽपि तावल्लज्जे। कुतो विभवः स्निग्धस्य सखीजनस्येमं वृत्तान्तमाख्यातुम्। न जानेऽप्रतिकारगुरुकां वेदनां कियन्तं कालं मदनो मां नेष्यतीति। आ कुत्र खलु प्रस्थितास्मि। आदिष्टास्मि देव्या—मालविके गौतमचापलाद्दोलापरिभ्रष्टाया सरुजो मम चरणो। त्वं तावद्गत्वा तपनीयाशोकस्य दोहदं निर्वर्तयेति। यद्यसौ पञ्चरात्राभ्यन्तरे कुसुमं दर्शयति ततोऽहमभिलाषपूरयितृकं प्रसादं दापयिष्यामीति। तद्यावन्नियोगभूमिं प्रथमं गता भवामि तावदनुपदं मम चरणालंकारहस्तया वकुलावलिकयाऽऽगन्तव्यम्। तत्परिदेवयिष्ये तावद्विस्रब्धं मुहूर्तकम्।)

[इति परिक्रामति।]

विदूषक—[दृष्ट्वा] ही ही । वअस्स एदं क्खु सीहुपाणुव्वेजिदस्स मच्छण्डिआ उवणदा । (आश्चर्यमाश्चर्यम् । वयस्य एतत्खलु सीधुपानोद्वेजितस्य मत्स्यण्डिकोपनता ।)

राजा—अये किमेतत् ।

विदूषकः—एसा णादिपरिक्खिदवेसा ऊसुअवअणा एआइणी मालविआ अदूरे वट्टदि । (एषा नातिपरिष्कृतवेषोत्सुकवदनैकाकिनी मालविकाऽदूरे वर्तते ।

राजा—[सहर्षम्] कथं मालविका ।

विदूषक—अह इं । (अथ किम् ।)

राजा—शक्यमिदानीं जीवितमवलम्बयितुम् ।

त्वदुपलभ्य समीपगतां प्रियां हृदयमुच्छ्वसितं मम विक्लवम् ।
तरुवृतां पथिकस्य जलार्थिनः सरितमारसितादिव सारसात् ॥६॥

अथ क्व तत्रभवती ।

विदूषकः—एसा तरुराइमज्झादो णिक्कन्ता इदो ज्जेव्व परिवट्टन्ती दीसइ । (एषा तरुराजिमध्यान्निष्क्रान्तेत एव परिवर्तमाना दृश्यते ।)

राजा—[विलोक्य सहर्षम्] वयस्य पश्याम्येनाम् ।

विपुलं नितम्बदेशे मध्ये क्षामं समुन्नतं कुचयोः ।
अत्यायतं नयनयोर्मम जीवितमेतदायाति ॥ ७ ॥

सखे पूर्वस्मादतिमनोहरावस्थान्तरमुपारूढा तत्रभवती । तथा हि—

शरकाण्डपाण्डुगण्डस्थलेयमाभाति परिमिताभरणा ।
माधवपरिणतपत्रा कतिपयकुसुमेव कुन्दलता ॥ ८ ॥

विदूषक—एसा वि भवं विअ मअणव्वाहिणा परिमिट्ठा भविस्सदि । (एषापि भवानिव मदनव्याधिना परिमृष्टा भविष्यति ।)

राजा—सौहार्दमेवं पश्यति ।

मालविका—अअं सो ललिदकुसुमालदोहलापेक्खी अगिहीदकुसुमणेवत्थो उक्कण्ठिदाए मह अणुकरेदि असोओ । जाव एदस्स पच्छाअसीदले सिलापट्टए णिसण्णा अप्पाणं विणोदेमि । (अयं स ललित-

सुकुमारदोहदापेक्षी अगृहीतकुसुमनेपथ्य उत्कण्ठिताया ममाऽनुकरोत्यशोकः। यावदस्य प्रच्छायशीतले शिलापट्टके निषण्णात्मानं विनोदयामि।)

विदूषक—सुदं भवदा उक्कण्ठिदम्हि त्ति तत्तहोदी मन्तेदि। (श्रुतं भवता उत्कण्ठितास्मीति तत्रभवती मन्त्रयते।)

राजा—नैतावता भवन्तं प्रसन्नतर्कं मन्ये। कुतः—

वोढा कुरवकरजसां किसलयपुटभेदशीकरानुगतः।
अनिमित्तोत्कण्ठामपि जनयति मनसो मलयवातः॥ ९॥

[मालविकोपविष्टा।]

राजा—सखे इतस्तावदावां लतान्तरितौ भवावः।

विदूषक—इरावदिं विअ अदूरे पेक्खामि। (इरावतीमिवादूरे प्रेक्षे।)

राजा—नहि कमलिनीं दृष्ट्वा ग्राहमवेक्षते मतङ्गज। [इति विलोकयन्स्थित।]

मालविका—हिअअ णिरवलम्बणादो अदिभूमिलद्धिणो ते मणोरहादो विरम। किं मं आआसिअ। (हृदय निरवलम्बनादतिभूमिलब्धिनो मनोरथाद्विरम। किं मामायास्य।

[विदूषको राजानं वीक्षते।]

राजा—प्रिये पश्य वामत्वं स्नेहस्य।

औत्सुक्यहेतुं विवृणोषि न त्वं तत्त्वावबोधैकफलो न तर्कः।
तथापि रम्भोरु करोमि लक्ष्यमात्मानमेषां परिदेवितानाम्॥१०॥

विदूषक—संपदं भवदो णिस्संसअं भविस्सदि। एसा अप्पिदमअणसंदेसा विवित्ते णं वउलावलिआ उवट्ठिदा। (सांप्रत भवतो निःसंशय भविष्यति। एषार्पितमदनसंदेशा विविक्ते ननु बकुलावलिकोपस्थिता।)

राजा—अपि स्मरेदसावस्मदभ्यर्थनाम्।

विदूषक—किं दाणिं एसा दासीए दुहिता तुह गरुअं संदेसं विसुमरेदि। अहं दाव ण विसुमरेमि। (किमिदानीमेषा दास्या दुहिता तव गुरुं संदेशं विस्मरति। अहं तावन्न विस्मरामि।)

[प्रविश्य चरणालंकारहस्ता बकुलावलिका।]

बकुलावलिका—अवि सुहं सहीए। (अपि सुखं सख्या।)

मालविका—अम्हो वउलावलिआ उवट्ठिदा। सहि साअदं दे। उव विस। (अहो वकुलावलिकोपस्थिता। सखि स्वागतं ते। उपविश।)

वकुलावलिका—[उपविश्य] हला तुमं दाणिं जोग्गदाए णिउत्ता। ता एक्कं दे चलणं उवणेहि जाव सालत्तअं सणेउरं अ करेमि। (सखि त्वमिदानीं योग्यतया नियुक्ता। तस्मादेकं ते चरणमुपनय यावत्सालक्तकं सनूपुरं च करोमि।)

मालविका—[आत्मगतम्] हिअअ अलं सुहिदाए उवट्ठिदो अअं विहवो। कहं दाणिं अत्ताणं मोचेअं। अहवा एदं एव्व मे मिच्चुमण्डणं भविस्सदि। (हृदय अलं सुखितया उपस्थितोऽयं विभव। कथं वेदानीमात्मानं मोचयेयम्। अथवा एतदेव मे मृत्युमण्डनं भविष्यति।)

वकुलावलिका—किं विआरेसि। ऊसुआ क्खु इमस्स तवणीआसोअस्स कुसुमोग्गमे देवी। (किं विचारयसि। उत्सुका खल्वस्य तपनीयाशोकस्य कुसुमोद्गमे देवी।)

राजा—कथमशोकदोहदनिमित्तोऽयमारम्भः।

विदूषक—किं णु क्खु जाणासि तुमं। मह कालणादो देवी मं अन्ते उरणेवच्छेण योजइस्सदि त्ति। (किं नु खलु जानासि त्वम्। मम कारणाद्देवी मामन्तःपुरनेपथ्येन योजयिष्यतीति।)

मालविका—हला मरिसेहि दाव णं। (सखि मर्षय तावदेनम्।) [इति पादमुपहरति।]

वकुलावलिका—अइ सरीरअं सि मे। (अयि शरीरमसि मे।)
[इति नाट्येन चरणसंस्कारमारभते।]

राजा—

चरणान्तनिवेशितां प्रियायाः सरसां पश्य वयस्य रागलेखाम्।
प्रथमामिव पल्लवप्रसूतिं हरदग्धस्य मनोभवद्रुमस्य ॥११॥

विदूषक—चलणाणुरूवो तत्तहोदीए अहिआरो उवक्खित्तो। (चरणानुरूपस्तत्रभवत्या अधिकार उपक्षिप्तः।)

राजा—सम्यगाह भवान्।

नवकिसलयरागेणाग्रपादेन बाला
स्फुरितनखरुचा द्वौ हन्तुमर्हत्यनेन ।
अकुसुमितमशोकं दोहदापेक्षया वा
प्रणमितशिरसं वा कान्तमार्द्रापराधम् ॥ १२॥

विदूषक—पहरिस्सदि तत्तहोदी तुमं अवरद्धम्। (प्रहरिष्यति तत्रभवती त्वामपराद्धम् ।)

राजा—मूर्ध्ना प्रतिगृहीतं वचः सिद्धिदर्शिनो ब्राह्मणस्य ।

[ततः प्रविशति युक्तमदा इरावती चेटी च ।]

इरावती—हञ्जे णिउणिए सुणामि बहुसो मदो किल इत्थिआजणस्स विसेसमण्डणं त्ति । अवि सच्चो एसो लोअवाओ । (चेटि निपुणिके श्रृणोमि बहुशो मदः किल स्त्रीजनस्य विशेषमण्डनमिति । अपि सत्य एष लोकवाद ।)

निपुणिका—पढमं लोअवाओ एव्व अज्ज सच्चो संवुत्तो । (प्रथमं लोकवाद एवाद्य सत्यः संवृत्त ।)

इरावती—अलं मयि सिणेहेण । कहेहि कुदो दाणिं ओगमिदव्वं दोलाघरं पढमं गदो भट्टा ण वेत्ति । (अलं मयि स्नेहेन । कथय कुत इदानीमवगन्तव्यं दोलागृहं प्रथमं गतो भर्ता न वेति ।)

निपुणिका—भट्टिणीए अखण्डिदादो पणआदो । (भट्टिन्या अखण्डितात्प्रणयात् ।)

इरावती—अलं सेवाए । मज्झत्थदं परिगह्णिअ भणाहि । (अलं सेवया । मध्यस्थतां परिगृह्य भण ।)

निपुणिका—वसन्तोस्सवुवाअणलोलुवेण अज्जगोदमेण कहिअं तुवरदु भट्टिणी त्ति । (वसन्तोत्सवोपायनलोलुपेनार्यगौतमेन कथितं त्वरतां भट्टिनीति ।)

इरावती—[अवस्थासदृशं परिक्रम्य ।] हञ्जे मदेण विलाअमाणं अत्ताणं अज्जउत्तस्स दंसणे हिअअं तुवरेदि । चलणा उण ण मह पसरन्ति । (चेटि मदेन विलाप्यमानमात्मानमार्यपुत्रस्य दर्शने हृदयं त्वरयति । चरणौ पुनर्न मम प्रसरतः ।)

मालविका—अम्हो वउलावलिआ उवट्ठिदा। सहि साअदं दे। उव विस। (अहो वकुलावलिकोपस्थिता। सखि स्वागतं ते। उपविश।)

वकुलावलिका—[उपविश्य] हला तुमं दाणिं जोग्गदाए णिउत्ता। ता एक्कं दे चलणं उवणेहि जाव सालत्तअं सणूउरं अ करेमि। (सखि त्वमिदानीं योग्यतया नियुक्ता। तस्मादेकं ते चरणमुपनय यावत्सालक्तकं सनूपुरं च करोमि।)

मालविका—[आत्मगतम्] हिअअ अलं सुहिदाए उवट्ठिदो अअं विहवो। कहं दाणिं अत्ताणं मोचेअं। अहवा एदं एव्व मे मिच्चुमण्डणं भविस्सदि। (हृदय अलं सुखितया उपस्थितोऽयं विभव। कथं वेदानीमात्मान मोचयेयम्। अथवा एतदेव मे मृत्युमण्डनं भविष्यति।)

वकुलावलिका—किं विआरेसि। ऊसुआ क्खु इमस्स तवणीआसोअस्स कुसुमोग्गमे देवी। (किं विचारयसि। उत्सुका खल्वस्य तपनीयाशोकस्य कुसुमोद्गमे देवी।)

राजा—कथमशोकदोहदनिमित्तोऽयमारम्भः।

विदूषक—किं णु क्खु जाणासि तुमं। मह कालणादो देवी मं अन्ते उरणेवच्छेण योजइस्सदि त्ति। (किं नु खलु जानासि त्वम्। मम कारणाद्देवी मामन्तःपुरनेपथ्येन योजयिष्यतीति।)

मालविका—हला मरिसेहि दाव णं। (सखि मर्षय तावदेनम्।) [इति पादमुपहरति।]

वकुलावलिका—अइ सरीरअं सि मे। (अयि शरीरमसि मे।)

[इति नाट्येन चरणसंस्कारमारभते।]

राजा—

चरणान्तनिवेशितां प्रियायाः सरसां पश्य वयस्य रागलेखाम्।
प्रथमामिव पल्लवप्रसूतिं हरदग्धस्य मनोभवद्रुमस्य ॥११॥

विदूषक—चलणाणुरूवो तत्तहोदीए अहिआरो उवक्खित्तो। (चरणानुरूपस्तत्रभवत्या अधिकार उपक्षिप्तः।)

राजा—सम्यगाह भवान्।

नवकिसलयरागेणाग्रपादेन बाला
स्फुरितनखरुचा द्वौ हन्तुमर्हत्यनेन ।
अकुसुमितमशोकं दोहदापेक्षया वा
प्रणमितशिरसं वा कान्तमार्द्रापराधम् ॥ १२॥

विदूषक—पहरिस्सदि तत्तहोदी तुमं अवरद्धम्। (प्रहरिष्यति तत्रभवती त्वामपराद्धम् ।)

राजा—मूर्ध्ना प्रतिगृहीतं वचः सिद्धिदर्शिनो ब्राह्मणस्य ।

[ततः प्रविशति युक्तमदा इरावती चेटी च ।]

इरावती—हञ्जे णिउणिए सुणामि बहुसो मदो किल इत्थिआजणस्स विसेसमण्डणं त्ति । अवि सच्चो एसो लोअवाओ । (चेटि निपुणिके शृणोमि बहुशो मदः किल स्त्रीजनस्य विशेषमण्डनमिति । अपि सत्य एष लोकवादः ।)

निपुणिका—पढमं लोअवाओ एव्व अज्ज सच्चो संवुत्तो । (प्रथमं लोकवाद एवाद्य सत्यः संवृत्तः ।)

इरावती—अलं मयि सिणेहेण । कहेहि कुदो दाणिं ओगमिदव्वं दोलाघरं पढमं गदो भट्टा ण वेत्ति । (अलं मयि स्नेहेन । कथय कुत इदानीमवगन्तव्यं दोलागृहं प्रथमं गतो भर्ता न वेति ।)

निपुणिका—भट्टिणीए अखण्डिदादो पणआदो । (भट्टिन्या अखण्डितात्प्रणयात् ।)

इरावती—अलं सेवाए । मज्झत्थदं परिगहिअ भणाहि । (अलं सेवया । मध्यस्थतां परिगृह्य भण ।)

निपुणिका—वसन्तोस्सवुवाअणलोलुवेण अज्जगोदमेण कहिअं तुवरदु भट्टिणी त्ति । (वसन्तोत्सवोपायनलोलुपेनार्यगौतमेन कथितं त्वरतां भट्टिनीति ।)

इरावती—[अवस्थासदृशं परिक्रम्य ।] हञ्जे मदेण किलाअमाणं अत्ताणं अज्जउत्तस्स दंसणे हिअअं तुवरेदि । चलणा उण ण मह पसरन्ति । (चेटि मदेन क्लाम्यमानमात्मानमार्यपुत्रस्य दर्शने हृदयं त्वरयति । चरणौ पुनर्न मम प्रसरतः ।)

निपुणिका—णं संपत्त म्ह दोलाघरं । (ननु संप्राप्ते स्वो दोलागृहम् ।)

इरावती—णिउणिए । अज्जउत्तो एत्थ ण दीसदि । (निपुणिके । आर्यपुत्रोऽत्र न दृश्यते ।)

निपुणिका—णं भट्टिणीए ओलोअदु । परिहासणिमित्तं कहिँ वि अदिट्ठेण भत्तुणा होदव्वं । अम्हे वि पिअङ्गुलदापरिक्खित्तं असोअसिलापट्टअं पविसामो । (ननु भट्टिन्यवलोकयतु । परिहासनिमित्तं कुत्राप्यदृष्टेन भर्त्रा भवितव्यम् । आवामपि प्रियङ्गुलतापरिक्षिप्तमशोकशिलापट्टकं प्रविशावः ।)

इरावती—तह । (तथा ।)

निपुणिका—[विलोक्य] आलोअदु भट्टिणी चूदङ्कुरं विचिणन्तीणं पिपीलिआहिँ दंसिदं । (अवलोकयतु भट्टिनी चूताङ्कुरं विचिन्वत्योः पिपीलिकाभिर्दष्टम् ।)

इरावती—कहं विअ एदं । (कथमिवेदम् ।)

निपुणिका—एसा असोअपादवच्छाआए मालविआए वउलावलिआ चलणालंकारं णिव्वट्टेदि । (एषाशोकपादपच्छायायां मालविकाया वकुलावलिका चरणालङ्कारं निर्वर्तयति ।)

इरावती—[शङ्कां रूपयित्वा] अभूमी इअं मालविआए कहं एत्थ तक्केसि । (अभूमिरियं मालविकायाः । कथमत्र तर्कयसि ।)

निपुणिका—तक्केमि दोलापरिब्भंसिदाए सरुअचलणाए देवीए असोअदोहलाहिआरे मालविआ णिउत्तेत्ति । अण्णहा । कहं देवी सअं धारिअं णूउरजुअलं परिअणस्स अब्भणुजाणिस्सदि । (तर्कयामि दोलापरिभ्रष्टया सरुजचरणया देव्याऽशोकदोहदाधिकारे मालविका नियुक्तेति । अन्यथा कथं देवी स्वयधारित नूपुरयुगल परिजनस्याभ्यनुज्ञास्यति ।)

इरावती—महदी क्खु से सभावणा । (महती खल्वस्या. सभावना ।)

निपुणिका—किं ण अण्णेसीअदि भट्टा । (किं नान्विष्यते भर्ता ।)

इरावती— हला ण मे चलणा अण्णदो पवट्टन्ति । मदो मं विआरेदि । आसङ्किदस्स दाव अन्तं गमिस्सं । [मालविकां निर्वर्ण्य । निरूप्यात्मगतम् ।] ठाणे क्खु कादरं मे हिअअं । (सखि न मे चरणावन्यत प्रवर्तेते । मदो मां विकारयति । आशङ्कितस्य तावदन्त गमिष्यामि । स्थाने खलु कातरं मे हृदयम् ।)

वकुलावलिका—[मालविकायै चरणं दर्शयन्ती ।] अवि रोअदि दे राअरेहाविएणासो । (अपि रोचते ते रागरेखाविन्यासः ।)

मालविका—हला अत्तणो चलणं त्ति लज्जेमि णं पसंसिदुं । तेण पसाहणकलाए अहिणीदासि । (सखि आत्मनश्चरण इति लज्जे एनं प्रशंसितुम् । तेन प्रसाधनकलायामभिनीतासि ।)

वकुलावलिका—एत्थ क्खु भत्तुणो सीसम्हि । (अत्र खलु भर्तुः शिष्यास्मि ।)

विदूषक—तुवरेहि दाव णं गुरुदक्खिणाए । (त्वरय तावदेनां गुरुदक्षिणायै ।)

मालविका—दिट्ठिआ ण गव्विदासि । (दिष्ट्या न गर्वितासि ।)

वकुलावलिका—उवदेसाणुरूवा चलणा लम्भिअ अज्ज दाव गव्विदा भविस्सं । [रागं विलोक्यात्मगतम्] हन्त सिद्ध मे दप्पो । [प्रकाशम्] सहि एक्कस्स दे चलणस्स अवसिदो राअणिक्खेवो । केवलं मुहमारुदो लम्भइदव्वो । अहवा पवादं एदं ठाणं । (उपदेशानुरूपौ चरणौ लब्ध्वाद्य तावद्गर्विता भविष्यामि । हन्त सिद्धो मे दर्पः । सखि एकस्य ते चरणस्यावसितो रागनिक्षेपः । केवलं मुखमारुतो जम्भयितव्यः । अथवा प्रवातमेतत्स्थानम् ।)

राजा—सखे पश्य ।

आर्द्रालक्तकमस्याश्चरणं मुखमारुतेन शोषयितुम् ।
प्रतिपन्नः प्रथमतरः संप्रति सेवावकाशो मे ॥ १३ ॥

विदूषक—कुदो दे अणुसओ । एदं भवदा चिरक्कमेण अणुभविदव्वं । (कुतस्तेऽनुशय । एतावद्भवता चिरक्रमेणानुभवितव्यम् ।)

वकुलावलिका—सहि अरुणसतपत्त विअ सोहदि दे चलणं सव्वहा भत्तुणो अङ्कपरिवट्टिणी होहि । (सखि अरुणशतपत्रमिव शोभते ते चरणम् । सर्वथा भर्तुरङ्कपरिवर्तिनी भव ।)

[इरावती निपुणिकामवेक्षते ।]

राजा—ममेयमाशीः ।

मालविका—हला मा अवअणीअं मन्तेहि । (सखि मा अवचनीयं मन्त्रय ।)

वकुलावलिका—मन्तइदव्वं एव्व मन्तिदं मए। (मन्त्रयितव्यमेव मन्त्रितं मया।)

मालविका—पिआ क्खु अहं तव। (प्रिया खल्वहं तव।)

वकुलावलिका—ण केवलं मह। (न केवल मम।)

मालविका—कस्स वा अण्णस्स। (कस्य वान्यस्य।)

वकुलावलिका—गुणेसु अहिणिवेसिणो भत्तुणो वि। (गुणेष्वभिनिवेशिनो भर्तुरपि।)

मालविका—अलिअं मन्तेसि। एदं एव्व मइ णत्थि। (अलीक मन्त्रयसे। एतदेव मयि नास्ति।)

वकुलावलिका—सच्चं तुइ णत्थि। भत्तुणो किसेसु सुन्दरपाण्डुरेसु दीसइ अंगेसु। (सत्य त्वयि नास्ति। भर्तु कृशेपु सुन्दरपाण्डुरेपु दृश्यतेऽङ्गेपु।

निपुणिका—पढमं गणिदं विअ हदासाए उत्तरं। (प्रथम गणितमिव हताशाया उत्तरम्।)

वकुलावलिका—अणुराओ अणुराएण परिक्खिदव्वो त्ति सुअणवअणं पमाणीकरेहि। (अनुरागोऽनुरागेण परीक्षितव्य इति सुजनवचनं प्रमाणीकुरु।)

मालविका—किं अत्तणो छन्देण मन्तेसि। (किमात्मनश्छन्देन मन्त्रयसि।)

वकुलावलिका—णहि णहि। भत्तुणो क्खु एदाइँ पणअमिदुलाइँ अक्खराइँ वत्तान्तरिदाइँ। (नहि नहि। भर्तुः खल्वेतानि प्रणयमृदुलान्यक्षराणि वक्त्रान्तरितानि।)

मालविका—हला देवीं चिन्तिअ ण मे हिअअं विस्ससदि। (सखि देवीं चिन्तयित्वा न मे हृदयं विश्वसिति।)

वकुलावलिका-मुद्धे भमरसंपादो भविस्सदि त्ति वसन्तावदारसव्वस्सं किं ण चूदप्पसवो ओदंसिदव्वो। (मुग्धे भ्रमरसपातो भविष्यतीति वसन्तावतारसर्वस्वं कि न चूतप्रसवोऽवतंसितव्य।)

मालविका—तुमं दाव दुज्जादे गच्छतस्स सहायिणी होहि। (त्वं तावदुर्जाते गच्छतः सहायिनी भव।)

वकुलावलिका—विमद्दसुरही बउलावलिआ क्खु अहं। (विमर्दसुरभिर्वकुलावलिका खल्वहम्।)

राजा—साधु वकुलावलिके साधु।

भावज्ञानानन्तरं प्रस्तुतेन प्रत्याख्याने दत्तयुक्तोत्तरेण।
वाक्येनेयं स्थापिता स्वे निदेशे स्थाने प्राणाः कामिनां दूत्यधीनाः॥१४॥

इरावती—हञ्जे। पेक्ख कारिदं एव्व बउलावलिआए पदंसिं पदं मालविआए। (सखि। पश्य कारितमेव वकुलावलिकयैतस्मिन्पदं मालविकायाः।)

निपुणिका—भट्टिणि। अहिआरस्स उइदो उवदेसो। (भट्टिनि। अधिकारस्योचित उपदेश.।)

इरावती—ठाणे क्खु संकिदं मे हिअअं। गहीदत्था अणन्तरं चिन्तइस्सं। (स्थाने खलु शङ्कितं मे हृदयम्। गृहीतार्थानन्तर चिन्तयिष्यामि।)

वकुलावलिका—एसो दुदीओ वि दे णिव्वुत्तपरिकम्मा चलणो। जाव णं सणुउरं करेमि। [इति नाट्येन नूपुरयुगलमामुच्य।] हला उट्ठेहि। असोअविआसइत्तअं देवीए णिओअं अणुचिट्ठ। (एष द्वितीयोऽपि ते निर्वृत्तपरिकर्मा चरणः। यावदेन सनूपुर करोमि। हला उत्तिष्ठ। अशोकविकासयितृक देव्या नियोगमनुतिष्ठ।)

[उभे उत्तिष्ठत।]

इरावती—सुदो देवीए णिओओ। होदु दाणिं। (श्रुतो देव्या नियोग.। भवत्विदानीम्।)

वकुलावलिका—एसो उवारुढराओ उअभोअक्खमो पुरदो दे वट्टइ। (एष उपारूढराग उपभोगक्षम. पुरतस्ते वर्तते।)

मालविका—[सहर्षम्] किं भट्टा। (किं भर्ता।)

वकुलावलिका—[सस्मितम्] ण दाव भट्टा। एसो असोअसाहावलम्बी पल्लवगुच्छओ। ओदंसेहि णं। (न तावद्भर्ता। एषोऽशोकशाखावलम्बी पल्लवगुच्छ। अवतंसयैनम्।)

[मालविका विषाद नाटयति।]

विदूषक—सुदं भवदा। (श्रुत भवता।)

राजा—सखे। पर्याप्तमेतावता कामिनाम्।

अनातुरोत्कण्ठितयोः प्रसिद्ध्यता समागमेनापि रतिर्न मां प्रति।
परस्परप्राप्तिनिराशयोर्वरं शरीरनाशोऽपि समानुरागयोः ॥१५॥

[मालविका रचितपल्लवावतंसा पादमशोकाय प्रहिणोति।]

राजा—वयस्य।

आदाय कर्णकिसलयमसादियमत्र चरणमर्पयति।
उभयोः सदृशविनिमयादात्मानं वञ्चितं मन्ये ॥ १६ ॥

वकुलावलिका—हला णत्थि दे दोसो। णिग्गुणो अअं असोओ जइ कुसुमोब्भेदमन्थरो भवे जो दे चलणसक्कारं लम्भिअ। (सखि नास्ति ते दोष। निर्गुणोऽयमशोको यदि कुसुमोद्भेदमन्थरो भवेत् यस्तेचरणसत्कारं लब्ध्वा।)

राजा—

अनेन तनुमध्यया मुखरनूपुराराविणा
नवाम्बुरुहकोमलेन चरणेन संभावितः।
अशोक यदि सद्य एव मुकुलैर्न संपत्स्यसे
वृथा वहसि दोहदं ललितकामिसाधारणम् ॥१७॥

सखे वचनानुसरणपूर्वकं प्रवेष्टुमिच्छामि।

विदूषकः—एहि। णं परिहासइस्सं। (एहि एनां परिहासयिष्यामि।)

[उभौ प्रवेश कुरुत।]

निपुणिका—भट्टिणि भट्टिणि। भट्टा एत्थ पविसदि। (भट्टिनि भट्टिनि। भर्ताऽत्र प्रविशति।)

इरावती—एदं मम पढमं चिन्तिदं हिअएण। (एतन्मम प्रथमं चिन्तितं हृदयेन।)

विदूषकः—[उपेत्य] भोदि। जुत्तं णाम अत्तहोदि पिअवअस्सो अअं असोओ ण वामपादेण ताडिदुं। (भवति। युक्त नाम अत्रभवति प्रियवयस्योऽयमशोको ननु वामपादेन ताडयितुम्।)

उभे—[ससम्भ्रमम्] अम्हो भट्टा। (अहो भर्ता।)

विदूषक —बउलावलिए। गहीदत्थाए तुए अत्तहोदी ईरिसं अवणिअं करन्ती कीस ण णिवारिदा। (वकुलावलिके। गृहीतार्थया त्वयात्रभवतीदृशमविनयं कुर्वन्ती कस्मान्न निवारिता।)

[मालविका भयं रूपयति।]

निपुणिका—भट्टिणि पेक्ख। किं पउत्तं अज्जगोदमेण। (भट्टिनि पश्य। किं प्रवृत्तमार्यगौतमेन।)

इरावती—कहं क्खु बह्मबन्धू अण्णहा जीविस्सदि। (कथं खलु ब्रह्मबन्धुरन्यथा जीविष्यति।)

वकुलावलिका—अज्ज। एसा देवीए णिओअं अणुचिट्ठदि। एदस्सिं अदिक्कमे परवदी इअं। पसीददु भट्टा। (आर्य। एषा देव्या नियोगमनुतिष्ठति। एतस्मिन्नतिक्रमे परवतीयम्। प्रसीदतु भर्ता।) [इत्यात्मना सहैनां प्रणिपातयति।]

राजा—यद्येवमनपराधासि। उत्तिष्ठ भद्रे। [हस्तेन गृहीत्वैनामुत्थापयति।]

विदूषक —जुज्जइ देवी एत्थ माणइदव्वा। (युज्यते देव्यत्र मानयितव्या।)

राजा—[विहस्य]

किसलयमृदोर्विलासिनि कठिने निहतस्य पादपस्कन्धे।
चरणस्य न ते बाधा संप्रति वामोरु वामस्य ॥१८॥

[मालविका लज्जां नाटयति।]

इरावती—अहो णवणीदकप्पहिअओ अज्जउत्तो। (अहो नवनीतकल्पहृदय आर्यपुत्र।)

मालविका—वउलावलिए। एहि। अणुट्ठिदं अत्तणो णिओअं देवीए णिवेदेम्ह। (वकुलावलिके। एहि। अनुष्ठितमात्मनो नियोगं देव्यै निवेदयाव।)

वकुलावलिका—विण्णवेहि भट्टारं विसज्जेहि त्ति। (विज्ञापय भर्तारं विसर्जयेति।)

राजा—भद्रे यास्यसि। मम तावदुत्पन्नावसरमर्थित्वं श्रूयताम्।

वकुलावलिका—अवहिदा सुणाहि। आणवेदु भट्टा। (अवहिता शृणु। आज्ञापयतु भर्ता।)

राजा—

धृतिपुष्पमयमपि जनो बध्नाति न तादृशं चिरात्प्रभृति ।
स्पर्शामृतेन पूरय दोहदमस्याप्यनन्यरुचेः ॥ १६ ॥

इरावती—[सहसोपसृत्य] पूरेहि पूरेहि । असोओ कुसुमं ण दंसेदि। अअं उण पुप्फदि एव्व । (पूरय पूरय । अशोकः कुसुम न दर्शयति । अयं पुन पुष्पत्येव ।)

[सर्वे इरावतीं दृष्ट्वा संभ्रान्ताः ।]

राजा—[अपवार्य ।] वयस्य । का प्रतिपत्तिरत्र ।

विदूषक —किं अण्णं । जङ्घाबलं एव्व । (किमन्यत् । जङ्घाबलमेव ।)

इरावती—वउलावलिए । तुए साहु उवक्कन्तं । दाणिं सफलब्भत्थणं करेहि अज्जउत्तं । (बकुलावलिके । त्वया साधूपक्रान्तम् । इदानीं सफलाभ्यर्थनं कुर्वार्यपुत्रम् ।)

उभे—पसीददु भट्टिणी । काओ अम्हे भत्तुणो पणअपरिग्गहस्स । (प्रसीदतु भट्टिनी । के आवां भर्तुः प्रणयपरिग्रहस्य ।) [इति निष्क्रान्ते ।]

इरावती—अविस्ससणीआ पुरिसा । अत्तणो वञ्चणवअणं पमाणीकरिअ आक्खित्ताए वाहजणगीदगहीदचित्ताए विअ हरिणीए एदं ण विण्णादं मए । (अविश्वसनीया पुरुषाः । आत्मनो वञ्चनावचन प्रमाणीकृत्याक्षिप्तया व्याधजनगीतगृहीतचित्तयैव हरिण्यैतन्न विज्ञातं मया ।)

विदूषक —[जनान्तिकम्] भो पडिपज्जेहि किंपि उत्तरम् । कम्मग्गहीदेण वि कुम्भीलएण संधिच्छेदे सिक्खिओम्मि त्ति वत्तव्वं होदि । (भो प्रतिपद्यस्व किमप्युत्तरम् । कर्मगृहीतेनापि कुम्भीलकेन सधिच्छेदे शिक्षितोऽस्मीति वक्तव्यं भवति ।)

राजा—सुन्दरि । न मे मालविकया कश्चिदर्थः । मया त्वं चिरयसीति यथाकथंचिदात्मा विनोदित ।

इरावती—विस्ससणीओसि । ण मए विण्णादं ईरिसं विणोदवुत्तन्तं अज्जउत्तेण उवलद्ध त्ति । अण्णहा दुक्खभाइणीए एव्वं ण करीअदि । (विश्वसनीयोऽसि । न मया विज्ञातमीदृशं विनोदवृत्तान्तमार्यपुत्रेणोपलब्ध इति । अन्यथा दुःखभागिन्यैव न क्रियते ।)

विदूषक—मा दाव अत्तभोदो दक्खिएणस्स उअरोहं करेहि। समावदिट्टेण देवीए परिचारिइत्थिआजणेन संकहावि जइ वारीअदि एत्थ तुमं एव्व पमाणं। (मा तावदत्रभवतो दाक्षिण्यस्योपरोधं कुरु। समीपदृष्टेन देव्या परिचारिस्त्रीजनेन संकथापि यदि वार्यते अत्र त्वमेव प्रमाणम्।)

इरावती—ण संकहा णाम होदु। किंति अत्ताणं आआसइस्सं। (ननु सकथा नाम भवतु। किमित्यात्मानमायासयिष्यामि।) [इति रुषा प्रस्थिता।]

राजा—[अनुसरन्।] प्रसीदतु भवती।

[इरावती रशनासंधारितचरणा व्रजत्येव।]

राजा—सुन्दरि। न शोभते प्रणयिनि जने निरपेक्षता।

इरावती—सठ। अविस्ससणीअहिअओसि। (शठ। अविश्वसनीयहृदयोऽसि।)

राजा—

शठ इति मयि तावदस्तु ते परिचयवत्यवधीरणा प्रिये।
चरणपतितया न चण्डि तां विसृजसि मेखलयापि याचिता ॥२०॥

इरावती—इअं पि हदासा तुमं एव्व अणुसरदि। इयमपि हताशा त्वामेवानुसरति।) [इति रशनामादाय राजानं ताडयितुमिच्छति।]

राजा—वयस्य। इयमिरावती।

बाष्पासारा हेमकाञ्चीगुणेन श्रोणीबिम्बादप्युपेक्षाच्युतेन।
चण्डी चण्डं हन्तुमभ्युद्यता मां विद्युद्दाम्ना मेघराजीव विन्ध्यम् ॥२१॥

इरावती—किं मं एव्व भूओ वि अवरद्धं करेसि। (किं मामेव भूयोऽप्यपराद्धां करोषि।)

राजा—[सस्मितं हस्तमवलम्बयति।]

अपराधिनि मयि दण्डं संहरसि किमुद्यतं कुटिलकेशि।
वर्धयसि विलसितं त्वं दासजनायाद्य कुप्यसि च ॥ २२ ॥

नूनमिदमननुज्ञातम्। [इति पादयोः पतति।]

इरावती—ण क्खु इमे मालविआचलणा जा दे हत्थसंफंसदोहलं पूरइस्सन्ति। (न खल्विमौ मालविकाचरणौ यौ ते हस्तस्पर्शदोहदं पूरयिष्यतः।)

[इति निष्क्रान्ता सह चेट्या ।]

विदूषक —उट्ठेहि अकिदप्पसादोऽसि । (उत्तिष्ठ । अकृतप्रसादोऽसि ।)

राजा—[उत्थायेरावतीमपश्यन् ।] तत्कथं गतैव प्रिया ।

विदूषक —वअस्स । दिट्ठिआ इमस्स अविणअस्स अप्पसण्णा गदा एसा । ता वअं सिग्घं अवक्कमाम । जाव अङ्गारओ रासिं विअ अणुवङ्कं परिगमणं ण करेदि । (वयस्य । दिष्ट्यानेनाविनयेनाप्रसन्ना गतैषा तद्वयं शीघ्रमपक्रमामः । यावदङ्गारको राशिमिवानुवक्रं प्रतिगमनं न करोति ।)

राजा—अहो मदनस्य वैषम्यम् ।

मन्ये प्रियाहृतमनास्तस्याः प्रणिपातलङ्घनं सेवाम् ।
एवं हि प्रणयवती सा शक्यमुपेक्षितुं कुपिता ॥२३॥

[इति निष्क्रान्त. सह वयस्येन]

॥ इति तृतीयोऽङ्कः ॥



चतुर्थोऽङ्कः

[ततः प्रविशति पर्युत्सुको राजा प्रतीहारी च ।]

राजा--[आत्मगतम् ।]

तामाश्रित्य श्रुतिपथगतामाशया बद्धमूलः
संप्राप्तायां नयनविषयं रूढरागप्रवालः ।
हस्तस्पर्शैर्मुकुलित इव व्यक्तरोमोद्गमत्वा-
त्कुर्यात्क्लान्तं मनसिजतरुर्मा रसज्ञं फलस्य ॥१॥

[प्रकाशम्] सखे गौतम ।

प्रतीहारी--जेदु जेदु भट्टा । असंहिणिदो गोदमो । (जयतु जयतु भर्ता । असंनिहितो गौतमः ।)

राजा—[आत्मगतम् ।] आ मालविकावृत्तान्तज्ञानाय मया प्रेषितः ।

विदूषक—[प्रविश्य ।] वड्ढदु भवं । (वर्धतां भवान् ।)

राजा—जयसेने । जानीहि तावत्क देवी धारिणी सरुजचरणत्वाद्वि-नोद्यत इति ।

प्रतीहारी—जं देवो आणवेदि । (यद्देव आज्ञापयति ।) [इति निष्क्रान्ता ।]

राजा—गौतम । को वृत्तान्तस्तत्रभवत्यास्ते सख्याः ।

विदूषक —जो विडालगहीदाए परहुदिआए । (यो विडालगृहीतायाः परभृतिकायाः ।)

राजा—[सविषादम्] कथमिव ।

विदूषक.—सा क्खु तवस्सिणी तए पिङ्गलच्छीए सारभण्डभूघरए गुहाए विअ णिक्खित्ता । (सा खलु तपस्विनी तया पिङ्गलाक्ष्या सारभाण्ड-भूगृहे गुहायामिव निक्षिप्ता ।)

राजा—ननु मत्संपर्कमुपलभ्य ।

विदूषक —अह इं । (अथ किम् ।)

राजा—क एव विमुखोऽस्माकम् । येन चण्डीकृता देवी ।

विदूषक —सुणादु भवं परिव्वाजिआए मे कहिदं । हिओ किल तत्तहोदी इरावदी रुअक्कन्तचलणं देविं सुहपुच्छिआ आअदा । (शृणोतु भवान् । परिव्राजिकया मे कथितम् । ह्यः किल तत्रभवतीरावती रुजाक्रान्तचरणां देवीं सुखपृच्छिकागता ।)

राजा—ततस्ततः ।

विदूषक—तदो सा देवीए पुच्छिदा । किं णु ओलोइदो वल्लहजणो त्ति । ताए उत्तं । मन्दो वो उवआरो जं परिजणे संकन्तं वल्लहत्तणं ण जाणीअदि । (ततः सा देव्या पृष्टा । किंन्ववलोकितो वल्लभजन इति । तयोक्तम् । मन्दो व उपचार यत्परिजने सक्रान्त वल्लभत्वं न ज्ञायते ।

राजा—अहो निर्भेदादृतेऽपि मालविकायामयमुपन्यास शङ्कयति ।

विदूषक —तदो ताए अणुबन्धिज्जमाणा सा भवदो अविणअं अन्त-रेण परिगदत्था किदा देवी । (ततस्तयानुबन्ध्यमाना सा भवतोऽविनयमन्त-रेण परिगतार्था कृता देवी ।)

राजा—अहो दीर्घरोषता तत्रभवत्या. । अतः परं कथय ।

विदूषक —किं अवरं । मालविआ वउलावलिआ अ पादालवासं णिगलपदीओ अदिट्ठसुज्जपादं णागकण्णआओ विअ अणुहोन्ति । (किमपरम् । मालविका वकुलावलिका च पातालवास निगलपद्यावदृष्टसूर्यपाद नागकन्यके इवानुभवतः ।)

राजा—कष्टं कष्टम् ।

मधुरस्वरा परभृता भ्रमरी च विबुद्धचूतसङ्गिन्यौ ।
कोटरमकालवृष्ट्या प्रबलपुरोवातया गमिते ॥ २ ॥

अप्यत्र कस्यचिदुपक्रमस्य गतिः स्यात् ।

विदूषक --कहं भविस्सदि । जं सारभाण्डघरव्यापारिदा माहविआ देवीए संदिट्ठा । मह अङ्गुली अमुद्दिअं अदेक्खिअ ण मोत्तव्वा तुए हदासा मालविआ बउलावलिआ अ त्ति । (कथं भविष्यति । यत्सारभाण्ड गृहव्यापारिता माधविका देव्या संदिष्टा । ममाङ्गुलीयकमुद्रिकामदृष्ट्वा न मोक्तव्या त्वया हताशा मालविका बकुलावलिका चेति ।)

राजा--[निःश्वस्य सपरामर्शम् ।] सखे । किमत्र कर्तव्यम् ।

विदूषक --[विचिन्त्य] अत्थि एत्थ उवाओ । (अस्त्यत्रोपायः ।)

राजा--क इव ।

विदूषक --[सदृष्टिक्षेपम्] को वि अदिट्ठो सुणिस्सदि । कण्णे दे कहेमि । [इत्युपश्लिष्य कर्णे] एव्वं विअ । (कोऽप्यदृष्टः श्रोष्यति । कर्णे ते कथयामि । एवमिव ।) [इत्यावेदयति ।]

राजा—[सहर्षम्] सुष्ठु । प्रयुज्यतां सिद्धये ।

[प्रविश्य]

प्रतीहारी—देव । पवादसअणे देवी णिसण्णा रत्तचन्दणधारिणा परिअणहत्थगदेण चलणेण भअवदीए कहाहिं विणोदिज्जमाणा चिट्ठदि । (देव । प्रवातशयने देवी निषण्णा रक्तचन्दनधारिणा परिजनहस्तगतेन चरणेन भगवत्या कथाभिर्विनोद्यमाना तिष्ठति ।)

राजा--तस्मादस्मत्प्रवेशयोग्योऽयमवसरः ।

विदूषक --भो । गच्छदु भवं । अहं वि देविं पेक्खिदुं अरित्तपाणी भविस्सं । (भो । गच्छतु भवान् । अहमपि देवीं द्रष्टुमरिक्तपाणिर्भविष्यामि ।)

राजा—जयसेनायास्तावदस्मद्रहस्यं विदितं कुरु ।

विदूषकः—तह । [इति कर्णे] एव्वं विअ होदि । (तथा । एवमिव भवति ।) [इत्यावेद्य निष्क्रान्तः ।]

राजा—जयसेने । प्रवातशयनमार्गमादेशय ।

प्रतीहारी—इदो इदो देवो । (इत इतो देव ।)

[ततः प्रविशति शयनस्था देवी परिव्राजिका विभवतश्च परिवारः ।]

देवी—भअवदि । रमणिज्जं कहावत्थु । तदो तदो । (भगवति । रमणीयं कथावस्तु । ततस्ततः ।)

११

परिव्राजिका—[सदृष्टिक्षेपम्] देवि। अतःपरं पुनः कथयिष्यामि। अत्र भगवान्विदिशेश्वरः संप्राप्तः।

धारिणी—अम्हो भट्टा। (अहो भर्ता।) [इत्युत्थातुमिच्छति।]

राजा—अलमलमुपचारयन्त्रणया।

अनुचितनूपुरविरहं नार्हसि तपनीयपीठिकालम्बि।
चरणं रुजापरीतं कलभाषिणि मां च पीडयितुम् ॥३॥

धारिणी—जेदु जेदु अज्जउत्तो। (जयतु जयत्वार्यपुत्रः।)

परिव्राजिका—विजयतां देवः।

राजा—[परिव्राजिकां प्रणम्योपविश्य।] देवि। अपि सह्या वेदना।

धारिणी—अज्ज अत्थि मे विसेसो। (अद्यास्ति मे विशेष.।)

[ततः प्रविशति यज्ञोपवीतबद्धाङ्गुष्ठः संभ्रान्तो विदूषकः।]

विदूषक—परित्ताअदु परित्ताअदु भवं। सप्पेणम्हि दट्ठो। (परित्रायतां परित्रायतां भवान्। सर्पेणास्मि दष्टः।)

[सर्वे विषण्णाः।]

राजा—कष्टं कष्टम्। क्व भवान्परिभ्रान्तः।

विदूषक—देविं देक्खिस्सं त्ति आआरपुप्फग्गहणकारणादो पमदवणं गदोम्हि। (देवीं द्रक्ष्यामीत्याचारपुष्पग्रहणकारणात्प्रमदवनं गतोऽस्मि।)

धारिणी—हद्धी हद्धी। अहं एव्व बम्हणस्स जीविदसंसअणिमित्तं जादम्हि। (हा धिक् हा धिक्। अहमेव ब्राह्मणस्य जीवितसंशयनिमित्तं जातास्मि।)

विदूषक—तहिं असोअत्थवअकालणादो पसारिदो दक्खिणहत्थो। तदो कोडरणिग्गदेण सप्परूवेण कालेण दट्ठोम्हि। णं एदाणि दुवे दंसणपदाणि। (तस्मिन्नशोकस्तवककारणात्प्रसारितो दक्षिणहस्त। ततः कोटरनिर्गतेन सर्परूपेण कालेन दष्टोऽस्मि। नन्वेते द्वे दशनपदे।) [इति दंशं दर्शयति]

परिव्राजिका—तेन हि दंशच्छेदः पूर्वकर्मेति श्रूयते। स तावदस्य क्रियताम्।

छेदो दंशस्य दाहो वा क्षतेर्वा रक्तमोक्षणम्।
एतानि दष्टमात्राणामायुष्याः प्रतिपत्तयः ॥ ४ ॥

राजा—संप्रति विषवैद्यानां कर्म। जयसेने। ध्रुवसिद्धिः क्षिप्रमानीयताम्।

प्रतीहारी—जं देवो आणवेदि। (यद्देव आज्ञापयति।) [इति निष्क्रान्ता।]

विदूषकः—अहो पावेण मिच्चुणा गहीदोम्हि। (अहो पापेन मृत्युना गृहीतोऽस्मि।)

राजा—मा कातरो भूः। अविषोऽपि कदाचिद्दंशो भवेत्।

विदूषकः—कहं ण भाइस्सं। सिमसिमाअन्ति मे अङ्गाइँ। (कथं न भेष्यामि। सिमसिमायन्ति मेऽङ्गानि।) [इति विषवेगं रूपयति।]

धारिणी—हा दंसिदं असुहं विआरेण। अवलम्बध बम्हणं। (हा दर्शितमशुभं विकारेण। अवलम्बध्वं ब्राह्मणम्।)

[परिव्राजिका ससंभ्रममवलम्बते।]

विदूषकः—[राजानं विलोक्य] भो। भवदो बाल्लादो वि पिअवअस्सोम्हि। तं विआरिअ अपुत्ताए मे जणणीए जोगक्खेमं वहेहि। (भोः। भवतो बाल्यादपि प्रियवयस्योऽस्मि। तं विचार्यापुत्रायां मे जनन्या योगक्षेमं वह।)

राजा—मा भैषीर्गौतम। स्थिरो भव। अचिरात्त्वां वैद्यश्चिकित्सिष्यति।

[प्रविश्य]

जयसेना—देव। आणाविदो धुवसिद्धी विण्णावेदि इह एव्व आणीअदु सो गोदमो त्ति। (देव। आज्ञापितो ध्रुवसिद्धिर्विज्ञापयति—इहैवानीयतां स गौतम इति।)

राजा—तेन हि प्रतिगृहीतमेनं तत्रभवत सकाशं प्रापय।

जयसेना—तहा। (तथा।)

विदूषकः—[देवीं विलोक्य।] भोदि। जीवेअं वा ण वा। जं मए अत्तभवन्तं सेवमाणेण ते अवरद्धं तं मरिसेहि। (भवति। जीवेयं वा न वा। यन्मयात्रभवन्तं सेवमानेन तेऽपराद्धं तन्मृष्यस्व।)

धारिणी—दीहाऊ होहि। (दीर्घायुर्भव।)

[निष्क्रान्तो विदूषकः प्रतीहारी च।]

राजा—प्रकृतिभीरुस्तपस्वी ध्रुवसिद्धिमपि यथार्थनामानं सिद्धिमन्तं न मन्यते।

[प्रविश्य]

जयसेना—जेदु जेदु भट्टा। धुवसिद्धी विण्णावेदि-उदकुम्भविहाणेण सप्पमुद्दिअं किंपि कप्पिदव्वं। तं अण्णेसीअदु त्ति। (जयतु जयतु भर्ता। ध्रुवसिद्धिर्विज्ञापयति—उदकुम्भविधानेन सर्पमुद्रितं किमपि कल्पयितव्यम्। तदन्विष्यतामिति।)

धारिणी—इदं सप्पमुद्दिअं अङ्गुलीअअं। पच्छा मम हत्थे देहि णं। (इदं सर्पमुद्रितमङ्गुलीयकम्। पश्चान्मम हस्ते देह्येतत्।) [इत्यङ्गुलीयकं ददाति।]

[प्रतीहारी गृहीत्वा स्थिता।]

राजा—जयसेने। कर्मसिद्धावाशु प्रतिपत्तिमानय।

प्रतीहारी—जं देवो आणवेदि। (यद्देव आज्ञापयति।)

परिव्राजिका—यथा मे हृदयमाचष्टे तथा निर्विषो गौतमः।

राजा—भूयादेवम्।

[प्रविश्य]

जयसेना—जेदु देवो भट्टा। णिवुत्तविसवेगो गोदमो मुहुत्तेण पकिदित्थो संवुत्तो। (जयतु देवो भर्ता। निवृत्तविषवेगो गौतमो मुहूर्तेन प्रकृतिस्थः संवृत्तः।)

धारिणी—दिट्ठिआ वअणीआदो मुत्तम्हि। (दिष्ट्या वचनीयान्मुक्तास्मि।)

प्रतीहारी—एसो उण वाहतओ अमच्चो विण्णवेदि--राअकज्जं बहु मन्तिदव्वं दंसणेण अणुगहं इच्छामि त्ति। (एष पुनर्वाहतकोऽमात्यो विज्ञापयति--राजकार्यं बहु मन्त्रयितव्यं दर्शनेनानुग्रहमिच्छामीति।)

धारिणी—गच्छदु अज्जउत्तो कज्जसिद्धीए। (गच्छत्वार्यपुत्रः कार्यसिद्धये।)

राजा—देवि। आतपाक्रान्तोऽयमुद्देशः। शीतक्रिया चास्या रुजः प्रशस्ता। तदन्यत्र नीयतां शयनम्।

देवी—बालिगाओ। अज्जउत्तवअणं अणुचिट्ठह। (बालिकाः आर्यपुत्र-वचनमनुतिष्ठत।)

परिजनः—तह। (तथा।)

[निष्क्रान्ता देवी परिव्राजिका परिजनश्च।]

राजा—जयसेने। मां गूढेन पथा प्रमदवनं प्रापय।

जयसेना—इदो इदो देवो। (इत इतो देव।)

राजा—जयसेने। ननु समाप्तकार्यो गौतमः।

जयसेना—अह इं। (अथ किम्।)

राजा—

इष्टाधिगमनिमित्तं प्रयोगमेकान्तसाध्यमपि मत्वा।
संदिग्धमेव सिद्धौ कातरमाशङ्कते हृदयम्॥ ५॥

[प्रविश्य]

विदूषक—वड्ढदु भवं। सिद्धाणि दे मङ्गलकम्माणि। (वर्धतां भवान्। सिद्धानि ते मङ्गलकर्माणि।)

राजा—जयसेने। त्वमपि स्वं नियोगमशून्यं कुरु।

जयसेना—जं देवो आणवेदि। (यद्देव आज्ञापयति।) [इति निष्क्रान्ता।]

राजा—गौतम। क्षुद्रा माधविका। न खलु किंचिद्विचारितमनया।

विदूषक—देवीए अङ्गुलीअअमुद्दिअं देक्खिअ कहं विआरेदि। (देव्या अङ्गुलीयकमुद्रां दृष्ट्वा कथं विचारयति।)

राजा—न खलु मुद्रामधिकृत्य ब्रवीमि। एतयोर्द्वयोः किंनिमित्तो मोक्षः। किं वा देव्याः परिजनमतिक्रम्य भवान्संदिष्ट इत्येवमनया प्रष्टव्यम्।

विदूषकः—णं पुच्छिदोम्हि। पुणो मन्दस्स मे तस्सिं पच्चुप्पण्णा मदी। (ननु पृष्टोऽस्मि। पुनर्मन्दस्य मे तस्मिन्प्रत्युत्पन्ना मतिः।)

राजा—कथ्यताम्।

विदूषक—भणिदं मए। देव्वचिन्तएहिं विण्णाविदो राआ—सोवसग्गं वो णक्खत्तं। ता अवस्सं सव्वबन्धमोक्खो करीअदु त्ति। (भ-

णित मया । दैवचिन्तकैर्विज्ञापितो राजा—सोपसर्गं वो नक्षत्रम् । तदवश्य सर्वबन्धमोक्षः क्रियतामिति ।)

राजा—[सहर्षम्] ततस्ततः ।

विदूषक—तं सुणिअ देवीए इरावदीए चित्तं रक्खन्तीए राआ किल मोएदि त्ति अहं संदिट्ठो त्ति । तदो जुज्जदि त्ति ताए एव्वं सपादिदो अत्थो । (तच्छ्रुत्वा देव्या इरावत्याश्चित्तं रक्षन्त्या राजा किल मोचयतीत्यहं संदिष्ट इति । ततो युज्यत इति तयैवं संपादितोऽर्थः ।)

राजा—(विदूषकं परिष्वज्य) सखे । प्रियोऽहं खलु तव ।

नहि बुद्धिगुणेनैव सुहृदामर्थदर्शनम् ।
कार्यसिद्धिपथः सूक्ष्मः स्नेहेनाप्युपलभ्यते ॥ ६ ॥

विदूषक—तुवरदु भवं । समुद्दघरए सहीसहिदं मालवीअं ठाविअ भवन्तं पच्चुग्गदोम्हि । (त्वरतां भवान् । समुद्रगृहे सखीसहितां मालविकां स्थापयित्वा भवन्तं प्रत्युद्गतोऽस्मि ।)

राजा—अहमेनां संभावयामि । गच्छाग्रत ।

विदूषक—एदु भवं । [परिक्रम्य] एदं समुद्दघरं । (एतु भवान् । इद समुद्रगृहम् ।)

राजा—[साशङ्कम् ।] वयस्य । एषा कुसुमावचयव्यग्रहस्ता सख्यास्ते परिचारिका चन्द्रिका संनिकृष्टमागच्छति । इतस्तावदावां भित्तिगूढौ भवाव ।

विदूषक—अहो । कुम्भीलएहिं कामुएहिं च परिहरणीआ क्खु चन्दिआ । (अहो कुम्भीलकै. कामुकैश्च परिहरणीया खलु चन्द्रिका ।)

[उभौ यथोक्त कुरुतः ।]

राजा—गौतम । कथं नु ते सखी मां प्रतिपालयति । एहि । एनां गवाक्षमाश्रित्य विलोकयाव ।

विदूषक—तह । (तथा ।)

[उभौ विलोकयन्तौ तिष्ठत ।]

[तत प्रविशति मालविका बकुलावलिका च ।]

बकुलावलिका—सहि । पणम भट्टारं । (सखि । प्रणम भर्तारम् ।)

मालविका—णमो दे। (नमस्ते।)

राजा—शङ्के मे प्रतिकृतिं निर्दिशति।

मालविका—[सहर्षं द्वारमवलोक्य सविषादम्] हला। मं विप्पलम्भेसि। (सखि। मा विप्रलम्भयसि।)

राजा—हर्षविषादाभ्यामत्रभवत्या प्रीतोऽस्मि।

सूर्योदये भवति या सूर्यास्तमये च पुण्डरीकस्य।
वदनेन सुवदनायास्ते समवस्थे क्षणादूढे॥ ७॥

बकुलावलिका—णं एसो चित्तगदो भट्टा। (नन्वेष चित्रगतो भर्ता।)

उभे—(प्रणिपत्य।) जेदु भट्टा। (जयतु भर्ता।)

मालविका—हला। तदा संभमदिट्ठे भट्टिणो रूवे जहा ण वितिण्हम्हि तहा अज्जवि मए भाविदो अवितिण्हदंसणो भट्टा। (सखि। तदा संभ्रमदृष्टे भर्तू रूपे यथा न वितृष्णास्मि तथाद्यापि मया भावितोऽवितृष्णदर्शनो भर्ता।)

विदूषकः—सुदं भवदा। तत्तहोदी—चित्ते जहा दिट्ठो ण तहा दिट्ठो भवं त्ति मन्तेदि। मुहा दाणिं मञ्जूसा विअ रअणभण्डअं जोव्वणगव्वं वहेसि। (श्रुतं भवता। तत्रभवती—चित्रे यथा दृष्टो न तथा दृष्टो भवानिति मन्त्रयति। मुधेदानीं मञ्जूषेव रत्नभाण्डं यौवनगर्वं वहसि।)

राजा—सखे। कुतूहलवानपि निसर्गशालीनः स्त्रीजनः। पश्य—

कार्त्स्न्येन निर्वर्णयितुं च रूपमिच्छन्ति तत्पूर्वसमागमानाम्।
न च प्रियेष्वायतलोचनानां समग्रपातीनि विलोचनानि॥ ८॥

मालविका—हला। का एसा पासपरिउत्तमुहेण भट्टिणा सिणिद्धाए दिट्ठीए णिज्झाईअदि। (सखि। कैषा पार्श्वपरिवृत्तमुखेन भर्त्रा मे स्निग्धया दृष्ट्या निध्यायते।)

बकुलावलिका—णं इअं पासगदा इरावदी। (नन्वियं पार्श्वगतेरावती।)

मालविका—सहि। अदक्खिणो विअ भट्टा मे पडिभादि जो सव्वं देवीजणं उज्झिअ एक्काए मुहं बहुलक्खो। (सखि। अदक्षिण इव भर्ता मे प्रतिभाति यः सर्वं देवीजनमुज्झित्वैकस्या मुखं बहुलक्ष्य।)

बकुलावलिका—[आत्मगतम्] चित्तगदं भट्टारअं परमत्थदो संकप्पिअ असूअदि। होदु। कीडिस्सं दाव एदाए। [प्रकाशम्] हला

भट्टिणो वल्लहा एसा । (चित्रगतं भर्तारं परमार्थतः संकल्प्यासूयति । भवतु । क्रीडिष्यामि तावदेतया । सखि भर्तुर्वल्लभैषा ।)

मालविका—तदो किं दाणिं अत्ताणं आआसइस्सं । (ततः किमिदानीमात्मानमायासयिष्यामि ।) [इति सासूयं परावर्तते ।]

राजा—सखे । पश्य ।

भ्रूभङ्गभिन्नतिलकं स्फुरिताधरोष्ठं
सासूयमाननमितः परिवर्तयन्त्या ।
कान्तापराधकुपितेष्वनया विनेतुः
संदर्शितेव ललिताभिनयस्य शिक्षा ॥९॥

विदूषक—अणुणअसज्जो दाणिं होहि । (अनुनयसज्ज इदानीं भव ।)

मालविका—अज्जगोदमो एत्थ एव्व संसेवदि णं । (आर्यगौतमोऽत्रैव संसेवत एनाम् ।) [पुन. स्थानान्तराभिमुखी भवितुमिच्छति ।]

वकुलावलिका—[मालविकां रुद्ध्वा ।] ण क्खु कुविदा दाणिं तुमं । (न खलु कुपितेदानीं त्वम् ।)

मालविका—जइ चिरं कुविदं एव्व मं मण्णेसि एसो पच्चाणीअदि कोवो । (यदि चिरं कुपितामेव मां मन्यसे एष प्रत्यानीयते कोप. ।)

राजा—[उपेत्य]

कुप्यसि कुवलयनयने चित्रार्पितचेष्टया किमेतन्मे ।
ननु तव साक्षादयमहमनन्यसाधारणो दासः ॥ १० ॥

वकुलावलिका—जेदु जेदु भट्टा । (जयतु जयतु भर्ता ।)

मालविका—[आत्मगतम्] कहं चित्तगदो भट्टा मए असूइदो । (कथं चित्रगतो भर्ता मयासूयित. ।) [प्रकाशं सव्रीडवदनमञ्जलिं करोति ।]

[राजा मदनकातर्यं रूपयति ।]

विदूषकः—किं भवं उदासीणो विअ दीसइ । (किं भवानुदासीन इव दृश्यते ।)

राजा—अविश्वसनीयत्वात्सख्यास्तव ।

विदूषक —अत्तहोदीए अअं कहं तुह अविस्सासो । (अत्रभवत्यामयं कथं तवाविश्वास. ।)

राजा—श्रूयताम् ।

पथि नयनयोः स्थित्वा स्थित्वा तिरोभवति क्षणा-
त्सरति सहसा बाह्वोर्मध्यं गतापि सखी तव ।
मनसिजरुजा क्लिष्टस्यैवं समागममायया
कथमिव सखे विस्रब्धं स्यादिमां प्रति मे मनः ॥११॥

वकुलावलिका—सहि । बहुसो क्खु भट्टा विपलद्धो । ता तुए अत्ता विस्ससणिज्जो करीअदु । (सखि । बहुशः किल भर्ता विप्रलब्धः । तत्त्वयात्मा विश्वसनीयः क्रियताम् ।)

मालविका—सहि । मह उण मन्दभग्गाए सिविणसमाअमो वि भट्टिणो दुल्लहो आसि । (सखि मम पुनर्मन्दभाग्यायाः स्वप्नसमागमोऽपि भर्तुर्दुर्लभ आसीत् ।

वकुलावलिका—भट्टा । कहेदु से उत्तरं । (भर्ता कथयत्वस्या उत्तरम् ।)

राजा—

उत्तरेण किमात्मैव पञ्चबाणाग्निसाक्षिकम् ।
तव सख्यै मया दत्तो न सेव्यः सेविता रहः ॥ १२ ॥

वकुलावलिका—अणुगहीदम्हि । (अनुगृहीतास्मि ।)

विदूषक—[परिक्रम्य ससम्भ्रमम्] वउलावलिए । एसो बालासोअरुक्खस्स पल्लवाइं लङ्घेदि हरिणो । एहि णिवारेम णं । (वकुलावलिके । एष बालाशोकवृक्षस्य पल्लवानि लङ्घयति हरिणः । एहि निवारयाम एनम् ।)

वकुलावलिका—तह । (तथा ।) [इति प्रस्थिता ।]

राजा—वयस्य । एवमेवास्मिन्रक्षणक्षणेऽवहितेन त्वया भवितव्यम् ।

विदूषक—एव्वं वि गोदमो सन्दिसीअदि । (एवमपि गौतमः सन्दिश्यते ।)

वकुलावलिका—[परिक्रम्य] अज्ज गोदम । अहं अप्पआसे चिट्ठामि । तुमं दुवाररक्खओ होहि । (आर्य गौतम । अहमप्रकाशे तिष्ठामि । त्वं द्वाररक्षको भव ।)

विदूषक—जुज्जइ । (युज्यते ।)

[निष्क्रान्ता वकुलावलिका ।]

विदूषक—इमं दाव फलिहक्खम्भअस्सिदो होमि । [इति तथा कृत्वा]

अहो सुहप्फरिसदा सिलाविसेसस्स । (इमं तावत्स्फटिकस्तम्भमाश्रितो भवामि । अहो सुखस्पर्शता शिलाविशेषस्य ।) [इति निद्रायते ।]

[मालविका समाध्वसा तिष्ठति ।]

राजा—

विसृज सुन्दरि संगमसाध्वसं तव चिरात्प्रभृति प्रणयोन्मुखे ।
परिगृहाण गते सहकारतां त्वमतिमुक्तलताचरितं मयि ॥१३॥

मालविका—देवीए भएण अत्तणो वि पिअं कादुं ण पारेमि । (देव्या भयेनात्मनोऽपि प्रियं कर्तुं न पारयामि ।)

राजा—अयि न भेतव्यम् ।

मालविका—[सोपालम्भम्] जो ण भाअदि सो मए भट्टिणीदंसणे दिट्ठसामत्थो भट्टा । (यो न बिभेति स मया भट्टिनीदर्शने दृष्टसामर्थ्यो भर्ता ।)

राजा—

दाक्षिण्यं नाम बिम्बोष्ठि नायकानां कुलव्रतम् ।
तन्मे दीर्घाक्षि ये प्राणास्ते त्वदाशानिबन्धनाः ॥१४॥

तदनुगृह्यतां चिरानुरक्तोऽयं जनः । [इति संश्लेषमुपजनयति ।]

[मालविका नाट्येन परिहरति ।]

राजा—[आत्मगतम्] रमणीयः खलु नवाङ्गनानां मदनविषयावतारः । तथा हि इयम्—

हस्तं कम्पयते रुणद्धि रशनाव्यापारलोलाङ्गुलीः
स्वौ हस्तौ नयति स्तनावरणतामालिङ्ग्यमाना बलात् ।
पातुं पक्ष्मलनेत्रमुन्नमयतः साचीकरोत्याननं
व्याजेनाप्यभिलापपूरणसुखं निर्वर्तयत्येव मे ॥ १५ ॥

[ततः प्रविशतीरावती निपुणिका च ।]

इरावती—हञ्जे णिउणिए । सच्चं तुमं परिगदत्था चन्दिआए । समुद्दघरअलिन्दसइदो एआई अज्जगोदमो दिट्ठो त्ति । (हञ्जे निपुणिके । सत्यं त्वं परिगतार्था चन्द्रिकया । समुद्रगृहालिन्दशयित एकाकी आर्यगौतमो दृष्ट इति ।)

निपुणिका—अण्णहा कहं भट्टिणीए विण्णावेमि। (अन्यथा कथं भट्टिन्यै विज्ञापयामि।)

इरावती—तेण हि तहिं एव्व गच्छम्ह संसआदो मुत्तं पिअवअस्सं पुच्छिदुं अ। (तेन हि तत्रैव गच्छाम संशयान्मुक्तं प्रियवयस्यं प्रष्टुं च।)

निपुणिका—सावसेसं विअ भट्टिणीए वअणं। (सावशेषमिव भट्टिन्या वचनम्।)

इरावती—अण्णं अ चित्तगदं अज्जउत्तं पसादेदुं। (अन्यच्च चित्रगतमार्यपुत्रं प्रसादयितुम्।)

निपुणिका—अह दाणिं कह णु एव्वं अणुणीअदि। (अथेदानीं कथं नु भर्तैवमनुनीयते।)

इरावती—मुद्धे। जारिसो चित्तगदो णं तारिसो एव्व अण्णसंकन्तहिअओ अज्जउत्तो। केवलं उवआरादिक्कमं पमज्जिदुं अअं आरम्भो। (मुग्धे। यादृशश्चित्रगतो ननु तादृश एवान्यसंक्रान्तहृदय आर्यपुत्रः। केवलमुपचारातिक्रमं प्रमार्जितुमयमारम्भः।)

निपुणिका—इदो इदो भट्टिणी। (इत इतो भट्टिनी।)

[उभे परिक्रामतः।]

[प्रविश्य]

चेटी—जेदु जेदु भट्टिणी। भट्टिणि। देवी भणादि—ण मे मच्छरस्स एसो कालो। तेण क्खु बहुमाणं वड्ढेदुं वअस्साए सह णिअलपन्धणे किदा मालविआ। जइ अणुमण्णसि अज्जउत्तस्स पिअं कादुं तदा करेमि। जं तुह इच्छिअं तं मे भणाहि त्ति। (जयतु जयतु भट्टिनी। भट्टिनि। देवी भणति—न मे मत्सरस्यैष कालः। तेन खलु बहुमानं वर्धयितुं वयस्यया सह निगडबन्धने कृता मालविका। यद्यनुमन्यसे आर्यपुत्रस्य प्रियं कर्तुं तथा करोमि। यत्तवेष्टं तन्मे भणेति।)

इरावती—णाअरिए। विण्णावेहि देवीं—का वअं भट्टिणीं णिओजेदुं। परिअणणिग्गहेण दंसिदो मइ अणुग्गहो। कस्स वा पसादेण अअं जणो वड्ढदि त्ति। (नागरिके। विज्ञापय देवीम्—का वयं भट्टिनीं नियोजयितुम्। परिजननिग्रहेण दर्शितो मय्यनुग्रहः। कस्य वा प्रसादेनायं जनो वर्धत इति।)

चेटी—तह। (तथा।) [इति निष्क्रान्ता।]

निपुणिका—[परिक्रम्यावलोक्य च] भट्टिणि। एसो दुवारुद्देसे समुद्दघरअस्स विपणिगदो विअ वलीवद्दो अज्जगोदमो आसीणो एव्व णिद्दाअदि। (भट्टिनि। एष द्वारोद्देशे समुद्रगृहस्य विपणिगत इव वलीवर्द आर्यगौतम आसीन एव निद्रायते।)

इरावती—अच्चाहिदं। ण क्खु सावसेसो विसविआरो हवे। (अत्याहितम्। न खलु सावशेषो विषविकारो भवेत्।)

निपुणिका—पसण्णमुहवण्णो दीसइ। अवि अ धुवसिद्धिणा चिइच्छिदो। ता से असङ्कणिज्जं पावं। (प्रसन्नमुखवर्णो दृश्यते। अपि च ध्रुवसिद्धिना चिकित्सितः। तदस्याशङ्कनीयं पापम्।)

विदूषकः—[उत्स्वप्नायते] भोदि मालविए। (भवति मालविके।)

निपुणिका—सुदं भट्टिणीए। कस्स एसो अत्तणिओअसंपादणे विस्ससणिज्जो हदासो। सव्वकालं इदो एव्व सोत्थिवाअणमोदएहिं कुक्खि पूरिअ संपदं मालविअं सिविणावेदि। (श्रुतं भट्टिन्या। कस्यैष आत्मनियोगसंपादने विश्वसनीयो हताशः। सर्वकालमित एव स्वस्तिवाचनमोदकैः कुक्षिं पूरयित्वा सांप्रतं मालविकां स्वप्नायते।)

विदूषकः—इरावदीं अदिक्कमन्ती होहि। (इरावतीमतिक्रामन्ती भव।)

निपुणिका—एदं अच्चाहिदं। इमं भुअङ्गभीरुअं बह्मबन्धुं इमिणा भुअंगकुडिलेण दण्डकट्ठेण खम्भन्तरिदा भाअइस्सं। (एतदत्याहितम्। इमं भुजंगभीरुं ब्रह्मबन्धुमनेन भुजंगकुटिलेन दण्डकाष्ठेन स्तम्भान्तरिता भाययिष्यामि।)

इरावती—अरिहदि एव्व किदग्घो उवद्दवस्स। (अर्हत्येव कृतघ्न उपद्रवस्य।)

[निपुणिका विदूषकस्योपरि दण्डकाष्ठं पातयति।]

विदूषकः—[सहसा प्रबुध्य] अविहा अविहा। भो वअस्स। सप्पो मे उवरि पडिदो। (अविधा अविधा। भो वयस्य। सर्पो म उपरि पतितः।)

राजा—[सहसोपसृत्य] सखे न भेतव्यं न भेतव्यम्।

मालविका—[अनुसृत्य] भट्टा। मा दाव सहसा णिक्कम। सप्पो त्ति भणीअदि। (भर्तः। मा तावत्सहसा निष्क्राम। सर्प इति भण्यते।)

इरावती—हद्धी हद्धी। भट्टा इदो एव्व धावदि। (हा धिक् हा धिक्। भर्ता इत एव धावति।)

विदूषक—[सप्रहासम्] कहं दण्डकट्ठं एदं । अहं उण जाणे जं मए केदईकण्टएहिं डंसं करिअ सप्पस्स उवरि अअसो किदं तं मे फलिदं त्ति । (कथ दण्डकाष्ठमेतत् । अहं पुनर्जाने यन्मया केतकीकण्टकैर्दंशं कृत्वा सर्पस्योपर्ययशः कृत तन्मे फलितमिति ।)

[प्रविश्य पटाक्षेपेण ।]

वकुलावलिका—मा दाव भट्टा पविसदु । इह कुडिलगई सप्पो विअ दीसदि । (मा तावद्भर्ता प्रविशतु । इह कुटिलगतिः सर्प इव दृश्यते ।)

इरावती—[स्तम्भान्तरिता राजान सहसोपेत्य] अवि णिव्विग्घमणोरहो दिवासंकेदो मिहुणस्स । (अपि निर्विघ्नमनोरथो दिवासकेतो मिथुनस्य ।)

[सर्वे इरावतीं दृष्ट्वा संभ्रान्ताः ।]

राजा—प्रिये अपूर्वोऽयमुपचारः ।

इरावती—वउलावलिए । दिट्ठिआ दुच्चाहिआरविसआ संपुण्णा दे पइण्णा । (वकुलावलिके । दिष्ट्या दूत्याभिसारविषया संपूर्णा ते प्रतिज्ञा ।)

वकुलावलिका—पसीददु भट्टिणी । किं मए किदं त्ति देवो पुच्छिदव्वो । दद्दुरा वाहरन्ति त्ति किं देवो पुहवीए वरिसिदुं विरमदि । (प्रसीदतु भट्टिनी । किं मया कृतमिति देवः प्रष्टव्य । दर्दुरा व्याहरन्तीति किं देवः पृथिव्यां वर्षितु विरमति ।)

विदूषक —मा दाव । भोदीए दंसणमत्तेण अत्तभवं पणिवादलङ्घणं विसुमरिदो । तुमं उण अज्जवि पसादं ण गेण्हसि । (मा तावत् । भवत्या दर्शनमात्रेणात्रभवान्प्रणिपातलङ्घन विस्मृत । त्वं पुनरद्यापि प्रसाद न गृह्णासि ।)

इरावती—कुविदा दाणिं अहं किं करिस्सं । (कुपितेदानीमहं किं करिष्यामि ।)

राजा—एवमेतदस्थाने कोप इत्यनुपपन्नं त्वयि । तथा हि ।

कदा मुखं वरतनु कारणादृते
तवागतं क्षणमपि कोपपात्रताम् ।
अपर्वणि ग्रहकलुषेन्दुमण्डला
विभावरी कथय कथं भविष्यति ॥ १९ ॥

इरावती—अट्ठाणे त्ति सुट्ठु वाहरिदं अज्जउत्तेण । अण्णसंकन्तेसु अम्हाणं भाअहेएसु जइ उण कुप्पेअं तदो णं अहं हस्सा भवेअं ।

(अस्थान इति सुष्ठु व्याहृतमार्यपुत्रेण। अन्यसंक्रान्तेष्वस्माकं भागधेयेषु यदि पुनः कुप्येयम् ततो नन्वहं हास्या भवेयम्।)

राजा—त्वमन्यथा कल्पयसि। अहं पुनः सत्यमेव कोपस्थानं न पश्यामि। कुतः—

नार्हति कृतापराधोऽप्युत्सवदिवसेषु परिजनो बन्धुम्।
इति मोचिते मयैते प्रणिपतितुं मामुपगते च ॥१७॥

इरावती—णिउणिए। गच्छ। देविं विण्णावेहि—दिट्ठो भवदीए पक्खवादो णं अज्ज त्ति। (निपुणिके। गच्छ। देवीं विज्ञापय—दृष्टो भवत्या पक्षपातो नन्वद्येति।)

निपुणिका—तह। (तथा।) [इति निष्क्रान्ता।]

विदूषकः—[आत्मगतम्] अहो अणत्थो संपडिदो। बन्धणब्भट्टो गिहकवोदो बिडालिआए आलोए पडिदो। (अहो अनर्थः संपतितः। बन्धनभ्रष्टो गृहकपोतो बिडालिकाया आलोके पतितः।)

निपुणिका—[प्रविश्यापवार्य] भट्टिणि। जदिच्छादिट्ठाए माहविआए आचक्खिदं—एव्वं क्खु एदं णिव्वुत्तं त्ति। (भट्टिनि। यदृच्छादृष्टया माधविकयाख्यातम्—एवं खल्वेतन्निर्वृत्तमिति।) [इति कर्णे कथयति।]

इरावती—[आत्मगतम्] उववण्णं। सच्चं अअं एत्थ बह्मबन्धुणा किदो पओओ। [विदूषकं विलोक्य प्रकाशम्] इअं इमस्स कामतन्तसचिवस्स णीदी। (उपपन्नम्। सत्यमयमत्र ब्रह्मबन्धुना कृतः प्रयोगः। इयमस्य कामतन्त्रसचिवस्य नीतिः।)

विदूषकः—भोदि। जदि णीदिगदं एक्कं वि अक्खरं पढेअं णं मए अत्तभवं पेसिदो हवे। (भवति। यदि नीतिगतमेकमप्यक्षरं पठेयं ननु मयात्रभवान्प्रेषितो भवेत्।)

राजा—[आत्मगतम्] कथं नु खल्वस्मात्सङ्कटादात्मानं मोचयिष्यामि।

[प्रविश्य]

जयसेना—देव। कुमारी वसुलच्छी कन्दुअं अणुधावन्दी पिङ्गलवाणरेण बलीअं तासिदा अङ्कणिसण्णा देवीए पवादकिसलअं विअ वेवमाणा ण किंवि पकिदिं पडिवज्जइ। (देव। कुमारी वसुलक्ष्मीः कन्दुकमनुधावन्ती पिङ्गलवानरेण बलवत्त्रासिताङ्कनिषण्णा देव्याः प्रवातकिसलयमिव वेपमाना न किंचित्प्रकृतिं प्रतिपद्यते।)

राजा—कष्टं कष्टम् । कातरो बालभावः ।

इरावती—[सावेगम्] तुवरदु अज्जउत्तो णं समासासिदुं । मा से संतासजणिदो विआरो वड्ढदु । (त्वरतामार्यपुत्र एनां समाश्वासयितुम् । मास्याः सन्त्रासजनितो विकारो वर्धताम् ।)

राजा—अयमेनामहं संज्ञापयामि । [इति सत्वरं परिक्रामति ।]

विदूषक—साहु रे पिङ्गलवाणर साहु । परित्तादो तुए सपक्खो । (साधु रे पिङ्गलवानर साधु । परित्रातस्त्वया स्वपक्षः ।)

[निष्क्रान्तो राजा विदूषकश्च इरावती निपुणिका प्रतीहारी च ।]

मालविका—हला । देविं चिन्तिअ वेवदि मे हिअअं । ण जाणे अदो वरं किं वा अणुहविदव्वं हविस्सदि त्ति । (सखि । देवीं चिन्तयित्वा वेपते मे हृदयम् । न जानेऽतः परं किं वानुभवितव्यं भविष्यतीति ।)

[नेपथ्ये ।]

अच्चरिअं अच्चरिअं । अपुण्णे एव्व पंचरत्ते दोहलस्स मुउलेहिं संणद्धो तवणीआसोओ । जाव देवीए णिवेदेमि । (आश्चर्यमाश्चर्यम् । अपूर्ण एव पञ्चरात्रे दोहदस्य मुकुलैः संनद्धस्तपनीयाशोकः । यावद्देव्यै निवेदयामि ।)

[उभे श्रुत्वा प्रहृष्टे ।]

बकुलावलिका—आस्ससिदु सही । सच्चप्पइण्णा देवी । (आश्वसितु सखी । सत्यप्रतिज्ञा देवी ।)

मालविका—तेण हि पमदवणपालिआए पिट्ठदो होमि । (तेन हि प्रमदवनपालिकायाः पृष्ठतो भवामि ।)

बकुलावलिका—तह । (तथा ।)

[इति निष्क्रान्ते ।]

॥ इति चतुर्थोऽङ्कः ॥



पञ्चमोऽङ्कः

[ततः प्रविशत्युद्यानपालिका ।]

उद्यानपालिका—उवक्खित्तो मए किदसक्कारविहिणो तवणीआसोअस्स वेदिआबन्धो। जाव अणुट्ठिदणिओअं अत्ताणं देवीए णिवेदेमि। [परिक्रम्य] अहो देवस्स अणुकम्पणीआ मालविआ। तस्सिं तह चण्डिआ देवी इमिणा असोअकुसुमवुत्तन्तेण पसादसुमुही हविस्सदि। कहिं णु क्खु देवी हवे। [विलोक्य] अम्हो एसो देवीए परिअणब्भन्तरो किंवि जदुमुद्दालंछिदं मंजूसं गेण्हिअ चदुस्सालादो कुज्जो सारसिओ णिक्कामदि। पुच्छिस्सं दाव णं। [ततः प्रविशति यथानिर्दिष्ट हस्तः कुब्जः ।] सारसिअ। कहिं पत्थिदोसि। (उपक्षिप्तो मया कृतसत्कारविधिस्तपनीयाशोकस्य वेदिकाबन्धः। यावदनुष्ठितनियोगमात्मानं देव्यै निवेदयामि। अहो देवस्यानुकम्पनीया मालविका। तस्यां तथा चण्डी देव्यनेनाशोककुसुमवृत्तान्तेन प्रसादसुमुखी भविष्यति। कुत्र नु खलु देवी भवेत्। अहो एष देव्याः परिजनाभ्यन्तरः किमपि जतुमुद्रालाञ्छितां मञ्जूषां गृहीत्वा चतुःशालातः कुब्जः सारसिको निष्क्रामति। प्रक्ष्यामि तावदेनम्। सारसिक। कुत्र प्रस्थितोऽसि।)

सारसिकः—महुअरिए। विज्जाभरिआणं बम्हणाणं णिच्चदक्खिणं मासिइं पुरोहिदस्स हत्थं पावइस्सं। (मधुकरिके। विद्याभरितानां ब्राह्मणानां नित्यदक्षिणां मासिकीं पुरोहितस्य हस्तं प्रापयिष्यामि।)

मधुकरिका—अह किंणिमित्तं। (अथ किंनिमित्तम्।)

सारसिक —जदप्पहुदि सेणावदी जण्णतुरंगरक्खणे णिउत्तो भट्टदारओ वसुमित्तो तदप्पहुदि तस्स आउसणिमित्तं णिक्कसदसुवण्णपरिमाणं दक्खिणं देवी दक्खिणीएहिं परिग्गाहेदि । (यतःप्रभृति सेनापतिर्यज्ञतुरंगरक्षणे नियुक्तो भर्तृदारको वसुमित्रस्ततः प्रभृति तस्यायुर्निमित्त निष्कशतसुवर्णपरिमाणां दक्षिणां देवी दक्षिणीयैः परिग्राहयति ।)

मधुकरिका—अह कहिं देवी । किं वा अणुचिट्ठदि । (अथ कुत्र देवी । किं वानुतिष्ठति ।)

सारसिक —मंगलघरे आसणत्था भविअ विदब्भविसआदो भादुणा वीरसेणेण पेसिदं लेहं लेहकरेहि वाइअमाणं सुणादि । (मङ्गलगृह आसनस्था भूत्वा विदर्भविषयाद्भ्रात्रा वीरसेनेन प्रेषितं लेख लेखकरैर्वाच्यमान शृणोति ।)

मधुकरिका—को उण विदब्भराअवुत्तन्तो सुणीअदि । (क पुनर्विदर्भराजवृत्तान्त. श्रूयते ।)

सारसिक —वसीकिदो क्खु वीरसेणप्पमुहेहिं भत्तुणो विजअदंडेहि विदब्भणाहो । मोइदो से दाआदो माहवसेणो । दूदो अ तेण महासाराणि रअणाणि वाहणाणि सिप्पआरिआभूइट्ठं परिअणं उवाअणीकरिअ भट्टिणो सआसं पेसिदो त्ति । (वशीकृत. किल वीरसेनप्रमुखैर्भर्तुर्विजयदण्डैर्विदर्भनाथ । मोचितोऽस्य दायादो माधवसेन. । दूतश्च तेन महासाराणि रत्नानि वाहनानि शिल्पकारिकाभूयिष्ठ परिजनमुपायनीकृत्य भर्तु सकाशं प्रेषित इति ।)

मधुकरिका—गच्छ अणुचिट्ठ अत्तणो णिओअं । अह वि देविं पेक्खिस्सं । (गच्छानुतिष्ठात्मनो नियोगम् । अहमपि देवीं प्रेक्षिष्ये ।)

[इति निष्क्रान्तौ ।]

॥ प्रवेशकः ॥

[तत प्रविशति प्रतीहारी ।]

प्रतीहारी—आणत्तम्हि असोअसक्कारवावुदाए देवीए—विण्णावेहि अज्जउत्तम् । इच्छम्मि अज्जउत्तेण सह असोअरक्खस्स पसूणलच्छिं पच्चक्खीकादुं त्ति । ता जाव धम्मासणगदं देवं पडिवालेमि । (आज्ञप्तास्म्यशोकसत्कारव्यापृतया देव्या—विज्ञापयार्यपुत्रम् । इच्छाम्यार्यपुत्रेण सह

शोकवृक्षस्य प्रसूनलक्ष्मीं प्रत्यक्षीकर्तुमिति । तद्यावद्धर्मासनगतं देवं प्रतिपाल-
यामि ।)

[इति परिक्रामति ।]

[नेपथ्ये वैतालिकौ]

प्रथम—विजयतां विजयतां देव । दिष्ट्या दण्डैरेव रिपुशिरःसु वर्तते देवः ।

परभृतकलव्याहारेषु त्वमात्तरतिर्मधुं
नयसि विदिशातीरोद्यानेष्वनङ्ग इवाङ्गवान् ।
विजयकरिणामालानत्वं गतैः प्रबलस्य ते
वरद वरदारोधोवृक्षैः सहावनतो रिपुः ॥ १ ॥

द्वितीयः—

विरचितपदं वीरप्रीत्या सुरोपमसूरिभि-
श्चरितमुभयोर्मध्ये कृत्य स्थितं क्रथकैशिकान् ।
तव हृतवतो दण्डानीकैर्विदर्भपतेः श्रियं
परिघगुरुभिर्दोर्भिर्विष्णोः प्रसह्य च रुक्मिणीम् ॥२॥

प्रतीहारी—एसो जअसद्दसूइदप्पत्थाणो भट्टा इदो एव्व आअच्छदि । अहं वि दाव इमस्स पमुहादो लोआदो ओसरिअ खम्भन्तरिदा होमि । (एष जयशब्दसूचितप्रस्थानो भर्तेत एवागच्छति । अहमपि तावदस्य प्रमुखा-ल्लोकादपसृत्य स्तम्भान्तरिता भवामि ।) [इत्येकान्ते स्थिता ।]

[प्रविश्य सवयस्यो राजा]

राजा—

कान्तां विचिन्त्य सुलभेतरसंप्रयोगां
श्रुत्वा विदर्भपतिमानमितं बलैश्च ।
धाराभिरातप इवाभिहतं सरोजं
दुःखायते मम मनः सुखमश्नुते च ॥ ३ ॥

विदूषक—जह अहं पेक्खामि तह एक्कन्तसुहिदो भवं हविस्सदि। (यथाहं प्रेक्षे तथा एकान्तसुखितो भवान्भविष्यति ।)

राजा—कथमिव ।

विदूषकः—अज्ज किल देवीए एव्वं पंडितकोसिई भणिदा—भअवदि। जं तुमं पसाहणगव्वं वहसि तं दंसेहि मालविआए सरीरे विवाहणेवत्थं ति। ताए सविसेसालंकिदा मालविआ। तत्तहोदी कदावि पूरए भवदोवि मणोरहं। (अद्य किल देव्यैव पण्डितकौशिकी भणिता—भगवति। यत्त्व प्रसाधनगर्वं वहसि तद्दर्शय मालविकाया. शरीरे विवाहनेपथ्यमिति। तया सविशेषालकृता मालविका । तत्रभवती कदाचित्पूरयेद्भवतोऽपि मनोरथम् ।)

राजा—सखे। मदपेक्षामनुप्राप्य अनया धारिण्या पूर्वाचरितैः संभाव्यत एवैतत् ।

प्रतीहारी—[उपगम्य] जेदु जेदु भट्टा। देवी विण्णावेदि—तवणीआसोअस्स कुसुमसहदंसणेण मह आरम्भो सफलो करीअदु त्ति। (जयतु जयतु भर्ता। देवी विज्ञापयति—तपनीयाशोकस्य कुसुमसहदर्शनेन ममारम्भः सफलः क्रियतामिति ।)

राजा—ननु तत्रैव देवी तिष्ठति ।

प्रतीहारी—अह इं । जहरिहसंमाणसुहिअं अन्तेउरं विसज्जिअ मालविआपुरोएण अत्तणो परिअणेण सह देवं पडिवालेदि। (अथ किम् । यथार्हसम्मानसुखितमन्तःपुरं विसृज्य मालविकापुरोगेणात्मनः परिजनेन सह देवं प्रतिपालयति ।)

राजा—[सहर्षं विदूषकं विलोक्य] जयसेने। गच्छाग्रतः।

प्रतीहारी—एदु एदु देवो। (एत्वेतु देव ।) [इति परिक्रामति ।]

विदूषक—[विलोक्य] भो वअस्स। किंवि परिवुत्तजोव्वणो विअ वसन्तो पमदवणे लक्खीअदि। (भो वयस्य। किंचित्परिवृत्तयौवन इव वसन्त प्रमदवने लक्ष्यते।)

राजा—यथाह भवान् ।

अग्रे विकीर्णकुरबकफलजालकभिद्यमानसहकारम् ।
परिणामाभिमुखमृतोरुत्सुकयति यौवनं चेतः ॥ ४ ॥

विदूषक —[परिक्रम्य] अहो । अअं सो दिएणऐवत्थो विअ कुसुमत्थवएहि तवणीआसोओ । ओलोअदु भवं । (अहो । अय स दत्तनैपथ्य इव कुसुमस्तवकैस्तपनीयाशोक. । अवलोकतां भवान् ।)

राजा—स्थाने खलु प्रसवमन्थरोऽयमभूत् । यदिदानीमनन्यसाधारणीं शोभामुद्वहति । पश्य—

सर्वाशोकतरूणां प्रथमं सूचितवसन्तविभवानाम् ।
निर्वृत्तदोहदेऽस्मिन्संक्रान्तानीव कुसुमानि ॥ ५ ॥

विदूषक —तह । भो वीसद्धो होहि । अम्हेसु संणिहिदेसु वि धारिणी पासपरिवट्टिणी मालविअं अणुमएणेदि । (तथा । भो विस्रब्धो भव । अस्मासु सनिहितेष्वपि धारिणी पार्श्वपरिवर्तिनीं मालविकामनुमन्यते ।)

राजा—[सहर्षम्] सखे । पश्य—

मामियमभ्युत्तिष्ठति देवी विनयादनूत्थिता प्रियया ।
विस्तृतहस्तकमलया नरेन्द्रलक्ष्म्या वसुमतीव ॥ ६ ॥

[तत प्रविशति धारिणी मालविका परिव्राजिका विभवतश्च परिवार. ।]

मालविका—[आत्मगतम्] जाणामि णिमित्तं कोदुआलंकारस्स । तह वि मे हिअअं विसिणीपत्तगदं विअ सलिलं वेवदि । अवि अ दक्खिणेदरं वि मे णअणं वहुसो फुरदि । (जानामि निमित्तं कौतुकालकारस्य । तथापि मे हृदयं विसिनीपत्रगतमिव सलिल वेपते । अपि च दक्षिणेतरमपि मे नयनं वहुश स्फुरति ।)

विदूषक —भो वअस्स । विवाहणेवत्थेण सविसेसं क्खु सोहदि मालविआ । (भो वयस्य । विवाहनेपथ्येन सविशेषं खलु शोभते मालविका ।)

राजा—पश्याम्येनाम् । यैषा—

अनतिलम्बिदुकूलनिवासिनी वहुभिराभरणैः प्रतिभाति मे ।
उडुगणैरुदयोन्मुखचन्द्रिका हतहिमैरिव चैत्रविभावरी ॥ ७ ॥

धारिणी—[उपेत्य] जेदु जेदु अज्जउत्तो । (जयतु जयत्वार्यपुत्रः ।)

विदूषक —वड्ढदु भोदी । (वर्धतां भवती ।)

परिव्राजिका—विजयतां देव' ।

राजा—भगवति अभिवादये ।

परिव्राजिका—अभिप्रेतसिद्धिरस्तु ।

धारिणी—[सस्मितम्] अज्जउत्त । एस ते अम्हेहि तरुणीजणसहाअस्स असोओ संकेदघरो कप्पिदो । (आर्यपुत्र । एष तेऽस्माभिस्तरुणीजनसहायस्याशोकः संकेतगृहं कल्पितः ।)

विदूषक—भो आराहिओसि । (भोः आराधितोऽसि ।)

राजा—[सव्रीडमशोकमभित परिक्रामन् ।]

नायं देव्या भाजनत्वं न नेयः सत्काराणामीदृशानामशोकः ।
यः सावज्ञो माधवश्रीनियोगे पुष्पैः शंसत्यादरं त्वत्प्रयत्ने ॥ ८ ॥

विदूषक—भो वीसद्धो भविअ तुम जोव्वणवदिं इमं पेक्ख । (भोः विस्रब्धो भूत्वा त्वं यौवनवतीमिमां पश्य ।)

धारिणी—कं । (काम् ।)

विदूषक.—भोदि तवणीआसोअस्स कुसुमसोहम् । (भवति । तपनीयाशोकस्य कुसुमशोभाम् ।)

[सर्व उपविशन्ति ।]

राजा—[मालविकां विलोक्य आत्मगतम्] कष्ट खलु संनिधिवियोगः ।

अहं रथाङ्गनामेव प्रिया सहचरीव मे ।
अननुज्ञातसंपर्का धारिणी रजनीव नौ ॥ ९ ॥

[प्रविश्य]

कञ्चुकी—विजयतां देव । देव अमात्यो विज्ञापयति—विदर्भविषयोपायने द्वे शिल्पकारिके मार्गपरिश्रमादलघुशरीरे इति पूर्वं न प्रवेशिते । संप्रति देवोपस्थानयोग्ये संवृत्ते । तदाज्ञां देवो दातुमर्हतीति ।

राजा—प्रवेशय ते ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देव । [इति निष्क्रम्य ताभ्यां सह प्रविश्य ।] इत इतो भवत्यौ ।

प्रथमा—[जनान्तिकम्] हला मदणिए । अपुव्वं इमं राअउलं पविसन्तीए पसीददि मे हिअअं । (सखि मदनिके । अपूर्वमिदं राजकुलं प्रविशन्त्या प्रसीदति मे हृदयम् ।)

द्वितीया—जोसिणीए । अत्थि क्खु लोअप्पवादो आआमि सुहं दुक्खं वा हिअअसमवत्था कहेदि त्ति । (ज्योत्स्निके । अस्ति खलु लोकप्रवादः आगामि सुखं दुःखं वा हृदयसमवस्था कथयतीति ।)

प्रथमा—सो सच्चो दाणिं होदु । (स सत्य इदानीं भवतु ।)

कञ्चुकी—एष देव्या सह देवस्तिष्ठति । उपसर्पतां भवत्यौ ।

[उभे उपसर्पतः ।]

[मालविका परिव्राजिका च चेट्यौ विलोक्य परस्परमवलोकयतः ।]

उभे—[प्रणिपत्य] जेदु जेदु भट्टा । जेदु जेदु भट्टिणी । (जयतु जयतु भर्ता । जयतु जयतु भट्टिनी ।

[उभे राजाज्ञया उपविष्टे ।]

राजा—कस्यां कलायामभिविनीते भवत्यौ ।

उभे—भट्टा । संगीदए अब्भन्तरेम्ह । (भर्तः । सगीतकेऽभ्यन्तरे स्वः ।)

राजा—देवि । गृह्यतामनयोरन्यतरा ।

धारिणी—मालविए । इदो पेक्ख । कदरा दे संगीदसहआरिणी रुच्चदि । (मालविके । इत पश्य । कतरा ते सगीतसहकारिणी रोचते ।)

उभे—[मालविकां दृष्ट्वा] अम्हो भट्टदारिआ । जेदु जेदु भट्टदारिआ । (अहो भर्तृदारिका । जयतु जयतु भर्तृदारिका ।) [इति प्रणम्य तया सह बाष्पं विसृजतः ।]

[सर्वे सविस्मयं विलोकयन्ति ।]

राजा—के भवत्यौ । का वेयम् ।

उभे—भट्टा । एसा अम्हाणं भट्टदारिआ । (भर्तः । एषास्माकं भर्तृदारिका ।)

राजा—कथमिव ।

उभे—सुणादु भट्टा । जो सो भट्टिणा विजअदण्डेहिं विदब्भणाहं वसीकरिअ बन्धणादो मोइओ कुमारो माहवसेणो णाम तस्स इअं कणीअसी भइणी मालविआ णाम । (शृणोतु भर्ता । यः स भर्त्रा विजयदण्डैर्विदर्भनाथं वशीकृत्य बन्धनान्मोचितः कुमारो माधवसेनो नाम तस्येयं कनीयसी भगिनी मालविका नाम ।)

धारिणी—कहं राअदारिआ इअं। चन्दणं क्खु मए पादुओवओएण दूसिदं। (कथम् राजदारिकेयम्। चन्दनं खलु मया पादुकोपयोगेन दूषितम्।)

राजा—अथात्रभवती कथमित्थंभूता।

मालविका—[निःश्वस्यात्मगतम्।] विहिणिओएण। (विधिनियोगेन।)

द्वितीया—सुणादु भट्टा। दाआदवसंगदे भट्टदारए माहवसेणे तस्स अमच्चेण अज्जसुमदिणा अम्हारिसं परिअणं उज्झिअ गूढं आणीदा एसा। (शृणोतु भर्ता। दायादवशंगते भर्तृदारके माधवसेने तस्यामात्येनार्यसुमतिनास्मादृशं परिजनमुज्झित्वा गूढमानीतैषा।)

राजा—श्रुतपूर्वं मयैतत्। ततस्ततः।

द्वितीया—भट्टा। अदो वरं ण आणामि। (भर्तः। अतः परं न जानामि।)

परिव्राजिका—ततः परं मन्दभागिनी कथयिष्यामि।

उभे—भट्टिदारिए। अज्जकोसिईए विअ सरसंजोओ। णं सा एव्व। (भर्तृदारिके। आर्यकौशिक्या इव स्वरसयोगः। ननु सैव।)

मालविका—अह इम्। (अथ किम्।)

उभे—जदिवेसधारिणी अज्जकोसिई दुक्खेण विभावीअदि। भअवदि। णमो दे। (यतिवेषधारिण्यार्यकौशिकी दुःखेन विभाव्यते। भगवति। नमस्ते।)

परिव्राजिका—स्वस्ति भवतीभ्याम्।

राजा—कथम्। आप्तवर्गोऽयं भगवत्या।

परिव्राजिका—एवमेतत्।

विदूषकः—तेण हि कहेदु भअवदी अत्तहोदीए वुत्तन्तं दाव असेसं। (तेन हि कथयतु भगवत्यत्रभवत्या वृत्तान्तं तावदशेषम्।)

परिव्राजिका—[सवैक्लव्यम्] तावच्छ्रूयताम्। माधवसेनसचिवं ममाग्रजं सुमतिमवगच्छ।

राजा—उपलक्षितः। ततस्ततः।

परिव्राजिका—स इमां तथागतभ्रातृकां मया सार्धमपवाह्य भवत्संबन्धापेक्षया पथिकसार्थं विदिशागामिनमनुप्रविष्टः।

राजा—ततस्ततः।

परिव्राजिका—स चाटव्यन्तरे निविष्टो गत्वाध्वा वणिग्जनः।

राजा--ततस्ततः ।

परिव्राजिका--ततः किंचान्यत् ।

तूणीरपट्टपरिणद्धभुजान्तराल-
मापार्ष्णिलम्बिशिखिबर्हकलापधारि ।
कोदण्डपाणि विनदत्प्रतिरोधकाना-
मापातदुष्प्रसहमाविरभूदनीकम् ॥ १० ॥

[मालविका भयं रूपयति ।]

विदूषकः—भोदि । मा भआहि । अदिक्कन्तं क्खु तत्तहोदी कहेदि । (भवति । मा बिभेहि । अतिक्रान्त खलु तत्रभवती कथयति ।)

राजा--ततस्ततः ।

परिव्राजिका—ततो मुहूर्तं बद्धायुधास्ते पराङ्मुखीभूता सार्थवाहयोद्धारस्तस्करैः ।

राजा--हन्त । इतः परं कष्टतरं श्रोतव्यम् ।

परिव्राजिका--ततः स मत्सोदर्य —

इमां परीप्सुर्दुर्जाते पराभिभवकातराम् ।
भर्तृप्रियः प्रियैर्भर्तुरानृण्यमसुभिर्गतः ॥ ११ ॥

प्रथमा--हा हदो सुमदी । (अहो हत सुमतिः ।)

द्वितीया—तदो क्खु इअं भट्टिदारिआए समवत्था संवुत्ता । (ततः खल्वियं भर्तृदारिकाया. समवस्था संवृत्ता ।)

[परिव्राजिका बाष्प विसृजति ।]

राजा—भगवति । तनुत्यजामीदृशी लोकयात्रा । न शोच्यस्तत्रभवान्सफलीकृतभर्तृपिण्डः । ततस्तत ।

परिव्राजिका--ततोऽहं मोहमुपगता यावत्संज्ञां लभे तावदियं दुर्लभदर्शना संवृत्ता ।

राजा---महत्खलु कृच्छ्रमनुभूतं भगवत्या ।

परिव्राजिका—ततो भ्रातुः शरीरमग्निसात्कृत्वा पुनर्नवीकृतवैधव्यदुःखया मया त्वदीयं देशमवतीर्य इमे काषाये गृहीते ।

राजा—युक्तः सज्जनस्यैष पन्थाः। ततस्ततः।

परिव्राजिका—सेयमाटविकेभ्यो वीरसेनं वीरसेनाच्च देवीं गता। देवीगृहे लब्धप्रवेशयामया चानन्तरं दृष्टेत्येतदवसानं कथायाः।

मालविका—[आत्मगतम्] किं णु क्खु संपदं भट्टा भणादि। (किं नु खलु सांप्रतं भर्ता भणति।)

राजा—अहो परिभवोपहारिणो विनिपाताः। कुतः—

प्रेष्यभावेन नामेयं देवीशब्दक्षमा सती।
स्नानीयवस्त्रक्रियया पत्रोर्णं वोपयुज्यते ॥१२॥

धारिणी—भअवदि। तुए अभिजणवदिं मालविअं अणाचक्खन्तीए असंपदं किदम्। (भगवति। त्वयाभिजनवतीं मालविकामनाचक्षाणयाऽसांप्रतं कृतम्।)

परिव्राजिका—शान्तं पापम्। केनचित्कारणेन खलु मया नैर्घृण्य-मवलम्बितम्।

देवी—किं विअ तं कारणम्। (किमिव तत्कारणम्।)

परिव्राजिका—इयं पितरि जीवति केनापि देवयात्रागतेन सिद्धा-देशकेन साधुना मत्समक्षं समादिष्टा—आसंवत्सरमात्रमियं प्रेष्यभाव-मनुभूय ततः सदृशभर्तृगामिनी भविष्यतीति। तदेवंभाविनमादेशमस्या-स्त्वत्पादशुश्रूषया परिणमन्तमवेत्य कालप्रतीक्षया मया साधु कृतमिति पश्यामि।

राजा—युक्ता प्रतीक्षा।

कञ्चुकी—देव। कथान्तरेणान्तरितम्। अमात्यो विज्ञापयति—विदर्भ-गतमनुष्ठेयमनुष्ठितमभूत्। देवस्य तावदभिप्रायं श्रोतुमिच्छामीति।

राजा—मौद्गल्य। तत्रभवतोर्यज्ञसेनमाधवसेनयोर्द्वैराज्यमिदानीम-वस्थापयितुकामोऽस्मि।

तौ पृथग्वरदाकूले शिष्टामुत्तरदक्षिणे।
नक्तंदिवं विभज्योभौ शीतोष्णकिरणाविव ॥१३॥

कञ्चुकी—देव। एवममात्यपरिषदे निवेदयामि।

[राजाङ्गुल्यानुमन्यते ।]

[निष्क्रान्त कञ्चुकी ।]

प्रथमा—[जनान्तिकम्] भट्टिदारिए । दिट्ठिआ भट्टिणा भट्टिदारओ अद्धरज्जे पडिट्ठं गमइस्सदि। (भर्तृदारिके । दिष्ट्या भर्ता भर्तृदारकोऽर्धराज्ये प्रतिष्ठा गमयिष्यते ।)

मालविका—एदं दाव बहु मणिदव्वं जं जीविदसंसआदो मुत्तो। (एतत्तावद्बहु मन्तव्यम् यज्जीवितसशयान्मुक्तः ।)

[प्रविश्य]

कञ्चुकी—विजयतां देवः। देव अमात्यो विज्ञापयति—कल्याणी देवस्य बुद्धिः। मन्त्रिपरिषदोऽप्येतदेव दर्शनम्। कुतः—

द्विधा विभक्तां श्रियमुद्वहन्तौ धुरं रथाश्वाविव संग्रहीतुः ।
तौ स्थास्यतस्ते नृपतेर्निदेशे परस्परोपग्रहनिर्विकारौ ॥१४॥

राजा—तेन हि मन्त्रिपरिषदं ब्रूहि—सेनान्ये वीरसेनाय लेख्यतामेवं क्रियतामिति ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देव. । [इति निष्क्रम्य सप्राभृतकं लेख गृहीत्वा पुन प्रविष्ट ।] अनुष्ठिता प्रभोराज्ञा। अयं देवस्य सेनापते पुष्यमित्रस्य सकाशात्सोत्तरीयप्राभृतको लेख प्राप्त । प्रत्यक्षीकरोत्वेनं देव ।

[राजोत्थाय सप्राभृतक लेखं सोपचार गृहीत्वा परिजनायार्पयति ।]

[परिजनो लेख नाट्येनोद्घाटयति ।]

धारिणी—[आत्मगतम्] अम्हो । तदोमुहं एव्व णो हिअअं। सुणिस्सं दाव गुरुअणस्स कुसलाणन्तरं वसुमित्तस्स वुत्तन्तं। अदिघोरे क्खु पुत्तओ सेनावदिणा णिउत्तो। (अहो । ततोमुखमेव नो हृदयम्। श्रोष्यामि तावद्गुरुजनस्य कुशलानन्तर वसुमित्रस्य वृत्तान्तम्। अतिघोरे खलु पुत्रक सेनापतिना नियुक्त ।)

राजा—[उपविश्य लेखं सोपचारं गृहीत्वा वाचयति ।] स्वस्ति यज्ञशरणात्सेनापति. पुष्यमित्रो वैदिशस्थं पुत्रमायुष्मन्तमग्निमित्रं स्नेहात्परिष्वज्येदमनुदर्शयति । विदितमस्तु । योऽसौ राजयज्ञदीक्षितेन मया राजपुत्रशतपरिवृत वसुमित्र गोप्तारमादिश्य वत्सरोपात्तनियमो निरर्गलस्तु-

रक्षो विसृष्ट स सिन्धोर्दक्षिणरोधसि चरन्नश्वानीकेन यवनेन प्रार्थित । तत उभयो सेनयोर्महानासीत्समर्द ।

[देवी विषाद नाटयति ।]

राजा—कथमीदृशं संवृत्तम् । [शेष पुनर्वाचयति ।]

ततः परान्पराजित्य वसुमित्रेण धन्विना ।
प्रसह्य ह्रियमाणो मे वाजिराजो निवर्तितः ॥ १५ ॥

धारिणी—इमिणा आससिदं मे हिअअं । (अनेनाश्वस्त मे हृदयम् ।)

राजा—[शेषं पुनर्वाचयति ।] सोऽहमिदानीमंशुमता सगरपुत्रेणेव प्रत्याहृताश्वो यक्ष्ये । तदिदानीमकालहीनं विगतरोषचेतसा भवता वधूजनेन सह यज्ञसेवनायागन्तव्यमिति ।

राजा—अनुगृहीतोऽस्मि ।

परिव्राजिका—दिष्ट्या पुत्रविजयेन दम्पती वर्धेते ।

भर्त्रासि वीरपत्नीनां श्लाघ्यानां स्थापिता धुरि ।
वीरसूरिति शब्दोऽयं तनयात्त्वामुपस्थितः ॥ १६ ॥

धारिणी—भअवदि । परितुट्ठम्हि जं पितर अणुजादो मे वच्छओ । (भगवति । परितुष्टास्मि यत्पितरमनुजातो मे वत्सक ।)

राजा—मौद्गल्य । ननु कलभेन यूथपतेरनुकृतम् ।

कञ्चुकी—देव । अयं कुमार—

नैतावता वीरविजृम्भितेन चित्तस्य नो विस्मयमादधाति ।
यस्याप्रधृष्यः प्रभवस्त्वमुच्चैरग्नेरपां दग्धुरिवोरुजन्मा ॥१७॥

राजा—मौद्गल्य । यज्ञसेनश्यालमूरीकृत्य मोच्यन्तां सर्वे बन्धनस्थाः ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देव । (इति निष्क्रान्त ।)

धारिणी—जयसेणे । गच्छ । इरावदीपमुहाणं अन्तेउराणं पुत्तस्स वुत्तन्त णिवेदेहि । (जयसेने । गच्छ । इरावतीप्रमुखेभ्योऽन्त पुरेभ्य. पुत्रस्य वृत्तान्त निवेदय ।)

[प्रतीहारी प्रस्थिता ।]

धारिणी—एहि दाव । (एहि तावत् ।)

प्रतीहारी—[प्रतिनिवृत्य ।] इअम्हि । (इयमस्मि ।)

धारिणी—[जनान्तिकम्] जं मए असोअदोहलपरिणओए मालविआए पइरणादं तं से अभिजरणं च णिवेदिअ मह वअणेण इरावदिं अणुणेहि--तुए अहं सच्चादो ण विब्भंसिदव्वे त्ति। (यन्मयाशोकदोहदनियोगे मालविकायै प्रतिज्ञातम् तदस्या अभिजनं च निवेद्य मम वचनेनेरावतीमनुनय—त्वयाहं सत्यान्न विभ्रंशयितव्येति।)

प्रतीहारी—जं देवी आणवेदि। [इति निष्क्रम्य पुन. प्रविश्य] भट्टिणि। पुत्तविजअणिमित्तेण परितोसेण अन्तेउराणं आहरणाणं मजूसम्हि सवुत्ता। (यद्देव्याज्ञापयति। भट्टिनि। पुत्रविजयनिमित्तेन परितोषेणान्तःपुराणामाभरणानां मन्जूषास्मि संवृत्ता।)

धारिणी—एदं किं अच्चरिअं। साहारणो क्खु ताणं मह अ अअं अब्भुदओ। (एतत्किमाश्चर्यम्। साधारण. खलु तासां मम चायमभ्युदय.।)

प्रतीहारी—[जनान्तिकम्] भट्टिणि। इरावदी उण विरणवेदि—सरिसं देवीए पहवन्तीए। तुह वअणं संकप्पिदं ण जुज्जदि अरणहा कादुं त्ति। (भट्टिनि। इरावती पुनर्विज्ञापयति—सदृश देव्या प्रभवन्त्या। तव वचनं संकल्पित न युज्यतेऽन्यथाकर्तुमिति।)

धारिणी—भअवदि। तुए अणुमदा इच्छामि अज्जसुमदिणा पढमसंकप्पिदं मालविअं अज्जउत्तस्स पडिवादेदुं। (भगवति। त्वयानुमतेच्छाम्यार्यसुमतिना प्रथमसंकल्पितां मालविकामार्यपुत्राय प्रतिपादयितुम्।)

परिव्राजिका—इदानीमपि त्वमेवास्याः प्रभवसि।

धारिणी—[मालविका हस्ते गृहीत्वा] इदं अज्जउत्तो पिअणिवेदणाणुरूवं पारितोसिअं पडिच्छदु त्ति। (इदमार्यपुत्र प्रियनिवेदनानुरूप पारितोषिक प्रतीच्छत्विति।)

[राजा व्रीडां नाटयति।]

धारिणी—[सस्मितम्] किं अवधीरेदि अज्जउत्तो। (किमवधीरयत्यार्यपुत्र।)

विदूषक—भोदि। एसो लोअव्ववहारो। सव्वो णववरो लज्जादुरो होदि त्ति। (भवति। एप लोकव्यवहार। सर्वो नववरो लज्जातुरो भवतीति।)

[राजा विदूषकमवेक्षते।]

विदूषक—अह देवीए एव्व किदप्पणअविसेसं दिरणदेवीसद्दं माल

विश्रं अत्तभवं पडिग्गहीदु इच्छदि । (अथ देव्यैव कृतप्रणयविशेषां दत्तदेवीशब्दां मालविकामत्रभवान्प्रतिग्रहीतुमिच्छति ।)

धारिणी—एदाए राअदारिआए अहिजणेण एव्व दिण्णो देवीसद्दो किं पुणरुत्तेण । (एतस्या राजदारिकाया अभिजनेनैव दत्तो देवीशब्द किं पुनरुक्तेन ।)

परिव्राजिका—मा मैवम् ।

अप्याकरसमुत्पन्नो रत्नजातिपुरस्कृतः ।
जातरूपेण कल्याणि मणिः संयोगमर्हति ॥ १८ ॥

धारिणी—[स्मृत्वा] मरिसेदु भअवदी । अब्भुदअकहाए उइदं ण लक्खिदं । जअसेणे । गच्छ दाव । कोसेअपत्तोण्णजुअलं उवणेहि । (मर्षयतु भगवती । अभ्युदयकथयोचित न लक्षितम् । जयसने । गच्छ तावत् । कौशेयपत्रोर्णयुगलमुपनय ।)

प्रतीहारी—जं देवी आणवेदि । [इति निष्क्रम्य पत्रोर्णं गृहीत्वा पुन प्रविश्य] देवि । एदम् । (यद्देव्याज्ञापयति । देवि एतत् ।)

धारिणी—[मालविकामवगुण्ठनवर्तीं कृत्वा] अज्जउत्तो । दाणिं इमं पडिच्छदु । (आर्यपुत्र । इदानीमिमा प्रतीच्छतु ।)

राजा—त्वच्छासनात्प्रवृत्ता एव वयम् । [अपवार्य] हन्त प्रतिगृहीता ।

विदूषक—अहो देवीए अणुऊलदा । (अहो देव्या अनुकूलता ।)

[देवी परिजनमवलोकयति ।]

प्रतीहारी—[मालविकामुपेत्य ।] जेदु भट्टिणी । (जयतु भट्टिनी ।)

[देवी परिव्राजिकां निरीक्षते]

परिव्राजिका—नैतच्चित्रं त्वयि ।

प्रतिपक्षेणापि पतिं सेवन्ते भर्तृवत्सलाः साध्व्यः ।
अन्यसरितामपि जलं समुद्रगाः प्रापयन्त्युदधिम् ॥ १९ ॥

[प्रविश्य]

निउणिका—जेदु भट्टा । इरावदी विण्णावेदि—जं उवआरातिक्कमेण तदा भट्टिणो अवरद्धा तं सव्वं एव्व भत्तुणो अणुऊलं णाम मए आअरिदं । संपदं पुण्णमणोरहेण भत्तुणा पसादमेत्तेण संभावइद-

व्येति । (जयतु भर्ता । इरावती विज्ञापयति—यदुपचारातिक्रमेण तदा भर्त्रे अपराद्धा तत्स्वयमेव भर्तुरनुकूल नाम मयाचरितम् । सांप्रतं पूर्णमनोरथेन भर्त्रा प्रसादमात्रेण संभावयितव्येति ।)

धारिणी—णिउणिए । अवस्सं से सेविदं अज्जउत्तो जाणिस्सदि । (निपुणिके । अवश्यमस्या. सेवितमार्यपुत्रो ज्ञास्यति ।)

निपुणिका—अणुग्गहीदम्हि । (अनुगृहीतास्मि ।)

परिव्राजिका—देव । अमुना युक्तसंबन्धेन चरितार्थं माधवसेनं सभाजयितुं गच्छामः ।

धारिणी—भअवदीए ण जुत्तं अम्हे परिच्चइदुं । (भगवत्या न युक्तमस्मान्परित्यक्तुम् ।)

राजा—भगवति । मदीयेष्वेव लेखेपु तत्रभवतस्त्वामुद्दिश्य सभाजनाक्षराणि पातयिष्यामः ।

परिव्राजिका—युवयोः स्नेहात्परवानयं जनः ।

धारिणी—अज्जउत्त । किं ते भूओ वि पिअं उवहरामि । (आर्यपुत्र । किं ते भूयोऽपि प्रियमुपहरामि ।)

राजा—

त्वं मे प्रसादसुमुखी भव देवि नित्य-
मेतावदेव हृदये प्रतिपालनीयम् ।

तथापीदमस्तु (भरतवाक्यम्)

आशास्यभीतिविगमप्रभृतिप्रजानां
संपत्स्यते न खलु गोप्तरि नाग्निमित्रे ॥२०॥

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।]

॥ इति पञ्चमोऽङ्कः ॥

॥समाप्तमिदं श्रीकालिदासकृतौ मालविकाग्निमित्रं नाम नाटकम् ॥



ॐ

॥ श्रीमन्महाकविकालिदास-नाटक-प्रशस्तिः ॥

'काव्ये नाटकमस्ति रम्यरुचिरं तत्रापि शाकुन्तलम्'
इत्युक्तं रसिकैर्वचोऽतिललितं भूयो विवेक्तुं न्विदम् ।
श्रीमन्मालविकाग्निविक्रमलसत्सन्नाटकप्रोच्छलत्
स्ववाणीरसनाऽमृतं सरसयत् सम्मोहयेत्संसृतिम् ॥

—श्रीश. ।

['काव्योंमें नाटक ही सुन्दर होता है और नाटकोंमें अभिज्ञान शाकुन्तल ही सबसे सुन्दर है' यह बात रसिकोंने बड़ी सच्ची कही है, पर वे इस बातको ठीक-ठीक स्पष्ट नहीं कर पाए कि काव्यमें नाटक ही क्यों सुन्दर होता है। इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये अभिज्ञान शाकुन्तलके साथ-साथ मालविकाग्निमित्र तथा विक्रमोर्वशीय नाटक भी प्रस्तुत किए जा रहे हैं कि उनमें छलकता हुआ संस्कृतका मधुर अमृत सृष्टिके सब प्राणियोंको इतना रसमग्न कर दे कि लोगोंको संसारके और दूसरे काव्योंको पढ़नेकी सुध ही न रह जाय।]

—श्री ईशदत्त पांडेय 'श्रीश' ।



दूसरा खण्ड

महाकवि श्रीकालिदासके

नाटकोँका नागरीमेँ अनुवाद



पात्रोंका परिचय

पुरुष

सूत्रधार—नाटकका प्रबन्धक ।

दुष्यन्त—हस्तिनापुरका राजा

भद्रसेन—सेनापति

माधव्य—विदूषक ।

सर्वदमन—(भरत) दुष्यन्तका पुत्र।

सोमरात—राजाके धर्मगुरु ।

रैवतक—द्वारपाल ।

करभक—राजाका सेवक ।

पार्वतायन—राजभवनका बूढ़ा सेवक ।

दो वैतालिक—भाट ।

वैखानस, शार्ङ्गरव, शारद्वत, हारीत और गौतम—कण्वके शिष्य ।

श्याल—दुष्यन्तका साला और प्रधान राजपुरुष ।

धीवर—मछली पकड़नेवाला ।

सूचक और जानुक—राजपुरुष ।

मातलि—इन्द्रका सारथी ।

मारीच—(कश्यप) प्रजापति ।

दुर्वासा—प्रसिद्ध क्रोधी ऋषि ।

स्त्री

नटी—सूत्रधारकी पत्नी ।

शकुन्तला—कण्वकी पाली हुई कन्या।

अनसूया और प्रियंवदा—शकुन्तलाकी सखियाँ ।

गौतमी—तपस्विनी ।

चतुरिका, परभृतिका और मधुकारिका—राजसेविकाएँ ।

प्रतीहारी और यवनी—दासियाँ ।

सानुमती—अप्सरा ।

अदिति—कश्यपकी पत्नी ।

॥ श्रीः ॥

अभिज्ञानशाकुन्तल

पहला अङ्क

शिवजी उस जलके रूपमें हमें प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं जिसे ब्रह्माने सबसे पहले बनाया, उस अग्निके रूपमें दिखाई देते हैं जो विधिके साथ दी हुई हवन-सामग्रीको ग्रहण करती है, उस होताके रूपमें दिखाई देते हैं जिसे यज्ञ करनेका काम मिला है, उन चन्द्र और सूर्यके रूपमें दिखाई देते हैं जो दिन और रातका समय निश्चित करते हैं, उस आकाशके रूपमें दिखाई देते हैं जिसका गुण शब्द है और जो संसार भरमें रमा हुआ है, उस पृथ्वीके रूपमें दिखाई देते हैं जो सब बीजोंको उत्पन्न करनेवाली बताई जाती है और उस वायुके रूपमें दिखाई देते हैं जिसके कारण सब जीव जी रहे हैं। इन जल, अग्नि, होता, सूर्य, चन्द्र, आकाश, पृथ्वी और वायुके आठ रूपोंमें जो भगवान शिव सबको दिखाई देते हैं वे आप लोगोंका कल्याण करें॥ १ ॥

[मंगलाचरण हो चुकनेपर]

सूत्रधार—इतना ही बहुत है। [नेपथ्यकी ओर देखकर] आर्ये! यदि शृङ्गार हो चुका हो तो यहाँ चली आओ।

[आकर]

नटी—आ गई आर्यपुत्र! कहिए क्या आज्ञा है।

सूत्रधार—आर्ये! रस और भावना चमत्कार दिखानेवाले कला-

कारोंके आश्रयदाता महाराज विक्रमादित्यकी इस सभाको आज विशेष रूपसे वडे-वड़े विद्वान् सुशोभित किए हुए हैं इसलिये इन्हें कालिदासका नया रचा हुआ नाटक अभिज्ञान-शाकुन्तल ही दिखाना चाहिए। इसलिये जाकर सब पात्रोंको ठीक तो करो।

नटी—आपने तो पहले ही ऐसा अच्छा प्रबन्ध कर दिया है कि कोई उँगली नहीं उठा सकता।

सूत्रधार—[मुसकराकर] आर्ये ! सच्ची बात तो यह है कि—

जबतक विद्वान् लोग अच्छा न कहें तबतक मैं नाटकको सफल नहीं समझता। क्योंकि पात्रोंको चाहे जितने अच्छे ढंगसे सिखाया जाय फिर भी उन्हें अपने ऊपर भरोसा नहीं होता ॥ २ ॥

नटी—[विनयके साथ] यह बात तो ठीक है आर्य ! तो आप जो आज्ञा दें वह किया जाय।

सूत्रधार—आर्ये ! इस सभाके सदस्योंके कानोंको आनन्द देनेवाली मीठी तान छेड़नेसे बढ़कर और कौन-सी अच्छी बात मैं बता सकता हूँ।

नटी—तो किस ऋतुपर गाना गाऊँ ?

सूत्रधार—ग्रीष्म ऋतु अभी आई ही है और सुहावनी भी लगती है। इसलिये इस समय ग्रीष्म ऋतुपर ही कोई राग छेड़ो। देखो—

इन दिनों नहानेमें जल बड़ा भाता है, पाटलमें बसा हुआ वनका पवन भी बड़ा सुहाता है, वृक्षोंकी घनी छायामें नींद भी अच्छी आती है और आजकलकी सन्ध्या तो इतनी सुहावनी होती है कि कहना ही क्या ॥ ३ ॥

नटी—अच्छा। [गाती है]

जिन शिरीष-सुमनोंके कोमल केसर-दलकी मधुर शिखाएँ।
चूम-चूमकर उनको भौंरे फिर-फिर बैठ-बैठ उड़ जाएँ॥
दया भावसे उनको चुनकर सहृदयतासे लेकर सत्वर।
कर्णफूल रचकर कानोंमें पहन रहीं उनको प्रमदाएँ॥४॥

सूत्रधार—आर्ये ! तुमने तो बड़ा ही अच्छा गाया। देखो ! तुम्हारे रागसे लोग ऐसे बेसुध हो गए कि सारी रंगशाला चित्र-लिखी-सी जान पड़ती है। तो अब कौन-सा नाटक दिखाकर इनका मन बहलाया जाय।

नटी—आपने तो अभी-अभी कहा था कि अभिज्ञानशाकुन्तल नामका नया नाटक खेला जाय।

सूत्रधार—ठीक स्मरण दिलाया आर्ये ! मैं तो भूल ही गया था। तुम्हारे गीतके मनोहर रागने मेरे मनको बलपूर्वक वैसे ही खींच लिया—

[कान लगाकर सुनते हुए]

जैसे यह वेगसे दौड़ता हुआ हरिण राजा दुष्यन्तको यहाँ खींच लाया है ॥ ५ ॥ [दोनोंका प्रस्थान]

॥ प्रस्तावना ॥

[मृगका पीछा करते हुए सारथीके साथ रथपर बैठे हुए धनुष-बाण-धारी राजा दुष्यन्तका प्रवेश]

सारथी—[राजा और मृगको देखकर ।] आयुष्मन् ।

इस काले मृगपर आँख लगाए हुए और धनुषकी डोरी चढ़ाए हुए आप ऐसे दिखाई पड़ रहे हैं मानो मृगके पीछे दौड़ते हुए साक्षात् महादेवजी हों ॥ ६ ॥

राजा—सूत ! यह हरिण तो हमें बहुत दूर ले आया है। और अब भी यह—

बार-बार पीछे मुड़कर इस रथको एकटक देखता हुआ सुन्दर लगने वाला हरिण-बाण लगनेके डरसे अपने पिछले आधे शरीरको सिकोड़कर आगेके भागसे मिलाता हुआ कैसा दौड़ता जा रहा है। थकावटके कारण इसके खुले हुए मुँहसे आधी चबाई हुई कुशा मार्गमें गिरती जा रही है और देखो ! यह इतनी लम्बी छलाँगें भर रहा है कि इसके पाँव पृथ्वीपर पड ही नहीं रहे हैं। ऐसा लगता है मानो आकाशमें उडा जा रहा हो ॥ ७ ॥

[आश्चर्यके साथ]

अरे ! हम ठीक इसके पीछे-पीछे ही चले जा रहे हैं फिर भी हरिण आँखसे ओझल क्यों हो गया।

सारथी—आयुष्मन् ! ऊँची-नीची भूमि होनेके कारण मैंने रास खींचकर रथका वेग कम कर दिया था, इसीलिये मृग बहुत दूर निकल गया है। पर आगे समथल है, अब आप इसे हाथमें आया ही समझिए।

राजा—तो रास ढीली करो।

सारथी—जैसी आयुष्मन्‌की आज्ञा। [रथका वेग देखकर] देखिए, देखिए आयुष्मन्—

रास छोड़ते ही अपने आगेका शरीर फैलाकर और माथेकी चौंरी सीधी खड़ी करके ये घोड़े इतने वेगसे दौड़ रहे हैं कि इनकी टापोंसे उठी हुई धूल भी इन्हें नहीं छू पा रही है। ऐसा जान पडता है मानो हरिणकी दौड़से ये होड़ कर रहे हों॥ ८॥

राजा—[प्रसन्न होकर] सचमुच इन घोडोंने तो सूर्य और इन्द्रके घोड़ोंको भी दौड़में पछाड़ दिया है। क्योंकि जो वस्तु दूरसे पतली दिखाई देती थी वह तुरंत मोटी हो जाती है, जो बीचसे कटी जान पडती थी वह झट ऐसी जान पड़ने लगती है मानो उसे किसीने जोड दिया हो और जो स्वभावतः टेढ़ी वस्तुएँ हैं वे आँखोंको सीधी-सी दिखाई देती हैं। रथ इतने वेगसे दौड़ रहा है कि कोई वस्तु न तो मुझसे दूर ही रह पाती है, न समीप ही॥ ९॥

सारथी! देखो, हरिणको बस मारता ही हूँ।

[बाण चढ़ानेका अभिनय करता है।]

[नेपथ्यसे]

राजन्! यह आश्रमका मृग है। इसे नहीं मारना चाहिए! नहीं मारना चाहिए!!

सारथी—[सुनकर और देखकर] आयुष्मन्! जिस काले हरिणपर आप अभी बाण चला रहे हैं उसके बीचमें तपस्वी लोग आ खडे हुए हैं।

राजा—[घबराकर] तो रोक लो घोडोंको।

सारथी—अच्छा। [रथ खड़ा कर लेता है]

[दो शिष्योंके साथ वैखानस (तपस्वी) का प्रवेश।]

वैखानस—[हाथ उठाकर] राजन्! यह आश्रमका मृग है। इसे नहीं मारना चाहिए! नहीं मारना चाहिए!!

इसपर कभी बाण न चलाइएगा। आपका बाण इसके कोमल शरीरके लिये वैसा ही भयकर है जैसे रूईके गट्ठेके लिये अग्नि। बताइए, कहाँ तो बेचारे हिरणोंके कोमल प्राण और कहाँ वज्रके समान कठोर आपके नोकीले बाण॥ १०॥ इसलिये यह जो आपने

तानकर बाण चढ़ाया है इसे उतार लीजिए। क्योंकि आपके शस्त्र तो पीड़ितोंकी रक्षाके लिये हैं, निरपराधोंको मारनेके लिये नहीं॥ ११॥

राजा—लीजिए उतार लिया। [बाण उतारता है।]

वैखानस—आप जैसे पुरुवंशके दीपकको यही शोभा देता है।

आपने पुरुवंशमें जन्म लिया है इसलिये यह ठीक ही किया है। आपको ऐसे ही गुणोंवाला चक्रवर्ती पुत्र प्राप्त हो॥ १२॥

दोनों शिष्य—[बाँह उठाकर] निश्चय ही चक्रवर्ती पुत्र प्राप्त हो।

राजा—[प्रणाम करके] आपका आशीर्वाद सिरमाथे।

वैखानस—राजन्! हम लोग समिधा लेने निकले हैं। यह सामने मालिनी नदीपर कुलपति कण्वका आश्रम है। यदि कोई अड़चन न हो तो चलकर अतिथि-सत्कार ग्रहण कीजिए।

वहाँ जब आप देखेंगे कि ऋषि लोग निर्विघ्न होकर सब क्रियाएँ कर रहे हैं तब आप यह भी जान जायँगे कि धनुपकी डोरीकी फटकारसे बने घट्ठोंवाली आपकी भुजा कहाँ-कहाँ तक पहुँचकर रक्षा कर रही है॥ १३॥

राजा—क्या कुलपति यहाँ हैं?

वैखानस—अभी थोडी देर हुए अपनी पुत्री शकुन्तलाको अतिथि-सत्कारका काम सौंपकर उसके खोटे ग्रहोंको शान्ति करनेके लिये सोमतीर्थ चले गए हैं।

राजा—अच्छी बात है। मैं उससे अवश्य मिलूँगा। वही महर्षिसे बता देगी कि मेरी उनमें कितनी भक्ति है।

वैखानस—तो हम लोग चलते हैं।

[शिष्योंके साथ प्रस्थान]

राजा—सारथी! बढ़ाओ तो घोड़ोंको। चलकर पवित्र आश्रमके दर्शनसे अपना आत्मा ही पवित्र करूँ।

सारथी—जैसी आयुष्मानकी आज्ञा। [फिर रथको वेगसे दौड़ाता है।]

राजा—[चारों ओर देखकर] देखो सारथी! बिना बताए ही पता चल रहा है कि हम आश्रमके तपोवनमें पहुँच गए हैं।

सारथी—कैसे?

राजा—देख नहीं रहे हो? यहाँ—

कहीँ तो वृक्षोंके तले सुग्गोंके घोसलोंसे गिरे हुए तिन्नीके दाने बिखरे पड़े हैं, कहीँ इधर उधर पड़े हुए चिकने पत्थर बता रहे हैं कि इनपर हिंगोटके फल कूटे गए हैं, कहीँ निडर खड़े हुए मृग इस विश्वाससे रथका शब्द सुन रहे हैं कि आश्रममें कोई हमें छेड़ेगा नहीँ और कहीँ नदी-तालोंपर आने-जानेकी राहोंमें मुनियोंके वल्कलोंसे टपके हुए जलकी रेखाएँ बनी हुई हैं ॥ १४ ॥ और देखो ! वायुके कारण लहरें लेनेवाली पानीकी गूलोंसे यहाँके वृक्षोंकी जड़ेँ धुल गई हैं, घीके धुएँसे नई चमकीली कोंपलोंका रंग धुँधला पड़ गया है और जहाँ-जहाँ उपवनसे कुशा उपाड़ ली गई है वहाँ मृग-छौने निडर होकर धीरे-धीरे चर रहे हैं ॥ १५ ॥

सारथी—हाँ, यह सब तो है।

राजा—[कुछ आगे बढ़कर] कहीँ हम लोगोंके आजानेसे तपोवन-निवासियोंको कष्ट न हो, इसलिये तुम रथको यहीँ रोक लो। मैं उतर जाता हूँ।

सारथी—लीजिए मैंने रास खींच ली है। आयुष्मन् उतर जायँ।

राजा—[उतरकर] देखो सारथी ! आश्रममें सीधे-सादे वेशसे ही जाना चाहिए। इसलिये तबतक ये सब यहीँ रक्खो। [अपने आभूषण और धनुष उतारकर सारथीको देते हुए] और देखो सारथी ! जबतक हम आश्रम-वासियोंसे मिलकर लौटें तबतक तुम घोड़ोंको ठढा कर रक्खो।

सारथी—अच्छा। [प्रस्थान]

राजा—[घूमकर और देखकर] यही तो आश्रमका द्वार जान पड़ता है। इसीसे भीतर चलूँ। [प्रवेश करके अच्छे शकुन होनेकी सूचना देते हुए]—इस शान्त तपोवनकी भूमिमें मेरी दाहिनी भुजा क्यों फड़क रही है। यहाँ भला क्या हाथ लगनेवाला है। पर हाँ, जो मिलना होता है वह तो कहीँ भी मिल सकता है ॥१६॥

[नेपथ्यमें]

इधर आओ सखियो, इधर आओ।

राजा—[सुनकर] अरे ! फुलवारीकी दाहिनी ओर किसीकी बातचीत जैसी सुनाई पड़ती है। उधर ही चलता हूँ।

[घूमकर और देखकर]

आहा ! ये तपस्वियोंकी कन्याएँ अपने अपने मेलके घडे ले-लेकर छोटे-छोटे पौधोंको सींचनेके लिये इधर ही चली आ रही हैं।

[ध्यानसे देखकर] ओ हो ! ये तो बड़ी सुन्दर हैं।—रनिवासकी रानियोंमें भी जो सुन्दरता कठिनाईसे देखनेको मिलती है वह यदि इन आश्रमवासिनी कन्याओंको मिली है तो यही समझना चाहिए कि जगलकी लताओंने अपने गुणोंसे उद्यानकी लताओंको लजा दिया है ॥ १७ ॥ अच्छा, इनके आनेतक मैं यहीं छायामें खड़ा रहता हूँ।

[देखता हुआ खड़ा रहता है।]

[अपनी सखियोंके साथ पौधोंको सींचती हुई शकुन्तलाका प्रवेश।]

शकुन्तला—इधर आओ सखियो, इधर आओ।

अनसूया—अरी शकुन्तला ! मैं समझती हूँ कि पिता कण्व इन आश्रमके पौधोंको तुझसे अधिक प्यार करते हैं, नहीं तो भला चमेलीकी कली जैसी कोमल अगवाली तुझको वे थॉवले भरनेका काम क्यों सौंप जाते।

शकुन्तला—मैं केवल पिताजीकी आज्ञासे ही इन्हें नहीं सींचती हूँ, मैं स्वय भी इनको सगे भाई जैसा प्यार करती हूँ।

[पौधोंमें पानी देनेका नाट्य करती है।]

राजा—क्या यही कण्व ऋषिकी कन्या है ! पूज्य कण्वकी यह बात सचमुच ठीक नहीं है कि इसे भी उन्होंने आश्रमके काममें जोत दिया है।—जो ऋषि इसके सहज सुन्दर शरीरको तपस्याके लिये साधना चाह रहे हैं वे सचमुच नीले कमलकी पखड़ीकी धारसे शमीका पेड काटनेपर उतारू हुए हैं ॥१८॥ अच्छा, तबतक निश्चिन्त होकर वृक्षोंकी ओटसे इसे ओसनर देख तो लूँ।

[ऐसा ही करता है।]

शकुन्तला—सखी अनसूया ! इस प्रियंवदाने ऐसा कसकर वल्कल बाँध दिया है कि मैं हिलडुल नहीं पा रही हूँ। आकर इसे ढीला तो कर दे।

अनसूया—अच्छा। [ढीला करती है।]

प्रियंवदा—[हँसते हुए।] इसे क्या उलाहना देती हो। अपने

उस यौवनको क्यों नहीं दोष देती जो तुम्हारे स्तनोंको इतना बढ़ाता चला जा रहा है।

राजा—यद्यपि इसका कोमल शरीर वल्कलके योग्य नहीं है, फिर भी ये इसके शरीरको अलंकारोंके समान ही सुशोभित कर रहे हैं। क्योंकि—सेवारसे घिरा होनेपर भी कमल सुन्दर लगता है और चन्द्रमामें पडा हुआ कलक भी उसकी शोभा ही बढ़ाता है वैसे ही यह सुन्दरी भी वल्कलके कपडे पहने हुए बड़ी भली दिखाई पड रही है। सच्ची बात तो यह है कि सुन्दर शरीरपर सभी कुछ शोभा देने लगता है॥१६॥

शकुन्तला—[सामने देखकर।] यह केसरका वृक्ष पवनके झोंकोंसे हिलती हुई पत्तियोंकी उँगलियोंसे मुझे बुला रहा है। जाऊँ इसका भी मन रख लूँ। [उधर घूमती है।]

प्रियंवदा—अरी शकुन्तला, क्षणभर वहाँ खड़ी तो रह जा। जब तू पेडसे लगकर खड़ी होती है तब यह केसरका वृक्ष ऐसा लगता है जैसे उससे कोई लता लिपटी हुई हो।

शकुन्तला—इन्हीं सब बातोंसे तो तेरा नाम प्रियंवदा पड़ा है।

राजा—प्रियंवदाने शकुन्तलासे बडी प्यारी और सच्ची ही बात तो कही है, सचमुच—इसके लाल-लाल ओठ लताकी कोंपलों जैसे लगते हैं, दोनों भुजाएँ कोमल शाखाओं जैसी जान पड़ती हैं और इसके अंगोंमें खिला हुआ नया यौवन लुभावने फूलके समान दिखाई दे रहा है॥२०॥

अनसूया—शकुन्तला, यह वही नई चमेली है न, जिसने आमके वृक्षसे स्वयंवर कर लिया है और जिसका नाम तूने वनज्योत्स्ना या वनकी चाँदनी रख छोडा है। इसे तो तू भूले ही चली जा रही थी।

शकुन्तला—वाह इसे भूलूँगी, तब तो मैं अपनेको भी भूल जाऊँगी। [लताके पास जाकर और देखकर] सखी, सचमुच इस लता और वृक्षका मेल बडे अच्छे दिनोंमें हुआ है। इधर यह वनज्योत्स्ना खिले हुए फूल लेकर नवयौवना हुई है, उधर फलसे लदी हुई शाखाओं वाला आमका वृक्ष भी उभारपर आया हुआ है।

[उसे देखती हुई खडी रह जाती है।]

प्रियंवदा—[मुस्कराकर] अनसूया। जानती हो यह शकुन्तला इतनी मगन होकर वनज्योत्स्नाको क्यों देख रही है ?

अनसूया—नहीं, मैं तो नहीं जानती सखी। तू ही बता।

प्रियंवदा—देख, यह सोच रही है कि जैसे इस वनज्योत्स्नाको अपने योग्य वृक्ष मिल गया है वैसे ही मुझे भी मेरे योग्य वर मिल जाय।

शकुन्तला—यह तो तू अपने मनकी बात कह रही है।

[घड़ेका जल पेड़की जड़में छोड़ती है।]

राजा—यह ऋषिकी कन्या कहीं दूसरे वर्णकी स्त्रीसे तो नहीं उत्पन्न हुई है। पर सन्देह किया ही क्यों जाय। क्योंकि—जब मेरा शुद्ध मन भी इसपर रीझ उठा है तब यह निश्चय है कि इसका क्षत्रियसे विवाह हो सकता है। क्योंकि सज्जनों के मनमें जिस बातपर शंका हो वहाँ जो कुछ उनका मन कहे वही ठीक मान लेना चाहिए॥ २१॥ फिर भी मैं इसका ठीक ठीक पता लगाता हूँ।

शकुन्तला—[घबराकर।] अरे रे! जल पड़नेसे घबराकर उड़ा हुआ यह भौंरा नई चमेलीको छोडकर बार-बार मेरे ही मुँहपर मँडराने लगा है। [भौंरेसे पीडित होनेका नाट्य करती है।]

राजा—[ललचता हुआ।]— अरे भौंरे, तुम सचमुच बडे भाग्यवान हो। इधर हम तो सच्ची बातका पता लगानेमें ही लुट गए, उधर तुम इस चञ्चल चितवनवाली काँपती हुई बालाका बार बार छूते जा रहे हो, उसके कानों के पास जाकर ऐसा धीरे-धीरे गुनगुना रहे हो मानो कोई बडे भेदकी बात उसे सुनाना चाहते हो और बार-बार उसके हाथोंसे झटके जानेपर भी तुम उसके रस-भरे अधरोंको पीते ही जा रहे हो॥२२॥

शकुन्तला—अरे यह दुष्ट मानता ही नहीं है। चलूँ कहीं और जाऊँ। [दूसरे स्थानपर जाकर और दृष्टि फेरकर।] अरे, क्या यहाँ भी आ पहुँचा? अब क्या करूँ? अरी सखियो! बचाओ! बचाओ इस दुष्ट भौंरेसे॥ इसने तो मुझे बड़ा तंग कर डाला है।

दोनों—[मुस्कराकर।] हम कौन होती हैं बचानेवाली! दुष्यन्तको क्यों नहीं पुकारती हो? अरी! तपोवनकी रक्षा करना तो राजाका काम है न।

राजा—अपना परिचय देनेका यह अच्छा अवसर है। डरो मत! डरो मत! [आधी बात कहकर फिर मन ही मन।] किन्तु इससे तो ये

समझ जायँगी कि मैं राजा हूँ। अच्छा, तो मैं फिर यों कहता हूँ।

शकुन्तला—[थोडी दूर जाकर खडी होकर फिर दृष्टि फेरती है।] क्या करूँ? यह तो यहाँ भी मेरा पीछा नहीं छोड़ता।

राजा—[झटसे प्रकट होकर।] ओह! जबतक दुष्टोंको दंड देनेवाला पुरुवंशी दुष्यन्त पृथ्वीपर राज्य कर रहा है तबतक कौन ऐसा है जो भोली-भाली ऋषि-कन्याओंको छेड़े ॥ २३ ॥

[राजाको देखकर सब सकपका जाती हैं।]

अनसूया—आर्य, ऐसी कोई बड़ी भारी विपत्ति नहीं है। हमारी इस प्यारी सखीको भौंरेने तंग कर रक्खा था, इसीसे यह कुछ डर सी गई है। [शकुन्तलाकी ओर सकेत करती है।]

राजा—[शकुन्तलाके सामने जाकर] आपका तप तो सफल हो गया है न? [शकुन्तला नीचा मुँह करके चुप रह जाती है।]

अनसूया—हाँ, आप जैसे अनूठे अतिथिके आ जानेसे तप सफल ही समझिए। अच्छा शकुन्तला! जा, कुटीसे कुछ फल-फूलके साथ अर्घ्य तो ले आ। चरण धोनेका जल यहीं मिल जायगा।

राजा—आपकी मीठी-मीठी बातोंसे ही मेरा अतिथि-सत्कार होगया।

प्रियंवदा—तो आर्य! चलिए घनी छायावाले छतिवनके तले जो शीतल चौतरा है, वहीं क्षणभर बैठकर अपनी थकान मिटाइए।

राजा—आप सब भी तो काम करते-करते थक गई होंगी।

प्रियंवदा—शकुन्तला! अतिथिकी बात तो रखनी ही होगी। आओ बैठ जायँ।

शकुन्तला—[मनही मन] इन्हें देखकर मेरे मनमें न जाने क्यें ऐसी उथलपुथल हो रही है जो तपोवनके निवासियोंके मनमें नहीं होनी चाहिए।

राजा—[सबको देखकर] आप लोग एक सी रूपवाली और एक सी अवस्थावाली हैं। आप लोगोंका आपसका प्रेम मुझे बड़ा प्यारा लगता है।

प्रियंवदा—[धीरेसे] अनसूया, ये चतुर और गम्भीर दिखाई देनेवाले तथा प्रिय और मधुर बोलनेवाले कोई बडे भारी व्यक्ति जान पडते हैं।

अनसूया—[प्रियंवदासे धीरेसे।] सखी, मुझे भी जाननेकी बड़ी उत्कंठा है। चलो इन्हींसे पूछें। [प्रकट] आर्य! आपकी मीठी बातोंसे

जो विश्वास उत्पन्न हो गया है वह हमें आपसे यह पूछनेको उकसा रहा है कि आर्यने किस राजवंशको सुशोभित किया है, किस देशकी प्रजाको अपने विरहसे व्याकुल करके आर्य यहाँ पधारे हैं और ऐसा कौन-सा काम आ पड़ा है जिसने आपके इस सुकुमार शरीरको इस तपोवनतक लानेका कष्ट दिया है।

शकुन्तला—[मन ही मन।] हृदय, उतावले मत बनो। तुम्हारे ही मनकी बात अनसूया पूछ रही है।

राजा—[मन ही मन।] अब अपना क्या परिचय दूँ और कैसे अपनेको छिपाऊँ ? अच्छा, मैं इनसे यह कहता हूँ। [प्रकट।] भद्रे, पुरुवंशी राजाने मुझे अपने राज्यकी धार्मिक क्रियाओंकी देख-भालका काम सौंप रक्खा है। इसीलिये मैं यह देखने आया हूँ कि आश्रममें रहनेवाले तपस्वियोंके कार्यमें कोई विघ्न तो नहीं पडता।

अनसूया—आर्य! धर्म-क्रिया करनेवाले लोगोंपर आपने बड़ी कृपा की है।

[शकुन्तला प्रेम और लज्जाका नाट्य करती है।]

दोनों—[शकुन्तला और दुष्यन्तके मनकी बात ताडकर धीरेसे] शकुन्तला! यदि आज पिताजी घर होते—

शकुन्तला—तो क्या होता!

दोनों—इस अनूठे अतिथिको अपने जीवनका सर्वस्व देकर इन्हें निहाल कर देते।

शकुन्तला—चलो हटो, तुम लोग मनमें न जाने क्या-क्या लेकर कहती रहती हो। अब मैं तुम्हारी बातें सुनूँगी ही नहीं।

राजा—[अनसूया और प्रियंवदासे] आपकी सखीके विषयमें हम कुछ पूछना चाहते हैं।

दोनों—पूछिए आर्य, यह तो आपकी कृपा ही है।

राजा—हमने तो सुन रक्खा था कि महर्षि कण्व जन्मसे ही ब्रह्मचारी हैं, फिर आपकी ये सखी उनकी कन्या कैसे हो गईं।

अनसूया—मैं बताती हूँ आर्य। कौशिक गोत्रके एक बड़े प्रतापी राजर्षि हो गए हैं।

राजा—हाँ हाँ। मैंने भी सुना है।

अनसूया—तो बस यही समझिए कि हमारी सखी उन्हींकी कन्या है। इसकी माता इसे छोड़कर चल दी तो कण्व ऋषिने ही इसे पाल-पोसकर बड़ा किया। इसीलिये वे इसके पिता कहलाते हैं।

राजा—छोड़कर चल देनेकी बात सुनकर तो मेरी उत्कंठा और भी बढ़ गई है। मैं इसकी पूरी कथा सुनना चाहता हूँ।

अनसूया—तो सुनिए आर्य। बहुत दिनोंकी बात है। गोदावरीके तटपर बैठे हुए वे राजर्षि घोर तपस्या कर रहे थे। ऐसा कहा जाता है कि उनके तपसे कुढ़कर देवताओंने उनका तप डिगानेके लिये मेनका नामकी अप्सरा भेजी।

राजा—हाँ, यह तो है ही। औरोंकी तपस्या देखकर देवता लोग कुढ़ा ही करते हैं।

अनसूया—तो वसन्तके आरम्भमें उसका मदभरा यौवन देखकर—
[आधा कहकर ही लजा जाती है।]

राजा—बस-बस आगे मैं समझ गया। तो ये अप्सराकी कन्या हैं।

अनसूया—जी हाँ।

राजा—ठीक है।—नहीं तो मनुष्योंमें ऐसा रूप भला कहाँ मिल पाता है। चञ्चल चमकवाली बिजली पृथ्वीतलसे थोडे ही निकला करती है॥ २१॥

[शकुन्तला सिर झुका लेती है।]

राजा—[मन ही मन] चलो मेरे मनोरथको कुछ सहारा तो मिला। पर इसकी सखी प्रियंवदाने हँसी-हँसीमें कुछ इसके वर मिलनेकी भी बात कही थी। इसीसे मेरा मन अभी दुविधामें ही पडा हुआ है।

प्रियंवदा—[मुस्कराती हुई पहले शकुन्तलाकी ओर, फिर राजाकी ओर देखकर।] क्या आर्य कुछ और भी पूछना चाहते हैं?

[शकुन्तला सखीको उँगलीसे तरजती है।]

राजा—आपने हमारे मनकी बात ठीक ताड ली है। इनकी सुन्दर कथा सुननेके लोभसे हम कुछ और पूछना चाहते हैं।

प्रियंवदा—तो संकोच न कीजिए! तपस्वियोंसे तो आप बिना झिझकके कुछ भी पूछ सकते हैं।

राजा—आपकी सखीके सम्बन्धमें हम यह जानना चाहते हैं कि—

इन्होंने कामदेवकी गतिको रोकनेवाला यह जो तपस्वियोंका-सा बाना बनाया है यह विवाह होनेतक ही रहेगा, अथवा ये अपना सारा जीवन, मदभरी आँखोंके कारण प्यारी लगनेवाली हरिणियोंके बीचमें रहकर यों ही बिता डालेंगी ॥२५॥

प्रियंवदा—आर्य ! धर्मके काम भी यह अपने मनसे नहीं कर सकती। फिर भी पिताजीका सङ्कल्प है कि यदि इसके योग्य वर मिल जायगा तो विवाह कर देंगे।

राजा—[मनही मन] इस सङ्कल्पका पूरा होना तो कठिन नहीं है। हृदय, तू आशा न छोड़। जो दुविधा थी वह तो जाती रही है, क्योंकि जिसे तू अग्नि समझकर छूनेसे डरता था वह तो छूनेके योग्य रत्न निकल आया ॥ २६ ॥

शकुन्तला—[खीझकर] अनसूया, मैं तो जा रही हूँ।

अनसूया—क्यों ! क्यों !

शकुन्तला—इस उल्टी-सीधी बकनेवाली प्रियंवदाकी सब बातें जाकर आर्या गौतमीसे कह आती हूँ।

अनसूया—सखी, ऐसे बड़े अतिथिका सत्कार किए बिना उन्हें छोड़कर ऐंठते चले जाना अच्छा नहीं है।

[शकुन्तला बिना उत्तर दिए चलनेको प्रस्तुत होती है।]

राजा—[मनही मन] अरे, जाती क्यों हो ? [उसे रोकनेको उठते हैं फिर अपनेको रोक लेते हैं।] इस मुनि-कन्याके पीछे जाते-जाते लाजके कारण जो मैं सहसा रुक गया हूँ तो यद्यपि मैं अपने स्थानसे हिला तक नहीं फिर भी मुझे ऐसा लग रहा है मानो मैं कुछ दूर चलकर लौट आया होऊँ ॥२७॥

प्रियंवदा—[शकुन्तलाको रोककर।] सखी, तुम्हारा इस प्रकार चला जाना ठीक नहीं है।

शकुन्तला—[भौंह चढ़ाकर] क्यों ?

प्रियंवदा—क्योंकि तुम्हें अभी दो पौधे और सींचने हैं। अपना ऋण चुका लेना तब जाना।

राजा—भद्रे, पौधोंको सींचनेसे आपकी सखी थकी हुई दिखाई पड़ रही है। क्योंकि—घड़े उठाते-उठाते इनके कन्धे ढीले पड़ गए हैं,

हथेलियाँ लाल हो गई हैं, इसके वार-वार उठते हुए स्तन यह वता रहे हैं कि थकानसे इनकी साँस फूल गई है, कानोंमें पहने हुए सिरसके फूल भी नहीं हिल रहे हैं क्योंकि पसीनेकी वूँदोंसे उनकी पखड़ियाँ गालोंपर चिपक गई हैं और जूडेके खुल जानेसे ये अपनी विखरी हुई लटें एक हाथसे किसी प्रकार सँभाले हुए हैं ॥ २८ ॥ इसलिये इनका ऋण मैं चुका देता हूं। [अपनी अँगूठी देना चाहता है । दुष्यन्तका नाम अँगूठीपर पढ़कर दोनों एक दूसरीको देखती हैं ।]

राजा—मुझे आप कोई और न समझ बैठिएगा। यह अँगूठी मुझे राजासे पुरस्कारमें मिली है। मुझे आप लोग राज-पुरुष ही समझिए।

प्रियंवदा—तव तो इस अँगूठीको आपकी उँगलीसे अलग करना ठीक नहीं है। आपके कहने ही भरसे इसका ऋण चुकता हो गया। शकुन्तला! इनकी, या यों कहो कि महाराजकी कृपासे तुम ऋणसे मुक्त हो गई हो। अव जा सकती हो।

शकुन्तला—[मनही मन।] अपना मन हाथमें हो तव तो जाऊँ। [प्रकट।] मुझे जाने देनेवाली या रोकनेवाली तुम कौन होती हो?

राजा—[शकुन्तलाको देखकर आपही आप] कहीं यह भी तो हमपर वैसे ही नहीं रीझ गई है जैसे हम इसपर रीझे हैं? या फिर जान पडता है कि हमारे मनोरथोंके फलनेके दिन आ गए। क्योंकि—यद्यपि यह स्वयं मुझसे वातचीत नहीं करती फिर भी जव मैं वोलने लगता हूँ तव कान लगाकर मेरी वातें सुनने लगती है और यद्यपि मेरे सामने यह मुँह करके नहीं वैठती फिर भी उसकी आँखें मुझपर ही लगी रहती हैं।

[नेपथ्यमें]

हे तपस्वियो! आकर तपोवनके प्राणियोंको वचाओ। आखेटका प्रेमी राजा दुष्यन्त पास ही आ पहुँचा है। उसके घोड़ोंकी टापोंसे उठी हुई और साँझकी ललाईके समान लाल-लाल धूल टिड्डी दलके समान उडकर आश्रमके उन वृक्षोंपर पड रही है जिनकी शाखाओंपर गीले वल्कलके वस्त्र फैलाए हुए हैं॥३०॥ और देखो—राजाके रथसे डरा हुआ यह जंगली हाथी हमारी तपस्याके लिये साक्षात् विघ्न वना हुआ हरिणोंके झुण्डको तितर-वितर करता हुआ तपोवनमें घुसा आ रहा है। इसने अपनी करारी टक्करसे एक वृक्ष उखाड लिया है जिसमें

उसका एक दाँत फँसा हुआ है और टूटी हुई लताएँ फन्देके समान उसके पैरोंमें उलझी हुई हैं।

[सब कुमारियाँ सुनकर कुछ घबरा जाती हैं ।]

राजा—[मन ही मन] अरे, धिक्कार है इन सैनिकोंको। जान पड़ता है हमें ढूँढनेके लिये ये तपोवनको रौंदे डाल रहे हैं। अब हमें उधर चलना चाहिए।

दोनों—आर्य ! इस जंगली हाथीकी बात सुनकर हम लोग डर गई हैं। हमें कुटीमें जानेकी आज्ञा दीजिए।

राजा—[शीघ्रतासे] आप लोग चलें। मैं भी ऐसा ही प्रयत्न करता हूँ कि तपोवनमें विघ्न न हो।

दोनों—आर्य ! हम लोगोंने आपका कुछ भी सत्कार नहीं किया। इसलिये—[सब उठती हैं ।] आर्यसे यह प्रार्थना करते हुए बड़ा संकोच हो रहा है कि हमें फिर दर्शन दें।

राजा—नहीं, नहीं, ऐसा न कहिए। आप लोगोंके दर्शनसे ही हमारा सत्कार हो गया।

[शकुन्तला राजाको देखती हुई कुशा चुभने और शाखामें धोती फँसनेका बहाना करके थोड़ा रुकती है और फिर सखियोंके साथ चली जाती है।]

राजा—नगरमें जानेकी सारी उत्सुकता ठंढी पड़ गई है। इसलिये आश्रमके पास ही सैनिकोंके साथ डेरा डालता हूँ। जान पड़ता है कि शकुन्तलाके इस प्रेम-व्यवहारसे मैं छुटकारा न पा सकूँगा। क्योंकि—जैसे पवनके सामने झण्डा ले चलनेपर उसकी रेशमी झण्डी पीछेको फरफराती चलती है वैसे ही ज्यों-ज्यों मेरा शरीर आगे बढ़ता है त्यों-त्यों मेरा चञ्चल मन पीछेको दौड़ता चलता है।

[सबका प्रस्थान ।]

॥ पहला अङ्क समाप्त ॥



दूसरा अङ्क

[उदास मनसे विदूषकका प्रवेश ।]

विदूषक—[लम्बी साँस भरता हुआ] बस देख चुके । इस अहेरी राजाकी मित्रतासे तो जी घबरा उठा है ! भरी दुपहरीमें भी एक वनसे दूसरे वनमें भटकते हुए उन जगली प्रदेशोंमें होकर चलना पड़ता है जहाँ गर्मीके कारण पेड़ोंमें छाँहतक नहीं रह गई है और दिन-रात यही हल्ला कान फोडे डालता है—यह मृग आया, वह सूअर निकला, यह रहा सिंह । फिर, सड़े हुए पत्तों से मिले हुए जल वाली नदियों का कसैला और कडुआ पानी पीना पड़ता है और अबेर-सबेर लोहेकी सीखोंपर भुना हुआ मांस खानेको मिलता है । घोडेके पीछे दौड़ते-दौड़ते शरीरके जोड़-जोड़ ऐसे ढीले पड़ गए हैं कि रातमें आँख भी ठीक नहीं लग पाती । तिसपर ये दासी-पुत्र चिड़ीमार, तड़के ही—चलो वनको, चलो वनको—चिल्ला-चिल्लाकर ऐसा हल्ला मचाते हैं कि नींद उचट जाती है । अभी यह विपत्ति टली नहीं कि उधर फोडेके ऊपर फुन्सीके समान दूसरी विपत्ति आ धमकी है । सुनते हैं कि हम लोगोंका साथ छूट जानेपर मृगका पीछा करते-करते राजा, तपस्वियोंके आश्रममें जा पहुँचे । वहाँ मेरे दुर्भाग्यसे उन्हें मुनि-कन्या शकुन्तला दिखाई दे गई । अब किसी भी प्रकार उनका मन नगर लौटनेको करता ही नहीं । आज भी रातभर उसीकी चिन्तामें जागते हुए उनकी आँखों ने सवेरा कर दिया । क्या करूँ । चलूँ, वे नित्य-कर्म कर चुके हों तो उनसे बातें करूँ । [घूमकर और देखकर ।] अरे, मेरे मित्र तो इधर ही चले आ रहे हैं जिनके साथ हाथमें धनुष लिए और गलेमें जंगली फूलोंकी माला पहने हुए बहुत सी यवनी सेविकाएँ भी चली आ रही हैं । अच्छी बात है, मैं भी लुज-पुज-सा बनकर खड़ा हो जाता हूँ । कौन जाने इसी प्रकार थोड़ा विश्राम मिल जाय । [लाठी टेककर खड़ा हो जाता है ।]

[जैसा ऊपर कहा गया है, उस प्रकारकी सेविकाओंके साथ राजाका प्रवेश ।]

राजा—यद्यपि प्यारीका मिलना कठिन है पर उसकी चाल-ढालसे मनको बड़ा भरोसा मिलता है। हम दोनोंका मिलन भले ही न हो पर इतना तो सन्तोष है कि मिलनेकी उतावली दोनों ओर एक सी है ॥१॥ [मुस्कराकर] जो प्रेमी अपनी प्रियतमाके मनको अपने मनसे परखता है वह इसी प्रकार धोखा खाता है। और देखो—जब वह आँखें घुमाती थी तब मैं समझता था कि उसने मुझपर ही प्यार-भरी चितवन डाली है। नितम्बोंके भारी होनेके कारण जब वह धीरे-धीरे चलती थी तब मैं समझता था कि वह मुझे अपनी चटक-मटककी चाल दिखा रही है। जब उसकी सखियोंने उसे जानेसे रोका उस समय अपनी सखियोंपर जो वह लाल-पीली हुई तब मैं समझा कि यह सब मेरे ही प्रेमके लिये हो रहा है। आह, कामीको सब बातोंमें अपने ही स्वार्थकी बात दिखाई पड़ती है ॥२॥

विदूषक—[उसी मुद्रामें खड़ा हुआ] मेरे हाथ-पैर तो खुल नहीं रहे हैं, इसलिये मैं केवल मुँहसे ही आपकी जय-जयकार मनाता हूँ। आपकी जय हो।

राजा—यह अग-भग कैसे हो गया ?

विदूषक—कैसे क्या ? आँखोंमें उँगली कोंचकर पूछ रहे हैं कि आँसू कहाँसे आए ?

राजा—मैं तो कुछ भी नहीं समझ पाया।

विदूषक—अच्छा मित्र, यह तो बताइए कि नदीमें जो बेंतकी लता कुबडी बनी खडी रहती है वह अपने मनसे वैसी रहती है या नदीके वेगके कारण ?

राजा—नदीका वेग ही उसका कारण है।

विदूषक—तो मेरे अग-भगके भी आप ही कारण हैं।

राजा—कैसे ?

विदूषक—आप तो सब राज्य-कार्य छोडकर इस बीहड प्रदेशमें जगलियोंके समान घूम रहे हैं, यहाँ जगली जन्तुओंका पीछा करते-करते मेरे अंगोंके जोड ऐसे टूट गए हैं कि हिला भी नहीं जाता। अब आप कृपा करके मुझे तो कमसे कम एक दिन विश्राम करनेकी आज्ञा दे ही दीजिए।

राजा—[मन ही मन] इधर यह भी कह रहा है, उधर कण्वकी कन्याका ध्यान करते-करते मेरा मन भी आखेटसे ऊब-सा चला है। क्योंकि—जिन हरिणोंने शकुन्तलाके साथ रहकर उसे भोली चितवन सिखाई है उन्हें मारनेके लिये यह बाण चढ़ाया हुआ धनुष मुझसे खींचते ही नहीं बनता ॥३॥

विदूषक—[राजाका मुँह देखकर] आप तो न जाने क्या मन ही मन बड़बड़ा रहे हैं। मैं इतना सब क्या जंगलमें ही रोता रहा?

राजा—[मुस्कराकर] नहीं नहीं, मैं भी यही सोच रहा था कि मित्रकी बात टालनी नहीं चाहिए। इसीलिये मैं चुप हो गया।

विदूषक—जीते रहिए। [जाना चाहता है।]

राजा—ठहरो मित्र अभी मेरी बात पूरी नहीं हुई है।

विदूषक—कह डालिए, महाराज।

राजा—देखो, विश्राम कर चुको तो आकर मेरे भी एक काममें सहायता देना। और वह काम ऐसा होगा जिसमें तुम्हें कहीं आना-जाना नहीं पडेगा।

विदूषक—क्या लड्डू खाने हैं? तब उसके लिये इससे बढ़कर और कौन सा ठीक अवसर हो सकता है!

राजा—ठहरो, बताता हूँ। अरे, यहाँ कोई है?

दौवारिक—[आकर प्रणाम करके।] आज्ञा कीजिए स्वामी।

राजा—अरे रैवतक! सेनापतिको तो बुला लाओ।

दौवारिक—अच्छा। [बाहर जाकर सेनापतिको साथ लिए लौट आता है।] यह सामने इधर दृष्टि किए हुए स्वामी बैठे हैं और कुछ आज्ञा देने ही वाले हैं। आगे बढ़ चलिए, आर्य।

सेनापति—[राजाको देखकर, मन ही मन] लोग आखेटको इतना बुरा बताते हैं, पर स्वामीको तो इससे बड़ा लाभ हुआ है। क्योंकि—पहाड़ोंमें घूमनेवाले हाथीके समान इनके बलवान शरीरके आगेका भाग निरन्तर धनुषकी डोरी खींचनेसे ऐसा कड़ा हो गया है कि उसपर न तो धूपका ही प्रभाव पडता है और न पसीना ही छूटता है। बहुत दौड़-धूपसे यद्यपि ये दुबले पड गए हैं पर पुट्ठोंके पक्के होनेके कारण इनका दुबलापन दिखाई नहीं पड़ता ॥ ४ ॥ [पास जाकर]

स्वामीकी जय हो। हमने आखेटके पशुओंको वनमें घेर लिया है। अब विलब किसलिये है?

राजा—इस आखेटके निन्दक माधव्यने मेरा सारा उत्साह ठण्ढा कर दिया है।

सेनापति—[अलग विदूषकसे] अच्छा मित्र, करो तुम भी डटकर विरोध, और मैं भी, देखो स्वामीके मनको कैसे पलट देता हूँ। [प्रकट] इस मूर्खको बकने दीजिए महाराज! स्वामी ही स्वय देख रहे हैं कि—आखेटसे चर्बी घट जाती है, तोंद छट जाती है, शरीर हलका और फुर्तीला हो जाता है, पशुओंके मुँहपर जो भय और क्रोध दिखाई देता है उसका ज्ञान हो जाता है और चलते हुए लक्ष्योंपर बाण चलानेमें हाथ सध जाते हैं, जो धनुषधारियोंके लिये बडे गौरवकी बात है। लोग झूठ-मूठ ही आखेटको बुरा बताते हैं, नहीं तो इतना मन-बहलाव और मिल कहाँ सकता है ॥५॥

विदूषक—अरे चल-चल उत्साह दिलानेवाले! अब महाराज फिर मनुष्य बन गए हैं। तुझे तो एक दिन इसी प्रकार इस वनसे उस वनमें घूम-घूमकर आखेट करते हुए मनुष्यकी नाकके लोभी किसी बूढे भालूके मुँहमें पडना ही है।

राजा—भद्र सेनापति! देखो, हम लोग तपोवनके पास ठहरे हुए हैं। इसलिये तुम्हारी बात इस समय मुझे जँच नहीं रही है। आज तो—भैंसोंको छोड दो कि वे अपनी सींगोंसे पानीको हिलोरते हुए तालोंमें तैरें, हरिणोंके झुण्ड पेडोंकी घनी छायामें घेरा बनाकर बैठे जुगाली करें, बडे-बडे सूअर निडर होकर छिछले तालोंमें नागरमोथेकी जडें खोदें और मेरे धनुषकी ढीली डोरी भी कुछ देर विश्राम कर ले ॥६॥

सेनापति—जैसी महाराजकी इच्छा।

राजा—तो जिन हँकवोंको आगे भेज दिया है उन्हें लौटा लो और सैनिकोंको समझा देना कि कोई ऐसा काम न कर बैठें जिससे तपोवनके पासमें बाधा पडे। देखो—सूर्यकान्तमणि यों तो छूनेमें ठण्डी लगती है पर जब सूर्य उसपर अपना प्रकाश डालता है तब वह भी आग उगलने लगती है। इसी प्रकार तपस्वी लोग यद्यपि बडे शान्त होते हैं

राजा—[मन ही मन] इधर यह भी कह रहा है, उधर कण्वकी कन्याका ध्यान करते-करते मेरा मन भी आखेटसे ऊब-सा चला है। क्यों कि—जिन हरिणों ने शकुन्तलाके साथ रहकर उसे भोली चितवन सिखाई है उन्हें मारनेके लिये यह बाण चढ़ाया हुआ धनुष मुझसे खींचते ही नहीं बनता ॥३॥

विदूषक—[राजाका मुँह देखकर] आप तो न जाने क्या मन ही मन बड़बडा रहे हैं। मैं इतना सब क्या जगलमें ही रोता रहा ?

राजा—[मुस्कराकर] नहीं नहीं. मैं भी यही सोच रहा था कि मित्रकी बात टालनी नहीं चाहिए। इसीलिये मैं चुप हो गया।

विदूषक—जीते रहिए। [जाना चाहता है।]

राजा—ठहरो मित्र अभी मेरी बात पूरी नहीं हुई है।

विदूषक—कह डालिए, महाराज।

राजा—देखो, विश्राम कर चुको तो आकर मेरे भी एक काममें सहायता देना। और वह काम ऐसा होगा जिसमें तुम्हें कहीं आना-जाना नहीं पडेगा।

विदूषक—क्या लड्डू खाने हैं ? तब उसके लिये इससे बढ़कर और कौन सा ठीक अवसर हो सकता है !

राजा—ठहरो, बताता हूँ। अरे, यहाँ कोई है ?

दौवारिक—[आकर प्रणाम करके।] आज्ञा कीजिए स्वामी।

राजा—अरे रैवतक ! सेनापतिको तो बुला लाओ।

दौवारिक—अच्छा। [बाहर जाकर सेनापतिको साथ लिए लौट आता है।] यह सामने इधर दृष्टि किए हुए स्वामी बैठे हैं और कुछ आज्ञा देने ही वाले हैं। आगे बढ़ चलिए, आर्य।

सेनापति—[राजाको देखकर, मन ही मन] लोग आखेटको इतना बुरा बताते हैं, पर स्वामीको तो इससे बडा लाभ हुआ है। क्योंकि—पहाड़ों में घूमनेवाले हाथीके समान इनके बलवान शरीरके आगेका भाग निरन्तर धनुषकी डोरी खींचनेमें ऐसा कडा हो गया है कि उसपर न तो धूपका ही प्रभाव पडता है और न पसीना ही छूटता है। बहुत दौड़-धूपसे यद्यपि ये दुबले पड गए हैं पर पुट्ठों के पक्के होनेके कारण इनका दुबलापन दिखाई नहीं पड़ता ॥ ४ ॥ [पास जाकर]

स्वामीकी जय हो। हमने आखेटके पशुओंको वनमें घेर लिया है। अब विलंब किसलिये है?

राजा—इस आखेटके निन्दक माधव्यने मेरा सारा उत्साह ठण्ढा कर दिया है।

सेनापति—[अलग विदूषकसे] अच्छा मित्र, करो तुम भी डटकर विरोध, और मैं भी, देखो स्वामीके मनको कैसे पलट देता हूँ। [प्रकट] इस मूर्खको बकने दीजिए महाराज! स्वामी ही स्वयं देख रहे हैं कि—आखेटसे चर्बी घट जाती है, तोंद छट जाती है, शरीर हलका और फुर्तीला हो जाता है, पशुओंके मुँहपर जो भय और क्रोध दिखाई देता है उसका ज्ञान हो जाता है और चलते हुए लक्ष्योंपर बाण चलानेमें हाथ सध जाते हैं, जो धनुषधारियोंके लिये बडे गौरवकी बात है। लोग झूठ-मूठ ही आखेटको बुरा बताते हैं, नहीं तो इतना मन-बहलाव और मिल कहाँ सकता है ॥५॥

विदूषक—अरे चल-चल उत्साह दिलानेवाले! अब महाराज फिर मनुष्य बन गए हैं। तुझे तो एक दिन इसी प्रकार इस वनसे उस वनमें घूम-घूमकर आखेट करते हुए मनुष्यकी नाकके लोभी किसी बूढ़े भालूके मुँहमें पडना ही है।

राजा—भद्र सेनापति! देखो, हम लोग तपोवनके पास ठहरे हुए हैं। इसलिये तुम्हारी बात इस समय मुझे जँच नहीं रही है। आज तो—भैंसोंको छोड दो कि वे अपनी सींगोंसे पानीको हिलोरते हुए तालोंमें तैरें, हरिणोंके झुण्ड पेडोंकी घनी छायामें घेरा बनाकर बैठे जुगाली करें, बडे-बडे सूअर निडर होकर छिछले तालोंमें नागरमोथेकी जड़ें खोदें और मेरे धनुषकी ढीली डोरी भी कुछ देर विश्राम कर ले ॥६॥

सेनापति—जैसी महाराजकी इच्छा।

राजा—तो जिन हँकवोंको आगे भेज दिया है उन्हें लौटा लो और सैनिकोंको समझा देना कि कोई ऐसा काम न कर बैठें जिससे तपोवनके काममें बाधा पडे। देखो—सूर्यकान्तमणि यों तो छूनेमें ठण्ढी लगती है पर जब सूर्य उसपर अपना प्रकाश डालता है तब वह भी आग उगलने लगती है। उसी प्रकार ऋषि लोग यद्यपि बडे शान्त होते हैं

पर उनमें इतना तेज भी होता है कि यदि कोई उन्हें कष्ट दे तो उसे जलाकर भस्म भी कर दें ॥७॥

सेनापति—जैसी स्वामीकी आज्ञा ।

विदूषक—भाड़में जायँ तुम्हारी उत्साहकी बातें ।

[सेनापति चला जाता है ।]

राजा—[अपने सेवकोंको देखकर] अब तुम लोग भी अपने आखेटके कपड़े उतार डालो । और रैवतक ! जाओ, तुम भी अपना काम करो ।

सेवक—जो देवकी आज्ञा ।

[सब जाते हैं ।]

विदूषक—चलो अच्छा किया जो सब मक्खियाँ भगा दीं आपने । अब चलिए, वृक्षोंकी घनी छायावाले लता-मण्डपके नीचे सुन्दर आसन पर आप चलकर बैठिए और मैं भी सुस्ता लेता हू ।

राजा—अच्छा, चलो आगे-आगे ।

विदूषक—आप भी आइए ।

[दोनों घूमकर बैठते हैं ।]

राजा—माधव्य ! यदि तुमने देखनेके योग्य वस्तुएँ नहीं देखीं तो आँख होनेसे तुम्हें लाभ ही क्या हुआ ?

विदूषक—आप तो मेरी आँखोंके आगे रहते हैं न !

राजा—अपनेको तो सभी सुन्दर समझते हैं, पर इस समय तो मैं शकुन्तलाकी बात कह रहा हूँ जो इस आश्रमकी शोभा है ।

विदूषक—[आप ही आप] अच्छा, मैं इस बातको यहीं काट देता हूँ [प्रकट] क्यों मित्र, जान पड़ता है कि उस तपस्वीकी कन्यापर आप लट्टू हो गए हैं ।

राजा—मित्र ! पुरुवंशियोंका मन कुपथकी ओर बढ़ता ही नहीं है—सुना है, उसकी माँ कोई अप्सरा थी । वह जब इसे वनमें छोड़कर चली गई तब कण्व मुनि इसे उठा लाए । यह ठीक ऐसा ही हुआ मानो नवमल्लिकाका फूल अपनी डालीसे चूकर मदारपर आ गिरा हो ॥ ८ ॥

विदूषक—[हँसकर] जैसे कोई मीठा छुहारा खाते-खाते ऊबकर इमलीपर टूट पड़े वैसे ही आप भी रनिवासकी एक-से-एक बढ़कर सुन्दरियोंको भुलाकर इसपर लट्टू हो उठे हैं ।

राजा—तुमने अभी उसे देखा नहीं है न, इसीलिये ऐसा कह रहे हो।

विदूषक—तो ठीक है। जब आप भी उसे देखकर चकित हो रहे हैं तब तो वह सचमुच रूपवती होगी।

राजा—मित्र! और तो क्या कहूं। तुम बस यही समझ लो कि—ब्रह्माने जब उसे बनाया होगा तब पहले उसका चित्र बनाकर या मनमें संसारकी सभी सुन्दरियोंके रूपोंको इकट्ठा करके उसमें प्राण डाले होंगे। क्योंकि ब्रह्माकी कुशलता और शकुन्तलाकी सुन्दरता दोनोंपर बार-बार विचार करनेसे यही जान पड़ता है कि यह कोई निराले ही ढंगकी सुन्दरी उन्होंने बनाई है ॥६॥

विदूषक—ऐसी बात है तब तो इसने सभी सुन्दरियोंको परास्त कर दिया।

राजा—मेरी समझमें तो—उसका रूप वैसा ही पवित्र है जैसा बिना सूँघा हुआ फूल, नखोंसे अछूते पत्ते, बिना बिंधा हुआ रत्न, बिना चखा हुआ नया मधु और बिना भोगा हुआ पुण्योंका फल। पर यह पता नहीं चलता कि इस रूपको भोगनेके लिये ब्रह्माने किसे चुन रक्खा है ॥१०॥

विदूषक—तब आप इसे चटपट अपना लीजिए नहीं तो हिंगोट के तेलसे चिकने सिरवाले किसी तपस्वीके हाथमें यह जा पड़ेगी।

राजा—अरे! इसमें उसके वशकी बात थोड़े ही है, और फिर उसके पिता भी यहाँ नहीं हैं।

विदूषक—अच्छा यह तो बताओ कि वह तुम्हारी ओर किस भावसे देख रही थी।

राजा—मित्र! ऋषियोंकी कन्याएँ स्वभावसे ही बड़ी भोली-भाली होती हैं। फिर भी—जब मैं उसकी ओर मुंह करता था तब वह आँखें चुरा लेती थी और किसी न किसी बहाने हँस भी देती थी। वह शीलसे इतनी दबी हुई थी कि न तो वह अपने प्रेम को छिपा ही पा रही थी और न खुल कर प्रकट ही कर पा रही थी ॥११॥

विदूषक—[हँसकर] तो क्या वह आपको देखते ही आपकी गोदमें आकर चढ़ जाती!

राजा—अरे सुनो तो। जब वह जाने लगी उस समय शिष्टताकी

रक्षा करते हुए भी उसने अपना प्रेम जता ही दिया। क्योंकि—कुछ दूर चलनेपर वह सुन्दरी सहसा यह कहकर रुक गई—अरे, मेरे पाँव में दाभका काँटा चुभ गया है। और यद्यपि उसका वल्कल कहीं उलझा नहीं था फिर भी धीरे-धीरे वल्कल सुलझानेका बहाना करके वह मेरी ओर देखती हुई कुछ देर खड़ी रह गई ॥१२॥

विदूषक—तब आप अपना साज-समाज सब यहीं मँगा लीजिए, क्योंकि मैं देख रहा हूँ कि आपने इस तपोवनको एकदम प्रमोदवन बना डाला है।

राजा—मित्र! कुछ ऋषि मुझे पहचान गए हैं। अब सोच-विचारकर कोई ऐसा उपाय बताओ कि कमसे कम एक बार तो किसी बहाने आश्रममें हो आऊँ।

विदूषक—आप राजाओंके लिये कोई बहाना बनानेकी क्या आवश्यकता है? जाकर यही कहिए कि आप लोग राज-करके रूपमें हमें तिन्नीका छठा भाग दे दीजिए।

राजा—तू तो एकदम मूर्ख है। अरे, इन ऋषियोंकी रक्षाके बदले तो हमें ऐसा अनूठा कर मिलता है कि उसके आगे रत्नोंका ढेर भी तुच्छ है। देखो—चारों वर्णोंसे राजाओंको जो कर मिलता है उसका फल तो नष्ट हो जाता है पर ये वनवासी ऋषि लोग अपने तपका जो छठा भाग हमें देते हैं वह कभी नष्ट नहीं होता ॥१३॥

[नेपथ्यमें]

अहा, हम लोगोंके सब काम बन गए।

राजा—[कान लगाकर।] अरे, यह गम्भीर और शान्त स्वर तो ऋषियोंका सा जान पड़ता है।

द्वारपाल—[प्रवेश करके] महाराजकी जय हो। दो ऋषिकुमार द्वारपर पधारे हैं।

राजा—उन्हें तुरत यहाँ ले आओ।

द्वारपाल—अभी लाया। [प्रस्थान और ऋषिकुमारोंको साथ लेकर फिर प्रवेश।] इधरसे आइए भगवन, इधर से।

[दोनों राजाको देखते हैं।]

पहला—अहा! ये इतने तेजस्वी हैं कि इन्हें देखकर हमारे मनको

वड़ा भरोसा मिल रहा है। क्यों न हो— ! ये राजा भी तो ऋषियों के समान ही रहते हैं। जैसे ऋषि लोग आश्रममें रहते हैं वैसे ही ये भी अपना नगर छोडकर सबको सुख देनेवाले इस आश्रममें आ टिके हैं। अपनी प्रजाकी रक्षा करके ये भी नित्य तपस्या ही करते हैं। और चारण-चारणियाँ जो इन जितेन्द्रिय राजर्षिके गीत गाती हैं वे गीत प्राय: स्वर्गतक सुनाई पड़ते हैं ॥१४॥

दूसरा—गौतम, क्या इन्द्रके मित्र राजा दुष्यन्त ये ही हैं ?

पहला—हाँ ये ही हैं।

दूसरा—इसीलिये हमें यह देखकर तनिक भी आश्चर्य नहीं है कि नीले समुद्रसे घिरी हुई सारी पृथ्वीपर ये नगरके फाटककी अर्गलाके समान लम्बी, अपनी भुजाओं से अकेले शासन करते हैं, और दैत्यों से वैर बाँधनेवाली, देवताओं की स्त्रियाँ इन्हीं के चढ़े हुए धनुष और इन्द्रके वज्रपर अपनी विजयकी आशा बाँधे रखती हैं ॥१५॥

दोनों—[पास जाकर] राजन्, आपकी जय हो।

राजा—[आसनसे उठकर] आप लोगों को प्रणाम करता हूँ।

दोनों—आपका कल्याण हो। [फल भेंट करते हैं।]

राजा—[प्रणाम करके फल लेकर] आज्ञा कीजिए।

दोनों—सब आश्रमवासी जान गए हैं कि आप यहाँ ठहरे हुए हैं। इसलिये उनकी प्रार्थना है।—

राजा—क्या आज्ञा है उनकी।

दोनों—उन्हों ने कहलाया है कि आदरणीय महर्षि कण्वके न रहनेसे राक्षस लोग हमारे यज्ञमें बड़ा विघ्न डाल रहे हैं। इसलिये आप अपने सारथीके साथ यहाँ कुछ रातें बिताकर इस आश्रमको सनाथ करें।

राजा—बड़ी कृपा है उनकी।

विदूषक—[अलग] यही तो आप चाहते भी थे।

राजा—[मुस्कराकर।] रैवतक। सारथीसे कहना कि रथ और धनुष-बाण लेता आवे।

द्वारपाल—जो आज्ञा महाराजकी। [प्रस्थान]

दोनों—[प्रसन्न होकर] राजन् ! आप वही कर रहे हैं जो आपके पूर्वज करते आए हैं। आश्रमकी रक्षा करना तो आपका धर्म ही है

क्योँकि यह बात सभी जानते हैँ कि शरणमेँ आए हुओँको अभयदान देनेमेँ पुरुवंशी कभी पीछे नहीँ हटते ॥१६॥

राजा—आप लोग चलिए। मैँ भी आ रहा हूँ।

दोनोँ—आपकी विजय हो। [प्रस्थान]

राजा—माधव्य! क्या शकुन्तलाको देखनेकी कुछ इच्छा है?

विदूषक—पहले तो इच्छा बाढ़पर थी, पर जबसे राक्षसोँका नाम सुना तबसे बूँद भर भी नहीँ रह गई है।

राजा—डरो मत। तुम्हेँ हम अपने साथ रक्खेँगे।

विदूषक—हाँ, तब तो राक्षसोँसे प्राण बच जायँगे।

द्वारपाल—[प्रवेश करके] महाराज! रथ तैयार है और आपकी विजय-यात्राके लिये चलनेकी प्रतीक्षा कर रहा है। और हाँ, राज-माताकी आज्ञा लेकर नगरसे करभक भी आया है।

राजा—[आदरके साथ] क्या माताजीने भेजा है?

द्वारपाल—जी हाँ।

राजा—तो उसे यहाँ ले आओ।

द्वारपाल—जो आज्ञा। [प्रस्थान। करभकको साथ लेकर फिर प्रवेश।] महाराज ये बैठे हैँ। आगे बढ़ जाओ।

करभक—महाराजकी विजय हो। माताजीने कहलाया है कि आजसे चौथे दिन मेरे व्रतका पारण होगा। उस अवसरपर चिरञ्जीव भी अवश्य उपस्थित रहेँ।

राजा—इधर तो ऋषियोँका काम, उधर बड़ोँकी आज्ञा। दोनोँ ही नहीँ टाले जा सकते। क्या करूँ?

विदूषक—त्रिशंकुके समान बीचमेँ लटक जाओ।

राजा—मैँ तो सचमुच बड़ी उलझनमेँ पड गया हूँ। क्या बताऊँ? दोनोँ कार्य दो अलग-अलग स्थानोँमेँ पड रहे हैँ। इसलिये इस समय दुविधामेँ पडे हुए मेरे मनकी वही दशा हो रही है जो पहाड़से रुकी हुई नदीकी धाराकी होती है ॥१७॥ [सोचकर] मित्र! देखो! माताजी तुम्हे भी पुत्रके ही समान मानती हैँ। इसलिये तुम जाओ और माताजीसे कह देना कि मैँ ऋषियोँकी रक्षामेँ लगा हुआ हूँ। और वहाँ जो कुछ मेरे करनेका काम हो सब तुम्हीँ कर डालना।

विदूषक—पर इससे यह न समझिए कि मैं राक्षसों से डरता हूँ।

राजा—[मुस्कराकर] भला तुम्हारे विषयमें क्या कभी ऐसा सोचा भी जा सकता है!

विदूषक—तो मैं वैसे ही ठाट-बाटसे जाऊँगा जैसे राजाका छोटा भाई जाता है।

राजा—ठीक है। जहाँतक हो तपोवनसे सब बखेड़ा दूर ही रखना चाहिए। इसलिये सेनाको भी तुम्हारे ही साथ भेज देता हूँ।

विदूषक—तब तो इस समय मैं युवराज ही बन गया हूँ!

राजा—[मन ही मन] यह ब्राह्मण बडा नटखट है। कहीं यह रनिवासमें जाकर मेरी सब बातें न कह डाले। अच्छा, इसे यों समझाता हूँ—[विदूषकका हाथ पकड़कर। प्रकट] मित्र, मैं ऋषियोंका बडा आदर करता हूँ इसीलिये उनके आश्रममें जाया करता हूँ। और उस ऋषि-कन्याके लिये तो मेरे मनमें तनिक भी प्रेम नहीं है। क्योंकि—कहाँ तो हम, और कहाँ प्रेमकी बातों से एकदम अनजान, मृगछौनोंके साथ पली हुई वह कन्या! मित्र, हमने हँसीमें जो इतनी बातें तुमसे कही हैं उन्हें तुम सत्य न समझ बैठना॥ १८॥

विदूषक—अच्छा।

[सब चले जाते हैं।]

॥ दूसरा अङ्क समाप्त ॥



तीसरा अङ्क

[हाथमें कुशा लिए हुए कण्वके शिष्यका प्रवेश ।]

शिष्य—महाराज दुष्यन्तका प्रताप तो देखिए कि जबसे वे आश्रम-में पधारे हैं तभीसे हमारे सब काम बेरोक-टोक होते चले जा रहे हैं—बाण चढ़ानेकी तो बात ही क्या, केवल अपने धनुषकी टकारसे ही वे विघ्नोंको दूर भगा देते हैं ॥ १ ॥ तो चलूँ, ऋत्विजोंके लिये वेदीपर बिछानेकी कुशा ले जाकर पहुँचा आऊँ । [घूमकर आकाशकी ओर देखते हुए ।] अरी प्रियंवदा, ये डंठलवाले कमलके पत्ते और खस मिला हुआ लेप किसके लिये ले जा रही हो । [सुननेका नाट्य करते हुए] क्या कहा कि शकुन्तला लू लग जानेसे बड़ी बेचैन हो गई है, उसके शरीरको ठंढक पहुँचानेके लिये ही यह सब ले जा रही हूँ । तो तुरन्त जाओ क्योंकि वह भगवान् कुलपति कण्वके प्राणके समान है । मैं भी तबतक उसके लिये गौतमीके हाथ यज्ञका शान्ति-जल भेजता हूँ ।

[प्रस्थान]

[कामसे पीड़ित अवस्थामें राजा दुष्यन्तका प्रवेश ।]

राजा—[उसाँसें भरकर ।] मैं तपस्वियोंकी शक्ति भली भाँति पहचानता हूँ, इसलिये मैं उसे हरकर भी नहीं ले जा सकता, और यह भी जानता हूँ कि विवाह करना या न करना उस कुमारीके हाथमें नहीं है इसलिये वह स्वयं भी मेरे साथ नहीं जा सकती । फिर भी न जाने क्या बात है कि मैं अपना मन उसपरसे हटा ही नहीं पा रहा हूँ ॥ २ ॥ [काम-पीड़ाका नाट्य करते हुए ।]—हे फूलोंके धनुष-बाण धारण करनेवाले कामदेव ! तुमने और चन्द्रमाने उन सब कामियोंको बड़ा धोखा दिया है जो तुमपर विश्वास किए बैठे थे । क्योंकि—तुम्हारा फूलोंके बाण-वाला कहा जाना और चन्द्रमाका ठण्ढी किरणोंवाला कहा जाना, ये दोनों बात मुझ जैसे विरहियोंको झूठी ही जान पड़ती हैं । क्योंकि चन्द्रमा तो अपनी ठण्डी किरणोंसे आग बरसा रहा है और तुमने भी

अपने फूलके बाणोंमें वज्रकी कठोरता भर ली है ॥ ३ ॥ पर यदि तुम मदभरी और बड़ी-बड़ी आँखोंवाली उस शकुन्तलाके कारण मेरा जी बार-बार दुखा रहे हो तब तो तुम ठीक ही कर रहे हो ॥४॥ [दुखी होकर घूमता हुआ] यज्ञ हो जानेपर जब ऋषि लोग मुझे विदा कर देंगे तब मैं अपने दुखी प्राण लेकर कहाँ मन बहलाऊँगा। [ठण्ढी साँस भरकर] प्रियाका दर्शन छोड़कर अब और दूसरा क्या सहारा है। चलूँ उसीको ढूँढूँ। [सूर्यको देखकर] ऐसी भरी दुपहरीमें शकुन्तला अपनी सखियोंके साथ मालिनीके तटपर बने लतामण्डपोंमें ही जाकर प्रायः बैठा करती है। तो वहीं चलता हूँ। [घूमकर और वायुका स्पर्श होनेका अभिनय करता हुआ] वाह, यहा कैसा अच्छा पवन बह रहा है।—कमलमें बसा हुआ और मालिनीकी लहरोंकी फुहारोंसे लदा हुआ यह पवन, कामसे तपे हुए अगोंको बड़ा सुहावना लग रहा है ॥ ५ ॥ [घूमकर और देखकर] बेंतोंसे घिरे हुए इस लतामण्डपमें ही कहीं शकुन्तला बैठी होगी। क्योंकि—[नीचे देखकर] इस कुंजके द्वार पर पीली रेतीमें भारी नितबवाली सखियोंके पैरोंके नये पड़े हुए चिह्न दिखाई दे रहे हैं जो एड़ीकी ओर गहरे और आगेकी ओर उठे हुए हैं ॥६॥ अच्छा! इन वृक्षोंकी ओटसे देखता हूँ। [घूमकर और प्रसन्न होकर] वाह! मेरी आँखें ठण्ढी हो गईं! मेरी प्यारी यहाँ सुन्दर फूलोंके बिछौनेवाली पत्थरकी पटियापर लेटी हुई है और दोनों सखियाँ इसकी सेवा कर रही हैं। अच्छा! अब सुनूँ तो कि ये आपसमें क्या बातें करती हैं। [खड़ा होकर सुनता है।]

[जैसा ऊपर कहा गया है उस दशामें शकुन्तलाके साथ सखियाँ दिखाई देती हैं।]

सखियाँ—[बड़े प्यारसे पङ्खा झलती हुईं] क्यों सखी शकुन्तला! कमलके पत्तोंके झलनेसे कुछ ठण्ढक मिल रही है?

शकुन्तला—सखियो! क्या तुम मुझे पङ्खा झल रही थी?

[सखियाँ दुखी होनेका अभिनय करती हुई एक दूसरीको देखती हैं।]

राजा—शकुन्तला तो बड़ी बेचैन दिखाई पड़ रही है। [सोचकर] क्या इसे लू लग गई है? या कहीं ऐसा न हो कि जो दशा मेरे मनकी है वही इसके मनकी भी हो। [ललचाई आँखोंसे देखता हुआ] पर

सन्देह किया ही क्यों जाय। क्योंकि—इसके स्तनोंपर खसका लेप लगा हुआ है और एक हाथमें कमलकी नालका ढीला कंगन बँधा हुआ है। पर इतनी बेचैन होनेपर भी इसका शरीर कुछ कम सुन्दर नहीं लग रहा है। यद्यपि लू लगने और प्रेममें पड़नेपर बेचैनी एक-सी ही होती है किन्तु लू लग जानेपर युवतियोंमें इतनी सुन्दरता नहीं रह जाती ॥ ७ ॥

प्रियंवदा—[अलग] अनुसूया ! जबसे शकुन्तलाने उस राजर्षिको देखा है तभीसे यह उनपर लट्टू हो गई है। कौन जाने यह बेचैनी उन्हींके कारण हो।

अनसूया—सखी ! मैं भी कुछ ऐसी ही बात सोचती हूँ। अच्छा ! इसीसे पूछ देखती हूँ। [प्रकट] सखी, मैं तुमसे कुछ पूछना चाहती हूँ। देखो, तुम्हारी बेचैनी बहुत बढ़ चली है।

शकुन्तला—[बिछौनेपर आधी उठकर] क्या पूछना चाहती हो सखी ?

अनुसूया—शकुन्तला ! हम लोग प्रेमकी बातें तो कुछ जानती नहीं हैं फिर भी कथा-कहानियोंमें हमने प्रेमियोंकी जो बातें सुनी हैं, ठीक वैसी ही दशा तुम्हारी भी दिखाई पड़ रही है। तो बताओ तुम किसके लिये इतनी बेचैन हो। क्योंकि जबतक रोगका पता न चले तबतक उसका उपाय कैसे किया जा सकता है ?

राजा—मैं जो बात समझ रहा था वही अनसूया भी सोच रही है। तो मैंने जो कुछ सोचा था वह केवल मेरे मनकी ही बात नहीं थी।

शकुन्तला—[मन ही मन] सचमुच मेरा प्रेम बहुत आगे बढ़ गया है और मुझसे एकाएक कुछ कहते नहीं बन रहा है।

प्रियंवदा—सखी शकुन्तला ! अनसूया ठीक कह रही है। तुम क्यों अपना रोग बढ़ाती जा रही हो। दिन पर दिन तुम इतनी सूखती चली जा रही हो कि तुम्हारे शरीरपर बस यह सुन्दरताकी झलक भर बची रह गई है।

राजा—प्रियंवदा सच कहती है। क्योंकि—इसके गाल मुरझा गए हैं, मुँह सूख गया है, स्तनोंकी कठोरता जाती रही है, कमर और भी पतली हो गई है, कन्धे झुक गए हैं और देह पीली पड़ गई है। वायुके परससे मुरझाई हुई पत्तियोंवाली माधवी लताके समान यह सुन्दर भी लगती है और इसपर दया भी आती है ॥ ८ ॥

शकुन्तला—तुमसे न कहूँगी तो किससे कहूँगी सखी! अब तुम दोनोंको मेरे लिये कुछ कष्ट करना पडेगा।

दोनों—इसीलिये तो हम तुमसे इतना आग्रह कर रही हैं। देखो, अपने स्नेहियोंसे दु:ख बाँट लेनेपर वह कम हो जाता है।

राजा—दुख-सुखमें साथ देनेवाली अपनी इन सखियोंके पूछनेपर तो यह बाला अवश्य ही अपने मनकी बात बता देगी। यद्यपि शकुन्तलाने उस समय बड़े प्यारसे बार-बार मेरी ओर ललचाई आँखोंसे देखा था, फिर भी मेरे जीमें बड़ी धुकधुकी हो रही है कि देखें यह अपनी बेचैनीका क्या कारण बताती है॥ ९॥

शकुन्तला—सखी, आश्रमकी रक्षा करनेवाले वे राजर्षि जबसे मेरी आँखोंमें समाए हैं तभीसे उन्हींके प्रेममें मेरी यह दशा हो गई है।

राजा—[हर्षसे] यही तो मैं सुनना चाहता था। जो कामदेव मुझे पीड़ा दे रहा था उसीने मुझे इस प्रकार जिला लिया जैसे गर्मीका दिन पहले तो जीवोंको व्याकुल कर देता है पर गर्मी बीत जानेपर वही सबका जी हरा कर देता है॥ १०॥

शकुन्तला—तो यदि तुम दोनों ठीक समझो तो कोई ऐसा उपाय करो कि उन राजर्षिकी मुझपर कृपा हो जाय। नहीं तो समझ लो कि मुझे तिलाञ्जलि दे दी गई।

राजा—[मन ही मन] बस, यह बात सुनकर सब सन्देह जाता रहा।

प्रियंवदा—[अनसूयासे अलग] सखी, इसकी प्रेम-व्यथा इतनी बढ़ गई है कि कोई उपाय शीघ्र ही करना चाहिए। सचमुच इस बातकी तो सराहना करनी ही पडेगी कि शकुन्तलाने प्रेम किया तो पुरुवंशके भूषण दुष्यन्तसे ही।

अनसूया—हाँ, यह तो सत्य है।

प्रियंवदा—[प्रकट] सखी, तू बड़ी भाग्यवान है कि ऐसे योग्य व्यक्तिसे तूने प्रेम किया। बता तो, भला सागरको छोड़कर महानदी और कहाँ जायगी? आमके वृक्षको छोड़कर नये पत्तोंवाली माधवी भला और किसके सहारे चढ़ेगी?

राजा—यदि विशाखाके दोनों नक्षत्र चन्द्रकलाके पीछे पीछे चलें तो आश्चर्य ही क्या?

अनसूया—तो कोई ऐसा उपाय बताओ कि इसकी इच्छा भी तुरन्त पूरी हो जाय और कोई जान भी न पावे।

प्रियंवदा—तुरत वाला उपाय तो हो सकता है, पर बात छिपी रहे, इसीके लिये थोडा सोचना पडेगा।

अनसूया—क्यों?

प्रियंवदा—सच्ची बात तो यह है कि राजर्षि भी शकुन्तलासे प्रेम करते हैं। तभी तो दिन-रात जागते रहनेके कारण इधर वे कुछ दुबलेसे दिखाई पडने लगे हैं।

राजा—सचमुच मेरी ऐसी ही दशा हो गई है। मैं इतना दुबला हो गया हू कि सिरके तले लगी हुई भुजापर बँधा हुआ, रात-रात भर मेरी आँखोंकी कोरोंसे छन-छनकर गिरे हुए गर्म आँसुओंसे मैले रत्नोंवाला, यह सोनेका भुजबन्ध इतना ढीला पड़ गया है कि बार-बार ऊपर सरकाते रहनेपर भी यह गट्टेपर खिसक आता है और धनुषकी डोरीकी फटकारसे पडे हुए घट्ठोंपर भी नहीं ठहर पाता ॥११॥

प्रियंवदा—[सोचकर] सखी! इससे एक प्रेम-पत्र लिखवाया जाय और उसे फूलोंमें छिपाकर देवताका प्रसाद कहकर उन्हें दे आया जाय।

अनसूया—यह उपाय तो मुझे भी बड़ा सुन्दर जँचा। पर शकुन्तला से भी तो पूछ लो।

शकुन्तला—तुम्हारी बातमें भला मैं क्या मीन-मेख निकाल सकती हू।

प्रियंवदा—तब अपनी दशाका वर्णन करते हुए एक सुन्दर-सी कविता तो बनाओ।

शकुन्तला—कविता तो मैं बना लूँगी। पर मेरा हृदय यह सोचकर काँप उठता है कि कहीं वे मेरा निरादर न कर दें।

शकुन्तला—[मुस्कराकर ।] अच्छा, जो कहती हो वही करती हूँ। [यह कहकर बैठी हुई सोचती है ।]

राजा—[मन ही मन] प्यारीको आँखभर देखनेका यह अच्छा अवसर मिला है, क्योंकि—इस गीत बनानेवालीका, लताके समान चढ़ी हुई एक भौंहवाला और हर्षसे पुलकित गालोंवाला मुख यह बता रहा है कि यह मुझे कितना प्यार करती है ॥ १३ ॥

शकुन्तला—सखी ! गीत तो मैं ने सोच लिया है पर लिखनेकी सामग्री तो यहाँ कुछ भी नहीं है ।

प्रियंवदा—सुग्गेकी छातीके समान कोमल इस कमलिनीके पत्तेपर अपने नखोंसे ही लिख डालो ।

शकुन्तला—[ऐसा ही करती हुई] सखी ! अब सुनो, यह ठीक भी बन पाया है या नहीं ।

दोनों—हाँ, हम सुन रही हैं।

शकुन्तला—[बाँचती है ।]—

हे निर्दय ! मैं नहीं जानती, तेरे मनकी माया ॥
पर तेरे ही प्रेम-पाशमें पड़कर यह फल पाया ।
कामदेव दिन-रात तपाता मेरी कोमल काया ॥१४॥

राजा—[शीघ्रतासे आगे बढ़कर ।] हे सुन्दरी ! तुम्हें तो कामदेव सताता भर है पर मुझे तो वह निरन्तर जलाए ही डाल रहा है। क्योंकि दिन निकलनेपर कुमुदिनी उतनी नहीं कुम्हलाती जितना चन्द्रमा कुम्हला जाता है ॥ १५ ॥

सखियाँ—[हर्षसे] स्वागत है आपका ! हम लोग अभी आपके दर्शनकी बात सोच रही थीं कि आप स्वयं ही आ गए ।

[शकुन्तला उठना चाहती है ।]

राजा—विरहके अत्यन्त तापसे तुमने फूलके बिछौनेपर जो इधर-उधर करवटें ली थीं उसके कारण फूलोंकी पखड़ियाँ तुम्हारे शरीरमें पसीनेसे चिपट गई हैं। तुमने कमलकी नालके जो आभूषण पहन रक्खे हैं वे भी मुरझा गए हैं। इससे जान पड़ता है कि तुम्हारा शरीर अभी बहुत विकल है और तुम इस योग्य नहीं हो पाई हो कि उठकर आदर-सत्कार कर सको ॥ १६ ॥

४

अनसूया—[राजासे] मित्र ! आप भी इसी पत्थरकी पाटीके एक कोनेको सुशोभित कीजिए।

[राजा बैठ जाते हैं । शकुन्तला सकुचा जाती है ।]

प्रियंवदा—यद्यपि यह बात तो प्रत्यक्ष है कि आप दोनों एक दूसरेसे प्रेम करते हैं, फिर भी अपनी सखीके प्रेमके नाते मैं आपसे कुछ कहना चाहती हूँ।

राजा—भद्रे ! अपने मनकी बात कह डालिए। क्योंकि मनमें आई हुई बात यदि मनमें ही रह जाती है तो पीछे बड़ा पछतावा होता है।

प्रियंवदा—राजा होकर आपका यह धर्म है कि अपने राज्यमें रहनेवाले लोगोंका कष्ट दूर करें।

राजा—क्या बस इतनी सी ही बात है ?

प्रियंवदा—हाँ। भगवान् कामदेवने आपके ही कारण हमारी सखीकी यह दशा कर दी है। अब आप ही कृपा करें तो उसके प्राण बचें।

राजा—भद्रे ! यह तो आपकी बड़ी कृपा है क्योंकि यहाँ मेरी भी यही दशा है।

शकुन्तला—[प्रियंवदाको देखकर] सखी ! ये राजर्षि तो रनिवासकी रानियोंके विरहमें व्याकुल हो रहे होंगे, इन्हें इस फेरमें क्यों डाल रही हो।

राजा—सुन्दरी ! मेरा हृदय तुम्हें छोड़कर और किसीको प्यार नहीं करता। फिर भी हे मदभरी चितवनवाली हृदयेश्वरी ! यदि तुम इसका विश्वास नहीं करती तो मैं यही समझूँगा कि कामदेवके बाणोंसे एक बार घायल हुएको तुम दुबारा घायल कर रही हो ॥ १७ ॥

अनसूया—वयस्य ! सुनते हैं कि राजाओंकी बहुतसी रानियाँ होती हैं। तो हमारी प्यारी सखीके लिये कुछ ऐसा प्रबन्ध कीजिएगा कि हम सगे-साथियोंको फिर पछताना न पड़े।

राजा—भद्रे ! मैं और तो क्या कहूँ। इतना ही कह देता हूँ कि—रनिवासकी इतनी रानियोंके होते हुए भी मेरे कुलमें दो ही बड़ी समझी जायँगी—एक तो सागरसे घिरी हुई पृथ्वी, और दूसरी तुम्हारी सखी शकुन्तला ॥१८॥

दोनों—तब हमें सन्तोष है।

प्रियंवदा—[बाहर देखकर] अनसूया ! देख, वह मृगछौना इधर

देखता हुआ अपनी माँको ढूँढ रहा है। चल, इसे इसके माँके पास पहुँचा आवें। [चलनेको उद्यत]

शकुन्तला—अरी सखियो ! मुझे किसके सहारे छोड़े जा रही हो ? दोनोंमें से एक तो ठहरो।

दोनोँ—सारी पृथ्वीको सहारा देनेवाला तो तेरे पास ही बैठा है।

[प्रस्थान।]

शकुन्तला—अरे क्या चली गईं ?

राजा—घबराती क्यों हो ? तुम्हारी सेवा करनेवाला यह सेवक तो यहाँ बैठा ही है। सुन्दर जाँघवाली ! इस समय जो तुम्हें सुहाता हो, मैं वही करनेको तत्पर हूँ। कहो तो इन थकावट दूर करनेवाले ठढे कमलिनीके पत्तोंसे पंखा झलूँ या कहो तुम्हारे लाल कमलों जैसे दोनों चरणोंको अपनी गोदमें रखकर धीरे धीरे दबाऊँ ॥१६॥

शकुन्तला—पूज्य लोगोंसे सेवा कराकर मैं अपने सिर पाप नहीं लूँगी। [उठकर जाना चाहती है।]

राजा—सुन्दरी ! अभी दिन भी नहीं ढला है और इधर तुम्हारे शरीरकी भी यह दशा है। इस दुपहरीमें फूलोंका बिस्तर छोड़कर और कमलके पत्तोंसे स्तन ढककर, विरहमें तपे हुए अपने दुर्बल अंगोंको लेकर तुम कहाँ जाओगी ? ॥ २० ॥

[शकुन्तलाका हाथ पकड़कर उसे रोक लेता है।]

शकुन्तला—पौरव ! कुछ तो शीलका ध्यान रक्खो। प्रेमसे व्याकुल होनेपर भी मैं अपने मनसे कुछ नहीं कर सकती।

राजा—अरी डरपोक ! गुरुजनोंसे डरनेकी तो कोई बात ही नहीं है। पूज्य कुलपति धर्मको भली भाँति जानते हैं। यदि वे सब बातें जान भी लेंगे तब भी इसे बुरा नहीं कहेंगे। देखो—बहुतसे राजर्षियोंकी कन्याओंने गान्धर्व विवाह किया है और यह भी सुना जाता है कि उनके पिताओंने उनका समर्थन ही किया ॥ २१ ॥

शकुन्तला—अच्छा, अभी तो मुझे छोड़ दीजिए। मैं कम से कम सखियों से तो पूछ लूँ।

राजा—अच्छा, छोड़ दूँगा।

शकुन्तला—कब !

राजा—जैसे नये कोमल फूलका रस भौंरा बड़े चावसे पीता है वैसे ही जब मुझ प्यासेको तुम्हारे कोमल अधरोंका रस पीनेको मिल जायगा तब छोड़ दूँगा ॥ २२ ॥

[ऐसा कहकर उसका मुँह ऊपर उठाना चाहता है । शकुन्तला रोकनेका अभिनय करती है ।]

[नेपथ्यमें]

अरी चकवी ! अपने प्यारेसे विदा ले । रात आ पहुँची है ।

शकुन्तला—[सिटपिटाकर] पौरव ! जान पडता है मेरे शरीरकी दशा जाननेके लिये, आर्या गौतमी यहीं आ रही हैं । इसलिये आप जाकर इस वृक्षकी ओटमें छिप जाइए ।

राजा—अच्छा । [छिप जाता है ।]

[हाथमें एक पात्र लिए हुए दोनों सखियोंके साथ गौतमीका प्रवेश ।]

सखियाँ—इधर आइए आर्या गौतमी, इधर ।

गौतमी—[शकुन्तलाके पास जाकर ।] वत्से ! तुम्हारे शरीरका ताप कुछ कम हुआ ?

शकुन्तला—हाँ, अब तो कुछ ठीक है ।

गौतमी—लो, इस कुशाके जलसे तुम अच्छी हो जाओगी । [शकुन्तलाके सिरपर जल छिड़कती है ।] वत्से ! दिन ढल गया है । आओ चलो, कुटीमें चलें । [जाती है ।]

शकुन्तला—[मन ही मन] हृदय ! जब तुम्हारा प्यारा अपने आप आ पहुँचा था तब तो तुम डरपोक बने रहे । अब पछताते हुए बिछुड़ जानेपर क्यों इतना रो-कलप रहे हो । [कुछ पग चलती है, फिर खड़ी होकर, प्रकट] हे सन्ताप हरनेवाले लतापुंज ! विहारके लिये मैं तुम्हें फिर निमन्त्रण दे जाती हूँ । [दुःखके साथ शकुन्तलाका प्रस्थान ।]

राजा—[पहलेके स्थानपर पहुँचकर आह भरकर] आह ! मनकी साधें पूरी होनेमें कितनी बाधाएं आ कूदती हैं । क्योंकि—सुन्दर पलकोंवाला शकुन्तलाके उस मुखको उठाकर मैं चूम भी नहीं पाया जिसके ओठको वह बार-बार अपनी उँगलियोंसे ढकती रहती थी, जो बार-बार नहीं-नहीं करते हुए बड़ा सुन्दर लग रहा था और जिसे वह बार-बार अपने कन्धेकी ओर मोड़ती जाती थी ॥ २३ ॥ अब कहाँ जाऊं ? अच्छा इसी

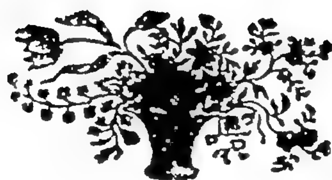
लता-कुजमें थोडी देर ठहर जाता हूँ जहाँ प्यारी इतनी देर रहकर चली गई है। [चारों ओर देखकर] इस पटियापर उसके शरीरसे मसला हुआ यह फूलोंका बिछावन पड़ा है। कमलिनीके पत्तेपर नखों से लिखा हुआ और मुरझाया हुआ यह प्रेम-पत्र भी रक्खा हुआ है। उसके हाथों से सूखकर गिरे हुए ये कमलनालके आभूषण भी बिखरे हुए हैं। इसलिये अपने नेत्रोंको उलझानेवाली इतनी वस्तुओं के होते हुए वेतों से घिरे हुए इस सूने लता-मण्डपको इतनी शीघ्र छोडकर मैं कहीं भी नहीं जा पा रहा हूँ ॥ २४ ॥

[आकाशमें]

राजन् ! सायकालके यज्ञकर्मके आरम्भ होते ही जलती हुई अग्नि-वाली वेदियों के चारों ओर साँझके बादलों के समान काले-काले और लाल-लाल डरावने राक्षस इधर-उधर घूमने लगे हैं ॥ २५ ॥

राजा—मैं आता हूँ। [प्रस्थान।]

॥ तीसरा अङ्क समाप्त ॥



चौथा अङ्क

[फूल चुननेका अभिनय करती हुई दोनों सखियोंका प्रवेश]

अनसूया—प्रियंवदा ! इस बातसे तो जीको बड़ा संतोष हुआ कि शकुन्तलाका गान्धर्व विवाह हो गया और उसे योग्य पति भी मिल गया, पर इस बातकी बड़ी चिन्ता है।—

प्रियंवदा—किस बातकी ?

अनसूया—यही कि आज यज्ञ हो चुकनेपर जब ये राजा ऋषियोंसे विदा लेकर अपने नगरके रनिवासमें पहुँच जायँगे तब यहाँकी सुध उन्हें रह भी पावेगी या नहीं !

प्रियंवदा—इसकी चिन्ता न कर। क्योंकि ऐसी चाल-ढालके लोग कपटी नहीं हुआ करते। पर ये सब बातें सुनकर न जाने पिताजी क्या करेंगे ?

अनसूया—मैं जहाँतक समझती हूँ, वे इसका समर्थन ही करेंगे।

प्रियंवदा—क्यों।

अनसूया—क्योंकि उनका तो संकल्प ही था कि कोई योग्य वर मिल जायगा तो इसका विवाह कर देंगे और जब वह काम दैवने ही पूरा कर दिया है तब तो बिना परिश्रमके ही उनका काम बन गया।

प्रियंवदा—[फूलोंकी पिटारी देखकर] सखी, बलि-कर्मके लिये इतने फूल तो बहुत होंगे न !

अनसूया—क्यों? अभी शकुन्तलाके सौभाग्य-देवताकी भी तो पूजा करनी है।

प्रियंवदा—हाँ हाँ, ठीक कहती हो। [फूल चुनने लग जाती है]

[नेपथ्यमें]

अरे ! मैं आया हुआ हूँ।

अनसूया—[कान लगाकर] यह तो किसी अतिथिकी बोली जान पड़ती है।

प्रियंवदा—शकुन्तला तो कुटीमें है ही। [मन ही मन] पर आज वह कुछ अनमनी-सी हो रही है।

अनसूया—चलो, इतने फूलों से काम हो जायगा। [प्रस्थान]

[नेपथ्यमें]

अरी ओ, अतिथिका अपमान करनेवाली! जिसके ध्यानमें इतनी मग्न होकर तू मुझ जैसे तपस्वीके आनेकी भी सुध नहीं ले रही है वह बहुत स्मरण दिलानेपर भी तुझे उसी प्रकार भूल जायगा जैसे पागल मनुष्य अपनी पिछली बातें भूल जाता है ॥ १ ॥

प्रियंवदा—हाय हाय! यह तो बड़ा बुरा हुआ। जान पड़ता है कि अपने बेसुधपनमें शकुन्तलाने किसी पूजनीय महात्माका अपमान कर दिया है। [सामने देखकर] और वह भी किसी ऐसे-वैसेका नहीं! ये तो तनिकसी बातपर बिगड़ खड़े होनेवाले महर्षि दुर्वासा ही हैं जो शाप देकर क्रोधसे काँपते हुए पैरों से वेगसे लौटे चले जा रहे हैं। भला आगको छोड़कर जलानेका काम और कौन करेगा?

अनसूया—जा, उनके पैरों पड़कर उन्हें लौटा ला। तबतक मैं अर्घ्यका जल ले आती हूँ।

प्रियंवदा—अच्छी बात है। [प्रस्थान]

अनसूया—[दो एक पग चलकर ठोकर खा जाती है।] हाय हाय! झपटकर चलनेसे ऐसी ठोकर लग गई कि हाथसे फूलकी पिटारी ही छूट पड़ी। [फूल चुननेका अभिनय करती है।]

प्रियंवदा—[प्रवेश करके] सखी, वे तो बड़े टेढ़े व्यक्ति हैं। वे क्या किसीकी सुनते हैं? फिर भी मैंने उन्हें किसी प्रकार थोड़ा बहुत मना लिया है।

अनसूया—[मुस्कराकर] इतना भी क्या कम है। कहो क्या किया?

प्रियंवदा—जब वे किसी प्रकार भी लौटनेको तैयार न हुए तब मैंने प्रार्थना की कि भगवन्! एक तो शकुन्तलाका यह पहला ही अपराध है, फिर वह आपके तेजका प्रभाव भी नहीं पहचानती है, इसलिये कमसे कम इस बार तो उसे क्षमा कर ही दीजिए।

अनसूया—तब?

प्रियंवदा—तब वे इतना ही कहकर अन्तर्धान हो गए कि मेरा

वचन तो झूठा हो नहीं सकता। हाँ, इतना हो सकता है कि यदि यह कन्या अपने प्रेमीको कोई पहचानका आभूषण दिखला दे तो मेरा शाप छूट जायगा।

अनसूया—चलो, कुछ तो जी हलका हुआ क्योंकि उस राजर्षिने चलते समय अपने नामवाली अँगूठी स्मृतिके लिये शकुन्तलाकी उँगलीमें अपने आप पहना दी थी। बस, वह अँगूठी ही शकुन्तलाके शापका सहज उपाय है।

प्रियंवदा—सखी! चलो तबतक देव-पूजनका काम पूरा कर डालें।

[घूमती हैं।]

प्रियंवदा—[देखकर] देखो तो, बाएँ हाथपर गाल रक्खे हुए प्यारी सखी कैसी चित्र-लिखी-सी दिखाई दे रही है। पतिकी चिन्तामें जब यह अपनी ही सुध-बुध खो बैठी है, तब फिर अतिथिकी कौन कहे।

अनसूया—प्रियंवदा! देखो यह बात हमारे तुम्हारे तक ही रहे। क्योंकि शकुन्तला बड़े कोमल स्वभावकी है। उसकी रक्षा तो करनी ही होगी।

प्रियंवदा—हाँ हाँ, यह तो है ही। नवमल्लिकाकी लहलहाती लताको खौलते हुए पानीसे भला कौन सींचेगा। [प्रस्थान।]

॥ विष्कम्भक ॥

[सोकर उठे हुए एक शिष्यका प्रवेश।]

शिष्य—बाहरसे अभी लौटे हुए पूज्य कण्वने मुझे यह देखनेको कहा है कि अभी रात कितनी रह गई है। इसलिये चलूँ बाहर चलकर देखूँ। [इधर-उधर घूमकर और आकाशकी ओर देखकर।] अरे यह तो दिन निकल आया। क्योंकि—एक ओर ओषधियोंके पति चन्द्रमा अस्ताचलको चले जा रहे हैं और दूसरी ओर अपने सारथी अरुणको आगे किए हुए सूर्य निकल रहे हैं। इन दो तेजस्वियोंके एक साथ उदय और अस्तको देखकर संसारको यही शिक्षा मिलती है कि दुःखके पीछे सुख और सुखके पीछे दुःख लगा ही रहता है ॥ २ ॥ और भी देखो—चन्द्रमाके अस्त हो जानेपर अब कुमुदिनी आँखोंको नहीं भाती। उसकी शोभा केवल कल्पनामें ही रह गई है। सचमुच जिन स्त्रियोंके

पति परदेश चले जाते हैं वे वियोगका दुःख कैसे सह पाती होंगी ॥२॥

[परदेको झटकेसे उठाकर अनसूया आती है ।]

अनसूया—[आप ही आप] यद्यपि मैं प्रेमकी बातें कुछ भी नहीं जानती फिर भी इतना तो अवश्य कह सकती हूँ कि उस राजाने शकुन्तलाके साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया है ।

शिष्य—चलूँ गुरुजीसे चलकर बता दूँ कि हवनका समय हो गया है । [प्रस्थान]

अनसूया— जाग तो गई हूँ, पर क्या बताऊँ, यहाँ अपने नित्यके कामके लिये भी हाथ-पैर नहीं उठ रहे हैं। अब कामदेवका जी तो भर गया होगा कि मेरी सच्ची सखी उस झूठेका इतना विश्वास कर बैठी। या कौन जाने यह दुर्वासाके शापका ही फल हो, नहीं तो वैसी मीठी-मीठी बातें करनेवाला वह राजर्षि इतने दिन बीत जानेपर भी क्या एक पत्रतक न लिख भेजता । अब उसे सुध दिलानेके लिये उसके पास अँगूठी भेजनी ही पड़ेगी। पर कठोर जीवन बितानेवाले इन तपस्वियोंमेंसे किससे अँगूठी पहुँचानेको कहा जाय। बाहरसे लौटे हुए पिता कण्वसे मैं सखीके अपराधकी बात तो कह सकती हूँ पर उनसे यह नहीं कह पाऊँगी कि शकुन्तलाका राजा दुष्यन्तसे विवाह हो गया है और उसे गर्भ भी है । अब क्या करूँ?

प्रियंवदा—[हर्षसे आकर ।] सखी ! चलो झपट कर। शकुन्तलाकी विदाईका प्रबन्ध करना होगा ।

अनसूया—सखी ! यह सब कैसे हो गया ।

प्रियंवदा—सुन ! मैं अभी शकुन्तलाके पास पूछने गई थी कि तू रातको सुखसे सोई है या नहीं ।

अनसूया—तब-तब ?

प्रियंवदा—तबतक पिता कण्व आ पहुँचे और लाजमें गड़ी हुई शकुन्तलाको गलेसे लगाकर यह आनन्दकी बात बोले—वत्से ! आज आँखों में धुआँ भर जानेपर भी सौभाग्यसे यजमानकी आहुति ठीक अग्निके बीचमें ही पड़ी । इसलिये जैसे योग्य शिष्यको विद्या देनेसे मनमें दुःख नहीं होता वैसे ही तुझे भी योग्य पतिके हाथमें देते

६

हुए मुझे भी दुःख नहीं है। मैं आज ही तुझे ऋषियोंके साथ तेरे पतिके पास भेज दूँगा।

अनसूया—और पिता कण्वको इसका पता कैसे चला।

प्रियंवदा—जैसे ही पिता कण्व यज्ञशालामें पहुँचे वैसे ही छन्दमें बँधी यह आकाशवाणी सुनाई दी—

अनसूया—[आश्चर्यसे ।] क्या।

प्रियंवदा—[संस्कृतमें बोलती है।]

जैसे शमी वृक्षके भीतर होता है पावकका वास।
वैसे ब्रह्मन् ! इस कन्यामें जग-हित पौरव-तेज-निवास ॥४॥

अनसूया—[प्रियंवदासे गले लगकर।] सखी ! मैं तो फूली नहीं समाती। पर इस हर्षमें दुःखकी बात इतनी ही है कि शकुन्तला आज ही चली जायगी।

प्रियंवदा—हमलोग तो अपने मनको ज्यों-त्यों समझा लेंगी, पर वह बेचारी तो किसी प्रकार सुखी रहे।

अनसूया—वह जो आमकी डालीपर नारियल लटक रहा है उसमें मैंने बहुत दिनोंतक सुगन्धित रहनेवाली बकुलकी माला आजके ही लिये रख छोड़ी है। उसे उतार तो ले आ। तबतक मैं गोरोचन, तीर्थकी मट्टी, कोमल दूबके अँकुवे आदि मंगल-सामग्रियाँ जुटाए लाती हूँ।

प्रियंवदा—अच्छा, यही करो। [अनसूया जाती है। प्रियंवदा माला उतारनेका नाट्य करती है।]

[नेपथ्यमें]

गौतमी ! शार्ङ्गरव आदिसे कहो कि शकुन्तलाको पहुँचा आनेके लिये तैयार हो जायँ।

प्रियंवदा—[कान लगाकर] अनसूया ! चलो चलो, हस्तिनापुर जानेवाले ऋषियोंकी बुलाहट हो रही है।

[हाथमें सामग्री लिए हुए अनसूयाका प्रवेश।]

अनसूया—आओ सखी, चलें। [दोनों घूमती हैं।]

प्रियंवदा—[देखकर] यह लो। शकुन्तला तो दिन निकले ही नहा-धोकर बैठी है और ये सब तपस्विनियाँ हाथमें निवारके दाने लेकर उसे आशीर्वाद दे रही हैं ! चलो हम भी वहीं चलें। [आगे बढ़ती हैं।]

[जैसा ऊपर कहा गया है उस रूपमें शकुन्तला दिखाई देती है।]

पहली तपस्विनी—[शकुन्तलासे] वत्से ! तुम पतिसे आदर पानेवाली पटरानी बनो।

दूसरी तपस्विनी—वत्से ! तुम्हारे वीर पुत्र उत्पन्न हो।

तीसरी तपस्विनी—वत्से ! तू पतिकी प्यारी हो।

[यह आशीर्वाद देकर गौतमीको छोड़कर और सब चली जाती हैं।]

दोनों सखियाँ—[शकुन्तलाके पास जाकर] सखी ! तुम्हारा नहाना-धोना फले-फूले।

शकुन्तला—आओ सखियो ! स्वागत करती हूँ। आओ यहाँ बैठो।

दोनों—[मंगल-पात्र लिए हुए बैठती हैं।] अच्छा सखी ! तैयार हो जाओ। अब हम तुम्हारा मंगल-शृंगार करेंगी।

शकुन्तला—यह तो बड़े सौभाग्यकी बात है, क्योंकि सखियोंके हाथका सिंगार अब मुझे भला कहाँ मिल पावेगा। [सिसकने लगती है।]

दोनों—सखी ! ऐसे शुभ अवसरपर रोया नहीं जाता।

[आँसू पोंछकर उसे सजानेका नाट्य करती हैं।]

प्रियंवदा—सखी ! तुम्हारे रूपके लिये तो और अच्छे-अच्छे आभूषण होने चाहिएँ थे। आश्रमसे जुटाई हुई इन सिंगारकी सामग्रियोंसे तो तुम अच्छी नहीं लगती हो।

[हाथोंमें उपहार लिए हुए दो ऋषि-कुमारोंका प्रवेश।]

दोनों ऋषिकुमार—यह लीजिए आभूषण, देवीको इनसे सजाइए।

[देखकर सब चकित होती हैं।]

गौतमी—क्यों वत्स नारद ! यह सब तुम कहाँसे पा गए ?

पहला—पिता कण्वके प्रभावसे।

गौतमी—क्या उनके तपके बलसे ?

दूसरा—नहीं जी ! सुनिए। पूज्य कण्वने हमें आज्ञा दी थी कि शकुन्तलाके लिये लता-वृक्षोंसे फूल-पत्ते ले आओ। इसपर—किसी वृक्षने शुभ्र मांगलिक वस्त्र दे दिया, किसीने पैरमें लगानेकी महावर दे दी और वन-देवियोंने तो कोंपलोंसे होड़ करके वृक्षोंमेंसे कलाईतक अपने हाथ निकालकर दानसे आभूषण दे डाले हैं॥ ५॥

प्रियंवदा—[शकुन्तलाको देखकर] सखी! ये लक्षण बता रहे हैं कि पतिके घरमें तुम राज-लक्ष्मी बनकर सुख भोगोगी।

[शकुन्तला लजानेका नाट्य करती है।]

पहला—चलो, गौतम! स्नान करके गुरुजी आ गए होंगे। इन पेड़-पौधोंने जो वस्तुएँ दी हैं इसका समाचार उन्हें भी सुना आवें।

दूसरा—चलो। [दोनोंका प्रस्थान।]

दोनों सखियाँ—सखी! हमने तो कभी आभूषण पहने नहीं हैं, पर चित्रों में जैसा देखा और सीखा है उसी ढंगसे तुम्हारे शरीरपर भी आभूषण पहना देती हैं।

शकुन्तला—मैं तुम दोनोंकी चतुरता भली भाँति जानती हूँ।

[दोनों आभूषण पहनानेका नाट्य करती हैं।]

[स्नान करके लौटे हुए कण्वका प्रवेश।]

कण्व—आज शकुन्तला चली जायगी, यह सोचते ही जी बैठा जा रहा है। आँसुओंको रोकनेसे गला इतना रुँध गया है कि मुँहसे शब्द नहीं निकल रहे हैं और इसी चिन्तामें मेरी आँखें भी धुँधली पड गई हैं। जब मुझ जैसे वनवासीको इतनी व्यथा हो रही है तब उन बेचारे गृहस्थोंको कितना कष्ट होता होगा जो पहले-पहल अपनी कन्याको विदा करते होंगे॥ ६॥ [घूमते हैं।]

सखियाँ—शकुन्तला! तुम्हारा सिंगार तो पूरा हो गया। लो, अब यह रेशमी वस्त्रोंका जोड़ा भी पहन लो।

[शकुन्तला उठकर पहनती है।]

गौतमी—वत्से! पिता कण्व इधर ही आ रहे हैं। आनन्दके आँसुओं-से छलकती हुई उनकी आँखोंको देखकर जान पड़ता है मानो वे अपनी आँखों से ही तुझे गले लगा रहे हों। उन्हें प्रणाम तो करो।

शकुन्तला—[लजाती हुई] प्रणाम करती हूँ पिताजी।

कण्व—वत्से! जैसे ययाति अपनी पत्नी शर्मिष्ठाका आदर करते थे वैसे ही तेरे पति भी तेरा आदर करें और शर्मिष्ठाके पुत्र पुरुके समान ही तुझे चक्रवर्ती पुत्र भी प्राप्त हो॥ ७॥

गौतमी—भगवन्! यह तो आपने वरदान दिया है, आशीर्वाद नहीं।

कण्व—वत्से! चलो, अग्निमें अभी आहुति पड़ी है, चलकर उसकी प्रदक्षिणा कर लो।

[सब प्रदक्षिणा करते हैं।]

कण्व—[ऋग्वेदके छन्दमें आशीर्वाद देते हैं।]

घिरी कुशासे यथास्थान वेदीपर समिधासे जलती।
हव्य-गन्धकी गन्धभरी करदें पवित्र ये अग्नि तुझे ॥८॥

अब चलो। [इधर-उधर देखकर] अरे! वे सब शार्ङ्गरव आदि कहाँ हैं?

शिष्य—[प्रवेश करके] भगवन्! ये हैं हम लोग।

कण्व—जाओ! अपनी बहनको पहुँचा आओ।

शार्ङ्गरव—इधरसे आओ देवी, इधरसे।

[सब घूमते हैं।]

कण्व—वन-देवताओंसे भरे हुए तपोवनके वृक्षो!—जो पहले तुम्हें पिलाए बिना स्वयं जल नहीं पीती थी, जो आभूषण पहननेका प्रेम होने पर भी, तुम्हारे स्नेहके कारण तुम्हारे कोमल पत्तोंको हाथ नहीं लगाती थी, जो तुम्हारी नई कलियोंको देख-देखकर फूली नहीं समाती थी, वही शकुन्तला आज अपने पतिके घर जा रही है। तुम सब इसे प्रेम से विदा तो दो ॥९॥ [कोयल कूकती है। उसकी ओर संकेत करके] शकुन्तलाके वनके साथी वृक्षों ने कोयलके शब्दों में उसे जानेकी आज्ञा दे दी है ॥१०॥ [आकाशमें] कल्याणमय हो इस शकुन्तलाकी यात्रा। इसके मार्गमें बीच-बीचमें नीली कमलिनियोंसे भरे हुए ताल हों, नियमसे थोड़ी-थोड़ी दूरीपर लगे हुए, धूपसे बचानेवाली घनी छाँह-वाले वृक्ष हों, धूलमें कमलके परागकी कोमलता हो और मार्ग भर सुख देनेवाला पवन बहता चले ॥११॥

[सब आश्चर्यसे सुनते हैं।]

गौतमी—वत्से! जो वन-देवियाँ तुझे सगे-सम्बन्धियोंके समान प्यारी हैं वे तुझे आशीर्वाद दे रही हैं। इन्हें प्रणाम तो कर ले।

शकुन्तला—[प्रणाम करती हुई घूमकर, अलग प्रियंवदासे] सखी प्रियंवदा! यद्यपि इस समय मुझे आर्यपुत्रके दर्शनकी बड़ी उतावली हो रही है, फिर भी आश्रमको छोड़ते हुए मेरे पैर आगे नहीं बढ़ रहे हैं।

प्रियंवदा—केवल तुम्हीं तपोवनके विरहसे दुखी नहीं हो। ज्यों-ज्यों तुम्हारी विदाईकी घड़ी पास आती जा रही है त्यों-त्यों तपोवन भी उदास दिखाई पड़ता जा रहा है। देखो—हरिणियाँ चबाई हुई कुशाके कौर उगल रही हैं, मोरोंने नाचना छोड़ दिया है और लताओंसे पीले-पीले पत्ते इस प्रकार झड़ रहे हैं मानो उनके आँसू गिर रहे हों ॥१२॥

शकुन्तला—[स्मरण करके ।] तात ! मैं अपनी बहन वन-ज्योत्स्ना लतासे भी मिल लेना चाहती हूँ।

कण्व—मैं जानता हूं कि तू उसे सगी बहन जैसा प्यार करती है। यह है वह, दाहिनी ओर।

शकुन्तला—[लताके पास जाकर और उससे लपटकर।] प्यारी वन-ज्योत्स्ना ! तू आमके वृक्षसे लिपटी होनेपर भी अपनी इधर फैली हुई शाखाकी बाहोंसे मुझसे भेंट तो ले, क्योंकि आज से तो मैं तुझसे बहुत दूर जा पड़ूँगी।

कण्व—मैंने तेरे लिये जैसे पतिका संकल्प किया था, तूने अपने पुण्य-प्रभावसे वैसा पति पा लिया है और इस वन-ज्योत्स्नाको भी आमका ठीक सहारा मिल गया है। अब मैं तुम दोनोंकी चिन्तासे छूट गया हूँ ॥१३॥ इधरसे चली आओ।

शकुन्तला—[सखियोंसे] सखियो ! इस वन-ज्योत्स्नाको मैं तुम दोनोंके हाथ सौंपे जाती हूं।

दोनों—और हम लोगोंको किसके हाथ सौंपे जा रही हो ?

[रोने लगती हैं।]

कण्व—रोओ मत अनसूया ! उल्टा तुम्हें तो चाहिए कि शकुन्तलाको और धीरज बंधाओ।

[सब घूमते हैं।]

शकुन्तला—तात ! आश्रममें चारोओर गर्भके भारसे अलसानी हुई चलनेवाली इस हरिणीको जब सुखसे बच्चा हो जाय तब किसीके हाथ यह प्यारा समाचार मेरे पास भिजवा दीजिएगा।

कण्व—यह नहीं भूलेंगे।

शकुन्तला—[चलनेमें रुकावटका अनुभव करती हुई-सी।] अरे यह कौन मेरा अंचल पकड़कर खींच रहा है ?

[पीछे घूमकर देखती है।]

कण्व—वत्से ! कुशाके काँटेसे छिदे हुए जिसके मुँहको अच्छा करनेके लिये तू उसपर हिंगोटका तेल लगाया करती थी वही तेरे हाथके दिए हुए मुट्ठी भर साँवेके दानोंसे पला हुआ तेरा पुत्रके समान प्यारा हरिण मार्ग रोके खड़ा है ।। १४ ।।

शकुन्तला—वत्स ! मुझ साथ छोड़कर जानेवालीके पीछे-पीछे तू कहाँ जा रहा है ? तेरी माँ जब तुझे जन्म देकर मर गई थी उस समय मैं ने तुझे पाल-पोसकर बड़ा किया था। अब मेरे पीछे पिताजी तेरी देख-भाल करेंगे। जा, लौट जा। [रोती हुई आगे बढ़ती है।]

कण्व—वत्से ! धीरज धरकर अपने आँसू पोंछ डाल। इन आँसुओं के कारण तेरी उठी हुई बरौनियोंवाली आँखें ठीकसे देख नहीं पा रही हैं। इसलिये यहाँकी ऊबड़-खाबड़ धरतीपर तेरे पैर उल्टे-सीधे पड़ते जा रहे हैं ।।१५।।

शार्ङ्गरव—भगवन् ! सुना है कि प्रियजनोंको विदा देते समय जलाशयतक पहुँचाकर लौट जाना चाहिए। अब सरोवरका तट आ गया है इसलिये जो कुछ सन्देश कहलाना हो वह यहीं बताकर आप लोग आश्रमको लौट जाइए।

कण्व—तो चलो, इस पीपलकी छायामें थोड़ा बैठ लिया जाय।

[सब घूमकर बैठ जाते हैं।]

कण्व—[अपने ही आप] माननीय राजा दुष्यन्तके पास कौन-सा सन्देश भेजना ठीक होगा। [सोचते हैं।]

शकुन्तला—[सखीसे, अलग।] सखी ! देख तो। कमलिनीके पत्तेकी ओटमें छिपे हुए अपने चकवेको न देख सकनेसे यह चकवी कैसी घबराकर चिल्ला रही है। इसलिये मैं जिस कामसे जा रही हूँ वह पूरा होता नहीं दिखाई देता।

अनसूया—सखी ! ऐसा नहीं सोचना चाहिए। जानती हो यह चकवी विरहकी लंबी रातें पतिके बिना अकेली काट देती है, क्योंकि विरहके समय भी इसे यह आशा बनी रहती है कि प्रातःकाल तो मिलन हो ही जायगा ।।१६।।

कण्व—शार्ङ्गरव ! शकुन्तलाको दुष्यन्तके हाथमें सौंपते हुए मेरी ओरसे कहना—

शार्ङ्गरव—हाँ, आज्ञा कीजिए।

कण्व—कहना कि—राजन्! कहाँ तो हमलोग सीधे-साधे संयमी तपस्वी और कहाँ आप ऊँचे घरानेके राजा। फिर भी आपने अपने-आप इस कन्यासे विवाह कर लिया है। इन सब बातोंका ध्यान करके आप कमसे कम दूसरी रानियोंके समान तो शकुन्तलाका आदर अवश्य कीजिएगा। इससे बढ़कर इसे जो सौभाग्य मिले वह इसके भाग्यकी बात है। उसके लिये हम कन्याके बान्धव लोग भला क्या कह सकते हैं ॥१७॥

शार्ङ्गरव—सन्देश तो मैं समझ गया।

कण्व—वत्से! आओ! तुम्हें कुछ सीख देनी है। देखो, वनमें रहते हुए सांसारिभीक व्यवहार हम लोग भली भाँति जानते हैं।

शार्ङ्गरव—ऐसी कौन-सी बात है जिसे विद्वान् लोग न जानते हों।

कण्व—देखो! यहाँ से पतिके घर पहुँचकर घरके सब बड़े-बूढ़ोंकी सेवा करना। अपनी सौतोंसे सखियों जैसा प्रेम रखना। पति निरादर भी करें तो क्रोध करके उनसे झगड़ा मत कर बैठना। अपने दास-दासियोंको बड़े प्यारसे रखना और अपने सौभाग्यपर बहुत ऐंठना मत। जो स्त्रियाँ घरमें इस प्रकार चलती हैं वे ही सच्ची गृहिणी होती हैं और जो इसका उलटा करती हैं वे खोटी स्त्रियाँ तो अपने कुलकी नागिन होती हैं ॥१८॥ क्यों गौतमी! ठीक है न!

गौतमी—कुल-वधुओंके लिये इससे बढ़कर और क्या उपदेश होगा। वत्से! ये सब बातें गाँठ बाँध लो।

कण्व—वत्से! आओ, मुझसे और अपनी सखियोंसे गले तो मिल लो।

शकुन्तला—तात! क्या प्रियंवदा आदि सखियाँ यहीं से लौट जायँगी?

कण्व—वत्से! इनका भी तो विवाह करना है। इसलिये इनका वहाँ जाना ठीक नहीं है। तेरे साथ गौतमी तो जा ही रही हैं।

शकुन्तला—[पिताके गले लगकर।] पिताजीकी गोदसे अलग होकर

मलय पर्वतसे उखाडे हुए चन्दनके पौधेके समान मैं परदेशमें पहुँचकर कैसे जी पाऊँगी ?

कण्व—वत्से ! इतनी क्यों अधीर हो रही हो। जब तुम ऊँचे कुल वाले पतिकी पटरानी होकर उनके घरके कामोंमें दिन-रात फँसी रहोगी और, जैसे पूर्व दिशा सूर्यको उत्पन्न करती है वैसे ही पवित्र पुत्र उत्पन्न करोगी, उस समय तुम मुझसे बिछुड़नेका सब दुःख भूल जाओगी ॥१६॥

[शकुन्तला पिताके पैरों पड़ती है।]

कण्व—तुम्हारे लिये मैं जो-जो चाहता हूँ वह तुम्हें मिले।

शकुन्तला—[सखियोंके पास जाकर] सखियो ! आओ तुम दोनों एक साथ मेरे गले लग जाओ।

सखियाँ—[गले लगकर] सखी, देखो ! यदि वे राजा तुम्हें पहचाननेमें भूल करें तो यह उनके नामवाली अँगूठी तुम उन्हें दिखला देना।

शकुन्तला—तुम्हारी इस सन्देह-भरी बातने तो मेरे जीमें खटका डाल दिया है।

सखियाँ—नहीं नहीं, डरो मत। प्रेममें तो खटका हुआ ही करता है।

शार्ङ्गरव—देवी ! दिन बहुत चढ़ आया है। अब शीघ्रता करनी चाहिए।

शकुन्तला—[आश्रमकी ओर मुँह करके] तात ! अब आश्रमके फिर कब दर्शन हो सकेंगे ?

कण्व—सुनो। बहुत दिनोंतक इस पृथ्वीकी सौत बनकर और अपने अद्वितीय वीर पुत्रको राज्य और कुटुम्बका भार सौंपकर जब तुम अपने पतिके साथ आओगी तब इस शान्त आश्रममें सुखसे रहना ॥२०॥

गौतमी—वत्से। विदाकी घडी बीतती जा रही है। जाने दो पिताजी को। [कण्वसे] आप अब लौट जायँ नहीं तो यह बहुत देरतक यों ही कुछ-न-कुछ कहती ही रहेगी।

कण्व—वत्से। अब जाओ। हमारे तपके कामों में देर हो रही है।

शकुन्तला—[पितासे फिर भेंट करके] आप तो यों ही तपके कारण बहुत दुबले हो गए हैं, इसलिये आप मेरी बहुत अधिक चिन्ता न कीजिएगा।

कण्व—[लम्बी सांस लेकर] वत्से ! तुमने वलिके लिये जो तिन्नीके धान छींटे थे उनके अंकुर जबतक कुटीके द्वारपर दिखाई देते रहेंगे तबतक मेरा शोक कैसे कम होगा ॥२१॥ जाओ ! तुम्हारा मार्ग मंगलमय हो।

[साथियोंके साथ शकुन्तला जाती है।]

दोनों सखियाँ—[शकुन्तलाको देखकर] हाय, हाय। शकुन्तला तो वृक्षोंकी ओटमें ओझल हो गई।

कण्व—[लम्बी सांस लेकर।] अनसूया ! तुम्हारी सखी तो चली गई। अब यह रोना-धोना छोड़ो और मेरे साथ लौट चलो।

दोनों—तात! शकुन्तलाके विना सूने आश्रममें हम कैसे चलेंगी।

कण्व—प्रेम में ऐसा ही होता है। [कुछ विचारते हुए घूमकर] ओह ! शकुन्तलाको पतिके घर भेजकर अब मेरे मनको छुट्टी मिली। क्योंकि—कन्या सचमुच पराया धन ही होती है। आज उसे पतिके घर भेजकर मेरा मन वैसे ही निश्चिन्त हो गया है जैसे किसीकी धरोहर लौटा दी हो ॥ २२ ॥

[सब जाते हैं।]

॥ चौथा अङ्क समाप्त ॥



पाँचवाँ अङ्क

[राजा आसनपर बैठे हैं और पास ही विदूषक भी बैठा हुआ है ।]

विदूषक—[कान लगाकर] सुनो वयस्य ! संगीत-शालाकी ओर कान लगाकर तो सुनो। कोई बड़े लय-तालसे अत्यन्त मीठे स्वरोंमें गीत गा रहा है। जान पड़ता है महारानी हंसपदिका स्वर साध रही हैं।

राजा—अच्छा चुप हो जाओ तो सुनूँ ।

[नेपथ्यमें गीत]

नये नये मधुके लोभी ओ मधुकर !
एक बार ही इस रसालकी
मधुर मंजरी चूम गए तुम।
क्यों निवास कर कमल-कोशमें
मुझे भूलकर घूम गए तुम ॥
नये नये मधुके लोभी ओ मधुकर ॥ १ ॥

राजा—वाह, गीतमें कैसी प्रेमकी धारा बह रही है ?

विदूषक—पर इस गीतमें जो चोट की गई है, वह भी समझ पाए हो ?

राजा—[मुस्कुराते हुए] हाँ, हाँ मैं समझ गया। मैं ने इस रानीसे केवल एक ही बार प्रेम किया है, इसलिये आजकल जो देवी वसुमतीसे मैं प्रेम करने लगा हूँ उसीपर ये छींटे कसे गए हैं। मित्र माधव्य ! मेरी ओरसे हंसपदिकासे जाकर कहना कि तुमने बड़ी मीठी चुटकी ली है।

विदूषक—जैसी आपकी आज्ञा। [खड़ा होकर] पर वयस्य ! जैसे अप्सराओंके हाथोंमें पड़कर बड़े-बड़े विरागी ऋषि नहीं छूट पाते हैं वैसे ही जब अपनी दासियोंसे मेरी चोटी पकड़वाकर वे मुझे पीटने लगेंगी उस समय उनसे छुटकारा पाना मेरे लिये भी कठिन हो जायगा।

राजा—जाओ, चतुराईके साथ उन्हें यह सन्देश देना।

विदूषक—आप कह रहे हैं तो जाना ही पड़ेगा। [चला जाता है।]

राजा—[मन ही मन] मेरे सभी सगे-प्यारे मेरे पास ही हैं फिर

भी इस गीतको सुनकर मैं न जाने क्यों इतना अनमना सा हो उठा हूँ। या—सुन्दर वस्तुएँ देखकर और मीठे शब्द सुनकर जब सुखी लोग भी उदास हो जायँ तब यही समझना चाहिए कि उनके मनमें पिछले जन्मके प्रेमियोंके जो संस्कार बैठे हुए हैं वे ही अपने आप जाग उठे हैं ॥ २ ॥ [यह सोचकर व्याकुल हो उठता है ।]

[तबतक कञ्चुकी प्रवेश करता है ।]

कञ्चुकी—आह, मेरी भी क्या दशा हो चली है।—जिस बेंतकी छड़ीको कभी मैं रनिवासके द्वारपालका नियम समझकर हाथमें लिए रहा करता था वही अब इस बुढापेमें मुझ लड़खड़ाते पैरवालेका सहारा बन गई है ॥ ३ ॥ यह तो ठीक है कि महाराजको धर्म-कार्य करना चाहिए। फिर भी अभी-अभी न्यायासनसे उठकर गए हैं। अब उन्हें फिरसे कष्ट देनेके लिये जो ये कण्वके शिष्य आ धमके हैं, इनकी सूचना पहुँचानेको मेरा तो जी नहीं करता। पर प्रजाके शासनके काममें विश्राम कहाँ। क्योंकि—सूर्य एक ही बार अपने घोडे जोत-कर अबतक चला जा रहा है, पवन भी रात-दिन बहता ही रहता है और शेषनाग भी इस पृथ्वीके भारको अपने ऊपर सदा धारण ही किए रहते हैं। ठीक यही दशा उपजका छठा अंश लेनेवाले राजाकी भी है ॥ ४ ॥ इसलिये चलूँ मैं भी अपना कर्तव्य पालन करूँ। [इधर-उधर देखकर] ये महाराज अपनी सन्तान-जैसी प्रजाका काम करके, थक जानेपर यहाँ एकान्तमें उसी प्रकार विश्राम कर रहे हैं जैसे दिनकी धूपसे तपा हुआ गजराज हाथियोंके झुण्डको चरनेके लिये छोड़कर स्वयं ठंढे स्थानमें विश्राम लेता है ॥ ५ ॥ [पास जाकर] महाराजकी जय हो। हिमालयकी तराईमें रहनेवाले कुछ तपस्वी लोग कण्वका सन्देश लेकर स्त्रियोंके साथ आए हुए हैं। अब जैसा देव ठीक समझें वैसा करें।

राजा—[आदरसे] क्या महर्षि कण्वका सन्देश लेकर आए हैं?

कञ्चुकी—जी हाँ!

राजा—तो कुल-पुरोहित सोमरातजीको कहला दो कि वे इन आश्रम-वासियोंका वैदिक रीतिसे सत्कार करके इन्हें अपने ही साथ लिवा लावें। मैं भी तबतक उधर चलकर बैठता हूँ जहाँ ऋषियोंसे भेंट की जाती है।

कञ्चुकी—जैसी महाराजकी आज्ञा।

राजा—[उठकर] वेत्रवती! चलो हमें यज्ञशाला तक पहुँचा दो।

प्रतीहारी—इधरसे आइए महाराज, इधरसे।

राजा—[घूमता है। राजकाजका दुःख बताते हुए] अपने मनकी साध पूरी हो जानेपर और सब जीवोंको तो सुख मिलता है पर हम लोगोंकी राजा बननेकी इच्छा जब पूरी हो जाती है तब कष्ट ही कष्ट हाथ लगता है। राजा बनकर बड़ी प्रतिष्ठा पा लेनेसे मनकी उमंग तो पूरी हो जाती है पर जब राज्यका पालन करना पड़ता है तब छठीका दूध स्मरण हो आता है। इसलिये राज्य उस छतरीके समान है जिसकी मूठ अपने हाथमें ले लेनेसे थकावट ही अधिक होती है, विश्राम कम मिलता है॥६॥

[नेपथ्यमें]

दो वैतालिक—महाराजकी जय हो।

पहला—अपने सुखकी इच्छा छोडकर आप प्रजाकी भलाईमें लगे रहते हैं। या यों कहना चाहिए कि इस प्रकार आप अपना धर्म ही पाल रहे हैं, क्योंकि वृक्ष, अपने सिरपर तो कड़ी धूप सहता है, पर अपने तले बैठे हुए जीवोंको छाया ही देता रहता है॥७॥

दूसरा—दुष्टोंको आप अपने राजदण्डसे ठीक रखते हैं और सबके आपसी झगडे मिटाकर आप प्रजाकी रक्षा करते हैं। प्रजामें जो धनी लोग हैं उनके तो बहुतसे सगे-सम्बन्धी हो सकते हैं पर साधारण प्रजाके तो माँ-बाप-भाई सब कुछ आप ही हैं॥८॥

राजा—मेरा उदास मन इनकी बातें सुनकर फिर हरा हो गया।

[चारों ओर घूमते हैं।]

प्रतीहारी—यह रही झाड़-बुहारकर सुन्दर की हुई यज्ञशालाकी बैठक जहाँ पास ही हवनके लिये घी-दूध देनेवाली गौ भी बँधी है। इसीमें चढ़ जायँ महाराज।

राजा—[चढ़कर परिचारकोंके कन्धोंके सहारे खड़ा होता है।] वेत्रवती। भगवान कण्वने ऋषियोंको भला मेरे पास किस लिये भेजा होगा? कहीं उपद्रवी राक्षसोंने बहुत प्रकारकी तपस्या करनेवाले इन ऋषियोंके तपमें तो बाधा नहीं डाल दी है! या कहीं कोई तपोवनके प्राणियोंको तो नहीं सता बैठा है! या कहीं मेरे पापोंके कारण तपोवनकी

लताओं और वृक्षोंका फलना-फूलना तो नहीं रुक गया है। मेरे मनमें अनेक प्रकारकी ऐसी बुरी-बुरी आशंकाएँ उठ रही हैं कि कुछ ठीक-ठीक समझ न पानेसे मेरे जी में बड़ी खलबली मच गई है ॥९॥

प्रतीहारी—देव ! मैं तो समझती हूँ कि ये ऋषि लोग महाराजके अच्छे कामोंसे प्रसन्न होकर बधाई देने आए होंगे।

[शकुन्तलाको आगे किए हुए गौतमीके साथ ऋषियोंका प्रवेश। आगे-आगे कञ्चुकी और पुरोहित।]

कञ्चुकी—इधरसे आइए आप लोग, इधरसे।

शार्ङ्गरव—शारद्वत !—यह मैं मानता हूँ कि ये राजा इतना धर्मात्मा हैं कि कभी मर्यादाका उल्लघन नहीं करते और इनके राज्यमें जो नीच-से-नीच वर्णके लोग हैं, वे भी कभी कोई अधर्मका काम नहीं करते, पर इतने लोगोंसे भरे हुए इस आँगनको देखकर ऐसा जान पड़ता है मानो यहाँ आगकी लपटें उठी हुई हों। मेरा अकेलेमें रमनेवाला मन तो ऐसा करता है कि यहाँसे भाग खड़ा होऊँ ॥१०॥

शारद्वत—नगरमें आनेपर ऐसा ही लगता होगा। मैं भी सासारिक भोगोंमें पडे हुए यहाँके लोगोंको वैसा ही हीन समझता हूँ जैसे नहाया हुआ तेल लगाए हुएको, पवित्र अपवित्रको, जागता हुआ सोते हुएको तथा स्वतत्र व्यक्ति बँधे हुएको समझता है ॥ ११ ॥

शकुन्तला—[बुरा शकुन बताकर] हैं ! यह मेरी दाहिनी आँख क्यों फड़कने लगी ?

गौतमी—तेरे असगुन दूर हों, पुत्री ! तेरे पति-कुलके देवता सब भला ही करें। [घूमती है।]

पुरोहित—[राजाको दिखलाकर] तपस्वियो ! देखिए, वर्णाश्रमका पालन करनेवाले महाराज पहलेसे ही आसन छोड़कर खड़े हुए आप लोगोंके आनेकी बाट देख रहे हैं। इन्हें देखिए तो।

शार्ङ्गरव—हे राजपुरोहित ! माना कि ये प्रशसाके योग्य हैं पर हम इसे कोई नई बात नहीं समझते। क्योंकि—फल लगनेपर पेड़ झुकते ही हैं, नये जलसे भरे हुए बादल नीचे झुक ही जाते हैं और सज्जन लोग धन पाकर नम्र होते ही हैं। यह तो परोपकारियोंका स्वभाव ही होता है, इसमें नई बात क्या है ॥१२॥

प्रतीहारी--महाराज ! ऋषि लोग प्रसन्न दिखाई पड़ रहे हैं। इसलिये मैं समझती हूँ कि ये लोग किसी अच्छे कामसे ही आए होंगे।

राजा—[शकुन्तलाको देखकर] ये कौन देवी हैं।—इन तपस्वियोंके बीचमें पीले पत्तोंमें नई कोंपलके समान दिखाई देनेवाली यह कौन हो सकती है जिसकी सुन्दरता, घूँघटके कारण ठीक-ठीक खुल नहीं पा रही है ॥ १३ ॥

प्रतीहारी—महाराज ! मैं भी यही जाननेको उतावली हो रही हूँ पर ठीक-ठीक समझ नहीं पा रही हूँ। पर, जान पड़ता है कि यह है बड़ी सुन्दर।

राजा—हुआ करे। पराई स्त्रीपर आँख नहीं डालनी चाहिए।

शकुन्तला—[हृदयपर हाथ रखकर मन ही मन] इस प्रकार काँप क्यों रहे हो, मेरे हृदय ! आर्य पुत्रके प्रेमका ध्यान करके धीरज तो धरो।

पुरोहित—[आगे बढ़कर] महाराज ! इन तपस्वियोंका ठीक विधिसे आदर-सत्कार हो चुका है। ये अपने गुरुजीका कोई सन्देश लाए हैं, उसे देव सुन लें।

राजा—हाँ, हाँ, कहें आप लोग, मैं सुन रहा हूँ।

ऋषि लोग—[हाथ उठाकर] महाराजकी जय हो।

राजा—मैं आप लोगोंको प्रणाम करता हूँ।

ऋषि लोग—आपका मनोरथ पूरा हो।

राजा—कहिए, ऋषियोंको तपस्यामें कोई विघ्न तो नहीं डाल रहा है ?

ऋषि लोग—जहाँ आप जैसे राजा पृथ्वीकी रक्षा कर रहे हों वहाँ सज्जनोंके धर्म-कार्योंमें भला विघ्न कौन डाल सकता है ? सूर्यके चमकते रहनेपर भला कहीं अँधेरा भी रह पा सकता है ॥ १४ ॥

राजा—आज मेरा राजा कहलाना सच्चा हुआ। अच्छा, यह तो बताइए कि संसारका कल्याण करनेवाले भगवान् कण्व तो कुशलसे हैं न।

ऋषि लोग—कुशलता तो ऐसे सिद्ध पुरुषोंके हाथमें रहती है। उन्होंने आपका कुशल पूछते हुए यह कहलाया है—

राजा—हाँ, भगवान् कण्वने क्या आज्ञा दी है ?

शार्ङ्गरव—उन्होंने कहलाया है कि आपने जो मेरी कन्यासे गुपचुप विवाह कर लिया है उसे मैं प्रसन्न होकर स्वीकार करता हूँ। क्योंकि—

आदरणीय व्यक्तियोंमें आप सबसे प्रधान हैं और शकुन्तला पुण्य-क्रियाकी साक्षात् मूर्त्ति है। आज बहुत दिनोंपर ब्रह्माने एक जैसे गुण-वाले वर-वधूकी जोड़ी रचकर अपनेको दोषी कहलानेसे बचा लिया है॥ १५॥ अब आप इस गर्भवतीको अपनी धर्मपत्नी बनाकर ग्रहण कर लीजिए।

गौतमी—आर्य! मैं भी कुछ कहना चाहती हूँ। यद्यपि मुझे आप लोगोंके बीचमें कुछ भी बोलना नहीं चाहिए क्योंकि—न तो इसीने अपने बड़ोंसे कुछ कहा-सुना, न आपने ही इसके सगे सम्ब-न्धियोंसे कोई पूछ-ताछ की। इसलिये जब आप लोगोंने आपसमें ही सब कुछ कर डाला है तब मैं आप दोनोंको भला कहूँ क्या॥ १६॥

शकुन्तला—[मन ही मन] देखूँ, इस बातपर आर्यपुत्र क्या कहते हैं?

राजा—आप लोग यह कह क्या रहे हैं?

शकुन्तला—[मन ही मन] इन्होंने बातका आरम्भ क्या किया है कि आग उगल दी है।

शार्ङ्गरव—आप तो लोकाचारकी सभी बातें जानते हैं फिर ऐसा क्यों कह रहे हैं। जो सुहागिन स्त्री अपने पिताके घर रहती है वह चाहे जितनी भी पतिव्रता हो फिर भी उसके सम्बन्धमें लोग बड़ी उल्टी-सीधी बातें उड़ा दिया करते हैं। इसलिये वह युवती चाहे सबकी दुलारी ही क्यों न हो, पर उसके भाई-बन्धु लोग तो यही चाहते हैं कि वह अपने पतिके ही पास रहे॥ १७॥

राजा—क्या इस देवीसे कभी पहले मेरा विवाह हो चुका है?

शकुन्तला—[दुखी होकर मन ही मन] हृदय! तुम्हें जो खटका हो रहा था वह आगे आ रहा है।

शार्ङ्गरव—क्या अब आपको अपने किए हुए कामपर पछतावा हो रहा है, या आप अपने कर्तव्यसे भाग रहे हैं या जान-बूझकर अपने किए हुएको भुला देना चाहते हैं?

राजा—आपने यह कहाँकी बेसिर-पैरकी बातें छेड़ दी हैं?

शार्ङ्गरव—[क्रोधसे] जो ऐश्वर्यमें मतवाले हो जाते हैं वे ऐसे ही खोटे काम किया करते हैं॥ १८॥

राजा—आप तो मुझे अच्छा डाँट-फटकार रहे हैं!

गौतमी— वत्से! थोड़ी देरके लिये लाज-संकोच छोड़ दो। आओ मैं तुम्हारा घूँघट उठा दूँ, जिससे तुम्हारे पति तुम्हें पहचान तो लें।

[घूँघट हटा देती है।]

राजा—[शकुन्तलाको ध्यानसे देखकर मन ही मन] मैं ठीक ठीक निश्चय ही नहीं कर पा रहा हूँ कि यह जो अत्यन्त शोभावाली सुन्दरी यहाँ अपने आप आ पहुँची है, इसके साथ मैं ने पहले कभी विवाह किया भी है या नहीं। और इसीलिये, जैसे प्रातःकालकी ओस पड़े हुए कुन्दके फूलपर भौंरा न तो बैठता ही है न उसे छोड़कर ही जाता है, वैसे ही मैं भी, न तो इसे ग्रहण ही कर पा रहा हूँ न छोड़ ही पा रहा हूँ ॥१९॥

[राजा सोचता रह जाता है।]

प्रतीहारी—[मन ही मन] हमारे महाराज धर्मका कितना ध्यान रखते हैं। नहीं तो, अपने आप आए हुए ऐसे रूपको पाकर भला कौन इतना आगा-पीछा सोचेगा!

शार्ङ्गरव—क्यों महाराज! आप चुप क्यों हो गए?

राजा—तपस्वियो! बार-बार स्मरण करनेपर भी इस देवीके साथ विवाह करनेकी बात मुझे स्मरण ही नहीं आ रही है, तब बताइए कि इस गर्भवतीके स्पष्ट लक्षणोंवाली देवीको स्वीकार करके दूसरेसे गर्भ धारण करानेवाली स्त्रीका पति कहलानेका अपजस मैं क्यों लूँ?

शकुन्तला—[अलग] आर्यपुत्रको जब विवाहमें ही सन्देह हो रहा है तब मैं ने और जो बड़ी-बड़ी आशाएँ बाँध रक्खी थीं उनका तो फिर ठिकाना ही कहाँ है।

शार्ङ्गरव—हाँ, हाँ, मत करो स्वीकार। तुमको ऋषिका अपमान करना ही चाहिए, क्योंकि उन्होंने तुम्हारे साथ यह भलमनसाहत की है न कि उनकी जिस कन्याको तुमने छलसे दूषित कर दिया है उसे वे तुम्हें योग्य पात्र समझकर उसी प्रकार सौंप रहे हैं जैसे कोई अपनी चोरी गई हुई वस्तु मिलनेपर फिर चोरको ही लौटा दे ॥२०॥

शारद्वत—अच्छा शार्ङ्गरव! अब तुम चुप हो जाओ। [शकुन्तलासे] देखो शकुन्तला! हमें जो कुछ कहना था, कह चुके। इधर राजा भी ऐसी बातें कह रहे हैं। अब तुम्हीं इन्हें विश्वास दिलाओ।

शकुन्तला—[मन ही मन] जब बात यहाँतक बढ़ चुकी है तब मैं उस प्रेमकी सुध दिलाकर ही क्या करूँगी। अब तो मुझे अपने भाग्यको कोसना ही भर रह गया है [प्रकट] आर्यपुत्र ! [आधा कहकर रुक जाती है।] पर जब इन्हें विवाहमें ही सन्देह हो रहा है तब इस प्रकार सम्बोधन ही करना ठीक नहीं है। हे पौरव ! मुझ भोली-भालीको आश्रममें अपनी मीठी-मीठी बातोंके जालमें फँसाकर अब इस प्रकार मेरा निरादर करना आपको शोभा नहीं देता।

राजा—[कान मूँदकर] शिव ! शिव ! क्या कह रही हो। अपने स्वच्छ जलको गँदला करनेके लिये तीरपर खड़े वृक्षको ढाहनेवाली और तटको बहा ले जानेवाली नदीके समान आप अपना भी कुल क्यों कलंकित करना चाहती हो और मुझे भी क्यों विनाशकी ओर ले जाना चाहती हो ॥ २१ ॥

शकुन्तला—अच्छा, यदि आप सचमुच मुझे पराई स्त्री समझे बैठे हैं तो मैं आपका सन्देह दूर करनेके लिये यह पहचान दिखाती हूँ।

राजा—हाँ, दिखाइए।

शकुन्तला—[उँगली टटोलकर] हाय हाय, मेरी उँगलीसे अँगूठी कहाँ निकल गई ?

(रुआई-सी होकर गौतमीकी ओर देखती है।)

गौतमी—जान पडता है कि शक्रावतारमें शचीतीर्थके जलको प्रणाम करते समय तुम्हारी अँगूठी निकल गई होगी।

राजा—[मुस्कुराकर] इसीको कहते हैं स्त्रियोंकी तुरत-बुद्धि।

शकुन्तला—यहाँ भी मेरे दुर्भाग्यने मेरा पीछा न छोड़ा। अच्छा मैं दूसरी बात भी बताती हूँ।

राजा—अच्छा अब सुनानेपर आ गई हो ?

शकुन्तला—आपको स्मरण होगा कि एक दिन आप नवमालिकाके कुञ्जमें अपने हाथमें पानीसे भरा कमलके पत्तेका दोना लिए हुए थे।

राजा—कहती चलिए ! मैं सब सुन रहा हूँ।

शकुन्तला—इतनेमें ही वहाँ मेरा पुत्रके समान पाला हुआ दीर्घापांग नामका मृग-छौना भी आ पहुँचा। आपने उसपर दया करके कहा—पहले इसे जल पी लेने दो। यह कहकर आप उसे जल पिलाने

लगे। पर परिचित न होनेके कारण वह आपके पास गया ही नहीं। तब मैंने आपके हाथसे दोना ले लिया और वह मेरे हाथसे जल पीने लगा। उस समय आपने हँसकर कहा था कि अपने सगे-सबन्धियोंको सभी पहचानते हैं। तुम दोनों ही वनवासी हो न!

राजा—अपना काम साधनेवाली स्त्रियोंकी ऐसी झूठी और मीठी-मीठी बातोंमें कामी लोग ही फँसते हैं। समझी।

गौतमी—महाभाग! आपको ऐसी बातें नहीं कहनी चाहिएं। तपोवनमें पली हुई कन्या भला छल-बलकी बातें क्या जाने!

राजा—बूढ़ी तपस्विनीजी! जो मानवी स्त्रियाँ नहीं हैं वे भी बिना सिखाए-पढ़ाए बड़ी चतुर हो जाती हैं, फिर इन समझवाली स्त्रियोंका तो पूछना ही क्या। जानती हो! जबतक कोयलके बच्चे उड़ना नहीं सीख जाते तबतक वह दूसरे पक्षियोंसे ही उनका पालन कराती है ॥२२॥

शकुन्तला—[क्रोधसे] अनार्य! तुम सबके हृदयको अपने ही हृदयके समान खोटा समझते हो! तुम्हें छोड़कर और कौन ऐसा नीच होगा जो घास-फूससे ढके हुए कुएँके समान धर्मका ढोंग रचकर ऐसा खोटा काम कर सके।

राजा—[मन ही मन] इसके क्रोधमें सचाई दिखाई पड़ रही है, इसीलिये मेरा मन और भी सन्देहमें पड़ता जा रहा है। ठीक स्मरण न आनेसे अकेलेमें किए हुए प्रेमको जो मैंने इतनी कठोरतासे अस्वीकार कर दिया है, उसपर लाल-लाल आँखें करके अत्यन्त क्रोधसे शकुन्तला-ने जो भौंहें चढ़ा ली हैं उन्होंने इस समय कामदेवके धनुषको भी दो टूक कर डाला है।॥२३॥ [प्रकट] भद्रे! दुष्यन्तके कामोंको सारा संसार जानता है। पर ऐसी बात तो आजतक नहीं सुनी गई।

शकुन्तला—तुमने ठीक ही किया जो मुझे कुचाली स्त्री बना डाला, क्योंकि ऊँचे कुलके धोखेमें आकर मैं ऐसे नीचके हाथमें जा पड़ी जिसके मुँहमें मधु और हृदयमें विष भरा हुआ है। [आँचलसे मुँह ढककर रोने लगती है।]

शार्ङ्गरव—बिना सोचे-समझे जो काम किया जाता है उसमें ऐसा ही दुःख मिला करता है। इसलिये गुप्त प्रेम बहुत सोच-विचारकर करना चाहिए क्योंकि बिना जाने-बूझे स्वभाववालेके साथ जो मित्रता

की जाती है वह एक न एक दिन शत्रुता बनकर ही रहती है ॥२४॥

राजा—सुनिए तो! इस देवीकी बातका विश्वास करके आप उल्टी-सीधी बातें कह-कहकर हमपर क्यों दोष लगा रहे हैं?

शार्ङ्गरव—[अपने साथियोंसे क्रोधसे] आपने सुनी इनकी उल्टी बातें! जिसने जन्मसे लेकर अबतक छलका नाम भी न सुना हो, उसकी बातें झूठ समझी जायँ और जिन्होंने दूसरोंको धोखा देनेकी चालें विद्याके समान सीखी हों, वे सत्यवादी समझे जायँ ॥२५॥

राजा—अच्छा सत्यवादीजी! मान लीजिए, हम ऐसे ही हैं। पर यह तो बताइए कि इसे छलकर हमें मिल क्या जायगा?

शार्ङ्गरव—पतन।

राजा—मैं इस बातको नहीं मानता कि पुरुवंशी पतनकी ओर जाना चाहेंगे।

शारद्वत—शार्ङ्गरव! इस कहा-सुनीसे लाभ क्या है। गुरुजीका सन्देश हम इन्हें दे ही चुके। चलो, अब लौट चला जाय। [राजासे] राजन्! यह आपकी पत्नी है। इसे चाहे रखिए, चाहे निकालिए। क्योंकि पतिका अपनी स्त्रियोंपर पूरा अधिकार होता है ॥ २६ ॥ चलो गौतमी, आगे-आगे चलो। [चलते हैं।]

शकुन्तला—इस धूर्त्तने तो मुझे छला ही है, अब क्या आप लोग भी मुझे छोड़कर चले जा रहे हैं? [उनके पीछे-पीछे जाती है।]

गौतमी—[खड़ी होकर] वत्स शार्ङ्गरव! यह शकुन्तला रोती हुई हम लोगोंके पीछे-पीछे चली आ रही है। बताओ, अब ऐसे निर्दयीसे ठुकराई हुई मेरी बच्ची भला कहाँ जाय?

शार्ङ्गरव—[क्रोधसे लौटकर] क्यों री दुष्टे! क्या तू अपनी मनमानी करना चाहती है। [शकुन्तला भयसे काँप उठती है।] सुन शकुन्तला! यदि राजाकी बात सत्य है तो तुझ जैसी कुल-कलंकिनीका पिताके घर कोई काम नहीं है और यदि तू अपनेको पवित्र समझती है तो तुझे दासी बनकर भी अपने पतिके ही घरमें रहना चाहिए ॥२७॥ बस यहीं रह, हम जाते हैं।

राजा—तपस्वी! आप इसे क्यों झूठ-मूठ धोखेमें डाल रहे हैं—क्योंकि जैसे चन्द्रमा केवल कुमुदोंका ही खिलाता है और सूर्य केवल

कमलोंको ही खिलाता है वैसे ही जितेन्द्रिय लोग भी पराई स्त्रीको छूनेकी इच्छातक नहीं करते ॥ २८ ॥

शार्ङ्गरव—जब तुम अपनी दूसरी रानियोंके पास आकर अपनी पिछली बातें भूल सकते हो तब तुम्हें अधर्मसे क्या डर है।

राजा—[पुरोहितसे] अब मैं आपसे ही पूछता हूँ कि ऐसी दुबिधामें मैं क्या करूँ जब या तो मैं भूल गया हूँ या ये झूठ कह रह रही हैं। अब मैं अपनी पत्नीको छोड़नेका पाप करूँ या पराई स्त्रीको छूनेका पाप सिरपर लूँ ॥२९॥

पुरोहित—[सोचकर] जब ऐसी दुविधा है तो आप ऐसा कीजिए।

राजा—हाँ, हाँ, बतलाइए।

पुरोहित—पुत्र उत्पन्न होनेके समयतक ये मेरे घरपर रहें। आप पूछें क्यों? तो इसलिये कि आपको ऋषियोंने पहले ही आशीर्वाद दे दिया है कि आपके चक्रवर्त्ती पुत्र उत्पन्न होगा। यदि कण्वमुनि के नातीमें चक्रवर्तीके लक्षण मिल जायँ तब तो इन्हें आदरके साथ रनिवासमें रख लीजिएगा और यदि लक्षण न मिलें तो इन्हें इनके पिताके पास भेज दिया जायगा।

राजा—जैसा गुरुजी ठीक समझें।

पुरोहित—वत्से ! आओ मेरे साथ चली आओ।

शकुन्तला—भगवती वसुन्धरे ! तू फट जा और मुझे गोदमें ले ले।

[रोती हुई शकुन्तला पुरोहित और ऋषियोंके पीछे-पीछे चली जाती है।]

[शापके कारण भूला हुआ राजा शकुन्तलाके सम्बन्धमें विचारमें करता है।]

[नेपथ्यमें]

आश्चर्य है ! आश्चर्य है !

राजा—[सुनते हुए] अरे, क्या हुआ !

पुरोहित—[आश्चर्यसे] महाराज, बड़े आश्चर्यकी बात हो गई है।

राजा—क्या हुआ ?

पुरोहित—महाराज ! कण्वके शिष्योंके चले जानेपर वह ऋषिकन्या, ज्यों ही अपने भाग्यको कोसती हुई बाँहें पसारकर रोने लगी—

राजा—तब क्या हुआ।

पुरोहित—यों ही स्त्रीके जैसी एक ज्योति आई और उसे अपनी गोदमें उठाकर अप्सरातीर्थकी ओर चली गई ॥३०॥

[सब आश्चर्य प्रकट करते हैं।]

राजा—हमने तो उसे पहले ही छोड़ दिया है इसलिये उसपर सोचना-विचारना व्यर्थ है। अब आप भी जाकर विश्राम करें।

पुरोहित—[देखकर] महाराजकी जय हो। [जाता है।]

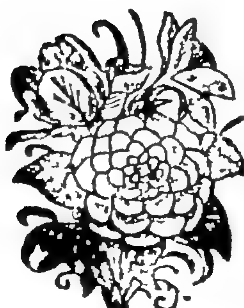
राजा—वेत्रवती! मैं कुछ अनमना सा हो गया हूँ। मुझे शयन-घर पहुँचा दो तो।

प्रतीहारी—इधरसे आइए महाराज, इधरसे। [चलती है।]

राजा—यद्यपि विवाहकी सुध न होनेसे मैंने उसका अत्यन्त तिरस्कार कर दिया है फिर भी मेरा अत्यन्त कसकता हुआ हृदय न जाने क्यों रह-रह कर उसकी बातों में विश्वास करनेको मचल रहा है ॥३१॥

[सब चले जाते हैं।]

॥ पाँचवाँ अङ्क समाप्त ॥



छठा अङ्क

[राजाका साला नगर-रक्षक और उसके पीछे-पीछे दो रखवाले एक पुरुषको बाँधे हुए प्रवेश करते हैं ।]

दोनों—[बन्दीको पीटते हुए] बोल रे चोर। यह राजाके नामवाली रतन-जडी अँगूठी तुझे कहाँसे हाथ लगी ?

पुरुष—[डरनेका नाट्य करता हुआ] दया करो महाराज। मैं ऐसा काम कभी नहीं करता।

पहला—तो क्या तुझे कोई सुपात्र ब्राह्मण समझकर राजाने यह दानमें दे डाली है।

पुरुष—सुनिए तो। मैं शक्रावतार गाँवके पास रहनेवाला एक मछुआ हूँ।

दूसरा—अरे चोर ! हमने क्या तेरी जाति पूछी थी ?

श्याल—सूचक ! इसे सब बातें ठीकसे कहने दो. बीचमें टोको मत।

दोनों—जैसी आपकी आज्ञा। हाँ, बता रे।

पुरुष—मैं जाल, कँटिया और बंसी डालकर मछली फँसाया करता हूँ और उसीसे अपने बाल-बच्चोंका पेट पालता हूँ।

श्याल—[हँसकर] बड़ा अच्छा काम ले रक्खा है।

पुरुष—ऐसा न कहिए, स्वामी।—जिस जातिको भगवानने जो बुरा-भला काम दे दिया है, वह छोड़ा थोडे ही जाता है। देखिए, पशुओंको मारना, है तो बडा बुरा काम, पर बडे-बडे दयावान और वेद जानने-वाले ब्राह्मण भी यज्ञके लिये पशुओंको मारते ही हैं॥ १ ॥

श्याल—अच्छा, अच्छा, आगे बता क्या हुआ ?

पुरुष—एक दिन ज्यों ही मैं एक रोहू मछली काट रहा था त्योंही उसमें यह रतन-जडी चमकीली अँगूठी दिखाई पड गई। उसे बेचनेके लिये लाकर मैं दिखला ही रहा था कि आपने मुझे बाँध लिया। यही तो इस अँगूठीके मिलनेकी कथा है। अब चाहे आप मुझे मारिए, चाहे छोड़िए।

श्याल—जानुक ! इसमें तो सन्देह नहीं कि यह गोह खानेवाला मछुआ ही है क्योंकि इसके शरीरसे कच्चे मांसकी दुर्गन्ध आ रही है। यह जो अँगूठी मिलनेकी बात बता रहा है उसकी चलकर ठीक-ठीक जाँच कर लेनी चाहिए। इसलिये चलो, इसे राजाके पास ले चला जाय।

दोनों—बहुत अच्छा। चल रे गँठकटे ! चल।

[सब घूमते हैं।]

श्याल—सूचक ! जबतक मैं महाराजको अँगूठी मिलनेका समाचार सुनाकर और उनकी आज्ञा लेकर लौट न आऊँ तबतक तुम दोनों नगरके फाटकपर सँभालकर इसकी चौकसी करना।

दोनों—हाँ, हाँ, जाइए जाइए, स्वामीकी कृपा पाइए।

[श्याल जाता है।]

पहला—जानुक ! बड़ी देर लगा दी उन्होंने तो।

दूसरा—अरे भाई ! राजाके पास अवसर देखकर ही तो पहुँचा जाता है।

पहला—जानुक ! इसे मारनेके लिये लाल फूलोंकी माला पहनानेको मेरे हाथ बड़े खुजला रहे हैं। [मछुएकी ओर संकेत करता है।]

पुरुष—भाई, बिना बातके मुझे क्यों मारने पर उतारू हो रहे हो ?

दूसरा—[देखकर] वह देखो ! हमारे स्वामी हाथमें राजाका आज्ञा-पत्र लिए चले आ रहे हैं। अब या तो तू गिद्धोंका भोजन बनेगा या कुत्तों से नोचा जायगा।

[श्यालका प्रवेश।]

श्याल—सूचक ! छोड़ दो इस मछुएको। अँगूठी मिलनेका ठीक पता चल गया।

सूचक—जैसी स्वामीकी आज्ञा।

दूसरा—अरे, यह तो यमराजके घर पहुँचकर लौट आया।

[उसका बन्धन खोलता है।]

पुरुष—[श्यालको प्रणाम करके] कहिए स्वामी ! मेरा काम कैसा निकला।

श्याल—ले। महाराजने इस अँगूठीके मोलके बराबर धन भी तुझे प्रसादमें दिया है।

[मछुएको धन देता है।]

पुरुष—[हाथ जोड़कर धन लेता है ।] बड़ी दया है आपकी, स्वामी !

सूचक—सचमुच दया तो इसीका नाम है कि तुम्हे शूलीसे उतारकर हाथीकी पीठपर बैठा दिया है ।

जानुक—स्वामी ! इसे प्रसाद नहीं पारितोषिक कहिए । क्योंकि जान पड़ता है कि वह अँगूठी स्वामीको बड़ी अच्छी जँची है ।

श्याल—इस अँगूठीके रत्नोंके कारण महाराजने उसका आदर नहीं किया वरन् उसे देखते ही उन्हें अपने किसी प्यारेका स्मरण हो आया । क्योंकि यद्यपि स्वामी स्वभावसे ही बड़े गम्भीर हैं फिर भी अँगूठीको देखकर वे थोड़ी देरके लिये अनमने-से हो गए थे ।

सूचक—तब तो सचमुच आपने राजाका बड़ा काम किया है ।

जानुक—यों कहो कि इस मछुएने राजाका काम किया है । [मछुए को ईर्ष्याकी दृष्टिसे देखता है ।]

मछुआ—स्वामी ! इसमेंसे आधा आप अपने पान-फूलके लिये ले लीजिए ।

जानुक—यह तो इनका पद ही है ।

श्याल—मछुए ! आजसे तुम हमारे बड़े प्यारे मित्र हो गए । चलो, हम-तुम चलें और मदिराके आगे अपनी मित्रता पक्की कर लें । चलो, मदिराघरमें चला जाय ।

[सब जाते हैं ।]

॥ प्रवेशक ॥

[आकाशमें विमानपर चढ़ी हुई सानुमती अप्सराका प्रवेश ।]

सानुमती—साधुजनोंके स्नानके समय अप्सरातीर्थकी देख-भाल करनेकी आज मेरी बारी थी । वह काम तो कर चुकी । चलूँ, अब चलकर अपनी आँखोंसे उस राजर्षिकी दशा तो देख लूँ क्योंकि मेनकाकी कन्या होनेके नाते शकुन्तला भी मेरी कन्या ही हुई । उसी मेनकाने अपनी कन्याके लिये कुछ उपाय करनेको मुझे बहुत पहलेसे ही कह रक्खा है । [चारोंओर देखकर] अरे ! वसन्तके उत्सवका दिन आ पहुँचा और यहाँ राज-भवनमें एकदम सन्नाटा । यद्यपि दिव्य दृष्टिसे मैं सब कुछ जान सकती हूँ, फिर भी अपनी सखीकी बात तो रखनी ही होगी । अच्छा,

तिरस्करिणी विद्यासे अपनेको छिपाकर इन मालिनोंके साथ-साथ चलकर यहाँका सब समाचार लेती हूँ।

[विमानसे उतरनेका नाट्य करके नीचे खड़ी हो जाती है।]

[आमकी बौर देखती हुई एक परिचारिका आती है। उसके पीछे दूसरी परिचारिका है।]

पहली—हे वसन्त ऋतुके जीवन सर्वस्व! हे वसन्तके मंगल स्वरूप! हे लाल, हरे, पीले रंगवाले बौर! आज पहले-पहल तुम्हारा दर्शन हो रहा है। तुम हमपर प्रसन्न हो जाओ जिससे हम लोगोंका वसन्त सुखसे बीते ॥ २ ॥

दूसरी—अरी परभृतिका (कोयल)! तू अकेले-अकेले क्या कूक रही है?

पहली—मधुकरिका (भौंरी)! आमका बौर देखकर परभृतिका (कोयल) तो मतवाली हो ही जाती है।

दूसरी—[उल्लाससे भरी हुई शीघ्रतासे पास जाती है] क्या वसन्त आ गया?

पहली—मधुकरिका (भौंरी)! तेरे भी तो मस्तीके गीत गानेके ये ही दिन हैं।

दूसरी—सखी! मुझे सहारा दे तो पञ्जोंके बल खडी होकर पूजाके लिये आमके बौर उतार लूँ।

पहली—पूजनका आधा फल मुझे भी मिले तो सहारा दूँ।

दूसरी—वह तो विना कहे ही मिल जाता क्योंकि हम-तुम तो दो शरीर और एक प्राण हैं। [सखीके सहारेसे आमका बौर उतारती है।] वाह! यद्यपि अभी बौर खिल नहीं पाया है फिर भी डालसे तोडते ही कैसी सुगन्ध फूटी पड़ रही है। [अञ्जली बाँधकर] अरी आमकी मञ्जरी! मैं तुझे धनुष-धारी कामदेवके लिये भेंट करती हूँ। परदेश गए हुए लोगोंकी युवती स्त्रियोंको काम-पीडा देनेके लिये तुम कामदेवके पाँचों बाणोंमें सबसे अधिक पैनी बन जाओ ॥ ३ ॥

[आमकी मञ्जरी डाल देती है।]

[परदा सरकाकर कञ्चुकीका प्रवेश]

कञ्चुकी—[क्रोधित होकर] हैं, हैं। यह क्या कर रही हो नासमझ

छोकरियो! जब राजाने इस वर्ष वसन्तोत्सव रोक दिया है तब तुम लोग आमकी मञ्जरीको क्यों छेड रही हो?

दोनों—[डरी हुई-सी] क्षमा कीजिए आर्य। हमें इसका पता नहीं था।

कञ्चुकी—क्या तुम लोगोंने यह नहीं सुना कि वसन्तमें फूलने-फलनेवाले वृक्षोंने और उनपर बसेरा लेनेवाले पक्षियोंने भी महाराज की आज्ञा मान ली है। देखो—आमके बौर बहुत पहले फूट आए थे, पर उनमें पराग अभी तक नहीं आ पाया है। कुरबकका फूल खिलना ही चाहता था, पर अभी ज्यों का-त्यों बधा पड़ा रह गया है। जाड़ा बीत जाने पर भी कोयलकी कूक उसके गलेतक आकर ही रुक गई है। कामदेव भी अपने तूणीरसे बाण निकालता है पर डरकर फिर उसीमें रख लेता है, छोड़ नहीं पाता ॥ ४ ॥

सानुमती—इसमें क्या सन्देह है! राजर्षिका बड़ा भारी प्रताप है।

पहली—आर्य! नगर-रक्षक विभावसुने हम लोगोंको अभी थोडे दिन पहले ही महाराजकी सेवामें प्रमद-वनकी रखवाली करनेके लिये भेजा है। इसलिये नई होनेके कारण हम लोगोंको इस बातका पता ही नहीं था।

कञ्चुकी—अच्छा, फिर कभी ऐसा काम न करना।

दोनों—आर्य! हम भी यह बात सुनना चाहती हैं। यदि सुनानेमें अड़चन न हो तो कृपाकर यही बतला दीजिए कि महाराजने वसन्तोत्सव क्यों रोक दिया है।

सानुमती—मनुष्योंको तो मेले-उत्सवोंका बड़ा चाव होता है, इस लिये उत्सव रोक देनेका कोई बहुत ही बडा कारण होगा।

कञ्चुकी—अच्छा, यह बात जब चारों ओर फैल गई है तब मैं भी कहे डालता हूँ। क्या शकुन्तलाके छोडे जानेकी बात तुम लोगोंके कानमें नहीं पडी है?

दोनों—हाँ, राजाको अँगूठी मिलने तककी बात तो नगर-रक्षकके मुँहसे हम सुन चुकी हैं।

कञ्चुकी—तब तो थोडा-सा ही सुनाना रह गया है। उस अँगूठीको देखते ही महाराजको स्मरण हो उठा कि मैंने शकुन्तलासे एकान्तमें

विवाह किया था और भूलसे उसका निरादर कर दिया। तभीसे उन्हें बड़ा पछतावा हो रहा है और उनके मनको न तो अब कोई सुन्दर वस्तु ही भाती है और न वे पहलेके समान मंत्रियोंके ही साथ नित्य बैठते हैं। पलँगपर करवटें बदलते हुए वे पूरी रातें जाग-जागकर बिता देते हैं। जब रनिवासकी रानियाँ उनसे हठ करके इस उदासीका कारण पूछती हैं तब भूलसे उनके मुँहसे शकुन्तलाका नाम निकल जाता है और वे बड़ी देरतक लजाए रह जाते हैं॥ ५॥

सानुमती—यही तो मैं सुनना चाहती थी।

कञ्चुकी—बस, इसी दुःखके कारण वसन्तोत्सव रोक दिया गया है।

दोनों—तब तो ठीक ही है।

[नेपथ्यमें]

आइए महाराज, आइए।

कञ्चुकी—[कान लगाकर] अरे! महाराज तो इधर ही चले आ रहे हैं। अब जाओ, तुम लोग अपना-अपना काम देखो।

दोनों—बहुत अच्छा। [दोनों जाती हैं।]

[विदूषक और प्रतीहारीके साथ पछताते हुए राजा आते हैं।]

कञ्चुकी—[राजाको देखकर] अहा! जो सुन्दर होते हैं उनकी शोभा तो सभी दशाओंमें अच्छी लगती है। देखो, उदास होते हुए भी महाराज कैसे अच्छे लग रहे हैं। क्योंकि—केवल बाएँ हाथ परके सोनेके एक भुजबन्धको छोड़कर उन्होंने शोभा बढ़ानेवाले सभी गहने उतार डाले हैं, उनकी उसाँसोंसे नीचेका ओठ भी लाल हो गया है और चिन्ताके कारण रातभर जागनेसे उनकी आँखें भी अलसा गई हैं पर इस प्रकार दुखी होनेपर भी वे उसी प्रकार दुबले नहीं लगते जैसे खरादकर काटा हुआ वह महामणि, जो छोटा हो जाने पर भी अपनी चमकके कारण छोटा नहीं लगता॥ ६॥

सानुमती—[राजाको देखकर] यद्यपि शकुन्तलाको छोड़कर इन्होंने उसका बड़ा भारी अपमान किया है तिसपर भी ये इस योग्य हैं कि इनके लिये शकुन्तलाका तड़पना ठीक ही जँचता है।

राजा—[चिन्तामें डूबता हुआ] उस समय जब वह मृगके

समान आँखोंवाली मेरी प्यारी शकुन्तला बार-बार मुझे समझा रही थी तब तो मेरी आँखें खुली नहीं, अब केवल पछतावेका दुःख सहनेके लिये मेरा यह अभागा हृदय जगा है ॥७॥

सानुमती—क्या करूँ, बेचारी शकुन्तलाके भाग्य ही ऐसे हैं ?

विदूषक—[अलग] ओह ! शकुन्तलाके रोगने इन्हें फिर आ घेरा है। न जाने यह रोग जायगा कैसे ?

कञ्चुकी—[पास आकर] महाराजकी जय हो। प्रमद-वनकी भूमि झाड़-बुहारकर ठीक कर दी गई है। अब आप चलकर जबतक चाहें तबतक उस मनबहलावकी भूमिमें विश्राम करें।

राजा—प्रतीहारी ! जाकर मेरी ओरसे अमात्य आर्य पिशुनसे कहना कि आज मैं देरसे उठा हूँ, इसलिये न्याय करनेके लिये मैं सभा-भवनमें नहीं पहुँच पाऊँगा, इसलिये प्रजाका जो कुछ भी काम हो वह आप लिखकर मेरे पास भिजवा दीजिएगा। समझी।

प्रतीहारी—जैसी महाराजकी आज्ञा [जाती है।]

राजा—जाओ वातायन ! तुम भी अपना काम देखो।

कञ्चुकी—जैसी देवकी आज्ञा। [जाता है।]

विदूषक—अच्छा किया आपने जो सब मक्खियाँ भगा दीं। अब आप चलकर उस प्रमदवनमें मन बहलाइए जहाँ न तो जाडेकी ठंढक ही है न गर्मीकी तपन ही।

राजा—वयस्य ! किसीने बहुत ठीक कहा है कि विपत्ति सदा अवसरकी ताकमें रहा करती है। देखो—अभी मेरे मनसे शकुन्तलाको भुला देनेवाला मोह उतरा ही नहीं था कि मुझे मारनेके लिये अपने धनुषपर आमके बौरका यह नया बाण चढ़ाकर कामदेव भी आ धमका ॥ ८ ॥

विदूषक—अच्छा रुकिए। मैं अभी अपने डंडेसे कामके बाणको तोड डालता हूँ न। [अपना डंडा उठाकर बौर झाड़ना चाहता है।]

राजा—[हँसते हुए] अच्छा अच्छा, रहने दो। देख लिया तुम्हारा ब्रह्मतेज। अब चलो मित्र, कोई ऐसा स्थान बताओ जहाँ बैठकर प्रियासे कुछ-कुछ मिलती-जुलती लताओंको देखकर अपनी आँखें ठण्डी की जायँ।

विदूषक—पर आपने तो अभी रनिवासकी दासी चतुरिकाको कहा

है न, कि हम माधवी-मंडपमें जाकर जी बहलाते हैं और तुम हमारे हाथका खींचा हुआ शकुन्तलाका चित्र वहाँ लेती आना।

राजा—हाँ, वह स्थान तो है मनबहलावका। तो उधर ही ले चलो।

विदूषक—तो इधरसे आइए महाराज, इधरसे।

[दोनों मुड़ते हैं, सानुमती पीछे हो लेती है।]

विदूषक—देखिए! फूलोंसे सजी हुई मणिशिलाकी सुन्दर चौकी बिछाकर यह माधवीका कुंज मानो आपका स्वागत करनेकी बाट देख रहा है। इसलिये चलिए वहीं चलकर बैठा जाय।

[दोनों प्रवेश करके बैठते हैं।]

सानुमती—अच्छा, तबतक मैं लताकी ओटसे देखती हूँ कि मेरी सखीका चित्र कैसा बना है। तभी तो मैं जाकर उससे बता सकूँगी कि तुम्हारे पति तुमपर कितने प्रकारसे प्रेम दिखा रहे हैं। [वैसा ही करती है।]

राजा—वयस्य! अब शकुन्तलाकी सभी बातें स्मरण आ रही हैं और तुमसे तो मैं सब बता ही चुका हूँ। जब मैंने शकुन्तलाको लौटाया था उस समय न तो तुम थे ही और न तुमने वे सब बातें ही स्मरण दिलाईं। जान पड़ता है मेरे ही समान तुम भी भूल गए थे।

विदूषक—भूला तो नहीं था। पर सब कुछ कह चुकनेपर आपने अंतमें जब यह कह डाला कि ये सब बातें तो मैंने हँसीमें कही थीं तब मेरी मट्टीकी खोपड़ी भी वही सच समझ बैठी। या यों कहिए कि जो होनेवाला होता है वह होकर ही रहता है।

सानुमती—यही बात है।

राजा—[सोचकर] बचाओ मुझे मित्र!

विदूषक—अरे आप यह क्या कर रहे हैं? यह आपको शोभा नहीं देता। सज्जन लोग कभी ऐसे दुखी नहीं होते। देखिए, आँधी आनेपर भी पहाड़ नहीं हिला करते।

राजा—मित्र! जिस समय मैंने प्यारीको यहाँसे लौटाया उस समय उसकी जो दशा थी उसे स्मरण करके मैं आपेमें नहीं रह पाता। क्योंकि, उस समय वह—जब यहाँसे लौटा दी गई और अपने साथियोंके पीछे चलने लगी तब गुरुके समान पूज्य गुरु-शिष्योंने उसे डाँटकर कहा कि तुम यहीं रहो। वह खड़ी हो गई। उस समय आँखोंमें आँसू भरकर

मुझ निष्ठुरकी ओर उसने जो देखा था वह मुझे ऐसी पीड़ा दे रहा है जैसे किसीने विषसे बुझे हुए शस्त्रसे मेरे शरीरमें घाव कर दिया हो ॥ ९ ॥

सानुमती—अरे ! अपने किएपर इतना पछतावा ! इनके दुःखको देखकर मेरे जीको बड़ा सन्तोष मिल रहा है।

विदूषक—महाराज ! मैं सोचता हूँ कि देवी शकुन्तलाको कोई स्वर्गीय दूत उठा ले गया होगा।

राजा—अरे, उस पतिव्रताको दूसरा छू कौन सकेगा। पर सुना है कि उसकी माँ मेनका है। मुझे डर है कि कहीं उसकी सखियाँ ही उसे न उठा ले गई हों !

सानुमती— इस समय राजाको जो इतनी बातें स्मरण हो रही हैं उन्हें सुनकर मुझे इतना अचरज नहीं होता जितना इस बातपर कि उस समय वे भूल कैसे गए थे।

विदूषक—यदि उसकी सखियाँ ही उसे उठा ले गई होंगी तब तो उसे थोड़े दिनोंमें मिला ही समझिए।

राजा—क्यों ?

विदूषक—पतिसे बिछुड़ी हुई अपनी कन्याका दुःख माता-पिता अधिक दिनों तक नहीं देख सकते।

राजा—मित्र ! मैं ठीक-ठीक समझ ही नहीं पा रहा हूँ कि शकुन्तलाका वह मिलाप सपना था, या जादू था, या भ्रम था, या किसी ऐसे पुण्यका फल था जिसका भोग पूरा हो चला था। सचमुच इन बातोंने मेरी सभी आशाओंको खडे पहाडसे गिराकर चूर-चूर कर डाला है ॥ १० ॥

विदूषक—ऐसा न कहिए। यह अँगूठी ही बतला रही है कि उससे भेंट अवश्य होगी।

राजा—[अँगूठी देखकर] हाय ! इसपर भी मुझे बड़ा तरस आता है कि इतने सुन्दर स्थानपर पहुँचकर भी यह निकलकर कैसे गिर पड़ी। अरी अँगूठी ! तेरी इस दशासे ही पता चल जाता है कि मेरे ही समान तेरे पुण्योंका भी भोग पूरा हो चला था। नहीं तो, शकुन्तलाके लाल नखोंवाली अँगुलियोंसे भला तू क्यों निकलकर गिरती ॥ ११ ॥

सानुमती—हाँ, यदि यह किसी दूसरेके हाथ लग गई होती तब तो सचमुच इसपर दया आती।

विदूषक—अच्छा, यह तो बताइए कि आपकी यह अँगूठी देवी शकुन्तलाके पास पहुँच कैसे गई ?

सानुमती—इसके मनमें भी इस बातको जाननेका वैसा ही चाव है जैसा मेरे मनमें है।

राजा—अच्छा सुनो। जब मैं वनसे अपनी राजधानीको लौट रहा था उस समय प्यारी ने आँखोंमें आँसू भरकर पूछा था—अब कितनों दिनोंमें सुध लीजिएगा।

विदूषक—तब-तब।

राजा—तब उसकी उँगलीमें यह अँगूठी पहनाते हुए मैंने कहा था—प्यारी! इस अँगूठीपर लिखे हुए मेरे नामके अक्षरोंको प्रतिदिन गिनती रहना! जब सभी अक्षर गिन चुकोगी तब रनिवासका कोई सेवक तुम्हें बुलानेके लिये यहाँ आ पहुँचेगा ॥ १२ ॥ पर मुझ-कठोर-हृदयसे ऐसा करते न बन पड़ा।

सानुमती—बात तो बड़ी अच्छी थी पर दैवने सब चौपट कर दिया।

विदूषक—अच्छा तो उस मछुएने जिस रोहू मछलीको काटा था उसके पेटमें यह अँगूठी कहाँसे पहुँच गई ?

राजा—जब शकुन्तला शचीतीर्थको हाथ जोड़कर प्रणाम कर रही थी उसी समय वह अँगूठी उँगलीसे निकलकर गंगाजीकी धारामें जा गिरी।

विदूषक—अच्छा, यह बात है।

सानुमती—जान पडता है कि इसीलिये इन राजर्षिने अधर्मके डरसे बेचारी शकुन्तलाके साथ विवाह होनेकी बातमें संदेह किया था। नहीं तो भला ऐसे प्रेममें क्या किसी पहचानकी आवश्यकता पड़ती है।

राजा—मैं अभी इस अँगूठीको डाँटता हूँ न।

विदूषक—[आप ही आप] अरे, ये तो अब पागल हो चले हैं।

राजा—अरी अँगूठी! उन सुन्दर उँगलियोंको छोडकर तू क्यों जलमें कूदने गई! पर अँगूठीमें तो जीव नहीं था इसलिये उसने गुणकी परख न की हो तो ठीक है, पर मैंने मनुष्य होकर उसका कैसे निरादर कर डाला ॥१३॥

विदूषक—[आप ही आप] यदि थोडी देर और इनकी यही दशा रही तब तो मेरी भूख मुझे खा ही डालेगी।

राजा—हे प्यारी ! तुम्हें बिना कारण छोड़ देनेकी जलनसे मैं जला जा रहा हूँ। मुझे अपना दर्शन देकर दया करके जिला तो लो।

[परदा उठाकर चित्रफलक लिए हुए प्रवेश करके]

चतुरिका—यह रहा देवीका चित्र। [चित्रफलक दिखाती है।]

विदूषक—वाह, वयस्य ! वाह। इसके अंग-अंग आपने ऐसे सुन्दर बना दिए हैं कि इसके मनके भावतक ठीक-ठीक उतर आए हैं। मेरी आँखें तो इस चित्रमें बने हुए ऊँचे-नीचे स्थलों में जैसे ठोकरें खाती रह जाती हैं।

सानुमती—अरे ! राजर्षि तो बडे चतुर चित्रकार हैं। चित्र ऐसा जान पड़ता है मानो सखी शकुन्तला सामने ही खड़ी हो।

राजा—यद्यपि मैं ने इस चित्रके सब दोष ठीक कर दिए हैं फिर भी इन रेखाओं में देवीकी सुन्दरता बहुत थोडीसी ही खिंच पाई है ॥१४॥

सानुमती—इस पछतावे और नम्रतासे भरे प्रेमीको ऐसा ही कहना शोभा देता है।

विदूषक—क्यों ! इस चित्रमें तो तीन-तीन देवियाँ दिखाई पड रही हैं और तीनों एकसे एक बढ़कर चटकीली हैं। बताओ तो, इनमें देवी शकुन्तला कौन-सी है ?

सानुमती—इस अबूझेको सुन्दरताकी तनिक भी परख नहीं है।

राजा—अच्छा, तुम इनमें से किसको शकुन्तला समझ रहे हो ?

विदूषक—मैं तो समझता हूँ कि पानीके छिड़कावसे जो यह आमका पेड़ चमक रहा है उसीसे सटकर कुछ थकी हुई सी जो खड़ी दिखाई देती है वही शकुन्तला है, जिसके ढीले जूड़ेसे फूल गिर रहे हैं, मुँहपर पसीनेकी बूँदें झलक रही हैं और दोनों कन्धे झुके हुए हैं। इसके साथवाली ये दोनों इसकी सखियाँ होंगी।

राजा—तुम सचमुच चतुर हो। यहाँ मेरे प्रेमके चिह्न भी बने हुए हैं। चित्रकी कोरोंपर मेरी पसीजी हुई उँगलियोंके काले धब्बे पड़ गए हैं और मेरी आँखोंसे जो आँसू टपका, उससे शकुन्तलाके गाल परका रंग उभर आया है ॥ १५ ॥ अरी चतुरिका ! अभी इस विनोद-स्थानका चित्र पूरा नहीं बन पाया है। जा, चित्र बनानेकी सलाइयाँ तो लेती आ।

१०

चतुरिका—आर्य माधव्य ! इस चित्रपटको थोड़ा लिए तो रहिए, मैं अभी आती हूँ।

राजा—मैं ही इसे लिए रहता हूँ।

[चित्र-फलक ले लेता है।]

[बैठी जाती है।]

राजा—[उसाँस भरकर] मित्र ! मेरी दशा तो देखो कि जब वह स्वयं मेरे पास आई थी तब तो मैंने उसे निरादर करके लौटा दिया और अब उसके चित्रपर इतना प्रेम दिखाने चला हूँ। यह तो ऐसा ही है जैसे कोई भरी हुई नदीको छोड़कर मृगतृष्णाकी ओर लपके ॥ १६ ॥

विदूषक—[आप ही आप] यहाँ महाराज तो नदीको छोड़कर मृगतृष्णाके पीछे दौड़ पड़े हैं। [प्रकट] कहो मित्र ! अब इस चित्रमें और क्या बनाना रह गया है ?

सानुमती—मैं सोचती हूँ कि राजा अब चित्रमें वे स्थान बनावेंगे जो मेरी सखीको बहुत प्यारे थे।

राजा—सुनो ! अभी मालिनी नदी बनानी है जिसकी रेतीमें हंसके जोड़े बैठे हों। उसके दोनों ओर हिमालयकी वह तलहटी दिखानी है जहाँ हरिण बैठे हुए हों। मैं एक ऐसा पेड़ भी खींचना चाहता हूँ जिसपर वल्कलके वस्त्र टँगे हुए हों और जिसके नीचे एक हरिणी अपनी बाईं आँख काले हरिणको सींगसे रगड़कर खुजला रही हो ॥ १७ ॥

विदूषक—[आप ही आप] मेरी बात मानिए तो आप इस चित्रको लम्बी-लम्बी दाढ़ीवाले तपस्वियोंसे भर डालिए।

राजा—वयस्य ! और अभी तो मैं शकुन्तलाको जो आभूषण पहनाना चाहता हूँ वही बनाना भूल गया हूँ।

विदूषक—वे कौन-कौनसे ?

सानुमती—वे ही जो उसके जैसी सुकुमारी वनवासिनी कुमारियाँ पहना करती होंगी।

राजा—वयस्य ! अभी तो मैं वह सिरसका फूल भी नहीं बना पाया जिसकी डंठल उसने कानोंपर धर रक्खी थी और जिसके पराग उसके गालोंपर फैले हुए थे। और अभी तो उसके स्तनोंके बीचमें चन्द्रमाकी किरणके समान पतले कमलके तन्तुओंकी माला भी नहीं बनाई ॥१८॥

विदूषक—क्यों मित्र! ये देवी अपनी कमलकी पंखड़ीके समान कोमल और लाल हथेलियोंसे अपना मुँह ढके बहुत डरी हुई-सी खड़ी क्यों दिखाई दे रही हैं। [ध्यानसे देखकर] अरे! देखिए, यह फूलोंके रसका चोर नीच भौंरा देवीके मुँहपर आकर मँडरा रहा है।

राजा—भगाओ तो इस ढीठको।

विदूषक—दुष्टोंको दण्ड देना तो आपका काम है इसलिये अब आप ही इसे भगाइए।

राजा—अच्छी बात है! ओ रे! फूल और लताओंके प्यारे अतिथि! तू क्यों इसके मुँहपर मँडरानेका कष्ट कर रहा है।—तेरे प्रेमकी प्यासी भौंरी तेरी ओर आँख लगाए फूलपर बैठी हुई है और तेरे बिना मकरन्द नहीं पी रही है ॥ १९ ॥

सानुमती—इस अवस्थामें भी ये कितनी कोमलतासे भौंरेको चले जानेके लिये कह रहे हैं।

विदूषक—ऐसे खोटे लोग कहनेसे थोड़े ही मानते हैं।

राजा—क्यों रे! तू मेरा कहना नहीं मानता। तो अब सुन—मेरी प्यारीका जो ओठ अछूते नन्हें पौधेकी कोमल कोंपलोंके समान लाल है और जिसे मैंने रतिके समय भी बहुत बचा-बचाकर पिया था उसे यदि तैंने छूआ तो तुझे कमलके कोश में डालकर वन्दी करा दूँगा ॥२०॥

विदूषक—क्या तू ऐसे कठोर दण्ड देनेवालेसे भी नहीं डरता? [हँसकर आप ही आप] अरे, ये तो पागल हो ही गए हैं। अब इनके साथ रहनेसे मैं भी कुछ-कुछ वैसा ही हो चला हूँ। [प्रकट] अरे महाराज! यह तो चित्र है।

राजा—अरे क्या चित्र है?

सानुमती—स्वयं मैं ही अब समझ पा रही हूँ कि यह चित्र है, फिर भला उसका तो पूछना ही क्या जिसने शकुन्तलामें तल्लीन होकर उसका चित्र बनाया है।

राजा—यह तुमने क्या दुष्कर्म कर डाला मित्र! मैं तो बड़ा मगन होकर सामने खड़ी हुई शकुन्तलाके दर्शनका आनन्द ले रहा था। पर तुमने स्मरण दिलाकर मेरी प्यारीको फिर चित्र ही बना डाला ॥२१॥

[ऐसा कहकर आंसू बहाने लगता है।]

सानुमती—यह तो विरहका निराला ही ढंग देख रही हूँ कि जिसमें पहले कुछ था, अब कुछ और ही है।

राजा—वयस्य! जानते हो, इस समय मेरे हृदयपर क्या बीत रही है? नींद न लगनेके कारण मैं उससे स्वप्नमें भी नहीं मिल पाता और सदा बहते रहनेवाले ये आँसू उसे चित्रमें भी नहीं देखने देते ॥२२॥

सानुमती—तुमने शकुन्तलाको छोड़कर हम लोगोंके मनमें जो कसक भर दी थी वह आज तुमने सब धो डाली।

[प्रवेश करके]

चतुरिका—जय हो, महाराजकी जय हो। चित्र-सामग्रीका डब्बा लिए हुए मैं इधर ही चली आ रही थी कि—

राजा—तो क्या हुआ?

चतुरिका—बीचमें ही तरलिकाके साथ आती हुई महारानी वसुमतीने यह कहकर मुझसे बलपूर्वक वह डब्बा छीन लिया कि मैं स्वयं इसे आर्यपुत्रके पास पहुँचा आती हूँ।

विदूषक—अपना बड़ा भाग समझ कि तू उनके हाथसे बिना पिटे बचकर निकल आई।

चतुरिका—उधर तरलिका वृक्षकी डालीमें उलझी हुई महारानीकी ओढ़ना छुड़ानेमें लगी, इधर मैं चुपचाप खिसक आई।

राजा—जान पड़ता है कि महारानी बड़ा मुँह फुलाए इधर ही चली आ रही हैं, इसलिये अब इस चित्रको ले जाकर कहीं छिपा रक्खो।

विदूषक—यह क्यों नहीं कहते कि हमें ही छिपा लो? [चित्रपट लेकर उठकर] अच्छा, इस बार यदि आपको रनिवासके चगुलसे छुटकारा मिल जाय तो मेघप्रतिच्छन्द भवनमें मुझे पुकार लीजिएगा।

[झपटकर निकल जाता है।]

सानुमती—इन्होंने दूसरेको हृदय दे डाला है सही, पर ये अपनी पहली रानीके प्रेमका भी ठेस नहीं लगने देना चाहते। पर सच्ची बात तो यह है कि राजाके मनमें रानीके लिये कुछ भी प्रेम बचा नहीं रह पाया है।

[हाथमें पत्र लिए हुए प्रतीहारीका प्रवेश।]

प्रतीहारी—जय हो, महाराजकी जय हो।

राजा—वेत्रवती! तुम्हें बीचमें महारानी तो नहीं मिली थीं?

प्रतीहारी—हाँ, मिली थीं। पर मेरे हाथमें यह पत्र देखकर अभी उल्टे पाँवों लौट गई हैं।

राजा—वे समय-असमय पहचानती हैं इसलिये मेरे काममें बाधा नहीं बनना चाहती होंगी।

प्रतीहारी—महाराज! अमात्यने कहलाया है कि आजका सारा दिन कई विभागोंके रुपये-पैसेका जोड़ लगानेमें ही बीत गया। इसलिये प्रजाका केवल एक ही काम मैं देख पाया हूँ। उसे देव पत्रमें पढ़कर ही समझ लें।

राजा—लाओ, पत्र इधर दो।

[प्रतीहारी पत्र ले जाकर देती है।]

राजा—[बाँचकर] अरे! क्या समुद्रके व्यापारी धनमित्रकी नाव डूबनेसे मृत्यु हो गई। बेचारेके कोई सन्तान भी नहीं थी। और प्रधान मन्त्रीजी लिखते हैं कि उसका सब धन राज-कोषमें आ जाना चाहिए। निःसन्तान होना भी कितना कष्टदायक होता है। अच्छा वेत्रवती! सेठजीके पास कोई कमी तो थी नहीं इसलिये उनके बहुतसी सेठानियाँ होंगी। पता तो लगाओ उनमें से कोई गर्भवती भी है?

प्रतीहारी—हाँ देव! सुना जाता है कि अयोध्यावाले सेठकी जो कन्या उनसे ब्याही थी उसने अभी थोड़े दिन हुए पुंसवन संस्कार कराया है।

राजा—तब जाकर अमात्यसे कहना कि वह गर्भका बालक ही सेठके सब धनका स्वामी होगा।

प्रतीहारी—जैसी महाराजकी आज्ञा।

[यह कहकर चली जाती है।]

राजा—अच्छा इधर तो सुनो!

प्रतीहारी—जी, आ गई।

राजा—किसीको सन्तान होने या न होनेसे क्या? जाकर डौंडी पिटवा दो कि पापियोंको छोड़कर हमारी प्रजाके और जितने लोग हैं उनके जो जो कुटुम्बी न रहें उनका वह कुटुम्बी दुष्यन्त समझा जाय॥२३॥

प्रतीहारी—यही डौंडी पिटवा दी जायगी। [लौटकर] महाराजकी इस आज्ञाको सुनकर प्रजा वैसे ही मगन हो उठी है जैसे समय पर पानी बरसनेसे खेती लहलहा उठती है।

राजा—[लम्बी साँस लेकर] इसी प्रकार निपूतोंका कुल धन उनके न रहने पर दूसरोंके हाथ चला जाया करता है। मेरे पीछे पुरुवंशकी राज्य-लक्ष्मीकी भी यही दशा होनेको है।

प्रतीहारी—भगवान् ऐसे बुरे दिन न दिखावें।

राजा—घर आई लक्ष्मीका निरादर करनेवाले मुझ अभागेको धिक्कार है।

सानुमती—इसमें सन्देह नहीं कि राजाने शकुन्तलावाली बातपर ही अपनेको धिक्कारा है।

राजा—जैसे समयपर बोई हुई पृथ्वी फल देनेवाली होती है वैसे ही मुझसे गर्भ धारण करके जो मेरे कुलको चलानेवाली धर्म-पत्नी थी उसे ही मैंने निरादरके साथ छोड़ दिया ॥२४॥

सानुमती—तुम्हारी सन्तान तुम्हारा वंश चलानेवाली होगी।

चतुरिका—[अलग] अरी प्रतीहारी! इस सेठवाली बात सुनकर तो राजाका दुःख दूना बढ़ गया है। इसलिये इनका मन बहलानेके लिये आर्य माधव्यको मेघप्रतिच्छन्द-भवनसे बुला तो ला।

प्रतीहारी—यह तो ठीक कहती हो।

[जाती है।]

राजा—दुष्यन्तके पितर भी बेचारे बड़े संदेहमें पड़ गए होंगे, क्योंकि—वे विकल होकर सोच रहे होंगे कि दुष्यन्तके पीछे कौन हमारा वैदिक विधिसे तर्पण करेगा। और इसी सोचमें वे मेरे हाथसे तर्पण किए हुए जलके कुछ भागसे तो अपने आँसू धोते होंगे और जो बच जाता होगा बस उतना ही पी पाते होंगे। ॥२५॥

[ऐसा कहकर मूर्छित हो जाते हैं।]

चतुरिका—[घबराहटके साथ देखकर] धीरज धरिए महाराज! धीरज धरिए।

सानुमती—हाय हाय! जैसे दीपकके रहते हुए भी बीचमें ओट पड़ जानेसे अँधेरा हो जाता है वैसे ही इस राजाको भी मोह हो गया है। मैं इसकी चिन्ता अभी मिटा देती पर अदितिने शकुन्तलाको समझाते हुए कहा था कि यज्ञमें भाग पानेके लिये उत्सुक देवता लोग ही तुम्हारा और दुष्यन्तका मिलन करावेंगे। तो अब देर नहीं करनी

चाहिए। चलूँ शकुन्तलाको ये सब बातें सुना आऊँ तो उसे धीरज हो जाय।

[झटकेसे ऊपर उड जाती है।]

[नेपथ्यमें]

अरे मार डाला ब्राह्मणको, मार डाला।

राजा—[सजग होकर, कान लगाकर] अरे! यह तो माधव्यका सा रोना सुनाई पड़ रहा है। अरे! कोई है?

प्रतीहारी—[प्रवेश करके घबराहटके स्वरमें] महाराज! आपके मित्र बडे संकटमें पड़ गए हैं। बचाइए चलकर उन्हें।

राजा—माधव्यको किसने सता रक्खा है?

प्रतीहारी—किसी भूत-प्रेतने उन्हें पकड़कर मेघ-प्रतिच्छन्द-भवनके मुँडेरे पर ले जाकर टाँग दिया है।

राजा—[उठकर] यह कैसे हो सकता है? क्या मेरे घरमें भी भूत-प्रेत अड्डा जमाने लगे हैं? पर यह हो भी सकता है—क्योंकि जब मनुष्य यही नहीं जानता कि वह स्वयं भूलसे नित्य कितने पाप कर बैठता है तो यह कैसे पता चल सकता है कि प्रजामें कौन किस समय क्या कर रहा है ॥२६॥

[नेपथ्यमें]

दुहाई है मित्र, दुहाई!

राजा—[वेगसे घूमता हुआ] डरो मत मित्र, डरो मत।

[नेपथ्यमें]

हाय, हाय! डरूँ क्यों नहीं! यहाँ कोई मेरे गलेको ईखके समान मरोडकर तीन टुकडे किए डाल रहा है।

राजा—[चारों ओर देखता हुआ] अरे, धनुष तो लाओ।

[हाथमें धनुष लिए हुए प्रवेश करके]

यवनी—महाराज! यह लीजिए धनुष और हथरक्खा।

[राजा धनुष-बाण लेते हैं।]

[नेपथ्यमें]

तेरे कंठके गरम रुधिरका प्यासा मैं तेरा इसी प्रकार वध करता हूँ जैसे तड़पते हुए पशुको सिंह मार डालता है। अब आवें न

पीड़ितों के रक्षक धनुषधारी दुष्यन्त तुझे बचाने ॥२७॥

राजा—क्या तू मुझे भी चुनौती दे रहा है ? तो ठहर सड़ा माँस खानेवाले पिशाच ! मैं अभी तुझे मारे डालता हूँ। [धनुष चढ़ाकर] वेत्रवती ! चल तो आगे आगे सीढ़ी पर।

प्रतीहारी—इधरसे आइए देव, इधर से।

[सबका वेगसे प्रस्थान]

राजा—[चारों ओर देखकर] यहाँ तो कहीं कोई भी नहीं दिखाई दे रहा है।

[नेपथ्यमें]

हाय ! हाय ! मैं आपको देख रहा हूँ, पर आप मुझे नहीं देख रहे हैं। मैं तो बिल्लीके पंजों में पडे हुए चूहेके समान अपने प्राणों से हाथ धो बैठा हूँ।

राजा—अच्छा रे छल-विद्याके घमंडी ! अब मेरा बाण ही तुझे देख लेगा। देख ! मैं यह बाण चढ़ाता हूँ और जैसे हंस, पनियल दूधमें से दूध-दूध पी जाता है और पानी-पानी छोड़ देता है वैसे ही यह भी तुझ मारे जानेवालेको मार डालेगा और इस बचाए जानेवाले ब्राह्मणको बचा लेगा ॥ २८ ॥

[बाण चढ़ाता है]

[विदूषक को छोड़कर मातलिका प्रवेश]

मातलि—इन्द्रने राक्षसों के मारनेका काम आपको ही सौंपा है। अब आप उन्हीं राक्षसोंपर चलकर अपने बाण चलाइए क्योंकि सज्जन लोग अपने मित्रोंपर बाण नहीं बरसाते, अपनी कृपा बरसाते हैं ॥२९॥

राजा—[बाण उतारता हुआ] कौन ? मातलि ? आओ, स्वागत है इन्द्रके सारथी !

विदूषक—[प्रवेश करके] अरे! जो मुझे बलिपशुके समान मारे डाल रहा था उसका यहाँ स्वागत किया जा रहा है।

मातलि—[मुस्कराकर] आयुष्मन ! इन्द्रने मुझे जिस कामसे आपके पास भेजा है वह पहले सुन लीजिए।

राजा—हाँ कहिए, मैं सुन रहा हूँ।

मातलि—कालनेमिके वंशवाले दानवोंका एक ऐसा दल बन गया है जो हराए नहीं हार रहा है।

राजा—हाँ, नारद मुनिने मुझसे बहुत दिन हुए बताया था।

मातलि—आपके मित्र इन्द्र उन्हें जीत नहीं पा रहे हैं। अब यही समझा गया है कि आप ही उन्हें रणक्षेत्रमें पछाड़ सकते हैं, क्योंकि रातके जिस अँधेरेको सूर्य नहीं दूर कर सकता है, उसे चन्द्रमा ही हरता है॥ ३०॥ अब आप यह धनुष-बाण लिए-दिए इसी इन्द्रके रथ पर चढ़कर विजयके लिये चल दीजिए।

राजा—भगवान् इन्द्रने यह सम्मान देकर मुझ पर बड़ा अनुग्रह किया है। पर यह तो बताइए कि आपने माधव्यके साथ ऐसा व्यवहार क्यों किया था।

मातलि—वह भी बताता हूँ। मैंने आकर देखा कि आपका मन न जाने क्यों बड़ा दुखी हो रहा है। इसलिये आपका क्रोध जगानेके लिये मैंने यही ठीक समझा। क्योंकि आग तभी जगती है जब ईंधनको हिला-डुला दिया जाय, और साँप भी अपना फन उठाकर तभी फुफकारता है जब उसे कोई छेड़ दे। इसी प्रकार मनुष्यको भी जबतक कोई उकसाकर भडका न दे तबतक वह अपना तेज नहीं दिखला पाता॥ ३१॥

राजा—[विदूषकसे] वयस्य ! इन्द्र भगवान्‌की आज्ञा टाली तो जा नहीं सकती। इसलिये अमात्य पिशुनको यह सब समाचार सुना देना और मेरी ओरसे उनसे यह कह देना कि—जबतक मेरा धनुष उधर दूसरे काममें फँसा हुआ है तबतक अपनी बुद्धिसे ही प्रजाका पालन करें॥३२॥

विदूषक—जैसी आपकी आज्ञा। [जाता है।]

मातलि—चलें आयुष्मान् रथपर चढ़ जायँ।

[राजा रथपर चढ़नेका नाट्य करते हैं।]

[सबका प्रस्थान]

॥ छठा अंक समाप्त ॥

सातवाँ अङ्क

[आकाशमें रथपर चढ़े हुए राजा दुष्यन्त और मातलि दिखाई देते हैं ।]

राजा—मातलि ! यद्यपि मैंने भगवान् इन्द्रकी आज्ञाका पालन मात्र किया था, पर जैसी धूम-धामसे उन्होंने मेरा स्वागत-सत्कार किया उसके आगे तो मेरी सेवा कुछ भी नहीं थी ।

मातलि—[मुस्कराकर] आयुष्मन् ! मैं तो समझता हूँ कि आप दोनोंका ही मन एक दूसरेका आदर करके भरा नहीं । राजन् ! इन्द्र का इतना बड़ा काम करके भी आप जो अपनी सेवाको तुच्छ समझ रहे हैं, उसका कारण यही है कि आप भगवान् इन्द्रको बड़प्पन देना चाहते हैं । और वे भी आपकी वीरतासे इतने अचरजमें भर गए हैं कि आपका इतना सम्मान करके भी वे समझ रहे हैं कि आपका ठीक-ठीक आदर हो नहीं पाया ॥ १ ॥

राजा—नहीं मातलि ! यह बात नहीं है ! वहाँसे चलते समय मेरा जो सत्कार हुआ है उतने सम्मानकी तो कोई कल्पना भी नहीं कर सकता । उन्होंने देवताओंके सामने ही मुझे अपने आधे सिंहासनपर बिठा लिया और अपनी छातीपर शोभा देती हुई हरिचन्दन लगी हुई यह मन्दारकी माला अपने गलेसे उतारकर मुस्कराते हुए मेरे गलेमें डाल दी जिसे पानेके लिये जयन्त ललचाई आँखोंसे देख रहा था ॥२॥

मातलि—मुझे बताइए ऐसा कौनसा सम्मान है जो देवराज इन्द्र के हाथ आप नहीं पा सकते । देखिए—सदा सुखका जीवन बितानेवाले इन्द्रके लिये दो ही तो ऐसे हुए हैं जिन्होंने राक्षस-रूपी काँटे स्वर्गसे उखाड़ फेंके हैं—एक तो नृसिंह भगवान् थे जिन्होंने अपने नखोंसे देवताओंके शत्रुका पेट फाड़ डाला था और दूसरे आप हैं जिन्होंने इस बार अपने चिकने-चिकने जोड़वाले बाणोंसे शत्रुओंको मार भगाया है ॥ ३ ॥

राजा—यह सब तो भगवान् इन्द्रकी ही महिमाका फल है । यदि

कोई सेवक बहुत बड़ा काम करके आवे तो यही समझना चाहिए कि स्वामीने वह काम सौंपकर उसे जो बड़ा भारी सम्मान दे दिया था उसीका वह फल है। यदि सूर्य, आगे-आगे अरुणको न ले चले तो भला अरुणमें इतनी शक्ति कहाँ कि अँधेरेको दूर भगा सके ॥ ४ ॥

मातलि—ऐसी बातें कहना आपका बड़प्पन है। [थोड़ी दूर चलकर] आयुष्मन्! इधर स्वर्गमें फैली हुई अपनी कीर्त्तिकी धाक तो देखिए। —देवता लोग आपके पराक्रमके गीत बना-बनाकर कल्पवृक्षके कपड़ोंपर उन रंगोंसे लिख रहे हैं जो अप्सराओंके सिंगारसे बचे रह गए हैं ॥५॥

राजा—मातलि! मैं जब आया था तब राक्षसोंसे युद्ध करनेके ध्यानमें इतना मग्न था कि उस बार स्वर्गका मार्ग भली भाँति देख ही नहीं पाया था। अच्छा यह तो बताओ कि हम लोग इस समय पवनके किस तलमें चल रहे हैं?

मातलि—यह वही तल है जिसे लोग कहते हैं कि वामन भगवानने अपने दूसरे पगसे मापकर पवित्र कर दिया है। यहाँ परिवह नामका वह पवन चला करता है जिसमें आकाशगंगा बहा करती हैं और जो अपनी वायु-धाराओंसे नक्षत्रोंको ठीक-ठीक चलाया करता है ॥६॥

राजा—मातलि! यही कारण है कि मेरी भीतरी और बाहरी सब इन्द्रियोंके साथ-साथ मेरा अन्तरात्मा भी प्रसन्न हो उठा है। [रथके पहियोंको देखते हुए] अब हम आकाशके उस भागपर उतर आए हैं जिसमें बादल चला करते हैं।

मातलि—यह आपने कैसे जाना?

राजा—यह तो जल-कणोंसे भींगा हुआ आपके रथका धुरा ही बतला रहा है कि हम जल-भरे मेघोंके ऊपरसे चले जा रहे हैं। बिजलीकी चमकसे घोड़े भी चमक उठते हैं और रथके पहियोंके अरोंके बीचसे निकल निकलकर चातक इधर-उधर उड़ते फिर रहे हैं ॥७॥

मातलि—आयुष्मान् क्षण भरमें ही अपने राज्यकी भूमिपर उतर जायँगे।

राजा—[नीचे देखकर] मातलि! वेगसे उतरनेके कारण नीचेका मनुष्यलोक कितना विचित्र दिखाई पड़ रहा है। क्योंकि—देखो! जान

पड़ता है मानो धरती पहाड़ोंकी ऊँची चोटियोंसे नीचे उतर रही हो, पत्तोंमें छिपी हुई वृक्षोंकी शाखाएँ अब दिखाई पड़ती जा रही हैं, दूरसे पतली दिखाई देने वाली नदियाँ चौड़ी होती जा रही हैं और यह पृथ्वी इस प्रकार हमारी ओर उठी चली आ रही है मानो कोई इसे ऊपरको उछाल रहा हो ॥८॥

मातलि—ठीक देखा आपने । [आदरसे देखकर] वाह ! धरती कैसी सुहावनी दिखाई पड़ रही है !

राजा—मातलि ! बताओ तो, यह पूर्व और पश्चिमके समुद्रोंतक फैला हुआ, सुनहरी धारा बहानेवाला और सन्ध्याके मेघोंकी भीतके समान लम्बा-चौड़ा कौन सा पहाड़ दिखाई दे रहा है ?

मातलि—आयुष्मन् ! यह तो हेमकूट नामक पहाड़ है जिसमें किन्नर लोग रहते हैं और जहाँ तपस्या करनेवालोंको शीघ्र ही सिद्धि मिल जाया करती है । देखिए, यहाँ देवताओं और दानवोंके पिता स्वयम्भू मरीचिके पुत्र प्रजापति कश्यप अपनी पत्नीके साथ बैठे तपस्या कर रहे हैं ॥ ९ ॥

राजा—तब तो हाथमें आया हुआ ऐसा सौभाग्य छोड़ना नहीं चाहिए । मैं चाहता हूँ कि भगवान् कश्यपकी प्रदक्षिणा कर लूँ तब जाऊँ ।

मातलि—यह तो आपने ठीक सोचा है ।

[दोनों उतरनेका नाट्य करते हैं ।]

राजा—[आश्चर्यसे] अरे ! तुम्हारा रथ कब नीचे उतर आया यह तो पता ही नहीं चला क्योंकि पृथ्वीसे न छूनेके कारण न तो इसके पहियोंकी घरघराहट ही सुनाई दी, न धूल ही उड़ी और न तुमने रास ही खींची ॥१०॥

मातलि—आयुष्मानके और इन्द्रके रथमें बस यही तो अन्तर है ।

राजा—मातलि ! मरीचिके पुत्र कश्यपका आश्रम किधरको है ?

मातलि—[हाथसे दिखलाते हुए] वह रहा कश्यप ऋषिका आश्रम, जहाँ वे ऐसी तपस्या कर रहे हैं कि उनके आधे शरीर पर तो दीमकोंने बाँबी उठा ली है, छातीपर साँपकी केचुलियाँ छुटी पड़ी हैं, गलेमें सूखी हुई बेलें उलझी हुई हैं, कन्धोंतक लटकी हुई जटाओंमें

चिड़ियोंने घोंसले बना लिए हैं और सूखे पेड़के ठूँठके समान अचल होकर वे सूर्यपर आँखें जमाए बैठे हैं ॥११॥

राजा—ऐसी कठोर तपस्या करनेवाले महात्माको मैं प्रणाम करता हूँ।

मातलि—[रास खींचकर और रथ रोककर] महाराज ! हम लोग प्रजापति कश्यपके आश्रममें पहुँच गए हैं। यह देखिए, यह सुन्दर मन्दारके वृक्षोंकी पाँत अदितिने अपने हाथसे लगाई है।

राजा—यहाँ तो स्वर्गसे भी बढ़कर शान्ति फैली हुई है। ऐसा जान पड़ता है मानो मैं अमृत-कुंडमें कूद पड़ा होऊँ।

मातलि—[रथ रोककर] उतरें आयुष्मन् !

राजा—[उतरकर] मातलि ! अब आप क्या करेंगे ?

मातलि—मैंने भली भाँति रथ रोक लिया है। मैं भी आपके साथ ही उतर रहा हूँ। [उतरकर] इधरसे आइए आयुष्मन् ! [घूमते हुए] आइए, यहाँ ऋषियोंकी तपोभूमि देखिए।

राजा—सचमुच मुझे तो यह देखकर बड़ा अचरज हो रहा है कि यहाँ ये तपस्वी लोग उन वस्तुओंके बीचमें बैठकर तपस्या कर रहे हैं जिन्हें पानेके लिये दूसरे ऋषि लोग तपस्या किया करते हैं। यहाँ पर ये लोग कल्पवृक्षोंके वनका वायु पी-पीकर जीते हैं, सुनहरे कमलके परागसे सुवासित जलमें स्नान करके पूजा-पाठ करते हैं, रत्न-शिलाओं पर बैठकर समाधि लगाते हैं और अप्सराओंके बीचमें बैठकर तपस्या साधते हैं ॥१२॥

मातलि—ऐसे महापुरुषोंकी इच्छाएँ भी तो वैसी ही बड़ी होती हैं। [घूमकर आकाशमें] कहिए वृद्ध शाकल्यजी ! इस समय महात्मा कश्यप क्या कर रहे हैं ? क्या कहा कि दाक्षायणीने पातिव्रत धर्मके सम्बन्धमें जो प्रश्न किया था उसका उत्तर वे उन्हें और ऋषि-पत्नियोंको बैठे सुना रहे हैं ?

राजा—[कान लगाकर] अरे, यह तो ऐसा कथा-प्रसंग छिड़ गया है कि अब इसके समाप्त होनेतक रुकना ही होगा।

मातलि—[राजाको देखकर] जबतक मैं इन्द्रके पिता महर्षि कश्यपको

आपके आनेकी सूचना देनेका कोई अवसर ढूँढ़ निकालूँ तबतक आप इस अशोकके वृक्षके नीचे ही चलकर बैठिए।

राजा—जैसा आप ठीक समझें। [बैठता है।]

मातलि—अच्छा तो मैं जा रहा हूँ आयुष्मन् ! [चला जाता है।]

राजा—[अच्छा शकुन देखकर] अपने मनोरथ पूरे होनेकी तो मुझे कोई आशा ही नहीं है फिर तुम व्यर्थ ही क्यों फड़क रहो ही मेरी भुजा ! सच है, जो आई हुई लक्ष्मीको ठुकरा देता है उसे पीछे ऐसे ही रोना-झींकना पड़ता है ॥ १३ ॥

[नेपथ्यमें]

बस नटखटपन न कर ! क्यों ? तू फिर अपने स्वभाव पर उतर आया ?

राजा—[कान लगाकर] अरे, यहाँ तो नटखपन होना ही नहीं चाहिए फिर यहाँ कौन किसे डाँट रहा है ? [जिधरसे बोली सुनाई देती है उधर देखकर आश्चर्यसे] अरे, यह कौन पराक्रमी बालक है जिसके पीछे-पीछे दो तपस्विनियाँ चली आ रही हैं और जो—अपने खेलनेके लिये सिंहिनीके स्तनों से आधा दूध पिए हुए सिंहिनीके उस बच्चेको खेलनेके लिये बलपूर्वक घसीटे लिए चला आ रहा है जिसके केसर इस खींचा-तानीमें छितरा गए हैं ॥ १४ ॥

[ऊपर कही हुई दशामें तपस्विनियोंके साथ बालकका प्रवेश]

बालक—खोल ले छिंघ अपना मुंह ! मैं तेले दाँत गिनूँगा।

पहली—अरे नटखट ! जिन पशुओंको हम लोगोंने अपनी संतानके समान पाल रक्खा है उन्हें तू क्यों इतना सताया करता है ? क्या कहें, तेरा नटखटपन दिन-दिन बढ़ता ही जा रहा है। ऋषियोंने तेरा नाम ठीक ही सर्वदमन रख छोड़ा है।

राजा—इस बालकपर मेरे मनमें वैसा ही प्रेम हो रहा है मानो यह मेरा अपना ही पुत्र हो। पर जान पड़ता है कि पुत्र न होनेके कारण ही मेरे मनमें यह वात्सल्य प्रेम उमड आया है।

दूसरी—इसके बच्चेको तू नहीं छोडेगा तो यह सिंहिनी तेरे ऊपर झपट पड़ेगी।

बालक—[मुस्कराते हुए] अले, मैँ तो बला (बड़ा) दल (डर) गया हूँ। [ओठ निकालकर मुँह बनाता है।]

राजा—यह बालक तो मुझे बड़े तेजस्वीका पुत्र जान पड़ता है और उस चिनगारीके रूपमें रहने वाली अग्निके समान दिखाई पड़ रहा है जो भड़क उठनेके लिये बस ईंधनकी बाट देख रही हो ॥१५॥

पहली—वत्स ! इस सिंहके बच्चेको छोड़ दे। मैं तुझे और खिलौना लाए देती हूँ।

बालक—कहाँ है ? लाओ दो। [हाथ फैलाता है।]

राजा—अरे, इसके हाथमें तो चक्रवर्तियोंके भी लक्षण दिखाई दे रहे हैं। क्योंकि--खिलौनेके लोभसे फैलाया हुआ यह जालके समान मिली हुई उँगलियों वाला इसका हाथ उस अकेले कमलके जैसा दिखाई देरहा है जो प्रात:कालकी लालीसे चमक रहा हो और जिसकी पंखड़ियाँ अभी पूरी खुल भी न पाई हों॥ १६ ॥

दूसरी—सुव्रता ! यह बातोंमें नहीं फुसलाया जा सकता। तू जा, मेरी कुटीमें जो ऋषिकुमार मार्कण्डेयका रँगा हुआ मिट्टीका मोर रक्खा है, उसे उठाती ला।

पहली—अच्छा। [जाती है]

बालक—औल (और) तबतक मैं इछीछे (इसीसे) खेलता हूँ। [यह कहकर तपस्विनीको देखकर हँस देता है।]

राजा—मुझे तो यह नटखट बालक न जाने क्यों बड़ा प्यारा लगता है। वह भाग्यवान धन्य है जिसकी गोदमें बैठकर यह स्वभावसे हँस-मुख, कलीके समान कुछ-कुछ झलकते हुए दाँतोंवाला और तुतला-तुतला कर बातें करनेवाला बालक अपने अंगकी धूल उसके अंगमें लगाता होगा ॥१७॥

तपस्विनी—अरे ! यह तो मेरी बात सुनता ही नहीं। [इधर-उधर देखकर] अरे कोई ऋषिकुमार यहाँ है ? [राजाको देखकर] हे भद्र ! तनिक आप ही आकर इस बालकके हाथसे इस सिंहके बच्चेको छुड़ा दीजिए। इसने इसे ऐसा कसकर पकड़ रक्खा है कि मेरे हाथसे तो छुड़ाए नहीं छूटता।

राजा—[पास आकर मुस्कराहटके साथ] अरे, ए महर्षिकुमार ! तुम

यहाँ आश्रमके नियमोंसे उल्टा काम क्यों कर रहे हो ? ये बेचारे जीव जो जन्मसे ही सीधे-सादे रहकर सुखी जीवन बिता रहे हैं उन्हें तुम उस प्रकार क्यों सता रहे हो जैसे काले सर्पका बच्चा चन्दनके पेड़को सताता है ॥१८॥

तपस्विनी—भद्र ! यह ऋषिकुमार नहीं है ।

राजा—इसके रूप और कामोंसे ही पता चल रहा है कि यह ऋषिकुमार नहीं है। पर यहाँ तपोवनमें देखकर मैंने इसे ऋषिकुमार ही समझ लिया था। [जी भरकर बालकके शरीरपर हाथ फेरकर आप-ही-आप] पता नहीं यह बालक किस वंशका है। इसे एक बार ही छू लेनेसे जब मेरे शरीरको इतना सुख मिल रहा है तब उस भाग्यवानको कितना आनन्द मिलता होगा जिसका यह सगा पुत्र है ॥१९॥

तपस्विनी—[दोनोंको देखकर] आश्चर्य है, आश्चर्य है।

राजा—आश्चर्यकी क्या बात है, आर्ये !

तपस्विनी—तुम्हारा और इस बालकका एक-दम मिलता-जुलता रूप देखकर मैं तो अचरजमें भर गई हूँ और फिर देखिए कि अनजान होते हुए भी इसने आपका कहना नहीं टाला।

राजा—[बच्चेको दुलारते हुए तपस्विनीसे] अच्छा यह तो बताइए कि यह ऋषिकुमार नहीं है तो फिर किस वंशका है ?

तपस्विनी—पुरु वंशका।

राजा—[मन ही मन] अरे ! क्या यह मेरे ही वंशका है ? तभी ये तपस्विनीजी मुझे इससे मिलता-जुलता बता रही हैं।
पर पुरुवंशियोंकी तो यह बँधी हुई रीति है कि वे—युवावस्थामें पृथ्वीकी रक्षाके लिये विलासकी सामग्रियोंसे भरे भवनोंमें रहना चाहते हैं और बुढ़ापेमें अपनी पतिव्रता स्त्रीको साथ लेकर वृक्षके नीचे कुटिया बनाकर रहने लगते हैं ॥ २० ॥ [प्रकट] पर यहाँ अपनी शक्तिसे तो कोई मनुष्य पहुँच नहीं पा सकता।

तपस्विनी—आप ठीक कह रहे हैं। इसकी माँ अप्सराकी कन्या है। इसीलिये इसने यहाँ मरीचिके आश्रममें ही इसे जन्म दिया है।

राजा—[अपने आप] अरे ! यह तो मेरी आशाकी दूसरी सीढ़ी

मिल गई। [प्रकट] अच्छा यह तो बताइए कि वे देवी किन राजर्षिकी पत्नी हैं ?

तपस्विनी—जिसने अपनी धर्म-पत्नीको छोड दिया हो, भला ऐसे पापीका भी कोई अपने मुँहसे नाम निकालता है।

राजा—[आप ही आप] यह कथा तो पूरी-पूरी मुझपर ही लागू हो रही है। अच्छा, माता-पिताका ही नाम पूछ देखूँ। किन्तु पराई स्त्रीके विषयमें कुछ पूछना भलमनसाहत नहीं है।

[हाथमें मिट्टीका मोर लिए हुए तपस्विनी आती है।]

तपस्विनी—सर्वदमन ! शकुन्त-लावण्य (इस पक्षीकी सुन्दरता) तो देख !

बालक—[चारों ओर देखता हुआ।] कहाँ है मेरी माँ ?

दोनों—अपनी माँका इसे ऐसा मोह है कि उसके नामके अक्षर सुनने भरसे ही इसे धोखा हो गया।

दूसरी—वत्स ! मैं कह रही थी कि तुम इस मिट्टीके मोरकी सुन्दरता देखो !

राजा—[आप ही आप] तो क्या इसकी माँका नाम शकुन्तला है। पर ससारमें एक जैसे बहुतसे नाम होते हैं। कहीं यह नाम भी मेरे दुःखको और बढ़ानेके लिये मृग-तृष्णाके समान ही न आ गया हो।

बालक—माँ ! यह मोल (मोर) तो बला (बड़ा) अच्छा है।

[खिलौना लेता है।]

पहली—[देखकर घबराहटके साथ] अरे, इसके पहुँचेपर बंधी हुई रक्षाकी जड़ी नहीं दिखाई दे रही है।

राजा—घबराइए मत ! सिहके बच्चेसे खींचा-तानी करते समय वह यहीं गिर गई थी। [उठाना चाहता है।]

दोनों—हैं हैं ! उसे छूइएगा मत ! अरे इन्होंने तो उसे उठा लिया !

[आश्चर्यसे छातीपर हाथ रखकर एक दूसरीको देखती हैं।]

पहली—सुनिए महाराज ! जब इसका जात-कर्म संस्कार हो रहा था उस समय भगवान कश्यपने अपराजिता नामकी यह जडी इसके हाथमें बाँधकर कहा था कि यदि यह पृथ्वीपर गिर पडे तो इसे और इसके माता-पिताको छोडकर दूसरा कोई इसे न उठावे !

राजा—और यदि दूसरा कोई उठा ले तो ?

पहली—तो यह साँप बनकर तत्काल डस लेगी।

राजा—आप लोगोंने इसे कभी रूप बदलते देखा है।

दोनों—बहुत बार देखा है।

राजा—[आप ही आप] तब मैं अपने मनोरथ पूरे होनेपर क्यों न फूला समाऊँ।

[बालकको छातीसे लगाता है।]

दूसरी—अरी सुव्रते! आओ, यह समाचार उस तपस्विनी शकुन्तलाको तो सुना आवें।

बालक—थोलो (छोड़ो)। हम अपनी माँ के पास दायँगे।

राजा—वत्स ! मेरे साथ ही चलकर अपनी माताको आनन्द देना।

बालक—मेले पिता तुम नहीं, दुष्यन्त हैं।

राजा—[मुस्कराकर] यह विरोध ही मेरे विश्वासको ही पक्का कर रहा है।

[अपने बालोंको एक लटमें बाँधे हुए शकुन्तला आती है।]

शकुन्तला—यह सुनकर भी मुझे अपने भाग्यपर भरोसा नहीं हुआ कि सर्वदमनके हाथसे गिरी हुई रक्षाकी जड़ी उनके छूनेपर साँप नहीं बनी। या फिर सानुमतीने जो कहा है, वह कौन जाने ठीक ही हो।

राजा—[शकुन्तलाको देखकर] अरे! ये ही तो वे देवी शकुन्तला हैं, जिनके शरीरपर मैले कपडोंका जोडा पडा हुआ है, तप करते-करते जिनका मुँह सूख गया है, जिनके बाल एक लटमें उलझे पडे हैं और जो शुद्ध मनसे मुझ जैसे निर्दयीके वियोगमें इतने दिनोंसे तप करती चली आ रही हैं॥ २१॥

शकुन्तला—[पछतावेसे पीले पडे हुए राजाको देखकर] ये तो आर्यपुत्र जैसे नहीं जान पडते। तब ये कौन हैं जो रक्षा बँधे हुए मेरे पुत्रको अपने शरीरसे लगा-लगाकर मैला कर रहे हैं।

बालक—[माताके पास आकर] देखो माँ, ये कोई पुलुछ (पुरुष) मुझे (मुझे) बेता (बेटा) कहकर गले लगा लहे (रहे) हैं।

राजा—प्रिये! मैंने जो तुम्हारे साथ निठुराई की थी उसका यही ठीक फल है कि तुम अभीतक मुझे पहचान नहीं रही हो।

शकुन्तला—[आप ही आप] धीरज धरो, धीरज धरो मेरे हृदय ! आज दैवने पिछला सब बैर छोड़कर मेरी सुन ली है। सचमुच ये ही तो हैं आर्यपुत्र।

राजा—प्रिये ! आज मेरा बड़ा सौभाग्य है कि मेरी स्मृतिपर पड़ा हुआ मोहका परदा हट गया और तुम सुन्दरी आज मुझे वैसे ही मिल गई जैसे चन्द्र-ग्रहण बीत चुकनेपर रोहिणी चन्द्रमासे आकर मिल जाती है ॥ २२ ॥

शकुन्तला—जय हो आर्यपुत्र, जय······[इतना आधा ही कहनेपर गला भर आनेसे रुक जाती है।]

राजा—सुन्दरी ! तुमने अपने रुँधे हुए गलेसे जो जय शब्द कहा है उसीसे मेरी जीत हो गई है, क्योंकि आज मेरी आँखोंने तुम्हारे उस मुँहको फिरसे देख पाया है जिसके ओठ रँगे न जानेके कारण पीले पड गए हैं ॥ २३ ॥

बालक—क्यों माँ ! ये कौन हैं ?

शकुन्तला—अपने भाग्यसे पूछ बेटा !

राजा—[शकुन्तलाके पैरोंपर गिरकर] सुन्दरी ! मैंने तुम्हारा जो निरादर किया था उसकी कसक तुम अपने मनसे निकाल डालो, क्योंकि उस समय न जाने कहाँसे मेरे मनमें अज्ञानका अँधेरा आकर छा गया था। सचमुच जो तमोगुणी होते हैं वे अच्छे कामोंमें भी ऐसी भूल कर बैठते हैं, क्योंकि अन्धेके गलेमें कोई माला भी पहनावे तो वह उसे साँप समझकर झटकेसे उतार फेंकता है ॥ २४ ॥

शकुन्तला—उठिए आर्यपुत्र ! उन दिनों कोई पिछले जन्मका पाप फल रहा होगा कि इतने दयालु आर्यपुत्र भी मुझपर इतने कठोर हो गए।

[राजा उठते हैं।]

शकुन्तला—पर यह तो बताइए कि आर्यपुत्रको इस दुखियाका स्मरण कैसे हो आया।

राजा—पहले मैं अपने जीकी गाँस निकाल डालूँ तब कहूँ। सुन्दरी ! तुम्हारी आँखोंके आँसुओंकी जो बूँदें उस दिन गालोंपरसे ढुलककर अधरोंको चोट पहुँचा रही थीं और जिनका मैंने उस दिन अनजाने निरादर कर दिया था वे आज भी तुम्हारी टेढ़ी बरौनियोंमें उलझी हुई

दिखाई दे रहे हैं। उन्हें जबतक मैं अपने हाथसे पोंछ न लूँगा तबतक मनको शान्ति नहीं मिलेगी ॥ २५ ॥

[अपने हाथसे शकुन्तलाके आँसू पोंछते हैं।]

शकुन्तला—[दुष्यन्तके हाथमें उनके नामवाली अँगूठी देखकर] आर्यपुत्र ! यही तो आपकी वह अँगूठी है।

राजा—इसी अँगूठीके मिल जानेपर ही तो मुझे सारी बातें स्मरण हो आईं।

शकुन्तला—इसने सचमुच बड़ा खोटा काम किया था कि जब मैं आर्यपुत्रको इसे दिखाकर विश्वास दिलाने चली ठीक उसी समय यह न जाने कहाँ चली गई।

राजा—[अँगूठी उतारकर शकुन्तलाको देते हुए।] अच्छा, तो जैसे लतामें फूल लगनेसे यह पता चल जाता है कि लताका वसन्तसे मिलन हो गया, वैसे ही तुम भी मुझसे मिलनेकी पहचानके लिये यह अँगूठी पहन लो।

शकुन्तला—[हाथ हटाती हुई] नहीं, अब मैं इसका विश्वास नहीं करती। आर्यपुत्र ही इसे पहने रहें।

[मातलि आता है।]

मातलि—धर्मपत्नीसे मिलने और पुत्रका मुँह देखनेकी आयुष्मान्‌को बधाई है।

राजा—मेरे मनोरथका तो सचमुच बड़ा मीठा फल हुआ है मातलि ! पर इन्द्र भगवानको तो इस बातका पता होगा नहीं।

मातलि—[हँसकर] भला देवताओंसे भी कोई बात छिपी रहती है। आइए आयुष्मन् ! भगवान् मारीच आपको दर्शन देना चाहते हैं।

राजा—शकुन्तला ! बालककी उँगली थाम लो। मैं तुम्हें साथ लेकर ही भगवानके दर्शनके लिये चलना चाहता हूँ।

शकुन्तला—बड़ोंके पास आर्यपुत्रके साथ जानेमें मुझे लाज लग रही है।

राजा—इर्षके अवसरपर तो साथ ही चला जाता है। आओ, आओ !!

[सब घूमते हैं।]

[अदितिके साथ आसनपर बैठे हुए मारीच दिखाई देते हैं।]

मारीच—[राजाको देखकर] दाक्षायणी ! यही संसारका पालन करनेवाले राजा दुष्यन्त हैं जो तुम्हारे पुत्र इन्द्रकी लड़ाईमें सबसे आगे रहते हैं और जिनके धनुषने ही इतना काम कर डाला है कि इन्द्रका तीखी धारवाला वज्र उनका आभूषण भर बना बैठा रहता है ॥ २६ ॥

अदिति—इनके डोल-डौलसे ही इनके पराक्रमका पता चल रहा है।

मातलि—आयुष्मन् ! देखो ! ये ही हैं देवताओंके माता-पिता, जो आपकी ओर ऐसे प्यारसे देख रहे हैं, जैसे माता-पिता अपने बच्चोंको देखते हैं। जाओ उनके पास चले जाओ।

राजा—मातलि ! क्या, वे ही ये स्त्री-पुरुष हैं जो ब्रह्मासे एक पीढ़ी पीछे दक्ष और मरीचिसे उत्पन्न हुए हैं, जिन्हें ऋषि लोग बारहों आदित्योंके माता-पिता मानते हैं, यज्ञमें भाग लेनेवाले इन्द्रने जिनसे जन्म लिया है और अपनेमें से अपने आप उत्पन्न होनेवाले ब्रह्माने भी संसारका कल्याण करनेके लिये जिनकी गोदमें जन्म लिया करते हैं ॥ २७ ॥

मातलि—हाँ, हाँ, वे ये ही हैं।

राजा—[पास पहुँचकर] सदा इन्द्रकी आज्ञा माननेवाला यह दुष्यन्त आप दोनोंको प्रणाम करता है।

मारीच—बहुत दिनोंतक जीओ, वत्स ! और पृथ्वीका पालन करो।

अदिति—वत्स ! तुम इतने बलवान होओ कि कोई शत्रु तुम्हारे आगे न टिक सके।

शकुन्तला—मैं अपने पुत्रके साथ आपके चरणोंमें प्रणाम करती हूँ।

मारीच—वत्से ! तुम्हारा पति इन्द्रके समान है और तुम्हारा पुत्र जयन्तके समान है। इसलिये यह तो समझमें ही नहीं आता कि तुम्हें आशीर्वाद क्या दूँ। फिर भी यही आशीर्वाद देता हूँ कि तुम इन्द्राणीके समान तेजस्विनी बनो ॥ २८ ॥

अदिति—बेटी ! अपने पतिका आदर पाओ और तुम्हारा बेटा चिरजीवी होकर दोनों कुलोंको सुख दे। आओ, बैठ जाओ।

[सब प्रजापतिके चारों ओर बैठ जाते हैं।]

मारीच—[अलग-अलग सबको संकेत करते हुए।] आज सौभाग्यसे

यह पतिव्रता शकुन्तला, यह श्रेष्ठ बालक और तुम ये तीनों ऐसे इकट्ठे मिल गए हो जैसे श्रद्धा, धन और क्रिया तीनों एक साथ मिल जायँ ॥२९॥

राजा—भगवन्! आपकी कृपा तो सचमुच अनोखी है जिसमें दर्शनसे पहले ही मनचाहा फल मिल गया क्योंकि—कार्य और कारणका तो यही क्रम है कि पहले फूल लगता है तब फल आता है, पहले बादल उठते हैं तब वर्षा होती है, पर आपके यहाँ तो सारे सुख आपकी कृपाके आगे-आगे चलते जा रहे हैं ॥ ३० ॥

मातलि—जो स्वयं भाग्य बनानेवाले हैं उनकी ऐसी ही कृपा होती है।

राजा—भगवन्! आपकी इस आज्ञाकारिणी कन्यासे मैं ने गान्धर्व विधिसे विवाह कर लिया था। फिर कुछ दिनों पीछे जब इनके सगे-सम्बन्धी लोग इन्हें मेरे पास लाए तब मेरी स्मृतिको न जाने क्या हो गया कि मैं एकदम इन्हें भूल गया और मैं ने इनको लौटा दिया। ऐसा करके मैं ने आपके गोत्रवाले कण्वजीका बड़ा भारी अपराध कर डाला। फिर जब मैं ने यह अँगूठी देखी तब मुझे स्मरण हुआ कि मैं ने तो कण्वजीकी कन्यासे विवाह किया था। ये सब बातें मुझे बडी विचित्र-सी जान पड रही हैं। मुझे अपनी यह भूल ठीक वैसी ही लग रही है जैसे आँखके सामनेसे चले जाते हुए हाथीको देखकर मनमें यह सन्देह हो कि यह हाथी है या नहीं और फिर उसके निकल जानेपर उसके पैरोंकी छाप देखकर यह विश्वास किया जाय कि हाँ, यह सचमुच हाथी ही था ॥ ३१ ॥

मारीच—वत्स! तुम अपने अपराधकी बात अपने मनसे एकदम निकाल डालो क्योंकि इस प्रकारकी भूल तुमसे हो ही नहीं सकती। सुनो, मैं बताता हूँ जो हुआ है।

राजा—जी सुन रहा हूँ।

मारीच—जब मेनका बिलखती हुई शकुन्तलाको लेकर, अप्सरातीर्थ से उतरकर यहाँ दाक्षायणीके पास आई तभी मैं ने ध्यानसे जान लिया था कि दुर्वासाके शापसे ही तुमने अपनी इस तपस्विनी धर्मपत्नीको छोड़ दिया है और वह शाप तबतकके लिये है जबतक तुम अँगूठी न देख लो।

राजा—[सन्तोषकी साँस लेकर] चलो, दोषसे छुटकारा तो मिला।

शकुन्तला—[मन ही मन] यह बड़े भाग्यकी बात है कि आर्यपुत्रने मुझे बिना कारण नहीं छोड़ा था। पर यह तो स्मरण ही नहीं आ रहा है कि मुझे शाप मिला कब। या यह भी हो सकता है कि मुझे शाप मिला हो और अपने विरहकी धुनमें पड़े रहनेके कारण मुझे उसका पता ही न चला हो। अब मेरी समझमें आ रहा है कि चलते समय मेरी सखियोंने यह क्यों कहा था कि पतिको अँगूठी दिखला देना।

मारीच—वत्से! तुम ठीक समझी हो। अब तुम अपने पतिपर क्रोध न करना। देखो! जैसे, दर्पणपर धूल पड़ी रहनेसे उसमें ठीक छाया नहीं दिखाई देती और वही जब पोंछ दिया जाता है तब छाया बड़ी सरलतासे दिखलाई पड़ने लगती है वैसे ही शापके कारण स्मृति धुँधली पड़ जानेसे उन्होंने तुम्हें छोड़ दिया था पर अब शाप छूट जानेसे उन्होंने तुम्हें भली भाँति पहचान लिया है॥ ३२॥

राजा—भगवान् ठीक कहते हैं।

मारीच—वत्स! शकुन्तलाके जिस पुत्रके संस्कार हमने ठीक विधिसे कर दिए हैं उसे तुमने अपनाया या नहीं।

राजा—यही बालक तो हमारा वंश चलानेवाला है।

[यह कहकर बालकको गोदमें उठा लेते हैं।]

मारीच—यह तुम्हारा वंश तो चलावेगा ही, साथ ही चक्रवर्त्ती राजा भी होगा। देखो! यह बालक अपने दृढ़ और सीधे चलनेवाले रथपर चढ़कर समुद्र पार करके सातों द्वीपोंवाली पृथ्वीको इस प्रकार अकेला जीत लेगा कि संसारका कोई वीर इसके सामने टिक न सकेगा। यहाँ इसने सब जीवोंको तंग कर रक्खा था, इसीलिये इसका नाम सर्वदमन पड़ गया था। पर आगे चलकर यह सारे संसारका भरण-पोषण करेगा इसलिये इसका नाम भरत होगा॥ ३३॥

राजा—जिसके संस्कार आपने किए हों उससे तो हमें इन सब बातोंकी आशा है ही।

अदिति—भगवन्! इस कन्याके मनोरथ पूरे होनेकी सारी बात कण्वजीको भी कहला भेजनी चाहिए क्योंकि इसे प्यार करनेवाली इसकी माँ मेनकाने यहाँ रहकर हम लोगोंकी बड़ी सेवा की है।

शकुन्तला—[मनमें] देवीने तो मेरे ही मनकी बात कह दी है।

मारीच—तपके प्रभावसे कण्व ऋषि सब कुछ जानते हैं।

राजा—इसलिये उन्होंने मुझपर क्रोध नहीं किया।

मारीच—फिर भी यह प्यारी बात उनके पास कहला ही भेजनी चाहिए। अरे कोई है? [एक शिष्य आता है।]

शिष्य—मैं हूँ भगवन्!

मारीच—गालव! अभी आकाश-मार्गसे जाकर मेरी ओरसे कण्वजीको यह प्यारा समाचार देना कि शाप छूटनेपर दुष्यन्तने सब स्मरण करके शकुन्तला और उसके पुत्रको ग्रहण कर लिया है।

शिष्य—जैसी भगवानकी आज्ञा। [चला जाता है।]

मारीच—वत्स! तुम भी अब अपने पुत्र और स्त्रीको साथ लेकर अपने मित्र इन्द्रके रथपर चढ़कर अपनी राजधानीको लौट जाओ।

राजा—जैसी भगवानकी आज्ञा।

मारीच—और सुनो! तुम्हारी प्रजाके लिये इन्द्र सदा भरपूर वर्षा किया करें और तुम भी सैकड़ों गण-तन्त्रोंपर राज्य करते हुए बहुत यज्ञ करके इन्द्रको प्रसन्न करते रहो। इस प्रकार एक दूसरेके लिये ऐसे अच्छे-अच्छे काम करते रहो कि दोनों लोक सुखी रहें॥ ३४॥

राजा—भगवन्! मैं भरसक अच्छे काम करनेका जतन करूँगा।

मारीच—वत्स! और कुछ तुम्हारी इच्छा हो तो कह डालो।

राजा—इससे बढ़कर भी क्या और कोई बात हो सकती है? फिर भी यदि आप मुझपर कुछ और कृपा करना चाहते हैं तो ऐसा कीजिए कि—[भरतवाक्य] राजा सदा अपनी प्रजाकी भलाईमें लगे रहें, बड़े-बड़े विद्वान् कवियोंकी वाणीका सब कहीं आदर हो और अपनेसे उत्पन्न होनेवाले तथा चारों ओर अपनी शक्ति फैलानेवाले महादेवजी ऐसी कृपा करें कि मुझे अब फिर जन्म न लेना पड़े॥ ३५॥

[सब चले जाते हैं।]

॥ सातवाँ अङ्क समाप्त ॥

॥ महाकवि श्रीकालिदासका रचा हुआ अभिज्ञान शाकुन्तल नामका नाटक समाप्त हुआ॥

विक्रमोर्वशीय

पात्रों का परिचय

पुरुष

सूत्रधार—नाटकका प्रबन्धक।
पारिपार्श्वक—सूत्रधारका साथी।
पुरूरवा—प्रतिष्ठान नगरीका राजा, नाटकका नायक।
माणवक—विदूषक।
आयु—पुरूरवाका पुत्र।
नारद—देवर्षि
चित्ररथ—गन्धर्वों का राजा।
कञ्चुकी—राजाका सेवक।
पल्लव और गालव—भरत मुनिके शिष्य।
वेधक—पुरूरवाका सेवक किरात।

स्त्री

उर्वशी—एक अप्सरा, नाटककी नायिका।
चित्रलेखा—दूसरी अप्सरा, उर्वशीकी सखी।
सहजन्या, रम्भा, मेनका—अप्सराएँ।
देवी—रानी, काशी-नरेशकी पुत्री।
निपुणिका—रानीकी सेविका।
तापसी—तपस्विनी।
परिजन—रानीकी सेविकाएँ।
यवनी—रानीकी दासी।

—※—

॥ श्री ॥

विक्रमोर्वशीय

पहला अंक

वेदान्ती लोग जिन्हें ऐसा अकेला पुरुष बताते हैं जो पृथ्वी और आकाशमें रमा हुआ होनेपर भी सबसे अलग बना रहता है, जिनका ईश्वर नाम ऐसा सटीक और सच्चा है कि और किसीको भी इस नामसे नहीं पुकारा जा सकता और मोक्ष पानेकी इच्छा करनेवाले लोग जिन्हें प्राणायाम साधकर अपने हृदयके भीतर खोजते हैं, वे सच्ची भक्तिसे मिलनेवाले शिवजी आप सब लोगों का कल्याण करें ॥ १ ॥

[नान्दी हो चुकनेपर]

सूत्रधार—अच्छा, अब देर नहीं करनी चाहिए। [नेपथ्यकी ओर देखकर] अरे भाई मारिष! इधर तो आओ।

[पारिपार्श्वक आता है।]

पारिपार्श्वक—लीजिए, आ गया, आर्य!

सूत्रधार—देखो मारिष! इस सभाने पुराने कवियोंके तो बहुतसे नाटक देखे हैं। आज मैं इन्हें श्रीकालिदासका बनाया हुआ विक्रमोर्वशीय नामका एक नया त्रोटक दिखलाना चाहता हूँ। इसलिये सब अभिनेताओंको जाकर समझा दो कि अपना-अपना अभिनय बड़ी सावधानीसे करें।

पहला अंक

पारिपार्श्वक—जैसी आपकी आज्ञा। [चला जाता है।]

सूत्रधार—तबतक मैं अपने विद्वान् दर्शकों से कुछ निवेदन कर लूँ। [सिर झुकाकर] सज्जनो ! आप लोगों से प्रार्थना है कि हम नम्र सेवकोंपर कृपा करके या इस नाटकके नायकका आदर करके आप लोग कालिदासके लिखे हुए इस नाटकको सावधान होकर सुनें ॥ २ ॥

[नेपथ्यमें]

आर्यो ! बचाओ ! बचाओ ॥ जो भी कोई देवताओंका हित चाहनेवाला हो और जो आकाशमें भी आ-जा सकता हो, वह आकर हमें बचावे।

सूत्रधार—[सुनकर] अरे ! यह क्या ? मेरी प्रार्थना समाप्त होते ही आकाशमें यह कैसा कुररीके रोने जैसा शब्द सुनाई देने लगा— [सोचकर] क्या यह फूलों का रस पीकर मतवाले बने हुए भौरोंकी गुजार है ? या कहीं कोयलकी मस्तानी कूक तो नहीं है ? या कहीं आकाशमें देवताओं के साथ आई हुई अप्सराएँ मीठो तान तो नहीं छेडे हुए हैं ? ॥ ३ ॥ [सोचकर] ठीक है। समझ गया। नरके मित्र नारायणकी जाँघसे उर्वशी नामकी जो अप्सरा उत्पन्न हुई थी वह जब कुबेरकी सेवा करके लौट रही थी तब राक्षस उसे बीचसे ही पकड ले गए हैं उसीपर ये अप्सराएँ इतनी रो-चिल्ला रही हैं ॥ ४ ॥ [चला जाता है।]

॥ प्रस्तावना ॥

[अप्सराएँ प्रवेश करती हैं।]

अप्सराएँ—आर्यो ! बचाओ, बचाओ ! जो भी कोई देवताओंका हित चाहने वाला हो और जो आकाशमें भी आ-जा सकता हो, वह आकर हमें बचावे।"

[रथपर चढ़े हुए राजा पुरूरवा और सारथीका प्रवेश]

राजा—बस बस, रोओ मत ! मैं पुरूरवा हूँ और अभी भगवान सूर्यकी उपासना करके आ रहा हूँ। आप लोग यहाँ मेरे पास आकर बताइए कि आप लोगों को किससे बचाना होगा।

रम्भा—राक्षसों के अत्याचारसे !

राजा—राक्षसों ने आप लोगोंपर क्या अत्याचार किया है ?

रम्भा—सुनिए महाराज! किसीकी बड़ी तपस्यासे डर कर उसका तप डिगानेके लिये जिसे अपना सुकुमार शस्त्र बनाकर इन्द्र भेजते हैं, जिसके सुन्दर रूपके आगे अत्यन्त रूपवाली लक्ष्मी भी पानी भरती हैं और जो स्वर्गकी शोभा है, वही हमारी प्यारी सखी उर्वशी जब कुबेरके भवनसे लौट रही थी तो बीचमें ही कोई राक्षस उसे और चित्रलेखाको पकड़ ले गया।

राजा—क्या आप लोग बता सकती हैं कि वह दुष्ट दैत्य किस ओर गया है?

सहजन्या—पूर्व-उत्तरके कोनेकी ओर।

राजा—तो आप लोग चिन्ता न कीजिए। मैं आपकी प्यारी सखी को लौटा लानेका अभी जतन करता हूँ।

रम्भा—आप चन्द्रवंशी हैं, आप सब कुछ कर सकते हैं।

राजा—आप लोग कहाँ मेरी बाट देखेंगी?

अप्सराएँ—इसी हेमकूटकी चोटीपर।

राजा—सारथी! उत्तर-पूर्व दिशाकी ओर रास मोडकर घोड़ोंको हाँको तो वेगसे।

सारथी—जैसी आपकी आज्ञा [वैसा ही करता है।]

राजा—[रथकी चाल देखकर] वाह! वाह! जब चलते ही रथ इतने वेगसे दौड रहा है तब तो मैं गरुड़को भी पछाड़ सकता हूँ फिर इन्द्रके शत्रु राक्षस तो हैं किस गिनतीमें! मेरा रथ इतने तीव्र वेगसे दौड रहा है कि उसकी रगड़से बने बादल पिस-पिसकर धूल जैसे बन गए हैं। इसके पहिए भी इतने वेगसे घूम रहे हैं कि ऐसा लगता है मानो पहियोंके अरोंके बीचमें और बहुतसे अरे बनते चले जा रहे हों। घोडोंके सिरपर चौरियाँ ऐसी खडी हो गई हैं कि जान पडता है मानो ये चित्र में खिंची हुई हों और वेगसे चलनेके कारण जो पवन उठता है उसकी झोंकसे झंडीका कपडा ध्वजाके डंडेके और अपने बाहरी छोरके बीचमें सीधा फैल गया है, तनिक भी हिलता-डुलता नहीं॥५॥

[राजा तथा सारथी निकल जाते हैं।]

सहजन्या—सखियो! राजर्षि तो चले गए। चलो हम लोग भी उधर चलीं चलें जहाँ उनसे मिलनेके लिये अभी कह चुकी हैं।

मेनका—हाँ सखी, चलो।

[सब हेमकूट पर्वतपर चढ़नेका नाट्य करती हैं।]

रम्भा—क्या वे राजर्षि सचमुच हम लोगोंके मनकी कसक दूर कर सकेंगे?

मेनका—इसमें सन्देह न करो सखी!

रम्भा—पर उन दैत्योंको कोई जीत थोड़े ही सकता है।

मेनका—जानती हो, जब देवताओंकी विजयके लिये युद्ध करना होता है उस समय इन्द्र इन्हीं को मध्यलोकसे बड़े सम्मानके साथ बुलाकर अपना सेनापति बनाते हैं। समझी?

रम्भा—अच्छा, मैं तो मनाती हूँ कि सब प्रकार उन्हींकी जीत हो।

मेनका—[थोड़ी देर ठहर कर] सखियो! चुप हो जाओ, धीरज रक्खो! वह देखो, राजर्षिके सोमदत्त रथकी वह झंडी हिलती दिखाई दे रही है जिसपर हरिण बना हुआ है। मैं समझती हूँ कि काम पूरा किए बिना वे नहीं लौटे होंगे।

[सब सखियाँ उतावली होकर उधर देखती हैं।]

[रथपर बैठे हुए राजा और सारथीका प्रवेश।]

[उसी रथपर चित्रलेखाके दाहने हाथपर डरसे आँखें बन्द करके पड़ी हुई उर्वशी दिखाई देती है।]

चित्रलेखा—सखी! धीरज धरो, धीरज!

राजा—सुन्दरी! धीरज धरो। अब राक्षसोंका कोई डर नहीं रहा, क्योंकि इन्द्रका बल तो तीनों लोकोंकी रक्षा कर सकता है, इसलिये तुम अपनी बड़ी-बड़ी आँखें उसी प्रकार खोल दो जैसे प्रातःकाल होनेपर कमलिनी अपना फूल खोल देती है॥ ६॥

चित्रलेखा—यह बड़े अचरज की बात है कि जिसके चलते हुए साँसको देखकर ही विश्वास होता है कि यह जी रही है वह अभीतक अपनी आँखें नहीं खोल रही है।

राजा—भद्रे! तुम्हारी सखी बहुत ही डर गई है। क्योंकि इसके बड़े-बड़े स्तनोंके बीचमें जो मन्दारकी माला पड़ी हुई है उसके बराबर हिलनेसे ही यह पता चल रहा है कि इसका हृदय डरके मारे अभी तक बड़ा काँप रहा है॥ ७॥

चित्रलेखा—[दुखी होकर] सखी उर्वशी ! धीरज धरो। ऐसा करती हुई, तुम अप्सरा नहीं जान पड़ती।

राजा—इनके स्तनों के ऊपर हिलनेवाले वस्त्रसे ही यह पता चल रहा है कि डरसे जो कँप-कँपी छूटी थी वह अभीतक इनके फूल जैसे कोमल हृदयको छोड़ नहीं रही है ॥ ८ ॥

[उर्वशी आँखें खोलती है।]

राजा—[प्रसन्न होकर] बधाई है चित्रलेखाजी ! आपकी सखीने आँखें खोल दी हैं। देखो—मूर्छा दूर होनेपर आपकी सखी ऐसी लगती हैं जैसे चन्द्रमाके निकल आनेपर अँधेरेसे छूटी हुई रात हो, या रातके समय बिना धुएँवाली अग्निकी लपट हो, या गंगाजीकी वह धारा हो जो कगारके गिरनेसे गँदली होकर फिर स्वच्छ हो गई हो ॥ ९ ॥

चित्रलेखा—सखी उर्वशी ! विश्वास करो, देवताओंके शत्रु दुष्ट राक्षसोंको मार भगाया है।

उर्वशी—[आँखें खोलकर] क्या बलशाली इन्द्रने मुझे बचाया है ?

चित्रलेखा—नहीं, इन्द्रके ही समान वीर राजर्षिने।

उर्वशी—[राजाको देखकर मनमें] यह तो राक्षसोंने मुझपर उपकार ही किया है।

राजा—[उर्वशीको देखकर मन ही मन] नारायण ऋषिको लुभानेके लिये जो अप्सराएँ गई थीं, उन्होंने जब ऋषिकी जंघासे उत्पन्न होनेवाली इस उर्वशीके रूपको देखा तो वे सब झेंप गईं। यह ठीक ही था, क्योंकि ऐसा सुन्दर रूप कोई तपस्वी तो उत्पन्न कर नहीं सकता। इसे बनानेके लिये या तो चाँदनी देनेवाले चन्द्रमा ही स्वयं ब्रह्मा बने होंगे या शृङ्गार रसके देवता स्वयं कामदेवने इसे बनाया होगा, या फिर वसन्तने ही इसे रचा होगा। नहीं तो बताइए, भला वेद पढ़-पढ़ कर पथराए हुए और भोग-विलाससे दूर रहनेवाले वे बूढ़े ऋषि ऐसा सुन्दर रूप कैसे उत्पन्न कर सकते हैं ॥ १० ॥

उर्वशी—सखी चित्रलेखा ! हमारी सब सखियाँ कहाँ होंगी ?

चित्रलेखा—हमें बचानेवाले महाराज ही जानते होंगे।

[उर्वशीको देखकर]

राजा—आपकी सखियाँ बड़ी ही दुखी दिखाई दे रही हैं। देखिए

यदि आपको कोई एक बार भी दैवयोगसे देख ले तो वह भी आपके वियोगमें विकल हो उठे, फिर, आपके प्रेममें पगी हुई सखियोंकी तो बात ही क्या ? ॥ ११ ॥

उर्वशी—[मन ही मन] आपके वचन तो अमृत हैं। पर चन्द्रमासे यदि अमृत बरसे तो आश्चर्य ही क्या। [प्रकट] इसीलिये तो मेरा हृदय उन्हें देखनेके लिये इतनी उतावली कर रहा है।

राजा—[हाथसे दिखाता हुआ] वह देखिए, आपकी सखियाँ हेमकूट पर बैठी हुई आपकी ओर वैसी ही उत्सुकतासे देख रही हैं जैसी उत्सुकतासे लोग ग्रहणसे छूटे हुए चन्द्रमाको देखा करते हैं ॥ १२ ॥

[उर्वशी राजाको चाहके साथ देखती है।]

चित्रलेखा—इतने ध्यानसे क्या देख रही हो सखी ?

उर्वशी—जो अपने दुःखमें काम आवें उन्हें आँखोंसे पी रही हूँ।

चित्रलेखा—[हँसकर] अरी किन्हें ?

उर्वशी—अपने प्यारे लोगोंको।

रम्भा—[हर्षसे देखकर] चित्रलेखा और प्यारी सखी उर्वशीको साथ लेकर यह राजर्षि उसी प्रकार इधर चले आ रहे हैं जैसे विशाखाके दो तारोंके साथ चन्द्रमा चले आ रहे हों।

मेनका—[विचारकर] सखी, ये दोनों बातें अच्छी ही हुईं कि हमारी सखी भी लौटकर आ गई और राजाको भी किसी प्रकार चोट नहीं आई।

सहजन्या—तुम ठीक कह रही हो सखी ! नहीं तो भला इन राक्षसोंको क्या कोई कभी जीत पाता है ?

राजा—सारथी ! यही है वह पर्वतकी चोटी। रथ यहीं उतार लो।

सारथी—जैसी आयुष्मानकी आज्ञा।

[रथ उतारता है।]

[रथसे उतरनेके झटकेका नाट्य करती हुई उर्वशी राजाके शरीरसे लग जाती है।]

राजा—[मन ही मन] इस ऊबड़-खाबड़ भूमिपर रथका उतरना मेरे लिये अच्छा ही हुआ, क्योंकि रथके हिलने-डोलनेसे इस बड़ी-बड़ी आँखोंवाली सुन्दरीके शरीरसे मेरे शरीरके बार-बार छूनेपर शरीरमें जो रोमाञ्च हो आया है वह ऐसा जान पड़ता है मानो प्रेमके अंकुर फूट आए हों ॥ १३ ॥

चित्रलेखा—[दुखी होकर] सखी उर्वशी ! धीरज धरो। ऐसा करती हुई, तुम अप्सरा नहीं जान पडती।

राजा—इनके स्तनों के ऊपर हिलनेवाले वस्त्रसे ही यह पता चल रहा है कि डरसे जो कँप-कँपी छुटी थी वह अभीतक इनके फूल जैसे कोमल हृदयको छोड नहीं रही है ॥ ८ ॥

[उर्वशी आँखें खोलती है।]

राजा—[प्रसन्न होकर] बधाई है चित्रलेखाजी ! आपकी सखीने आँखें खोल दी हैं। देखो—मूर्छा दूर होनेपर आपकी सखी ऐसी लगती हैं जैसे चन्द्रमाके निकल आनेपर अँधेरेसे छूटी हुई रात हो, या रातके समय बिना धुएँवाली अग्निकी लपट हो, या गंगाजीकी वह धारा हो जो कगारके गिरनेसे गँदली होकर फिर स्वच्छ हो गई हो ॥ ९ ॥

चित्रलेखा—सखी उर्वशी ! विश्वास करो, देवताओं के शत्रु दुष्ट राक्षसोंको मार भगाया है।

उर्वशी—[आँखें खोलकर] क्या बलशाली इन्द्रने मुझे बचाया है ?

चित्रलेखा—नहीं, इन्द्रके ही समान वीर राजर्षिने।

उर्वशी—[राजाको देखकर मनमें] यह तो राक्षसों ने मुझपर उपकार ही किया है।

राजा—[उर्वशीको देखकर मन ही मन] नारायण ऋषिको लुभानेके लिये जो अप्सराएँ गई थीं, उन्होंने जब ऋषिकी जंघासे उत्पन्न होनेवाली इस उर्वशीके रूपको देखा तो वे सब झेंप गईं। यह ठीक ही था, क्योंकि ऐसा सुन्दर रूप कोई तपस्वी तो उत्पन्न कर नहीं सकता। इसे बनानेके लिये या तो चाँदनी देनेवाले चन्द्रमा ही स्वयं ब्रह्मा बने होंगे या शृङ्गार रसके देवता स्वयं कामदेवने इसे बनाया होगा, या फिर बसन्तने ही इसे रचा होगा। नहीं तो बताइए, भला वेद पढ-पढ़ कर पथराए हुए और भोग-विलाससे दूर रहनेवाले वे बूढे ऋषि ऐसा सुन्दर रूप कैसे उत्पन्न कर सकते हैं ॥ १० ॥

उर्वशी—सखी चित्रलेखा ! हमारी सब सखियाँ कहाँ होंगी ?

चित्रलेखा—हमें बचानेवाले महाराज ही जानते होंगे।

[उर्वशीको देखकर]

राजा—आपकी सखियाँ बडी ही दुखी दिखाई दे रही हैं। देखिए,

यदि आपको कोई एक वार भी दैवयोगसे देख ले तो वह भी आपके वियोगमें विकल हो उठे, फिर, आपके प्रेममें पगी हुई सखियोंकी तो बात ही क्या ? ॥ ११ ॥

उर्वशी—[मन ही मन] आपके वचन तो अमृत हैं। पर चन्द्रमासे यदि अमृत बरसे तो आश्चर्य ही क्या। [प्रकट] इसीलिये तो मेरा हृदय उन्हें देखनेके लिये इतनी उतावली कर रहा है।

राजा—[हाथसे दिखाता हुआ] वह देखिए, आपकी सखियाँ हेमकूट पर बैठी हुई आपकी ओर वैसी ही उत्सुकतासे देख रही हैं जैसी उत्सुकतासे लोग ग्रहणसे छूटे हुए चन्द्रमाको देखा करते हैं ॥ १२ ॥

[उर्वशी राजाको चाहके साथ देखती है।]

चित्रलेखा—इतने ध्यानसे क्या देख रही हो सखी ?

उर्वशी—जो अपने दुःखमें काम आवें उन्हें आँखोंसे पी रही हूँ।

चित्रलेखा—[हँसकर] अरी किन्हें ?

उर्वशी—अपने प्यारे लोगोंको।

रम्भा—[हर्षसे देखकर] चित्रलेखा और प्यारी सखी उर्वशीको साथ लेकर यह राजर्षि उसी प्रकार इधर चले आ रहे हैं जैसे विशाखाके दो तारोंके साथ चन्द्रमा चले आ रहे हों।

मेनका—[विचारकर] सखी, ये दोनों बातें अच्छी ही हुईं कि हमारी सखी भी लौटकर आ गई और राजाको भी किसी प्रकार चोट नहीं आई।

सहजन्या—तुम ठीक कह रही हो सखी ! नहीं तो भला इन राक्षसोंको क्या कोई कभी जीत पाता है ?

राजा—सारथी ! यही है वह पर्वतकी चोटी। रथ यहीं उतार लो।

सारथी—जैसी आयुष्मान्‌की आज्ञा।

[रथ उतारता है।]

[रथके उतरनेके झटकेका नाट्य करती हुई उर्वशी राजाके शरीरसे लग जाती है।]

राजा—[मन ही मन] इस ऊबड़-खाबड़ भूमिपर रथका उतरना मेरे लिये अच्छा ही हुआ, क्योंकि रथके हिलने-डोलनेसे इस बड़ी-बड़ी आँखोंवाली सुन्दरीके शरीरसे मेरे शरीरके बार-बार छूनेपर शरीरमें जो रोमाच हो आया है वह ऐसा जान पड़ता है मानो प्रेमके अंकुर फूट आए हों ॥ १३ ॥

उर्वशी—सखी ! थोड़ा इधरको हट जाओ ।

चित्रलेखा—मुझसे तो नहीं हटा जाता ।

रम्भा—चलो, अपना भला करनेवाले इस राजर्षिका हम लोग आगे बढ़कर स्वागत तो करें ।

[सब आगे बढ़ती हैं ।]

राजा—सारथी ! रथको इनके पास तक तो बढ़ा ले चलो, जिससे यह बड़ी अधीर सुन्दरी अपनी घबराई हुई सखियों से उसी प्रकार मिल ले जैसे वसन्तकी शोभा लताओं से जा मिलती है ॥ १४ ॥

[*सारथी रथ खड़ा कर लेता है ।*]

अप्सराएँ—इस विजयपर महाराजको बधाई है ।

राजा—आप सबको भी अपनी प्यारी सखीसे मिलनेकी बधाई है ।

उर्वशी—[चित्रलेखाके हाथके सहारे उतरकर] सखियो ! मुझसे कसकर गले मिल लो । मैं तो तुम सबसे मिलनेकी आशा ही छोड़ बैठी थी ।

[*सखियाँ गले मिलती हैं ।*]

मेनका—[प्रशंसा करते हुए] महाराज सैकड़ों कल्पोंतक पृथ्वीका पालन करते र ।

सारथी—महाराज ! पूर्व दिशाकी ओरसे किसी वेगसे आते हुए रथकी घड़घड़ सुनाई दे रही है । देखिए, तपे हुए सोनेका भुजबन्ध पहने हुए कोई इसी पर्वतके शिखरपर आकाशसे उसी प्रकार उतर रहा है जैसे कोई बिजलीवाला बादल हो ॥ १५ ॥

अप्सराएँ—[देखती हुई] अरे ! ये तो चित्ररथ हैं ।

[चित्ररथका प्रवेश]

चित्ररथ—[राजाको देखकर आदरसे] इन्द्रका उपकार करनेकी शक्ति रखनेवाले महाराज ! आपको बधाई है ।

राजा—अरे आप ! गन्धर्वराज ! [रथसे उतरकर] स्वागत करता हूँ मित्र ! [दोनों आपसमें हाथ मिलाते हैं ।]

चित्ररथ—वयस्य ! नारदजीने इन्द्रसे अभी-अभी बताया है कि उर्वशीको केशी हर ले गया है । यह सुनकर इन्द्रने गन्धर्वोंकी सेनाको आज्ञा दी कि उसे जाकर छुड़ा लाओ । इसी बीचमें हमने मार्गमें देखा कि

चारण लोग आपकी विजयके गीत गाते चले आ रहे हैं। बस उसे सुनकर हम लोग इधर चले आए। अब आप उर्वशीको लेकर स्वयं हमारे साथ भगवान इन्द्रसे चलकर मिलिए, आपने सचमुच इन्द्रका बडा भारी उपकार किया है। देखिए—जैसे पहले, तपस्वी नारायणने इसे उत्पन्न करके इन्द्रको सौंप दिया था वैसे ही अब दैत्यों के हाथसे छुडाकर आप मित्रके नाते इसे इन्द्रको भेंट कर दीजिए ॥ १६ ॥

राजा—नहीं नहीं ऐसा न कहो मित्र! यह सब इन्द्र भगवानके ही पराक्रमका तो फल है कि उनके मित्र अपने शत्रुओं को उसी प्रकार मार भगाते हैं जैसे पर्वतकी गुफासे टकराकर गूँजती हुई सिंहकी दहाड हाथियोंको डराकर भगा देती है ॥ १७ ॥

चित्ररथ—ठीक ही है। जो पराक्रमी होते हैं उन्हें विनय ही शोभा देता है।

राजा—मित्र! इस समय तो मैं भगवान इन्द्रका दर्शन कर नहीं सकूँगा, इसलिये आप ही इस समय इन्हें स्वामीके पास पहुँचा आइए।

चित्ररथ—जैसी आपकी इच्छा। इधरसे आइए देवियो! इधरसे।

[सब चली जाती हैं।]

उर्वशी—[अलग] सखी चित्रलेखा! अपने ऊपर इतना उपकार करनेवाले राजर्षिसे चलते हुए विदा लेनेमें मुझे तो लाज लग रही है, इसलिये तुम्हीं मेरी ओरसे विदा माँग लो।

चित्रलेखा—[राजाके पास पहुँच कर] महाराज! उर्वशी कह रही है कि मैं चाहती हूँ कि महाराजकी आज्ञासे महाराजकी कीर्तिको अपनी सखी बनाकर इन्द्रलोकमें ले जाऊँ।

राजा—जाइए, पर फिर दर्शन अवश्य दीजिएगा।

[सब अप्सराएँ गन्धर्वके साथ आकाशमें उडनेका नाट्य करती हैं।]

उर्वशी—[उडनेमें बाधा पडनेका नाट्य करती हुई।] अरे लो! इस लताकी शाखामें मेरी इकहरी वैजयन्तीकी माला ही फँस गई! [घूमकर राजाको देखती है।] सखी चित्रलेखा! इसे छुडाओ तो आकर।

चित्रलेखा—[देखकर हँसते हुए] हाँ, यह तो बडी बुरी फँस गई है। यह क्या छुडाए छूटती है?

उर्वशी—अच्छा ठिठोली रहने दो, पहले छुडाओ तो इसे।

चित्रलेखा—अरे यह छूटती तो नहीं दिखाई देती, फिर भी देखती हूँ छुड़ाकर।

उर्वशी—[हँसती हुई] प्यारी सखी! देख, अपने ये शब्द स्मरण रखना, भूलना मत।

राजा—[मन ही मन] हे लता! तुमने इसे रोककर मुझपर यह बड़ी ही कृपा की है कि इधरको आधा मुँह फेरकर देखती हुई इस बड़े-बड़े नेत्र-वालीको मैंने इसी बहाने आँख भर देख तो लिया॥ १८॥

[चित्रलेखा माला छुड़ा देती है। उर्वशी राजाको देखकर लम्बी साँसें लेकर ऊपर उड़ती हुई सखियोंको देखती है।]

सूत—आयुष्मान! इन्द्रके शत्रु राक्षसों को समुद्रमें फेंककर आपका वायव्य बाण आपके तूणीरमें उसी प्रकार आकर पैठ गया जैसे कोई साँप अपने बिलमें आकर पैठ जाय॥ १९॥

राजा—रथको थोड़ा पास तो बढ़ा लाओ जिससे मैं चढ़ सकूँ।

[सारथी रथको पास ले आता है और राजा रथपर चढ़नेका नाट्य करता है।]

उर्वशी—[बड़ी चाहके साथ राजाको देखती हुई] क्या मैं अपने ऊपर उपकार करनेवाले इन राजर्षिको फिर कभी देख पाऊँगी?

[गन्धर्व और सखियोंके साथ उर्वशी चली जाती है।]

राजा—[जिधर उर्वशी गई उधरको देखते हुए] ओह! कामदेव भी उसीकी ओर खींच ले जाता है जिसका मिलना बड़ा कठिन होता है—यह अप्सरा आकाशमें उड़कर जाती हुई मेरे मनको शरीरसे उसी प्रकार बलपूर्वक खींचे लिए जा रही है, जैसे कोई राजहंसी टूटे हुए कमलकी डंठलसे उसका तन्तु खींचे लिए चली जा रही हो॥ २०॥

[चले जाते हैं।]

॥ पहला अंक समाप्त॥

—*—

दूसरा अङ्क

[विदूषकका प्रवेश]

विदूषक—हँ हँ हँ हँ ! न्यौता जीमनेवाले पेटू ब्राह्मणका पेट जैसे फटा पड़ता है, वैसे ही राजाके प्रेमकी बात कहनेको मेरा भी जी ऐसा फटा पड़ रहा है कि मैं अपनी जीभको इतने लोगोंके बीचमें बोलनेसे रोक नहीं पा रहा हूँ। तो जबतक मेरे माननीय मित्र महाराज, राजसभासे लौटें तबतक मैं इस देवच्छन्दक नामके भवन ही चलकर बैठूँ जहाँ लोगोंकी पहुँच भी बहुत कम होती है।

[इतनेमें चेटी आती है।]

चेटी—काशी-नरेशकी कन्याने मुझे आज्ञा दी है कि—हे निपुणिका ! भगवान् सूर्यकी उपासना करके जबसे महाराज लौटे हैं तभीसे वे कुछ अनमनेसे दिखाई देते हैं। इसलिये तू जाकर उनके प्यारे मित्र माणवकसे उनकी उदासीका कारण पूछ आ। अब मैं उस मूर्खको कैसे फोड़ूँ ? पर मैं समझती हूँ कि जैसे घासपर पड़ी हुई ओसकी बूँद बहुत देर तक नहीं ठहर पाती वैसे ही उसके पेटमें राजाकी गुप्त बातें बहुत देरतक नहीं पच सकेंगी। इसीलिये चलूँ, उसको खोज देखूँ। [घूमकर और देखकर] अरे, आर्य माणवक तो यहाँ चित्रमें बने हुए बन्दरके समान कुछ सोचते हुए चुपचाप-से बैठे हुए हैं। तो चलूँ इनके पास। [पास जाकर] आर्य ! प्रणाम करती हूँ।

विदूषक—कल्याण हो आपका। [मन ही मन] इस दुष्ट दासीको देखकर तो राजाके प्रेमकी गुप्त बातें हृदय फोड़कर बाहर निकलना चाहती हैं। [प्रकट] कहो निपुणिकाजी ! अपना गाना-बजाना छोड़कर किधर चली हो ?

निपुणिका—देवीकी आज्ञासे आपके ही दर्शनके लिये तो आ रही थी।

विदूषक—कहो कहो, महारानीजीने क्या कहलाया है ?

निपुणिका—देवीने कहलाया है कि आजकल आप हमपर कृपा नहीं कर रहे हैं और अकारण इतनी बड़ी चिन्तामें जलती हुईको देखने भी नहीं आते।

विदूषक—निपुणिका ! क्या इधर महाराजने कोई देवीके मनके विरुद्ध काम कर डाला है ?

निपुणिका—हाँ ! आजकल महाराज जिसे प्यार करते हैं, उसीका नाम लेकर उन्होंने देवीको पुकार दिया।

विदूषक—[मनमें] अरे ! तो क्या स्वयं महाराजने ही सब भंडा फोड़ दिया ! तब मैं ब्राह्मण होकर अपनी जीभ कैसे बाँधकर रख सकता हूँ। [प्रकट] क्या महाराजने उर्वशी कहकर पुकारा था ?

निपुणिका—क्यों आर्य ! यह उर्वशी कौन है ?

विदूषक—अरे यह उर्वशी एक अप्सरा है। उसे देखकर महाराज ऐसी सुध-बुध खो बैठे हैं कि उन्होंने केवल देवीका ही जी नहीं दुखा रक्खा है वरन भोजन-पानी छोड़े हुए इस ब्राह्मणको भी साँसत दे रक्खी है।

निपुणिका—[मनमें] स्वामीके भेदका दुर्ग तो मैंने फोड़ लिया। तो मैं जाकर देवीको यही सब बता देती हूँ ? [चलनेको उद्यत]

विदूषक—सुनो सुनो निपुणिका ! देखो, मेरी ओरसे काशिराजकी पुत्रीसे कहना कि मैं तो अपने मित्रको इस मृगतृष्णासे बचनेकी बात समझाते-समझाते थक गया। हाँ, यदि वे आपका मुख-कमल देख लें तो उनका मन उर्वशीसे अवश्य फिर जायगा। समझी ?

निपुणिका—जैसी आर्यकी आज्ञा। [चली जाती है।]

[नेपथ्यमें वैतालिक]

महाराजकी जय हो ! जय हो !

हम समझते हैं कि आप और सूर्य दोनों अपना नित्यका काम ठीक एक जैसा ही करते हैं, क्योंकि सूर्य भी संसारका अँधेरा मिटाते हैं और आप भी अपनी प्रजाका कष्ट दूर करते हैं। नक्षत्रोंके अकेले राजा सूर्य भी जिस प्रकार अपने काममें छुट्टी पाकर ही आकाशमें विश्राम लेते हैं वैसे ही आप भी अपने राज-काज से छुट्टी पाकर तीसरे पहर विश्राम करते हैं ॥ [illegible] ॥

विदूषक—[सुनते हुए] लो, मेरे प्रिय मित्र न्यायासनसे उठे हुए इधर ही चले आ रहे हैं। तो चलूँ, मैं भी उनकी सेवाके लिये पहुँचूँ।

॥ प्रवेशक ॥

[अनमनेसे राजा आते हैं, साथमें विदूषक भी है।]

राजा—मेरे जिस हृदयमें कामदेवने अपने बाण मारकर उस स्वर्गलोककी सुन्दरीके आने के लिये द्वार बना दिया था, उसमें वह केवल देखने भरसे ही समा गई है ॥ २ ॥

विदूषक—[मन ही मन] सचमुच काशी-नरेशकी पुत्रीके तो भाग फूट गए।

राजा—[देखकर] कहो, तुमने मेरी बात किसीको बताई तो नहीं ?

विदूषक—[मन ही मन] हाय हाय ! उस दुष्ट दासी निपुणिकाने तो मुझे बड़ा धोखा दिया, नहीं तो मेरे मित्र मुझसे इस प्रकार पूछते ही क्यों ?

राजा—क्यों चुप क्यों हो गए ?

विदूषक—देखिए, मैं ने अपनी जीभको ऐसा बाँध लिया है कि आपकी बातका भी एकाएक उत्तर नहीं निकल पाया।

राजा—ठीक है। पर यह तो बताओ कि अपना मन मैं कैसे बहलाऊँ ?

विदूषक—चलिए रसोईमें चला जाय !

राजा—वहाँ क्या धरा है ?

विदूषक—वहाँ पाँच ढङ्गके पकवानोंकी सामग्री देखने भरसे ही हम लोगोंकी उदासी जाती रहेगी।

राजा—[हँसकर] वहाँ तुम्हें तो अपने मन बहलानेकी सामग्री मिल जायगी पर बड़ी कठिनाईसे हाथ लगनेवाली वस्तुके लिये तड़पनेवाले मुझको वहाँ मन-बहलावके लिये क्या हाथ लगेगा ?

विदूषक—पर आपको भी तो उर्वशीजीने देखा होगा न ?

राजा—इससे क्या ?

विदूषक—तब तो मैं समझता हूँ कि उसका मिलना कठिन नहीं होगा।

राजा—अरे वह इतनी अधिक सुन्दरी है कि उसे बड़ी सुन्दरी कहना भी एक अनोखी-सी बात लगती है।

विदूषक—आपकी इन बातों से तो मेरा कुतूहल और भी अधिक

बढ़ रहा है। क्या उर्वशीजी सुन्दरतामें उतनी ही बढ़ी-चढ़ी हैं जितना मैं कुरूपतामें हूँ?

राजा—मित्र माणवक! बस यह समझ लो कि उसके अंग-अंगका वर्णन तो कोई कर ही नहीं सकता, इसलिये थोड़ेमें ही जो बताता हूँ उसे सुनो।

विदूषक—हाँ! मैं सुन रहा हूँ ध्यानसे।

राजा—उसका शरीर आभूषणोंका भी आभूषण है, शृङ्गारकी सामग्रियोंका भी शृङ्गार है और उपमाकी वस्तुओंकी भी उससे उपमा दी जा सकती है॥ ३॥

विदूषक—हूँ! इसीलिये आप उस स्वर्गीय जलके लिये प्यासे चातक बने बैठे हैं? अच्छा आप अभी जा किधर रहे हैं?

राजा—प्रेमी लोग एकान्त छोड़कर और जा ही कहाँ सकते हैं? चलो, मुझे प्रमदवनकी ओर ले चलो।

विदूषक—[मन ही मन] जहाँ कहिए ले चलें। [प्रकट] इधरसे आइए महाराज इधरसे। [दोनों घूमते हैं।]

विदूषक—लीजिए पहुँच गए हम प्रमदवनके पास। आपके आते ही उद्यानकी ओरसे बहता आता हुआ दक्खिनी पवन बड़ी नम्रतासे आपकी आवभगत कर रहा है।

राजा—[देखकर] इस वायुका दक्षिण कहलाना ठीक ही है क्योंकि माधवी-लताको सींचता हुआ और कुन्दलताको नचाता हुआ, यह पवन मुझे ऐसा जान पड़ता है, मानो सबसे प्रेम करनेवाला और सबको एक साथ प्रसन्न रखनेवाला यह कोई कामी हो॥ ४॥

विदूषक—यह भी आपके ही समान प्रेम करता है। [घूमता हुआ] लीजिए यह आ गया प्रमदवन। चलिए भीतर चलें चलिए।

राजा—चलो वयस्य! आगे-आगे तुम्हीं चलो [दोनों प्रवेश करनेका नाट्य करते हैं।]

राजा—[डरनेका नाट्य करते हुए] वयस्य! मैं तो यहाँ उद्यानमें यह भलाई सोचकर आया था कि यहाँ जी हलका हो जायगा, पर उसका तो यहाँ उलटा फल हो रहा है। अपने मनकी पीड़ा मिटानेके लिये

इस उद्यानमें मेरा आना वैसा ही हुआ, जैसे बहावके साथ तैरनेवालेको अचानक चढ़ावकी ओर तैरना पड़ जाय ॥ ५ ॥

विदूषक—यह कैसे ?

राजा—बड़ी कठिनाईसे हाथ आनेवाली वस्तुके लिये जो मेरा मन मचल पड़ा है, इसे एक तो कामदेवने पहले ही चलनी बना दिया था, उसपर यहाँ देख रहे हैं कि उद्यानके उन आमके पेड़ोंमें कोंपलें भी फूट आई हैं जिनके पीले पत्ते मलय-पवनने झाड़कर गिरा दिए हैं। फिर बताओ हमारे मनको शान्ति कहाँसे मिलेगी ? ॥ ६ ॥

विदूषक—चिन्ता न कीजिए। आपकी प्रियतमासे शीघ्र ही आपको मिलाकर यही कामदेव आपका सहायक बन जायगा।

राजा—ब्राह्मणका आशीर्वाद सिरमाथे। [दोनों घूमते हैं]

विदूषक—इस प्रमदवनकी शोभाको देखिए। जो बता रही है कि वसन्त आ गया।

राजा—मैं एक-एक पेड़को देख रहा हूँ। यह है कुरबकका फूल, जिसका सिरा स्त्रीके नख के समान लाल है और जिसके दोनों छोर साँवले रंगके हैं। अपनी ललाईसे सुन्दर लगनेवाला यह लाल अशोकका फूल, ऐसा लगता है कि बस अब खिलने ही वाला है। आममें कुछ-कुछ दिखाई देनेवाले परागके कारण पीला-सा लगनेवाला नया बौर फूट रहा है। मित्र ! इस प्रकार यह वसन्तकी शोभा ऐसी लगती है मानो वह अपने बचपन और जवानीके बीचमें खड़ी हुई हो ॥ ७ ॥

विदूषक—देखिए यहाँ अतिमुक्त लताके मंडपके नीचे रतनजड़ी पत्थरकी चौकीपर भौंरोंके उड़नेसे जो फूल गिर-गिरकर बिखरे पड़े हैं, वे ऐसे लगते हैं मानो यह मंडप, सब सजावट करके बड़े आदरसे आपका स्वागत कर रहा हो। तो चलिए इसका भी मन रख लीजिए।

राजा—जैसा तुम्हें अच्छा लगे। [दोनों घूमकर बैठते हैं।]

विदूषक—अब आप यहाँ सुखसे बैठकर सुन्दर लताओंमें अपने नयन उलझाकर उर्वशीकी चिन्ता ही मिटा डालिए।

राजा—[साँस भरकर] उसकी सुन्दरताने मेरी आँखोंपर कुछ ऐसा जादू फेर दिया है कि उन्हें इस उपवनकी फूली हुई लताएँ और कोमल

पौधे भाते ही नहीं हैं ॥ ८ ॥ इसलिये कोई ऐसा उपाय सोचो कि मेरे मनकी साध पूरी हो सके।

विदूषक—[हँसकर] देखिए, जैसे अहल्याको पानेकी इच्छा करनेवाले इन्द्रकी सहायता करते समय चन्द्रमाकी बुद्धि मारी गई थी, वैसे ही प्रेममें पड़े हुए आपका सहायक होकर मैं भी अपनी सब बुद्धि खो बैठा हूँ।

राजा—ऐसा न कहो। जो अधिक स्नेह करता है वही तो ठीक उपाय सुझा सकता है। इसलिये कोई उपाय सोच ही डालो।

विदूषक—अच्छा मैं सोचने तो बैठता हूँ पर आप बीचमें ही रोना-कलपना मचाकर मेरा ध्यान न उचाट दीजिएगा।

[सोचनेका नाट्य करता है।]

राजा—[अच्छे शकुनको सूचना देता हुआ मन ही मन] पूर्ण चन्द्रमाके समान मुखवाली उस सुन्दरीके मिलनेकी कोई आशा तो नहीं है पर न जाने क्यों कामदेव मुझे बड़े अच्छे सगुन दिखा रहा है। मेरा मन अचानक ऐसा खिल उठा है, मानो मेरा काम बस बनने ही वाला हो ॥ ९ ॥

[बड़ी आशा लगाकर बैठता है।]

[विमानपर चढ़ी हुई उर्वशी और चित्रलेखा दिखाई देती हैं।]

चित्रलेखा—क्यों सखी! बिना सोचे-समझे किधर चली जा रही हो?

उर्वशी—[काम-पीडाका नाट्य करती हुई लज्जाके साथ] सखी! जब हेमकूट पर्वतकी चोटीपर, लताकी शाखामें मेरी माला उलझ गई थी और मेरा उड़ना थोड़ी देरके लिये रुक गया था, उस समय मुझसे ठिठोली करके भी अब तुम पूछ रही हो कि मैं कहाँ जा रही हूँ?

चित्रलेखा—तो क्या तुम उस राजर्षि पुरूरवाके पास जा रही हो?

उर्वशी—और क्या? आज मैंने सब लाज छोड़कर यही जीमें ठान लिया है।

चित्रलेखा—तो वहाँ तुम्हारे जानेका सन्देश कौन ले गया है?

उर्वशी—क्यों? मेरा हृदय।

चित्रलेखा—फिर भी इसका भला-बुरा भली प्रकार सोच-विचार लो।

उर्वशी—सखी ! मुझे तो कामदेवने ही इस कार्यमें झोंक दिया है, फिर इसमें सोच-विचार ही कैसा ?

चित्रलेखा—तुमने तो ऐसी बात कह दी कि मेरा मुँह ही बन्द हो गया।

उर्वशी—तो अब मुझे कोई ऐसा उपाय बताओ कि मैं वहाँ बेरोक-टोक पहुँच जाऊँ।

चित्रलेखा—चिन्ता न करो सखी ! देवगुरु बृहस्पतिने अपराजिता नामकी, चोटी बाँधनेकी विद्या सिखाते समय हमें ऐसी शक्ति दे दी है कि देवोंके शत्रु भी हम लोगोंका बाल बाँका नहीं कर सकते।

उर्वशी—[लजाती हुई] अरी ! यह बात तो मेरे ध्यानसे ही उतर गई थी। [दोनों घूमती हैं।]

चित्रलेखा—अरी, देख-देख सखी ! हम लोग राजर्षिके उस भवन पर पहुँच गई हैं जिसकी जोडका दूसरा कोई भवन प्रतिष्ठानपुरीमें नहीं है और जो ऐसा दिखाई पड रहा है मानो यमुनाजीके सगमके कारण और भी अधिक पवित्र बने हुए गगाजीके जलमें अपना मुँह देख रहा हो।

उर्वशी—[चावसे देखती हुई] यह क्यों नहीं कहती कि स्वर्ग ही यहाँ उठकर चला आया है। [विचारकर] अच्छा सखी ! दुखियोंपर दया करनेवाले वे राजा इस समय कहाँ होंगे भला ?

चित्रलेखा—चलो सखी ! नन्दनवनके समान सुहावने इस प्रमदवनमें उतरकर उनका पता लगावें। [दोनों उतरती हैं।]

चित्रलेखा—[राजाको देखकर प्रसन्नतासे] सखी ! जैसे नया-नया निकला हुआ चन्द्रमा चाँदनीके आनेकी बाट देखता है, वैसे ही ये भी यहाँ बैठे हुए तेरे आनेकी बाट देख रहे हैं।

उर्वशी—[देखकर] सखी ! आज तो महाराज उस दिनसे भी अधिक सुन्दर जँच रहे हैं।

चित्रलेखा—ठीक कहती हो ! तो आओ चलें उनके पास।

उर्वशी—नहीं नहीं, मैं तो उनके पास नहीं जाऊँगी। मैं तो मायाकी ओढनीमें छिपी हुई इनके पास खडी होकर यह सुनती हूँ कि ये अपने पास बैठे हुए मित्रसे अकेलेमें क्या बातें कर रहे हैं।

चित्रलेखा—अच्छा यही सही। [दोनों वैसा ही करती हैं।]

विदूषक—सुनिए! अपनी जिस प्यारीका मिलन आप कठिन समझ बैठे हैं, उससे मिलनेका उपाय मैं ने सोच निकाला है।

[राजा चुप रह जाते हैं।]

उर्वशी—[डाहसे] ऐसी और कौन-सी बड़भागी सुन्दरी निकल आई है, जो इनकी चहेती बनकर अपना भाग सराहती है।

चित्रलेखा—तुम फिर क्या मानिनी स्त्रियों जैसी बातें करने लगी हो?

उर्वशी—सखी! मैं अपनी दैवी शक्तिसे सब बातें एक साथ जान लेनेमें थोड़ा डरती हूँ।

विदूषक—अरे सुनिए! मैं कह रहा हूँ कि मैंने उपाय सोच निकाला है।

राजा—तो फिर बताओ न!

विदूषक—या तो आप ऐसी गहरी नींदमें जाकर सो रहिए कि सपनेमें उससे भेंट हो जाय या फिर चित्र-फलकपर उर्वशीजीका चित्र बनाकर उसे एकटक निहारा कीजिए।

उर्वशी—[हर्षसे मन ही मन] अरे पापी हृदय! धीरज धर, धीरज धर।

राजा—दोनों ही बातें नहीं हो सकतीं। देखो! कामदेव, मेरे हृदयको दिन-रात अपने बाणोंसे बेधता रहता है। इसलिये मुझे ऐसी नींद भला कहाँ आ पावेगी कि प्यारीसे भेंट हो जाय, और फिर चित्र भी नहीं बन सकता क्योंकि बीचमें आँखें डबडबा आनेसे वह अधूरा ही रह जायगा॥१०॥

चित्रलेखा—अब तो तुमने सब सुन लिया न!

उर्वशी—हाँ सखी, सुन तो लिया, पर अभीतक मेरे जीको पूरा-पूरा भरोसा नहीं हो पाया है।

विदूषक—मेरी बुद्धिकी पहुँच तो यहींतक थी।

राजा—[लम्बी साँस लेकर] मैं समझता हूँ कि या तो वह मेरे मनकी इस बेकलीको जानती ही न होगी या फिर उसे अपने अप्सरा होनेका ऐसा घमंड है कि वह जान-बूझकर मेरे प्रेमको ठुकरा रही है। जान पड़ता है कि मेरे मनमें उस सुन्दरीसे मिलनेकी जो चाह है, उसे चूर-चूर करके और मेरे जीवनको बेकाम बना लेनेपर ही कामदेवका जी भरेगा॥ ११॥

चित्रलेखा—तुमने सुना सखी !

उर्वशी—हाय हाय ! ये मुझे ऐसा नीच समझ रहे हैं। [सखीको देखकर] सखी ! इनके आगे पहुँचकर तो मुझसे उत्तर देते बनेगा नहीं, इसलिये मैं अपनी दैवी शक्तिसे एक भोजपत्र उत्पन्न करके उसीपर उत्तर लिख देना चाहती हूँ।

चित्रलेखा—हाँ सखी ! मैं भी यही ठीक समझती हूँ।

[उर्वशी बड़े हाव-भावसे भोजपत्रपर लिखनेका नाट्य करती है और उसे फिर राजाके आगे फेंक देती है।]

विदूषक—[देखकर घबराता हुआ] हाय ! हाय ! मुझे निगलनेके लिये यह साँपकी केंचुली कहाँसे आ टपकी ?

राजा—[देखकर और हँसकर] मित्र ! यह साँपकी केंचुली नहीं है, यह तो लिखा हुआ भोजपत्र है।

विदूषक—मैं समझता हूँ कि उर्वशीने ही छिपे-छिपे तुम्हारा रोना-धोना सुनकर अपना प्रेम जतानेके लिये यह पत्र लिखकर यहाँ डाल दिया होगा।

राजा—मनकी दौड़ भी कितनी दूरतक पहुँचती है। [पत्रको उठाकर और पढ़कर] मित्र ! तुम्हारी ही बात ठीक निकली।

विदूषक—ह ह ! ब्राह्मणकी बात भी क्या कभी झूठ होती है ? अब आप खिल उठिए। अच्छा, मैं भी तो सुनूँ, इसमें क्या लिखा है।

उर्वशी—धन्य है, तुम सचमुच अच्छे नागरिक हो।

राजा—सुनो मित्र !

विदूषक—हाँ, सुन रहा हूँ।

राजा—सुनो ! [बाँचता है।]

"महाराज ! आप मेरे मनकी बात क्या जानें। यदि आप मुझसे इतना प्रेम करनेपर भी मुझे वैसी ही समझते हैं जैसी आप अभी बता रहे थे तब यह तो बताइए कि जब मैं कोमल पारिजातके फूलोंकी सेजपर जाकर लेटती हूँ, उस समय नन्दनवनका शीतल पवन मेरे शरीरको जलाने क्यों लगता है ? ॥ १२ ॥

उर्वशी—देखें इसपर ये क्या कहते हैं !

चित्रलेखा—उनके मुरझाए हुए कमल-नालके समान अंगोंने ही सब कुछ कह डाला है।

विदूषक—यह बड़े भागकी बात है कि आपकी बेकली मिटानेका वैसा ही सहारा मिल गया जैसे भूख लगनेपर मुझे कहींसे भोग लगाया हुआ भोजन मिल जाता है।

राजा—इसे केवल सहारा बताते हो ? मैं तो जब उस मद-भरे नैनों-वालीके मनकी बातें, इन सुन्दर अर्थोंसे भरे हुए और उसके मनमें भी मेरे मनके ही जैसा प्रेम जतलानेवाले प्रेम-पत्रको पढ़ता हूँ तब मुझे ऐसा लगता है मानो हम दोनों आमने-सामने खड़े होकर एक-दूसरेसे बातें कर रहे हों॥ १३॥

उर्वशी—हम दोनोंका प्रेम अब जाकर बराबर-बराबर बैठा है।

राजा—मित्र! मेरी प्रियाकी यह प्रेम-पाती तुम लिए तो रहो, कहीं मेरी उँगलियोंके पसीनेसे इसके अक्षर मिट न जायँ।

विदूषक—[पत्र लेकर] जिन उर्वशीजीने यह पत्र भेजकर आपके मनोरथोंमें फूल लगा दिए हैं, वे क्या आपकी समझमें फल देनेमें टाल-मटोल करेंगी ?

उर्वशी—सखी! अभी मेरा हृदय, उनके पास जानेमें झिझक रहा है। इसलिये जबतक मैं अपना जी सँभालूँ तबतक तुम इनके पास जाकर मेरी ओरसे जो कुछ कहना ठीक समझो, कह डालो।

चित्रलेखा—अच्छा। [मायाकी ओढनी हटाकर और राजाके पास पहुँच-कर।] महाराजकी जय हो।

राजा—[देखकर प्रसन्नतासे।] आइए! स्वागत है आपका। [इधर-उधर देखकर] क्यों भद्रे! जैसे प्रयागका संगम देखनेवालेको, गंगाके बिना अकेली यमुना नहीं भाती वैसे ही अपनी सखीके बिना तुम भी मुझे नहीं भाती हो॥ १४॥

चित्रलेखा—पर महाराज! पहले तो बदली दिखाई देती है न, पीछे बिजली चमकती है।

विदूषक—[अलग] अरे! तो क्या ये उनकी प्यारी सखी हैं, उर्वशी नहीं हैं।

राजा—आइए इस आसनपर बैठ जाइए।

चित्रलेखा—उर्वशीने महाराजको सिर नवाकर प्रणाम करते हुए कहलाया है—

राजा—हाँ क्या आज्ञा दी है ?

चित्रलेखा—यही कि उस बार जब दैत्य मुझे पकड़ ले गए थे उस समय महाराजने ही मेरी रक्षा की थी। अब आपको देख लेनेपर मेरे मनमें प्रेमकी बड़ी पीड़ा उठ खड़ी हुई है, इसलिये चाहती हूँ कि इस बार भी मुझपर आपकी कृपा हो जाय।

राजा—अरी सुन्दरी ! अपनी सखीको तो तुम इतना प्रेममें व्याकुल बता रही हो, पर यह नहीं देख रही हो कि यह पुरूरवा भी उसके प्रेममें पागल हुआ बैठा है। हम दोनोंका प्रेम, दोनों ओर एक जैसा ही बढ़ा हुआ है, इसलिये एक तपे हुए लोहेको दूसरे तपे हुए लोहेसे जोड़ देना ही अब ठीक होगा ॥ १५ ॥

चित्रलेखा—[उर्वशीके पास जाकर] आओ आओ, सखी ! कामदेवने तुमसे भी अधिक इनको सता रक्खा है। इसलिये अब मैं तुम्हारे प्रियतमकी ही दूती बनकर तुम्हारे पास आई हूँ।

उर्वशी—[मायाकी ओढ़नी हटाकर] वाह ! क्या झटसे तू मुझे छोड़कर उधर चली गई ?

चित्रलेखा—[मुस्कराकर] सखी, अभी थोड़ी ही देरमें देखती हूँ न कि कौन किसे छोड़कर जाती है। अच्छा, पहले महाराजको प्रणाम तो कर लो।

उर्वशी—[हड़बड़ीमें राजाके पास पहुँचकर लजाती हुई प्रणाम करके।] महाराजकी जय हो।

राजा—[प्रसन्न होकर] सुन्दरी ! जो 'जय' शब्द तुमने सहस्र आँखवाले इन्द्रको छोड़कर आजतक किसी दूसरे पुरुषके लिये नहीं कहा था, वह आज तुमने मेरे लिये कह दिया, इसलिये आज सचमुच मुझे जय मिल गई ॥ १६ ॥

[हाथ पकड़कर बैठाते हैं।]

विदूषक—देवीजी ! क्या महाराजके प्रिय मित्र ब्राह्मणको प्रणाम आप नहीं कीजिएगा ?

[उर्वशी मुस्कराती हुई प्रणाम करती है।]

विदूषक—आपका कल्याण हो।

[नेपथ्यमें देवदूत कहता है।]

"चित्रलेखा! उर्वशीको झटपट ले आओ। भरतमुनिने तुम लोगोंको, जो आठ रसोंसे भरा हुआ नाटक सिखा रक्खा है उसीका सुन्दर अभिनय, भगवान इन्द्र और लोकपाल देखना चाहते हैं॥१७॥

[सब सुनते हैं और उर्वशी दुखी होनेका नाट्य करती है।]

चित्रलेखा—प्यारी सखी! तुमने देवदूतके वचन सुने? तो अब महाराजसे विदा लो।

उर्वशी—मुझसे तो बोला नहीं जा रहा है।

चित्रलेखा—महाराज! उर्वशी प्रार्थना करती है कि मैं तो पराधीन हूँ, इसलिये महाराजकी आज्ञा हो तो चली जाऊँ और देवताओंका अपराध करनेसे बच जाऊँ।

राजा—[बड़ी कठिनाईसे बोलते हुए।] मैं आपके स्वामीकी आज्ञाका भला कैसे विरोध कर सकता हूँ। पर मुझे भूलिएगा मत!

[उर्वशी वियोगका भाव प्रकट करती हुई और राजेकी ओर देखती हुई सखीके साथ चली जाती है।]

राजा—[लंबी साँस लेकर] मित्र! अब तो मेरी आँखोंका होना न होना बराबर है।

विदूषक—[पत्र दिखानेकी इच्छासे] पर यह [इतना ही कहकर रुक जाता है। दुखके साथ मन ही मन] हाय हाय! उस उर्वशीको देखनेमें मैं ऐसा बेसुध हो गया कि मुझे यह भी पता न चला कि मेरे हाथसे भोजपत्र कब निकलकर गिर पड़ा।

राजा—क्या कह रहे थे मित्र?

विदूषक—मैं यही कह रहा था कि आप निराश न हों, क्योंकि उर्वशी आपसे इतना गहरा प्रेम करती है कि अब उसके प्रेममें ढिलाई आ नहीं सकती।

राजा—मेरा मन भी यही कहता है। अपने शरीरपर तो उसका वश था ही नहीं इसलिये अपने जिस हृदयपर उसका अधिकार था उसे तो चलते समय वह अपनी उन उसाँसोंके साथ मुझे सौंप गई जो उसके स्तनोंके काँपनेसे भली प्रकार प्रकट हो रही थीं॥१८॥

विदूषक—[मन ही मन] मुझे यही डर हो रहा है कि महाराज कहीं भोजपत्र न माँग बैठें ।

राजा—मित्र ! बताओ अब मैं कैसे अपनी आँखें ठंढी करूँ। [स्मरण करके] अरे हाँ ! वह भोजपत्र तो लाओ ।

विदूषक—[चारों ओर ढूँढता हुआ, दुखी होनेका नाट्य करता है] हाय, हाय ! वह तो कहीं मिलता ही नहीं। मित्र ! वह भोजपत्र तो स्वर्गका था न, इसलिये वह भी उर्वशीके साथ ही उड़ गया होगा।

राजा—[क्रोधसे] मूर्ख ! तुम सदा ऐसे ही बेसुध रहते हो। जाओ, ढूँढो उसे।

विदूषक—[उठकर] बस बस यहाँ होगा या यहाँ होगा, या यहाँ होगा। [इस प्रकार खोजनेका नाट्य करता है।]

[इसी बीच काशी-नरेशकी पुत्री महारानी, अपनी दासियों के साथ आती हैं।]

देवी—सखी निपुणिका ! तूने सच कहा था कि आर्य माणवकके साथ आर्यपुत्र लता-मंडपमें गए हैं।

निपुणिका—मैं ने क्या आजतक कभी आपसे झूठ बोला है ?

देवी—अच्छा तो मैं इन लता-वृक्षोंकी ओटमें खड़ी होकर इनकी गुप-चुप बातें सुनकर देखती हूँ कि तूने जो कुछ कहा है वह सच है या नहीं।

निपुणिका—जैसा भट्टिनी ठीक समझें।

देवी—[घूमकर सामने देखकर] सखी निपुणिका ! देखो तो यह दक्खिनी पवनके साथ, फटे कपडे जैसा क्या इधरको उडा चला आ रहा है।

निपुणिका—[देखकर] भट्टिनी ! यह तो भोजपत्र है और उलटा-पलटा उडा आता हुआ ऐसा लगता है कि इसपर कुछ लिखा हुआ हो लीजिए, यह तो भट्टिनीके बिछुएमें ही आकर अटक गया। [उठाकर] लीजिए बाँचिए तो।

देवी—तुम्हीं बाँच लो। यदि कोई मेरे मनकी बात हो तो सुना देना।

निपुणिका—[बाँचकर] यह तो वही प्रेमवाली बात जान पडती है, जिसका, चारों ओर इतना हल्ला हो रहा है। मैं समझती हूँ कि उर्वशीने

स्वामीको यह कविता लिखकर भेजी होगी और आर्य माणवककी असावधानीसे यह हम लोगोंके हाथ लग गई है।

देवी—अच्छा तो पढो इसमें क्या लिखा है ?

[निपुणिका बाँचती है।]

देवी—[सुनकर] तो चलो यही भेंट लेकर हम उस अप्सराके प्रेमीसे चलकर मिलें।

निपुणिका—चलिए।

[दासियोंके साथ लता मण्डपकी ओर घूम जाती हैं।]

विदूषक—[देखकर] क्यों मित्र ! यह प्रमदवनके पासवाले क्रीडा-पर्वतपर पवनके झोकेमें हिलता-सा क्या दिखाई दे रहा है।

राजा—[उठकर] हे वसन्तके प्यारे मित्र दक्षिण पवन ! तुम्हें अपना शरीर सुगन्धित करना हो तो तुम लताओंपर खिले हुए और वसन्तके हाथोंसे इकट्ठी किए हुए फूलोंका पराग उठाकर—क्यों नहीं ले जाते। मेरी प्यारीके हाथका लिखा हुआ पत्र भला तुम्हारे किस काम आवेगा। तुम तो स्वयं अञ्जनासे प्रेम कर चुके हो इसलिये जानते ही होगे कि ऐसी ही मन बहलानेवाली वस्तुओंको देखकर ही तो प्रेमी लोग जिया करते हैं ॥१९॥

निपुणिका—देखिए देखिए, भट्टिनी ! ये लोग इसी पत्रको खोज रहे हैं।

देवी—चुप चुप ! देखें तो सही, ये क्या-क्या करते हैं।

विदूषक—[दुखके साथ] हाय हाय ! इस मोर-पखको देखकर मुझे मुरझाए हुए केशरके फूलका धोखा हो गया, क्योंकि दोनों एक जैसे ही लगते थे।

राजा—मैं तो सब प्रकार लुट गया।

देवी—[एकाएक आगे बढकर] घबराइए मत आर्यपुत्र ! यह रहा वह भोजपत्र।

राजा—[घबराकर] अरे आप हैं देवी ? आइए, आइए ! भली आ गईं आप।

विदूषक—[अलग] भली क्या, बडी बुरी आईं इस समय।

राजा—[अलग] क्यों मित्र ! अब क्या होगा।

विदूषक—[अलग] चोरीके मालके साथ पकडा हुआ चोर अब कह ही क्या सकता है।

राजा—[अलग] अरे मूर्ख ! यह हँसीका समय नहीं है। [प्रकट] मैं इसे नहीं खोज रहा था देवी ! मैं तो कुछ और ही खोजनेमें लगा हुआ था।

देवी—हाँ हाँ, आपको तो अपने सुखकी बात छिपानी ही चाहिए।

विदूषक—देवी ! जाकर महाराजके भोजनका प्रबन्ध कीजिए जिससे इनका पित्त तो शान्त हो।

देवी—निपुणिका ! इस ब्राह्मणने अपने मित्रको अच्छा बचा लिया।

विदूषक—देखिए, देवी ! भोजन देकर तो भूत-पिशाचतक शान्त कर दिए जाते हैं।

राजा—क्यों रे मूर्ख ! तू मुझे बिना बातके ही अपराधी बनानेपर क्यों तुला हुआ है ?

देवी—यह आपका नहीं मेरा ही अपराध है कि मैं ऐसे बेढंगे समयमें आपके काममें बाधा डालने आ पहुँची। लीजिए, मैं चली जाती हूँ। चलो निपुणिका, चलें।

[क्रोधका नाट्य करके चली जाती है।]

राजा—[पीछे-पीछे जाता हुआ] सुनिए तो देवी, मैं ही अपराधी हूँ। अरे मान जाओ सुन्दरी ! इतना बिगडो मत। जब स्वामिनीने क्रोध किया है तो इस सेवकने कुछ न कुछ अपराध अवश्य ही किया होगा ॥२०॥

[पैरों पर गिरते हैं।]

देवी—[मन ही मन] मुझे ऐसी भोली न समझ बैठिएगा कि मैं आपकी इन चिकनी-चुपडी बातोंमें आ जाऊँगी। पर मैं तो यही डरती हूँ कि यदि मैं आपसे कुछ कडा बर्ताव भी करूँ तो पीछे मुझे ही पछतावा होगा।

[राजाको छोडकर अपनी दासियोंके साथ चली जाती हैं।]

विदूषक—वर्षाकी नदीके समान मैले मनवाली देवी चली गईं। अब उठिए, उठिए।

राजा—[उठकर] मित्र ! इसमें उनका कोई दोष नहीं है। देखो,

—यदि कोई पति ऊपरी मनसे केवल चिकनी-चुपड़ी बातें करके ही अपनी प्यारीको मनाने लगता है तो उसकी बातें स्त्रियों के हृदयमें उसी प्रकार नहीं बैठतीं जैसे बनावटी रंगसे रँगा हुआ मणि, सच्चे पारखीको नहीं जँचता ॥२१॥

विदूषक—पर आप तो यह चाहते ही थे। जिसकी आँखें आ गई हों उसे सामने रक्खे हुए दीयेकी लौ थोड़े ही भाती है।

राजा—नहीं नहीं, ऐसा न कहो। उर्वशीसे प्रेम करनेपर भी मैं इन देवीको पहले ही जैसा प्यार करता हूँ, पर मेरे इतने हाथ-पैर जोड़नेपर भी वे मुझे ठुकराकर चल दीं इसलिये अब मैं भी उनसे रूठ जाता हूँ।

विदूषक—ऐंठिएगा पीछे। पहले इस भूखे ब्राह्मणके प्राण तो बचाइए। चलिए, स्नान-भोजनका समय हो गया है।

राजा—[ऊपर देखकर] अरे, यह तो आधा दिन चढ आया। इसी-लिये—यह मोर गर्मीसे घबराकर पेडकी जडके ठंडे थाँवलेमें आ बैठा है, यह भौंरा कनेरकी कलीका मुँह खोलकर उसमें छिपनेकी ब्योंत कर रहा है, यह जल-कुक्कुट, तालका गरम पानी छोड़कर तटपर खिली हुई कमलिनीकी छायामें जा बैठा है और मनबहलाववाले भवनके पिजड़ेमें पडा हुआ यह प्यासा सुग्गा भी पानी माँग रहा है ॥२२॥

[दोनों चले जाते हैं]

॥ दूसरा अङ्क समाप्त ॥

तीसरा अङ्क

[भरत मुनिके दो शिष्य प्रवेश करते हैं]

गालव—मित्र पेलव ! इन्द्र-भवनको जाते समय गुरुजीने अपना आसन साथ ले चलनेके लिये तुम्हें तो अपने साथ ले लिया था और मुझे यहाँ अग्निहोत्रका काम सौंप दिया था। इसीलिये मैं पूछता हूँ कि गुरुजीके नाटकसे देवताओंकी सभा प्रसन्न तो हुई न ?

पेलव—गालव ! यह तो मैं नहीं जानता कि देवसभा प्रसन्न हुई या नहीं, पर वहाँ जो लक्ष्मी-स्वयवर नामका नाटक हुआ था और जिसके गीत स्वय सरस्वतीजीने बनाए थे, उसमें जो-जो रस जब-जब दिखाए जाते थे तब-तब उन-उन रसोंमें वह पूरीकी पूरी सभा मगन हो उठती थी। पर

गालव—जान पडता है तुम कुछ कहते-कहते रुक गए।

पेलव—हाँ यही कि उस नाटकमें उर्वशीने बोलनेमें कुछ भूल कर दी।

गालव—क्या भूल कर दी ?

पेलव—उस नाटकमें वारुणी बनी हुई मेनकाने, लक्ष्मी बनी हुई उर्वशीसे पूछा—सखी ! यहाँ तीनों लोकोंसे एकसे एक सुन्दर पुरुष, लोकपाल और स्वय विष्णु भगवान् आए हुए हैं, इनमें तुम्हें कौन सबसे अधिक भाता है ?

गालव—तब-तब !

पेलव—उस समय उसे कहना तो चाहिए था पुरुषोत्तम पर भूलसे उसके मुँहसे निकल गया 'पुरूरवा'।

गालव—भाई ! जैसी होनी होनी है वैसे ही मनुष्यके अग भी काम करने लगते हैं। क्या गुरुजी इस बातपर बिगडे नहीं ?

पेलव—अरे, गुरुजीने तो उसे शाप ही दे दिया था, पर भगवान इन्द्रने उसे जैसे-तैसे बचा लिया।

गालव—कैसे ?

पेलव—गुरुजीने तो यह शाप दे दिया था कि तूने जो मेरे सिखाए पाठके अनुसार काम नहीं किया इसपर तुझे यह दंड दिया जाता है कि तू स्वर्ग में नहीं रहने पावेगी। पर ज्योंही नाटक समाप्त हुआ त्योंही लज्जासे सिर नीचा किए खड़ी हुई उर्वशीसे इन्द्रने आकर कहा—देखो! रण-क्षेत्रमें सदा मेरी सहायता करनेवाले जिस राजर्षिसे तुम प्रेम करती हो उनके मनका भी कुछ कर देना चाहिए। इसलिये जबतक वे तुम्हारी संतानका मुँह न देखें तबतक तुम मनचाहे ढंगसे पुरूरवाके साथ रह सकती हो।

गालव—सबके मनकी बात जाननेवाले इन्द्रको यही शोभा देता है।

पेलव—[धूपकी ओर देखकर] बातें करते-करते गुरुजीके स्नानका समय भी निकल गया। आओ चलो, उनके पास चले चलें।

गालव—अच्छा चलो। [दोनों चले जाते हैं।]

॥ मिश्र विष्कम्भक ॥

[कञ्चुकी आता है।]

कञ्चुकी—[लंबी लंबी साँस लेकर]—जो लोग बहुत बड़े कुटुम्बवाले होते हैं वे युवावस्थामें तो धन बटोरनेके फेरमें पड़े रहते हैं और फिर बुढ़ापेमें अपना सब भार पुत्रोंपर सौंपकर विश्राम करते हैं। पर यहाँ तो ऐसी दशा हो गई है कि रात-दिन इस नौकरीके चक्करमें पड़े-पड़े बूढ़े हो चले हैं। सचमुच स्त्रियोंकी सेवाका काम बड़ा टेढ़ा होता है॥१॥ [घूमकर] आजकल काशीराजकी पुत्री महारानी, व्रत कर रही हैं। उन्होंने मुझे आज्ञा दी है कि मैं सब मान छोड़कर निपुणिकासे महाराजको कहला चुकी हूँ कि वे आकर मेरा व्रत सफल करें, इसलिये तुम मेरी ओरसे जाकर महाराजको बुला लाओ। इस समय महाराज सायकालकी जप-सध्या करके बैठे होंगे, इसलिये चलूँ, वहीं उनके दर्शन करूँ। [घूमकर और देखकर]—सध्याके समय राज-द्वार भी कैसा सुहावना लगता है। यहाँ नींदमें अलसाए हुए और अपने अड्डोंपर बैठे हुए मोर, पत्थरमें खुदे हुए-से दिखाई पड़ रहे हैं। छतों से बाहर निकली हुई टॉड में बैठे हुए कबूतरों और उन टॉडोंके छेदों से निकलनेवाले धुएं, दोनों में यही नहीं पता चलता कि कौन धुआँ है और कौन

कबूतर। रनिवासके बूढ़े नौकर नहा-धोकर, फूलों से सजे हुए भवनों में, सन्ध्याके पूजनके लिये जलते हुए दीपक ला-लाकर यथास्थान सजा रहे हैं ॥ २ ॥ [नेपथ्यकी ओर देखकर।] अरे ! महाराज तो इधर ही चले आ रहे हैं।—महाराजके चारों ओर हाथों में दीपमाला लिए हुए जो बहुतसी दासियाँ चली आ रही हैं, उनसे महाराज उस पर्वतके समान चमक रहे हैं जो पंख न कटनेसे चलता आ रहा हो और जिसके दोनों ढालोंपर कनेरके फूले हुए पेड़ खड़े हों ॥ ३ ॥ तबतक मैं आगे खड़ा होकर उनके आनेकी बाट जोहता हूँ। [घूमकर खड़ा हो जाता है।]

[राजा और विदूषक आते हैं]

राजा—[मन ही मन]—ओह ! दिन भर काममें लगे रहनेसे दिन बीतता जान ही नहीं पडा, पर अब मन बहलावकी सामग्रीके बिना रातकी लम्बी-लम्बी घडियाँ कैसे कटेंगी ॥ ४ ॥

कञ्चुकी—[आगे बढकर] जय हो महाराज ! आपकी विजय हो। देव ! देवी निवेदन करती हैं कि मणिहर्म्य-भवनसे चन्द्रमा भली भाँति दिखाई पड जायँगे। इसलिये मेरी इच्छा है कि मैं वहींपर महाराजके साथ ही चन्द्रमा और रोहिणीका मिलन देखूँ।

राजा—आर्य लातव्य ! देवीसे कहना कि जो आप कहेंगी, मैं वही करूँगा।

कञ्चुकी—जैसी देवकी आज्ञा। [चला जाता है।]

राजा—वयस्य ! क्या देवीने इतनी धूम-धाम सचमुच व्रतके लिये ही की है ?

विदूषक—मैं तो समझता हूँ कि उस दिन जब आप उनके पैरों पडे थे और वे रूठकर चल दी थीं, उससे उन्हें पछतावा हुआ होगा। इसीलिये उन्होंने यह व्रत ठाना होगा।

राजा—ठीक कहा आपने। क्योंकि—स्त्रियाँ जब रूठी रहती हैं तब तो पैरों पडनेपर भी अपने पतिकी बात नहीं मानतीं पर पीछे इस बात पर वे बडी पछताती हैं ॥ ५ ॥ तो चलो मुझे मणिहर्म्य-भवनमें पहुँचाओ।

विदूषक—इधरसे आइए आप, इधरसे। गंगाजीकी लहरों के समान उजली स्फटिक मणिकी सीढियों से चढकर सध्याको सुहावने

लगनेवाले इस मणिहर्म्य-भवनपर पहुँच जाइए।

राजा—तुम चढो आगे-आगे। [दोनों सीढ़ियोंपर चढ़नेका नाट्य करते हैं।]

विदूषक—[देखकर] जान पड़ता है कि बस चन्द्रमा निकलने ही वाले हैं। देखो! अँधेरा मिट जानेसे पूर्व दिशाका मुँह कैसा सुहावना लगने लगा है?

राजा—ठीक कह रहे हो।—उदयाचलके पीछे छिपे हुए चन्द्रमाकी किरणोंसे जो अंधकार मिटता जा रहा है वह सचमुच मेरे मनको ऐसा लुभा रहा है मानो जूड़ा बँधा हुआ पूर्व दिशाका मुँह हो॥ ६॥

विदूषक—हैं हैं हैं हैं! यह ऊपर उठता हुआ द्विजोंका राजा चन्द्रमा ऐसा सुन्दर लग रहा है जैसे खाँड़का लड्डू हो।

राजा—[मुस्कराकर] भोजन-भट्टको सबमें भोजनकी सामग्री ही दिखाई पड़ती है। [हाथ जोड़कर]—हे भगवन् चन्द्रमा! हे सज्जनोंकी धार्मिक क्रियाओंमें सूर्यके साथ-साथ स्मरण किए जानेवाले! हे अमृत पिलाकर देवता और पितरोंको तृप्त करनेवाले! हे रातके चारों ओर फैले हुए अँधेरेको हटानेवाले! हे शिवजीके जटा-जूटपर रहनेवाले! आपको प्रणाम है!॥ ७॥ [पूजा करता है।]

विदूषक—महाराज! आपके दादा चन्द्रमा मुझ ब्राह्मणके मुँहसे आपको यह आज्ञा दे रहे हैं कि आप चलकर बैठिए जिससे मैं भी सुखसे बैठ रहूँ।

राजा—[विदूषकके कहनेसे बैठकर और अपनी सेविकाओंको देखकर।] जब चारों ओर इतनी चाँदनी छिटकी हुई है तब ये दीपक क्यों जला रक्खे हैं। जाइए आप सब विश्राम कीजिए।

परिजन—जैसी देवकी आज्ञा। [सब सेविकाएँ चली जाती हैं।]

राजा—[चन्द्रमाको देखकर विदूषकसे] वयस्य! अभी देवीके आनेमें तो बहुत देर है, इसलिये चलो अकेलेमें बैठकर तुम्हें अपने मनकी व्यथा समझाऊँ।

विदूषक—समझाओगे क्या, वह तो दिखाई ही दे रही है। पर उर्वशीने आपपर अपना जैसा प्रेम जताया है उसके भरोसे तो आपको अपना मन सँभाले रहना चाहिए।

राजा—यह तो है, पर मेरे मनमें तो ऐसा ताप भरा हुआ है कि वह सँभाले नहीं सँभलता।—जैसे ऊबड़-खाबड़ चट्टानोंके बीचमें आ जानेसे नदी और अधिक वेगसे बहने लगती है, वैसे ही जब अपने प्यारेसे मिलनेके सुखमें बाधाएँ आ कूदती हैं तो प्रेमकी जलन भी सौ गुनी बढ़ जाती है॥ ८॥

विदूषक—यह जो आप दिन-दिन दुबले होकर निखरते जा रहे हैं, इससे जान पड़ता है कि अब प्यारीके मिलनेमें देर नहीं है।

राजा—[अच्छे सगुन होनेकी सूचना देते हुए] वयस्य! आशाभरी बातें कह-कहकर जैसे तुम मुझ प्रेमके घायलको ढाढ़स बँधा रहे हो वैसे ही यह मेरी दाहिनी भुजा भी फड़ककर मुझे आशा बँधा रही है॥ ९॥

विदूषक—ब्राह्मण का वचन झूठा थोड़े ही जाता है।

[राजा बड़ी आशासे बैठता है।]

[इसी बीच विमानमें बैठी अभिसारिकाके वेशमें उर्वशी और चित्र-लेखा आती हैं।]

उर्वशी—[अपनी ओर देखकर] क्यों सखी चित्रलेखा! यह थोड़ेसे आभूषण पहने हुए और नीली रेशमी चादरसे शरीर ढके हुए जो मैं अभिसारिका बनकर आई हूँ यह वेश क्या तुझे अच्छा लगता है?

चित्रलेखा—मेरे पास इतना पांडित्य कहाँ कि इसकी प्रशंसा कर सकूँ। मैं तो यही सोचती हूँ कि कहीं मैं भी पुरूरवा हो सकती?

उर्वशी—सखी! मेरा प्रेम तुम्हें आज्ञा दे रहा है कि तुम मुझे शीघ्र ही उस भाग्यवानके भवनमें पहुँचाओ।

चित्रलेखा—[देखकर] हम लोग तो तुम्हारे प्रियतमके उस भवन-पर पहुँच ही गए जो ऐसा सुन्दर लगता है मानो कैलासकी चोटी ही उठकर यहाँ चली आई हो।

उर्वशी—तब दैवीशक्तिसे ही यह पता लगाओ कि वह मेरे हृदय-का चोर कहाँ है और क्या कर रहा है।

चित्रलेखा—[ध्यान करके हँसकर, आप ही आप] इससे थोड़ी ठिठोली की जाय। [प्रकट] मैंने देख लिया। सखी! वे अपनी मनचाही प्यारीसे मिलनेका सुख लूटते हुए आनन्द के स्थानमें बैठे हुए हैं।

उर्वशी—[दुखी होनेका नाट्य करती है। लंबी साँस लेकर] धन्य है वह स्त्री जो ऐसी बड़भागी है।

चित्रलेखा—अरी पगली! तुझे छोड़कर वे और कौन-सी दूसरी प्रेमिकासे मिलनेकी बात सोचेंगे।

उर्वशी—[लंबी साँस लेकर] मेरा भोला-भाला-हृदय तो यही सन्देह कर बैठा था।

चित्रलेखा—[देखकर] वह देखो! वे राजर्षि यहाँ मणिहर्म्य नामके भवनकी छतपर अपने मित्रके साथ बैठे हुए हैं। तो आओ, इनके पास चला जाय।

[दोनों उतरती हैं]

राजा—वयस्य! ज्यों-ज्यों रात बढती जा रही है, त्यों-त्यों मेरी काम-पीड़ा भी बढती जा रही है।

उर्वशी—इन गोलमोल वचनोंको सुनकर तो मेरा जी काँप उठा है। चलो, छिपकर इनकी गुपचुप बातें तो सुनें, जिससे जीका सन्देह तो मिट जाय।

चित्रलेखा—जैसी तुम्हारी इच्छा।

विदूषक—लो, अमृतसे भरी हुई चन्द्रमाकी किरणोंमें नहाओ।

राजा—वयस्य! इन सब उपायोंसे यह पीडा नहीं जायगी। देखो! मेरे इस प्रेमके रोगको न तो फूलोंकी शैया ही दूर कर सकती है, न चन्द्रमाकी किरणें हटा सकती हैं, न तो सारे शरीरमें लेप किया हुआ चन्दन ही मिटा सकता है और न मोतियोंकी माला ही कम कर सकती है। यदि इस रोगको कोई दूर कर सकता है तो बस वही एक स्वर्गवाली ।

उर्वशी—[हृदयपर हाथ रखकर] यह दूसरी कौन होगी?

राजा— या फिर एकान्तमें कही हुई उसके प्रेमकी बातें ॥१०॥

उर्वशी—अरे हृदय! तुम सचमुच बडभागी हो कि मुझे छोडकर उनके पास चले गए हो।

विदूषक—हाँ! मुझे भी जब कभी माँगनेपर हरिनीके मीठे मांसका भोजन नहीं मिलता तब मैं उसका नाम लेकर ही अपना पेट भर लेता हूँ।

राजा—पर तुम्हें यह सब मिल तो जाता है।

विदूषक—आप भी बस उसे मिली ही समझिए।

राजा—वयस्य! मैं सोचता हूँ कि

चित्रलेखा—सुन री पगली!

विदूषक—हाँ, क्या सोचते हो?

राजा—यही कि मेरे शरीरके सब अङ्गोंमें यह कन्धा ही धन्य है कि वह रथके हिलने-डुलनेके समय मेरे साथ बैठी हुई उर्वशीके कन्धेको छूता चलता था। शरीरके दूसरे अङ्गोंको तो बस धरतीका बोझ ही समझो ॥ ११ ॥

चित्रलेखा—क्यों सखी! अब देर क्यों करती हो!

उर्वशी—[सहसा आगे बढकर] सखी, मैं महाराजके सामने आकर खडी भी हो गई हूँ, फिर भी वे मुझसे बोल क्यों नहीं रहे हैं?

चित्रलेखा—[मुस्करा कर] अरी हड़बडानेवाली! तैने अभी अपनी मायाको ओढनी तो उतारी ही नहीं।

[नेपथ्यमें]

इधरसे आइए स्वामिनी! इधरसे।

[सब सुनते हैं। उर्वशी और उसकी सखी उदास हो जाती है।]

विदूषक—[आश्चर्यसे] अरे वयस्य! लो देवी आ पहुँची हैं। अब चुप हो जाओ।

राजा—तुम भी सँभलकर बैठ जाओ।

उर्वशी—अब बताओ सखी! क्या किया जाय।

चित्रलेखा—घबराओ मत। हम दोनों तो छिपे ही हुए हैं। महारानीके वेशसे जान पडता है कि वे कोई व्रत कर रही हैं, इसलिये वे यहाँ बहुत देर नहीं ठहरेंगी।

[हाथमें पूजाकी सामग्री लिए हुए दासियाँ और उनके साथ महारानी आती हैं।]

देवी—[चन्द्रमाको देखकर] सखी निपुणिका! देख, रोहिणीके साथ चन्द्रमा कैसे अच्छे लग रहे हैं।

चेटी—ठीक वैसे ही जैसे स्वामिनीके साथ महाराज बडे सुन्दर दिखाई दे रहे हैं।

विदूषक—[देखकर] वयस्य ! यह समझमें नहीं आ रहा है कि ये मुझे पूजाका बायना देने आ रही हैं या व्रतके बहाने मान छोड़कर उस दिनका दोष धोने चली आ रही हैं जब ये आपके मनानेपर भी रूठकर चल दी थीं। कुछ भी हो आज तो देवी मेरी आँखोंको बड़ी सुन्दर जँच रही हैं।

राजा—[हँसकर] दोनों ही बातें हो सकती हैं, पर तुमने अन्तमें जो बात कही, वही अधिक ठीक जान पड़ती है, क्योंकि उजला रेशमी वस्त्र पहने हुए, शरीरपर केवल सुहागके गहने पहनकर और पवित्र दूबके अकुवोंसे अपनी बाँहें सजाकर आती हुई देवीके रंग-ढंगसे तो ऐसा जँचता है कि ये व्रतके बहाने मान छोड़कर मुझपर प्रसन्न हो गई हैं ॥ १२ ॥

देवी—[आगे बढ़कर] जय हो आर्यपुत्रकी, जय हो।

दासी—जय हो भट्टारककी, जय हो।

विदूषक—आपका कल्याण हो।

राजा—देवीका स्वागत है। [देवीका हाथ पकड़कर उन्हें बैठाता है।]

उर्वशी—सखी ! इस समय तो देवी शब्द इनके लिये सटीक बैठ-गया है क्योंकि इनका तेज इन्द्राणीसे किसी भी प्रकार कम नहीं है।

चित्रलेखा—तुमने डाह छोड़कर यह बात सच्ची कही है।

देवी—मैं आर्यपुत्रको साथ लेकर एक विशेष व्रत करना चाहती हूँ, इसलिये प्रार्थना है कि मेरे लिये कुछ देर कष्ट सहन करनेकी कृपा करें।

राजा—नहीं ऐसा न कहो। इसमें कष्ट किस बातका ? यह तो आपकी कृपा है।

विदूषक—जिसमें पूजाका बायना मिले ऐसे कष्ट सदा मिला करें।

राजा—आप कौन सा व्रत कर रही हैं ?

[देवी निपुणिकाका मुँह देखती हैं।]

निपुणिका—महाराज ! इसे प्रियको प्रसन्न करनेवाला व्रत कहते हैं।

राजा—[देवीको देखकर] हे कल्याणी ! यदि इतनी-सी ही बात हो तब तो अपने कमलके समान कोमल शरीरको व्यर्थ ही व्रत करके सुखा रही हो क्योंकि आपका जो दास स्वयं आपको प्रसन्न देखनेके

लिये अधीर हो रहा हो उसे भी क्या कहीं प्रसन्न करनेकी आवश्यकता हुआ करती है ॥ १३ ॥

उर्वशी—इन देवीको तो महाराज बहुत मानते हैं।

चित्रलेखा—अरी पगली! जो चतुर नागरिक किसी दूसरी स्त्रीसे प्रेम करने लगते हैं वे अपनी पहली पत्नीका और भी अधिक आदर किया करते हैं।

देवी—[मुस्करा कर] सचमुच यह व्रतका ही प्रभाव है कि आर्यपुत्रने इतना तो कहा।

विदूषक—अच्छा रहने दीजिए अपनी बातें। व्रत-पूजाकी बातों में मीन-मेख निकालना ठीक नहीं होता।

देवी—दासियो! पूजाकी सामग्री तो ले आओ जिससे मैं मणि-हर्म्य-भवन फैली हुई चन्द्रमाकी किरणों की पूजा तो कर लूँ।

दासियो—जैसी भट्टिनीकी आज्ञा। लीजिए, यह है चन्दन-फूल आदि पूजाकी सामग्री।

देवी—लाओ। [सामग्री लेकर गन्ध-फूल आदिसे चन्द्रमाकी किरणोंकी पूजा करनेका नाट्य करती है।] सखी निपुणिका! ये पूजाके लड्डू आर्य माणवकको दे डालो।

निपुणिका—जैसी भट्टिनीकी आज्ञा! लीजिए आर्य माणवक! ये आपके लिये हैं।

विदूषक—[लड्डूका पात्र लेते हुए] आपका कल्याण हो। आपका यह व्रत बहुत फले।

देवी—आर्यपुत्र! इधर तो आइए।

राजा—लीजिए, आ गया।

देवी—[राजाकी पूजाका नाट्य करके और हाथ जोड़कर] आज मैं रोहिणी और चन्द्रमाके देवी जोड़ेको साक्षी बनाकर आर्यपुत्रको प्रसन्न कर रही हूँ। आजसे जिस किसी स्त्रीको भी आर्यपुत्र चाहेंगे और जो भी स्त्री आर्यपुत्रकी पत्नी बनना चाहेगी उसके साथ मैं बड़े प्रेमसे रहा करूँगी।

उर्वशी—अरी, न जाने ये किस दूसरी स्त्रीके लिये कह रही हैं। पर कमसे कम इससे मेरे हृदयको भरोसा तो मिला।

चित्रलेखा—सखी! इस उदार हृदयवाली पतिव्रताकी बातों से

एक बात तो पक्की हो गई कि अब तुम्हें अपने प्यारेसे मिलनेमें कोई बाधा नहीं पड़ेगी।

विदूषक—[अलग, राजासे] जब मछली मछुएके हाथसे निकलकर पानीमें भाग जाती है तब वह भी निराश होकर यही कहता है—जा! मुझे पुण्य ही होगा। [प्रकट] देवी! क्या महाराज आपको इतने प्यारे हैं।

देवी—अरे मूर्ख! मैं अपने सुखका बलिदान करके भी आर्यपुत्रको सुखी देखना चाहती हूँ। इसीसे समझ ले कि वे मुझे प्यारे हैं या नहीं।

राजा—देवी! चाहो तो तुम मुझे किसी दूसरेको दे डालो या चाहो अपना ही दास बनाकर रख छोड़ो, पर तुम मुझे अपनेसे जैसा दूर समझ बैठी हो वैसी बात नहीं है ॥ १४ ॥

देवी—दूर हों या न हों, पर मैंने तो प्रियको प्रसन्न करनेवाला जो व्रत ठाना था वह पूरा ही कर लिया। आओ दासियो! चलो चलें। [चलनेको प्रस्तुत होती हैं।]

राजा—यदि मुझे छोड़कर चली जाओगी तो समझ लो कि मैं प्रसन्न नहीं हुआ।

देवी—आर्यपुत्र! मैंने आजतक कभी अपने व्रतका नियम नहीं तोड़ा है।

[दासियोंके साथ चली जाती है।]

उर्वशी—सखी! राजा अपनी पत्नीको इतना प्यार करते हैं तिस पर भी मैं उन परसे अपना मन हटा नहीं पा रही हूँ।

चित्रलेखा—तो क्या तुम अब निराश होकर लौट जाना चाहती हो?

राजा—[अपने आसनपर बैठकर] वयस्य! अभी देवी दूर तो नहीं पहुँची होंगी।

विदूषक—जो कहना हो जी खोलकर कह डालो। जैसे रोगीको असाध्य समझकर वैद्य उसे छोड़ देता है वैसे ही आपको भी देवीने यह समझकर छोड़ दिया कि अब आप सुधर नहीं सकते।

राजा—क्या अच्छा हो यदि उर्वशी ·· ।

उर्वशी—आज कृतार्थ हो जाय ?

राजा—क्या अच्छा हो यदि उर्वशी इस समय छिपे-छिपे आकर अपने बिछुएकी मीठी छनन-छनन ही सुना जाय या पीछेसे आकर अपने कमलके समान कोमल हथेलियों से मेरी आँखें बन्द कर ले या इस भवनपर उतरकर वह डरती हुई धीरे-धीरे आगे बढ़े और उसकी चतुर दासी उसे खींचकर मेरे पास पहुँचा दे ॥ १५ ॥

चित्रलेखा—आओ सखी उर्वशी ! अब इनके मनकी हुलास पूरी कर दो ।

उर्वशी—[अधीरतासे] अच्छा ! पहले मैं इनसे कुछ ठिठोली करती हूँ ।

[मायाकी ओढनी उतारकर पीछेसे पहुँचकर राजाकी आँखें ढक लेती है ।]
[चित्रलेखा भी मायाकी ओढनी उतारकर विदूषकको संकेत करती है कि बताना मत ।]

विदूषक—क्यों वयस्य ! ये कौन हैं ।

राजा—[स्पर्शसे पहचानता हुआ] मित्र ! यह वही सुन्दर जाँघोंवाली उर्वशी है जो नारायणकी जाँघसे उत्पन्न हुई है ।

विदूषक—आपने पहचान कैसे लिया ।

राजा—इसमें पहचाननेको क्या बात है । दूसरी कोई ऐसी स्त्री ही नहीं है जो मेरे काम-पीड़ित शरीरको अपने हाथसे छूकर सुखी कर दे । चन्द्रमाकी किरणों से खिल उठनेवाला कुमुद सूर्यकी किरणों से नहीं खिला करता ॥ १६ ॥

उर्वशी—[हाथ हटाकर खड़ी हो जाती है । कुछ हटकर] जय हो महाराजकी जय हो ।

राजा—स्वागत करता हूँ सुन्दरी !

[अपने ही आसनपर बैठा लेता है ।]

चित्रलेखा—कहिए आप प्रसन्न तो हैं ।

राजा—प्रसन्नता तो अभी-अभी हाथ लगी है ।

उर्वशी—सखी ! देवीने महाराजको मेरे हाथ दान दे डाला है इसलिये मैं इनकी व्याहता स्त्रीके समान ही इनसे सटकर बैठी हूँ । तुम मुझे कुलटा न समझ बैठना ।

विदूषक—आप लोग यहाँ सोझसे ही डटी हुई थीं क्या ?

राजा—[उर्वशीकी ओर देखकर] आज तो तुम यह कहकर मुझसे

सबंध जोड़ रही हो कि देवीने मुझे तुम्हारे हाथ सौंप दिया है, पर यह तो बताओ कि तुमने पहले जो मेरा हृदय चुराया था वह किससे पूछकर चुराया था ॥ १७ ॥

चित्रलेखा—वयस्य ! इस बातपर तो इनकी बोलती बन्द हो गई। अब आप मेरी बात सुनिए।

राजा—कहिए, मैं सुन रहा हूँ।

चित्रलेखा—वसन्त बीतनेपर गर्मीमें मुझे सूर्यकी सेवा करनी है इसलिये आप इन्हें ऐसा बाँध रखिए कि ये मेरी प्यारी सखी स्वर्ग जानेके लिये घबरा न उठें।

विदूषक—स्वर्गमें धरा ही क्या है जिसे ये स्मरण करके घबरायँगी। न वहाँ कुछ खानेको है न पीनेको। वहाँके लोग तो बस दिन रात मछलीके समान सदा आँख फाड़े बैठे रहते हैं।

राजा—भद्रे ! स्वर्गमें ऐसे-ऐसे सुख भरे पड़े हैं कि उनका वर्णन नहीं हो सकता। इसलिये उन्हें भुला कौन सकता है, पर मैं इतना ही कह सकता हूँ कि मैं पुरूरवा सब स्त्रियोंसे मन हटाकर केवल आपकी सखीकी ही सेवा करता रहूँगा ॥ १८ ॥

चित्रलेखा—यह तो आपकी कृपा है। सखी उर्वशी ! मुझे जी खोलकर विदा तो दो।

उर्वशी—[चित्रलेखासे गले मिलकर करुणाके साथ।] सखी ! मुझे भूल न जाना।

चित्रलेखा—[मुस्कराकर] अब तुम मित्रके पास पहुँच गई हो इसलिये यदि यह बात तुमसे मैं कहती तो अधिक ठीक होता।

[राजाको प्रणाम करके चली जाती है।]

विदूषक—मनोरथ पूरे होनेकी मैं आपको बधाई देता हूँ।

राजा—यह तो मेरी सबसे बड़ी जीत है। देखो—इनकी आज्ञा पालन करनेमें मैं अपनेको जितना धन्य समझता हूँ उतना मैं सारी पृथ्वीका स्वामी होने तथा अपने पैरके पीढ़ेको सामन्त राजाओंके मुकुटकी मणियोंसे रँगानेको भी अच्छा नहीं समझता ॥ १९ ॥

उर्वशी—इससे बढ़कर प्यारी बात मुझे सूझ ही नहीं रही है।

राजा—[उर्वशीका हाथ पकड़कर] जब चाही हुई वस्तु मिल जाती है

तब विरोधी वस्तुएँ भी अच्छी लगने लगती हैं। क्योंकि चन्द्रमा की वे ही किरणें आज सुख दे रही हैं और कामदेवके वे ही बाण आज मनको भा रहे हैं। हे सुन्दरी! जो-जो वस्तुएँ क्रोधभरी या कठोर जान पडती थीं वे सब तुम्हारे मिलते ही कोमल हो गई हैं ॥ २० ॥

उर्वशी—मैंने आनेमें इतनी देर करके आर्यपुत्रका बडा अपराध किया है।

राजा—ऐसी बात न कहो सुन्दरी! दुःखके पीछे जो सुख मिलता है वह बडा रसीला होता है। पेडकी छाया उसी मनुष्यको अच्छी लगती है जो धूपमें तपकर आया हो ॥ २१ ॥

विदूषक—चलिए! साँझके चन्द्रमाकी किरणोंका बहुत आनन्द ले चुके। अब आपके शयन-घर जानेका समय हो गया है।

राजा—तो अपनी सखी उर्वशीको वहाँ ले चलो।

विदूषक—इधरसे आइए देवी! इधरसे।

[सब घूमते हैं।]

राजा—सुन्दरी! मेरी एक इच्छा है।

उर्वशी—क्या?

राजा—यही कि मनोरथ पूरा होनेके पहले, रातें जैसी सौगुनी लम्बी जान पडती थीं यदि वे अब तुम्हारे मिल जानेपर भी वैसी ही लम्बी हो जायँ तो मैं अपनेको बडा भाग्यवान् समझूँ ॥ २२ ॥

[सब चले जाते हैं।]

॥ तीसरा अङ्क समाप्त ॥

—*—

चौथा अङ्क

[अपनी प्यारी सखीके लिये विछोहसे अनमनी और घबराई हुई हंसी उस तालाबके जलमें अपनी सखीके लिये बैठी रो रही है जिसमें के कमल सूर्यकी किरणोंके छूनेसे खिल उठे हैं ॥ १ ॥]

[सहजन्याके साथ उदास चित्रलेखाका प्रवेश]

[अपनी सखीके दुःखमें घबराई हुई और एक दूसरीको प्यार करनेवाली दो हंसिनियाँ आँखोंसे आँसू बहाते हुए तालाबके तीरपर बैठी सिसक रही हैं ॥ २ ॥

सहजन्या—[चित्रलेखाको देखकर दुःखके साथ] सखी चित्रलेखा ! यह मुर्झाए हुए कमलके समान उदास तेरा मुँह बता रहा है कि तेरा जी ठीक नहीं है । तू मुझे अपनी व्यथाका कारण तो बता । मैं भी तेरा दुःख बाँट लेना चाहती हूँ ।

चित्रलेखा—[दुखी होकर] सखी ! यहाँ भगवान् सूर्यकी सेवाके लिये सब अप्सराओंकी पारी बँधी हुई है । आज मैं भी अपनी पारीपर आई थी और इसीलिये आज उर्वशीको स्मरण करके मेरा जी बड़ा व्याकुल हो उठा है ।

सहजन्या—सखी, यह तो मैं जानती हूँ कि तुम दोनों एक दूसरीको बड़ा प्यार करती हो । हाँ, तब !

चित्रलेखा—यह सोचकर जब मैंने उसका कुशल-समाचार जाननेको ध्यान लगाया तो पता चला कि वह बड़े संकटमें पड़ गई है ।

सहजन्या—[घबराकर] संकट कैसा सखी ?

चित्रलेखा—[रुआई-सी होकर] विहार करनेके लिये उर्वशी गन्धमादन पर्वतपर गई थी । राजा पुरूरवा भी राज्यका काम मंत्रियोंको सौंप कर उसके साथ गए थे और उर्वशीका साथ लेकर वे यह समझे हुए थे कि स्वयं रति ही हमारे साथ है ।

सहजन्या—[प्रशंसा करती हुई] ऐसे सुन्दर प्रदेशमें सम्भोग करना ही तो सच्चा सम्भोग कहलाता है । हाँ, तो फिर क्या हुआ ?

चित्रलेखा—वहाँ जब वह मन्दाकिनीके तटपर जाकर बालूके टीले

बना-बनाकर खेल रही थी, उस समय वह देखती क्या है कि उदयवती नामकी एक विद्याधरकी कन्याको राजा बैठे घूर रहे हैं। बस इसी बातपर उर्वशी बिगड खडी हुई।

सहजन्या—हाँ, यह हो सकता है। क्योंकि जब प्रेम बहुत बढ़ जाता है तब ऐसी बातें सही नहीं जातीं।

चित्रलेखा—भरत मुनिके शापसे उसकी बुद्धि ऐसी मारी गई कि राजाकी मनुहारको उसने ठुकरा भी दिया और कार्त्तिकेयके नियमका ध्यान छोडकर वह उस कुमारवनमें पैठ ही तो गई, जहाँ स्त्रियोंके जानेकी रोक थी। बस, ज्योंही वह घुसी त्यों ही वह कुमार-वनके बाडेपर लता बन गई।

सहजन्या—[शोकके साथ] सचमुच भाग्य किसीको नहीं छोड़ता। बताइए, कहाँ तो ऐसा प्रेम और कहाँ उसका ऐसा उल्टा फल। अच्छा, अब उन राजर्षिकी क्या दशा है?

चित्रलेखा—वे भी उसी वनमें प्यारीको दिन-रात खोजते हुए अपने दिन बिता रहे हैं। [आकाशकी ओर देखकर] सुखी लोगोंके मनमें भी चाह भरनेवाले इन बादलोंको देखकर तो उनका जी ही टूट गया होगा।

[अपनी सखीके दुःखमें घबराई हुई और एक दूसरीको प्यार करनेवाली दो हंसिनियाँ आँखोंसे आँसू बहाते हुए तालावके तीरपर बैठी सिसक रही हैं ॥ ३ ॥]

सहजन्या—सखी! ऐसे भाग्यवान् पुरुष बहुत दिनोंतक दुखी नहीं रहते। इसलिये कोई न कोई ऐसा कारण आ ही जायगा कि वे दोनों फिर मिल जायँगे [पूर्व दिशाकी ओर देखकर] लो सूर्य निकल आए हैं। आओ हम लोग सूर्यकी प्रार्थना करें।

[चिन्तासे अनमनी और अपनी सखीसे मिलनेको अधीर हंसी खिले हुए कमलोंसे लुभावने लगनेवाले तालावमें विहार कर रही है ॥ ४ ॥]

[दोनों जाती हैं]

॥ प्रवेशक ॥

[यह बडा-सा हाथी अपनी प्यारीके बिछोहमें पागल होनेके कारण अपने मनकी व्यथा प्रकट करता हुआ-सा पेड़ोंके फूलों और कोमल पत्तोंसे अपने बडे शरीरको सजाता हुआ वनमें चला आ रहा है ॥ ५ ॥]

[आकाशकी ओर देखते हुए और पागल जैसा वेश बनाए हुए राजाका प्रवेश।]

राजा—[क्रोधसे] अरे, खड़ा रह दुष्ट राक्षस ! खड़ा रह ! तू मेरी प्रियतमाको लिए चला जा रहा है ? [देखकर] अरे ! यह पहाड़की चोटीसे आकाशमें उड़कर मुझपर बाण बरसाने लगा।

[यह जवान हंस अपनी प्यारीके बिछोहमें पंख फड़फड़ाता हुआ आँखोंमें आँसू भरे तालाबमें बैठा सिसक रहा है ॥ ६ ॥]

[एक ढेला लेकर मारने दौड़ता है, पर फिर ठीक समझकर करुणाके साथ।] अरे, यह तो अभी-अभी बरसनेवाला बादल है, राक्षस नहीं। इसमें यह खिंचा हुआ इन्द्रधनुष है, राक्षसका धनुष नहीं। और ये जो टप-टप बरस रहे हैं ये बाण नहीं हैं, बूँदे हैं और यह जो कसौटी पर बनी हुई सोनेकी रेखाके समान चमक रही है, यह भी मेरी प्रिया उर्वशी नहीं है, बिजली है ॥ ७ ॥

[मैंने समझा था कि मृगके समान आँखवाली मेरी उर्वशीको कोई राक्षस हर कर लिए चला जा रहा है, पर यहाँ केवल बिजलीको चमकाता हुआ काला बादल पानी बरसा रहा है ॥ ८ ॥]

[दुःखसे सोचकर] वह केलेके समान जाँघोंवाली सुन्दरी कहाँ गई होगी ? कहीं वह क्रोधमें आकर अपने दैवी प्रभावसे छिप न गई हो पर आजतक उसने इतनी देर कभी नहीं की या कहीं वह स्वर्ग ही न चली गई हो, पर यह हो नहीं सकता क्योंकि वह मुझे तो जी-जानसे प्यार करती है। देवताओंके शत्रु राक्षस भी उसे मेरे सामनेसे नहीं हरकर ले जा सकते, फिर भी मुझे वह कहीं दिखाई नहीं दे रही है। यह कैसा दुर्भाग्य है ॥ ९ ॥ [चारों ओर देखकर लंबी साँस लेकर] अरे ! फूटे भागवालोंके लिये तो आपत्ति पर आपत्ति आया ही करती है। क्योंकि—कहाँ एक ओर तो प्रियाका ऐसा बिछोह जो सहा नहीं जा रहा है और कहाँ दूसरी ओर ऐसा सुहावना दिन जो बादलोंके उठनेसे और धूपके छिप जानेसे और भी लुभावना हो गया है ॥ १० ॥

[लगातार बरसनेसे चारों ओर फैले हुए हे बादल ! इस समय तुम मेरे कहनेसे अपना क्रोध रोक लो। पृथ्वीपर घूमकर जब मैं अपनी प्रियाको पा जाऊँ तब तुम जो-जो करोगे वह मैं सिर माथे लेकर सहूँगा ॥११॥] [हँसकर] मैं अकारथ ही अपने मनकी पीड़ाको यों ही बढ़ा रहा हूँ। क्योंकि मुनि लोग भी

कहते हैं कि राजा जैसा समय चाहे, वैसा समय ला सकता है, तो मैं इस वर्षाके समयको ही क्यों न आज्ञा दूँ।

[सुगन्धसे झूमनेवाले भौरोंके गानेके साथ-साथ और कोयलकी बोलीमें बजनेवाली वंशियोंकी ध्वनिसे गूँजते हुए पवनसे जिस कल्प-वृक्षके कोमल पत्ते हिल रहे हैं वह देखो कैसी सुन्दरतासे अनेक प्रकारके हाव-भावके साथ नाच रहा है ॥१२॥]

पर इस वर्षाके समयको कहना ही व्यर्थ है, क्योंकि वर्षाकालके जो चिह्न दिखाई दे रहे हैं उन्हींके कारण तो मैं आज भी राजाके समान शोभा दे रहा हूँ। क्योंकि देखो—बिजलीके सोनेसे बना हुआ यह बादल ही मेरा छत्र है। निचुलके पेड़ मेरे ऊपर अपनी मञ्जरियोंके चँवर डुला रहे हैं। गर्मी समाप्त हो जानेके कारण मधुर गान करनेवाले ये मोर भाटोंका काम कर रहे हैं और झरनोंके मोती भेंट करती हुई ये पहाड़ियाँ ही मेरी प्रजा हैं ॥१३॥ अच्छा जाने दो अपने ठाट-बाटकी बड़ाई करनेसे लाभ ही क्या। चलूँ, इसी वनमें प्रियाको खोजूँ।

[प्यारीके विरहसे अत्यन्त दुखी होनेसे यह हाथी फूलोंसे उजले इस पहाड़ी जगलमें धीरे-धीरे घूम रहा है ॥ १४ ॥]

[घूमकर और देखकर] हाय! हाय! उसे ढूँढते-ढूँढते मेरी पीडाको और बढानेवाला यह और दूसरा मिल गया। क्योंकि इस नये कन्दलीके पेडके जल-भरे लाल फूलोंको देखकर मुझे उर्वशीके उन नेत्रोंका स्मरण हो आया जो क्रोधसे लाल हो गए थे और जिनमें आँसू छलक आये थे ॥१५॥ क्योंकि-यह मुझे कैसे पता चलेगा कि वह इधरसे गई है। यदि वह सुन्दरी वर्षासे भीगी हुई बालूवाले इस वनकी धरतीपर चलती तो महावरसे रँगे हुए उसके सुन्दर पैरोंकी ऐसी छापें दूरतक अवश्य दिखाई देतीं जो उसके नितम्बोंके भारी होनेके कारण एडीकी ओर गहरी होतीं ॥१६॥ [इधर-उधर घूमकर हर्षके साथ] मुझे कुछ-कुछ तो ऐसे चिन्ह मिल गए हैं जिनसे मैं कुछ-कुछ अनुमान लगा सकता हूँ कि वह क्रोधित देवी किधरसे गई है—क्योंकि—सुग्गेके पेटजैसे हरे रंगवाली उसकी चोली यही है जिसपर उसके आँसुओंसे धुलकर ओठोंसे गिरे हुए लाल रंगकी बुँदकियाँ दिखाई दे रही हैं और जो क्रोधमें हड़बड़ीसे चलनेके कारण खिसककर नीचे गिर गई होगी ॥१७॥ अच्छा, तो मैं इसे उठा लेता हूँ। [घूमकर उसे देखकर रोता हुआ] अरे! यह तो हरी

घासपर वीरबहूटियाँ फैली हुई हैं। अब इस सुनसान वनमें प्यारीका पता कहाँसे चलेगा। [मोरको देखकर] अरे! वर्षासे भाप छोडनेवाली चट्टानपर बैठा हुआ और सामनेके प्रचण्ड पवनसे छितराती हुई कलँगी-वाला यह मोर अपना कण्ठ ऊँचे उठाकर केँ केँ करता हुआ बादलोंको देख रहा है ॥ १८ ॥ [पास जाकर] अच्छा, चलूँ इसीसे पूछूँ।

[दुःखसे भरा हुआ अपनी प्रियतमाको देखनेके लिये अधीर और अपने शत्रुको पछाड़ देनेवाला यह बड़ा-सा हाथी मनमें घबराया हुआ-सा बड़े वेगसे चला जा रहा है ॥ १९ ॥]

[हाथ जोड़ते हुए] [अरे मोर! मैं तुमसे प्रार्थना करता हूँ कि यदि घूमते-फिरते तुमने मेरी खोई हुई प्यारी कहीं देखी हो तो मुझे बता दो। सुनो! उसका मुँह चन्द्रमाके समान है और उसकी चाल हंस जैसी है। बस, मैं जो चिन्ह तुम्हें बता रहा हूँ उतनेसे ही तुम उसे पहचान लोगे ॥ २० ॥]

उजले कोनोंकी आँखोंवाले मोर! क्या तुमने मेरी उस प्रियतमाको इस वनमें देखा है जिसकी बड़ी-बड़ी आँखें हैं जिसके लिये मैं व्याकुल हूँ और जो ऐसी सुन्दर है कि बस, उसे देखते ही बनता है ॥२१॥ [देखकर] क्या, बिना उत्तर दिये ही यह नाचने लग गया। यह इतना मगन क्यों हो रहा है। [सोचकर] हाँ, समझ गया—मेरी प्रियाके खो जानेसे इसके मन्द-मन्द पवनसे छितराए बादलोंके समान सुन्दर पंखोंको लजानेवाला आज कोई नहीं रह गया है। आज यदि वह सुन्दर बालोंवाली होती, जिसके खुले हुए बालोंमें फूल गुँथे हुए होते तो उसके आगे इस मोरकी शोभाको पूछता कौन ॥ २२ ॥ अच्छा! दूसरोंके दुःख-सुखपर ध्यान न देनेवाले इस मोरसे अब मैं बात नहीं करूँगा। [घूमकर और देखकर] अरे! यह गर्मी बीतनेसे मतवाली कोयल जामुनकी शाखापर बैठी हुई है। पक्षियोंमें कोयल ही सबसे चतुर समझी जाती है। चलूँ, इसीसे पूछता हूँ।

[विद्याधरोंके वनमें छिपा हुआ दुःखमें आँसू बहाता हुआ और हृदयका आनन्द खोकर यह बड़ा-सा हाथी बादलके समान घूम रहा है ॥२३॥]

[नाचता हुआ घुटने टेककर] [अरे रे रे! मीठी-मीठी कूकती हुई सुन्दर कोयल यदि इस नन्दन-वनमें मनचाहे ढंगसे उड़ती फुदकती हुई तुमने कहीं मेरी प्रिया देखी हो तो बता दो ॥ २४ ॥]

देखो ! कामी लोग तुम्हें मदनकी दूती बताते हैं और मानिनी स्त्रियोंका रुठना दूर करनेके लिये तुम अचूक हथियार समझी जाती हो। इसलिये या तो तुम मेरी प्रियतमाको मेरे पास ही ले आओ या फिर हे मिठबोली ! तू मुझे ही उसके पास झटपट ले जाकर पहुँचा दे ॥२५॥ क्या कहा तुमने ? कि तुम्हारे इतना प्यार करनेपर भी वह तुम्हें छोड-कर क्यों चली गई ? [आगे देखकर] सुनो ! मुझे एक भी बात ऐसी स्मरण नहीं आती जिसपर रूठकर वह चली गई है । देखो ! स्त्रियाँ तो वैसे ही अपने पतियोंपर शान जमाए रखती हैं, इसलिये यह आवश्यक नहीं कि पति कोई अपराध ही करे तभी वे क्रोध करें ॥२६॥ [झटसे बैठकर फिर घुटने टेककर ऊपरवाली बात फिरसे कहता है फिर उठकर ऊपर देखता हुआ] यह क्या ! मेरी बात पूरी होनेसे पहले ही यह अपने धन्धेमें लग गई। दूसरेका दुःख कितना भी अधिक हो, पर लोग उसे कम ही समझते हैं। इसलिये मुझ विपत्तिके मारेकी बात अनसुनी करके यह कोयल पकी हुई फरैना जामुनोंका रस पीनेमें उसी प्रकार आँख मूँदकर लगी हुई है, जैसे कोई मनवाला अपनी प्यारीके ओठोंका रस पीने लग रहा हो ॥२७॥ पर सब कुछ होनेपर भी यह गाती है मेरी प्यारी-के ही समान ही, इसलिये मैं इसपर क्रोध नहीं करता। तुम बैठी रहो सुखसे। हम हो यहाँसे चले जाते हैं। [घूमकर सुनता हुआ] अरे ! इस वनके दक्खिन ओरसे प्यारीके बिछुओंकी-सी झन-झन सुनाई दे रही है। चलूँ उधर हो चलकर देखूँ । [घूमता है।]

[प्यारीके बिछोहसे थका हुआ, नयनोंसे आँसूओंकी धारा बहाता हुआ, नये अपार दुःखके कारण रुक-रुककर चलनेवाला और अत्यन्त शोकसे जलते हुए शरीर-वाला यह दुखी हाथी वनमें इधर उधर घूम रहा है ॥२८॥]

[दो पग चलकर चारों ओर देखता है ।]

[अपनी प्यारी हथिनीके बिछोहकी भयकर आगमें जलता हुआ और रोता हुआ यह हाथी व्याकुल होकर घूम रहा है ॥२९॥]

[दुःखके साथ] हाय, हाय। कैसे दुःखकी बात है कि जिसे मैं अपनी प्यारीके बिछुओंकी झन-झन समझ रहा था वह उन राजहंसों-की कूक है जो उठे हुए बादलोंकी अँधियारी देखकर मानसरोवर जानेको उतावले हो रहे हैं॥३०॥ अच्छा जबतक ये मानसरोवर जानेको

उतावले पक्षी उडते नहीं, उससे पहले ही मैं इनसे अपनी प्यारीका पता पूछ देखता हूँ। [पास जाकर] हे जल पक्षिराज! तुम मानसरोवर पीछे जाना और यह जो सबलके लिये तुमने कमलनालें तोड ली हैं, इन्हें अभी छोड़ दो, फिर ले लेना। पहले तुम मुझे मेरी प्यारीका समाचार देकर मेरा उद्धार करो, क्योंकि सज्जन लोग अपने मित्रोंको सहायता देना अपने स्वार्थसे बढ़कर समझते हैं॥ ३१॥ अरे! यह तो केवल अपनी चोंच ऊपर उठाए टुकुर-टुकुर देख रहा है। मानो यह कह रहा है कि मानसरोवर जानेकी उतावलीमें मैंने उसे देखा ही नहीं।

[अरे हंस! तुम छिपा क्या रहे हो। तुम्हारी चालसे ही मैं सब कुछ समझ गया। बताओ यह सुन्दर चाल तुमने सीखी कहाँसे? तुमने उस प्यारीको अवश्य ही देखा है जो नितम्बोंके भारसे धीरे-धीरे चलती है॥ ३२॥

यदि तुमने उस बाँकी चितवनवाली सुन्दरीको इस सरोवरके तीरपर नहीं देखा, तो बता रे चोर! तुमने उसकी वह मदसे इठलाती चलनेवाली सारी सुन्दर चाल कहाँसे पा ली॥३३॥ इसलिये [हाथ जोड़कर] हे हंस! मेरी जिस प्यारीकी चाल तुमने चुरा ली है, उसे मुझे लौटा दो। क्योंकि यदि चोरके पास चोरीका थोडा भी माल मिले तो उसे पूरा माल देना ही पड़ता है॥३४॥ [हँसकर] यह देखो, इसने समझ लिया न कि मैं चोरोंको दण्ड देनेवाला राजा हूँ। बस इसी डरसे उड कर भागा। चलूँ, कहीं और खोजूँ। [घूमकर और देखकर] यहाँ यह चकवा अपनी प्यारीके साथ बैठा है, चलूँ इसीसे पूछूँ।

[पत्तोंकी मधुर खड़खडाहटसे भरे और फूलोंसे लदे हुए वृक्षोंके पत्तोंवाले इस वनमें यह प्यारीके बिछोहसे पागल बडा-सा हाथी इधर उधर घूम रहा है॥३५॥ गोरोचन और केशरके रंगवाले हे चकवे! बताओ, कहीं तुमने वसन्तके दिनोंमें खेलती हुई मेरी सौभाग्यवती स्त्री देखी है॥३६॥]

हे चकवे! पहिएके समान बडे-बडे नितम्बोंवाली प्यारीसे बिछुडा हुआ और मनमें सैकडों साध लिए हुए मैं महारथी तुमसे पूछता हूँ॥३७॥ क्या यह मुझसे पूछ रहा है—कौन है? कौन है? बस रहने दो। क्या यह मुझे जानता नहीं है? सूर्य और चन्द्रमा जिसके नाना और दादा हैं और जिसे उर्वशी और धरतीने अपने आप अपना स्वामी

बना लिया है। मैं वही पुरूरवा हूँ ॥३८॥ क्या ? चुप क्यों हो गए ... अच्छी बात है, मैं इसे डाटता हूँ न। जब तालाबों में ... चकवी कमलके पत्तों की ओटसे भी हो जाती है तब तुम ... गई हुई समझकर घबराकर चिल्लाने लगते हो। अपनी प्यारीसे ... तुम इतना प्रेम करते हो कि इतना बिछोह भी तुमसे सहा नहीं जाता और फिर भी अपनी ऐंठ तो देखो कि मुझ प्यारीसे बिछुड़े हुएसे तुम बात करनेको भी तैयार नहीं हो ॥३९॥

मेरा भाग्य ही ऐसा है कि सब कहीं मुझे उल्टा ही फल मिल रहा है। तो चलूँ, कहीं और चलकर ढूँढूँ। [कुछ चलकर ठहरकर] अच्छा। मैं अभी नहीं जाऊँगा [घूमकर और देखकर] यह भौंरोंकी गूँज भरा हुआ कमल मुझे बरबस रोक रहा है, क्योंकि यह उर्वशीके उस मुखके समान दिखाई दे रहा है, जो ओठपर मेरे दाँत लगनेपर सी सी कर रहा हो ॥४०॥ अच्छा ! कमलपर मँडराते हुए इन भौंरोंसे ही पूछ देखूँ जिससे यहाँसे चले जानेपर मुझको यह तो पछतावा न रह जाय कि उनसे नहीं पूछा।

[एक ऐसा हंस तालाबमें प्रेमके मदमें भरा खेल रहा है जिसके मनमें प्रेमका भाव अचानक बढ़ गया है ॥४१॥]

हे भौंरे ! मद भरे नैनोंवाली मेरी प्यारीका समाचार तो सुनाओ। [सोचकर] या कौन जाने तुमने उसे देखा ही न हो। क्योंकि यदि तुम्हें मेरी प्रियतमाके मुखकी सुगन्धित साँस मिल गई होती तो तुम इस कमलसे थोड़े ही प्यार करते होते ॥ ४२ ॥ चलूँ यहाँसे। [घूमकर और देखकर] अरे ! इस कदम्बकी डालपर अपनी सूँड़ रक्खे हुए हथिनीके साथ यह एक बड़ा-सा हाथी खड़ा है। चलूँ, उसीके पास चलूँ।

[हथिनीके बिछोहसे तपाया हुआ यह हाथी जङ्गलमें घूम रहा है जिसपर गन्धसे मतवाले भौंरे भूम रहे हैं ॥४३॥]

[देखकर] पर हड़बड़ी नहीं करनी चाहिए। अभी इसके पास जाना ठीक नहीं है, क्योंकि हथिनीने अभी-अभी अपनी सूँड़से यह पत्तोंवाली और सुराके समान गन्ध भरी जो शल्लकीके पेड़की शाखा तोड़ी है, उसे यह हाथी खा ले तब मैं पूछूँगा ॥ ४४ ॥

[थोडी देर रुककर देखकर] अच्छा, अब तो इसने भरपेट भोजन कर लिया। अच्छा तो अब चलूँ, पास जाकर पूछूँ।

[खेल खेल में ही बडे-बडे वृक्षों को सहजमें उखाड़ फेंकनेवाले हे गजराज ! मैं तुम्हीं से पूछता हूँ। बताओ क्या तुमने मेरी उस प्रियाको इधर जाते हुए देखा है। जिसने अपनी चमकसे चन्द्रमाकी चाँदनीको भी लजा दिया है ॥ ४५ ॥] [दो पग आगे बढकर] हे मतवाले हाथी ! क्या तुमने अपनी दूरतक देखनेवाली आँखों से सदा जवान दिखाई देनेवाली उस उर्वशीको कहीं देखा है, जो युवतियों में चन्द्रमाकी नई किरणके समान चमकती है और जिसके बालों में जूहीके फूल गुँथे हुए हैं ॥ ४६ ॥ [सुनकर हर्षसे] आहा ! इस तुम्हारे कोमल, मन्द और प्रिया का पता बतानेवाले गर्जनसे मेरे जीको बडा सहारा मिला है। तुम भी मेरे ही समान बलवान हो, इसलिये तुमसे मेरा बडा स्नेह हो गया है। लोग मुझे राजाओंका स्वामी कहते हैं और तुम्हें गजोंका स्वामी। तुम भी दिन-रात अपना दान अर्थात् मद बहाया करते हो तो मेरे यहाँ भी दिन-रात मँगनोंको दान देनेका काम चलता रहता है। इधर स्त्रियों में रत्नके समान सुन्दर उर्वशी मेरी प्रियतमा है तो यह हथिनी भी तुम्हारी वैसी ही प्यारी है। इस प्रकार हम दोनों सब बातों में एक-से ही हैं, पर मैं यही मनाता हूँ कि प्रियाके बिछोहका दुःख तुम्हें कभी न सतावे ॥ ४७ ॥ तुम सुखी रहो। हम जा रहे हैं। [घूमकर अपने एक ओर देखकर] अरे ! यह सुरभिकन्दर नामका बडा सुहावना पर्वत दिखाई दे रहा है। और अप्सराओंको यह पर्वत बडा प्यारा भी है। कहीं वह सुन्दरी इस पर्वतकी तलहटीमें ही न मिल जाय ? [घूमकर और देखकर] अरे ! यहाँ कितना अँधेरा है। अच्छा, बिजली चमके तो मैं देखूँ—हाय ! हाय ! मेरे दुर्भाग्यसे बादलों में बिजली भी नहीं रह गई। फिर भी इस पर्वतसे पूछे बिना मैं यहाँसे टलूँगा नहीं।

[अपने बडे-बडे और तीखे खुरों से पृथ्वीको रौंदता हुआ और अपनी टेक पर अड़ा हुआ, एक जंगली सूअर अपनी धुनमें मस्त होकर इस घने जंगलमें घूम रहा है ॥ ४८ ॥]

हे बडी-बडी टालों वाले पहाड ! अपने इस कामदेवके वनमें क्या

तुमने सुन्दर नितम्बोंवाली और पोर-पोरपर झुकी हुई सी उस सुन्दरी-को देखा है जिसके दोनों स्तन उभरकर आपसमें सट गए हैं ॥ ४९ ॥ अरे ! यह चुप क्यों हो गया ! या कौन जाने दूर होनेके कारण ही वह न सुन सक रहा हो ! अच्छा इसके पास जाकर पूछता हूँ। स्फटिककी चट्टानोंपर वहते हुए उजले झरनोंवाले ! रंग-बिरंगे फूलोंसे अपनी चोटियाँ सजानेवाले ! किन्नरोंके जोड़ोंके मधुर गीतोंसे सुहावने लगनेवाले हे पर्वत ! मेरी प्यारीकी एक झलक तो मुझे दिखा दो ॥५०॥ [घूमकर और हाथ जोड़कर] हे पर्वतोंके स्वामी ! क्या तुमने वनके इस सुन्दर छोरमें मुझसे विछुड़ी हुई उस निराली सुन्दरी उर्वशीको कहीं देखा है ॥५१॥ [नेपथ्यसे वैसे ही शब्द सुनकर सहर्ष] अरे ! क्या यह कह रहा है कि हाँ ठीक वैसे ही देखा है जैसा मैंने कहा था। तब तुम इससे भी प्यारी बात सुनो और मुझे बताओ कि मेरी प्रियतमा कहाँ है। [फिरसे ५१वाँ श्लोक पढ़ता है और नेपथ्यसे फिर उसे वही सुनाई देता है।] [सुनकर और समझकर] हाय रे भाग्य ! यह तो पहाड़की गुफासे टकराकर निकलनेवाले मेरे ही शब्दोंकी गूँज है। [मूर्छित हो जाता है। फिर उठकर दुःखके साथ] अरे ! अब तो मैं थक गया हूँ। इसलिये इस झरनेके तीरपर तरंगोंकी ठंढी बयारमें चलकर बैठता हूँ। [घूमकर और देखकर] अभी बरसे हुए पानीसे गँदले झरनेको देखकर भी मेरा मन प्रसन्न हो रहा है क्योंकि मार्गमें आनेवाली चट्टानोंसे बचनेके लिये यह टेढा होकर वह रहा है, इसकी लहरें चढ़ी हुई भौंहों जैसी हैं, व्याकुल पक्षियोंकी पाँतें ही इसकी तगड़ी है, इसका फेन ही मानो वह वस्त्र है जो चलनेसे ढीला पड गया है और जिसे वह खींचती लिए चली जा रही है। इससे मुझे ऐसा लग रहा है कि मेरी क्रोधी प्रिया ही नदी बन गई है ॥ ५२ ॥ अच्छा, चलूँ मैं इसीको चलकर मनाता हूँ।

[हाथ जोड़कर]

[उड़ते हुए और कड़े स्वरोंमें चहचहाते हुए पक्षियोंवाली ! गंगाजीसे मिलनेको उतावली और भौंरोंकी पाँतोंसे गूँजनेवाली हे सुन्दरी नदी ! तुम सुझपर प्रसन्न हो जाओ ॥ ५३ ॥]

[यह देखो ! समुद्रोंके स्वामीका कैसा अच्छा नृत्य हो रहा है। जलमें पड़ी हुई मेघोंकी परछाईं ही उनके शरीर हैं। पुरवैया पवनसे उठी हुई

लहरें ही मानो नृत्यके लिए उठाए हुए उनके हाथ हैं। शख और हस आदि पक्षी उनके पैरके घुँघरू और आभूषण हैं। हाथियों और मगरोंके झुण्ड ही उनके नीले वस्त्र हैं, नीले कमल ही उनकी मालाएँ हैं और तीर-से टकराती हुई लहरें ही मानो ताल दे रही हैं और इसी बीच वर्षाकालने आकर सब दिशाओंको ढँक भी लिया है ॥ ५४ ॥]

हे नदी ! बताओ तो तुमसे इतना प्रेम करनेवाले, सदा मीठी बातें करनेवाले और प्रेममें कमी आनेकी बात ही न सोचनेवाले इस प्रेमीमें तुमने कौन-सा ऐसा छोटे-से-छोटा भी दोष पाया है कि तुम इस दासको इस प्रकार छोड़ रही हो ॥ ५५ ॥ अरे, यह चुप क्यों है ? [सोचकर] या फिर यह सचमुच नदी ही होगी। क्योंकि यदि यह उर्वशी होती तो पुरुरवाको छोडकर समुद्रकी ओर जानेके लिये इतनी उतावली न होती। अच्छा, बिना दु:ख उठाए सुख मिल भी तो नहीं सकता। चलूँ, अब मैं उसी स्थानपर जाऊँ जहाँ वह सुन्दर नयनोंवाली मेरी आँखोंसे ओझल हो गई थी। [घूमकर और देखकर] चलूँ, इस बैठे हुए हरिणसे ही प्यारीका पता पूछूँ।

[नन्दन वनके नये फूलोंके गुच्छोंसे लदे हुए और मदमाती कोयल-की मीठी कूकसे सुहावने लगनेवाले वृक्षके पास यह ऐरावत हाथी अपनी प्यारी हथिनीके बिछोहकी आँचमें तपा हुआ इधर-उधर घूम रहा है ॥ ५६ ॥]

इस हरिणके शरीरपर बनी हुई काली-काली बुँदकियाँ ऐसी लगती हैं मानो वनकी नई हरियाली निहारनेके लिये वनलक्ष्मीने ही इसपर अपनी चितवन डाली हो ॥५७॥ [देखकर] इसने तो मेरी बात अनसुनी करके अपना मुँह दूसरी ओर फेर लिया है। [देखकर] इसके पास जो इसकी हरिणी चली आ रही थी और जिसे दूध पीनेवाले मृगछौनेने बीचमें ही रोक लिया है उसकी ओर आँख लगाए यह टक-टक देख रहा है ॥ ५८ ॥ [नितम्बों के भारी होनेके कारण धीरे-धीरे चलनेवाली और ऊँचे उठे हुए मोटे-मोटे स्तनोंवाली, सदा जवान रहनेवाली, पतली कमरवाली, हंस जैसी चालवाली उस मृगनैनी अप्सराको यदि तुमने इस आकाशके समान उजले वनमें घूमते हुए देखा हो तो उसका पता बताकर मुझे इस विरहके समुद्रमें उबार लो ॥ ५९ ॥]
[पास जाकर हाथ जोड़कर] क्यों जी हरिणीके स्वामी ! क्या तुमने

मेरी प्यारीको कहीं वनमें देखा है? मैं तुम्हें उसका रूप रंग बताए देता हूँ। सुनो! ठीक जैसे तुम्हारी हरिणी अपनी बड़ी बड़ी आँखों से सुन्दर चितवन डालती है वैसे ही वह भी डालती है ॥६०॥ क्या वह मेरी बात अनसुनी करके अपनी हरिणीकी ओर मुँह करके बैठ गया? ठीक ही है—जब दिन खोटे आते हैं तो सभी दुरदुराते हैं। तो फिर यहाँ से कहीं और चलकर उसे ढूँढूँ। [घूमकर और देखकर] अरे लो! मैंने उसके मार्गका पता पा लिया। यह वही लाल कदम्बका पेड़ है जिसमें फूले हुए फूल बता रहे थे कि गर्मी बीत गई। उसीका एक ऐसा फूल लेकर प्यारीने अपने जूड़ेका सिंगार किया था जिसमें केसर न फूट आनेके कारण वह उस समय तक कड़ा ही था ॥६१॥ [घूमकर अशोककी ओर देखता हुआ] हे लाल अशोक! इस प्रेमीको छोड़कर वह सुन्दरी कहाँ चली गई? [पवनसे हिलती हुई अशोककी चोटी देखकर क्रोधसे] पवनसे झूमता हुआ अपना सिर हिलाकर यह क्यों कह रहे हो कि मैंने नहीं देखा। यदि तुमने उसे न देखा होता तो बताओ मधुके लालचमें इकट्ठे होनेवाले भौंरों से कुतरी जानेवाली पंखड़ियोंवाले तुम्हारे फूल उसकी लात खाए बिना फूल कैसे उठते ॥६२॥ अच्छा, तुम सुखी रहो। [घूमकर और देखकर] यह पत्थरकी दरारके भीतर बड़ा गहरा लाल मणि-सा क्या दिखाई दे रहा है? यह इतना चमक रहा है कि सिंहसे मारे हुए हाथीके मांसका टुकड़ा भी नहीं हो सकता। यह आगकी चिनगारी भी नहीं हो सकती क्योंकि अभी-अभी घनघोर वर्षा भी हो चुकी है। [देखकर] अरे, यह तो लाल अशोकके फूलों के समान लाल लाल मणि है जिसे उठानेके लिये सूर्य भी मानो अपने किरण रूपी हाथ वहाँ तक बढाए हुए हैं॥ ६३॥ अरे! यह तो मेरे मनको बडा लुभा रहा है। अच्छा, चलूँ, इसे निकाल लूँ।

[अपनी प्यारीको पानेकी आशा लगाए, आँखोंमें आँसू भरे यह राजे मुँहवाला हाथी इस वनमें दुखी होता हुआ घूम रहा है ॥६४॥]

[मणि निकालनेका नाट्य करता है। उसे पकडकर] पर मेरी जिस प्यारीकी मन्दारके फूलों से सुगन्धित चोटीमें यह बँधनी चाहिए वही जब नहीं मिल रही है तब मैं इसे ही लेकर क्यों इसे अपने आँसुओं से मैला करूँ॥ ६५॥ [वहीं उसे छोड देता है।]

[नेपथ्यमें]

वत्स ! इसको ले लो, ले लो। यह प्यारीसे मिलानेवाली सगमनीय मणि है जो पार्वतीजीके चरणोंकी ललाईसे बनी है। इसे जो अपने अपने पास रखता है उसे यह शीघ्र ही प्यारेसे मिलवा देती है ॥६६॥

राजा—[सुनकर] अरे ! यह कौन मुझे इस प्रकार आज्ञा दे रहा है। [देखकर] जान पड़ता है हरिणोंके समान वनमें रहने-वाले किसी मुनिने मुझपर कृपा की है। भगवन् ! आपके इस उपदेश-के लिये मैं आपका आभारी हूँ। [मणि उठाकर] हे संगमनीय मणि ! यदि तुम मुझे उस पतली कमरवाली सुन्दरीसे मिला दोगी तो मैं तुम्हें उसी प्रकार अपने मुकुटमें लगा लूँगा जैसे शिवजीने बाल चन्द्रमाको अपने सिरकी जटाओंमें रख लिया है ॥ ६७ ॥ [घूमकर और देखकर] अरे ! इस बिना फूलवाली लताको देखकर भी मेरा मन क्यों इतना उछला पड़ रहा है ? पर इसे देखकर तो मेरे मनको सुख मिलना ही चाहिए क्योंकि—बादलके जलसे धुले हुए कोमल पत्तोंसे यह उस सुन्दरीके समान दिखाई दे रही है जिसके ओठ आँसुओंसे धुल गए हों, फूलनेका समय न होनेसे न फूली हुई यह ऐसी लगती है मानो इसने आभूषण उतार दिए हों, और इसपर भौंरे भी नहीं गूँज रहे हैं इसलिये यह ऐसी जान पडती है मानो इसने मौन व्रत ले रक्खा हो। इस प्रकार यह ऐसी जान पड़ती है मानो जब उसने क्रोध किया था और मैं उसे मनानेके लिये उसके पैरों पडा था उस समय जो वह रूठकर चल दी थी उसीका पछतावा कर रही हो ॥ ६८ ॥ तो चलूँ, अपनी प्रियाके समान दिखाई देनेवाली इस लताको ही तबतक गलेसे लगा लूँ। [हे लता ! देखो ! मैं यहाँ हृदय खोलकर घूम रहा हूँ। यदि दैव-योगसे मैं उसे पा जाऊँ तो इस वनसे उसे इतनी दूर ले जाऊँगा कि फिर उसे यहाँ कभी आने ही न दूँगा ॥६९॥]

[आगे बढकर लताको गले लगाता है। वहीं उर्वशी आ जाती है।]

राजा—[आँखें बन्द होनेपर भी स्पर्श करनेका नाट्य करता हुआ] अरे ! मेरे शरीरको ऐसा सुख मिल रहा है मानो उर्वशी ही मेरे शरीरसे लिपटी हुई हो। फिर भी विश्वास नहीं हो रहा है, क्योंकि—मैं जिस-जिस वस्तुको भी अपनी प्यारी समझ बैठता हूँ वही क्षण भरमें बदल

जाती है। अब इस लताको छूनेसे मुझे अपनी प्यारीसे मिलनेका सुख मिल रहा है इसलिये मैं अपनी आँखें खोलूँगा ही नहीं॥ ७० ॥ [धीरेसे आँखें खोलकर] अरे ! यह तो सचमुच मेरी प्यारी ही है। [मूर्छित होकर गिर पड़ता है।]

उर्वशी—[आँसू बहाती हुई] धीरज धरिए महाराज ! धीरज धरिए।

राजा—[मूर्छासे जागकर] आज मैं जी गया प्यारी ! हे सुन्दरी ! तुम्हारे बिछोहके अँधेरेमें डूबते हुए मैंने भाग्यवश तुम्हें उसी प्रकार पा लिया है जैसे मरे हुएको प्राण मिल जाय ॥७१॥

उर्वशी—मैंने अपनी भीतरी इन्द्रियोंसे महाराजकी सब बातें जान ली थीं।

राजा—मैं तुम्हारे 'भीतरी इन्द्रिय' शब्दका अर्थ नहीं समझा।

उर्वशी—मैं बताती हूँ उसका अर्थ। पर आपसे यह प्रार्थना है पहले मुझे क्षमा कर दीजिए क्योंकि मैंने ही क्रोध करके आपको इतना कष्ट पहुँचाया।

राजा—कल्याणी ! तुम्हें मुझसे नहीं क्षमा माँगनी चाहिए। तुम्हारे दर्शनसे ही मेरा अंतरात्मा और बाहरी इन्द्रियाँ सब प्रसन्न हो गई हैं। पर यह तो बताओ कि इतने दिनोंतक तुम मेरे बिना रहीं कैसे ? बताओ। [मोर, कोयल, हंस, चकवा, भौंरा, हाथी, पहाड़, नदी, हिरण इनमें से कौन ऐसा रह गया जिससे मैंने वनमें घूम-घूमकर रोते हुए तुम्हारे लिये नहीं पूछा ॥७२॥]

उर्वशी—मैंने अपनी भीतरी इन्द्रियोंसे महाराजकी सब बातें जान ली थीं।

राजा—प्यारी ! मैं सचमुच अभीतक तुम्हारे इस भीतरी इन्द्रिय शब्दका अर्थ नहीं समझ सका हूँ।

उर्वशी—सुनिए महाराज ! बहुत दिन हुए भगवान् कार्त्तिकेयने सदाके लिये ब्रह्मचर्य लेकर इस पवित्र गंधमादन पर्वतपर अपना डेरा जमाया और यह नियम बना दिया कि

राजा—क्या ?

उर्वशी—यही कि जो भी स्त्री यहाँ आवेगी वह लताके रूपमें

बदल जायगी। पर इस शापका उन्होंने यह उपाय भी बता दिया था कि पार्वतीजीके चरणोंकी ललाईसे उत्पन्न होनेवाली मणिके पाए बिना इस शापसे छुटकारा नहीं हो सकता। गुरुजीके शापसे मेरी बुद्धि ऐसी मारी गई कि मैं देवताओंके नियमको भूल गई और आपकी मनुहार-को ठुकराकर कार्त्तिकेयके उस वनमें पैठ गई जहाँ स्त्रियोंको नहीं जाना चाहिए। पैठते ही वनके बाड़ेपर ही मैं वासन्ती लता बन गई।

राजा—प्रिये! अब मेरी समझमें सब बात आई। नहीं तो जब तुम मेरे थककर सो जानेपर भी मुझे दूर गया हुआ समझ लेती थी तब भला तुम मुझसे इतने दिनोंतक कैसे अलग रह सकती थी ॥ ७३ ॥ देखो, अभी तुम जिस मणिकी बात कह रही थी, वह तुमसे मिलाने-वाली मणि यही है, जिसे मुनिसे पाकर मैंने तुम्हें पा लिया है। [मणि दिखलाते हैं।]

उर्वशी—क्या यही संगमनीय मणि है? इसीलिये महाराजके गले लगाते ही मैं फिर जैसीकी तैसी बन गई। [मणि लेकर सिर चढ़ाती है।]

राजा—सुन्दरी! क्षण भर इसी प्रकार खड़ी तो रहो। सिरपर रक्खी हुई इस मणिसे चमकता हुआ तुम्हारा मुँह प्रातःकालके सूर्यकी किरणोंसे चमकते हुए कमलके समान सुहावना लग रहा है ॥ ७४ ॥

उर्वशी—हे मिठबोले! आप बहुत दिनोंसे प्रतिष्ठान नगरीसे बाहर आए हुए हैं। क्या जाने आपकी प्रजा मुझे ही इसके लिये कोस रही हो। इसलिये आइए, चलिए लौट चलें।

राजा—जैसा तुम चाहो। [दोनों उठते हैं।]

उर्वशी—तो महाराज कैसे जाना चाहते हैं?

राजा—मैं चाहता हूँ कि बिजलीकी झंडियोंवाले और इन्द्रधनुष-के नये चित्रोंवाले विमान बने हुए नये मेघपर चढ़कर ही मैं अपने नगरको जाऊँ ॥७५॥

[अपनी प्यारीसे मिलकर पुलकित शरीरवाला यह जवान हंस अपने मनचाहे विमानपर चढ़कर उड़ा चला जा रहा है ॥७६॥]

(दोनों चले जाते हैं।)

॥ चौथा अंक समाप्त हुआ ॥

पाँचवाँ अङ्क

[प्रसन्न मनसे विदूषक आता है ।]

विदूषक—हें हें हें हें ! यह तो बड़े आनन्दकी बात हुई कि नन्दन वन आदि देवताओंके वनोंमें उर्वशीके साथ विहार करके मेरे प्रिय मित्र लौट आए हैं और अब अपने नगरमें आकर लोगोंसे पाई हुई आदर-भेंटसे प्रसन्न होकर राज करने लगे हैं। अब सन्तानको छोड़कर इन्हें किसी बातकी कमी नहीं रह गई। आज पर्वका दिन होनेसे वे देवियोंके साथ श्री गंगाजी और यमुनाजीके संगममें स्नान करके अभी रनिवासमें लौटे हैं। इसलिये जब तक महाराज अपना साज-सिंगार पूरा करें तब तक चलूँ मैं भी उनकी चन्दन-माला आदिमें अपना भाग पहले ही निकाल लूँ। [घूमता है]

[नेपथ्यमें]

हाय हाय ! ताड़की पिटारीमें रेशमका टुकड़ा बिछाकर उसमें महारानीके माथेकी मणि लिए मैं चला जा रहा था कि इतनेमें एक गिद्ध झपटा और उसे मासका टुकडा समझकर उठाकर उड़ गया।

विदूषक—[सुनते हुए] यह तो बडा बुरा हुआ, बडा बुरा हुआ। यह मणियोंमें अनोखी संगमनीय मणि महाराजको बडी प्यारी थी। इसीलिये महाराज अधूरा सिंगार किए हुए ही आसन छोडकर इधर चले आ रहे हैं। चलूँ आगे बढ़कर मिल लूँ। [जाता है]

॥ प्रवेशक ॥

[सेवकोंके साथ घबराए हुए राजा आते हैं।]

राजा—अरे वेधक ! वेधक ! अपनी मृत्यु अपने आप बुलानेवाला वह चोट्टा पक्षी कहाँ गया जिसने स्वयं रक्षा करनेवालेके ही घरमें यह पहली चोरी की है ॥ १ ॥

किरात—वह देखिए ! वह देखिए ! अपनी चोंचमें सोनेका डोरा पकडे हुए यह पक्षी ऐसा चक्कर लगा रहा है मानो मणिसे आकाशमें लिख रहा हो।

राजा—हाँ, दिखाई दे गया। मणिके सोनेके डोरेको पकडे हुए वेगसे चक्कर काटता हुआ यह इस प्रकार मणिके रंगका कुंडल बना

रहा है जैसे कोई आगकी लूकको चक्कर देकर घुमा रहा हो ॥ २ ॥ अब क्या करना चाहिए ?

विदूषक—[पास जाकर] देखिए ! अब अपनी दया रहने दीजिए। अपराधीको दंड देना ही चाहिए।

राजा—ठीक कहा तुमने ! अरे धनुष तो ले आओ।

यवनी—अभी लाई। [चली जाती है।]

राजा—मित्र ! वह दुष्ट पक्षी तो कहीँ दिखाई ही नहीँ देता। न जाने किधर चला गया ?

विदूषक—वह मार डालने योग्य माँसखौआ पक्षी दक्खिनकी ओर गया है।

राजा—[घूमकर देखता है।] वह दिखाई दे रहा है। चमकते हुए मणिको इधर उधर चोँचमेँ लेकर उड़ता हुआ यह पक्षी ऐसा लग रहा है मानो दिशाके माथेपर चूडामणि बाँध रहा हो।

यवनी—[हाथमेँ धनुष लिए आकर] यह लीजिए हथरखा और धनुष।

राजा—अब क्या होगा धनुष ! वह गिद्ध तो मेरे बाणकी पहुँचसे बाहर निकल गया और उस मणिको इतनी दूर उड़ा ले जाकर वह ऐसा लगने लगा है मानो घने बादलकी टुकड़ीके साथ रातको मंगल तारा चमक रहा हो ॥ ४ ॥ [कञ्चुकीको देखकर] आर्य लातव्य !

कञ्चुकी—आज्ञा महाराज !

राजा—मेरी आज्ञासे नगरमेँ डुग्गी पिटवा दो कि जब यह चोर संध्याको अपने घोँसलेमेँ पहुँचे तो इसे खोजा जाय।

कञ्चुकी—जैसी महाराजकी आज्ञा [चला जाता है।]

विदूषक—अब आप बैठ जाइए महाराज ! वह रत्नका चोर आपके दंडसे बचकर जायगा कहाँ ?

राजा—[विदूषकके साथ बैठकर] मित्र ! उस पक्षीने जो रत्न चुराया है उसे मैँ रत्न होनेके नाते नहीँ, वरन् इसलिये आदर करता हूँ कि उस संगमनीय मणिने मुझे मेरी प्यारीसे मिला दिया था ॥ ५ ॥

विदूषक—आप तो मुझे सब बता ही चुके हैँ।

[बाणके साथ मणि लिए हुए कञ्चुकीका प्रवेश]

कञ्चुकी—जय हो, महाराजकी जय हो। इस मारने योग्य पक्षी

को आपके क्रोधने बाण बनकर मार डाला और यह अपने अपराधका ठीक दण्ड पाकर आकाशसे इस रत्नके साथ ही नीचे गिर पड़ा ॥ ६ ॥

[सब आश्चर्य करते हैं ।]

कञ्चुकी—मैं ने इस मणिको पानीसे धो डाला है। कहिए किसे दे दूँ ?

राजा—वेधक ! जाओ, इसे आगमें शुद्ध करके पेटीमें रख दो।

किरात—जैसी महाराजकी आज्ञा। [मणि लेकर जाता है।]

राजा—क्यों आर्य लातव्य ! कुछ यह भी पता चला कि यह बाण किसका है ?

कञ्चुकी—इसपर नाम तो खुदा हुआ दिखाई देता है पर मेरी आँखों से इसके अक्षर ठीक ठीक पढ़े नहीं जा रहे हैं।

राजा—अच्छा, इधर लाओ बाण। मैं ही पढ़ता हूँ। [कञ्चुकी बाण देता है। राजा उस बाणपर लिखे हुए नामके अक्षरोंको बाँचकर सोचते हैं।]

कञ्चुकी—तबतक चलूँ मैं अपना काम करूँ। [जाता है।]

विदूषक—आप सोच क्या रहे हैं ?

राजा—उस पक्षीको मारनेवाले वीरका नाम सुनोगे ?

विदूषक—हाँ, बताइए।

राजा—सुनो ! [बाँचता है।] यह बाण पुरूरवा और उर्वशीके धनुर्धारी पुत्र आयु नामके उस राजकुमारका है जो शत्रुओं के प्राण खींच लेता है ॥ ७ ॥

विदूषक—[संतोषके साथ] आपको पुत्र पानेकी बधाई।

राजा—पर मित्र ! यह हो कैसे सकता है ? नैमिषेय यज्ञको छोड़कर मैं कभी उर्वशीजीसे अलग नहीं रहा और इस बीचमें मैं ने उनके शरीरमें कभी गर्भके लक्षण भी नहीं देखे, फिर यह पुत्र उत्पन्न कैसे हो गया ? पर हाँ, एक बात है, अभी कुछ दिन पहले मैं उनके शरीरको देखता था तो उनकी आँखें अलसाई रहती थीं, उनका मुँह लवलीके पत्तों के समान पीला पड़ गया था और उनके स्तनोंकी घुंडियाँ साँवली पड़ गई थीं ॥ ८ ॥

विदूषक—आप मानुषी स्त्रियोंवाली सब बातें अप्सराओंपर लागू

न समझिए। वे जो चाहें अपनी दैवी शक्तिसे छिपाए रख सकती हैं।

राजा—तो जो तुम कहते हो वही बात होगी। पर उन्होंने पुत्रको छिपा क्यों दिया ?

विदूषक—इसलिये कि कहीं राजा मुझे बूढ़ी समझकर छोड़ न दें।

राजा—अच्छा ठिठोली न करो। ध्यानसे सोचो।

विदूषक—भला देवताओंकी बातोंका भेद भी कोई पा सकता है !

[कञ्चुकी आता है]

कञ्चुकी—जय हो, महाराजकी जय हो। देव ! च्यवन ऋषिके आश्रमसे एक कुमारको साथ लिए हुए कोई तपस्विनी आई हैं और आपका दर्शन करना चाहती हैं।

राजा—दोनोंको झटपट भीतर ले आओ।

कञ्चुकी—जैसी देवकी आज्ञा। [बाहर जाकर और फिर धनुषधारी कुमारको और तपस्विनीको साथ लेकर आता है] इधरसे आइए देवी, इधरसे।

[सब घूमते हैं।]

विदूषक—[देखकर] कहीं यही वह क्षत्रिय-कुमार न हो जिसके नामवाला गिद्धपर चलाया हुआ यह अर्धचन्द्र बाण मिला है और जो आपसे बहुत मिलता-जुलता भी है।

राजा—हो सकता है। क्योंकि इसे देखते ही आँखें भर आई हैं हृदयमें वात्सल्य प्रेम उमड़ा पड़ रहा है, जी खिल गया है, और मेरा शरीर धीरज खोकर काँपने लगा है और मेरी ऐसी इच्छा हो रही है कि इसे उठाकर कसकर अपने गलेसे लगा लूँ ॥ ९ ॥

कञ्चुकी—भगवती ! बस यहीं खड़ी रहिए। [तपस्विनी और कुमार खडे रहते हैं।]

राजा—मैं प्रणाम करता हूँ, माता जी !

तापसी—हे बड़भागी ! आपसे चन्द्रवंश बढ़े। [मन ही मन] अरे ! बिना बताए ही पता चल जाता है कि इस राजा और कुमारका सगा सम्बन्ध है। [प्रकट] बेटा ! अपने पिताजीको प्रणाम करो।

[हाथमें धनुष लिए हुए ही कुमार हाथ जोडकर प्रणाम करता है।]

राजा—वत्स ! तुम्हारी बडी आयु हो ।

कुमार—[मन ही मन] जब मुझे केवल यही सुनकर इतना प्रेम उमड रहा है कि ये मेरे पिता हैं और मैं इनका पुत्र हूँ, तब उन बालकोँको अपने माता-पितासे कितना प्रेम होता होगा जो उन्हींकी गोदमें पलकर बड़े होते होंगे ॥ १० ॥

राजा—कहिए भगवती ! कैसे आईं ?

तापसी- सुनिए महाराज ! जब यह चिरजीव उत्पन्न हुआ तभी कुछ सोच-समझकर उर्वशी इसे मेरे पास छोड़ गई। क्षत्रिय कुमारके जितने जात-कर्म आदि संस्कार हैं वे सब भगवान च्यवन ऋषिने करा दिए और पढ़-लिख चुकनेपर इसे धनुष चलाना भी सिखा दिया।

राजा—तब तो यह बड़ा भाग्यवान है।

तापसी—आज फूल, समिधा और कुशा लानेके लिये जब यह ऋषि-कुमारोंके साथ जा रहा था तो इसने आश्रमके नियमसे उल्टा काम कर डाला।

विदूषक—[घबराकर] क्या ? क्या ?

तापसी—एक गिद्ध मांसका टुकड़ा लिए हुए पेड़पर बैठा था। बस उसीपर ताककर इसने बाण चला दिया।

[विदूषक राजाकी ओर देखता है।]

राजा—तब, तब ?

तापसी—जब भगवान च्यवनने यह सुना तब उन्होंने आज्ञा दी कि उर्वशीकी धरोहर ले जाकर उसे सौंप आओ। इसीलिये मैं देवी उर्वशीसे मिलने आई हूँ।

राजा—तबतक आप आसन सुशोभित कीजिए।

[लाए हुए आसनपर तापसी बैठ जाती है।]

राजा—आर्य लातव्य ! जाओ उर्वशीको बुला तो लाओ।

कञ्चुकी—जैसी देवकी आज्ञा। [जाता है।]

राजा—[कुमारको देखकर] इधर आओ वत्स ! इधर आओ। कहते हैं कि पुत्रको छूते ही सारा शरीर सुखी हो जाता है इसलिये तुम भी मेरे पास आकर मुझे वैसे ही आनन्द दो जैसे चन्द्रमाकी किरणें चन्द्रकान्त मणिको आनन्द देती हैं ॥ ११ ॥

तापसी—जाओ बेटा ! अपने पिताजीका जी सुखी करो।

[कुमार पास जाकर राजाके पैर छूता है।]

राजा—[कुमारको गलेसे लगाकर उसे पैर-पीढ़ेपर बैठाकर] वत्स ! अपने पिताके प्रिय मित्र इन ब्राह्मणको भी निडर होकर प्रणाम करो।

विदूषक—डर काहे का ? आश्रममें रहनेवाले बन्दरोंसे तो इसकी पहलेसे जान पहचान होगी ही।

कुमार—[हँसकर] तात ! प्रणाम।

विदूषक—तुम्हारा कल्याण हो। तुम फलो-फूलो।

[उर्वशी और कञ्चुकीका प्रवेश]

कञ्चुकी—इधरसे आइए देवी ! इधरसे।

उर्वशी—[कुमारको देखकर] यह हाथमें धनुष लिए हुए कौन है जिसे पैर-पीढ़ेपर बैठाकर स्वयं महाराज उसके बाल गूँथ रहे हैं। [तापसीको देखकर] अरे सत्यवतीको देखकर ही मैं समझ गई कि यह मेरा पुत्र आयु है। अरे ! यह तो बहुत बड़ा हो गया है। [बड़ी प्रसन्न होकर घूमती है।]

राजा—[उर्वशीको देखकर बालकसे] वत्स ! लो ये तुम्हारी माँ आ गईं जो तुम्हारी ओर टकटकी लगाए देख रही हैं और जिनकी चोली तुम्हारे प्रेममें टपके हुए दूधसे भींग गई है ॥ १२ ॥

तापसी—यहाँ आओ बेटा ! आगे बढ़कर माताका स्वागत करो। [कुमारको लेकर उर्वशीसे मिलनेको आगे बढ़ती है।]

उर्वशी—माताजी ! मैं आपके चरणोंमें प्रणाम करती हूँ।

तापसी—अपने स्वामीकी प्यारी बनी रहो।

कुमार—माँ ! मैं प्रणाम करता हूँ।

उर्वशी—[कुमारका मुख ऊपर उठाकर उसे शरीरसे चिपटाती हुई] वत्स ! पिताकी सेवा करनेवाले बनो। [राजाके पास जाकर] जय हो, महाराजकी जय हो।

राजा—पुत्रवतीका स्वागत है। आओ, यहाँ बैठो। [अपने आधे आसनपर बैठा लेते हैं।]

[उर्वशी बैठती है। सब यथास्थान बैठते हैं।]

तापसी—वत्से ! ठीकसे पढ़-लिखकर अब यह कुमार कवच धारण

करने योग्य हो गया है। इसलिये तुम्हारे स्वामीके सामने ही तुम्हारी धरोहर तुम्हें सौंप देती हूँ। अब जाना भी चाहती हूँ क्योंकि अभी आश्रमका बहुत-सा काम मेरे बिना रुका पड़ा होगा।

उर्वशी—इतने दिनोंपर तो आप मिली हैं। अभी आपसे मिलकर जी ही नहीं भरा इसलिये आपको जाने देनेका जी ही नहीं चाहता। पर आपको रोक रखना भी बड़ा अन्याय होगा, इसलिये आप जाती हैं तो जायँ पर फिर दर्शन अवश्य दीजिएगा।

राजा—माताजी! भगवान च्यवनसे मेरा प्रणाम कहिएगा।

तापसी—अच्छी बात है।

कुमार आर्ये! यदि आप सचमुच लौटी जा रही हो तो मुझे भी आश्रम लेती चलिए।

राजा—अरे वत्स! तुम ब्रह्मचर्य आश्रममें रह चुके हो अब तुम्हें गृहस्थ आश्रममें रहना चाहिए।

तापसी—बेटा! पिताजीका कहना मानो।

कुमार—तो आप मेरे उस बड़े-बड़े पंखोंवाले मणिकण्ठक नामके मोरको यहाँ भेज दीजिएगा जो मेरी गोदमें सोया-सोया अपना सिर मेरे हाथोंसे खुजलाए जानेका आनन्द लिया करता था॥ १३॥

तापसी—[हँसकर] अच्छा भेज दूँगी।

उर्वशी—भगवती! मैं चरणोंमें प्रणाम करती हूँ।

तापसी—तुम दोनोंका कल्याण हो। [चली जाती है।]

राजा—[उर्वशीसे] हे कल्याणी! तुम्हारे इस सुपुत्रको पाकर आज मैं सभी पुत्रवालोंसे उसी प्रकार बढ़ गया हूँ जैसे इन्द्राणीसे उत्पन्न हुए जयन्तको पाकर इन्द्र॥ १४॥

[उर्वशी कोई बात स्मरण करके रोने लगती है।]

विदूषक—[देखकर, घबराए हुए] अरे! यह क्या? यह अचानक आपकी आँखोंमें आँसू क्यों आ गए?

राजा—[घबराकर] हे सुन्दरी! ऐसे शुभ अवसरपर तुम क्यों रो रही हो जब मेरे वंशको बढ़ानेवाला पुत्र मुझे मिला हो। तुम अपने मोटे स्तनोंपर गिरनेवाले आँसुओंसे दूसरे हारकी लड़ी व्यर्थ क्यों बना रही हो॥ १५॥ [उसके आँसुओंको पोंछता है।]

उर्वशी—सुनिए महाराज ! पहले तो मैं पुत्रका मुँह देखकर ऐसी मगन हो गई कि सब भूल ही गई थी पर जब आपने अभी इन्द्रका नाम लिया तो मुझे एक बात स्मरण हो आई है जो मेरे हृदयको कचोट रही है।

राजा—कहो, क्या बात है।

उर्वशी—बहुत दिन हुए, आपसे प्रेम करनेपर भरत मुनिने मुझे शाप दे दिया था। उस शापसे मैं बहुत घबरा गई थी। तब इन्द्र भगवानने मुझे आज्ञा दी थी······

राजा—क्या ?

उर्वशी—यही कि तुम्हारे प्यारे मित्र राजर्षि जब तुमसे उत्पन्न हुए पुत्रका मुँह देख लें तब तुम फिर मेरे पास लौट आना। इसलिये जैसे ही यह बालक उत्पन्न हुआ वैसे ही मैंने इस डरसे इसे भगवान च्यवनके आश्रममें पढ़ाने-लिखानेके बहाने आर्या सत्यवतीके पास धरोहर बनाकर छोड़ दिया था कि यदि कहीं आप इसे देख लेंगे तो मेरा आपका बिछोह हो जायगा। आज उन्होंने मेरे इस चिरंजीवी पुत्र आयुको पिताकी सेवा करने योग्य समझकर लौटा दिया है। इसलिये बस आजतक ही मैं महाराजके साथ रह सकती थी।

[सब दुखी होते हैं और राजा मूर्छित हो जाते हैं।]

विदूषक—बड़ा बुरा हुआ, बड़ा बुरा हुआ।

कञ्चुकी—[ढाढ़स बँधाता हुआ] धीरज धरिए महाराज ! धीरज धरिए।

राजा—[मूर्छासे जागकर लम्बी साँस लेते हुए] अरे, दैव मेरे सुखको फूटी आँखों नहीं देखना चाहता। आज ही तो पुत्रको पाकर मेरा जी ठंढा हुआ था और आज ही तुम चल दीं। यह तो ठीक ऐसा ही हुआ जैसे पहली वर्षासे ठंढाए हुए वृक्षपर अचानक बिजली टूट पड़ी हो ॥१६॥

विदूषक—जान पड़ता है कि कुछ और भी विपत्तियाँ टूट पड़नेवाली हैं। मुझे तो अब यह खटका हो रहा है कि वल्कल पहनकर महाराज कहीं तपोवनको न चल दें।

उर्वशी—और मेरे जैसी अभागिनीके लिये भी महाराज यही सोचते होंगे कि पढ़ा-लिखा पुत्र पानेसे इसका काम हो गया है इसीलिये

अब यह स्वर्गको चली जा रही है।

राजा—ऐसा न कहो सुन्दरी! तुम जिस पराधीनता के कारण मुझे छोड़कर जा रही हो उससे मनचाही वस्तु तो मिल नहीँ सकती इसलिये जाओ, तुम अपने स्वामीकी आज्ञाका पालन करो और मैं भी आज तुम्हारे पुत्रको राज्य सौंपकर इधर-उधर घूमनेवाले हरिणोँ से भरे तपोवनमें जाकर रहने लगता हूँ॥ १७॥

कुमार—पिताजी! रथके जिस जुएको बड़ा बैल खींचता हो उसे छोटे से बछड़ेके कन्धेपर डालना ठीक नहीँ है।

राजा—ऐसा न कहो वत्स! जैसे ऊँची जातिके हाथीका बच्चा भी दूसरे हाथियोंको पछाड़ सकता है और सँपोलेका विष बड़े साँपके विष जैसा ही भयंकर होता है, वैसे ही राजाका पुत्र, बालक होते हुए भी पृथ्वीका ठीकसे पालन कर सकता है क्योँकि अपने-अपने कर्त्तव्य पालन करनेकी शक्ति अवस्थासे नहीँ वरन् जाति या स्वभावसे ही उत्पन्न हो जाती है॥ १८॥ आर्य लातव्य!

कञ्चुकी—आज्ञा कीजिए महाराज।

राजा—मेरी ओरसे अमात्य परिषद्को सूचना दो कि आयुके राज्याभिषेकका प्रबन्ध किया जाय।

कञ्चुकी—जैसी महाराजकी आज्ञा। [दुखी होकर चला जाता है]

[सब लोगोँकी आँखें चकाचौंध हो जाती हैं।]

राजा—[आकाशकी ओर देखकर] खुले आकाशमें यह बिजली कैसी?

उर्वशी—[देखकर] अरे! ये तो भगवान नारद हैं!

राजा—[ध्यानसे देखकर] हाँ, ये तो सचमुच भगवान नारद ही हैं जो गोरोचनाके समान पीली जटावाले कन्धेपर चन्द्रमाकी कलाके समान उजला जनेऊ पहने और मोतियोँकी माला गलेमें पहने हुए ऐसे उतरे चले आ रहे हैं मानो सुनहरो शाखावाला कोई चलता फिरता कल्पवृक्ष उतरा चला आ रहा हो॥ १९॥ लाओ, इनकी पूजा करनेके लिये सब सामग्री तो ले आओ।

उर्वशी—[सब सामग्री लाकर] यह रही देवर्षिकी पूजाके लिये सामग्री।

[नारदजी प्रवेश करते हैं, सब उठ खड़े होते हैं।]

नारद—मध्यम लोककी रक्षावाले महाराजकी जय हो, जय हो।

राजा—[उर्वशीके हाथसे पूजाकी सामग्री लेकर और पूजा करके] भगवन् ! अभिवादन करता हूँ।

उर्वशी—भगवन् ! मैं प्रणाम करती हूँ।

नारद—तुम दोनोंका कभी विछोह न हो।

राजा—[मन ही मन] यदि कहीं ऐसा हो जाता ! [कुमारको गले लगाकर प्रकट] वत्स ! भगवान नारदको प्रणाम करो।

कुमार—भगवन् ! उर्वशीका पुत्र आयु आपको प्रणाम करता है।

नारद—तुम्हारी वडी आयु हो।

राजा—देवर्षि ! आइए, यह आसन ग्रहण कीजिए।

नारद—अच्छी वात है।

[नारद मुनिके वैठनेपर सब वैठ जाते हैं।]

राजा—[नम्रतासे] कहिए भगवन् ! कैसे आनेका कष्ट किया ?

नारद—इन्द्रने कुछ सन्देश भेजा है वह सुनिए—

राजा—मैं सुन रहा हूँ।

नारद—अपनी दैवी शक्तिसे सबके मनकी बात जाननेवाले इन्द्रने जब देखा कि आप वन जानेकी तैयारी कर रहे हैं तो उन्होंने यह कहलाया है —

राजा—हाँ, उन्होंने क्या आज्ञा दी है ?

नारद—त्रिकालदर्शी मुनियोंने भविष्यवाणी की है कि देवताओं और राक्षसोंमें वडा भारी संग्राम होनेवाला है और संग्राममें कुशल आप, हम लोगोंकी सदा सहायता करते ही हैं इसलिये आप शस्त्र न छोड़ें। यह उर्वशी जीवन भर आपकी संगिनी रहेगी।

उर्वशी—[अलग] मेरे जीका तो जैसे काँटा निकल गया।

राजा—मैं तो इन्द्रका सेवक ही हूँ।

नारद—ठीक ही है—जैसे सूर्य अपने तेजसे अग्निको उकसाता है और अग्नि सूर्यको अपने तेजसे बढाता है वैसे ही इन्द्र तुम्हारा काम करें और तुम इन्द्रका काम करो॥ २०॥ [आकाशकी ओर देखकर] रंभा ! स्वयं इन्द्रने कुमार आयुके युवराज बननेके उत्सवके लिये जो सामग्रियाँ भेजी हैं वे सब ले तो आओ।

[ऊपर कही हुई सामग्रियाँ लिए हुए अप्सराएँ आती हैं।]

तुम अपने माता पिताके वैसे ही योग्य पुत्र बनो जैसे ब्रह्माजीके सुपुत्र अमर मुनि अत्रिजी हुए, अत्रि मुनिके चन्द्रमा हुए, चन्द्रमाके बुध हुए और बुधके पुरूरवा हुए हैं। तुम्हारे इस जगसे निराले वशमें और सब आशीर्वाद तो पहले ही फल चुके हैं॥ २१ ॥

दूसरा वैतालिक—ऊँचेसे ऊँचे लोगोंमें श्रेष्ठ तुम्हारे पिता हैं और उनके तुम बड़े साहसी और मर्यादा पालनेवाले पुत्र हो। तुम दोनोंमें एकसी भक्ति रखनेवाली यह राज्य-लक्ष्मी उसी प्रकार और भी शोभा देने लगी है जैसे हिमालय पर्वत और समुद्र दोनोंमें समान रूपसे भक्ति करने वाली गंगाजी शोभा देती हैं॥ २२ ॥

अप्सराएँ—[उर्वशीके पास जाकर] सखी उर्वशी! पुत्रके यौवराज्याभिषेककी और सदा पतिके पास रहनेकी तुम्हें बधाई।

उर्वशी—यह सौभाग्य तो हम तुम दोनोंका एक-सा ही है। [कुमारका हाथ थामकर] चलो वत्स! बड़ी माँको प्रणाम कर आओ।

[कुमार जानेको तैयार होता है।]

राजा—ठहरो, हम सब लोग साथ ही देवीके पास चलते हैं।

नारद—तुम्हारे पुत्र आयुका यह यौवराज्याभिषेक उस उत्सवका स्मरण दिला रहा है जिसमें इन्द्रने कार्त्तिकेयको सेनापति बनाया था ॥२३॥

राजा—यह सब भगवान् इन्द्रकी ही कृपा है।

नारद—हे राजन्! इन्द्र आपकी और कौन-सी इच्छा पूरी करें।

राजा—इन्द्रकी प्रसन्नतासे बढ़कर और मुझे चाहिए ही क्या? फिर भी मैं चाहता हूँ कि—

[भरतवाक्य]

जो लक्ष्मी और सरस्वती सदा एक दूसरेसे पीठ फेरे रहती हैं और जिनका मिल कर रहना बड़ा कठिन है, वे दोनों, सज्जनोंके कल्याणके लिये एक साथ रहने लगें ॥२४॥ और, सबकी आपत्तियाँ दूर हो जायँ, सब फलें फूलें, सबके मनोरथ पूरे हों और चारों ओर सुख ही सुख फैल जाय॥ २५ ॥

[सब चले जाते हैं।]

❀ पाँचवाँ अंक समाप्त हुआ ❀

॥महाकवि श्री कालिदासका रचा हुआ विक्रमोर्वशीय नामका त्रोटक समाप्त हुआ॥



पात्रों का परिचय

पुरुष —

सूत्रधार—नाटकका प्रबंध करनेवाला।
पारिपार्श्वक—सूत्रधारका साथी।
राजा—विदिशाके राजा अग्निमित्र।
वाहतक—पुराने मन्त्री।
विदूषक—राजाका मित्र।
कञ्चुकी—रनिवासकी देखरेख करनेवाला बूढ़ा ब्राह्मण।
गणदास और हरदत्त—नाट्यशास्त्रके दो प्रसिद्ध आचार्य।
सारस—राजाका कुबड़ा नौकर।
वैतालिक—भाट।

स्त्री —

मालविका—मालवाके राजा माधवसेनकी बहिन।
धारिणी—अग्निमित्रकी पटरानी।
इरावती—अग्निमित्रकी दूसरी रानी।
परिव्राजिका—माधवसेनके मन्त्री सुमतिकी विधवा बहिन कौशिकी।
बकुलावलिका—धारिणीकी दासी और मालविकाकी सखी।
मधुकरिका—मालिन।
कुमुदिनी—(कौमुदिका) धारिणीकी दासी।
समाहितिका—परिव्राजिकाकी दासी।
निपुणिका—इरावतीकी दासी।
जयसेना—प्रतीहारी।
चेटी—दूसरी दासी।
मदनिका और ज्योत्स्निका—विदर्भ देशकी दो गानेवाली कन्याएँ।

|| श्री ||

मालविकाग्निमित्र

पहला अंक

अपने भक्तोंको मनचाहा फल देनेका बेजोड़ भंडार अपने पास होते हुए भी जो केवल हाथीकी खाल ओढ़कर ही अपना काम चला लेते हैं अपने आधे शरीरमें अपनी पत्नीको बैठाए रहनेपर भी जो संसारके भोगों से अपना मन दूर हटाए रहते हैं और अपने आठों रूपों से सारे संसारका पालन करते हुए भी जो अभिमानको पास नहीं फटकने देते, ऐसे संसारके स्वामी महादेवजी, पापकी ओर ले जानेवाली हमारी बुद्धिको ऐसा मिटा दें कि हमारा मन अच्छे काम करनेमें ही लगे ॥१॥

[नान्दी हो चुकनेपर]

सूत्रधार—अब और देर नहीं करनी चाहिए [नेपथ्यकी ओर देखकर] अरे भाई मारिष ! इधर तो आओ।

परिपार्श्वक—[आकर] लीजिए, आ गया हूँ आर्य !

सूत्रधार—देखो ! विद्वानोंकी सभाने कहलाया है कि इस वसन्तोत्सवपर कालिदासका लिखा हुआ मालविकाग्निमित्र नामका नाटक ही खेला जाय। इसलिये चलकर संगीत तो छेड़ो।

पारिपार्श्वक—आप यह नाटक क्यों खेल रहे हैं ? भास, सौमिल्लक और कविपुत्र जैसे बड़े-बड़े प्रसिद्ध कवियोंके नाटक छोडकर आप आजकलके इस नौसिखुए कवि कालिदासके नाटकको इतना क्यों सिर चढा रहे हैं ?

सूत्रधार—अरे, यह बात तो तुमने अपनी बुद्धिको विश्राम देकर कही है। देखो पुराने होनेमें ही न तो सब अच्छे हो जाते हैं, न नये होनेसे सब बुरे हो जाते हैं। समझदार लोग तो दोनोंको परखकर उनमें से जो अच्छा होता है उसे अपना लेते हैं और जिन्हें अपनी समझ होती ही नहीं है, उन्हें तो जैसा दूसरे समझा देते हैं उसे ही वे ठीक मान बैठते हैं॥ २॥

पारिपार्श्वक—तो जैसा आप ठीक समझें।

सूत्रधार—हाँ, तो अब आप देर न करिए। सभाने मुझे पहलेसे ही जो आज्ञा दे रक्खी है, उसका मैं वैसे ही आदरके साथ पालन करना चाहता हूँ जैसे आदरसे यह स्वामिभक्त दासी अपनी स्वामिनी महारानी धारिणीकी आज्ञा पालन करने इधर चली आ रही है॥ ३॥

[दोनों चले जाते हैं।]

॥ प्रस्तावना ॥

[बकुलावलिका आती है।]

बकुलावलिका—महारानी धारिणीने मुझे आज्ञा दी है कि जाकर नाट्याचार्य आर्य गणदाससे पूछो कि मालविकाने जो बहुत दिनों से छलिक नामका नाट्य सीखना आरम्भ किया था उसे वह कहाँतक सीख पाई है। तो चलूँ संगीतशालाको। [घूमती है।]

[हाथमें अँगूठी लिए हुए और उसकी ओर देखते हुए कुमुदिनी आती है।]

बकुलावलिका—[कुमुदिनीको देखकर] क्यों सखी कौमुदिका! ऐसी भी क्या बात है कि तुम मेरे इतने पाससे निकली चली जाती हुई भी इधर देखती तक नहीं हो?

कुमुदिनी—अरे! तुम हो बकुलावलिका! सखी! अभी सुनारके यहाँसे महारानीकी यह नागमुद्रा जड़ी हुई अँगूठी लाई हूँ। उसीको ध्यानसे देख रही थी कि तुमने झट ताना कस दिया।

बकुलावलिका—[देखकर] सचमुच बड़ी बाँकी वस्तुपर तुम्हारी आँखें उलझी हैं। इस अँगूठीसे केसरके समान जो किरणें निकल रही हैं उनसे तुम्हारी हथेली मानो फूल उठी है।

कुमुदिनी—क्यों सखी! तुम जा किधर रही थी?

वकुलावलिका—मैं भी महारानीके कहनेसे नाट्याचार्य यह पूछने जा रही थी कि मालविका कैसा सीख-पढ़ रही है।

कुमुदिनी—क्यों सखी! इतनी रोक-टोक होते हुए भी महाराजने उसे देख कैसे लिया?

वकुलावलिका—अरे! वह चित्रमें महारानीके पास बैठी हुई है न! उसीको महाराजने देख लिया।

कुमुदिनी—कैसे?

वकुलावलिका—सुन! जब महारानीजी चित्रशालामें पहुँचकर चित्रकलाके आचार्यके हाथके बनाए हुए गीले चित्रोंको देख रही थीं, उसी समय स्वामी भी वहाँ पहुँच गए।

कुमुदिनी—तब, तब!

वकुलावलिका—प्रणाम-आशीष हो चुकनेपर महाराज भी महारानीके साथ एक ही आसनपर बैठ गए। तब चित्रमें बनी हुई महारानीकी दासियोंमें पास ही खड़ी हुई कन्याको देखकर महाराजने यह पूछा—

कुमुदिनी—क्या?

वकुलावलिका—कि चित्रमें देवीके पास बैठी हुई यह कौन सुन्दर लड़की है?

कुमुदिनी—सुन्दरकी ओर सबका मन खिंच ही जाता है। हाँ तो फिर क्या हुआ?

वकुलावलिका—देवीको चुप देखकर स्वामीका माथा ठनका और उन्होंने फिर वही बात दुहराई। इसी बीच कुमारी वसुलक्ष्मी बोल उठी—आर्य! यह मालविका है।

कुमुदिनी—[मुस्कराती हुई] बच्ची ही तो ठहरी। हाँ, तो फिर क्या हुआ?

वकुलावलिका—और होगा क्या? अब मालविकापर ऐसा कड़ा पहरा पड़ गया है कि उसे महाराजके आगे आने ही नहीं दिया जाता।

कुमुदिनी—अच्छा सखी! जाओ तुम भी करो अपना काम और मैं भी जाकर यह अँगूठी महारानीको दे आती हूँ। [चली जाती है।]

वकुलावलिका—[घूमकर, देखकर] नाट्याचार्यजी तो संगीतशालासे निकले इधर ही चले आ रहे हैं। चलूँ इनसे मिल लूँ। [घूमती है।]

गणदास—[आकर] यों तो सभी अपने-अपने घरको विद्याको सबसे अच्छा समझते हैं पर हम लोग जो अपनी नाट्यविद्याका इतना अभिमान करते हैं वह झूठा नहीं है, क्योंकि मुनि लोगोंका कहना है कि यह नाट्य तो देवताओंकी आँखोंको सुहानेवाला यज्ञ है। स्वयं महादेवजीने ही उमासे विवाह करके अपने शरीरमें इसके दो भाग कर दिए हैं, एक ताण्डव और दूसरा लास्य। इसमें सत्त्व, रज और तम तीनों गुण भी दिखलाई पड़ते हैं और अनेक रसोंमें लोगोंके चरित्र भी दिखाई पडते हैं इसीलिये अलग-अलग रुचिवाले लोगोंके लिये प्राय. नाटक ही एक ऐसा उत्सव है जिसमें सबको एक सा आनन्द मिलता है॥ ४॥

वकुलावलिका—[आगे बढकर] आर्य, प्रणाम!

गणदास—बहुत दिन जीओ भद्रे!

वकुलावलिका—आर्य! महारानीने पूछा है कि नाट्य सीखनेमें आपकी शिष्या मालविका आपका माथा तो बहुत नहीं चाटती।

गणदास—भद्रे! महारानीसे कह देना कि वह बडी चतुर और समझदार है। और क्या कहूँ, मैं जो जो भाव उसे सिखलाता हूँ उन्हें जब वह और भी सुन्दरताके साथ करके दिखाने लगती है तब ऐसा जान पड़ता है मानो वह उल्टे मुझे ही सिखा रही हो॥ ५॥

वकुलावलिका—[मन ही मन] जान पड़ता है कि यह इरावतीको तो पछाड ही देगी। [प्रकट] धन्य है आपकी वह शिष्या जिसके गुरु उससे इतने प्रसन्न हैं।

गणदास—भद्रे! ऐसे शिष्य मिलते कहाँ हैं! इसीलिये तो मैं तुमसे पूछता हूँ कि देवीको यह मिल कहाँसे गई?

वकुलावलिका—देवीके एक वीरसेन नामके दूरके भाई हैं। उन्हें महाराजने नर्मदा तीरवाले अन्तपाल दुर्गकी देख-रेखका काम सौंप रक्खा है। उन्होंने ही अपनी बहिन धारिणी देवीके पास इस कन्याको यह कहलाकर भेज दिया है कि यह गाने बजानेका काम भली भाँति सीख सकेगी।

गणदास—[मन ही मन] पर रूप-रंगसे तो यह किसी ऊँचे घरानेकी जान पडती है क्योंकि सिखानेवालेकी कला अच्छे ही शिष्यके पास पहुँचकर उस प्रकार खिलती है जैसे बादलका जल समुद्रकी

सीपीमें पहुँचकर मोती बन उठता है ॥ ६ ॥

बकुला-लिका—क्यों आर्य ! आपकी शिष्या इस समय है कहाँ?

गणदास—अभी उसे पाँचों अंगोंका अभिनय सिखाकर मैंने उसे थोड़ा विश्राम करनेको कहा है। इसलिये वह सरोवरकी ओरवाली खिड़कीपर बैठी बयार ले रही है।

बकुलावलिका—तो आप मुझे आज्ञा दीजिए कि मैं उसे यह कहकर उत्साहित करूं कि आप उससे इतने प्रसन्न हैं।

गणदास—हाँ हाँ, जाकर मिलो अपनी सखीसे। मैं भी छुट्टी पाकर अपने घर जा रहा हूँ। [दोनों जाते हैं।]

॥ मिश्र विष्कंभक ॥

[एकान्तमें अपने सभासदोंके साथ राजा बैठे हुए हैं और मन्त्री अपने हाथमें एक पत्र लिए हुए हैं।]

राजा—[मन्त्री जब पत्र बाँच चुके तब] क्यों वाहतक ! विदर्भके राजा चाहते क्या हैं?

अमात्य—अपना सत्यानाश, देव !

राजा—अच्छा, पढ़कर तो सुनाओ उनका सँदेसा।

अमात्य—उन्होंने यह लिखकर भेजा है आपने जो मुझे यह आज्ञा दी थी—कि "आपके चचेरे भाई कुमार माधवसेन पहलेसे पक्के किए संबंधके अनुसार मुझसे अपनी बहन व्याहनेके लिये जब चले आ रहे थे तो बीचमें ही आपके राज्यकी सीमाके रखवालोंने उन्हें पकड़कर बाँध लिया है। उन्हें आप मेरे कहनेसे स्त्री और बहनके साथ छोड़ दीजिए।" इस सबंधमें मुझे यह कहना है कि आप बड़े हैं और यह भी आप भली भाँति जानते हैं कि समान वंशवाले राजाओंके झगडे कैसे निपटाने चाहिएं। इसलिये आप चाहें तो हम लोगोंका बीच-बिचाव कर सकते हैं। हाँ, इस धर-पकड़ में माधवसेनकी बहन कहीं खो गई है। मैं उसे खोजनेका भी जतन करूँगा और आप भी यदि माधवसेनको छुड़ाना चाहते हों तो आप मेरी इतनी बात मान लीजिए कि आपने मेरे साले मौर्य सचिवको जो पकड़ रक्खा है उसे यदि आप छोड़ दें तो मैं भी माधवसेनको अभी छोड़ दूंगा ॥ ७ ॥

राजा—[क्रोध से] क्या वह ढीठ मुझसे इस प्रकार बदलेका व्यवहार करना चाहता है। देखो वाहतक ! यह विदर्भका राजा स्वभावसे ही मेरा शत्रु है और जो कुछ मैं कहता हूँ, उसका ठीक उल्टा ही किया करता है। इसलिये वीरसेनके नायकत्वमें जितनी सेना है उसे आज्ञा दो कि जाकर उसे जड़से उखाड़ फेंके, क्योंकि हम लोग पहले ही संकल्प कर चुके हैं कि ऐसे खोटे शत्रुको उखाड़ फेंकना ही ठीक है।

अमात्य—जैसी देवकी आज्ञा।

राजा—पर इसमें आपकी क्या सम्मति है?

अमात्य—देवने तो पहले ही शास्त्रकी बात कह दी है—जो शत्रु अभी गद्दीपर बैठा हो और जो भली प्रकार अपनी प्रजामें जड़ न जमा सका हो वह नये रोपे हुए दुर्बल पौधेके समान बड़ी सरलताके साथ उखाड़ा जा सकता है॥ ८॥

राजा—तब तो शास्त्रकी बात यहाँ ठीक लागू हो रही है। इसलिये शास्त्रके इसी वचनके आधारपर सेनापतिको तैयार करो।

अमात्य—अच्छी बात है। [चला जाता है।]

[सब सेवक राजाके चारों ओर खडे हुए अपना-अपना काम कर रहे हैं।]

विदूषक—[आकर] मुझे महाराजने आज्ञा दी थी कि गौतम ! कोई ऐसा उपाय सोच निकालो कि जिस मालविकाको मैंने अचानक चित्रमें देख लिया है उसे मैं अपनी आँखोंसे तो देख पाऊँ। मैंने उसके लिये जो ढंग निकाला है चलकर उसे अभी महाराजको बताता हूँ। [घूमता है।]

राजा—[विदूषकको देखकर] लो हमारे दूसरे कामोंके मंत्री भी आ पहुँचे।

विदूषक—[पास पहुँचकर] बधाई है।

राजा—[सिर हिलाकर] आओ यहाँ बैठो। [विदूषक बैठ जाता है।]

राजा—कहो, जिससे मिलनेके लिये हम तड़प रहे हैं उससे मिलनेका कोई उपाय तुम्हारी बुद्धिमें आया या नहीं?

विदूषक—अजी, यह पूछिए कि हमने काम बनाया कैसे है।

राजा—कैसे, कैसे?

विदूषक—[कानमें] ऐसे।

राजा—वाह मित्र! तुमने बड़ी चतुराईका काम किया है। यह काम है तो बड़ा टेढ़ा, पर तुमने जैसा आरंभ किया है उससे तो कुछ-कुछ आशा हो चली है। क्यों कि झंझटवाले कामोंमें जब कोई साथी मिल जाय तो समझ लेना चाहिए कि अब काम बन गया। क्यों कि आँखोंवाला मनुष्य भी अँधेरेमें बिना दीपकके कुछ नहीं देख सकता॥९॥

[नेपथ्यमें]

बस-बस, अपनी बकवाद रहने दो। अभी महाराजके सामने ठीक-ठीक पता चल जाता है न, कि हम दोनोंमें कौन छोटा है कौन बड़ा।

राजा—[सुनकर] लो मित्र! तुम्हारी नीतिके पेड़में फूल तो दिखाई देने लगे।

विदूषक—थोड़ी ही देरमें फल भी देखिएगा।

[कञ्चुकी आता है।]

कञ्चुकी—देव! मंत्रीजी कहते हैं कि आपकी आज्ञाका पालन हो गया। और अभिनयके दोनों आचार्य हरदत्त और गणदास आपसमें एक दूसरेको हरानेकी ठानकर आपसे मिलनेके लिये बाहर खडे हुए ऐसे लग रहे हैं मानो स्वयं नाटकके भाव ही शरीर धारण करके चले आए हों॥ १० ॥

राजा—ले आओ दोनोंको भीतर।

कञ्चुकी—जैसी देवकी आज्ञा। [बाहर जाकर दोनोंको ले आता है।] इधरसे आइए आप लोग, इधरसे।

गणदास—[राजाको देखकर] वाह, क्या कहने हैं राजाके तेजके भी! इनके तो पासतक पहुँचना दूभर लग रहा है क्यों कि—ऐसी बात नहीं है कि इनसे पहलेसे जान पहचान न हो या ये देखनेमें भयकर लगते हों फिर भी न जाने क्यों मुझे इनके पास जाते हुए बडी हिचक हो रही है। समुद्रके समान ज्यों के त्यों रहते हुए भी ये मेरी आँखोंको पल-पलमें नये-नये से दिखाई पड रहे हैं॥ ११ ॥

हरदत्त—पुरुषके रूपमें राजाका तेज सचमुच बडा प्रभावशाली है। क्यों कि यद्यपि द्वारपालने मुझे यहाँतक पहुँचा दिया है और मैं इनके सिंहासनके पास रहनेवाले कञ्चुकीके साथ ही भीतर भी आया हूँ फिर भी इनके तेजसे मेरी आँखें इतनी चौंधियां गई हैं मानो बिना रोके ही मैं आगे बढ़नेसे रोक दिया गया हू॥ १२ ॥

कञ्चुकी—लीजिए ये हैं देव ! आप लोग आगे बढ़ जाइए।

दोनों—[आगे बढकर] देवकी जय हो।

राजा - आप दोनोंका स्वागत है ! [सेवकको देखकर] आप लोगोंके लिये आसन तो लाओ।

[सेवकों के लाए हुए आसनों पर दोनों बैठते हैं।]

राजा—कहिए, यह तो शिष्योंको पढ़ानेका समय है। इस समय आप दोनों आचार्य एक साथ कैसे आ पहुँचे ?

गणदास—सुनिए देव ! मैं ने बड़े योग्य गुरुसे विद्या सीखी है और इतने दिनों से सिखा भी रहा हूँ। देव और देवीने मेरी विद्याका आदर भी किया है।

राजा—हाँ, यह तो मैं जानता हूँ। तो हुआ क्या है ?

गणदास—आज इन हरदत्तजीने एक बड़े राजपुरुषके आगे यह डींग हाँकी है कि गणदास तो मेरे पैरोंकी धूलके बराबर भी नहीं हैं।

हरदत्त—देव ! इन्हों ने ही पहले मेरी निन्दा की है और यह कहा है कि हमारे और हरदत्तमें तो समुद्र और गड़हीका अन्तर है। इसलिए अब आप ही इनके और मेरे शास्त्र-ज्ञानकी और सिखानेकी चतुराईकी स्वयं परीक्षा कर लें। क्यों कि आपही परीक्षक होकर यह बता सकेंगे कि हम दोनों में कौन बढकर है।

विदूषक—बात तो ठीक कही।

गणदास—यही सही। तो देव सावधान होकर सुनें।

राजा—अभी ठहरो। यदि हम निर्णय करेंगे तो देवी समझेंगी कि हमने पक्षपात किया है। इसलिये उनके और पंडिता कौशिकीके सामने ही निर्णय किया जाना चाहिए।

विदूषक—यह तो आप ठीक कह रहे हैं।

दोनों आचार्य—जैसा देव ठीक समझें।

राजा—मौद्गल्य ! पडिता कौशिकी और महारानीको सब बातें बताकर यहाँ बुला तो लाओ।

कञ्चुकी—जैसी देवकी आज्ञा। [जाता है और परिव्राजिका तथा महारानी को लेकर आता है।] इधरसे आइए देवी इधरसे।

धारिणी—[परिव्राजिकाकी ओर देखकर] क्यों भगवती ! हरदत्त और गणदासके झगड़ेमें आप किसकी जीत सोचती हैं ?

परिव्राजिका—आप अपने पक्षके हारकी तो बात ही न सोचिए। गणदास कभी अपने जोड़ वालेसे नहीं हार सकते।

धारिणी—यह ही ठीक है। फिर भी राजा जिसपर कृपा कर दें, वह तो जीत तो जायगा।

परिव्राजिका—अजी ! आप यह स्मरण रखिए कि आप भी महारानी हैं। देखिए—जैसे सूर्यकी कृपासे अग्निमें बहुत चमक आ जाती है, वैसे ही रातकी कृपा पाकर चन्द्रमामें भी बहुत चमक आ जाती है ॥१३॥

विदूषक—लो, महारानी धारिणीजी अपनी साथिन पंडिता कौशिकीको साथ लिए हुए इधर चली आ रही हैं।

राजा—हाँ, देख तो रहा हूँ कि साधुनीके वेशवाली कौशिकीके साथ सुन्दर वस्त्र और आभूषणों से सजी हुई महारानी ऐसी दिखाई पड रही हैं मानो अध्यात्म विद्याके साथ तीनों वेदोंकी देवी शरीर धारण किए हुए चली आ रही हों ॥१४॥

परिव्राजिका—[पास जाकर] देवीकी जय हो।

राजा—भगवती ! अभिवादन करता हूँ।

परिव्राजिका—सैकड़ों शरदोंतक, महातेजस्वियोंको उत्पन्न करने वाली उन पृथ्वी और धारिणी देवीके आप स्वामी बने रहें जिनमें सहन करनेकी शक्ति एक जैसी ही है ॥१५॥

धारिणी—जय हो, आर्यपुत्रकी जय हो।

राजा—देवीका स्वागत है। [परिव्राजिकाकी ओर देखकर] आइए, बैठिए भगवती !

[सब बैठते हैं।]

राजा—भगवती ! आचार्य हरदत्त और गणदास आज एक झगडा लेकर आए हैं कि हम दोनों में कौन अधिक योग्य है। अब आपही इनका झगडा निपटाइए।

परिव्राजिका—[मुस्कराकर] ठिठोली न कीजिए। भला नगरके रहते हुए कहीं रत्नकी परख गाँवमें की जाती है ?

राजा—नहीं, ऐसी बात नहीं है। आप ठहरीं पंडिता कौशिकी और हम तथा देवी ठहरे आचार्यों के पक्षपाती।

दोनों आचार्य—यह तो देवने ठीक कहा। पक्षपातसे दूर रहने वाली भगवती ही हमारे गुण-दोष ठीक-ठीक जाँच सकेंगी।

राजा—तो आप लोग शास्त्रार्थ चलाइए।

परिव्राजिका—देव! नाट्यशास्त्रकी जाँच तो करके दिखानेसे होती है। इसलिये कोरी बात-चीतसे लाभ क्या होगा? क्यों देवी! ठीक है न?

देवी—मुझसे पूछा जाय तो मुझे इनका झगड़ा ही नहीं सुहाता है।

गणदास—देवी! आप यह न समझें कि मैं नाट्य-विद्यामें किसी से पीछे रह जाऊँगा।

विदूषक—तो देवी! देख ही क्यों न लिया जाय इन दोनों पेटुओंका करतब? नहीं तो इन्हें वेतन दे-देकर पालनेसे लाभ ही क्या है?

देवी—हाँ, हाँ तुम्हें तो लड़ाई-झगड़ा ही अच्छा लगता है।

विदूषक—नहीं, ऐसा न कहिए चंडी! इन दो लड़ाकू हाथियोंमेंसे जबतक एक की हार नहीं हो जायगी तब तक ये ठंढे कैसे होंगे?

राजा—भगवती! आपने तो इन लोगोंके अभिनयकी चतुरता देखी ही होगी?

परिव्राजिका—हाँ, देखी है।

राजा—तब इससे बढ़कर ये अपनी कुशलताका और क्या प्रमाण देंगे।

परिव्राजिका—मैं बताती हूँ न! देखिए! कोई गुणी तो ऐसे होते हैं जो अपने गुणको आपने आप भली भाँति जानते हैं। और कुछ ऐसे होते हैं जो अपने गुण दूसरोंको सिखानेमें बड़े चतुर होते हैं पर सच्चा गुणी वही है जिसमें ये दोनों बातें हों। और ऐसी ही गुणीको सबसे अच्छा समझना भी चाहिए॥१६॥

विदूषक—[दोनों आचार्यों से] आप लोगोंने भगवतीकी बातें सुन लीं न! इनका अर्थ यह निकला कि आप लोगोंने अपने शिष्योंको जैसा सिखाया है वही देखकर आप लोगोंकी अच्छाईकी जाँच की जायगी।

हरदत्त—यही तो हम भी चाहते हैं।

गणदास—तो यही रहे देवी!

देवी—पर यदि कोई मोटी समझवाली शिष्या नाटकको बिगाड़ दे तो इसमें आचार्यका क्या दोष है?

राजा—देवी! हमने कहीं पढ़ा है कि यदि गुरु अपनी विद्या देनेके लिये निकम्मा शिष्य चुने तो समझ लेना चाहिए कि गुरुको भी कुछ आता जाता नहीं।

देवी—[अलग] अब क्या हो? [गणदासको देखकर प्रकट] आर्य-पुत्रको उत्साह दिलानेवाला यह समझा छोड़ो। तुम क्यों यह बेकामका काम सिर ले रहे हो?

विदूषक—आप ठीक कहती हैं। देखो गणदास! जब तुम बैठे-बैठे संगीतके अध्यापक बने हुए, सरस्वतीजीको चढ़ाए हुए लड्डू खा ही रहे हो, तब तुम ऐसी ठॉय-ठॉय मोल ही क्यों लेते हो जिसमें तुम्हारा मुँह बन्द हो जाय।

गणदास—महारानीकी बातका तो सचमुच यही अर्थ निकलता है। जब बात आ ही पड़ी है तो मैं भी कहे देता हूँ। सुनिए—जो अध्यापक नौकरी पा लेनेपर शास्त्रार्थसे भागता है, दूसरों के उँगली उठाने पर भी चुप रह जाता है और केवल पेट पालनेके लिये विद्या पढ़ाता है। ऐसे लोग पंडित नहीं, वरन् ज्ञान बेचनेवाले बनिए कहलाते हैं॥ १७॥

देवी—तुम्हारी शिष्या अभी थोड़े ही दिनोंसे तो सीखने लगी है। इसलिये बिना पक्की किए उसे यहाँ नाटक करानेके लिये लाना सचमुच बड़ा अन्याय होगा।

गणदास—पर इन्हीं कारणोंसे तो मैं और भी उसे यहाँ लानेका हठ कर रहा हूँ।

रानी—तो तुम दोनों अपने-अपने सिखानेकी चतुराई अकेले भगवतीको ही दिखाओ।

परिव्राजिका—यह ठीक नहीं होगा देवी! कोई कितना भी बड़ा पंडित क्यों न हो पर यदि वह अकेले न्याय करने बैठता है तो उसके निर्णयमें भूल हो ही जाती है।

देवी—[अलग] अरी मूर्ख परिव्राजिका ! तू मुझ जागती हुईको भी सोती हुई बना देना चाहती है। [डाहसे मुँह फेर लेती है]

[राजा परिव्राजिकाको सकेतसे रानीका भाव दिखाता है।]

परिव्राजिका—हे चंद्रमाके समान मुखवाली ! तुम बिना बात ही महाराजसे क्यों मुँह फेरे बैठी हो। जो अच्छे कुलवाली स्त्रियाँ होती हैं उन्हें यद्यपि अपने पतियोंपर सभी अधिकार होते हैं फिर भी जब उन्हें रूठना होता है तो वे कोई न कोई कारण निकालकर ही अपने पतिसे रूठती हैं॥ १८ ॥

विदूषक—वे कारणसे ही तो रूठ रही हैं। उन्हें अपने पक्षकी तो रक्षा करनी ही चाहिए। [गणदासको देखकर] जाइए, बड़ा भाग्य है आपका कि महारानीने रूठनेके बहाने आपको बचा लिया। पर देखो, चाहे कोई कितना भी बड़ा पंडित हो पर उसकी चतुराई उसके शिष्योंका करतब देखकर ही जानी जाती है।

गणदास—सुनिए देवी ! जब ऐसी-ऐसी बातें कही जा रही हैं तो अब मैं यही दिखला देना चाहता हूँ कि मैंने अपने शिष्योंको अपनी विद्या कैसे सिखाई है। और यदि आप मुझे इस समय आज्ञा नहीं देंगी तो मैं यही समझूँगा कि आपने मुझे अपने यहाँसे निकाल दिया है॥१९॥

[अपने आसनसे उठना चाहता है।]

देवी—[मन ही मन] अब और चारा ही क्या है ! [प्रकट] शिष्य तो आचार्यके ही हाथमें हैं।

गणदास—मैं इतनी देरसे डर रहा था कि महारानी कहीं रोक न दें। [राजाको देखकर] देवीने आज्ञा दे दी है, इसलिये अब देव भी आज्ञा दें कि मैं, आपको कौनसा अभिनय दिखलाऊँ।

राजा—जो भगवती कहें।

परिव्राजिका—देवी कुछ कहना चाहती हैं इसीसे मैं हिचक रही हूँ।

देवी—नहीं आप निडर होकर कहिए। सेवक को तो अपने स्वामीकी आज्ञा माननी ही होती है।

राजा—और मुझे आपकी आज्ञा माननी है, यह भी जोड़ दीजिए।

देवी—भगवती ! अब आप कह डालिए।

परिव्राजिका—महाराज! शर्मिष्ठाका बनाया हुआ चौपदोंवाला छलिक नामका अभिनय बडा कठिन बताया जाता है। उसीके किसी एक भावमें दोनोंका अभिनय देख लेंगे और उसीसे यह पता चल जायगा कि आप लोगोंने अपने अपने शिष्योंको कैसा सिखलाया है।

दोनों आचार्य—जैसी भगवतीकी आज्ञा।

विदूषक—तो आप दोनों नाटक-घरमें चलकर सब सगीतका साज जुटाइए और सब हो चुकनेपर किसी दूतसे यहाँ कहला दीजिएगा। या फिर मृदगकी धमक सुनकर ही हम लोग उठकर चले आवेंगे।

हरदत्त—अच्छी बात है। [उठता है।]

[गणदास धारिणीकी ओर देखता है।]

देवी—[गणदासको देखकर] आपकी विजयी हो। मैं सचमुच चाहती हूँ कि आपकी विजय हो।

[दोनों आचार्य जानेको उद्यत।]

परिव्राजिका—इधर तो सुनिए।

दोनों आचार्य—[लौटकर] कहिए, आ गए हम लोग।

परिव्राजिका—देखिए मुझे निर्णयका अधिकार दिया गया है इसलिये मैं यह बता देना चाहती हूँ कि पात्रोंके सब अँगोंके हाव-भाव ठीक-ठीक दिखाई देने चाहिएँ इसलिये आप लोग अपने पात्रोंको बहुत सजा-धजाकर न लाइएगा।

दोनों आचार्य—यह कहनेकी आवश्यकता ही नहीं थी।

देवी—[राजाको देखकर] यदि आर्यपुत्र अपने राज्यकी देखभाल करने में इतनी कला लगाते तो कितना अच्छा होता!

राजा—देवी! तुम कुछ और न समझ बैठना। इसमें मेरा कोई हाथ नहीं है। देखो, जो लोग एक सी विद्यावाले होते हैं, वे कभी एक दूसरेकी बढती नहीं सह सकते हैं।

[नेपथ्यमें मृदगकी ध्वनि। सब सुनते हैं।]

परिव्राजिका—अरे लो! उन्होंने तो सगीत छेड भी दिया। देखो! मृदगके शब्दको मेघोंकी गरज समझकर ये मोर ऊपर मुँह करके देखने लगे और दूरतक गूँजनेवाली यह मध्यम स्वरसे उठी हुई मायूरी नाम की गमक मनको मतवाला बनाए डाल रही है॥ २१॥

राजा—चलिए देवी ! चलकर देखा जाय ।

देवी—[मनही मन] आह ! आर्यपुत्र भी कैसे ढीठ हैं !

[सब उठ खड़े होते हैं ।]

विदूषक—[अलग] अजी, धीरे-धीरे चलिए । कहीं देवी धारिणी सब गड़बड़-घोटाला न कर दें ।

राजा—मैं बहुत धीरे ही चल रहा हूँ फिर भी मुरजसे निकला हुआ यह राग मुझे इस प्रकार जल्दी जल्दी चला रहा है मानो मेरा मनोरथ ही मुझे पुकारकर बुला रहा हो कि आओ तुम्हारा काम बन गया है ॥ २२ ॥

॥ पहला अंक समाप्त हुआ ॥

—*❀*—

दूसरा अङ्क

[संगीतशालामें विदूषकके साथ राजा, परिव्राजिका, रानी धारिणी और सारा राज-परिवार बैठा दिखाई देता है ।]

राजा—इन दोनों आचार्यों में से पहले किसका सिखाया हुआ नाटक देखा जाय ।

परिव्राजिका—यद्यपि दोनोंको नाट्यशास्त्र का एक सा ही ज्ञान है फिर भी आचार्य गणदास अवस्थामें बड़े हैं इसलिये पहले उन्हींको अवसर मिलना चाहिए ।

राजा—तो मौद्गल्य । जाओ आचार्यों को यह बात बताकर तुम अपना काम देखो ।

कञ्चुकी—जैसी देवकी आज्ञा । [चला जाता है]

[गणदासका प्रवेश]

गणदास—देव ! शर्मिष्ठाने मध्य-लयमें एक चौपदी बनाई है। प्रार्थना है कि देव उसमें के छलिकवाले अभिनयको मन लगाकर सुनें।

राजा—आचार्य ! मैं बड़े आदरसे उधर ध्यान लगाए हुए हूं।

[गणदास चला जाता है।]

राजा—[अलग] मित्र ! परदेके पीछे जो मेरी प्यारी खड़ी है, उसे देखनेके लिये मेरी आँखें ऐसी उतावली हो रही हैं मानो वे इस अधीरतामें परदेको ही हटानेपर तुल गई हों ॥ १ ॥

विदूषक—[अलग] लीजिए न ! आपकी आँखोंकी मधु तो आ गई, पर मधुमक्खी भी पास ही बैठी है, इसलिये थोड़ी सावधानीसे उधर देखिएगा।

[मालविका आती है। उसके अङ्गोंके हाव-भावकी देखभाल आचार्य कर रहे हैं।]

विदूषक—[अलग] देखिए, देखिए। यह जैसी चित्रमें सुन्दर लगती थी, उससे किसी प्रकार कम सुन्दर नहीं है।

राजा—[अलग] वयस्य ! चित्रमें इसकी सुन्दरता देखकर मैं अपने मनमें यह समझ रहा था कि यह सचमुच इतनी सुन्दरी नहीं होगी। पर इसे देखकर तो मैं यही सोचने लगा हूँ कि चित्रकारने ही ठीक ध्यानसे इसका चित्र नहीं बनाया ॥ २ ॥

गणदास—घबराओ मत वत्से ! सँभली रहो।

राजा—[मन ही मन] वाह ! यह तो सिरसे पैरतक एकदम सुन्दर है। क्योंकि इसकी बड़ी-बड़ी आँखें, चमकता हुआ शरद्‌के चन्द्रमा जैसा मुख कन्धोंपर थोड़ी झुकी हुई भुजाएँ, उभरते हुए कड़े स्तनोंसे जकड़ी हुई छाती, चिकनी-चिकनी कोखें, मुट्ठीभरकी कमर, मोटी-मोटी जाँघें और थोड़ी-थोड़ी झुकी हुई दोनों पैरोंकी उँगलियाँ बस ऐसी जान पड़ती हैं मानो इसका शरीर इसके नाट्यगुरु गणदासजीके कहनेपर ही गढ़ा गया हो ॥ ३ ॥

[पहले अलाप भरकर चार पदोंवाला गाना गाती है।]

[गीत]

दुर्लभ प्रिय है हृदय ! छोड दे तू मिलनेकी आशा।
पर क्यों बायाँ नैन फडकता, कुछ कुछ लेकर आशा ?

वहुत दिनोंपर देख रही हूँ, पर कैसे अपनाऊँ।
नाथ! विवश हूँ पर अपनी ही समझो, मैं वलि जाऊँ॥ ५॥

[गीतके भावके अनुसार नाट्य करती है।]

विदूषक—[अलग] लो वयस्य! इन्होंने तो इस चार चरणवाले गीतके वहाने आपपर अपनेको न्यौछावर कर डाला।

राजा—मैं भी यही समझता हूँ कि इसने 'नाथ विवश हूँ पर अपनी ही समझो' गीत गाते हुए अपनी ओर संकेत करके जो अभिनय किया है वह इसीलिये कि महारानी धारणीको पास देखकर इसने समझ लिया कि प्रेम दिखानेका कोई दूसरा उपाय तो है नहीँ, इसलिये एक सुकुमार युवकसे प्रेमकी भीख माँगनेके भाववाला यह गीत गाकर इसने सचमुच मुझसे ही सव कुछ कहा है॥ ५॥

[गा चुकनेपर मालविका चली जाना चाहती है।]

विदूषक—ठहरिए देवी! आप वीचमें कुछ भूल गई हैं, वही मैं पूछना चाहता हूँ।

गणदास—वत्से! थोडी देर रुक जाओ और जब यहाँ सव लोग भलीभाँति समझ लें कि तुमने ठीकसे नाट्य सीख लिया है। तभी जाना।

[मालविका लौटकर खडी हो जाती है।]

राजा—[मन ही मन] अहा! इसे जिधरसे देखो, उधरसे ही यह मनोहर लगने लगती है। इसने अपना वायाँ हाथ अपने नितम्बपर रख लिया है, इसलिये हाथका कडा पहुँचेपर रुककर चुप हो गया है। दूसरा हाथ श्यामाकी डालीके समान ढीला लटका हुआ है। नीची आँखें किए हुए यह अपने पैरके अँगूठेसे धरतीपर विखरे हुए फूलोंको सरका रही है। इस प्रकार खडी होनेसे इसके ऊपरका शरीर लम्वा और सीधा हो गया है। नाचनेके समय भी यह ऐसी सुन्दर नहीं लगती थी जैसी अव लग रही है॥ ६॥

देवी—क्या आर्य गणदास भी गौतमकी वात सच मान वैठे हैं?

गणदास—ऐसा न कहिए देवी! महाराजके साथ रहते-रहते गौतम की आँखें भी भले-वुरेकी ठीक पहचान करने लगी हैं। सुनिए! विद्वानोंकी सङ्गतिमें वैठकर मूर्ख भी उसी प्रकार विद्वान वन जाता है

जैसे निर्मलीके बीजसे मटमैला पानी स्वच्छ हो जाता है ॥ ७ ॥
[विदूषकको देखकर] हम भी सुनें आप क्या पूछना चाहते थे ?

विदूषक—[गणदासको देखकर] आप पहले कौशिकीजीसे पूछ देखिए—मैं पीछे बतलाऊँगा कि भूल कहाँ हुई है।

गणदास—भगवती ! आपने जहाँ जैसा गुण या दोष देखा हो सब कह डालिए।

परिव्राजिका—मैं ने तो जो देखा उसमें कहीं दोष दिखाई ही नहीं दिया। क्योंकि गीतकी सब बातोंका ठीक-ठीक अर्थ अंगोंके अभिनयसे भली-भाँति दिखा दिया गया। इनके पैर भी लयके साथ-साथ चल रहे थे। फिर गीतके रसमें भी ये तन्मय हो गई थीं। और इनके नृत्यने भी हमें प्रेममें मग्न कर दिया क्योंकि तालके साथ होनेवाले अभिनयमें जो अनेक प्रकारसे अङ्ग चलाकर जो भाव दिखाए जा रहे थे वे ऐसे आकर्षक थे कि मन किसी ओर जाने ही नहीं पाता था ॥ ८ ॥

गणदास—देव ! आप इसे कैसा समझते हैं ?

राजा—इसे देखकर तो हमें अपने पक्षका अभिमान कम होने लगा है।

गणदास—आज मैं सच्चा नृत्यकलाका पंडित हुआ हूँ, क्योंकि जैसे आगमें डालनेसे सोना काला नहीं पड़ता वैसे ही जिस शिक्षकके सिखानेमें किसी प्रकारकी भूल न दिखलाई पड़े उसे ही सच्ची शिक्षा कहते हैं ॥ ९ ॥

देवी—अपने परीक्षकोंको सन्तुष्ट करनेके लिये आपको बधाई है।

गणदास—देवीकी कृपासे ही मुझे यह यश मिला है। [विदूषकको देखकर] गौतम ! अब आप भी अपने मनकी बात कह डालिए।

विदूषक—जब पहले-पहल अपनी सिखाई हुई विद्या लोगोंके आगे दिखाई जाती है तो सबसे पहले ब्राह्मणकी पूजा करनी चाहिए। वह तो आप लोग भूल ही गए।

परिव्राजिका—वाह, क्या नाट्यकलाके भीतरकी बात पूछी है !

[सब हँसते हैं, मालविका मुस्कुराती है।]

राजा—[मनही मन] मेरी आँखोंको तो चाही हुई वस्तु देखनेको मिल गई। क्योंकि आज मेरी आँखोंको इस बड़े-बड़े नेत्रोंवालीके मुस्कुराते

हुए उस मुखका दर्शन मिल गया है जिसमें कुछ-कुछ दाँत दिखलाई पड रहे थे और जो उस खिलते हुए कमलसे समान जान पड़ता है जिसमेंके केसर पूरे-पूरे न दिखलाई दे रहे हों ॥ १० ॥

गणदास—अरे ब्राह्मण देवता ! हम लोग यह पहली वार तो नाटक दिखा नहीं रहे हैं। ऐसा होता तो तुम्हारे जैसे भेंट-पूजापर जीनेवाले ब्राह्मणकी हम अच्छी पूजा करते।

विदूषक—तो क्या मैं कोरे गरजनेवाले बादलोंसे प्यास मिटानेकी आशा करनेवाला पपीहा ही बना रह गया ? पर भाई, हमारे जैसे मूर्खों की तो ऐसी बात है कि यदि पण्डितोंको सन्तोष हुआ तो समझो हमें भी सन्तोष हो गया। जब भगवती कौशिकीने इसे सुन्दर बता दिया है तो लाओ मैं भी तुम्हें यह पारितोषिक दे डालता हूँ [राजाके हाथसे कंगन निकालता है।]

देवी—ठहरो तो ! दूसरेका अभिनय बिना देखे तुम अभीसे इसे आभूषण क्यों दिए डाल रहे हो ?

विदूषक—दूसरेका है न, यही समझकर दे डाल रहा हूँ।

देवी—[आचार्यको देखकर] कहिए, आपकी शिष्या अपना अभिनय दिखा चुकी न ?

गणदास—आओ वत्से ! अब हम लोग चलें।

[आचार्यके साथ मालविका चली जाती है।]

विदूषक—[अलग राजासे] जहाँतक मेरी बुद्धिकी पहुँच थी वहाँतक तो मैंने आपका काम कर डाला।

राजा—बहुत ढोंग न रचो। उसका परदेके पीछे छिपना मुझे ऐसा लग रहा है मानो मेरी आँखोंका भाग फूट गया हो, जीका हुलास ठंडा पड गया हो और धीरजपर ताला लग गया हो ॥ ११ ॥

विदूषक—[अलग] तो क्या वेपैसेवाले रोगीके समान यह चाहते हो कि वैद्य ही आपको अपने पाससे औषध भी दे।

हरदत्त—[आकर] देव ! अब मेरा सिखाया हुआ अभिनय भी देखनेकी कृपा कीजिएगा।

राजा—[मन ही मन] जो देखना था वह तो देख ही चुके। [दिखनेके लिये प्रकट] हाँ-हाँ हम लोग तो देखनेको उतावले बैठे हैं।

हरदत्त—बडी कृपा है मुझपर।

[नेपथ्यमें]

वैतालिक—जय हो देवकी जय हो। दोपहर हो गया है, क्योंकि बावड़ियोंमें कमलकी पखड़ियोंकी छायामें हंस आँख मूँदकर विश्राम कर रहे हैं। धूपसे भवन ऐसा तप गया है कि छज्जेपर कबूतर तक नहीं बैठ रहे हैं। चलते हुए रहटसे उछलती हुई पानीकी बूँदें पीनेके लिये मोर उसके चारों ओर चक्कर काट रहे हैं और सूर्य अपनी सब किरणें लेकर उसी प्रकार चमक रहा है जैसे आप अपने सब राजसी गुणोंसे चमकते हैं॥ १२॥

विदूषक—अरे रे! अब तो हम लोगोंके भोजनका समय हो गया है। वैद्योंका कहना है कि समयपर भोजन न करनेसे बड़ी हानि होती है। कहो हरदत्त! क्या कहते हो?

हरदत्त—अब कुछ कहनेकी बात ही कहाँ रह जाती है।

राजा—तो अब आपका प्रदर्शन हम लोग कल देखेंगे। आप जाकर विश्राम करें।

हरदत्त—जैसी देवकी आज्ञा। [चला जाता है।]

देवी—तो आर्यपुत्र! चलकर अब नहा धो लीजिए।

विदूषक—देवी! अब झटपट भोजन-पानीका कुछ बढ़िया प्रबन्ध कराइए।

परिव्राजिका—[उठकर] आपका कल्याण हो। [सेविकाओंऔर रानीके साथ चली जाती है।]

विदूषक—वयस्य! सुन्दरतामें ही नहीं कलामें भी मालविका एक ही है।

राजा—सच पूछो वयस्य! तो विधाताने इस सहज सुन्दरी मालविकाको ललित कलाका ज्ञान क्या दिया मानो उसने इसके हाथमें कामदेवका विष बुझा बाण दे दिया हो॥ १३॥ और क्या कहूँ मित्र! अब तुम जाकर मेरी कुछ चिन्ता करो।

विदूषक—आप भी मेरी चिन्ता कीजिए। मेरा पेट इस समय हलवाईकी कड़ाहीकी भाँति बड़ा जला जा रहा है।

राजा—तुम भी अब अपने मित्रके लिये कोई उपाय शीघ्र ही सोच निकालो।

विदूषक—उसके लिये तो मैं आपसे पहले ही दक्षिणा ले चुका हूँ पर गड़बड़ तो यह है कि बादलों में छिपी हुई चाँदनीके समान मालविकाजीका दर्शन भी तो दूसरों के हाथमें है। इधर आप, मास बेचनेवाले व्याधके घरपर मँडरानेवाले गिद्धके समान उसपर ललचाए हुए भी हैं और साथ ही डरते भी हैं। इतनी घबराहटके साथ मुझे काम करनेको कहते हुए आप लगते बड़े अच्छे हैं।

राजा—बताओ, घबराहट क्यों न हो? वह तिरछी चितवनवाली मेरे हृदयमें ऐसी आ बसी है कि रनिवासकी सब रानियोंसे मेरा मन एकदम उचट गया है॥ १४॥

[सब चले जाते हैं।]

॥ दूसरा अंक समाप्त॥

—*❀*—

तीसरा अङ्क

[परिव्राजिकाकी दासी समाहितिका आती है।]

समाहितिका—भगवती कौशिकीने मुझे आज्ञा दी है कि समाहितिका, जाओ, महाराजके उपवनसे एक बिजौरिया नींबू तो ले आओ। तो चलूँ प्रमदवनकी मालिन मधुकरिकाका पता लगाऊँ। [घूमकर देखती है।] अरे, सुनहरे अशोककी ओर टकटकी लगाए यह क्या खड़ी है। तो चलूँ इसके पास।

[मालिन मधुकरिका आती है।]

समाहितिका—[पास जाकर] कहो मधुकरिका! तुम्हारे उपवनका काम तो ठीक-ठीक चल रहा है न?

मधुकरिका—अरे! तुम हो समाहितिका! आओ सखी आओ, तुम्हारा स्वागत है।

समाहितिका—सखी! भगवती कौशिकीने कहा है कि हमें छूँछे हाथ

महारानीसे मिलने नहीं जाना चाहिए इसलिये एक नींबू ही भेंट करके उनसे मिल लूँगी।

मधुकरिका—लो, नींबू तो पास ही है। हाँ, यह तो बताओ कि वह जो दोनों नाट्याचार्यों का झगड़ा चल रहा था उनमें से भगवतीने किसे अच्छा बताया।

समाहितिका—यों तो दोनों ही शास्त्रके पण्डित और अभिनय-कलामें चतुर हैं पर गणदासने अपनी शिष्या मालविकाको जैसा अच्छा सिखाया है उसे देख लेनेपर गणदास ही आज दोनों में अच्छे ठहराए गए हैं।

मधुकरिका—और कहो, ये मालविकाके सम्बन्धमें कैसी-कैसी बातें सुननेमें आ रही हैं ?

समाहितिका-हाँ, महाराज उसे चाहने तो बहुत लग गए हैं पर रानी धारिणीका मन रखनेके लिये वे खुलकर प्रेम नहीं दिखलाते। इधर इन दिनों मालविका भी पहनकर उतारी हुई मालतीकी मालाके समान कुम्हलाई जा रही है। बस इससे अधिक मैं कुछ नहीं जानती हूँ। अच्छा तो छुट्टी दो।

मधुकरिका—हाँ, लो, यह डालपर झूलता हुआ नींबू तोडती ले जाओ।

समाहितिका—अच्छा [नीबू तोड़नेका अभिनय करके] भगवान् करे सखी! साधुओंकी सेवा करनेका तुम्हें इससे भी अच्छा फल मिले।
[चलती है।]

मधुकरिका—चलो सखी! दोनों साथ ही चलें। मुझे भी चलकर महारानीजीसे निवेदन करना है कि यह सुनहरा अशोक अभीतक फूल ही नहीं रहा है, इसके फूलनेका कोई उपाय किया जाना चाहिए।

समाहितिका—ठीक ही है, तुम न कहोगी तो कौन कहेगा ?

[दोनों चली जाती हैं।]

॥ प्रवेशक ॥

[विदूषकके साथ काम-पीड़ित अवस्थामें राजा बैठे दिखाई पड़ते हैं।]

राजा—[अपनी ओर देखकर] प्यारीको छाती न लगा पानेसे मेरे

शरीरका सूखना भी ठीक है और उसे पल भरके लिये भी देख न पानेके सोचमें आँखोंका डबडबाए रहना भी ठीक है, पर मेरे हृदय! यह तो बताओ कि उस हरिणकी-सी आँखोंवाली और मेरा जी ठण्ढा करनेवाली प्यारीके सदा पास रहते हुए भी तुम क्यों इस प्रकार जले जा रहे हो ॥१॥

विदूषक—यह अधीर होकर रोना-कलपना छोड़िए। मैं मालविकाकी प्यारी सखी बकुलावलिकासे मिला था और मैं ने उसे आपका पूरा सँदेसा सुना भी दिया है।

राजा—इसपर वह क्या बोली?

विदूषक—उसने कहा—स्वामीसे निवेदन कर देना कि मुझपर यह काम सौंपकर स्वामीने मुझपर बड़ी कृपा की है पर वह वेचारी महारानीकी वैसी ही कड़ी देख-रेखमें है जैसे साँपकी देख-रेखमें कोई निधि हो। इसलिये वह सहजमें हाथ लगनेवाली नहीं है, फिर भी मैं जतन करूँगी।

राजा—हे भगवान् कामदेव! पग-पगपर बाधाओंसे भरे हुए कामोंमें मुझे फँसाकर तुम मुझपर ऐसी चोटें क्यों किए जा रहे हो कि समय भी काटे न कटे! [अचरजके साथ] हे कामदेव! कहाँ तो एक ओर जीको ढाढ़स देनेवाला तुम्हारा कोमल फूलोंका धनुष और कहाँ यह हृदयको भी मथ डालनेवाला प्रेमका रोग। यह कहावत तुमपर तो पूरी पूरी घटती दिखाई दे रही है कि जो जितने कोमल दिखाई पड़ते हैं वे उतने ही कठोर होते हैं ॥ २ ॥

विदूषक—मैं कह तो रहा हूँ कि आपका मनोरथ पूरा करनेका मैं सब उपाय कर चुका हूँ इसलिये आप चिन्ता न कीजिए।

राजा—अपने किसी काममें तो मेरा जी ही नहीं लग रहा है इसलिये यह तो बताओ कि आजका यह बचा हुआ दिन बिताया कहाँ जाय?

विदूषक—नये खिले हुए सुहावने लाल कुरबकके फूलोंको आपके पास भेंटमें भेजकर रानी इरावतीने आज ही निपुणिकाके मुँहसे नये वसन्तके आनेका बहाना लेकर कहलाया है कि मैं आज आर्यपुत्रके साथ झूला झूलना चाहती हूँ, और आपने भी उनकी बात मान ली है। इसलिये चलिए उधर प्रमदवनकी ओर ही चला जाय।

राजा—पर वहाँ चलना ठीक नहीं होगा।

विदूषक—क्यों ?

राजा—देखो मित्र! स्त्रियाँ स्वभावसे ही बड़ी चंचल होती हैं। वहाँ चलकर यदि मैं उसीके मनका काम करने लगूँ तो क्या वह भाँप न लेगी कि मेरा मन कहीं और उलझा हुआ है? इसलिये मैं समझता हूँ कि बहुतसे इधर-उधरके बहाने बनाकर प्रेमकी उचित बात भी टाल जाना अच्छा है, पर चतुर स्त्रियों के आगे बनावटी प्रेम दिखलाना अच्छा नहीं है॥ ३॥

विदूषक—पर इस प्रकार रनिवासकी रानियों के प्रेमका एकाएक अनादर करना भी तो ठीक नहीं होगा।

राजा—[सोचकर] तो चलो। प्रमदवनकी ओर ही ले चलो।

विदूषक—इधरसे आइए देव! इधरसे। [दोनों घूमते हैं।]

विदूषक—लीजिए, यह रहा प्रमदवन देखिए वायुसे हिलते हुए पत्तोंकी उँगलियोंसे यह प्रमदवन मानो आपको बुला रहा है कि झटपट भीतर चले आइए।

राजा—[वायु लगनेके सुखका नाट्य करते हुए] सचमुच वसन्त आ पहुँचा है। देखो मित्र! मतवाले कोकिलोंकी, कानको सुहानेवाली कूकों में मानो वसन्त ऋतु मुझपर बडी दया दिखलाते हुए यह पूछ रहा हो—क्यों प्रेमकी पीड़ा सही जा रही है? इधर खिली हुई आमकी मञ्जरियोंकी गन्धमें बसा हुआ दक्षिण पवन मेरे शरीरसे लगता हुआ ऐसा जान पडता है मानो वसन्तने अपना अत्यन्त सुख देनेवाला हाथ मेरे ऊपर रख दिया हो॥ ४॥

विदूषक—चलिए भीतर चलकर आनन्द लीजिए।

[दोनों प्रवेश करते हैं।]

विदूषक—तनिक ध्यानसे तो देखिए! इस प्रमदवनकी लक्ष्मीने आपको लुभानेके लिये ही युवतियों के साज-सिंगारको भी लजानेवाला यह वसतके फूलोंका सिंगार कर लिया है।

राजा—मैं भी [अचरजके साथ।] आँखें फाड़कर देख रहा हूँ कि—इन लाल अशोकको ललाईने स्त्रियों के बिम्बाधरकी ललाईको लजा दिया है। काले, उजले और लाल रंग के कुरबकके फूलों ने

स्त्रियों के मुखों पर चीती हुई चित्रकारी फीकी कर दी है। काले भौंरों से लिपटे हुए तिलकके फूलों ने स्त्रियों के माथेपरके तिलकको नीचा दिखा दिया है। ऐसा जान पड़ता है मानो वसतकी शोभा आज स्त्रियों के मुखके साज सिंगारका निरादर करनेपर तुली हुई हो ॥४॥

[दोनों उस उपवनकी शोभा निहारनेका नाट्य करते हैं।]

[बड़ी चिन्तामें पड़ी हुई मालविका आती है।]

मालविका—जिस प्रियतमके मनकी मैं थाह नहीं पा सकी हूँ उससे प्यार करके मुझे अपने ऊपर बड़ी लाज लग रही है। अपनी प्यारी सखियों से भी यह बात मैं नहीं कह पा रही हूँ। वह प्रेम पीड़ा न जाने कामदेव मुझे कबतक देता रहेगा जिसकी कोई ओषधि नहीं है। [दो चार पग चलकर] अरे ! मैं कहाँ के लिये चली थी ? [स्मरण करनेका नाट्य करती हुई।] हाँ ठीक है। मुझसे देवी धारिणीने कहा है कि—मालविका ! गौतमके नटखटपनसे मैं झूलेसे गिर पडी हूँ और मेरे दोनों पैरों में चोट आ गई है, इसलिये तुम्हीं जाकर सुनहरे अशोकके फूलनेका उपाय कर आओ। यदि पाँच दिनों के भीतर वह फूल उठेगा तो तुम्हें मुहमाँगा पुरस्कार दूँगी। मैं वहाँ पहलेसे ही पहुँच जाती हूँ क्यों कि बकुलावलिका भी मेरे पीछे-पीछे बिछुए लेकर आ ही रही होगी। तबतक मैं अकेले जी भरकर रो भी लूगी। [घूमती है]

विदूषक—[उसे देखकर] अरे ! [घूमती है।] कैसे अचरजकी बात है मित्र ! कि मदिरा से मतवाले मनुष्यको और भी मतवाला बनानेवाली कच्ची खाँड भी आ पहुँची है।

राजा—अरे कौन-सी वस्तु है ?

विदूषक—यह क्या पास ही अधमैले कपड़े पहने मालविका अकेली उदास बैठी हुई है।

राजा—[प्रसन्न होकर] क्या मालविका है ?

विदूषक—और क्या ?

राजा—तब समझो कि अब मेरे प्राण बच जायँगे। जैसे सारसका शब्द सुनकर प्यासे पथिकको यह भरोसा हो जाता है कि पेड़ की झुर-मुटके पीछे कोई नदी होगी वैसे ही तुम्हारे मुँहसे यह बात सुनकर मेरे

व्याकुल मनको बड़ा धीरज मिला है कि मालविका पास ही है ॥ ६ ॥ अच्छा वे हैं कहाँ ?

विदूषक—वह क्या वृक्षों के बीचसे होती हुई इधर ही आती दिखाई दे रही है।

राजा—[देखकर प्रसन्नतासे] देख रहा हूँ मित्र ! यह बड़े-बड़े नितंबोंवाली, पतली कमरवाली, उठे हुए स्तन वाली और बड़ी-बड़ी आँखोंवाली मानो मेरी जान ही चली आ रही हो ॥७॥ इन्हें जैसा मैं ने पहले देखा था उससे कहीं बढ़कर सुन्दर तो वे अब लग रही हैं। और देखो—इने-गिने आभूषण पहने हुए और सरकंडेके समान पीले गालोंवाली यह सुन्दरी वैसी ही दिखाई दे रही है, जैसे वसंतसे पके हुए पत्तोंवाली किसी कुन्दलता में इने-गिने फूल बचे रह गये हों ॥ ८ ॥

विदूषक—तो इन्हें भी आपके जैसा ही प्रेमका रोग लग गया होगा।

राजा—मित्रों को ऐसा ही सूझा करता है।

मालविका—फूलोंकी सजावटसे सूना यह अशोक वृक्ष भी अपने मनकी सुहावनी और प्यारी साध पूरी करानेके लिये मेरे ही समान अधीर हो रहा है। तो चलूँ तबतक इसीकी ठंढी छायाके तले पत्थरकी पटियापर बैठकर जी बहलाऊँ।

विदूषक—सुना आपने ? वे कह रही हैं कि मैं अधीर हो रही हूँ।

राजा—केवल इतनी-सी बातसे मैं यह नहीं मान सकता कि तुम ठीक समझ पाए हो। क्योंकि कुरवकके परागमें बसा हुआ और खिली हुई कोंपलोंसे जलकी बूँदें उड़ा ले जानेवाला मलयका पवन बिना कारण ही मनमें चाह भर रहा है ॥ ९ ॥

[मालविका बैठ जाती है।]

राजा—आओ मित्र ! चलो हम लोग भी लताके पीछे छिप चलें।

विदूषक—इरावतीजी भी अब आ ही रही होंगी।

राजा—हाथी जब कमलिनीको देख लेता है तब उसे जलमें छिपे हुए घड़ियाल नहीं सूझते हैं। [देखता रहता है।]

मालविका—अरे हृदय ! तू ऐसी चाह क्यों करता है जिसपर न तो अपना कोई वश ही है और न जहाँतक अपनी पहुँच ही है। मुझे सतानेमें तुझे मिल क्या रहा है ?

[विदूषक राजाकी ओर देखता है ।]

राजा—देखो प्यारी ! प्रेमकी उल्टी चाल तो देखो। यद्यपि अभी-तक तुमने अपनी व्याकुलताका कारण खोलकर नहीँ बताया और न अनुमानसे ही मुझे तुम्हारे मनकी ठीक-ठीक थाह लग पा रही है, फिर भी मैं तो यही समझ रहा हूँ कि तुम मेरे ही लिये इतना रो-कलप रही हो ॥ १० ॥

विदूषक—आपका संदेह अभी दूर हुआ जाता है। लीजिए, जिसके हाथ आपने संदेश भेजा था वह बकुलवालिका भी यहाँ अकेलेमें उसके पास पहुँच गई है।

राजा—पर उसे क्या हमारी बात स्मरण होगी ?

विदूषक—जब मैं तक नहीँ भूल पाया हूँ, तब भला यह खोटी कहाँ ऐसी आवश्यक बात भूल सकती है ?

[पैर सजानेकी सब सामग्री हाथमें लिए हुए बकुलवालिका आती है।]

बकुलावलिका—कहो सखी, अच्छी तो हो ?

मालविका—अरे बकुलवालिका ! तुम आ गई ? स्वागत है सखी, आओ बैठो।

बकुलवालिका—[बैठकर] सखी ! तुम्हें जो काम दिया गया है उसके लिये तुम्हीं योग्य थीं। लाओ अपना एक पैर इधर बढ़ाओ तो मैं उसमें महावर लगाकर बिछुए पहना दूँ।

मालविका—[मन ही मन] मेरे हृदय ! यह सम्मान देखकर बहुत फूलो मत। पर मैं इससे बच भी कैसे सकती हूँ। यह न करूँ तो कहीं इसीसे मेरा अन्तिम सिगार न हो जाय।

बकुलावलिका—सोच क्या रही हो ? जानती हो, इस सुनहरे अशोकके फूलनेकी देवीको बड़ी चिन्ता है।

राजा—अच्छा तो क्या यह सजावट अशोकके फूलनेके लिये की जा रही है।

विदूषक—तो क्या आप समझ बैठे थे कि महारानीने मेरे लिये इसे रनिवासके सिंगारों से सजाया होगा।

मालविका—लो सखी ! पर मुझे इसके लिये क्षमा करना। [पैर आगे करती है।]

बकुलावलिका—वाह री ! तू कोई दूसरी है। मैं तो तुझे अपनी देह जैसी ही प्यारी समझती हूँ। [पैर रँगनेका नाट्य करती है।]

राजा—मित्र ! प्यारीके पैरमें महावरकी जो गीली लकीरें बनी हैं वे ऐसी दिखाई पड़ रही हैं मानो महादेवजीके क्रोधसे जले हुए कामदेवके वृक्षमें नई नई कौंपलें फूट आई हों ॥११॥

विदूषक—और जैसे इनके पैर हैं वैसा ही काम भी तो इन्हें सौंपा गया है।

राजा—यह तो ठीक कहा तुमने ! चमचमाते हुए नखोंवाले और नई कोंपलोंके समान पंजोंवाले इस सुन्दरीके चरण या तो फूलनेकी इच्छा करनेवाले इस अनफूले अशोकपर पड़ने योग्य हैं या प्रेममें अपराध करनेवाले सिर झुकाए हुए पतिके सिरपर पड़ने योग्य हैं ॥१२॥

विदूषक—तो समझ लीजिए कि आप भी अपराध करेंगे तो यही चरण आपपर भी पड़ेंगे।

राजा—मनचाहा भविष्य बतानेवाले ब्राह्मणका आशीर्वाद सिरमाथे।

[दासीके साथ मदिरा पीए हुए रानी इरावती, आती हैं।]

इरावती—निपुणिका ! मैं बहुत सुना करती हूँ कि मदिरा पीनेसे स्त्रियाँ बहुत सुन्दर लगने लगती हैं। यह कहावत सच है क्या ?

निपुणिका—पहले तो यह कहावत ही थी, पर आज तो यह बात सच दिखाई दे रही है।

इरावती—चल चल। मुँह देखी मत कह। अच्छा यह बता कि यह पता कैसे चले कि स्वामी झूलेघरमें पहुँच गए हैं या नहीं।

निपुणिका—आपका अखंड प्रेम ही यह बता रहा है।

इरावती—ठकुरसुहाती रहने दो। लल्लो-चप्पो छोडकर सच-सच बता।

निपुणिका—वसन्तोत्सवकी पूजाकी भेंट पानेके लोभी आर्य गौतमने यह कहलाया है कि देवीको झटपट भेज दो।

इरावती—[मदमें झूमकर घूमती हुई] दासी ! मद इतना चढ़ गया है कि आर्यपुत्रको देखनेकी अकुलाहट होनेपर भी मेरे पैर आगे नहीं उठ रहे हैं।

निपुणिका—लीजिए, झूलेघरमें तो आप पहुँच गईं।

इरावती—अरी निपुणिका ! आर्यपुत्र तो यहाँ कहीँ दिखाई ही नहीं पड़ रहे हैं ।

निपुणिका—ध्यानसे देखिए स्वमिनी ! आपसे ठिठोली करनेके लिये स्वामी यहाँ कहीं छिपे बैठे होंगे । आइए, हम लोग भी प्रियंगुके लता-मंडपमें चलकर अशोकके तले पत्थरकी पटियापर बैठें ।

इरावती—ठीक है ।

निपुणिका—[देखकर] देखिए तो स्वामिनी ! हम चलीं थीं आम की कोंपलें ढूढ़नें और काट लिया चींटियों ने ।

इरावती—कैसे रे ?

निपुणिका—देखिए न । यहाँ वकुलावलिका, अशोककी छायामें बैठी हुई मालविकाके पैर रँग रही है ।

इरावती—[कुछ सन्देह करके] मालविका तो इधर आने नहीं पाती. आज क्या बात हो गई है ?

निपुणिका—मैं समझती हूँ कि झूलेपरसे गिर जानेके कारण महारानीके पैरों में चोट आ गई है इसलिये अशोकके फूलनेके लिये उसपर लात मारनेका काम मालविकाको ही सौंपा गया होगा। नहीं तो क्या महारानी कभी अपने पैरके बिछुए उतारकर अपनी दासियों को पहननेके लिये भला दे सकती हैं ?

इरावती—हाँ, हो न हो यही बात है ।

निपुणिका—तो क्या महाराजको न ढूँढ़िएगा ?

इरावती—सखी, मेरे पैर ही आगे नहीं बढ़ रहे हैं। इधर मद भी मुझे बेहाल किए डाल रहा है, पर मेरे मनमें जो खटका बैठ गया है, वह तो मिटाना ही होगा । [मालविकाको देखकर और समझकर मन ही मन] इन्हीं सब बातों से तो मेरा जी जल जाता है ।

वकुलावलिका—[मालविकाको उसका रँगा हुआ पैर दिखलाती है।] कहो महावरकी रँगाई तुझे अच्छी लगी ?

मालविका—सखी ! अपने पैरकी प्रशंसा करते तो मुझे लाज लगती है पर यह तो बताओ कि इतनी बढ़िया सिंगारकी कला तुम्हें सिखाई है किसने ?

वकुलावलिका—अरी ! यह कला तो मैंने स्वयं महाराजसे सीखी है ।

विदूषक—जाइए जाइए, झपटकर इससे गुरुदक्षिणा तो माँग लीजिए।

मालविका—बड़ी भागवान हो कि इतनेपर भी तुम्हें अभिमान छू तक नहीं गया है।

बकुलावलिका—पर मैं ने जो कुछ सीखा है वैसी कला दिखलानेके योग्य तुम्हारे चरण पाकर आज तो मुझे अवश्य अभिमान हुआ है। [रँगाईको देखकर मन ही मन] वाह आज ही तो मेरा अभिमान सच्चा हुआ है। [प्रकट] लो सखी ! तुम्हारा एक पैर तो रँग गया है अब इसे मुँहसे फूँककर सुखाना भर रह गया है, पर यहाँ तो बयार भी चल रही है।

राजा—देखो मित्र ! गीले महावरसे रँगे हुए इसके पैरको मुँहकी फूँकसे सुखाकर इसकी सेवा करनेका यह सबसे अच्छा अवसर मेरे हाथ लगा है॥ १३॥

विदूषक—तो पछताते क्यों हैं। आपको बहुत दिनों तक ऐसी सेवा करनेको मिलेगी।

बकुलावलिका—अरी सखी ! तेरा पैर तो लाल कमलके समान खिला पड रहा है। मैं तो मनाती हूँ कि तू सदा महाराजकी गोदमें ही लेटी रहे।

[इरावती निपुणिकाकी ओर देखती है।]

राजा—मैं भी यही आशीर्वाद देता हूँ।

मालविका—सखी ! ऐसी बे-सिरपैरकी बातें न कहा करो।

बकुलावलिका—जो कहना चाहिए वही तो मैं कह रही हूँ।

मालविका—मैं तुम्हारी प्यारी हूँ न ? इसीलिये।

बकुलावलिका—केवल मेरी ही नहीं।

मालविका—और दूसरे किसकी।

बकुलावलिका—तेरे गुणों पर रीझे हुए महाराजकी भी।

मालविका—तू झूठ कहती है। मुझपर उनका तनिक भी प्रेम नहीं है।

बकुलावलिका—हां सचमुच तुमपर तो नहीं पर महाराजके दुर्बल-पीले सुन्दर अंगोंपर वह प्रेम अवश्य दिखाई देता है।

निपुणिका—इस खोटीने ऐसा उत्तर दिया है मानो पहलेसे ही सोचे बैठी हो।

बकुलावलिका—अच्छा सज्जनोंकी एक बात तो तुम मान भी लो कि प्रेमकी परीक्षा प्रेमसे ही होती है।

मालविका—क्या यह सब अपने मनसे गढ़ती जा रही हो ?

बकुलावलिका—नहीं अपने मनसे नहीं। ये प्रेमभरे कोमल अक्षर स्वयं महाराजने अपने मुँहसे कहे हैं।

मालविका—पर सखी ! उधर महारानीका व्यवहार देखती हूँ तो सारी आशा ठंढी पड़ जाती है।

बकुलावलिका—अरी पगली ! तो क्या भौंरेंके डरसे लोग अपने कानोंमें वसन्तकी रानी बनी हुई आमकी मंजरीको पहने ही नहीं ?

मालविका—मुझपर कोई विपदा आवे तो तुम मुझे छोड़ न देना।

बकुलावलिका—अरी मेरा तो नाम ही बकुलावलिका है। मैं तो जितनी ही अधिक मसली जाऊँगी उतनी ही अधिक गन्ध दूँगी।

राजा—वाह री बकुलावलिका वाह—इस समय इसके मनकी ठीक-ठीक थाह ले-लेनेपर जो मेरे प्रेमका प्रस्ताव करके और इसके नहीं-नहीं करनेपर भी इसे जोड़-तोड़का उत्तर देकर जो तुमने इसे पक्का कर लिया है इससे मुझे विश्वास हो गया कि सचमुच प्रेमियोंके प्राण दूतियोंकी ही मुट्ठीमें रहते हैं॥ १४॥

इरावती—देख सखी ! मालविकाको इतना सम्मान इस बकुलावलिकाने ही दिलाया है।

निपुणिका—स्वामिनी ! इसे जैसा सिखाया गया होगा वैसा ही तो कर रही है।

इरावती—मुझे जो खटका था वह सब सच ही निकला। सब बातोंका ठीक-ठीक पता लगाकर मैं इसका उपाय सोचूँगी।

बकुलावलिका—लो, तुम्हारा दूसरा पैर भी रँग गया। लाओ इसमें भी बिछुए पहना दूँ। [दोनों बिछुए पहनानेका नाट्य करती है।] अब उठो सखी ! महारानीने अशोकके फूलनेके लिये जो काम तुम्हें सौंपा है वह पूरा कर डालो। [दोनों उठ खड़ी होती हैं।]

इरावती—तुमने महारानीका काम सुन लिया न ? अच्छा इसे हो जाने दो।

वकुलावलिका—लो, यह राग-रंगसे भरा और आनन्द लूटने योग्य तुम्हारे आगे ही तो खडा है।

मालविका—[प्रसन्न होकर] कौन महाराज ?

वकुलावलिका—[मुस्कुराकर] अरे महाराज नहीं ! ये हैं अशोककी शाखामें लटकनेवाले पत्तोंका गुच्छा ! लो इसे कानोंपर सजा लो।

[मालविका दुखी होती है।]

विदूषक—सुना आपने।

राजा—मित्र ! प्रेमियों के लिये इतना भी बहुत है। देखो ! जहाँ एक मिलनेके लिये व्याकुल हो और दूसरा मिलना ही न चाहता हो वहाँ उनका मिलना न मिलना बराबर है। पर जहाँ दोनों मिलनेके लिये अधीर हों और दोनों एक दूसरेके मिलनसे हाथ धो बैठे हों वहाँ प्राण भी दे देना पड़े तो बुरा नहीं है ॥ १५ ॥

[मालविका पत्तोंका गुच्छा कानपर लटकाकर अशोकपर लात जमाती है।]

राजा—मित्र ! देखो इसने अपने कानोंपर सजानेके लिये जो अशोकसे पत्ते लिए तो उसके बदलेमें इसने अपना पत्तों जैसा चरण भी उसे भेंटमें दे दिया। इन दोनोंने एक जैसी वस्तुका अदला-बदला करके मुझे तो सचमुच कहींका न छोड़ा क्योंकि अब मैं इससे इस प्रकार प्रेम की वस्तुओंकी अदला-बदली कैसे कर पाऊँगा ॥ १६ ॥

वकुलावलिका—सखी ! यदि तुम्हारे चरणोंकी पूजा पाकर भी यह अशोक न फूले तो इसमें तुम्हें दोष नहीं लगेगा वरन् अशोक ही निकम्मा समझा जायगा।

राजा—इस पतली कमरवाली सुन्दरीका जो नये कमलके समान कोमल चरण बिछुओंकी झंकारसे गूँज रहा है, उससे आदर पाकर भी यदि तुममें कलियाँ नहीं फूट आतीं तो मैं यही समझूँगा कि सुन्दरीकी लातसे फूल उठनेकी जो चाह मस्त प्रेमियोंके मनमें होती है वह तुम्हारे मनमें व्यर्थ ही उत्पन्न हुई ॥ १७ ॥ मित्र ! हम लोगोंकी कोई बात चले तो हम भी आगे बढ़ चलें।

विदूषक—आइए। मैं इसे छेडता हूँ न।

[दोनों आगे बढते हैं।]

निपुणिका—स्वामिनी ! स्वामिनी ! महाराज आ रहे हैं।

इरावती—यह तो मैं पहले ही ताड़ गई थी।

विदूषक—[पास जाकर] कहिए देवी! क्या हमारे प्यारे मित्र अशोकपर अपनी बाईं लात जमाकर आपने कोई अच्छा काम किया है?

दोनों—[घबराकर] अरे! महाराज!

विदूषक—क्यों बकुलावलिका! सब-कुछ जान बूझकर भी तुमने इन्हें ऐसी ढिठाई करनेसे रोका क्यों नहीं?

[मालविका डरनेका नाट्य करती है।]

निपुणिका—स्वामिनी! आपने आर्य गौतमकी चाल देखी?

इरावती—ऐसा न करे तो इस दुष्ट बाँभनका पेट कैसे पले।

बकुलावलिका—आर्य! यह महारानीकी आज्ञाका ही पालन हो रहा है। इसीलिये यह ऐसी ढिठाई करनेमें परवश थी। महाराज क्षमा करें।

[अपने साथ मालविकाको भी उनके पैरोंमें झुकाती है।]

राजा—अच्छा, यह बात है तो कोई दोष नहीं। उठो भद्रे! [हाथसे पकड़कर मालविकाको उठाता है।]

विदूषक—ठीक है, महारानीकी बात तो माननी ही चाहिए थी।

राजा—[देखकर] क्यों विलासिनी! तुम्हारा यह पत्तोंके समान कोमल बायाँ पैर अशोकपर लगनेसे कहीं दुखने तो नहीं लगा है?

[मालविका लजानेका नाट्य करती है।]

इरावती—वाह! इस समय आर्यपुत्रका हृदय मक्खनके समान कोमल बन गया है।

मालविका—आओ बकुलावलिका! महारानीको सूचना दे आवें कि आपकी आज्ञा पूरी कर दी गई है।

बकुलावलिका—पहले महाराजसे यह प्रार्थना करो कि वे तुम्हें छोड़ दें।

राजा—तुम जा सकती हो भद्रे! पर एक बात मेरी सुनती जाओ।

बकुलावलिका—देखो ध्यान देकर सुनो। हाँ महाराज! आज्ञा कीजिए।

राजा—देखो सुन्दरी! बहुत दिनोंसे इसी अशोकके समान ही मुझमें भी धीरजके फूल नहीं आ रहे हैं। इसलिये तुम्हें छोड़कर और किसीसे

प्रेम न करनेवाले मुझ सेवकके मनकी साध भी अपने स्पर्शका अमृत पिलाकर आज तुम पूरी कर दो ॥ १६ ॥

इरावती—[सहसा आगे बढ़कर] हाँ हाँ पूरी करो, पूरी करो। अशोकमें तो अभी फूल नहीं आए हैं पर ये तो अभी से फूले जा रहे हैं।

[इरावतीको देखकर सब घबरा जाते हैं]

राजा—[अलग] कहो मित्र ! अब क्या किया जाय।

विदूषक—और क्या किया जायगा ! चलिए पैरोंका सहारा लिया जाय।

इरावती—क्यों री बकुलावलिका ! यह तूने अच्छा काम लिया है ? जा, अब कर न आर्यपुत्रकी साध पूरी !

दोनों—क्रोध न कीजिए महारानी ! भला हम कौन होती हैं महाराजकी साध पूरी करनेवाली।

[दोनों चली जाती हैं।]

इरावती—सचमुच पुरुषोंका कोई विश्वास नहीं है। मैं क्या जानती थी कि जैसे व्याधों के गीत सुनकर हरिणी सब सुध-बुध खोकर जालमें फँस जाती है वैसे ही मैं भी इनकी चिकनी-चुपड़ी बातोंपर विश्वास करके इनके फन्देमें फँस जाऊँगी।

विदूषक—[अलग] अजी, कुछ तो बात बनाइए। चोरी करते हुए पकडा हुआ चोर भी यह कह देता है कि मैं चोरी करनेके लिये सँध नहीं लगा रहा था वरन् यह देखना चाहता था कि मैं ने भीत फोड़नेकी विद्या ठीक-ठीक सीख पाई है या नहीं।

राजा—सुन्दरी ! मालविकासे हमें क्या लेना-देना है। तुम्हारे आनेमें देर हो रही थी इसलिये थोड़ा बहुत जी बहला रहे थे।

इरावती—जी हाँ ! बड़े सच्चे हैं आप ! मुझे नहीं पता था कि आर्यपुत्रको मन बहलानेके लिये यही वस्तु मिली है, नहीं तो मैं अभागिन बीचमें पडती ही क्यों।

विदूषक—देखिए, आप महाराजको साधारण शिष्टाचार दिखानेसे मत रोकिए। यदि आप यह चाहती हैं कि पास आई हुई महारानीकी दासियोंसे भी महाराज बात-चीत न करें तो ठीक है, नहीं नहीं।

इरावती—अच्छा तो होने दीजिए बात-चीत, मैं क्यों अपना जी दुखाऊँ। [क्रोधमें भरी चली जाती है।]

राजा—[पीछे-पीछे जाते हुए] अरे मान जाओ देवी।

[इरावती पैरमें फँसी हुई तगड़ीको घसीटती हुई चली जाती है।]

राजा—सुन्दरी! अपने प्यारेसे रूठना तुम्हें शोभा नहीं देता।

इरावती—अरे शठ! तेरा मुझे तनिक भी विश्वास नहीं है।

राजा—तुमने शठ कहकर जो मेरा निरादर किया है, यह तो कोई नई बात नहीं है। पर हे चंडी! जब तुम्हारी तगड़ी भी तुम्हारे पैरोंपर पड़कर क्षमा माँग रही है तब भी क्या तुम अपना क्रोध न छोड़ोगी॥२०॥

इरावती—लो, यह निगोड़ी भी तुम्हारे ही पीछे जा रही है।

[तगड़ी लेकर राजाको मारना चाहती है।]

राजा—मित्र! आँखोंमें आँसू भरे, क्रोधसे लाल और अपने नितम्बोंपरसे अनादरके कारण छूटी हुई करधनीकी डोरीसे मुझको पीटती हुई यह इरावती, इस समय ऐसी लग रही है मानो घनी बदली विन्ध्याचलपर बिजली गिराकर उसे फाड़ने पर उतारू हो गई हो॥२१॥

इरावती—अच्छा! तो तुम मुझपर ही दोष लगाने चले हो?

राजा—[तगड़ी सहित हाथ पकड़ लेता है।] हे घुँघराले बालोंवाली! तुम मुझ अपराध करनेवालेको दण्ड देते-देते रुक क्यों गईं? इस समय मुझ दासपर जो तुम क्रोध कर रही हो इससे तुम्हारी शोभा और भी बढ़ गई है॥२२॥ तो आपने मेरी बात मान ली है। [पैरों पर गिरता है।]

इरावती—ये मालविकाके पैर नहीं हैं जो तुम्हारे मनकी साध पूरी कर देंगे। [दासीके साथ चली जाती है।]

विदूषक—उठिए! आप तो ठन-ठन गोपाल ही रह गए!

राजा—[उठकर इरावतीको न देखकर] तो क्या प्यारी चली ही गईं?

विदूषक—मित्र! अपना बड़ा भाग्य ही समझो कि वे आपकी ढिठाई पर बिगड़कर चल दीं। चलो हम लोग भी यहाँ से नौ-दो-ग्यारह हो जायँ कहीं वे मंगल ग्रह के समान उल्टी चाल-चलकर फिर इसी राशिपर न लौट आवें।

राजा—आह ! प्रेम भी कैसा कठोर होता है। ऐसे समय जब कि मालविका मेरा मन हर ले गई हो, उस समय मेरे हाथ पैर जोड़नेपर भी उसका रुठकर चला जाना अच्छा ही हुआ क्योंकि अब तो यह मुझसे रूठ ही बैठी है इसलिये थोड़े दिनों तक तो इस प्रेमिका से अलग रहा ही जा सकता है ॥२३॥

[अपने मित्र विदूषकके साथ चला जाता है।]

॥ तीसरा अंक समाप्त ॥

—*—

चौथा अङ्क

[अनमने-से राजा आते हैं और साथमें प्रतीहारी आती है।]

राजा—[मन ही मन] अपनी प्यारीके सबन्धकी बातों से बढ़ी हुई आशा ही जिसकी जड़ है, प्यारीको देखनेसे जगा हुआ प्रेम ही जिसके पत्ते हैं और प्यारीके हाथके स्पर्शसे शरीरमें उठे हुए रोंगटे ही जिसके फूल हैं, वह प्रेमका वृक्ष ही मुझे उसका मीठा फल भी चखावे ॥१॥

[प्रकट] मित्र गौतम !

प्रतीहारी—जय हो, महाराजकी जय हो। गौतमजी यहाँ नहीं हैं।

राजा—[मन ही मन] हाँ, ठीक है। मैं ने ही तो उन्हें मालविकाकी टोह लेनेके लिये भेजा है।

विदूषक—[आकर] वधाई है आपको।

राजा—जयसेना ! जाओ देखो तो, देवी धारिणी अपना चोट लगा हुआ पैर लिए कहाँ जी वहला रही हैं।

प्रतीहारी—जैसी देवकी आज्ञा। [चली जाती है।]

राजा—कहो गौतम ! तुम्हारी सखी मालविकाके क्या समाचार हैं।

विदूषक—वही जो बिल्लीके पंजेमें पड़ी हुई कोयलके होते हैं।

राजा—[दुखी होकर] कैसे ?

विदूषक—बेचारी तपस्विनीको उस पीली आँखवालीने नीचेके भंडारवाली कालकोठरीमें बन्द कर रक्खा है।

राजा—मेरे प्रेमकी बात जाननेके कारण ही उसे बन्द किया होगा।

विदूषक—और क्या ?

राजा—ऐसा कौन हमारा वैरी है जिसने देवीको इतना भड़का दिया है।

विदूषक—सुनिए ! मुझसे परिव्राजिकाजी कह रही थीं कि कल पैरमें चोट खाई हुई देवी धारिणीसे कुशल-मंगल पूछने इरावती वहाँ पहुँची थी।

राजा—तब-तब ?

विदूषक—तब उनसे महारानीने पूछा—कहो, प्रियतमसे इधर भेंट हुई थी ? इसपर वे बोलीं—अब उन्हें प्रियतम न कहिए ! क्या आप नहीं जानतीं कि वे अब दासियोंसे प्रेम करने लगे हैं ?

राजा—यद्यपि बात खोलकर नहीं कहीं गई फिर भी जान पड़ता है कि उन्हों ने मालविकाको लक्ष्य करके ही यह बात कही है।

विदूषक—इसपर जब उन्होंने बहुत हठ किया तो इरावतीने महारानीके आगे आपका पूरा कच्चा चिट्ठा खोलकर रख दिया।

राजा—जान पडता है इरावती बहुत कुपित हो गई हैं। अच्छा, फिर क्या हुआ ?

विदूषक—और क्या होना था ? मालविका और बकुलावलिकाके पैरों में बेड़ी डालकर उन्हें नागकन्याओंके समान ऐसे पातालमें ले जाकर रख दिया गया है जहाँ सूर्यकी किरणें भी नहीं पहुँच सकतीं।

राजा—यह तो बडा बुरा हुआ कि बौरे हुए आमके साथ रहनेवाली मिठबोली कोयल और भौंरी दोनोंको, प्रचंड पुरवाई और असमयकी वर्षाने पेड़के खोखले में बन्द कर दिया ॥ २ ॥ कहो अब उन्हें छुडानेका कोई उपाय हो सकता है या नहीं ?

विदूषक—उपाय क्या होगा। उस निचले भंडारकी रखवाली माधविकाको देवीने यह कह दिया है कि इन अभागिन मालविका और वकुलावलिकाको बिना मेरी अँगूठी देखे कभी न छोड़ना।

राजा—[लंबी साँस लेते हुए कुछ सोचकर] क्यों मित्र! अब क्या किया जाय।

विदूषक—[सोचकर] एक उपाय है।

राजा—क्या ?

विदूषक—[इधर-उधर देखकर] कोई छिपकर सुन न रहा हो? आइए, कानमें कहूँ। [कानके पास लगकर] यह हो सकता है। [कानमें कह देता है।]

राजा—[प्रसन्न होकर] बहुत बढ़िया। बस कर ही डालो।

प्रतीहारी—[आकर] देव! इस समय महरानी बयारवाले भवनमें पलँगपर बैठी हुई हैं, उनके पैरमें लाल चन्दन लगा हुआ है, दासियाँ पैरको सँभाले हुए हैं और परिव्राजिकाजी कथा सुनाकर उनका जी बहला रही हैं।

राजा—तो हमारे वहाँ जानेका अच्छा अवसर है।

विदूषक—अच्छा आप चलिए। मैं भी हाथमें कुछ भेंट लेकर महारानीको देखने आ रहा हूँ।

राजा—जयसेनाको भी अपनी सब बातें समझा दो।

विदूषक—अच्छा। [जयसेनाके कानसे लगकर] देखो। ऐसे करना होगा। [सब बताकर चला जाता है।]

राजा—जयसेना! बयारवाले भवनतक ले तो चलो।

प्रतीहारी—इधरसे आइए देव! इधरसे।

[पलँगपर बैठी हुई देवी दिखाई देती हैं। पासमें परिव्राजिका और बहुत-सी दासियाँ बैठी हैं।]

धारिणी—यह तो बड़ी सुन्दर कथा कही आपने। हाँ भगवती, तो आगे क्या हुआ।

परिव्राजिका—[आँख घुमाकर] देवी! अब इससे आगे फिर कभी कहूँगी। लीजिए, विदिशाके महाराज आ रहे हैं।

धारिणी—अरे! स्वामी! [उठना चाहती हैं।]

राजा—बस, बस, शिष्टाचार दिखलानेका कष्ट न करो। सोनेकी चौकीपर रक्खे हुए अपने उस चोटवाले पैरको कष्ट देकर मुझे कष्ट न पहुँचाओ जो विना कारण ही विछुओंका विछोह सह रहा है॥ ३॥

धारिणी—जय हो, आर्यपुत्रकी जय हो।

परिव्राजिका—आपकी विजय हो देव!

राजा—[परिव्राजिकाको प्रणाम करके बैठते हुए।] कहो देवी! कुछ पीड़ा कम हुई।

धारिणी—हाँ, आज तो वहुत कम है।

[अपने हाथके अँगूठेको जनेऊसे बाँधे हुए घबराया हुआ विदूषक आता है।]

विदूषक—अरे बचाइए महाराज! बचाइए! मुझे साँपने काट लिया है।

राजा—यह तो बड़ा बुरा हुआ। तुम कहाँ घूम रहे थे?

विदूषक—मैं देवीको देखने आने लगा तो सोचा कि भेंटके लिये दो-चार फूल ही लेता चलूँ। उसीके लिये मैं प्रमदवन चला गया था।

धारिणी—हाय! हाय!! मेरे ही कारण बेचारे ब्राह्मणके प्राण संकटमें पड़े हैं।

विदूषक—वहाँ ज्यों ही मैं ने अशोकके फूलोंका गुच्छा तोडनेके लिये दाहिना हाथ फैलाया त्यों ही उसके खोखलेमेंसे निकलकर साँप बने हुए उस कालने आकर काट लिया। यह देखिए उसके दाँतों के चिह्न। [चिन्ह दिखाता है।]

परिव्राजिका—साँपके डसनेपर जो पहला काम किया जाता है वह कर डालो, जहाँ साँपने काटा हो, उस अंगको काट दिया जाय या जला दिया जाय या घावमें से लहू निकाल दिया जाय तो साँपसे डसे हुए मनुष्यके प्राण बच जा सकते हैं॥ ४॥

राजा—अब तो विप उतारनेवाले वैद्य आवें तभी काम चल सकता है। जयसेना! जाओ झटपट ध्रुवसिद्धिको तो बुला लाओ।

प्रतीहारी—जैसी देवकी आज्ञा!

विदूषक—हाय रे! यह पापी मौत मुझे आकर पकड़ बैठी है।

राजा—घबराओ मत। कौन जाने साँप विषैला न भी हो।

विदूषक—क्यों न घबराऊँ, मेरे अँग-अँग जकडे जा रहे हैं।

[विष चढनेका नाटय करता है।]

धारिणी—हाय! हाय!! इसकी दशा तो बिगडती जा रही है! कोई सँभालो इस ब्राह्मण को।

[परिव्राजिका घबराकर सँभालती है।]

विदूषक—[राजाकी ओर देखकर] देखिए! मैं बचपनसे आपका प्रिय मित्र हूँ, इस नाते मेरी निपूती माँकी देख-भाल कीजिएगा।

राजा—डरो मत गौतम। धीरज धरो। अभी वैद्य तुम्हें अच्छा कर देंगे।

जयसेना—[आकर] देव! मैंने ध्रुवसिद्धिको आपकी आज्ञा सुना दी। उन्होंने कहा है कि गौतमको यहाँ ले आया जाय।

राजा—तो इन्हें सँभालकर उनके पास ले चलो।

जयसेना—अच्छा।

विदूषक—[महारानीको देखकर] देवी! कौन जाने मैं जीऊँ या न जीऊँ। सेवा करते हुए मुझसे जो कुछ भूल-चूक हुई हो वह क्षमा कीजिएगा।

धारिणी—भगवान करे तुम बहुत दिन जीओ।

[विदूषक और प्रतीहारी चले जाते हैं।]

राजा—यह बेचारा स्वभावसे ही इतना डरपोक है कि जैसा नाम वैसे गुणवाले ध्रुवसिद्धिपर भी इसे भरोसा नहीं होता।

जयसेना—[आकर] जय हो, स्वामीकी जय हो। ध्रुवसिद्धिने कहा है कि पानीके घड़ेके सहारे किसी ऐसी वस्तुसे विष उतारा जायगा जिसमें नागमुद्रा जड़ी हुई हो इसलिये कोई ऐसी वस्तु ढूँढकर लाओ।

धारिणी—लो लो। मेरी अँगूठीमें नागमुद्रा जड़ी हुई है। काम हो जानेपर मुझे लौटा देना।

[अँगूठी निकालकर देती हैं। प्रतीहारी लेकर चलती है।]

राजा—जयसेना! काम हो जानेपर शीघ्र ही समाचार देना।

प्रतिहारी—जैसी देवकी आज्ञा। [चली जाती है।]

परिव्राजिका—मेरा मन तो कह रहा है कि गौतमका विष उतर गया।

राजा—आपकी ही बात सच्ची हो।

जयसेना—[आकर] देवकी जय हो। गौतमका विष थोड़ी ही देर में उतर गया और अब वे भले-चंगे हो गए हैं।

धारिणी—बड़ी बात हुई कि मैं कलंकसे बच गई।

प्रतीहारी—मन्त्री वाहतकने यह कहलाया है कि राजकी बहुत-सी बातोंपर विचार करना है। इसलिये दर्शनकी कृपा चाहता हूँ।

धारिणी—जाइए आर्यपुत्र! राज-काज देखिए।

राजा—देवी! यहाँ तो धूप आ गई है। ऐसे रोगमें ठंढ ही अच्छी होती है। इसलिये अपना पलँग दूसरी ओर उठवा लीजिए।

धारिणी—लड़कियो! आर्यपुत्र जो कह रहे हैं वैसा ही करो।

दासियाँ—अच्छा।

[महारानी, परिव्राजिका और दासियाँ, सब चली जाती हैं।]

राजा—जयसेना! मुझे चोर मार्गसे प्रमदवन तो ले चलो।

जयसेना—इधरसे आइए देव! इधरसे।

राजा—जयसेना! गौतमने अपना काम तो पूरा कर लिया होगा न?

जयसेना—और क्या?

राजा—अपनी प्यारीको पानेके लिये हमने जो उपाय रचा है उसे पक्का समझते हुए भी मेरा हृदय ऐसा सन्देही और अधीर है कि उसे अभीतक काम पूरे होनेमें खटका बना ही हुआ है॥ ५॥

विदूषक—[आकर] बधाई है आपको। आपके सब काम सध गए।

राजा—जयसेना! जाओ तुम भी अपना काम देखो।

जयसेना—जैसी देवकी आज्ञा। [चली जाती है।]

राजा—कहो गौतम! माधविका तो बड़ी चंट है। उसने कुछ आगा-पीछा तो नहीं किया?

विदूषक—देवीकी अँगूठी देख लेनेपर वह क्या आगा-पीछा करती?

राजा—मैं अँगूठीकी बात नहीं पूछ रहा हूँ। उन दोनोंको तुमने छुड़ाया क्या कहकर? उसने यह तो पूछा ही होगा कि इतने सेवकोंके रहते हुए भी देवीने आपको ही क्यों भेजा।

विदूषक—हाँ, यह तो पूछा था पर उसी समय मुझ मूर्खकी बुद्धि चेत गई और मेरे मुँहसे अचानक एक अच्छी बात निकल पड़ी।

राजा—क्या ?

विदूषक—मैं ने कहा कि ज्योतिषियों ने महाराजसे कहा है कि आपके ग्रह विगडे हुए हैं इसलिये इस समय सब वन्दियोंको छुड़वा दीजिए।

राजा—[प्रसन्न होकर] तब तब ?

विदूषक—जब देवीने ज्योतिषियोंकी यह बात सुनी, तब उन्हों ने सोचा कि यदि हम अपने सेवकोंको छुड़ानेके लिये किसी औरको भेजेंगे तो इरावतीजी बुरा मान जायँगी। इसलिये उनका मन रखनेके लिये उन्हों ने मुझे ही बुलाकर यह काम सौंप दिया, जिससे इरावती यह समझे कि राजा ही बन्दियोंको छुड़ा रहे हैं मैं नहीं छुड़ा रही हूँ। माधविका इसे सच मान बैठी और उन्हें छोड़ दिया॥

राजा—[विदूषकको गले लगाकर] मित्र ! तुम सचमुच मेरे बड़े प्यारे हो। क्योंकि केवल बुद्धिके बलसे ही कोई अपने मित्रोंका काम नहीं कर देता। अपने सिर कोई काम लेकर उसे अन्ततक निभा देना सचमुच ऐसा टेढ़ा होता है कि वह तभी पूरा हो पाता है जब काम करनेवाला अपने मित्रसे पक्का स्नेह भी करता हो॥ ६॥

विदूषक—अच्छा अब आप झटपट चलिए। क्यों कि मैं समुद्रघरमें वकुलावलिका और मालविकाको बैठाकर तब आपके पास आया था।

राजा—चलो मैं अभी उसे चलकर मना लेता हूँ। चलो आगे-आगे।

विदूषक—आइए आप [घूमकर] यह रहा समुद्रघर।

राजा—[डरते हुए] देखो मित्र ! तुम्हारी सखी इरावतीकी दासी चन्द्रिका फूल चुनती हुई इधर ही चली आ रही है। चलो इस भीतके पीछे छिप रहा जाय।

विदूषक—हाँ चोरों और जारोंको चन्द्रिकासे बचते ही रहना चाहिए।

[दोनों भीतके पीछे छिप जाते हैं।]

राजा—आओ गौतम। इस खिड़कीमें से देखा जाय कि तुम्हारी सखी मालविका मेरे लिये कैसी बाट जोह रही है।

विदूषक—अच्छा।

[दोनों खिड़कीमें से झाँकते हैं।]

[मालविका और बकुलावलिका दिखाई पड़ती हैं।]

वकुलावलिका—सखी ! स्वामीको प्रणाम करो।

मालविका—आपको प्रणाम है।

राजा—जान पड़ता है यह मेरा चित्र दिखा रही है।

मालविका—[प्रसन्नताके साथ द्वार खोलती है फिर दुखी होकर] अच्छा सखी ! तुम भी मुझे बना रही हो ?

राजा—इस समय इनका प्रसन्न होना और दुखी होना दोनों मुझे बड़े प्यारे लगे हैं। सूर्यके निकलते और छिपते समय कमल जैसे-जैसे खिलता और मुरझाता है, ठीक वैसी-वैसी ही झलक क्षण भरमें इस सुन्दरीके मुँहपर दिखाई पड़ी है ॥ ७ ॥

वकुलावलिका—पर चित्रमें भी तो स्वामी ही हैं।

दोनों—[प्रणाम करती हुई] स्वामीकी जय हो !

मालविका—सखी ! उस दिन हड़बड़ीमें महाराजको मैं जितना नहीं देख पाई उतना आज इस चित्रमें जी भरकर महाराजका रूप देखकर भी मैं अघा नहीं रही हूँ।

विदूषक—आप कुछ समझे ? उनके कहनेका अर्थ यह है कि जैसे सुन्दर आप चित्रमें दिखाई दे रहे हैं वैसे आप सचमुच नहीं दिखाई दिए थे। इसलिये जैसे रत्नकी छूँछी पिटारी भी अपनेको रत्नोंकी कहकर झूठे ही ऐंठती है वैसे ही आपमें भी कुछ है नहीं, आप झूठे ही अपने यौवनकी डींग हाँकते हैं।

राजा—मित्र ! अपने प्यारों से मिलनेके लिये उतावली होते हुए स्त्रियाँ स्वभावसे ही बड़ी लजीली होती हैं। देखो—स्त्रियाँ जिस पुरुषसे पहले पहल मिलती हैं उसे वे जी भरकर देख तो लेना चाहती हैं पर उन बड़ी-बड़ी आँखोंवाली सुन्दरियोंकी आँखें अपने प्यारेकी ओर ठीकसे उठ ही नहीं पाती ॥ ८ ॥

मालविका—क्यों सखी ! ये कौन देवी हैं जिनकी ओर महाराज मुँह घुमाकर बड़ी प्रेमभरी चितवनसे देख रहे हैं।

वकुलावलिका—ये महाराजके पास इरावतीजी बैठी हुई हैं।

मालविका—क्यों सखी ! महाराजका प्रेम सबपर एक-सा नहीं दिखाई पड़ता, क्योंकि वे सब रानियोंको छोड़कर बस एकका ही मुँह देखे जा रहे हैं।

बकुलावलिका—[मन ही मन] यह भोली, चित्रमें बने हुए महाराज को सचमुच महाराज समझकर उनपर रूठी जा रही है। अच्छी बात है। मैं भी इसे बनाती हूँ। [प्रकट] सखी ! यही तो महाराजकी प्यारी हैं।

मालविका—तब मैं क्यों तिल-तिल अपनी देह जलाऊँ। [डाहसे मुँह फेर लेती है।]

राजा—देखो मित्र ! इसने डाहसे अपना मुख घुमा लिया है। भौंहों के चढ़ानेसे हटी हुई इसके माथेकी बिन्दी और इसके पकड़ते हुए निचले ओठको देखनेसे ऐसा जान पड़ता है मानो इसने स्वामीके अपराधपर रूठनेकी जो शिक्षा अपने गुरुसे ली है वही अभिनय करके दिखला रही है ॥ ९ ॥

विदूषक—तो चलिए ! अब मनानेके लिये तैयार हो जाइए।

मालविका—आर्य गौतम भी तो यहाँ बैठे इनकी सेवा कर रहे हैं।

[वहाँ से फिर कहीं और हट जाना चाहती है।]

बकुलावलिक—[मालविकाको रोककर] अरे तुम रूठकर तो नहीं जा रही हो ?

मालविका—यदि तुम समझती हो कि मैं बहुत रूठी ही करती हूँ तो लो मैं रूठ ही जाती हूँ।

राजा—[पास पहुँचकर] हे कमलनयनी ! चित्रमें बने हुए मेरे भावको ही देखकर तुम मुझसे क्यों रूठी जा रही हो। तुम्हारा यह अनन्य दास तो तुम्हारे सामने ही खड़ा है ॥१०॥

बकुलावलिका—जय हो, स्वामीकी जय हो।

मालविका—[मन ही मन] तो क्या मैं सचमुच चित्रमें बने हुए स्वामीसे रूठी हुई थी।

[लजाती हुई हाथ जोड़ती है। राजा प्रेममें व्याकुल होनेका नाट्य करते हैं।]

विदूषक—आप चुपचाप क्यों खड़े हो गए हैं ?

राजा—भाई ! तुम्हारी सखीपर भरोसा नहीं हो रहा है ?

विदूषक—क्यों, इनपर भरोसा क्यों नहीं हो रहा है ?

राजा—सुनो ! ये मेरी आँखोंमें बैठी-बैठी देखते-देखते ओझल हो जाती हैं और मेरी बाहोंमें आकर भी अचानक निकल जाती हैं।

इस मिलनकी मायामें फँसे हुए मेरे प्रेमके रोगी मनको इनपर कैसे भरोसा हो ॥११॥

बकुलावलिका—सखी ! तुमने महाराजको बहुत छकाया है। अब कुछ ऐसा तो करो कि ये तुमपर भरोसा करने लगें।

मालविका—सखी ! मुझ अभागिनको तो स्वप्नमें भी महाराजसे भेंट नहीं हुई।

बकुलावलिका—महाराज ! इसका तो आप ही उत्तर दे सकते हैं।

राजा—उत्तर क्या, मैं तुम्हारी सखीसे सेवा नहीं कराना चाहता, मैं तो प्रेमकी अग्निको साक्षी बनाकर अकेलेमें ही उनकी सेवा करनेके लिये अपनेको ही इनके हाथ सौंप देता हूँ ॥१२॥

बकुलावलिका—बड़ी कृपा हुई मुझपर।

विदूषक—[घूमकर घबराहटके साथ] अरी बकुलावलिका ! देख, देख इन नन्हें-नन्हें अशोकके पत्तोंको हरिण चरे जा रहा है। चल, इसे भगा तो दें।

बकुलावलिका—चलिए। [जाना चाहती है।]

राजा—देखो मित्र ! तुम इसी प्रकार सावधानीसे हमारी देखभाल करते रहना।

विदूषक—क्या यह बात भी गौतमको समझानी होगी।

बकुलावलिका—[घूमकर] आर्य गौतम ! मैं इधर छिपकर बैठती हूँ। तुम जाकर द्वारपर चौकसी करो।

विदूषक—अच्छी बात है।

[बकुलावलिका चली जाती है।]

विदूषक—तबतक चलता हूँ इस स्फटिकके खंभेके सहारे चलकर बैठता हूँ। [बैठता है।] वाह ! कैसी ठंढी और चिकनी शिला है।

[ऊँघने लगता है।]

[मालविका डरी-सी खड़ी रहती है।]

राजा—हे सुन्दरी ! मेरे गले लगनेसे डरो मत, कितने दिनों से मैं तुमसे मिलनेको अधीर हो रहा था। देखो ! जैसे माधवी लता आमसे लिपट जाती है वैसे ही आओ तुम भी मुझसे लिपट जाओ ॥१३॥

मालविका—मुझे महारानीसे बड़ा डर लगता है इसलिये चाहते हुए भी ऐसा नहीं सक रही हूँ।

राजा—अजी! डरनेकी क्या बात है?

मालविका—[उलहना देते हुए] हाँ, आज जो नहीं डर रहे हैं, उन महाराजका साहस, उस दिन देवी इरावतीजीके आनेपर मैं भली भाँति देख चुकी हूँ।

राजा—हे बिंबाके समान लाल-लाल ओठोंवाली! प्रेमी लोग यों दिखानेके लिये सभीसे प्रेम करते हैं, पर हे बड़ी-बड़ी आँखोंवाली! मेरे प्राण तो तुम्हें ही पानेकी आशापर लटके हुए हैं ॥ १४ ॥ इसलिये तुम्हारे प्रेममें इतने दिनों से डूबे हुए इस दासपर अब तो कृपा करो। [गले लगनेको बढते हैं मालविका नाट्यसे अपनेको छुडाती है।]

राजा—[मन ही मन] नई नवेलियोंकी प्रेमभरी चटकमटक भी कितनी सुन्दर होती है। क्योंकि इनके हाथ काँप रहे हैं, अपनी खुली हुई तगडीको ये अपनी चंचल अँगुलियों से थामे जा रही हैं। जब मैं बलपूर्वक गले लगाने चलता हूँ तो दोनों हाथों से ये अपने स्तन ढक लेती हैं और जब मैं इनके सुन्दर पलकोंकी आँखोंवाले मुह चूमनेको बढता हूँ तो ये अपना मुँह फेर लेती हैं। इस हाथा-पाई में मेरे हाथ कुछ भी नहीं लग रहा है, फिर भी मुझे वैसा ही सुख मिल रहा है मानो मेरी सब इच्छाएँ पूरी होती जा रही हों ॥१५॥

[इरावती और निपुणिका आती हैं।]

इरावती—क्यों री निपुणिका! क्या चन्द्रिकाने सचमुच तुझसे कहा था कि आर्य गौतम, समुद्र-घरके बाहर अकेले सोए हैं।

निपुणिका—मैं स्वामिनीसे झूठ थोड़े ही कह सकती!

इरावती—तो चलो वहीं चलकर मित्र विदूषकसे पूछ लिया जाय कि अब वे ठीक हो गए हैं या नहीं और

निपुणिका—स्वामिनी! आप कुछ और कहना चाहती थीं।

इरावती—हाँ यही कि वहाँ चलकर चित्रमें बने हुए आर्यपुत्रको भी मना लिया जाय।

निपुणिका—तो आप चलकर महाराजको ही क्यों नहीं मना लेतीं।

इरावती—अरी पगली! दूसरोंसे प्रेम करनेवाले आर्यपुत्र हमारे लिये वैसे ही हैं जैसे उनका चित्र। उस दिन मैं ने उनके मनानेपर भी जो उनकी बात न माननेकी ढिठाई कर दी है उसीको धोनेके लिये मैं यह सब कर रही हूँ।

निपुणिका—इधरसे आइए स्वामिनी इधरसे।

[दोनों घूमती हैं।]

चेटी—[आकर] जय हो स्वामिनीकी, जय हो। महारानीने कहलाया है कि अब हम लोगोंको महाराजसे रूठे नहीं रहना चाहिए। और मैं ने तुम्हारी बात रखनेके लिये ही मालविका और उसकी सखीको बाँध रक्खा है। यदि आर्यपुत्रको मनानेकी बात तुम्हें भी जँचती हो तो मैं उसका उपाय करूँ। तुम्हारी जो इच्छा हो वह मुझे कहला देना।

इरावती—देखो नागरिका! महारानीसे जाकर कह देना कि उनसे काम करानेवाली हम कौन होती हैं। अपनी दासियोंको बाँधकर उन्होंने मुझपर कृपा दिखाई है। उनकी कृपा न हो तो हम लोगोंका इतना मान कैसे हो।

चेटी—अच्छा। [चली जाती है।]

निपुणिका—[घूमकर और देखकर] यह देखिए स्वामिनी! जैसे हाटमें पड़ा हुआ साँड़ नींद लेता है वैसे ही आर्य गौतम भी समुद्र घरके द्वार पर बैठे सो रहे हैं।

इरावती—यह तो बड़ा बुरा हुआ। कहीं विषका विकार अभी बचा न रह गया हो।

निपुणिका—पर इनका मुँह तो बड़ा प्रसन्न दिखाई दे रहा है और फिर स्वयं ध्रुवसिद्धिने इनका विष उतारा है। इसलिये घबरानेकी कोई बात नहीं है।

विदूषक—[स्वप्नमें बड़बड़ाता हुआ] हे देवी मालविका!

निपुणिका—सुना स्वामिनी? अपना काम करानेके लिये इस अभागेका कौन विश्वास करेगा। सदा तो यह आपके दिए हुए पूजाके लड्डुओंसे पेट भरा करता है और आज स्वप्नमें इसे मालविका सूझ रही है।

विदूषक—तुम इरावतीसे भी आगे बढ़ जाओ।

निपुणिका—यह तो बड़ी बुरी बात है, साँपसे डरनेवाले इस बाँभनको अब इसी साँप जैसी टेढ़ी लकड़ीसे खंभेकी ओटमें खड़ी होकर डराती हूँ।

इरावती—ऐसे कृतघ्नके साथ ऐसी ही कुचाल करनी चाहिए।

[निपुणिका विदूषकके ऊपर लकड़ी गिरा देती है।]

विदूषक—[सहसा जागकर] हाय, हाय! अरे मित्र! मुझपर साँप आ गिरा है।

राजा—[सहसा आगे बढ़कर] डरो मत मित्र! डरो मत।

मालविका—[पीछे-पीछे] स्वामी! ऐसे न जाइए। वह कह रहा है कि साँप है।

इरावती—हाय, हाय! स्वामी इधर ही दौड़े आ रहे हैं।

विदूषक—[हँसकर] अरे! यह तो लकड़ी है! मैं तो समझा था कि मैंने केतकीके काँटेसे साँपके दाँतोंका चिह्न बनाकर जो साँपपर कलंक लगाया था उसीका मुझे फल मिल रहा है।

बकुलावलिका—[पर्दा हटाते हुए आकर] स्वामी! उधर न जाइए। वहाँ टेढ़ा चलता हुआ कुछ साँप जैसा दिखाई दे रहा है।

इरावती—[खंभेके पीछेसे छिपी हुई राजाके पास आकर] कहिए! दिनमें मिलनेका संकेत करनेवाले जोड़ेके मनकी साध तो पूरी हो गई न!

[सब इरावतीको देखकर घबरा जाते हैं।]

राजा—प्यारी! यह तुम कैसी अनोखी बात कर रही हो।

इरावती—बकुलावलिका! तुझे बधाई है कि इन दोनको मिलानेकी जो तूने प्रतिज्ञा की थी वह आज पूरी हो गई।

बकुलावलिका—क्रोध न करें स्वामिनी! मैंने क्या किया है? देवसे ही पूछ लीजिए। कहीं भला पृथ्वीपर पानी बरसानेके लिये देव, मेंढकोंकी टर्र-टर्रकी बाट थोड़े ही जोहते हैं।

विदूषक—अजी! ऐसा न कहिए। उस दिन महाराज आपके पैरों पड़े, हाथ जोड़े, पर आप उससे मग्न न हुईं रूठकर चल दीं और इधर महाराजकी भलमनसाहत देखिए कि आपको देखते ही उन्होंने

पिछली सब बातें उठाकर एक ओर रख दीं, फिर भी आप अभी-तक खिची हुई हैं।

इरावती—खिची होकर भी मैं इनका क्या कर लूँगी ?

राजा—पर बिना बातके रूठना भी तो तुम्हें शोभा नहीं देता। क्यों कि—सुन्दरी! बताओ तो इससे पहले क्या कभी तुम्हारा मुँह बिना कारणके क्षणभरके लिये भी लाल हुआ है ? भला बताओ बिना ग्रहणकी रात आए क्या कभी चन्द्र-ग्रहण लग सकता है॥ १६॥

इरावती—यह तो आर्यपुत्रने ठीक कहा कि मैं बिना कारणके रूठ रही हूँ। हमारे स्वामी कहीं और मन लगावें और उसपर हम रूठने लगें, यह तो सचमुच जग-हँसाईकी बात है।

राजा—तुम तो सब बातें उल्टी ही समझती हो। मुझे तो सचमुच इसमें रूठनेकी कोई बात दिखाई ही नहीं देती है। क्यों कि मैंने तो इन दोनोंको इसीलिये छोड़ दिया कि अपने सेवकोंको उत्सवके दिन अपराध करनेपर भी बाँधकर नहीं रखना चाहिए। वहाँसे छूटनेपर ये दोनों मुझे प्रणाम करनेके लिये ही यहाँ चली आई थीं॥ १७॥

इरावती—निपुणिका! जाओ तो, महारानीसे कह आओ कि आप हमें जैसा मानती हैं, वह आज हमने देख लिया।

निपुणिका—अच्छा। [चली जाती है।]

विदूषक—[मन ही मन] अरे यह तो सब गड़बड़-घोटाला हो गया। पिंजड़ेसे छूटा हुआ कबूतर बिल्लीके सामने आ पड़ा है।

निपुणिका—[आकर अलग] स्वामिनी! अभी माधविका मुझे मिली थी, उसने बतलाया कि यह सब ऐसे हुआ है। [कानमें कहती है।]

इरावती—[मन ही मन] समझ गई, यह सब इसी बाँभनकी करतूत है। [विदूषकको देखकर प्रकट] यह सब इसी प्रेम-नीतिके मंत्रीकी चाल है।

विदूषक—देवि! यदि मैं नीतिका एक अक्षर भी पढ़ा होता तो क्या महाराजको मैं कभी ऐसे फँसने देता।

राजा—[मन ही मन] अब इस संकटसे कैसे छुटकारा पाया जाय।

जयसेना—[आकर] देव! कुमारी वसुलक्ष्मी गेंदके पीछे दौड़ रही थीं कि इतनेमें ही एक पीला बन्दर वहाँ आ पहुँचा। उसे देखकर कुमारी

बहुत डर गई हैं और देवीकी गोदमें पड़ी हुई, आँधीसे हिलते हुए पत्तेके समान थर-थर काँप रही हैं। अभीतक उन्हें चेत नहीं हुआ है।

राजा—बड़ा बुरा हुआ, बड़ा बुरा हुआ। बच्चों का तो डरनेका स्वभाव ही होता है।

इरावती—[घबराकर] चलिए आर्यपुत्र ! झटपट चलकर उसे सँभालिए। कहीं इस घबराहट में उसे और कुछ न हो जाय।

राजा—मैं चलकर अभी उसे चेतमें लाता हूँ। [झटपट घूमते हैं।]

विदूषक—वाह रे पीले बन्दर ! वाह, आज तो तुमने हमारे महाराजको सचमुच बचा लिया।

[राजा, विदूषक, इरावती, निपुणिका, प्रतीहारी सब चले जाते हैं।]

मालविका—सखी ! जब महारानीका ध्यान आता है तो मेरे रोंगटे खड़े हो जाते हैं। अब न जाने क्या-क्या दंड भोगना बदा है।

[नेपथ्यमें]

बड़ा आश्चर्य है ! बड़ा आश्चर्य है। अभी इस सुनहरे अशोकके मनोरथ पूरे हुए, पाँच रातें भी नहीं बीत पाईं कि उसमें कलियाँ फूट आई हैं। चलूँ महारानीको बताऊँ।

[दोनों सुनकर प्रसन्न होती हैं।]

बकुलावलिका—लो सखी ! धीरज धरो। देवी, जो एक बार कह देती हैं उससे पीछे नहीं हटतीं।

मालविका—तो चलो, हम लोग भी प्रमदवनकी मालिनके पीछे-पीछे वहाँ चली चलें।

बकुलावलिका—चलो।

[दोनों चली जाती हैं।]

॥ चौथा अङ्क समाप्त हुआ ॥

—**—

पाँचवाँ अङ्क

[मालिन आती है।]

मालिन—मैं ने सब घास-पात निकालकर इस सुनहरे अशोककी मेंड़ ठीक ढंगसे बाँध दी है. अब यहाँका काम सब ठीक हो गया है। चलूँ देवीको बता आऊँ। [घूमकर] भगवानने बेचारी मालविकाकी लाज रख ली। उसपर बिगड़ी बैठी हुई महारानीको, जब अशोकके फूलनेका समाचार मिलेगा तो वे खिल उठेंगी। पर इस समय महारानी होंगी कहाँ? [देखकर] अरे! यह महारानीके रनिवासका कुबड़ा सेवक सारसिक लाखकी छाप लगी हुई पिटारी लिए हुए, रनिवाससे निकला चला आ रहा है। चलूँ, इसीसे पूछ देखूँ। [हाथमें पिटारी लिए हुए कुबड़ा दिखाई देता है।] कहो सारसिक! किधर चले?

सारसिक—मधुकरिका! विद्वान ब्राह्मणोंको सदा महीने-महीनेपर जो दक्षिणा दी जाती है। वही सब बाँटनेके लिये पुरोहितजीको सौंपने जा रहा हूँ।

मधुकरिका—यह दक्षिणा क्यों बाँटी जा रही है?

सारसिक—जबसे अश्वमेध यज्ञके घोड़ेकी रक्षाके लिये राजकुमार वसुमित्र सेनापति बनाए गए हैं, तभीसे उनके चिरंजीवी होनेके लिये चार सौ स्वर्ण मुद्राओंके बराबर धन, योग्य ब्राह्मणोंको दक्षिणामें दिया जाता है।

मधुकरिका—अच्छा. यह तो बताओ कि महारानी हैं कहाँ? और क्या कर रही हैं?

सारसिक—महारानीजीके भाई वीरसेनने विदर्भसे जो चिट्ठी भेजी है, उसीको वे मंगल-घरमें बैठी हुई अपने लेखकसे बँचवाकर सुन रही हैं।

मधुकरिका—विदर्भके राजाका क्या समाचार मिला?

सारसिक—महाराजकी विजयिनी सेना लेकर वीरसेनने विदर्भके राजाको जीत लिया है और उनके चचेरे भाई माधवसेनको छुड़ा लिया है। साथ ही उन्हों ने एक दूतके साथ बहुत-से अनमोल रत्न, हाथी घोड़े और बहुत अच्छे-अच्छे कलाकार सेवक, महाराजके पास भेंटमें भेजे हैं।

मधुकरिका—अच्छा, जाओ, तुम भी अपना काम कर आओ और मैं भी अभी महारानीके दर्शनको जाती हूँ। [दोनों जाते हैं।]

॥ प्रवेशक ॥

[प्रतीहारी आती है।]

प्रतीहारी—अशोककी पूजाकी धूम-धाममें लगी हुई महारानीने यह आज्ञा दी है कि जाओ महाराजसे कह दो कि मैं चाहती हूँ कि आर्यपुत्रके साथ ही चलकर फूले हुए अशोककी शोभा देखूँ। तो चलूँ न्यायासनपर बैठे हुए महाराजके पास पहुँचूँ। [घूमती है।]

[नेपथ्यमें दो वैतालिक]

पहला—जय हो, देवकी जय हो। बधाई है महाराजको कि आपने अपनी शक्तिसे अपने शत्रुओंको पैरों तले रौंद दिया! हे मन चाहा वर देनेवाले राजा! आप तो इधर साक्षात् कामदेवके समान कोयलकी सुन्दर कूक सुनते हुए विदिशाके तीरपर फैले हुए उपवनोंमें अपना वसन्त बिता रहे हैं। उधर आपका बलवान शत्रु वरदाके तीरपर खड़े हुए उन वृक्षोंके साथ-साथ झुका दिया गया है जो अब आपकी सेनाके विजयी हाथियोंके बाँधनेके खूँटे बने खड़े हैं ॥१॥

दूसरा—हे देवताओंके समान राजा! विदर्भमें दो ही तो बड़ी-बड़ी घटनाएँ हुई हैं। एक तो आपका अपनी सेना भेजकर विदर्भके राजाको हराना, दूसरी भगवान श्री कृष्णजी द्वारा उनकी अर्गलाके समान बड़ी-बड़ी भुजाओंसे रुक्मिणीजीका हरा जाना। वीरोंसे प्रेम रखनेवाले कवि लोग अब इन दोनों घटनाओंके गीत बना-बनाकर गा रहे हैं ॥२॥

प्रतीहारी—इस जयजयकारसे यह पता चल रहा है कि महाराज वहाँसे उठकर इधर ही चले आ रहे हैं। मैं भी उनके आगे-आगे चलती हुई भीड़से बचकर खम्भेके पीछे खड़ा हो जाता हूँ।

[एक ओर खड़ा हो जाता है।]

[विदूषकके साथ राजा आते हैं।]

राजा—एक ओर जब मैं उस दुर्लभ प्यारीकी बात सोचता हूँ और दूसरी ओर जब मैं सुनता हूँ कि मेरी सेनाने विदर्भके राजाको हरा दिया है तो मेरा मन उस कमलके समान एक साथ दुखी और सुखी

होता है जिसपर कड़ी धूप पड़ रही हो और साथ-साथ पानी भी बरस रहा हो ॥ ३ ॥

विदूषक—मैं तो समझता हूँ कि अब आपको एकदम सुख ही सुख मिलेगा।

राजा—कैसे ?

विदूषक—आज पंडिता कौशिकीसे महारानीने कहा था कि भगवती! आपको सिंगार करनेकी विद्याका जो घमंड है उसे आप मालविकाको, विवाहके सिंगारसे सजाकर दिखाइए। इसपर उन्होंने मालविकाको बड़े सुहावने ढंगसे सजा दिया है। कौन जाने वे ही आपकी साध पूरी कर दें।

राजा—हाँ मित्र! महारानी धारिणी पहले भी मेरे मनकी बहुत-सी बातें की हैं इसलिये यह भी कर दें तो कोई अचरज नहीं है।

प्रतीहारी—[पास जाकर] जय हो स्वामीकी जय हो! देवीने कहलाया है कि मेरे साथ चलकर उस फूले हुए सुनहरे अशोकको देखकर मेरा सब उत्सव सफल कर दीजिए।

राजा—क्या देवी वहाँपर हैं।

प्रतीहारी—जी हाँ ? रनिवासकी सब रानियोंका यथायोग्य आदर करके वे मालविका और दासियोंके साथ बैठी महाराजके लिये बाट जोह रही हैं।

राजा—[प्रसन्न होकर विदूषककी ओर देखकर] जयसेना! चलो तो आगे-आगे।

प्रतीहारी—आइए देव! चले आइए।[घूमती है।]

विदूषक—देखो मित्र! जान पड़ता है कि प्रमदवनमें वसन्तकी जवानी फिर लौट आई है।

राजा—ठीक कहते हो तुम। इस बीतते हुए वसन्तमें भी बिखरे हुए कुरबकके फूल मनमें जवानीकी लहरें उठाने लगे हैं ॥ ४ ॥

विदूषक—[घूमकर] फूलोंके गुच्छोंसे लदा हुआ यह सुनहरा अशोक ऐसा जान पड़ता है मानो इसका भी किसीने सिंगार कर दिया हो। देखिए तो।

राजा—इसका देरसे फूलना अच्छा ही हुआ क्योंकि अब इसके

आगे सब वृक्षों की शोभा फीकी लगने लगी है। देखो! ऐसा जान पडता है कि जिन अशोकके वृक्षोंने पहले फूलकर वसन्तके आनेकी सूचना दी थी, उन सबने अपने-अपने फूल इस अशोकके वृक्षको दे दिए हैं जिसके फूलनेका उपाय अभी थोड़े दिन हुए किया गया था ॥५॥

विदूषक—हाँ। लीजिए, अब आपका काम बन गया क्योंकि हम-लोगोंके आ पहुँचनेपर भी महारानी धारिणी, मालविकाको अपने पास ही बैठनेके लिये कह रही हैं।

राजा—[प्रसन्न होकर] देखो मित्र! मेरा आदर करनेके लिये उठी हुई महारानीके पीछे, अपने कमल जैसे दोनों हाथ खोले खड़ी हुई मेरी प्यारी मालविका, ऐसी लग रही है मानो पृथ्वीके पीछे राजलक्ष्मी खड़ी हुई हो ॥ ६ ॥

[धारिणी, मालविका, परिव्राजिका और उनको दासियाँ दिखाई देती हैं।]

मालविका—[मन ही मन] मैं इस बनाव-सिंगारका अर्थ तो समझ रही हूँ, फिर भी न जाने क्यों मेरा हृदय कमलिनीके पत्तेपर पड़ी हुई जलकी बूँदके समान अभीतक काँप रहा है। पर मेरी बाईं आँख भी आज बहुत फड़क रही है।

विदूषक—कहो मित्र! विवाहके सिंगारोंसे सजी हुई मालविका कितनी सुन्दर जँचने लगी है?

राजा—हाँ, देख तो रहा हूँ कि एक सिरपर छोटी-सी ओढनी ओढे हुए और नीचेसे ऊपर तक अनेक प्रकारके सिंगारोंसे सजी हुई यह चैतकी उस रातके समान दिखाई पड़ती है जिसमें कोहरा हट जानेसे तारे खिल आए हों और चाँदनी भी बस, निकलने ही वाली हो ॥७॥

धारिणी—[पास पहुँचकर] जय हो, आर्यपुत्रकी जय हो।

विदूषक—आपको बधाई है।

परिव्राजिका—देवकी जय हो।

राजा—प्रणाम करता हूँ भगवती।

परिव्राजिका—आपके मनकी साध पूरी हो।

धारिणी—[मुस्कराकर] आर्यपुत्र! लीजिए यह आपके लिये अशोक, ऐसा प्रेम-मिलनका घर बना दिया गया है जहाँ आप युवतियोंसे अकेलेमें मिल सकते हैं।

विदूषक—लीजिए, महाराज ! देवीने तो आपकी मनचाही कर दी।

राजा—[लजाते हुए अशोकके चारों ओर घूमते हैं] देवीके हाथों इस अशोकका ऐसा आदर होना ही चाहिए, क्योंकि इसने भी वसन्तकी लक्ष्मीका कहना न मानकर और वसन्तमें न फूलकर देवीके प्रयत्न करनेपर फूल उठा है ॥ ८ ॥

विदूषक—अब आप सम्हलकर इस यौवनवालीको देखिए।

धारिणी—किसे ?

विदूषक—देवी ! इस सुनहरे अशोकके फूलोंकी शोभाको।

[सब बैठ जाते हैं।]

राजा—[मालविकाको देखकर मन ही मन] इतने पासमें रहते हुए भी अलग बैठना बड़ा कसकता है। चकवा और चकवीकी भाँति इतने पास बैठे हुए भी हम दोनोंको, ये रात्रि बनी हुई धारिणी मिलने नहीं दे रही हैं ॥ ९ ॥

कञ्चुकी—[आकर] देवकी जय हो। मन्त्रीजीने कहलाया है कि विदर्भसे जो कला जाननेवाली दो स्त्रियाँ भेंटके रूपमें आई थीं वे उस समय थकी होनेके कारण महाराजके पास नहीं लाई जा सकी थीं। अब वे महाराजके सामने लाई जा सकती हैं। उसके लिये देवकी आज्ञा चाहिए।

राजा—ले आओ।

कञ्चुकी—जैसी देवकी आज्ञा। [बाहर जाकर उन दोनोंके साथ आता है।] इधरसे आइए आप लोग, इधरसे।

पहली—[अलग] सखी मदनिका ! हम पहले कभी इस राज-कुलमें नहीं आई हैं, फिर भी न जाने क्यों यहाँ आते ही हमारा जी खिला जा रहा है।

दूसरी—ज्योत्स्निका ! कहा जाता है कि अपना मन, आगे आनेवाले सुख या दुःख सभी बता देता है।

पहली—भगवान करें, वह कहावत आज सच हो जाय।

कञ्चुकी—देखिए, यह महारानीके साथ महाराज बैठे हुए हैं। आप दोनों आगे बढ़ जाइए।

[दोनों बढ़ जाती हैं।]

[मालविका और परिव्राजिका इन दोनों दासियों को देखकर एक दूसरेकी ओर देखती हैं ।]

दोनों—[प्रणाम करके] जय हो, स्वामीकी जय हो । जय हो, स्वामिनीकी जय हो ।

[राजाके कहनेसे दोनों बैठ जाती हैं ।]

राजा—आप लोगों को कौन-सी कला आती है ।

दोनों—स्वामी ! हम लोगों ने संगीत सीखा है ।

राजा—लो देवी, इनमें से जिसे चाहो उसे अपने लिये चुन लो ।

धारिणी—मालविका ! इधर देखो, संगीतमें तुम्हारा साथ देनेके लिये इनमेंसे तुम्हें कौन-सी अच्छी लगती हैं ।

दोनों—[मालविकाको देखकर] अरे, राजकुमारी ! जय हो राजकुमारी जय हो । [प्रणाम करके उसके गले मिलकर रोती हैं ।]

[सब अचरजसे देखते हैं ।]

राजा—आप लोग कौन हैं और ये कौन हैं ?

दोनों—स्वामी ! ये हमारी राजकुमारी हैं ।

राजा—कैसे ?

दोनों—सुनिए स्वामी ! आपकी विजयी सेनाने विदर्भके राजाको जीतकर जिन कुमार माधवसेनको बन्धनसे छुड़ाया है, उन्हींकी ये मालविकाजी छोटी बहिन हैं ।

धारिणी—अरे ! तो क्या ये राजकुमारी हैं । मैं ने सचमुच चन्दनसे खड़ाऊँका काम लेकर बड़ा पाप किया है ।

राजा—तो वे इस रूपमें यहाँ कैसे आ गईं ।

मालविका—[लंबी साँस लेकर मन ही मन] भाग्यके फेर से ।

दूसरी—सुनिए महाराज ! जब राजकुमार माधवसेनको उनके चचेरे भाईने पकड़ लिया था, तब उनके मंत्री आर्य सुमतिजी इन्हें हम लोगोंसे हटाकर कहीं छिपा आए ।

राजा—यह तो मैं पहले सुन चुका हूँ । तब क्या हुआ ?

दूसरी—इनके पीछेकी बात मैं कुछ नहीं जानती हूँ स्वामी ।

परिव्राजिका— इसके पीछेकी कथा मैं अभागिन बताती हूँ ।

दोनों—राजकुमारी ! यह तो आर्या कौशिकी जैसी बोली लग रही है। वे ही हैं क्या ?

मालविका—और क्या ?

दोनों—सन्यासिनीका वेश बना लेनेसे कौशिकीजी बड़ी कठिनाई से पहचानमें आती हैं। आपको प्रणाम है भगवती।

परिव्राजिका—तुम दोनोंका कल्याण हो।

राजा—क्यों क्या ये भी आपकी ही चेलियाँ हैं ?

परिव्राजिका—जी हाँ, हैं तो।

विदूषक—तब आप ही इनकी पूरी कथा सुना डालिए।

परिव्राजिका—[दुखी देखकर] तो सुनिए ! माधवसेनके मंत्री सुमति मेरे बड़े भाई थे।

राजा—अच्छा समझ गए। हाँ, तब।

परिव्राजिका—माधवसेनके पकड़े जानेपर इनके भाई आपके साथ इनका विवाह करनेके विचारसे इसे और मुझे साथ लेकर विदिशाकी ओर आते हुए एक व्यापारी दलके साथ हो लिए।

राजा—तब तब ?

परिव्राजिका—थोड़ी दूर तक खुली सड़कपर चल चुकने पर उन्हें जंगलमें होकर जाना पड़ा।

राजा—तब क्या हुआ ?

परिव्राजिका—फिर क्या ? अचानक कंधोंपर तूणीर कसे हुए, पीठपर लंबे-लंबे पंख बाँधे हुए और हाथमें धनुष-बाण लिए हुए कुछ डाकू ऐसे ललकारते हुए हमपर टूट पडे कि उनसे लड़कर जीतना बड़ा कठिन हो गया ॥१०॥

[मालविका डरनेका नाटय करती है।]

विदूषक—डरिए मत देवी ! यह तो बीती हुई बातें कह रही हैं।

राजा—तब, तब ?

परिव्राजिका—तब थोडी ही देरमें व्यापारियोंके साथ चलनेवाले सब लडाकोंको डाकुओंने मार भगाया।

राजा—हैं, हैं। क्या इससे भी बढकर दुखदायी बात आप सुनानेवाली हैं।

परिव्राजिका—तब मेरे भाई ने उस विपत्तिमें शत्रुके आक्रमणसे घबराई हुई इन मालविकाको बचानेके लिये अपने प्राण देकर अपने स्वमीका भार चुका दिया ॥११॥

पहली—अरे ! तो क्या सुमतिजी मारे गए ?

दूसरी—इसीसे हमारी राजकुमारी बेचारीकी ऐसी दुर्दशा हुई।

[परिव्राजिका रोने लगती हैं ।]

राजा—भगवती ! सभी नाशवान प्राणियोंको यह संसार इसी प्रकार छोड़ना ही पड़ता है, और फिर उन्होंने तो अपने स्वामीका अन्न सुफल कर दिया है, इसलिये उनके लिये रोना नहीं चाहिए। हाँ, फिर क्या हुआ ?

परिव्राजिका—यह देखकर मैं तो मूर्छित हो गई और जब मुझे चेतना आई तो देखती हूँ कि मालविकाका कहीं पता नहीं है।

राजा—बड़ा कष्ट आपको भोगना पड़ा।

परिव्राजिका—तब अपने भाईके शरीरका अन्तिम संस्कार करके अपने विधवापनके दुःखको फिर हटा कर मैंने आपके देशमें आकर गेरुआ रँगा लिया।

राजा—सज्जनोंको यही चाहिए भी। फिर क्या हुआ ?

परिव्राजिका—फिर वीरसेनने मालविकाको उन डाकुओंसे छीनकर इन्हें देवीके पास पहुँचा दिया। यहाँ देवीके पास आने पर ही मैंने इन्हें देखा। इतनी-सी ही मेरी कथा है।

मालविका—[मन ही मन] देखें, महाराज इसपर क्या कहते हैं ?

राजा—देखिए ! विपत्ति आनेपर कितना अनादर हो जाता है, क्योंकि जो सती कहलाने योग्य रानी थी उससे दासीका काम लिया जा रहा है। यह बात ठीक ऐसी ही हुई है जैसे कोई उनके कपड़ेसे देह पोंछनेका काम ले ॥ १२ ॥

धारिणी—भगवती ! यह बात छिपाकर आपने अच्छा नहीं किया कि मालविका इतने ऊँचे घरानेकी है।

परिव्राजिका—नहीं, ऐसा न कहिए। मैंने बहुत समझ-बूझकर ही ऐसी निठुराई की थी।

देवी—यह क्या बात थी ?

परिव्राजिका—जिन दिनों इनके पिता जीवित थे उन दिनों देव-यात्रामें एक ऐसा साधु आ गया जो आगेकी बात बताया करता था। उसने मेरे आगे ही कहा कि–इसे एक वर्षतक तो दासी होकर रहना पड़ेगा, पर उसके पीछे इसका बड़े योग्य पतिसे विवाह हो जायगा। जब मैं ने देखा कि वह भविष्यवाणी आपके चरणोंकी सेवा करते हुए पूरी हो रही है तो मैं चुप्पी लगा गई और इसीलिये मैं समझती हूँ कि मैं ने अच्छा ही किया।

राजा—यह चुप रहना अच्छा ही हुआ।

कञ्चुकी—देव! इस कथाके बीचमें एक बात कहनी छूट गई। मंत्रीजीने कहलाया है कि विदर्भके लिये जो प्रबंध करना था, वह सब कर दिया गया है, पर मैं महाराजकी इच्छा भी जान लेना चाहता हूँ।

राजा—मौद्गल्य! मैं चाहता हूँ कि यज्ञसेन और माधवसेन दोनों, वरदा नदीके उत्तर और दक्षिण दोनों तटोंपर अपने-अपने अलग-अलग राज बनाकर वैसे ही सुखसे राज करें जैसे सूर्य और चन्द्रमा रात और दिनको आपसमें बाँटकर अलग-अलग चमकते हैं॥ १३॥

कञ्चुकी—मैं आमात्यपरिषद्से यही बात कह आता हूँ देव!

[राजा उँगलीसे स्वीकृति दे देते हैं, कंचुकी चला जाता है।]

पहली—[अलग] राजकुमारी! यह बड़ी अच्छी बात हुई कि राजकुमारको महाराज आधे राजपर बैठा रहे हैं।

मालविका—अरे इतना ही बहुत समझो कि उनके प्राण बच गए।

कञ्चुकी—[आकर] देवकी जय हो। देव! अमात्यने कहलाया है कि महाराजने बहुत ठीक सोचा है और आमात्य-परिषद्की भी यही सम्मति है, क्योंकि जैसे रथमें चलनेवाले दो घोड़े सारथीके हाथमें ठीकसे चलते हैं वैसे ही महाराजकी देख-रेखमें ये दोनों भाई भी आपसका वैर छोड़कर दो भागोंमें बँटे हुए, अपने राज्यके धुरेको बड़े सुखसे चला सकेंगे॥१४॥

राजा—तो जाकर आमात्यपरिषद्से कह दो कि सेनापति वीरसेनको लिख भेजें कि वे ऐसा ही प्रबन्ध कर दें।

कञ्चुकी—जैसी देवकी आज्ञा। [बाहर जाता है और भेंटके साथ पत्र लिए हुए फिर आता है।] आपकी आज्ञा कह सुनाई। महाराजके सेनापति

पुष्यमित्रके पाससे उत्तरीय आदि भेंटकी सामग्रियोंके साथ-साथ पत्र भी आया है। इसे महाराज देखनेकी कृपा करें।

[राजा उठकर बड़े आदरके साथ भेंटकी सामग्री और पत्र लेकर अपने सेवकको दे देते हैं। वह उस पत्रको खोलनेका नाटय करता है।]

धारिणी—[मन ही मन] अरे! मेरा जी भी इसे सुननेको छटपटा रहा है। बड़ोंका कुशल-समाचार सुनकर फिर वसुमित्रका समाचार सुनूँगी। सेनापतिने मेरे बच्चेको बड़ा टेढ़ा काम काम सौंप दिया है।

राजा—[बैठकर बड़े आदरसे पत्र लेकर पढते हैं।] आपका कल्याण हो। विदिशामें आए हुए चिरंजीवी पुत्र अग्निमित्रको स्नेहसे गले भेंटकर अश्वमेध यज्ञकी दीक्षा लिए हुए सेनापति पुष्यमित्र लिख रहे हैं-हम यह बताना चाहते हैं कि अश्वमेधकी दीक्षा लेकर मैं ने एक वर्षकी अवधि बाँधकर जो खुला घोड़ा छोड़ा था और जिसकी रक्षाके लिये सैकड़ों राजकुमारोंके साथ वसुमित्रको भेजा था, वह घोड़ा जब सिंधु नदीके दक्षिण तटपर चर रहा था तो घुड़सवार सेनावालेके एक यवनने उसे पकड लिया। इसपर दोनों सेनाओंमे बड़ी घनघोर लड़ाई हुई।

[देवी दुखी होनेका नाटय करती हैं।]

राजा—अरे! क्या यहाँ तक बात बढ गई? [बचा हुआ फिर बाँचता है।] तब धनुषधारी वसुमित्रने बड़ी वीरतासे शत्रुओंको मार भगाया और छिने हुए घोड़ेको फिर लौटा लिया ॥१५॥

धारिणी—अब, मेरे जीमें जी आया।

राजा—[बचा हुआ फिर पढ़ता है।] इसलिये जैसे अंशुमान जब घोड़ा छुड़ा लाए थे तब सगरने यज्ञ किया था वैसे ही मैं भी यज्ञ कर रहा हूँ। इसलिये अब आप तत्काल शान्त चित्त होकर बहुओं को साथ लेकर यज्ञ देखनेके लिये चले आइए। बस इतना ही।

राजा—बडी कृपा हुई मुझपर।

परिव्राजिका—पुत्रकी विजयके लिये आप दोनोंको बधाई है। अब-तक आप ससारकी सब प्रशंसनीय वीर पत्नियोंकी सिरमौर थीं पर आपके पुत्रने आपके नामके साथ वीर-माताकी पदवी भी जोड़ दी है।

धारिणी—भगवती! मुझे तो यही सुख है कि मेरा बच्चा पिताके समान ही पराक्रमी निकला।

राजा—मौद्गल्य ! सचमुच इस हाथीके बच्चेने तो हाथियों के नायकका काम कर डाला।

कञ्चुकी—देव ! कुमारकी इस वीरतासे मुझे कोई बड़ा अचरज नहीं हो रहा है, क्योंकि जैसे समुद्रको जला डालनेवाले बड़वानलसे उरुजन्मा ऋषि उत्पन्न हुए हैं, वैसे ही इनका भी जन्म आपसे हुआ है जो आजतक किसीसे नहीं हारे हैं ॥१७॥

राजा—मौद्गल्य ! जाओ, यज्ञसेनके सालेको और जितने भी बन्दी हों सबको छोड़ दो।

कंचुकी—देवकी जैसी आज्ञा। [चला जाता है।]

धारिणी—जाओ, जयसेना। इरावती आदि रनिवासकी सब रानियों-से हमारे पुत्रके विजयकी बात कह तो आओ। [प्रतीहारी जाना चाहती है।]

धारिणी—और सुनो !

प्रतीहारी—[लौटकर] जी कहिए।

धारिणी—[अलग] देखो ! अशोकके फूलनेके लिये मैंने मालविकासे जो प्रतिज्ञा की थी वह बात और इसके ऊँचे घरानेकी बात कह कर मेरी ओरसे इरावतीसे विनय करना कि देखो ! अब आप कोई ऐसी बात न कर बैठें कि मुझे अपने वचनसे हटना पड़े।

प्रतीहारी—जैसी देवीकी आज्ञा। [बाहर जाकर फिर आ जाती है।] स्वामिनी ! आपके पुत्रकी विजय सुनकर मुझपर पुरस्कारोंकी इतनी बौछार हुई कि मैं रनिवासके गहनोंकी पिटारी ही बन गई हूँ।

धारिणी—इसमें अचरजकी क्या बात है, इसमें तो उनका और मेरा दोनोंका समान ही गौरव है न।

प्रतीहारी—[अलग] स्वामिनी ! इरावतीने यह भी कहलाया है कि आपने अपने गौरवके अनुकूल ही बात सोची है। जो कुछ आप कह चुकी हैं उसे पूरा कीजिए।

धारिणी—भगवती ! आर्य सुमतिने आर्य पुत्रसे मालविकाका विवाह करानेका जो पहलेसे विचार कर रक्खा था उसे मैं आपकी सम्मतिसे पूरा कर देना चाहती हूँ।

परिव्राजिका—अब भी तो आप ही इनकी सब कुछ हैं।

धारिणी—[मालविकाका हाथ पकड़कर] आर्यपुत्र ! कुमारकी विजयका प्यारा समाचार सुनानेका यह प्यारा पारितोषिक तो लीजिए।

[राजा लजा जाते हैं।]

धारिणी—[मुस्कराकर] क्या आर्यपुत्र मेरी भेंट नहीं स्वीकार करना चाहते ?

विदूषक– देवी ! यह तो लोक-व्यवहार दिखा रहे हैं। सभी नये दूल्हे ऐसे समय लजाया ही करते हैं।

[राजा विदूषककी ओर देखते हैं।]

विदूषक—जिन मालविकाको महारानीने ही इतने प्रेमसे देवी बना दिया है, उन्हें महाराज क्यों न स्वीकार कर लेंगे।

धारिणी– इन राजकुमारीके ऊँचे घरानेने ही इन्हें रानी बना दिया है। उसे दुहरानेकी क्या बात है।

परिव्राजिका—नहीं, ऐसी बात नहीं है। खानसे निकले हुए सबसे अच्छे मणिको भी सोनेमें जड़नेकी आवश्यकता तो पड़ती ही है ॥१८॥

धारिणी—[कुछ स्मरण कर] क्षमा कीजिए भगवती ! कुमारकी इस विजयके हुलासमें एक बड़ी आवश्यक बात तो मैं भूल ही गई। जयसेना ! जा, ऊनी रेशमी जोड़ा तो ले आ।

प्रतीहारी—जैसी देवीकी आज्ञा। [जाती है और वस्त्र लेकर फिर आती है] यह लीजिए देवी !

धारिणी—[मालविकाके सिरपर ओढ़ाकर] आर्यपुत्र ! अब इसे स्वीकार कीजिए।

राजा—जो कहेंगी, वह तो हम करेंगे ही। [अलग] अजी मैं तो इसे पहले ही स्वीकार कर चुका हूँ।

विदूषक—वाह ! महारानी भी कैसी अच्छी हैं।

[रानी दासियोंकी ओर देखती हैं।]

प्रतीहारी—[मालविकाके पास जाकर] स्वामिनीकी जय हो।

[महारानी परिव्राजिकाकी ओर देखती हैं]

परिव्राजिका—आपकी यह उदारता देखकर मुझे तनिक भी अचरज नहीं हुआ। क्योंकि पतिको प्यार करनेवाली स्त्रियाँ अपने लिये सौत लाकर भी पतिका मन रक्खा करती हैं। देखिए समुद्रमें जानेवाली

नदियाँ अपने साथ-साथ दूसरी नदियोंका भी पानी समुद्रमें पहुँचा देती हैं ॥ ७६ ॥

निपुणिका—[आकर] स्वामीकी जय हो। इरावतीजीने कहलाया है कि मैंने महाराजकी बात न मानकर जो अपराध किया था, वह सब रूपक मैंने जान बूझकर महाराजका काम बनानेके लिये ही रचा था। अब तो महाराजके मनकी साध पूरी हो गई है। इसलिये आशा है कि आप मुझे अवश्य क्षमा कर देंगे।

धारिणी—अरी निपुणिका! उन्होंने आर्यपुत्रकी जो सेवा की है उसका ध्यान रक्खेंगे।

निपुणिका—बड़ी कृपा है।

परिव्राजिका—देव! इस सुन्दर विवाह-संबधको सुनकर माधवसेन तो फूले न समायेंगे। इसीलिये मैं उन्हें बधाई देनेके लिये चली जाना चाहती हूँ।

धारिणी—हमें छोड़कर आपका जाना ठीक नहीं है।

राजा—भगवती! हम अपने ही पत्रमें आपकी ओरसे बधाई लिखवाकर भेजवा देंगे।

परिव्राजिका—मैं तो आप दोनोंके स्नेहमें बधी ही हुई हूँ।

धारिणी—आर्यपुत्र! क्या मैं आपकी कुछ और मन चाही बात कर सकती हूँ।

राजा—देवि! मैं तो बस इतना ही चाहता हूँ कि तुम सदा मुझ पर प्रसन्न रहो। फिर भी इतना और हो जाय कि—

[भरतवाक्य]

जबतक अग्निमित्र राज्य करें तबतक उनकी प्रजामें किसी प्रकारके उपद्रव आदि न हों ॥७८॥

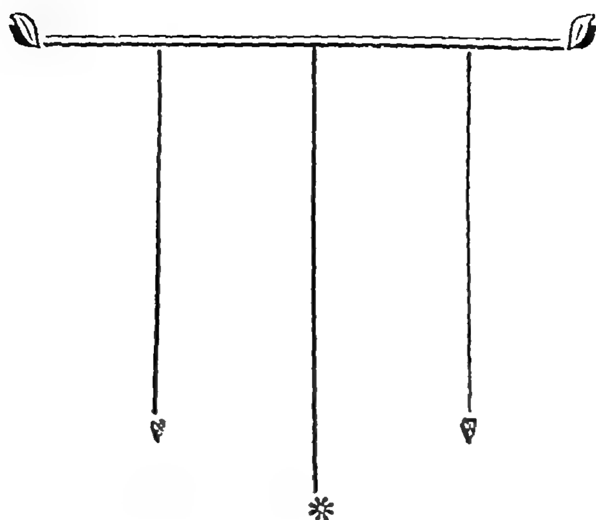
[सब चले जाते हैं।]

॥ पाँचवाँ अंक समाप्त हुआ ॥

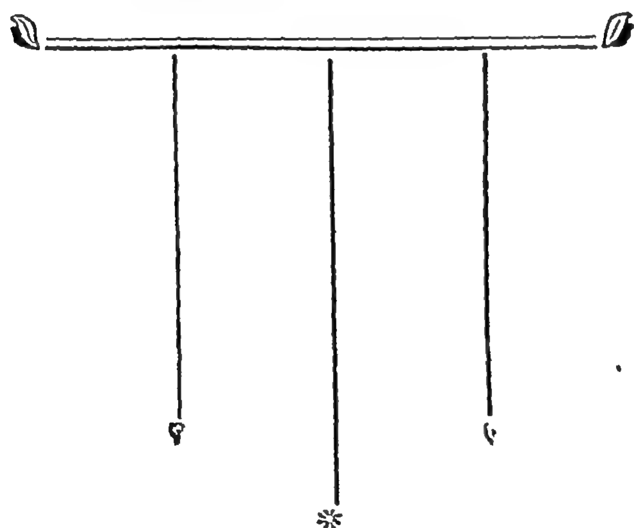
महाकवि श्रीकालिदासका रचा हुआ मालविकाग्निमित्र

नामका नाटक पूरा हुआ ॥

तीसरा खण्ड



समीक्षा-निबन्ध



नदियाँ अपने साथ-साथ दूसरी नदियोंका भी पानी समुद्रमें पहुँचा देती हैं ॥ १६ ॥

निपुणिका—[आकर] स्वामीकी जय हो। इरावतीजीने कहलाया है कि मैंने महाराजकी बात न मानकर जो अपराध किया था, वह सब रूपक मैंने जान बूझकर महाराजका काम बनानेके लिये ही रचा था। अब तो महाराजके मनकी साध पूरी हो गई है। इसलिये आशा है कि आप मुझे अवश्य क्षमा कर देंगे।

धारिणी—अरी निपुणिका! उन्होंने आर्यपुत्रकी जो सेवा की है उसका ध्यान रक्खेंगे।

निपुणिका—बड़ी कृपा है।

परिव्राजिका—देव! इस सुन्दर विवाह-संबधको सुनकर माधवसेन तो फूले न समायेंगे। इसीलिये मैं उन्हें बधाई देनेके लिये चली जाना चाहती हूँ।

धारिणी—हमें छोडकर आपका जाना ठीक नहीं है।

राजा—भगवती! हम अपने ही पत्रमें आपकी ओरसे बधाई लिखवाकर भेजवा देंगे।

परिव्राजिका—मैं तो आप दोनोंके स्नेहमें बधी ही हुई हूँ।

धारिणी—आर्यपुत्र! क्या मैं आपकी कुछ और मन चाही बात कर सकती हूँ।

राजा—देवि! मैं तो बस इतना ही चाहता हूँ कि तुम सदा मुझ पर प्रसन्न रहो। फिर भी इतना और हो जाय कि—

[भरतवाक्य]

जबतक अग्निमित्र राज्य करें तबतक उनकी प्रजामें किसी प्रकारके उपद्रव आदि न हों ॥२०॥

[सब चले जाते हैं।]

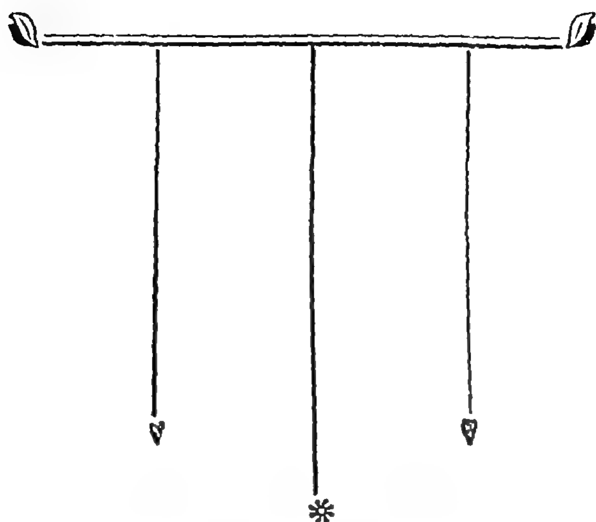
॥ पाँचवाँ अंक समाप्त हुआ ॥

महाकवि श्रीकालिदासका रचा हुआ मालविकाग्निमित्र

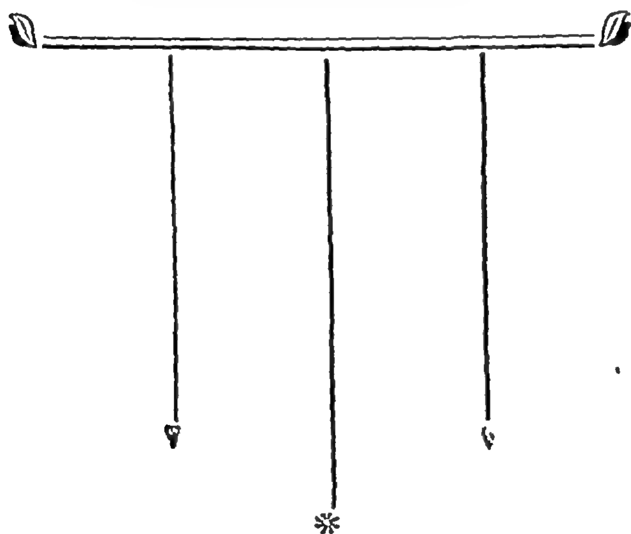
नामका नाटक पूरा हुआ ॥

—*—

तीसरा खण्ड



समीक्षा-निबन्ध



विक्रमादित्य

[डा० राजबली पाण्डेय, एम्० ए०, डी०, लिट्०]

जनश्रुति

मर्यादापुरुषोत्तम राम और कृष्णके पश्चात् भारतीय जनताने जिस शासकको अपने हृदय-सिंहासनपर आरूढ़ किया है वे विक्रमादित्य हैं। उनके आदर्श न्याय और लोकाराधनकी कहानियाँ भारतवर्षमें सर्वत्र प्रचलित हैं और आबालवृद्ध सभी उनके नाम और यशसे परिचित हैं। उनके सम्बन्धमें यह प्रसिद्ध जन-श्रुति है कि वे उज्जयिनीनाथ गन्धर्वसेनके पुत्र थे। उन्होंने शकोंको परास्त करके अपनी विजयके उपलक्ष्यमें संवत्का प्रवर्तन किया था। वे स्वयं काव्यमर्मज्ञ तथा कालिदासादि कवियोंके आश्रयदाता थे। भारतीय ज्यौतिपगणनासे भी इस बातकी पुष्टि होती है कि ईसासे ५७ वर्ष पूर्व विक्रमादित्यने विक्रम-संवत्का प्रचार किया था।

अनुश्रुति

भारतीय साहित्यमें अंकित अनुश्रुतिने भी उपर्युक्त जनश्रुतिको किसी न किसी रूपमें स्वीकार किया है। इनमेंसे कुछका उल्लेख नीचे किया जाता है —

(१) अनुश्रुतिके अनुसार विक्रमादित्यका प्रथम उल्लेख गाथा-सप्तशतीमें इस प्रकार मिलता है—

संवाहण सुहरस तोसिएण दन्तेणतुहकरे लक्खम् ।
चलणेण विक्कमाइत्तचरिअं अणुसिक्खिअं तिस्सा ॥ ५।६४

इसकी टीका करते हुए गदाधर लिखते हैं—"पद्दे संवाहणं संवाधनम् । लक्खवं लक्षम् । विक्रमादित्योऽपि भृत्यकर्तृकेन शत्रुसंवाधनेन तुष्टः सन् भृत्यस्य करे लक्षम् ददातीत्यर्थः ।" इससे यह प्रकट होता है कि गाथाके रचना-कालमें यह बात प्रसिद्ध थी कि विक्रमादित्य नामक एक प्रतापी तथा उदार शासक थे जिन्होंने शत्रुओंपर विजय पानेके उपलक्ष्यमें भृत्योंको लाखोंका उपहार दिया था। गाथा-सप्तशतीका रचयिता सातवाहन राजा हाल प्रथम शताब्दि ईस्वीमें हुआ था। अतः विक्रमादित्यकी ऐतिहासिकता इसके पूर्व ही सिद्ध होती है। इस ऐतिहासिक तथ्यका प्रतिपादन महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्रीने भली भाँति किया था। (एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द १२, पृ० ३२०)। इसके विरुद्ध डा० देवदत्त रामकृष्ण भांडारकरने गाथा-सप्तशतीमें आए हुए ज्यौतिपके संकेतोंके आधारपर कुछ आपत्तियाँ उठाई थीं (भाण्डारकर-स्मारक ग्रंथ, पृ० १८७-१८९), किन्तु इनका निराकरण म० म० पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझाने भली भाँति कर दिया है (प्राचीन लिपिमाला, पृ० १६८)।

(२) जैन पंडित मेरुतुंगाचार्य-रचित पटावलीमें लिखा है कि नभोवाहनके पश्चात् गर्दभिल्लने उज्जयिनीमें तेरह वर्षतक राज्य किया। उसके अत्याचारके कारण कालकाचार्यने शकोंको बुलाकर उसका उन्मूलन किया। शकों ने उज्जयिनीमें चौदह वर्षतक राज्य किया। इसके पश्चात् गर्दभिल्लके पुत्र विक्रमादित्यने शकोंसे उज्जयिनी का राज्य लौटा लिया। यह घटना महावीर-निर्वाणके ४७० वें वर्ष में (५२७-४७० = ५७ ई० पू०) हुई। विक्रमादित्यने साठ वर्षतक राज्य किया। उनके पुत्र विक्रमचरित उपनाम धर्मादित्यने ४० वर्षतक शासन किया। तत्पश्चात् भैल्ल, नैल तथा माहदने क्रमशः ११, १४ तथा १० वर्ष राज्य किया। इस समय वीर-निर्वाणके ६०५ वर्ष पश्चात् (६०५–५२७ = ७८ ई० पू०) शक संवत्का प्रवर्तन हुआ।

(३) प्रवन्धकोषके अनुसार महावीर-निर्वाणके ४७० वर्ष पश्चात् (५२७-४७०=५७ ई० पू०) विक्रमादित्यने संवत्का प्रवर्तन किया।

(४) धनेश्वरसूरि-विरचित शत्रुञ्जय-माहात्म्यमें इस वातका उल्लेख है कि वीर (महावीर) संवत्के ४६६ वर्ष वीत जानेपर विक्रमादित्यका प्रादुर्भाव होगा। उनके ४७७ वर्ष पश्चात् शिलादित्य अथवा भोज शासन करेगा। इस ग्रंथकी रचना ४७७ विक्रम संवत्में हुई जब कि वलभीके राजा शिलादित्यने सुराष्ट्रसे वौद्धोंको खदेड़ कर कई तीर्थोंको उनसे लौटा लिया था। (देखिए डा० भाउदा जी, जरनल औफ बौम्बे एशियाटिक सोसाइटी, जिल्द ६, पृ० २९-३०)।

(५) सोमदेव भट्ट-विरचित कथासरित्सागर (लम्बक १८, तरंग १) में भी विक्रमादित्यकी कथा आती है। इसके अनुसार विक्रमादित्य उज्जयिनीके राजा थे। इनके पिताका नाम महेन्द्रादित्य तथा माताका नाम सौम्यदर्शना था। महेन्द्रादित्यने पुत्रकी कामनासे शिवकी आराधना की। इस समय पृथ्वी म्लेच्छाक्रान्त थी। अतः इसके त्राणके लिये देवताओं ने भी शिवसे प्रार्थना की। शिवजीने अपने गण माल्यवान्को [†] वुलाकर कहा कि पृथ्वीका उद्धार करनेके लिये तुम मनुष्यका अवतार लेकर उज्जयिनी-नाथ महेन्द्रादित्यके यहाँ पुत्र रूपसे उत्पन्न हो। पुत्र उत्पन्न होनेपर शिवके आदेशानुसार महेन्द्रादित्यने उसका नाम विक्रमादित्य तथा उपनाम (शत्रु संहारक होनेके कारण) विषमशील रक्खा। वालक विक्रमादित्य पढ़ लिखकर सव शास्त्रों में पारंगत हुए और प्राज्यविक्रम होनेपर उनका अभिषेक किया गया। वे वड़े ही प्रजावत्सल राजा हुए इनके विषयमें लिखा है—

स पिता पितृहीनानां वन्धूनाञ्च स वान्धवः।
अनाथानां च नाथः स प्रजानां कः स नाभवत् ॥१८।१।६६

अर्थात् वे पितृहीनोंका पिता, वन्धुरहितोंके वन्धु और अनाथोंके नाथ थे। प्रजाके तो वे सर्वस्व ही थे। इसके अनन्तर विक्रमादित्यकी विस्तृत विजयों और अद्भुत कृत्योंका अतिरंजित वर्णन है।

[†] कथाकी पौराणिक शैलीमें 'गण' से गण तन्त्र और 'माल्यवान्' से मालव जातिका आभास मिलता है।

कथासरित्सागर अपेक्षाकृत अर्वाचीन ग्रंथ होते हुए भी क्षेमेन्द्र-लिखित बृहत्कथामञ्जरी और अन्ततोगत्वा बृहत्कथा (गुणाढ्‌य-रचित) पर अवलंबित है। गुणाढ्य सातवाहन हालका समकालीन था जो विक्रमादित्यसे लगभग १०० वर्ष पीछे हुआ था। अतः सोमदेव-द्वारा कथित अनुश्रुति विक्रमादित्यके इतिहाससे सर्वथा अनभिज्ञ नहीं हो सकती। सोमदेवके सम्बन्धमें एक और बात ध्यान देनेकी है। वे उज्जयिनीके विक्रमादित्यके अतिरिक्त एक दूसरे विक्रमादित्यको भी जानते हैं जो पाटलिपुत्रका राजा था। विक्रमादित्य इत्यासीद्राजा पाटलिपुत्रके (लम्बक ७, तरंग ४)। इसलिये जो आधुनिक ऐतिहासिक मगधाधिप पाटलिपुत्र-नाथ गुप्त सम्राटोंको केवल उज्जयिनीनाथ विक्रमादित्यसे अभिन्न समझते हैं वे अपनी परम्परा और अनश्रुतिके साथ बलात्कार करते हैं।

(६) द्वात्रिंशत्पुत्तलिका, राजावली आदि ग्रन्थों तथा राजपूतानेमें प्रचलित (टॉडके राजस्थानमें संकलित) अनुश्रुतियों में उज्जयिनीनाथ शकारि विक्रमादित्यकी अनेक कथाएं मिलती हैं।

साधारण जनताकी जिज्ञासा इन्हीं अनुश्रुतियोंसे तृप्त हो जाती है और वह परम्परासे परिचित लोक-प्रसिद्ध विक्रमादित्यके सम्बन्धमें अधिक गवेषणा करनेकी चेष्टा नहीं करती। किन्तु आधुनिक ऐतिहासिकोंके लिये केवल अनुश्रुतिका प्रमाण पर्याप्त नहीं। वे देखना चाहते हैं कि अन्य साधनों-द्वारा ज्ञात इतिहाससे परम्परा और अनुश्रुतिकी पुष्टि होती है या नहीं। विक्रमादित्यकी ऐतिहासिकताके सम्बन्धमें वे निम्नलिखित प्रश्नोंका समाधान करना चाहते हैं—

ऐतिहासिक प्रश्न

(१) विक्रमादित्यने जिस संवत्‌का प्रवर्तन किया था उसका प्रारम्भ कबसे होता है।

(२) क्या प्रथम शताब्दि ई० पू०में कोई प्रसिद्ध राजवंश अथवा महापुरुष मालवा प्रान्तमें हुआ था या नहीं।

(३) क्या उस समय कोई ऐसी महत्त्वपूर्ण घटना हुई थी जिसके उपलक्ष्यमें संवत्‌का प्रवर्तन हो सकता था।

इन प्रश्नोंको लेकर अबतक प्रायः जो ऐतिहासिक अनुसंधान होते रहे हैं उनका सारांश संक्षेपमें इस प्रकार दिया जाता है—

(१) यद्यपि ज्योतिष गणनाके अनुसार विक्रम-संवत्का प्रारम्भ ५७ ई० पू० में होता है किन्तु ईसाकी प्रथम कई शताब्दियोंतक साहित्य तथा उत्कीर्ण लेखों में इस संवत्का कहीं प्रयोग नहीं पाया जाता। मालवा प्रान्तमें प्रथम स्थानीय संवत् मालवगण स्थिति-काल था जिसका पता मन्दसोर प्रस्तर-लेखसे लगा है—मालवानां गण-स्थित्या याते शतचतुष्टये। (फ्लीटः—गुप्त उत्कीर्ण लेख सं० १८)। यह लेख पाँचवीं शताब्दि ई० का है।

(२) प्रथम शताब्दि ई० मे किसी प्रसिद्ध राजवंश अथवा महापुरुषका मालवप्रान्तमें पता नहीं।

(३) इस कालमें कोई ऐसी क्रांतिकारी घटना मालवप्रान्तमें नहीं हुई जिसके उपलक्ष्यमें संवत्का प्रवर्तन हो सकता था।

उपर्युक्त खोजोंसे यह परिणाम निकाला गया है कि प्रथम शताब्दि ई० पू० में विक्रमादित्य नामक कोई शासक नहीं हुआ। तत्कालीन विक्रमादित्य कल्पना-प्रसूत हैं। संभवतः मालवसंवत्का प्रारम्भ ई० पू० प्रथम शताब्दिमें हुआ था। पीछेसे विक्रमादित्य उपाधिधारी किसी राजाने अपना विरुद इसके साथ जोड़ दिया। इस प्रकार संवत्के प्रवर्तक विक्रमादित्यकी ऐतिहासिकता बहुतसे विद्वानोंके मतमें असिद्ध हो जाती है। इस प्रक्रियाका फल यह हुआ कि कतिपय प्राच्यविद्या-विशारदों ने प्रथम शताब्दि ई० पू० के लगभग इतिहासमें प्रसिद्ध राजाओंको विक्रम-संवत्का प्रवर्तक सिद्ध करनेकी चेष्टा प्रारम्भ की।

आनुमानिक मत—

(१) फर्गुसनने एक विचित्र मतका प्रतिपादन किया। उनका कथन है कि जिसको ५७ ई० पू० में प्रारम्भ होनेवाला विक्रम संवत् कहते हैं, वह वास्तवमें ५४४ ई० में प्रचलित किया गया था। उज्जयिनीके राजा विक्रम हर्षने ५४४ ई० में म्लेच्छों (शकों) को कोरूरके युद्धमें हराकर विजयके उपलक्ष्यमें संवत्का प्रचार किया। इस संवत्को प्राचीन और आदरणीय बनानेके लिये इसका प्रारम्भ-

काल ६ × १०० (अथवा १० × ६०) = ६०० वर्ष पीछे फेंक दिया गया। इस प्रकार ५६ ई० पू० में प्रचलित विक्रम संवत्से इसको अभिन्न मान लिया गया है। किन्तु क्यों ६०० वर्ष ही पहले इसका प्रारम्भ ढकेल दिया गया, इसका समाधान फ़र्गुसनके पास नहीं है। इसके अतिरिक्त ५४४ ई० के पूर्व मालव-संवत् ५२६ (मंदसोर प्रस्तर-अभिलेख, फ्लीट--गुप्त उत्कीर्ण लेख सं० १८) तथा विक्रम-संवत् ४३० (कावी अभिलेख, इंडि० ऐंटि० वर्ष १८७६, पृ० १५२) के प्रयोग मिल जानेसे फर्गुसनके मतका भवन ही धराशायी हो जाता है। (फर्गुसनके मतके लिये देखिए इंडियन ऐंटिक्वेरी, वर्ष १८७६, पृ० १८२)

(२) डॉ० फ्लीटका मत था कि ५७ ई० पू० में प्रारम्भ होनेवाले विक्रम संवत्का प्रवर्तन कनिष्कके राज्यारोहण-कालसे प्रारंभ होता है (जरनल ऑफ दी रौयल एशियाटिक सोसाइटी, वर्ष १६०७, पृ० १६९) अपने मतके समर्थनमें उनका तर्क यह है कि कनिष्क भारतीय इतिहासिका एक प्रसिद्ध विजयी राजा था। उसने अन्त-र्राष्ट्रीय साम्राज्यकी स्थापना की। बौद्ध धर्मके इतिहासमें भी अशोकके पश्चात् उसका स्थान है। ऐसे प्रतापी राजाका संवत् चलाना सर्वथा स्वाभाविक था। परन्तु यह मत डौ० फ्लीटके अतिरिक्त प्रायः अन्य किसी विद्वान्को मान्य नहीं है। प्रथम तो अभी कनिष्कका समय ही अनिश्चित है। दूसरे एक विदेशी राजाके द्वारा देशके एक कोनेमें प्रवर्तित संवत् देशव्यापी नहीं हो सकता था। तीसरे यह बात प्रायः सिद्ध है कि कुषणों ने कश्मीर तथा पंजाबमें जिस संवत्का व्यवहार किया था, वह पूर्व-प्रचलित सप्तर्षि संवत् था जिसमें सहस्र तथा शतके अंक लुप्त हैं। यदि यह बात अमान्य भी समझी जाय तो भी कुषण-संवत् वंशगत था और कुषणों के पश्चात् पश्चिमोत्तर भारतमें इसका प्रचार नहीं मिलता।

(३) श्री वेलंडे गोपाल पेयरने अपनी पुस्तक 'प्राचीन भारतका तिथिक्रम' (क्रोनोलौजी ऑफ एन्शंट इण्डिया, पृष्ठ १७५) में इस मतका प्रतिपादन किया है कि विक्रम-संवत्का प्रवर्तक सुराष्ट्रका महाक्षत्रप चाष्टन था। "विक्रम-संवत् वास्तवमें मालव-संवत् है। मन्दसोर प्रस्तर-लेखमें स्पष्ट बताया गया है कि मालव जातिके संघ-

टन-कालसे इसका प्रचलन हुआ (मालवानां गणस्थित्या याते शत चतुष्टये। फ्लीट-गुप्त उत्कीर्ण लेख सं०—१८)। कुषणों-द्वारा इस संवत्का प्रवर्तन नहीं हो सकता था। एक तो कनिष्कका समय विक्रमकालीन नहीं। दूसरे यह बात सिद्ध नहीं कि उसका राज्य कभी मथुरा और बनारसके आगे भी फैला था। क्षत्रपोंके अतिरिक्त किसी अन्य दीर्घजीवी राजवंशका पता नहीं जिसका मालव प्रान्तपर आधिपत्य हो और जिसको संवत्का प्रवर्तक माना जा सके। जब हम इन सब बातोंको ध्यानमें रखते हुए रुद्रदामन्के गिरनार लेखमें पढ़ते हैं कि सब वर्णों ने अपनी रक्षाके लिये उसको अपना अधिपति चुना था (सर्व वर्णैरभिगम्य पतित्वे वृतेन—एपिग्राफिया इंडिका जिल्द ८, पृ० ४७) तब यह बात हम स्वीकार करते हैं कि मालवा और गुजरातकी सब जातियों ने उनको उसी प्रकार अपना राजा चुना था जिस प्रकार इसके पूर्व उन्हों ने रुद्रदामनके पिता जय-दामन् और उसके पितामह चाष्टनको चुना था। प्राचीन ग्रन्थ ऐतरेय ब्राह्मणमें लिखा है कि पश्चिमके सभी राजाओंका अभिषेक स्वाराज्यके लिये होता है और उनकी उपाधि स्वराट् होती है। इन स्वतन्त्र जातियों ने एकतामें शक्तिका अनुभव करते हुए तथा आवश्यकताके आगे सिर झुकाकर अपने ऊपर विजयी चाष्टनके आधिपत्यमें अपनेको एकत्र करके संघटित किया। यही महान् घटना—एक बड़े शासकके आधिपत्यमें मालव जातियोंका संघटन—५७ ई० पू० मे संवत्के प्रवर्तन से उपलक्षित हुई। तबसे यह संवत् मालवामे प्रचलित है। चाष्टन और रुद्रदामन्ने मालवके पड़ोसी प्रान्तोंपर भी शासन किया इसलिये संवत्का प्रचार विंध्यपर्वतके उत्तरके प्रदेशों में भी हो गया।

ऐयर महोदयका यह कथन स्वत सिद्ध है कि विक्रम-संवत् वास्तवमे मालव संवत् है। कनिष्कके विक्रम-संवत्के प्रवर्तक होनेके विरोधमें उनका तर्क भी युक्तिसङ्गत है। किन्तु कनिष्कसे कहीं स्वल्पशक्तिशाली प्रान्तीय विदेशी क्षत्रप, जिसके साथ राष्ट्रीय जीवनका कोई अंश संलग्न नहीं था, संवत्के प्रवर्तनमें कैसे कारण हो सकता था, यह बात समझमे नहीं आती। रुद्रदामन्के अभि-

लेखमें सब वर्णों-द्वारा राजाके चुनावका उल्लेख केवल प्रशस्ति मात्र है। प्रत्येक शासक अपने अधिकारको प्रजा-सम्मत कहनेकी नीतिका प्रयोग करता है। इसके अतिरिक्त यदि रुद्रदामन् लोकप्रिय हो भी गया हो तो उसका यह गुण दो पीढ़ी पहले चाष्टनमें, संघर्षकी नवीनता तथा तीव्रताके कारण, नहीं आ सकता था। श्री ऐयरकी यह युक्ति अत्यन्त उपहासास्पद जान पड़ती है कि मालवगणने चाष्टनके आधिपत्यमें अपना संघटन किया और उसके उपलक्ष्यमें संवत्का प्रवर्तन किया। राजनीतिका यह एक साधारण नियम है कि कोई भी विदेशी शासक विजित जातियोंको तुरन्त संघटित होनेका अवसर नहीं देता है। फिर अपने पराजयकालसे मालवोंने संवत्का प्रारम्भ किया हो, यह बात भी असाधारण जान पड़ती है।

(४) स्व० डॉ० काशीप्रसाद जायसवालने जैन अनुश्रुतिके आधारपर यह निष्कर्ष निकाला कि "जैन गाथाओं और लोकप्रिय कथाओंका विक्रमादित्य-गौतमीपुत्र शातकर्णि था। प्रथम शताब्दि ई० पू० में मालवामें मालवगण वर्तमान था, जैसा कि उसके प्राप्त सिक्कोंसे सिद्ध होता है। शातकर्णि और मालवकी संयुक्त शक्तिने शकोंको पराजित किया। इसलिए शकोंके पराजयमें मुख्य भाग लेनेवाले शतकर्णि 'विक्रमादित्य' के विरुदसे विक्रम-सम्वत्का प्रवर्तन हुआ। मालवगणने भी उसके साथ सन्धिके विशेष ठहराव (स्थिति, आम्नाय) के अनुसार अपना इस समय संघटन किया और इसी समयसे मालवगण-स्थिति काल भी प्रारम्भ हुआ। (जरनल ऑफ बिहार ऐण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, जिल्द १६, वर्ष १९३०)।

उपर्युक्त कथनमें मालव सातवाहन संघका बनाना तो स्वाभाविक जान पड़ता है (यदि इस समय साम्राज्यवादी सातवाहनोंका अस्तित्व होना संभव हो) किन्तु शातकर्णि विक्रमादित्य (?) की विजयसे मालवगण गौरवान्वित हुआ और उसके साथ संधि करके मालव संवत्का प्रवर्तन किया, यह बात पूर्ण रूपसे काल्पनिक और असंगत है। इसके साथ ही यह भी ध्यान देनेकी बात है कि गौतमीपुत्र शातकर्णिने न केवल शकोंको हराया वरन् शक, छहरात, अवन्ति, आक-

रादि अनेक प्रान्तोंपर अपना आधिपत्य स्थापित किया (नासिक उत्कीर्ण लेख, एपिग्राफ़िया इंडिका, जिल्द ८,पृ० ६०)। अतः उसकी दिग्विजयकी घटना मालवगण-स्थितिके बहुत पीछेकी जान पड़ती है। साहित्य तथा उत्कीर्ण लेख किसीसे भी इस बातका प्रमाण नहीं मिलता कि किसी सातवाहन राजाने कभी विक्रमादित्यकी उपाधि धारण की थी। सातवाहन राजाओंका तिथिक्रम अभीतक अनिश्चित है। अपने विभिन्न मतोंकी सिद्धिके लिये विद्वानोंने उसको घपलेमें डाल रखा है। किन्तु बहुसम्मत सिद्धान्त यह है कि कण्वोंके पश्चात् साम्राज्यवादी सातवाहनोंका प्रादुर्भाव प्रथम शताब्दी ई० पू० के अपरार्द्धमें हुआ। इसलिये आंध्र-वंशका तेईसवाँ राजा गौतमी-पुत्र शातकर्णि प्रथम शताब्दी ई० पू० में नहीं रखा जा सकता। सातवाहन राजाओंके लेखोंमें जो तिथियाँ दी हुई हैं वे उनके राज्य-वर्षोंकी हैं; उनमें विक्रम-संवत् या अन्य किसी क्रमबद्ध संवत्का उल्लेख नहीं है। श्रीजायसवालके इस मतके सम्बन्धमें सबसे अधिक निर्णायक गाथासप्तशतीका प्रमाण है। आन्ध्र-वंशके सत्रहवें राजा हालके समयमें लिखित यह ग्रंथ विक्रमादित्यके अस्तित्व और यशसे परिचित है, अतः इस वंशका तेईसवाँ राजा गौतमी-पुत्र शातकर्णि तो किसी अवस्थामें भी विक्रमादित्य नहीं हो सकता।

सीधा ऐतिहासिक प्रयत्न

इस प्रकार विक्रमादित्यके अनुसन्धानमें प्राच्य-विद्या-विशारदोंने अपनी उर्वर कल्पना-शक्तिका परिचय दिया है। किंतु इस प्रकारके प्रयत्नसे विक्रमादित्यकी ऐतिहासिकताकी समस्या हल नहीं होती। यदि परम्पराके समुचित आदरके साथ सीधी ऐतिहासिक खोज की जाय तो संवत्-प्रवर्तक विक्रमादित्यका पता सरलतासे लग सकता है। वास्तविक विक्रमादित्यके लिये निम्नलिखित बातोंको पूरा करना आवश्यक है :—

(१) मालव प्रदेश और उज्जयिनी राजधानी।

(२) शकारि होना।

(३) ५७ ई० पू० में संवत्का प्रवर्तक होना और

(४) कालिदासका आश्रयदाता होना।

अनुशीलन

(१) यह बात अब ऐतिहासिक खोजों से सिद्ध हो गई है कि प्रारम्भमें मालवप्रदेशमें प्रचलित होनेवाला संवत् मालवगणका संवत् था। सिकंदरके भारतीय आक्रमणके समय मालव जाति पंजाबमें रहती थी। मालव-क्षुद्रक-गणसंघने सिकंदरका विरोध किया था, किन्तु पारस्परिक फूटके कारण मालवगण अकेला लड़कर यूनानियों-से हार गया। इसके पश्चात् मौर्योंके कठोर नियंत्रणसे मालवजाति निष्प्रभ-सी हो गई। मौर्य-साम्राज्यके अंतिम कालमें जब पश्चिमोत्तर भारतपर बाख्त्रियों के आक्रमण प्रारम्भ हुए तब उत्तरापथकी माल-वादि कई गणजातियाँ वहाँसे पूर्वी राजपूताना होते हुए मध्यभारत पहुँचीं और वहाँपर उन्होंने अपने नये उपनिवेश स्थापित किए। समुद्रगुप्तके प्रयाग-प्रशस्ति-लेखसे सिद्ध है कि चौथी शताब्दी ई० पू० के पूर्वार्द्धमें उसके साम्राज्यकी दक्षिण-पश्चिम सीमापर कई गण-राष्ट्र वर्तमान थे। किंतु इसके पहले प्रथम-द्वितीय शताब्दी ई० पू० में मालवजाति आकर अवन्ति (मालव प्रान्त) में पहुँच गई थी, यह बात मुद्रा-शास्त्रसे प्रमाणित है। यहाँपर एक प्रकारके सिक्के मिले हैं जिनपर ब्राह्मी अक्षरोंमें 'मालवानां जयः' लिखा है (इंडियन म्यूजियम क्वायन्स जिल्द १, पृ० १६२ ; कनिंगहैम—आर्किलौजिकल सर्वे रिपोर्ट, जिल्द ६, पृ० १६५–७४)।

(२) ई० पू० प्रथम शताब्दीके मध्यमें मगध-साम्राज्यका भग्ना-वशेष काण्वोंकी क्षीण शक्तिके रूपमें पूर्वी भारतमें बचा हुआ था। बाख्त्रियों के पश्चात् पश्चिमोत्तर भारतपर शकों के आक्रमण होने लगे। शक जातिने सिन्ध प्रान्तके मार्गसे भारतवर्षमें प्रवेश किया। यहाँसे उसकी एक शाखा सुराष्ट्र होते हुए अवन्ति-आकरकी ओर बढ़ने लगी। इस बढ़ावमें मध्यभारतके गणराष्ट्रों से शकोंका संघर्ष होना सर्वथा स्वाभाविक था। बाहरी आक्रमणके समय गणजातियाँ संघ बनाकर लड़ती थीं। इस संघका नेतृत्व मालवगणने किया और शकोंको पीछे ढकेलकर सिन्ध-प्रान्तके छोरतक पहुँचा दिया। कालका-चार्य-कथामें शकोंको निमन्त्रण देना, अवन्तिके ऊपर उनका अस्थायी आधिपत्य और अन्तमें विक्रमादित्यके द्वारा उनका

निर्वासन—इन सभी घटनाओंका मेल इतिहासकी उपर्युक्त धारासे बैठ जाता है।

(३) शकोंको पराजित करनेके कारण मालवगण-मुख्यका शकारि एक विरुद हो गया। यद्यपि इस घटनासे शकोंका आतंक सदाके लिये दूर नहीं हुआ, तथापि यह एक क्रान्तिकारी घटना थी और इसके फलस्वरूप लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक भारतवर्ष शकों के आधिपत्यसे सुरक्षित रहा। इसलिये इस विजयके उपलक्ष्यमें संवत्-का प्रवर्तन हुआ और मालवगणके दृढ़ होनेसे इसका गण-नाम मालवगण स्थिति या मालवगण-काल पड़ा।

(४) अब यह विचार करना है कि मालवगण मुख्य कालिदासके आश्रयदाता हो सकते हैं या नहीं? अभिज्ञान-शाकुन्तलकी कतिपय प्राचीन प्रतियों में नान्दीके अन्तमें लिखा मिलता है कि इस नाटकका अभिनय विक्रमादित्यकी परिषद्में हुआ था। "सूत्रधार—आर्ये इयं हि रसभावविशेषदीक्षागुरोर्विक्रमादित्यस्याभिरूपभूयिष्ठा परिषत्। अस्याञ्च कालिदासग्रथितवस्तुना नवेनाभिज्ञानशाकुन्तलनामधेयेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभि·। तत् प्रतिपात्रमाधीयतां यत्न। नान्द्यते।" (जीवानन्द विद्यासागर संस्करण, कलकत्ता, १६१४ ई०)। प्रायः अभीतक विक्रमादित्य एकतांत्रिक राजा ही समझे जाते रहे हैं। किन्तु काशी-विश्वविद्यालयमें हिन्दी विभागके अध्यक्ष पं० केशवप्रसाद मिश्रके पास सुरक्षित अभिज्ञान-शाकुन्तलकी एक हस्तलिखित प्रति (प्रतिलेखन काल—अगहन सुदी ५, संवत् १६६६ वि०) ने विक्रमादित्यका गणसे सम्बन्ध व्यक्त कर दिया है। इसके निम्नांकित अवतरण ध्यान देने योग्य हैं—

(अ) आर्ये रसभावविशेषदीक्षागुरोः विक्रमादित्यस्य साहसाङ्कस्याभिरूपभूयिष्ठेयं परिषत्। अस्याञ्च कालिदासप्रयुक्तेनाभिज्ञानशाकुन्तलनवेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्याभिः (नान्द्यन्ते)।

(आ) भवतु तव विडौजा· प्राज्यवृष्टि प्रजासु
त्वमपि विततयज्ञो वज्रिणं भावयेथा।
गणशतपरिवर्तै रेवमन्योन्यकृत्यै-
र्नियतमुभयलोकानुग्रहश्लाघनीयै· ॥ (भरतवाक्य)

उपर्युक्त अवतरणोंमें रेखांकित पदोंसे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि जिन विक्रमादित्यका यहाँ निर्देश है उनका व्यक्तिवाचक नाम विक्रमादित्य और उपाधि साहसाङ्क है। भरतवाक्यका 'गण' शब्द राजनीतिक अर्थमें 'गणराष्ट्र'का द्योतक है। 'शत' संख्या गोल और अतिरंजित है तथा 'गणशत'का अर्थ कई गणोंका गण-संघ है। 'गण' शब्दके इस अर्थकी संगति अवतरण (अ) के रेखांकित पदसे बैठती है। वहाँ विक्रमादित्यके साथ कोई प्रजतांत्रिक उपाधि नहीं लगी हुई है। यदि यह अवतरण छन्दोबद्ध होता तो कहा जा सकता था कि छन्दकी आवश्यकतावश उपाधियोंका प्रयोग नहीं किया गया है, किन्तु गद्यमें इनका अभाव कुछ विशेष अर्थ रखता है। निश्चय ही विक्रमादित्य सम्राट् या राजा नहीं थे अपितु गण-मुख्य थे। कौटिल्यके अर्थशास्त्रके अनुसार गण-राष्ट्र कई प्रकारके थे—कुछ वार्ताशास्त्रोपजीवी, कुछ आयुधजीवो और कुछ राजशब्दोपजीवी। ऐसा जान पड़ता है कि मालवगण वार्ताशास्त्रोपजीवी था। इसीलिये विक्रमादित्यके साथ राजा या अन्य किसी राजनीतिक उपाधिका व्यवहार नहीं हुआ है।

इन अवतरणोंके सहारे यही निष्कर्ष निकलता है कि विक्रमादित्य मालवगण-मुख्य थे। उन्होंने शकोंको उनके प्रथम बढ़ावमें पराजित करके इस क्रांतिकारी घटनाके उपलक्ष्यमें मालवगणस्थिति नामक संवत्का प्रवर्तन किया जो आगे चलकर विक्रम-संवत्के नामसे प्रसिद्ध हुआ। विक्रमादित्य स्वयं काव्यमर्मज्ञ तथा कालिदासादि कवियों और कलाकारोंके आश्रयदाता थे।

अब प्रश्न यह हो सकता है कि मालवगणस्थिति अथवा मालव-संवत्का विक्रम-संवत् नाम कैसे पड़ा। इसका समाधान यह है कि संवत्का नाम प्रारम्भमें गणपरक होना स्वाभाविक था, क्योंकि लोकतंत्र राष्ट्रमें गणकी प्रधानता होती है, व्यक्तिकी नहीं। पाँचवीं शताब्दी ई० के पूर्वार्द्धमें चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्यने भारतवर्षमें अन्तिम बार गणराष्ट्रोंका संहार किया। तबसे गणराष्ट्र भारतीय प्रजाके मानसिक क्षितिजसे ओझल होने लगे और आठवीं नवीं शताब्दी ई० तक, जब कि सारे देशमें निरंकुश एकतंत्रकी स्थापना हो

चुकी थी, गणराष्ट्रकी कल्पना भी विलीन हो गई। अतः मालवगणका स्थान उसके प्रमुख व्यक्तिविशेष विक्रमादित्यने ले लिया और संवत्‌के साथ उनका नाम जुट गया। साथ ही साथ मालवगण-मुख्य विक्रमादित्य, राजा विक्रमादित्य हो गए। राजनीतिक कल्पनाकी दुर्वलताका यह एक एकाकी उदाहरण नहीं है। आधुनिक ऐतिहासिक खोजोंसे अनभिज्ञ भारतीय प्रजामें आज कौन जानता है कि भगवान् श्रीकृष्ण और महात्मा बुद्धके पिता गणमुख्य थे। अर्वाचीन साहित्य तकमें वे राजा करके ही माने जाते हैं। यह भी हो सकता है कि राजशब्दोपजीवी गणमुख्योंकी 'राजा' उपाधि राजनीतिक भ्रमके युगमें विक्रमादित्यको राजा वनानेमें सहायक हुई हो।

प्रथम शताब्दी ई०पू० में विक्रमादित्यकी ऐतिहासिकता प्रमाणित करनेके साथ यह भी आवश्यक जान पड़ता है कि उन स्थापनाओंका संक्षेपमें विवेचन किया जाय जिनके आधारपर कालिदासके साथ विक्रमादित्यको भी प्रायः गुप्त-कालमें घसीटा जाता है और 'विक्रमादित्य'-उपाधिधारी गुप्त-सम्राटोंमें किसी एकसे संवद्ध सिद्ध करनेका प्रयत्न किया जाता है। वे स्थापनाएँ निम्नलिखित विवेचनोंपर अवलम्बित हैं:—

(१) कुछ ऐतिहासिकोंकी धारणा है कि तथाकथित वौद्ध-कालमें वैदिक (हिन्दू) धर्म और संस्कृत-साहित्य संकटापन्न हो गए थे। अतः ईसाके एक दो शताब्दी आगे-पीछे संस्कृत-काव्यका विकास नहीं हो सकता था। गुप्तों के आगमनके पीछे हिन्दू-धर्मके पुनरुत्थानके साथ संस्कृत-साहित्यका भी पुनरुत्थान हुआ। तभी संस्कृत-साहित्यमें कालिदास जैसे कुशल तथा परिष्कृत काव्यकारका होना सम्भव था। 'पुनरुत्थान' मतके मुख्य प्रवर्तक मैक्समूलर थे। पीछेकी ऐतिहासिक खोजों से यह मत असिद्ध हो गया है (विस्तृत विवेचनके लिये देखिए डॉ० जी० व्यूलर, इंडियन एँटिक्वेरी, वर्ष १९१३)। 'वौद्धकाल'में न तो वैदिक धर्म लुप्त हुआ था और न संस्कृत साहित्य ही। गुप्तकालके पहले ईसाकी दूसरी शताब्दीमें सुराष्ट्रके महाक्षत्रप रुद्रदामन्‌के गिरनार अभिलेखमें गद्य-काव्यका वड़ा ही सुन्दर उदाहरण मिलता है (·· पर्जन्येनैकार्णवभूतायामिव पृथिव्यां

कृतायां ' ' 'युगनिधनसदृशपरमघोरवेगेन वायुना प्रमथित सलिल-विक्षिप्तजर्जरीकृताव''''''। एपिग्राफ़िया इंडिका, जिल्द ८, पृ० ४७)। राजकीय व्यवहारका यह गद्यकाव्य अवश्य ही उस युगमें वर्तमान पद्य-काव्यके अनुकरणपर लिखा गया होगा। ई० पू० शुंग कालमें रचित पातञ्जल महाभाष्यमें उद्धृत उदाहरणों में काव्योंकी शैली और छन्द पाए जाते हैं। (कीलहौर्न : महाभाष्यका संस्करण)। इसके अतिरिक्त रामायण तथा महाभारत जैसे महाकाव्योंके अधिकांश भाग ई० पू० में लिखे गए थे। मनु तथा याज्ञवल्क्य स्मृतियाँ ईसाकी पार्श्ववर्ती शताब्दियों में लिखी गई थीं। काव्यकी उपर्युक्त धाराके प्रकाशमें प्रथम शताब्दी ई० पू० में कालिदासके नाटकों और काव्योंकी रचना पूर्णतः असम्भव नहीं जान पड़ती।

(२) कालिदासके काव्यों और बौद्ध पण्डित अश्वघोषके बुद्ध-चरित नामक काव्यमें अत्यधिक साम्य है। कथानककी सृष्टि और विकास, वर्णन-शैली, अलंकारोंका प्रयोग, छन्दोंका चुनाव, शब्द-विन्यासादिमें दोनों कलाकारों मेंसे एक दूसरेसे अत्यन्त प्रभावित हैं। इसका एक उदाहरण नीचे दिया जाता है—

रघुवंश	बुद्धचरित
ततस्तदालोकन तत्पराणां	ततः कुमारः खलु गच्छतीति
सौधेषु चामीकरजालवत्सु।	श्रुत्वा स्त्रियः प्रेष्य जनात्प्रवृत्तिम्।
बभूवुरित्थं पुरसुन्दरीणां	दिदृक्षया हर्म्यतलानि जग्मुः
त्यक्तान्यकार्याणि विचेष्टितानि ७।५॥	जनेन मान्येन कृताभ्यनुज्ञा ॥३।१३

यह तो प्रायः सभी विद्वान् मानते है कि कालिदासकी रचना दोनों में श्रेष्ठ है। परन्तु उनमेंसे कतिपय यह भी मान लेते हैं कि संस्कृत काव्यके विकासमें अश्वघोष पहले हुए। कालिदासने उनका अनुकरणकर अपनी शैलीका विकास और परिमार्जन किया। अश्व-घोष कुषण सम्राट् कनिष्कके समकालीन थे, जिनका समय प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी ई० है। इसलिये कालिदासका काल तीसरी शताब्दीके पश्चात् संभवतः गुप्तकालमें होना चाहिए (इ० बी० कौवेल्—अश्वघोषका बुद्धचरित, भूमिका)। विचार करनेपर यह युक्ति-परम्परा सर्वथा असंगत जान पड़ती है। यह बात विदित

है कि प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य पाली प्राकृतमें लिखा गया था। पीछे संस्कृत साहित्यके प्रभाव और उपयोगिताको स्वीकारकर बौद्ध लेखकों ने संस्कृतको अपने साहित्य और दर्शनका माध्यम बनाया। इसलिये संस्कृतकी काव्यशैलीके प्रचलित और परिष्कृत हो जानेपर उन्होंने उसका अनुसरण किया। अतः स्पष्ट है कि अश्वघोषने कालिदासकी शैलीका अनुसरण किया। यदि उनकी कला अपेक्षाकृत हीन है तो यह अनुकरणका दोष है। प्राय अनुकरण करनेवाले अपने आदर्शकी समता नहीं कर पाते।

(३) कालिदासको पाँचवीं या छठी शताब्दी ई०में खींच लानेमें एक प्रमाण यह भी दिया जाता है कि उनके ग्रन्थों में यवन, शक, पह्लव, हूणादि जातियों के नाम आते हैं। हूणों ने ५०० ई० में भारतवर्षपर आक्रमण प्रारम्भ किया। अतः इसका उल्लेख करनेवाले कालिदासका समय इसके पश्चात् होना चाहिए (लिटररी रिमेन्स ऑफ़ डॉ० भाऊदाजी, पृ० ४९)। परन्तु ध्यान देनेकी बात तो यह है कि रघुवंशमें हूणों अथवा अन्य जातियोंका वर्णन विदेशी विजेताके रूपमें नहीं आता। रघुने अपनी दिग्विजयमें उनको भारतकी सीमाके बाहर पराजित किया था, अत कालिदासके समयमें हूणोंको भारतकी पश्चिमोत्तर सीमाके पास कहीं रहना चाहिए। चीन तथा मध्य एशियाके इतिहाससे प्रमाणित हो गया है कि ई० पू० पहली तथा दूसरी शताब्दीमें हूण पामीरके पूर्वोत्तरमें आ चुके थे। गुल्ट्ज़-लैफ—चीनका इतिहास, जिल्द १, पृ० २२०)।

(४) ज्यौतिषके बहुतसे संकेत कालिदासके ग्रन्थों में आए हैं। कई एक विद्वानोंका यह मत है कि कुषण-कालके पश्चात् भारतीयों ने ज्यौतिषके बहुतसे सिद्धान्त यूनान और रोमसे सीखे थे। इसलिये कालिदासका समय इसके बहुत पीछे होना चाहिए। परन्तु इस बातको माननेवाले इस सत्यको भूल जाते हैं कि स्वयं यूनानियों ने कई शताब्दी ई० पू० में बेबिलोनियाके लोगों से ज्यौतिषशास्त्र सीखा था (मैक्समूलर—इण्डिया, ह्वाट कैन इट टीच अस, पृ० ३६१)। चौथी-पाँचवीं शताब्दी ई० पू०में पारसीक सम्पर्कमें भारतवर्ष भली-भाँति आ गया था, अत वह बेबिलोनिया और चाल्डियाका ज्यौतिष

सीधे सरलतासे सीख सकता था (प्रो० एस० वी० दीक्षित :-भारतीय ज्यौतिषका प्राचीन इतिहास, पृ० १५७)। ईसासे बहुत पहले रचित रामायणमें ज्यौतिषके सिद्धान्तोंका अधिक प्रयोग किया गया है—

नक्षत्रेऽदिति दैवत्ये स्वोच्चसंस्थेषु पंचसु।
ग्रहेषु कर्कटे लग्ने वाक्पता विंदुना सह॥

(बा० का०, सर्ग १८, श्लो० ६)

पुष्ये जातस्तु भरतो मीनलग्ने प्रसन्नधीः।
सार्पे जातौ तु सौमित्री कुलीरेऽभ्युदिते रवौ॥

(बा० का०, सर्ग १८, श्लो० १५)

उदिते विमले सूर्ये पुष्ये चाभ्यागतेऽहनि।
लग्ने कर्कटके प्राप्ते जन्म रामस्य च स्थिते॥ आदि।

(अयो०, सर्ग १५, श्लो० ३)

(५) वराहमिहिरकी तथाकथित समकालीनतासे भी कालिदासका समय पाँचवी शताब्दी ई०में निश्चित किया जाता है। ज्योतिर्विदाभरणमें निम्नलिखित उल्लेख है—

धन्वन्तरिः क्षपणकामरसिंहशंकुवेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेःसभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य॥

इस अवतरणके संबंधमें प्रथम तो यह कहना है कि जिस ग्रन्थमें इसका उल्लेख है वह कालिदासकी रचना नहीं है। दूसरे एक दोको छोड़कर यहाँ जितने रत्न विक्रम-सभामें एकत्र किए गए हैं वे समकालीन नहीं। तीसरे यह अनुश्रुति पीछेकी और केवल एक ही है; अन्यत्र कहीं भी इसकी चर्चा नहीं। अतः वराहमिहिरकी कालिदाससे समकालीनता उसी प्रकार कल्पनाजन्य जान पड़ती है जिस प्रकार कालिदास और भवभूतिके एक सभामें एकत्र होनेकी किंवदन्ती।

इस प्रकार कालिदासको गुप्तकालीन और इस कारणसे विक्रमादित्यको गुप्त-सम्राट् सिद्ध करनेकी युक्तियाँ तर्कसिद्ध नहीं जान पड़ती हैं। विक्रमादित्यके गुप्त-सम्राट् होनेके विरुद्ध निम्नलिखित कठोर आपत्तियाँ हैं—

(१) गुप्त-सम्राटोंका अपना वंशगत संवत् है। उनके किसी भी उत्कीर्ण लेखमें मालव अथवा विक्रम-संवत्का उल्लेख नहीं है। जब उन्होंने ही विक्रम-संवत्का प्रयोग नहीं किया तो पीछेसे उनके गौरवास्तके पश्चात् जनताने उनका सम्बन्ध विक्रम संवत्से जोड़ दिया हो, यह बात समझमें नहीं आती।

(२) गुप्त-सम्राट् पाटलिपुत्र-नाथ थे, किन्तु अनुश्रुतियोंके विक्रमादित्य उज्जयिनी-नाथ थे। यद्यपि उज्जयिनी गुप्तोंकी प्रान्तीय राजधानी थी, किन्तु वे प्रधानतः पाटलिपुत्राधीश्वर और मगधाधिप थे। मुगल सम्राट् दिल्लीके अतिरिक्त आगरा, लाहौर और श्रीनगर में भी रहते थे। फिर भी वे दिल्लीश्वर ही कहलाते थे। इसके अतिरिक्त सोमदेवभट्टने अपने कथासरित्सागरमें स्पष्टतः दो विक्रमादित्योंका उल्लेख किया है—एक उज्जयिनीके विक्रम तथा दूसरे पाटलिपुत्रके। उनके मनमें इस सम्बन्धमें कोई भ्रम नहीं था।

(३) उज्जयिनीके विक्रमका नाम विक्रमादित्य था, उपाधि नहीं। कथासरित्सागरमें लिखा है कि उनके पिताने जन्म-दिनको ही उनका नाम शिवजीके आदेशानुसार विक्रमादित्य रखा, अभिषेकके समय यह नाम अथवा विरुदके रूपमें पीछे नहीं रक्खा गया। इसके विरुद्ध किसी गुप्त-सम्राट्का नाम विक्रमादित्य नहीं था। द्वितीय चन्द्रगुप्त तथा स्कन्दगुप्तके विरुद क्रमश विक्रमादित्य और क्रमादित्य (कहीं-कहीं विक्रमादित्य भी) थे। समुद्रगुप्तने तो यह उपाधि कभी धारण ही नहीं की। कुमारगुप्तकी उपाधि महेन्द्रादित्य थी, नाम नहीं। उपाधि प्रचलित होनेके लिये यह आवश्यक है कि उसके नामका कोई लोक-प्रसिद्ध व्यक्ति हुआ हो जिसके अनुकरणपर पीछेके महत्वाकांक्षी लोग उस नामकी उपाधि धारण करें। रोममें सीज़र उपाधिधारी राजाओंके पहले सीजर नामक सम्राट् हुआ था। इसी प्रकार विक्रम उपाधिधारी गुप्त नरेशोंके पूर्व विक्रमादित्य नामधारी शासक अवश्य ही हुआ होगा और यह महापराक्रमी मालवगण-मुख्य विक्रमादित्य साहसाङ्क ही था।



कालिदासका सन्देश

[श्रीयुत पण्डित बलदेव उपाध्याय, एम्० ए०, साहित्याचार्य]

अस्पृष्टदोषा नलिनीव दृष्टा
हारावलीव ग्रथिता गुणौघैः ।
प्रियाङ्कपालीव विमर्दहृद्या
न कालिदासादपरस्य वाणी ॥
—श्रीकृष्ण कवि ।

महाकवि कालिदास हमारे राष्ट्रीय कवि थे। वे भारतीय सभ्यता तथा संस्कृतिके प्रतीक थे। इस विशाल तथा विराट् देशकी संस्कृति कालिदासकी वाणीमें बोलती है तथा उनके नाटकोंमें अपना मनोहर भव्य रूप दिखलाकर मानवमात्रका मनोरञ्जन करती है। अँगरेजोंके प्रथम समागमके समय आजसे लगभग दो सौ वर्ष पहले यह भारतवर्ष संसारकी दृष्टिमें संस्कृतिविहीन अन्धकारपूर्ण देश समझा जाता था, परन्तु कालिदासके 'अभिज्ञानशाकुन्तल'ने ही भारतके प्रति विश्वका आदर जगानेका श्लाघनीय कार्य किया। आजसे ठीक १५५ वर्ष पहले सर विलियम जोन्सने शाकुन्तलका अनुवाद अँगरेजी भाषामें किया तथा इसी अनुवादका जर्मन भाषामें अनुवाद जॉर्ज

फौरेस्टरने दो साल पीछे सन् १७९१ में किया। इसी अनुवादको पढ़कर जर्मनीके सर्वश्रेष्ठ महाकवि गेटेने अपना जो हृदयोद्गार प्रकट किया था वह साहित्यके प्रेमियों से छिपा हुआ नहीं है। केवल संस्कृतके ज्ञाता पण्डितजन इस संकृतानुवादको पढ़कर उस विदेशी कविके अभिप्रायको भली भाँति समझ सकते हैं—

वासन्तं कुसुमं फलं च युगपद् ग्रीष्मस्य सर्वं च यत्
यच्चान्यन्मनसो रसायनमतः सन्तर्पणं मोहनम्।
एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्लोकभूलोकयो—
रैश्वर्यं यदि वाञ्छसि प्रियसखे! शाकुन्तलं सेव्यताम्॥

इस अनुवादने हमारा बड़ा उपकार किया। पाश्चात्य जगत्ने भली भाँति समझा कि भारतीयोंकी संस्कृति बड़ी ऊँची है तथा हृदयके कोमल भावों को प्रकट करनेकी निपुणता उसके कवियों में विशेष है। इस प्रकार कालिदासका ऋण हमारे ऊपर बहुत ही अधिक है।

हमारी राष्ट्रीय भावनामें और विश्व-कल्याणकी भावनामें किसी प्रकारका विरोध नहीं है। भारतीय कवि राष्ट्रका मङ्गल चाहता है और उसके साथ ही साथ वह संसारकी मङ्गल-कामना भी किया करता है। कालिदासके काव्यों में इस सामञ्जस्यका मनोरम रूप दृष्टिगत होता है। इस महाकविकी वाणीमें जिस प्रकार आदि कवि वाल्मीकिकी रसमयी धारा प्रवाहित होती है उसी प्रकार गीता तथा उपनिषदों का अध्यात्म-ज्ञान भी मञ्जुल रूपमें अपनी अभिव्यक्ति पा रहा है। भारतीय ऋषियों के द्वारा प्रचारित चिरन्तन तथ्योंको मनोभिराम शब्दों में भारतीय जनताके हृदयमें उतारनेका काम कालिदासकी कविताने सुचारु रूपसे किया है। इस कविताका प्रणयन मानव हृदयकी शाश्वत प्रवृत्तियों तथा भावोंका आलम्बन लेकर किया गया है। यही कारण है कि इसके भीतर ऐसी उद्दीप्त उदात्त भावना विद्यमान है जो भारतीयोंको ही नहीं, प्रत्युत मानव-मात्रको सदा प्रेरणा तथा स्फूर्ति देती रहेगी। इस भारतीय कविकी वाणीमें इतना रस भरा हुआ है, इतना ओज भरा हुआ है कि दो सहस्र वर्षों के दीर्घ कालने भी उसमें किसी प्रकारका फीकापन

नहीं आने दिया। उसकी मधुरिमा आज भी उसी प्रकार भावुकों-के हृदय रसमय करती है जिस प्रकार उसने अपनी उत्पत्तिके प्रथम क्षणमें किया था। वैदिक धर्म तथा संस्कृतिका जो भव्य रूप इन काव्योंमें दिखाई देता है वह नितान्त सजीव है। मानव-कल्याणके लिये इन काव्योंमें मधुर शब्दोंमें स्थान-स्थानपर उपदेश भी दिए गए हैं। आजका मानव-समाज परस्पर कलह तथा वैमनस्यसे छिन्न-भिन्न हो रहा है। प्रबल समरानलके भीतर संसारकी अनेक जातियाँ अपना सर्वस्व स्वाहा कर रही हैं। विश्व नितान्त उद्विग्न है। मानवताके लिये यह महान् सङ्कटका समय है। विचार करनेकी बात है कि कालिदास क्या इस सम्बन्धमें भी कोई सन्देश देते हैं।

मानव-जीवनमें नैराश्यवादके लिये स्थान नहीं है। जो लोग इसे मायिक बतलाकर निःसार तथा व्यर्थ मानते हैं उनका कथन किसी प्रकार प्रामाणिक नहीं है। जो जीवन हम बिता रहे हैं तथा जिससे हम अपना अभ्युदय प्राप्त कर सकते हैं उसे सारहीन क्यों मानें? कालिदासका कहना है कि देहधारियोंके लिये मरण ही प्रकृति है, जीवन तो विकृतिमात्र है। यदि जन्तु श्वास लेता हुआ एक क्षणके लिये भी जीवित है तो यह उसके लिये लाभ है—

मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः।
क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन् यदि जन्तुर्ननु लाभवानसौ॥

—रघु० ८।८७

इस जीवनको महान् लाभ मानना चाहिए तथा इसे सफल बनानेके लिये अर्थ, धर्म तथा कामका सामञ्जस्य उपस्थित करना चाहिए। इस त्रिवर्गमें धर्म ही सर्वश्रेष्ठ है (त्रिवर्गसारः प्रतिभाति भामिनि—कुमार० ५।३८) परन्तु अर्थ और काम अपनी स्वतन्त्रता और सत्ता बनाए रखनेके लिये धर्म-विरोध करते रहते हैं। धर्मको दबाकर अर्थ अपनी प्रबलता चाहता है और धर्मको ध्वस्तकर काम भी अपना प्रभाव जमाना चाहता है। इस विश्वमें आज धर्म-विरोधी अर्थ और कामका नग्न नृत्य हो रहा है। धर्म कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। परन्तु भगवान् श्रीकृष्णके शब्दोंमें 'धर्मसे अविरुद्ध काम' भगवान्की ही विभूति है। कालिदासने अपने काव्यों तथा नाटकोंमें

'धर्माविरुद्धः कामोऽस्मि लोकेषु भरतर्षभ'—इस गीता-वाक्यकी सत्यता अनेक प्रकारसे प्रमाणित की है।

मदन-दहनका रहस्य यही है। मदन चाहता है कि पार्वतीके सुन्दर रूपका आश्रय लेकर समाधिनिरत शङ्करके हृदयपर चोट करूँ। प्रकृतिमें वसन्तका आगमन होता है। लता वृत्तपर झूल झूल-कर अपना प्रेम जताने लगती है। एक ही कुसुमपात्रमें भ्रमरी अपने सहचरके साथ मधुपान करती हुई मत्त हो जाती है। व्याधि-के समान मदन संसारको त्रस्त करने लगता है। वह अपनी आकांक्षा बढ़ाता है और शङ्करपर आक्रमण कर बैठता है। जगत्के कल्याण, आत्यन्तिक मङ्गलका नाम शङ्कर है। विश्व-कल्याण मदनकी उपासनामें नहीं है, प्रत्युत उसके धर्म-विरोधी रूपके दवानेमें है। काम अपनी प्रभुता चाहता है। विश्व-कल्याणपर अपना मोहन वाण छोड़ता है। शङ्कर अपना तृतीय नेत्र खोलते हैं। तृतीय नेत्र ज्ञाननेत्र है। वह प्रत्येक मनुष्यके भ्रूमध्यमें विद्यमान है। परन्तु लुप्त होनेसे हमें उसके अस्तित्वका पता नहीं चलता। शङ्करका वह नेत्र जाग्रत् है। इसी ज्ञानकी ज्वालामें मदनका दहन होता है। धर्मसे विरोध करनेवाला काम भस्मकी राशि बन जाता है। शङ्करको वशमें करनेके लिये पार्वतीजी तपस्या करती हैं। धर्म-सिद्धिका प्रधान साधन है—तपस्या। विना अपना शरीर तपाए तथा विना हृदय-स्थित दुर्वासना जलाए धर्मकी भावना जागरित नहीं होती। कालि-दासने कामका जलना दिखाकर यही चिरन्तन तथ्य प्रकट किया है। पार्वतीने घोर तपस्या करके अपना अभीष्ट प्राप्त किया। इस प्रकार कालिदासकी दृष्टिमें काम तथा धर्मके परस्पर संघर्षमें हमें कामको दबाकर उसे धर्मानुकूल बनाना ही पड़ेगा। जगत्का कल्याण इसी भावनामें सिद्ध होता है।

व्यक्ति तथा समाजका गहरा सम्बन्ध है। व्यक्तिकी उन्नति वाञ्छनीय वस्तु है, परन्तु इसकी वास्तविक स्थिति समाजकी उन्नति पर अवलम्बित है। व्यक्तियोंके समुदायका ही नाम समाज है। कालिदास वैयक्तिक उन्नतिकी अपेक्षा सामाजिक उन्नतिके पक्षपाती हैं। उनका समाज श्रुति-स्मृतिकी पद्धतिपर निर्मित समाज है। वह

त्यागके लिये धन इकट्ठा करता है। सत्यके लिये परिमित भाषण करता है। यशके लिये विजयकी अभिलाषा रखता है, प्राणियों तथा राष्ट्रोंको पददलित करनेके लिये नहीं। गृहस्थीमें निरत होता है सन्तान उत्पन्न करनेके लिये, कामवासनाकी पूर्तिके लिये नहीं। कालिदास-द्वारा चित्रित नरपति भारतीय समाजका अनुकरणीय आदर्श उपस्थित करते हैं। वे शैशवमें विद्याका अभ्यास करते हैं, यौवनमें विषयके अभिलाषी हैं, वृद्धावस्थामें मुनिवृत्ति धारणकर सारे प्रपञ्चसे मुँह मोड़कर निवृत्ति-मार्गके अनुयायी बनते हैं तथा अन्तमें योगद्वारा अपना शरीर छोड़कर परमपदमें लीन हो जाते हैं। यह आदर्श भारतीय समाजकी अपनी विशेषता है—

त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम्।
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम्॥
शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥

—रघुवंश, १।७-८

उपनिषदोंमें धर्मके तीन स्कन्ध प्रतिपादित हैं—यज्ञ, अध्ययन, और दान। इनके अतिरिक्त 'तपः' की महिमासे भारतीय धार्मिक साहित्य भरा पड़ा है। कालिदासने इन स्कन्धोंका विवेचन स्थान-स्थानपर बड़ी ही मनोरम भाषामें किया है। यज्ञका महत्त्व वे स्वीकार करते हैं। पुरोहित यज्ञके रहस्योंका ज्ञाता होता है। राजा दिलीप यह बात भली भाँति जानते हैं कि वशिष्ठजीके यथाविधि सम्पादित होमद्वारा जलकी ऐसी वृष्टि होती है जो अकालसे सूखते शस्यको हरा-भरा कर देती है—

हविरावर्जितं होतस्त्वया विधिवदग्निषु।
वृष्टिर्भवति शस्यानामवग्रहविशोषिणाम्॥

—रघु० १।६२

नरराज तथा देवराज—दोनोंका काम परस्पर सहयोगसे मानवोंकी रक्षा करना है। नरराज पृथ्वीको दूहकर—उससे सुन्दर वस्तुएँ प्राप्तकर यज्ञ सम्पादन करता है और देवराज इसके बदलेमें सस्य उत्पन्न होनेके लिये आकाशको दूहकर पुष्कल वृष्टि करता है। इस

प्रकार ये दोनों अपनी सम्पत्तिका विनिमयकर उभय लोकका कल्याण करते हैं—

दुदोह गां स यज्ञाय सस्याय मघवा दिवम्।
संपद् विनिमयेनोभौ दधतुर्भुवनद्वयम्॥

—रघु० १।२६

यज्ञपूत जलके द्वारा अनेक अलौकिक पदार्थोंकी सिद्धि हमारे महाकविको मान्य है। रघु सर्वस्व-दक्षिण-यज्ञके अनन्तर कौत्सकी याञ्चा पूरी करनेके लिये जिस रथपर बैठने हैं उसे वशिष्ठजीने मन्त्र-पूत जलसे अभिमन्त्रित कर दिया है और उसमें आकाश, नदी, पहाड़ आदि सब विकट तथा विषम मार्गों पर चलनेकी क्षमता है। (रघु० ५।२७) इस प्रकार कालिदासकी दृष्टिमें सामाजिक कल्याणके साधनों में मन्त्रका भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

दानकी गौरवगाथा गाते हुए हमारे महाकवि कभी श्रान्त नहीं होते। समाज आदान-प्रदानकी भित्तिपर अवलम्बित है। धनी-मानी व्यक्तिका संचित धन केवल उन्हींकी आवश्यकता अथवा व्यसन पूरा करनेके लिये नहीं है, प्रत्युत उसका सदुपयोग उन निर्धनोंकी उदर-ज्वाला शान्त करनेमें भी है जो समाजके विशेष अङ्ग है। बृह-दारण्यक उपनिषद्में डंकेकी चोट कहा गया है कि दैवी वाग् मेघ-गर्जनके रूपमें सदा पुकारती है—दाम्यत (अपनी इन्द्रियोंको वशमें रक्खो), दत्त (दान दो) तथा दयध्वम् (दया करो)। यदि हम लोग इस दैवी वाणीकी पुकार सुनकर भी अनसुनी कर देते हैं तो यह अपराध हमारा है। दानके विना समाज छिन्न-भिन्न होकर ध्वस्त हो जायगा, इसमें सन्देह नहीं। कालिदासने रघुवंशके पञ्चम सर्गमें दानका बड़ा ही उज्ज्वल दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। वरतन्तुके शिष्य कौत्स गुरु-दक्षिणाके लिये तब रघुके पास आते हैं जब उन्होंने अपनी सारी संचित सम्पत्ति यज्ञमें दे डाली है। रघु अलकापुरी पर चढ़ाई करके यक्षराज कुबेरसे धन पानेका उद्योग करते हैं। इतनेमें कोषमें सोनेकी वृष्टि होती है। राजाका आग्रह है कि शिष्य सम्पूर्ण धन ले जाय और उधर शिष्यका आग्रह है कि वह अपने कामसे अधिक एक कौड़ी भी न छूएगा। दाता और ग्रहीताका यह आग्रह आश्चर्यजनक वस्तु है।

यह दृश्य इस भारत-महीके इतिहासमें भी दुर्लभ है, अन्य देशोंकी तो कथा ही क्या।

तप भारतीय संस्कृतिका मूल मन्त्र है। इसकी आराधनासे मनुष्य अपनी सारी कामनाओंकी ही पूर्ति नहीं करता प्रत्युत परोपकारके यथावत् सम्पादनकी योग्यता भी अर्जन करता है। तपकी महिमासे हमारा साहित्य भरा पड़ा है। कालिदासने इसका महत्त्व बड़े ही भव्य शब्दोंमें अभिव्यक्त किया है। मदन-दहनके अनन्तर भग्नमनोरथ पार्वतीने तपको ही अपना एकमात्र अवलम्बन बनाया। जगत्‌की समग्र आशाएँ छोड़कर वे इसकी सिद्धिमें लग गईं। उनकी तपस्या इतनी कठोर थी कि कठिन शरीरसे उपार्जित मुनियोंकी तपस्या उसके सामने नितान्त प्रभाहीन तथा प्रभावविहीन जान पड़ती थी। प्रकृतिके नाना प्रकारके विषम कष्ट झेलकर वे अपनी कामना-सिद्धिमें सफल होती हैं। कालिदासने पार्वतीके तपका रहस्य विशेष रूपसे प्रकट किया है—

इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां समाधिमास्थाय तपोभिरात्मन ।
अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः ॥

—कुमारसम्भव ५।२

पार्वतीको तपस्याका फल था—'तथाविधं प्रेम', अलौकिक उत्कट कोटिका प्रेम और 'तादृशः पति' उस प्रकारका, मृत्युको जीतनेवाला महादेवरूप, पति। जगत्‌के समस्त पति मृत्युके वश हैं, मृत्युञ्जय एक ही व्यक्ति है। महादेव ही मृत्युको भी जीतकर अपनी स्वतन्त्र स्थिति धारण कर सदा विराजते हैं। आजतक कोई भी कन्या मृत्युञ्जयको पति रूपमें पाने में समर्थ न हुई। और वह प्रेम भी कैसा? कालिदासने 'तथाविधं' शब्दके भीतर गम्भीर अर्थकी अभिव्यञ्जना की है। शङ्करने पार्वतीको अपने मस्तकपर स्थान दिया है। आदरकी भी एक सीमा होती है। पत्नीको इतना उच्च स्थान प्रदान करना सत्कारका महान् उत्कर्ष है, आदरकी पराकाष्ठा है। अन्य देवताओंमेंसे किसीने अपनी पत्नीको इतना गौरव नहीं प्रदान किया। भारतीय कन्याओंके लिये गौरीकी यह साधना अनुकरणीय वस्तु है। यही कारण है कि हमारी कन्याओंके सामने एक ही महान्

आदर्श है और वह है पार्वतीका। भारतीय समाजमें गौरीपूजा का रहस्य इसी महान् स्वार्थत्यागके भीतर छिपा हुआ है। तपस्याने गौरीको इतना महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। तपस्या करनेवाले ऋषियोंके भीतर विचित्र तेज छिपा रहता है। वे स्वयं शान्तिमें रहते हैं, सूर्यकान्त मणिकी भाँति वे छूने में बड़े कोमल हैं, परन्तु दूसरे तेजके द्वारा अभिभूत होते ही वे जलता हुआ तेज वमन करते हैं। वे किसीकी धर्षणा सह नहीं सकते। यही तपस्याका प्रभाव है—

शमप्रधानेषु तपोधनेषु गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेजः।
स्पर्शानुकूला इव सूर्यकान्तास्तदन्यतेजोऽभिभवाद्वमन्ति ॥

—शाकुन्तल, २।७

आजकलकी समर-ज्वालामें दग्ध होनेवाले संसारके लिये कालिदासका सन्देश विशेष रूपसे उपादेय है। विश्व-मानवोंको चाहिए कि यह सुन्दर सन्देश सुनकर अपने जीवनमें उसका बर्ताव करें। इस सन्देशको हम तीन तकारादि शब्दों में प्रकट कर सकते हैं--त्याग, तपस्या तथा तपोवन। विश्वकी शान्ति भंग करनेवाली वस्तुका नाम स्वार्थपरायणता है। समस्त जातियाँ अपने बड़प्पनका स्वप्न देखती हुई अपने क्षुद्र स्वार्थकी सिद्धिमें निरत दिखाई पड़ती हैं। भयानक संघर्षका यही निदान है। इसका निवारण त्याग और तपस्याकी साधनाके बिना कथमपि सम्पन्न नहीं हो सकता। पाश्चात्य जगत्ने नगरको विशेष महत्त्व दिया और उसका अनुकरण करके पूर्वी जगत् भी नागरिक सभ्यताकी उपासनामें दत्तचित्त हो चला। परन्तु कालिदासकी सम्मतिमें तपोवनकी गोदमें पली हुई सभ्यता मानवका सच्चा मंगल कर सकती है। जिसने हमारे देशको भारतवर्ष जैसा मञ्जुल नाम प्रदान किया उस दौष्यन्ति भरतका जन्म मारीचके आश्रममें हुआ। गोचारणका फल रघुके जन्मके रूपमें प्रकट हुआ। दिलीपने अपनी राजधानीका परित्याग कर वसिष्ठके आश्रममें निवास किया तथा गुरुकी गायकी विधिवत् परिचर्या की। उसीका फल हुआ इन्द्र जैसे वज्रधारीके मानमर्दन वीरका उदय। तपोवनमें अलौकिक शान्ति तथा शक्तिका साम्राज्य छाया

यह दृश्य इस भारत-महीके इतिहासमें भी दुर्लभ है, अन्य देशोंकी तो कथा ही क्या।

तप भारतीय संस्कृतिका मूल मन्त्र है। इसकी आराधनासे मनुष्य अपनी सारी कामनाओंकी ही पूर्ति नहीं करता प्रत्युत परोपकारके यथावत् सम्पादनकी योग्यता भी अर्जन करता है। तपकी महिमासे हमारा साहित्य भरा पड़ा है। कालिदासने इसका महत्त्व बड़े ही भव्य शब्दोंमें अभिव्यक्त किया है। मदन-दहनके अनन्तर भग्नमनोरथ पार्वतीने तपको ही अपना एकमात्र अवलम्बन बनाया। जगत्‌की समग्र आशाएँ छोड़कर वे इसकी सिद्धिमें लग गईं। उनकी तपस्या इतनी कठोर थी कि कठिन शरीरसे उपार्जित मुनियोंकी तपस्या उसके सामने नितान्त प्रभाहीन तथा प्रभावविहीन जान पड़ती थी। प्रकृतिके नाना प्रकारके विषम कष्ट झेलकर वे अपनी कामना-सिद्धिमें सफल होती हैं। कालिदासने पार्वतीके तपका रहस्य विशेष रूपसे प्रकट किया है—

इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः।
अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः॥

—कुमारसम्भव ५।२

पार्वतीको तपस्याका फल था—'तथाविधं प्रेम', अलौकिक उत्कट कोटिका प्रेम और 'तादृशः पति' उस प्रकारका, मृत्युको जीतनेवाला महादेवरूप, पति। जगत्‌के समस्त पति मृत्युके वश हैं, मृत्युञ्जय एक ही व्यक्ति है। महादेव ही मृत्युको भी जीतकर अपनी स्वतन्त्र स्थिति धारण कर सदा विराजते हैं। आजतक कोई भी कन्या मृत्युञ्जयको पति रूपमें पाने में समर्थ न हुई। और वह प्रेम भी कैसा? कालिदासने 'तथाविधं' शब्दके भीतर गम्भीर अर्थकी अभिव्यञ्जना की है। शङ्करने पार्वतीको अपने मस्तकपर स्थान दिया है। आदरकी भी एक सीमा होती है। पत्नीको इतना उच्च स्थान प्रदान करना सत्कारका महान् उत्कर्ष है, आदरकी पराकाष्ठा है। अन्य देवताओंमेंसे किसीने अपनी पत्नीको इतना गौरव नहीं प्रदान किया। भारतीय कन्याओंके लिये गौरीकी यह साधना अनुकरणीय वस्तु है। यही कारण है कि हमारी कन्याओंके सामने एक ही महान्

आदर्श है और वह है पार्वतीका। भारतीय समाजमें गौरीपूजा का रहस्य इसी महान् स्वार्थत्यागके भीतर छिपा हुआ है। तपस्या-ने गौरीको इतना महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। तपस्या करनेवाले ऋषियोंके भीतर विचित्र तेज छिपा रहता है। वे स्वयं शान्तिमें रहते हैं, सूर्यकान्त मणिकी भाँति वे छूने में बड़े कोमल हैं, परन्तु दूसरे तेज-के द्वारा अभिभूत होते ही वे जलता हुआ तेज वमन करते हैं। वे किसीकी धर्षणा सह नहीं सकते। यही तपस्याका प्रभाव है—

शमप्रधानेषु तपोधनेषु गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेजः।
स्पर्शानुकूला इव सूर्यकान्तास्तदन्यतेजोऽभिभवाद्वमन्ति॥

—शाकुन्तल, २।७

आजकलकी समर-ज्वालामें दग्ध होनेवाले संसारके लिये कालिदासका सन्देश विशेष रूपसे उपादेय है। विश्व-मानवोंको चाहिए कि यह सुन्दर सन्देश सुनकर अपने जीवनमें उसका बर्ताव करें। इस सन्देशको हम तीन तकारादि शब्दों में प्रकट कर सकते हैं—त्याग, तपस्या तथा तपोवन। विश्वकी शान्ति भंग करनेवाली वस्तुका नाम स्वार्थपरायणता है। समस्त जातियाँ अपने बड़प्पनका स्वप्न देखती हुई अपने क्षुद्र स्वार्थकी सिद्धिमें निरत दिखाई पड़ती हैं। भयानक संघर्षका यही निदान है। इसका निवारण त्याग और तपस्याकी साधनाके विना कथमपि सम्पन्न नहीं हो सकता। पाश्चात्य जगत्ने नगरको विशेष महत्त्व दिया और उसका अनुकरण करके पूर्वी जगत् भी नागरिक सभ्यताकी उपासनामें दत्तचित्त हो चला। परन्तु कालिदासकी सम्मतिमें तपोवनकी गोदमें पली हुई सभ्यता मानवका सच्चा मंगल कर सकती है। जिसने हमारे देशको भारतवर्ष जैसा मञ्जुल नाम प्रदान किया उस दौष्यन्ति भरतका जन्म मारीचके आश्रममें हुआ। गोचारणका फल रघुके जन्मके रूप-में प्रकट हुआ। दिलीपने अपनी राजधानीका परित्याग कर वसिष्ठ-के आश्रममें निवास किया तथा गुरुकी गायकी विधिवत् परिचर्या की। इसीका फल हुआ इन्द्र जैसे वज्रधारीके मानमर्दन वीरका उदय। तपोवनमें अलौकिक शान्ति तथा शक्तिका साम्राज्य छाया

रहता है। प्रकृति निखिल विषमता दूर कर समताके अभ्यासमें निरत रहती है। हिंस्र पशु भी इसी नैसर्गिक शान्तिके कारण अपनी प्रकृति भूलकर परस्पर मैत्री-भावसे निवास करते हैं। कालिदासकी दृष्टिमें प्रपञ्चके पचड़ेमें पचने-मरनेवाला जीव दयाका पात्र है। सुखमें आसक्त जीवको तापस उसी दृष्टिसे देखता है जिससे तैल-मर्दन करनेवाले व्यक्तिको स्नान किया हुआ व्यक्ति, अशुचि को शुचि, सुप्त व्यक्तिको प्रबुद्ध, बद्ध पुरुषको स्वच्छन्द गतिवाला पुरुष—

अभ्यक्तमिव स्नातः शुचिरशुचिमिव प्रबुद्ध इव सुप्तम्।
बद्धमिव स्वैरगतिर्जनमिह सुखसङ्गिनमवैमि॥

—शाकुन्तल, ५। ११।

जबतक यह संसार त्याग और तपस्याका आश्रय लेकर तपोवनकी ओर न मुड़ेगा, तबतक इसकी अशान्ति कभी न बुझेगी, पारस्परिक कलह कभी न समाप्त होगा तथा वैमनस्यका नाश कभी न होगा।

कालिदासका सन्देश उनकी सर्वश्रेष्ठ रचनाके अन्तिम श्लोकमें एक ही पद्यके रूपमें प्रकट किया जा सकता है—

प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः
सरस्वती श्रुतिमहती महीयताम्।
ममापि च क्षपयतु नीललोहितः
पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः॥

—शाकुन्तल, ७। ३५।

राजा प्रजाके हित-साधनमें लगे, शास्त्रके अध्ययनसे महत्त्वशाली विद्वानोंकी वाणी सर्वत्र पूजित हो, शक्ति सम्पन्न भगवान् शङ्कर समग्र जीवोंका पुनर्जन्म दूर कर दें। इससे सुन्दर सन्देश और क्या हो सकता है? राजाका प्रधान कार्य प्रजाका अनुरञ्जन है। अराजक राज्यके दुर्गुणोंसे हम भली भाँति परिचित हैं। राजाके बिना समाज उच्छिन्न हो जायगा, परन्तु राजाका प्रधान कर्तव्य होना चाहिए समाजकी रक्षा। राष्ट्रको उन्नति तथा अभ्युदयके मार्गपर ले जानेवाले उसके विद्वज्जन ही होते हैं। अतः उनकी सरस्वतीका पूजन तथा

समादर हमारा पवित्र कार्य है। राजा क्षात्रबलका प्रतीक है तथा विद्वज्जन ब्राह्मतेजके प्रतिनिधि हैं। इन दोनोंके परस्पर सहयोगसे ही देशका सच्चा कल्याण हो सकता है। ब्राह्मतेज तथा क्षात्रबलका सहयोग पवन तथा अग्निके समागमके समान नितान्त उपादेय तथा फलप्रद है--

स बभूव दुरासदः परैर्गुरुणाथर्वविदा कृतक्रियः।
पवनाग्निसमागमो ह्ययं सहितं ब्रह्म यदस्त्रतेजसा ॥

--रघुवंश, ८।४

समाजकी सुव्यवस्था होनेपर व्यक्ति अपनी आध्यात्मिक उन्नति कर सकता है। इस प्रकार समाज तथा व्यक्तिका परस्पर अभ्युदय भारतीय संस्कृतिका चरम लक्ष्य है। सम्राट् विक्रमकी सभाके रत्न महाकवि कालिदासका यह त्याग और तपस्याका सन्देश जगती-तलपर प्रत्येक प्राणीके हृदयको सदय तथा सहानुभूतिमय बनावे, यही अंतमें हमारी भगवान्से प्रार्थना है।



कालिदासके कवित्वकी पूर्णता

अर्थात्

तदीय कतिपय पद्योंका मर्म-प्रकाश

[श्रीमन्मध्वसंप्रदायाचार्य-दार्शनिकसार्वभौमसाहित्यदर्शनाद्याचार्य तर्करत्न-न्यायरत्न श्रीदामोदरलालजी गोस्वामी]

न सा विद्या न सा रीतिर्न तच्छास्त्रं न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महाकवेः॥

इस प्राचीनानुभविकोक्तिसे स्पष्ट सिद्ध है कि महाकविको एक जातीय सर्वज्ञ होना चाहिए। ऐसी स्थितिमें कविके ज्ञात विषयोंका परिचय कराना अंशतः सिद्ध-साधन है तथापि उक्त ज्ञानोंकी सूक्ष्मावगाहितापर सहृदयोंकी दृष्टि आकृष्ट करते हुए दिग्दर्शन कराना ही इस लेखका प्रधानोद्देश्य है।

प्रस्तुत कविके निबन्धोंमें मेघदूतकी सृष्टि अपूर्व है। यह लघुकाय होकर भी कर्त्ताकी विशेषज्ञताके ज्ञापनमें अति महान् है। इसका पूर्व भाग तो अभ्रान्त भूगोल-परिचयका साक्षी है। उत्तर भागमें—

तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः।
श्रोणी भारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्या
या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातु.॥

उत्तर मेघ, २२।

इस पद्यसे अपनी पत्नीका परिचय देते हुए यक्षने दन्तों के, नेत्रों-के, नाभिके जो विशेषण दिए हैं उनसे सामुद्रिक मार्मिकताकी, कामशास्त्राभिज्ञताकी व्यञ्जनासे उसके पद्मिनीत्वका ध्वनन, उससे विशिष्ट सौन्दर्यका प्रत्यायन, एतद्‍द्वारा स्वकीय निरतिशय प्रेमास्पदत्वका अनुरणन, तन्मूलक तद्विच्छेदजनितारुन्तुदाधिकी दुःसहता, घण्टानाद न्यायसे संलक्ष्यक्रमध्वनियोंका प्रवाह, व्यञ्जना-पथिकों के अगोचर नहीं है। उक्त पद्य शेषम वाच्योत्प्रेक्षाऽलङ्कार से तदीय सौन्दर्यगताद्वितीयत्व वस्तुध्वनि, उससे व्यतिरेकालङ्कार-ध्वनि, तदनुगतस्वसौभाग्यवस्तुध्वनि, तत्पृष्ठभावी विषादसंचारि-भावध्वनि, यह ध्वनिश्रृङ्खला भी कम चित्ताकर्षिणी नहीं है।

रघुवंशके प्रथम सर्गके १४ वें पद्यमें सर्वतेजोऽभिभाविना पदसे मन्वादिस्मृतिज्ञान, २६वेंमें सम्पद्विनिमयेनोभौ इससे नीतिज्ञता, ३९ वेंमें षड्जसम्वादिनी शब्दसे सङ्गीतागम परिचय, ५६ वमें विधेः .अन्ते इन पदों से सदाचार-बोध, ७१ वेंमें अनि-र्वाणस्यले पालकाप्यतन्त्रज्ञता, ७६ व में प्रदक्षिणक्रियाऽर्हायाम् पदसे शिष्टाचार शिक्षा, ८२ वें में इति वादिनः कथनसे शकुनविज्ञता इत्यादिकी प्रतीति होती है। इसी भाँति तृतीय सर्गके १३वें श्लोकमें रघुके जन्मक्षणमें--ग्रहैस्तत पञ्चभिरुच्चसंश्रयैरसूर्यगैः--इत्यादिसे ज्यौतिषके होरास्कन्धकी विचक्षणता, ५२वें श्लोकमें रघुकी आलीढ-स्थितिके द्वारा धनुर्वेदज्ञान, ८ वे सर्गके २१वें श्लोकमें अजके पण-बन्धादि वर्णनसे नीतिप्रवीणता सूचित होती है, एवं सभी सर्गोके तत्तत्स्थलों में यज्ञ-पद्धतिउपनिषत्सिद्धान्त--धर्मशास्त्र-पुराणेति-हास-राजनीति-समाजनीति-गार्हस्थ्यचर्या-अन्याश्रमाचार प्रभृतियोंके निष्णातत्वका परिचय यथेष्ट मिलता है। कुमारसंभवमें भगवतीकी तपश्चर्या वर्णनमें—

स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः
पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे
चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः॥ ५ ॥२४॥

कालिदासके कवित्वकी पूर्णता
अर्थात्
तदीय कतिपय पद्योंका मर्म-प्रकाश

[श्रीमन्मध्वसंप्रदायाचार्य-दार्शनिकसार्वभौमसाहित्यदर्शनाद्याचार्य-तर्करत्न-न्यायरत्न श्रीदामोदरलालजी गोस्वामी]

न सा विद्या न सा रीतिर्न तच्छास्त्रं न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महाकवेः॥

इस प्राचीनानुभविकोक्तिसे स्पष्ट सिद्ध है कि महाकविको एक जातीय सर्वज्ञ होना चाहिए। ऐसी स्थितिमें कविके ज्ञात विषयोंका परिचय कराना अंशतः सिद्ध-साधन है तथापि उक्त ज्ञानोंकी सूक्ष्मावगाहितापर सहृदयोंकी दृष्टि आकृष्ट करते हुए दिग्दर्शन कराना ही इस लेखका प्रधानोद्देश्य है।

प्रस्तुत कविके निबन्धोंमें मेघदूतकी सृष्टि अपूर्व है। यह लघुकाय होकर भी कर्त्ताकी विशेषज्ञताके ज्ञापनमें अति महान् है। इसका पूर्व भाग तो अभ्रान्त भूगोल-परिचयका साक्षी है। उत्तर भागमें—

तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः।
श्रोणी भारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां
या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः॥

उत्तर मेघ, २२।

इस पद्यसे अपनी पत्नीका परिचय देते हुए यक्षने दन्तों के, नेत्रों-के, नाभिके जो विशेषण दिए हैं उनसे सामुद्रिक मार्मिकताकी, कामशास्त्राभिज्ञताकी व्यञ्जनासे उसके पद्मिनीत्वका ध्वनन, उससे विशिष्ट सौन्दर्यका प्रत्यायन, एतद्द्वारा स्वकीय निरतिशय प्रेमा-स्पदत्वका अनुरणन, तन्मूलक तद्विच्छेदजनितारुन्तुदाधिकी दुःसहता, घण्टानाद न्यायसे सलक्ष्यक्रमध्वनियोंका प्रवाह, व्यञ्जना-पथिकों के अगोचर नहीं है। उक्त पद्य शेषम वाच्योत्प्रेक्षाऽलङ्कार से तदीय सौन्दर्यगताद्वितीयत्व वस्तुध्वनि, उससे व्यतिरेकालङ्कार-ध्वनि, तदनुगतस्वसौभाग्यवस्तुध्वनि, तत्पृष्ठभावी विषादसंचारि-भावध्वनि, यह ध्वनिश्रृङ्खला भी कम चित्ताकर्षिणी नहीं है।

रघुवंशके प्रथम सर्गके १४ वें पद्यमें सर्वतेजोऽभिभाविना पदसे मन्वादिस्मृतिज्ञान, २६वेंमें सम्पद्विनिमयेनोभौ इससे नीतिज्ञता, ३९ वेंमें षड्जसम्वादिनी शब्दसे सङ्गीतागम परिचय, ५६ वमें विधेः . .अन्ते इन पदों से सदाचार-बोध, ७१ वेंमें अनि-र्वाणस्यसे पालकाप्यतन्त्रज्ञता, ७६ वमें प्रदक्षिणक्रियाऽर्हायाम् पदसे शिष्टाचार शिक्षा, ८२ वें में इति वादिनः कथनसे शकुनाविज्ञता इत्यादिकी प्रतीति होती है। इसी भाँति तृतीय सर्गके १३वें श्लोकमें रघुके जन्मक्षणमें--ग्रहैस्ततः पञ्चभिरुच्चसंश्रयैरसूर्यगैः--इत्यादिसे ज्यौतिषके होरास्कन्धकी विचक्षणता, ५२वें श्लोकमें रघुकी आलीढ-स्थितिके द्वारा धनुर्वेदज्ञान, ८ वे सर्गके २१वें श्लोकमें अजके पण-बन्धादि वर्णनसे नीतिप्रवीणता सूचित होती है, एवं सभी सर्गोंके तत्तत्स्थलों में यज्ञ-पद्धतिउपनिषत्सिद्धान्त--धर्मशास्त्र-पुराणेति-हास-राजनीति-समाजनीति-गार्हस्थ्यचर्या-अन्याश्रमाचार प्रभृतियोंके निष्णातत्वका परिचय यथेष्ट मिलता है। कुमारसंभवमें भगवतीकी तपश्चर्या वर्णनमें—

स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः
पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः ।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे
चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः ॥ ५ ॥२४॥

यह पद्य भी निर्माताकी बहुदर्शिताका प्रधान साक्षी है, इसमें योगशास्त्रने जो समाधिमें नासाऽग्रदृष्टि, मुखका खुला न रहना, मेरुदण्डको उन्नत रखना निश्चल रहना उपदिष्ट किया है, इनमेंसे वर्णनमें प्रथम वृष्टि-विन्दुओंकी पलकोंपर स्थिति द्वारा पलकोंका अर्द्धोन्मीलन ध्वनित किया, इससे उनमें निविड़ता ध्वनित हुई, जिससे सामुद्रिकोक्त सुलक्षण व्यक्त हुआ, अर्द्धोन्मीलनसे नासिकाऽ-ग्रदर्शन भी लब्ध हो गया, क्षण शब्दसे पलकोंमें मसृणता सूचित हुई, ताडित पदसे अधरमें कोमलता झलकी, अधरसे च्युत विन्दुओंके कुचोंपर ही गिरनेसे मुखसंवृति तथा विखर जाने द्वारा उनकी कठिनता व्यञ्जित हुई, साथ ही त्रिकोन्नति भी ध्वनित हुई। वहाँसे गिरकर त्रिवलीसे फिसलने-द्वारा उनकी चिकनाई, स्पष्टता, सुलक्षणता भी प्रत्यायित हुई, वहाँसे हटे विन्दुओंके नाभिमें प्राप्ति-वर्णनसे उसकी गभीरता-रूप सच्चिह्नकी व्यक्ति हुई। इस भाँति संलक्ष्यक्रम-स्वतःसंभवी पदगत-वस्तुध्वनियोंसे भगवतीका अलौकिक सौन्दर्य वस्तुध्वनि उपस्कृत हुआ, जो सबका अङ्गी है। सुतराम्, उपस्कारकोंके साथ अङ्गाङ्गिभाव-संकर हुआ, उक्त अङ्ग-ध्वनियोंमें परस्पर कोई संसृष्ट हैं, कोई एकव्यञ्जकानुप्रविष्ट संकीर्ण हैं।

ऋतुसंहारमें भी जो कर्ताकी लौकिक वस्तु-व्यवहारोंकी अभि-ज्ञता है सो भी साहित्य-सेवियोंको अविदित नहीं है।

अभिज्ञानशाकुन्तलसे एक उदाहरण देखिए। शकुन्तलाके उत्तमत्व-प्रयुक्त निःश्वासादिमें नैसर्गिक सौरभसे आए हुए मतवाले भ्रमरका व्यापार देखकर महाराज दुष्यन्तकी वेदना-मयोक्तिका चित्रण जो कविने इस पद्यमें किया है—

चलापाङ्गं दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमती—
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।
करौ व्याधुन्वत्या पिवसि रतिसर्वस्वमधरं—
वयं तत्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलुकृती॥
—शाकुन्तल, अङ्क १।२२

उसकी जितनी प्रशंसा की जाय सब कम ही है। यद्यपि इसके आरम्भमें चलापाङ्गां दृष्टिम् ऐसा पाठ मुद्रित पुस्तकों में और आधुनिक टीकाओं में मिलता है, किन्तु यह पाठ नितान्त अहृद्य है। इस पाठसे "चपल अपाङ्गवाले काँपते नेत्रोंको छूता है" यह अर्थ होता है, और ऊपर लिखित पाठसे "चञ्चल कटाक्षपूर्वक देखा गया काँपती शकुन्तलाको छूता है" यह अर्थ होता है। अब मध्यस्थ बनकर निष्पक्षतासे सहृदय निर्णय करें कि नायिकाके नेत्रोंको देखना और कटाक्षपूर्वक नायिकासे देखा जाना इन दोनों मेंसे रस-शास्त्र सिद्धान्तमें अधिक सुकृतका फल कौनसा होना उचित है। दूसरी बात यह कि यहाँ अलङ्कारोंकी भरमार कैसी है।

वक्तृप्रभृति वैशिष्ट्यकी सहायता पाकर स्पर्शहेतुसे आलिङ्गनेच्छाकी अनुमिति व्यङ्ग्य है। सुतराम्, अनुमानालङ्कार व्यङ्ग्य होता है। "रहस्याख्यायीव" यहाँ असिद्धविषयावाच्य स्वरूपोत्प्रेक्षा है, और "मृदुकर्णान्तिकचरः" से चुम्बनेच्छाकी अनुमिति होनेसे भी अनुमानालङ्कार व्यङ्ग्य है। भ्रमरपक्षमें "अन्तिक" पद स्वारस्यसे "नेत्र हैं कि नीलोत्पल हैं" यह संदेहालङ्कार भी व्यक्त होता है, "रतिसर्वस्व" पदसे अनुमेयोक्तिमूलक निरङ्ग अभेद रूपक है। और "पिबसि" पदका यद्यपि "पी रहा है" यह अर्थ है तथापि "पीनेको व्यग्र है" यह अर्थ ही वर्त्तमान सामीप्य मानकर होना उचित है, क्योंकि सहसा पानमें 'करौ व्याधुन्वत्याः" इन दो पदों का भाव बाधक हो रहा है। इन दो पदों से शकुन्तलाका मुग्धात्व वस्तुव्यङ्ग्य है और पान-सम्बन्ध न होनेपर भी "पिबसि" द्वारा पान-कथनसे असम्बन्धमें सम्बन्धमूलक अतिशयोक्ति अलङ्कार है, तथा भ्रमरमें "स्पृशसि, स्वनसि, पिबसि," इन तीन क्रियाओं के अन्वयसे कारक दीपक अलङ्कार है। यहाँ सन्देह द्वितीयानुमानका अङ्ग है। दोनों अनुमान, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, रूपक, ये पाँचो परस्पर निरपेक्ष होनेसे इनकी संसृष्टि है, किन्तु कारक दीपकमें सब अङ्ग होनेसे संकीर्ण हुए। भ्रमर--व्यापारमें हठ कामुक व्यवहारके आरोपसे हुई समासोक्तिमें साङ्ग दीपक अङ्ग है, चतुर्थ पादोक्त भ्रमरके कृतित्वमें पूर्व चरणत्रय वाक्यार्थकी हेतुतासे

वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्गालङ्कारमें समासोक्ति अङ्ग हुई है। "हताश" शब्द द्वारा व्यञ्जित व्यतिरेकमें काव्यलिङ्ग अङ्ग हुआ है—ये सब शृङ्खला अङ्ग हुई हैं विप्रलम्भ-भेद पूर्वरागमें। व्यङ्ग्योंका यह सङ्कर्ष भरतागम-मार्मिकोंसे तिरोहित नहीं है।

उक्त रीतिसे ही इस नाटकमें आगे एवम् "विक्रमोर्वशी" तथा "मालविकाऽग्निमित्र" में भी कविकी बहुदर्शिता पदे पदे प्रतिपन्न होती है। समष्टि दृष्टिसे अन्य कवियोंकी अपेक्षा इनका उपमाऽलङ्कार स्वभाव-सुन्दर होता है। इससे भी अधिकता यह कि इनका प्रसादगुण प्रायः सार्वत्रिक प्रशंसनीय है, जो कि प्रसादैक प्राप्त है।

फलतः इनकी कविता द्राक्षापाकशालिनी है यह निर्विवाद है।



कालिदासकी सूक्तियाँ

(डौक्टर पंडित अमरनाथ झा, एम्० ए०, डी० लिट्०)

विक्रमके नवरत्नोंके अमूल्य रत्न कविकुलगुरु कालिदासने अपने काव्य-चमत्कारसे समस्त संसारमें ख्याति प्राप्त की है। दूर-दूर देशोंमें, नाना भाषा-भाषियोंने इनके ग्रन्थोंको पढ़कर, उनका रसास्वादन कर, इनके गुणोंसे मुग्ध होकर, इनकी मुक्त कण्ठसे प्रशंसा की है। इनके पद-लालित्य, इनके रचना-चातुर्य, इनकी कल्पना-शक्ति, इनके प्रकृति-वर्णन, इनके चरित्र-चित्रण, इनके काव्यकी सरसता इत्यादि गुणोंका गान सुनकर भारतवर्षका प्रत्येक निवासी प्रफुल्ल होता है। परन्तु कालिदासमें विचार-गाम्भीर्य भी है, उनके पदोंसे उपदेश भी मिलता है, उनकी उक्तियाँ आज भी हमारा पथ-प्रदर्शन कर सकती हैं। इन वाक्योंमें संसारका अनुभव है, जीवनके बहुमूल्य सिद्धान्त हैं। यहाँ कुछ ऐसी उक्तियोंका संग्रह किया गया है जिनके पढ़नेसे और जिनके अनुसरणसे हम आज भी लाभ उठा सकते हैं। पचास उक्तियाँ पाठकोंकी सेवामें उपस्थित की जा रही हैं।

(१) एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः।

(जैसे चन्द्रमाकी ज्योतिमें उसका कलंक छिप जाता है, वैसे ही गुणोंके समूहमें एक दोष भी छिप जाता है।)

(२) क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैः शिरसां सतीव।

(शरणागत क्षुद्र जनके प्रति भी महात्माका ममत्व भाव वही रहता है जो सज्जनके प्रति।)

(३) विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।

(यथार्थमें धीर पुरुष तो वे ही हैं जिनका चित्त विकार उत्पन्न करनेवाली परिस्थितिमें भी अस्थिर नहीं होता है।)

(४) शाम्येत् प्रत्यपकारेण नोपकारेण दुर्जनः।

(दुष्टको उपकारसे नहीं, अपकारसे ही शान्त करना चाहिए।)

(५) विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्।

(अपने हाथसे पाले हुए विष-वृक्षको भी अपने ही हाथसे काटना उचित नहीं है।)

(६) न पादपोन्मूलनशक्तिरंहः शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य।

(वायु पेड़को जड़से उखाड़ सकता है, पर पहाड़को नहीं हिला सकता है।)

(७) शस्त्रेण रक्ष्यं यदशक्यरक्षं न तद्यशः शस्त्रभृतां क्षिणोति।

(जिसकी शस्त्रोंसे रक्षा हो ही नहीं सकती है, उसकी यदि शस्त्रधारी रक्षा न कर सके तो इससे उसका अपयश नहीं होता है।)

(८) पथः श्रुतेर्दर्शयितार ईश्वरा मलीमसामाददते न पद्धतिम्।

(पवित्र मार्गके प्रदर्शक देवतागण स्वयं पापमार्गका अनुसरण नहीं करते।)

(९) पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते।

(गुण सब स्थानोंपर अपना आदर करा लेता है।)

(१०) प्रणिपातप्रतीकारः संरम्भो हि महात्मनाम्।

(महात्माओंके क्रोधकी शान्ति उनको प्रणाम करनेसे होती है।)

(११) आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव ।

(बादलोंके समान सज्जन भी जिस वस्तुका ग्रहण करते हैं उसका दान भी करते हैं ।)

(१२) निर्गलिताम्बुगर्भं शरद्घनं नार्दति चातकोऽपि ।

(चातक भी शरद्‌के सूने बादलसे आर्त्तनाद नहीं करता है ।)

(१३) सूर्ये तपत्यावरणाय दृष्टेः कल्पेत लोकस्य कथं तमिस्रा ।

(जब सूर्य दीप्तमान हो तब लोगोंकी आँखोंके सामने अँधेरा कैसे छा सकता है ।)

(१४) उष्णत्वमग्न्यातपसंप्रयोगाच्छैत्यं हि यत्सा प्रकृतिर्जलस्य ।

(धूपसे अथवा आगसे पानीमें उष्णता आ जाती है परन्तु शीतलता ही इसकी यथार्थ प्रकृति है ।)

(१५) भवितव्यतानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र ।

(भावीको सर्वत्र द्वार खुला मिलता है ।)

(१६) किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ।

(जो स्वयं सुन्दर है उसका सौन्दर्य्य किस वस्तुसे नहीं बढ़ जाता ।)

(१७) सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरण प्रवृत्तयः ।

(सन्देहमें सज्जनके अन्तःकरणकी प्रवृत्ति ही सत्यका निर्देश करती है ।)

(१८) न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात् ।

(उत्तम वस्तुकी उत्पत्ति उच्च स्थानसे ही होती है—विद्युत्‌की ज्योति पृथ्वीतलसे नहीं उत्पन्न होती ।)

(१९) अकृतार्थेऽपि मनसिजे रतिमुभयप्रार्थना कुरुते ।

(प्रेम यद्यपि विफल भी हो तो भी एक दूसरेकी उत्कंठासे प्रसन्नता होती है ।)

(२०) कामी स्वतां पश्यति ।

(प्रेमी सब वस्तुओंको अपने अनुकूल ही समझता है ।)

(२१) लभेत वा प्रार्थयिता न वा श्रियं श्रिया दुरापः कथमीप्सितो भवेत् ।

(प्रार्थना करनेपर संभव है श्री मिले या न मिले, परन्तु जब श्री स्वयं कोई इच्छा प्रकट करे तब उसके प्राप्त करनेमें क्या कठिनता हो सकती है ?)

(२२) ग्लपयति यथा शशाङ्कं न तथा हि कुमुद्वतीं दिवसः ।

(दिनसे कुमुदिनीके फूलका इतना ह्रास नहीं होता है जितना चन्द्रमाका ।)

(२३) इष्टप्रवासजनितान्यबलाजनस्य दुःखानि नूनमतिमात्रसुदुःसहानि ।

(प्रेमीके प्रवाससे अबलाको असह्य कष्ट होता है ।)

(२४) गरुअम्पि विरहदुक्खं आसाबन्धो सहावेदि ।

(कठिन विरह भी मिलनकी आशासे सह्य हो जाता है ।)

(२५) अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं
शमयति परितापं छायया संश्रितानाम् ।

(वृक्ष अपने सिरपर गरमी सह लेता है, परन्तु अपनी छायासे औरोंको गरमीसे बचाता है ।)

(२६) भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमैर्नवाम्बुभिर्भूरि विलम्बिनो घनाः।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ॥

(फलके आनेसे वृक्ष झुक जाते हैं, नव वर्षाके समय बादल झुक जाते हैं ; सम्पत्तिके समय सज्जन नम्र हो जाते हैं—परोपकारियोंका स्वभाव ही ऐसा है ।)

(२७) तमस्तपति घर्मांशौ कथमाविर्भविष्यति ।

(सूर्यके प्रकाशवान् रहते अन्धकार कैसे फैल सकता है ।)

(२८) हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रा वर्जयत्यपः ।

(हंस दूध निकाल लेता है और उसमें मिले हुए पानीको छोड़ देता है ।)

(२९) प्रसादसौम्यानि सतां सुहृज्जने पतन्ति चक्षूंषि न दारुणाः शराः ।

(सज्जन अपने मित्रोंपर कृपाकी दृष्टि डालते हैं, शरोंकी वर्षा नहीं करते ।)

(३०) उच्छेत्तुं प्रभवति यन्न सप्तसप्तिस्तन्नैशं तिमिरमपाकरोति चन्द्रः।

(रातका जो अन्धकार दूर करनेमें सूर्य असमर्थ है, उसे चन्द्रमा दूर करता है।)

(३१) प्रायः स्वं महिमानं क्षोभात्प्रतिपद्यते हि जनः।

(प्रायः उत्तेजित होनेपर मनुष्य अपना महत्त्व प्रदर्शित करता है।)

(३२) पूर्वावधीरितं श्रेयो दुःखं हि परिवर्तते।

(पूर्वमें तिरस्कृत सौभाग्य दुःखमें परिवर्तित हो जाता है।)

(३३) स्रजमपि शिरस्यन्धः क्षिप्तां धुनोत्यहिशङ्कया।

(साँपकी आशङ्कासे अन्धा मनुष्य शिरपर डाली जानेवाली माला फेंक देता है।

(३४) मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथा वृत्तिचेतः
कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किंपुनर्दूरसंस्थे।

(जो सुखी हैं उनका भी चित्त बादलोंको देखकर स्थिर नहीं रहता है, फिर जो विरही हैं उनकी तो बात ही क्या?)

(३५) कामार्त्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु।

(कामसे जो पुरुष आर्त्त है वह जीव और जड़में भेद नहीं कर सकता है।)

(३६) याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा।

(सज्जनसे निष्फल याचना भी अच्छी, नीचसे सफल याचना भी अच्छी नहीं।)

(३७) आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां,
सद्यःपाति प्रणयिहृदयं विप्रयोगे रुणद्धि।

(विरहमें वनिताके पुष्पसदृश हृदयको आशा ही कुम्हला जानेसे बचाती है।)

(३८) न क्षुद्रोऽपि प्रथमसुकृतापेक्षया संश्रयाय
प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः किम्पुनर्यस्तथोच्चैः।

(क्षुद्रजन भी जिनसे पहले उपकार किया हो उसके उपस्थित होनेपर उसका सत्कार करता है, फिर सज्जनका क्या कहना!)

(३९) स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु ।

(स्त्रियोंका हाव-भाव प्रेमीके साथ बातचीतका पहला स्वरूप है।)

(४०) मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः ।

(जिसने मित्रका कार्य सम्पन्न करनेका वचन दिया है वह उसके समाप्त होनेतक ढीला नहीं पड़ता।)

(४१) आपन्नार्तिप्रशमनफलाः सम्पदो ह्युत्तमानाम् ।

(उत्तम पुरुषोंकी सम्पत्तिका मुख्य प्रयोजन यही है कि औरोंकी विपत्तिका नाश हो।)

(४२) के वा न स्युः परिभवपदं निष्फलारम्भयत्नाः ।

(निष्फल यत्न करनेसे जगत्में कौन नहीं हँसा जाता।)

(४३) प्रायः सर्वो भवति करुणावृत्तिरार्द्रान्तरात्मा ।

(सरस हृदय जन होत हैं, बहुधा मृदुल स्वभाव।)

(४४) सीमन्तिनीनां कान्तोदन्तः सुहृदुपगतः सङ्गमात्किंचिदून ।

(पतिके मिलनेसे स्त्रीको जो आनन्द प्राप्त होता है उसके कुछ ही कम आनन्द मित्रद्वारा उसका सँदेसा पाकर होता है।)

(४५) भूतानां हि क्षयिषु करणेष्वाद्यमाश्वास्यमेतत् ।

(काल सब प्राणियोंके सिरपर है, इसलिये पहले कुशल पूछना चाहिए।)

(४६) कस्यात्यन्तं सुखमुपगतं दुःखमेकान्ततो वा
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ।

(किसीको केवल सुख अथवा एकमात्र दुःख नहीं मिलता–दुःख और सुख रथके पहिएकी भाँति कभी ऊपर और कभी नीचे रहा करते हैं।)

(४७) स्नेहानाहुः किमपि विरहव्यापदस्ते ह्यभोगात् ।
इष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशी भवन्ति ॥

(यद्यपि कहा जाता है कि विरहमें प्रेम कुम्हला जाता है, तथापि वस्तुतः वियोगमें प्रेमका प्रयोग न होनेसे वह संचित होकर राशीभूत हो जाता है।)

(४८) निःशब्दोऽपि प्रदिशसि जलं याचितश्चातकेभ्यः
प्रत्युक्तं हि प्रणयिषु सतामीप्सितार्थक्रियैव ।

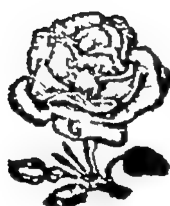
(तुम विना गरजे हुए भी चातकको वर्षाजलसे तृप्त करते हो—सज्जनका यही स्वभाव है कि बिना कुछ कहे याचकोंकी माँग पूरी करे।)

(४९) केषां न स्यादभिमतफला प्रार्थना ह्युत्तमेषु।

(सज्जनसे की हुई प्रार्थना कब सफल नहीं होती।)

(५०) पुराणमित्येव न साधु सर्वम्।

(कोई वस्तु केवल इस कारण ग्राह्य और उत्तम नहीं है कि वह पुरानी है।)



कालिदासके शब्द-प्रयोग

(पं० अम्बिकाप्रसाद उपाध्याय व्याकरणाचार्य ।)

कविकुलतिलक, कविता-कामिनीके कमनीय कान्त कवि कालिदास अलौकिक चमत्कृति-सम्पादक काव्य-संसारके विधाता थे। उनकी प्रतिभा दृश्य तथा श्रव्य दोनों प्रकारकी काव्य-रचनामें अप्रतिहत थी। कविका स्थान जगत्में क्या है इसका आभास इसीसे मिल जाता है कि भगवान् भी अपनेको "कवि पुराण" कहकर 'कवि' शब्दसे ही सङ्केतित करते हैं। 'कवि' शब्द विलक्षण प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तिका बोधक है, उसीकी चमत्कार-जनक रचनाका नाम 'काव्य' है। काव्यके मुख्य आधार शब्द तथा अर्थ हैं। इसीसे काव्यका लक्षण करते हुए सभी आचार्योंने शब्दार्थकी प्रधानता स्वीकारकी है। जैसे, (१) शब्दार्थौ काव्यम् (काव्यालङ्कार), (२) तददोषौ शब्दार्थौ (काव्यप्रकाश), (३) रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् (रस-गङ्गाधर), (४) वाक्यं रसात्मकं काव्यम् (साहित्य-दर्पण), (५) इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावलिः काव्यम् (काव्यादर्श) और (६) निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणगुम्फिता। सालंकार रसानेक वृत्तिर्वाक् काव्यनामभाक् (चन्द्रालोक)।

इन दोनोंमें भी अर्थापेक्षया 'शब्द'की ही प्रधानता प्रतीत होती है। इसलिये कविका शब्दोंपर अधिकार होना नितान्त आवश्यक है। उसके निमित्त शब्द-शास्त्रका पूर्ण पाण्डित्य अपेक्षित होना निर्विवाद है। इस दृष्टिसे कवि सम्राट् कालिदास शब्दशास्त्रमें पूर्णतया निष्णात थे, इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं है। उनके ग्रन्थोंका अवलोकन करनेसे ज्ञात होता है कि शब्द-शास्त्र उन्हें रात-दिनके व्यावहारिक विषयकी भाँति अभ्यस्त था। यहाँतक कि उपमान-विधानमें भी व्याकरणके विषय नियोजित हैं। उनकी प्रयोग-शैला तथा प्रक्रियांशके पाण्डित्यका दिग्दर्शन ही पर्याप्त होगा। दो-चार उदाहरण लीजिए।

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥

रघुवंश, सर्ग १। १॥

यहाँ शब्दार्थ-सम्बन्ध उपमान तथा पार्वती-परमेश्वर उपमेय हैं। व्याकरणमें शब्द और अर्थका अभेद है, दोनों एक हैं। जैसे 'नीलो घट'में 'नील' और 'घट'का अभेद है। ऐसे ही 'अयं घटः' दृश्यमान 'व्यक्ति' अर्थ और 'घट' शब्दका अभेद है। इसीलिये अयं घट में दोनों शब्द समानाधिकरण प्रथमान्त हैं। यदि भेद होता तो 'राज्ञः पुरुषः'की तरह षष्ठी विभक्ति होती, पर 'अस्य घट.' या 'अयं घटस्य' प्रयोग नहीं होता। 'रामेति द्व्यक्षरं नाम मानभङ्गः पिनाकिन.', 'वृद्धिरादैच्' इत्यादि स्थलों में भी समानाधिकरण प्रयोग ही हुआ है। 'वागर्थाविव', समाससे तथा पितरौ एकशेषसे 'इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च वार्तिककी और 'पिता-मात्रा' सूत्रकी स्मृति हो आती है।

(२) रघुवंशके बारहवें सर्गके अट्ठावनवें श्लोकमें 'वालि'के स्थानपर सुग्रीवके अभिषिक्त होनेका वर्णन करते हुए कहा गया है 'धातोः स्थान इवादेशं सुग्रीवं सन्यवेशयत्' जैसे 'अस्'के स्थानपर 'भू' आदेश होता है, और 'इण्' के स्थानमें 'गा' होता है वैसे ही 'वालि'के स्थानपर 'सुग्रीव' अभिषिक्त किए गए। कितनी सटीक

उपमा है। जैसे 'स्थानी'के अर्थका वाचक आदेश होता है वैसे ही वालिका सब कार्य सुग्रीव करेंगे।

(३) रघुवंशके पन्द्रहवें सर्गके सातवें श्लोकमें रघुकुलकी सराहना करते हुए लिखा है।

यः कश्चन रघूणां हि परमेकः परन्तप ।
अपवाद इवोत्सर्गं व्यावर्तयितुमीश्वरः ॥

रघुकुलका कोई एक ही, शत्रु-समुदायको वैसे ही दूर कर सकता है, जैसे अपवाद अनेक उत्सर्गोंको व्यावृत करता है।

कुमारसंभवके द्वितीय सर्गके सत्ताईसवें श्लोकमें यही भाव और सुन्दर रूपमें आया है--

लब्धप्रतिष्ठाः प्रथमं यूयं किं वलवत्तरैः ।
अपवादैरिवोत्सर्गाः कृतव्यावृत्तयः परै ॥

पहलेसे लब्धप्रतिष्ठ आप लोग क्या वलवत्तर शत्रुओं से वाधित हो रहे हैं ? जैसे अन्यत्र चरितार्थ उत्सर्ग 'इकोयणचि', मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि'को वलवत्तर (निरवकाश) अपवाद 'अकः सवर्णे दीर्घः', 'अग्निष्टोमीयं पशुमालभेत्' इत्यादि व्यावृत करते हैं। 'अपवादो वलवान्' या 'निरवकाशो विधिर्वाधकः' व्याकरण-नियमका उपयुक्त व्यवहार हुआ है।

(४) रघुवंशके पन्द्रहवें सर्गके नवम श्लोकमें लवणासुरको जीतनेके लिये सेना लेकर शत्रुघ्नके प्रस्थानका वर्णन करते हुए कालिदास लिखते हैं—

रामादेशादनुगतासेना तस्यार्थसिद्धये ।
पश्चादध्ययनार्थस्य धातोरधिरिवाभवत् ॥

श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञासे अर्थ (जय) सिद्धिके लिये सेना पीछे चली, जिस प्रकार अर्थ सिद्धिके लिये अध्ययनार्थ 'इङ् धातु के पीछे 'अधि' उपसर्ग लग जाता है। 'अधि' उपसर्ग के विना केवल 'इङ्' धातु अर्थ-वोधन करनेमें समर्थ नहीं।

(५) तारकासुरसे त्रस्त देवगण पितामहके पास गए और उनको अपनी करुण कहानी सुनाई। पितामहने उसका उत्तर चारों

मुखोंसे दिया। इसका वर्णन कुमारसंभवके दूसरे सर्गके १७वें श्लोक में इस प्रकार है—

पुराणस्य कवेस्तस्य चतुर्मुखसमीरिता।
प्रवृत्तिरासीच्छब्दानां चरितार्था चतुष्टयी॥

पुराने कवि ब्रह्माके चारों मुखोंसे उच्चरित वाणीने "चतुष्टयी शब्दानाम्प्रवृत्तिः"को चरितार्थ कर दिया। बुड्ढे ब्रह्माके मुख चार और उनसे शब्द भी निकले चार।

वैयाकरणोंके सिद्धान्तानुसार वाणी चार प्रकारकी होती है—(१) परा (२) पश्यन्ती (३) मध्यमा तथा (४) वैखरी।

परा वाङ्मूल चक्रस्था पश्यन्ती नाभि संस्थिता।
हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया वैखरी कण्ठदेशगा॥

जो वाणी हम लोग बोलते और सुनते हैं, उसे 'वैखरी' कहते हैं। जो हृदयदेशस्थ है उसे 'मध्यमा', जो नाभिदेशस्थ है उसे 'पश्यन्ती' और जो मूलचक्रस्थ है उसे 'परा' कहते हैं। यदि 'चतुष्टयी'का अर्थ यह न मानें तो भगवान् पतञ्जलि कथित—चतुष्टयी शब्दानाम् प्रवृत्तिः। जातिशब्दाः, गुणशब्दा, क्रिया शब्दाः, यदृच्छा शब्दाः।" अर्थ लेना चाहिए। शब्दोंके अर्थबोधनमें चार प्रवृत्तियाँ निमित्त हैं—(१) जाति-ब्राह्मणत्वादि (२) गुण-शुक्लादि। (३) क्रिया-अध्यापनादि और (४) यदृच्छा-डित्थ डवित्थ आदि। व्याकरणके नियमोंका काव्यमें कैसा उपयोग किया गया है।

यही नहीं कालिदासने व्याकरणसिद्ध वैकल्पिक रूपोंका प्रयोग भी अल्पान्तरसे करके उसका बोध करानेका प्रयत्न किया है। जैसे—ईषदर्थक 'कु' शब्दके स्थानपर 'कप्' तथा 'का' आदेश विकल्पसे होते हैं। रघुवशके प्रथम सर्गके ६७वें श्लोकमें पहले 'कवोष्णम्', पीछे ८४वें में 'कोष्णम्' का प्रयोग किया गया है।

व्याकरणके नियमोंका उपमान रूपमें प्रयोग करनेवाला व्याकरणके नियमोंका उल्लङ्घन करके चले यह संभव नहीं प्रतीत होता। इसलिये कालिदासके उन प्रयोगोंका विचार कर लेना भी प्रसंगप्राप्त है जिनपर व्याकरणकी दृष्टिसे 'निरंकुशाः कवयः' कह

कर आक्षेपका समाधान किया जाता है। सबसे पहले रघुवंशके मर्मज्ञ टीकाकार श्रीमल्लिनाथके ही आक्षेपपर विचार कीजिए—

स सैन्यपरिभोगेण गजदानसुगन्धिना।
कावेरीं सरितांपत्युः शङ्कनीयामिवाकरोत् ॥

—रघुवंश, ४।४५

इस छन्द के 'गजदान सुगन्धिना' शब्दकी टीका करते हुए वे लिखते हैं—"गन्धस्येत्यादिना इकारः समासान्तः। यद्यपि गन्धस्येत्वे तदेकान्तग्रहणकर्त्तव्यमिति नैसर्गिकगन्धविवक्षायामेवेकारादेशः, तथापि निरंकुशाः कवयः। तथा माघकाव्ये "ववुरयुक्छदगुच्छ-सुगन्धय· (सततगाः)। नैषधेऽपि—"अपां हि तृप्ताय न वारिधारा स्वादुः सुगन्धिः स्वदते तुषारा। न कर्मधारयान्मत्वर्थीय इति निषे-धादिनिप्रत्ययपक्षोऽपि जघन्य एव।" भाव यह कि 'सुगंधिना' पदमें बहुव्रीहि समास कर 'गन्ध' शब्दके अन्त्य अकारको समासान्त इका-रादेश होता है, परन्तु जहाँ गन्ध स्वाभाविक हो वहीं 'इत्व' होता है। जैसे, 'सुगन्धि पुष्पम्'। जलमें गन्ध स्वाभाविक नहीं है, इससे यहाँ इकारादेश न होना चाहिए। यह कविकी निरंकुशता है। माघ कविने वायुकी गन्धमें तथा नैषधकारने जलकी गन्धमें इकारादेश कर निरंकुशता दिखलाई है। यदि 'सुगन्ध'का कर्मधारय समास कर, मत्वर्थीय प्रत्यय 'इनि' करें तो भी अनुचित है, क्योंकि ऐसा नहीं होता—'न कर्मधारयान्मत्वर्थीय'। वस्तुतः 'वार्त्तिक'का अर्थ वैसा है नहीं, जैसा समझा गया है। 'वार्त्तिक' का अर्थ है कि जहाँ गन्ध गन्धवान् पृथक् न दिखाई पड़ें वहीं इका-रादेश होता है। इसलिये जहाँ 'गन्ध' का अर्थ 'गन्ध-क' है वहाँ, जैसे 'सुगन्ध आपणिकः' में इकारादेश नहीं होता क्योंकि 'दूकान'में 'गन्ध' पृथक् दिखाई पड़ती है। जल तथा वायुमें गन्ध पृथक् नहीं दिखाई पड़ती, इसलिये इकारादेश होगा। अतएव दीक्षितजीने जो उदाहरण दिए—'सुगन्धि पुष्प सलिलं च सुगन्धिर्वायुः' वे ही काशि-कावृत्तिकारको भी अभिमत थे। वे लिखते हैं—'एभ्य एवेति किम्—तीव्रगन्धोवातः' यहाँ 'इकार' नहीं हुआ। यदि नैसर्गिक गन्धमें

इकारादेशका नियम होता तो यहाँ वायुमें गन्ध नैसर्गिक नहीं है। महर्षि पतञ्जलिकी भी यही सम्मति है। कैयटजी इस वार्त्तिककी व्याख्यामें स्पष्ट लिखते हैं—"यत्राविभागापन्नं कुङ्कुमादि देवदन्तादेर्भवति तदा इत्वमतस्थत्वात्गन्धस्येति"। जल तथा वायुमें गन्धका वर्णन करते हुए सबने 'इत्व' किया है। मल्लिनाथने माघमें ही 'गुच्छसुगन्धयः वाताः' की टीका करते समय इस विषयकी चर्चातक नहीं की। यही क्यों, माघके छठे सर्गके ३२वें श्लोकमें 'शिलीन्ध्रसुगन्धिभिः वायुभिः' की टीका करते हुए वे स्वयं लिखते हैं—"शिलीन्ध्राणां कदलीकुसुमानां सुगन्धः अस्ति येषां ते शिलीन्ध्रसुगन्धिनस्तैः। गन्धस्येत्वे तदेकान्तस्याभावादिनि प्रत्ययाश्रयणम्।" अब क्या कहा जाय! यद्यपि भट्टिकाव्यके टीकाकार जयमङ्गलने 'आघ्रायिवान् गन्धवह सुगन्धः'की टीकामें नैसर्गिक गन्धमें 'इत्व' होता है कहकर 'सुगन्धः' प्रयोगका समर्थन किया है परन्तु व्याकरण तथा महाकविप्रयोगके विरुद्ध होनेसे यह सर्वसम्मत नहीं। अब कहिए किसे निरंकुश कहा जाय! क्या कवि को!

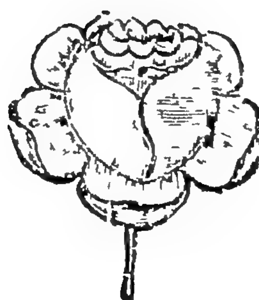
दूसरा आक्षेप स्वर्गीय पं० महावीरप्रसाद द्विवेदीजीका है। वह इस प्रकार है—रघुवंशके प्रथम सर्गके अड़तालीसवें श्लोकमें 'महिषी सखः' प्रयोग आया है। यहाँ यदि 'महिष्याः सखा' विग्रह करें तो महिषीकी प्रधानता होगी और राजा सहायक होंगे, इसलिये बहुव्रीहि होना चाहिए, जैसा गृहिणीसहायः' में हुआ है। पर यहाँ बहुव्रीहिमें समासान्त न होगा। यह आक्षेप भी सारगर्भ नहीं प्रतीत होता। यहाँ तो किसीकी प्रधानता या अप्रधानता विवक्षित ही नहीं है, केवल इतना ही विवक्षित है कि दूसरा कोई सहायक न था। इसीलिये मल्लिनाथ भी लिखते हैं—'सहायान्तरनिरपेक्ष इत्यर्थः'। अतएव तत्पुरुष समास करनेसे अर्थभेद नहीं होता।

तीसरा आक्षेप यह है कि रघुवंशके दसवें सर्गके बारहवें श्लोकमें भगवानके वर्णन 'हेतिभिश्चेतनावद्भिरुदीरितजयस्वनम्।' में 'हेति' शब्द पाणिनिजीके 'ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्तयश्च' सूत्रसे स्त्रीलिङ्ग है। यदि ऐसा है तो विशेषण-बोधक पद—चेतनावद्भि न होकर 'चेतनावतीभिः' होना चाहिए। यह आक्षेप भी निःसार है।

एक तो स्वयं भाष्यकारने व्याकरणको लिङ्गनियामक नहीं माना है, 'लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य'। लिङ्ग वस्तुतः लोक-प्रयोगके अधीन है। दूसरे, कोश में 'हेति' शब्दको पुल्लिङ्ग भी माना है। हेतिरक्लीव के अनुसार यह शब्द केवल नपुंसक लिङ्ग नहीं है।

चतुर्थ आक्षेप कुमारसंभवके एक शब्दपर है। वहाँ कविने लिखा है—'भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार' सर्ग ३।७२। यहाँ 'हरनेत्रजन्मा' कहना चाहिए। 'मदनका नाश' करना है तो, उत्पत्यर्थक 'भव'का प्रयोग अनुचित है। एक तो 'भव' रूढ़ि संज्ञा है, इससे कोई योगार्थ-प्रतीति नहीं होती, अन्यथा संहारक शक्तिका 'शिव' या 'भव' नाम ही न हो सकता। दूसरे, नाशक तो 'वह्नि' है, 'भव' तो नाशक है नहीं, प्रत्युत अग्निका उत्पादक है, इसलिये भी 'भव' शब्दका ही प्रयोग उचित है। तीसरे, भस्मावशेष मदनकी फिरसे उत्पत्ति होगी, इसलिये 'भव' शब्दका प्रयोग करना ही न्यायसंगत है।

इस प्रकार कवि कालिदासपर व्याकरण-नियमोल्लंघनका आक्षेप समुचित नहीं है। वे तो सर्वथा वैयाकरणसिद्धान्त तथा प्रक्रियांश के वेत्ता थे।



कालिदासके ग्रन्थोंकी उपादेयता

(पं० सीताराम जयराम जोशी, एम्० ए०, साहित्याचार्य)

किसी ग्रन्थकी उपादेयता, उस ग्रन्थकी लोकप्रियतापर विशेष निर्भर होती है। जो ग्रन्थ विद्वान् तथा अविद्वान् दोनोंको समान रूपसे प्रिय होते हैं वे ही ग्रन्थ प्रशंसनीय होते हैं और उन्हींकी उपादेयता मान्य होती है। कालिदासके सभी ग्रन्थोंके इस प्रकारके होनेसे उनकी उपादेयता स्वत सिद्ध है।

कालिदास और उनके ग्रन्थ सस्कृतके सभी विद्वानोंको पूर्ण परिचित हैं। उनके निर्मित रघुवंश तथा कुमारसंभव नामके दो महाकाव्य, मेघदूत नामका खण्डकाव्य तथा मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय और अभिज्ञानशाकुन्तल नामके तीन नाटक आबाल-वृद्धोंको ज्ञात हैं। संस्कृत साहित्यका अध्ययन उन्हीं के ग्रन्थों से आरम्भ होता है और यह कह दें तो भी कोई अतिशयोक्ति न होगी कि संस्कृत साहित्यके अध्ययनकी परिसमाप्ति भी उन्हीं के ग्रन्थोंको ठीक ठीक समझने में ही हो सकती है। प्रसिद्ध विद्वान् टीकाकार मल्लिनाथके प्रास्ताविक श्लोकों में बड़ी ही सुन्दरताके साथ इस उक्तिकी पुष्टि की गई है। मल्लिनाथ संस्कृत भाषामें विद्यमान पञ्च-

महाकाव्योंपर सर्वोत्तम टीका लिखनेवाले माने गए हैं। वे अनेक शास्त्रों के परिडत थे जैसा कि उन्हीं के श्लोकों से पता चलता है:—

> वाणीं काणभुजीमजीगणदवाशासीच्च वैयासिकीम्।
> अन्तस्तन्त्रमरंस्त पन्नगगवीगुम्फेषु चाजागरीत्॥
> वाचामाकलयद्रहस्यमखिलं यश्चाक्षपादस्फुराम्।
> लोकेऽभूद्यदुपज्ञमेव विदुषां सौजन्यजन्यं यशः॥
> मल्लिनाथः कविः सोऽयं मन्दात्मानुजिघृक्षया।
> व्याचष्टे कालिदासीयं काव्यत्रयमनाकुलम्॥

कणाद मुनिका वैशेषिक दर्शन, बादरायण व्यासजीका वेदान्त, पतञ्जलि मुनिका व्याकरण महाभाष्य, और अक्षपादका न्याय आदि शास्त्रोंका उन्होंने अध्ययन किया था और वे सबमें पारंगत थे। इसके अतिरिक्त ये अच्छे कवि थे और साहित्य विद्याके अच्छे परिडत थे। ये ईस्वी सन्‌की १४वीं शताब्दीमें विद्यमान थे। कालिदासके तीनों काव्योंपर इनके पूर्ववर्ती अनेक टीकाकार हुए हैं और विशेषकर रघुवंशकी टीका लिखनेवाले १८ अच्छे परिडत नामत ज्ञात हैं। उन टीकाकारोंमें कुछ विद्वान् विशेष योग्यतावाले भी हैं। तथापि मल्लिनाथने अपने प्रस्ताविक श्लोकमें कहा है—

> भारती कालिदासस्य दुर्व्याख्या विषमूर्छिता।
> एषा संजीविनी टीका तामद्योज्जीवयिष्यति॥

कालिदासकी वाणी दोषपूर्ण टीकारूपी विषसे मूर्छित हो चुकी है। मेरी यह सजीवनी टीका उसमें जीवनका संचार करेगी। इस उक्तिसे यह अनुमान सुतरां सिद्ध है कि उनके पूर्ववर्त्ती टीकाकार कालिदासके ग्रन्थोंको अच्छी तरह नहीं समझ पाए थे। उक्त श्लोकके पूर्वमें भी मल्लिनाथ कहते हैं—

> कालिदासगिरां सारं कालिदाससरस्वती।
> चतुर्मुखोऽथवा ब्रह्मा विदुर्नान्ये तु मादृशाः॥

अर्थात् कालिदासकी वाणीके सारको केवल आजतक तीन व्यक्तियों ने समझा है, एक तो विधाता ब्रह्मा, दूसरी वाग्देवी सरस्वती और तीसरे कालिदास स्वयम्। मेरे सदृश अल्पज्ञ उनको ठीक समझनेमें

सर्वथा असमर्थ है" । जब मल्लिनाथकी कोटिके विद्वान् कालिदासकी रचनाओंको ठीक ठीक नहीं समझ पाते हैं, तब कालिदासकी योग्यताके विषयमें पाठक स्वयं अनुमान कर सकते हैं। उनके ग्रन्थ इस प्रकार रहस्य होते हुए भी इतने सरल हैं कि उनको छोड़कर दूसरा कोई भी ग्रन्थ प्रारम्भिक छात्रों के लिये पाठ्य विषय नहीं हो सकता। इसलिये इन ग्रन्थों के विषयमें महाकवि भवभूतिकी उक्ति "वज्रादपि कठोरानि मृदूनि कुसुमादपि । लोकोत्तराणां चेतांसि को नु विज्ञातुमर्हति" चरितार्थ हो सकती है।

संस्कृत साहित्य और कालिदास इन दोनोंका सम्बन्ध अटूट है। संस्कृत साहित्यका सौष्ठव और सौरभ बहुत कुछ इन्हीं के ग्रन्थोंपर निर्भर है। जिस प्रकार रामायण और महाभारत ये दो आर्ष काव्य सारे संस्कृतके कवियों के उपजीव्य हैं उसी प्रकार कालिदासके काव्य-नाटक उनके पश्चाद्वर्ती सभी कवियों के लिये अनुकरणीय बने हैं। यदि संस्कृत साहित्यसे कालिदासको हटा दिया जाय तो उसमें अन्य अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथों के रहते हुए भी उस गीर्वाण-वाणीकी लोकप्रियतामें कमी आ जायगी। अमेरिकाके राइडर नामके विद्वान्ने कालिदासकी श्रेष्ठताको अनेक प्रकारसे स्थापित करते हुए अन्तमें यही कहा है कि—

वी नो दैट कालिदास वाज़ ए ग्रेट पोएट, बिकौज़ दि वर्ल्ड हैज़ नौट् बीन एबिल् टु लीव हिम् एलोन।

कालिदासके विना संस्कृत साहित्यका अध्ययन ही नहीं हो सकता। हम कालिदासको छोड़ नहीं सकते और छोड़कर संतोष नहीं पा सकते।

जर्मनीके जगत्प्रसिद्ध विद्वान् और कवि गेटे, कालिदासके शाकुन्तलके अनुवादको पढ़कर आनन्द-वेगसे पागलसे हो गए और उन्हों ने उस ग्रन्थकी विलक्षण प्रशंसा करते हुए यह कह डाला—

उड्स्ट दाउ दि यङ्ग ईअर्स ब्लौसम्स ऐण्ड फ्रूट्स औफ़ इट्स डिक्लाइन,

ऐण्ड औल बाइ हिच दि सोल इज चार्म्ड, एन्रेप्चर्ड, फ़ीस्टेड ऐण्ड फेड्।

उड्स्ट दाउ दि अर्थ ऐण्ड हेविन इट्सेल्फ़ इन वन सोल नेम कम्बाइन,

आइ नेम दी, ओ शकुन्तला ! ऐण्ड ऑल ऐट् वन्स इज़ सेड् ।

(यदि तुम युवावस्थाके फूल और प्रौढ़ावस्थाके फल और अन्य ऐसी सामग्रियाँ एक ही स्थानपर खोजना चाहो जिनसे आत्मा प्रभावित होता हो, तृप्त होता हो, और शान्ति पाता हो अर्थात् यदि तुम स्वर्ग और मर्त्यलोकको एकही स्थान पर देखना चाहते हो तो मेरे मुखसे सहसा एक ही नाम निकल पड़ता है—शकुन्तला) ।

कविकी वाणी प्राय. उसके हृदयका प्रतिबिम्ब होती है । कालिदासके विषयमें मल्लिनाथका यह कहना सर्वथा सत्य है कि वे कालिदासके हृदयको पूर्णतः परख नहीं पाए थे । कालिदासके ग्रन्थों में ऐसी कौन बात है जिसपर सभी दार्शनिक, तान्त्रिक कवि, तथा अन्य विद्वान् मुग्ध हैं । यदि ऐसा कहें कि उनके ग्रन्थों में चारों पुरुषार्थोंका प्रतिपादन कान्ताकी सी मधुर वाणी में किया गया है तो रामायण महाभारतादि आर्ष काव्य उनसे कम नहीं हैं । उपनिषद्, भगवद्गीतादि धर्मशास्त्र तथा मोक्षशास्त्रके ग्रन्थ, महाभारतके अनेक पर्वों में एवं पुराणों में और स्वतन्त्र रूपसे भी विद्यमान अर्थशास्त्र और कामशास्त्रके ग्रन्थ—ये सब कालिदासके ग्रन्थों के उपजीव्य हैं । इतना ही नहीं, वरन् उनके ग्रन्थों में संगीतादि अन्यान्य शास्त्रों के विषय भी पाए जाते हैं । तथापि इतनेसे ही कालिदास हमें इस प्रकार प्रिय नहीं हो सकते जैसा हम इनको पाते हैं । यह भी मान लिया कि कालिदास निसर्गसे समरस थे, अतः उनके ग्रन्थों में निसर्ग अथवा प्रकृतिका वर्णन अनुपम हो उठा है । अलंकारों में भी विशेष उपमा अलंकारके वर्णनमें तो वे अद्वितीय ही हैं । मातृगुप्तके बतलाए हुए तीनों प्रकारके रस कालिदासके ग्रन्थों में पाए जाते हैं :—

रसास्तु त्रिविधा वाचिकनेपथ्यस्वभावजाः ।
रसानुरूपैरालापै. श्लोकैर्वाक्यैः पदैस्तथा ॥
नानालंकारसंयुक्तैर्वाचिको रस उच्यते ॥
कर्म-रूप-वयो-जाति-देश-कालानुवर्तिभि. ।
माल्यभूषणवस्त्राद्यैः नेपथ्यरस इष्यते ॥

रूपयौवन—लावण्य—स्थैर्य—धैर्यादिभिर्गुणैः ।
रसः स्वाभाविको ज्ञेयः स च नाट्ये प्रशस्यते ॥

उनमें पहला है वस्तु मात्रमें रहनेवाला स्वाभाविक रामणीयक रस और दूसरा कृत्रिम रस है जिसे कवि, योग्य शब्द-सौष्ठवके द्वारा तथा उचित नेपथ्य-वर्णनसे प्रस्तुत करता है। ये सब कालिदासके ग्रन्थों में प्रचुर मात्रामें मिलते हैं। इतना होते हुए भी उनकी एक विशेषता यह भी है कि वे मनुष्यकी भूमिकामें स्थित होकर हमारी सभी प्रकारकी वासनाओंकी धाराओंको सुन्दर एवं सूक्ष्म रूपसे चित्रित करते हैं जिसको पढ़ते समय पाठक तन्मय होकर काव्यके उस परम प्रयोजन सद्यः परनिर्वृतिका अनुभव करने लगता है जिसे मम्मट भट्टने अपने 'काव्यप्रकाश' में इस प्रकार विशद किया है कि काव्यरसका आस्वाद करते ही सब विषयोंको भूलकर केवल आनन्दमय बन जाता है। इसी आनन्दको स्थायी रूपसे प्राप्त करनेके लिये सारा संसार प्रयत्नशील है। आनन्द आत्माका स्वरूप है अतः जबतक मनुष्यको सच्चा आनन्द प्राप्त नहीं होता तबतक उसे शान्ति और समाधान प्राप्त नहीं हो सकते।

कालिदासकी ग्रन्थ-निर्मितिमें प्रधान अभिप्राय जनार्दन-रूपी जनताकी आराधना ही प्रतीत होती है। इस लक्ष्यको उन्होंने स्वयं विशद किया है। मालविकाग्निमित्र उनका पहला नाटक है। उसमें उन्होंने नाट्यके प्रयोजनको सुन्दर रूपसे प्रकट किया है—

देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषम्।
रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा ॥
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते।
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधकम् ॥

देवताओंको यज्ञ प्रिय होता है। उनके नेत्रोंको तृप्त करनेवाला परम प्रिय यज्ञ इस नाट्यकलाका अभिनय है, ऐसा मुनियोंका मत है। रुद्रदेवने अपनी अर्द्धाङ्गिनी उमाजीके साथ इस नाट्ययज्ञको अपने ही शरीरमें द्विधा विभाजितकर ताण्डव और लास्य नामकी नृत्यकलाओं को आविर्भूत किया। सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों से निर्मित इस सृष्टिमें विद्यमान त्रिगुणात्मक लोक-चरित

अनेक प्रकारके रसोंको प्रकट करता हुआ अभिनय रूपमें उपलब्ध है। अतः भिन्न-भिन्न अभिरुचिको रखनेवाली जनताको प्रसन्न करनेके लिये एक मात्र साधन नाट्यकला ही है।

रघुवंश काव्यके आरम्भमें रघुकुलके राजाओंका महत्त्व एवं उनकी योग्यताका वर्णन करनेके वहाने कितने ही प्रकारके रमणीय उपदेश प्राणिमात्रके लिये महाकविने दिए हैं। जिस कार्यको कोई वड़ासे वड़ा सुधारक चारों ओर घूमकर, उपदेशोंकी झड़ी लगाकर कर सकता है उसे कवि, संसारके एक कोनेमें वैठा हुआ अपनी लेखनीके वलसे सदाके लिये कर दिखाता है। देखिए निम्नाङ्कित पंक्तियोंको—

सोऽहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम् ।
आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनाम् ॥
यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनाम् ।
यथापराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम् ॥
त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम् ।
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम् ॥
शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् ।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥
रघूणामन्वयं वक्ष्ये ... .

इस प्रकार रघुवंश काव्यमें कालिदासने रघुवंशी राजाओंको निमित्त वनाकर उदारचरित पुरुषोंका स्वभाव पाठकोंके सामने रक्खा है। उनका यह अभिप्राय नहीं है कि लोग उनके सदृश होनेके लिये वाध्य हैं। क्योंकि ऐसा होना असम्भव है। किन्तु यदि हम विचार करें तो ज्ञात होगा कि इस संसारमें कोई ऐसा पुरुष नहीं है जो अपनेको उन्नत न वनाना चाहता होगा क्योंकि उन्नतिकी इच्छा करना आत्मा का धर्म है। परन्तु प्रायः सांसारिक जीवोंकी इन्द्रियाँ विषयोंके अधीन होती हैं और इसलिये त्रिगुण स्वभावके अनुसार वे सदा अवश रहते हैं। पर आत्माकी स्वाभाविक प्रवृत्ति अपने स्वरूपकी खोज करनेकी ओर होती है इसलिये उसको ऐसे उदारचरितोंका वर्णन ही प्रिय होता है और उसके पढ़नेमें अज्ञात रूपसे मन तन्मय होकर अनुपम आनन्द का अनुभव करता है। ऊपर दिए हुए श्लोकोंमें ही कैसी सुन्दर

कल्पना भरी हुई है। सूर्यवंशकी सन्तान जन्मसे ही पवित्र और निष्कलंक होती थी। पवित्र कुलमें जन्म लेना कोई स्पृहणीय धर्म अवश्य है जिसमें कालिदासको अटल श्रद्धा थी। आत्माकी उन्नतिके लिये प्रयत्न करनेवालोंको हताश होनेका कोई कारण नहीं। रघुवंशी राजाओंके वृत्तसे यह शिक्षा मिलती है कि वे फलकी प्राप्तितक कर्म करते जाते थे। पृथ्वीपर राज्य करते थे तो साधारण राजाओं की तरह नहीं वरन् अपने राज्यकी सीमाको समुद्रतक पहुँचाते थे। उनके रथोंकी गति दस दिशाओं में स्वर्गतक भी थी। इतने महान् होने पर भी वे अहंकार और दुरभिमानसे ग्रस्त नहीं होते थे, वरन् शास्त्र-विधिका पालन करते हुए देवताओंका पूजन और हवन बराबर किया करते थे। याचक अर्थी होकर पहुँचते थे तो उनकी अभिलाषाओं को पूरी कर उनको सन्तुष्ट किया करते थे। राजाका कर्तव्य दुष्टोंका दमन करना है, इसलिये अपराधके अनुरूप दण्ड देने में कभी चूकते न थे। यह सब रहनेपर भी उनमें विलास-प्रियता न थी। वे जितेन्द्रिय होते थे। इस बात को एक ही शब्दमें उन्होंने झलकाया है—यथाकालप्रबोधिनाम्, अर्थात् सोकर उठनेका समय उनका कभी टलता न था। वे धन इकट्ठा करते थे परन्तु योग्य पात्रको उसका दान कर देते थे। वे मितभाषी होते थे जिससे सत्यका अपलाप न हो। विजयी होनेकी इच्छासे ही दिग्विजय किया करते थे और उसका मुख्य हेतु चारों दिशाओं में अपने यशको फैलाना था। केवल संततिकी इच्छासे ही गृहस्थाश्रमको स्वीकार करते थे, विषय-तृप्तिके लिये नहीं। बाल्यावस्थामें ही अध्ययन समाप्त कर लेते थे। यौवनमें विषयोंका उपभोग होता था किन्तु वह नियम-रहित मनमाना नहीं होता था प्रत्युत शास्त्रविधिके अनुसार, जिससे भोगे रोगभयं भी न आए और जवानी बीतनेके पहले ही मुनिका आचरण अङ्गीकार कर लेते थे और योगबलको पाकर देह-त्यागके अनन्तर ब्रह्म-निर्वाण-रूपी मोक्षको पा लेते थे। इन सब विषयोंका संकलन केवल रघुवंशमें है जिसकी वस्तु स्वभाव-सुन्दर होनेके कारण उसको इस श्रेष्ठ कविने अपनी अनुपम वाणीके सामर्थ्यसे और उचित वेश भूषादि योजनाके द्वारा उस काव्यको विविध रसों से ओतप्रोत कर दिया है। कालि-

दासके अन्य ग्रन्थ भी इस प्रकारके तथा अन्य प्रकारके गुणों से पूर्ण होनेसे अत्यन्त मनोज्ञ और लोकप्रिय बन गए हैं।

आलंकारिकों ने उपदेशके तीन प्रकार बताए हैं। प्रभुसम्मित, मित्रसम्मित और कान्तासम्मित। सम्मित शब्दका अर्थ तुल्य है। प्रभुसम्मित उपदेश आज्ञाके रूपमें होता है। वह जिस पुरुषके लिये होता है उसको विवश होकर उपदेशका पालन करना आवश्यक हो जाता है। जैसे माता-पिताका उपदेश बालकों के प्रति होता है। वह औषधके समान प्रारम्भमें अप्रिय होने पर भी अन्तमें गुणकारी होता है। वेद, उपनिषद्, शास्त्र आदि धर्म-ग्रन्थोंका उपदेश इसी प्रकारका माना गया है। दूसरा उपदेश मित्रसम्मित है जो कि पुराणादि ग्रन्थों-से ज्ञात होनेवाला है, जैसे कोई मित्र दूसरे मित्रको कुमार्गसे हटानेके लिये कुछ कह रहा हो उसी समय उसके मनमें यह विश्वास भी रहता है कि मेरा मित्र मेरे उपदेशको मान ले तो उसका कल्याण होगा, यदि नहीं मानेगा तो हम उसे बाध्य नहीं कर सकते। किन्तु तीसरा उपदेश कान्ता-सम्मित है जो अच्छे काव्योंका प्राणरूप होकर कभी विफल नहीं होता। इस उपदेशमें कान्ताके समान पुरुषको सर्वदा प्रसन्न रखते हुए उसको अच्छे पथपर लानेके लिये ऐसा अतर्कित उपाय है कि जब वह अपने को सुधरा हुआ पाता है तब वह उस चमत्कारको देखकर मनही मन चकित हो जाता है। कालिदासके ग्रन्थों में यह तीसरे प्रकारका उपदेश स्थान-स्थानपर मिलेगा। कालिदासके स्वभावकी विशेषता यह है कि किसीसे घृणा करना तो दूर रहा, उल्टे सभी प्रकारके ऊँच-नीच पात्रोंकी प्रकृतिको खींचकर उनके अच्छे और बुरे परिणामोंका मधुर शब्दों में वर्णन करते हुए उनको ग्रहण कर लेते हैं। उचित होगा या अनुचित इसका निर्णय उन्हों ने पाठकों के लिये छोड़ रक्खा है जिससे पाठकोंको कालिदास पर क्रुद्ध होनेका अवसर कभी नहीं आ सकता। सारे संसारकी सहज प्रवृत्ति विषयसुखकी ओर रहती है। विषयसुखकी वासना कितनी प्रबल होती है और अपनेको राजर्षि जितेन्द्रिय बतलानेवाले भी इस वासनासे कैसे विवश हो जाते थे और साथ ही उससे अत्यन्त व्यथित होने पर अधर्मके मार्ग पर चलकर अर्थ और कामको वे कितना हेय

समझते थे, इसका सूक्ष्म और सुन्दर चित्रण हमें कालिदासके ग्रन्थों में मिलता है, जिसे पढ़कर पाठक समझ जायेंगे कि साधारण जनता कष्ट और क्लेशों से बचनेके लिये विषयके अधीन हो जाती है परन्तु असाधारण अलौकिक जन प्राणपनसे भी अधर्म और अन्यायके प्रलोभनको जीतनेकी चेष्टा किया करते हैं। इस विषयमें तीनों नाटकों के नायकों के उदाहरण हमारे सामने हैं। अभिज्ञान-शाकुन्तलके प्रथम अङ्कमें जब शकुन्तलाको राजा प्रथम बार देख लेते हैं तब उसके सौन्दर्यपर मुग्ध हो जानेपर भी मनमें विचारने लगते हैं कि यह ऋषि-कन्या स्पर्शक्षमरत्न है अथवा अग्नि और सत्यताके विदित होनेके पहले ही आत्म-विश्वासपर निर्भर होकर इस निर्णयपर पहुँच जाते हैं कि इस दुष्यन्तका मन आजतक कुपथकी ओर कदापि नहीं झुका है इसलिये शकुन्तलाके प्रति इच्छा अधर्म नहीं हो सकती। इससे एक बात निश्चित हो जाती है कि यदि किसी बातमें धर्मका विरोध न हो तो उसकी प्राप्तिके लिये किसी उपाय अथवा प्रयत्नका अवलम्बन करना प्रशंसनीय है। मनके विचारोंको वशमें करनेका सरल ढंग मालविकाग्निमित्र और विक्रमोर्वशीय सभीमें देखनेको मिलता है। कालिदासके प्रत्येक काव्य या नाटकमें नायक और नायिकाएँ भिन्न भिन्न कोटिकी दर्शाई गई हैं। जैसे कुमारसंभवमें अत्युच्च कोटिके नायक शिवजी, पार्वतीके सौन्दर्यपर मुग्ध नहीं होते हैं तब पार्वतीजी 'अरूपहार्यं मदनस्य निग्रहात्' (कामका निग्रह करने वाले शङ्कर भला रूप-द्वारा कैसे रिझाए जा सकते हैं ?) को ध्यानमें रखकर कठिनसे कठिन तपश्चर्या करनेके लिये उद्यत हो जाती हैं और शङ्करको दास बनना पड़ता है।

> अद्यप्रभृत्यनवताङ्गि तवास्मि दासः
> क्रीतस्तपोभिरिति वादिनि चन्द्रमौलौ।
>
> —कुमारसंभव, सर्ग ५, श्लो० ८६।

इस प्रकार काम-पुरुषार्थका बहुत ऊँचा चित्र उन्होंने अपने काव्यमें खींचा है। ऐसे ही अनेक सूक्ष्म भावोंको मधुर सान्द्र सूक्तियों के द्वारा वर्णन करते हुए उनको अति मनोहर बना दिया है और

भगवद्गीताकी 'धर्माविरुद्धो भूतेषु कालोऽस्मि भरतर्षभ'का चारितार्थ्य सुचारु रूपसे सिद्ध किया है और स्वयं कामरूपी भगवान्के उपासक थे इसको भी झलकाया है। काम-पुरुषार्थकी निसर्ग-दुर्लभता और उसको प्राप्त करनेके अनेक सरल सुगम उपाय तथा उस पुरुषार्थका उपभोग करनेवाले विविध व्यक्तियोंके स्वभाव-वर्णन आदि सब विषय आबालवृद्ध सभीको स्वभावसे ही प्रिय हैं तथा उनके ग्रन्थोंमें उपलब्ध होते हैं और यही उनकी उपादेयताका कारण है।

कवि-जगत्में कालिदासका मौलिक स्थान है। त्रिवर्गके विषय धर्म, अर्थ और काम, जिनका प्रतिपादन शास्त्रोंमें सुचारु तर्क और अनुभवसे किया गया है, उनको रोचक वर्णनोंके साथ आबालवृद्धके हृदयमें प्रविष्ट करा देना और उनकी चित्तवृत्तिको तन्मयताकी लहरमें लीन करा देना अच्छे कविका ही कार्य है, और उसीकी कृतिको विद्वानोंने काव्य नाम दिया है। दृश्य और श्रव्य दो प्रकारका काव्य होता है। कालिदासने दोनोंपर लेखनी चलाई है। ऐसी रचनाओंकी मौलिकता प्राञ्जल भाषा-द्वारा पूर्वोक्त उचित नेपथ्यके साथ वस्तु-प्रतिपादन पर निर्भर रहती है। कालिदासने नाट्यकलामें प्रवीणता प्राप्त करके विचक्षण जगतके सामने अपनी प्रथम रचना रक्खी जिसे मालविकाऽग्निमित्र कहते हैं। उस नाट्यके उपक्रमसे ज्ञात होता है कि उन्हें इस बातका विश्वास नहीं था कि वह रंगमंच पर खरा उतरेगा। क्योंकि उनके पूर्ववर्ती भास, सौमिल्ल, कविपुत्र आदि अनेक नाटककार प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे तथापि कालिदासमें इतना आत्मविश्वास अवश्य था कि उन कवियोंके नाटकोंमें जो बातें नहीं पाई जाती हैं वे मालविकाग्निमित्रमें दर्शकोंको मिल सकती हैं। इसलिये वे कहते भी हैं—'पुराणमित्येव न साधुसर्वं
न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।

मालविकाग्निमित्र १।२

(पुराना होनेसे ही कोई काव्य ग्राह्य नहीं हो सकता और नवीन होनेके कारण त्याज्य भी नहीं हो सकता।) अच्छे समालोचक इस नाटककी समालोचना करते समय एक बातको भूल जाते हैं कि कालिदासने इस नाटकके लिये ऐसा नायक चुना जो कालिदासके

समकालीन राजाओं मेंसे था। अग्निमित्र शुंग वंशके एक साधारण राजा थे। उनके कई पत्नियाँ थीं तथापि उनकी काम-वासना नूतन उपादेय सुन्दर वस्तुको देखनेसे जागरित हो जाती थी और वह वस्तु यदि सुप्राप्य रहती थी तो उसकी प्राप्तिके लिये कोई भी यत्न बचा नहीं रक्खा जाता था। हमारी दृष्टिमें यह उसी समयका चरित्र-चित्रण है और इसीको उन्हों ने नाटकका प्रधान विषय बनाया है। शेक्सपियरने भी कहा है कि 'नाटक' जगत्के व्यवहारोंका प्रतिबिम्ब है (होल्डिंग मिरर अपटु नेचर)। कालिदास इसे भली-भाँति जानते थे कि महाभारत और रामायणमें वर्णित राजर्षिके समान अग्निमित्र उदात्त-चरित नहीं थे तथापि ये नायकके सभी साधारण गुणों से सम्पन्न अवश्य थे।

वे धीरोदात्त थे, दक्षिण थे और मालविकासे प्रेम करते हुए भी विवाहिता रानियों के साथ कभी उपचारातिक्रम नहीं करते थे। मालविकाके साथ एकान्त सेवनरूप जो मानुष-सहज स्खलन कालिदासने अग्निमित्रमें बतलाया है, उसके कारण आधुनिक कतिपय विद्वानों ने उन्हें बहुत ही हीन-चरित्र बताया है एवं उनकी निन्दा भी की है परन्तु कालिदासकी दृष्टिमें अग्निमित्रका मालविकाके साथ एकान्त समागम केवल मालविकाको स्मरपीड़ाकी आत्यन्तिक अवस्थासे बचानेके लिये ही था ऐसा प्रतीत होता है। नाटकमें इस अभिनयको कविने अपनी कुशलतासे ही चित्रित किया है। अन्तमें राजपुत्रीके सम्बन्ध को जान कर देवी धारिणीके द्वारा ही मालविकाको देवी पद प्रदान कराया है। इसी प्रकार इस नाटकमें परिव्राजिका, गायनाचार्य, विदूषक तथा अन्य कुल-स्त्रियोंका वर्णन विलक्षण चातुरीके साथ किया गया है और उपर्युक्त वाचिक, नेपथ्य और स्वाभाविक तीनों रसोंका परिपोष इतना मनोज्ञ बना दिया गया है कि उसे पढ़कर तथा देख कर पाठक एवं दर्शक मुग्ध हो जाते हैं और सत्त्व, रज एवं तम इन तीनों गुणों के अनुरूप अनेक प्रकारके रसका आस्वाद करते हैं।

मालविकाग्निमित्र नाटकके पश्चात् अभिनय-जगत्में अवतरित कालिदासका दूसरा नाटक अथवा त्रोटक विक्रमोर्वशीय है जिसमें मनुष्य भूमिकापर स्थित करा कर राजर्षि और दिव्यांगनाका

ऐसा वर्णन किया है कि करुण विप्रलम्भ शृंगारका अतिविस्मय-जनक रस, विलक्षण भाषा-सौन्दर्य और संगीत-शास्त्रके रहस्यमय पदों के साथ अत्यन्त मनोहर बन गया है। कथा, केवल वेदमें वर्णित सारांश रूपमें ही है। इला और बुधके पुत्र तथा चन्द्रमाके पौत्र राजा पुरूरवा देवांगना उर्वशीके साथ प्रणय करते हैं, फिर वियोग हो जाता है और फिर मिलन भी हो जाता है जिससे एक पुत्र उत्पन्न होता है। यही सामान्य कथा कवि-कौशलसे बहुत ही रमणीय बन गई है। इस नाटकमें विशिष्ट पात्रोंकी मनोभावनाएँ सूक्ष्मसे सूक्ष्म विशिष्ट संगीत-विज्ञानके साथ प्रकट करके कालिदासने नाट्य-कलामें दूसरा प्रशंसापत्र पाया। ऐसी शुष्क कथामें कालिदासके अतिरिक्त अन्य कोई भी कवि इतना जीवन नहीं डाल सकता था।

तीसरा नाटक सबसे सर्वांगसुन्दर उपदेशों से भरी हुई, मानव-स्वभावकी विचित्रताको दर्शानेवाली सभी देशों और कालों के अनुरूप कमनीय अभिनय-कलापूर्ण कृति, अभिज्ञान शाकुन्तलके रूपमें प्रकट हुई और उसने नाटक-जगत्‌में सदाके लिये श्रेष्ठ स्थान प्राप्त कर लिया। पाश्चात्यों के भारतसे परिचित होनेके कुछ कालके अनन्तर संस्कृत भाषाके अन्यान्य ग्रन्थों के साथ इस नाटकका भी अनुवाद योरोपीय भाषाओं में हुआ। हम पहले कह चुके हैं कि केवल इसके अनुवादको पढ़कर योरोपके विख्यात कवि गेटेने इसपर लट्टू होकर हर्षातिरेकके साथ इसका आदरपूर्वक अभिनन्दन किया। विद्वानों में यह श्लोक प्रसिद्ध ही है—

काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला।
तत्रापि च चतुर्थोऽङ्कस्तत्र श्लोकचतुष्टयम्॥

अर्थात् जितने काव्यके प्रकार हैं उनमें नाटक विशेष सुन्दर होता है, तथा प्रसिद्ध नाटकों में काव्य-सौन्दर्यकी दृष्टिसे अभिज्ञान शाकुन्तलका मूर्धन्य स्थान है। अभिज्ञान-शाकुन्तलमें भी चतुर्थ अङ्क और इस अङ्कमें भी चार श्लोक विशेष मनोहर हैं। वल्कल धारिणी शकुन्तलाको देखकर दुष्यन्तका हृदयोद्गार इस रूपमें निकला—'इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्।'

स्वभावसे ही रमणीय वस्तुओंकी शोभा बाह्य उपकरणोंपर निर्भर नहीं होती प्रत्युत असुन्दर वेष-भूषणा भी उनकी सहज कमनीयतामें बाधा नहीं डालती। उनकी शोभा प्रतिक्षण नवीन ही रूप धारण करती है। यदि सर्वांग-सुन्दर अभिज्ञान-शाकुन्तलके भाषान्तरमें किए गए अनुवादोंकी समीक्षा करते समय दुष्यन्तकी इसी उक्तिका उपयोग किया जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। ठीक ही है, आभ्यन्तर-सौन्दर्य बाह्य उपादानके अनुपयुक्त होनेपर भी जगमगाता ही रहेगा। यह नाटक किसी भी रूपमें रहे, इसकी हृदयहारिता ज्यों की त्यों बनी रहेगी। हमने सुना है कि इस विश्वव्यापी घोर संग्रामके कुछ मास पूर्व इस बीसवीं शताब्दीमें आस्ट्रेलिया द्वीपखण्डमें इस नाटकके आंग्ल भाषानुवादका अभिनय करके वहाँकी जनता आनन्द लेती थी। इसमें चौथा अङ्क सब प्रकारसे सुन्दर तो है ही, उसके चार श्लोक किसी भी देशमें सदाके लिये सभीको उपादेय हैं। अधिक क्या कहा जाय शाकुन्तलकी एक पंक्ति भी दोषग्रस्त नहीं है। इतना ही नहीं, प्रत्येक पंक्तिमें एक न एक विशेषता है। इस नाटकके सभी पात्र धीवरसे लेकर दुष्यन्ततक अपने अपने ढंगसे रमणीय रूपमें अनेक रसोंका परिपोष करते हैं।

कालिदासके तीनों काव्य अपने अपने वैशिष्ट्यको रखनेवाले हैं। कालिदास अर्धनारी-नटेश्वर शङ्कर भगवानके उपासक थे। यह बात उन्हों ने अपने ग्रन्थों के मंगल-श्लोकों में झलकाई है, तथापि ब्रह्मा, विष्णु, महेश इन तीनोंके प्रति उनकी अभेद बुद्धि थी। विशिष्ट कार्यों के कारण एक ही परतत्त्वके तीन प्रकारके अभिधानके मूलप्रकृतिके गुणों के अनुसार तीन नाम हैं। सर्जन, पालन और संहरण, राजस, सात्त्विक और तामस प्रकृतिके कार्य होनेके कारण कार्यभेदसे एक ही परतत्त्वकी ब्रह्मा, विष्णु, और महेश ये तीन प्रतीक मूर्तियाँ हैं। सांख्यकी प्रकृति और पुरुषको कालिदासने उसी परतत्त्वका आविर्भाव माना। उसी तत्त्वको योगीजन अपने हृदयमें स्थित ज्योतिके रूपमें पाकर कृतार्थ होते हैं। इस प्रकार कालिदासने सारे विश्वको आठ मूर्तियों में विभक्त करके उन सबको अपने उपास्य देवताका ही पृथक् पृथक् अङ्ग माना है। इस दार्शनिक सिद्धान्तका प्रतिपादन स्थान स्थानपर

उन्होंने किया है। शङ्कर भगवान्‌के अर्धनारी-नटेश्वरके रूपमें उनके उपास्य देव होनेके कारण प्रथम उन्हींकी आराधनाके रूपमें कुमार-सम्भवका प्रवचन प्रतीत होता है। जगन्माता और जगत्पिताका काम-पुरुषार्थ—संभोग तथा विप्रलम्भात्मक उभयरूप—शृंगारमयका मनोज्ञ-वर्णन शान्त रसमें संपन्न होकर सुस्थिर आत्मानन्दका देनेवाला होता है। बताइए, कालिदासके अतिरिक्त दूसरा कौन कवि है जो इसे इतनी सफलताके साथ वर्णन कर पाया हो? यहाँपर अचेतन सृष्टि सचेत हो उठी है। हिमालय कालिदासकी सृष्टिमें जड़ पर्वत नहीं है प्रत्युत वह देवतात्मा है जहाँ पर सब देवता सदाके लिये वास करते हैं। पार्वतीजीके तपोवनमें बढ़नेवाले पेड़ उनके पुत्रों से कम सत्य-भाजन नहीं थे। जंगम प्राणियोंकी कथा ही क्या—उस तपोवनमें व्याघ्र और हिरण अपने शत्रु-भावको त्यागकर शान्त चित्तसे विचरण करते थे, वहाँ स्थावर वृक्ष-लताएँ भी प्राणधारी बनकर घड़ेके जलरूपी स्तन्यका पान किया करते थे। इन कथनों से कालिदासने दर्शनके उदात्त तत्त्व चैतन्यका सर्व-व्यापित्व बड़ी रमणीयतासे झलकाया है। शिवजी योगीश्वर थे इसीलिये वे पार्वतीजीके सौन्दर्यपर लुब्ध होनेवाले नहीं थे। इसलिये पार्वतीजीने अपने रूपको हेय माना और कठिन तपके द्वारा शिवजीको वशमें किया—

इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां
समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः।
अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं
तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः॥

—कुमारसंभव, ५।२.

बस, कालिदासका सारा प्रयत्न प्रेम और समाधि दोनोंको एक ही जगह दिखानेका था। इसका उद्देश्य और कोई नहीं, क्योंकि प्राणि-मात्रका परम पुरुषार्थ अभ्युदय और निःश्रेयस इन दोनोंको एकत्र पानेमें ही है। यह शिक्षा हमें कालिदासके ग्रन्थों से मिलती है। कुमारसम्भवका पञ्चम सर्ग पूराका पूरा इसी भावसे भरा हुआ है।

कविके वर्णनका रहस्य व्यञ्जना-व्यापारसे उपदेश देनेका रहता है। आलङ्कारिक हमें बतलाते हैं कि सारे रामायणका प्रयोजन 'रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणादिवत्' (राम तथा तत्सदृश पुरुषोंकी भाँति चले, रावण इत्यादिकी भाँति नहीं) है। कुमारसम्भवमें दिव्य नायकका दिव्य चरित वर्णित है परन्तु लौकिक काम और शृंगार रसकी सूक्ष्म भावनाओंका वर्णन करनेके लिये उन्होंने मेघदूत लिखा जिसमें यह वर्णन किया है कि प्रकृतिके समरस होते हुए भी प्राणीको मनुष्य-सुलभ विपत्ति और वियोगमें सूक्ष्म भावनाओंका अनुभव किस प्रकार होता है और कैसे होना चाहिए। मेघदूत काव्य कोरी कल्पनाका फल नहीं है जिसमें निसर्गके अनुपम वर्णन तथा शृंगार-सर्वस्वको कालिदासने अपने अत्यन्त अनुकूल मन्दाक्रान्ता वृत्तमें धर दिया है। यक्षकी अन्तिम हार्दिक इच्छा यही है कि हे मेघ'—

इष्टान्देशाञ्जलद विचर प्रावृषा संभृतश्रीः
माभूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः॥

—उत्तरमेघ, ५८

इस प्रकार कालिदासके ग्रन्थोंका जब हम सूक्ष्म निरीक्षण करेंगे तब विदित होगा कि कालिदासके ग्रन्थों में अत्यन्त उदात्त चरित्र शङ्कर भगवान् तथा भगवान् रामचन्द्रसे लेकर साधारण राजा अग्निमित्र आदि तथा उनके साथ-साथ सृष्टिके सभी अन्य नीच प्रकारके व्यक्तियोंका विविध प्रकारका वर्णन पाया जाता है जो भिन्न-भिन्न रसोंकी पुष्टि करता है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारोंका वर्णन तो है ही, साथ ही चारों पुरुषार्थोंकी जो सदिच्छा अर्थात् कामरूपी भगवान् हैं, उन्हींकी श्रेष्ठता जहाँ-तहाँ पाई जाती है—

"स शान्तिमाप्नोति न कामकामी" (गीता)

मुमुक्षु भी मोक्षका कामी ही होता है। इस लोकमें जितने देहधारी होते हैं वे किसी न किसी कामके उपासक हैं। कोई धर्म-कामी है तो कोई अर्थ-कामी, बहुतसे काम-कामी हैं तो कोई मोक्ष-कामी भी हैं और ऐसे भी बहुतसे मिलेंगे जो धर्म, अर्थ और काम इस त्रिवर्गको समान रूपसे चाहेंगे और दूसरे मोक्षके साथ

चतुर्वर्गको, और कुछ केवल अर्थ-कामसे सन्तुष्ट रहेंगे। देखिए, कालिदासने हमें इन सभीके प्रतीक दिए हैं। केवल धर्म-काम सीता देवी और रामचन्द्र, केवल अर्थ-काम दिलीप और राजा दशरथ, केवल काम-कामी अग्निवर्ण तथा रावण, केवल मोक्ष-कामी राजा रघु तथा अज, धर्म तथा काम दोनोंके उपासक राजा पुरूरवा और दुष्यन्त, धर्म, अर्थ और काम तीनोंके उपासक राजा अग्निमित्र और इन सभी प्रकारके कामोंको पूर्ण नष्टकर आत्म-स्थित होनेवाले शङ्कर भगवान् जो पुरुषोत्तमके सुन्दर प्रतीक हैं और उनको भी अपनी तपोभक्तिसे दास बनानेवाली महाभक्त पार्वतीजी मूल प्रकृतिकी प्रतीक—इन सभीका सुन्दर वर्णन पाठक वहाँ पायँगे। बताइए, सारे संसारके किन ग्रन्थोंमें इतनी विविध प्रकारकी बातोंका इतना अनुपम विवेचन पाया जा सकता है।

कालिदासकी ओर देखनेकी एक और दृष्टि है। वह है सद्य-पर-निर्वृति-तात्कालिक परमानन्द, जो काव्योंके पढ़नेके साथ ही मिलता है। कालिदास इस विषयमें पार्वतीजीकी ओर संकेत कर रहे हैं। तात्पर्य यह है कि सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंसे उत्पन्न चरित्र नाना रसोंमें अर्थात् आठ अथवा नौ प्रकारके रसोंमें जो परिपुष्ट हो रहा है वह क्षणिक होता है, कदापि शाश्वतिक नहीं होता। क्षणिक रस अवश्य शाश्वतिक रसके ही अंश हैं। शाश्वतिक रस शान्त रस है जो आत्मामें सर्वदा स्थित है, जिसको प्राप्त करनेके उपरान्त उससे श्रेष्ठ कोई वस्तु प्राप्त करने योग्य रह नहीं जाती। वही आत्मानन्द है। अतः आत्मानंदको हम शान्त रसका स्थायी भाव मानते हैं। दूसरे विद्वानोंने काम, तृष्णा-क्षयसुख आदिको शान्त रसका स्थायी भाव माना है परन्तु वे सभी इसी आत्मानन्दके भीतर आ जाते हैं। यह आत्मानन्द ही सांख्य शास्त्रमें निर्दिष्ट पुरुषका धर्म है। किन्तु पुरुष जब प्रकृतिके अधीन हो जाता है तब प्रकृतिके तीनों गुणोंसे निकलने वाले उसी एक ही शान्त रसके आठ प्रकार शृंगार, वीर, करुण, हास्य, भयानक, रौद्र, विस्मय और अद्भुत् हो जाते हैं, अतः शान्त रसको इन आठोंका प्रभव अथवा उदय-स्थान मानना चाहिए, उनसे पृथक् नहीं। कालि-

दासका सर्वथा यही प्रयत्न है कि इन्हीं आठों रसों के द्वारा उन उन आनन्दोंको प्रकट करते हुए अन्तमें उस शाश्वतिक आनन्द को ही निरुपाधि बनाकर प्राप्त करा दें जो शान्तिके रूपमें आत्मामें स्थित है। यह त्रिगुणातीत होकर पार्वतीजीके पदपर स्थित होकर पाना है। 'तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृश'। यहाँ भगवान्‌के विषयमें भक्तिरूप प्रेमसे परमरूप प्रभुको प्राप्त करना है। यह तपपूर्वक समाधिके विना नहीं प्राप्त हो सकता है यही ध्वनि-काव्यका उत्तम गुण व्यञ्जना व्यापार, कालिदासके सभी ग्रन्थों में अनुस्यूत है, अतएव वे सर्व-उपादेय बन गए हैं।



कालिदास और प्रकृति

[व्याकरणाचार्य, साहित्यशास्त्री पंडित करुणापति त्रिपाठी, एम्० ए० (हिन्दी-संस्कृत), बी० टी०, फ़ैलो, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय]

विश्वके विशाल साहित्यमें शेक्सपियरको लोग अन्तर्जगत्का सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार मानते चले आते हैं और कालिदासको बाह्य जगत् का। बाह्य जगत्के चित्रणमें, प्राकृतिक वर्णनमें कालिदासने जो मनोरम काव्य-रचना की है, वह साहित्य-जगत्में अद्वितीय है। इनके प्रकृति-वर्णनमें इतनी सजीवता है, इतनी रमणीयता है तथा इतनी भव्यता और स्वाभाविकता है कि पाठकों और श्रोताओंके मन बरबस ही उनमें रम जाते हैं। उनके प्रकृति-प्रेमका अनुमान मेघदूतके इस एक ही श्लोकसे लगाया जा सकता है—

हस्ते लीलाकमलमलके बालकुन्दानुविद्धं
नीता लोध्रप्रसवरजसा पाण्डुतामानने श्रीः।
चूडापाशे नवकुरवकं चारु कर्णे शिरीषं
सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम् ॥

—उत्तरमेघ, २।

इस श्लोकमें जो वर्णन है वह शकुन्तला-जैसी किसी तपोवन-वासिनी स्त्रीका वर्णन नहीं है वरन् धनपति कुबेरकी उस अलका-पुरीकी यक्षिणियोंका वर्णन है जहाँ महापद्म आदि नवों निधियाँ सदा निवास करती हैं, जहाँकी भूमि मणिकी बनी है, जहाँ गगन-चुम्बी प्रासाद खड़े हैं, जहाँ सितमणिके हर्म्यस्थल हैं, कनकमय सिकता है, अमर-प्रार्थित यक्षकन्याएँ जहाँ दिनरात मणियोंसे खेल खेला करती हैं, रात्रिमें जहाँ रत्न-प्रदीप जला करते हैं, चन्द्रकान्ता-शिलाओंका बाहुल्य है, जहाँके तालाबोंकी सीढ़ियाँ मरकत आदि मणियोंकी बनी हैं, हेम-कमलोंमें वैदूर्य मणिके नाल हैं, इन्द्र नीलके क्रीड़ा-शिखर है सौर अन्य सभी बहुमूल्य तथा देवदुर्लभ सम्पत्तियाँ बिखरी पड़ी हैं। और फिर कल्पवृक्षोंसे समस्त सम्पत्ति और समस्त विभूति भी सुप्राप्य है। इतना सब होनेपर भी वहाँकी अमर प्रार्थित अङ्गनाओंके शृंगारकी सामग्रियाँ प्रकृतिकी विभूतियाँ है न कि जड़ मणि-शिलाओंके टुकड़े। यह वर्णन सूचित करता है कि प्रकृतिके पुजारी भावुक कविकी अन्तस्तल-दृष्टिको इन प्राकृतिक पदार्थोंमें जो सुषमा लक्षित होती है वह सुषमा रत्नमुक्ता-खचित कांचनके आभूषणोंमें नहीं दिखाई पड़ती।

इस महाकविकी शकुन्तला भी मानो साक्षात् प्रकृतिकी कन्या है। तपोवनके पावन वातावरणमें पाली हुई शकुन्तला जिस समय आश्रम-तरुओंको सींचती हुई हमारे सम्मुख आती है, उस समय आश्रम वृक्षोंके प्रति शकुन्तलाका स्नेह ऐसा जान पड़ता है मानो वे उसके सगे कुटुम्बी ही हों। आश्रम-वृक्षोंकी इस भाँति मनोयोग-पूर्वक सेवा करनेवाली शकुन्तला, प्रत्येक वृक्षको अनुराग-पूर्वक सींचने-वाली शकुन्तला, तपोवनकी किन लताओंमें कब स्तवक प्रकट हुए, कब उनमें मञ्जरियाँ दिखाई पड़ीं, इन सब बातोंका ध्यानपूर्वक निरी-क्षण करनेवाली कण्व-लालिता शकुन्तलाका अद्भुत प्रकृति-प्रेम उस समय लक्षित होता है जब स्वयं महर्षि कण्व जाती हुई शकुन्तला को निर्दिष्ट करके वृक्षोंकी ओर देखते हुए कहते हैं—

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनाऽपि भवतां स्नेहेन या पल्लवम् ॥

आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्याः भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम् ॥

—शाकुन्तल, ४।६

शकुन्तलाके इस चरम प्रकृति-प्रेमका प्रभाव यह होता है कि तपोवनके समस्त जड़चेतन उसके ऐसे अनन्य अनुरागी हो जाते हैं कि उसकी विदाईके समय वहाँके वन-देवताओं और तरुलताओं ने अलौकिक वस्त्राभूषणादि तक उसके लिये उपहारमें प्रदान कर डाले।

ऐसा जान पड़ता है कि कविकुल-गुरुकी समस्त वृत्तियाँ प्रकृति के सौन्दर्य-निरीक्षणमें, उनकी आरम्भिक अवस्थासे ही रम गई थीं। उनका ऋतुसंहार जो उनका आरम्भिक काव्य माना जाता है— प्रकृतिकी मनोहर सुन्दरताओं के सूक्ष्म एवं सहृदय निरीक्षणका एक ज्वलन्त साक्षी है। यद्यपि ऋतुओंका आश्रय लेकर प्रकृतिकी सहज विशेषताओंका वर्णन ऋतुसंहारमें उद्दीपन विभावके रूपमें हुआ है तथापि उसका प्रथम श्लोक—

प्रचण्डसूर्यः स्पृहणीयचन्द्रमाः सदावगाहक्षतवारिसंचयः।
दिनान्तरम्योऽभ्युपशान्तमन्मथो निदाघकालोऽयमुपागतः प्रिये ॥

—ऋतुसंहार, १।१

इस बातका पर्याप्त प्रमाण है कि सरस्वतीके लाड़ले पुत्र कालिदासके वर्णन, रूढ़ियों और अलंकार-शास्त्रीय परम्पराओं के कोरे निर्वाह मात्र नहीं है, वरन् आत्मानुभूति-जन्य हैं। फिर—

काशैर्मही शिशिरदीधितिना रजन्यो हंसैर्जलानि सरितां कुमुदैः सरांसि।
सप्तच्छदैः कुसुमभारनतैर्वनान्ताः शुक्लीकृतान्युपवनानि च मालतीभिः ॥

—ऋतुसंहार, ३।२

यह शरत्का वर्णन कविकी व्यापक दृष्टि और उनके वास्तविक तथ्य-निरीक्षणका परिचायक है।

वसन्त-वायुका वर्णन करते हुए कवि कहता है—

आकम्पयन् कुसुमिताः सहकारशाखाः
विस्तारयन् परभृतस्य वचांसि दिक्षु।

वायुर्विवाति हृदयानि हरन्नराणां
नीहारपातविगमात् सुभगो वसन्ते ॥
—ऋतुसंहार, ६।२४

इस वर्णनमें यद्यपि बहुत ही साधारण बात कही गई है तथापि इससे यह सूचित होता है कि बौरे हुए आमके बागमें बैठकर मतवाली कोकिलकी कूक सुनकर अपना तन-मन निछावर कर देने वाले कविने ही यह लिखा होगा। इसी भाँति ऋतुसंहारके प्रत्येक सर्गमें आदि और अन्तके ऋतु-वर्णन-विषयक पद्य इतने सरस, सुन्दर और साथ ही इतने भव्य हैं कि उन्हें पढ़ते ही या सुनते ही हृदयमें उन ऋतुओं का चित्रसा खिंच जाता है।

कुमार-सम्भव तो प्रकृति-नटीके ललित लास्यकी रमणीय रङ्ग-शाला है। प्रथम सर्गका हिमालय-वर्णन संस्कृत साहित्यमें क्या समस्त विश्व-साहित्यमें एक देदीप्यमान रत्न है। कुछ उदाहरण लीजिए :—

यश्चाप्सरो विभ्रममण्डनानां सम्पादयित्रीं शिखरैर्बिभर्ति।
वलाहकच्छेदविभक्तरागामकालसन्ध्यामिव धातुमत्ताम् ॥४॥
कपोलकण्डूः करिभिर्विनेतुं विघट्टितानां सरलद्रुमाणाम्।
यत्र स्रुतक्षीरतया प्रसूतः सानूनि गन्धः सुरभीकरोति ॥९॥
भागीरथीनिर्झरसीकराणां वोढा मुहुः कम्पितदेवदारुः।
यद्वायुरन्विष्टमृगैः किरातैरासेव्यते भिन्नशिखण्डिबर्हः ॥१५॥

ऐसा सुन्दर और स्वाभाविक पर साथ ही साथ सरस वर्णन तब-तक सम्भव नहीं हो सकता जबतक कविका हृदय प्रकृतिकी मनोरम लीलाओंको देखकर मुग्ध न हो गया हो।

आगे चलकर तृतीय सर्गमें पुनः वसन्तका और अष्टम सर्गमें सन्ध्या तथा चन्द्रोदयका वर्णन भी अत्यन्त मोहक है। महाकविकी अनेक विशेषताओंमें यह भी एक विशेषता है कि जहाँ वे एक ओर प्रकृतिके स्वाभाविक शब्दचित्र-निर्माणमें अतीव प्रवीण हैं, वहाँ वे दूसरी ओर अपनी नवनवोन्मेषशालिनी कल्पनामयी प्रतिभाके सहारे अलौकिक और दिव्य विभूतियोंका वर्णन भी बड़ी निपुणताके साथ

करते हैं। जहाँ एक ओर हिमालयका अत्यन्त स्वाभाविक वर्णन करनेमें उन्हें पूर्ण सफलता मिली है, वहीं दूसरी ओर ओषधिप्रस्थ पुरीके, हिमालय-निवासी यक्षों, गन्धर्वों, किन्नरों और अप्सराओंके, अलकाके, सुमेरुके और गन्धमादनादिके काल्पनिक वर्णनमें भी उन्हें पूर्ण सफलता मिली है। उनकी सूक्ष्म निरीक्षण-शक्तिके उदाहरण सर्वत्र बिखरे पड़े हैं। पर्वतके झरनों पर दिनके समय जब सूर्यकी किरणें पड़ती हैं तब उनमें इन्द्रधनुष चमकने लगता है, पर सन्ध्याके समय सूर्यके लटक जानेपर उनमें इन्द्रधनुष नहीं दिखाई पड़ता। इसीका कवि वर्णन कर रहा है—

सीकरव्यतिकरं मरीचिभिर्दूरयत्यवनते विवस्वति।
इन्द्रचापपरिवेषशून्यतां निर्झरास्तव पितुर्व्रजन्त्यमी ॥ ८।३१

किन्तु झरनोंमें इन्द्रधनुषके न दिखाई पड़नेपर भी तालाबोंके जलमें लटकते हुए सूर्यकी समतल कान्ति पड़नेसे ऐसा जान पड़ता है मानो उनके ऊपर सोनेका पुल बना हो—

पश्य पश्चिमदिगन्तलम्बिना निर्मितं मितकथे विवस्वता।
लब्धया प्रतिमया सरोम्भसां तापनीयमिव सेतुबन्धनम् ॥८।३४

रूढ़िका अनुसरण करनेवाले कविकी ये उक्तियाँ नहीं हो सकतीं, वरन् ये उसकी उक्तियाँ हैं जो कि मुग्ध दृष्टिसे प्रकृतिकी शोभा देखते हुए सब कुछ भूल जाता है।

इसी प्रकार रघुवंशमें भी तपोवनका वर्णन, प्रभात-वर्णन, वसन्त-वर्णन, समुद्र-वर्णन आदि भी अनुपम हैं—

सेकान्ते मुनिकन्याभिस्तत्क्षणोज्झितवृक्षकम्।
विश्वासाय विहंगानामालवालाम्बुपायिनाम्।

—रघुवंश, १।५१

वृन्ताच्छ्लथं हरति पुष्पमनोकहानां
संसृज्यते सरसिजैररुणांशुभिन्नैः।
स्वाभाविकं परगुणेन विभातवायुः
सौरभ्यमीप्सुरिव ते मुखमारुतस्य ॥

ताम्रोदरेषु पतितं तरुपल्लवेषु
निर्धौतहारगुलिका विशदं हिमाम्भः।
आभाति लब्धपरभागतयाधरोष्ठे
लीलास्मितं सदशनार्चिरिव त्वदीयम्।

—रघुवंश, ५।६९-७०

अमदयन् मधुगन्धसनाथया किसलयाधरसंगतया मनः।
कुसुमसंभृतया नवमल्लिका स्मितरुचा तरुचारुविलासिनी।

—रघुवंश ९।४२

ससत्वमादाय नदीमुखाम्भः सम्मीलयन्तो विवृताननत्वात्।
अमी शिरोभिस्तिमयः सरन्ध्रैरूर्ध्वं वितन्वन्ति जलप्रवाहान्।

—रघुवंश, १३।१०

तवाधरस्पर्धिषु विद्रुमेषु पर्यस्तमेतत्सहसोर्मिवेगात्।
ऊर्ध्वाङ्कुरप्रोतमुखं कथंचित्क्लेशादपक्रामति शंखयूथम्।

—रघुवंश, १३।१३

इसी सर्गमें आगे चलकर गंगा-यमुनाके संगमका कितना संश्लिष्ट वर्णन है। सम्भवतः गंगा-यमुनाके संगमका ऐसा भव्य चित्र संस्कृत साहित्यमें उपलब्ध नहीं है। सोलहवें सर्ग में कुशकी जलक्रीड़ाके अवसरपर नदीका तथा मार्गके अन्यान्य दृश्योंका कितना मनोहर वर्णन है। इस प्रकार केवल रघुवंशमें ही प्रकृतिके न जाने कितने ललित एवं मनोरम दृश्योंके अत्यन्त कलापूर्ण चित्रात्मक वर्णन भरे पड़े हैं।

मेघदूत तो मानो प्रकृति रमणीके लालित्यपूर्ण मनोरम विलास-चेष्टाओंका आगार है। पूर्व-मेघमें आरम्भसे लेकर अन्ततक कैसा अनुपम प्रकृतिका वर्णन है। वर्षाके आरम्भका एक वर्णन लीजिए :—

मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वां
वामश्चायं नदति मधुरं चातकस्ते सगन्ध।

गर्भाधानक्षणपरिचयान्नूनमाबद्धमाला·
सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः ॥
—पूर्वमेघ, १०

ग्रीष्म ऋतुके बाद पहले-पहल वर्षाकी बूँदोंके पड़नेपर गरमी भर तपे हुए पत्थरवाले विन्ध्यादि पहाड़ोंसे जो भाप निकलती है उसका वर्णन लीजिए—

काले काले भवति भवतो यस्य संयोगमेत्य
स्नेहव्यक्तिश्चिरविरहजं मुञ्चतो बाष्पमुष्णम् ॥
—पूर्वमेघ, १२

इसी भाँति बाँबियोंके ऊपर मकड़ीके जालों और नीचे घास पर पड़ी हुई ओसकी बूदोंपर या वर्षाकी बूँदोंपर दिखाई पड़नेवाले इन्द्रधनुषके समान इन्द्रधनुषकी छाया पड़नेसे मेघकी कान्ति कैसी हो उठती है—इसे देखिए—

रत्नच्छायाव्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत्पुरस्तात्
वल्मीकाग्रात्प्रभवति धनु खण्डमाखण्डलस्य ।
येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते
बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णो ॥
—पूर्वमेघ, १५

वर्षाके आरम्भमें जब जलकी बूदोंके गिरनेपर भूमिसे सोंधी-सोंधी गन्ध उठती है उस समय सरल कृषक बालाएँ कितने स्नेहसे श्यामल अम्बुवाहोंको देखती हैं—

त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञैः
प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनै पीयमान ।
सद्यः सीरोत्कषणसुरभि क्षेत्रमारुह्य मालं
किंचित्पश्चाद्व्रज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण ॥
—पूर्वमेघ, १६

रेवाका वर्णन लीजिए—

रेवां द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णां।
भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमङ्गे गजस्य ॥

—पूर्वमेघ, २०

ऊबड़-खाबड़ विन्ध्यके निचले भागमें बहती हुई रेवा सजे हुए हाथीके अङ्ग-सी जान पड़ती है।

एक और सुन्दर वर्णन लीजिए—

नीपं दृष्ट्वा हरितकपिशं केशरैरर्धरूढै-
राविर्भूतप्रथममुकुलाः कन्दलीश्चानुकच्छम्।
जग्ध्वारण्येष्वधिकसुरभिं गन्धमाघ्राय चोर्व्याः
सारङ्गास्ते जललवमुचः सूचयिष्यन्ति मार्गम् ॥

—पूर्वमेघ, २२।

इस प्रकार समस्त पूर्वमेघ अत्यन्त भव्य और रमणीय प्राकृतिक दृश्य-चित्रों से भरा पड़ा है।

प्रकृतिके किसी एक अङ्गके नहीं वरन् समस्त अङ्गों के वर्णनमें वे बड़े सिद्ध-हस्त हैं। मेघदूतमें हम देखते हैं कि उनका प्रकृति-वर्णन एक ओर तो प्राकृतिक सुन्दरताओंका शब्द-चित्राङ्कन है और दूसरी ओर बाह्य जगत्का अन्तर्जगत्के साथ सम्बन्ध दिखानेवाला है। उन प्राकृतिक दृश्योंको देखकर केवल कविके, यक्षके या अनुप्राणित मेघके हृद्गत भाव ही नहीं वर्णित हैं, वरन् ग्रामवधुओं, पथिकों और विरहियों के भावोंका भी अत्यन्त मनोरम चित्रण है। इतना ही नहीं, वरन् चातकों, मयूरों, बगुलों तथा हंसोंकी भी उन चेष्टाओंका वर्णन है जिनमें उनकी अन्तरानुभूतियोंकी छाया झलकती है। जन्तु-जगत्की मनोहर चेष्टाओं के चित्रणमें तो कालिदास सिद्ध-हस्त हैं। दुष्यन्त बाण चढ़ाए हरिणके पीछे रथ दौड़ा रहे हैं और वह गर्दन टेढ़ी कर करके पीछे निहारता और चौकड़ी मारता भाग रहा है, थक जानेके कारण उसकी साँस फूल रही है और मुँह खुल गया है, इस कारण आधी कूँची हुई कुशा उसके मुखसे गिर रही है और चौकड़ीकी तेजीसे वह उड़ता सा जान पड़ रहा है—

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः
पश्चार्द्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद्भूयसा पूर्वकायम्।
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति॥

—शाकुन्तल, १।७

महाकवि जो कुछ लिखते ते वह उनकी वैयक्तिक अनुभूति और निरीक्षणका परिणाम होता था। शाकुन्तलके प्रथम अङ्कमें तपोवन की जिन परिपूत विशेषताओंका कविने वर्णन किया है, वे मानो उनके अनेक बारके देखे हैं—

नीवाराः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः
प्रस्निग्धा क्वचिदिंगुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः।
विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगा-
स्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यंदरेखाङ्किता॥

—शाकुन्तल, १।१४

कुल्यांभोभिः प्रसृतिचपलैः शाखिनोधौतमूलाः
भिन्नो रागः किसलयरुचामाज्यधूमोद्गमेन।
एते वार्वागुपवनभुविच्छिन्नदर्भाङ्कुरायां
नष्टाशङ्का हरिणशिशवो मन्दमन्दं चरन्ति॥

—शाकुन्तल, १।१५

महाकविके वर्णनकी यह एक अनुपम विशेषता है कि यदि उसका वर्णन दिव्य पात्रों और अलौकिक स्थलियों से सम्बद्ध नहीं है तो उसमें स्वाभाविकता और भौगोलिक सत्यता अवश्य रहती है। भारविके समान हिमालयमें वे मोतीका वर्णन नहीं करते। जिस देश, जिस काल और जिस परिस्थितिमें उनकी प्रकृति चित्रित होती है वह उसी देशकालके पूर्णतः अनुरूप होती है। रघुके दिग्विजयका वर्णन करते हुए कवि, जिस मार्गसे और जिस समय जिस देशमें ले चलता है, उस समय वहाँकी जो बातें उसके वर्णनमें आती है, वे भौगोलिक विचारसे पूर्णतः वास्तविक हैं। चाहे वे प्राच्य

समुद्रके तटस्थ श्यामल तालीवनका वर्णन करता है, चाहे बङ्गालके कलमका निर्देश करता है, चाहे महेन्द्राद्रिके नागवल्ली-दलों और नारिकेलासवका चित्र खींचता है, चाहे मारीच वनमें परिभ्रान्त हारीतवाले मलयाद्रिकी उपत्यकाकी कथा सुनाता है, चाहे पाण्ड्य देशकी ताम्रपर्णीकी बात बताता है, चाहे 'केरल'की मुरला नदीके पुलिनस्थ केतकीके पुष्प-परागोंकी गाथा गाता है, चाहे भारतके पश्चिमी सीमा-प्रान्तके अंगूरसे व्याप्त प्रदेशका वृत्तान्त कहता है, चाहे काश्मीरके कुंकुम-केसरोंकी कहानी कहता है, चाहे हिमालयके भोज-पत्रोंका मर्मर, मृगोंकी कस्तूरी, सरल और देवदारुके तरु और गंगाके शीकरसे मिश्रित शीतल अनिलके गीत गाता है अथवा लौहित्य नदी पार करनेपर कामरूपके अगुरु वृक्षोंकी सम्पत्तिका वर्णन करता है, सब कुछ भौगोलिक और प्राकृतिक वास्तविकता और याथातथ्यसे परिपूर्ण है। रघुदिग्विजयके अतिरिक्त इन्दुमती-स्वयंवर और मेघदूतमें मेघके मार्ग-वर्णन आदिमें भी ऐसे अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं, जहाँ दैशिक विशेषताओं के प्राकृतिक वर्णनमें कवि पूर्ण रूपसे यथार्थ है।

भौगोलिक तथ्य—वर्णनके अतिरिक्त महाकवि कालिदासके प्रकृति-वर्णनकी दूसरी विशेषता यह है कि प्रस्तुतकी अमूर्त्त विशेषताओं और सुषमा-सम्बन्धी विलक्षणताओं के साकार साक्षात्कारके लिये वह प्रकृतिके अप्रस्तुत प्रसङ्गों की निर्बाध सहायता लेता है। शकुन्तलाकी अकृत्रिम सुषमाकी ललित कल्पनाको मूर्त्त रूपमें चित्रित करनेके लिये वह कहता है:—

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्।
शकुन्तला—१।१९

इसमें शकुन्तलाकी सहज रूपसम्पत्तिका मूर्त्त प्रत्यक्षीकरण करानेके लिये सेवारसे घिरे हुए कमल और सकलङ्क कलाधरकी

सहायता ली गई है। इसी भाँति शकुन्तलाके अभुक्तपूर्व यौवनकी अभिव्यक्तिके लिये, उसके अछूते यौवनकी मनोरमताके-प्रतिपादनके लिये, कवि अप्रस्तुतकी सहायता लेकर कह उठता है:—

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै-
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनवं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः॥

शकुन्तला—२।१०

अनाघ्रात पुष्पादिका वर्णन हमारे सन्मुख उसकी अभुक्त रूप-सम्पत्तिका एक भव्य और प्रभावशाली चित्र उपस्थित कर देता है। इस चित्रकी सहायतासे अमूर्त्त भावनाके मूर्त्त साक्षात्करणमें अत्यन्त तीव्रता आ जाती है, हृदयपर उसकी एक मधुर और अमिट छाप पड़ जाती है।

रमणी-सौन्दर्यको देखकर अनेक तरुणोंके मन आकृष्ट होते रहते हैं, पर इतना कह देना कि अमुक सुन्दरीको देखकर अमुक युवकका मन मुग्ध हो गया, पर्याप्त नहीं होता। केवल इतनेमें न तो कोई साहित्यिक रमणीयता जान पड़ती है और न इसका कोई प्रभाव ही पड़ता है। अतः उर्वशीका स्वर्गीय सौन्दर्य देखकर पुरुरवा का हृदय जब मुग्ध हो गया तब उसीका प्रभावशाली वर्णन करते हुए कवि कहता है—

एषा मनो मे प्रसभं शरीरात् पितुः पदं मध्यममुत्पतन्ती।
सुराङ्गना कर्षति खण्डिताग्रात्सूत्रं मृणालादिव राजहंसी॥

विक्रमोर्वशीयम्—१।२०

जैसे मृणालके दो खण्ड करके एक खण्डसे दूसरे टुकड़ेके दूर किए जानेपर भी उसमेंसे निकलता हुआ सूत्र दोनोंका सम्बन्ध बनाए रखता है, उसी भाँति उर्वशीके चले जानेपर भी महाराजकी आँखें और समस्त अन्तर्वृत्तियाँ उसी ओर लगी हैं। इसी प्रकार विरहिणी यक्षिणीकी मलिन मूर्तिका चित्रात्मक साक्षात्करण करानेके

हेतु कविने उसे शिशिरमथिता पद्मिनीके तुल्य कहा है। आगे उसीका वर्णन करते हुए कविकुल-कमल-दिवाकर कहते हैं—

नूनं तस्याः प्रबलरुदितोच्छूननेत्रं प्रियाया
निःश्वासानामशिशिरतया भिन्नवर्णाधरोष्ठम्।
हस्तन्यस्तं मुखमसकलव्यक्ति लम्बालकत्वा—
दिन्दोर्दैन्यं त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तेर्बिभर्ति॥

मेघदूत (उत्तरमेघ)—२४

यहाँ भी अप्रस्तुत चन्द्र यह सूचित करता है कि सहज-सुन्दर यक्षिणीका मुख वियोगके बादलोंसे कान्तिहीन हो गया है। इस रीतिसे महाकविके काव्यों में अप्रस्तुत रूपमें भी प्रकृतिका अत्यन्त प्रभावशील और चित्रात्मक दृश्योत्थापक वर्णन पग-पगपर भरा पड़ा है।

यद्यपि कालिदासके प्रकृति-वर्णनमें अनेक विशेषताएँ हैं तथापि उन सबका वर्णन यहाँ सम्भव नहीं है, अतः यहाँ केवल एक और विशेषताके सम्बन्धमें कुछ निवेदन कर देना है।

कविकी दृष्टिमें मानवके चारों ओर फैली हुई विशाल प्रकृति, अनगिनत तारों से जगमगाता हुआ अनन्त अम्बर, अगाध समुद्र, विशाल वन, लता, वृक्ष, पल्लव, प्रसून, फलादि, नदी, पशुपक्षी तथा अन्य अनन्त प्रकृतिके पदार्थ केवल जड़ या बुद्धि और भावनासे हीन साधारण वस्तुएँ नहीं हैं, वरन् उसकी भावुक कल्पना-चक्षुओं के सन्मुख वे सभी चेतन जान पड़ते हैं, वे सभी भावनाशील हैं और मानव जगत्के प्रति उनके हृदयमें सहानुभूति है, मानवपीड़ासे वे व्यथित होते हैं और मानव-सुखसे सुखी। इसके भव्य और विशद उदाहरण एक नहीं, महाकविके काव्यमें अनेक हैं। विक्रमोर्वशीयके चतुर्थ अङ्कमें उर्वशीके वियोगमें विलाप करते पुरुरवाको देख मानो समस्त प्रकृति सदृशानुभूतिसे आकुल हो उठती है, और पुरुरवाको भी सारी प्रकृति सजीव और मानव-सुषमामें व्याप्त दिखाई पड़ती है। सम्पूर्ण प्रकृतिको अपने प्रति समानुभूतिपूर्ण और सदय देखकर

ही पुरुरवाके द्वारा कवि अपने हृदयका भाव उनके प्रति व्यक्त करता है।

इसी भाँति शकुन्तला भी मानो प्रकृति सुन्दरीकी, नैसर्गिक शोभामयी वनदेवीकी दुलारी पुत्री है। तपोवनके मृगों तथा अन्य पशु पक्षियोंके प्रति उसका हृदय बान्धव-स्नेहसे आप्लुत है। नैसर्गिक वन्य-सुषमासे उसके कलेवरके अणु-अणु निर्मित और परिपालित हैं। कण्वके कथनानुसार जो शकुन्तला तरुलतादिको बिना सींचे जल पीना भी पसन्द नहीं करती थी उस शकुन्तलाकी विदाईके समय समस्त तपोवन विरहाकुल हो उठता है, तो क्या आश्चर्य।

उग्गलिअदब्भकवला मिआ परिच्चत्तणच्चणा मोरा।
ओसरिअपण्डुपत्ता मुअन्ति अस्सू विअ लदाओ॥
शकुन्तला—४।१२

धर्मपिता कण्व और अन्य तपोवनवासियोंकी विरह-व्याकुलता तो ठीक ही है, पर जड़ और मूक प्रकृतिकी शोककातरता तथा व्यथा-व्याकुलता उसी कविके अन्तःकरणके साथ स्पन्दित हो सकती है जिसके हृदयकी वीणाके तार प्रकृतिके व्यापारोंसे बज उठा करते हैं।

महाकविके द्वारा जड़ प्रकृतिका चेतनीकरण मेघदूतमें आदिसे अन्ततक प्रतिबिम्बित दिखाई पड़ता है। यक्ष जड़ मेघको अपना दूत बनाकर अपनी प्रियतमाके पास भेजता है। मेघकी सेवा, मार्गमें बलाका (बकपंक्ति) करेगी, किसलयका पाथेय लिए हुए राजहंस मार्गमें उसका साथ देंगे, जानेके समय 'रामगिरि' भी आँसू बहायगा, मार्गमें सुन्दर रेवा नदी मिलेगी, मयूर स्वागत करेंगे, विदिशामें पहुँचनेपर कामुकेच्छा पूर्ण होगी और वेत्रवतीके चञ्चल-तरङ्ग-भ्रुकुटियोंवाले मुखका वह चुम्बन करेगा तथा प्रकृति चेतन मानवके समान आचरण करेगी।

जहाँ एक ओर कवि मनुष्यके बाह्य शारीरिक सुन्दरताकी प्रभावशील और तीव्र अनुभूतिके लिये प्रकृतिके मनोरम और ललित उपादानोंकी सहायता लेता है, वहीं दूसरी ओर वह प्राकृतिक

रमणीयताकी प्रभावशीलता तथा तीव्रता बढ़ानेके लिये प्रकृतिमें भी मानव सौन्दर्यका आरोप करके अप्रस्तुत रूपसे मानवीय सुन्दरता तथा भावाभिव्यक्तिकी सहायता लेता हैः—

वीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणिकाञ्चीगुणायाः
संसर्पन्त्या स्खलितसुभगं दर्शितावर्तनाभेः।
निर्विन्ध्यायाः पथि भव रसाभ्यन्तरः सन्निपत्य
स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु॥

मेघदूत (पूर्वमेघ)—३०

महाकविके सन्मुख सुरतग्लानिको दूर करनेवाला शिप्रानिल मानों प्रार्थना-चाटुकार प्रियतम है। इसी प्रकार गम्भीरा नदीका 'चटुलशफरोद्वर्त्तन' ही उसके कटाक्ष हैं। अत यक्ष मेघसे कहता हैः—

तस्याः किंचित्करधृतमिव प्राप्तवानीरशाखं
हृत्वा नीलं सलिलवसनं मुक्तरोधोनितम्बम्।
प्रस्थानं ते कथमपि सखे लम्बमानस्य भावि
ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः॥

मेघदूत (पूर्वमेघ)—४५

इस श्लोकसे हमें यह पता चलता है कि जिस भाँति एक विलास प्रिय कामकला-निपुण नायकके हृदयमें 'विवृतजघना' रमणी को देखकर उसके प्रति आकर्षण होता है, उसी भाँति वर्षाकालीन गम्भीराकी उपर्युक्त सहज छटा देखकर कविका जी वहां रम जाता है और वह सब कुछ भूलकर उसे निहारनेमें मस्त हो उठता है।

कविकुल-गुरु कालिदासके सभी काव्योंमें और विशेषतः मेघ-दूतमें इस भाँतिके वर्णन भरे पड़े हैं। अतः चाहे प्रस्तुत रूपमें हो अथवा अप्रस्तुत रूपमें, कविका प्रकृति-निरीक्षण और उसका वर्णन अनुपम है। पर यहींतक उसका प्रकृति-प्रेम समाप्त नहीं हो जाता। हमारे चारो ओर जो विशाल प्रकृति अपने अनन्त सौन्दर्यके वैभवमें अगात रहस्यका आवरण डाले दिखाई पड़ती है, उसकी अपार

महिमाके सन्मुख श्रद्धा और भक्तिसे मस्तक झुकाता हुआ महाकवि अभिज्ञान-शाकुन्तलके आरम्भमें कह उठता है—

या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री,
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्त
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः ॥
शकुन्तला—१।१

अर्थात् परमेश्वर भी कहीं अन्यत्र नहीं है। संसारमें, प्रकृतिमें दिखाई पड़नेवाली महिमामयी अष्टविभूतियाँ ही भगवान् अष्टमूर्तिकी आठ प्रत्यक्ष मूर्तियाँ हैं।

इसीलिये कवि कुमारसम्भवमें भी कहता है:—

द्रवः संघातकठिनः स्थूलः सूक्ष्मो लघुर्गुरुः।
व्यक्तो व्यक्तेतरश्चासि प्राकाम्यं ते विभूतिषु ॥
कुमारसम्भव—२।११

वही परमेश्वर पृथिवी आदि प्रकृतिके रूपों में इस समस्त चराचर विश्वको धारण किए हुए है:—

कलितान्योन्यसामर्थ्यैः पृथिव्यादिभिरात्मभिः।
येनेदं ध्रियते विश्वं धुर्यैर्यानमिवाध्वनि ॥
कुमारसम्भव—६।७६

अस्तु, ईश्वरकी परम सुखमयी प्राकृतिक विभूतियोंके अनन्य उपासक महाकवि कालिदासकी कवितामें प्रकृतिका महत्त्वपूर्ण तथा परम रमणीय चित्रण तनिक भी आश्चर्यकारक नहीं कहा जा सकता।



निसर्ग-कन्या शकुन्तला

[डौ० एस्० के० वेल्वेलकर, ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट, पूना ।]

अँगरेज़ कवि श्री वर्ड्सवर्थने किसी ल्यूसीका वर्णन करते हुए लिखा है—

"थ्री ईयर्स शी ग्र्यू इन सन ऐंड शौवर,
दैन् नेचर सेड् "ए लवलिअर फ़्लौवर
औन अर्थ वाज़ नेवर् सोन,
दिस चाइल्ड आइ टु माइसैल्फ़ विल टेक,
शी शैल वी माइन, ऐंड आइ विल मेक,
ए लेडी औफ़ माइ ओन.
"माइसैल्फ विल टु माइ डार्लिङ्ग वी
वोथ लौ ऐंड इम्पल्स; ऐंड विद मी
दि गर्ल इन रौक ऐंड प्लेन,
इन अर्थ ऐंड हैविन, इन ग्लेड ऐंड वौवर
शैल फ़ील ऐन् ओवर-सीइंग पौवर
टु किंडिल ओर रैस्ट्रेन."

[तीन वर्ष तक वह धूप और वर्षामें पली। तब निसर्गने कहा—इससे अधिक सुन्दर फूल इस पृथ्वीपर कभी उगाया ही नहीं गया। इस कन्याको मैं स्वयं ले लूगा। यह मेरी रहेगी और इसे मैं अपनी प्रेयसी बनाऊँगा।

"मैं ही अपनी इस प्रेयसीका नियम और भाव बनूँगा, और मेरे ही साथ यह कन्या चट्टानों और मैदानों में, मर्त्य और स्वर्गमें, वन-पथों और कुञ्जों में मनको उकसाने वाली या संयम करनेवाली दिव्य शक्तिका अनुभव करेगी।"]

'टिंटर्न एवीसे कुछ मील ऊपर' रची हुई अपनी दूसरी कवितामें वही कवि कहता है कि मैं किस प्रकार—

"इन नेचर ऐंड दि लैंग्वेज ऑफ़ सैन्स,
दि ऐङ्कर ऑफ़ माइ प्योरेस्ट थौट्स, दि नर्स,
दि गाइड, दि गार्डियन ऑफ़ माइ हार्ट, ऐंड सोल
ऑफ़ ऑल माइ मौरल बिइंग"—

["निसर्ग और भावकी भाषामें, अपने सबसे पवित्र विचारों को थाम रखनेवाली, अपनी धात्री, अपनी पथ-प्रदर्शिका, हृदय-पर शासन करनेवाली, और अपने समस्त नैतिक अस्तित्वके आत्मा..."] को पहचाननेमें समर्थ हुआ। और अपनी 'सैर' (दि एक्सकर्शन) शीर्षक कवितामें उन्हों ने मानव और प्रकृतिके बीच स्थापित हो सकनेवाले संबन्धके कई रूपों और अवस्थाओंका वर्णन किया है। आलोचकगण इस बातपर सहमत हैं कि जो कुछ वर्ड्स-वर्थने इनमें तथा अन्य रचनाओं में वर्णन किया है वे उस भाव-संक्रान्तिविभ्रम के उदाहरण मात्र नहीं हैं जिसके द्वारा मनुष्य अपनी निजी अनुभूतियों, उद्गारों और भावोंको अचेतन पदार्थों में आरोपित करता है। मनुष्यको प्रकृति से जो विचार और प्रेरणाएँ मिलती हैं उसे प्रदान करनेकी शक्ति सचमुच प्रकृतिमें है, क्यों कि मनुष्य और प्रकृतिके बीच वही आत्मा या चेतना व्याप्त है जिससे दोनों में परस्पर आन्तरिक संबन्ध उतनी ही शीघ्रतासे और आवश्यक रूपसे संभव है जैसा कि परस्पर प्रेम करनेवाले दो मित्रोंमें होता है, और ऐसे सम्पर्कके लिये सदा व्यक्त भाषाकी आवश्यकता हुआ भी नहीं करती।

यह समझा जाता है कि उपर्युक्त प्रकृतिवाद वर्डस्वर्थका ही चलाया हुआ है और वह उसमें पूर्णतः विश्वास भी करता था और इसका दार्शनिक आधार हमारे वेदान्तसे वहाँ बहुत कुछ मिलता-जुलता है जहाँ यह माना जाता है कि एक ही आत्मा मनुष्य, पशु, वनस्पति और समस्त सृष्टिमें व्याप्त है। और यह भी निश्चय है कि यही कालिदासका भी अपना मत था। किन्तु यदि इसके लिये काव्य-प्रमाणकी आवश्यकता हो तो उर्वशीका वह कथन सबसे

अधिक प्रमाणिक होगा जो उसने लता होनेका शाप पाकर और फिर अपना पूर्व रूप धारण करके अपनी लताकी अवस्थाके अनुभवका लेखा हमारे लिये सुरक्षित रख छोड़ा है—

अब्भन्तरकरणाए मए पच्चक्खीकिदवुत्तन्तो क्खु महाराओ।
(मैंने अपनी भीतरी इन्द्रियों से महाराजकी सब बातें जान ली थीं।)

—विक्रमोर्वशीयम्, पृ० १६६, पंक्ति ४

वास्तवमें हिन्दुओंके पुनर्जन्म और आत्मोत्क्रमणकी भावनाके आधारपर यह तथ्य ऐसे अवसरका सामान्य अनुभव माना जा सकता है और इससे यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि प्रकृति के पदार्थ भी ठीक मनुष्यों के समान ही अनुभव कर सकते हैं और अपने विचारोंका आदान-प्रदान कर सकते हैं। इसका सटीक उदाहरण कालिदासके अभिज्ञानशाकुन्तलकी नायिका उस शकुन्तलामें पाया जाता है जो नीचेसे ऊपरतक प्रकृतिकी सच्ची कन्या थी और जिसे कविने केवल शब्दोंमें ही वर्णन नहीं किया है वरन् उसे हमारे समक्ष रक्त-मांससे निर्मित शरीर रूपमें भी लाकर रख दिया है और वह बोलती भी है, अनुभव भी करती है, और कार्य भी करती है, और ठीक उसी प्रकार आचरण करती है जैसे उस वातावरणमें उत्पन्न किसी बच्चेसे आशा की जा सकती है और इसीमें हमारे निम्नाङ्कित अनुसन्धानका वास्तविक कौतुक निहित है।

शकुन्तलाका जन्म स्वर्गीय अप्सरा मेनकाके गर्भसे और उन विश्वामित्र ऋषिसे हुआ जिनके भयङ्कर तपसे स्वर्गके स्वामी इन्द्र इतने डर गए कि उन्होंने ऋषिको लुभाने और उनकी तपस्या भंग करनेके लिये मेनकाको नीचे मर्त्यलोकमें भेजा। कन्याके उत्पन्न होते ही माता उसे वनमें छोड़कर स्वर्ग लौट जाती है। इस प्रकार अरक्षित छोड़ी हुई बालिकाकी देखभाल वनके पक्षी करते हैं और उसका तबतक पोषण करते हैं जबतक कण्व ऋषि उसे आकर उठा नहीं ले जाते। वे उसका नाम शकुन्तला (पक्षियों द्वारा पोषित) रख देते हैं और उसे अपनी पालिता कन्या बना लेते हैं।

कण्वने अपनी पालिता कन्याके लिये बाल-सखियोंके रूपमें अनुसूया और प्रियवंदा नामकी दो सखियाँ भी दे दीं जिनके नाम ही सुविहित रूपसे उनके भिन्न स्वभावोंकी सूचना देते हैं। इतना ही नहीं वरन् उसके लिये कण्वने माधवी, अतिमुक्तक और सबसे अधिक शकुन्तलाकी बहन* नवमालिका भी दे दी थी जिसका उसने प्रेमसे वन-ज्योत्स्ना नाम रख दिया था, और बकुल, केसर, सहकार और दूसरे स्नेह और सावधानीसे रोपे और पाले हुए वृक्ष दिए थे, और हरिण, मृग, मोर, हंस, कोयल चक्रवाक आदि पशु-पक्षी भी दे दिए थे और वनके देवी देवता तो उसके साथी थे ही। इन सभी आश्रम-निवासियोंको तत्परतासे पालना, पानी देना, पोषण करना, इन सबके सुखका ध्यान रखना और समय समयपर आए हुए अतिथियोंका स्वागत-सत्कार करना, ये सब नित्यके कार्य कण्वने शकुन्तलाको सौंप दिए थे, और उसे थोड़े ही दिनोंमें ये काम रुचने भी लगे और इन कामोंमें उसे सेवाका सच्चा आनन्द भी मिलने लगा था। देखिए—

ण केवलं तादणिओओ। अत्थि ममावि सोदरसिणेहो पदेसु।

(मैं केवल पिताजीकी ही आज्ञासे इन्हें नहीं सींचती हूँ। मैं स्वयं भी इनको सगे भाई जैसा प्यार करती हूँ।)

या चतुर्थ अंकमें कण्वका वह प्रसिद्ध श्लोक देखिए—

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या।
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रवृत्तिसमये यस्या भवत्युत्सवः।
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्॥

—शाकुंतल, ४।६

उसके ये पशु और वनस्पति-जगत्के सभी साथी अपने निजी व्यक्तित्व और जीवनसे अनुप्राणित हो उठे और इनके व्यक्तित्व और जीवनमें अनसूया और प्रियम्वदासे कुछ कम विशेषता नहीं थी।

* लतावहिणिआ : अस्यां अहं त्वयि च सम्प्रति वीतचिंताः। —शाकुन्तल, ४।१३

अतः यह स्वाभाविक था कि उन्होंने शकुन्तलाको अपनी अपनी परिस्थितियों के अनुसार सेवा और मैत्रीके लिये प्रेरित किया। तो शकुन्तलाको केवल प्रतिदिन लताओं में पानी देना और उनका पोषण ही नहीं करना पड़ता था वरन् जब कभी उनमें उभरते हुए यौवनका लक्षण दिखाई देता था तब उन्हें उपयुक्त वृक्षों के सहारे चढ़ाना भी पड़ता था अथवा यदि शकुन्तलाके समान ही बड़ोंकी प्रतीक्षा बिना किए वे स्वयम्वर या आत्मनिर्णयसे अपना संबंध कर लेती थीं तो भी कमसे कम उनके सौभाग्यपर उत्सव तो अवश्य ही मनाना पड़ता था। इसी प्रकार नन्हें मृगछौनोंकी भी सावधानीसे देखरेख आवश्यक होती थी विशेषतः तब, जब पहले-पहल घास चबाते समय उनके मुँह कट जाते थे। एक ऐसा मृगछौना वहाँ था भी, जिसकी माँ उसके जन्मते ही मर गई थी। शकुन्तला ही इस छौनेकी माँ बन गई थी और उसने प्रेमसे इसका नाम रक्खा था—दीर्घापांग (बड़ी-बड़ी आँखोंवाला)। वह धीरे-धीरे उस छौनेके कटे हुए ओठोंपर तेल लगाती और सचमुच वह उसे दुलार करनेवाली वैसी ही माँ के समान सब काम करती थी जैसे प्रकृति माताने स्वयं शकुन्तलाका उस समय पालन किया था जब उसकी कठोर-हृदया माता मेनका उसे छोड़कर चली गई थी। चतुर्थ अंकमें शकुन्तलाके शब्दोंपर विचार तो कीजिए—

वच्छ। किं सहवासपरिच्चाइणिं मं अणुसरसि। अचिरप्पसूदाए जणणीए विणा वड्ढिदो एव्व। दाणिं पि मए विरहिदं तुमं तादो चिन्तइस्सदि।

(बच्चे ! मुझ साथ छोड़कर जानेवालीके पीछे-पीछे तू कहाँ जा रहा है ? तेरी माँ जब तुझे जन्म देकर मर गई थी उस समय मैंने तुझे पाल-पोसकर बड़ा किया था। अब मेरे पीछे पिताजी तेरी देखभाल करेंगे।)

अथवा इसके पहलेका श्लोक देखिए जहाँ बड़ी भावुकतासे कण्व वर्णन करते हैं कि शकुन्तला किस प्रकार अनाथ छौनोंका पालन-पोषण किया करती थी—

यस्य त्वया व्रणविरोपणमिङ्गुदीनां
तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे ।
श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितको जहाति
सोऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते ॥

—शाकुन्तल, ४।१४

इस सहानुभूति और सेवाके ऐसे अविरल और स्थिर आदान-प्रदानसे यह आशा की जाती है कि शकुन्तला और उसके ये सब सङ्गी-साथी परस्पर एक-दूसरेको आवश्यकताओं और भावोंको भली-भाँति समझते होंगे और एक दूसरेके विचारोंको पहलेसे ही समझकर उनकी व्यक्त या अव्यक्त इच्छाओंको पूरी करनेके लिये शीघ्रता करते होंगे। इसालिये जब शकुन्तला वनज्योत्स्नाके थाँवलेमें पानी देती हुई उसकी ओर चावभरी दृष्टिसे देखती है उस समय शकुन्तला-के मनकी बात प्रियंवदा समझ जाय तो कोई आश्चर्य नहीं—

अणसूए। जाणासि किंणिमित्तं सउन्दला वणजोसिणिं अदिमेत्त पेक्खदि।...जहा वणजोसिणी अणुरूवेण पाअवेण संगदा, अवि णाम एव्वं अहं वि अत्तणो अणुरूवं वरं लहेअं त्ति। (अनसूया। जानती हो शकुन्तला इतनी मगन होकर वनज्योत्स्नाको क्यों देख रही है?...जैसे इस वनज्योत्स्नाको अपने योग्य वृक्ष मिल गया है, वैसे ही मुझे भी मेरे योग्य वर मिल जाय।)

किन्तु यहाँ भी यह प्रश्न उठाना क्या वैसा ही उचित न होगा कि क्या शकुन्तलाकी लता-बहन वनज्योत्स्ना भी शकुन्तलाके लिये वैसा ही नहीं सोच सकती थी और जिस प्रकार अनुसूया और प्रियंवदाने दुष्यन्तके लिये शकुन्तलासे वह प्रेममय पत्र लिखवाकर नायक और नायिकाका परस्पर मिलन करानेके उपाय ढूँढ़ निकाले थे—

तं सुमणो गोविदं करिअ देवदासेसावदेसेण से हत्थअं पावइस्सं।
(उसे फूलोंमें छिपाकर देवताका प्रसाद कहकर उन्हें दे आया जाय।)
वैसे ही क्या इस प्रकारसे मिलन करानेकी कोई ऐसी ही विधि बकुल या केसरका वृक्ष या वनज्योत्स्ना लता नहीं सोच सकते थे? जिस प्रकारसे कालिदासने शकुन्तलाके आश्रम-सखाओंका चित्रण

किया है, उस दृष्टिसे इस प्रकारका प्रश्न करना असङ्गत न होगा, क्योंकि पीछे जब शकुन्तला अपने पतिके घर जानेको उद्यत होती है उस समय केवल अनसूया और प्रियंवदा ही निम्नलिखित मङ्गल साज नहीं जुटाती हैं—

गोरोअणं, तित्थमित्तिअं, दुव्वाकिसलआणित्ति मङ्गलसमालम्भणाणि। (गोरोचन, तीर्थमृत्तिका, दूबके पत्ते आदि मङ्गल सामग्रियाँ) और वे बकुल (केसर) के फूलोंकी वह माला भी नहीं भूलती हैं जिसे अनसूयाने इस अवसरके लिये अलग रख छोड़ा था—

एदस्सिं चूदसाहावलम्बिदे णारिएलसमुग्गए एदंणिमित्तं एव्व कालन्तरक्खमा णिक्खित्ता मए केसरमालिआ। (वह जो आमकी डालीपर नारियल लटक रहा है उसमें मैंने बहुत दिनोंतक सुगन्धित रहनेवाली बकुलकी माला आजके ही लिये रख छोड़ी है।)

—वरन् जैसा कालिदासने भी जान-बूझकर कहा है—आश्रमके वृक्षों ने भी शकुन्तलाके विवाहके लिये भेंट दी थी--

क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डु तरुणा माङ्गल्यमाविष्कृतं
निष्ठ्यूतश्चरणोपभोगसुलभो लाक्षारसः केनचित्।
अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्व भागोत्थितै-
र्दत्तान्याभरणानि तत्किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः॥

—शाकुन्तल, ४।५

यह मेरी पहली समस्या है।

इसी प्रकार यदि दुष्यन्तके प्रति शकुन्तलाका प्रेम जगानेके पहले अनसूया और प्रियंवदा आपसमें बड़ी उत्कण्ठासे इस बातपर विचार कर सकती हैं कि राजा सचमुच शकुन्तलाके प्रेमका उचित अधिकारी हो सकेगा या नहीं--

अणसुये! दुरगअमम्महा अक्खमा इअं कालहरणस्स। जस्सिं वद्धभावा एसा सो ललामभूदो पोरवाणं। ता जुत्त से अहिलासो अहिणन्दिदुं, (अनसूया! इसकी प्रेम-व्यथा इतनी बढ़ गई है कि कोई उपाय शीघ्र ही करना चाहिए। सचमुच इस बातकी तो सराहना करनी ही पड़ेगी कि शकुन्तलाने प्रेम किया तो पुरुवंशके भूषण दुष्यन्तसे ही।)

और फिर जब राजा स्वयं अनायास रङ्गमञ्चपर आ पहुँचते हैं, उस समय भी यदि वे ही दोनों सखियाँ स्वयं प्रेम-क्रीड़ाके सफल-परिणामकी सिद्धिके लिये सभी उपायोंका अवलम्बन करती हुई इस प्रकार कहती हैं --

वअस्स। बहुवल्लहा राआणो सुणीअन्ति। जह णो पिअसही बन्धुअणसोअणिज्जा ण होदि तह णिव्वाहेहि। (वयस्य! सुनते हैं कि राजाओंको बहुत सी रानियाँ होती हैं। तो हमारी प्यारी सखीके लिये कुछ ऐसा प्रबन्ध कीजिएगा कि हम सगे-साथियोंको फिर पछताना न पड़े।)

--तो क्या हमें यह आशा करनेका अधिकार नहीं है कि कविने वनस्पति और पशुवर्गमें से शकुन्तलाकी जिन सखियोंका वर्णन किया है उनके द्वारा भी कवि, शकुन्तलाके भावी मंगलके लिये उसी प्रकार-की उत्कंठा प्रदर्शित करावे? यह मेरी दूसरी समस्या है।

अन्तमें उस प्रसिद्ध और मुक्तकण्ठसे प्रशंसित चतुर्थ अंकके बिदावाले दृश्यमें, जहाँ सम्पूर्ण प्रकृति शकुन्तलाके जाते समय उसके वियोगसे दुखी है--

उग्गलिददब्भकवला मिआ परिच्चत्तणच्चणा मोरा।
ओसरिअपण्डुपत्ता मुअन्ति अस्सू विअ लदाओ॥
[उद्गलितदर्भकवला मृगाः परित्यक्तनर्त्तना मयूरैः।
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः॥]

—शाकुन्तल, ४।१२

और जहाँ दुर्वासाके शापके भयावने परिणामका विचार करके विदाईके अन्तिम समय भी वे दोनों सखियाँ शकुन्तलाको तात्कालिक व्यथासे थोड़ा बचा देनेके तुच्छ बहानेसे दुष्यन्तकी अँगूठीका स्मरण कराते हुए प्रसंगवश इतना भर कहती हैं कि जब आवश्यकता पड़े तो अँगूठीका प्रयोग कर लेना पर मूर्खता करके शापकी बात छिपा लेती हैं—

रक्खिदव्वा क्खु पकिदिपेलवा पिअसही।

(उस कोमल स्वभाववाली प्यारी सखीकी रक्षा तो करनी ही होगी) और अपनी पुत्रीकी भावी विपत्ति और व्यथाको पहलेसे

जाननेकी दिव्य दृष्टि रखनेवाले* पिता कण्व भी कोई ऐसा संकेत या चेतावनी नहीं देते और यह बात केवल उस नीतिके उपदेशमें ही नहीं है जिसे वे विशेष रूप से शकुन्तलाको सुनाते हैं--

शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने ॥ आदि
शाकुन्तल—४।१८

वरन् क्षीर-वृक्षके तले बैठकर दुष्यन्तके लिये उन्होंने जो सँदेसा अत्यन्त सोच समझकर कहा है—

अस्मान् साधु विचिन्त्य संयमधनानुच्चैः कुलं चात्मन-
स्त्वय्यस्याः कथमप्यबान्धवकृतां स्नेहप्रवृत्तिं च ताम् ।
शाकुन्तल—४।१७

उसमें भी उन्होंने अपनी पुत्रीके लिये किसी विशेष कृपाकी याचना न करते हुए केवल यही चाहा है कि उसे अपने भाग्यका निर्णय करनेके लिये समान अवसर और समान स्वतन्त्रता मिले—

सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकमियं दारेषु दृश्या त्वया ।
भाग्यायत्तमतः परं न खलु तद्वाच्यं वधूबन्धुभिः ॥
शाकुन्तल—४।१७

मैं पुनः दुहराता हूँ कि इस विदाईके दृश्यमें जहाँ हम शकुन्तलाको अपनी सुध-बुध छोड़कर, विश्वासभरी आशासे, खड़े कगारकी ओर बढ़ते हुए देखते हैं‡ और जहाँ (यद्यपि भिन्न-भिन्न अभिप्रायोंसे) उसकी सखियोंने और पिताने मानो आपसमें यह मन्त्रणा कर ली है वे उसके सिरपर लटकती हुई आपत्तियोंकी गम्भीरता और निकटतासे उसे बिल्कुल अवगत न होने देंगे—और विशेषकर पिता तो व्यर्थ ही अपने शोकपूर्ण विचारोंको दबानेका प्रयत्न कर रहे हैं§—वहाँ हम लोग ऐसी क्यों न कल्पना करें

* तपः प्रभावात् प्रत्यक्षमेतत् तत्र भवतः कण्वस्य ।

‡ पंचम अङ्कमें शकुन्तलाके शब्द देखिए—

परिणए एव्व सदेहो । कुदो दाणिं मे दूराहिरोहिणी आसा ।

(आर्यपुत्रको जब विवाहमें ही सन्देह हो रहा है तब जो मैंने और बड़ी बड़ी आशाएँ बाँध रक्खी थीं उनका तो फिर ठिकाना ही कहाँ है ।)

§ इसका सबसे बढ़िया प्रमाण यह श्लोक है—

अभिजनवतो भर्तुः श्लाघ्ये स्थिता गृहिणीपदे
विभवगुरुभिः कृत्यैस्तस्य प्रतिक्षणमाकुला ।

कि नायिकाकी मनुष्येतर सखियोंमें से कुछ तो ऐसी निकलें जो ऋषिके मनकी बात समझकर अपनी आँखों, इङ्गितों और गतियोंकी भाषामें कमसे कम थोड़ी देरके लिये तो शकुन्तलाको सावधान कर दें, भले ही वह पीछे किसी वाह्य परिस्थितिके वश उसे भूल जाय। इस अज्ञानका परिणाम यह होता है कि दुष्यन्तकी राजसभामें जब वह पहुँचती है तो वह उस अंधड़से एकदम अनभिज्ञ रहती है जो उसके ऊपर अचानक घहरा जाता है ?

यह मेरी तीसरी समस्या है।

कालिदासके अभिज्ञान-शाकुन्तलके इतने वर्षोंके अध्ययनसे मेरे मनमें यह बात अच्छी तरह बैठ गई है कि यदि अव्यवस्थित रूपसे सम्पादित किए हुए संस्करणोंके शाकुन्तलको छोड़कर हमारे सामने वह वास्तविक शाकुन्तल अपने उसी मौलिक रूपमें होता जैसा उसे कालिदासने रचा था, तो उपर्युक्त सभी समस्याओंके उत्तर तत्क्षण ठीक ठीक मिल जाते। किन्तु परिस्थिति ऐसी नहीं है। उर-शाकुन्तलकी समस्या उसी प्रकार हल की जानी चाहिए जिस प्रकार तत्सम्बद्ध महाभारतकी समस्या हल की जा रही है। दोनों दशाओंमें पाठ-सुधारके आधारभूत सिद्धान्त एक ही हैं, महत्वपूर्ण अन्तर केवल यह होगा कि बी० ओ० आर० इंस्टीट्यूटके उस बृहद् वीरकाव्यके संस्करणके वर्त्तमान सुविचारित पाठकी रचना करते हुए, 'उच्चकोटिकी आलोचना' नामकी वस्तु तो कहीं कहीं देखनेमें आती है पर कालिदासकी इस महान् कृतिमें इसे अधिक विस्तारपूर्वक काममें लाना होगा, क्योंकि नाटकमें यह समस्या अपेक्षाकृत

तनयमचिरात् प्राचीवार्कं प्रसूय च पावनं
मम विरहजां न त्वं वत्से शुचं गणयिष्यसि ॥
—शाकुन्तल, ४।१९

जो यद्यपि शकुन्तलाको ढाढ़स बँधाने और प्रसन्न करनेके अभिप्रायसे ही कहा गया है फिर भी शोकसूचक करुण-गीतके समान हरिणी-छन्दमें ढाल दिया गया है। और यह जान बूझकर किया हुआ कवि-कर्म है, जिसका पता इस बातसे चल जाता है कि इस नाटकमें केवल तीन ही श्लोक ऐसे हैं जो इस छन्दमें रक्खे गए हैं, और सचमुच वे अपने स्थानपर बड़े उपयुक्त जँचते हैं।

क्रम जटिल है। स्थानकी कमीके कारण मैं सूचित किए हुए पाठ-सम्बन्धी सुधारोंका यहाँ वर्णन नहीं करूँगा अपितु इतना ही कहकर सन्तोष करूँगा कि यदि सुधारे हुए पाठको शुद्ध मान लिया जाय तो हम लोग शकुन्तलाकी निसर्ग-सखियों के विषयमें वैसे ही निष्कर्ष निकालनेमें समर्थ हो सकते हैं जैसा कोई भी कालिदास जैसे उस सच्चे हिन्दूसे आशा कर सकता है जो प्रकृतिके सभी पदार्थोंको जीवन और चेतनतासे अनुप्राणित समझता था।

सर आशुतोष मुकर्जी सिल्वर जुबिली ओरियन्टेलियाके द्वितीय खंडके ३४९ से ३५९ पृष्ठों में मैंने एक लेखमें अपना यह मत प्रदर्शित किया था कि अभिज्ञानशाकुन्तलके प्रथम अङ्ककी बातचीतका क्रम नेपथ्यमें नायिकाके इस कथन से—

इदो इदो पिअसहीओ। [इधर आओ, इधर आओ, प्यारी सखियो !]

प्रारम्भ होकर वनज्योत्स्नाके थाँवलेसे भौंरेके निकलने तकका भाग—

अम्मो। सलिलसेअसंभमादो णोमालिअं उज्झिअ वअणं मे महुअरो अहिवट्टदि। [अरे रे ! जल पड़नेसे घबराकर उड़ा हुआ यह भौंरा नई चमेलीको छोड़कर मेरे ही मुँह पर मँडराने लगा है।]

—आजकलके संस्करणों में उलटा हो गया है। नवीन बंगाली संस्करणमें इस स्थलपर ३५ संवाद दिए गए हैं, काश्मीरी नये संस्करणमें २७, और कैपलर द्वारा संपादित दक्षिण-भारतीय संस्करणके साथवाले नागरी संस्करणमें केवल २२। इन संवादोंमें आई हुई कथा तीन घटनाओंका वर्णन करती है—शकुन्तलाके कसे हुए वस्त्रोंको ढीला करना (वल्कलशिथिलीकरण), केसर वृक्षके कल्पनात्मक संकेतपर शकुन्तलाका उससे पास जाना (केसर-समीप-गमन),

एसो वादेरिदपल्लवाङ्गुलीहिं तुवरेदि विअ मं केसर-रुक्खओ। जाव णं सभावेमि। [यह केसरका वृक्ष पवनके झोंकोसे हिलती हुई पत्तियोंकी उँगलियों से मानो मुझे झटपट बुला रहा है। चलूँ इसका भी मन रख लूँ।]

—और शकुन्तलाके हाथों नवमालिका लताका सींचा जाना (नवमालिकासेचन)। प्राप्त मुद्रित संस्करणों में वल्कल-शिथिलीकरणका प्रसंग केसर-समीप-गमनके पहले है। केवल उस नवीन संस्करणमें, जो एकमात्र भोजपत्र पांडुलिपि (बौम्बे गवर्नमेण्ट कलेक्शन नं० १६२) सन् १८७५ में मिली (और जो अब बी० ओ० आर० इंस्टिट्यूटमें जमा कर दी गई है), केसर-समीप-गमनवाली घटना पहले दी गई है। उसी पांडुलिपिसे हमें यह भी पता चलता है कि राजा इसी केसर-वृक्षके पीछे छिपे हुए थे। तो इस दशामें आश्चर्य नहीं कि एक अपरिचित व्यक्तिकी अदृष्टपूर्व उपस्थितिसे केसरका वृक्ष भ्रममें पड़ गया हो और शकुन्तलाको (जिसे सभी आगन्तुकोंपर ध्यान रखनेका भार सौंपा गया था) इङ्गितसे अपनी ओर बुलाने लगा हो। यदि ऐसी बात न होती तो शकुन्तलाने योंही चलती हुई हवासे केसरके पत्तों के हिलने-मात्रसे यह क्यों समझ लिया कि पेड़ उसे बुला रहा है? घासकी एक पत्ती भी बिना किसी अभिप्रायके नहीं हिल सकती—यही हिन्दू-कविके विश्वासका आधार था। दूसरे स्थलपर कालिदासने यह कहलाया भी है कि वृक्ष, प्रायः पक्षियोंके द्वारा (और हम इतना और जोड़ दें कि भौंरों के उड़ने और पत्तियों के हिलने-डोलनेके द्वारा) अपने विचार प्रकट किया करते हैं। उदाहरणार्थ—

अनुमतगमना शकुन्तला
तरुभिरियं वनवासबन्धुभिः।
परभृतविरुतं कलं यथा
प्रतिवचनीकृतमेभिरात्मनः ॥

—शाकुन्तल, ४। १०

केसर वृक्षके पास शकुन्तलाके जानेका वर्णन इन संस्करणों में 'तथा करोति'के नाटकीय संकेत द्वारा किया गया है। केवल भोजपत्रवाली पांडुलिपिमें ही 'राज्ञः सन्निकर्षं आगच्छति' लिखा है। इसके पश्चात् जब नायिकाको इसी वृक्षके पासवाली लताके समान बताया जाता है—

जाव तुए उवगदाए लदासणाहो विश्र श्रश्रं केसररुक्खश्रो पडिभादि।

[जब तू पेड़से लगकर खड़ी होती है तब यह केसरका वृक्ष ऐसा लगता है मानो उससे कोई लता लिपटी हुई हो]

—उसकी व्यंजना तभी पूरी उतरती है जब राजा उसी वृक्षके पीछे हों, और यदि वल्कलशिथिलीकरण भी उसी समय हो जब नायिका, नायकके (जिसकी उपस्थितिकी सखियोंको शङ्कातक नहीं है) इतने पास हो, तभी उसमें वह शृङ्गारका भाव आता है जिसे कमसे कम कालिदास जैसे कवि तो छोड़ ही नहीं सकते थे। अतः इस नाटकीय संकेतमें कुछ ऐसी बात अवश्य है जिससे सिद्ध होता है कि पाण्डु-लिपिके कमसे कम कुछ सन्दर्भ तो मौलिक पाठसे अवश्य मेल खाते हैं। केवल मूर्ख या पंडितम्मन्य लोग ही उपर्युक्त नाटकीय संकेतको शेष संस्करणोंके नीरस 'तथा करोति'के रूपमें परिवर्तित करनेकी बात सोचेंगे।

इसके पश्चात् सेचन-दृश्यमें जो संवाद आते हैं और विशेषतः शकुन्तलाके ये शब्द—

हला। रमणीए क्खु काले इमस्स लदापादवमिहुणस्स वइअरो संवुत्तो। णवकुसुमजोव्वणा वणजोसिणी, बद्धपल्लवदाए उवभोअक्खमो सहआरो।

[सखी! सचमुच इस लता और वृक्षका मेल बड़ी अच्छी घड़ी हुआ है। इधर यह वनज्योत्स्ना फूलकर नवयौवना हुई है और उधर पत्तोंसे लदा हुआ आमका वृक्ष भी उभारपर आया हुआ है।]

—शकुन्तलाकी भीतरी मनोवृत्तियोंकी पूर्ण रूपसे सूचना देते हैं। प्रियंवदाका अनुमान ठीक लक्ष्यपर पड़ता है और नायिकाको भ्रममें डाल देता है। किन्तु क्या दूसरी निसर्ग-सखियाँ और विशेष-कर जिस वनज्योत्स्नाके विषयमें वार्तालाप हो रहा था, वह इसी प्रकार नहीं ताड़ सकती थी? अवश्य ताड़ सकती थी, और लताने बड़े ही सुन्दर ढंगसे यह बात जताई भी। वह शकुन्तलासे पहले विवाहित हो चुकी थी इसलिये जब उसने छिपे हुए राजाको देख लिया और उसे शकुन्तलाके योग्य समझ लिया तब उसने अपनी छोटी बहन शकुन्तलाको उसके भावी पतिसे मिलानेका काम उसी

प्रकार पूरा किया जैसे बड़ी बहन अपनी छोटी बहनके लिये किया करती है। अतः हम लोगोंको यही मानना चाहिए कि भौंरेको उकसानेका काम उस लताने ही किया। उस दिन प्रातःकाल शकुन्तलाने न जाने कितने वृक्षों और लताओंको सींचा था, तो केवल वनज्योत्स्नाके ही थाँवलेसे भ्रमरको क्यों निकलना चाहिए था? कुछ लोग उत्तर देंगे—"केवल संयोग" किन्तु जिस जगत्में एक अन्तर्व्यापिनी शक्तिका वास माना जाता है वहाँ संयोगके लिये स्थान ही कहाँ है? मैं अपनी प्रथम समस्याको इसी प्रकार हल करना चाहता हूँ।

दूसरी समस्याका संतोषजनक समाधान करनेकी क्षमता रखना मानो कालिदासकी शकुन्तलाके स्वरूपको समझनेकी अपनी शक्तिको खरी कसौटीपर कसना है। पञ्चम अङ्कके परित्याग-दृश्यमें जब शकुन्तला आश्चर्यचकित होकर देखती है कि मुद्रिका अनजानमें खो गई है तो राजाकी सुप्त स्मृतिको जगानेके लिये वह अन्तिम तीव्र प्रयत्नके रूपमें, दीर्घापांगवाली घटनाका वर्णन करके अपनी बुद्धिमानीका परिचय देती है—

णं एक्कदिअहे णोमालिआमण्डवे णलिणीपत्तभाअणगदं उदअं तुह हत्थे संणिहितं आसि। तक्खणं सो मे पुत्तकिदओ दीहापङ्गो णाम हरिणपोदओ उवट्ठिदो। तुए—अअं दाव पढमं पिअउत्ति अणुअम्पिणा उवच्छन्दिदो उदएण। ण उण दे अपरिचआदो हत्थब्भासं उवगदो। पच्छा तस्सिं एव मए गहिदे सलिले णेण किदो पणओ। तदा तुमं इत्थं पहसिदो सि। सव्वो सगन्धेसु विस्ससदि। दुवे वि एत्थ आरण्णआ त्ति।

[एक दिन आप नवमालिकाके कुंजमें अपने हाथमें पानीसे भरा कमलके पत्तेका दोना लिए हुए थे। इतनेमें ही वहाँ मेरा पुत्रके समान पाला हुआ दीर्घापाङ्ग नामका मृगछौना भी आ पहुँचा। आपने उसपर दया करके कहा—पहले इसे जल पी लेने दो। यह कहकर आप उसे जल पिलाने लगे। पर परिचित न होनेके कारण वह आपके पास गया ही नहीं। तब मैं ने आपके हाथसे दोना ले लिया और वह मेरे हाथसे जल पीने लगा। उस समय आपने हँसकर कहा था कि

अपने सगे-संबन्धियोंको सभी पहचानते हैं। तुम दोनों ही वन-वासी हो न!]

क्या यहाँ यह प्रश्न उठाना उपयुक्त न होगा कि शकुन्तलाने दुष्यन्तको स्मरण दिलानेके लिये यही विशेष घटना क्यों चुनी? इसमें कोई सन्देह नहीं यहाँ नवमालिका कुंजका चुनाव बड़े महत्त्वका हुआ है। किन्तु मैं यह पूछता हूँ कि दुष्यन्तको कमल-पत्रके दोनेमें पानी लानेकी—अनुमानतः पासके ही किसी जलाशयसे—आवश्यकता क्यों पड़ी? और ठीक इसी ही अवसरपर दीर्घापाङ्ग भी कुंजमें क्यों आ पहुँचा? इन प्रश्नोंको किसी सनकी आलोचकके मस्तिष्ककी उपजके निरर्थक प्रश्न कहकर टाल दिया जा सकता है और यदि कालिदास अपने शब्दोंको तोल-तोलकर रखनेवाले और अपनी प्रत्येक बात किसी विशेष अर्थसे कहनेवाले न होते तो ये प्रश्न संभवतः निरर्थक हो भी सकते थे। कई वर्ष पहले मैंने विद्वानों से इसी विषयपर अपने मत प्रकट करनेके लिये प्रार्थना की थी। कुछ इनेगिने लोगों ने उत्तर भी दिए किन्तु उनसे मुझे पूरा सन्तोष नहीं हुआ। इस दीर्घापाङ्गवाली घटनाको मैं जिस प्रकार समझ सका हूँ वह यों है—

कुञ्जवाली घटना राजाको इस अभिप्रायसे सुनाई गई है कि उन्हें अँगूठी देनेके बात स्मरण हो जाय। इसलिये यह घटना या तो अँगूठी देनेके ठीक पहले हुई होगी या उसके ठीक पीछे। आगे चलकर जब खोई हुई अँगूठी मिल आती है और शापका अन्त हो जानेसे राजाको सब बातें स्मरण हो आती हैं, तब वे अँगूठीवाली घटनाका इस प्रकार वर्णन करते हैं—

तदा स्वनगराय प्रस्थितं मां प्रिया सबाष्पमाह, कियच्चिरेणार्यपुत्रः प्रतिपत्तिं दास्यतीति। पश्चादिमां नाममुद्रां तदङ्गुलौ निवेशयता मया प्रत्यभिहिता—

एकैकमत्र दिवसे दिवसे मदीयं
नामाक्षरं गणय गच्छसि यावदन्तम्।
तावत्प्रिये मदवरोधगृहप्रवेशं
नेताजनस्तव समीपमुपैष्यतीति॥—शाकुन्तल, ६।१२

राजाके इस उपर्युक्त आश्वासनसे शकुन्तला प्रत्यक्षतः सन्तुष्ट हो गई। उसने रोना-धोना बन्द कर दिया और वह अपने प्यारेके वचनोंमें अटूट विश्वास करनेको उद्यत हो गई। परम्परागत हिन्दू-प्रथाके अनुसार इसके पश्चात् शकुन्तलाका अश्रुमलिन मुख धोना ही चाहिए था। इसलिये कमलपत्रके दोनेमें लाया हुआ जल वही था जिसे भासने* ऐसी ही परिस्थितिमें 'मुखोदकम्' कहा है। और इस समय दीर्घापाङ्ग भी उस कुञ्जमें प्यासा होनेके कारण नहीं आया था--क्योंकि वह अपनी प्यास तो पासवाले जलाशयसे ही बुझा सकता था--वरन् वह इसलिये आया था कि मैं चलकर अपनी पालन करनेवाली माताको सावधान कर दूँ कि इस अपरिचित व्यक्तिका इतनी शीघ्रतासे विश्वास न कर बैठें, क्योंकि दीर्घापाङ्गकी दृष्टिमें तो वह राजा, भोले-भाले हिरनोंको अपने शस्त्रोंसे मारनेवाला अहेरी ही था। दीर्घापाङ्गने राजाके हाथका जल अस्वीकार करके उनमें अपना अविश्वास स्पष्ट रूपसे प्रकट कर दिया था। चौथे अंकमें जब यही दीर्घापाङ्ग उस समय रंगमंचपर लाकर उपस्थित कर दिया जाता है जब शकुन्तला, अपनी प्यारे सहकार वृक्षसे लिपटी हुई लतावहन वनज्योत्स्नासे विदा लेती है—

वणजोसिणि! चूदसंगतावि पच्चालिङ्ग मं इदोगदाहिं साहावाहाहिं।

(प्यारी वनज्योत्स्ना! तू आमके वृक्षसे लिपटी होनेपर भी अपनी इधर फैली हुई शाखाकी बाहोंसे मुझसे भेंट तो कर ले।)

और अपने मन ही मन राजा दुष्यन्तके साथ अपने वैवाहिक जीवनका गुलाबी चित्र खींचती है। इसके पश्चात् उसका ध्यान उस हरिणीपर जाता है जो स्वयं शकुन्तलाके समान थोड़े दिनोंमें ही माता बननेवाली थी-

तात! एसा उडजपज्जन्तचारिणी गब्भमन्थरा मिअवहू जदा-अणघप्पसवा होइ तदा मे कंपि पिआणिवेदइत्तअं विसज्जइस्सह। (तात! आश्रममें चारों ओर गर्भके भारसे अलसाती हुई चलनेवाली इस हरिणीको जब सुखसे बच्चा हो जाय तब किसीके हाथ यह प्यारा समाचार मेरे पास भिजवा दीजिएगा।)

* देखिए—स्वप्नवासवदत्तम्, चतुर्थ अंकके अंतमें।

उतनी देरके लिये वह पत्नी और रानीवाले अपने प्रारंभिक चित्रको भूलकर अपनेको माताके रूपमें देखने लगती है और हम कल्पना कर सकते हैं कि उस समय शकुन्तला अपने मन ही मन यह सोच रही है कि मेरी माँ मेनकाने मेरे साथ कैसा व्यवहार किया था और मैं अपने भावी पुत्रके साथ कैसा व्यवहार करूँगी—ठीक इसी मनःस्थितिके अवसरपर उसका पालित पुत्र दीर्घापाङ्ग उसके वस्त्र खींच कर मानो यह पूछता है कि मुझे छोड़कर क्या तुम अपनी माँ मेनकाकी अपेक्षा कुछ अच्छा व्यवहार कर रही हो? मैं तो यह सोचता हूँ कि दीर्घापाङ्गको यहाँ इसलिये उपस्थित कराया गया है कि वह अपनी धर्म-माताको फिरसे विदाईके समय उस दुष्यन्तके संबंधमें दूसरी चेतावनी दे दे जिसके विश्वासघातका पता भोली-भाली अनुसूयाको भी चल गया था--

एव्वं णाम विसअपरंमुहस्स वि जणस्स ण पदं ण विदिअं जधा तेण रण्णा सउन्दलाए अणज्जं आअरिदं। (यद्यपि मैं प्रेमकी बातें कुछ भी नहीं जानती फिर भी इतना तो अवश्य कह सकती हूँ कि उस राजाने शकुन्तलाके साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया।)
यदि शकुन्तलाका मन कल्पनाके मधुर स्वप्नोंमें मग्न न होता तो संभवतः वह अपने निसर्ग-साथियों द्वारा दी हुई इन चेतावनियोंको अवश्य समझ जाती। यही मेरी दूसरी समस्याका समाधान है। यदि हम जिज्ञासु भावसे कालिदासके इस प्रमुख ग्रंथको पढ़नेका अभ्यास डालें तो हमें सौभाग्यवश, इधर-उधरकी छोटी मोटी बातोंको छोड़कर विभिन्न पाठोंकी समस्या इस परिणामतक पहुँचनेमें बाधा नहीं डालती।

सन् १९२३ ई० में एशिया मेजरके द्वितीय खंडके ८४ से ८७ पृष्ठमें मैंने अपनी तीसरी समस्यापर एक लेखमें पूर्ण विस्तारसे विचार किया है। इसका संबंध चतुर्थ अंककी चक्रवाकवाली घटनासे है। इस घटनासे संबंध रखनेवाले तीन प्राकृत संवाद हैं जिनमें पहलेको छोड़कर दूसरा और तीसरा संवाद देवनागरी संस्करणमें मिलता है, बंगाली संस्करणमें पीछेके दो संवादोंको छोड़कर केवल पहला संवाद मिलता है, काश्मीरी पांडुलिपिमें तीनों संवाद मिलते हैं और यही

सच्ची समीक्षाकी कसौटीपर ठीक उतरता भी है। ठीक क्रमसे वे संवाद इस प्रकार हैं—

१. अनसूया—सहि! ण सो अस्समपदे अत्थि चित्तवन्तो जो तए विरहिज्जन्तो अज्ज ण उसुओ कदो। पेक्ख।

पुडइणि वत्तन्तरिअं वाहरिओ णाणुवाहरेदि पिअं।
मुहउव्वूढमुणालो तइ दिट्ठिं देइ चक्काओ॥

[सखि! न स आश्रमपदेऽस्ति चित्तवान् यस्त्वया विरह्यमानोऽद्य नोत्सुकः कृतः। प्रेक्षस्व।

पद्मिनीपत्रान्तरितां व्याहृतो नानुव्याहरति प्रियाम्।
मुखोद्वूढ मृणालस्त्वयि दृष्टिं ददाति चक्रवाकः॥]

(सखी। यहाँ आश्रममें कौन ऐसा प्राणी है जो तुम्हारे विछोहसे दुखी नहीं है। देखो।—कमलिनीके पत्तेकी ओटमें बैठा हुआ चकवा अपनी प्यारीके बुलानेपर भी उसका उत्तर नहीं दे रहा है और चोंचमें कमलकी डंडी पकड़े हुए तुम्हारी ही ओर टकटकी लगाए देख रहा है।)

२. शकुन्तला—हला! पेक्ख!

णलिणीवत्तन्तरिअं एसा पिअसहअरं अपेक्खन्ती।
आरडइ चक्कवाई दुक्करमहअ करेमि त्ति॥

(सखी! देख तो। कमलिनीके पत्तोंकी ओटमें छिपे हुए अपने चकवेको न देख सकनेसे यह चकवी घबराकर चिल्ला रही है। इसलिये मैं जिस कामसे जा रही हूँ वह पूरा होता नहीं दिखाई देता।)

३. प्रियंवदा—सहि! मा एव्वं मन्तेहि।

एसावि पिएण विणा गमेइ रअणिं विसाददीहअरं।
गरुअं पि विरहदुक्खं आसावन्धो सहावेदि॥

(सखी! ऐसा नहीं सोचना चाहिए। जानती हो? यह चकवी विरहकी लम्बी रातें अपने प्यारेके विना अकेली ही काट देती है क्योंकि मिलनेकी आशा बड़ेसे बड़े विरहके दुःखमें भी ढाढस बँधाती रहती है।

यहाँपर यह पूरी घटना शकुन्तलाको यह समझानेके लिये लाई गई है कि आगे तुम्हारे भाग्यमें क्या बदा है। चकवी पुकारती है

किन्तु चक्रवाक उत्तर नहीं देता, क्योंकि उत्तर न देनेके कारणोंपर उसका कोई वश नहीं है, उसका हृदय शकुन्तलाके वियोगसे भरा हुआ है। इसी प्रकार शीघ्र ही शकुन्तला भी पुकारेगी और दुष्यन्त भी उसका उत्तर नहीं देगा। अनसूया अपनी सखीको सान्त्वना देती है और वह विश्वासके साथ सान्त्वना दे भी सकती थी क्योंकि उनके हाथमें शापका अन्त करानेवाली अँगूठी तो थी ही। इसीलिये ठीक इस घटनासे अगले संवादमें ये सखियाँ शकुन्तलाको अँगूठीका स्मरण करा देती हैं। दूसरी दृष्टिसे हम कह सकते हैं कि कण्वने अपने जिस शोकको प्रकट नहीं होने दिया उसीको चक्रवाकने एक प्रकारके दैवी परिज्ञानसे समझकर शकुन्तलाको भावी विपत्ति और दुःखकी चेतावनी दे दी।

उपर्युक्त मीमांसासे यह भली भाँति स्पष्ट हो गया होगा कि कालिदासने शकुन्तलाको उस सच्ची निसर्ग-कन्याके रूपमें चित्रित किया है जिसे प्रकृतिके उन पदार्थोंके साथ अत्यन्त घनिष्ठ व्यवहार और संबंध रखनेका अधिकार मिला था जिनके बीचमें वह पली थी। जब तक हम कविके "प्रकृति-तत्त्व" को नहीं समझ लेते तबतक कालिदासकी शकुन्तलाके भीतरी महत्वको हम ठीक-ठीक समझ नहीं सकते। पिशेल, पाटनकर तथा कैपैलरके प्रति आदर प्रदर्शित करते हुए भी मैं कह सकता हूँ कि नाटकके इस तत्त्वकी ओर लोगोंका पर्याप्त ध्यान न जानेका यही कारण है कि अभी तक इस नाटकका वास्तविक आलोचना-पूर्ण संस्करण तैयार नहीं हो सका है।

पूना · ५-१०-१९४३ —एस्० के० बेल्वलकर



शुद्धि-पत्र

प्रथम खंड [संस्कृत]

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५	५	स्तम्भा	स्तम्भां	५७	२	सान्द्रं	सान्द्रे
१२	४	न्यदा	न्मदा	५८	२	व्याहत	व्यायत
,,	७	दवाद्र॔	दयार्द्र	५९	१२	दशः	दर्शः
,,	,,	करशै	करेणै	,,	१५	पेत	पेतः
१६	३	रूढ़	रूढ	६०	१४	मेदिनी	मोदिनीं
,,	१३	वृत्त.	वृ॑त्तः	६२	८	रेतर	वेतर
१८	१	पोरैः	पौरैः	६३	५	सुप्रजः	सुप्रजा॰
२०	१०	पति	पतिः	६४	३	निनिप	निप
,,	११	गृहै	ग्रहै	,,	१२	च्छ्रया	च्छया
,,	१२	शमये	समये	६७	५	विधी	विधि
२१	१७	पराध्य	परार्ध्य	७३	६	पोहितं	पोहितु
२२	२०	धनुभृता	धनुर्भृता	७६	७	विवदु.	विविदु
२३	१०	धम	धर्म	७७	३	कण	कर्ण
,,	२२	श्रते	श्रुते	८५	११	पल्यो	पत्न्यो
२७	१८	प्राजार्थ	प्रजार्थ	८७	१४	दवा	दैवा
२८	१७	वृद्धां	वृद्धा	९२	२२	कटिन	कठिन
३०	७	वेलां	वेला	९४	४	सदशी	सदशीं
३२	१	श्मश्र	श्मश्रु	,,	६	कुशाध्वज	कुशध्वज
३३	१	नमे	र्नमे	,,	७	वभु॰	वभुः
३४	८	रेण	रेणु	९६	२	पहतु	पहतुं
३७	१२	परो	परी	,,	४	सागर	सागरे
३८	१५	तजो	तदो	९७	१२	ग्नही	ग्रही
४०	५	मृदु	र्मृदु	९८	३	कर्णमूल	कर्णमूल
४१	१५	विनि	र्विनि	१००	१	ज्येष्ठ	ज्येष्ठे
४४	७	वर्णा	वर्णा	,,	१७	सृष्टन	सृष्टेन
४५	१९	विभ्र	विभ्र	१०२	११	असज्जने	असज्जनेन
४६	२	गर्भा	गर्भा	,,	२२	दुष्प्रवृत्ति	दुष्प्रवृत्ति
४८	१८	द्वेप	द्वेप	१०३	२१	तस्य	तस्यै
५५	१०	ह्री	ह्री	१०४	१९	रण	रणः

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०५	१९	पौलस्त्य	पौलस्त्य
१०७	१४	गयड	गंएड
१०९	२	मिथः	मिथः
,,	५	सक्रमिते	सक्रमिते
११०	१३	मेगा	वेगा
,,	१८	वत्तीव	वैत्तीव
१११	२१	वाप्प	बाष्प
११२	५	तदांशोक	तटाशोक
११६	१	रमश्र	श्मश्रु
,,	११	कक	कर्क
११८	४	लम्भात्	लम्भाव्
,,	८	अपीसिप्तं	अपीप्सितं
१२१	१७	वाहुली	वहुली
,,	१९	स्थिता	स्थिता
१२५	११	नन्दिनी	नन्दिनीं
१२९	६	मुष्टि	मुष्टिं
१३२	४	मार्गं	मार्गं
१३३	१२	नृपते	नृपतेः
,,	१६	न्मनो	रमनो
१३७	१४	वृता	वृंता
१३९	१	नीभः	नीभिः
१४१	१	श्राय	श्रयि
,,	१	लाविधि	शालाविधि
१४३	४	च्छ	र्च्छ
१४४	३	सम	समा
१५४	४	संपक्ति	सपत्ति
१५८	६	नवा	नना
,,	१२	च्छुत	च्छुत
१५९	१	वश	वंश
१६२	१	तकी	र्तकी
१६५	२	तट्टर	तद

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६५	१५	हम	हैंम
१६६	७	विभ्रमयड	विभ्रममयड
१६७	१६	वहः	वर्हः
१६९	८	आजह्न	आजह्र
१७०	ऊपर	रघुवंशम्	कुमारसंभवम्
१७४	ऊपर	रघुवंशम्	कुमारसंभवम्
,,	३	यासु	र्यासि
,,	१९	तद्गत	तद्द्रुत
१७५	१८	पयुपासते	पर्युपासते
१७६	ऊपर	रघुवंशम्	कुमारसभवम्
१७७	२२	कत	कर्तें
१८०	१३	नप्रति	नःप्रति
१८३	१२	भ्रू	भ्रूं
१८८	७	शब्द	शब्द
१९०	२०	ह्लद	ह्रद
१९२	९	मद्यात्	द्यमात्
१९४	३	सध्य	मध्य
१९७	४	मास	माप्तु
१९८	१०	दकूलं	दुकूलं
२०२	३	सग	सर्ग
,,	११	भूया	भूंया
२०४	१५	वाह्येव	वाह्येव
२०८	१८	क्षतये	क्षूतये
२१४	२०	ग्नैरव	ग्नैरिव
२१७	९	ग्याम्	ग्याम्
२१८	१	ध्रुवेण	ध्रुवेण
२२१	१	चुम्वेनत्व	चुम्वनेत्व
,,	१५	दाट्य	दार्ट्य
२२५	१७	गाम	र्गम
२२७	११	नप्य	नैंप्य
२२९	१	विघे	विधे

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२२९	१	सङ्ग	सङ्गे
२३०	११	जयि	जेयि
,,	२०	वप	वपु
२३२	२०	भूत	भूति
२३२	४	वहृ	घहृ
२३६	९	वहृ	र्वहृ
,,	१६	वधे	वुधे
२३८	ऊपर	सप्तमःसर्ग.	कुमारसंभवम्
२३९	२२	वस्तां	वुस्तां
२४३	६	पावण	पार्वण
२४४	२	मह्वोत्स	मह्वोत्स
२४५	४	योगे	यौगै
२४६	९	वण	वर्ण
२५०	१९	मह्वा	महा
२५१	७	प्रह्वो	प्रहो
२५४	१२	धुनां	धुर्नी
,,	१४	यन्ती	यन्तीं
२५५	१०	भूक्रु	भूक्रू
२५६	६	दिव्यै	दिव्यै.
२५७	१	वीयेण	वीर्येण
२६०	१४	तरान्का	तरल्का
२६३	१	भ्रभ्ट	भ्रूभ्ट
२६५	२	मया	मथा
२७१	१५	स्यन्तौ	स्यन्तो
२७२	१२	पूघे	पूघै
२७९	१०	कामुक	कार्मुक
,,	१५	धनु	र्धनु
,,	१६	शिख	शिखा
२८०	१२	धर	र्धर
,,	१९	जग	र्जग
२८२	९	सरे	सुरे
२८८	९	विधि	बिधि

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२८९	६	तच्छ्रत्वा	तच्छ्रुत्वा
२९३	१९	प्वध्व	ध्वध्व
२९५	२	भानोस्यजाशु	भानोस्त्यजाशु
२९७	३	भ्रुकुटि	भ्रुकुटि
२९९	७	धुन्वकल्प	धुन्वन्कल्प
३०२	२	साधम्	सार्धम्
३०४	१६	दन्यं	दैन्यं
३०७	१९	इत्याख्ताते	इत्याख्याते
३१०	१८	वद्ध्या	बुद्ध्या
३१४	ऊपर	मेघदूतम्	ऋतुसंहारम्
३१५	३	प्रांग	प्रांशु
३१८	ऊपर	मेघदूतम्	ऋतुसहारम्
३२२	,,	,,	,,
३२४	,	,,	,,
३१८	२	प्रिय	प्रिया
३२४	१३	रुस	रस
३२८	ऊपर	मेघदूतम्	ऋतुसंहारम्
,,	५	पार	परि
३३०	ऊपर	मेघदूतम्	ऋतुसंहारम्
३३१	५	हर्म्यं	हर्म्यं.
,,	८	नितानां	वितानां
३३२	ऊपर	मेघदूतम्	ऋतुसहारम्
,,		कंदप	कदर्प
३३४	ऊपर	मेघदूतम्	ऋतुसहारम्
३३६	,,	,,	,,

द्वितीय खण्ड

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	१५	चुंबिआइ	चुंबिआइँ
,,	,,	भमरेहिं	भमरेहिँ
,,	,,	सिहाइ	सिहाइँ
,,	१६	कुसुमाइ	कुसुमाइँ
,,	२१	मिस्सेहिं	मिस्सेहिँ

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५	६	कामुके	कार्मुके	१९	१५	जवणीहिं	जवणीहिँ
६	२६	सप्रमाणम्	सप्रणामम्	,,	,,	धारिणीहिं	धारिणीहिँ
७	२६	दर्भाङ्कुरर्या	दर्भाङ्कुरायां	,,	१९	पादच्छायासु	पादपच्छायासु
९	८	समीलता	ससिल्लता	२०	१	सकर	संकर
,,	१५	कुलीहिं	कुलीहिँ	,	१५	वृत्ति	वृत्तिः
१०	१६	अक्खमा	अक्खमो	,	१७	प्ररय	प्रेरय
११	१२	चलापाङ्गांदृष्टिं	चलापाङ्गदृष्टिं	,,	२५	अग्रं	सग्रं
,,	१५	सवस्व	सर्वस्व	२१	७	योहि	योहिँ
,,	२५	दव्वाइ	दव्वाइँ	,,	८	त्ता	ता
,,	,,	तवोवणाइ	तवोवणाइँ	२२	२४	अबेहि	अवेहि
१२	६	णा	णो	२३	१२	उत्सात	उत्साह
,,	१३	अव्व	अग्घ	२४	९	खज्जूरेहिं	खज्जूरेहिँ
,,	२८	रमणायं	रमणीयं	२५	१९	उववणी	उववणं
१३	८	उवणादो	उवणीदो	२८	७	तहिं	तहिँ
,,	१३	चिन्तिदाइ	चिन्तिदाइँ	,,	१२	तिसङ्क	तिसङ्कु
१४	९	श्रयते	श्रूयते	,	१६	पुरय	पुत्र
,,	१६	जादसङ्केहिं	जादसङ्केहिँ	,,	२८	चपला	चपलो
,,	,,	देवेहिं	देवेहिँ	३१	१४	परिक्रन्य	परिक्रम्य
,,	१७	णिश्रमा	णिअम	३२	४	सक्कणामि	सक्कणोमि
१५	५	मङ्गल्या	मङ्कुल्या	,,	,,	अङ्गेहि	अङ्गेहिँ
,,	१७	गुरो	गुरोः	३४	१९	कहिं	कहिँ
१६	१३	स्रस्ता	स्रस्तां	३५	२	इमाइ	इमाइँ
,	२१	अङ्गुल	अङ्गुली	,,	,,	दिअहाइं	दिअहाइँ
,,	२२	अरण्य	आरण्य	३६	८	ईमस्सि	इमस्सि
१८	४	आर्य	आर्ये	,,	८	णाहेहि	णाहेहिँ
१९	५	कसाआइ	कसाआइँ	,,	१०	सुणुह	सुणुद
		कडुआइ	कडुआइँ	,,	१२	अवहिद	अवहिदे
,,	,,	जलाइ	जलाइँ	,	१५	हाइं	हाइँ
,,	८	पुत्तेहिं एहिं	पुत्तेहिँ एहिँ	,,	,,	अङ्गाइ	अङ्गाइँ
,,	१०	आहीणेसु	ओहीणेसु	,,	१७	स्त्यपि	स्त्वयि
,,	११	गयस्स	गमयस्स	,,	२२	अविलम्भिण	अविलम्बिणो
,,	१५	हत्थाहिं	हत्थाहिँ	,,	२६	श्रयन्ते २०	श्रूयन्ते २१

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
,,	१७	दावाइं अङ्काइं	दावाइँ अङ्काइँ	६९	११	देक्खिअम्	देक्खिअ
४०	१२	निगन्तु	निर्गन्तुं	,,	१३	मुन्जेह	मुञ्चेहि
४१	१०	सजित	सर्जित	,,	२६	निष्क्रामामि	निष्क्रमामि
४२	५	वलि	वलि	७०	१२	प्रतीप्ये	प्रतीच्ये
४३	४	अक्खिस	अक्ख	,,	२६	दाम्हि	दम्हि
,,	१३	विण्णविदो	विण्णाविदो	७२	१५	संहर्प	सहर्पं
,,	२३	अत्थी	अत्थि	७३	२०	भट्टिणा	भट्टिणी
४५	१२	अम्हेहिं	अम्हेहिँ	७४	२८	सस्कारो	सस्कारो
,,	२९	सुहिस्स	सुसिस्स	७५	१८	निष्कान्त	निष्कान्ता
४६	७	पविट्टस्स	पविट्ठस्स	,,	२७	कहिअं	कहिअ
,,	१६	वस्सिण्णीं	वस्सिण्णी	७७	९	वाय.प्रियायाः	वाया प्रियाया
४७	३	शव्दायन्ते	शव्दाप्यन्ते	,,	१७	रमो	रमे
,,	१७	भत्तुणा	भत्तुणो	,,	१९	णादे	णीदे
४८	१		कण्वः	७८	१८	प्रतिपत्ति	प्रतिपत्ति
५०	३	यण्ड	मण्ड	७९	११	दङ्कु	दमङ्कु
,,	११	द्रुमै	द्रुमै	९४	७	सव्वदमणा	सव्वदमणो
,,	२४	णचणा	णच्चणा	९५	१३	राजानाम	राजानम
५४	६	भतुः	भर्तुः	,,	२५	निवृर्ति	निर्वृर्ति
,,	२७	र्ता	त्रा	९६	५	मेथ	मथ
५६	१८	लब्धा	लब्धो	९७	२९	निवेदयाव	निवेदयावः
६२	१	परिणात	परिणीत	९९	१५	शकन्तला	शकुन्तला
,,	१२	तस्त्वां	ततस्त्वां	,,	२२	उद्भत	उद्धृत
६३	१०	सेहिं रेहिं	सेहिँ रेहिँ	१०२	४	विविधि	विधि
,,	११	न्तर	न्तरं	१०६	११	त्रोटकेन	विक्रमोर्वशीय-नामधेयेन
६४	१	काहस्सं	कहिस्सं				
६५	१०	हत्थब्भास	हत्थब्भासं	१०७	२४	लेपा	लेवा
,,	११	पुरुवश	पुरुवंश	१०८	१८	न्वायि	न्यामि
६६	५	तुम्फे	तुम्हे	,,	२०	मन	सम
६७	१	लक्खणा	लक्खणो	११२	८	विपयावतारः	विपमावतार·
,,	१६	वाहु	बाहू	,	२४	आसा	आसी
६८	२	कहिं	कहिँ	११३	५	तत	ततः
,,	८	सोहणो	शोहणे	११४	१०	लम्ना	लग्ना
,,	१२	अम्हहि	अम्हेहिँ	११६	१	भो·	भो

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११६	५	चिट्टिस्सम्	चिट्ठिस्सम्	१३१	१३	वयस्स	वयस्य
,,	१३	सुरणा	सुरण	,,	१८	शतैरवं	शतैरेवं
११७	९	कहि	कहिँ	,,	१९	प्रार्थना	प्रार्थन·
११८	१	अत्ति	अत्थि	१३२	२	संवत्तं	संवुत्तं
,,	८	विएणावेहिं	विएणवेहि	,,	३	संवृत्तम्	सवृत्तम्
,,	१०	मुद्द	मुह	,,	४	वयस्स	वयस्य
,,	२३	धर्भासन	धर्मासन	,,	११	तुवेरेहि	तुवरेहि
११९	१४	तह	तहिँ	१३४	५	तारसि	तारिसि
,	१७	तत्रे	[सस्मितम्]तत्रे	,,	१५	शवा	सवा
,,	२५	वीश्र	विश्र	१३५	३	तथा	तया
१२१	१	प्राथनादुनि	प्रार्थनादुर्नि	१३६	५	धिकार	धिकारः
,,	६	एवव	एव्व	,,	२३	चक्कुरण	चक्कुरेण
,,	१६	मधुश्री	मधुश्री·	१३९	१६	जाणहि	जाणीहि
१२२	३	वघ्नाति	वर्ध्नाति	१४०	११	सेवीश्रदुं	सेवीअंदु
,,	६	च्छुअस्स	च्छुअस्स	१४३	१३	आणेध च ओ	आणेध ओ
,	७	पेर्यु	पर्यु	,,	२३	गृहात्वा	गृहीत्वा
१२३	१४	विस्तब्धा	विश्रब्धा	१४४	६	किपरमस्या	किमपरमस्या
,,	१५	लङ्घनाये	लङ्घनीये	,,	२८	अलंवद	अलंविद
,,	२१	राएसिणा	राएसिणो	१४५	३	णिरासाए	णिरासाए
,,	२६	कहिं	कहिँ	१४७	१५	उर्वशीं	उर्वशीं
,,	२८	अवदरिश्र	ओदरिश्र	,,	,,	वलम्य	वलम्ब्य
१२४	१०	चिट्ठति	चिट्ठदि	१४९	८	लीढ	लीढं
,,	२७	सेविदु	सेवदु	१५१	१२	ऊद	उद
१२५	२	समाश्वासिहि	समाश्वसिहि	,,	२३	अविश्रारो	विश्रारो
१२६	४	भयत.	भवत·	१५२	४	पक्स्वश्रो	पक्खश्रो
	११	कोऽस्सि	कोऽसि	,,	७	दुख·	दु ख.
	६	उर्वंशी	उर्वशी	१५४	२२	यावेदन	यावदेन
१२८	११	एहि	सहि	१५८	१९	तथाङ्ग	रथाङ्ग
१३०	१८	तदा	लदा	१६०	२३	विद्यत्प्र	विद्युत्प्र
,,	२९	सुणिस्स	सुणिस्स	१६१	६	समापे	समीपे
१३१	१	भट्टिणा	भट्टिणी	१६४	६	स्फुालङ्गो	स्फुलिङ्गो
,,	३	अपमादेण	अप्पमादेण	१६६	१५	ंसो	हंसो
१३१	४	ईरया	ईरया.	१६७	१३	भमो	अम्मो

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
,,	२६	अत्र	अथ	२०९	५	लाकयामि	लोकयामि
१६८		हंग युधा	हंस जुआ	२०९	२६	दणयति	दर्शयति
१६९	१७	दुकुलो	दुकूलो	२१५	१०	मिद्ध	मिद्धो
१७०	१६	शीघ्र	शीघ्र	२१६	६	मेन्त्रयसे	मन्त्रयसे
,,	२२	आणीयस्सं	अणियस्सं	२१९	१	अवणिग्रं	अनिणग्रं
१७१	१२	कुम्भरीलश्रो	कुम्भीलश्रो	,,	१४	थापयति	स्थापयति
१७३	९	णाम	णामं	,,	२४	विणावेहि	विएणावेहि
१७५	१०	सत्थि	सोत्थि	,,	२५	विसर्जयेति	विसर्जयेति
,,	२५	पादवदण	पादवंदणं	२२१	४	टेव्या	देव्या
१७७	२	उर्वशीं	उर्वशी	,,	२१	कि	किं
१७८	१५	संवुत्तो	सवुत्तो	२२३	५	मुकुलित	मुंकुलित
१७९	१२	विघार्त	विघातं	,,	८	असहिणिदो	असणिहिदो
१८०	११	कृतबुद्धि	कृतवुद्धि	२२४	२	भयड	भाएट
१८१	८	पिदुरो	पिदुणो	,,	३	भयड	भाएड
,,	२२	दिष्टया	दिष्ट्या	२२७	१४	पुत्रायां	पुत्राया
१८५	२०	नामसुद्रा	नागमुद्रा	२२८	११	स्थिता	प्रस्थिता
१८८	२४	वेदभः	वैदर्भ.	२२८	२१	अणुगह	अणुग्गहं
,,	२८	सवन्धो	संवन्धो	२३१	१६	गर्व	गर्व
१८९	१	स्कन्भ	स्कन्ध	२३२	७	वत	वर्त
,,	२	यत्तल्या	यत्तुल्या	२३३	६	विपलद्धो	विप्पलद्धो
१९४	२२	णीदाए	णीदादे	२३५	६	णु एत्त	णु भट्टा पुत्त
,,	२३	तायाशिष्याया ते	शिष्या	,,	१५	भट्टिणा	भट्टिणी
		पुन प्रति	अपरिनि	२३९	९	हला	हला
१९५	२३	अत्तण	अत्तणो	२४४	१७	लकार	लकार
१९६	२५	निर्द्धा	निर्हा	२४५	२१	अमायो	अमात्यो
१९९	१८	ऊण	उण	२४७	१२	भट्टिदारिए	भट्टदारिए
२०५	४	सामि	स्सामि	,,	१६	धारियश्रा	धारियया
,,	५	अन्ता	अन्ती	२४८	१८	भट्टि	भट्ट
,,	१६	अरिक्ता	अरिक्त	२५०	६	,,	,,
२०६	१८	गृहात्वा	गृहीत्वा	२५३	११	जयसने	जयसेने
२०७	२३	ण	णं	२५५	३	वचो	वंचो